

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या

4855

काल न०

~~928009~~ वीर 229

खण्ड

बीरराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २१

ग्रन्थमाला-संपादक

प्रो० आ० ने० जपाध्ये व प्रो० ह्रीरालाल जैन

★

श्री-वीरनन्दि-विरचितं

चन्द्रप्रभचरितम्

(मुनिचन्द्रविरचित-विद्वन्मनोवल्लभाख्य-व्याख्यानेन गुणनन्दि-कृत-पञ्चक्या च सहितम्)

हिन्दी अनुवाद, आलोचनात्मक प्रस्तावना व परिशिष्ट आदि सहित

सम्पादक

पं० अमृतलाल शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, साहित्याचार्य,
प्रो० जैनदर्शन विभाग, वा० संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रकाशक

लालचन्द हिराचन्द दोशी

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

सोलापूर

बीर जि० सं० २४९७]

सन् १९७१

[जि० सं० २०२८

मूल्य १६ रु० मात्र

प्रकाशक ,
डा.कचन्द्र हिराचन्द्र दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक सभ,
खोलापूर

— सर्वाधिकार सुरक्षित —

मुद्रक
सम्पत्ति सुप्रकाशक
कुर्गकुम्ह मार्ग,
वाराणसी-५

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No 21

General Editors :

Dr. A. N. Upadhye & Dr. H. L. Jān

★

VĪRANANDIŚ

Candraprabha-Carita

(along with the Sanskrit-Commentary Vīdvanmanovallabhā
of Muncandra and Pañjikā of Guṇanandi)

Critically Edited with Introduction, Appendices, etc.

by

Pt. Amritlal Shastri

Varanaseya Sanskrit Visva-Vidyālaya
Varanasi

Published by

Lalchand Hirachand Doshi

Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha
Sholapur

1971

ALL RIGHTS RESEVERD

Price Rs. 16 only

First Edition; 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina
Samskriti Samrakṣaka Saṅgha, Santosa Bhavana,
Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 16/- per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

सोलापूर-निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रवृत्ति हट्टा हो उठी कि अपनी न्यायोपाजित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और क्लिप्त सम्मतिपूर्वक इस बातकी संग्रह की कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाये। स्फुट मत संकष कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपन्था (नासिक) के शीतल बाला-वरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और उद्घापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३०००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गयी, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दिनांक १९-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिभरणकी आराधना की। इसी संघके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका इसीसर्वां पुष्प है।



ब्र० जीवराज गौतमचन्द्रजी

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
१. प्रधान सम्पादकीय	I-III
२. सम्पादकीय	१-२
३. प्रस्तावना—	३-३३
१. आदर्श प्रतियोका परिचय	३-६
२. ग्रन्थ-परिचय	७
३. चं० च०की कथावस्तुका संक्षिप्त सार	८-१३
४. „ „ कथावस्तुका आधार	१४-१६
५. „ „ प्रासङ्गिक कथाएँ	१७
६. „ „ में सैद्धान्तिक विवेचन	१८
७. „ „ सत्त्वोपप्लव आदि इतरदर्शनोंकी आलोचना	१८
८. „ „ की जैन व जैनैतर ग्रन्थोंसे तुलना	१९
९. „ „ साहित्यिक सुवमा	२०-२४
१०. „ „ में रस योजना	२५
११. „ „ अलङ्कार योजना	२६-२७
१२. „ „ छन्द योजना	२८
१३. „ „ की समीक्षा	२८
१४. ग्रन्थकार-परिचय	२९-३१
१५. संस्कृत व्याख्या	३२
१६. संस्कृत पञ्जिका	३३
४. विषयानुक्रम	३४-४१
५. मूल ग्रन्थ : संस्कृत व्याख्या और हिन्दी भावानुवाद सहित	१-४५९
६. कवि प्रशस्ति	४६०-४६१
७. परिशिष्ट—	४६३-५६०
१. पञ्जिका	४६३-५०६
२. श्लोकानुक्रमणिका	५०७-५२९
३. संस्कृतव्याख्यान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण	५३०-५४०
४. पञ्जिकान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण	५४१-५४४
५. मूल ग्रन्थकी सूचितयौ	५४५-५४९
६. मूल ग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची	५५०-५५६
७. व्याख्यान्तर्गत „ „ „	५५७
८. पञ्जिकान्तर्गत „ „ „	५५७
९. चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण	५५८
१०. संकेत-विवरण	५५९-५६०

प्रधान-सम्पादकीय

उपदेश चाहे छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या नैतिक, सामाजिक व अन्य किसी विषयक, वह सामान्य जनोके हृदयमें अथवा स्मृति-पटलपर तबतक स्पष्टतः स्थिरतासे अंकित होकर नहीं बैठता जबतक कि अनुभवमें आनेवाली जीवन-धारासे मेल मिलाकर न समझाया जाये। इसीलिए धर्मके प्रणेताओं तथा आचार्योंने आस्थाओं तथा कथानकोंका बहुत उपयोग किया है। किसी भी धार्मिक साहित्यको देखिए, उसका अधिकांश भाग मूलतः कथा-प्रधान हो पाया जावेगा। हिन्दू धर्मके वेद, उपनिषद् व पुराण, बौद्ध धर्मका त्रिपिटक, ईसाई धर्मका बाइबिल आदि सभी ग्रन्थ आस्थाओंसे परिपूर्ण हैं और उनके प्रचारक प्रायः उन्हीं कथानकोंके द्वारा श्रोताओंके हृदयपर अपने धार्मिक तत्त्वों व नियमोंका प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते हैं।

जैनधर्ममें यह कथा-प्रवृत्ति विशेष रूपसे मौलिक, प्राचीन तथा परिपुष्ट रही है। इसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्यको क्रियाशील बनाने तथा अपने कृत्योंके लिए पूर्ण उत्तरदायी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। मानव-जीवनमें जो उत्कर्ष और अपकर्ष आते हैं, जो सुख और दुःखका घटना-चक्र चलता दिखाई देता है, उसमें विचारशील व्यक्तिओंको कार्य-कारण की श्रृंखला भी दृष्टिगोचर हो जाती है। परन्तु बहुजन समाजके लिए प्रकृतिको नियामकता समझना-समझाना कठिन हो जाता है। फिर अनेक विषयमाएँ तो ऐसी भी सामने आती हैं जिनके किसी नियमित कारणका पता लगाना प्रायः असम्भव हो जाता है। एकने राजाके महल तथा दूसरेने रंककी कुटियामें जन्म क्यों लिया? कोई सुन्दर व धनी तथा कोई कुलूप और दरिद्र क्यों? कोई नियमसे चलनेवाला भी व्याधि-पीड़ित तथा दूसरा खान-पानमें असंयमी रहता हुआ भी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट क्यों? ईमानदारी करनेवाला व्यापारी उन्नति नहीं कर पाता, जबकि धन्यमें सदैव धोखेबाजी करनेवाला निष्ठ उन्नति करता क्यों दिखाई देता है? इत्यादि, इत्यादि।

यो तो जो भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लोक-प्रचलित व जनश्रुतिको परम्परासे चले आये सभी प्रकारके कथानकों व आस्थाओंको ग्रहणकर जैनाचार्योंने उन्हें सुचिपूर्ण तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तोंके अनुकूल बनाकर उन्हे अपने साहित्यमें स्थान देनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे महापुरुषोंका भी चयन किया है जिनके जीवनकी घटनाएँ मनुष्यके मनको पाप-प्रवृत्तियोंसे विरक्त करके धर्म और पुण्यकी साधनाओंकी ओर विशेष रूपसे आकषित करनेमें प्रभावशाली हो सकती हैं। इन महापुरुषोंकी संस्था परम्परासे तिरसठ मानी गयी है और उन महापुरुषोंकी शलाका पुरुषकी संज्ञा दी गयी है। शलाकाका अर्थ है सीक या सलाई। अर्थात्—जिनका स्मरण रखनेके लिए उनके नामकी सीक रखी जाय व शलाका पुरुष। इनमें प्रायः वे सभी अवतारों, पूज्य एवं प्रतापी पुरुष आ जाते हैं जिन्हें वैदिक परम्परामें भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। वे हैं चक्रवर्ती, वसुदेव, नारायण व इनके महाबलशाली शत्रु भी। किन्तु जिन्हें जैन धर्म व साहित्यमें विशेष रूपसे धर्मकी व्यवस्थाओंकी स्थापनाके लिए उच्च स्थान दिया गया है, वे हैं ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर। सभी व अनेक तीर्थंकरों व अन्य तिरसठ शलाका पुरुषोंके वंशों व जीवन वृत्तोंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंको महापुराण माना गया है, और जिन ग्रन्थोंमें केवल एक-एक मात्र महापुरुषोंका वृत्तान्त हो उन्हें पुराण या चरितकी संज्ञा दी गयी है। चरितोंमें प्रायः उन छन्द, रस, भाव अलंकार आदि गुणोंका समावेश करनेका भी प्रयत्न किया गया है जिन्हें साहित्य-शास्त्रियोंने काव्यगुण कहा है। इस कारण इन चरित ग्रन्थोंने काव्य या महाकाव्यकी संज्ञा भी प्राप्त की है। ये रचनाएँ साहित्यकी उत्कृष्ट उपलब्धियाँ मानी जाती हैं।

जबहुम प्राचीनसे लेकर अर्वाचिन जैन साहित्यको कालक्रमके अनुसार देखते हैं तब हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि इन काव्यमय महान् व विशाल पुराणों व चरितोंका विकास किस प्रकार हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मके व्याख्यानों व उपदेशोंको विशेष स्पष्ट, रोचक व हृदयग्राही बनानेके लिए कथाओंका उपयोग आदिसे ही किया जाता रहा है। सामान्य मनुष्योंकी दृष्टिको धर्मकी ओर मोड़ने, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दृष्टि बनाने हेतु इन कथाओंका सर्व प्रथम योगदान था। इसी कारण इस कथानक-वर्णन-

को जैन आगममें प्रथमानुयोग अर्थात् धार्मिक शिक्षणका प्रथम चरण कहा गया है। आदिमें इन महापुरुषोंके चरितोंको पूर्णतः लिपिबद्ध किया गया प्रदीप्त नहीं होता। कथानकोंके नायकोंके नाम, उनके माता-पिताके नाम, जन्म-नगरी, जन्मादि निर्वर्ण पर्यन्त विशेष अवसरोंकी तिथियाँ आदि ही लिख ली जाती थीं, या याद कर ली जाती थी, तथा इनका विस्तारसे वर्णन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूपसे चलता था। लेखन-सामग्रीकी कठिनाई व अपरिग्रही मूल्यों द्वारा साहित्य-सामग्री को लेकर निरन्तर विहार करनेमें असुविधा आदि इसके कारण हो सकते हैं। इन मुख्य-मुख्य बातोंकी सूचियोंको नामावलि कहते थे। स्वयं जैन पौराणिक परम्परा अनुसार प्राचीन पुराणकारों व चरित-रचयिताओंने इस बातका उल्लेख किया है कि उन्हें अपनी रचनाओंकी आधारभूत सामग्री 'नामावलि निबद्ध' ही प्राप्त हुई थी। स्थानांग व समवायांग आदि जैन आगमोंमें ऐसी ही नामावलियाँ प्राप्त होती हैं। तिलोय-पण्णत्तिमें समस्त तीर्थंकरोंका विवरण ऐसी ही नामावलियोंमें पाया जाता है। यह शैली जैन साहित्यमें निरन्तर प्रचलित रही और 'दस ठाणा' 'बीस ठाणा' आदि समय-समय पर संकलित की गयी सूचियाँ आज तक भी प्रचलित हैं। इन्हें कितने ही जैन मुनि कण्ठस्थ भी कर लेते हैं। इन नामावलियोंके आधारसे कथानायकोंके जीवन-चरित्रका उपदेश देनेमें यह तो एक वृत्ति अवश्यम्भावी है कि उसमें समस्त घटनाओंके वर्णनमें एकरूपता नहीं हो सकती। किन्तु दूसरी दृष्टिसे ये ही वृत्तियाँ और दोष उन कथाओं और आख्यानोंके विकासमें सहायक सिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गुप्त उनके मौखिक ढाँचेको सुरक्षित रखकर उसका विस्तार अपनी प्रतिभानुसार करनेके लिए स्वतन्त्र था। इसी स्वतन्त्रताके फलस्वरूप धीरे-धीरे न केवल कथाओंको उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत, रोचक, रोमाञ्चकारी व नाना शैलियोंमें वर्णित किया गया, किन्तु उनमें अलंकार युग्मे नाना काव्य गुणोंका तथा प्रसंगानुसार अवांतर कथाओंका समावेश भी होने लगा। पुराणों व चरितोंकी इस विकासशीलताके उदाहरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है; जैन साहित्यिक इतिहासका अवलोकन करनेसे वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत चन्द्रप्रभ-चरितकी रचना ग्यारहवीं शतीमें हुई है। यह युग भारतीय साहित्यमें छन्द, अलंकार व रस-भावादि काव्यगुणोंके विकासमें चरम सीमापर पहुँच चुका था। अतएव इस चरितकी रचनामें युगकी इस विशेषताका पूरा प्रतिबिम्ब पाया जाता है। धार्मिक दृष्टिसे यह युग बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक ओर दार्शनिक व सैद्धान्तिक चिन्तनका, और दूसरी ओर न्याय शैली तथा उसकी खण्डन-मण्डन वृत्तियोंका बहुत उत्कर्ष हुआ। वैदिक परम्परामें पञ्च दर्शनोंका मुख्यव्यवस्थित रूप सामने आ चुका था तथा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मण्डन मिश्र आदि महान् दार्शनिक व तार्किक भी हो चुके थे। आर्वाक दर्शन भी परिपुष्ट हो चुका था। तत्त्वोपलब्धिसिद्ध जैसी रचनाएँ भी प्रसिद्ध हो चुकी थी। जैन समाजमें समन्त-मद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्दि आदिके द्वारा जैन दर्शन और न्यायने उक्त सभी सैद्धान्तिक धाराओंसे लोहा लिया। इस सबका यथोचित प्रतिबिम्बन भी प्रस्तुत रचनामें पाया जाता है। कदाके नायक एक जैन तीर्थंकर थे, तथा मुनियोंकी रचनाओंका उद्देश्य सदैव धार्मिक प्रतिपादन और प्रचार रहा है। अतएव इस रचनामें पद-पदपर प्रसंगानुसार जैन तत्त्वोंका विवरण उपस्थित किया गया है। जैन मान्यताका यह एक सुदृढ़ आधार-स्तम्भ है कि आत्मा अनादि-निघन है, अमर और शाश्वत है, एवं व्यक्ति जब जैसा है वह बहुत अंशमें उसके पूर्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये पाप-पुण्यात्मक कर्मोंका परिणाम है। इसी बातको मूललावद्ध बताने हेतु प्रायः कथानकके अनेक, पूर्व जन्मोंका भी वर्णन किया जाता है। और वह वर्णन केवल दृष्टान्तिक मात्र नहीं रहता, किन्तु इस लोकमें किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंका परिणाम स्वर्गके सुख और नरककी यातनाओंके सहन द्वारा दर्शाया जाता है। इसका जैन साहित्यमें कितना महत्त्व है यह भोग एवं नरककी यातनाओंके सहन द्वारा दर्शाया जाता है। इसका जैन साहित्यमें कितना महत्त्व है यह इससे भी प्रकट होगा कि प्रस्तुत चरितमें कथानक चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके छह पूर्व भवोंका वर्णन किया गया है और वह संक्षेपमें नहीं, किन्तु इतने विस्तारसे कि ग्रन्थके प्रथम पन्द्रह सर्ग उसीमें विर गये हैं, जबकि उनके तीर्थंकर जन्मका चरित मात्र अगले तीन सर्गोंमें वर्णित है। तीर्थंकर चरितका ढाँचा बहुत कुछ बंधा

हुआ है, क्योंकि उसमें वैयक्तिक घटनाएँ बहुत कम हुआ करती हैं, मुख्यतासे उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्याणकीं वर्णनकी प्रधानता रहती है। फिर भी ऐसा नहीं है कि यह वर्णन कहीं-से जैसाका तैसा रख दिया गया हो। उसमें कविकी अपनी मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे वह समस्त विवरण नीरस नहीं किन्तु बहुत सरस पाया जाता है। कविने अपनेसे पूर्वकालीन रचनाओं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंश पुराण तथा आदि और उत्तर पुराणमें वर्णित चन्द्रप्रभके जीवनवृत्तको अपना आधार बनाया है। फिर भी रचना-शैली व काव्यकी दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उनकी नकल की है। यथार्थतः उनकी रचनामें उक्त पूर्व रचनाओंकी शालिक छाया प्रायः बिल्कुल ही नहीं पायी जाती।

इस चरित या काव्यके रचयिता बोरनन्दिका जैन मुनि-परम्परामें बहुत ऊँचा स्थान है। यह इसी बातसे सिद्ध है कि गोम्मतसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपनेको-उनका 'वत्स' कहा है तथा पार्वनाथ चरितके कर्ता बादिराज सूरिने उनकी भारतीको कुमुदतीके समान 'चन्द्रप्रभाभिसम्बद्ध', 'रसपुष्ट' और 'मन प्रिय' कहकर स्मरण किया है। इसपर टीका और पंजिका भी लिखी गयी, तथा उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तरसे दक्षिण भारत तक शास्त्रभण्डारोंमें पायी जाती हैं। ये इस रचनाके लोक-प्रियता व प्रचार के प्रमाण हैं।

यह ग्रन्थ पहले भी एक बार मुद्रित हो चुका था, और उसका एक अनुवाद भी छप चुका था। किन्तु वे प्रकाशन न तो इस युगके विद्वत्समाजकी आलोचनात्मक रुचिके अनुकूल थे और न अब उनकी प्रतियाँ ही उपलब्ध थी। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक समझा गया कि इस प्राचीन रचनाका एक अच्छा संस्करण तैयार कराकर प्रकाशमें लाया जाये। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि इसका यथेष्ट रीतिसे सम्पादन और अनुवाद पं० अमृतलालजी शास्त्रीने बड़े प्रयासपूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने पूर्वमुद्रित पाठको भी अपने सम्मुख रखा तथा विविध स्थानोंसे प्राप्त भिन्न-भिन्न कालीन सात हस्तलिखित प्रतियोंका मिलान करते हुए पाठ-शोधन किया एवं उन प्रतियोंके पाठान्तर भी संकलित कर पाद-टिप्पण रूपसे दे दिये। उनका अनुवाद भी भावानुवाद होते हुए भी मूल रचनाके साथ पूर्ण न्याय करता है। और भाषाकी दृष्टिसे भी परिभाषित एवं धारावाही है जिससे मूल आख्यान व वर्णन ही नहीं, किन्तु उसकी काव्य-कलाका भी पाठको पर्याप्त मात्रामें रसास्वादन मिल सकता है। उन्होंने ग्रन्थकी प्राचीन टीका एवं पंजिकाका भी उनकी अनेक उपलब्ध प्राचीन प्रतियोंपरसे उद्धारकर प्रस्तुत संस्करणमें समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी ३३ पृष्ठकी प्रस्तावनामें सम्पादन-सामग्री, ग्रन्थकार और रचना तथा टीका व पंजिकाके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंका विवेचन कर दिया है, तथा परिशिष्टोंमें मूल रचनाके पद्यों, व्याख्या व पंजिकामें उद्धृत अवतरणों एवं उनके विशिष्ट शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ भी संलग्न कर दी हैं। इस प्रकार इस महाकाव्यका प्रस्तुत संस्करण सर्वांग परिपूर्ण कहा जा सकता है जिसके लिए प्रधान सम्पादक पं० अमृतलाल शास्त्रीके अनुगृहीत हैं।

हमें बारम्बार कहना पड़ता है और कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि जिस जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ द्वारा संचालित जीवराज ग्रन्थमालामें इस ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है उसके संस्थापक स्वर्गीय जीवराज गौतमचन्दजी घोषीकी धार्मिक भावना उनके द्वारा संगठित ट्रस्टके सदस्यों व अधिकारियोंको निरन्तर प्रेरित करती रहती है जिसके फलस्वरूप प्राचीन जैन साहित्यके ऐसे अनुपम रत्नोंको खोजकर उत्तम रीतिसे प्रकाशमें लाया जा रहा है। उक्त ट्रस्टके अध्यक्ष श्रीमान् लालचन्द होराचन्द व मन्त्री श्री बालचन्द देवचन्द शाहके हम विशेष रूपसे कृतज्ञ हैं कि वे इस ग्रन्थमालाकी उन्नति और विकासके लिए सदैव प्रस्तुत व जागरूक रहते हैं।

मैसूर
बालाघाट

आ० ने० उपाध्ये
हीरालाल जैन

सम्पादकीय

‘चन्द्रप्रभञ्जरितम्’ की रचना महाकवि बीरनन्दीने विक्रमकी ग्यारहवीं शतीके पूर्व भागमें की थी। इसकी संस्कृतव्याख्या-‘विद्वन्ममोवल्लभा’ मुनिचन्द्रने वि० सं० १५६० में और संस्कृत पञ्जिका गुणनन्दीने वि० सं० १५९७ लिखी जो अभी तक अप्रकाशित रही।

१६९१ पद्यों में परिसमाप्त प्रस्तुत चरित महाकाव्यमें अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका शिखाप्रद जीवनवृत्त प्राञ्जल संस्कृत भाषामें वर्णित है।

चन्द्रप्रभका जन्म वाराणसीके निकट चन्द्रपुरीमें, जो सम्प्रति ‘चन्द्रवटी’, ‘चंदरोटी’ या ‘चन्दौटी’ नामसे प्रसिद्ध है, राजा महासेन और रानी लक्ष्मणाके यहाँ हुआ था।

प्रस्तुत महाकाव्य केवल मूल रूपमें सबसे पहले सन् १८९२ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद और पं० वासुदेव शर्माके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था।

पं० रूपनारायण पाण्डेय कृत इसका हिन्दीरूपान्तर हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बईसे सन् १९१६ में मुद्रित हुआ था। इसमें मूलग्रन्थको स्थान नहीं दिया गया था।

आरा, कारंजा, जयपुर, दिल्ली, सोलापुर और ब्यावरसे प्राप्त बारह हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर मूल, व्याख्या और पञ्जिकाका सम्पादन करके प्रस्तुत महाकाव्य हिन्दी भावानुवादके साथ अब इस नये परिवेशमें पाठकोके समक्ष प्रस्तुत है।

इस संस्करणकी विशेषताएँ:—१. शुद्ध पाठ; २. संस्कृत व्याख्या; ३. संस्कृत पञ्जिका; ४. मूलानुगामी हिन्दी भावानुवाद, ५. प्रस्तावना; ६. पाठांतर, टिप्पण तथा परिशिष्ट

आभार :—पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने जीवराज ग्रन्थमालासे इसके सम्पादन व अनुवादका कार्य दिलवाया और संस्कृत व्याख्याकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ भेजी। डॉ० नेमिचन्द्रजी आरा, पन्नालालजी अग्रवाल देहली, डॉ० कन्नूरचन्द्रजी जयपुर, पं० माणिकचन्द्रजी खवरे कारंजा और पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री ब्यावरने हस्तलिखित प्रतियाँ भेजी। पं० मिलापचन्द्रजी-रतनलालजी कटारियाने विबुध श्रीधरके ‘पासनाथचरित’ के कतिपय पद्योकी चं० च० के पद्योसे तुलना करके भेजी। पं० कमलाकान्तजी शुक्ल वाराणसीने व्याख्याकारके काल निर्धारणमें साहाय्य प्रदान किया। पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने समवसरणसे सम्बद्ध नौ पद्योके अनुवादमें सहयोग दिया। पं० दलमुखजी मालवणिया अहमदाबाद, डॉ० मोहनलालजी मेहता वाराणसी, अगरचन्द्रजी नाहटा बीकानेर, पं० परमानन्दजी शास्त्री देहली, डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, नवनालन्दा और पं० के० भुजबलीजी शास्त्री धारवाड़ने पत्रोके उत्तर दिये। स्थानीय जैन विद्वानोंने उत्साह बढ़ाया। डॉ० गोकुलचन्द्रजीने कलापूर्ण मुद्रणकी ओर ध्यान दिया। पं० महादेवजी चतुर्वेदी, पं० हरगोविन्दजी द्विवेदी, पं० शिवदत्तजी मिश्र और पं० रामाभिलाषजी त्रिपाठी आदि भारतीय ज्ञानपीठके विद्वानोंने पहला प्रूफ देखा और कम्पोजीटर महावीरजी आदिने कम्पोज करनेमें सावधानी बरती। अतएव इन सभी महानुभावोंका हृदयसे आभारी हैं।

मेरे ऊपर सबसे अधिक आभार डॉ० ए० एन० उपाध्येका है, जिन्होंने सम्पादन सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ भेजी, प्रारम्भके पाँच फार्मोंके प्रूफ स्वयं देखे, पूरी प्रस्तावना पढ़कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये और बीच-बीचमें न जाने कितने पत्र भेजकर उत्साहकी मात्राको बढ़ाया। अतएव मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन श्रीजीवराजग्रन्थमाला, सोलापुरकी ओरसे हुआ है, अतः उसके संस्थापक विद्यानुरागी स्व० ब्र० जीवराजजी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा मुख्य कर्तव्य है। दोनों ग्रन्थमालाके मुख्य सम्पादकोंका भी आभारी हूँ।

क्षमा प्रार्थना:—सावधानी बरतनेपर भी मूल ग्रन्थके दो स्थलोंमें दो अशुद्धियाँ हो गयी हैं—
१. नाभिसरोवरम् (२.) (१३, ७) और २. काञ्चनमेदिनीषु जनयति विषणाम् (१४, २८)। इनके स्थानमें शुद्ध पाठ ऐसे होने चाहिये—१. नाभिसरो वरम् (१३, ७)। यहाँ नाभिसरो विशेष्य है और वरम् उसका विशेषण। २. काञ्चनमेदिनीषु सततं जनयति विषणाम्। इनके अतिरिक्त कुछ प्रूफ या प्रेस सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है। ये अशुद्धियाँ ऐसी नहीं जो भ्रामक हो।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन सन् १९५९ में प्रारम्भ किया था, पर मेरी दीर्घसूत्रताके कारण इसके प्रकाशनमें इतना अधिक विलम्ब हो गया है। यदि उपाध्येजी बार-बार क्षीप्रताके लिए पत्र न लिखते तो और भी विलम्ब हो सकता था। अतएव अन्तमें ज्ञात-अज्ञात अशुद्धियों और विलम्बके लिए मैं पाठकों एवं उपाध्येजीसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

—अमृतलाल शास्त्री

प्रस्तावना

[१] आदर्श प्रतियों का परिचय

चन्द्रप्रभचरितम्के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन निम्नांकित हस्तलिखित बारह—मूल (७), संस्कृत-व्याख्या (३) और पञ्चिका (२) की प्राचीन प्रतियोंके आधार पर किया गया है—

मू० १. अ—यह प्रति कारंजाकी है। यह ११३ × ५ इंच लम्बे-चौड़े १३० पत्रों (२६० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर डेढ़-डेढ़ इंच का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ८-८ है, पर अन्तके दो पृष्ठों पर ९-९। प्रति पंक्ति लगभग ३५-३६ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है। इसमें पडिमात्रा या पृष्ठमात्राका उपयोग किया गया है। 'सर्गः'के स्थानमें 'सर्भः' एवं 'च्छ'के स्थान में 'छ' लिखा हुआ है। यत्र-तत्र हासियोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें कलासनायस्य... इत्यादि (१.५९), ज्ञानमागमनिरोधि... इत्यादि (७.५२) तथा कविप्रशस्ति का यः श्रीवर्म नृपो बभूव... इत्यादि (६) पद्य नहीं हैं। आदिभाग—ॐ नमः सिद्धेभ्यः। श्रियं क्रियाद्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति श्रीवीरर्णदिकृतावुदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥छ॥ अन्तिम भाग—स्वस्ति श्री संवत् १५९१ वर्षे आषाढमासे। कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ सोमवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगुह्ये। बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भ० श्रीसकलकोतिदेवाः तत्पट्टे भ० भुवनकोतिदेवाः तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणदेवाः तत्पट्टे श्री विजयकोतिदेवाः तच्छिष्य श्री ब्र० श्री हंसाक्षयः तच्छिष्यब्रह्मराजपालपठनार्थं चंद्रप्रभकाव्यं चिरं तिष्ठतु भूतले। गुह्यशिष्ययोः शुभं भूयात्। श्लोक संख्या २३४० ॥ चंद्रप्रभकाव्यम्।

मू० २. आ—यह प्रति कारंजाकी है। १२ × ५ १/२ इंच लम्बे-चौड़े ४८ पत्रों (९६ पृष्ठों) में इसकी समाप्ति हुई है। दोनों ओर एक-एक इंचका हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ १६-१६ पंक्तियाँ हैं, और प्रति पंक्ति ५१-५२ अक्षर हैं। इसमें भी अङ्गों और मात्राओंकी आकृति 'अ' प्रतिके समान है। ऊपर और नीचेके रिक्त भागोंमें छोटे-छोटे सधन अक्षरोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें ग्रन्थकारकी प्रशस्तिके पद्य नहीं हैं। इसका लेखन काल १६४३ है। आदि भाग—ॐ नमो वीतरागाय ॥ ॥ श्रियं क्रियाद्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति श्री वीरर्णदिकृतावुदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥छ॥१॥ अन्तिम भाग—इति श्री सिद्धान्तवेदी श्रीवीरर्णदाचार्यकृतौ चंद्रप्रभस्वामीमहाकाव्यं समाप्तमिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशी तिथौ भीमवासरे तुलवदेशे बंगवाटिपत्तने जैनराज्यसुराज्ये दान्तीश्वरचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगुह्ये बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकोतिदेवश्रीचिष्कमहेन्द्रकोतिदेवगुह्ये पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकोतितत्पट्टे ब्रह्मज्ञानसागरस्वहस्तेन लिखितं स्वपठनार्थं कर्मक्षयार्थं। शुभं भवतु कल्याणमस्तु। मंगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥

मू० ३. इ—यह प्रति भी कारंजाकी है। यह ११३ × ५ इंच लम्बे-चौड़े ७९ पत्रों (१५८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ९ (पृ० १४ तक), १० (पृ० १५-३८), ११ (पृ० ३९-७७), १० (पृ० ७५-७९) और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या प्रारम्भमें ३७-३८ है पर आगे चलकर ४५-४६। दोनों ओर एक-एक इंचका हासिया छूटा है। इसमें भी प्रशस्ति-पद्य नहीं हैं, और न टिप्पण भी। अङ्गों और मात्राओं-को आकृति कहीं-कहीं 'अ'-'आ' प्रतियोंके समान भी है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसका भी लेखन-काल १६४३ है। आदि भाग—श्रीवीतरागाय नमः। अथ चन्द्रप्रभस्वामिमहाकाव्य लिख्यते। श्रियं क्रिया-द्यस्य... इत्यादि। पुष्पिका—इति विनंदिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिम-भाग—॥ गद्य ॥ इति श्रीवीरर्णदिकृतावुदयाके चन्द्रप्रभचरित महाकाव्ये निर्वाणगमनो नाम अष्टादशः सर्गाः ॥ ॐ ॥ १८॥ इति श्रीसिद्धान्तवेदी श्रीवीरर्णदाचार्यकृतौ चन्द्रप्रभस्वामीमहाकाव्यं संपूर्णं समाप्त-

मिति । संवत् १६४३ वर्षे एकादशीतियो भोमबासार तुलवादेशे बंगवाडिपत्तने । जैनराज्यसुराज्य शान्ति-
द्वारचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगुह्ये बलात्कारगणे श्रीकुंडाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकीर्तिदेव-
श्रीचिन्महेंद्रकीर्तिदेवगुरुणा पादपञ्चाराधकभट्टारकश्रीभुवनकीर्ति तछीस्य ब्रह्मज्ञानसागरस्वहास्तन
लिखितं स्वपरपठनार्थं कर्मस्यार्थं ॥ ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥ मंगल महा श्री श्री श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ छ ॥ ९ ॥ ॥ १ ॥ ९ ॥ उक्त तीनों प्रतियोंकी प्राप्ति पं० भाणिकचन्द्रजी चवरे
कारजाकी कृपासे हुई ।

मू० ४. क—यह प्रति नयामन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है । इसका नम्बर ३८ (क) है । यह
१२ × ६ ३/४ इञ्च लम्बे-चौड़े ११२ पत्रों (२२४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है । प्रति पृष्ठ ७-१० पंक्तियाँ हैं, कहीं-
कहीं ८-८ भी । प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या कहीं ४५ तो कहीं ५२ है । लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है, पर अक्षर
सर्वत्र एक-से नहीं हैं—१० वें सर्ग तक बड़े-बड़े हैं, और आगे (११-१८) छोटे-छोटे, यद्यपि लेखक एक ही
है । कहीं-कहीं टिप्पण भी हैं । लेखन काल सं० १८९९ है । आदिभाग—ओं नमो वीतरागाय—धियं क्रिया-
द्यस्य—इत्यादि । पुष्पिका—इति वीरनादिकृतावुदयां के चन्द्रप्रभे विरचिते महाकाव्ये प्रथमसर्गः । १। अन्तिम
भाग—पूर्ण संवत् १८९९ भाद्रपद शुक्ल ४ गुरुवासेरे अस्मिन् ग्रन्थे श्लोकानि द्विसहस्रद्विशतविरचितप्रमा-
णानि सर्गाः अष्टादश इव महाकाव्ये लिपिकृतं श्रावकअगरवालवल्लभावरसिंह स्वपठनार्थं लिखी दोल्लोनगर्या
लाला गीरधारी लालजी पंडित श्रावक तिनोसे इदं महाकाव्यं मया अधीत । शुभं भवतु कल्याणमस्तु ।

मू० ५. ख—यह प्रति नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है । इसका नम्बर अ ३८ (ख) है । यह
१२ × ६ इञ्च लम्बे-चौड़े १४४ पत्रों (२२८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है । प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १० है, और
प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३० । यद्-तत्र टिप्पण भी है । आदि भाग—ओं नमो वीतरागाय । धियं क्रिया-
द्यस्य—इत्यादि । पुष्पिका—इति वीरनादिकृतावुदयां के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः । ॥१॥
अन्तिमभाग—संवत् १८७२ कातिक कृष्णसप्तम्या बुधवासरे अस्मिन् श्लोकानि द्विसहस्रद्विशतविरचितप्रमा-
णानि । सर्गाः अष्टादश । इदं महाकाव्यं गिरधारीलालश्रावकपठनार्थं लिपिकृतं गोपालविप्रेण मेरठनगर्या ।

मू० ६. ग—यह प्रति भी नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है । इसका नं० अ ३८ (ग) है । यह
१० ३/४ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े १६२ पत्रों (३२४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है । प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ८ और प्रति
पंक्ति अक्षरसंख्या २९ है । अक्षर सघन और सुवाच्य है । यद्-तत्र टिप्पण भी है । लेखन कालका उल्लेख
नहीं है । आदि भाग—॥६०॥ ओ नमो वीतरागाय ॥ धियं क्रियाद्यस्य—इत्यादि । पुष्पिका—इति
वीरनादिकृतावुदयां के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः । ॥१॥ अन्तिम भाग—ग्रंथप्रमाणं २२२० सर्गाः
अठारहें भट्टारक ओ देवेन्द्रकीर्तिना दत्तं विदुषाय रूपशिने पठनार्थं पावन्या मध्ये ।

मू० ७. घ—यह प्रति पञ्चावती मन्दिर, मसजिद खजूर, दिल्लीकी है । इसका नं० आ ७ है ।
यह ११ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े ११० पत्रों (२१९ पृष्ठों) में समाप्त हुई है । प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और
प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या ३३ पर कहीं-कहीं-कहीं ३६ भी है । प्रथम पत्र एक ही ओर लिखा गया है और
अन्तिम पत्रमें ४ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं । अक्षर साधारण है । टिप्पणोंकी मात्रा अधिक नहीं है । आदि भाग—
ओं नमो वीतरागाय ॥ धियं क्रियाद्यस्य—इत्यादि । पुष्पिका—इति वीरनादिकृतावुदयां के चन्द्रप्रभविरचिते
महाकाव्ये प्रथमः सर्गः । ॥१ अन्तिमभाग—संवत् १८७५ वैसाखकृष्णतृतीयायां बृहस्पतवासरे लिखितमिदं
पुस्तकं दिल्लीमध्ये श्रीभट्टारकश्रीललितकीर्तिनि तछिष्यपण्डितरत्नचन्द्रपठनार्थं । शुभमस्तु लेखकपाठकयोः । श्री
देहलीकी उक्त चारों प्रतियोंके पाठ प्रायः एक-से हैं, अतः इनकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श
प्रतिसे की गयी प्रतीत होती है । इन चारों प्रतियोंमें अशुद्धियोंकी बहुलता है । ये चारों प्रतियाँ श्री
पन्नालालजी अग्रवाल, देहलीके शोऽन्यसे प्राप्त हुई ।

म—मूलग्रन्थके सम्पादनमें उक्त हस्तलिखित प्रतियोंके साथ निर्णयसागरीय मुद्रित प्रति (चतुर्थ
संस्करण, सन् १९२६) का भी उपयोग, पाठान्तर लेने की दृष्टिसे किया गया है ।

च० व० की संस्कृत व्याख्या—'विद्वन्मनोवल्लभा'का सम्पादन निम्नाङ्कित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

व्या० १. आ—यह जैन सिद्धान्तभवन, आराकी प्रति है, जो १३ × ८^१/_२ इञ्च लम्बे-चौड़े ३०६ पत्रों (६१२ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ २० पंक्तियाँ हैं, और प्रतिपंक्ति प्रायः २३ अक्षर हैं। बाईं ओर एक इञ्ची और दाईं ओर आधा इञ्ची हासिया छूटा है। कागज पुष्ट, सफेद रंगका है। इसे दो लेखकोंने पूरा किया है। एकके अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं, और दूसरेके अत्यन्त भद्दे। एकने गाढ़ी चटकीली काली स्याहीसे लिखा, और दूसरेने फीकी नीली स्याहीसे। आदि भाग—श्री सरस्वत्यै नमः। श्री चन्द्र-प्रभाय नमः। श्री चारुकोतिमुनये नमः। श्री कामयक्षज्वालामालिन्यै नमः। शुभमस्तु। चन्द्रप्रभसंस्कृत-व्याख्यानम्। निविघ्नमस्तु। पुष्पिका—इति श्री वीरनन्दिकृता उदयाके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ अन्तिम भाग—शकवर्ष १७६१ नेयवि-कारिसंवत्सरदमाष शुद्ध १ द्वयदत्तश्रीमच्छारुकीतिपंडिताचार्यवर्यस्वामियवरपादकमलभूंगोपमानियादाबेल-गुलदयि वर्गदवशिष्टगोत्रद्विजयणैयनुयीचंद्रप्रभकाव्यद्व्याख्यानपुस्तकवरदु संपूर्णवायि तु आचन्द्रार्कपर्यंत भद्रं शुभं मंगलं ॥ यह प्रति डॉ० नेमिचन्द्रजी, आराके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

व्या० २. झ—यह प्रति श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। यह १२^३/_४ × ७ इञ्च लम्बे-चौड़े १७८ पत्रों (३५६ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर २-२ इञ्चका हासिया छूटा है। पंक्तिसंख्या प्रथम पृष्ठपर १५, अन्तिमपर १० और मेषपर १६-१६ है। प्रति पंक्ति अधारसंख्या कही ३८ कही ४० और कही ५६ भी है। अक्षर सर्वत्र एक-से नहीं हैं, यद्यपि लेखक एक ही है। कही गाढ़ी तो कही फीकी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। पत्रोपर अङ्क डालनेमें सावधानी नहीं बरती गयी। कागज पुष्ट, पीले रंगका है, पर बाईं ओरका कोना गल गया है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निविघ्नमस्तु॥ बंदेहं सहजानन्द-कंदलीकंदबंधुरं चंद्राकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इतिवीरनन्दिकृता उदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ अन्तिमभाग—स्वर्गिणो देवाः। पंचमं परि-निर्वाणाय ॥। कल्याणं मंगलकार्यं। प्रविधाय। स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयं ॥ पदं स्थानं। अगुः युगुः। छुड् ॥१५४॥ ॥ इति वीरनन्दिकृतावुदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः ॥१९॥

व्या० ३. से—यह अपूर्ण प्रति भी श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। इसमें १३^३/_४ × ८ इञ्च लम्बे-चौड़े १५९ पत्र (३१८ पृष्ठ) हैं। दोनों ओर १-१ इञ्च का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १५-१५ और प्रतिपंक्ति अक्षरसंख्या प्रायः ३२-३३ है। उक्त दो व्या० प्रतियोंकी भाँति इसमें भी अक्षरोंकी बनावट सर्वत्र एक-सी नहीं है। हासियों, ओर पूर्ण विरामोमे गाढ़ी लाल स्याही तथा व्या० लेखनमें चटकीली गाढ़ी काली स्याही प्रयुक्त हुई है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें आदिके बारह सर्गोंकी व्याख्या है। इसमें भी उपान्य ११०वें पद्यकी व्याख्या अधूरी है और अन्तिम १११वें की व्याख्या ही नहीं। इसमें भी लेखनकाल अङ्कित नहीं है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निविघ्नमस्तु॥ बंदेहं सहजानन्दकंदलीकंद-बंधुरं। चंद्राकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इति वीरनन्दिकृता उदयाके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिमभाग—समरं संग्रामं वा। प्रदिशामि। इत्येवं। द्वयाश्रयैः द्वयमवलंबनं आश्रयो येषां तैः। वचनैः वचोभिः। रिपुदूतः रिपोः शत्रोर्दू (इस प्रतिकी समाप्ति यही हो जाती है।) ।

'श' तथा 'स' प्रतियोंकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी है। यदि कहीं थोड़ा-बहुत पाठभेद है भी, तो उसका कारण लिपिककी अनवधानता है। ये दोनों प्रतियाँ पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुईं।

प्रस्तुत महाकाव्यकी संस्कृतपञ्जिकाका सम्पादन निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

पं० १. ब—यह प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन, व्यावरकी है। यह १२ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े ५३ पन्नों (१०४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रारम्भके १८ पन्नोंपर दोनों ओर १-१ इञ्चका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रतिपृष्ठ पंक्तिसंख्या ११-११ (१२व पृ० तक) तथा शेष पृष्ठोपर १३-१३ है। प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ४०-४० है। लिपि सुवाच्य है, पर सुन्दर नहीं। कागज पतला, पीले रंगका है। अवस्था जोर्ण-शीर्ण है। इसमें लेखनकाल नहीं दिया गया। आदिभाग—स्वस्ति श्री सरस्वत्यै। श्री धृतमुनिमुनये नमः ॥ प्रणम्य वीरं नमुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्ट-सन्मतं। करिष्यते संशयधामभजिका मायाय चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ॥ अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजिकायां अष्टादशः सर्गः समाप्तः ॥१८॥ देशीयगणेशप्रणम्यः प्रधानः। गुणनन्दी इत्यर्थः ॥ ॥छ॥॥छ॥॥

पं० २. ज—यह प्रति श्री महावीर दि० जैन शोधसंस्थान, जयपुरकी है। यह १० × ४ ३/४ इञ्च लम्बे-चौड़े ८६ पन्नों (१७० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर १-१ इञ्चका काली स्याहीका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र केवल एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ३५ है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें भी गाढी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। अक्षर सुवाच्य एवं सुन्दर है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें अशुद्धियोंकी बहुलता नहीं है। इसमें भी लेखनकालका उल्लेख नहीं है। प्रतियोंकी स्थिति व मात्राओंकी आकृतिसे इतना स्पष्ट है कि 'ज' प्रतिसे 'ब' प्रति प्राचीन है। आदिभाग—॥ स्वस्ति श्री सरस्वत्यै ॥ श्री धृतमुनिमुनये नमः ॥ प्रणम्य वीरं नमुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसन्मतम्। करिष्यते संशयधामभजिका मायाय चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ॥१॥ अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजिकायां अष्टादशः सर्गः ॥१८॥ देशीयगणेशप्रणम्यः प्रधानः। गुणनन्दी इत्यर्थः ॥ ॥छ॥॥श्री॥॥ब॥॥श्री॥॥ब॥ ॥

सम्पादन पद्धति

[क] शुद्ध पाठ

१. उक्त सातों ह० लि० मूल प्रतियोंके पाठोमें जो शुद्धतम प्रतीत हुआ, उसे मूलमें रखकर अन्य सभी प्रतियोंके, जिनमें एक मुद्रित प्रति भी सम्मिलित है, पाठोंकी पुष्प-पुष्प संकेत बिन्दुओंके साथ नीचे स्थान दिया गया है। जहाँ उनके पाठोमें व्याख्यानान्तर्गत मूल पाठ और भी अधिक शुद्ध जान पड़ा, वहाँ उसीको मूलमें मिलाकर सभी प्रतियोंके पाठोको पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है, और इसकी सूचना भी वही दे दी गयी है। व्याख्याका स्वरूप जैसा भी हो, पर उसकी सबसे बड़ी विशेषता है लगभग पचासों प्रतिशत मूलपाठोकी शुद्धि। व्याख्यामें पहले मूलको स्थान देकर बादमें उसका अर्थ लोला है।

२. व्याख्याकी तीन प्रतियोंमें 'आ' और 'श' अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, और 'स' अर्वाचीन। 'स' प्रति अपूर्ण है और अशुद्ध भी। अन्य दो प्रतियोंमें अशुद्धियाँ कम हैं। इन्हीं तीन प्रतियोंके आधार पर व्याख्याको शुद्ध बनानेका प्रयास किया गया है। तीनोंमें जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ उसे यथास्थान रखकर शेषके पाठोको तत्तत् सङ्केतोके साथ नीचे पाठान्तरोंके रूपमें स्थान दिया गया है।

कही-कही अत्यावश्यकता पड़नेपर () इस कोष्ठकमें सम्पादक ने अपनी ओरसे भी लिखा है, और कही-कही पाठान्तरोंके साथ नीचे भी, जिसे = इस चिह्न से पहचाना जा सकता है।

३. पंजिकाकी दो प्रतियोंमें 'ज' अधिक शुद्ध है। 'ज' की तुलनामें 'ब' में अधिक पाठ छूटे हुए हैं। दोनों में जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ, उसे यथास्थान रखकर अन्य प्रतिके पाठोको संकेत चिह्नके साथ नीचे पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है। जहाँ दोनोंके ही पाठ अशुद्ध प्रतीत हुए वहाँ () ऐसे कोष्ठकमें सम्पादककी ओरसे नया पाठ प्रस्तुत किया गया है।

[ख] अवतरणोंके चिह्न और मूल स्थलोंके निर्देश

प्रस्तुत ग्रन्थकी व्याख्यामें ३२९ तथा पञ्जिकामें ६३ अवतरण ग्रन्थान्तरोंके हैं। उन्हें ' ' इस चिह्नसे पहचाना जा सकता है। अधिकांश अवतरणोंके मूल स्थलोंके निर्देश [] ऐसे कोष्ठकोंमें किया गया है, और अशुद्ध अवतरणोंको मूल ग्रन्थोंके आधारपर शुद्ध भी किया गया है।

उद्धृत कोषवाक्योंके मूल स्थलोंका निर्देश अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, घनञ्जयनाममाला, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन और वैयन्ती—इन ९ संस्कृत कोषोंके आधारपर कर दिया है, पर 'विश्व' कोषके न मिलनेसे उसके स्थलोका निर्देश नहीं किया जा सका। इस कोषके अवतरण जैन व जैनैतर काव्योंकी टीकाओंमें पाये जाते हैं, पर यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह प्रकाशित है या अप्रकाशित।

अप्रकाशित कोष—प्राचीन संस्कृत कोष पद्य शैलीमें निबद्ध मिलते हैं, पर चं० च० की व्याख्यामें नानार्थकोषके नामसे लगभग पन्द्रह अवतरण गद्यसूत्रोंके रूपमें हैं। अर्धद्व्यस्तुत मुनिभूतकाव्यम् और पार्श्वभुदयम्की सं० टी० में भी इसी कोषके अनेक अवतरण हैं, पर मुनिसु० की सं० टी० में पृ० १४३ पर जिस अवतरणके आगे 'नानार्थकोषे' लिखा है, उसीके आगे पृ० १८१ पर 'नानार्थरत्नकोषे'। संभवतः इस कोषके दो नाम प्रसिद्ध रहे हों। जो कुछ भी हो, यह कोष अभी तक कहींसे प्रकाशित नहीं हुआ। जैन साहित्यका बृहद् इतिहास भाग ५ (पृ० ९३) से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता असग थे।

[ग] टिप्पण

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याख्याकारके अभिप्रायको स्पष्ट या पुष्ट करनेके लिए यत्र-तत्र टिप्पण भी दिये गये हैं, जिनमें कुछ तुलनात्मक भी हैं। टिप्पणोंमें कुछ अन्य ग्रन्थोंके, विशेषतः कोषोंके अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक पृष्ठके नीचे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याके पाठान्तरोंके साथ ही टिप्पण दिये गये हैं। तीनोंके लिए हिन्दी अङ्कोंका उपयोग किया गया है। मूल श्लोकों और व्याख्याके पदोंपर डाले गये अङ्कोंके आधारपर नीचे डाले गये अङ्कोंको देखकर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि मूलके या व्याख्याके पाठान्तर कौनसे हैं। टिप्पण, पाठान्तरोंमें रले-मिले हैं, पर वे ' = ' इस चिह्नसे पृथक् ही समझे जा सकते हैं।

[घ] परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें निम्नलिखित परिशिष्ट जोड़े गये हैं—१. संस्कृत पञ्जिका, २. मूलग्रन्थकी पद्यानुक्रमणिका, ३. व्याख्याके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ४. पञ्जिकाके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ५. मूलग्रन्थकी सूक्तियाँ, ६. मूल ग्रन्थ गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ७. व्याख्यान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ९. चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण और १०. संकेत विवरण।

[२] ग्रन्थ-परिचय

नाम—अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर लिखे गये प्रस्तुत महाकाव्यका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' है, जैसा कि प्रतिज्ञावाक्य (१, ९), पुराणका वाक्यों तथा 'श्रीजिनेन्दुप्रभस्वेदं चरितं' इत्यादि पद्य (पृ० ४६०) से स्पष्ट है।

१. 'नानार्थ कोष' के रचयिता असग नामक कवि थे, ऐसा मात्र उल्लेख प्राप्त होता है। वे शायद विगम्बर जैन गुरुस्य थे। वे कब हुए और ग्रन्थकी रचनाशैली कैसी है, यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं होनेसे कहा नहीं जा सकता।—जैन साहित्यका बृ० इ० भाग ५ पृ० ९३

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओंमें निबद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्योंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि उनके चरितान्त नाम रखनेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। उपलब्ध काव्योंमें बिललसूरिका 'पठमचरित' प्राकृत चरित काव्योंमें, अश्वघोषका 'बुद्धचरितम्' संस्कृत काव्योंमें तथा स्वयम्भू कविका 'पठमचरित' अपभ्रंश काव्योंमें सर्वाधिक प्राचीन है। इन तीनोंमें प्रारम्भके दो काव्य ई० की प्रथम शतीके तथा तीसरा ई० की सातवीं शतीका है। प्रस्तुत महाकाव्यका नाम इसी परम्पराके अनुकूल है।

विषय—प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त है, जो इसके अठारह सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें चरितनायकके छह अतीत भवोंका और अन्तके तीन सर्गोंमें वर्तमान भवका वर्णन किया गया है। सोलहवें सर्गमें गर्भकल्याणक, सत्रहवेंमें जन्म, तप और ज्ञान तथा अठारहवेंमें मोक्ष कल्याणक वर्णित है। महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और अवान्तर कथाएँ भी यत्र-तत्र गुम्फित हैं। सभी सर्गोंके अन्तिम पद्योंमें 'उदय' शब्दका सन्निवेश होनेसे यह 'उदयाङ्क' कहलाता है।

[३] चं० च० की कथावस्तुका संक्षिप्तसार

चं० च० में चरितनायकके राजा श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, सम्राट् अजितसेन, अच्युतेन्द्र, राजा पद्मनाभ, अहमिन्द्र और चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका विस्तृत वर्णन है, जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

१. राजा श्रीवर्मा—पुष्करार्थ द्वीपवर्ती सुगन्धि देशमें श्रीपुर नामक पुर था। वहाँ राजा श्रीधरेण निवास करते थे। उनकी पत्नी श्रीकाता^२ पुत्र न होनेसे सदा चिन्तित^३ रहा करती थी। किसी दिन गेन्द खेलते बच्चोंको देखते ही उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसकी सखीसे इस बातको सुनकर राजा श्रीधरेण उसे समझाते हुए कहते हैं—देवि, चिन्ता न करो। मैं शीघ्र ही विशिष्ट ज्ञानी मुनियोंके दर्शन करूँगा, और उन्हींसे पुत्र न होनेका कारण पूछूँगा। कुछ ही दिनोंके पश्चात् वे अपने उद्यानमें अचानक आकाशसे उतरते हुए चारणऋद्धिके धारक मुनिराज अन्तर्गत दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् प्रसङ्ग पाकर वे उनसे पूछते हैं—'अगवन्! मुझे वैराग्य क्यों नहीं हो रहा है?' उन्हींसे उत्तर दिया—'राजन्! पुत्र प्राप्ति-की इच्छा रहनेसे आपकी वैराग्य नहीं हो रहा है। अब शीघ्र ही पुत्र होगा। अभी तक पुत्र न होनेका कारण आपकी पत्नीका पिछले जन्मका अशुभ निदान है।' घर जाकर वह अपनी पत्नीको पुत्र होनेकी उक्त बातकी सुनाता है। वह प्रसन्न हो जाती है। दोनों धार्मिक कार्योंमें संलग्न रहने लगते हैं। इतनेमें आष्टाङ्गिक पर्व आ जाता है। दोनोंने आठ-आठ उपवास किये, आष्टाङ्गिक पूजा की और अभिषेक भी। कुछ ही दिनोंके बाद रानी गर्भधारण करती है^४। धीरे-धीरे गर्भके चिह्न प्रकट होने लगे। नौ मास बीतनेपर पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। उसका नाम श्रीवर्मा रखा गया। बयस्क होनेपर राजा उसका विवाह करके युवराज बना देता है। उल्कापात देखकर राजाको वैराग्य हो जाता है। फलतः वह श्रीवर्माको अपना राज्य सौंपकर श्रीप्रभ^५ मुनिसे जिनदोहा लेकर धीरे तप करता है और फिर मुक्ति कन्याका वरण करता है। पिताके विधोयसे वह कुछ दिनों तक शोकमग्न रहता है। शोकके कम होनेपर वह दिक्प्रजयके लिए प्रस्थान करता है। उसमें वह पूर्ण सफल होकर घर लौटता है। शरत्कालीन मेघको शीघ्र ही विलीन होते देखकर उसे वैराग्य हो जाता है। फलतः वह अपने पुत्र श्रीकात^६ को अपना उत्तराधिकार देकर श्रीप्रभ मुनिके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करता है और धीरे तपश्चरण करने लगता है।

१. पुराणसार संग्रह (७६, २) में देशका नाम गन्धिल लिखा है। २. पुराणसा० (७६, ३) में श्रीमती नाम दिया है। ३. उ० पु० (५४, ४४) में राजाका चिन्तित होना लिखा है। ४. उ० पु० (५४, ५१) में गर्भधारण करनेसे पहले चार स्वप्न देखनेका उल्लेख है, और पुराणसा० (७६, ५) में पाँच स्वप्न देखनेका। ५. पुराणसा० में गर्भचिह्नोंकी चर्चा नहीं है। ६. उ० पु० (५४, ७३) में मुनिका नाम श्रीवप और पुराणसा० (७८, १९) में श्रीधर लिखा है। जिस वनमें दीक्षा ली थी, उसका नाम उ० पु० में शिष्यकर और पुराणसा० में प्रियकर दिया है। ७. पुराणसा० (७८, १९) में श्रीकातके स्थानमें श्रीधर लिखा है।

२. श्रीधरदेव—घोर तपश्चरणके प्रभावसे श्रीवर्मा पहले स्वर्गमें श्रीधरदेव होता है। वहाँ उसे दो सागरोपम आयु प्राप्त होती है। उसका अम्बुदय अन्य देवोंसे कहीं अच्छा है। देवियोंकी दृष्टि उसे स्थायी उत्सव समझती है।

३. सम्राट् अजितसेन—घातकी खण्ड द्वीपके अलका नामक देशमें कोशला नगरी है। वहाँ राजा अजितंजय और रानी अजितसेना निवास करते हैं। श्रीधर देव इन्होका पुत्र-अजितसेन होता है, जो बयस्क होते ही युवराज बना दिया जाता है। अजितंजयके देखते-देखते उसके सभाभवनसे अजितसेनको कुल्यात चण्डहचि नामक असुर पिछले जन्मके वैरके कारण उठा ले जाता है। राजा व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसी बीच तपोभूषण मुनि पधारते हैं और यह कहकर वापिस चले जाते हैं कि युवराज कुछ दिनोंके बाद सकुशल घर आ जायगा। उधर वह असुर उसे बहुत ऊँचाईसे एक तालाबमें गिरा देता है। मगर-मच्छोंसे जूझता हुआ वह किसी तरह किनारेपर पहुँच जाता है। वहाँ से वह ज्यों ही पद्मा नामकी अटवीमें प्रवेश करता है त्यों ही एक भयङ्कर आदमीसे दण्ड छिड़ जाता है। पराजित होनेपर वह अपने असली रूपको प्रकट कर कहता है—'युवराज, मैं मनुष्य नहीं देव हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं आपका मित्र हूँ, पर आपके पीरूपके परीक्षणके लिए मैंने ऐसा व्यवहार किया है, क्षमा कीजिए। पिछले तीसरे भवमें आप सुगन्धि देशके नरेश थे। आपकी राजधानीमें एक दिन शशीने संधि लगाकर सूर्यके सारे घनको चुरा लिया था। पता लगनेपर आपने शशीको कड़ा दण्ड दिया, जिससे वह मर गया और फिर वह चण्डहचि असुर हुआ। इसी वैरके कारण उसने आपका अपहरण किया। बरामद धन उसके स्वामीको वापिस दिलवा दिया। युवराज, वही शशी मरनेके बाद हिरण्य नामकदेव हुआ, जो इस समय आपसे बात कर रहा है।'।

तत्पश्चात् युवराज विपुलपुरकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँके राजाका नाम जयवर्मा, रानीका जयश्री और उनकी कन्याका शशिप्रभा था। महेन्द्र नामक एक राजा जयवर्मासे उसकी कन्याकी मंगिनी करता है, पर किसी निमित्तज्ञानीसे उसे अत्यायुक्त जानकर वह स्वीकृति न दे सका। इससे क्रुद्ध होकर महेन्द्र जयवर्माको युद्धके लिए ललकारता है। युवराज जयवर्मा का साथ देता है और युद्धमें महेन्द्रको मार डालता है। इसमें प्रभावित होकर जयवर्मा युवराजके साथ अपनी कन्या शशिप्रभाका विवाह करना चाहता है। इतनेमें विजयार्थ भी दक्षिण श्रेणीके आदित्यपुरका राजा धरणीध्वज जयवर्माको सन्देश भेजता है कि वह अपनी कन्याका विवाह मेरे (धरणीध्वज) के साथ करे। इसके लिए जयवर्मा तैयार नहीं होता। फलतः भयङ्कर युद्ध छिड़ जाता है। पूर्ववर्चित हिरण्यदेवके सहयोगसे युवराज अजितसेन धरणीध्वजको भी युद्धभूमिमें स्वर्गवासी बना देता है। इसके उपरान्त जयवर्मा शुभमुहूर्तमें युवराज अजितसेनके साथ अपनी कन्याका विवाहकर देता है। फिर उसके साथ अपने नगरकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ अजितंजय उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। चक्रवर्ती होनेसे वह चौदह रत्नों एवं नौ निधियोंका स्वामित्व प्राप्त करता है। तीर्थङ्कर स्वयंप्रभके निकट अजितंजय जिन दोषा ले लेता है और सम्राट्के हृदयमें सच्ची श्रद्धा (सम्पन्नदर्शन) जाग उठती है। दिग्विजयमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके सम्राट् अजितसेन राज्यका संचालन करने लगता है। किसी दिन एक उन्मत्त हाथीने एक मनुष्यको हत्या कर डाली, इस दुःखद घटना को देखकर सम्राट्को वैराग्य हो जाता है, फलतः वह अपने पुत्र जितशत्रुको उत्तराधिकार सौंपकर शिवंकर उद्यानमें गुणप्रभ मुनिके निकट जिनदोषा गूँथ कर लेता है और घोर तपश्चरण करता है।

१. उ० पु० (५४, ८७) में और पुराणसा० (८०, २२) में नगरीका नाम अयोध्या लिखा है। २. पुराणसा० (८०, २३) में रानीका नाम श्रीवत्ता लिखा है। ३. उ० पु० (५४, ८९) में श्रीधर देवके गर्भमें आनेसे पहले रानीके आठ शुभस्वप्न देखनेका भी उल्लेख है। ४. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। ५. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० तथा पुराणसा० में नहीं है। ६. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। इन दोनोंमें सम्राट्के द्वारा अरिंदम मुनिको आहार दिये जानेका उल्लेख है, जो चं० चं० में नहीं है। ७. उ० पु० (५४-१२२) में उद्यानका नाम 'मनोहर' लिखा है।

४. अच्युतेन्द्र—धोर तपस्वरण करनेसे वह अच्युतेन्द्र हो जाता है। वहाँ वह बार्स सागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक दिव्यसुखका अनुभव करता है।

५. राजा पद्मनाभ—आयु समाप्त होनेपर अच्युतेन्द्र अच्युत स्वर्गसे च्यकर धातकीलण्डवर्ती मङ्गलावती देशके रत्नसंघपुरमें राजा कनकप्रभ के यहाँ उनकी पट्टरानी सुवर्णमाला की कुसिसे पद्मनाभ नामक पुत्र होता है। किसी दिन एक बूढ़े बिलको दलदलमें घँसकर मरते देखकर कनकप्रभकी वैराग्य हो जाता है। फलतः वह अपने पुत्र पद्मनाभको राज्य दे देता है और श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर दुर्घर तप करता है। पिताके विरहसे वह कुछ दिन दुःखी रहता है। फिर मन्त्रियोंके प्रयत्नसे वह अपने राज्यका संचालन करने लगता है। कुछ काल बाद अपने पुत्रको युवराज बनाकर वह अपनी रानी सोमप्रभा के साथ आनन्दमय जीवन बिताने लगता है। किसी दिन मालीके द्वारा श्रीधर मुनिके पधारनेके शुभ समाचार सुनकर पद्मनाभ उनके दर्शनोके लिए मनोहर उद्यानमें जाता है। दर्शन करनेके पश्चात् वह उनके आगे अपनी तत्त्वज्ञाना प्रकट करता है। वे तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनोंके मन्तव्योकी विस्तृत मीमांसा करते हुए तत्त्वोके स्वरूपका निरूपण करते हैं। उसे सुनकर पद्मनाभका संशय दूर हो जाता है। इसके पश्चात् पद्मनाभके पुछनेपर वे उसके पिछले चार भवोका विस्तृत वृत्तान्त सुनाते हैं। इस वृत्तान्तकी सत्यतापर कैसे विश्वास हो? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए मुनिराजने कहा—‘राजन्! आजसे दसवें दिन एक मदान्ध हाथी अपने झुण्डसे बिछुड़कर आपके नगरमें प्रवेश करेगा। उसे देखकर मेरे कथनपर विश्वास हो जायगा।’ इसके उपरान्त मुनिराजसे व्रत ग्रहणकर वह अपनी राजधानीमें लौट आता है। ठीक दसवें दिन एक मदान्ध हाथी सहसा राजधानीमें घुसकर उपद्रव करने लगता है। पद्मनाभ उसे अपने वशमें कर लेता है, और उसपर सवार होकर वनक्रीड़ाके लिए चल देता है। इसी निमित्तसे उस हाथीका ‘वनकेलि’ नाम पड़ जाता है। क्रीड़ाके पश्चात् पद्मनाभ उसे अपनी गजशालामें बँधवा देता है। राजा पृथिवीपाल इस हाथीको अपना बत्ताकर वापिस करवाना चाहता है। पद्मनाभके इनकार करनेपर दोनोंमें युद्ध छिड़ जाता है। युद्धमें पृथिवीपाल मारा जाता है। इसके कटे सिरको देखकर पद्मनाभको वैराग्य हो जाता है, फलतः वह श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर सिद्धिनिष्कण्डित आदि व्रतों व तेरह प्रकारके चारित्रिका परिपालन करता हुआ धोर तप करता है। कुछ ही समयमें वह द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान प्राप्त करता है और सोलह कारण भावनाओंके प्रभावसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लेता है।

६. वैजयन्तेश्वर—आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक भौतिक शरीरको छोड़कर पद्मनाभ वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र होते हैं, और तत्तोससागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक वहाँ वे दिव्यसुखका अनुभव करते हैं।

७. तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ—इनका जन्मस्थान पूर्वदेश की चन्द्रपुरी है।

१. पुराणसा० (८२-३३) में कनकनाभ नाम दिया है। २. पुराणसा० (८२-३२) के अनुसार रानीका नाम कनकमाला है। ३. इस घटनाकी चर्चा उ० पु० और पुराणसा० दोनोंमें नहीं है। ४. उ० पु० (५४-१४१) में पद्मनाभकी अनेक रानियाँ होनेका संकेत है। ५. उ० पु० और पुराणसा० में इस घटनाका तथा इसके बाद होनेवाले युद्धका उल्लेख नहीं है। ६. वाराणसीसे आसामतकका पूर्वी भारत ‘पूर्वदेश’ के नामसे प्रख्यात रहा। उ० पु०, पुराणसा०, त्रिषष्टिशलाकापुरुष० और त्रिषष्टिस्मृति० में इस देशका उल्लेख नहीं है। ७. त्रिषष्टिशलाकापुरुष० (२९६, १३) में इस नगरीका नाम ‘चन्द्रानना’, उ० पु० (५४, १६३) में ‘चन्द्रपुर’, पुराणसा० (८२, ३९) में ‘चन्द्रपुर’, तिलोपण्णसी (४, ५३३) में ‘चन्द्रपुर’ और हरिवंश (६०, १८९) में ‘चन्द्रपुरी’ लिखा है। सम्प्रति इसका नाम ‘चन्द्रवती’ ‘चन्द्रोटी’ या ‘चंदरोटी’ प्रसिद्ध है। यह वाराणसीसे १८ मील दूर गङ्गाके बायें तटपर है। यहाँ दि० व श्वे० सम्प्रदायके दो अलग-अलग जैनमन्दिर हैं।

माता-पिता—इनकी माताका नाम लक्ष्मणा^१ और पिताका नाम महासेन है। यह पट्टरानी थी। इक्ष्वाकुवंशी महासेन अनेकानेक गुणोंकी दृष्टिसे अनुपम रहे। दिग्विजयके समय इन्होंने अङ्ग, आन्ध्र, ओड, कर्णाटक, कलिङ्ग, कश्मीर, कीर, चेदो, टक्क, द्रविल, पाञ्चाल, पारसीक, मलय, लाट और सिन्धु आदि अनेक देशोंके नरेशोंको अपने अधीन किया था।

रत्नवृष्टि—दिग्विजयके पश्चात् चन्द्रपुरीमें राजा महासेनके राजमहलमें चन्द्रप्रभके गर्भावतरणके छः मास पहलेसे जन्म दिनतक प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि होती रही।

गर्भशोधन आदि—रत्नवृष्टिको देखकर महासेनको आश्चर्य होता है, पर कुछ ही समयके पश्चात् इन्द्रकी आज्ञासे आठ दिक्कुमारियाँ उनके यहाँ रानी लक्ष्मणाकी सेवाके लिए उपस्थित होती हैं। उनके साथ हुए वार्तालापसे उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। महासेनसे अनुमति लेकर वे उनके अन्तःपुरमें प्रवेश करती हैं और लक्ष्मणाके गर्भशोधन आदि कार्योंमें संलग्न हो जाती हैं।

शुभ स्वप्न—महारानी सुखपूर्वक सोयी हुई थी, इतनेमें उन्हें रात्रिके अन्तिम प्रहरमें सोलह^२ शुभ स्वप्न हुए। प्रभात होते ही वे अपने पतिके पास पहुँचती हैं।

स्वप्नफल—पत्नीके मुखसे क्रमशः सभी स्वप्नोंकी सुनकर महासेनने उनका शुभफल बतलाया, जिसे सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ।

गर्भावतरण—आयुके समाप्त होते ही पूर्वचर्चित अहमिन्द्र वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे चयकर प्रयास्त [चैत्र कृष्ण पञ्चमीके^३] दिन महारानी लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश करता है।

गर्भकल्याणक महोत्सव—इसके पश्चात् इन्द्र महासेनके राजमहलमें पहुँचकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। माताके चरणोंकी अर्चना करके वे बहोसे वापिस चले जाते हैं, पर श्री, ह्री और धृति देवियाँ वही रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

जन्म—पौष कृष्ण एकादशी^४के दिन लक्ष्मणा सुन्दर पुत्र—चन्द्रप्रभको जन्म देती हैं। इस शुभ वेलामें दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं; आकाश निर्मल हो जाता है; सुगन्धित वायुका संचार होता है; दिव्य-पुष्पोंकी वृष्टि होती है; कल्पवासी देवोंके यहाँ मणिषण्टिकाएँ, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिंहाद, भवनवासियोंके यहाँ शङ्ख और व्यन्तरोके यहाँ दुन्दुभि बाजे स्वयमेव बजने लगते हैं—इन हेतुओं तथा आसनके कम्पनसे इन्द्र चन्द्रप्रभके जन्मको जानकर देवोंके साथ चन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं।

अभिषेक—इन्द्राणी माताके निकट मायामयी शिशुको सुलाकर वास्तविक शिशुको राजमहलसे बाहर ले आती है। सोधमन्द्र शिशुको दोनों हाथोंमें लेकर ऐरावतपर सवार होता है और सभी देवोंके साथ सुमेध पर्वतकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पाण्डुक शिलापर शिशुको बैठाकर देवों द्वारा लाये गये क्षीर-सागरके जलसे अभिषेक करता है, और विविध अलंकारोंसे अलङ्कृत करके उनका चन्द्रप्रभ नाम रख देता

१. तिलोयप० (४, ५३३) में माताका नाम 'लक्ष्मीमती' लिखा है। २. उ० पु०, पुराणसा० और त्रिपटिशलाकापु० में केवल स्वप्नोंकी संख्याका ही उल्लेख है। गुणभद्र और दामनन्दीने स्वप्नोंकी संख्या १६ और हेमचन्द्रने १४ दी है। हेमचन्द्रकी दृष्टिसे १४ स्वप्न ये हैं—गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी-अभिषेक, माला, चन्द्र, सूर्य, कुम्भ, ध्वज, सागर, सरोवर, विमान, रत्नराशि और अग्नि। सिंहासन और नाग-विमान ये दो स्वप्न दिग्गबर साहित्यमें अधिक हैं। ३. यह मिति उ० पु० (५४, १६६) के आधारपर दी है, क्योंकि तिलोयप०, हरिवंश और पुराणसा० की भाँति प्रस्तुत चं० च० में इसका उल्लेख नहीं है। उ० पु० में जो मिति दी गयी है वही त्रिपटिशलाका पु० (२९६, २९) में भी दृष्टिगोचर होती है। ४. यही मिति उ० पु०, हरिवंश तथा तिलोय० में अङ्कित है, त्रिपटिशलाकापु० (२९७, ३२) में पौष कृष्ण द्वादशी लिखी है, पर पुराणसा० (८४, ४४) में केवल अनुराधायोगका ही उल्लेख मिलता है।

है। इसके उपरान्त सौधमेंद्र अन्य इन्द्रों के साथ चन्द्रप्रभ की स्तुति करता है और फिर उन्हें माता के पास पहुँचाकर महासेन से अनुमति लेकर वापिस चला जाता है।

बाल्यकाल—शिशु अमृतलिल अपनी अंगुलियों को चूसकर ही तृप्त रहता है, उसे माँ के दूध की विशेष लिप्सा नहीं होती। चन्द्रकलाओं की भाँति उसका विकास होने लगता है। धीरे-धीरे वह देव कुमारों के साथ गेंद आदि लेकर क्रीड़ा करने योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् वह तैरना, हाथों-घोड़े पर सवारी करना आदि विविध कलाओं में प्रवीण हो जाता है।

विवाह संस्कार—वयस्क होते ही महासेन उनका विवाह संस्कार^१ करते हैं, जिसमें सभी राजे-महाराजे सम्मिलित होते हैं।

राज्य संचालन—पिता के आग्रह पर चन्द्रप्रभ राज्य संचालन स्वीकार करते हैं। इनके राज्यकाल में प्रजा सुखी रही, किसीका अकाल मरण नहीं हुआ, प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ तथा स्वचक्र या परचक्र से कभी कोई बाधा नहीं हुई। दिन-रात के समयको आठ भागों में विभक्त करके वे दिनचर्या के अनुसार चलकर समस्त प्रजा को नयमार्ग पर चलनेकी शिक्षा देते रहे। विरोधी राजे-महाराजे भी उपहार ले-लेकर उनके पास आते और उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम करते रहे। इन्द्र के आदेश पर अनेक देवाङ्गनाएँ प्रतिदिन उनके निकट गीत-नृत्य करती रही। अपनी कमला आदि अनेक पत्नियों के साथ वे चिरकाल तक आनन्द-पूर्वक रहे।

वैराग्य—किसी दिन एक वृद्ध लाठी टेकता हुआ उनकी सभामें जाकर दर्दनाक शब्दोंमें कहता है—‘भगवन् ! एक निमित्तज्ञानोंने मुझे मृत्यु की सूचना दी है। मेरी रक्षा कीजिए, आप मृत्युञ्जय हैं, अतः इस कार्यमें सक्षम हैं।’ इसके बाद वह अदृश्य हो जाता है। चन्द्रप्रभ समझ जाते हैं कि यह वृद्ध के वेपमें देव आया था, जिसका नाम था धर्मशिव। इसी निमित्तसे वे भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं^२ और दीक्षा लेनेका निश्चय करते हैं। इतनेमें ही वहाँ लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और ‘साधु’ ‘साधु’ कहकर उनके वैराग्य की सराहना करते हैं। इसके उपरान्त ही वे अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य सौंप देते हैं।

तप—तत्पश्चात् इन्द्र और देव चन्द्रप्रभको ‘विमला’^३ नामकी शिविकामें बैठाकर सकलतु^४ वनमें ले जाते हैं, जहाँ वे [पीप कृष्णा एकादशीके^५ दिन] दो उपवासोंका नियम लेकर सिद्धोंको नमन करते हुए एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा लेकर तप करते हैं। इसी अवसर पर वे पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे केश

१. उ० पु० (५४, १७४) में स्तुतिका उल्लेख नहीं है, ‘आनन्द’ नाटकका उल्लेख है। त्रिपष्टिशलाकापु० में नाटकका नहीं, स्तुतिका उल्लेख है। २. उ० पु० (५४, २१४) में और पुराणसा० (८६, ५७) में क्रमशः, निष्क्रमणके अवसर पर अपने पुत्र वरचन्द्र, व रक्षितेजको चन्द्रप्रभके उत्तराधिकार सौंपनेका उल्लेख है पर दोनोंमें उनके विवाहके स्पष्ट उल्लेख करनेवाले पद्य नहीं हैं। त्रिपष्टिशलाका पु० (२९८, ५५) में चन्द्रप्रभकी अनेक पत्नियोंका उल्लेख है, जो चन्द्रप्रभचरितम् (१७, ६०) में भी पाया जाता है। ३. चन्द्रप्रभ के वैराग्यका कारण तिलोयप० (४, ६१०) में अध्रुव वस्तुका और उ० पु० (५४, २०३) तथा त्रिपष्टिस्मृति (२८, ९) में दर्पण में मुखकी विकृतिका अवलोकन लिखा है। त्रिपष्टिशलाकापु० और पुराणसा० में वैराग्यके कारणका उल्लेख नहीं है। ४. हरिवंश० (७२२, २२२) में शिविकाका नाम ‘मनोहरा’, त्रिपष्टिशलाकापु० (२९८, ६१) में ‘मनोरमा, पुराण सा० (८६, ५८) में ‘सुविशाला’ लिखा है। ५. तिलोयप० (४, ६५१) में वनका नाम ‘सर्वार्थ’ उ० पु० (५४, २१६) में ‘सर्वर्तुक’, त्रिपष्टिशलाका पु० (२९८, ६२) में एवं पुराणसा० (८६, ५८) ‘सहस्रात्र’ लिखा है। ६. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः हरिवंश० (७२३, २३३) के आधार पर यह मिति दी है। उ० पु० (५४, २१६) में भी यही मिति है, पर कृष्ण पक्षाका उल्लेख नहीं है। पुराण सा० (८६, ६०) में केवल अनुराधा नक्षत्रका ही उल्लेख है और त्रिपष्टिशलापु० (२९८, ६४) में पीप कृष्ण त्रयोदशी मिति दी गयी है।

लुब्धन करते हैं। देवेन्द्र और देव मिलकर तप कल्याणका उत्सव मनाते हैं, और उन केशोंको मणिमय पात्रमें रखकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करते हैं।

पारणा—नलिनपुर^१ में राजा सोमवत्^२ के यहाँ ये पारणा करते हैं। इसी अवसर पर वहाँ पाँच आश्चर्य प्रकट होते हैं।

कैवल्य प्राप्ति—धोर तप करके वे शुक्लध्यानका अवलम्बन लेकर [फाल्गुन कृष्णा सप्तमी^३ के दिन] कैवल्य—पूर्णज्ञानको प्राप्ति करते हैं।

समवसरण—कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् इन्द्रका आदेश पाकर कुबेर साढ़े आठ योजनके विस्तारमें वर्तुलाकार समवसरणका निर्माण करता है। इसके मध्य गन्ध कुटीमें एक सिंहासन पर भ० चन्द्रप्रभ विराज मान हुए और चारो ओर वर्तुलाकार बारह प्रकोष्ठोंमें क्रमशः गणधर आदि।

दिव्य देशना—इसके अनन्तर गणधर (मुख्य शिष्य) के प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् चन्द्रप्रभ ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वोंके स्वरूपका विस्तृत निरूपण ऐसी भाषामें किया, जिसे सभी श्रोता आसानीसे समझते रहे।

गणधरादिकों की संख्या—दस सहज, दस केवल ज्ञान कृत और चौदह देवचरित अतिशयों तथा आठ प्रातिहामोंसे विभूषित भ० चन्द्रप्रभके समवसरणमें तेरानव गणधर, दो हजार^४ कुशाग्रबुद्धि पूर्वधारी, दो लाख चारसौ^५ उपाध्याय, आठ हजार^६ अवधियानी, दस हजार^७ केवली, चौदह हजार^८ विक्रिया ऋद्धिधारी साधु, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी साधु, सात हजार^९ छ सौ वादी, एक लाख अस्सी हजार^{१०} आदिकाएँ, तीन लाख सम्मन्द्युष्टि श्रावक और पाँच लाख^{११} व्रतवती श्राविकाएँ रही।

यन-तत्र आर्यक्षेत्रमें धर्ममृतको वर्णा करते हुए भ० चन्द्रप्रभ सम्मेशाबल (शिखर जी) के शिखर पर पहुँचते हैं। भाद्रपद शुक्ला^{१२} सप्तमोके दिन अवशिष्ट चार अघातिया कर्मोंको नष्ट करके दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

१. हरिवंश० (७२४,२४०) में और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६६) में पुरका नाम 'पद्मलण्ड' दिया है, एव पुराणसा० (८६,६२) में 'नलिनलण्ड'। २. हरिवंश० (७२४,२४६) में और पुराणसा० (८६,६२) में राजाका नाम 'सोमदेव' दिया है। ३. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः उ० पु० (५४,२२४) के आधार पर दी है। चन्द्रप्रभचरितम्में चन्द्रप्रभ भगवान्के जन्म और मोक्ष कल्याणकोकी मितियाँ दी हैं, शेष तीन कल्याणकोकी नहीं। ४. त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,७५) में समवसरणका विस्तार एक योजन लिखा है। ५. तिलोयप० (४,११२०) में पूर्वधारियोंकी संख्या चार हजार दी है। ६. तिलोयप० (४,११२०) में उपाध्यायोंकी संख्या दो लाख दस हजार चारसौ दी है। ७. तिलोयप० (४,११२१) में अवधियानियोंकी संख्या दो हजार लिखी मिलती है। ८. तिलोयप० (४,११२१) में केवलियोंकी संख्या अठारह हजार दी है। ९. तिलोयप० (४,११२१) में विक्रिया ऋद्धिधारियोंकी संख्या छः सौ दी है; और हरिवंश० (७२६,३८६) में दस हजार चारसौ। १०. तिलोयप० (४,११२१) में वादियोंकी संख्या सात हजार दी है। ११. तिलोयप० (४,११६९) में आदिकाओंकी संख्या तीन लाख अस्सी हजार दी है और पुराणसा० (८८,७५) में भी यही संख्या दृष्टिमोचर होती है। १२. पुराणसा० (८८,७७) में श्राविकाओंकी संख्या चार लाख एकानव हजार दी है। त्रिषष्टिशलाकापु० में दी गयी संख्याएँ इनसे प्रायः भिन्न हैं। १३. उ० पु० (५४,२७१) में चन्द्रप्रभके मोक्षकल्याणककी मिति फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गयी है, पुराणसा० (९०,७९) में मिति नहीं दी गयी केवल ज्येष्ठा नक्षत्रका जल्लेख किया है।

[४] चं० च० की कथावस्तुका आधार

‘चन्द्रप्रमचरितम्’ की कथावस्तुके आधारके विषयमें इसके रचयिताने स्वयं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। प्रस्तुत कृतिके प्रारम्भ (१, ६) में जहाँ आचार्य समन्तभद्रका स्मरण किया है, वहाँ किसी एक भी पुराणकारका नहीं। हाँ, इसके प्रथम सर्ग (१, ९-१०) में गुरुपरम्परासे प्राप्त दुष्प्रवेश पुराणसागरमें स्वयं प्रवेशार्थ उद्यत होनेकी चर्चा वीरनन्दीने अवश्य की है। वह इस बातको ध्वनित करती है कि प्रस्तुत कृतिकी सामग्रीके संकलनके लिए वीरनन्दीने अनेक विशालकाय पुराणोंका परिशीलन किया था।

अब देखना यह है कि वे विशालकाय पुराण कौनसे हैं, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें वीरनन्दीके सामने रहे। सम्प्रति जो पुराण उपलब्ध है, उनमें तीन विशालकाय हैं—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण और महापुराण। यदि लेखकोंकी भिन्नताके आधारपर महापुराणकी आदिपुराण और उत्तर-पुराणके रूपमें विभक्त कर लें तो पुराणोंकी संख्या तीन से चार हो जाती है। चं० च०के परिशीलनसे ज्ञात होता है कि वीरनन्दीके समय इन चारोंके अतिरिक्त अन्य पुराण भी रहे, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

वीरनन्दीका अन्वेष्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त था, जो उन्हें उ० पु०से पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हुआ। यों यह पद्मपुराणमें भी स्वल्पतम मात्रामें विद्यमान है, पर हरिवंशकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। हरिवंशमें इसका जो थोड़ा-बहुत अंश सूत्ररूपमें उपलब्ध है, वह उत्तरपुराणकी तुलनामें अपर्याप्त है। उत्तरपुराणके भाईस (४४-६५) पृष्ठोंपर चन्द्रप्रभका साङ्गोपाङ्ग जीवनवृत्त दो सौ छिहत्तर सुन्दर पद्योंमें अङ्कित है। हरिवंशपुराणमें चन्द्रप्रभके जन्मादि स्थानों, पारिवारिक व्यक्तियों, विभूतियों, अतिशयो, पञ्चकल्याणमितियों और गणधरादिकोंकी संख्या आदिका ही मुख्यतया उल्लेख है। लगभग इसी ढङ्गका अत्यन्त ही स्वल्प उल्लेख पद्मपुराणमें है। जिनरत्नकोष (पु० ११९) आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्रके अतिरिक्त अन्य कवियोंके भी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें निबद्ध चन्द्रप्रमचरितके संदर्भ मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि वीरनन्दीके ‘पुराणसागर’ पदसे उन्हें जो विपुल पुराणवाङ्मय विवक्षित है, उनमें सम्प्रति उत्तरपुराण ही ऐसा है, जिसे उनकी कृति चं० च० की कथावस्तुका आधार माना जा सकता है। उ० पु० और चं० च० के प्रतिपाद्य विषयमें जहाँ-कहीं थोड़ा-बहुत वैषम्य है, वहाँ हरिवंशपुराण आधार है, और जहाँ उक्त दोनोंसे भी वैषम्य है, संभव है वहाँ कवि परमेश्वरका ‘वागर्थसंग्रह’ नामक पुराण आधार रहा हो, जिसके अनेक पद्य वीरनन्दीके समकालीन चामुण्डरायने अपने पुराणमें उद्धृत किये हैं।

आदिपुराणके आधारपर निर्मित पुरुषदेवचम्पूमें यज्ञ-तन्त्र आदिपुराणके अनेक श्लोकोंको थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ अपनाया गया है। ऐसा चं० च० में नहीं किया गया। उ० पु० की कथावस्तुका आधार बनाकर वीरनन्दीने अपनी कृतिमें अथसे इति तक सर्वत्र अपनी मौलिक प्रतिभाका उपयोग किया है। चं० च० के केवल एक स्थलमें उ० पु० के दो पदोंका थोड़ा-सा साम्य है, जो अकस्मात् हुआ जान पड़ता है।

चं० च० के ‘गुहसेतुवाहिते’ (१, १०) में ‘गुह’का अर्थ टीकाकारने ‘गणधर’ और पञ्जिकाकारने ‘श्रीजिनसेनादि’ किया है। यदि पञ्जिकाकारका अर्थ साधारण हो तो उ० पु० की चं० च० के आधार माननेकी बात और पुष्ट हो जाती है; क्योंकि उ० पु० जिनसेनकी कृतिका ही अङ्ग है। अथवा ‘श्रीजिनसेनादि’ में दिये गये ‘आदि’से गुणभद्रको भी लिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, यह सुनिश्चित है कि वीरनन्दीने उ० पु० से पर्याप्त लाभ उठाया है। इसके लिए उ० पु० और चं० च० का साम्य ही साधक है, जो इस प्रकार है—

१. प्रामाः कुक्कुटसंपात्वा. सारा बहुकृषीबला. । पशुधान्यघनापूर्णा नित्यारम्भा निराकुलाः ॥

—उ० पु०, पु० ४५, श्लो० १५

प्रामैः कुक्कुटसंपात्वा. सरोभिर्विक्राम्बुजै. । सीमभिः सस्यसंपन्नैः समन्ताद्विराजते ॥

—चं० च०, सर्ग २, श्लो० ११८

साम्य—१. कथानक—दोनोंका एक-सा कथानक ।

२. सातभव—दोनोंमें १. श्रीवर्मा, २. श्रीधरदेव, ३. अजितसेन, ४. अच्युतेन्द्र, ५. पद्मनाभ,
६. वैजयन्तेश्वर और ७. चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका एक जैसा उल्लेख ।

३. आयु—दोनोंमें श्रीधरदेव, अच्युतेन्द्र और वैजयन्तेश्वरकी आयु आदिकी समानता ।

४. नाम—दोनोंमें श्रीवर्मा, अजितसेन, पद्मनाभ और चन्द्रप्रभके जन्मादिस्थानों एवं पारि-
वारिक व्यक्तियोंके प्रायः समान नाम ।

५. मुनिदर्शन—दोनोंमें चिन्ता मिटानेके लिए राजाओंके मुनिदर्शनका प्रायः समान वर्णन ।

६. मुनिदीक्षा—दोनोंमें पुत्रके वयस्क होनेपर पिताके दीक्षित होनेका एक-सा वर्णन ।

७. संस्था—दोनोंमें चन्द्रप्रभके गणधरों, पूर्वचारियों, अच्यायो, अवधिज्ञानियो, विक्रियार्थिक
महर्षियो, मनःपर्ययज्ञानियों, वादियों, आधिकाओं, श्रावको, और श्राविकाओंकी
समान संस्था ।

८. छन्द—दोनोंमें चरितकी समाप्तिमें शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निबद्ध दो-दो श्लोकों को
रचना ।

९. भवोंका उल्लेख—दोनोंमें एक-एक पद्यमें सातों भवोंका एक-सा उल्लेख ।

वैषम्य—चं० च० तथा उ० पु० में भ० चन्द्रप्रभके सातों भवोंके वर्णनमें जो वैषम्य है, उसका विवरण
इस प्रकार है—

विषय	चं० च०	उ० पु०
१. पुत्र न होनेपर चिन्तित	श्रीपेणकी पत्नी श्रीकान्ता	श्रीपेण
२. चिन्तित होनेपर	चारणमुनि अनन्तके दर्शन	पुरोहितसे भेंट
३. पुत्र न होनेका कारण	श्रीकान्ताका पिछले जन्मका निदान	×
४. गर्भधानसे पहले	×	श्रीकान्ताको चार स्वप्न
५. श्रीपेणके दीक्षागृह	श्रीप्रभ मुनि	श्रीपद्मजिन
६. श्रीपेणका दीक्षोद्यान	×	शिवंकर
७. अजितजयकी राजधानी	कोशला	अयोध्या
८. गर्भधारणसे पूर्व	×	अजितसेनाको आठ स्वप्न
९. अजितसेनका अपहर्ता	चण्डरुचि असुर	×
१०. पक्षपातवीके निकट अजितसेनकी भेंट	हिरण्यदेवसे	×
११. अजितसेनके वैराग्यका कारण	मृतपुरुषका अवलोकन	×
१२. अजितसेनके द्वारा आहार	×	मासोपवासो अरिदम मुनिको
१३. कनकप्रभकी प्रधान रानी	सुवर्णमाला	कनकमाला
१४. पद्मनाभकी रानी	एक	अनेक
१५. पद्मनाभकी राजधानीमें	वन्यगजका प्रवेश	×
१६. पद्मनाभका युद्ध	पृथिवीपालसे	×
१७. चन्द्रप्रभका जन्मस्थान	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुर

१ श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः । पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः प्रभुः ॥
उ० पु०, पृ० ६५, श्लो० २७६ । यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सीधर्मस्ते ततस्तस्माच्च अजितसेनचक्रभृदभूव-
श्चाच्युतेन्द्रस्ततः । यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो यः स्यात्सीर्यकरः स सप्तमप्रवे चन्द्रप्रभः पातु
नः ॥ चं० च०, पृ० ४६१, प्रशस्ति श्लो० ६ ।

विषय	चं० च०	उ० पु०
१८. कल्याणकोंकी तिथियाँ	केवल दो (जन्म और मोक्ष) की	पाँचोंकी
१९. चन्द्रप्रभके जन्माभिषेकके समय	X	आनन्द नाटक
२०. चन्द्रप्रभके विवाह विषयक श्लोक	स्पष्ट	अस्पष्ट
२१. चन्द्रप्रभकी पत्नियाँ	अनेक	"
२२. चन्द्रप्रभके वैराग्यका कारण	देव	दर्पणमें मुखकी विकृति
२३. चन्द्रप्रभका दीक्षावन	सकलतुं	सर्वतुंक
२४. समवसरणमें चन्द्रप्रभकी स्तुति	X	ऐशानेन्द्रके द्वारा
२५. चन्द्रप्रभके गणधरादिकोंकी संख्यामें पहले उपाध्याय फिर अवधिज्ञानी पहले अवधिज्ञानी फिर उपाध्याय		

इस वैषम्यपर विचार—(१) पुत्रके न होनेपर राजा श्रौषेणका चिन्तित होना उ० पु० में वर्णित है। ठीक ऐसे ही प्रसंगमें रघुवंश (१, ३३-३४) में दिलीपका, रघुवंश (१०, २-४) में दशरथका और धर्मशर्मामुद्घ (२, ६९-७४) में महासेनका चिन्तातुर होना लिखा है। किन्तु चं० च० (३, ३०-३५) में श्रीकान्ताका चिन्तामग्न होना चर्चित है। इसका आधार उ० पु० के स्थानमें गुणभद्रकी दूसरी कृति 'जिनदत्तचरितम्' है, जिसमें पुत्रके न होनेसे जीवजन्ताकी चिन्ताका वर्णन है। अतएव प्रथम वैषम्यके आधारपर यह सिद्ध नहीं होता कि उ० पु० चं० च० की कथावस्तुका आधार नहीं है।

(२) उ० पु० में श्रौषेण पुरोहितसे पुत्र प्राप्तिका उपाय पूछते हैं, पर चं० च० में वे चारण मुनि अनन्तके दर्शन करते हैं, जिससे वे चिन्तासे मुक्त हो जाते हैं। सूक्ष्म विचार करनेपर ज्ञात होता है वीरनन्दो-ने जैनसंस्कृतिकी अनुकूलताको ध्यानमें रखकर यह परिवर्तन किया।

(७) उ० पु० के अनुसार अजितसेनकी राजधानीका नाम अयोध्या और चं० च० के अनुसार कोशला है। कोषोके अनुसार दोनोंका अर्थ एक ही है, अतः कोई विरोध नहीं है।

(९-१०) चं० च० में अजितसेनका अपहरण चण्डश्चि अमुर करता है, और बादमें पद्माटवीके निकट हिरण्य देवसे भेंट होती है—यह उ० पु० में चर्चित नहीं है। इन घटनाओंका स्रोत अन्यत्र न मिले तो यह मानना होगा कि वीरनन्दीने गुणभद्रके जिनदत्तचरितम्से सहायता ली है। वह इस प्रकार—

दधिपूरके उद्यानमें जिनदत्तका उसके स्वामी सेठ समुद्रदत्तसे परिचय हो जाता है। जिनदत्तके वृथा-युवैदके ज्ञानका अपने उद्यानमें चमत्कार देखकर समुद्रदत्त उससे प्रसन्न हो जाता है। फलतः वह वसन्तोत्सव-में जिनदत्तका खूब सम्मान करता है और फिर उसे अपने साथ व्यापारके निमित्तसे सिंहलद्वीपमें लिवा ले जाता है। सिंहलद्वीपके राजा मेघवाहनकी पुत्री श्रीमतीके शयनागारकी रक्षाके लिए जो पहरेदार नियुक्त होता रहा वह रात्रिमें मारा जाता था। इससे मेघवाहन हैरान था। जिनदत्तने प्रयत्न करके उस भयंकर सर्पका पता लगा कर पिटारीमें बन्द कर दिया, जो प्रतिदिन पहरेदारके प्राणोंका अपहरण करता रहा। इससे प्रसन्न होकर मेघवाहनने अपनी कन्या श्रीमतीका जिनदत्तके साथ विवाह कर दिया। सिंहलद्वीपसे लौटते समय जिनदत्तकी पत्नीको देखकर सेठ समुद्रदत्तकी दुष्टि दूषित हो जाती है, फलतः वह जिनदत्तकी समुद्रमें गिराकर अपने जलयानकी द्रुतगतिसे आगे बढ़ा ले जाता है। जिनदत्त एक लकड़ीका सहारा लेकर

१. अशोकस्तम्बकेनेव यौवनेन ममामुना । रागिणा केवलं किन्तु न यत्र फलसंभवः ॥ वारिषेरिव लावर्ण्यं विरसं मम सर्वथा । न यत्रापत्यपधानि तेन कान्तजलेन किम् ॥ नाममात्रेण सा स्त्रीति गुणसूच्येन कीर्त्यते । पुत्रोत्पत्त्या न या पूता यथा शक्रवधूतिका ॥ प्रसादोऽपि न मे भर्तुः शोभायै सूनूना विना । शब्दानु-पासनेनैव विद्वत्ताया विजृम्भितम् ॥ साहं मोहतमदृष्टन्ना निशेवोद्वेगदायिनी । दीयते यदि नो पुत्रप्रदीपः कुल-वेदमनि ॥ चिन्तयन्तीति सा बाला कपोलन्यस्तहस्तका । पातयामास सम्माना नेत्रभृङ्गान् मुखाभ्युज्जे ॥ —जिनदत्तचं० १, ६१-६६ । २. 'साकेतं कोशलायोध्या' अभिधानचि० ४, ४१ ।

तटकी ओर बढ़नेका यत्न करता है। इतनेमें दो व्यक्ति आकाशमार्गसे वहाँ पहुँचकर उसे धमकाने लगते हैं, पर उस (जिनदत्त) के योग्यतापूर्ण वचनोंको सुनकर वे पानी-पानी हो जाते हैं, और उसे अशोकश्री नामक विद्याधारनरेशके पास लिखा ले जाते हैं। वह अपनी कन्या शृङ्गारमतीका उसके साथ ब्याह कर देता है।

चं० च० में चर्चित हिरण्यदेव पहले अजितसेनको धमकाता है, पर बादमें उसकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसकी सहायता करता है। राजा जयवर्मन् प्रतिद्वन्द्वी घरणीवन्नको मारनेमें अजितसेनको यही देव सहयोग देता है। अन्ततोगत्वा राजा जयवर्मन् प्रसन्न होकर अपनी कन्या शशिप्रभाका अजितसेनके साथ विवाह कर देता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर जिनदत्तच० और चं० च० की उक्त घटनाओंमें पर्याप्त समानता है, अतः यह स्पष्ट है कि वीरनन्दीने जिनदत्तच० से भी सहायता ली। गुणभद्रने जिन घटनाओंसे जिनदत्तका उत्कर्ष सिद्ध किया है, उन्हीं जैसी घटनाओंसे वीरनन्दीने अजितसेनका।

(१३, १७, २३) सुवर्णमाला, कनकमाला; चन्द्रपुरी, चन्द्रपुर; सकलर्तु, सर्वर्तुक—ये नाम कुछ भिन्न-से प्रतीत होते हैं, पर इनका अभिप्राय भिन्न नहीं है। सुवर्ण कनकका, पुरी पुरका और सकल सर्वका पर्यायवाचक है। इनमें छन्दके अनुरोधसे थोड़ा-सा अन्तर आया है।

(१५) पद्मनाभकी राजधानीमें एक जंगली हाथीके प्रवेशकी घटना जो चं० च० में वर्णित है, उसका आधार उ० पु० के स्थानमें जिनदत्तच० (६, ८१-९१) प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियोंमें वर्णित घटनाओंमें अत्यधिक साम्य है। उक्त घटनाओंके अतिरिक्त दोनोंमें उद्योगत साम्य भी यत्न-तः है। चन्द्रप्रभ-चरितम् और जिनदत्तचरितम्के कतिपय पद्योंकी क्रमशः तुलना कीजिए—चं० च० १, १७; २, १२४; २, ११६; ३, ३१, ३, ३२; ३, ६७; ३, ७४; ६, १७; ६, १९; ६, २१; ११, ७६-९० क्रमशः जि० च० १, १३; २, ७; ३, ७४; १, ६१; १, ६३; १, ७२; १, ७५-७६; ६, ७; ६, ९; ६, १३; ६, ७७-९१।

अतएव यह स्पष्ट है कि चं० च० का कथानक गुणभद्रके उ० पु० से तथा कतिपय घटनाओंके स्रोत उन्हींके जिनदत्तच० से लिये गये हैं।

(१८) चं० च० में उ० पु० की भाँति पाँच कल्याणकोंकी पाँचों मितियाँ न देकर 'नेमिनिर्वाणम्'की भाँति केवल दो ही मितियाँ दी गयी हैं। इसका कारण कोम-सौ परम्परा रही है, यह ज्ञात नहीं हो सका। शेष विषयताओंके विषयमें सम्भव है वीरनन्दीके सामने कोई अन्य आधार रहा हो। जो कुछ भी हो, तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि चं० च० की कथावस्तुका मुख्य आधार उपलब्ध पुराणोंमें उ० पु० ही है।

[५] चं० च० की प्रासङ्गिक कथाएँ

(१) सुनन्दाका निदान—सुगन्धि देशके श्रीपुर नगरमें देवाङ्गद बणिक् रहता था, जिसकी पत्नीका नाम श्री और पुत्रीका नाम सुनन्दा था। किसी दिन वह एक गर्भवती नवयुवतीके श्रीहोद शरीरको देखकर अन्तान्तरमें भी युवावस्थाके प्रारम्भमें उस जैती न होनेका निदान बाँध लेती है, और आजीवन गृहस्वधर्मका परिपालन करती है। मृत्युके पश्चात् वह सौधर्म स्वर्गमें देवी होती है। वहसि चयकर राजा दुर्योधनकी पुत्री तथा राजा श्रीषेणकी पत्नी श्रीकान्ता होती है। पिछले जन्मके अशुभ निदानके कारण उसे प्रारम्भिक नवयौवनमें सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती। [चं० च० ३, ५३-५५]

(२) दो किसान—सुगन्धि नामका एक देश था। उसमें किसी समय राजा श्रीषेणका शासन रहा। उनके शासनकालमें उन्हींकी राजधानी—श्रीपुरमें दो किसान गृहस्थ रहते थे। उनमेंसे एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य। शशीने किसी दिन संध लगाकर सूर्यका सारा घन बुरा लिया। पता लगनेपर राजाने बरामद हुआ घन सूर्यको दिलवाया और शशीको प्राणदण्ड। चोरी करनेसे शशी नाना कुयोनियोंके दुःख भोगकर षण्डरुचि नामक अवुर होता है और सूर्य सत्कर्म करनेसे सुयोगियोंके सुख भोगकर हिरण्य नामक देव। [चं० च० ६, ३३-३५] इन कथाओंका स्रोत उ० पु० में नहीं है।

[६] चं० च० में सैद्धान्तिक विवेचन

वीरनन्दीने चं० च० के अन्तिम सर्गमें भ० चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनाका प्रसङ्ग पाकर जिन सैद्धान्तिक विषयोंका विवेचन किया है, उनमें मुख्य है—सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, चार गतियाँ, आठ कर्म, बारह तप, चार ध्यान, रत्नत्रय और चौतीस अतिशय । इस विवेचनसे अभिव्यक्त होता है कि वीरनन्दी सिद्धान्त-विद् भी रहे । इस विवेचन का आधार कुन्दकुन्द साहित्य, तत्त्वार्थसूत्र और उसके व्याख्याग्रन्थ आदि हैं, न कि उ० पु० ।

[७] चं० च० में तत्त्वोपप्लव आदि इतर दर्शनोंकी आलोचना

चं० च० (२, ४१-११०) में तत्त्वोपप्लव दर्शनकी विस्तृत आलोचनाकी गयी है, और इसीके प्रसङ्ग-से चार्वाक, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और मीमांसा दर्शनोंकी भी । तत्त्वोपप्लव दर्शनकी मान्यता है कि विचार करनेपर लोक प्रसिद्ध पृथिवी आदि तत्त्व भी जब सिद्ध नहीं किये जा सकते तब (जैन दर्शन मान्य) अन्य तत्त्वोंकी तो बात ही क्या है; (क्योंकि वे सभी बाधित हैं)—‘पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते कि पुनरन्यानि ?—तत्त्वोपप्लवसिद्ध पृ० १ । चार्वाक दर्शन देख्को ही आत्मा मानता है, जो उसीके साथ उत्पन्न होता है और उसीके साथ समाप्त भी हो जाता है—जन्मान्तर ग्रहण नहीं करता । सांख्यदर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है, पर वह उसे कूटस्थनित्य और अकर्ता बतलाता है । न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्माको जड़ मानता है—आत्मा स्वयं ज्ञानवान् नहीं है, ज्ञानके समवायसे ज्ञानवान् है । मीमांसा दर्शनको मोक्षके विषयमें विप्रतिपत्ति है (चं० च० २, ९०) । चं० च० की सं० टी० से इसके दो अर्थ प्रतिफलित होते हैं—१. मीमांसा दर्शनके आचार्योंको मोक्षके विषयमें विवाद है और २. मोक्ष नहीं है । दोनों अर्थ सङ्गत हैं । १ महर्षि जैमिनीयने अपने सूत्रोंमें मोक्षकी चर्चा नहीं की । इनके उत्तरवर्ती भट्ट और प्रभाकरके मोक्षके मन्तव्योंमें वैषम्य है । २. नित्यकर्मोंका अनुष्ठान ही मोक्ष है—नियोग-सिद्धिरेव मोक्ष.—प्रकरणपञ्चका पृ० १८८-१९० । जैमिनीय सम्मत मोक्षका लक्षण लिखते हुए सोमदेव सूत्रिने कहा है—कोयत्ना और कञ्जलकी भाँति स्वभावतः मलिन चित्तवृत्ति कभी शुद्ध नहीं हो सकती—यशस्ति० उ० पु० २६९ । बौद्धदर्शन ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानता है । इस तरह उक्त दर्शनोंकी मान्यताओंकी वीरनन्दीने समालोचना की है । इसकी विशेष जानकारीके लिए पाठक प्रस्तुत ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद और ‘तत्त्वसंसिद्धि’ देख लें । इस प्रसङ्गको आद्योपान्त पढ़कर वीरनन्दीके दार्शनिक वैदुष्यका अनुमान लगाया जा सकता है ।

[८] चं० च० की जैन व जैनेतर ग्रन्थोंसे तुलना

(अ) जैन ग्रन्थ

[१] आचार्य कुन्दकुन्द (ई० की पहली शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, ६९, १८, ६८, १८, ६;
१८, ७८-७९.

पञ्चास्तिकाय—८५

नियमसार—३४, १६, २०-२४.

[२] आचार्य उमास्वामी (वि० १-३ शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८, २; १८, ७-८

तत्त्वार्थसूत्र—१, ४; ३, १

१. इसी तरहसे चं० च० के अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रके आधार-पर बनाया गया है ।

[३] पूण्यपादस्वामी (वि० ५वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८, ४; १८, २-३^{१-२};
१८, १२५-१२७

सर्वार्थसिद्धि—१, ४, १, ४

पृ० ३ (ज्ञानपीठ संस्करण)

[४] अकलङ्कदेव (वि० ७वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८, ४३; १८, २१-२६;
१७, ७५

तत्त्वार्थवार्तिक—अ० ३ पृ० २०१ (ज्ञा० सं०)

अ० ३ पृ० २०८ (ज्ञा० सं०)

अ० ५ पृ० ४८२ (ज्ञा० सं०)

[५] भगवज्जिनसेन (ई० ८वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—१, ८, १८, ७६-७७

आदिपुराण—पर्व १, ३१-३२;

पर्व ३, ७; पर्व २४, १४७

[६] नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

च० च०—१८, २०-२१

गोम्भटसार जीवकाण्ड—गा० ८५

[७] महाकवि असग (वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

च० च०—२, १४२, २, १३८-१४०,
१, ३६, ४, ४८

वर्धमानचरित—५, १२, ५, १४, ५, १८,

७, ६४

[८] महाकवि हरिचन्द्र^१ (वि० १२वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—१८, २; १८, ३; १८, ७५;
१८, १३२

धर्मशर्माम्बुदय—२१, ८; २१, ९;

२१, ८९; २१, १६६-६७

[९] विबुध सीधर (वि० १२-१३वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—१५, २७-३०; १५, ३२-३४

पासणाहचरित^२—संधि ३ कड़० १६-१७;

संधि ४ कड़० ६

(आ) जैनैतर ग्रन्थ

[१] महाकवि कालिदास (ई० ४-५ शती) और वीरनन्दी

च० च०—३, ४, ३, १४; ३, ७३;
८, ८८

रघुवंश—१, २४, ३, ८; ३, १६;

७, ८

[२] महाकवि भारवि (ई० ७वीं शती) और वीरनन्दी

च० च०—३, ४८; ५, ८५, १२, १५;
१२, ८९

किरातार्जुनीय—३, ७, ३, १२,

२, ४१, १, ४२

१. 'पुण्यपापयोर्वन्धेऽन्तर्भावात् भेदेनाभिधानम्'। इति हरिभद्रकृतायां वृत्तौ पृ० २७ (सूरत संस्करण)।

२. 'पुण्यपापपदार्षोपसंख्यानमिति चेत्, न; आसवे बन्धे बान्तर्भावात्'। इति तत्त्वार्थवा० अ० १ पृ० २७ (ज्ञा० सं०)। ३. महाकवि हरिचन्द्रका 'धर्मशर्माम्बुदयम्' अथ से इति तक च० च० से प्रभावित है। इसके अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग च० च० का जड़णी है। ऊपर केवल नमूनेके लिए ४-५ पद्योंकी ही तुलना की गयी है। सरकमोका शम्भ साम्भ हरिचन्द्रको हेमचन्द्रका उत्तरवर्ती सिद्ध करता है। ४. यह सूचना पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (अजमेर) के दिनाङ्क २२/४/६८ के पत्रसे प्राप्त हुई।

[३] महाकवि माघ (ई० ७वीं शतीका अन्तिम चरण) और वीरनन्दो

चं० च०—१२, ६०, ५, ७६-७७;

शिशुपाल वध—५, ४४; १, १४-१५;

६, २२; ८, ५८;

२, १३; ८, ६६;

१४, ४७,

५, २७,

जैन व जैनतर ग्रन्थोंके साथ की गयी चं० च० की इस संक्षिप्त तुलनासे वीरनन्दोके व्यापक अध्ययनका पता चलता है ।

[९] चं० च० की साहित्यिक सुपसा

चं० च० एक महाकाव्य—निर्दोष, सगुण, सालङ्कार और कही (जहाँ रस आदिकी स्पष्ट प्रतीति हो) निरलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनोंका जहाँ सुन्दर सन्निवेश हो उसे काव्य कहते हैं^१ । दृश्यकी भाँति श्रव्यकाव्यकी भी अनेक विधाएँ हैं । महाकाव्य उन्हीमेंसे एक है । आठ सर्गोंसे अधिक सर्गबद्ध रचनाको महाकाव्य कहते हैं । इसमें देव या धीरोदात्तत्व आदि गुणोंसे विभूषित कुलीन सन्निव्य एक नायक होता है । कही एक वंशके कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं । इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त—इन तीनों-मेंसे कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) होता है और शेष अङ्ग (अप्रधान) । नाटकोकी भाँति इसमें भी मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्निव्याँ होती हैं । इसकी कथा ऐतिहासिक या लोक-विश्रुता सज्जनसे सम्बद्ध होती है । इसमें धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंकी चर्चा रहती है, पर फलका सम्बन्ध एकसे ही रहता है । इसका आरम्भ आशोर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तुके निर्देशसे होता है । इसमें दुर्जनोकी निन्दा और सज्जनोकी प्रशंसा रहती है । प्रत्येक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग रहता है, पर उसके अन्तमें अन्य छन्दोंका भी । किसी एक सर्गमें अनेक छन्द भी प्रयुक्त होते हैं । सर्गके अन्तमें अगले सर्गकी कथाकी सूचना रहती है^२ । इसके वर्ण्य विषय^३ हैं—राजा^४, रानी^५, पुरोहित^६, कुमार^७, अमात्य, सेनापति, देश^८, ग्राम^९, पुर^{१०}, सरोवर^{११}, समुद्र^{१२}, ससि^{१३}, उद्यान^{१४}, पर्वत^{१५}, अटवी^{१६}, मन्त्रणा^{१७}, वृत्^{१८}, प्रयाग^{१९}, मृगया-प्रद^{२०}, गज^{२१}, ऋतु^{२२}, सूर्य^{२३}, चन्द्र^{२४}, आश्रम^{२५}, युद्ध^{२६}, विवाह, वियोग^{२७}, सुरत^{२८}, स्वयंवर, पुष्प वचन^{२९}, और जलक्रीड़ा^{३०} । आलङ्कारिकोंके अभिप्रेत महाकाव्यके लक्षणकी कसौटीपर चं० च० का महाकाव्यत्व खरा उतरता है, जो सर्वमान्य है ।

१. काव्यप्र० १, १ । २. साहित्यद० ६, ३१५-३२१ । ३. अलङ्कारचि० १, २४ । चं० च० के वर्ण्य विषय—४. राजा—कनकप्रभ १, ३९-५४; श्रीपेण ३, १-१३; अजितजय ५, २३-२५, महासेन १६, ११-१५, चन्द्रप्रभ १७, ५२-६० । ५. रानी—सुवर्णमाला १, ५५-४७; श्रीकान्ता ३, १४-१८; अजितसेना ५, ३६-३९; लक्ष्मणा १६, १६-१९; कमलप्रभा १७, ६० । ६. पुरोहित ७, १४ । ७. कुमार—पद्मानाम १, ५८-६३; श्रीवर्मा ४, १-१४; अजितसेन ५, ४०-४४; चन्द्रप्रभ १७ ५० । ८. देश मङ्गलावती १, १२-२०; सुगन्धिदेश २, ११४-१२४; अलका ५, २-११; अरिजय ६, ४१; पूर्वदेश १६, १-५ । ९. ग्राम १, २०; २, ११८ । १०. पुर—रत्नसंचय १, २१-३८; श्रीपुर २, १२५-१३२; कोशला ५, १२-२२; विपुलपुर ६, ४२, आदित्यपुर ६, ७५; चन्द्रपुरी १६, ६-९ । ११. सरोवर—मनोरम ६, १ । १२. समुद्र ४, ६५; १६, २९-३० । १३. ससि—जलवाहिनी १३, ५३-६२ । १४. उद्यान—मनोहर २, १२-२३ । १५. पर्वत ६, १२; मणिकूट १४, १-४० । १६. अटवी—पद्मा ६, ५-१० । १७. मन्त्रणा १२, ५७-१११ । १८. वृत् १२, १-२४ । १९. प्रयाग ४, ४७-५१; ७, ५९-८०; १३, १-५२; १६, २४-५३ । २०. अश्व १४, ५१-५४ । २१. गज १४, ५५-६२ । २२. ऋतु ८, १-५१ । २३. सूर्योदय १०, ७६-७९; सूर्यास्त १०, १-३ । २४. चन्द्रोदय १०, १७-४१; चन्द्रारत १०, ६३ । २५. आश्रम ११, ३४ । २६. युद्ध १५, १-१३२ ।

नामकरण—साहित्यदर्पण (६, ३२४) के अनुसार महाकाव्यका नाम कविके नामपर, जैसे माघ; वर्षाविषयके नामपर, जैसे कुमारसम्भव; नायकके नामपर, जैसे विक्रमाङ्कदेव चरित; अथवा रघुवंश आदिकी भाँति वंश आदिके नामपर भी रखा जाता है। प्रस्तुत चं० च० का नामकरण इसके नायक चन्द्रप्रभके नामके आधारपर हुआ है, जो सदृश क्षत्रिय रहे।

मङ्गलाचरण—काव्यादर्श (१, १४) के अनुसार महाकाव्यका प्रारम्भ आशीर्वादात्मक किंवा नमस्कारात्मक मङ्गलाचरणसे या सीधे वस्तुनिर्देशसे भी होता है। चं० च० का प्रारम्भ आशीर्वादात्मक (तीन पद्य) और नमस्कारात्मक (चतुर्थ पद्य) मङ्गलाचरणसे हुआ है।

चं० च० का तुलनात्मक अध्ययन—रघुवंश, किरातार्जुनीयम्, माघ और नैषधीयचरित—इन चार महाकाव्योंकी विद्वत्संसारमे विशेष रूपाति है। यहाँ इन्हीके साथ चं० च० के कुछ अंशोंका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

१. मङ्गलाचरण—किरात, माघ और नैषधका प्रारम्भ वस्तुनिर्देशसे हुआ है। इसीमे मङ्गलाचरणकी कल्पना की गयी है, जैसा कि उनकी टीकाओंसे ज्ञात होता है। रघुवंशमें कालिदासने नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है। इसमे उन्होंने अपने आराध्य पार्वती और परमेश्वर (शिवजी) को अभिवादन किया है। इसका मुख्य उद्देश्य शब्द अर्थका ज्ञान प्राप्त करना है। वीरनन्दीने जगत्कल्याणके उद्देश्यसे चं० च० के प्रथम पद्यमें ऋषभदेवकी, लोकशान्तिके उद्देश्यसे द्वितीय पद्यमे रुद्रप्रभको, आत्मशान्तिके उद्देश्यसे तीसरे पद्यमे शान्तिनाथको और विशिष्ट गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे चौथे पद्यमे महावीरको नमस्कार किया है। मङ्गलाचरणके इन पद्योंसे अभिव्यक्त उदात्तभावनाकी दृष्टिसे वीरनन्दी कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष—इन चारो कवियोंसे आगे हैं।

२. सज्जन-दुर्जनोंका वर्णन—रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें सज्जन-दुर्जनोंका वर्णन नहीं है, पर चं० च० (१, ७-८) में है। इस प्रसङ्गमे एक मामिक बात यह भी द्रष्टव्य है कि वीरनन्दीने दुर्जनोंको भी गुण मानकर नमन किया है*।

२७. वियोग १०, ७०-७३। २८ सुरत १०, ४२-६१। २९. पुष्पावचय ९, २२-२६। ३०. जलक्रीड़ा ९, २७-५८।

मन्त्रणाके प्रसङ्गमे अमात्यों और प्रमाणके प्रसङ्गमे सेनापतियोंकी चर्चा की गयी है, पर स्वयंवर तथा विवाहकी भाँति इनका भी स्वतन्त्र रूपसे कोई वर्णन चं० च० मे नहीं किया गया। मृगयाके स्थानमे पुष्पावचय वर्णित है, जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे ठीक है।

१. चं० च० के मङ्गलाचरणके क्रममें विशेषता है। इस युगके आदिमे प्रथमतः धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेसे ऋषभदेवकी, प्रस्तुत कृतिके नायक होनेमे चन्द्रप्रभको, कृतिकी निषिद्ध समाप्तिके लिए शान्तिनाथको और वर्तमान धर्मतीर्थके नायक होनेसे महावीरको नमस्कार किया गया है, जो युक्तिसङ्गत है। वीरनन्दीके इस क्रमने इनके उत्तरवर्ती हरिचन्द्र एवं अर्हदास आदि अनेक कवियोंको प्रभावित किया है। चं० च० का प्रारम्भ 'श्री' शब्दसे हुआ है। जहाँतक मैं जानता हूँ यह परम्परा भारविसे प्रारम्भ हुई है। २. आचार्य गुणमदने आत्मानुशासन (दश० १४१) में लिखा है—कोई गुह शिष्टतावश अपने शिष्यके दोषोंका, जो भीतोंको ज्ञात हैं, यह सोचकर उद्घाटन न करे—छिपाये रहे कि सम्मार्गमें प्रवर्तन करानेसे कभी यह स्वयं ही उन्हें छोड़ देगा, और इसी बीच यदि वह दिवंगत हो जाता है तो उसका वह शिष्य सदोष ही बना रहेगा। फिर कभी कोई मुँहफट खल, जो दूसरोंके अणुप्रमाण भी दोषोंको पर्वताकारमें देखता है, उसके दोषोंको प्रकट कर दे तो उसके मनमे यह बात घर किये बिना नहीं रहेगी कि उसके गुह तो कोरे गुह ही रहे, सच्चा गुह तो यह खल है जिसके निपुण समीक्षणसे उसकी आँखें खुलीं—दोषोंका भान हुआ।

काव्येतर ग्रन्थ अपने नियत विषयोका ही प्रतिपादन करते हैं, पर काव्यको यह विशेषता है कि वह प्रसङ्गतः अन्यान्त्र विषयोंपर भी प्रकाश डालता है। नीरस विषय भी काव्यके सम्पर्कसे सरस बन जाते हैं। इसी दृष्टिसे वीरनन्दोने सज्जन-दुर्जनोंका भी आकर्षक वर्णन किया है।

३. द्वीप वर्णन—चं० चं० में कनकप्रभ आदि सभी राजाओंके अन्य वर्णनके साथ उनके द्वीपोंकी भी चर्चा की गयी है, पर रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें राजाओंके द्वीपोंकी, जिनके वे निवासी रहे, चर्चा नहीं है। चं० चं० की भाँति उनकी भी कथावस्तु पौराणिक है, अतः पुराणोंके आधारपर उनमें भी यह चर्चा दी जा सकती थी।

४. देश-पुर-वर्णन—चं० चं० में मङ्गलावती आदि अनेक देशों एवं रत्नसञ्चय आदि पुरोंका सजीव वर्णन द्रष्टव्य है। इनके वर्णनके प्रायः अन्तिम पद्योंमें परिसंस्थालङ्कारमें वहाँकी सामाजिक स्थितिपर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैसे २, १२२; २, १२८-३९ आदि। यह बात रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है।

५. नायकवर्णन—महाकाव्योंमें उसके नायकका उत्कर्ष दिखलाना कविका मुख्य लक्ष्य होता है। चं० चं० में इसकी जितनी पूर्ति की गयी है, रघुवंश आदि चारोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती। चं० चं० में नायकका क्रमिक उत्कर्ष पिछले सातवें जन्मसे शुरू होता है जो चन्द्रप्रभके भवमें चरम सीमातक पहुँचता है। बाग्मट, असग, घादिराज, हरिचन्द्र और अर्हदास आदि जैन महाकवियोंने अपने महाकाव्योंमें इसी ढंगसे नायकोका उत्कर्ष सिद्ध किया है। कादम्बरीमें इसकी आंशिक झलक मिलती है, पर वह महाकाव्य नहीं है। रघुवंशमें दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण पर्यन्त रामकी अनेक पीढ़ियोंका वर्णन है, न कि उनकी भवावली का। माघ (१, ४२-६८) में शिशुपालके दो पिछले भवोंका वर्णन है, पर वह नायक नहीं, प्रतिनायक है। कुमारसम्भव (१, २१) में पार्वतीके पिछले भवका उल्लेख है, किन्तु वह भी नायक नहीं है। निष्कर्ष यह कि नायकका उत्कर्ष दिखलानेवाली भवावली जिस तरह चं० चं० में वर्णित है, उस तरह रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है। भवावलीके वर्णनसे महाकाव्योंमें पुराणत्व आ जायेगा, यह बात सर्वमान्य नहीं हो सकती। किसी भी व्यक्तिके वर्तमान जीवनके उत्कर्षमें उसके पिछले जन्मोंकी साधनाका प्रभाव रहता है। वर्तमान जीवनकी भी पिछली साधना उसके भावी उत्कर्षका हेतु होती है—यह स्वाभाविक है। अतएव उ० पु० के आधारपर चं० चं० में नायकके पिछले छः भवोंका जो वर्णन किया गया है, वह उस (चं० चं०) के वैशिष्ट्यका परिचायक है।

६. नायिका वर्णन—चं० चं० में चन्द्रप्रभ की पत्नी के अतिरिक्त उनके पिछले जन्मों से सम्बद्ध सुवर्णमाला, श्रीकान्ता, अजितसेना आदिका भी वर्णन है। इसकी विशेषता यह है कि किसीका भी नख-शिख वर्णन नहीं किया गया, सभीके शील आदि गुणोंपर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए चं० चं० के १, ५५; ३, १६ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं। रघुवंश, माघ और किरात में मुख्य नायिकाओंका नाम मात्रका ही वर्णन है। नैपथ्यमें दमयन्तीका नख-शिख वर्णन है, न कि शील आदिका। अतः चं० चं० का नायिका वर्णन प्रस्तुत चारों महाकाव्योंसे विलक्षण है।

७. नायिकाओं की चेष्टाओंका वर्णन—किसी विशिष्ट व्यक्तिके आनेपर उसे देखनेके लिए स्वाभाविक कौतूहल (वह इच्छा, जिसे रोक न जा सके) वश नायिकाओं में अनेक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। इनका सजीव चित्रण चं० चं० (७, ८२-९०), रघुवंश (७, ६-१२), माघ (१३, ३१-४८) और नैपथ्य (१६, १२६-१२७) में द्रष्टव्य है। किरातमें इस प्रसङ्गके पद्य दृष्टिगोचर नहीं हुए। इस प्रसङ्गका चं० चं० (७, ८७) का पद्य अत्यन्त सुन्दर है, जिसका भाव है—कोई अन्य नायिका अंगुलियोंमें अंगुलियाँ मिलाकर दोनों बाहुओंकी अपने सिरपर रखकर जमुहाई लेने लगी, जिससे वह ऐसी जान पड़ी मानो सम्राट् अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके निमित्तसे भाङ्गलिक स्वर

तैयार कर रही हो। ऐसी अनूठी कल्पना रघुवंश आविर्भूत खोजनेपर भी नहीं मिली। चं० ब०के इस प्रसङ्ग-के अन्य पद्य भी अमिनव कल्पनाओंसे अनुस्यूत हैं, अतः चं० ब०का यह प्रसङ्ग रघुवंश आदि चारों काव्योंके समीप्य सन्दर्भमें कहीं अधिक स्तुत्य है।

प्रस्तुत प्रसङ्गके नैषध (१६, १२७), माघ (१३, ३५), रघुवंश (७, ११) तथा चं० ब० (७, ८७) के पद्योंमें क्रमशः चमत्कृति अधिक है। नैषधका यह पद्य अनेक दृष्टियोंसे दोषपूर्ण भी है। यों नैषध श्रेष्ठ महाकाव्योंमेंसे एक है, पर उक्त पद्य उसके रूपके अनुरूप नहीं है।

८. ऋतुवर्णन—ऋतुओंका वर्णन प्रायः सभी महाकाव्योंमें रहता है। रघुवंश (९, २४-४७) में वसन्त, किरात (१०, १९-३६) में वर्षा, हेमन्त, वसन्त और श्रौष्ठ एवं (४, १-३६) में शरद्, माघ (६, १-७९) में सभी तथा चं० ब० (८, १-५१) में वसन्त वर्णित है। नैषध (१, ७५-१०६) में नलके क्रीडावन-में एक ही साथ अनेक ऋतुओंके फूल, फल और पक्षी वर्णित हैं, इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ऋतु वर्णन नहीं किया गया। इस प्रसंगके पद्योंमें भारवि और श्रीहर्षको छोड़कर शेष (कालिदास, माघ और वीरनन्दी) ने यमकका प्रयोग किया है। रघुवंशके प्रसंगके पद्योंके केवल उत्तरार्धमें, माघके उत्तरार्धके साथ किसी-किसी पद्यके पूर्वार्धमें भी यमक प्रयुक्त है, पर चं० ब० के सभी पद्योंके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों ही। चं० ब० के द्वितीय सर्ग (११-२३) में राजा पथनाभके उद्यानमें युगपद् सभी ऋतुओंके फल-फूल और पक्षी वर्णित है। इस सन्दर्भमें चमत्कारपूर्ण अर्थालङ्कारोंका प्रयोग हुआ है। इसकी एक श्लोक नैषध (१, ७५-१०६) में दृष्टिगोचर होती है, जो किरातमें नहींके बराबर है। अतः इस प्रसंगकी रचनामें चं० ब० का अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

९. पर्वत वर्णन—अलंकारशास्त्रके निर्देशानुसार महाकाव्योंके वर्ण्य विषयोंमें पर्वत भी है, पर रघुवंश और नैषधमें इसके वर्णनके लिए स्वतन्त्र सर्ग दृष्टिगोचर नहीं होते। किरात, माघ और चं० ब० में क्रमशः हिमालय, रैवतक (गिरनार) और मणिकूट पर्वतके वर्णनके लिए पाँचवें, चौथे तथा चौदहवें सर्गका स्वतन्त्र उपयोग किया गया है। इस सन्दर्भमें भारविने चौदह और माघने उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया है तो वीरनन्दीने बीस का। जलोद्धतगति, द्रुतविलम्बित, पुष्पताप्रा, प्रहृषिणी, प्रमिताक्षरा, मालिनी, वसन्ततिलका, शालिनी और मालिनी, इन नौ छन्दोंका उक्त तीनों महाकवियोंने पर्वत वर्णनके प्रसंगमें समानरूपसे उपयोग किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें भारविने कान्तोत्पीठा और प्रभाका, माघने आर्यागीति, कुशरीशता, पथ्या, मत्तमयूर, वंशस्थ, सुमंगला एवं सखिणीका तथा वीरनन्दीने अतिरुचिरा, इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता और रघोदत्ता छन्दोंका एक-दूसरेसे भिन्न प्रयोग किया है। इन तीनों महाकाव्योंके प्रस्तुत प्रसंग के प्रायः सभी पद्य चमत्कारपूर्ण हैं, पर स्वाभाविकताकी दृष्टिसे वीरनन्दी कहीं-कहीं दोनोंसे आगे चले जाते हैं।

१०. सूर्यास्त आदिका वर्णन—कालिदासने रघुवंशमें यत्र-तत्र प्रभात आदिका संक्षिप्त वर्णन किया है, पर इसके लिए किसी पुरे सर्गका उपयोग नहीं किया। श्रीहर्षने नैषधके उन्नीसवें सर्गमें प्रभातका वर्णन किया है, जो माघकी तुलनामें छोटा है। भारविने किरातके नवमसर्गमें और माघने माघके तीन (९-११) सर्गोंमें सूर्यास्तसे प्रभात तकका, जिसमें गोष्ठी, मधुपान, प्रणयालाप तथा संभोग भ्रुंगार भी सम्मिलित हैं, आकर्षक वर्णन किया है। वीरनन्दीने चं० ब० के दशम सर्गमें मधुपानको छोड़कर शेष सभीका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, जो किरात और माघसे भी अच्छा है। इस प्रसङ्गके पद्योंका पाठक वीरनन्दीकी श्लाघा किये बिना नहीं रह सकता। सूर्यास्तके प्रसंगमें किरात (९, १), माघ (९, १) और चं० ब० (१०, १) को ध्यानसे पढ़नेपर तीनोंकी चमत्कृतिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष ज्ञात होने लगता है। केवल एक ही पद्य नहीं बसवाँ सर्ग पूरा-कानूरा चमत्कार से भरा हुआ है, चमत्कारका मूलकारण उक्ति वैचित्र्य है। इस दृष्टिसे वीरनन्दी प्रस्तुत अन्य कवियोंसे कहीं अधिक सफल हुए है।

११. युद्ध वर्णन—महाकाव्योंमें युद्ध जैसे भयावह विषयका भी सरस वर्णन किया जाता है। रघुवंशके तीन (३, ७, १२) सर्गोंमें कुछ पद्योंमें युद्धका संक्षिप्त किन्तु सारगम्य वर्णन है। किरातके पूरे पन्द्रहवें तथा माघके उन्नीस-बीसवें सर्गोंमें युद्धका वर्णन किया गया है। चं० च० के पूरे पन्द्रहवें सर्गमें युद्धका विस्तृत वर्णन है। रघुवंशकी भांति अन्य सर्गोंमें भी इसका जो संक्षिप्त वर्णन है, वह इससे भिन्न है। किरात और माघ की भांति चं० च० का युद्ध वर्णन अनुष्टुप् छन्दमें किया गया है। नैषधमें युद्धका वर्णन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। चं० च० में वर्णित युद्धमें अर्धचन्द्र, असि, कुन्त, कवच, गदा, चक्र, बाण, परशु, प्राप्त, बाण, मुद्गर, यष्टि, वज्रमुष्टि, शङ्ख और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगका उल्लेख है। कालिदासने युद्ध वर्णनके पद्योंमें अर्थचित्रकी और भारवि तथा माघने शब्दचित्रकी मुख्यता दी है, पर वीरनन्दीने इस सन्दर्भमें मध्यमार्गका आश्रय लिया है इसीलिए इन्होंने एक पद्यमें एकाक्षर चित्र, एक पद्यमें द्व्यक्षरचित्र तथा कुछ पद्योंमें यमकका प्रयोग किया और शेषमें अर्थचित्रका। शब्दचित्रके प्रदर्शनमें भारवि और माघ दोनों पटु हैं, पर इसमें माघ अधिक सफल हुए हैं। रघुवंशकी भांति चं० च० के युद्धवर्णनमें वीर रसका जो आस्वाद प्राप्त होता है, किरात और माघमें नहीं। चं० च० का वर्णनविषय किरात और माघ जैसा है, पर भाषा और शैली रघुवंश जैसी। यही कारण है कि युद्ध जैसे विषयमें भी वीरनन्दीको कालिदासकी ही भांति सफलता प्राप्त हुई है। चं० च० के प्रस्तुत प्रसंगमें एक विशेष बात यह भी है कि रणाङ्गणमें विजय पानेवाले राजा पद्मनाभको जब उसके एक सैनिकने प्रतिद्वन्द्वी राजा पृथिवीपालका कटा हुआ सिर दिखलाया तो उसे उसी समय वैराग्य हो गया। इस अवसर पर उसके मुखसे जो उद्गार निकले वे स्तुत्य हैं। अन्तमें वह पृथिवीपालका राज्य उसके पुत्रको और अपना राज्य अपने पुत्रको देकर श्रीधर मुनिके निकट जिन दोहा ले लेता है। माघके अन्तिम सर्गमें भ० कृष्णके द्वारा युद्धमें शिशुपालके सिर काटने का उल्लेख है, पर उसके बाद चं० च० जैसे विचारोंका वर्णन नहीं है। इस ढंगका वर्णन रघुवंश, किरात या अन्य किसी महाकाव्यमें अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किसी भी अच्छे या बुरे कामके बाद उसके करनेवाले व्यक्ति के हृदयमें कुछ-न-कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। सत्कविके द्वारा उनकी चर्चा अवश्य की जानी चाहिए। निष्कर्ष यह कि चं० च० का युद्धवर्णन भी अपने ढंगका एक है।

१२. चतुर्थ पुरुषार्थका वर्णन—भामहने (काव्या० १, २) में काव्य-प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—सत्काव्यकी रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला प्रवीणता, आनन्द एवं कीर्ति प्रदान करती है। विद्वनायनने (सा० द० १, २) में लिखा है कि अल्पमति व्यक्तियोंको भी विशेष परिश्रम किये बिना धर्म आदि पुरुषार्थोंके फलकी प्राप्ति काव्यसे ही हो सकती है, अतः.... इस प्रयोजनकी दृष्टिसे वीरनन्दी अपने काव्य निर्माणमें पूर्ण सफल हुए हैं। काव्योचित अन्याय विषयोंके साथ चं० च० में चारों पुरुषार्थों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चं० च० के अन्तिम सर्गमें केवल चतुर्थ पुरुषार्थका ही वर्णन है। इसमें सात तत्त्व, मोक्षका स्वरूप और उसके प्राप्त करनेके उपाय—इन विषयोंका विस्तृत वर्णन है। इसका सीधा सम्बन्ध चन्द्रप्रमकी दिव्य देशनासे है। नायककी मुक्ति प्राप्ति पर प्रस्तुत महाकाव्यकी समाप्ति हुई है। सत्काव्योंके अध्ययनसे चतुर्वर्ग स्व फलकी प्राप्ति अलङ्कार ग्रन्थोंमें बतलायी गयी है तो धर्मसे लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों वर्गों या पुरुषार्थोंका वर्णन भी सत्काव्योंमें होना चाहिए, जैसा कि चं० च० में है। रघुवंश आदि चारों जैनतर काव्योंमें यह दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी एकाध पद्यसे इसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाये तो वह अलग बात होगी। चं० च० का अङ्गी रस शान्त है, जिसका फल मोक्ष है, अतः इसमें मोक्ष पुरुषार्थका वर्णन आवश्यक था, जिसे वीरनन्दीने पूरा किया।

इस तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वीरनन्दी अपने महाकाव्यके निर्माणमें कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि महाकवियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुए हैं। वीरनन्दी यदि जैन न होते तो इनका महाकाव्य भी रघुवंश आदि की भांति रूपाति प्राप्त करता और प्रचारमें भी आ जाता।

[१०] चं० च० में रस योजना

‘स कश्चिदस्य वचो न नीरसम्’ (चं० च० १२, १०८) — इस उक्तिसे स्पष्ट है कि नीरसन्दोषी दृष्टि-में श्रेष्ठ कवि वह है, जिसका काव्य सरस हो। यही कारण है कि चं० च० में आदिसे अन्त तक रसकी अभिव्यक्ति धारा प्रवाहित है। यहाँ इसके मुख्य रसोंका उल्लेख प्रस्तुत है।

शान्तरस—चं० च० का अङ्गो (प्रधान) रस शान्त है, जो इसके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम; एकादश, पंचदश (१३३-१६१), सप्तदश और अन्तिम अष्टादश सर्गमें प्रवाहित है। इन सर्गोंमें चिरुक्ति के कारणोंके मिलने पर संसार, शरीर, जीवन, जीवन और विषयोंकी अनित्यता, मुनिदर्शन, दोषा, तपस्या, दिव्य देशना और मुक्ति की प्राप्ति वर्णित है। उदाहरण के लिए १, ७८, ४, २५; ११, १७, १५, १३५; १७, ६९ इत्यादि पद्य द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गाररस—चं० च० के सप्तम सर्गके बयासीवें पद्यसे लेकर दशम सर्गके अन्त तक शृङ्गार रस प्रवाहित है। सप्तम सर्गके उक्त अंशमें दिम्बिजयके उपरान्त सम्राट् अजितसेन अपनी राजधानीमें प्रवेश करते हैं। इन्हे देखने वाली नायिकाओंकी विविध चेष्टाएँ शृङ्गार रस (पूर्वराग) को अभिव्यक्त करती हैं। अष्टम सर्गमें वसन्त ऋतु, नवममें उपवन मात्रा, उपवन विहार एवं जलक्रीडा तथा दशममें सार्यकाल, अन्ध-कार, चन्द्रोदय और रात्रिक्रीडा (सुरत) वर्णित है, जिनमें संभोग और विप्रलम्भ दोनोंका आस्वाद मिलेला है। अन्य सर्गों भी न्यूनाधिक मात्रामें शृङ्गार रस विद्यमान है। ७, ८३; ८, ३९; ९, २४; १०, ६० इत्यादि पद्य शृङ्गार रसके उदाहरणके रूपमें द्रष्टव्य हैं।

पति-पत्नीके हृदयमें विद्यमान रति (स्थायीभाव) यदि एक-दूसरेके प्रति हो तो वह विभाव, अनु-भाव और संचारी भावके संयोगसे शृङ्गार रसके रूपमें परिणत हो जाती है। यदि यही रति देव, मुनि या राजा आदिके विषयमें हो तो वह ‘भाव’ रूपमें परिणत होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं। देव विषया रति—१७, ३२; मुनिविषया रति ११, ४२, राजविषया रति—१२-६८।

वीररस—ग्यारहवें सर्ग (८५-९२) में तथा पन्द्रहवें (१-१३१) में वीररस है। ग्यारहवें सर्गके अन्तमें राजा पद्मनाभके द्वारा अदम्य उत्साह पूर्वक, राजधानीमें प्रलय मचाने वाले एक जंगली हाथीको वधमें लानेका वर्णन है और पन्द्रहवें सर्गके इसी हाथीको अपना बल्लाकर अपमानजनक व्यवहार करनेवाले राजा पृथिवीपालके साथ पद्मनाभके युद्धका वर्णन है, जो वीररसमें आप्लावित है। १५, ३६; १५, ४८, १५, ५८; १५, ९९ इत्यादि पद्य इसके उदाहरणके लिए अवलोकनीय हैं।

रौद्ररस—चं० च० के छठे सर्गमें कुरूपात चण्डगचि नामक असुर पिछले वैरके कारण राजकुमार अजितसेनका अपहरण करके उसकी हत्याका दुष्प्रयास करता है। राजा महेन्द्र राजा जयवर्माकी अनुपम सुन्दरी कन्या शशिप्रभाको बलात् छीननेके लिए युद्ध छेड़ देता है, और इसके पराजित होने पर धरणीध्वज भी शशिप्रभाको पानेके उद्देश्यसे युद्धके मैदानमें उतर आता है, पर जयवर्मा महेन्द्रकी भाँति इसके भी छक्के छुड़ा देता है। इन तीनों प्रसंगोंमें रौद्ररसका परिपोष हुआ है।

बीभत्सरस—चं० च० के (१४, ५३) आदि कतिपय पद्योंमें बीभत्स रस अभिव्यक्त है, जिनमें मांस और रक्तासवके सेवनसे उन्मत्त डाकनियोंका घडोंके साथ नाचना वर्णित है।

करुणरस—चं० च० (५, ५५-७१) में करुण रस प्रवाहित है, जहाँ अपहृत पुत्रके शोकमें उस-के पिता अजितजयका विलाप वर्णित है। इसके उदाहरणके लिए ५, ५८; ५, ६२ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं।

१. मृत्युके उपरान्त करुण रसकी अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अजितसेनकी मृत्यु नहीं हुई, अनिष्ट-की प्राप्ति हुई—इसी दृष्टिसे करुणरस अभिव्यक्त हुआ है। ‘इष्टनाशादनिष्टासे: करुणास्थो रसो भवेत्’ (सां० ६० ३, २२२)। काव्यानु० (२, पृ० ९१) और अलङ्कारचि० (५, १०१) से भी इसका समर्थन होता है, अतः चं० च० के उक्त सन्दर्भमें करुणरस मान्य है।

अद्भुतरस—चं० ब० (५, ७२-७३) में अद्भुत रसका आस्वाद होता है, जहाँ आकाश मार्गसे उतरते हुए दीप्ति सम्पन्न एक चारण मुनिको अकस्मात् देखते ही अजितंजय और उसकी सभाका विस्मित होना वर्णित है ।

वात्सल्यरस—चं० ब० (१७, ४३-४८) में वात्सल्य रसका भी परिपोष हुआ है, जहाँ शिष्य चन्द्रप्रभकी बाललीलाको देख कर उनके माता-पिता आनन्दका अनुभव करते हैं । भरत मुनिकी भाँति विष्वनाथ कविराज (सा. द. ३, २५१) ने इसे स्वतन्त्र रस माना है । यदि यह रस वीरनन्दीको मान्य न रहा हो, तो उक्त सन्दर्भमें पुत्र विषयक रतिभाव स्वीकार्य होना चाहिए । भक्तिरस, लील्यरस और स्नेहरस आदि सर्वमान्य नहीं हैं, अतः चं० ब० में इन्हें खोज निकालना निष्फल होगा ।

इस तरह चं० ब० में अङ्गाङ्गीभावे प्रायः सभी रस प्रवाहित हुए हैं ।

[११] चं० ब० में अलङ्कार योजना

चं० ब० में जिन अलङ्कारोंका सन्निवेश है, उनका एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है ।

(क) शब्दालङ्कार

छेकानुप्रास—दिव्यान् दिव्याकारकान्तासहायो भोगान् भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।

राज्यं राज्यप्रशिताकारलोकश्चक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥७,९४

यहाँ व्यञ्जनकोंकी एक-एक बार आवृत्ति होनेसे छेकानुप्रास है । इसमें स्वरसाम्य नहीं देखा जाता ।

वृत्त्यनुप्रास—इत्थं तारी. क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्तीतिरक्षः

क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।

क्षीणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्ययोभं

प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥७,९१

यहाँ व्यञ्जनकोंके अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास, और आनुमासिक वर्णोंकी आवृत्तिके कारण श्रुत्यनुप्रास भी है । इनके अतिरिक्त लुप्तोपमा (अर्धालङ्कार) भी विद्यमान है ।

श्रुत्यनुप्रास—नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।

महीभुजामेव निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥११,५२

आनुमासिक वर्णोंकी आवृत्ति होनेसे यहाँ श्रुत्यनुप्रास है, और उत्तरार्धमें 'त' की अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास भी । इनके अतिरिक्त दीपक (अर्धालङ्कार) भी है ।

अन्त्यानुप्रास—मानोग्मादध्यपनयचतुरारचैवारम्भे विदधति मधुराः ।

यूनामस्मिन् घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभूतस्तयः ॥१४,३०

पूर्वार्धके चरणोंके अन्तमें 'रा.' और उत्तरार्धके दोनो चरणोंके अन्तमें 'तयः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्यानुप्रास है ।

अथवा

सहस्रैव समुद्भिद्य सुश्रुवे करिणा कटैः ।

भजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥१५,२९

पूर्वार्ध और उत्तरार्धके अन्तमें 'टैः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्यानुप्रास है ।

पादयमक—भूरिभैरवधीराया कष्टैः प्रतिगजश्रुतेः ।

भूरिभैरवधीरायाः समदानैः स्वपाणिना ॥१६,१०

यहाँ प्रथम और तृतीय चरणोंमें अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है । यहाँ विसर्गकृत दोष नहीं है, जैसा कि वाग्भटा० (१, २०) में बतलाया गया है ।

पादयमक—शस्त्रप्रहारैर्गुणैः समुदा येन योजितः ।

तेनामर्षात् पुनः सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥१५, ४५

यहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है ।

पदयमक—सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।

चक्रे चक्रेषुलङ्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥१५, २०

यहाँ संयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादादि पदयमक है ।

पदयमक—वणिक्पयस्तूपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्पथ रत्नसंचयम् ।

पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥१, २१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्धभागभिन्न पादान्त्य पदयमक है ।

पदयमक—यथा पलाशास्तत्रेश शोभन्ते नवकिंशुकैः ।

तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किंशुकैः ॥२, १७

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्धान्त्य पदयमक है ।

पदयमक—भयात् पलायमानस्य कामस्य गलितः करात् ।

बाणावलिर्बिभाति बाणावलिर्बिस्ततः ॥२, २०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक तृतीय-चतुर्थ पादादिगत पदयमक है ।

पदयमक—तत्र शासति मही जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजनतायाः ।

मोदयन्मयूरभूम्भुपानां संततिं कृतगल्मभुपानाम् ॥८, १

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थपादान्तगत पदयमक है । वं० च० के आठवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें सर्गमें ऐसे ही उदाहरण और भी हैं ।

वर्णयमक—सपौरः ससुहृदगः सकलत्रः सबान्धवः ।

सतनूजः ससामन्तः स च्चाल ससैनिकः ॥२, ३०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्त वर्णयमक है ।

एकाक्षरचित्र—रेरोरा रैरैरेरी रोरो रोहरैररि—

रुरुुरुरुरुरोरारारारैरुओररम् ॥१५, ३९

आदिसे अन्त तक केवल 'र' व्यञ्जनके होनेसे यहाँ एक व्यञ्जनचित्र या एकाक्षरचित्र है ।

द्व्यक्षरचित्र—धीरधीरारिरुधिरैरुधाराधरैररम् ।

धरा धराधराधारा रुधधेऽधोऽधराधरा ॥१५, ४९

आदिसे अन्त तक 'ध' और 'र'—इन दो व्यञ्जनोंके रहनेसे यहाँ द्विव्यञ्जनचित्र या द्व्यक्षर चित्र है ।

काकुषक्रोक्ति—विषादामसमुज्जितान्वया नयसारामविहीनसौष्ठवाम् ।

गिरमेघ कदापिदीदृशीमभिवक्ष्याद्यधवा बृहस्पतिः ॥१२, १००

'अथवा बृहस्पति भी कभी ऐसे वचन कह सकते हैं ?'—इस तरह कण्ठव्यक्तिके परिवर्तनके साथ अर्थ करबेपर यहाँ 'काकुषक्रोक्ति' अलङ्कार घटित होता है ।

(ख) अर्थालङ्कार

चं० च० में जिन अर्थालङ्कारों का प्रचुरमात्रा में सन्निवेश है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

पूर्णोपमा (१, ३१), मालोपमा (१६, १७), लुप्तोपमा (११, १५), उपमेयोपमा (१०, २७), प्रतीप (३, ३) रूपक (१५, ५३), परम्परितरूपक (१, १०), परिणाम (५, ६०), भ्रान्तिमान् (१, २६; १, २७, ६, ९; ९, ६, ९, ३०; १५, ५; १४, ३२, १४, ३८ आदि), अपह्नुति (५, ४३), केतवापह्नुति (१४, ६४), उत्प्रेषा (१, १३), अतिशय (१६, ३६), अन्तदीपक (१, ४५), तुल्ययोगिता (१५, १३५), प्रतिवस्तुपमा (१, ६३), दृष्टान्त (११, २१), निदर्शना (४, २४), व्यतिरेक (१, ४४), सहोक्ति (३, ६६), समासोक्ति (१, १६), परिकर (१७, ६२), श्लेष (२, १४२), अप्रस्तुतप्रशंसा (१५, १३४), पर्यायोक्त (१६, २६), अन्य प्रकारका पर्यायोक्त (९, २४), विरोधाभास (१, ३७), विभावना (१, ५९), अन्य प्रकारकी विभावना (६, ६६), विशेषोक्ति (४, ६), विषम (१५, १३०), अधिक (२, २४), अन्योन्य (१४, १४), कारणमाला (४, ३७; ४, ३८), एकावली (१, ३५) परिवृत्ति (९, ४३), परिसरुपा (२, १३८), समुच्चय (३, ४९), अर्थापत्ति (१, ७३), काव्यलिङ्ग (८, १९), अर्थान्तरन्यास (४, ११), तद्गुण (१४, २९), लोकोक्ति (२, २६), स्वभावोक्ति (१४, ६३), उदात्त (२, १२८), अनुमान (९, १३), रसवत् (१५, ८), प्रेय (१५, १४४), ऊर्जस्विन् (८, २०), समाहित (८, ४५), भावोदय (८, २१), संसृष्टि (१, १०) और सङ्कर (८, ४३) ।

[१२] चं० च० में छन्द योजना

चं० च० में एक मात्रिक (औपचन्द्रसिक) और तीस वणिक् छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) अतिश्रिचरा, (२) अनुष्टुप्, (३) इन्द्रवज्रा, (४) उद्गता, (५) उपजाति, (६) जपेन्द्रवज्रा, (७) औपचन्द्रसिक, (८) क्षमा, (९) जलधरमाला, (१०) जलोद्धतगति, (११) द्रुतविलम्बित, (१२) नकुटक, (१३) पुष्पिताद्या, (१४) पृथ्वी, (१५) प्रमिताक्षरा, (१६) प्रहपिणी, (१७) भ्रमरविलसित, (१८) मन्दाक्रान्ता, (१९) मालिनी, (२०) रघोद्धना, (२१) वंशस्थ, (२२) वगवत्प्रतिपत्ति, (२३) वसन्ततिलका, (२४) वसन्तमालिका, (२५) शार्दूलविक्रीडित, (२६) शालिनी, (२७) शिलरिणी, (२८) मुन्दरी, (२९) सन्धरा, (३०) स्वागता, (३१) हरिणी ।

[१३] चं० च० की समीक्षा

वीरनन्दीकी चन्द्रप्रमका जो संक्षिप्त जीवनवृत्त प्राचीन स्रोतोंसे समुपलब्ध हुआ, उसे उन्होंने अपने चं० च० में सूत्र ही पल्लवित किया है । चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर बजायी गयी जितनी भी दि०-६६० कृतियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनमें वीरनन्दीकी प्रस्तुत कृति ही सर्वाङ्गपूर्ण है । इसकी तुलनामें उ० पु० गत चं० च० भी संक्षिप्त-सा प्रतीत होता है, जो उपलब्ध अन्य सभी चन्द्रप्रभचरितोंसे, जिनमें हेमचन्द्रका चं० च० भी शामिल है, विस्तृत है । अतः केवल कथानकके आधार पर ही विचार किया जाये तो भी यह मानना पड़ेगा कि वीरनन्दीको सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है । सरसताकी दृष्टिसे तो इनकी कृतिका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है ।

१ सभी अलङ्कारोंके लक्षण घटानेमें प्रायः कुवलयानन्दका उपयोग किया गया है । २. सभी छन्दोंके लक्षण वृत्तरत्नाकरके अनुसार बताये गये हैं ।

वीरनन्दी का चं० च० अपनी विशेषताओंके कारण संस्कृत महाकाव्योंमें विशिष्ट स्थान रखता है। कोमल पदावली, अर्थ सौष्ठव, विस्मयजनक कल्पनाएँ, अद्भुत घटनाएँ, विशिष्ट संवाद, वैदर्भी रीति, ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण, विविध छन्दों और अलङ्कारोंकी योजना, रसका अविच्छिन्न प्रवाह, प्राञ्जल संस्कृत, महाकाव्योचित प्रासंगिक वर्णन और मानवोचित शिखा आदिकी दृष्टिसे प्रस्तुत कृति अत्यन्त श्लाघ्य है।

प्रस्तुत कृतिमें वीरनन्दीकी साहित्यिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक चिन्ताकी शिवेणी प्रवाहित है। साहित्यिक वेणी (धारा) अथसे इति तक अविच्छिन्न गतिसे बही है। दार्शनिक धाराका सङ्गम दूसरे सर्गमें हुआ है, और सैद्धान्तिक धारा सरस्वतीकी भाँति कहीं दृश्य तो कहीं अदृश्य होकर भी अन्तिम सर्गमें विशिष्ट रूप धारण करती है। पर कविकी अप्रतिम प्रतिभासे साहित्यिक धाराको कहीं पर भी धीन नहीं होने दिया। फलतः दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओंमें भी पूर्ण सरसता अनुस्यूत है।

अश्वघोष और कालिदासकी भाँति वीरनन्दीको अर्थ चित्रसे अनुरक्ति है। यों इन तीनों महाकवियोंकी कृतियोंमें शब्दचित्रके भी दर्शन होते हैं, पर भारवि और माघकी कृतियोंकी भाँति नहीं, जिनमें शब्द चित्र आवश्यकताकी सीमासे बाहर चले गये हैं।

बुद्धचरित, सोन्दरनन्द, रघुवंश और चन्द्रप्रभचरित इन चारोंकी रचना शैलीमें पर्याप्त साम्य है, फिर भी इतना अवश्य है कि वीरनन्दीकी कालिदासकी अपेक्षा अश्वघोषने अधिक मात्रामें प्रभावित किया है। जान पड़ता है कि चं० च० का नामकरण बु० च० से और सर्ग संख्या सौ० न० की सर्ग संख्यासे प्रभावित है। बु० च० में वर्णित भ० बुद्धके जन्मसे निर्वाण तकके जीवन वृत्तकी भाँति चं० च० में चन्द्रप्रभका जीवन वृत्त वर्णित है। हाँ, चन्द्रप्रभचरितमें वर्णित चन्द्रप्रभके पिछले जन्मोंका वृत्त उसकी अपनी विशेषता है, जो जैनतर काव्योंमें नहीं है। अश्वघोषकी कृतियोंमें बौद्ध धर्मके अनुसार जिस तरह मानव जन्म के लाभ, सांसारिक सुखकी असरता बतलायी गयी है, दार्शनिक चर्चा की गयी है और पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उसी तरह वीरनन्दीकी कृति चं० च० में जैन धर्मके अनुसार। अथ च अश्वघोषकी भाँति वीरनन्दीको भी शान्तरस अभिप्रेत है। इसी आधारपर जान पड़ता है कि वीरनन्दी अश्वघोषसे से अधिक प्रभावित रहे।

चं० च० में वर्णित चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त अतीत और वर्तमानकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रारम्भके पन्ध्र सर्गोंमें अतीतका और अन्तिम तीन सर्गोंमें वर्तमानका वर्णन है। इस लिए अतीतके वर्णनसे वर्तमानका वर्णन कुछ दब-सा गया है। चन्द्रप्रभकी प्रधान पत्नीका नाम कमलप्रभा है। नायिका होनेके नाते इनका विस्तृत वर्णन होना चाहिए था, पर केवल एक (१७, ६०) पद्यमें इनके नाममात्रका ही उल्लेख किया गया है। इसी तरह इनके पुत्र वरचन्द्रकी भी केवल एक (१७, ७४) पद्यमें ही नाममात्रकी चर्चा की गयी है। दानोंके प्रति बरती गयी यह उपेक्षा खटकने वाली है। दूसरे सर्गमें की गयी दार्शनिक चर्चा अधिक लम्बी है। इसके कारण कथाका प्रवाह कुछ अवगड-सा हो गया है। इतना होते हुए भी कवित्वकी दृष्टिसे प्रस्तुत महाकाव्य प्रशंसनीय है। विलक्षता और दूरान्वयके न होनेसे इसके पद्य पढ़ते ही समझमें आ जाते हैं। इसकी सरलता रघुवंश और बुद्धचरितसे भी कहीं अधिक है।

[१४] ग्रन्थकार-परिचय

च० च० के अन्तमें मुद्रित ग्रन्थकारकी प्रशस्ति (श्लो० १-४) से उनका निम्नलिखित परिचय प्राप्त होता है—

(क) संघ और गण—ग्रन्थकार वीरनन्दी 'नन्दी' संघके 'देशीय' गणमें हुए हैं। मूल संघ अर्थात् द्वि० सम्प्रदायकी चार शाखाएँ हैं—(१) नन्दी, (२) सिद्ध, (३) सेन और (४) देव। इन शाखाओंकी प्रतिशाखाएँ गण, गच्छ आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। नन्दी संघमें जो कई गण, गच्छ आदि हैं, देशीय गण उन्हीं में से एक है।

(ख) गुरुपरम्परा—वीरनन्दीके गुरुका नाम अमयनन्दी, दादा गुरुका नाम 'विबुध' गुणनन्दी और परदादा गुरुका नाम गुणनन्दी था।

वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, जैसा कि उनकी कृतिके अध्ययन एवं अन्य ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है।

चिद्वत्ता तथा प्रभाव

(क) चिद्वत्ता—चं० च० के क्रियापदोंके देखनेसे स्पष्ट है कि वीरनन्दीका व्याकरणशास्त्रपर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो० ४४-११०) यह सिद्ध करता है कि वीरनन्दी जैन व जैनैतरदर्शनोके अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव दर्शनको समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अन्तिम सर्ग वीरनन्दीको सिद्धान्त भर्मज्ञताको व्यक्त करता है। चं० च० के तत्त्वप्रसङ्गोंमें चर्चित राजनीति, यज्ञवशीकरण और शकुन-अपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञताको प्रमाणित करनेमें सक्षम हैं।

(ख) प्रभाव—अमयनन्दीके शिष्य होनेके नाते वीरनन्दी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके सतीर्थ रहे, जिन्होंने शीरसेनी प्राकृतमें गोम्मतसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार आदि विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचना की थी, फिर भी उन्होंने कर्मकाण्डमें अपनेको वीरनन्दीका 'वच्छो' (वत्स) लिखा है, और एकाधिक बार उनका नामोल्लेख किया है। वीरनन्दीके नामके आगे 'गाह' (नाथ) और चन्द (चन्द्र) का प्रयोग और मङ्गलाचरणके प्रसङ्गमें उनका बार-बार स्मरण किया जाना उनके प्रभावका द्योतक है। वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें नामोल्लेखपूर्वक उनकी कृति—चं० च०की सराहना की है। कविवर दामोदरने अपने चन्द्रप्रमचरितमें उन्हें 'कवीश' बतलाया है और चन्दर्न भी किया है। पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनमें उनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्द्रसे भी पहले किया है और उनके काव्यकी प्रशंसा भी। पण्डित प्रवर आशाधरने उनके चं० च० के एक (४, ३८) पद्यको उद्धृत करके अपने सागरधर्माभूतके न्यायोपात्त—इत्यादि (१, ११) श्लोकमें चर्चित कृतज्ञता गुणका समर्थन किया है, और दृष्टोपदेशकी अपनी टीकामें भी चं० च० का एक पद्य उद्धृत किया है।

जीव० च० तथा धर्मश०के कर्ता महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्मामुद्दयकी रूपरेखा चं० च० को सामने रखकर बनायी। चं० च० और धर्मश० की मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणोंके आश्रयकी सूचना, दार्शनिक चर्चा और धर्मदेशना प्रायः एक-सी है। धर्मदेशनाके कतिपय पद्योंके चरण-के-चरण मिलते हैं। यदि अनुक्रम और भावकी समानतापर ध्यान दिया जाये तो लगभग आधे धर्मदेशना दोनोंकी एक जैसी ही सिद्ध होगी। अतएव यह स्पष्ट है कि समकालीन और उत्तरकालीन अनेक विद्वानोंपर वीरनन्दीकी विद्वत्ताका महान् प्रभाव रहा है।

१. जस्स पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो । वीरिंदणंदिचच्छो णमामि तं अमयणंदिगुं ॥गा० ४३६॥ २. णमिज्जण अमयणंदि सुवसागरपारयिदणंदिगुं । वरवीरणंदिणाहं पयडोणं पणचयं कोच्छं ॥गा० ७८५॥ ३. गमह गुणरयणभूतणसिद्धतामियमहद्विभवमावं । वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिदणंदिगुं ॥गा० ८९६॥ ४. चन्द्रप्रभाभिंसंबद्धा रसपुष्ठा मनः प्रियम् । कुमुदतीव नो घत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१. ३०॥ ५. चन्द्रप्रमजनेशस्य चरितं येन वर्णितम् । तं वीरनन्दिनं वन्दे कवीशं ज्ञानलब्धये ॥१. १९॥ ६. श्रीवीरनन्दिदेवो धनञ्जयसागो हरिचन्द्रः । व्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सद्कुटियुक्तानि ॥—'जैनग्रन्थप्रशस्ति-संग्रह' पृ० १२७ से उद्धृत। ७. तुलना कीजिए—चं० च० १८, २ तथा धर्मश० २१, ८; चं० च० १८, ७८ तथा धर्मश० २१, ९०; चं० च० १८, ८८ तथा धर्मश० २१, ९९ इत्यादि।

प्रशस्त विचारधारा

वीरनन्दी साधु थे, अतः उनका मन विरागतासे प्रभावित रहा। इसका आभास उनके चं० में ही यत्र-तत्र उपलब्ध है। लगभग आठ स्थलोंपर उन्होंने विरक्तिके विचारों एवं नरेशोंके शोभित होनेका वर्णन किया है। प्रायः ऐसे ही प्रसङ्गोंमें उनकी प्रशस्त विचारधाराकी झलक मिलती है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक जन्तुका जीवन मरणसे और जीवन बुढ़ापेसे आक्रान्त है—इसे देखता हुआ भी जड़ मनुष्य अपने हितको और ध्यान नहीं देता, यह खेद और आश्चर्यकी बात है ॥१, ६९॥ यह मनुष्य जन्म अशुभ-कर्मोदयकी मन्दतासे किसी तरह काकताकीय न्यायसे प्राप्त हुआ है। अतः इसे पाकर चतुर्गतिपरिभ्रमणके वृत्तान्तकी समझनेवाले व्यक्तिको आत्महितके विषयमें प्रमाद करना उचित नहीं है ॥४, २६॥ अनिष्ट संयोग और इष्टवियोग समानरूपसे सभीके साथ लगे हुए हैं—इस बातको सोचकर बुद्धिमान् मानव विषाद करके अपने मनको लिप्त नहीं करता ॥५, ८७॥ बुद्धिमान् मानव खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य करता है या फिर उसका आरम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य करना पशुओंका धर्म है, वह मानवमें कैसे हो सकता है? ॥१२, १०२॥ पुत्र वह है, जो अपने कुलका विस्तार करे; मित्र वह है, जो विपत्तिमें साथ दे; राजा वह है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वह है, जिसके वचन मोरस न हों ॥१२, १०८॥ प्रेमसे बढ़कर कोई बन्धन नहीं है; विषयसे बढ़कर कोई विष नहीं है; क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं है और जन्मसे बढ़कर कोई दुःख नहीं है ॥१५, १४३॥ ऐसे विचार चं० में यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं। विस्तारका भय न होता तो उन सभीका संकलन यहाँ प्रस्तुत किया जाता।

अन्य वीरनन्दी—प्रस्तुत वीरनन्दीके अतिरिक्त अन्य वीरनन्दी भी हुए हैं। (१) आचारसारेके प्रणेता, जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य थे, (२) महेन्द्रकोटिके शिष्य एवं कलधीतनन्दीके प्रशिष्य। (३) 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' उपाधिले विभूषित और (४) पण्डित महेन्द्रके शिष्य।

वीरनन्दीका समय

चं० च० के रचयिता—वीरनन्दीने अपनी इस कृतिमें कही पर भी अपने समयका उल्लेख नहीं किया, पर अन्य आचार्योंके, जिन्होंने अपनी कृतियोंमें उनके नामका उल्लेख किया है, समयके आधारपर उनका समय सुनिश्चित है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने कर्मकाण्डमें उनके नामका तीन बार उल्लेख किया है जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे नेमिचन्द्र सि० च० के सम-कालीन हैं। प्रेमीजीने नेमिचन्द्र सि०, स० का समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध सिद्ध किया है, अतः चं० च० के कर्ताका भी यही समय सिद्ध होता है^१। बलदेव उपाध्यायने चं० च० के कर्ता वीरनन्दीका समय १३०० ई० लिखा है^२, और डॉ० बहादुरचन्दने भी लगभग यही समय बतलाया है^३, जो भ्रम-मूलक है।

बादिराज सुरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें वीरनन्दी और उनके चं० च० की प्रशंसा^४ की है, जिसकी समाप्ति शक स० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त हुई थी। अतः वीरनन्दी इनसे पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें वीरनन्दीका सुनिश्चित समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्ध ही सिद्ध होता है।

१. इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध ठहरता है।—जैन साहित्य और इतिहास पृ० २७४। २. वीरनन्दी (१३०० ई०)—चन्द्रप्रभचरित—संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० २७३। ३. संस्कृत साहित्यका इतिहास (१३वीं शताब्दीके महाकाव्य) पृ० ८६८। ४. 'चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्। क्रुमद्वतीव तो घटे भारती वीरनन्दिनः॥ पार्श्वनाथच० १, ३०॥ ५. 'शाकाब्दे नगवाधिरभ्र-गणने संवत्सरे क्रोधने, मासे कार्तिकनामि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयाचिने। सिंहे पाति जयादिके बसुमती जैनी कथेयं मया, निष्पत्ति गमिता सती भवतु यः कल्याणनिष्पत्तये॥ पार्श्वनाथच० प्र० पृ० ५॥

[१५] संस्कृत व्याख्या

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थके साथ मुद्रित संस्कृत व्याख्याका सम्पादन जिन आदर्श ह० लि० प्रतियोंके आधारपर किया गया है, उनके पुष्पिकावाक्योंके अनुसार यह 'व्याख्या' नहीं 'व्याख्यान' है और इसका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभा' है, पर 'श' प्रति (सर्ग ११) के पुष्पिकावाक्यकी ध्यानमें रखकर सौन्दर्यकी दृष्टिसे च० च० के ऊपर व्याख्याका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभा' प्रकाशित किया गया है, और अन्दर 'विद्वन्मनोवल्लभ', यद्यपि समस्यन्त पदके कारण इतना सूक्ष्म अन्तर बादमें ज्ञात हो पाता है।

विशेषता—प्रस्तुत व्याख्या साधारण-सी ही है। विज्ञ पाठकोंकी इसमें स्वयं व्याख्याकारकी कुछ अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होंगी। अलङ्कारोंके निर्देश भी यत्र-तत्र भ्रान्तिपूर्ण हैं। पर इसकी सबसे बड़ी विशेषता शुद्धपाठोंकी बहुलता है, जिसके कारण मूल ग्रन्थके सम्पादनमें बड़ी सहायता मिली है। मूल ग्रन्थके पदोंकी अन्वयके अनुसार रखकर उनकी व्याख्या की गयी है। इसके साहाय्यसे दार्शनिक अंशकी छोड़कर प्रायः पूरे मूलग्रन्थका अर्थ खुल जाता है। व्याकरण और कोष आदि ग्रन्थोंके इसमें जो उद्धरण दिये गये हैं वे महत्वपूर्ण हैं। इसकी तुलना अर्हदासके मुनिसुवतकाव्यकी संस्कृत टीका-‘सुखबोधिनी’से की जा सकती है।

व्याख्याकारका परिचय—इस व्याख्याके रचयिताका नाम 'मुनिचन्द्र' है। इन्होंने अपनेको 'विद्यार्थी' लिखा है। 'कन्नडप्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थ सूची' (पृ० १२३) के अनुसार ये अलगचपुरीके निवासी द्विजोत्तम देवचन्द्रके पुत्र थे।

व्याख्याकारका समय

प्रस्तुत व्याख्यामें अनेकार्थध्वनिमंजरी, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, नाममाला, नानार्थकोष (गद्यात्मक), नीतिवाक्यामृत, वाग्भटालङ्कार, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन, वैजयन्ती, शाकटायन और समवसरण स्तोत्र—इत्यादि ग्रन्थोंके अवतरण हैं। इनमें अनेकार्थ संग्रह और अभिधानचिन्तामणिके रचयिता आ० हेमचन्द्र (वि० १२ वीं शती) हैं, अतः व्याख्याकार इनके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। च० च० (१८, १; पृ० ४२९) की व्याख्यामें 'गंभीरं मधुरं....' इत्यादि पद्य उद्धृत हैं, जो अज्ञातसमय विष्णु-सेनके समवसरण-स्तोत्र (पृ० २९) और वि० १३ वीं शतीके आचारसार (४, ९५) में पाया जाता है। यदि यह पद्य आचारसारका ही सिद्ध हो जाये तो व्याख्याकार इनके बादके सिद्ध होते हैं। भा० ज्ञानपीठसे प्रकाशित 'कन्नड प्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थसूची' (पृ० १२३) के अनुसार व्याख्याकारका समय 'प्रमोदूत' (प्रमोद) संवत्सर माघ शु० प्रतिपद् रोहिणी नक्षत्र है, जिसे पं० कमलाकान्तजी शुक्ल, प्रा० ज्योतिष विभाग, बा० सं० वि० वि०, वाराणसीने वि० सं० १५६० (शक सं० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार प्रमाणित किया है।

१. प्रस्तुत 'प्रमोदूत' (प्रमोद) संवत्सर वि० सं० १५६० (शक सं० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार घटी ५१।४८ अथवा नक्षत्रमें सिद्ध होता है। जिसका नियामक ग्रहलाघवीय ऋणाहर्गण १८९० तथा मध्यम सूर्य ९।१८।४२।४७ त्रिकुट चन्द्रमा ९।१४।६ है।

विशेष—माघ शुक्ला प्रतिपद्को रोहिणी नक्षत्रका होना संभव नहीं है, जैसा कि मूर्यसिद्धान्त मान अध्याय श्लोक १६ से ज्ञात होता है—

‘कार्तिकादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम् ।

अरयोपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिषा मासत्रयं स्मृतम् ॥’

इस आधारपर माघ शुक्ला पूर्णिमाको श्लेषा या मघाका होना संभव है। इससे पूर्व पन्द्रहवें दिन प्रतिपद्को अथवा या धनिष्ठा-नक्षत्र हो सकता है, न कि रोहिणी।

[१६] संस्कृत पञ्जिका

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम परिशिष्टमें संस्कृत पञ्जिका भी मुद्रित की गयी है। संस्कृत व्याख्याकी भाँति यह भी अभी तक अप्रकाशित रहा। जिसमें ग्रन्थके विलुप्त पदोंका अर्थ खोला जाये, उसे पञ्जिका कहते हैं—‘विषमपदमञ्जिका पञ्जिका’—यह परिभाषा प्रस्तुत पञ्जिकामें अक्षरशः घटित होती है। द्वितीय सर्गके दार्शनिक पद्यों पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिससे पञ्जिकाकारका दार्शनिक वैदुष्य व्यक्त होता है। प्रारम्भिक दो सर्गोंकी पञ्जिका व्याख्याका काम करती है। इसकी रचना अपेक्षाकृत प्रौढ़ है।

पञ्जिकाकारका नाम—जिन आदर्श प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया गया है, उनमें इसके रचयिताका नाम अङ्कित नहीं है, पर डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुरने अपने यहाँकी हस्त-लिखित प्रतियाँ देव कर इनका नाम गुणनन्दी बतलाया है, जो ‘जिनरत्नकोष’ (भाग १, पृ० १२०) में भी दिया गया है।

पञ्जिकाकारका समय—‘जिनरत्नकोष’ (भा० १, पृ० १२०) में पञ्जिकाकारका समय वि० सं० १५९७ दिया गया है। पञ्जिकामें अनगारधर्माभूत, अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अमरकोष, आत्मानुशासन, आत्मभाषा, कामन्दकीय नीतिसार^१, काव्यादर्श, तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चवसंग्रह, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, माधव-निदान, रघुवंग, और वाग्भटालङ्कार आदि ग्रन्थोंके उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं। इनमेंसे अनगारधर्माभूतकी रचना वि० सं० १३०० में समाप्त हुई। इसमें पञ्जिकाकार आशाधरके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। पञ्जिकाकारने प्रथमको छोड़ कर शेष सभी सर्गोंकी पञ्जिकाके प्रारम्भमें श्रुतमुनिका जयघोष किया है और उनके वैदुष्यकी बलावा भी। वि० सं० १३९८ में समाप्त परमाणुसारके रचयिताका नाम भी श्रुतमुनि है। यदि इन्हीका जयघोष पञ्जिकाकारने किया हो तो वे इनसे परवर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें जिनरत्नकोष (भा० १, पृ० १२०) में दिया गया इनका समय (वि० सं० १५९७) सही-सा प्रतीत होता है। विशेष निर्णयके लिए अन्य सामग्रीकी अपेक्षा है।

इस तरह प्राप्त सामग्रीके आधारपर ग्रन्थ, ग्रन्थकार, व्याख्याकार और पञ्जिकाकारके विषयमें संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

—अमृतलाल शास्त्री

१. ‘जैन साहित्यका बृहद् इतिहास’ (भाग ५, पृष्ठ २४१) के अनुसार ‘कामन्दकीयनीतिसार’ का संकलन उपाध्याय भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धिचन्द्र (अकबर बादशाहके समकालीन) ने किया था। यदि यह प्रमाणित हो जाये तो पञ्जिकाकार के समय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

विषयानुक्रमः

१. प्रथमः सर्गः

१-५ मङ्गलाचरणम् । ६ समन्तभद्रप्रशंसा । ७-८ सज्जनदुर्जनवर्णनम् । ९ आत्मनो लघुता-
प्रदर्शनम् । १० पुराणसागरप्रवेशनिवेदनम् । ११ पूर्वमन्दरवर्णनम् । १२-२० मङ्गलावतीनाम्नो देशस्य
वर्णनम् । २१-३८ रत्नसंचयपुरवर्णनम् । ३९-५३ राज्ञः कनकप्रभस्य वर्णनम् । ५४-५७ तन्महिष्या सुवर्ण-
मालाया वर्णनम् । ५८-६३ तत्पुत्रस्य पद्मनाभस्य वर्णनम् । ६४-८० सौधशिखरारूढस्य राज्ञ आसप्ततमैक-
पत्न्यले घनपङ्कनिमग्नमक्षमं भ्रियमाणमेकं जरद्गवमुदोष्य निर्वेदप्राप्तेर्वर्णनम् । ८१ पद्मनाभाय राज्यं वित्तोर्यं
राज्ञः कनकप्रभस्य जिनदीक्षाया वर्णनम् । ८२ पितृविरहतः पद्मनाभस्य शोकानुभूतेर्वर्णनम् । ८३ अमात्यैः
पद्मनाभप्रतिबोधनवर्णनम् । ८४ विहासनासीनं पद्मनाभं प्रति सामन्तानां व्यवहृतेर्वर्णनम् । ८५ स्वमुताय
सुवर्णनाभाय यौवराज्यं दत्त्वा पद्मनाभस्य भोगानुभवनस्य वर्णनम् ।

२. द्वितीयः सर्गः

१-२ राज्ञः पद्मनाभस्य वनपालमुखाच्छ्रीघराभिषेकस्य मुनेरागमनश्रवणम् । ३-१० मुनेर्वैशिष्ट्यवर्णनम् ।
११-२३ मुनिप्रभावतः संजाताया उद्यानविभूतेर्वर्णनम् । २४ मुनिद्वन्वात् नित्यस्य राज्ञो हृष्टौटिकः । २५
वनपालाय पारितोषिकप्रदानम् । २६-२७ मुनिचरणयो राज्ञः परोक्षतमस्फुटितः । २८ मुनिवन्दनयात्रायाः कृतं
सर्वेऽपि पौरजनाः सज्जीभवन्त्विति राज्ञ आदेशः । २९ राजगोपुरे राज्ञा समागमनम् । ३० सपरिकरस्य
राज्ञो मुनिदर्शनार्थं गमनवर्णनम् । ३१ गमनवेलायामिलापतेः शोभाया वर्णनम् । ३२ वनं प्राप्य राज्ञ
प्रसन्नता । ३३ वायुवर्णनम् । ३४ सेनामावासयेति सेनापतिं प्रति राज्ञ आदेशो वनप्रवेशश्च । ३५ राज्ञो
मुनिदर्शनम् । ३६ नीलशिलातले स्थितस्य मुने शोभा । ३७ सविनयः, मुनिं प्रणम्य राजस्तनुरस्तादुपवेशनम् ।
३८ राज्ञः कमलमुकुलाकारयोः करयोर्वर्णनम् । ३९ संगतयोर्मनीन्द्रनरेन्द्रयो शोभा । ४०-५१ जीवादिसप्त-
तत्त्वविषयको राज्ञ प्रश्नः । ५२-५३ मुनिद्वारा राज्ञः प्रश्नस्य प्रशस्ता तदुत्तरदानस्य स्वीकृतिश्च । ५४
तत्त्वोपलब्धवादिना 'जीवो नास्तीति' पक्षस्य प्रतिक्षेपः । ५५ प्रतिबन्धु जीवस्य स्वसंवेदनगोचरत्वम् । ५६-६१
ज्ञानस्यास्वसंवेदित्वं निराकृत्य स्वसंवेदित्वस्य संसिद्धिः पूर्वपक्षिणा पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा च । ६२ गर्भकालतो
मरण यावज्जीवस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः सिद्धिः । ६३ सदकारणवत्त्वेन जीवस्यानादिताया अनन्ततायाश्च
सिद्धिः । ६४-६९ हेतोरसिद्धत्वदोषस्य वारणः, भूतानां हेतुत्वस्य खण्डनः, पक्षस्यानुमानवाधित्वं, तत्त्वोपलब्ध-
वादिनाम् आत्मनोऽभावसाधनार्थं प्रयुक्तस्य 'अनुपलम्भात्' इति हेतोरसिद्धत्वसाधनं च । ७३ आत्मभूतयोरवयव-
निरासः । ७४-७५ आत्मनो नित्यताया निराकरणम् । ७६ आत्मनः सुखदुःखादिपर्यायैः सहाभेदत्वोपपादनम् ।
७७ समवायसंबन्धमीमासा । ७८-७९ समवायकृत उपकारस्तद्भिन्नोऽभिन्नो वेति विचारः । ८० आत्मनो
जडताया निवारणम् । ८१ आत्मनोऽकर्तृतायाः खण्डनम् । ८२ आत्मनः कर्तृत्वोपपादनम् । ८३ आत्मनोऽकर्तृता
पापीयसीति प्रतिपादनम् । ८४-८६ आत्मनश्चित्तसंसर्गतिमात्रत्वस्य खण्डनम् । ८७ आत्मनो व्यापकत्वस्य
निरसनम् । ८८ जीवोऽनादिनिधनो देहप्रमाणकः कर्ता भोक्ता चिदाकारश्चेत्यभिप्रायगर्भं उपसंहारः । ८९
जीवे सिद्धेऽजीवादयोऽपि व्यवस्थिता अतस्तत्त्वमुपप्लुतमित्यभिप्रायगर्भं स्वत्वोपलब्धवादिनां खण्डनस्योपसंहारः ।
९०-११० भोक्षे विप्रतिस्समानानां सर्वज्ञभाववादिनां भीमासापक्षपातिना भीमासक्तानां खण्डनं सर्वज्ञसिद्धि-

पुरःसरं मोक्षतत्त्वस्य प्रसाधनं च । १११ पुनरपि मुनिं प्रति राज्ञः स्वपूर्वजन्मविषयकः प्रश्नः । ११२ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानस्योपक्रमः । ११३ पुष्करार्धवर्तिनः पूर्वमन्दरस्य वर्णनम् । ११४-१२४ तत्पूर्वविदेहवर्तिनः सुगन्धिनाम्नो देशस्य वर्णनम् । १२५-१४३ श्रीपुराणस्य पुरस्य वर्णनम् ।

३. तृतीयः सर्गः

१-१३ राज्ञः श्रोत्रेणस्य वर्णनम् । १४-१८ तन्महिष्याः श्रीकान्ताया वर्णनम् । १९ राजस्त्रिवर्ग-सेवनवर्णनम् । २० अनपत्यतया श्रीकान्तायाः शोकवर्णनम् । २१-२६ राज्ञः तत्कारणजिज्ञासाया वर्णनम् । २७-३५ श्रीकान्ताया बालसंख्या तच्छोकराण्यप्रकाशनम् । ३६-४१ राज्ञा तत्प्रतिबोधनम् । ४२-४३ राज्ञः क्रीडावनविहारः । ४४ तत्र तारापथादवतीर्णानन्तसंज्ञकेन चारणमुनिना सह राज्ञः समागमवर्णनम् । ४५-४९ मुनिचरणवन्दना स्तुतिश्च । ५० 'अद्यापि मे मानसं विरतिं किं नोपयाति'—इति मुनिं प्रति राज्ञः प्रश्नः । ५१-५८ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानम् । ५९ राज्ञो धर्मप्रवृत्तिः । ६०-६१ आष्टाङ्गिकपर्वणि समीहितनिमित्तं पत्न्या सह राजस्वद्वन्द्वनमेवनवर्णनम् । ६२ श्रीकान्ताया गर्भधारणवर्णनम् । ६३-६७ गर्भचिह्नवर्णनम् । ६८ दोहदवर्णनम् । ६९ पुत्रजन्मवर्णनम् । ७० पुत्रजन्मनि नभःप्रभृतीनां शुभ्रतादिवर्णनम् । ७०-७४ राजभवेन पोरसदनेषु च तज्जन्मात्सववर्णनम् । ७५ पुत्रस्य 'श्रीवर्मा' इति नामकरणवर्णनम् । ७६ मुने जाते राज्ञोऽभ्यु-दयावासेर्वर्णनम् ।

४. चतुर्थः सर्गः

१-२ शिशोः श्रीवर्मणो वृद्धिवर्णनम् । ३ श्रीवर्मणो विद्योपविद्याध्ययनम् । ४ श्रीवर्मणः कलाम्यासस्य प्रकर्षः । ५ श्रीवर्मणः शम्भ्रास्त्रप्रयोगपटुत्वमन्त्रगजारोहणप्रवीणत्वं च । ६ श्रीवर्मणः सौन्दर्यवर्णनम् । ७ श्रीवर्मणः ओदार्यम् । ८ श्रीवर्मणः शौर्यम् । ९ श्रीवर्मणः स्वागादिगुणानां विकासः । १० श्रीवर्मणः आश्रयिजनानां पतित्वं गुरुत्वं च । ११ श्रीवर्मणा स्वपञ्चवद्विषयोऽपि प्रहर्षितः । १२ श्रीवर्मणोऽनुपमा रूपसत्त्वं । १३ श्रीवर्मणो गर्वराहित्यम् । १४ श्रीवर्मणः पङ्कजजेतृत्वं दोषस्पर्शशून्यत्वं च । १५ श्रीवर्मणः प्रभावत्या सह परिणयः । १६-१७ श्रीवर्मणो यौवराज्यं वितौर्यं तत्पितुः श्रोत्रेणस्य निश्चिन्ततया राज्यसौख्यानुभूतिः । १८ अम्बरतः पतन्तीमुत्का विलोक्य श्रीवर्णस्य वैराग्यम् । १९-२७ श्रीवर्णस्य विषयगर्हणम् । २८-३३ श्रीवर्मणः पुरस्तात्तत्पितुः श्रोत्रेणस्य जिनदीक्षाग्रहणाभिलाषप्रकाशनम् । ३४-४४ श्रीवर्मणं प्रति श्रीवर्णस्य सद्गुणदेशः, तस्मै राज्यसमर्पणं च । ४५ श्रीवर्मणः पादमूले जिनदीक्षाग्रहणं विधाय तपस्तप्त्वा च श्रीवर्णस्य निर्वाण-गमनम् । ४६ श्रीवर्मणो दिम्बजयात्रा । ४७ मौलं बलमात्ममूले विधाय श्रीवर्मणः प्रयाणम् । ४८ सेनारजोवर्ण-नम् । ४९ सैन्यजवर्णनम् । ५० मातङ्गमदप्रवाहवर्णनम् । ५१ पटहप्रवादवर्णनम् । ५२ पौरप्रतिमहत्तरवच श्रीवर्मणोऽभिनन्दनम् । ५३-५५ द्विपां चेष्टितानि । ५६-६७ दिम्बजयवर्णनम् । ६८ श्रीवर्मणः श्रीपुरं प्रत्याग-मनवर्णनम् । ६९ प्रत्यागतं तं प्रणतुं सत्कर्तुं चार्धहस्ताया जनताया बहिरवस्थानम् । ७० मनोहरान् कच्छवाटान् ('कच्छवारे'—इति बुन्देलखण्डभाषया व्यवहृताम्) विलोकयन् स श्रीवर्मा गोपुराभिमूखो बभूवेति वर्णनम् । ७१ तत्समूलबद्धानां शिरोधीन् धनूनां कृतप्रणामानामिव गजानामवलोकनम् । ७२ परिखातटीषु हंसावलीनां दर्शनम् । ७३ स्नातिकायाः पयसो विनिर्गच्छतः पाठोक्तकुलस्य निरीक्षणम् । ७४ श्रीवर्मदर्शनार्थं पौराङ्गनानामौत्सुक्यं चेष्टितं च । ७५ पुरप्रवेशवर्णनम् । ७६ श्रीवर्मणो राज्यसंचालनं विषयानुभवश्च । ७७ शरन्मेघावलोकनेन श्रीवर्मणो वैराग्यम् । ७८ स्वसुताया श्रीकान्ताया राज्यं समर्प्य श्रीवर्मणादमूले प्रव्रज्य च दुहवरं तपस्तप्त्वा श्रीवर्मा सौधमस्वर्गं श्रीधराभिधो देवो बभूव इति वर्णनम् ।

५. पञ्चमः सर्गः

१ धातकोलण्डद्वीपस्य दक्षिणदिग्बतिन इषुकारगिरेर्वर्णनम् । २-११ तत्पूर्वभरतवतिनोऽलकाभिषय्य देशस्य वर्णनम् । १२-२२ तत्र कोशलाख्यनगरीवर्णनम् । २३-३५ तदधिपते राज्ञोऽजितसेनस्य वर्णनम् । ३६-३९ तन्महिष्या अजितसेनाया वर्णनम् । ४० स श्रीधराभिधो देवस्तयोरजितसेनसंज्ञः सुतः समजनीति वर्णनम् । ४१-४५ अजितसेनस्य कलाना यशसो रूपसंपदो विनयस्य तत्पितुः प्रसन्नतायाश्च वर्णनम् । ४६-४८ अजितसेनविषये तत्पितुर्विचारः । ४९ अजितसेनाय तस्मिन् यौवराज्यपदवी प्रायच्छदिति वर्णनम् । ५०-५१ यौवराज्यपदवीप्राप्त्यनन्तरमजितसेनं प्रति राजां प्रजाजनानां च विनयः प्रवृत्तारवर्णनम् । ५२ उपहारप्रदानार्थं समुपागतैः सामन्तैः सह राज्ञो युवराजस्य च सभाभवनेऽवस्थानम् । ५३ चण्डरुचिनामासुरः सभाभवनतो युवराजमपहरति वर्णनम् । ५४-७१ युवराजविकलां सकला सभामवलोक्येलाधिपतेर्विलापो मूच्छिविष्या च । ७२ अपनीतमूच्छो राजा तपोभूषणनामानं मुनिं ददर्श । ७३ मुनिमीक्षमाणा सभा विस्मयमाजगाम । ७४ मुनिसमायनवर्णनम् । ७५ तद्दर्शनाद्राजः शोकोपमग्नः । ७६-८० मुनिराजस्य सत्कृतिमर्चनां च विधाय राज्ञोऽभूत्पूर्वं तोष आशीर्वादावाप्तिश्च । ८१-८३ मुनिशलाघा । ८४-८९ 'कतिपयैरहोमिस्त्व समायातं स्वसुतं द्रक्ष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेराश्वासनम् । ९०-९१ मुनोन्ने गतवति सति तद्वचनविश्वासाद्राज्ञः सुखावस्थितिः ।

६. षष्ठः सर्गः

१ तेनासुरेण परिभ्रमय्य नभस्तो मुकस्य युवराजस्य मनोरमाख्ये सरसि निषतनम् । २ तस्मिन्पतना-
ज्जातायाः सरसोऽवस्थाया वर्णनम् । ३ तत् उत्तरवर्णनम् । ४-११ पर्याभिषाटवीवर्णनं ततो युवराजस्य प्रस्थानं च । १२ पर्वतवर्णनम् । १३ वनसोमान्तबुभुत्सया तदुपरि युवराजावरोहणम् । १४-२९ तत्र सहसा समायातेन केनचित्कारालवक्त्रेण पुरुषेण सह युवराजस्य वाक्कलहो नियुद्ध युद्धं विजयावाप्तिश्चेति वर्णनम् । ३०-३७ युव-
राजेन पराजितः स पुरुषो दिव्यरुसमाश्रया 'अहं हिरण्यनामा देवस्तव मित्रमस्मि चण्डरुचिद्व शत्रुयो भवन्त
सभाभवन्तो जहार नभस्त पातयामास च' इति जगादेति वर्णनम् । युवराजो हिरण्यप्रभावेणात्मानं वनसीमिन्
व्यलोकयदिति वर्णनम् । ततो युवराजस्य राष्ट्रप्रवेशस्तत्र च पलायमानाञ् जनान् निर्दय तत्कारणजितासति
वर्णनम् । ३८-४८ ततो 'अरिजय'ख्ये देवे विपुलाभिषपुरे राज्ञो जयवर्मणः शशिप्रभानामधेया कन्यामपहर्तुं
महेन्द्राह्नो भूपतिरागतो युद्धे जयवर्मबलं च निहत्य पुरमावृत्य वितिष्ठते । तद्व्याज्जनाः पलायन्ते' इति ज्ञात्वा
युवराजस्य विपुलपुरं प्रति प्रस्थानमिति वर्णनम् । ४९-५६ तत्र महेन्द्रं निहत्य जयवर्मणा सह युवराजस्य
तत्पुरप्रवेशः । ५७ पुरनारीणाममन्दान्दानुभूतिः । ५८ जयवर्मणा युवराजस्य वपुषा पीडयेण च तज्जाति-
कुलोन्नेतरनुमानम् । ५९ कृतसत्कृत्युवराजो जयवर्मणो धरित्री वश्या चकारेति वर्णनम् । ६०-६९ युवराजे
शशिप्रभाया अनुरागवर्णनम् । ७० तदाकर्ण्य जयवर्मणः प्रसन्नता । ७१ निमित्तिनमापृच्छ जयवर्मणो विवाह-
निवचनम् । ७२ ततो युवराजस्य श्रोत्रसुखम् । ७३-७४ विजयार्थगिरेर्वर्णनम् । ७५ तद्विजितो रम्यस्यादित्या-
ख्यस्य पुरस्य वर्णनम् । ७६ तदधिपतेः खेचरेन्द्रस्य धरणीध्वजस्य वर्णनम् । ७७ स प्रियवर्मानामधेयं क्षुल्लकं
ददर्शति वर्णनम् । ७८ तत्सत्कृतेर्वर्णनम् । ७९-८७ तन्मुक्ताच्छशिप्रभापरिणेतुः सकाशादात्मनो वधमश्रीवीदिति
वर्णनम् । ८८ स खेचरेन्द्रो जयवर्मपुरं हरोधेति वर्णनम् । ८९ जयवर्मणं प्रति खेचरेन्द्रेण दूतप्रेषणम् । ९०-
९४ दूतीक्तिवर्णनम् । ९५-९७ दूतविसर्जनम् । ९८ जयवर्मसमीपेऽजितसेनस्य खेचरेन्द्रवधप्रतिज्ञावर्णनम् । ९९
अजितसेनो हृदि हिरण्यदेवं संस्मर, स च स्मृत एव दिव्यं रथं गृहीत्वा तत्पुरोऽभवदिति वर्णनम् । १००-१०६
अजितसेनधरणीध्वजयोगुद्धे धरणीध्वजस्य वधः । १०७ विजयानन्तरमजितसेनस्य विपुलपुरप्रवेशः । १०८
अजितसेनस्य शशिप्रभाया सह विवाहः । १०९-११० वध्वा सह तस्य स्वपुरं प्रति प्रस्थानम् । १११ स्वपुर-
प्रवेशवर्णनम् ।

७. सप्तमः सर्गः

१-१७ अजितसेनस्य चतुर्दशरत्नानां वर्णनम् । १८-२७ तस्य नवनिघोनां वर्णनम् । २८ तादृशीं धियं समवाप्यापि स नोदत्तिकः-इति वर्णनम् । २९ निधिरत्नपूजनम् । ३०-३९ राज्याभिवेकमहोत्सवस्य वर्णनम् । ४० स्वयंप्रभामिधस्य जिनपतेरागमनवर्णनम् । ४१ तं वन्दितुमजितसेनाजितंजययोगंमनवर्णनम् । ४२-४३ प्रणामानन्तरं स्वयंप्रभं प्रति राज्ञोऽजितंजयस्य 'जन्तुः कर्मभिः कथं बध्यते कथं च मुच्यते' इति प्रश्नः । ४४-५३ तदुत्तरदानम् । ५४ तच्छ्रुत्वाजितसेनस्य विरत्तेर्वर्णनम् । ५५ ततो जिनदीक्षाग्रहणम् । ५६ जिनं प्रणम्य चक्रवर्तिनः स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ५७-६९ अजितसेनस्य दिग्विजयवर्णनम् । ७०-७९ तत्समृद्धिवर्णनम् । ८० स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ८१-९० पुरस्वीचैष्टवर्णनम् । ९१-९२ राजभवनप्रवेशवर्णनम् । ९३ कृतचरणमस्त्रियाणा नृपाणां विद्याधराणां च त्रिसृजनेनम् । ९४ राज्योपभोगवर्णनम् ।

८. अष्टमः सर्गः

१-५० वसन्तवर्णनम् । ५१-६० शशिप्रभाख्याया महिष्याः पुरुषो राजमुखेन पुरोपवनशोभाया वर्णनम् । ६१ राज्ञोऽजितसेनस्य वनविहारेणयात्राघोषा । ६२ प्रस्थानशंसी ध्वनिर्व्योम व्याप-इति वर्णनम् ।

९. नवमः सर्गः

१ वनश्रियं वीक्षितुं चक्रिणोऽजितसेनस्य प्रस्थानम् । २ तामेव धियं विक्षितुं रमणीनां प्रस्थानम् । ३-१७ उपवनयात्रावर्णनम् । १८ उपवनप्रवेशवर्णनम् । १९-२६ उपवनविहारस्य पुष्पावचायस्य च वर्णनम् । २७-५७ जलकेलिवर्णनम् । ५८ वस्त्रपरिवर्तनम् । ५९ रवी पश्चिमाचलस्य प्रस्थं समनुसरति सति चक्री परिजनैः सह्राप्रानादिकृत्यं चक्रे-इति वर्णनम् ।

१०. दशमः सर्गः

१ सूर्यस्थास्तावत्संश्रयः । २ सूर्यस्यारण्यम् । ३-६ सायंकालवर्णनम् । ७-१६ अन्धकारवर्णनम् । १७-४० चन्द्रोदयवर्णनम् । ४१-७४ रात्रिक्रीडाया (मुरतस्य) वर्णनम् । ७५-७६ बैतालिकमुखेन निशावसानवर्णनम् । ७७-७९ राज्ञः प्रबोधः शय्यात्याग शयनागारतो निर्गमनं च ।

११. एकादशः सर्गः

१-२ राज्ञोऽजितसेनस्य सभाभवनप्रवेशवर्णनम् । ३-६ राज्ञो गजक्रीडावलोकनवर्णनम् । ७-९ गजेन निहृतं कंचनमानवमनलोक्य राज्ञो वैगम्यम् । १०-३० विषयगर्हणम् । ३१-३३ तदैव वनपालमुखाद् गुणप्रभाभिधस्य मुनीन्द्रस्यागमनश्रवणं सपरिकरस्य राज्ञो तद्दर्शनार्थं गमनवर्णनं च । ३४-३८ आश्रमावलोकनं नानामुनीनां दर्शनं च । ३९ ४९ राजमुखेन मुनीन्द्रस्तुतिः । ५०-६६ मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः परिचक्षवर्णनम् । ६७ जितशत्रुसंज्ञकाय पुत्राय राज्यं वितोर्य राज्ञो जिनदीक्षाग्रहणम् । ६८-७२ तत्तपश्चरणवर्णनम् । ७३ राज्ञोऽङ्गुलेन्द्रपदावांसिः । ७४ तत्स्वपुत्रात् रत्नसंचयपुरे सुवर्णमालाकनकप्रभयोः पुत्रः पद्मनाभो जातोऽसि-इति प्रतिपादनम् । ७५-७६ स्वजन्मान्तराणि समाकर्ष्य तत्र सविहानं पद्मनाभस्तत्प्रत्ययार्थं श्रीधरमुनि पुनः पप्रच्छेति वर्णनम् । ७७-७८ इतो 'दशमेऽहनि तव नगरे मूर्धं परित्यज्य कश्चिदेको मदान्धगज आगमिष्यति तत्प्रस्थयात् त्वमखिलं मनुष्यं वचनं निश्चेष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेर्हक्तिवर्णनम् । ७९ पद्मनाभस्य निजपुरं प्रति प्रस्थावर्तनम् । ८० तत्पुरे महान् कलकलः । ८१ तत्परिज्ञानाय मृत्युप्रेषणम् । ८२-८४ ततो गजप्रवेशस्य तत्कृत्याः संहारलीलायाश्च वृत्तं परिज्ञाय राजा विषादं भेजे मुनिवचनस्य प्रामाण्यं च निश्चित्य

जहर्ष—इति वर्णनम् । ८५-९१ तद्वशोकरणवर्णनम् । ९२ तमारुह्य वने क्रीडाकरणं, ततस्तस्य 'वनकेलिः' इति नामकरणं तत्पदवाच्यं पुरप्रवेशकरणम्—इति कथनम् ।

१२. द्वादशः सर्गः

१-२४ गजाय राजानं पयानाभं प्रति प्रेषितस्य पृथिवीपालदूतस्योक्तिवर्णनम् । २५-४१ दूतं प्रति युवराजोक्तिवर्णनम् । ४२-५४ युवराजं प्रति पृथिवीपालदूतस्य प्रत्युक्तिवर्णनम् । ५५ दूतभाषितैः क्षुभितार्थं राजावारयदिति प्रतिपादनम् । ५६ दूतसत्कृतेरादेशः । ५७-१११ मन्त्रगृहे राज्ञः पुरतो मन्त्रिणां मन्त्रणा ।

१३. त्रयोदशः सर्गः

१ पृथिवीपालजिगीषया राज्ञः पयानाभस्य प्रयाणोपक्रमः । २ राज्ञः सितच्छत्रस्य सुपमा । ३-७ राज्ञो हारः कुण्डल-मुकुट-अङ्गद-रत्नानामरणानां वर्णनम् । ८ तमन्येऽपि भूभुजोऽनुजगमुरिति वर्णनम् । ९-२३ सेनाङ्गानामश्वदीनां वर्णनम् । २४ गजबधूपु कृतानानामवरोधपुरन्धीनां वर्णना । २५ दर्शनाविनामागमनम् । २६ पुरयोपिता कौतुकम् । २७ तरलवेगसरादवरोधिकापतनम् । २८ करिभयात्पलायत उड्डस्य वर्णना । २९ शकटनृपभागा कर्मसूक्तिभिः सन्मार्गाश्रयणाद् वज्रिणां घृतघटानां विघटनम् । ३० वारणभयभवत्पतन-भग्नदधिपात्राया बल्लवयोपितो राजमागतिप्रत्यावर्तनम् । ३१ वैश्विकानामाशुगमनवर्णनम् । ३२ नृपबधूजन-यानवर्णनम् । ३३ पुरवीथीपु सेनाया सुपमा । ३४ अद्वयमेनावर्णनम् । ३५ प्रस्थानपटहध्वनिवर्णनम् । ३६ रथाकुलस्य पयानाभस्य पुरशोभावलोकनम् । ३७ पुरगोपुरतः सैन्यनिर्गमनवर्णनम् । ३७-५२ मार्गे नानामनोरम-पदार्थानामवलोकनवर्णनम् । ५३-६१ मार्गे प्राप्ताया 'जलशङ्खिनी' इति ह्यतायाः सरितो वर्णनम् । ६२ राजस्तदुत्तरणवर्णनम् ।

१४. चतुर्दशः सर्गः

१-१८ राज्ञः पयानाभस्य मणिकूटाभिषेकवर्तस्यावलोकनम् । १९-४० राज्ञः पुरतः सेनापतिमुखेन तच्छोभावर्णनम् । ४१ तदाकर्ण्य राजा तत्र रन्तुमिषेय । ४२ तत्रानुत्त पर्वतन् राजा मध्यंदिनवेलाया सेनानिवेशप्रदेशं प्राप्त । ४३ प्रियाणा कपोलस्वलोपु घर्मादबिन्दून्वलोकयतो राज्ञो वाधाकरोऽपि मध्यंदिन-दिवाकरोऽभिमतो बभूव । ४४ वाणिक्पणिवर्णनम् । ४५ आश्रयस्थानं प्रति याग्तोना सामन्तसन्ततोना वर्णनम् । ४६ पयानाभवमिति विलोक्य पशुवादागताना जनानां स्वावासभूमेरवगमः । ४७ वेदयावर्णनम् । ४८ विलम्बतः समायाताना स्थानान्वेगप्रयासवर्णनम् । ४९ कान्दविक (हलवाई) घाम कटकभिर्व्याप्तमिति वर्णनम् । ५० शैलानिलवर्णना । ५१-५३ सेनाया अश्वानां वर्णना । ५४-६२ गजवर्णनम् । ६३-६४ वृषभवर्णनम् । ६५-६६ उड्डवर्णनम् । ६७ स्कन्धावारवर्णनम् । (इत्थं ४४-६७ सेनासंनिवेशवर्णनम्) । ६८ तत्र ससैन्यस्य प्रतिद्वन्द्विनः पृथिवीपालनरपतेरभिगमनम् । ६९ रात्रिवर्णनम् । ७० पयानाभस्य निजभट्टैः सह भाविसङ्ग्रामचर्चा । ७१ रात्रिसमाप्तिवर्णनम् ।

१५. पञ्चदशः सर्गः

१ संनाहपटहध्वनिः । २-५ भटानां संनाहोपक्रमः । ६-१४ कवचादिधारणवर्णनम् । १५-१८ दोनानाथकृतोत्सर्गं पयानाभो मणिककुणादिभिः स्वाभरणैः सहयोगिनः सामन्तान् सच्चकार—इतिवर्णनम् । १९-२५ युयुत्सूना राज्ञा संनिकानां च शस्त्रास्त्रग्रहणस्य रथाद्यारोहणस्य च वर्णनम् । २६ युद्धोद्यतसेना व्यत्येस्ता न—इति कथनम् । २७-३० शुभसङ्कुनवर्णनम् । ३१ स राज्ञः पृथिवीपालोऽपि संनह्यामर्षादिभिर्निययो । ३२-३४ अपसङ्कुनवर्णनम् । ३५-६० युद्धवर्णनम् । ६१-६५ पृथिवीपालस्य सेनापतिचन्द्रशेखरो रणपराङ्मुख-

मात्स्यैव्यं संधीरयन् सोत्साहं चकार इति वर्णनम् । ६६-७४ चन्द्रोदरस्य पद्मनाभसेनापतिना भीमेन सह युद्धम् । ७५-९६ सामन्तानां प्रतिद्वन्द्विभिः सामन्तैः सह युद्धम् । ९७-१०५ सुवर्णनाभधर्मपालयोः (पद्मनाभ-पृथिवीपालपुत्रयोः) वायुयुद्धवर्णनम् । १०६-१११ द्वन्द्वयुद्धे सुवर्णनाभो धर्मपालं बन्धोक्त्यै पितुरन्तिकं निनावेति वर्णनम् । ११२-११३ पद्मनाभसामन्तैः पृथिवीपालसामन्ता भग्नमनोरथाः कृताः—इति वर्णनम् । ११४-१२९ पद्मनाभपृथिवीपालयोर्युद्धम् । १३० पद्मनाभस्तत्र पृथिवीपालस्य शिरश्चिच्छेदः—इति वर्णनम् । १३१ शत्रूणां पलायनं रणभूमिसंशोधनं च । १३२ युद्धमूर्ध्नि मृतानां दाहसंस्कारः । १३३ शत्रोदिल्लं शिरो निरीक्ष्य पद्मनाभस्य वैराग्यम् । १३४-१४४ वैराग्यविचाराः । १४५-१४७ निजतनूजाय सुवर्णनाभाय राज्यभारं वित्तीयं पृथिवीपालनन्दनाय च तत्पितुः पदं, पद्मनाभः श्रोत्ररमुने, सकाशाहोक्षामादाय श्रमणो बभूव । १४८-१५० पद्मनाभस्य ज्ञानद्विप्रासेतपदचरणस्य च वर्णनम् । १५१-१६० षोडश भावना भावयन् पद्मनाभस्तीर्थकृत्प्रामकर्म बबन्ध—इति वर्णनम् । १६१-१६२ स्वतन्त्रं त्यक्त्वा सोऽनुत्तरवैजयन्तं भजे, तत्र दिव्यं सुखं च लेभे ।

१६. षोडशः सर्गः

१-५ पूर्वदेशवर्णनम् । ६-९ चन्द्रपुरीवर्णनम् । १० राजवेदमवर्णनम् । ११-१५ तदधिपतेर्महासेन-नृपतेर्वर्णनम् । १६-२० तन्महिष्या लक्ष्मणाय वर्णनम् । २१ ता लक्ष्मणामवाय राजा महासेन आत्मानं सार्वभौमं कल्पयितुम्—इति वर्णनम् । २२ ता प्रति राजोऽनुरक्तेर्वर्णनम् । २३ तदनुरक्ते प्रभागात् सामन्तानां स्वाच्छन्त्याम् । २४ सचिवमृत्पातच्छ्रुत्वा राजस्तद्विजयस्य विचारः । २५-५२ राजो दिग्विजयवर्णनम् । ५३ राज्ञः स्वपुरीं प्रति प्रत्यागमनम् । ५४ सत्कृत्यनन्तरं राजा विसर्जनम् । ५५ रत्नवृष्टिवर्णनम् । ५६ दिक्कुमार्यो लक्ष्मणाय गर्भशोऽनादि कर्मस्य व्यधिपतः—इति वर्णनम् । ५७-६२ देवी षोडश स्वप्नात् ददर्श—इति वर्णनम् । ६३-६६ राजमूर्ध्नि स्वप्नफलवर्णनम् । ६७ तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणा देवी प्रमोद भजे—इति वर्णनम् । ६८ चन्द्रप्रसव्य गर्भावतरणम् । ६९ गर्भकल्याणमहोत्सवस्य वर्णनम् । ७० ओङ्होभूष्यादिभिर्देवीभिः सेव्यमाना लक्ष्मणा देवी नवमासान् मुखेनैव निन्ये—इति वर्णनम् ।

१७. सप्तदशः सर्गः

१ जिनजन्मवर्णनम् । २-३ जिनजन्मसमये ककुभः प्रसेदुः, नभस्तलममलं जातं, सुरभिर्वायुर्वह्नी, वियतो दिव्यकुसुमवृष्टिजला—इति वर्णनम् । ४-५ कलावासिप्रभृतिदेवानामावासस्थानेषु मणिघण्टिकाश्च स्वयमेव रेणुः—इति वर्णनम् । ६ ज्ञातचन्द्रप्रभजिनजन्मना देवानां चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ७ सुरामुराभरणकिरणैः ककुभा शोभाया वर्णनम् । ८ नभसि देवविमानानां मुपमा । ९ अमरालयादानृपतिगेहं विस्तृताया देवपङ्क्तैः सौन्दर्यम् । १० सवासवः सुरगणा नृपस्य प्राप—इति वर्णनम् । ११ खची मायाशिशु मातुर्हरति विनिवेद्य सौन्दर्यम् । १२ तमुदोह्य हरेर्हर्षप्रकर्षं समजनि—इति वर्णनम् । १३ सोधमैन्द्रस्तमर्भक-मात्स्यगजमरोपयत्—इति वर्णनम् । १४ अन्येषाममरपतीनामानमनवर्णनम् । १५ मङ्गलगानपूर्वकं देवीना-मप्रतोऽभिषेकं प्रस्थानम् । १६ देवानां प्रस्थानवेलायां दुन्दुभिनादः । १७ तदवसरे नभस्तले देवनृत्यमजनि—इति वर्णनम् । १८ मुमेक्षप्रार्तिवर्णनम् । १९ मुमेक्षसिखरस्य पाण्डुकशिलाया सिंहासने जिनाभकस्य स्थापनम् । २० तदभिषेकवर्णनम् । २१ सोत्सवं तत्कर्णच्छेदनसंस्कारं सुरेश्वरादचक्रुः—इति वर्णनम् । २२ सुरास्त्वं जिनाभं मणिकुण्डलादिभिराभरणैरभूषयन्—इति वर्णनम् । २३ तन्नामकरणसंस्कारः । २४ तत्स्तुतेष्टकक्रमः । २५-४० इन्द्रमूर्ध्नि जिनाभकस्तुतिः । ४१ मुमेक्षतश्चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ४२ जिनाभकं समर्प्य सुराः सुरेन्द्रादचक्रुः तत्र महोत्सवं चक्रुः—इति वर्णनम् । ४३-४८ जिनाभकस्य बालक्रीडाया वर्णनम् । ४९ धनद्वेषप्रिताना तदाभरणानां वर्णनम् । ५० तत्कलावगमनवैशिष्ट्यम् । ५१ तद्विवाहसंस्कारः । ५२ राज्यलाभः तत्प्रशासनं च । ५३-५६ तच्छासने प्रजायाः सुखावस्थितिः । ५७ सामन्तानामानुकूल्यम् । ५८ रजनीमहश्चाष्टधा विभज्य विहितः

कार्यक्रमः । ५९ समये समये सुरबनितानामागमनं ललितपीतनर्तनादिविधानं च । ६० चन्द्रप्रभस्य भोगसुखानु-
भवनम् । ६१-६४ चन्द्रप्रभस्य पुरतो धर्मध्वनिनाम्नो धृतवृद्धविग्रहस्य सुरस्य पूत्कृतिः । ६५ अन्तर्हिते तस्मिन् स
क इति सम्पजनानां जिनं प्रति जिज्ञासा । ६६ तदुत्तरम् । ६७-७० संसारासारायाश्चिन्तनम् । ७१ कृत्स्न-
कर्मक्षयस्य निश्चयः । ७२ लौकान्तिकदेवानामागमनम् । ७३ विमलाभिधां शिबिकामाहूय चन्द्रप्रभः सकलधुवनं
प्रापत्—इति वर्णनम् । ७४ वरचन्द्राभिधानाय स्वपुत्राय राज्यं वित्त्य स तपोऽग्रहीत्—इति वर्णनम् । ७५
अपाकृतांस्तरकचानमराधिपः क्षीरसमुद्रे निदधे—इति वर्णनम् । ७६ दोक्षाकल्याणमहोत्सवः । ७७ नलिन-
पुरपालिनः सोमदत्तस्य गृहे चन्द्रप्रभस्य पारणा । ७८ चतुर्णां कथायाणां नाशनम् । ७९ परीषद्ब्रह्मवर्णनम् ।
८० चन्द्रप्रभस्य पार्श्वे संशयनिरासाय नानामनुनामनुदिनामागमनम् । ८१ पुनरपि दोक्षावनं प्रति गमनम् ।
८२ तत्र नागपालिनस्तत्तलभुवि कैवल्यलभः । ८३-९१ समवसरणवर्णनम् ।

१८. अष्टादशः सर्गः

१ गणधरप्रश्नाज्जनेश्वरश्चन्द्रप्रभस्तत्त्वं जगद—इति कथनम् । २ सप्ततत्त्वानां नामानि । ३ पुण्य-
पापयोर्बन्धेऽन्तर्भावोऽनन्तर्भावे च नवपदार्थाः— इति प्रतिपादनम् । ४. जीवस्वरूपनिरूपणम् । ५ विवक्षावशा-
ज्जीवस्य द्वैविध्यं चातुर्विध्यं च । ६ पृथिवीभेदान्नारकः सप्तधा प्रभियते । ७-८ अधोलोकास्थितानां सप्त-
पृथिवीनां नामानि । ९-१० नारकाणामुत्सेधः । ११-१२ नारकाणामायुः । १३-१४ नारकविलासा संख्या ।
१५ पापा नरकं प्रयाति तत्र दुःखं चानुभवन्ति । १६ नरकवर्णनस्योपसंहारस्तिर्यगतिवर्णनस्योपक्रमश्च ।
१७ तिर्यग्योनिजानां जीवानां भेदाः । १८-१९ स्यावरजीवानां भेदाः । २०-२१ इन्द्रियापेक्षया जीवाना-
मुच्छृङ्खलावहना । २२ इन्द्रियाणां नामानि द्वीन्द्रियादिजीवेषु तद्वृद्धिक्रमश्च । २३-२४ स्यावरजीवानामायुष-
प्रमाणम् । २५-२६ त्रयजीवानामायुषः प्रमाणम् । २७ तिर्यगतिवर्णनस्योपसंहारो मनुष्यगतिवर्णनस्योप-
क्रमश्च । २८ मनुष्याणां भेदा भोगभूमीनां संख्या च । २९ उत्तमादिभेदेन भोगभूमीनां त्रैविध्यमुत्तमायु-
च भोगभूमिषु नृणामुत्सेधः । ३० भोगभूमिजानामायुः । ३१ भोगभूमिजाः कस्पद्रुदोद्भव फलं भूजते—
इति कथनम् । ३२ कर्मभूमिजानां मानवानां भेदाः कर्मभूमीनां संख्या च । ३३ कर्मभूमिजानां मानवा-
नामुच्छृङ्खल उत्सेधः । ३४ कर्मभूमिजानामायुः, विदेहे वृद्धिहासौ न—इति कथनम् । ३५ भरतीरावतयो-
कालकृती वृद्धिहासौ, कालश्च द्विविधः—इति प्रतिपादनम् । ३६ उत्सर्पिण्या अवसर्पिण्याश्च कालस्य
प्रमाणम् । ३७-३८ तयो सुषमायुषमादयो भेदाः । ३९-४१ सुषमायुषमादीनां कालस्य प्रमाणम् ।
४२ म्लेच्छानां भेदाः । ४३ आर्याणां भेदाः । ४४-४६ गुणस्थानानां नामानि । ४७ मनुष्यगतिवर्णनस्योप-
संहारो देवगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । ४८ निकायापेक्षया देवानां चातुर्विध्यं तत्र च भवनवासिना दशविधस्त्वम् ।
४९ अगन्तरा अष्टधा । ५० वैमानिकदेवानां भेदाः । ५१ कल्पातीतदेवानां वर्णनम् । ५२ भवनवासिना देवा-
नामवगाहना । ५३ व्यन्तरज्योतिषसौम्यैर्मानदेवानामुत्सेधः । ५४-५८ अन्येषां सुमनसा (वैमानिकानां)
कायोच्छ्रयाः । ५९-६५ देवानामायुःप्रमाणम् । ६६ जीवनिरूपणया उपसंहारोऽजीववर्णनाया उपक्रमश्च ।
६७ अजीवद्रव्यस्य पञ्चविधत्वम् । ६८ षष्ठस्य जीवद्रव्यस्य पञ्चास्ति कायना च प्रतिपादनम् । ६९-७० धर्म-
द्रव्यस्य स्वरूपनिरूपणम् । ७१ अधर्मद्रव्यस्य स्वरूपम् । ७२ आकाशद्रव्यस्य निरूपणम् । ७३ धर्मादिद्रव्याणां
प्रदेशसंख्या । ७४ कालद्रव्यस्य लक्षणमुपकारश्च । ७५-७७ दिनकरादीनां क्रियां विहायापरः कालो
नास्तीति पूर्वग्रस्ततदुत्तरपञ्च । ७८ पुद्गलस्य स्वरूपनिरूपणमनुस्कन्धविवक्षया द्वैविध्यं च । ७९ स्थूल-
सूक्ष्मादिभेदतः पुद्गलानां बहुविधत्वम् । ८० पुद्गलद्रव्यस्योपकारः । ८१ पुद्गलवर्णनस्योपसंहार आश्रयतत्त्व-
स्योपक्रमश्च । ८२ आश्रयस्य स्वरूपम् । ८३ आश्रयस्य भेदो तत्त्वामिनी च । ८४ ज्ञानदर्शनावरणयोराश्रय-
हेतवः । ८५ असातवेदनोपस्थाश्रयहेतवः । ८६ सातवेदराश्रयहेतवः । ८७ दर्शनमोहनीयस्थाश्रयहेतवः ।
८८ चारित्रमोहनीयस्थाश्रयहेतवः । ८९ नाराकयुपस्तिर्यगायुषश्चाश्रयहेतवः । ९० मनुष्यायुषो देवायुषश्चा-

स्वहेतवः । ९१ शुभस्याशुभस्य च नामकर्मण आश्वहेतवः । ९२ तीर्थकुण्डनामकर्मणो नीलगोत्रस्य चाश्व-
हेतवः । ९३ अन्तरायकर्मण आश्वहेतवः । ९४ आश्ववस्योपसंहारो बन्धस्योपक्रमश्च । ९५ बन्धहेतवः ।
९६ बन्धस्वरूपम् । ९७ बन्धस्य भेदाः । ९८ मूलप्रकृतयः । ९९ मूलप्रकृतौना भेदाः । १०० ज्ञान-दर्शना-
वरण-वेदनीयान्तरायाणां परा स्थितिः । १०१ मोहनीयनामबोत्रायु-कर्मणा परा स्थितिः । १०२ बध्दकर्म-
णामपरा स्थितिः । १०३ अनुभावबन्धस्य स्वरूपम् । १०४ प्रदेशबन्धस्य स्वरूपम् । १०५ बन्धस्योपसंहारः
संवरस्योपक्रमश्च । १०६ संवरस्य स्वरूपं व्युत्पत्तिश्च । १०७ संवरहेतवः । १०८ संवरस्योपसंहारो निर्ज-
राया उपक्रमश्च । १०९-११० निर्जरायाः स्वरूपं भेदौ तत्स्वरूपं च । १११ निर्जराया कारणं तपो बाह्या-
भ्यन्तरविवक्षया द्विविधं तदुत्तरभेदापेक्षया च द्वादशविधम् । ११२ बाह्यतपसः षड्भेदाः । ११३ आभ्यन्तर-
तपसः षड्भेदाः । ११४ स्नाध्यायादीना व्यक्तत्वात् केवलं ध्यानवर्णनस्योपक्रमः । ११५ ध्यानस्य चत्वारो
भेदाः । ११६-११७ आर्त्तध्यानस्य चत्वारो भेदाः । ११८ रौद्रध्यानस्य चतुर्विधत्वम् । ११९ धर्म्यध्यानस्य
चत्वारो भेदाः । १२०-१२१ शुक्लध्यानस्य चत्वारो भेदाः । १२२ निर्जरावर्णनस्योपसंहारो मोक्षतत्त्ववर्णनस्यो-
पक्रमश्च । १२३ मोक्षस्य स्वरूपमुपायः स्वामी च । १२४ रत्नत्रयस्य स्वरूपम् । १२५-१२७ एकाङ्गविकल
रत्नत्रय भेदजमिव कार्यकारि न । १२८-१२९ मुक्तिं प्रति रत्नत्रयस्य हेतुत्वोपपादनम् । १३० क्षीणकर्मा
जीवोऽग्निज्वालाकलापवत् स्वभावन ऊर्ध्वं प्रयाति । १३१ मुक्तजीवस्य लोकाप्रावस्थाने हेतुः । १३२ भगवत्-
चन्द्रप्रभस्य विहारः । १३३-१४४ भगवत्चन्द्रप्रभस्यातिशयानां वर्णनम् । १४५ प्रातिहार्याणां निरूपणम् ।
१४६ भगवत् समवसरणे गणधराणां पूर्वधारिणा च संख्या । १४७ उपाध्यायानामवधिशानिना च संख्या ।
१४८ केवलज्ञानिना विक्रियद्विमुनेयुषा च संख्या । १४९ मनःपर्ययज्ञानिना वादिना च संख्या । १५० आधि-
काणा संख्या । १५१ श्रावकाणां श्राविकाणां च संख्या । १५२ भगवान् समेदगौलिखलं समाससाद—इति
वर्णनम् । १५३ भगवतो मुक्तिः । १५४ अन्तिममस्कारो मोक्षकल्याणकमहोत्सवश्च ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

१ आचार्यश्रीगुणनन्दिनः परिचयः । २ विबुधगुणनन्दिनः परिचयः । ३ अभयनन्दिनः परिचयः ।
४ वीरनन्दिनः (ग्रन्थकर्तुः) परिचयः । ५ तद्वचितस्य चन्द्रप्रभचरितस्य समुल्लेखः । ६ भगवत्चन्द्रप्रभस्य
भवावलि ।



यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः मौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभृद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतियो वैजयन्तेश्वरो
यः स्यात्तीर्थकरः स मत्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥



श्री चोरनन्दि-प्रणीतं चन्द्रप्रभचरितम्

[१. प्रथमः सर्गः]

श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता ।
सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो जिनः ॥१॥
स पातु यस्य स्फटिकोपलप्रभे प्रभाविनाने विनिमग्गमूर्तिभिः ।
विदिद्युने दुग्धपयोधिमध्यगन्धिमरैर्वैः शशिशलाञ्छनो जिनः ॥२॥

विद्वन्मनोवल्लभा

वन्देऽहं महजानन्दकन्दलीकन्दवन्धुरम् । चन्द्रार्कं चन्द्रसंकाशं चन्द्रनार्थं स्मराहरम् ॥ १ ॥

चन्द्रप्रभाहृद्दीप्तस्य^१ काव्यं व्याख्यायने मया । विश्वमन्त्रवरूपेण स्पष्टमंस्कृतभाषया ॥ २ ॥

श्रियमित्यादि । यस्य स्वामिन । सुरागमे सुराणामागमस्तस्मिन् । नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता नटता नृत्यता सुरेन्द्राणा देवेन्द्राणा नेत्राणा प्रतिबिम्बीर्लाञ्छिता चिह्निता तथोक्ता । रत्नमयी रत्नस्य [रत्नाना]^२ विकारस्तथोक्ता मणिनिर्मिता । सभा समवसरणम् । महोत्पलं महान्तं च च तान्युत्पलानि च^३ तैर्नीलोत्पलैः । कृतोपहारेव कृता उपहारा यस्याः सा^४ विरचितपुष्पाञ्जलियुक्तेवेत्यर्थः । बभौ रेजे । स^५ अग्रज अग्रे जायत इत्यग्रजः प्रथमकालं जात । जिन दुर्जयकमंटकमरीचातीन् जयति निर्मूलयतीति जिन पुरुषपरमेश्वर । व युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्माद ण्ठोबहुवचनस्य वमादेशः । श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गसंपत्तिम् । क्रियान् विधेयात्^६ हुकुम्करणे लिङ् । उप्रेक्षा ॥ १ ॥ स इत्यादि । यस्य स्वामिन । स्फटिकोपलप्रभे स्फटिकस्यापलस्यैव प्रभा यस्य तस्मिन् । उपमा । प्रभाविनाने प्रभाणा कामीना विनाने समूहे । विनिमग्गमूर्तिभि विनिमग्गजति स्म विनिमग्गान्ता मूर्त्यो येषां ते तथोक्तान्यैः । अमर्

भावानुवाद

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तुम सबको कल्याण सम्पत्ति प्रदान करें । इस युगमे सबसे पहले अवतरित होनेसे वे अग्रज अर्थात् आदिपुरुष कहे जाते हैं । उन्हो जव केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी तब समस्त इन्द्रोने उत्सव मनाया था । उन्होने देवोंकी उपस्थितिमे उक्त ऋषभदेवके सामने सभा (समवसरण) में नृत्य किया था । सभाकी भूमि चूँकि रत्नजटित थी, अतः वहाँ इन्द्रोके नेत्रोंकी छाया पड़नेसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह उन (ऋषभदेव) के लिए स्वयं नील कमलोंका उपहार भेंट कर रही हो ॥१॥ चन्द्र-चिह्नसे विभूषित अष्टम तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ (चरितनायक) तुम सबकी रक्षा करे । उनके देहकी कान्ति स्फटिक

१. आ^१ हंभीरस्य । २ आ स विकारास्त^२ । ३. आ च तथोक्तानि तैर्नी^३ । ४ = कृत उपहारः पूजाविशेषो यस्या सा । ५. = सचराचरे जगति प्रसिद्धः । ६ श स विधीयात् । ७ आ हुकुङ् श म हुकुङ् ।

अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् ।

विभक्तिं योऽनन्तचतुष्टयं विभुः स नोऽस्तु शान्तिर्मवदुःखशान्तये ॥ ३॥

जगज्जन्यास्मरणीयमीश्वरं स्वयंवरीभूतमनश्वरश्रियः ।

निगमयं वीतभयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृसुगसुरैः स्तुतम् ॥ ४॥

देवे । दुःखपयाधिमच्छनैः दुःखस्य पयोधिर्दुःखपयोधिं क्षीरसमुद्रं तस्य मध्यं गच्छन्ति स्म तथोक्तास्तैर्गिरि । विदितुने । द्युति दीप्तो भावे निद्र । स शशिलाच्छनः शश्वेव लाच्छन यस्य सः, चन्द्रलाच्छन इत्यर्थः । विन । अष्टमनांशकः । व युमान् । 'पदाद्वाक्यम्' इत्यादिना युगमच्छब्दस्य द्वितीयावहुवचने वमादेशः । पानु रक्षानु । पा रक्षणं लोट् । उत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ अनन्तविज्ञानमित्यादि । य स्वामी । अनन्तविज्ञान न विद्यतेऽज्ञतोऽज्ञमानां(न) यस्य तत् अनन्त च तद्विज्ञानं तथोक्तम् । अनन्तवीर्यताम् अनन्त च तदीयं चानन्त-वीर्यम्, तस्य भावस्वाम् । अनन्तसौख्यत्वं सुखमेव सौख्यम् । 'भेषजादि-' इत्यादिना स्वाधिकारमष्टधणं अनन्त च तन्मोक्ष्य चानन्तमोक्ष्य तस्य भावस्वन्त । अनन्तदर्शनम् अनन्त च तद्दर्शनं च तथोक्तम् । इति अनन्तचतुष्टयम् अनन्तानां चतुष्टयं तथोक्तम् । विभक्तिं धरति । इभूज् धारण-रूपणयोर्लट् । स । शान्तिं शान्तिंजित् । विभुः स्वामी । न अस्माकम् । 'पदाद्वाक्यम्' इत्यादिना युगमदस्मत्पष्ठोबहुवचनस्य नमादेशः । भवदुःखशान्तये भवस्य मसारस्य दुःखस्य शान्तये क्षमननिमित्तम् । अस्तु भूयात् । ॥ ३ ॥ जगत्यादि । जगज्जन्या जगत् जगती तया । अस्मरणीयं ध्यातुमयोग्यम् । ईश्वरं स्वामिनम् । अनश्वरश्रियं निरपश्रियं । स्वयंवरीभूतं प्रागवर उदानी वरो भवति स्म तथोक्तम् 'कर्मकृतंभ्याम्' इत्यादिना विभ । 'चो चाभ्यान्वयस्य' इतीकारादेशः । निगमयम् आमयात्रिगंतो निगमय न व्याधिरहितम् । वीतभयम् वीत भय यस्य न भयंरहितम् । भवच्छिदम् भव छिनत्तीति भवच्छिदं तं गमागनाशकम् । नृ-सुगसुस्तुतम् नरामरगसुरैः मग्नन्तम् । वीरम् विशिष्टम् ई लक्ष्मी रानि ददानीति वीरं तं वर्धमानंस्वामिनम् । नमामि

मणिकी प्रभा जमी धवल थी । अतः चारों ओर बैठे हुए देव उम (कान्ति) ने निमग्न होकर ऐसे मुग्धोभित होते थे मानो वे क्षीरसागरमे डुबकी लगा रहे हों ॥ २ ॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तमुख ओर अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयके धारण करनेवाले सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ हम सबके सासारिक दुःखांका उपशमन करें ॥ ३ ॥ मैं (वीरनन्दी) चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीरको नमन करता हूँ । वे सर्वथा नीरोग व निर्भय थे । उन्होंने भवपरम्पराको नाश कर दिया था, तथा क्या नर, क्या सुर और क्या अमर सभी उनके पवित्र गणोंकी प्रशंसा करते थे । उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जो मुक्तिके योग्य वरमे आवश्यक होते हैं । इमीलिए अनन्तचतुष्टयादिस्वरूप अविनश्वर लक्ष्मीसे सम्पन्न मुक्ति-श्रीने, स्वयं ही उनका वरण किया था । बेचारी जरा (वृद्धावस्था) उनके साथ अपने सम्बन्धके विषयमे उनका स्मरण भी नहीं कर सकती थी । कारण कि उसका तात्पर्य ढल चुका था -

१. टीकापिनीयं पाठं प्रतियुक्तुं न्याः स्मरणीयं इत्येवंविध एव पाठ उपलभ्यते । २. आ लेट् ।

३. आ इत्यादिना शास्त्राधिक-वत् । ४. आ धरति स्म । ५. आ भूज् । ६. श स लेट् । ७. आ जगति ।

८. श स विनिष्ट इष्टं गति ।

हितं विसंवादिष्विजितस्थितिं परैरमेघं प्रवितीर्णनिवृत्तिम् ।

शरण्यभूतं शरणं जिनागमं गतोऽस्म्यहं भव्यजनैकबान्धवम् ॥५॥

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।

न हारयष्टिः परमेध दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

नीम । नमः प्रह्वत्वे शब्दे लट् । रूपकम् ॥ ४ ॥ हितमिन्यादि । हितम् उपकारकम् । विगवादिनिर्वजित-
स्थितिं विसंवादेन विरोधवचनेन विवजिता रहिता स्थितिर्यस्य तम् । 'मर्षादा धारणा स्थितिः' इत्यमरः ।
परं अन्यथादिभिः । अमेघं कुहेतुदृष्टान्तरभेदम् । प्रवितीर्णनिवृत्तिं प्रवितीर्णा प्रदत्ता निवृत्तिर्भोजो येन तम् ।
शरण्यभूतं शरण्यमपायमरक्षणोपायो भवति स्म, तथोक्तस्तम् । भव्यजनैकबान्धवः रत्नत्रयाविभवेनधोभ्या
भव्या ते च ते जना तेषामेको मुख्यो बान्धवः तम् । जिनागमं जिनेन प्रणीत आगमः तम् । अहं वीरनन्दी ।
शरण रक्षकम् । 'शरणं गृहंरक्षित्व' इत्यमरः । गतः यातः । अस्मि भवामि । अम भुवि लट् ॥ ५ ॥ गुणान्वि-
तेत्यादि । [गुणान्विता] गुणैः तन्तुभिः पक्षे प्रसादमाधुर्यादिभिरन्विता । 'मोक्षप्रदा[धा]नपारदेन्द्रिय-
सूक्ष्मस्वादिसंघ्यादिविद्यादिहरितादिषु गुण' इति नानार्थकोशे । निमल-वृत्तमौक्तिका निमलान्दीपं त्रासादि-
दोषगृह्येन वृत्तं पक्षं वस्तुलं येषां ते तथोक्ता मौक्तिका मुक्तिः प्रयोजनं येषां ते मौक्तिका भव्या, पक्षं
सक्तामणयः निर्मला वृत्ता मौक्तिका यस्याः सा तथोक्ता । (निर्मलानि त्रासादिदोषपरतिहानि वृत्तानि वस्तुनानि
मौक्तिकानि सक्ताकालानि, पक्षे निर्मलानि यतिभङ्गप्रभृतिदोषगूण्यानि वृत्तमौक्तिकानि श्रेष्ठच्छन्दांसि यस्या
सा) हारयष्टिरिव [रेव] हारयन्तेव [तव] । परम् अन्यन्तम् । नरोत्तमैः नरेपान्तमैः श्रेष्ठैः । कण्ठ-
विभूषणीकृता प्रागकण्ठाविभूषणमिदानीं कण्ठाविभूषणं क्रियते स्म तथोक्ता । [न] नामीति, सैकैव न धृते-
त्यर्थः । एनः कापीति चेत् । दुर्लभा दुःखेन महता कष्टेन लभ्यते इति दुर्लभा । समन्तभद्रादिभवा समन्ता-
द्भद्रं कल्याणं यस्यासौ समन्तभद्रः, स आदिव्येया ते समन्तभद्रादयः, तेषु भवा तथोक्ता । भारती च भाषा

वह बुद्धिया हो चुकी थी ॥४॥ मेरे लिए जिनागम ही शरण (रक्षक) है । मैं उसीकी शरण
आया हूँ । वह सबको हितकारी है । उसकी स्थिति पूर्वापर विरोधमे रहित है । उसके
सिद्धान्त दूसरोंके लिए अकाट्य हैं । वह शान्ति और मुक्ति प्रदान करनेवाला है तथा भव्य-
जीविका तो एक मात्र बन्धु है ॥५॥ इस युगमे केवल हार ही नहीं, बल्कि समन्तभद्र आदि
आचार्योंकी वाणी भी अत्यन्त दुर्लभ है । हार और समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणीमे
अद्भुत साम्य है - जिस प्रकार निर्मल गोल मोतियोंको धागेमे पिरोकर हार बनाया जाता है
और उत्तम पुरुष उसे अपने गलेमे आभूषणके रूपमे पहनते है इसी प्रकार समन्तभद्र आदि
आचार्योंकी वाणी ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणोसे गुम्फित है, निर्दोष सुन्दर छन्दोमे निबद्ध

१ = ननु च चत्वार एव तीर्थकरा कथमभिष्टुता न सर्वेऽपि, इति चेत्, उच्यतेऽत्र कवेरभि-
प्रायः - बृहत्कथाप्रवरस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथवोत्सपिणोसमयादितोर्थप्रयत्ननादादिजनस्याभिष्टव्यं,
प्राग्ब्रह्मनायकत्वादष्टमस्य, निविज्जतः शास्त्रपरिममाप्ते कारणत्वात् शान्ते, वतमानतोर्थस्वामित्वादन्त्य-
स्येति । तदापि येषाणां नमनाकरणेऽपरोक्षकत्वमिति चेत् सर्वेऽपि नुता भगवताचायेन - वीरं विनिष्ठम्
ईं समवसरणादिलक्षणा लक्ष्मीम् ईरते इति वीरः तीर्थकरसमुदायं न नमामि, यत् सर्वेषामपि श्री
पञ्चकल्याणाभिधा प्रातिहार्यातिशयादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते ।

गुणान्गुह्यं सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदक्ष दुर्जनः ।

चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥७॥

गुणान्यथैवोपदिशन्प्रशंसया गुरुत्वबुद्ध्या सुजनो नमस्यते ।

तथैव दोषान्दिशतः प्रणिन्द्या कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः ॥८॥

सुदुष्करं यन्मनुते गणाधिपोऽप्यवैति वाग्देव्यपि भारमात्मनः ।

विधित्सुरहंचरितं तदल्पधीध्रुवं न यास्यामि न हास्यतां सताम् ॥९॥

च, नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृतेत्यर्थः । इलेप ॥ ६ ॥ गुणानित्यादि । सुजन शोभनो जनः । गुणान् अगुह्यं गुह्यानीति गुह्यं, न गुह्यं [अगुह्यं] तथोक्तं, अस्वीकुर्वन् । निर्वृति संतोषम् । 'निर्वृतिस्तु मनस्तोषे मोक्षे समयवाक्यो' इति विश्वः । न प्रयाति । दुर्जनः निन्दितो जनो दुर्जनः । दोषान् अवदन् वदतीति वदन् न वदन् अवदन् तथोक्तोऽबुधन् निर्वृतिम् । न प्रयाति । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता चिरं भवविचरन्तः । 'सायं चिरं प्राज्ञे प्रवेष्टव्यात्' इति तनू । चिरन्तनश्चासावभ्यासश्च स एव निबन्धनं तेनेरिता प्रेरिता । मतिः बुद्धिः । गुणेषु सम्यग्ज्ञानादिसहभाविपरिणामेव । दोषेषु च तद्विपरीतेषु च । च-शब्द समुच्चयार्थः । जायते उत्पद्यते । जर्जस्व प्रादुर्भावे लट् ॥ ७ ॥ गुणानित्यादि । गुणान् उपदिशन् उपदिशन्मुपदिशन् । 'सल्लङ्घ' इत्यादिना शन्प्रत्ययः । उपदेश कुर्वन् । सुजन मत्पुरुषः । प्रशंसया स्तुत्या । गुरुत्वबुद्ध्या गुरुत्वस्य महत्त्वस्य बुद्ध्या । यथैव नमस्यते नमस्क्रियते । 'नमो वरिवस्तपमः वयच्' । तथैव दोषान् दिशतः ब्रूवतः । खलस्य दुर्जनस्यापि प्रणिन्दया प्रगर्हया । मया कविना । अयम् एव अञ्जलि मङ्कलितहस्तः । 'नो युनावञ्जलि पुमान्' इत्यमरः । कृत क्रियते स्म कृतो विहितः ॥ ८ ॥ सुदुष्करमित्यादि । यन् चरितम् । गणाधिपोऽपि गणानां द्वादशानामधिपोऽपि गणाधिपोऽपि । सुदुष्करं सु मुत् २ वृत्तेन महता कष्टेन क्रियत इति तथोक्तम् । मनुते जानाति । वाग्देव्यपि मरस्वत्यपि । आत्मन स्वस्य । भारम् । अवैति बुध्यते । तत् अहंचरितम् अहंतश्चरितम् । विधिन्मु विधानुमिच्छ । 'मन्मिन्ना-' इत्यादिना^१ उ-प्रत्ययः । अल्पधीः अल्पार्थं यम्य सः, स्तोकबुद्धिरित्यर्थः । ध्रुव निश्चयम् । सता मत्पुरुषः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना कर्णे पठे । हास्यता हास्यस्य भावम् । न यास्यामि न गमिष्यामि । न इति न, अपि तु वास्याम्बेव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत

है और उसे श्रेष्ठ पुरुष कण्ठस्थ करते है ॥६॥ दूसरोसे गुण ग्रहण किये बिना मज्जनको और उनके दोषोका व्याख्यान किये बिना दुर्जनको चेत नही पडती । इसका एक मात्र कारण है अपना-अपना चिरन्तन अभ्यास, जिसमे प्रेरित होकर मानव (सज्जन और दुर्जन) की मति गुणों या दोषोकी ओर झुकती है ॥७॥ सज्जन दूसरोके सदगुणोकी—उनकी कृतिकी—प्रशंसा करता है और उनके ग्रहण करनेका उपदेश भी देता है, अतः लोग उसे अपना गुरु मानकर नमस्कार करते है । इसी प्रकार दुर्जन दूसरोके दोषोकी—उनकी कृतिकी—निन्दा करता हुआ उनको प्रख्यात करता है, अतः मे उसे भी हाथ जोड़ता हूँ ॥८॥ अरहत भगवान्के जिस चरितको चार ज्ञानके धारी, स्वयं गणघर भगवान् भी कठिन मानते है और जिसे भगवती सरस्वती देवी (तीर्थंकरकी वाणी) भी अपना बोझा समझती है, अर्थात् अपरिमित होनेसे जिसका वर्ण, पद व वाक्योंके द्वारा पूर्णतया वर्णन नही किया जा सकता है, उसोको लिखनेके लिए मे मन्द बुद्धि होकर भी प्रवृत्त हुआ हूँ । अतः सत्पुरुषोके सामने परिहास योग्य नही बनूँगा, यह कभी नही हो सकता—निश्चित ही उनकी हँसीका भाजन बनूँगा ॥ ९ ॥

१ श स 'विहित' नास्ति । २ श स सुदुष्करमिति । ३ श स सन्निवेत्यादिना ।

तथापि तस्मिन् गुरुसेतुबाह्विते सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे ।
 यथात्मशक्तिं प्रयतोऽस्मि पोतकः पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥१०॥
 अथास्ति शृङ्गोलिलस्त्रितामरालयो द्विपूरणद्वीपगतो गभस्तिभिः ।
 स्रजज्वमेघां कलमाप्रपिङ्गलैस्तडिच्छिद्यं व्योमनि पूर्वमन्दरः ॥११॥
 विभूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मन श्रिया स्थितो नाकिनिवाससन्निभः ।
 समस्ति देशो भुवि मङ्गलावतीत्यभिख्याया यः प्रथितोऽर्थयुक्तया ॥ १२ ॥

॥ १. ॥ तथेत्यादि । तथापि हास्यगमनप्रकारेणापि [प्रकारेऽपि] । सुदुष्प्रवेशेऽपि सुदृष्टं न मन्यता कन्द्रेत प्रवेशनीयेऽपि । गुरुसेतुबाह्विते गुरवो गणधरादयः त एव सेतुस्तेन बाह्विते प्रापिते । तस्मिन् पुराणसागरे पुराणमेव सागरं तस्मिन् । यथात्मशक्ति आत्मनः शक्तिस्तथोक्ता, आत्मशक्तिमन्तान्तरात् यथात्मशक्तिः । यूथाधिपतिप्रवर्तिते यथानामधिपतिगंजाधिप तेन प्रवर्तितं शोधितं तस्मिन् । पथि मार्गे । पोतक इव करिशावक इव । प्रयतः उद्यतः । अस्मि भवामि । उपमा ॥ १० ॥

अथेत्यादि । अथ पुराणप्रवेशानन्तरम् । शृङ्गोलिलस्त्रितामरालयः शृङ्गोलिलस्त्रितं गन्धर्वः मृगालयः स्वर्गो यस्यामी तथोक्तः, अत्युन्नतबाह्वित्यर्थः । द्विपूरणद्वीपगतं द्वयोः पूरणं द्वोप गच्छति स्म तथोक्तः, द्वितीयद्वीपस्य घातकीखण्डस्य मध्यगत इत्यर्थः । कलमाप्रपिङ्गलं कलमानां शालीनामशापि मञ्जरी, तानीव पिङ्गला सुवर्णवर्णा तैः । गभस्तिभिः किरणैः । अमेघा जलधररहितानि । व्यामनि आकाशे । तटिच्छिद्यं तटितो विद्युतः श्रिया संपत्तिम् । मृजन् मृजतीति मृजन् निर्मोषयन् । पृथग्-दरं पूर्वमन्दरं मेरुः । अस्ति वन्तते । असं भुवि लट् ॥११॥ विभूषयेत्यादि । य विषयः । आत्मनः स्वस्य । श्रिया पृथक्वत् पुरुषान् श्रयतीति श्रीः, तथा सपदा । तत्पूर्वविदेहं तस्य पूर्वमन्दरस्य पूर्वं पौरस्य विदेहं जनपदम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं पश्चात् किञ्चिदिति, अलङ्कृत्य । स्थित नाकिनिवासमनिभं नाकिना देवानां निवासस्य स्वर्गस्य सान्निभं समानं । अर्थयुक्तया अर्थन युक्ता तथा, सार्थकया । मङ्गलावतीत्यभिख्याया 'मङ्गलावती' इति अभिख्याया अभिधानेन । भुवि भूमौ । प्रथितं प्रतीतः । देशं विषयः । समस्ति गमयन् वन्तते । असं भुवि लट् ॥१२॥

यद्यपि मुझे अपने परिहासका पहलेसे ही भान हो गया है, किन्तु फिर भी जैसे सेतु (पुल) की सहायतासे समुद्रमें प्रवेश करना सरल हो जाता है, इसी तरह गुरु-परम्पराको कृपासे मुझे पुराण (उत्तरपुराण, जिसके आधारमें चन्द्रप्रभवचरित लिखा गया है) में प्रवेश करना सरल हो गया है । यह पुराण भी समुद्रमें किसी अशमें कम नहीं है, तो भी गुरुओंकी कृपासे अपनी प्रतिभा शक्तिके अनुसार इसमें प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । जैसे गजराजके द्वारा बनाये गये मार्गमें उसका बच्चा (पोतक) प्रवेश करनेके लिए उद्यत होता है ॥१०॥

अब यहाँसे कथाका प्रारम्भ होता है—दूसरे द्वीपका नाम घातकी खण्ड है । वहाँ पूर्व दिशामें जो मेरु पर्वत अवस्थित है, उसका शिखर स्वर्गको छूनेवाला—बहुत ऊँचा—है । उसका ऊपरी भाग सुनहरे रंगका है, अतः वह पकी धानकी बालों (मञ्जरी) के समान पीली किरणोंके द्वारा आकाशमें मेघोंके न रहनेपर भी बिजलीकी छटा दिखलाता है ॥११॥ उसके उस क्षेत्रमें—जिसका नाम पूर्व विदेह है—एक मङ्गलावती नामका देश है । मदा मङ्गलमय रहनेसे वह सार्थक नामवाला है । वह उस विदेहका भूषण है । वह अपनी श्री—विभूति और उत्कृष्ट शोभा—की दृष्टिसे स्वर्गके समान है । इसीलिए वह सारे भूमण्डलमें विख्यात है ॥१२॥

१ अ अधोस्ति । २ स प्रवेशनीयेऽपि । ३ श स अस्मिन् । ४ आ लोभितः । ५ आ श स प्रवेशानन्तरे ।

निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः समानसस्याङ्कुरसंचयैश्चिताः ।

जनस्य चेतांसि हरन्ति भूमयो हरिर्मणिश्रानविनिर्मिता इव ॥१३॥

निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिर्विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितैः ।

च्युतैर्निरालम्बतया विहायसो विभाति खण्डैरिव यः सरोवरैः ॥१४॥

निशासु शीतांशुमणिस्थलच्युतैः पयःप्रवाहैः परिपूरितान्तराः ।

बहन्ति यस्मिञ्जलराशियोपितो निदाघकालेष्वपि कूलमुद्रजाः ॥१५॥

निरन्तरैरित्यादि । यत्र यस्या मङ्गलावत्याम् । निरन्तरं अन्तराभिर्गतं, निरवकाशैरित्यर्थः । शुकाङ्गकोमलैः शुकानामङ्गलानीव कोमलैर्मृदुलैः । समानसस्याङ्कुरसंचये समानानां सस्यानाम् अङ्कुराणां संचयैः समूहैः । चिता चीयन्ते स्म चिताः, व्याप्ताः । भूमयः भूयः । हरिर्मणिश्रानविनिर्मिता इव हरिता मणीनां मरकत-रत्नानां श्रानेन समूहेन विनिर्मिताः । मृष्टा इव । जनस्य लोकस्य । चेतांसि चित्तानि । हरन्ति अपहरन्ति । हृज् हरणे लट् । उपप्रेक्षा ॥१३॥ निशाकरेत्यादि । यः देवः । निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिः निशाकरस्य चन्द्रस्य अशुना प्रकरं समूह इव अच्छानि निर्मलानि वारीणि जलानि येषां तैः । विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितैः विनिद्राणां विकसितानां नीलोत्पलानाम् उन्दोवराणां रश्मिभिः कान्तिभ्यो रञ्जितैर्विम्बितैः (नीलवर्णोक्तैः) । सरोवरैः महासरोभिः । निरालम्बतया आलम्बवान् [आलम्बात्] निर्गतं निरालम्बं तस्य भाग्यं तया, आधाररहितत्वेनेत्यर्थः । च्युते च्यवन्ते स्म च्युता तैः, पतितः । विहायस गगनस्य । खण्डैरिव शकलैरिव । विभाति विराजते । भा दीप्ती लट् । उपप्रेक्षा ॥१४॥ निशास्वित्यादि । यस्मिन् देशे । निशासु रात्रिषु । शीतांशुमणिस्थलच्युतः शीतांशुमणः चन्द्रकान्तमणः स्थलान् प्रदेशान् च्युते पतितः । पयःप्रवाहैः पयसा सलिलानां प्रवाहैः । परिपूरितान्तराः परिपूर्यन्ते स्म परिपूरितम् अन्तरं मध्यप्रदेशो यासां ता । जलराशि-योपित जलराशेः समुद्रस्य योपितः स्त्रियो नद्य इत्यर्थः । निदाघकालेष्वपि^१ निदाघाश्च तं कालाश्च निदाघ-काला लक्षणैः, उष्णकालेष्वपि । कूलमुद्रजाः कूलम् उद्वज्ज्वाति कूलमुद्रजाः । 'कूलादुद्वज्ज्वह' इति इव, 'लित्यह -' इत्यादिना अम् [मम्] । तटविदाग्ना सत्यः । बहन्ति स्ववन्ति । बहं प्रापण

वहाँ धान्यकी खेती प्रचुर मात्रामे होती है । वहाँकी भूमि उपजाऊ है । जब उसमें चारों ओर समान ऊँचाईवाले कोमल, इतने कोमल जितना कि तोतेका शरीर कोमल होता है, धान्यके अंकुर दृष्टिगोचर होते हैं, तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसमें हरे मणि जड़ दिये गये हो । इसीलिए वह देखनेवालोंके मनका बरबस हर लेती है—देखनेवाले वहाँसे भले ही चले जाँय, किन्तु उनका मन वहीं रुमा रह जाता है ॥१३॥ वहाँ जो बड़े-बड़े सरोवर हैं उनमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल जल भरा हुआ है और उसमें नील कमल खिले हुए हैं । उन कमलोंकी नीली प्रभासे सरोवरोंका जल नीला दिख रहा है । अतः वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आधार न रहनेसे टूटकर गिरे हुए आकाशके टुकड़े हो ॥१४॥ वहाँ जहाँ-तहाँ जो चन्द्रकान्त मणिमय भवन हैं उनसे रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होते ही जो जलका पूर बहने लगता है उसके प्रभावसे वहाँकी नदियोंके प्रवाह ग्रीष्मकालमें भी अपने दोनों

१. वा स निरालम्बन । २. आ येषा । ३. वा य निदाघकालेष्वपि । ४. वा स मट् । ५. आ बहिः प्रापणे ।

सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया कृताधिवासो धनधान्यसंपदा ।
 इतीव यस्मिन् बिहृताभ्यस्यया न जातु लोको विपदा विलोक्यते ॥१६॥
 विकासवद्भिः शरदभ्रपाण्डुरैः सितातपत्रैरिव यः प्रसारितैः ।
 नमस्तवेशाधिपतित्वमात्मनो व्यनक्ति लोके स्थलनीरजाकरैः ॥१७॥
 समुज्ज्वलाभिः कनकादियोनिभिर्विकासिनीभिः खनिभिः समन्ततः ।
 कृतास्पदा यत्र जनहिहेतुभिर्यथार्थनामा वसुमत्यजायत ॥१८॥
 शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिर्बाहिः स्थितैर्नूतनधान्यराशिभिः ।
 विभान्ति यस्मिन्निगमाः कुतूहलादिवोपयातैः कुलमेदिनीधरैः ॥१९॥

लट् ॥१५॥ सदेत्यादि । यस्मिन् विदेहे^१ । अयम् एव मङ्गलावतीदेश । अस्मत्प्रतिपक्षभूतया अस्माकं प्रतिपक्ष-
 भूतया विरुद्धभूतया । धनधान्यमपदा धनानां धान्यानां मपदा मपस्या । मदा सर्वस्मिन् काले । कृताधिवासः
 कृतो बिहृतो अधिवास^२ स्थानं यस्यासौ^३ इति एव प्रकारेण । बिहृताभ्यस्यया बिहृतया कृतया अभ्यस्यया
 ईर्ष्येव यदा बिहृता अभ्यसूया यया मा तथोक्ता नया । विपदा विपस्या । लोक जन । जातु कदाचिदपि ।
 न विलोक्यते न वीक्ष्यते । लोका^४ दर्शनं कर्मणि लट् ॥१६॥ विकासवद्भिर्गम्यादि । य देश । विकासवद्भिः
 विकासोऽस्येषामिति विकासवन्तः ते विकसनयुवर्न । 'अस्यस्मिन्वेति मनु' इति मनु, 'मान्तोपात -'
 इत्यादिना मस्य व । शरदभ्रपाण्डुरैः शरदि शरत्काले प्रवर्तमानाम् अभ्र मेघ इव पाण्डुरा शुभ्राः तैः ।
 प्रसारितैः विसृतैः । स्थलनीरजाकरैः स्थले प्रवर्तमानानां नीरजानाम् आकरैः खनिभिः^५ सितातपत्रैरिव
 सितैः आनन्रैरिव इवेतच्छत्रैरिव । लोके जगति । आत्मन स्वस्य । समस्तदेशाधिपतित्वं समस्तानां देशानाम्
 अधिपतित्वं प्रभुत्वम् । व्यनक्ति व्यक्तीकरोति । अञ्जु यतिव्यक्तिप्रशङ्गेण लट् ॥१७॥ समुज्ज्वलामिरित्यादि ।
 यत्र देशो । जनहिहेतुभिः जनानाम् ऋद्धीनाम् ऐश्वर्याणां हेतुभिः कारणभूतैः । समुज्ज्वलाभिः प्रकाश-
 मानाभिः । कनकादियोनिभिः कनकादीनां योनिभिः उत्पत्तिस्थानैः । विकासिनीभिः विकसनशीलाभिः ।
 खनिभिः आकरैः । समन्ततः परितः कृतास्पदा कृतो बिहृता आस्पद^६ आश्रयो यस्या सा तथोक्ता । वसुमती
 वसु द्रव्यम् अस्या अस्तीति वसुमती । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्या सा यथार्थनामा यथार्थविधाना । अजायत
 जनैश्च प्रादुर्भावे लट् ॥१८॥ शिखेत्यादि । यस्मिन् देशे । शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिः शिखानाम् अघ्नानाम्
 आवल्या लोढः सखिलघ्नो घनाघनस्य मेघस्याध्वा मार्गो येषां तैः, अन्युद्वे इत्यर्थः । 'घनाघनो घनो मेघः'

किनारोंसे टकराते हुए बहा करते है ॥१५॥ यहाँकि लोगोंके पास सदा मेरी विरोधिनी (सौत)
 धन-धान्य-सम्पत्ति निवास करती है । अतः यहाँ मेरी दाल गलना कठिन है । मानो इसी
 सौतियाडाहके कारण विपत्ति वहाँकि किसी मनुष्यकी ओर देखतो तक न थी ॥१६॥ वहाँ जो
 शरत्कालीन मेघके समान धवल स्थलकमल खिले हुए है वे खुले हुए शुभ्रवर्ण छातोके समान
 दिखते हैं । अतः लगता है कि वह देश उनसे यह व्यक्त कर रहा है कि 'मे सभी देशोंका
 राजा हूँ' ॥१७॥ वहाँ चारों ओर जो निर्मल, स्वर्ण आदि धातुओंकी उत्पादक एवं लोगोंकी
 समृद्धिकी कारणभूत खानें फैली हुई थी उनसे वहाँकी वसुमती—भूमि—का वसुमती—धन-
 वाली—नाम सार्थक हो गया है ॥१८॥ उम देशके निकटवर्ती गाँवोंमें अन्न बहुतायतसे उत्पन्न
 होता है । उन गाँवोंके बाहर खलिहानोंमे मेघ मार्गको छूनेवाली—अनिशय ऊँची—जो नवीन

१. अ विकासिनीभिः, आ इ विकासिनीभिः । २. [मङ्गलावतीविषये] । ३. [यस्मिन्देशे] ।

४. स लोका । ५. [समूहः] । ६. [आस्पदम्] ।

गतेः समान्यसिन्धवेतरेतरश्रियामनन्यत्रभुवां विदुष्या ।
 निरन्तरोद्यानवितानराजितैर्महागृहैर्ग्रामपुरैर्विभाति यः ॥२०॥
 वणिक्पथस्तृपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नन्य रत्नसंचयम् ।
 पुरं यद्दालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समस्तवारणैः ॥२१॥
 गभीरनादैः प्रतिमानिपातिभिः पयोधरैर्मन्वसमीरणैरितैः ।
 जलेभ्यर्थैरिष्य संकुलान्तरा विराजते यत्परिखा प्रथीयसी ॥२२॥

इति घनत्रय । बहिः दिशेन बाह्यस्थिते । नूतनवाग्यराशिभिः नूतनाना नवीनाना धान्याना राशिभिः पुञ्जैः । कुतूहलात् कौतुकात् । उपयानैः उपगमनैः । कुलमेदिनोर्धरे कुलभूषणैरिष्य । निगमा भक्तग्रामा । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उपप्रेक्षा ॥१९॥ गतैरित्यादि । य. देशः । अनन्यत्रभुवाम् अन्यत्र भवन्तीत्यन्यत्रभुवा नामन्यत्रभुवोजनन्यत्रभुव तासाम् अन्यत्र ['त्रा'] संभूतानाम् । इतरेतरश्रियाम् इतरेतरस्य श्रिय तासाम् अन्योन्यमगमाम् । विदुष्या द्रष्टुं वाञ्छया । 'सन्निध्या—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । समामनि सामीप्यम् । गते यतोऽग्रे । निरन्तरोद्यानवितानराजिते निरन्तराणा निविडानाम् उद्यानानाम् आरामाणा वितानेन निबद्धेन राजिते । 'विम्बाग्रावमारकनुवृत्तभेदनुच्छमन्दसमाजेषु वितानम्' इति नानार्थकोशे । महागृहैः [महानि विशालानि गृहाणि भवनानि येषु तैस्तथोक्तैः] । ग्रामाश्च पुराणि च तैः ग्रामे पत्तनैश्च । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उपप्रेक्षा ॥ २० ॥ वणिक्पथेत्यादि । अथ देशवर्णनानन्तरम् । तस्मिन् देशे । यन् यस्मात् आलानिनमत्तवारणैः बन्धसम्भावितान् मत्तवारणा मत्तगजा येषां तैः । मत्तवारणं मत्तवारणेन मह बर्तन्त इति समस्तवारणा, तैः, उपपातकलकविशेषयुतैः । 'मत्तवारण-मिच्छन्ति दानविकल्मषकटिषु । महाप्रासादवीथीना वरणे चान्युपाश्रये' इति विद्व. । हर्म्ये धनिनिवासम् । विभाति विराजते । वणिक्पथस्तृपितरत्नसंचयं वणिजा पथिषु वणिक्पथेषु । 'वृक्षपू पथ्यपोऽन्' इति अत्र, स्फूर्तौ राशीकृतौ रत्नाना मंचयो यस्मिन् तत्तथोक्तम् । रत्नसंचयं नाम [रत्नसंचयनामकम्] । पुर पत्तनम् । ममस्ति प्रवर्तते । अस भुवि लट् । पादान्ययमकम् ॥२१॥ गभीरनादैरित्यादि । प्रथीयसी प्रकृष्टा पृथ्वी प्रथीयसी, अन्यन्त महती । 'गुणाङ्गाद्वैद्यमु' इति ईयमु । यत्परिखा यस्य पुरस्य परिखा स्वातिष्ठा । गभीरनादैः गभीरानां नादो येषां तैर्गभीरध्वनिसहितैः । प्रतिमानिपातिभिः प्रतिमा निपातयन्तीत्येवं अश्वकी ढेरियां लगी हुई हैं वे ऐसी प्रतीत होती है मानो उन गाँवोंकी शोभाके देखनेकी इच्छामे कौतूहलवश कुलाचल ही चले आये हो ॥१९॥ वहाँके निकटवर्ती ग्रामो और नगरोंमे अटूट सम्पत्ति है, ऐसी सम्पत्ति और कहीं सम्भव नहीं है । वे ग्राम-नगरादि मानो एक दूसरेकी इस सम्पत्तिके देखनेकी इच्छामे ही समीपताको प्राप्त हुए हैं । थोड़े-थोड़े अन्तरसे लगे हुए बाग-बगीचोंके समूहों और बड़े-बड़े महलोंसे उन ग्रामो और नगरोंकी शोभा देखते ही बनती है ॥२०॥ अब यहाँसे नगरका वर्णन प्रारम्भ होता है—उस देशमे एक रत्न संचय नामका नगर है । उस नगरके बाजागोमे रत्नोंकी ढेरियां लगायी जाती है । इससे उसका 'रत्नसंचय' यह सार्थक नाम ही ममक्षना चाहिए । वह पुर खम्भेसे बंधे हुए मत्तवारणो—हाथियों—और मत्तवारण सहित—छउजेवाले—बड़े-बड़े भवनोसे मुशोभित है ॥२१॥ मेघो और हाथियोंमें बड़ी समानता पाई जाती है । दोनोंका गर्जन एक-जैसा गम्भीर होता है । दोनोंकी विशाल छाया दृष्टिगोचर होती है । दोनों ही मन्त्रवायुसे प्रभावित होते हैं — मेघ उसी दिशाकी ओर जाते हैं, जिधर

१ श स यातं । २ रावसर । ३ [यत् पुर] । ४ आ कथासम्भावित्वा । ५. [बन्धसम्भावित्वाश्च ते मत्तवारणा मत्तगजा. तैः] । ६ श स राधितो । ७. [अतिशयेन पृथ्वी पृथीयसी] । ८. आ श स ईयम् ।

परीतशृङ्गः स्फुरदंशुजालकैर्निशासु नक्षत्रगणैः समन्ततः ।
 विभाति यस्मिन् परिधिः स्थिरप्रभैरिष प्रदीपप्रकरैः प्रबोधितैः ॥२३॥
 मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्मणा विलोक्यते यत्र घनाध्वमध्यगम् ।
 गृहैरिवाभ्रंलिहृष्टशृङ्गकोटिभिर्निघृष्टदेहच्छ्रवि चन्द्रमण्डलम् ॥२४॥
 मदाभमम्भो विसृजद्भिरुल्लसत्तडिल्लतालंकरणैरधोगतैः ।
 शरीरिणां गोपुरशृङ्गवर्तिनां चितन्यते यत्र गजभ्रमो घनैः ॥२५॥

शीलाः तैः प्रतिबिम्बप्रदानशीलैः । मन्दसमीरणैरितैः मन्देन समीरणेन वायुना ईरितैः प्रेरितैः । पयोधरैः मेघैः । ग्योमगतरिति शेषः । जलेभयूयैः जलगजानां समूहैः । संकुलान्तरेव संकुलं संघटितमन्तरं मध्यं यस्याः सेवः । विराजते विभाति । राज्ञः दीप्तौ लट् ॥ २२ ॥ परीतशृङ्गः इत्यादि । यस्मिन् पुरे । निशासु रात्रिषु । प्रबोधितैः प्रदीपितैः । स्थिरप्रभैः स्थिरा निश्चलाः प्रभाः कान्तयो येषां तैः । प्रदीपप्रकरैः प्रदीपानां प्रकरैः समूहैरिव । समन्ततः समन्तात् समन्ततः सर्वतः । स्फुरदंशुजालकैः स्फुरत्प्रज्वलदंशूनां किरणानां जालं समूहो येषां तैः । नक्षत्रगणैः नक्षत्राणां गणनिबहैः । परीतशृङ्गः परीतानि परिवेष्टितानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य सः । परिधिः प्राकारः । विभाति विराजते । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥ मलीमसमिथ्यादि^१ । यत्र पुरे । भृङ्गनिभेन भृङ्गस्य भ्रमरस्य निभेन समानेन । उभया । लक्ष्मणा विह्वेन । मलीमसम् मलम्^२ । स्यात्तीति मलीमसम् । 'मलादीमसद्व' इति ईमसः प्रत्ययः । 'मलीमसं तु मलिनम्' इत्यमरः । घनाध्वमध्यगम् घनाध्वन आकाशस्य मध्यं गच्छतीति मध्यगम् । 'गम' खलुङ्गाः^३ इति ड-प्रत्ययः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य^४ मण्डलं बिम्बम् । अभ्रंलिहृष्टशृङ्गकोटिभिः अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहानि तानि च तानि शृङ्गाणि च तथोक्तानि तेषां कोटयोऽग्रभागा येषां तैः । 'बहुभ्रान्तिहः' इति श्वः । 'खित्यश्च' इत्यादिना ममागमः । गृहैः मन्दिरैः । निघृष्टदेहच्छ्रवि निघृष्टा घृष्टा देहस्य छवि कान्तिर्यस्य तत्, तदिष्व । विलोक्यते लक्ष्यते । लोहृष्ट् दर्शने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ मदाभमिथ्यादि । यत्र पुरे । मदाभं मदजलाम् । अभ्रं सलिलम् । विसृजद्भिः विम्वद्भिः^५ । उल्लसत्तडिल्लतालङ्करणे उल्लसन्त्यो विभागस्य सङ्घिता लता एवालङ्करणं येषां तैः । अधोगतैः अधोपातैः । घनैः वारिवाहैः । गोपुरशृङ्गवर्तिनां गोपुरस्य पुरद्वारस्य शृङ्गे शिखरे वर्तिनां

उसका रख हो और हाथी उसीकी चाल (मन्दगति) से चलते है । अतएव मेघोंकी छाया पड़नेसे उस नगरकी विशाल परिक्षा (खाई) ऐसी जान पड़ती है मानो उसके बीचमें जल-गजोंका झुण्ड इकट्ठा हो गया हो ॥२२॥ उस नगरके चारों ओर विशाल परकोटा है । उसके उन्नत शिखरोंपर रात्रिके समय जब चारो ओरसे चमचमाते हुए नक्षत्र दृष्टिगोचर होते है तब ऐसा मालूम पड़ता है मानो वहाँ (शिखरोंपर) स्थिर प्रभाकी धारण करनेवाले दीपक जलाकर रख दिये गये हो । इस अवसरपर उस (परकोटे) की छवि देखते ही बनती है ॥२३॥ उस नगरमें रात्रिके समय आकाशके बीचसे जाते हुए चन्द्रमण्डलके भ्रमरके समान काले चिह्न-को देखकर ऐसा भान होता था कि मानो वहाँके गगनचुम्बी शिखरोंके अग्रभागवाले भवनोसे उसके शरीरकी कान्ति घिस गई है ॥२४॥ मेघों और हाथियोंमें अनेक दृष्टियोंसे बड़ी समानता है । मेघ मदजलके समान सुगन्धित जल बरसाते हैं व कौघती हुई बिजलीके आभूषणसे भूषित रहते हैं और हाथी भी सुगन्धित मदजल बरसाते हैं एवं बिजली सरीखे चमचमाते हुए सोनेके

१. म परीतशृङ्गः । २. अ 'युग्म' इत्युपलभ्यते । ३. वा स मलीमस इत्यादि । ४. [मलोऽस्या०] । ५. वा स 'गमः -' इत्यादि नास्ति । ६. आ 'चन्द्रस्य' नास्ति । ७. आ विसृष्टा । ८. आ लोहृष्ट दर्शने । ९. वा स विसृष्टाः ।

मुगन्धिनिःश्वासमरुन्मनोहरे मनोभुवापाण्डुनि कामिनीमुखे ।
 समापतन् राहुरिवेन्दुशङ्कया विलोक्यते यत्र मधुघ्नतम्रजः ॥२६॥
 निपातयन्ती तरले विलोचने सजीवचित्रासु निवासमितिष्ठ ।
 नवा वधूर्यत्र जनाभिश्ङ्कया न गाढमालिङ्गति जीवितेश्वरम् ॥२७॥
 शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकान् पतत्पयः सौधचयाद् विधूद्गमे ।
 शिखण्डिनां यत्र पयोदशङ्किनां तनोत्यकाण्डेऽपि विकसितारण्डवम् ॥२८॥

वर्तनशालानाम् । शरीरिणा शरीरमस्वेवामिनि शरीरिणस्तेषां प्राणिनाम् । गजभ्रम' गजा इति भ्रमः ।
 वित्तव्यते विस्तार्यते । तनु विस्तारं कर्मणि लट् । भ्रान्तिमान् ॥ २५ ॥ सुगन्धीत्यादि । यत्र पुरे । सुगन्धि-
 निश्वासमरुन्मनोहरे सु शोभनो गन्धो यस्य [स] सुगन्धिः, 'सूतूतिमुरमेकधाविद् गुणे' इति इत्, स
 वासो निश्वासश्च तस्य मरुद् वायु तेन मनोहर तस्मिन् । मनोभूवा पाण्डुनि^१ मनोभवेन मन्मथेन मन्मथ-
 क्रीडयेत्यर्थं आपाण्डुनि ईषच्छुषे । कामिनीमुखे कामिनीनां वनितायां मुखे । मधुघ्नतम्रजः मधुघ्नतानां
 भ्रमराणां तम्रजः समूहः । इन्दुशङ्कया इन्दुरिति चन्द्र इति शङ्कया सदेहेन । समापतन् समागच्छन् । राहुरिव
 राहुग्रह इव । विलोक्यते वीक्ष्यते । लोकाज् दर्शने कर्मणि लट् । भ्रान्तिग्रहप्रेक्षा च^२ ॥ २६ ॥ निपात-
 यन्तीत्यादि । यत्र पुरे । सजीवचित्रासु जीवचित्रैः सह वर्तन्त इति तपोक्ताः तामु भावचित्रमहितासु ।
 निवासमिति पुर निवासस्य गृहस्य भित्तिषु कुक्ष्येषु । तरले चञ्चले । विलोचने नयने । निपातयन्ती श्वापार-
 यन्ती । नवा नवोडा । वधू नारी । जनाभिश्ङ्कया जना वर्तन्त इत्यभिश्ङ्कया सदेहेन । जीवितेश्वरं
 प्राणकान्तम्^३ । गाढम् दृढम् । न आलिङ्गति आलिङ्गनं न करोति । लिङ्गु मनो लट् ॥ २७ ॥
 शशाङ्केत्यादि । यत्र पुरे । विधूद्गमे विधोश्चन्द्रस्योद्गम उदय तस्मिन् । शशाङ्ककान्ताश्ममयो-
 र्ध्वभूमिकात् शशाङ्ककान्तश्चासावस्मा च शशाङ्ककान्तास्मा चन्द्रकान्तशिखान्तस्य विकारा
 शशाङ्ककान्ताश्ममया^४, ऊर्ध्वं चान्ती भूमिश्च तपोक्ता शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिर्यस्य तस्मात् । सौधचयान्
 सौधानां चय तस्मात् । पतत्पयः खवद्वरकम् । अकाण्डेऽपि अकालेऽपि । 'काण्डोऽश्वो दण्डबाणावैवर्णावमर-
 वाणिषु' इत्यमरः । पयोऽशङ्किना पयोदो मेष इति शङ्किना शिखण्डिना शिखण्डो-
 ऽस्त्येषामिति शिखण्डिनः । तेषां मयूगणाम् । विकसिताण्डवम्, विकसितमनोहरं^५ तारण्डवमनम् । तनोति
 आभूषणं पहनते है । फलन उस नगरके प्रमुख द्वारके शिखरपर जो भी मनुष्य पहुँचने हे,
 उन्हें नीचे घुमडने हुए मेघोंमें हाथियोंका भ्रम हो जाता है ॥२५॥ वहाँ अत्यन्त सुन्दर स्त्रियाँ
 निवास करती है । उनके गोरे मुखमण्डलको कामदेवने और भी अधिक गोरा कर दिया है ।
 उनके श्वासवायुमें मनको हरनेवाली मुगन्धि निकलती है । फलत उनके मुखमण्डलपर जो
 भौरीका झण्ड गिरता है, उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो वह उनके उस मुखमण्डलको
 पूर्णमासीका चन्द्रमण्डल समझकर ही उसपर गिर रहा है ॥२६॥ वहाँकी चित्रकला और महलों-
 की सजावट दर्शनीय है । उन महलोंकी दीवारोंपर जो मनुष्य आदि प्राणियोंके अनेक चित्र
 बने हुए है वे सब-के-सब सजीव जान पड़ते है । ऐसी अवस्थामे पहली बार आई हुई बहू
 उन्हें अपनी चंचल दृष्टिसे देखकर वहाँ अन्य लोगोंकी उपस्थितिके भ्रममें पड़ जाती है अत एव
 वह अपने पतिके साथ गाढ आलिंगन नहीं करती ॥ २७ ॥ वहाँके महल बहुत ऊँचे हैं । उनकी
 छतों पर चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए है । अतः चन्द्रोदय होते ही उनसे पानी धरने लगता है ।

१. अ आ इ विकसित । २. = यत्र मुख-चन्द्रयोः कास्मिन्मत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे
 विशेष इति भावः । ३. स स मनोभूवापाण्डुर । ४. आ 'व' नास्ति । ५. प्राणनाथम् । ६. अश्ममयी ।
 ७. [विकसित प्रोक्तुलवर्ह] ।

निशागमे सौधशिरोधरोहिणो वधूजनस्यामलगण्डमण्डलात् ।

अभिन्नदेशो विधुराननाम्बुजाद् विभज्यते यत्र कलङ्कुरेखया ॥२६॥

समुल्लसद्भिः शरद्वप्राण्डुभिर्ध्वजांशुकैर्यद्विनिवारितातपैः ।

गृहाग्रभागोल्लिखितस्य निर्मलैर्विभाति निर्मोकलवैरिवोष्णगोः ॥३०॥

विशालशालोपवनोपशोभिनः शिरःसमुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः ।

जिनालयाः सिंहसनाधमूर्तयो विभ्रान्ति यस्मिन् धरणीधरा इव ॥३१॥

विस्तारयति । उपप्रेक्षा ॥ २८ ॥ निशागम इत्यादि । यत्र पुरे । निशागमे निशाया रात्र्या आगमः तस्मिन् । सौधशिरोधरोहिण सौधानां हस्त्याणां शिरोऽग्रभागमधिरोहिण आरोहणशोलस्य । वधूजनस्य वनितालोकस्य अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यस्य तस्माद् विशुद्धकपोलतल्लयुतात् । आननाम्बुजात् वदनकमलात् । रूपकम् । अभिन्नदेशः अभिन्नो देशो यस्य सोऽविभक्तप्रदेशमुक्तः । विधुः चन्द्रः । कलङ्कुरेखया कलङ्कस्य लाञ्छनस्य रेखया लेखया । विभज्यते विभक्तं । भज सेवायां कर्ण लट् ॥ २९ ॥ समुल्लसद्भिः शिरः । समुल्लसद्भिः समुल्लसन्तीति समुल्लसन्तः । तैर्विराजमानैः । शतुप्रत्ययः । शरद्वप्राण्डुभिः शरदः । शरत्कालस्याध्रक्मेघवप्राण्डुभिः शुभ्रे । विनिवारितातपैः निरुद्धातपैः^१ । ध्वजांशुकैः ध्वजानां पताकानामशुकैर्वस्त्रैः । गृहाग्रभागोल्लिखितस्य गृहाणां सदनानामग्रभागैरुल्लिखितस्य विदारितस्य । उष्णगोः उष्णा तोष्णा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यस्य । 'स्वर्गेपुष्पावाग्बन्धदित्रेत्त्रघृणिभूजले । लक्षदृष्ट्या स्त्रिया पुंसि गौ' इत्यमरः । निर्मले शुभ्रे । निर्मोकलवैरिव कञ्बुकलेर्गैरिव । विभाति विराजते । भा दोष्ती लट् । उपप्रेक्षा ॥ ३० ॥ विशालेत्यादि । यस्मिन् पुरे । विशालशालोपवनोपशोभिन विशालाभ्यां^२ शालोपवनाभ्यां प्राकाराद्यानाभ्यानुपशोभिनः शोभनशालाः पक्षे शालाश्च तं शालाश्च शालशालाः विशिष्टा शालशाला विशालशाला विशालशालाश्चोपवनानि च विशालशालोपवनानि तैः शोभिनी विशिष्टसङ्घवृक्षैः समीपगतवनेश्च विराजमानाः । 'शालो हाले नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जगादपे । शाल पादपमात्रे स्यात्प्राकारे शिशुकद्रुमे' । इत्युभयत्रापि विद्वद् । शिरः समुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः शिरोभिः शिखरैः समुत्तम्भिता संख्या मेघानां जलधराणां पङ्क्तिर्वैद्यं तं तथोक्ताः । सिंहसनाधमूर्तयः सिंहैः मृगेन्द्रैः सनाधा सहिता मूर्तयः प्रतिमाः,

फलतः मयूरीको मेघका भ्रम हो जाता है । इसीलिये वे असमयमे ही—वर्षाका समय न रहने पर भी—अपने पिच्छको फैलाकर नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं ॥ २८ ॥ वहाँ को स्त्रियाँ चाँदनीका आनन्द लेनेके लिए रात्रिके समय महलोकी छतपर चली जाती है । वहाँ उनके निर्मल कपोल-मण्डलवाले मुखकमल और चन्द्रमण्डल एक ही प्रदेशमे पहुँच कर—ऊपर आकाशमे स्थित होकर—समान दिखते हैं । तब उस अवस्थामे चन्द्रकी पहचान केवल उसके कलककी रेखासे ही हो पाती है ॥ २९ ॥ वहाँके महलोपर शरत्कालीन मेघके समान श्वेत ध्वजाओंके वस्त्र लहरा रहे हैं : वे धूपको रोकते हैं : वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वहाँके महलोके उन्नत शिखरोंसे घिसकर गिरे हुए सूर्यके स्वच्छ वस्त्रके टुकड़े ही हों ॥ ३० ॥ वहाँके जैन मन्दिर पर्वतोंके समान हैं—मन्दिरोंके चारों ओर विशाल चहार दीवारी खिची हुई है । उनके आस-पासमे अनेक उपवन हैं । उनमें अनेक प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं । उन (मन्दिरों) के शिखरोंपर मेघ विश्राम करते हैं । उनके अन्दर वेदियोंपर ऐसी मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिनका चिह्न सिंह है और उनके प्रवेश द्वारके ऊपर भी सिंहोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं ।

१. [उदात्तो भ्रान्तिमाश्च] । २ श स विरुद्धातपैः । आ अक्षदृष्टो । श स लक्ष्यदृष्टो ।

३. श स 'विशालाभ्यां' इत्यतः प्रारम्भ 'तैः शोभिनां' पर्यन्तं संदर्भो नोपलभ्यते । ४. श स शंखकद्रुमे ।

मदेन योगो द्विरक्षेपु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता ।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुक्षेषु यस्मिन् करपोडनानि च ॥३२॥
द्विजिह्वता यत्र परं फणाभूतां कुलेषु चिन्तापरता च योगिषु ।
नितम्बनीनामुदरेषु केवलं दरिद्रतौष्ठेष्वधरत्वसंभवः ॥३३॥

पक्षे मूतिः स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । 'मूतिः काष्ठिन्याययो' इत्यमरः । जिनालयाः चैत्यालयाः । धरणी-
धरा इव पर्वता इव । विभान्ति विराजन्ते । इलेपोपमालङ्कारः ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् पुरे ।
मदेन गर्वणे । 'मदो रेतसि कस्तूरी गर्वे हर्षभदानयो । मद्येऽपि मद आस्वातो मुदि कुतकवस्तुनि ।'
इति विश्वः । योगः संबन्धः । केवलं परम् । द्विरक्षेपु गजेषु विलोक्यते दृश्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । सोपसर्गता
उपसर्गसहितत्वं, पक्षे प्राद्युपसर्गयुतत्वं क्रियाधनस्यादि (?) 'उपसर्गं स्मृतो रोगे विष्णोपप्लव्योरपि'
इति विश्वः । धातुषु धातुपाठेषु विलोक्यते । निपातनक्रिया निपातनस्य नाशनस्य क्रिया कार्याणि, पक्षे
'लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं निपातनम्' इति वचनात् तेषां व्यापारः । शब्देषु शब्दशास्त्रेषु भवन्ति ।
करपोडनानि च करस्य सिद्धावस्य, पक्षे करयोर्हस्तयोः पोडनानि बाधनानि च । 'बलिहस्तांशत्रः करा'
इत्यमरः । कुक्षेषु स्तनेषु भवन्ति, नान्यत्र । परिमर्यालङ्कारः ॥ ३२ ॥ द्विजिह्वनेत्यादि । यत्र पुरे ।
द्विजिह्वता द्विजिह्वस्य भावः सूचकत्वं, पक्षे मर्गत्यम् । 'द्विजिह्वो सर्पसूचको' इत्यमरः । परं केवलम् ।
फणाभूता संप्रियाम् । कुलेषु समूहेषु, नान्यत्र । चिन्तापरता उद्वेगपरत्वं, पक्षे ध्याननतत्परत्वम् । योगिषु
मुनीश्वरेषु । दरिद्रता दरिद्रत्व, पक्षे अमासलम्बम् । केवलं परम् । नितम्बनीनाम् वनितानाम् । उदरेषु
गर्भेषु । अधरत्वसंभवः अधरत्वस्य हीनत्वस्य, पक्षे रदनच्छदत्वस्य गभबोऽस्तित्वम् । 'अधरो दन्तवसन-
शून्वं हाने धरोऽप्यवत् ।' इति विश्वः । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु सन्नर्तते, नान्यत्रेति । इयमपि परिमर्या

इसी तरह पर्वत भी बड़े-बड़े सर्ज वृक्षोंके उपवनोसे विभूषित है । उनके शिखर मेघोंको विश्राम
देते हैं । उनकी गुफाओमें सिंह निवास करते हैं । वहाँके जिनालयो और वहाँके पर्वतोंकी शोभा
एक सी है ॥ ३१ ॥ वहाँ मद-मदजलका सम्बन्ध केवल जवान हाथियोमें ही दृष्टि-गोचर
होता है; वहाँके निवासियोमें मद—धमण्डका सम्बन्ध नहीं है—वे अहंकारी नहीं हैं । केवल 'भू'
आदि धातुओंमें ही 'प्र' आदि वाईम उपसर्गोंका सम्बन्ध देखा जाता है; वहाँके निवासियोके
ऊपर किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । केवल शब्द—शब्दशास्त्र व्याकरणमें ही निपातनसे
सिद्धि होती है; वहाँके निवासियोमें एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टा नहीं देखी जाती । केवल स्त्रियो-
के स्तनोमें ही उनके पतियोंके द्वारा करमर्दन होता है; वहाँके निवासियोको टंकसकी बाधा नहीं
है—इतना टंक नहीं देना पड़ता, जिससे उन्हें पीड़ा हो ॥ ३२ ॥ केवल सपोंके कुलमें ही दो
जीभें पाई जाती हैं; वहाँके निवासियोमें दो जीभें नहीं हैं—प्रत्यक्षमें एक और परोक्षमें दूसरी—
वे चुगलखोर नहीं हैं । केवल योगियोमें ही ध्यानकी तत्परता दृष्टिगोचर होती है, वहाँके
निवासियोंको किसी बातकी चिन्ता नहीं है । केवल स्त्रियोके उदरमें ही कृशता देखी जाती
है; वहाँके निवासियोमें दरिद्रता—गरीबी नहीं है । केवल स्त्रियोंके नोचके होठमें ही 'अधर'
शब्दका प्रयोग होता है; वहाँके निवासियोंमें कोई अधर—नोच नहीं है ॥ ३३ ॥

१. [द्विरक्षेपौ मदजलेन] । २. श स अमासत्वम् । ३ [जठरेषु] । ४. श स नाप्यत्रेति
परिसंख्या ।

विभ्रान्तिं यस्मिन् बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धमिच्छीनि गृहाणि सर्वतः ।
 निजेषु लीनानि दधत्सु वीप्रतां पतङ्गसंतापमिव धामसु ॥३४॥
 स न प्रदेशोऽस्ति न यो जनाकुलो जनोंऽप्यसौ नास्ति न यो धनेश्वरः ।
 धनं न तद् भोगसमन्वितं न यच्च यच्च भोगोऽपि स यो न संततः ॥३५॥
 विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुह्राणि योषिताम् ।
 मरुचलद्वीचिनि यच्च शीतले लुठन्ति तापादिव दीधिकाजले ॥३६॥
 महागुणैरप्यगुणैर्मदोऽभिस्तरिपि प्रवृत्तप्रमदैर्महाजनैः ।
 अधिष्ठितं यत्प्रविभाति निर्भयैरपि प्रकामं परलोकमीदृभिः ॥३७॥

॥ ३३ ॥ विभ्रान्तोत्पादि । यस्मिन् पुरे । विविधोज्ज्वलोपलप्रणद्धमिच्छीनि विविधैर्नामाप्रकारैरुज्ज्वलै-
 दिव्यैरुपलै रत्नशिलाभिः प्रणद्धा निबद्धा भित्तयो येषां तानि । गृहाणि सदनानि । सर्वतः समन्ततः ।
 दीप्रताम् प्रकाशनशोभताम्^१ । 'नमस्कम्बजस्कम्बस्मिहिसदीपो रः' इति र-प्रत्ययः । दधत्सु धरत्सु ।
 निजेषु स्वकीयेषु । धामसु कान्तिषु । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । पतङ्गसंतापमिव पतङ्गस्य
 सूर्यस्य संतापाज्जातया^२ भियां भोत्या^३ । 'पञ्चमी भयादिभिः' इति पञ्चमी । 'पतङ्गो पक्षिसूर्यो च'
 इत्यमरः । लीनानि स्थगितानोव^४ । विभ्रान्तिं विराजन्ते । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । यः
 प्रदेशः । जनाकुलः लोकसंकीर्णः । न-न भवति । स प्रदेशः । न अस्ति न विद्यते । यः जनोऽपि लोको-
 ऽपि । धनेश्वर इत्यपि । न-न भवति । असौ जनोऽपि । नास्ति न विद्यते । यत् धनम् । भोगसमन्वितं
 भोगसंयुतम्^५ । न-न संभवति । तत् धनम् । न-न संभवति^६ । यः भोगोऽपि । सन्ततः शाश्वतः ।
 न-न भवति । स भोगः । न-न विद्यते । एकावत्यलंकारः ॥ ३५ ॥ विलुप्तशोभानोत्पादि । यत्र
 पुरे । योषितां वनितानाम् । विलोचनोत्पलैः विलोचनानि एव उत्पलानि तैः । विलुप्तशोभानि विलुप्ता
 अपहृता शोभा येषां तानि तपोक्षतानि । सितेतराणि सितस्य^७ इतराणि सितेतराणि । अम्बुह्राणि अम्बुनि
 रुदन्तीत्यम्बुह्राणि, नीलोत्पलानि इत्यर्थः । मरुचलद्वीचिनि मरुता चलन्त्यो वीचयो यस्मिन् तस्मिन् ।
 शीतले दीधिकाजले दीधिकाया सरोवरस्य जले । तापादिव सतापादिव । लुठन्ति^८ । लुठि प्रतिघाते
 लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुंम् । महागुणैरपि महाभूतो गुणा येषां तैः सम्य-
 कवादिगुणयुक्तैरपि । अगुणैः गुणहीनैः, पक्षे न गुणा अगुणाः तैर्मुखे । [मूखे] । 'रूपादौ तत्पु-
 ज्यायामप्रधाने नये गुणः' इत्यभिधानात् । मदोऽभिस्तरिपि गर्वरहितैरपि । प्रवृत्तप्रमदैः प्रकृष्टो मदः प्रमदो
 महाहकारः, पक्षे प्रमदः संतोषः, प्रवृत्तो निष्पन्नः प्रमदो येषां तैः । निर्भयैरपि सत्प्रभवरहितैरपि ।

वहाँके भवनोंकी भित्तिर्यां बहुत प्रकारके उज्ज्वल—चमकीले—पाषाणोंसे निर्मित थी । इसलिये वे
 दिनमें खूब चमकते हैं । उनका तेज इतना अधिक है कि उसमें वे स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होते । अतः
 एव ऐसा जान पड़ता है मानो वे सूर्यकी तेज धूपके भयसे अपने धाम—तेज—में छिप रहे हैं
 ॥३४॥ वहाँ ऐसा कोई प्रदेश (मुहल्ला) नहीं जो मनुष्योंसे व्याप्त न हो; ऐसा कोई मनुष्य भी
 नहीं, जो धनकुबेर न हो; ऐसा धन भी नहीं, जो भोगमें न आता हो; और ऐसा कोई भोग भी
 नहीं, जो निरन्तर उपलब्ध न हो ॥३५॥ वहाँकी स्त्रियोंके नेत्र-कमलोंने नील कमलोंकी शोभाको
 लुप्त कर दिया है—जोत लिया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजयजनित सन्तापके
 कारण ही मानो वे दीधिकाओं (जलाशयों) के भीतर वायुके वेगसे लहराते हुए शीतल जलमें
 इधर-उधर लोट रहे हैं ॥ ३६ ॥ उस नगरकी शोभा जिन महान् पुरुषोंसे है, वे सम्यग्दर्शन

१. श स प्रकाशशोभता । २. श स 'सन्तापाज्जातया' नास्ति । ३. आ 'भिया' नास्ति । ४. [तिरो-
 हितानोव] । ५. आ भोगैः संयुतं । ६. श न विद्यते । ७. [सितेभ्यः] । ८. = लुठन्ति प्रकम्पन्ते ।

स यत्र दोषः परमेव वेदिकाशिरःशिक्षाशायिनि मानभञ्जने ।
 पतत्कुले कृजति यत्र ज्ञानने रसं स्वकान्तानुनयस्य कामिनः ॥३८॥
 अथाभवद् भूमिगुणैरलंकृतो नरेश्वरस्तस्य पुरस्य शसिता ।
 न केनचिद्यस्तुलितद्युतिस्तथाप्युवाह रुढया कनकप्रभाभिधाम् ॥३९॥
 यशोभिरेणाङ्गकलासमुज्ज्वलैः पुरः प्रयतैरिव पुग्नान्तरे ।
 विधूपितारतिकुलानि भूतले न यस्य तेजसि ममुर्महौजसः ॥४०॥

परलोकभोक्तिम्. परलोकेभ्यः शत्रुलोकेभ्यः, पक्षे परलोकेभ्यो जन्मान्तरेभ्यो भास्विभयवाकितं महाजनैः सत्सुखं । प्रकाम ययेष्टम् । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रविभाति प्रविशजते । भा दोषो लट् । विरोधः । ॥ ३७ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । वेदिकाशिर सिखाशायिने वेदिकाया शिरसः । पुनोभास्य शिक्षाया-मश्रमाये शायिनि स्वायिनि । मानभञ्जने मानं सर्वं भनवतीति मानभञ्जनं तस्मिन् सर्ववमर्दनं । पतत्कुले पतता पतिना कुले समूहे । कृजति ध्वनति सति । कामिन कामका । स्वकान्तानुनयस्य स्वेषा कामाना प्राणनायिकानाम् । अनुनयस्य प्रार्थनाया । रस स्वादम् । यत् यस्माद्धेता । न जानते न बुध्यन्ते । शा अवबोधने लट् । यत्तदन्तिर्यसंबन्धादिति नानो हेता । म अस्मज्जातुप्राणो गुण । परमेव केवलमेव । दोषः स्यान्नापरो भवेत् । तद्ध्वनिः ततोऽप्यधिक (?) इति भावः ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि । अथ पुरवर्णनानन्तरम् । य. राजा । केनचित् चेतनाचेतनद्वयेण । नृनिस्तद्युति तुलित उपमिता कृति. कामिर्यस्य सः । न—न भवति । तथापि कनकप्रभाभिधा कनकप्रभ इत्यभिधाम् अभिधानम् । रुढया प्रतीया । उवाह दधौ । वह प्रापणे लिटि । भूमिगुणं भूमिनिबहुलैर्गुणैर्नय-प्रतापादिभिः । अलंकृत भूषित । स नरेश्वर नराणामाधरो नरपति । तस्य पुरस्य रसमयपुरस्य । शसिता रक्षक । अभवन् अभून् । भू सत्ताया लट् ॥ ३९ ॥ यशोभिरेत्यादि । एणाङ्गकलाममुज्ज्वलैः पण्डितस्य चन्द्रस्य कला इव समुज्ज्वलैः प्रकाशमानं । पुर प्रयतैरिव अन्धे धावद्भिर्गवः । यशोभिः कामिभिः । पुग्नान्तरे पूरित परिपूर्णम् अन्तरं मध्यं यद् यत्तस्मिन् । भूतले भूमिप्रदेशे । महौजस्य महापराक्रमस्य । यस्य राज्ञः । विधूपितारतिकुलानि विधूपितानि सतापितानि अगतीना शत्रूणां कुलानि य तानि । तेजसि पराक्रमा. न ममु.

आदि उत्तम गुणोसे विभूषित है; मुख्य है, अरहत या विष्णुके समान गुणो है; मद रहित है; सदा हर्ष मनाते है, निर्भय है और कभी किसीसे शत्रुना नहीं रखना चाहते ॥ ३७ ॥ वहाँ यदि कोई दोष है तो केवल यही कि वेदिकाके ऊपरी भागमें सोनेवाले पक्षी, जो अव्यक्त मधुर ध्वनि—कलकल शब्द—करते है उसे सुनते ही मानवतो नायिकोका मान गलित हो जाता है । फलतः उनके साथ अनुनय करनेसे जो रस मिल सकता है, उससे उनके कामक्रोडाके इच्छुक पतिदेव सर्वथा वंचित रह जाते है—उसके अनुभवका उन्हे अवसर प्राप्त हो नहीं होता ॥ ३८ ॥

अब आगे उस पुरके राजाका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस नगरका शासक—राजा अनेक गुणोसे विभूषित था । उसके शरीरको आसाधारण कान्तिके लिए यद्यपि किसी मुवर्णादिकी उपमा नहीं दी जा सकती थी, फिर भी वह रुढिवश कनकप्रभ—सुवर्ण—जैसी कान्तिवाला इस नामको धारण करता था—उसका नाम कनकप्रभ था ॥ ३९ ॥ वह वडा बलवान था । उसका यश चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल था—जो पहलेसे ही पृथ्वीको व्याप्त कर चुका था—उसका पराक्रम प्रसिद्ध हो चुका था । मानो इसीलिए शत्रुओको सन्ताप देनेवाला उसका

१ [प्रणयिनोनाम्] । २ आ तद्दर्शनान्तरे । ३ आ वहि प्रापणे लिटि । ४ [कलामिः] । ५ आ प्रधूपितानि वा स प्रधूपितानि ।

प्रयासमुच्चैःकटकेषु भूभृतां गणेषु संचारवशाद्वाप या ।

बभूव भीतेव ततः पुनश्चिरं स्थिरा जयश्रीरधिगम्य यद्भुजम् ॥४१॥

अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो जनाश्रयः स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः ।

श्रिया सनाथः पुरुषोत्तमोऽप्यभून्न यो वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः ॥४२॥

गरीयसा यस्य परार्थसंपदो निसर्गजत्यागगुणेन निजितैः ।

शुचेव कल्पोपपदैर्महोरहैर्दधे नितान्तं विमनस्कवृत्तिता ॥४३॥

न प्रमान्ति स्म । मा माने लिट् ॥ ४० ॥ प्रयासमित्यादि । या जयलक्ष्मीः उच्चैःकटकेषु उच्चैर्महत् कटकं सेना, पक्षे सानु येवा तेषु । 'कटकं बलये सानो राजधानीनितम्बयो' इति विश्वः । भूभृता भूपतीनाम्, पक्षे पर्वतानाम् । 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमरः । गणेषु समवायेषु । इत्येव । संचारवशात् पर्वतनवशात् । प्रयासं परिश्रमम् । अवाप प्राप । पुनः भूयः । ततः संचारवगतः । भीतेव तस्तेव । जयश्री जयलक्ष्मीः । यद्-भुजम्, यस्य कनकप्रभस्य भुजं बाहुम् । अधिगम्य प्राप्य । चिरं दीर्घकालम् । स्थिरा निदबला । बभूव बभूति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ४१ ॥ अचिन्त्येत्यादि । य भूप । अचिन्त्यमाहात्म्यगुणः अचिन्त्यम् अगण्य^१ माहात्म्यं महिमा, पक्षे व्यपगता(?) नदेव गुणः सहभावपरिणामो यस्य स । जनाश्रयः जनानाम् आश्रयः शरण्य-भूतः, पक्षे जनार्दनत्वात् जगत्सुखहेतुरित्यर्थः । स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेण, पक्षे विशिष्ट क्रमो विक्रमो विक्रियद्विप्राप्तदवरणः, तेन आक्रान्तं व्याप्तं समस्तं विष्टं लोको यस्य सः । श्रिया मपदा, पक्षे लक्ष्म्या । सनाथ युक्तः । पुरुषोत्तमोऽपि पुरुषेषु उत्तमोऽपि श्रेष्ठोऽपि, विष्णुरपि । वृषोच्छेद-विधायिचेष्टितं वृषस्य धर्मस्य, पक्षे वृष इति अरिष्टामुगम्य [रयो] उच्छेदविधायि नाशकारि चेष्टितं व्यापारो यस्य स । 'श्रेष्ठशमकमीरभेयधर्मराशिभेदपुरुषेषु वृषः' इति नानार्थकोशे । नाभृत् नाभवत् । भू सत्ताया लुट् ॥ ४२ ॥ गरीयसेत्यादि । परार्थसंपदः परार्थं परनिमित्तं संपदः यस्य तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । गरीयसा प्रकृष्टो गुणगरोयान् तेन । 'गुणाङ्गाद्वेष्टेयसू' इति ईयमु । 'त्रियस्त्रिपरः' इत्यादिना गुणशब्दस्य गरा-

प्रताप पृथ्वीतल पर समा नहो रहा था—ऊपर और नीचे भी चला गया ॥ ४० ॥ बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखनेवाले अनेक राजा महाराजाओंके पास बारी-बारीसे जानेके कारण विजयलक्ष्मी बहुत थक चुकी थी । मानो इसीलिए वह कनकप्रभकी भुजाका आश्रय पाकर वही स्थिर होकर बस गई । भूभृत् शब्दका अर्थ राजा और पर्वत तथा कटक शब्दका अर्थ शिविर (छावनी) और नितम्ब भाग भी होता है । इससे यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वह विजय लक्ष्मी मानो पर्वतोंके नितम्ब भागमें भटकते रहनेसे चूँकि अत्यन्त थक चुकी थी, इसीलिये वह उस राजाकी प्रबल भुजाको पाकर वही स्थिर हो गई थी ॥ ४१ ॥ विष्णुकी महिमा अचिन्त्य थी । वे मानवमात्रके आश्रयदाता थे । उन्होंने वामनावतारमें तीन कदममें सारी भूमि माप ली थी । वे श्री—लक्ष्मीके पति थे और वे पुरुषोत्तम कहलाते थे । इसी तरह महाराज कनकप्रभकी भी महिमा अचिन्त्य थी । वह शरणागतका रक्षक था । उसका पराक्रम सारे संसार में फैला हुआ था । वह श्री—सम्पत्तिका स्वामी था और पुरुषोंमें उत्तम (विष्णु) था । यों वह और विष्णु दोनों समान थे । किन्तु विष्णुने वृष—वृषासुर (धर्म या बैल) का उच्छेद—विनाश या वध कर डाला था, जब कि कनकप्रभने वृष—असुर (धर्म या बैल) के उच्छेद—विनाश या वधके लिए कभी कोई चेष्टा नहीं की ॥ ४२ ॥ वह बड़ा उदार था । उसकी सारी सम्पत्ति

१. अ परार्थसंपदा । २. आ शिल्लः । ३ [मनोज्ञोच्चरम्] । ४. [महत्त्वगुणः — सर्वव्यापकता] ।

५. [येन] । ६ आ 'विष्णुरपि' नास्ति । ७. [अतिशयेन] ।

कलासमग्रोऽपि जनाभिनन्द्यपि श्रियं दधानोऽन्यभिभूतविष्टयाम् ।
 प्रदोषसंसर्गितया यमुज्ज्वलं शशाक जेतुं न कुरङ्गलाञ्छनः ॥४४॥
 कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्तिना यशोभिराशाः शरदभ्रविभ्रमः ।
 वपुर्गुरौर्यः श्रवणेन शेमुषी विशेषयामास जगद्विशेषकः ॥४५॥

देशः । निसर्गजत्यागुणेन निसर्गजेन स्वभावजनितेन त्यागगुणेन चितरणगुणेन । निजितं पराजितं ।
 कलरोपपदे कल्प एवोपपद येषां ते । महीवहैः वृक्षैः, कल्पवृक्षैरित्यर्थः । शुचेव शोकेनेव । नितान्तम्
 अत्यन्तम् । विमनस्कवृत्तिना विनष्टं मनो यस्या सा विमनस्का सा वृत्तिर्येषां ते विमनस्कवृत्तयः तेषां
 भावः तथोक्ता मनोविहीनवर्तनत्वम् । दधे दध्ने । दुषाम् धारणे च कर्मणि लिट् ॥४३॥ कला-
 समग्रोऽपीत्यादि । कुरङ्गलाञ्छनः, मृगाङ्कः, चन्द्रः । कलासमग्रोऽपि कलाभिः षोडशभागैः समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि,
 पक्षे कलाभिः शिष्टपादिकौशलैः संपूर्णोऽपि । 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ' शिष्टादाववसामात्रके । षोडशांशे
 च चन्द्रस्य कलनां कालयोः कलाः ॥ इति विश्वः । जनाभिनन्द्यपि लोकपोषणशीलोऽपि, पक्षे जगदा-
 ह्लाद्यपि । अभिभूतविष्टयाम् अभिभूतं तिरस्कृतं विष्टपं यया ताम् । श्रियं शोभाम्, पक्षे संपत्तिम् ।
 दधानोऽपि धत्त इति दधानः । 'सल्लङ्—' इत्यादिना आनश-प्रत्ययः । प्रदोषमसर्गितया प्रदोषमप्य
 रजनीमुखस्य, पक्षे प्रकृष्टो दोषः । प्रदोष इति ध्वनिः । तस्य संसर्गितया संबन्धित्वेन । उज्ज्वलम् उत्तेजसम् ।
 यं कनकप्रभम् । जेतुं जयनाय । न शशाक समर्थो न बभूव । शक्यं शक्नोति लिट् ॥४४॥ कुलमिभ्यादि ।
 जगद्विशेषकं जगता विशेषको जगत्तिलक इत्यर्थः । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः । यः कनक-
 प्रभः । विशुद्धवृत्तिना विशुद्धया निर्मलरूपया वृत्त्या युक्तेन । चरित्रेण चारित्र्येण । कुलं गोत्रम् । विशेषयामास
 अलंषकारः । शिष्यु विशेषणे गिजन्तास्लिट् तद्योगे 'दयायास्क—' इत्यादिना अस भुवीति धातोर्योगः । शरदभ्र-
 विभ्रमे शरदः शरत्कालस्याभ्रस्यैव विभ्रमो येषां तैः, घूर्णं यथोभिः कोर्तिभिः । आशा दिशाः । विशेषया-
 मास । गुणैः शक्तित्रयादिभिः । वपुः शरीरम् । विशेषयामास । श्रवणेन शास्त्रेण । 'श्रवणं श्रुतिकर्णयो' इति

दूसरोके लिए थी । उसने अपने सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक दानगुणसे कल्पवृक्षोंको जीत लिया था ।
 इसी शोकसे मानो उन सबने अतिशय अचेतनाको—पृथिवीकायिकरूपताको—ग्रहण किया था
 ॥ ४३ ॥ वह समस्त (७२) कलाओंमें प्रवीण था, प्रजाको आनन्द देता था और उसके
 पास अपार सम्पत्ति थी यों चन्द्रमा भी समस्त (१६) कलाओंका स्वामी है, लोगोको आह्लाद
 प्रदान करता है और उत्कृष्ट शोभा व लक्ष्मीको धारण करता है । फिर भी वह चूँकि प्रदोष
 संसर्गितासे—रात्रिके समागम रूप दोषसे—दूषित है अतः वह कुरंगलाञ्छन—मृगले चिह्नसे
 उपलक्षित (कलंको) चन्द्रमा—उस उक्त प्रदोषसंसर्गिता दोषसे—अनेक निष्कृष्ट दोषोंके
 सम्बन्धरूप कलंकोसे रहित उस कनकप्रभको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥ ४४ ॥ वह
 समस्त जगत्का तिलक था । उसने पवित्र चरित्रसे अपने कुलको, धवल यशसे दिशाओंको,

१. अ क ल ग घ शशाकजेतुर्न आ इ शशाक जेतुं न । २. विगत मनो यस्यामो विमनस्कोऽचेतन-
 स्तस्य वृत्तिव्यापारस्तस्या भावस्ताम, अचेतनत्वमित्यर्थः । ३. आ मूलरैवृद्धा श स मूलरै वृद्धौ । ४. आ
 श स कलानां । ५. आ प्रकृष्टदोषः ।

न भूरिदानोऽपि मदेन संगतिं जगाम यः साधितशत्रुबद्धगुणः ।
 अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि वा द्विजिह्वसंसर्गतया न दूषितः ॥४६॥
 निजैः समस्तानामभूय धामभिः समुद्रतान् मण्डलिनोऽतिदुःसहैः ।
 चकार यो गामपि सर्वविष्टप्रतीतकीर्तिः करिणीं वसुंधराम् ॥४७॥
 नितान्तवृद्धेन कठोरवृत्तिना सनीतिना कञ्चुकिनेव तेजसा ।
 निरन्तरं यस्य विभोर्वधूरिष व्यधीयत श्रोत्रपलापि निश्चला ॥४८॥

विश्वः । योमूषीम् बुद्धिं च । विशेषयामास ॥४५॥ नेत्यादि । साधितशत्रुबद्धगुणः^१ साधिताः शत्रवः बद्धगुणाश्च येन स 'संधिर्ना विप्रदो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । बद्धगुणाः' इत्यमरः । यः कनकप्रभः । भूरिदानोऽपि भूरि बहुलं दानं वितरणं यस्य, बहुवितरणोऽपि, पक्षे बहुगर्वयुक्तोऽपि । 'त्यागव श्रमेदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम्' इति नाना-
 र्थकोषे । मदेन अहंकारेण । संगतिं संगमम् । न जगाम न गयो । गच्छत् गतो लिट् । अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि न हीना अहीना, तेना महतां संसर्गेण संपर्केण समन्वितोऽपि युक्तोऽपि, पक्षे अहीनाम् इतोहीन तस्य संपराजस्य-
 संसर्गमहिनोऽपि । द्विजिह्वसंसर्गतया द्विजिह्वस्य दुर्जनेस्य, पक्षे, संप्रत्य संसर्गतया^२ संपर्कयुक्तया [युक्त-
 तया] दूषितः निम्नः । न-न बभूव ॥४६॥ निजैरित्यादि । सर्वविष्टप्रतीतकीर्तिः सर्वेषु विष्टेषु प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य सः । यः कनकप्रभः । अन्यदुःसहैः अन्यैः इतरैः सोढुमशक्यैः । निजैः स्वकीयैः । धामभिः
 तेजोभिः । 'गृहदेहस्वित्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । समुद्रतान् गर्बितान् । समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः
 मण्डलम् अस्थेयम् इति मण्डलिनः भूपालान् । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च विभ्वे च कदम्बके च ।
 कृष्टप्रभेदेऽयम्यम्यकऽपि भुजङ्गभेदे शुनि मण्डलः स्यात् ॥' इति विश्वः । अभिभूय तिरस्कृत्य । वसुंधरां वसु-
 धव्यं धरतीं नि द्रव्यधारिणीं^३ भूमिम् । गाम् अपि गोसंज्ञाम् अपि । करिणीं हस्तिनीं करबली च ।
 चकार विदधौ । वुक्त्वा कर्णे लिट् ॥४७॥ नितान्तेत्यादि । विभोः प्रभोः । यस्य कनकप्रभस्य । नितान्त-
 वृद्धेन नितान्तम् अरयन्त वृद्धेन वर्षीयसा प्रवृद्धेन च । कठोरवृत्तिना निष्ठुरवर्तनायुक्तेन । सनीतिना नीति-
 युक्तेन । कञ्चुकिनेव अन्तःपुराधिकारिणेव । तेजसा पराक्रमेण । श्रोः लक्ष्मीः । चपला चञ्चलालपि । बधूरिष
 सोमन्तिनीव । निरन्तरं सदैव । निश्चला स्थिरीभूता । व्यधीयत अक्रियत । वृषाञ्च धारणे च कर्मणि लट्

गुणोसे शङ्करको और शास्त्र-श्रवणसे बुद्धिको विभूषित किया था ॥ ४५ ॥ वह बड़ा दानी (हाथी) था किन्तु उसे तनिक भी मद-चमण्ड (मदजल) नहीं था, हो भी कैसे सकता था; क्योंकि उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छ अन्तरङ्ग शत्रुओंपर पूर्ण विजय पा ली थी । वह उत्तम पुरुषो (शेषनाग) से सम्बन्ध रखता था, किन्तु उसे चुगलखोरों व दुर्जनों (सर्पों) का संसर्ग दूषित नहीं कर सका था—वह कानका कच्चा नहीं था ॥ ४६ ॥ उसकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी । उसने अपने असह्य तेज व प्रभावेसे उद्दण्ड मण्ड-
 लेश्वरोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया था । इस प्रकारसे उसने गोको-गायको-भी करिणी-
 हयिनी-बना दिया था, (विरोधाभास है; उसका परिहार है-) गोको-पृथिवीको-करिणी-
 करवाली (राजशासन ग्राह्य भागसे संयुक्त)-बना दिया ॥ ४७ ॥ उसका प्रताप उन्नतिकी चरम सीमापर था, कठोर व्यवहार करनेवाला था तथा कानून उसका साथ दे रहा था । उस (प्रताप) ने उस (कनकप्रभ) की चञ्चल लक्ष्मीको हमेशाके लिए स्थिर कर दिया था ।

१. टीकानुसृतोऽयं पाठ, प्रतिपु वङ्गण । २. आ इ अहीन । ३. अ आ (टीकाकृतस्तु समस्तं^४ नोऽप्यदुःसहैः' पाठ आसीदिति प्रतीयते) इ^५ नोरिदुःसहैः । ४. = साधितो कश्च नील शत्रूणां पङ्क्तयो येन सः । तदुक्तम् - काम, क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिष्वङ्गः शितीशानां भवत्ययम् । ५. श स त्यागमद गजमद । ६ आ श स संसर्गितया । ७. आ श स ता भूमिं द्रव्यधारिणीं ।

धराश्रयः संततभूतिसंगमः शशाङ्कान्तो धृतनागनायकः ।

अधोभवद्गोपतिरीश्वरोऽपि सन् बभूव यो नासमदृष्टि दूषितः ॥४६॥

यदीयगाम्भीर्यगुणेन निर्मलप्रसिद्धिना लुप्तयशोमहाधनः ।

करोति फूटकारमिवाधुनाप्यसाबुदस्तकल्लोलभुजः पयोनिधिः ॥५०॥

नरेन्द्रविद्याधिगमाद्विशुद्धया विमृश्य विचार्य विधिस्ततो धिया ।

न यस्य निःशेषितशत्रुसंततेरजायताष्टापदवृत्तिर्चेष्टितम् ॥५१॥

॥४८॥ धराश्रय इत्यादि । य कनकप्रभः । धराश्रय. धराया. भूमे आश्रय, पक्षे पर्वत आश्रय स्थानं यस्य सः । संततभूतिसंगम संततम् अनवरतं भूत्या सपदा, पक्षे भस्मना संगमो यस्य स । 'भूतिर्भस्मनि संवि' इत्यमरः । शशाङ्ककान्त. शशाङ्क इव कान्तो मनोहर, पक्षे शशाङ्केन चन्द्रेण कान्तो मनोहर, चन्द्रोद्वरत्वात् । धृतनागनायकः धृतो नायाना गजाना नायको येन स, पक्षे धृतो नायाना सर्पाणा नायको येन स, सर्पाभरण इत्यर्थः । अधोभवद्गोपतिः अधोभवन्तो गवा भूमीना पतयो यस्य स. पक्षे अधोभवन् गोपतिर्वैभवो यस्य स । ईश्वर. सन् अपि शकर. सश्रपि भवत्पतिः असमदृष्टिदूषित असमाभि. विपमभिर्बर्द्धिभिर्नरेन्द्रदूषितो निर्मल पक्षपातेन निमित्तः, पक्षे विपमदृष्टिभिस्त्रिनयनै निर्मितो न बभूव न भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥४९॥ यदीयेत्यादि । निर्मलप्रसिद्धिना निर्मलेन विमलेन प्रसिद्धिना प्रतीतिना । यदीयेन यमवन्धिना गाम्भीर्य-गुणेन । लुप्तयशोमहाधनः लुप्तम् अपहृतं यश एव महाधन यस्य स. । अयो पयोनिधि. समृद्ध । अधुनापि इदानी-पि । उदस्तकल्लोलभुजः उदस्ता उद्धताः कल्लोला तरङ्गा त एव भुजा बाहवो यस्य स, एवंभूत सन् । फूटकारमिव फूटकारश्चनिमिव । करोति विदधाति । हुकुञ्ज् कर्णे लट् । उर्रेष्टा ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । नरेन्द्रविद्याधिगमात् नरेन्द्रस्य रातः विद्यानाम् आन्वीक्षिकीश्रयावात्सर्गदण्डनोतानाम् अधिगमात् पारजानात् । विशुद्धया निर्मलया । धिया बुद्ध्या । कार्याणि कृत्यानि । विमृश्य विचार्य । विधिमत विधानुमिच्छत ।

जैसे एक वृद्ध, कठोर और नीतिकुशल कञ्चुकी अन्तःपुरमे आनेवाली नववधूको उसकी चञ्चलताको दूर कर गम्भीर बना देता है ॥ ४८ ॥ वह सारी पृथ्वीका रक्षक था । उसके यहाँ सदा सम्पत्ति आती रहती थी । वह चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसके पास बड़े-बड़े गजराज थे । उसने समस्त राजों-महाराजोंको अपने अधीन कर लिया था तथा वह सब कुछ करनेके लिए समर्थ था । अतः वह साक्षान् ईश्वर-शङ्कर था; क्योंकि यही विशेषता शङ्करमें भी है—वे कैलास पर्वतका आश्रय लेते हैं—वहीपर निवास करते हैं, भस्म रमाते हैं, मस्तक-पर चन्द्रकला धारण करनेसे बड़े ही सुन्दर लगते हैं—उनके मस्तकपर चन्द्रकला फवती है, सर्पोंके विभूषणसे विभूषित है और वेल-नन्दीपर सवारी करते हैं । इस तरह दोनोंमें इतनी समानता होनेपर भी एक अन्तर था—शङ्कर असम दृष्टि—तीन नेत्रों (पक्षपात) से दूषित और विरूप थे, किन्तु वह राजा समदृष्टि-दो नेत्रों (निष्पक्षता) से भूषित तथा सुरूप था । अतः वह शङ्करसे कहीं अच्छा था ॥ ४९ ॥ गम्भीरता भी एक गुण है । यह गम्भीरता गुण (गह-राई) समुद्रमें सदा ही रहा है और इसीसे उसने बड़ा यश कमाया जो उसका धन है । किन्तु ज्यों-ज्यों राजा कनकप्रभकी गम्भीरताका निर्मल यश पृथिवीके कोने-कोनेमें फैला त्यों-त्यों समुद्रका यश कम होता गया—यहाँ तक कि वह उस राजाके सामने सर्वथा ही लुप्त हो गया । फलतः वह यह सोचकर कि उसके यशोघनका अपहरण कनकप्रभके गम्भीरता गुणने किया

१. अ बभूव भूयो न स दृष्टि । २. [निर्मला विमला प्रसिद्धिः कृपातिर्यस्य स तेन] । ३ श श 'उद्धृताः' नास्ति । ४. टीकाकारस्य पुरतः 'फूटकार' पाठ आसीत् ।

‘रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता विचित्रवर्णक्रमवृत्तिमुज्ज्वलाम् ।

गुणानुरागोपनता कृतायतिः प्रसाधिता येन बधूरिव प्रजा ॥५२॥

अतीतसंख्यः^१ परिरब्धकीर्तिभिः शरत्त्रिशानाथमरोचिनिर्मलैः ।

रुस्तुभिर्दोषचमूमिषाखिलैरकारि यस्मिन् समुदायिता गुणैः ॥५३॥

निःशेषितशत्रुसंततेः निःशेषिता निराकृता। शत्रूणाम् अरीणां संततिर्मेव तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । पौरुष सामर्थ्यम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्येव वृत्तिर्यस्य तदविचारितवर्तनम् । नाजायत नामवत् । जनैर्द् प्रादुर्भावे लङ् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदानेत्यादि । रतिप्रदानप्रवणेन रत्याः सुरतस्य संतोषस्य च प्रदाने करणे प्रवणेन समर्थेन । उज्ज्वलाम् प्रज्वलाम् । विचित्रवर्णक्रमवृत्तिम्, विचित्रा विविधा वर्णानां जातोना, पक्षेऽद्भुतमकरिका-पत्रमाल्यानुलेपनादीनां वा क्रमस्य परिपाटया वृत्तिं वर्तनं जीवनं वा । ‘स्तुतिरूपयशोक्षरविलेपनद्विजाति-शुक्लादिषु वर्णैः’ इति नानार्थकोशे । कुर्वता विदधता । येन कनकप्रभेण । गुणानुरागोपनता गुणानाम् अनुरागेण प्रीत्योपनता वशगता । कृतायतिः कृता आयतिः प्रभुत्वं, पक्षे उत्ततिर्यस्याः सा । ‘आयति-दीर्घताया स्यात् प्रभुताऽऽगामिकावयोः’ इत्यभिधानात् । प्रजा जनः । बधूरिव नारीव प्रसाधिता संतोषिता पक्षेऽलकृता ॥ ५२ ॥ अतीतेत्यादि । अतीतसंख्येः अतीता अतिक्रान्ता संख्या येषां तैः । परिरब्धकीर्तिभिः^२ परिरब्धा कीर्तियेषां [यै] तैः^३ । शरत्त्रिशानाथमरोचिनिर्मलैः शरदः शरत्कालस्य निशानाथस्य चन्द्रस्य मरोचयः कान्तय इव निर्मलैर्विमलैः । अखिलैः सकलैः । गुणैः । दोषचम्^४ दोषसेनाम् । रुस्तुभिः। रोद्धुमिच्छुभिः । यस्मिन् कनकप्रभे । समुदायिता समुदाययुक्तता । अकारि व्यधायि । दुःकृज् करणे कर्मणि लुङ् ॥ ५३ ॥ पराक्रमेत्यादि

है, बड़ा दुःखी रहने लगा । आज भी जब उसमें उत्ताल तरंगें उठती हैं और भयानक शब्द होता है तब लगता है मानो वह आज भी अपने कल्लोल-बाहुओंको ऊपर उठाकर करुण क्रन्दन कर रहा है ॥ ५० ॥

उसने राजनीतिके ज्ञानसे तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं-के अभ्याससे अपनी बुद्धिको निर्मल बना लिया था । वह जो भी काम करना चाहता था, उसके बारेमें पहले खूब सोच लेता था । फलतः उसके शत्रुओंकी परम्परा सर्वथा निर्मूल हो चुकी थी । इसीलिये उसे कभी अष्टापद (एक हिसक पशु-देखिये द्विसंघान २, २०) के समान प्रवृत्ति-युद्ध-जन्य घोर हिंसा-तन्ही करनी पड़ी ॥ ५१ ॥ वह सभीके साथ ऐसा व्यवहार करनेमें कुशल था, जिससे उनकी प्रेमकी भूख मिटती थी और सन्तोष होता था । उसने ब्राह्मण आदि चारों वर्णों-की निर्दोष व्यवस्था की थी । इसीलिए सारी उन्नतिशील प्रजा उसके गुणोंसे उसके पास खिंची चली आती थी । इस तरह उसने अपनी प्रजाको वशमें कर लिया था । जैसे सम्भोगकी कला-में कुशल पति अपनी नववधूको उसके ललाट, कपोल और स्तन आदि अङ्गोंमें रंग-विरंगे नाना प्रकारके चित्र बनाकर अपने सौन्दर्य आदि गुणोंसे आकृष्ट कर उसे अपने वशमे कर लेता है ॥ ५२ ॥ जैसे एक सेना अपनी विरोधिनी सेनाको जीतनेके लिए आपसमें संगठन करती है व योग्य स्थानमें स्थित होकर डटकर प्रतीकार करती है । इसी तरह शरत्कालीन चन्द्रमाके निर्मल और कीर्ति उत्पन्न करनेवाले अगणित गुण मानो दोषोंकी सेनाको रोकनेके लिए उस राजाके भीतर संगठित हुए थे ॥ ५३ ॥

१. अ रतिप्रदाने प्र^१ । २. अ क्रम-वृद्धिषु^२ । ३. आ परिलम्भ^३ । ४. श स ‘प्रज्वला’ नास्ति । ५. श स अतिक्रान्ताः । ६. श स परिरब्ध^४ । ७. श स परिलब्धा । ८. = परिलब्धा कीर्तियैस्ते तैः ।

पराक्रमाक्रान्तमहोभुजो जगन्नामलक्ष्मीनिलयीकृतोरसः ।

नृपस्य तस्याथ निशास्तनायिका सुवर्णमालेति बभूव भामिनी ॥२४॥

यदीयमेणाङ्कमरीचिहारिणा विसारिणा कान्तिमयेन वारिणा ।

नितान्तनिर्धौतमिवाविनिन्दितं न जातुचिच्छोलेमभून्मलीमसम् ॥२५॥

वहन् स्मरापाण्डुकपोलमण्डले शशाङ्कशङ्कामिव वक्त्रपङ्कजे ।

सह्यासफेनो विचकास यत्नावन्नूनलावण्यमयः पयोनिधिः ॥२६॥

भुवः समुद्धर्तुरधिष्ठितात्मनो बलेन सत्यानुरतैकचेतसः ।

बभूव लक्ष्मीः पुरुषोत्तमस्य सा मृगोत्तमा तस्य नृपस्य मन्दिरे ॥२७॥

अथ नरपतिवर्णनानन्तरम् । पराक्रमाक्रान्तमहोभुजः पराक्रमेण विक्रमेण आक्रान्ता निराकृता महोभुजो राजानो यस्य, तस्य । जगत्कलामलक्ष्मीनिलयीकृतोरस जगतो लोकस्य ललाटना श्रेष्ठया लक्ष्म्या रमया निलयीकृतम् आवासीकृतम् उरो वक्षो यस्य तस्य । नृपस्य कनकप्रभम् । सुवर्णमालेति सुवर्णमालेत्य-
मिष्या निशास्तनायिका अन्तःपुरप्रधाना । भामिनी कामिनी । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लुट् ॥ ५४ ॥
बदीयमिष्यादि । यस्याः सुवर्णमालाया हृद यदीयम् । 'दोषच्छ' इति छ-प्रत्ययः । अविनिन्दितम् अकुरिसतम् ।
शीलं स्वभावः । 'शीलं स्वभावे सदृशे' इत्यमरः । एणाङ्कमरीचिहारिणा एणाङ्कस्य मरीचिहारिणा
अपहारशीलेन । विसारिणा प्रसारिणा । कान्तिमयेन कान्तिस्वरूपेण । वारिणा सलिलेन । नितान्तनिर्धौतमिव
निशास्तम् अत्यन्तं निर्धौतमिव प्रक्षालितमिव । जातुचित् सकृदपि । मनोमम मलयुक्तम् । ताम्भून् नाभवत् । भू
सत्ताया लुट् ॥ ५५ ॥ वहन्मिष्यादि । यतनो यस्याः सुवर्णमालाया तनो शरारः । महामफेन हाम
एव फेनः तेन सहितः । अनूनलावण्यमयः अनूनं संपूर्णं लावण्यमयं देहकान्तिमयं लज्जामयं वा यस्य स (?) ।
पयोनिधिः समुद्रः । स्मरापाण्डुकपोलमण्डले स्मरेण मन्मथेन आपाण्डु ईष्यच्छ्र कपोलयोगेश्वरयो मण्डले प्रवेशेना
यस्य तस्मिन् । वक्त्रपङ्कजे मूलकमले । शशाङ्कशङ्का चन्द्र इति शङ्का संशयः । बहोप्रव धरन्मिव । विचकाम
बबूधे । कस गतो लिट् । उपशेषा ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । भवः भूमेः । समुद्धर्तु रक्षकस्य । 'कुनकाम-
कस्मै' इत्यादिना कर्मणि षष्ठे । पथे समुद्धर्तुः धारकस्य । बलेन नामधेयं, बलदेवता । आधातुनामन
अधिष्ठितो युक्त आत्मा वृद्धिः, पथे देहो यस्य । 'आत्मा यतो घृतिर्वृद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्धम् च ।' इत्यमरः ।
सत्यानुरतैकचेतसः मन्मथेनुरत नरपरम् एक मुख्यं चेतः । वित्तं यस्य तस्य, पथे म-याया सत्यभामायाम् अनुरतम्

अब यहाँसे रानीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उसके पराक्रमसे सभी राजा-महाराज प्रभा-
वित थे । जगत्के पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ जो लक्ष्मी है उसने कनकप्रभके वक्षस्थलको अपना
निवासगृह बना लिया था । उसके अन्तःपुरमें रानी सुवर्णमाला मुख्य थी । वही उसकी
पटरानी थी ॥ ५४ ॥ सुवर्णमालाका शील कभी मलिन नहीं हुआ, उसकी सभी प्रशंसा करते
थे । वह मानो चन्द्राकिरणोंके समान मनोहर व चारों ओर फैलनेवाले उसके कान्ति-जलसे
जुब धा दिया गया था ॥ ५५ ॥ उसका कपोल मण्डल गोरा था । कामदेवने उसे और भी
गोरा कर दिया । अतएव वह चन्द्र सदृश दिखता था । लावण्यके समुद्रने उसे साक्षात् चन्द्रमा
समझ लिया । फलतः वह उसके शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हुआ था । उसका मन्दहास उससे
फेनका स्थान ले रहा था ॥ ५६ ॥ कनक प्रभने कृष्णके समान पृथ्वीका उद्धार किया था । कृष्ण
जहाँ बलरामसे युक्त थे वहाँ कनकप्रभ आत्मबलसे समुक्त था । कृष्णका मन यदि सत्यभामा

१ अ भोगिनी । २ अ 'मिवाविनिन्दितम्' मिशरिनिन्दितम् । ३ [एणाङ्क चन्द्रः, तस्य मरीचयः
किरणाः, सदृशं हारिणा मनोहरेण] । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति प्रापो विरूपासु भवन्ति दोषाः' इति
सूचितम् । ४. श स 'भू सत्ताया लुट्' नास्ति ।

परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोस्तयोरभूद्भामनिधिस्तनंधयः ।

स येन दग्धे नरकद्विषा परं न संक्षयार्थेन च पद्मनाभता ॥५८॥

कलासनायस्य हिमद्युतेरिव हिमेतरांशोरिव तीव्रतेजसः ।

न यस्य निःशेषजनानुकम्पिनो बभूव बाल्येऽपि विवेकरिकता ॥५९॥

समाचरन् यः शिशुभावदुर्लभाः क्रियाः कृतवो नयमार्गशालिनीः ।

समस्तविद्याधिगमं प्रवृद्धधीर्बभूव बृद्धः पल्लिताकुरैर्विना ॥६०॥

एकं चेतो यस्य तस्य । 'श्लुग्वा' इति समासविधादु [बु] तरपदस्य लोपः । पुरुषोत्तमस्य पुरुषेष्टमस्य श्रेष्ठ-
स्य, नारायणस्य । तस्य नृपस्य कनकप्रभस्य । मन्दिरे राजसदने । मृगैक्षणा मृगस्यैव ईक्षणे लोचने यस्याः सा,
मृगसदृशनयनेत्यर्थः । सा सुवर्णमाला । लक्ष्मीः श्री । बभूव भवति स्म । लिट् । इलेख. ॥ ५७ ॥

परस्परैश्चादि । नरकद्विषा नरकगतद्विषा वैरिणाऽऽनन्नप्रभयत्वाद् इत्यर्थः, पक्षे नरकामुरवैरिणा । येन
पर केवलम् । सज्जया नाम्ना । पद्मनाभता नामो पद्य^१ यस्यासौ पद्मनाभः तस्य भावः । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यप-
प्रत्ययः । न दग्धे न बध्ने । दग्धं धारणे कर्मणि लिट् । किंतु अर्थेन च अभिधेयेन च । च-शब्दोऽपिशब्दार्थः ।
दग्धे बध्ने । परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोः परस्परस्य अन्धोग्यस्य स्नेहेन प्रेम्णा निबद्धम् आसक्तं चेतःचित्तं
ययोः, तयोः कनकप्रभस्वर्णमालयोः । धामनिधिः धाम्न तेजसो निधनिधामम् । सः स्तनधयः पुनः ।
अभूत् अभवत् । लुङ् । ॥ ५८ ॥ कलासनायस्येत्यादि । हिमद्युतेरिव हिमरूपा द्युतिः किरणौ यस्य तस्यैव^२ ।
कलासनायस्य कलाभि चतु पट्टिकलाभि पांडशभागैर्वा मनायस्य युक्तस्य । हिमेतराशोरिव
हिमादितरे तीक्ष्णा अंशवो यस्य तस्यैव, सूर्यस्वेवेत्यर्थः । तीव्रतेजसः तीक्ष्णं तीक्ष्णं तेजो धाम यस्य, तस्य । निः-
शेषजनानुकम्पिन निःशेषेषु सर्वेषु जनेषु लोकेषु अनुकम्पिन कृपावतः । यस्य पद्मनाभस्य^३ । बाल्येऽपि
बाल्यावस्थायामपि । विवेकरिकता हेतुपादविज्ञानशून्यत्वम् । न बभूव न भवति स्म ॥ ५९ ॥ समा-
चरन्त्यादि । शिशुभावदुर्लभा शिशुभावे बाल्यावस्थाया दुर्लभा दुर्लभाः । नयमार्गशालिनीः नयस्य नाते-

में आसक्त था तो कनकप्रभका मन सत्य बोलनेमें आसक्त था । कृष्ण नामसे पुरुषोत्तम कहे
जाते थे तो कनक प्रभ पुरुषोत्तम उत्तम समझा जाता था । कृष्णके महलमें जहाँ साक्षात् लक्ष्मी
निवास करती थी वहाँ स्वर्णमाला कनकप्रभके महलको लक्ष्मी थी । इस तरह राजा कृष्णके
समान और रानी लक्ष्मीके समान थी ॥ ५७ ॥

कनकप्रभ और स्वर्णमालाका हृदय एक दूसरेके स्नेह रूप बन्धनमें बँधा हुआ था । उन
दोनोंके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह बड़ा तेजस्वी था । उसका नाम पद्मनाभ था । पद्मनाभ-
कृष्ण-ने, यदि नरक-नरकामुर-का बध किया था तो राजकुमार पद्मनाभने सद्दिचारोंके बलसे
नरकके कारणोंका निरोध किया था । इस प्रकार नरकद्वेषी दोनों ही थे । अतएव उसका 'पद्म-
नाभ' नाम सर्वथा सार्थक था ॥ ५८ ॥ वह चन्द्रमाके समान कलाओंका स्वामी
-शोतल और सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी मनुष्यमात्रके प्रति दयालु था । बचपनमें जो
स्वभावतः विवेक शून्यता होती है वह उसमें नहीं थी, यह उसको एक विशेषता थी ॥ ५९ ॥
उसे दूसरोंके द्वारा कृत उपकारका सदा स्मरण रहता था । जो काम बचपनमें कठिन समझे

१. अ एतत् पद्यमत्र नोपलभ्यते । २. टीकानुगतोऽयं पाठः । मूल प्रतिषु तु 'प्रबुद्धधी' पाठोऽस्ति ।

३. [पद्य नामो] । ४. [परस्परम् अन्धोग्यम्] । ५. श स 'स' नास्ति । ६. श स किरणौ । ७. [हिमा
शोतला द्युतिः कान्तिर्यस्य सः, तस्यैव] । ८. आ यस्य युक्तस्य पद्मनाभस्य ।

गलम्बदस्योन्नतवंशशालिनो गृहीतसम्भविनयस्य सोन्नतेः ।
 गजाधिपस्येव गरीयसौजसा युतस्य यस्याभवद्दङ्कुशो गुरुः ॥६१॥
 विभूषितं यौवनरूपसंपदा विकारवत्या दधनोऽपि विप्रहम् ।
 प्रमाद्यिभिर्यस्य जिताम्नरद्विषो मनो न जह्ये व्यसनैर्मनस्विनः ॥६२॥
 स बहुपत्योऽपि विशामधीश्वरः सुतेन तेनैव रराज जिष्णुना ।
 विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः ॥६३॥

मणिं शालिनो शोभमाना । क्रिया, जिनपूजादिव्यापारान् । समाचरन् प्रवर्तयन् । कुतः कुन जानातीति कृतज्ञ, उपकारस्मरणवान् । समस्तविद्याधिगमात् समस्तविद्यायाः परिजानात् । प्रबुद्धो प्रवृद्धा धीर्यस्य तपोवतः समुद्रबुद्धिरित्यर्थः । स पचनाभः । पलिताङ्कुरादिना सितकेशविना । वृद्ध, स्थविर । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६०॥ गलम्बित्यादि । गलम्बदस्य गलन् स्रवन् मदो गर्वो मदजलं वा यस्य तस्य । उन्नतवंशशालिनः । उन्नतेन महता वंशेन गोत्रेण, पक्षे महता भद्रजात्या अथवा पृष्ठास्थिना शालिनः शोभमानस्य । 'वंशो वंशो कृते वर्णे पृष्ठस्यावपवेऽपि च ।' इति विश्वः । गृहीतसम्भविनयस्य गृहीत सम्पत् समोचीनो विनय सत्कारो येन तस्य । सोन्नतेः उन्नत्या गाम्भीर्येण दैर्घ्येण च सहितस्य । गजाधिपस्येव हस्तिन इव । यस्य पचनाभस्य । गुरुः पिता । अङ्कुशः सुगिरिव । अभवत् अभूत् । लङ् । श्लेषोपमा ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि विकारवत्या विकारयुक्तया । यौवनरूपसंपदा यौवनस्वरूपसंपत्त्या । विभूषितम् अलङ्कृतम् । विप्रह शरीरम् । दधताऽपि धरतोऽपि । जिताम्नरद्विष जिता निराकृता अन्तरद्विष, कामक्रोधलोभमानमदरूपा अरिषड्वर्गा येन तस्य । मनस्विनः सुमनोयुक्तस्य । यस्य पचनाभस्य । प्रमाद्यिभिः तिरस्करणयोगे । व्यसनैः स्वाभाविकादिभिः । न जह्ये नापह्नयते स्म । हृज् हरणं कर्मणि लिट् ॥ ६२ ॥ स इत्यादि । विशा मनुजानाम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । अधीश्वरः प्रभुः । म कनकप्रभ । बहुपत्योऽपि बहुपुत्रयुक्तोऽपि । जिष्णुना जयशोलेन । 'भूजेस्सनुक्' इति शोलायं स्तुक् । तेनैव पचनाभेनैव । सुतेन पुत्रेण ।

जाते है उन्हें भी वह आसानीसे कर दिखलाता था, तथा वे सब न्याय मार्गके अनुकूल होनेसे सुन्दर दृष्टिगोचर होते थे । समस्त विद्याओंका अभ्यासकर लेनसे उसकी बुद्धि विकसित हो गई थी । यद्यपि उसके बाल श्वेत नहीं हुए थे, फिर भी वह बुद्धिसे वृद्ध हो गया था ॥ ६० ॥ जैसे गजराजके गण्डस्थलसे मदजल झरता है, उसको पीठकी हड्डी उभरी रहती है; वह अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है; वह ऊँचा होता है; बहुत अधिक बलवान् होता है और उसका दबाने-वाला केवल अङ्कुश ही होता है । इसी तरह पचनाभको ज्ञान आदिका मद-अहङ्कार नहीं था; उसने उन्नत वंशमें जन्म लिया था, उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी; वह निरन्तर उन्नति-शील था, वह बलवान् था और वह अपने पिताजीको ही अपना अङ्कुश मानता था—केवल पिताजीसे ही दबता था, और किसीसे भी नहीं दबता था ॥ ६१ ॥ यौवन रूप सम्पत्ति काम-क्रोधादि विकारोंको उत्पन्न करनेवाली होती है ! किन्तु पचनाभके शरीरको विभूषित करके भी वह उस विकारयुक्त नहीं बना सकी । वह बड़ा मनस्वी था । उसने काम आदि आभ्यन्तर शत्रुओंपर उसने विजय पा ली थी । अतः घोर दुःख देनेवाले व्यसन उसके मनको नहीं हर सके ॥ ६२ ॥ कनकप्रभके और भी अनेक पुत्र थे, किन्तु उसकी शोभा केवल विजयशाल पचनाभसे ही थी, सो

१. स 'समाचरन् प्रवर्तयन्' नास्ति । २. = प्रबुद्धा धीर्यस्य स । ३. स स यागहन्तिनः । ४. स स वर्गो । ५. = मनस्विनः पण्डितस्य । ६. मूलप्रतिषु 'प्रमाद्यिभिः' पाठोऽस्ति । = प्रमाद्यिभिः प्रपातिभिः । ७. आ भाविकादिभिः ।

अथ जातु स मेदिनीपतिर्निजलक्ष्मीपरिभूषितं पुरम् ।
 परिहृष्टमतिर्विलोक्य ब्रह्मस्य गुरुसौधमूर्धनि ॥६४॥
 विनिपातयता यदृच्छया दृष्टमासन्नतमैकपल्लवे ।
 परिपीय' पयः समुत्तरन् दृष्टे तेन तदा गवां गणः ॥६५॥
 घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल तत्रैकमसौ जरद्गवम् ।
 त्रियमाणमवेक्ष्य तत्क्षणमिति निर्वेदमगाद्विचक्षणः ॥६६॥
 क्षणभङ्गुरवृत्तिं जीवितं भवभाजामिति नात्र विस्मयः ।
 तदिहाद्भुतमेतदीदृशं यद्वक्ष्यद्भिरपि प्रमुह्यते ॥६७॥

रराज बभौ । राज्ञः, दोषो लिट् । अनेकशकुन्तसंकुलः अनेकं शकुन्तानां संकुल यस्य स जलाशयः सरोवरः । राजहंसेन विना राजहंसपक्षिणा विना । न विराजते न भाति । लट् ॥ ६३ ॥

अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । स मेदिनीपतिः कनकप्रभः । निजलक्ष्मीपरिभूषितम्, निजस्य स्वस्य लक्ष्म्या संपदा परिभूषितम् अलंकृतम् । पुरम् रत्नसंघमम् । परिहृष्टमतिः परिहृष्टा संतुष्टा मतिर्यस्य सः, संतुष्टवृद्धिः सन् । विलोकयन् गुरुसौधमूर्धनि गुरो महति सौधस्य हर्म्यस्य मूर्धनि उपरि । अवतस्थे अवतिष्ठति स्म । स्या गतिनिवृत्ती लिट् ॥६४॥ विनिपातयतेत्यादि । यदृच्छया स्वेच्छया । दृशं नेत्रम् । विनिपातयता व्यापारयता । तेन कनकप्रभेण । तदा तत्समये । आसन्नतमे अत्यन्तसमीपे । एकस्मिन् पल्लवे सरसि । पयः सलिलम् । परिपीय परिपानं पूर्वं पीत्वा । समुत्तरन् निर्गच्छन् । गवां पशूनाम् । दृष्टे दृश्यते स्म । दृशः प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥६५॥ घनपङ्कस्यादि । विचक्षणः प्रोढः । असौ कनकप्रभः । तत्र सरसि । घनपङ्कनिमग्नं घने सान्धे पङ्क्ते कर्दमे निमग्नं पतितम् । त्रियमाणम्, त्रियत इति त्रियमाणः तं जीवितं त्यजन्तम् । एकं जरद्गवम् जरंद्वयसौ गौश्च जरद्गवः तं 'गोस्तत्पुत्र्यात्' इत्यष्ट, वृद्धवृषभम् । अवेक्ष्य अवेक्षणं पूर्वं दृष्ट्वा । तत्क्षणात् तस्मात्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगात् अगमत् । इण गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥६६॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवभाजा भवं भजन्ति स्म भवभाजः तेषाम्, संसारिणामित्यर्थः । जीवितं जीवनम् । [क्षणभङ्गुरवृत्तिं क्षणभङ्गुरा विनष्टवरा वृत्तिर्यस्य तत्] । इति एवं प्रकारेण । अत्र लोके । विस्मयः आश्चर्यम् । न—न भवति । किन्तु यत् एतत् इदम् । ईदृशम् एतत्प्रकारम् 'एवदाद्य' इत्यादिना दूषे-
 र्घातो कट् प्रत्ययः । अवक्ष्यद्भिरपि जानद्भिरपि । प्रमुह्यते मुग्धीभूयते । मुह वैभित्ये लट् । [एव विस्मयः]

ठीक भी है—जलाशयमें कितने ही अन्य पक्षी क्यों न रहें, किन्तु राजहंसके बिना वह शोभा नहीं पाता ॥ ६३ ॥

एक दिन राजा कनकप्रभ विशाल राजमहलकी छतपर बैठे हुए अपनी विभूतिसे विभूषित राजधानीकी शोभाको देखकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ ६४ ॥ इतनेमें उनकी दृष्टि पासके एक जलाशयपर पड़ी जहाँ पानी पीकर एक बैलोंका झुण्ड वापिस लौट रहा था ॥ ६५ ॥ जिधरसे वह झुण्ड लौट रहा था वहाँ सघन कीचड़ जमा हुआ था । उसमें एक बूढ़ा बैल फँस गया था । उसे मरते हुए देखकर बुद्धिमान् राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया, वह मनमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ६६ ॥

संसारो जीवोंका जीवन यदि क्षणभङ्गुर विजलीके समान देखते-देखते नष्ट होनेवाला है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य तो केवल यही है कि जीवनकी क्षणभङ्गुरताको

१. अ परिपाय । २. क ख ग घ यद्वक्ष्यद्भिरपि । ३. [अनेके नाना शकुन्ताः पक्षिणः तैः संकुलो व्याप्तः] । ४. [भजन्तीति] । ५. आ मुहो भूयते ।

क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो विषयैः स्वप्न इव प्रतीयते ।
 रतिमेति तथापि तेष्वयं जडबुद्धिधिगनात्मवेदिताम् ॥६८॥
 प्रहृतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमैव पश्यति ।
 प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥६९॥
 यदतीतमतीतमेव तत्सुखमागामिनि को विनिश्चयः ।
 समुपैति वृथा बत ध्रमं पुरुषस्तत्क्षणसौख्यमोहितः ॥७०॥
 परिणामहिते समोहते पथि सद्यः सुखलिप्सया न यः ।
 स शिवावतिविप्रकृष्यते ज्वररोगीव विरुद्धसेवया ॥७१॥

॥६७॥ क्षणदृष्ट्यादि । स्वप्न इव स्वप्ने यथा । क्षणदृष्टतिरोहिते क्षणे स्वल्पकाले दृष्टे, पश्चात् तिरोहिते अदृष्टे । विषयैः पञ्चेन्द्रियविषयैः । जनः लोकः । प्रतीयते वञ्चयते । नृप्लवन तरणयोः । गिज्जतात्मकर्मणि लट् । तथापि तेन प्रकारेणापि । मन्दबुद्धिः मन्दमतिः । अयं जनः । तेषु विषयेषु । रतिं प्रीतिम् । एति गच्छति । इण गतो लट् । अनात्मवेदिताम् आत्मज्ञानरहिताम् । धिक् कण्टम् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया ॥६८॥ प्रहृतमिष्यादि । एव अयम् । जनः लोकः । प्रतिजन्तु जन्तून् जन्तून् प्रतिजन्तून् तेषु सकल-जीवेषु । जीवितं जीवनम् । मरणेन मृत्युना । प्रहृतं विनष्टम् । यौवनं जग्मा जग्मा । 'जग्मायाडमिन्द्रपस्थाभि' इति जमादेशः । प्रहृतम् इति पश्यति स्वयमोक्षते । तदपि तथापि । मन्दबुद्धि मन्दमतिः स्वहितं स्वस्मै हितम् आत्मनेहितम् । न पश्यति । दृश प्रेक्षणे लट् । 'वाघ्राष्मा—' घेट् दृशः श 'इत्यादिनाति (?) इति पदयादेशः । अहो आश्चर्यम् ॥६९॥ षट्पद्यादि । यत्सुखम् अतीतं भूतम् । तदतीतमेव अतिगतमेव । आगामिनि भविष्यति । सुखे विनिश्चयः व्यवसायः कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत्क्षणमोख्यमोहितः । तत्क्षणे तत्काले जातसौख्येन सुखेन मोहितो मूढः । पुण्यः । वृथा मुषा । ध्रमं प्रवासम् । समुपैति संप्रयाति । बत हन्त ॥७०॥ परिणामहित इत्यादि । यः सद्यः शीघ्रम् । सुखलिप्सया सुखं लब्धुमिच्छया । परिणामहिते परिणामेऽन्ते हिने । पथि रत्नत्रयात्मके । न समोहते न चण्टते । सः जनः शिवात् मोक्षात् । 'सुखपरिलोभोक्षमङ्गलकीलकवालाकाभयाम-

जाननेवाले भी मोहजालमें फँसे हुए हैं ॥ ६७ ॥ स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे गये राज्यादिके समान क्षणभर दिखलायो देते हैं, बादमें वे दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं । वे विषय प्राणीको धोखा देकर चले जाते हैं । फिर भी उनकी मूर्खता देखिए, जो वे उन्हीं विषयोंमें आनन्द मानते हैं वे अपनी आत्माकी ओर जरा भी ध्यान नहीं देते इस अनात्मज्ञताको धिक्कार है ॥ ६८ ॥ प्रत्येक जीवका जीवन मृत्युके द्वारा और यौवन बुढ़ापेके द्वारा नष्ट किया जाता है । परन्तु इसे देखते हुए भी मूर्ख जीव अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देता, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥ ६९ ॥ भूतकालमें जो भोगनेमें आया, वह तो बीत ही गया—अब वह लौटकर नहीं आयागा । रहा भावी सुख, सो उसका निश्चय ही क्या है—कदाचित् वह न भी प्राप्त हो सके ? फिर भी बड़ा खेद और आश्चर्य है कि मनुष्य उस क्षणिक तात्कालिक सुखके मोहमें मग्न होकर व्यर्थ ही परिश्रम करता रहता है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य आगे सुख देनेवाले मार्ग (रत्नत्रय) इच्छासे तात्कालिक सुखकी अभिलाषासे शीघ्र ही नहीं लगता, वह मोक्षसे

१ क ग ग घ 'वेदितम् । २ अ समोहिते । ३. [क्षण स्वल्पकाल] । ४. आ दृष्टेः पाश्चात् दृष्टेः अदृष्टेः श स दृष्टे तिरोहिते पाश्चात् दृष्टे अदृष्टे । ५ [जन्तून् जन्तून् प्रति इति प्रतिजन्तून्] । ६. आ घेट्वेत्यादिना शिषे पदयादेशः । ७. [गतम्] । ८. श स अतिगतमिव । ९. [सुखस्य लब्धुम् इच्छा लिप्सा, तथा] । १०. स आत्मत्रयात्मके ।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुद्धिर्नदीशतैः ।

न तु कामसुखैः पुमान्हो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥७२॥

वपुर्गन्धतिमात्रमागन्तरं त्यजति प्राणिनमायुषः क्षये ।

विरहे खलु कोऽत्र विस्मयो बहिरङ्गैर्धनमित्रबान्धवैः ॥७३॥

सुखमिष्टसमागमे यथा विरहे तस्य तथैव चासुखम् ।

अत एव सजन्ति निर्वृत्तौ सुधियः संगसुखैकनिःस्पृहाः ॥७४॥

हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम् ।

विपरीतरुचिः परो जगत्त्रिभिरज्ञानतमोभिराहृतम् ॥७५॥

लक्ष्यद्विजाक्रोष्टुगङ्गरेषु शिवम्' इति नानार्थकोशे । अतिविप्रकृष्यते दूरोक्तिर्यते । विरुद्धसेवया विरोध- [धि] वस्तुसेवनेन । उन्नरोगीव उन्नरोगशिविव । उपमा ॥७१॥ दहन इत्यादि । अपि यदि । तृणकाष्ठसंचयैः तृणानां काष्ठानां संचयैः समूहैः । दहनः अग्निः । तृप्येत् प्रोणयेत् नदीशतैः नदीनाम् अनेकैः^१ । उदधिः समुद्रः । पुमान् तु पुरुषस्तु । काममुखैः कामस्य मुखैः । न तृप्येत् । कर्मणः दुरितस्य । कापि काचित् । बलवत्ता खलु बलयुक्तता हि । अहो अद्भुतम् ॥७२॥ वपुर्गन्धति । अत्र संसारे । वपुर्गन्धति शरीरमपि । आयुषः आयुष्यस्य । क्षये नाशे । आन्तरम् अन्तःस्थितम् । प्राणिनः जीवम् । अतिमार्त्रं भृगुम् । त्यजति विमुञ्चति । बहिरङ्गैर्बाह्यैः । धनमित्रबान्धवैः धनैः, इष्टैः मित्रैः सखिभिः बान्धवैः बन्धुभिः । सह । विरहे विगमे । विस्मयः आश्चर्यम् । कः खलु न कोऽपीत्यर्थः ॥७३॥ सुखमिष्टादि । यथा येन प्रकारेण । इष्टसमागमे इष्टस्य व्रितादेः समागमे संप्राप्तौ । सुखम् । तथैव च । तस्य इष्टस्य । विरहे विगमे । अमुखं दुःखम् । स्थाविरस्यपदाहारः । अतएव एतस्मात्कारणादेव ।^२ संगमुखैकनिःस्पृहाः संगेन^३ परिग्रहेण जाते सुखे एकं केवलं निःस्पृहा बाष्पधारहिताः । सुधियः कल्याणबुद्धयो जनाः । निर्वृत्तौ मोक्षकारणे^४ । सजन्ति सन्नद्धति, सन्नद्धा भवन्तीत्यर्थः । पञ्च संगे लट् । 'दन्धसम्पन्नश्च' इति न लुक् ॥७४॥ हितमिष्टादि । कश्चन पुरुषः । हितमेव न वेत्ति न जानाति । अन्यः अपरः । तत्र हितं । मत्तयं सदेहम् । भजते^५ सेवते । खलु स्फुटम् । परः अन्यः । विपरीतरुचिः निवर्तीता र्चा च, श्रद्धान् यस्य सः । जगत्त्रिभिः जगता^६ त्रिभिर्मूढमंशयविपरीतलक्षणैः त्रिभिः । अज्ञानतमोभिः

बहुत दूर पहुँच जाता है । जैसे उन्नरका रोगी कुषयका मेवन करनेसे उन्नरके मोक्षसे-आरोग्य लाभसे-दूर जा पहुँचता है ॥ ७१ ॥ सम्भव है कभी भी अग्नि घास व लकड़ी आदिके ढेरसे और समुद्र सैरुड़ो नदियोंसे तृप्त हो जाय । किन्तु मनुष्य विषय-सुखसे कभी भी तृप्त नहीं हो सकता । कर्मोंकी प्रबलता आश्चर्य जनक है ॥ ७२ ॥ आयुके नष्ट होते ही जब शरीर भी सदा अपने अन्तरवर्ती-शरीरसे कभी पृथक् न दिखनेवाले-जीवको छोड़ देता है, तो प्रत्यक्षमें पृथक् दृष्टिगोचर होनेवाले सम्पत्ति, मित्र और भाइयोंसे विरह होनेमें आश्चर्य ही क्या है ॥ ७३ ॥ परन्तु व धन आदि इष्ट वस्तुओंके संयोगमें जैसे सुख होता है, वैसे ही उनके वियोगमें दुःख भी होता है । इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस संयोगजनित सुखकी चाहको ठुकराकर मुक्तिपुखकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं-मोक्षमार्गमें लग जाते हैं ॥ ७४ ॥ इस जगत्में तीन प्रकारके अज्ञानी हैं-पहले वे जो अपने हितको जानते ही नहीं, दूसरे वे जो हितको जानकर भी उसके विषयमें सन्देह करते हैं, और तीसरे वे जो हितको अहित या अहितको ही हित समझते हैं । इस प्रकार सभी संसारी प्राणी इन तीन प्रकारके अज्ञानोंसे नष्ट हो रहे हैं-सदा दुःखका अनुभव कर रहे हैं । जिस

१. [तृप्तिमवाप्नुयात्] । २ [नदीनां शतानि तैः शतसंख्यापरिमिताभिर्नदीभिरित्यर्थः] । ३. श स संगमसु । ४ श स संगमेन । ५. आ मोक्षकारणं । ६. श स भजति । ७ [जगत् लोकः त्रिभिः ०] ।

परिणामसुखं शरीरिणां जिनवाक्यं न विहाय विद्यते ।
 सरुजामिव पथ्यमौषधं तदनात्महतया^१ न रोचते ॥७६॥
 अधिगम्य यथाविधि भुतं प्रतिपद्योत्तमाधुसंगमम् ।
 अवयन् भवफलमुतामिमामपरः कोऽहमिव प्रमाद्यति ॥७७॥
 सुखमायतिदुःस्वमन्त्रजं भजते मन्दमतिर्न बुद्धिमान् ।
 मधुदिग्धमुखा ममन्दधीरसिधारां स्खलु को लिलिप्तति ॥७८॥

स्वरूपज्ञानरहितं^२ । आहतं विनष्टम् ॥७५॥ परिणामेत्यादि । समया रोमसंहितानाम् । औषधम् । पथ्यं
 हितमिव । सरीरिणा देशिनाम् । जिनवाक्यं जिनस्य जिनेश्वरस्य वाक्यम् आगमम् । विहाय त्यक्त्वा । परि-
 णाममुष्यं परिणामेऽन्ते सुखं मौषधम्^३ । न विद्यते नास्ति । तन् जिनवाक्यम् । अनात्मज्ञया स्वरूपज्ञानरहित-
 तया । न रोचते न प्रीणति^४ । र्जिव अग्निप्रोत्पाद्यम् । लट् ॥७६॥ अधिगम्येत्यादि । यथाविधि विधिमान-
 तिक्रम्य । ध्युतं द्रादशाङ्गकम् । अधिगम्य ज्ञात्वा निश्चित्य वा । उत्तममाधुसंगमम् उत्तमाना वरेण्याता-
 माधूना मुनोश्चराणां संगमं नसंगम् । प्रतिपद्य प्रतिपदन पूर्व^५ पश्चान् किञ्चित्, लब्ध्वा । इमाम् एताम् ।
 भवफलमुताम् निःसारताम् । अवयन् जानन् । अहमिव क पर^६ अन्यः । प्रमाद्यति प्रमादोभवति । मदि
 हर्षश्लेषनयो ॥७७॥ सुखमित्यादि । आयातिदुःखम् आयतो उत्तरकाले दुःखं कष्टकरम् । 'उत्तरकाल आयति'
 इत्यमरः । अधोऽयम् अधोऽयम् इन्द्रियेणा जायत इति तथोक्तं पञ्चवेन्द्रियजनितं सुखम् । मन्दमति मन्द-
 बुद्धियुतः । भजते सेवते । भज्यं येषां लट् । बुद्धिमान् मतिमान् । न भजते । उवा हि मधुदिग्धमुखा मधूना
 दिग्धं लिप्तं मूर्खं यस्या नाम् । अनिधारां अन्धं खङ्गस्य धाराम्^७ । अमन्दधी अमन्दा मन्त्रतो धोयैर्यः । क
 को वा । स्खलु म्कुटम् । लिपिपति लेटिमच्छति । लिट् आस्थादने मत्तन्नाल्लट् । न कोऽपीत्यर्थः ॥७८॥

प्रकार अन्धकारमे आच्छादितमार्गमें चलनेवालोंमेंसे किसीको तो अपना मार्ग ही नहीं सूझता,
 किसीको कुछ सूझता भी है तो उसमें सन्देह होता है, और किसीको वह ठीक विपरीत प्रतीत
 होता है, इसी प्रकार मिथ्याज्ञानके वशोभूत होनेपर कोई तो हितमार्गको समझ ही नहीं पाता,
 कोई समझकर भी उसमें सन्देह करता है, और कोई उसे अहितका ही मार्ग समझ बैठता है ॥७५॥
 प्राणियोंको भविष्यमे सुख देनेवालो केवल जिन-बाणी (जैनागम) ही है—उसे छोड़कर अन्य
 कोई भी वस्तु भविष्यमे सुख नहीं दे सकती । किन्तु जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है उन्हे वह रूचती
 नहीं है । जैसे रोगीको केवल औषधि ही हितकर होती है—उसे छोड़कर उसके लिए अन्य
 कोई वस्तु हितकर नहीं हो सकती । किन्तु जिस रोगीको स्वयं अपने हितका विवेक नहीं है,
 उसे वह रूचती नहीं है ॥७६॥ विधिपूर्वक शास्त्रको पढ़कर, उत्तम माधुओकी सङ्गतिको पाकर
 और संसारकी अज्ञातताको जानकर भी मेरे समान आत्महितमे प्रमाद करनेवाला दूसरा कौन
 होगा ॥७७॥ इन्द्रियजन्यमुख परिणाममे दुःखप्रद होता है । अतएव उसका सेवन केवल मूर्ख ही
 किया करते हैं, न कि बुद्धिमान् । ठीक है, कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो शहदल-

१. अ नदिहाज्ञानतया । २ [मिथ्याज्ञाननिमित्तं] । ३ [मुखकम्] । ४ [न रविर् प्रतिभाति] ।

५. श स 'पूर्व' नास्ति । ६ [अपर. क.] । ७. श स 'धारा' नास्ति ।

असुखैकफलं प्रभज्य यो रसति^१ प्रेममयं न पल्लवम् ।
प्रविरक्तमतिः प्रवर्तते पुरुषः श्रेयसि हा स वञ्चितः ॥५६॥

इति विषयविरक्तश्छन्नया कर्णजाहं
स्वयमिव स समेत्य व्याहृतो मुक्तिदूत्या ।
न्यविशत मुनिमार्गे चेतसा चादचेता
भवति हि मतिमाजां काललब्धिर्न चञ्चया ॥५७॥
प्रपृच्छथ सुतमात्मनस्तमपरेद्युदयच्छिथं
प्रमृज्य च तदक्षिणी विगलदधुणी पाणिना ।

असुखैकफलमित्यादि । प्रविरक्तमतिः प्रविरक्तता बुद्धिरस्य स, प्रकृष्टाविरक्तबुद्धिः सन् । य. पुरुषः ; असुखैकफलम् असुखं दुःखमेवैक मुख्य फलं यस्य तम् । प्रेममयं रागरूपम् । पल्लवः किसलयम् । रसति^१ रसतीत्यनुकरणम्^३ । न प्रभज्य प्रभञ्जनं पूर्वं नावमर्शं । प्रवर्तते । स पुरुषः । श्रेयसि सुखनिमित्तम् । वञ्चितः प्रतारितः । हा कष्टम् । 'हा दुःखहेता उद्दिष्टो विस्मयविपादयो।' इति विद्व ॥७९॥ द्वितीयादि । छन्नया गूढया । मुक्तिदूत्या मुक्त्या मोक्षलक्ष्म्या दूत्या सख्या । कर्णजाहम् कर्णमूलम् । 'कर्णादि पञ्चाज्जाह्वात मूलं' इति जाह प्रत्यय । समेत्य सप्राप्य । स्वयम् आत्मनैव । व्याहृत आहूत इव । इति उक्तप्रकारेण । विषयविरक्तः विषयेषु पञ्चेन्द्रियावयवेषु विरक्तः । चादचेताः चात शोभन चेत चित्त यस्य स तथोक्तः । स. कनकप्रभः । चेतसा चित्तेन । मुनिमार्गे मुनीना यतीना मार्गं न्याविशत प्रविशति स्म । तथा हि—मतिमाजा मति भवन्ति^२ स्म मतिभाज तेषा बुद्धिमताम् । काललब्धिः कालस्य लब्धिः प्राप्तिः । चञ्चया निष्फला । न भवति^३ । स. ८० ॥ प्रपृच्छथेत्यादि । स कनकप्रभः^४ । अररेद्युः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वा-परः' इत्यादिना एद्युः प्रत्ययः । उद्यच्छिथम् उद्यन्तो श्रौंरस्य तमुद्योःसूत्रमपदम् । आत्मन स्वस्य । तं मुनम्—पञ्चानाममुनम् । प्रपृच्छथ प्रार्थ्य । विगलदधुणी विगलन् स्पन्दनेनोदकं^५ ययोः^६ ते तदक्षिणां तस्य

पेटो तलवारकी धारको चाटना चाह्या ॥७८॥ जोविरक्त मनुष्य एकमात्र दुःखरूप फलके देनेवाले रागरूप नवीन कोमल पत्तेको ताड़कर जोघ्न ही कल्याणके मार्गमें नहीं लगता, खेद है कि वह ठगा जाता है—उस कल्याणसे वञ्चित हो रह जाता है ॥७७॥

इस प्रकारका विचार करते हुए निर्मलबुद्धि महाराज कनकप्रभको विषयमुखसे अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ । फलतः वह हृदयमे मुनिमार्गमे प्रविष्ट हुआ । मानो मुक्ति-दूतीने गुप्तरूपमे स्वयं पहुँचकर इसके लिये उसके कानमें कहा हो । मच है, बुद्धिमानोंको काललब्धि कभी व्यर्थ नहीं जाती ॥८०॥ जिस दिन उसे वैराग्य हुआ, उसके दूसरे ही दिन कनकप्रभने अपने उत्तराधिकारी पुत्र पञ्चनाभसे दीक्षाग्रहण करनेको अनुमति माँगी । यह सुनते ही उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । इसपर कनकप्रभने अपने हाथसे उसके आँसू पोंछकर उसे ससारको स्थिति समझायी ! तत्पश्चात् वह

१. अ य स्पृशति आ इ य पृगति । (मुद्रितरतो 'झटिति' पाठान्तरमुपलभ्यते) ।

२ = रसति झटिति प्रभज्य आमर्शं न प्रवर्तते स पुरुष श्रेयसि मुख्यं वञ्चितः विप्रलब्धः ।
हि विस्मये । निविण्णेन झटियुद्यमो विषेय इति भावः । ३ आ सति — सतितीत्यनुकरणम् । ४ आ हि दुःखहेता उद्दिष्टो हि वि० । ५. [भजन्तीति] । ६. आ हा स न भवति हि । ७ आ 'कलकप्रभ' नास्ति । ८. [पृष्ट्वा] । ९. हा स स्पन्ददात्मनेबोधकम् । १०. [याम्याम्] ।

मुनीन्द्रमविनिन्दितं समभिवन्द्य स श्रीधरं
तपः समधिशिञ्जिष्ये नृपतिभिः समं भूरिभिः ॥८१॥

गुरुविरहभवेन पद्मनाभो भृशमसुखेन हतस्तदा तताम ।
नरपतिपदमास्थितोऽपि लक्ष्मोर्भवति मुदे नहि बाण्धर्ववियुक्ता ॥८२॥

विपुलमतिभिर्वृद्धामात्यैः कृतप्रतिबोधनः
पितृविरहजं हित्वा शोकं कियद्भिरसौ दिनेः ।
नयनविगलद्वाष्पापूरां सुधीः समभावयत्
प्रकृतिमुभर्यां स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् ॥८३॥

पद्मनाभस्य अधिणो नयने । पाणिना हस्तेन । प्रमुख्य प्रमार्जनं पूर्वं समाख्यं । अविनिन्दितम् अकुत्सितं संपूर्ण-
चारित्र्यम् इत्यर्थं । श्रीधर श्रीधरनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनीनाम् इन्द्रं तं मुनिपतिम् । समभिवन्द्य संस्तुयं ।
भूरिभिः अनेकैः । नृपतिभिः नृणां नराणां पतिभिः । समं साकम् । तपः बाह्याभ्यन्तरभेदम् । समधिशिञ्जिष्ये
स्वीकरोति स्म । शिञ्जं सेवायां लिट् ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । गुरुविरहभवेन पितृविभोगजितेन । अमुलेन
दुःखेन । हतः पीडित । पद्मनाभः पद्मनाभनरेन्द्र । नरपतिपदम् अधिराजपदम् । आस्थितोऽपि आश्रितोऽपि ।
'शीङ्स्वासोऽधेराधारः' इत्याधारे द्वितीया । तदा तस्मिन् अवसरे । भृशम् अत्यन्तम् । तताम मङ्गलद्वयान् ।
तम् स्थानो लिट् । बाण्धवैः जातिभिः । वियुक्ता रहिता । लक्ष्मोः संपत्तिः । मुदे प्रीतये । न भवति । अर्थान्-
ख्यासः ॥ ८२ ॥ विपुलमतिभिरित्यादि । विपुलमतिभिः विपुलया महत्या मया बुद्धया मज्जितैः । वृद्धा-
मात्यैः वृद्धैः परंपरागतैः अमात्यैः मन्त्रिभिः । कृतप्रतिबोधनः कृता प्रतिबोधना यस्य स । सुधीः शोभन-
धिपणः । असौ पद्मनाभः । कियद्भिः किं मानम् अस्त्येषाम् इति कियन्ति तं कतिविद्भिः । दिने दिवने ।
पितृविरहजं पितुः विरहेण जातम् । शोकं दुःखम् । हित्वा त्यक्त्वा । नयनविगलद्वाष्पापूरां नयनं विगलन्
बाष्पस्य आपूरं प्रवाहो यस्य ताम् । स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् स्वामिनः स्नेहेन प्रेम्णा प्राणानाकुलमदानां-
माकुलं कियते, आकुलीकृत स्वामिस्नेहेन आकुलीकृत चेतो यस्य तम् उभयाम् उभयवत्प्राप्तापरिवारभेद-
भिन्नाम् आप्तबलमूलबलविकल्पा वा । प्रकृतिम् अमर्यादितमहतिम् । 'प्रकृतिं पञ्चभूतेषु स्वभावे मूल-
कारणे । छन्दः कारणगुह्येषु जम्बवात्यादिमातृषु ।' इति वैजयन्ती । समभावयन् आश्वासयन् । भूकृपाव-

श्रीधर मुनिके पास पहुँचे । निर्मल चारित्र्यके धारक होनेसे उनको प्रशंसा सभी करते थे । उनका
नमस्कारकर कनकप्रभने अनेक राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले लो और तपस्या प्रारम्भ कर
दी ॥८१॥ राजगद्दीपर बैठकर भी पद्मनाभको, पिताके चले जानेसे बड़ा दुःख हुआ, उससे
उसके हृदयको बड़ी चोट पहुँची । ठीक है—बन्धुओंके बिना राज्यलक्ष्मी भी सुख नहीं दे
सकती ॥८२॥ कनकप्रभके चले जानेसे पद्मनाभके समान प्रजाको भी बहुत सन्ताप हुआ ।
उसकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी और उसका हृदय भी व्याकुल हो उठा
था । स्वामीके प्रति उसे स्नेह जो था । इस स्थितिको देखकर बुद्धिमान् वृद्ध मन्त्रियोंने
पद्मनाभको सान्त्वना दी । फलतः कुछ दिनोंमें उसका वह शोक दूर हो सका । इस प्रकार
स्वयं शोकको छोड़कर उसने दोनों प्रकारकी प्रकृतिको अपने स्वभाव (स्वास्थ्य) और प्रजा

१. आ शा स न भवति हि । २ श प आ 'विपुलया मइत्या मत्या बुद्धया सज्जितैः' नास्ति ।
३. [नयनेप्या] ४. [यस्या. ताम्] । ५. = संस्तुतवान् ।

एतस्याननुजुरयमष्टमीमृगाङ्को व्याप्तिस्तौ विकटललाटपट्टकेन ।
 संजातानतिभिरीतिव तत्र भेजे भूपालैर्न कुटिलता नृपासनस्थे ॥८३॥
 तेजोनिधायुदयधाम्नि सुवर्णनाभ-
 नाम्नि प्रवर्त्य तनये युवराजशब्दम् ।
 भोगानवास्थित सदानुभवन् स भूपः
 सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठः ॥८४॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकुतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

कल्पने लङ् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । एतस्य पद्मनाभस्य । विकटललाटपट्टकेन विकटस्य विशालस्य ललाटस्य पट्टकेन प्रदेशेन 'मुन्दरविशालविकरालेषु विकट' इति नानार्थकोशे । अननुजु वक्रः । अयम् एषः । अष्टमी-मृगाङ्कः अष्टम्या चन्द्रः । व्याप्तिः । निराकृतः । इतीव संजातानतिभिः संजाता निष्पन्ना आनतिर्नमस्कारो येषां तै । भूपालैः भूपतिभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते तत्र तस्मिन् पद्मनाभे । कुटिलता वक्रता । न भेजे न सिपेवे^१ । भज सेवायां कर्मणि लिट् ॥ ८४ ॥ नेज इत्यादि । सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठं^२ सोम-प्रभादेभ्यो दशनैर्दन्तैर्जातेन किण्ठेन कलङ्केन^३ अङ्कितः चिह्नितः^४ ओष्ठो यस्य स । स. भूप पद्मनाभः । तेजोनिधौ पराक्रमनिधाने । उदयधाम्नि उदयस्य भाग्यस्य धाम्नि निलये । सुवर्णनाभनाम्नि सुवर्णनाभनाम-ध्वये । तनये पुत्रे । युवराजशब्द युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य प्रवर्तनं कृत्वा । भोगान् पञ्चवैश्विभोगान् । सदा अनवरतम् । अनुभवन् । निविशन् । अवास्थित अवसत् । स्या गतिनिवृत्तौ लुट् । 'गविप्रावात्' इति तङ् ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकुतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
 च बिहृम्मनोबलभाष्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दानोको सम्हाला ॥८३॥ पद्मनाभने जब अपने विस्तीर्ण सुन्दर ललाटकी शोभासे कुटिल अष्टमीके चन्द्रमाको भी जीत लिया, तब उसके सामने हमारी क्या दशा होगी, मानो इसी चिन्ताके कारण पद्मनाभके राजसिंहासनपर आरोहण करते ही सभी राजा उसके सामने नतमस्तक हो गये और उन्होंने अपनी कुटिलवृत्ति छोड़ दी ॥८४॥ पद्मनाभकी रानीका नाम सोमप्रभा और पुत्रका नाम सुवर्णनाभ था । पुत्र बड़ा तेजस्वी और प्रगतिशील था । उसे युवराज बनाकर पद्मनाभ अपनी पत्नी सोमप्रभाके साथ—जिसने सम्भोगके समय अनुरागवश उसके होठकी दन्तसतसे चिह्नित कर दिया था—भोगोका अनुभव करने लगा ॥८५॥

इस प्रकार वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
 पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

१. श स व्याकलष्टः । २. = भूपालैः राजभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटि-लता वक्रत्वम् । न भेजे । यथायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोर्ऽपि जितः तत्र के वयम्, इति वक्रत्वं बिहाय पदयोः पतिता इति भावः । ३. श स 'तौष्ठः' । ४. श स 'कलङ्केन' नास्ति । ५. आ अङ्कितौ चिह्नितौषोष्ठौ यस्य स । ६. श स 'धौ' नास्ति ।

[२. द्वितीयः सर्गः]

अथैकदास्थानगतं प्रतीहारनिवेदितः ।

वनपालो महोपालमिति तत्त्वा व्यजिज्ञपत् ॥१॥

देव देवोचितस्थाने सुगन्धिपवने वने ।

मुनिरैकः समायातः शब्दार्थाभ्यां मनोहरे ॥२॥

भुवनव्यापिनी भव्यपुण्डरीकोभिनन्दिनीम् ।

धत्ते श्रीधर इत्याख्यां यो भानुरिव दोषितम् ॥३॥

श्रावणपक्षजिह्व प्रणमामि नित्यं यस्कायकान्तिरजनाद्रिसमानशोभम् ।

देवासुरागनरैर्दुःकिरीटकोटोमानिष्यकान्तिपरिचक्षितपादपाठम् ॥

अथैत्यादि । अथ प्रथममर्गनिरूपणानन्तरम् । एकदा एकस्मिन् दिने । प्रतीहारनिवेदितः प्रतीहारेण द्वाःपालेन निवेदिनो ज्ञापितः । वनपालः उद्यानपालः । आस्वानगर्गं सभाया स्तितम् । महोपाल पक्षनाभ-महोपातम् । तत्त्वा नमनं पुनः (पदवात् किञ्चित्) प्रणम्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपत् व्यज्ञा-पयत् । ज्ञा अवबोधने । ज्ञज्ञस्तान्मुट् ॥१॥ देवेत्यादि । देव भो राजन् । देवोचितस्थाने देवानाम् उचितं योग्यं स्थानं यस्य तस्मिन् । सुगन्धिपवने शोभनगन्धसहितवायुपवने । शब्दार्थाभ्यां शब्देन नाम्ना अर्थेन च अभिधेयैर्नामैश्च । मनोहरे मनोहरनाम्नि । वने उद्याने । एक कश्चित् । मुनिः यतीस्वरः । समायातः समागतः ॥ २ ॥ भुवनव्यापिनी भव्यपुण्डरीका । य मुनिपतिः । भुवनव्यापिनी भुवनं लोकं व्याप्नोतात्येष शीला ताम् । भव्यपुण्डरीकोभिनन्दिनी भव्यपुण्डरीकाणां भव्यवेषानाम् अभिनन्दनी मनोपवराः, पक्षे भव्यानि मनोहराणि पुण्डरीकाणि कमलानि अभिनन्दनशीला (अभिनन्दयतीत्येषशीला) विकासनशीला ताम् । भानुः सूर्यः । दोषितमिव किरणमिव । श्रीधर इत्याख्या श्रीधर इति नामधेयम् । धत्ते दुधात् धारणे च

इसके बाद एक दिनकी बात है । राजा पक्षनाभ सभामें बैठा हुआ था । इतनेमें द्वार-पालने उसे मनाहुर बागके मालीके आनेको सूचना दी, और उसको अनुमति लेकर मालीको अन्दर लिवा ले गया । वहाँ पहुँचते ही मालीने राजाको प्रणाम किया और कहा— ॥१॥ राजन् ! जिसमें देवोके योग्य स्थान है और जहाँ सदा सुगन्धित वायु बहता करती है, वह बाग न केवल नामसे बल्कि अर्थसे भी मनोहर है । वहीपक्ष एक मुनिराज पधार है ॥२॥ उनका नाम श्रीधर है जो विश्वके काने-कानेमें प्रसिद्ध है । उसे सुनकर भव्य जीवोको बड़ा आनन्द होता है । जैसे सूर्यको किरणें सारे समारमें फैली हुई है । वे सुन्दर कमलोंको विकसित कर

१ ध म नन्तरं । २ आ पालकन । ३ = विज्ञापयामास । ४ = ज्ञा ज्ञाने ज्ञापने च । ५ = यस्मिन् । ६. शोभनो गन्धो यस्य स सुगन्धिः, सुगन्धिः पवनः पक्षमात्रो यस्मिन् स तस्मिन् । ७. आ प्रतावेव 'किरणमिव' इति सम्पुलक्यते ।

दारुणं यस्तपस्तेजः सौम्यां च दधदाकृतिम् ।
 समाहारेण निर्वृत्तः सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥४॥
 मोक्षसंधानचित्तेन गुणमार्गणशालिना ।
 येन चापधरेणैव भूतेभ्योऽदीयतामयम् ॥५॥
 त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितम् ।
 प्रतिबिम्बमिवादर्शं जगद्यद्वचसीच्यते ॥६॥
 सुवर्णैरभिनिरृत्ता दत्तमुक्तोत्तमास्पदाः ।
 यस्याश्चर्यकथाः कर्णपूरायन्ते विपश्चिताम् ॥७॥

लट् ॥ ३ ॥ दारुणमित्यादि । यः मुनिपतिः । दारुणं भयंकरम् (तीव्रम्) । तपस्तेजः तप एव तेजः^१
 तप प्रतापम् । सौम्या मनोहराम् । आकृति च आकार च । दधत् दधातीति दधत् धरन् । सूर्याचन्द्रमसोः
 सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयो । 'इन्द्रासोमादिषु देवतानाम्' इति साधुः । समाहारेण समूहेन^२ निर्वृत्तः
 निष्पन्न इव । भातीत्येवाहाराः ॥ ४ ॥ मोक्षेत्यादि । मोक्षसंधानचित्तेन मोक्षोपरमनिर्वाणे संधानं संबन्धो
 यस्य तत् तयोक्तं मोक्षसंधानं चित्तं यस्य तेन, पक्षे मोक्षश्च संधानं च तयो । शरमोक्षणशरसंधानयो
 चित्तं यस्य तेन । गुणमार्गणशालिना गुणैः गुणस्वानैः मार्गणैः मार्गणास्थानैः शालिना सम्पूर्णं, पक्षे गुणं
 मोक्षां मार्गणं बार्णश्च शालिना । येन मुनिपतिना । चापधरेणैव धनुर्धरेणैव । भूतेभ्य प्राणिभ्यः । अभयम्
 अदीयत । दाण् दाने कर्मणि लट्, पक्षे अभयम् अदीयत अलण्डपत्^३ । दो अवलण्डने । दोगोपमा ॥ ५ ॥
 त्रिका हेत्यादि । त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं त्रिकाल एव गोचरो येषां ते त्रिकालगोचराः अनन्ताः
 अनन्तमहेश्वरचिच्छिन्नाः पर्याया मद्रभाविपरिभावि^४ परिणामाः तथोक्ताः त्रिकालगोचराश्च ते^५ अनन्तपर्या-
 याश्च ते^६ परिनिष्ठितं युक्तम् । जगत् लोक । यद्वचसि यम्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य वचसि वचने । आदर्श दर्पणे ।
 प्रतिबिम्बमिव प्रतिकृतिरिव । ईदृशते दृश्यते । ईभि दर्पणे कर्मणि लट् ॥ ६ ॥ सुवर्णैरित्यादि । सुवर्णैः
 स्पष्टाधरैः, पक्षे कनकैः । अभिनिरृत्ता विरचिता । दत्तमुक्तोत्तमास्पदा दत्त मुक्तानां सिद्धानाम् उत्तमं
 श्रेष्ठम् आस्पदं येषां नैः^७, पक्षे दत्त मुक्तानां मोक्षितकानाम् उत्तमम् आस्पदं येषां तैः^८ । यस्य मुनिपते ।

उन्हे आनन्द देतो है ॥३॥ उनकी आकृति सौम्य है और उसपर उनके तपका तीव्र तेज है ।
 अतः लगता है वे सूर्य और चन्द्रके समिश्रणमे रचे गये है । वे तेजस्वी होकर भी शान्त हैं ॥४॥
 उनका मन मुक्तिके अनुसन्धानमें लगा हुआ है, सद्गुणोंके अन्वेषणमे उनको शोभा है और
 वे समस्त प्राणियोंको अभय प्रदान करते हैं । अतएव वे इस समय उस धनुर्धारीके समान जान
 पड़ते हैं, जिसका मन केवल बाण छोड़ने और उसके स्थानमें दूसरा बाण रखनेमें लगा हुआ
 है; जिसकी शोभा डोरी और बाणोंसे है तथा जो लोगोंको निर्भय कर रहा है ॥५॥ जिस
 प्रकार दर्पणमें, सामने रखे सभी पदार्थों और उनकी वर्तमान अवस्था की स्पष्ट छलक मिल
 जाती है, उसी प्रकार उनके वचनोंमें सारे जगत् और उसकी भूत, वर्तमान और भविष्यमे
 होनेवाली सभी अवस्थाओंकी स्पष्ट छाँकी मिल जाती है ॥६॥ उपदेश देते समय वे प्रसंगवश
 जो कथाएँ सुनाते हैं, वे कर्णभूषण सरीखी रहती है । जिस प्रकार कर्णभूषण सोनेसे बनाये

१ = तपस्तेजस्तपस्तेजः । २ = समूचवचन । ३. श स अलण्डयत । ४. 'परिभावि' । ५. आ प्रती
 केवल 'ते' इति दृश्यते । ६. = मासु ताः । ७. = मासु ताः ।

भ्रमन्ति भुवनाभोगे निधला अपि यद्गुणाः ।
 असंख्येयाश्च सर्वत्र यजन्ति गणनीयताम् ॥८॥
 यत्पादपांसुसंपर्कादलंकृतशिरोरुहाः ।
 निस्पृहा वासचूर्णेषु भवन्ति नृसुरासुराः ॥९॥
 भास्वानपि च यः सेव्यपादोभूत्तापवर्जितः ।
 विकासयति आशेषकुमुदं कुमुदोज्ज्वलः ॥१०॥

आश्चर्यकथाः विस्मयकथाः । विपदिचता विदुषाम् । कर्णपूरायन्ते कुण्डलमिवाचरन्ति । कर्णपूरमिति सुधातोः
 वयद्भवत्यय ॥ ७ ॥ भ्रमन्तीत्यादि । यद्गुणाः यस्य मुनिपतेर्गुणाः । निस्पृहा अपि स्थिरा अपि । भवना-
 भोगे भुवनानां लोकानाम् आभोगे विस्तारे । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । भ्रमन्ति चलन्ति । भ्रम्
 चलने नट् । अमंस्मेयाश्च अगणेषाश्च । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र । गणनीयतां, (पक्षे) श्लाघ्यता ।
 यजन्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥ यद्विस्थादि । यत्पादपांसुसंपर्कात् यस्य मुनिपते पादयोः चरणयोः रजसो धूस्याः
 सम्पत्तिं संगत् । अलङ्कृतशिरोरुहाः अलङ्कृताः भूषिताः शिरोरुहाः केशा येषां ते । नृमुरासुराः
 मनुष्यदेवासुराः । वासचूर्णेषु मुगन्धिवर्णेषु । निस्पृहाः वाञ्छारहिताः । भवन्ति ॥ ९ ॥ भास्वानित्यादि ।
 यः मुनिपतिः । भास्वानपि च तैजोयुक्तोऽपि च, सूर्य इति ध्वनिः । सेव्यपादः सेव्यो पूजनीयो पादो यस्य, पक्षे
 सेव्याः किरणाः यस्य सः । 'पादा रश्म्यध्रुवौषाः' इत्यमरः । अभूत् अभवत् । लुट् । तापवर्जितः तीक्ष्ण-
 परिणामरहितः सन्तापरहितश्च । कुमुदवत् चन्द्रबहुज्ज्वलो भाममानः । 'गणित्वसोत्पत्कविपूजण-
 दिग्यजेयुः कुमुदः' इति नामार्थाकोशः । यो भास्वाननीयस्त्राणि योग्यः । अग्रेषुकुमुदम् अग्रेषां चासौ कुञ्च अग्रेषुकु-
 तस्याः मुत् हर्षः ता, पक्षे अग्रेषां च तत् कुमुदं चेति कम् (?) समस्तकैरवम् । विकासयति च प्रकाशयति, पक्षे

जाते हैं; उनमें मांती जड़े रहते हैं और वे पहरनेवालोंके कानांकी शोभा बढ़ाते हैं । इसी प्रकार
 उनकी कथाएँ अच्छे अक्षरोंसे रची रहती हैं; उनमें यथास्थान मुक्कन जीवोंको उत्तम चर्चा
 रहती है और अनेक विगणताओंके रहनेसे वे आश्चर्यजनक होते हैं तथा उनका श्रवण विद्वान्
 श्रोताओंके कानोंको सुशोभित करता है ॥७॥ उनके गुणोंमें दो विचित्र बाने हैं—पहली यह
 कि वे चलते नहीं हैं किन्तु घूमते सारे संसारमें हैं और दूसरी यह कि वे गणनाके बाहर हैं
 पर सब जगह गणनामें आते हैं । वस्तुतः वे बड़े ही गुणी हैं—उनके गुण अविनाशो हैं; उनके
 गुणोंको चर्चा सभी करते हैं; उनके गुणोंको गिनाया नहीं जा सकता और वे (गुण) सर्वत्र
 आदर पाते हैं ॥८॥ जो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और मनुष्य उनके चरण-
 रजसे अपने बालोंको विभूषित कर लेते हैं, उन्हें मुगन्धिवर्णोंकी चाह नहीं रहती ॥९॥ श्रोधर
 मुनि तेजकी दृष्टिसे सूर्य हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जिनसे वे उससे कहीं
 अच्छे हैं; क्योंकि उगणताके कारण सूर्यके किरण (चरण) सेवन करने योग्य नहीं हैं जब कि
 उनके चरण सेवन करने योग्य हैं । सूर्य सन्तापमहित हैं किन्तु वे सन्तापरहित हैं; क्योंकि
 वे कभी ऐसा कार्य ही नहीं करते जिससे उन्हें सन्ताप हो । सूर्यका वर्ण चन्द्र-जैसा उज्ज्वल
 नहीं है । किन्तु उनका शरीर चन्द्र-जैसा उज्ज्वल है । वे सारे भूमण्डलके प्रमोदको बढ़ाते हैं
 पर सूर्य सारे भूमण्डलकी बात तो दूर रहो कुमुदको भी प्रमोद नहीं दे पाता ॥ १० ॥

१. श स 'भ्रमन्ति इत्यादि' इति । २. श भ्रम स भ्रम । ३. श स अगणेषाश्च ।
 ४. = गणनीयता गणनाविषयता, गणन जनवन्दन नीयता प्राप्ताय च ।

मुनेस्तस्य प्रभावेण^१ या विभूतिरभूदने ।
 तां विषयाम्यहं किं तु वक्ष्यं नोक्तं करोति मे ॥११॥
 वसन्तमनपेक्ष्यैव तस्यातिशयविस्मिताः ।
 रोमाञ्चानिव मुञ्चन्ति कोरकांश्चूतपादपाः ॥१२॥
 तत्संगादिव संजातशान्तचित्तेन पुण्यता^२ ।
 न विसोदमशोकेन कामिनीपादताडनम् ॥१३॥
 बकुला अपि दृष्ट्वा तमणुव्रतमिषाश्रिताः ।
 यद्वधूमधुगण्डूषाननादृत्यैव पुष्पिताः ॥१४॥
 तिलकस्तिलकं पृथ्व्यास्तं दृष्ट्वा व्यकसत्स्थान् ।
 स्वपक्षवर्शनात्कस्य न प्रीतिरुपजायते ॥१५॥

स्फुटयति । काशि^३ दीप्ती जिज्ञासाल्लट् ॥१०॥ मुनेरित्यादि । तस्य मुनेः श्रीधरमुनिपस्य । प्रभावेण^४ सामर्थ्येन ।
 वने मनोहरोद्याने । या विभूतिः संपत्तिः । अभूत् अभवत् । ता विभूतिम् । अहं विवक्षामि वक्षतुमिच्छामि ।
 वच् परिभाषणे । 'कम्पेककत् काल्' इत्यादिना सन् प्रत्ययः तस्मात्सलट् । किंतु विशेषोऽस्ति । मे मम । 'ते मया-
 वेकत्वे' इति अस्मच्छब्दस्य पष्ठपेकवचने मे इत्यादेशः । ववत् वदनम् । उक्तं भाषितम् । न करोति न
 विदधाति । हुकुञ् करणे लट् । तद्विभूतिर्वाचामगोचरेति भावः ॥११॥ वसन्तमिष्यादि । तस्य मुनिपतेः ।
 अतिशयविस्मिताः अतिशयेन उत्कर्षेण विस्मिताः आश्चर्यं यताः । चूतपादपाः सहकारवृक्षाः । वसन्तं
 वसन्तकालम् । अनपेक्ष्यैव अपेक्षामकृत्यैव । रोमाञ्चानिव रोमहर्षणानीव । कोरकान् मुकुलानि । मुञ्चन्ति
 धरन्तीत्यर्थः । मुचून् मोक्षणे ॥१२॥ तत्संगादिष्यादि^५ । पुण्यता^६ विकसता । अशोकेन अशोकवृक्षेण । तत्संगात्
 तस्य मुनिपतेः संगत् सम्पत्तिः । संजातशान्तचित्तेन सम्पन्नज्ञानशान्तहृदयेनैव । कामिनीपादताडनं कामिनीनां
 स्त्रीणां पादताडनं चरणपातात् । न विषोडं न मृष्टम्, वाञ्छितं न भवतीत्यर्थः ॥१३॥ बकुला इष्यादि । बकुलाः
 बकुलवृक्षाः अपि । तं मुनीन्द्रम् । दृष्ट्वा बोध्य । अणुव्रतं सूक्ष्मव्रतं-आवकव्रतम् । श्रिता इव आश्रिता इव ।
 'श्रितादिभि' इति समासः । यन् यस्मात्कारणात् । वधूमधुगण्डूषान् वधूनां स्त्रीणां मधुनो मधस्य गण्डूषान्
 निष्ठोषनक्रिया । अनादृत्यैव उदासीनं कृत्यैव^७ । पुष्पिताः पुष्पाणि संजातानि एषाम् इति पुष्पिताः कुसुमिताः ।
 बकुलवृक्षाणां स्त्रीणां मधुगण्डूषेण पुष्पाणि जायन्तेऽन तदपेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥१४॥ तिलक इष्यादि । तिलकः

उनके प्रभावसे मनोहर बागकी जो विभूति प्रकट हुई है, उसे मैं तो कहना चाहता हूँ, किन्तु मेरा मुँह कहना नहीं मान रहा है । शब्दोंमें इतना सामर्थ्य ही कहाँ, जो वे उसे कह सकें; वह तो केवल देखते ही बनती है ॥११॥ सभी जगह वसन्त ऋतुके आनेपर ही आमके पेड़ोंमें बौर लगती है, किन्तु राजन्, आपके मनोहर बागमें बिना वसन्तके आये ही उनमें बौर लग गई है । लगता है मुनिराजके अतिशयसे चकित हो जानेके कारण उन्हे रोमाञ्च हो आया है ॥१२॥ स्त्रियोंके चरणोंकी चोट सहे बिना ही अशोक वृक्ष विकसित हो गये हैं । मानो मुनिराजके समागमसे उनका चित्त शान्त हो गया है ॥१३॥ मौलसिरी वृक्ष स्त्रियोंके मद्यके कुरलोंकी अवहेलना करके अपने-आप विकसित हो गये है । मानो मुनिराजके दर्शन पाकर उन्होंने पाँच अणुव्रत ग्रहण कर लिये हैं ॥१४॥ मुनिराज पृथिवीके तिलक हैं । मानो इसीलिए उनके दर्शन

१. क ख ग घ प्रभावेन । २. अ 'तिशयि' । ३. अ आ इ क ख ग घ श स पुष्पिता । ४. कासुङ् दीप्ती इति शाकटा० धातुपाठे, काम्ठ दीप्ती इति पाणिनीये । ५. वा स 'भावेन' । ६. श स मुच । ७. श स 'ङ्गादिति' । ८. श स पुष्पिता । ९. = अनपेक्ष्यैव ।

तत्तमभ्रवणज्जातविबोधा इव चम्पकाः ।
 न मनागप्यजायन्त मलिनालिसमाश्रयाः ॥१६॥
 यथा पलाशास्तत्रैव शोभन्ते न च किं शुक्लैः ।
 तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किं शुक्लैः ॥१७॥
 जयशब्दं वयःशब्दैः कुर्वन्त्याः काननश्रियः ।
 दन्तावलिस्त्वाभाति कुन्दकुड्मलसंततिः ॥१८॥
 हासानिव विमुञ्चन्तः संतोषात्कुसुमोद्गमान् ।
 शिखण्डिताण्डवाटोपं तन्वन्ति कुटजद्रुमाः ॥१९॥

तिलकवृक्षः । पुष्पाः भूमेः । तिलकं श्रेष्ठम् । तं मुनिम् । दण्डवा वीक्ष्य । क्षणात् उत्सवात् । 'कालविबोधा-
 त्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । व्यक्तसत् अस्फुटत् । कस गती लङ् । तथा हि—स्वपक्षदर्शनात् स्वेषा पक्षणां
 सहायानां दर्शनात् वीक्षणत् । कस्य पुरुषस्य । प्रीतिः संतोषः । नोपजायते नोत्पद्यते, अपि तु उपजायते
 एव ॥१५॥ तत्तमभ्रवणादि । चम्पका चम्पकवृक्षाः । तदभ्रवणत् तस्य श्रोधरमुनोद्गस्य धर्मस्य धर्मोपदेशस्य
 श्रवणात् । जातविबोधा इव जात उत्पन्नो बोधो येषां ते त इव । मनागपि स्वल्पमपि । मलिनालिसमाश्रयाः
 मलिनानां कुण्ठवर्णानाम् अलोना भ्रमराणां समाश्रयाः सङ्गम्यवृक्षाः, पापसमूहस्थाधारा न भवन्तीति ध्वनिः ।
 नाजायन्त नाभवन् । जनेद् प्रादुर्भाव्ये लङ् ॥१६॥ यथेत्यादि । तत्रैव मनोहरोद्यान एव । पलाशाः पलाश-
 वृक्षाः । नवकिंशुकैः नवैर्नवीनैः किंशुकैः । किंशुकवृक्षस्य पुष्पाणि किंशुकानि तैः । 'बहुलं श्लोकं पुष्पमूले' इति
 ब्रिहत्सप्रत्ययस्य श्लोकः । यथा येन प्रकारेण । शोभन्ते विराजन्ते । तथैव तेन प्रकारेणैव । जम्बूतरवः जम्बू-
 वृक्षाः । शुक्लैः कीरपक्षिभिः । न विराजन्ते किं न शोभन्ते किम् । अपि तु विराजन्त एव । राज्ञ् दीप्तो
 लट् । यमकम् ॥१७॥ जयशब्दमित्यादि । कुन्दकुड्मलसंततिः कुन्दानां माध्यानां कुड्मलानां मुकुलानां
 संततिः समूहः । वयःशब्दे वयसा शब्देः पक्षिध्वनिभिः । 'खगवास्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । जयशब्दं
 जयैतिशब्दम् । कुर्वन्त्याः विदधत्याः । काननश्रियः उद्यानलक्षणा । दन्तावलिश्च दन्तानां रदनानाम्
 आवलिः पङ्क्तिः समूह इव । आभाति विराजते । भा दीप्तो लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ हासानित्यादि ।
 संतोषात् प्रमोदात् । हासानिव हास्यानीव । कुसुमोद्गमान् कुसुमानां पुष्पाणाम् उद्गमान् कुड्मलानि ।

पाकर तिलकवृक्ष मारे खुशीके फूल उठे हैं । अपने पक्षके व्यक्तिको देखकर किसे प्रसन्नता नहीं
 होती ? ॥१५॥ जान पड़ता है उनके श्रीमुखसे धर्मोपदेश सुनकर चम्पक वृक्षोंका विवेक जाग
 उठा है, मानो इसीलिए उन्होंने अपना पूर्ण विकास कर लिया है और इसके पश्चात् काले
 भीरोंको—भीरोंको क्या पापपुञ्जको—आश्रय लेनेके लिए अपने पास तनिक भी नहीं फटकने
 दिया ॥१६॥ राजन् ! यह तो सभी जानते हैं कि ढाकके पेड़ वसन्तमे और जामुनके पेड़ वर्षा
 ऋतुमें विकसित होते हैं । किन्तु आपके बागमें इस समय ढाकके पेड़ जैसे नवीन फूलोंसे शोभा
 पा रहे हैं क्या उसी प्रकार जामुनके पेड़ तांतोंसे शोभा नहीं पा रहे हैं ? ॥१७॥ राजन् ! वहाँ
 पक्षी चहचहा रहे हैं, अतः लगता है मुनिराजको देखकर वनलक्ष्मी जयजयकार कर रही है ।
 कुन्द वृक्षोमें कलियाँ खिल रही हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो जयजयकार
 करनेसे उसके दाँतोंकी पङ्क्ति देख पड़ रही हो ॥१८॥ कुटजवृक्ष विकसित हो गये हैं । उनमें
 कलियाँ खिल उठी हैं । अतएव ऐसा जान पड़ता है कि मुनिसमागमके संतोषसे वे हँस रहे हैं ।

१. आ इ तथैव म तत्रैव । २. अ क ख ग घ म संहतिः । ३. श स तथापि । ४. = विबोधा ।
 ५. आ कुटम् ।

भयात्पलायमानस्य कामस्य गलिता करात् ।
 बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितिस्ततः ॥२०॥
 शुचिसंगाद्विकासो मे कक्षातोऽपि मुनेः शुचिः ।
 इतीव मन्यमानागाद्विकासं नयमल्लिका ॥२१॥
 कदम्बैः सहसा नाथ विकसत्कुसुमोत्करैः ।
 रोमाञ्चकञ्चुकादानादलभोत्समीकृतः ॥२२॥
 तिरश्चां संहतिस्तत्र परस्परविरोधिनी ।
 विरोधं सहजं हित्वा बन्धुभावेन वर्तते ॥२३॥

विमुञ्चन्तः विमुञ्चमानाः । कुटजद्वयाः कुटजवृक्षाः । शिखण्डिताण्डशटीय शिखण्डिनां मयूराणां ताण्डवस्य नर्तनस्य बाटोर्प संभ्रमम् । तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तन्वुं विस्तारे लट् ॥१९॥ भयादित्यादि । भयात् भोतेः । इतस्ततः इतोऽनुत्पद्यते । पलायमानस्य । कामस्य मन्मथस्य । करात् हस्तात् । गलिता पतिता । बाणावलिरिव बाणाणां शराणाम् आवलिरिव समूह इव । बाणावलिः बाणाणां कुरण्टकानाम् आवलिः समूहः । आभाति शोभते ॥२०॥ शुचिसंगादित्यादि । मे मम । शुचिसंगात् शुचेः आषाढमासस्य संगे संपत्ति, पक्षे शुचेः निर्मलपुष्पस्य संगे । विकासः विकसनम् । भवितव्य इति शेषः । अतो^१ अमुष्मात् । मुनेरपि योगीन्द्रादपि । कः शुचिः को निर्मलः न कोऽप्ययम् इति भावः । इति इत्थम् । मन्यमानेव दुष्टमानेव । नयमल्लिका नूतनमल्लिका । विकासं विकसनम् । अगात् आयात् । इण गती लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥२१॥ कदम्बरित्यादि । नाथ, भो स्वामिन् । विकसत्कुसुमोत्करैः विकसन् कुसुमानाम् उत्करो येनां तैः, विकसत्पुष्पसमूहयुक्तैरित्यर्थः । कदम्बैः कदम्बवृक्षैः । रोमाञ्चकञ्चुकादानात् रोमाञ्च एव रोमहर्षणम् एव कञ्चुको वारबाणः तस्य आदानात् । आत्मा स्वयम् । सहसा शीघ्रेण^२ । अलम् अत्यन्तम् । समीकृतः प्राक् असम इदानीं समः क्रियते स्य समीकृतः, अनुवम् इति भावः ॥२२॥ तिरश्चामित्यादि । तत्र मनोहरोद्याने । परस्परविरोधिनी परस्परवैरवती । तिरश्चा तिर्यग्जीवानाम् । संहतिः संदीहः । सहजं सहभाविनम् । विरोधं । हित्वा त्यक्त्वा । बन्धुभावेन बन्धुत्वेन, उपशमभावेनेत्यर्थः ।

कुटज वृक्षोंका विकास देखकर मयूर यह समझ रहे है कि वर्षाऋतु आ गयी है, अतः वे भी नाच रहे है ॥१९॥ राजन् ! वहाँ इधर-उधर बाण-वृक्षोंकी पत्तियाँ लगी हुई है । वे ऐसी जान पड़ती है मानो मुनिराजके भयसे भागे हुए कामदेवके हाथसे गिरे हुए बाणोंकी पंक्तियाँ हों ॥२०॥ 'शुचि-आषाढमासके समागमसे मेरा विकास होता है । इन मुनिराजसे बढ़कर शुचि-पवित्र (आषाढ मास) और कौन होगा' मानो यही सोचकर चमेली खिल उठी ॥२१॥ राजन् ! मुनिराजके आनेपर जिस समय कदम्ब वृक्षोंमें फूल खिले उसी समय मेरे सारे शरीरमें रोमांच हो आया, इससे ऐसा जान पड़ा मानो मेने कवच पहन लिया हो । इस अवसरपर कदम्ब वृक्षोंने मुझे पूरी तरहसे अपने समान बना लिया ॥२२॥ जिन पशुओंमें आपसी विरोध है, उनका झुण्ड वहाँ जन्मजात विरोध छोड़कर मित्रोंकी भाँति हिल-मिलकर बैठा हुआ

१. अ क ख ग घ म 'दहमा' । २. श स तनुङ् । ३. आ प्रती केवल 'इतोऽनुत्पद्यते' इति पाठो दृश्यते । ४. आ 'अतो' इति नास्ति । ५. 'दानात्' इति टीकाकारसंमतः पाठः, 'धानात्' इति सर्वासु प्रतिषु । ६. = शीघ्रम् । ७. आ 'परस्पर' इति नास्ति । ८. आ हित्वा हा संपूर्ण त्यक्त्वा ।

इति श्रुत्वा स तद्वाणीं मुनिवृत्तान्तर्गसिनीम् ।
 स्वाङ्गेऽपि न ममौ हर्षाबुद्धेर्लभ्य वारिधिः ॥२४॥
 सत्कृत्य स स्वकीयैस्ते भूषणैः पारितोषिकैः ।
 वनपालमथान्यैश्च कृतार्थमकरोद्धनैः ॥२५॥
 यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः ।
 इत्युक्तिं घोषयन्नुच्चैरुदस्यादासनादसौ ॥२६॥
 दिशि तस्यामवस्थाय यत्रासौ परमेश्वरः ।
 बद्ध्वा लक्ष्यमसौ भूमावनंसीत्तस्य पादयोः ॥२७॥
 व्यानशेऽथ तदादेशात्पुनं पटहन्निःस्वनः ।
 मुनिवन्दनयात्रायां कुर्वन्संकेतिनीः प्रजाः ॥२८॥

वसन्ते तिष्ठति । वृत्तु वसन् आत्मनवदम् ॥२३॥ इतीत्यादि । स. पचनाममहावति । मुनिवृत्तान्तर्गसिनी
 मुनेः श्रीधरमुनीन्द्रस्य वृत्तान्तर्गसिनी वार्ताभिषासिनीम् । तद्वाणी तस्य वनपालस्य बाणी वचनम् । इति उक्त-
 प्रकारेण । श्रुत्वा निश्चयम् । हर्षात् संतोषात् । स्वाङ्गेऽपि स्वस्व आत्मनः अङ्गेऽपि शरीरेऽपि । उद्धेलः वेला-
 मुदगतः, तीरमतिक्रान्त इत्यर्थः । वारिधिरिव समुद्र इव । न ममो न प्रमिमोते स्म । मा माने लिट् ॥२४॥
 सङ्कल्पेत्यादि । सः पचनामः । अथ वार्ताश्रवणानन्तरम् । स्वकीयैः स्वस्य सङ्घैः । पारितोषिकैः पारि-
 तोषस्य संतोषस्य योग्यानि पारितोषकाणि तैः । भूषणैः आभरणैः । त वनपालम् ऋषिनिवेदकम् । सत्कृत्य
 वरकारं कृत्वा । 'कारिका'—इत्यादिना ति सज्ञा । अन्यैश्च शेषैश्च । धनं, द्रव्यं । कृतार्थं कृता निष्पत्तौऽर्थः,
 प्रयोजनं यस्य तम् । अकरोत् अकार्षीत् । हुकुक् करणे लट् ॥२५॥ यस्येत्यादि । यस्य देवस्य देवतायाः ।
 गृहम् आवासः । गन्तव्यं गन्तुं योग्यम् । स देवः देवता । आगतः समायातः । इत्युक्तिम् एव प्रकारः [कं]
 नीतिवचनम् । उच्चैः नितान्तम् । घोषयन् उच्चारयन् । असौ पचनाममहोपतिः । आसनात् सिंहासनात् ।
 उदस्यात् उदतिष्ठत् । आ घातिनिवृत्तौ लुट् ॥२६॥ दिशीत्यादि । असौ पचनामभूपतिः । यत्र यस्यां दिशि ।
 असौ अयम् । परमेश्वरः श्रीधरमुनिपरमेश्वरी वसन्ते । तस्या दिशि । अवस्थाय अवस्थान पठ्यं स्थित्वा । लक्ष्यम्
 अङ्गम् । बद्ध्वा कृत्वा । तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य । पादयोः चरणारविन्दयोः । भूमी चरण्याम् । अवनमोत्
 अनमत् । णम् प्रह्वं शब्दे । लुट् ॥२७॥ स्थानश इत्यादि । अथ व दनाः । तम् । तदादेशात् तस्य पच-
 नाममहोपतेः आदेशात् आशया । मुनिवन्दनयात्राया मुनेः मुनोऽयं वन्दनस्य यात्राया प्रस्थाने । प्रजाः
 पौरजनान् । संकेतिनीः संकेतवतीः । कुर्वन् विदधानः । पटहस्वनः पटहस्य आलकस्य स्वनः ध्वनिः । पुरं रत्नस-

है ॥२३॥ इस प्रकार मालीसे मनोहर बागमे मुनिराजके आनेके समाचार मुत्तकर महाराज
 पचनाम चन्द्रोदय होनेपर उमड़े हुए सागरकी भांति खुशोके भारे अपने शरीरमे फूला नहीं
 समाया ॥२४॥ पचनामने अपने आभूषण देकर उस मालीको सत्कार किया और उसे और भी
 धन इनममे देकर कृतार्थ कर दिया ॥२५॥ 'जिनके मन्दिरमे मुझे स्वयं जाना चाहिए था वे देव
 स्वयं ही मेरे घर पधारे है' इस उक्तिको जोरसे दुहराता हुआ राजा पचनाम उन्नत सिंहासनसे
 उठ खड़ा हुआ ॥२६॥ और जिस दिशामे मुनिराज विराजे थे उसी ओर खड़े होकर पचनामने
 भूमिपर उनके चरणोका ध्यान कर नमस्कार किया ॥२७॥ इसके पश्चात् महाराज पचनामके
 आदेशसे प्रजाको मुनिराजकी वन्दनाके लिए जानेवाले जुलूसमें सम्मिलित होनेकी सूचना देनेके

१. अ वारिधिः । २ 'यैः संभूष' । ३ आ घा घातिनिवृत्तौ लट् आत्मने पदम् । ४. = न मानि स्म ।
 ५. = आत्मोयै । ६. आ प्रतावेव 'ऋषिनिवेदकम्' इति समुपलभ्यते । ७ = आदृत्य । ८. आ श ख
 इत्युपलम् । ९. = पश्चात् किञ्चित् । १०. = नमनोद्देश्यम् ।

पञ्चषानपि कृत्याग्ने पत्नीन्प्राप्तैर्नराधिपैः ।
क्रमशः संमिलल्लोकैरनुभ्यद्राजगोपुरम् ॥२६॥
सपौरः सपुटद्वारैः सकलशः सबाध्यशः ।
सतनूजः ससामन्तः स चञ्चाल ससैनिकः ॥२७॥
गच्छद्भ्रातृवयसंक्रान्तिद्विदुक्तनयनो वनम् ।
नन्दनाभिमुखीभूतशक्रशोभां भमार सः ॥२८॥
लगादशोकसंयुक्तं पुंनागपरिवारितम् ।
वनमात्मसमं प्राप्य पिप्रिये पृथिवीपतिः ॥२९॥

वायुना विदधे किञ्चित्संज्ञाताध्वपरिश्रमः ।
 वनलघ्मोविनिःश्वाससमेन विपरिश्रमः ॥३३॥
 सेनापतिं समादिश्य सेनामावासायेति स ।
 प्रविशेष्ट महानागाद्वधतीर्य महावनम् ॥३४॥
 राजलीलां^१ परित्यज्य चामरादिपरिच्छेदाम् ।
 विनीतः शिष्यवद् भेजे देशं मुनिसमाश्रितम् ॥३५॥
 दृष्ट्वा च मुनिस्तेन स्थितो नीलशिलातले ।
 शरत्प्रसन्ने शीतांशुरिवाकाशैकमण्डले ॥३६॥
 त्रिः परोत्य प्रणम्य त्रिभिर्जयेति निगद्य सः ।
 त्रिरुक्तमखिलं कृत्वा न्यचित्तत मुनेः पुरः ॥३७॥

समं सदृशम् । वनं वनोद्गरोद्यानम् । क्षणात् क्षीघ्रात्^१ । प्राप्य गत्वा । विप्रियं प्राति यदी । प्रीज् प्रीतो ।
 लिट् । श्लेषः ॥३३॥ वायुदेश्यादि । किञ्चित्संज्ञाताध्वपरिश्रमः^२ किञ्चित् ईषत् संज्ञातेन उत्पन्नेन अध्वनः
 मार्गस्य परिश्रमेण युक्तः वनलघ्मोविनिःश्वाससमेन वनस्य उद्यानस्य लक्ष्म्याः श्वयः निःविनिः श्वासस्य
 समेन सदृशेन । वायुना मन्दमास्तेन । निपरिश्रमः विगतपरिश्रमः । विदधे चक्रे । दुष्टान् चारणं च । कर्मणि
 लिट् । उपमा ॥३४॥ सेनापतिमित्यादि । सः पद्मनाभभूषालः । सेनां चमृम् । आवासेति निवासयेति^३
 सेनापतिं सेनानायकम् । समादिश्य आज्ञापयित्वा । महानागात् महागजपतेः^४ । अवतीर्य अवहत् । [महावनं]
 महत् पृथु वनम् उद्यानम् । प्रविशेष्ट जगाम^५ । विश प्रवेशने लिट् ॥३४॥ राजलीलामित्यादि । विनीतः
 विनययुतः । चामरादिपरिच्छेदा चामरादिभिः प्रकोणकादिभिः परिच्छेदैः परिकरैः युक्ता राजलीला राज-
 विलासम्^६ । परित्यज्य बिभृष्य । मुनिसमाश्रितं मुनिना मुनीश्वरेण समाश्रितम् । देशं प्रदेशम् । शिष्यवत्
 छात्रवत् । भेजे क्षिपेत्^७ । भज सेवायाम् । लिट् ॥३५॥ दृष्ट्वा इत्यादि । शरत्प्रसन्ने शरदा प्रसन्ने निर्मले ।
 आकाशैकमण्डले आकाशस्य एकमण्डले एकप्रदेशे । शीतांशुरिव चन्द्र इव । नीलशिलातले इन्द्रनीलशिला-
 प्रदेशे । स्थितः । मुनिः मुनीश्वरः । तेन पद्मनाभभूषेन । ददृशे च बोधये^८ । दृग् प्रेक्षणे^९ । कर्मणि लिट् ॥३६॥
 त्रिःपरीत्येत्यादि । सः पद्मनाभभूषः । त्रि परोत्य त्रीन् बारान् परोत्य प्रदक्षिणोक्तस्य । त्रिः त्रीन् बारान्
 जयेति सर्वोत्कर्षेण वसंस्वेति । निगद्य उच्चार्य । अखिलं समस्तम् । त्रिरुक्तं त्रिवारोक्तम् । कृत्वा विधाय ।

बड़ो प्रसन्नता हुई ॥३२॥ पद्मनाभने रास्तेको थोड़ी-सी थकान हो गयी थी । किन्तु उसे वनलघ्मोकी श्वास-सरीखी वहाँको मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुने शीघ्र ही दूर कर दिया ॥३३॥ पद्मनाभने पहले सेनापतिको आदेश दिया कि सेनाको यहाँपर ठहरा दो और फिर हाथीसे उतरकर वनमें प्रवेश किया ॥३४॥ पद्मनाभने चामर आदि साहो ठाटको हटा दिया और फिर एक विनीत शिष्यकी भाँति वे उस प्रदेशमें जा पहुँचे जहाँ मुनिराज विराजे थे ॥३५॥ वहाँ पहुँचकर पद्मनाभने मुनिराजके दर्शन किये । वे उस समय नीलो चट्टानपर विराजमान थे । अतः वे शरत्कालीन निर्मल आकाशके एक प्रदेशमें पूर्णचन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥ फिर पद्मनाभने मुनिराजको तीन बार परिक्रमा की, उन्हें तीन बार प्रणाम किया और तीन बार उनका जयजयकार किया । इस तरह सब तीन-तीन बार करके उनके आगे

१. क ख ग राजलक्ष्मीम् । २. = शीघ्रम् । ३. = किञ्चित् ईषत् संज्ञातेन उत्पन्नोऽध्वपरिश्रमो यस्य सः ।
 ४. = निवेशय, हति-हृषयम् । ५. आ वा स महागजपतेः सकाशात् । ६. = प्रवेशं चकार । ७. क ख ग राज-
 ८. द मोम् । ८. = प्राप इत्यर्थः । ९. = दृष्ट्वा । १०. आ दृष्ट्वा प्रेक्षणे वा स दृष्ट प्रेक्षणे ।

नृपतेर्मुकुलीकुर्वन्स कराम्भोरुहद्वयम् ।
 शीतगुत्वं व्यनक्ति स्म स्वकीयं मुनिपुंगवः ॥३८॥
 भुवः शोभाभवघोगाद्या जिनेन्द्रसुरेन्द्रयोः ।
 तयोः संगतयोरासीत्सा मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः ॥३९॥
 शान्ते अयजयेत्युच्चैर्मव्यकोलाहले ततः ।
 दत्ताशीर्मुनिना तेन जगाद् जगतीपतिः ॥४०॥
 निरालोके जगत्पस्मिन्नदृष्टशिवधर्मनि ।
 सम्मार्गदर्शनाप्रार्थं त्वमालोक इवोद्गतः ॥४१॥
 खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने सचराचरे ।
 दिव्यज्ञानमये यच्च स्फुरितं तव चक्षुषि ॥४२॥

मुनेः मुनीन्द्रस्य । पुरः अग्रे । न्यविक्षत उपाविक्षत । विश प्रवेशने । लङ् ॥३७॥ नृपतेरित्यादि । नृपतेः पद्मनाभमहीपतेः । कराम्भोरुहद्वयं मुकुलीकुर्वन् कुङ्कुलीकुर्वन् । स मुनिपुंगवः मुनीनां पुंगवः श्रेष्ठः । स्वकीयं स्वसंबन्धम् शीतगुत्वं शीता गावः किरणाः यस्य [सः] शीतगुः, तस्य भावः तत् । व्यनक्ति स्म व्यनक्ति करोति स्म । अञ्जु गतिव्यक्तिप्रशङ्गेषु । लट् । लट् स्म योगे भूतार्थः ॥३८॥ भुव इत्यादि । जिनेन्द्र-सुरेन्द्रयोः तीर्थंकरदेवेन्द्रयोः । योगात् संबन्धात् । भुवः भूमेः । या शोभा द्युतिः । अभवत् अभूत् । लङ् । संगतयोः संयुक्तयोः । तयोः मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः शीघरमुनीन्द्रपद्मनाभयोः । योगात् सा शोभा । आशीत् अभवत् । अस भुवि लङ् ॥३९॥ शान्त इत्यादि । ततः पश्चात् । अय जयेति सत्त्वैक्येण वर्तस्वेति । उच्चैः, नितागतम् । भव्यकोलाहले भव्यानां रत्नश्रयाविभवंनयोग्यानां कोलाहले कलकले । शान्ते स्तिमिते । तेन मुनिना मुनीन्द्रेण । दत्ताशीः वित्तीणीशोः । जगतीपतिः जगत्या, लोकस्य पतिः । जगाद् उवाच । गद व्यवज्ञायं वाचि । लिट् ॥४०॥ निरालोक इत्यादि । नाथ स्वामिन् । अदृष्टशिवधर्मनि शिवस्य मोक्षस्य धर्म मार्गः शिव-धर्म, अदृष्ट शिवधर्म येन (यस्मिन्) तस्मिन् । निरालोके आलोकान्निर्गतो[त] निरालोकः[कं] तस्मिन्, प्रकाशराहित इत्यर्थः । 'आलोको' दर्शनोद्योतो इत्यमरः । अस्मिन् एतस्मिन् । जगति लोके । सम्मार्ग-दर्शनात् सती विशिष्टस्य मार्गस्य अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य दर्शनात् प्रकाशनात् । त्वं भवान् । आलोक इव प्रदीप इव । उद्गन् उद्गच्छन्ति स्म तयोक्तः अधिगतः । गम्यु गतो । क्तप्रत्ययः । उपमा ॥४१॥ खपुष्पमि-

वैठ गया ॥३७॥ मुनिराजके आगे बैठते हो पद्मनाभके दोनों हाथ अपने आप संकुचित कमलकी कलीकी भाँति जुड़ गये । अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मुनिराजने अपना चन्द्रपना व्यक्त कर दिया हो ॥३८॥ मुनिराज और राजा पद्मनाभके संयोगसे उस समय पृथिवीकी वही शोभा उत्पन्न हो गयी जो पहले तीर्थंकर और इन्द्रके संयोगसे हुई थी ॥३९॥ भव्य जीव इस समय मुनिराजकी जयजयकार कर रहे थे । इससे बड़ा कोलाहल सुनायी पड़ रहा था । उसके शान्त होते ही पद्मनाभ मुनिराजसे आशीर्वाद लेकर यों बोला— नाथ ! इस जगन्में ज्ञानका प्रकाश न रहनेसे कल्याणका मार्ग नहीं सूझ रहा था । आपके आते ही वह सूझने लगा है, अतः आप प्रकट हुए प्रकाशके समान हैं ॥४२॥ इस जंगम

१. स नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । २. अ आ इ 'देशनाम्नाय । ३. आ कर एवाम्भोरुहयो द्वयम् (करावेवा-म्भोरुहे तयोर्द्वयं करकमलयुगलम्) । ४. श स कराम्भो-इत्यादि मूलं तद्वयाख्यानां च नास्ति । ५. = आत्मीयम् । ६. श स किरणानि । ७. श स भवन इत्यादि । ८. स नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । ९. आ मार्गः । १०. आ 'लोकः । ११. अ आ इ 'देशनाम्नाय । १२. आ प्रती केवलम् 'अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य' इति समुपलभ्यते ।

ततोऽवगन्तुमिच्छामि त्वत्तत्त्वार्थं जगत्प्रभो ।
स्वद्विष्यं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम् ॥४३॥
कच्चिद्विष्यं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिताः ।
न जीवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचरः ॥४४॥

स्वादि । सवराचरे चरादथ अचरादथ चराचराः तैः सह वर्तन्ते इति सवराचरं^१ तस्मिन्, जङ्गमस्यावरसहिते
इत्यर्थः । भुवने जगति । यत् वस्तु । दिव्यज्ञानमये अपूर्वज्ञानस्वरूपे । तत्र भवतः । चक्षुषि ज्ञानचक्षुषि ।
न स्फुरित न दृष्टम् । तत् वस्तु । स्वपुष्पम् आकाशकुसुममिति । ग्रन्थे जानामि । मनि ज्ञाने लट् ॥४२॥ तत्
इत्यादि । ततः तस्मात् कारणात् । जगत्प्रभो जगता प्रभो जगन्नाथ । त्वत् तत्त्वत् त्वत्तः भवतः सकाशात् ।
तत्त्वं वस्तुस्वरूपम् । अधिगन्तुम् अधिगमनाय अधिगन्तुं ज्ञातुम् । गत्यर्थानां घातुना ज्ञानार्थत्वादित्यर्थः ।
इच्छामि वाञ्छामि । इयु इच्छाया लट् । 'यं मिषोः इच्छ इति दादेशः'^३ ('यम्ममिषोऽिच्छ' शाकटा०
४।२।५७ यम् इयु इत्येतेषां घातुना यि प्रत्यये छकारादेशो भवति । यच्छति गच्छति इच्छति) । गुरु-
प्रत्ययवर्जितं गुरोः प्रत्ययेन उपदेशेन वर्जितम् । परिज्ञानं विज्ञानम् । मंदिष्यं मशयितम् । हि स्फुटम् ।
अर्थान्तरव्यासः ॥४३॥ केचिद्विद्यादि । मानगोचरः मानस्य प्रमाणस्य गोचरो विषयः सामान्यविशेषादमा-
प्रमाणार्थो विषय इत्यभिप्रायः । कविदपि एकोऽपि । जीव जीवति जीविष्यति अजीवोवत्^४ इति जीवः
प्राणिपदार्थः वस्तु । नास्ति न विद्यते । असं भुवि । लट् । नास्तिकागम नास्ति परलोकादिमदिमित्यस्य
[सः] नास्तिकः चार्वाकः, तस्य आगम^५ मतम् । आश्रिताः आश्रयन्ते स्म तथोक्ता, अङ्गोक्तानां^६ इत्यर्थः ।
कच्चिद् अन्ये । इत्थम् अनेन प्रकारेण । 'कवमित्यम्' इति साधु । यत यस्मात् । यतः कस्मात्(?) । प्राहुः

औरस्यावर जगत्में, मैं उस वस्तुको आकाशका फूल समझता हूँ, जो आपकी दिव्यज्ञानकी
दृष्टिसे ओझल हो ॥४२॥ हे जगन्नाथ ! इसीलिए मैं आपसे तत्त्वोका स्वरूप जानना चाहता
हूँ, क्योंकि गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानमें सन्देह बना रहता है ॥४३॥ कोई नास्तिकागमा-
नुयायी (चार्वाक दर्शनवाले, और कुछ बातोंमें चार्वाकोसे भी चार कदम आगे चलनेवाले
'तत्त्वोपप्लव' दर्शनके अनुयायी) यह कहते हैं कि 'जीव' नामका ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है,

१. चार्वाक दर्शन बहुत पुराना है । इसका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है । इस दर्शनकी दृष्टिसे
पुष्प-नाप, स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं; पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार
भूत हैं (आकाश नहीं); जीव भूत चतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न होता है, जो देहके साथ उत्पन्न होकर, उसीके
साथ नष्ट हो जाता है और केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । तत्त्वोपप्लवदर्शन, चार्वाकदर्शनसे उत्पन्न हुआ एक
नवीन दर्शन है । यो यह दर्शन स्थूल रूपसे चार्वाकदर्शन समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाये,
तो उससे भिन्न है, यद्यपि उसीसे उत्पन्न हुआ है । भिन्नताका कारण मान्यताका भेद है । चार्वाकदर्शन,
भूतचतुष्टय रूप चार तत्त्व, किसी-न-किसी रूपमें जीवतत्त्व, और अन्य प्रमाणको न मानकर भी प्रत्यक्ष प्रमाण-
को स्वीकार करता है, जब कि तत्त्वोपप्लव दर्शन किसी भी तत्त्व और किसी भी प्रमाणको नहीं मानता ।
इस दर्शनकी दृष्टिसे सर्वत्र बाधा-ही-बाधा है । इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें उक्त दोनों दर्शनोंकी
पृथक्-पृथक् समालोचना की है । प्रस्तुत प्रकरणमें महाकवि चोरेन्द्रने तत्त्वोपप्लवदर्शनकी यहाँ पूर्वपक्षके
रूपमें उपस्थित किया है । २. आ^१ चरः । ३. श स ' -बहुवचनः पाठो नास्ति । ४. आ अजीवोवत् ।
५. = प्राणी । पदार्थः वस्तु । ६. श स आगमो' । ७. = अङ्गीकृतवन्तः ।

अजीवश्च कथं जीवापेक्षन्तस्यात्यये भवेत् ।

अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माखिव स्थितौ ॥४५॥

कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षाव्यस्ततः ।

सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तद्व्यये ॥४६॥

तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।

प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥४७॥

ब्रुवन्ति । 'ब्रुवन्ति' इत्युच्यते—'इत्यादिना रोह सादेशः ब्रुव आह इत्यादेशश्च । लट् ॥४४॥ अजीव इत्यादि । तस्य जीवपदार्थस्य । अत्यये अभावे सति । जीवापेक्षः जीवपदार्थसापेक्षः । अजीवश्च अजीवपदार्थः । कथं केन प्रकारेण । भवेत् स्यात् । जीवपदार्थस्य विद्यमानत्वे अजीवपदार्थ इति व्यपदेशः, तदभावे तद्व्यपदेशाभावाः, तस्मात्कारणात् अजीवपदार्थस्य जीवपदार्थपेक्षेत्यर्थः । अजीवजीवपदार्थौ स्थूलसूक्ष्माखिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारः । अन्योन्यापेक्षया परस्परपेक्षया । स्थितौ तिष्ठतः स्म हि । ष्टा गतिनिवृत्तौ कर्त्तरि वतः ॥४५॥ कथमित्यादि । ततः जीवाजीवयोः परस्परपेक्षया विद्यमानत्वात् । बन्धमोक्षादयः बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तौ आदौ^१ येषां ते तथोक्ताः । जीवधर्मा, जीवस्य धर्माः । कथं च केन प्रकारेण । स्युः भवेयुः । धर्मिणि धर्माः सन्ति अस्य इति धर्मो तस्मिन् । सति विद्यमाने । धर्माः स्वभावाः । भवन्ति सन्ति । भू सत्ताया लट् । तद्व्यये तस्य धर्मिणः अत्यये नाशे । न हि धर्माः न भवन्ति हि ॥४६॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणत् । सर्वं विद्यम् । तत्त्वं जीवादि वस्तुस्वरूपम् । उपप्लुतं^२ निराकृतं संवृतम् असत्यम् । तिष्ठतु वर्त्तताम् । प्रसार्यमाणं प्रसार्यते इति प्रसार्यमाणं विस्तार्यमाणम् । कर्मण्यनन्^३ । जीर्णवस्त्रवत् विशेषणवस्त्रमिष^४ । शतधा

जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध हो ॥४४॥ जीव पदार्थकी सत्ता जब किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, तो उसका अभाव ही मानना होगा, और उसका अभाव माननेपर अजीव पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि जीव और अजीव पदार्थोंका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । जैसे स्थूल और सूक्ष्मका व्यवहार । स्थूल व्यवहार तभी होता है, जब कोई सूक्ष्म हो और सूक्ष्म व्यवहार भी तभी होता है, जब कोई स्थूल हो । इसी तरह जीव व्यवहार अजीवको जानकर और अजीव व्यवहार जीवको जानकर किया जाता है ॥४५॥ और जब जीव पदार्थ ही सिद्ध नहीं है, तो उसके बन्ध और मोक्ष आदि धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? क्योंकि धर्मो-पदार्थके होनेपर ही उसका कर्म-स्वभाव या गुण सिद्ध होता है, न कि उसके अभावमें ॥४६॥ अतः जीव, अजीव, बन्ध और मोक्ष आदि सभी तत्त्व बाधित हैं । ऐसी स्थितिमें वे शास्त्रोंमें ही छिपे रहें । अन्यथा ज्यों-ज्यों विचार किया जायगा त्यों-त्यों पुराने सड़े-गले वस्त्रकी तरह उनमें सेकड़ों उलझनें उपस्थित हो जायेंगी । गला हुआ पुराना कपड़ा तभीतक सुन्दर मालूम पड़ता है, जबतक उसकी तह-ज खोकी जाये । तह खोलनेपर तो उसकी सेकड़ों घक्तिझां दृष्टिगोचर होने लगती है, और वे आपसमें उलझने भी लगती हैं ॥४७॥

१. इ 'धर्मा' इति भास्ति । २. = स्थूलश्च सूक्ष्मश्चेति स्थूलसूक्ष्मौ तद्वत् । ३. = इवशब्दो वाक्य-लङ्कारः । ४. आ आदिः । ५. = उपप्लुतं बाधितं संवृतमप्रसारितं वा । ६. = विस्तार्यमाणम् । ७. श सन्तु । ८. आ वस्त्र इव ।

जीवमन्ये प्रपद्यापि तद्धर्मं प्रति वादिनः ।
 विवदन्ते प्रबन्धेन विविधागमवासिताः ॥ ४८ ॥
 कूटस्थानित्यतां केचित्केचिदाहुरकर्तृताम् ।
 अन्ये तु जडतामन्ये चित्तसंततिरूपताम् ॥ ४९ ॥
 इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने गहने स्थितः ।
 यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना ॥ ५० ॥

शतैः प्रकारैः शतधा अनेकप्रकारैरित्यर्थः । विधीयते विनश्यति । श्रु हिंसाया कर्मणि लट् ॥४७॥ जीवमन्यादि । अन्ये केचित् । विविधागमवासिताः विविधैर्नामाप्रकारैः आगमैर्वासिताः संस्कृताः । वादिनः मिथ्यावादिनः । जीवं जीवपदार्थम् । प्रपद्यापि अङ्गोक्त्यापि । तद्धर्मं प्रति जीवस्य धर्मं प्रति । 'आगिनि च प्रतिपर्यनुभिः' इति द्वितीया । प्रबन्धेन नाना प्रविधेन विवदन्ते विवादं कुर्वन्ति । वद व्यक्ताया वाचि । 'विप्रलापे वा' इति तड् ॥४८॥ कूटस्थेत्यादि । केचित् अन्ये । कूटस्थानित्यता कूटस्थवद्वाचो नित्यश्च तथोक्तः तस्य भावः ता चिकालव्याप्यविनश्यत्स्वरूपम् । आहुः ब्रुवन्ति । केचित् अन्ये । अकर्तृताम् अकर्तुं भावः ता सुखदुःखाद्यकर्तृत्वम् । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये तु केचित् जडताम् अज्ञानत्वम् । 'जडोऽज्ञ इत्यमरः । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये' केऽपि । चित्तसन्ततिरूपता चित्तस्य शानस्य सन्ततिरेव सन्तानमेव रूपं स्वरूपं यस्य तस्य भावः ताम्, विज्ञानाद्वैत-स्वरूपवर्त्मित्यर्थः । आहुः ब्रुवन्ति ॥४९॥ इतीत्यादि । गहने प्रवेष्टुमशक्ये । 'गह्वरदु खविपिनकलिलेषु गहनम्' इति नामार्थकोशे । इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने इति आदित्येषां ते इत्यादयः, अनेके च ते सिद्धान्ताश्च तथोक्ताः, स एव गहनं तस्मिन् इत्यादिनामाप्यन्तर्याम्ये । स्थितः तिष्ठतिस्म स्थितः । दिग्भ्रमसंभ्रान्तः दिशा ककुभा भ्रमेण मोहेन संभ्रान्तो मोहितः । पुरुष जीवः । केन वर्त्मना केन मार्गेण । यातु गच्छतु । या प्रापणे लोट् ॥५०॥

सांख्य, नैयायिक और बौद्ध आदि अन्यवादो जीवतत्त्वको स्वीकार करके भी उसके नित्यत्व आदि धर्मोंको लेकर आपसमें विवाद करते हैं, तथा अपने-अपने पक्षके समर्थनमें अपने-अपने शास्त्रोंके संस्कारवश प्रमाण भी उपस्थित करते हैं ॥४८॥ सांख्य लोग जीवको सर्वथा नित्य और सुख-दुःख आदिका अकर्ता मानते हैं । ये लोग कहते हैं कि प्रधान-अचेतन सुख आदिका कर्ता है और पुरुष-चेतन उसका भोक्ता । नैयायिक लोग जीवको जड मानते हैं । वे कहते हैं कि जीव स्वयं ज्ञानवान् नहीं है; ज्ञानके समवायसे वह ज्ञानवान् है । बौद्ध लोग जीवको चित्त-ज्ञानकी सन्तति रूप मानते हैं । उनका कहना है कि ज्ञानकी सन्तान ही जीव है ॥४९॥ इत्यादि अनेक सिद्धान्तोंके दुर्गम एवं बोहड़ जंगलमें जो यात्री अपनी गन्तव्य दिशा ही भूल गया हो, वह किस मार्गसे जाये-किस सिद्धान्तको अपनाकर अपने लक्ष्यको सिद्ध करे ? भगवान्

१. आ नाना प्रविधेन । २ = सांख्याः । ३ = नैयायिकाः । ४. बौद्धाः । ५. = सन्तान एव । ६. कूटस्थ...इत्यादि श्लोकके पूर्वार्द्धमें सांख्योके दो सिद्धान्त बतलाये गये हैं—पहला कूटस्थ नित्यता-का और दूसरा अकर्तृत्वका । निर्णयसारको मुद्रित प्रतिके टिप्पणसे ज्ञात होता है कि पूर्वार्द्धमें पहला सिद्धान्त सांख्योका और दूसरा मीमांसकोका है । किन्तु टिप्पणकारका यह निराश्रय है । यदि टिप्पण-कारकी दृष्टि इसी सङ्के ८१, ८२, ८३ नं० के श्लोकोपर पड़ जाती, तो उन्हे यह भ्रम नहीं होता । पूर्वार्द्धमें 'केचित्' का दो बार प्रयोग न होता, तो भी वे इस भ्रमसे बच सकते थे ।

इत्युक्त्वा वाचमुच्चार्य विरराम नरेश्वरः ।
 भारतीमथ गम्भीरां जगाद् परमेश्वरः ॥ ५१ ॥
 त्वयैयं ब्रुवता सूक्तं नृप सत्यमिदं कृतम् ।
 उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ५२ ॥
 जीवाजीवादि यत्पृष्ठमस्पृष्टपरदृषणम् ।
 यथा भवति तत्सर्वं तथाहं कथयामि ते ॥ ५३ ॥
 जीवो नास्तीति पक्षोऽयं प्रत्यक्षादिनिराकृतः ।
 तत्र हेतुमुपगम्यस्यन्कुर्यात्कः स्वविडम्बनाम् ॥ ५४ ॥

हृत्सीत्यादि । नरेश्वरः नराणां मनुष्याणामोदहरः पद्मनाभ । उक्त्वा वाचम् उक्त्वो गम्भीरभूतो अर्थोऽभिधेयो यस्याः ताम् । वाचं वाणीम् । इति एवं प्रकारेण । उक्त्वा प्रोच्य । विरराम तूष्णीं स्तितः । रमिं क्रीडायाम् । लिट् । 'न पर्याङ्ग्रे रमः' इति तद्-निषेधः । अथ विरमानन्तरम् । परमेश्वरः परमदवासी ईश्वरश्च तयोक्तः श्रीधराचार्यवर्यः । गम्भीरा गम्भीरभूताम् । भारती वाणीम् । जगाद् उवाच । गद व्यक्तायां वाचि । लिट् ॥ ५१ ॥ स्वयेत्यादि । नृप ! नूनं जनान् पातीति नृपः, तस्य संबुद्धिः^१ । एवम् उक्तप्रकारेण । ब्रुवता ब्रून् व्यक्तायां वाचि प्रवीतीति ब्रूवन् तेन ब्रुवता शतुप्रत्ययः वदता इत्यर्थः । त्वया भवता । इदं सूक्तं प्रदत्तवचनम् । सत्यं तथ्यम् । कृतं विहितम् । ईश्वरबुद्धयः ईश्वराणां पृष्ठवर्ती बुद्धयो मतयः । "ईश्वरो विभवैराहये शम्भो स्वामिनि मम्यधे ।" इति विश्वः । बुद्धोना ज्ञानानाम् । उपर्युपरि पुरः पुरः । चरन्ति प्रवर्तन्ते । उपर्युपरि वैशङ्करूपेण वर्तन्ते इत्यर्थः । चर गती लट् ॥ ५२ ॥ जीवेत्यादि^२ । यत् जीवाजीवादितत्त्वम् । दृष्टं धृतम् (?) । अस्पृष्टपरदृषणं न स्पृष्टम् अस्पृष्टं परेषां मिथ्यावादिमिदं दृषणं तयोक्तम् अस्पृष्टं परदृषणं यस्मिन् कर्मणि तत् । यथा येन प्रकारेण भवति । तथा तेन प्रकारेण । ब्रह्म श्रीधरमुनि । तत्सर्वं तत्समस्तम् । ते तव । कथयामि ब्रवीमि । कथं वाक्यप्रबन्धे । लट् ॥ ५३ ॥ जीव इत्यादि । जीवः जीवपदार्थः, नास्तीति, अयम् एषः, पक्षः अङ्गोकारः । प्रत्यक्षादिनिराकृतः प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैरनिराकृतः तिरस्कृतः^३ । तत्र जीवो नास्तीति पक्षे हेतुं जीवो नास्त्यनुपलम्भादिति साधनम् । उपगम्यस्य प्रयोध्य । स्वविडम्बना स्वस्य विडम्बना तिरस्कारम् । क. पुरुषः । कुर्यात् विधोयान् । हुक्ञ् करणे । लिट् ॥ ५४ ॥

बताइए ॥ ५० ॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभ उत्कृष्ट अर्थ-भरे शब्दोंमें अपनी बात कहकर चुप हो गये । इसके बाद मुनिराजने गम्भीर शब्दोंमें यों उत्तर दिया— ॥ ५१ ॥ राजन् ! इस प्रकारसे अपनी बात कहकर तुमने इस कहावतको सत्य सिद्ध कर दिया कि 'पुण्यवान् पुरुषोको बुद्धि अन्य बुद्धिमानोंकी बुद्धिके आगे चलतो है' ॥ ५२ ॥ जिन जीव और अजीव आदि तत्त्वोंके विषयमें तुमने पूछा है, उनको मैं तुम्हें ऐसे ढंगसे बतलाये देता हूँ, जिससे अन्यवादियोंके दोष उनका स्पर्श तक न कर सकें ॥ ५३ ॥ 'जीव नहीं है' यह तत्त्वोपप्लववादियोंका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे खण्डित है । ऐसी अवस्थामें 'क्योंकि उसको उपलब्धि

१. अ. परहर्षणम् । २. आ रम् । ३. संबुद्धौ । ४. आ ब्रू । ५. = सुभाषितम् । ६. आ श स कृतं विहितम् । इदं सूक्तं प्रदत्तवचनम् । सत्यं तथ्यम् । ७. = प्रत्ययप्रतिभाः । ८. आ प्रती श्लोकस्यास्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९. = पृष्ठं जिज्ञासितम् । १०. = जीवो नास्तीति चार्वाकैरुपगम्यते । प्रसिद्धो धर्मो पक्षः, तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य पक्षत्वकरणे स्वविडम्बना कः कुर्यात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अप्यथा जीवो नास्ति, अनुपलम्भे—इति भवतानुपलम्भविषयीक्रियमाणो जीवः पक्षः, प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसंबेदनलक्षणैर्न निराकृत इति ।

प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।

मुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते ॥ ५५ ॥

नचास्वेवित्तं^१ ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत् ।

स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेर्दीपादेः स्वप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥

विषयान्तरसंचारो न च स्यादस्ववेदिनः ।

अपरापरबोधस्य वेदनीयस्य संभवात् ॥ ५७ ॥

प्रतीत्यादि । यतः यतः कारणात् । प्रतिजन्तु जन्तु जन्तु प्रति [इति] प्रतिजन्तु । अय्ययोभावाः । स्वसंवेदनगोचरः स्वसंवेदनस्य मुखी अहं दुःखो बहम् इत्यादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य गोचरो विषयः । मुखदुःखादिपर्यायैः मुखं च दुःखं मुखदुःखं ते आदौ येषां ते तद्योक्ताः मुखदुःखादयश्च ते पर्यायाश्च ते, आदिपदेन रागद्वेषादि विपरिणामाः परिगृह्यन्ते । आक्रान्तः प्रापितः, जीवः जीवपदार्थः । प्रतिभासते प्रकाशते । भासि दीप्ती । लट् ॥ ५५ ॥ न चेत्यादि । ज्ञानं धर्मः । अस्वविदितं स्वविदितं न; अस्वविदितम् इति साध्यम् । वेद्यत्वात् ज्ञातु योग्यत्वात् । इति प्रमेयत्वात् हेतुः । कलशादिवत् इति दृष्टान्तः एवं न च । स्वात्मनि स्वरूपे । क्रियावृत्तेः । क्रियायाः व्यापारस्य वृत्तेः प्रवृत्तेः । दीपादेः प्रदीपादेः । आदिशब्देन सूयादेः, स्वप्रकाशनात् स्वस्य प्रकाशनं प्रभासनं स्वप्रकाशनं तस्मात्, स्वप्रकाशनाभावे परप्रकाशनानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५६ ॥ विषयेत्यादि । अस्ववेदिनः स्ववसायरहितस्य ज्ञानस्य । विषयान्तरसंचारः विषयान्तरेषु परविषयेषु संचारः प्रवृत्तिः । न स्यात् न भवेत् ।

नही होतो' यह हेतु देकर कौन अपना परिहास करावेगा ? ॥ ५४ ॥ 'अनुपलब्धि' हेतु देकर जीवका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि जगन्मैं जितने भी जन्तु हैं, उनमें जीवकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है—प्रत्येक जन्तुके—जीवके साथ मुख-दुःख आदि अवस्थाएँ लगी हुई हैं, और इसीलिए उन्हें 'मे मुखी हूँ' (मुखावस्थामें) 'मे दुःखी हूँ' (दुःखावस्थामें) इस प्रकारका स्पष्ट आभास होता रहता है ॥ ५५ ॥ यदि यह कहो कि 'ज्ञान स्वसंवेदी-अपनेको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि उसे दूसरा ज्ञान जानता है, अतः वह वेद्य है । जैसे कलश आदि । जैसे कलश आदि अपनेको नहीं जानते, वैसे ज्ञान भी अपनेको नहीं जानता; क्योंकि अपनेमें क्रिया नहीं होती । जिस प्रकार नट नृत्यकलामें कितना ही कुशल क्यों न हों, पर वह स्वयं अपने ही कन्धेपर चढ़कर नृत्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार ज्ञान कितना ही निर्मल हो, किन्तु वह अपनेको नहीं जान सकता ।' ठोक नहीं; क्योंकि अपनेमें भी क्रिया देखी जाती है । देखिए न, दीपक, चन्द्र और सूर्य आदि अपनेको भी प्रकाशित करते हैं । दीपक आदि अपनेको प्रकाशित करनेसे यदि प्रकाश्य है, तो अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण प्रकाशक भी । इसी प्रकार ज्ञान अपनेको जानता है, अतः वेद्य है और अन्य पदार्थोंको जानता है, अतः वेदक भी ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञान अस्वसंवेदी हो तो वह चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थको नहीं जान सकता । यदि यह कहो कि 'पहले ज्ञानको दूसरा ज्ञान जान लेना है, अतः पहला ज्ञान पदार्थों-

१. इ नत्वास्व । २. आ आदिः श स आदि । ३. आ 'वि' नास्ति । ४. श स धर्म । ५. = इति हेतुः । ६. = बाध्यम् । ७. श स 'वृत्ति' । ८. = क्रियादृष्टेः क्रियादर्शनात् । ९. श स सूयादिः । १०. = प्रमाणायोक्तत्वात् प्रमेयस्य । अतः प्रमाणमेव मोमांस्यते । ननु चेदं स्वसंवेदनलक्षणं प्रमाणमसिद्धमिति चेत्; उच्यते—न चेत्स्यादि । ज्ञान-स्वसंवेदनम् अस्वविदितं भवति, वेद्यत्वात् । यद्वेद्यं तद् अस्वविदितम् । यथा कलशादिः । [इति] न च—न बाध्यम् । स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेः—क्रियादर्शनात् । दीपादेः स्वप्रकाशनात् यथा दीपः स्वं प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति । तथा ज्ञानम् ।

अनवस्थालता च स्यान्नमस्तलविसर्पिणी ।
 यदेवाविदितं तेषु तन्न पूर्वस्य वेदकम् ॥ ५८ ॥
 तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्षमवस्थितम् ।
 तदप्रत्यक्षतायां च विषयस्यापि सा गतिः ॥ ५९ ॥
 परोक्षादपि ज्ञेयज्ञानादर्थोपगतिरिष्यते ।
 परेण विदितोऽप्यर्थस्तथा स्वविदितो भवेत् ॥ ६० ॥
 तस्मात्स्ववेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तितः ।
 प्रत्यक्षबाधा न भवेत्कथं नास्तित्ववादिनाम् ॥ ६१ ॥

कस्मात्, इत्युक्ते । अपरापरबोधस्य अपरापरस्य उत्तरोत्तरस्य बोधस्य ज्ञानस्य । वेदनीयस्य ज्ञातव्यस्य । संभवात् अस्तित्वात् ॥५७॥ अनवस्थेत्यादि । तेषु अपरापरबाधेषु । यदेव ज्ञानम् । अविदितम् अज्ञातम् । ज्ञानम् । पूर्वस्य प्रथमज्ञानस्य । वेदकं बोधकम् । 'कृतकामुकस्य'—इत्यादिना कर्मणि षष्ठे । न भवति । नमस्तलविसर्पिणी नमः आकाशस्य तले प्रदेरी विसर्पिणी प्रसारिणी, अवसानरहितेत्यर्थः । अनवस्थालता अनवस्थैव अनवस्था दोष एव लता वृत्तिश्च तदोभवा । स्यात् । अस भुवि लिङ् ॥५८॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । विषयविज्ञानं विषयस्य पदार्थस्य विज्ञानं परिज्ञानम् । अप्रत्यक्षं परोक्षम् । अवस्थितं स्थितम् । तदप्रत्यक्षताया तस्य विषयपरिज्ञानस्याप्रत्यक्षताया च । विषयस्यापि पदार्थस्यापि । सा परोक्षता । गतिः क्षरणम् । स्यादित्येवमाहारः ॥५९॥ परोक्षादित्यादि । परोक्षादपि अप्रत्यक्षादपि । ज्ञानात् परिज्ञानात् । अर्थोपगतिः अर्थस्य विषयस्य अवगतिः निश्चयः । इभ्यते चेत् अङ्गीक्रियते चेत् । परेण अन्यज्ञानेन सन्तानाम्तरज्ञानेन वा । विदितोऽपि ज्ञातोऽपि । अर्थः षटादिपदार्थः । तथा परप्रत्यक्षप्रकारेण । स्वविदितः स्वैव विदितो जातः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ॥६०॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् स्वेन ज्ञातः (?) अन्यस्य ज्ञानेन स्वस्य ज्ञानं न जायते तस्मात् । युक्तितः विचारात् । स्ववेदने स्वस्य वेदने तस्मिन् स्वसंवेदने प्रत्यक्षे—प्रत्यक्षप्रमाणे । सिद्धे निष्पक्षे सति । 'प्रदभावो भावलक्षणम्' इति सप्तमी । नास्तित्ववादिना नास्तित्वं वदन्तोस्वेवंशोलाः तेषां दूष्यवादिनाम् । प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्ष-

को जान लेता है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उत्तरोत्तर जितने भी ज्ञान होंगे, वे सब अगले-अगले ज्ञानके वेध ही तो होंगे ॥५७॥ पूर्व-पूर्व ज्ञानको उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञान जानकर उन्हें पदार्थोंको जानने योग्य बनाते रहेगे, ऐसा माननेपर तो अनवस्था दोषकी बेल पूरे आकाशमें फैल जायेगी—आकाशकी तरह उसका भी अन्त नहीं आयेगा । उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञानोंको यदि स्वतः अस्वसंवेदी ही मानते हैं तो वे पूर्व-पूर्व ज्ञानको नहीं ही जान सकेंगे ॥५८॥ ऐसी अवस्थामें पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान अप्रत्यक्ष हो बना रहेगा । उसके अप्रत्यक्ष रहनेसे विषयकी भी वही गति होगी—वह भी अप्रत्यक्ष बना रहेगा ॥५९॥ यदि परोक्ष ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करते ही तो एक मनुष्यने जिस पदार्थको जाना है, उसकी जानकारी दूसरेको भी हो जानी चाहिए ॥६०॥ इसलिए युक्तिबलसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके

१. = यदि ज्ञानमन्येन ज्ञानेन विदितं सद् वेदकं स्यात् तदा । २. आ प्रतावेव केवलं 'परोक्षम्' इत्युपलभ्यते । ३. आ निराकृतम् । ४. = तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वसंवेदने नाम्नि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे अवस्थापिते सति नास्तित्ववादिनां च. वार्तिकसत्त्वोपलब्धानां प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्ष-बाधा कथं न भवेत् ? अव्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेत् इति भावः । ५. तत्त्वोपलब्धादिनाम् ।

जीवे सिद्धेऽपि गर्भादिमरणान्ते स्वदेवनात् ।
 प्राग्दर्शं च कथं सिद्धस्तस्येति यदि मन्यसे ॥ ६२ ॥
 सदकारणवत्त्वेन सिद्धा तत्राप्यनादिता ।
 अनन्तता च वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव ॥ ६३ ॥
 न च सिद्धमहेतुत्वं हेतोः कस्याप्ययोगतः ।
 भूतानां न च हेतुत्वं सहप्रत्येकपक्षयोः ॥ ६४ ॥

प्रमाणेन बाधा पीडा^१ । कथं केन प्रकारेण । न भवेत्, अपि तु भवेदेव । नू सत्ताया लिङ् ॥६१॥ जीव इत्यादि । स्वदेवनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । गर्भादिमरणान्ते गर्भ एवादिमरणमेवान्तो मरणान्तः; गर्भादिमरणान्तो यस्य^२ तस्मिन् । जीवे जीवपदार्थे । सिद्धेऽपि निष्पन्नेऽपि । तस्य जीवपदार्थस्य । प्राक् गर्भात् प्राक् । ऊर्ध्वं च मरणादूर्ध्वं च । चकारः समुच्चयार्थः । कथं केन प्रकारेण । सिद्धिः अस्तित्वम् । इति यदि मन्यसे जानासि । मनि ज्ञाने लट् ॥६२॥ सदित्यादि । तत्रापि जीवपदार्थेऽपि । सदकारणवत्त्वेन सतो नित्यस्याकारणवत्त्वं तेन, 'सदकारणवन्नित्यम्'^३ इत्यभिधानात् । वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव वायुश्चाग्निश्च पृथिवी च पयश्च तथोक्तानि । अनादिता न विद्यते आदिर्यस्य [स.] अनादिः तस्य भावः तथोक्ता आदिरहितत्वम् । अनन्तता न विद्यतेऽन्तोऽवसानो [न] यस्य [स.] अनन्तः । तस्य भावोऽनन्तता अवसानराहित्यम् । सिद्धा निष्पन्ना^४ ॥६३॥ न चेत्पादि । अहेतुत्वम् असाधनत्वम्^५ । असिद्धम् अप्रसिद्धम् [अनिष्पन्नम्] । न च न भवति । कस्यापि हेतोः साधनत्वम् । अयोगतः अयोगादयोगतोऽव्यवहृत्यात् । सहप्रत्येकपक्षयोः सह सहितश्च प्रत्येकश्च सहप्रत्येकौ^६ (?) तो च तो पक्षो च तथोक्तौ, तयोः योगपक्ष—अ(पा)यंयपक्षयोः, वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव जीवस्य युगत्कारणानि पृथिव्याद्येकैकं प्रत्येकतया कारणम् इति सहप्रत्येकपक्षो तयोर्हित्यर्थः । भूतानां पृथिव्यादीनाम् । हेतुत्व

सिद्ध हो जानेपर तत्त्वोपप्लववादियोंको प्रत्यक्ष बाधा क्यों नहीं होगी ? ॥६१॥ यदि तुम स्वसंवेदन प्रत्यक्षके आधारपर गर्भसे लेकर मरण पर्यंत जीवकी सत्ताको मानकर भी यह पृच्छो कि 'गर्भसे पहले और मरणके बाद उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?' तो सुनो, जो पदार्थ सत् हो और जिनकी उत्पत्ति किसीसे न हुई हो, वे सब निश्चित ही अनादि और अनन्त होते हैं । जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ॥६२-६३॥ जीवकी उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं है—वह किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ, यह असिद्ध है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसकी उत्पत्तिका कोई हेतु सिद्ध नहीं है । यदि यह कहा जाये कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत उसकी उत्पत्तिमें हेतु हैं, तो दो विकल्प उठते हैं—(१) चारों भूत मिलकर जीवकी उत्पत्तिमें हेतु है, (२) या एक-एक करके ? वे दोनों ही तरह जीवकी उत्पत्तिमें हेतु

१. विरोधः । २. वा स यस्मिन् । ३. वा स 'वन्नित्याभिधानात् । ४. = वादिप्रतिपाद्यपेक्षया व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः, अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात् । येषां सदकारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वम् । यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवद्विधाहो तस्मादनाद्यनन्तः । ५. अभा इ न च न हेतुः = अकारणवत्त्वम् । ६. = सहपक्षो योगपक्षपक्षः, प्रत्येकपक्षः क्रमपक्षः ।

प्रत्येकपक्षे जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते ।

सहपक्षेऽप्यसंविद्भवस्तेभ्यः स्याच्चेतनः कथम् ॥ ६५ ॥

सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं घटपटादिषु ।

मृदादीनां हि हेतूनां घटाद्यनुगमेक्षणात् ॥ ६६ ॥

साधनत्वम् । न च भवेत् ॥६४॥ प्रत्येकेत्यादि । प्रत्येकपक्षे पृथक् पक्षे । जीवानां जीवपदार्थानाम् । भूत-
संख्या भूतानां पृथिव्यादीनां संख्या गणना । प्रसज्यते प्रशंस्यते^१ (?) सहपक्षेऽपि योगपक्षपक्षेऽपि । असंविद्भूयः ।
न विद्यते संविद् येषां तेभ्योऽचेतनेभ्यः । तेभ्यः भूतबहुवचनेभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । कथं केनप्रकारेण ।
स्यात् भवेत् न स्यादित्यर्थः । अस भुवि लिङ् ॥६५॥ सजातीयमित्यादि । घटपटादिषु घटश्च पटश्च घटपटी
तौ आदौ^२ येषां तेषु घटपटादिपदार्थेषु । सजातीयं समानाजातियस्य [तत्] सजातीयम्, 'जातेदृष्टः सामान्य-
वर्ति' इति छ-प्रत्ययः, समानजातियुक्तम् । उपादानं त्यक्तात्यक्तरूपम् उपादानम्^३ इति लक्षणम्, मुख्यकारण-
मित्यर्थः । दृष्टं दृश्यते स्म दृष्टम् । हि स्फुटम् । हि यस्मात् । मृदादीनां मृत्विण्णादीनाम्^४ । हेतूनां मुख्यकार-
णानाम् । घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिषु कलशादिषु अनुगमस्यान्वयस्य ईक्षणात् दर्शनात् । इदं हेतुरूपम् ॥६६॥

नहीं हो सकते । क्यों ? सुनि—॥६४॥ यदि चार भूतोंमें-से किसी भी एकको जीवकी उत्पत्तिमें हेतु मान लिया जाये तो जीवमें उसकी संख्याका प्रसंग आयेगा—जिस भूतसे जीवकी उत्पत्ति होगी, उसके प्रत्येक कणमें जीवोत्पादनकी शक्ति होगी या उनके समुदायमें ? यदि प्रत्येकमें, तो जितनी संख्या कणोंकी होगी, उतनी ही जीवोंकी संख्या होगी । किन्तु किसी भी एक शरीरमें अनेक जीवोंकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं; क्योंकि सभी जीवोंकी अलग-अलग इच्छाएँ उत्पन्न होंगी, फलतः उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए सभी जीवोंमें सदा महाभारत छिड़ा रहेगा । यदि इस संख्याके प्रसंगसे बचनेके लिए किसी एक या चारों भूतोंके कण-समुदायमें जीवोत्पादनकी शक्ति मान ली जाये, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि चाहे एक भूतके कण हों चाहे चारोंके, वे सबके सब अचेतन हैं, और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती । ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जो अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमें सहायक हो ॥६५॥ प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त ये दो कारण होते हैं । उनमें उपादान कारण सदा सजातीय ही होता है, यह नियम है । घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी है और कपड़ेकी उत्पत्तिमें तन्तु । मिट्टी घड़ेकी सजातीय है और तन्तु कपड़ेके । इन सजातीय उपादान कारणोंका घड़े और कपड़ेमें सदा अन्वय बना रहता है, जिसे हम सब देखते ही है । अतः चारों भूत चूँकि जीवके सजातीय नहीं, विजातीय हैं, इसलिए उन्हें जीवकी उत्पत्तिमें उपादान कारण नहीं मान सकते । उन चारोंका जीवमें अन्वय भी तो हम नहीं देखते ॥६६॥

१. प्रत्येकभूताज्जीवो जायते-इति पक्षे । २. = भूतानां यावती संख्या तावती संख्या तदुत्पन्नानां जीवानामपि स्यादित्यर्थः । ३. स स जायिः । ४. = त्यक्तात्यक्तात्मरूपं पृथक्पृथक् वर्तते । कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । अष्टसहस्रो-२१० । ५. स स मृदघटादीनाम् ।

युज्यते व्यभिचारोऽपि न शृङ्गादेः शरादिना ।

तत्रापि पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् ॥ ६७ ॥

विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यो जायते यदि चेतनः ।

पयसोऽपि भवेत्पृथ्वी तत्र तत्त्वचतुष्टयम् ॥ ६८ ॥

न चान्यदस्त्युपादानं भूम्यादिव्यतिरेकतः ।

भूतानां संहतियै न कल्प्यते सङ्गकारिणी ॥ ६९ ॥

युज्यते इत्यादि । शृङ्गादेः विपाणादेः सक्तात्—विजातीयोऽपि शृङ्गादेः शराद्युत्पत्तिदर्शनात् । शरादिना बाणादिना^१ व्यभिचारोऽपि अनेकान्तिकोऽपि । न युज्यते न संवध्यते^२ । तत्रापि शरादावपि । पुद्गलत्वेन गलति पुरयतीति पुद्गल^३ तस्य भावः तेन अचेतनत्वेन । सजातीयत्व संभवात् समानजातिगुणवत्त्वस्य संभवात् सङ्गावात् । इदमपि हेतुरूपम् । अचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जीवो जनिष्यते इति व्यभिचारिता न, सजातीयो-
देव सजातीयोत्पत्तिनियम इति चेत्, न युक्तम्, तत्रापि शरादिषु पुद्गलत्वेन^४ सजातीयत्वसंभवादिति भावः ॥६७॥ विजातिभ्योऽपीत्यादि^५ । यत्र कुत्रापि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । जायेत उदाद्येत । तत् तर्हि । पयसोऽपि जलादपि । पृथ्वी पृथिवी । भवेत् जायेत । तत्त्वचतुष्टयं चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् 'अवयवात्तयद्' तत्त्वानां चतुष्टयं तथोक्तम् । न न भवेत् । विजातीयोऽपि विजातीयोत्पत्तिरित्युक्ते भूतचतुष्टयस्यैवास्वापत्ति^६, तेषामन्योन्योत्पत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥६८॥ न चेत्यादि । उपादानकारणानि सा भूवन् सहकारिकारणानि भविष्यन्तीभ्यः युक्तं न भवति, भूतचतुष्टयमन्तरेण पदार्थान्तराभावादानुपादा भिद्विप्रसंगात् । तस्मात् कथं सहकारिकारणभावे भूतचतुष्टयस्येवमिष्टमिष्टं न चान्यदपीत्याह । भूम्यादिव्यतिरेकतो भूम्यादिभ्यो व्यतिरेकतो भिन्नत्वात् । अन्यदपि अपरमपि । उपादानं मुख्यं कारणम् । न च न भवति । भूतानां पृथिव्या-

यदि यह कहा जाये कि 'सीग यद्यपि बाणका सजातीय नहीं है, फिर भी उससे बाण बनाया जाता है, अतः सज्जातीय ही उपादानकारण होता है, यह नियम कहाँ रहा ? वह तो व्यभि-
चारित हो जाता है ।' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सीग पुद्गल है और बाण भी पुद्गल है, अतः दोनों सजातीय ही है, विजातीय नहीं । चारो भूत अचेतन है और जीव चेतन, अतः जीवकी उत्पत्तिमें वे सजातीय नहीं, विजातीय हैं ॥६७॥ यदि विजातीय भूतोसे भी जीव उत्पन्न हो जाये तो जलसे पृथिवीकी भी उत्पत्ति हो जाये, और ऐसी दशामे आपके चार भूत तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे ॥६८॥ पृथिवी आदि चार भूतोंको छोड़कर कोई पदार्थ जीवकी उत्पत्तिमें उपादानकारण नहीं है, जिससे भूत समुदायको उसकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय । अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जीवकी उत्पत्तिमें भूत समुदाय सहकारी कारण है । क्योंकि जीवकी उत्पत्तिमें यदि कोई उपादान कारण सिद्ध हो जाता तो भूत समु-
दायको उसमें सहकारी कारण कल्पित किया जा सकता था । उपादानके बिना सहकारी कारण

१. आ आ इ कल्पेत । २. श स शरादीनां बाणादीनाम् । ३. आ^० भव्यते । ४. = पुरयति
गलतीति पुद्गलः पूरणाद् गलनाद्वा पुद्गलः । ५. श स^० त्वेन न । ६. आ विजातीयेत्यादि । ७. श स^०
'त्पत्तिरिति भूत' ।

न चोपादानधर्मोऽपि^१ काये कोऽप्यवलोक्यते ।

शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् ॥ ७० ॥

घटादिकारणेष्वेतन्मृदादिषु न चेज्यते ।

ततोऽनुमानबाधापि^२ पक्षं व्याघ्रीव चीक्षते^३ ॥ ७१ ॥

दीनाम् । मंजि^४ समूहः । सहकारिणो सहकारिकारणभूता । येन कथं कल्प्यते ? काकु^५ ॥ ६९ ॥ न चेज्यादि । काये देहे । कोऽपि^६ उपादानधर्मः उपादानरूप मुख्यकारणस्य धर्मोऽपि स्वरूपमपि । न चावलोक्यते न च दृश्यते । शरीरे देहे^७ । तदवस्थेऽपि पूर्वकारसहिते सत्यपि । जीवे जीवपदार्थे । विकृतिदर्शनात् विकृतेविकारस्य दर्शनात् अवलोकनात् ॥ ७० ॥ घटादीत्यादि । घटादिकारणेषु घटादीनां कारणेषु मृदादिषु मृदादियेषां तेषु मृत्वि-
ण्णादिषु । एतत् चैन्यम् । न चेज्यते नाङ्गीक्रियते । इय इच्छायाम् । कर्मणि लट् । ततो मृदादिषु चैन्यमा-
भावादेव । अनुमानबाधापि अनुमानप्रमाणेन बाधापि^८ । व्याघ्रीव शार्ङ्गलोव । पक्षं जीवो नास्तीति पक्षम् ।

कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है ॥ ६९ ॥ यदि यह कहो कि जीवकी उत्पत्तिमें उसका शरीर उपादान कारण है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आत्मामें उपादानरूप शरीरका स्वभाव नहीं देख पड़ता । उपादान कारणमें यदि कोई विकार उत्पन्न हो तो उसका प्रभाव कार्यपर अवश्य ही पड़ता है, किन्तु शरीरके ज्यों-के-स्थीं बने रहनेपर भी जीवमें विकार देखा जाता है । यदि शरीर उपादान कारण होता तो उसके अविकृत रहनेपर जीवकी भी अविकृत रहना चाहिए । उपादानका धर्म उपादेयपर अपना प्रभाव अवश्य ही डालता है । यदि शरीरको उपादान और आत्माको उपादेय मानते हैं, तो आत्मामें शरीरका कोई धर्म अवश्य देख पड़ना चाहिए, किन्तु नहीं देख पड़ता—शरीर आँखोंसे देख लिया जाता है, किन्तु आत्मा आँखोंसे कभी नहीं देखा जा सकता, शरीरमें अनेक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं देखे जाते; शरीरके बलमें न्यूनता देखनेपर भी आत्माके बलमें अधिकता देखी जाती है । अतः शरीर आत्माका उपादान कारण नहीं माना जा सकता है ॥ ७० ॥ घट आदि पदार्थोंके जो मिट्टी आदि उपादान कारण हैं, उनमें यह बात नहीं देखी जाती कि मिट्टी आदि उपादान कारणमें विकार होनेपर भी घट आदिमें विकार न हो । अतः अनुमान बाधा भी आपके पक्षपर व्याघ्रीकी तरह क्रूर दृष्टि डाल रही है । चवालीसवें श्लोकमें तत्त्वोपप्लववादीने कहा था कि जीव पदार्थकी कोई प्रमाणसिद्ध सत्ता नहीं है । उसके 'जीव नहीं है' इस पक्षमें चौवनसे इकसठवें श्लोक तक प्रत्यक्ष-स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे बाधा दिखलाई थी । उसके पदचात् बासठवें श्लोकसे बहत्तरवें श्लोक तक अनुमान बाधा दिखलाई गयी । स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त जीवकी सत्ता सिद्ध होती है और 'जीव अनादि और अनन्त है; क्योंकि वह सत् पदार्थ है और उसकी उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थमें नहीं हुई है । जैसे भूत चतुष्टय' इस अनुमानसे जीवकी अनादिता और अनन्तता सिद्ध होती है और इसलिए यही अनुमान पूर्व पक्षीके पक्षमें बाधा उपस्थित करता है ॥ ७१ ॥

१. अ मद्योपादानधर्मोऽपि । २. अ बाधादि । ३. अ व्याघ्रावतीक्षते । ४. आ बापि । ५. हा स शरीरी देहे । ६. = घटादिकारणेषु मृदादिषु, एतद्भिन्नलक्षणत्व नश्यते च, ततस्तस्मादनुमानबाधापि पक्षं चीक्षते । व्याघ्रीव । यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानतोऽपीति रहस्यम् ।

हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धोऽभावसाधने ।
 तस्य स्ववेदनाध्यक्षादुपलम्भस्य संभवात् ॥ ७२ ॥
 न चात्मभूतयोरैक्यं चिदचिद्रूपभेदतः ।
 विभिन्नप्रतिभासित्वादभेदलक्षणसंभवात् ॥ ७३ ॥
 इत्यभात्मनि संसिद्धेऽनित्यत्वैकान्तकल्पना ।
 तस्यान्यैः क्रियते तेऽपि प्रत्यक्षेणैव बाधिताः ॥ ७४ ॥
 यतः स्ववेदनादात्मा सुखदुःखादिपर्ययैः ।
 विद्यतेमानः सततं प्रतिप्राणि प्रकाशते ॥ ७५ ॥

वीक्षते पश्यति । ईक्षि दर्शने । लट् ॥ ७१ ॥ हेतुस्तिष्ठादि । अभावसाधने अभावस्य नास्तित्वस्य साधने । अनुपलम्भादिः अप्रमेयत्वादिः । हेतुः साधनम् । असिद्धः अवस्तत्तानिश्चयरूपः । कस्मादित्युक्ते, तस्य चैतन्यस्य, स्ववेदनाध्यक्षात् स्ववेदनं तच्छ तदध्यक्षं च प्रत्यक्षं च तस्मात्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षादित्यर्थः । उपलम्भस्य अस्तित्वस्य । संभवात् सद्भावात् ॥ ७२ ॥ न चेत्यादि । चिदचिद्रूपभेदतः^१ विषय अचिच्च चिदचितो तयो रूप भेदस्तस्मात् ततः, चेतनाचेतनस्वरूपविशेषात् । विभिन्नप्रतिभासित्वात् विभिन्नमेव भेदेन प्रतिभासत्वात् प्रकाशत्वात् । भेदलक्षणसंभवात् भेदलक्षणस्य संभवात् सद्भावात् । आत्मभूतयोः चेतनाचेतनयोः । ऐक्यम् अभेदः । न च नच भवति ॥ ७३ ॥ इत्यभिरूपादि । इत्यम् अनेन प्रकारेण^२ । आत्मनि चैतन्यपदार्थे । संसिद्धे निष्पन्ने-सति । तस्य जीवपदार्थस्य । यैः बाधिमि । निरत्यरवैकान्तकल्पना नित्यत्वमेवैकान्त-तस्य कल्पना । क्रियते विधीयते । तेषां बाधिनः । प्रत्यक्षेणैव प्रत्यक्षप्रमाणेनैव । बाधिताः बाध्यन्ते स्म बाधिताः । नत-प्रत्यय ॥ ७४ ॥ अत इत्यादि । यतः यस्मादित्युक्ते । सुखदुःखादिपर्ययैः^३ सुखं च दुःखं च सुखदुःखे ते आदि^४ देवा ते च ते पर्यायाश्च^५ तैः सुखदुःखादिपरिणामैः । सततम् अनवरतम् । विद्यतेमानः प्रवर्तमान विद्यमानो वा । आत्मा जीवपदार्थः । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । प्रतिप्राणि प्राणिषु प्राणिषु प्रतिप्राणि । विषयपर्ययैः पर्ययीभावः ।

जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए तत्त्वोपप्लववादीने जो अनुपलम्भ ('अनुपलम्भान्'—'उपलब्धि न होनेसे' यह) हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका सद्भाव सिद्ध है ॥ ७२ ॥ दूसरी बात यह है कि जीव तथा भूतोंमें एकता नही मानी जा सकती; क्योंकि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं—जीवका स्वरूप चेतन और भूतोंका स्वरूप अचेतन है । जीव और भूतोंका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है । जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिभास होनेसे पृथ्वी आदि चार भूतोंको पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है, इसी प्रकार जीवका भी तो भूतोंसे भिन्न प्रतिभास होता है । अतः उसे भी भूतोंसे भिन्न मानना चाहिए । जीव और भूतोंमें भेद सिद्ध करनेवाले उनके भिन्न लक्षण पाये जाते हैं ॥ ७३ ॥ इस प्रकार जीवकी सिद्धि हो जानेपर जो (सांख्य) लोग उसे सर्वथा नित्य मानते है, उनका भी खण्डन प्रत्यक्षसे ही हो जाता है ॥ ७४ ॥ क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वसंवेदन प्रत्यक्षमेव यह सदेव अनुभव करता है कि उसकी आत्मा कभी सुखकी अवस्थाको और कभी दुःखकी अवस्थाको प्राप्त होता है—उसकी सुख-दुःखकी अवस्था बदलती रहती है । आत्मा द्रव्य है और सुख-दुःखादि उसकी पर्यायें हैं । गुण और पर्यायोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं । पर्यायोंके परिवर्तनका प्रभाव द्रव्य-पर भी पड़ता है । अतः पर्यायोंकी अनित्यताके कारण द्रव्य भी कदाञ्चित् अनित्य ठहरता है ।

१. म वेदनावाया । २. स स जीवचिद्रूपः । ३. आ स स^३कारेणेत्यम् । ४. आ स स^४पर्यायैः । ५. = बाधो । ६. = पर्यायाश्च ।

सुखदुःखादिपर्याया जीवान्न च विभेदिनः ।

तस्यायमिति सम्बन्धकल्पनानुपपत्तिः ॥ ७६ ॥

नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते ।

उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः ॥ ७७ ॥

उपकारोऽपि भिन्नत्वात्सत्येति कथमुच्यते ।

उपकारान्तरापेक्षा विद्ययादनवस्थितिम् ॥ ७८ ॥

प्रकाशते प्रतिभासते । काशि दीप्तौ लट् ॥७५॥ सुखेत्यादि । सुखदुःखादिपर्यायाः । जीवात् चैतन्यपदार्थात् । विभेदिनः अत्यन्तं भिन्नरूपाः^१ । न च न च भवति । कस्मादिति चेत्—तस्य जीवपदार्थस्य अयम् इति^२ एष पर्याय इति संबन्धकल्पनानुपपत्तेः संबन्धस्य समवायादेः कल्पनायाः अनुपपत्तेरभावात् ॥७६॥ नित्यस्थेत्यादि । समवायसंबन्धो वर्तते इत्युक्ते—नित्यस्य सर्वथा नित्यपदार्थस्य । अनुपकारित्वात् उपकाररहितत्वात् । समवायः समवायारूपसंबन्धः । न युज्यते न संबध्यते । युजृञ् योगे कर्मणि लट् । सर्वा समस्ता । संबन्ध-समवस्थितिः सम्बन्धस्य समवायादेः समवस्थितिः संग्राप्तिः । उपकाराश्रया उपकार एवाश्रय आधारौ यस्याः सा तद्योक्ता । ७७॥ उपकार इत्यादि । उपकारोऽपि प्रकृतोपकारोऽपि । भिन्नत्वात् उपकारिणः सकाशात् सर्वथा भिन्नत्वात् पृथक्त्वादित्यर्थः । तस्येति तस्य उपकारिणोऽप्युपकार इति । कथं केन प्रकारेण । उच्यते भाष्यते । ब्रूय् व्यवस्ताया वाचि कर्मणि लट् । 'अस्ति द्रुवोभूयचो' इति वचादेशः । 'इत्यादिना य इत् रूपस्य वकारस्य इष्टूप उकारादेशः । उपकारान्तरापेक्षप्रकृतोपकारादन्य उपकार उपकारान्तर तस्यापेक्षा वर्तते चेत् न ।

अतः उसे सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं ॥७५॥ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ जीवसे भिन्न नहीं है । यदि इन अवस्थाओंको जीवसे भिन्न माना जाये तो 'ये अवस्थाएँ—पर्यायें इस जीवकी हैं' इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पनाएँ नहीं हो सकती ॥७६॥ यदि कहा जाये कि पर्यायोंके साथ जीवका समवाय सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वैशेषिक लोग समवायको सर्वथा नित्य मानते हैं । सर्वथा नित्य होनेसे वह किसीका उपकार नहीं कर सकता । फलतः समवाय सम्बन्धसे भी पर्यायोंके साथ जीवका सम्बन्ध नहीं हो सकता । उपकारके आधारपर ही सम्बन्धोंकी व्यवस्था की जाती है । जब समवाय उपकार नहीं कर सकता, तो वह द्रव्य और पर्यायोंके बीच कैसे माना जा सकता है ? ॥७७॥ अच्छा, थोड़ा देरको यह मान भो लें कि समवाय उपकार करता है, तो उपकार तो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, अतः वह अनित्य है और समवाय नित्य है । ऐसी स्थितिमें उपकारको समवायसे भिन्न मानना होगा । भिन्न मान लेनेपर 'यह उपकार समवायका है' वह कैसे सिद्ध होगा ? यदि प्रस्तुत समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए दूसरे समवायको माना जाय, तो फिर यह प्रश्न होगा कि दूसरे समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध कैसे हांगा ? इसके उत्तरमें भी यह कहा जाय कि तीसरा समवाय मान लिया जायगा तो फिर वही प्रश्न हांगा । फलतः अवस्था हो

१. अ आ इ क ख ग घ म तस्यामी इति । २. आ श स त्वन्तभिन्नः । ३. 'तस्यायमिति' टीकाकृद्-भिमत पाठः, सर्वानु प्रतिषु 'तस्यामी इति' इत्येव समुपलभ्यते । पञ्चिकायामपि 'तस्यामी इति' इति वर्तते—'तं च सुखदुःखादि पर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिन इति चेत्, न, भेदे सति 'तस्यामी' इति सम्बन्धानुपपत्तेः ।'

स्थादभिन्नस्ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः ।
 तथा चे परिणामित्वात्कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥
 एतेन जडतां तस्य भ्रुवाणा विनिवारिताः ।
 चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैरेक्यसंभवात् ॥ ८० ॥
 न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषतः ।
 कथं ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशलक्रियाः ॥ ८१ ॥

अनवस्थितिं मूलक्षयकरीम्^१ । विदध्यात् कुर्यात् । दुःखात् धारणे च कर्तरि लिङ् ॥ ७८ ॥ स्थादिस्थादि । ततः ।
 अनवस्थादोषात् । जीवः चैतन्यपदार्थः । सुखदुःखादिपर्ययैः, सुखदुःखादिपरिणामरूपैः । अभिन्नः अभेदरूपः ।
 स्यात् । यदि भवेत् । असंभुवि लिङ् । तथा च परिणामित्वात् पूर्वकारं त्यज्युत्तराकारमवाप्नोति
 केनचित्प्रकारेण तिष्ठेतीति परिणामी तस्मात् परिणामरूपपर्यायादभिन्नत्वात् नित्यस्य कूटस्थनित्यता त्रिकाल-
 ध्यातिरूपनित्यत्वम् । कथं केन [प्रकारेण] स्यात्^२ ॥ ७९ ॥ एतेनेति । एतेन अनेन नित्यत्वाभावेन ।
 तस्य जीवस्य । जडताम् अज्ञत्वम् । भ्रुवाणाः भाषमाणा । विनिवारिताः निराकुताः । कस्मादिति चेत्—चिद्रूप-
 सुखदुःखादिपर्यायैः । श्वेतैश्चेननाया रूपैः । सुखदुःखादिभिः सुखदुःखप्रमुखैः पर्यायैः परिणामैः । ऐक्यसंभवात् ऐक्यस्य
 एकत्वस्य संभवात् सद्भावात्, चेतनास्वरूपसुखदुःखादिपरिणामैरभिन्नत्वादित्यर्थः ॥ ८० ॥ न चेति । तस्य
 जीवपदार्थस्य । अकर्तृतां पुण्यपापकर्मत्वम् । न च न च भवति । बन्धाभावादिदोषतः बन्धस्य पुण्यपापदि-
 बन्धस्याभावः तयोस्ततः स एवादिपर्ययैः, बन्धाभावादिश्चासौ दोषश्च तस्मात् ततः । कुशलाकुशलक्रियाः पुण्यपाप-
 कर्माणि । अकुर्वन् न करोतीत्यकुर्वन् । स्यात् प्रत्यय । कथं हि येन हि (केन प्रकारेण हि) । बध्येत^३ । बधि

जायगी ॥ ७८ ॥ इसलिए यह सिद्ध है कि सुख-दुःख आदि पर्यायोंके साथ जीवका कथञ्चित्
 अभेद है । और इसीलिए यह निश्चित है कि वह परिणमनशील है । ऐसी स्थितिमें जीव
 कूटस्थ नित्य कैसे हो सकता है ? ॥ ७९ ॥ 'सुख-दुःख आदि पर्याय आत्मासे भिन्न हैं' इस
 सिद्धान्तके खण्डनसे आत्माको जड़ माननेवालोंका भी खण्डन हो जाता है । क्योंकि चेतन स्वरूप
 सुख-दुःख परिणामोंके साथ उसका अभेद सम्भव है (भेद^४ नहीं) ॥ ८० ॥ सांख्योका जीवको
 अकर्ता मानना भी ठाक नहीं; क्योंकि अकर्ता माननेसे कर्मबन्धका अभाव हो जायगा । ध्यान
 देनेकी बात है, यदि जीव अच्छे-बुरे काम नहीं करेगा तो उसे पुण्य-पापका बन्ध कैसे
 होगा ? अच्छे काम करनेसे पुण्य बन्ध होता है और बुरे काम करनेसे पापबन्ध । जीवको
 अकर्ता माननेसे ये बन्ध नहीं होगा और बन्धके न होनेपर माक्ष कैसे होगा ? ॥ ८१ ॥

१. अ वा इ क ख ग घ म तथापि । २. = अस्ति नित्यस्थोपकारित्वात् चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो
 भिन्ना वा ? अभिन्नश्चेत् तत्त्वम्, भिन्नश्चेत् सत्त्वसाक्षिदिः । उपकारान्तरमपेक्ष्य सत्त्वचरणेऽनवस्थितिः
 स्यात् । ३. = 'मूलक्षयकरीमाहूतनवस्था च दूषणम् ।' ४. = 'परिणामप्रकृत्यादयं नित्यत्वेकान्तवाचिनी ।'
 ५. = एतेन कूटस्थतानिराकरणेन तत्स्वामिनो जडतामज्ञत्वं भ्रुवाणा नैर्वायकाद्येषां विनिवारिताः—प्रक्षिप्ताः,
 चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैर्विबर्तैरेक्यसंभवात्, परिणामित्वेनैक्यघटनात् । ६. श स चेतश्चेत् । ७. = तद्धि
 आत्माऽकर्तृता—इति चेत्, तस्यात्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादिदोषात् । हि यस्मात् । कुशलाकुशलक्रियाः—
 मनोज्ञामनोज्ञाकर्माणि अकुर्वन्नात्मा कथं बध्येत ? न कथमपि । ८. श स 'कर्मणा । ९. = बद्धो भवेत् ।
 १०. वैशेषिक लोग यह मानते हैं कि सुख-दुःख आदि आत्मासे भिन्न हैं और वे यह भी मानते हैं कि
 ज्ञान आत्मासे भिन्न है । इनकी यह भी मान्यता है कि आत्मा स्वयं न आत्मा है और न अनात्मा, किन्तु
 आत्मत्वके समवाये आत्मा है ।

भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तामेति स्वयं वदन् ।
 तदेवापह्नुवानः सन्निक न जिह्वेति कापिलः ॥ ८२ ॥
 अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः ।
 तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ ८३ ॥
 चित्तसंततिमात्रत्वमप्ययुक्तं प्रकल्पितम् ।
 संतानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न संततिः ॥ ८४ ॥
 व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं संतानस्य यदीष्यते ।
 प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्क्षणिकैकान्तवादिताम् ॥ ८५ ॥

बन्धने कर्मणि लिङ् ॥ ८१ ॥ भुक्तीति । आत्मा जीवपदार्थः । भोक्ता सुखादिभोक्ता । इति एवम् । भुक्ति-
 क्रियाया भुक्तेरनुमत्रस्य क्रियाया कार्यं । कर्तृत्वं इत्यत्रत्वम् । स्वयं वदन् वदतीति वदन् द्रुषन् । कापिलः
 सांख्यः । तदेव कर्तृत्वमेव । अपह्नुवानः सन् अपह्नुते इति अपह्नुवान् अपह्वन् सन् । किं किं निमित्तम् ।
 न जिह्वेति लज्जा न प्राप्नोति । ह्री लज्जायां लट् । आत्मनः स्वयं कर्तृत्वोपगमाभावे भोक्तृत्वं न घटते इति
 तात्पर्यम् ॥ ८२ ॥ अचेतनस्येति^१ । अचेतनस्य अचेतनद्रव्यस्य । प्रधानस्यापि प्रकृतितत्त्वस्यापि । अयुक्तितः^२
 अयुक्तेरयुक्तितः । प्रधानस्य शुभाशुभकर्मकरणे युक्तेरसंभवात् । बन्धादिः कर्मबन्धादिः । न न भवति । तस्मात्
 युक्तेरभावात् । अकर्तृता अकर्तृत्वम् । पापादपि कष्टादपि । पापीयसी^३ अतिदुर्मेयं पापकूपेति । मता मन्यते स्म
 मता ज्ञाता ॥ ८३ ॥ चित्तेति । यत यस्मात् । संतानिव्यतिरेकेण संतानिनमन्तरं । काचित् एका । संततिः
 संतानः । न न भवति । चित्तमंततिमात्र [स्व-] मपि चित्तस्य चेतनः^४ संततिरेव सततिमात्र तस्य भावः
 तत्त्वम् । तदपि अयुक्तप्रकल्पितम् अयुक्तेन युक्तिरहितेन प्रकल्पितं विहितम् ॥ ८४ ॥ व्यतिरेक इति । व्यति-
 रेकेऽपि संतानिव्यतिरेकेऽपि^५ सति । संतानस्य संतते । नित्यत्वं स्थिरत्वम् । यदीष्यते यद्यङ्गीक्रियते । तर्हि ।

‘आत्मा भोक्ता है’ यह कहकर सांख्यने स्वयं ही यह स्वीकार कर लिया कि वह ‘भुक्ति’ क्रियाका
 कर्त्ता है, किन्तु फिर भी उसके कर्त्तृत्वको छिपाते हुए उसे क्यों सकोच नहीं होता ? आत्माको
 कर्त्ता माने बिना उसे भोक्ता नहीं माना जा सकता ॥ ८२ ॥ यदि यह कहा जाय कि यह प्रधान-
 प्रकृतिके बन्ध आदि होते हैं, तो यह भी युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि वह अचेतन है । अचेतन-
 को न बन्ध होता है और न मोक्ष । इसलिए आत्माको अकर्त्ता मानना पाप है, पाप ही नहीं
 महापाप है ॥ ८३ ॥ बौद्ध लोगोकी कल्पना है कि केवल चित्त सन्तान—ज्ञानधारा ही आत्मा
 है, यह भी असङ्गत है; क्योंकि सन्तानो—सन्तानवान् द्रव्यके बिना कोई भी सन्तान—गुण
 या पर्याय सम्भव नहीं । गुण, द्रव्यको आश्रय बनाकर उसीमे रहते हैं । द्रव्यके बिना गुण
 नहीं रह सकते, यह सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं । बौद्ध ज्ञानकी धाराको ही आत्मा
 मानते हैं, किन्तु ज्ञानकी धारा तो गुण है, अतः गुणो-आत्माके बिना गुण-ज्ञानधाराकी सत्ता
 कैसे रह सकती है ? ॥ ८४ ॥ यदि आप सन्तानको सन्तानोके अभावमे भी मानते हैं, तो हम
 आपसे पूछते हैं कि वह सन्तान नित्य है या अनित्य ? यदि आप नित्य मानते हैं, तो आपकी

१. अ सत्तादि । २. ‘भुक्तिक्रियाया’ इति टीकाकारधृतः पाठ । सर्वामु प्रतिषु तु ‘भुक्तिक्रियायाः’
 इत्येव दृश्यते । ३. आ वा स चेतनेति । ४. अयमपि पाठः टीकाकृताधृतः, प्रतिषु तु ‘अयुक्तितः’ इत्येव
 समुपलभ्यते । ५. = नन्वात्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः,
 चेतन एव बध्यते—इत्यर्थः । तस्मादात्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी । ६. = ज्ञानस्य । ७. प्रतिषु तु
 ‘अयुक्त’ इत्येवास्ति । ८. = संतानिनः सकाशाद् भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः ।

क्षणिकत्वेऽपि संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम् ।

कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते ॥ ८६ ॥

न च व्यापकता तस्य घटानामुपदौकते ।

स्वसंघिवितरूपस्य बहिर्देहावदेदनात् ॥ ८७ ॥

तस्मादनादिनिघनः स्थितौ देहप्रमाणकः ।

कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धो जीवः प्रमाणतः ॥ ८८ ॥

क्षणिकैकान्तवादिनां सर्वे क्षणिकमिति क्षणिकैकान्तवादिभोगतानाम् । प्रतिज्ञाहानिदोषः^१ प्रतिज्ञायाः संहरस्य^२ हानिरेव दोषः । स्यात् अवेत् । नित्यत्वाङ्गोकारादेव क्षणिकैकान्त इति प्रतिज्ञाहानिदोषः ॥ ८६ ॥ क्षणिकत्व इति । क्षणिकत्वेऽपि संतानस्य क्षणिकधर्मवत्त्वेऽपि । तस्य आत्मनः । कृतनाशादिकं कृतस्य पापादेः नाशादिकं कृतनाशाङ्गनाभ्यागमादिकम् । सर्वमेव सकलमेव । संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणं संतानस्य पक्षे निक्षिप्तं प्रोक्तं तच्च तद्दूषणं च तथोक्तम् । प्रसज्यते प्राप्यते ॥ ८६ ॥ न चेति । तस्य जीवस्य । व्यापकता विभुत्वम् । घटनां व्याप्यति । न चौरदौकते नोपपाति । स्वसंघिवितरूपस्य स्वेन संबन्धितं ज्ञातं रूपं स्वरूपं यस्य तस्य । देहात् शरीरात् । बहिः बाह्ये । अवेदनात् अदर्शनात् । आत्मनो व्यापकत्वे देहादपि बहिः दृश्यतामित्यर्थः ॥ ८७ ॥ तस्मादिति । तस्मात् देहादहिर्दर्शनं न भवति यस्मात् तस्मात्^३ अनादिनिघनः आदिश्च निघनं च आदिनिघने, न विद्यते आदिनिघने यस्य स तथोक्तः, अन्तरहित इत्यर्थः । स्थितः नित्यरूपः । देहप्रमाणकः देह एव प्रमाणं यस्य तथोक्तः, स्वीकृतदेहप्रमाण इत्यर्थः । कर्ता पुण्यपापयोः कर्ता । भोक्ता पुण्यपापजनित-मुक्त्युःखादीनां भोक्ता भुजानः । चिदाकारः चिदेवाकारो यस्य तथोक्तः, चैतन्यक इत्यर्थः । प्रमाणनः प्रत्यक्षादि-

यह प्रतिज्ञा कि 'सर्वे क्षणिकं मत्वात्'—'सभो पदार्थं क्षणिक है, क्योंकि वे सत् है' टूट जायगी, और प्रतिज्ञाका भङ्ग (टूटना) एक महान् दोष है, जिससे आप नहीं बच सकेंगे ॥ ८५ ॥ यदि इस दोषसे बचनेके लिए आप सन्तानको क्षणिक स्वीकार करते हैं, तो क्षणिक सन्तानोंके माननेमें जो कृतनाश आदि दोष दिये जाते हैं, वे सब-के-सब सन्तानमें भी आयेंगे - यदि सन्तान क्षणिक मानो जाय तो जो सन्तान क्षण अच्छे-बुरे कर्म करेगा, वह दूसरे क्षणमें तां रहेगा नहीं, फलतः जो दूसरे क्षणमें उत्पन्न होगा, वह उसके फलको भोगेगा । ऐसी अवस्थामें करनेवाले सन्तान क्षणको कृतनाश और न करनेवाले भोक्ता सन्तान-क्षणको अकृताभ्यागमका दोष लगेगा ॥ ८६ ॥ कुछ दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं । किन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी व्यापकता सिद्ध नहीं होती । शरीरके भीतर उनकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है पर शरीरके बाहर रहनेवाली आत्माकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है ॥ ८७ ॥ अतः प्रमाणके आधारपर जीव अनादि—अदिरहित, अनिघन—अन्तरहित, नित्य, शरीर-प्रमाण; अच्छे-बुरे कर्मोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता और चेतनावस्वरूप सिद्ध होता

१. अ आ इ प्रमाणतः । २. अ आ इ विदाकारः । ३. = क्षणिकैकान्तं वस्तुत्वेन शोनाः क्षणिकैकान्तवादिनः तेषां भोगतानामित्यर्थः । ४. = संतानिनः सकाशात् सन्ततिप्रज्ञाभिज्ञा वा ? यद्यभिज्ञा तर्हि तस्मा, अभिज्ञा चेत्, नित्याभिज्ञा वा ? नित्यत्वे क्षणिकैकान्तवादिनां प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । 'सर्वे क्षणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा । ५. आ अङ्गस्य । ६. = 'कृतप्रणाशकृतकर्मभोगवप्रमोसस्मृतिभङ्ग-बोधात् । उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छग्रहो महामाहसिकः परोऽमी ।' ७. आ श स संतान । ८. = संतानिनः । ९. = अननुभवात् । १०. = उक्तविशेषनात् ।

येऽप्यजीवाद्यो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिताः ।
 तेऽपि संप्रति संसिद्धास्तत्र तत्त्वमुपप्लुतम् ॥ ८९ ॥
 जीवाजीवादिषड्वर्गं प्रतिपद्यापरे पुनः ।
 मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते मोमांसापक्षपातिनः ॥ ९० ॥
 तेषामप्यनुमाबाधा परिधावति वृष्टतः ।
 यतः कर्मक्षयो मोक्षः स च सिद्धोऽनुमानतः ॥ ९१ ॥
 तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृत्तिक्षयः ।
 तत्कार्यसकलजगत्त्वस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ ९२ ॥

प्रमाणात्^१ जीवः आत्मा । सिद्धः निश्चितः ॥ ८८ ॥ ये इति । येऽपि तदपेक्षाः तस्यापेक्षा येषां ते तदपेक्षा जीवतत्त्वव्यपेक्षाः । अजीवादयः न विद्यन्ते जीवो यस्य स एवादियेषां ते तदोक्ताः अजीवप्रमुखाः । भावाः पदार्थाः । व्यवस्थिताः स्थापिताः । स्मृत्यध्याहारः । तेऽपि अजीवादयोऽपि । संप्रति इदानीम् । संसिद्धाः प्रमाणप्रसिद्धाः । तत् तस्मात् कारणात् । तत्त्वं द्रव्यम् । उपप्लुतं^२ बाधितम् । न न भवति ॥ ८९ ॥ जीवेति । मोमांसापक्षपातिनः मोमांसायाः मोमांसेति नामवेद्यशास्त्रस्य पक्षेऽङ्गीकारे पातिनः प्रवर्तमानाः । अन्यथादिनः । अपरे केचित्^३ । जीवाजीवादिषड्वर्गं जीवाजीवादोनां वर्णा वर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदनं पूर्व^४ । पुनः पश्चात् अङ्गीकृत्य । मोक्षे परमनिर्वाणे । विप्रतिपद्यन्ते विवादं कुर्वन्ति, जीवस्य मोक्ष एव नास्तीति विवदन्ते इत्यर्थः । यदि गतो लट् ॥ ९० ॥ तेषामिति । यतः यस्मात् । कर्मक्षयः कर्मणा क्षयः नाशः । मोक्षः परमनिर्वाणः, पुण्यशपकर्मणां प्रध्वंस एव मोक्ष इत्यर्थः । न च [स च] मोक्षः । अनुमानतः अनुमानप्रमाणात् । दोषावरणघोर्हानिः क्वचित् पुंसि निःशेषास्त्वतिशायनादित्यनुमानादित्यर्थः । 'ब्रह्महेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृष्णकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति सूत्रकारवचनाच्च । सिद्धः निश्चितः । तेषामपि मोमांसकानामपि । पृष्टतः पृष्ठे पृष्टवः पश्चाद्भावे । अनुमाबाधा अनुमानबाधा । परिधावति परिपलायते, क्षयमपि न मुच्यतीति भावः । न गतो लट् । 'सत्ते षीं वेगे' इति धावादेशः ॥ ९१ ॥ तथेति । तथाहि-उक्तार्थं विवृणोति । क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि । पुंसि पुरुषविशेषे । कृत्स्नावृत्तिक्षयः कृत्स्नायाः समस्ताया बाधुतेरावरण-स्य क्षयो नाशः । अस्ति वर्तते । तत्कार्यसकलजगत्त्वस्य तस्य समस्तावरणक्षयस्य कार्यस्य सकलजगत्त्वस्य सर्वत्र-

है ॥ ८८ ॥ इस प्रकार जीवकी सत्ता सिद्ध हो जानेपर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले अन्य अजीव आदि पदार्थ भी प्रस्तुत प्रसङ्गमें सिद्ध हो जाते हैं, और उन सभी पदार्थोंकी सिद्ध हो जाने-पर यह निश्चित हुआ कि तत्त्वोपप्लवादीका कहना ठीक नहीं । तत्त्वोपप्लव वादी सभी तत्त्वों-को बाधित मानता है ॥ ८९ ॥ मोमांसक लोग जीव-अजीव आदि छहों पदार्थोंकी स्वीकार करते हैं, किन्तु वे मोक्षके विषयमें विवाद करते हैं-मोक्ष नहीं मानते ॥ ९० ॥ मोमांसकोंका यह विवाद ठीक नहीं; क्योंकि अनुमान बाधा उनका पीछा कर रही है । कारण कि समस्त कर्मोंके क्षयको मोक्ष कहते हैं, जो अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है ॥ ९१ ॥ वह इस प्रकार सिद्ध है-किसी भी पुरुषमें समस्त आवरणोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि आवरणोंका क्षय हुए बिना उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती । कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है, यह निश्चित है । प्रस्तुत प्रसङ्गमें कर्मोंका क्षय कारण है और सर्वज्ञता उसका कार्य है । पुरुषमें सर्वज्ञता

१. सा स 'क्षप्रमा' । २. आ 'एवस्यापेक्षाः' । ३. 'वृत्तं' । ४. = अपरे अन्ये केचित्, मोमांसका इत्यर्थः । ५. = पश्चात् किञ्चित् । ६. आ प्रती केवलं 'तेषामिति' इति सम्पुलभ्यते । ७. = 'दोषा-वरणघोर्हानिनिश्चेषास्त्वतिशायनात् । क्वचिदपि स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥' । ८. आ 'सत्ते षीं वेगे' न' श स 'सुते षो वेगे' ।

सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्यचिद्बाधकात्प्राप्यत्वात् ।
 सर्वत्र बाधकाभावादेव वस्तुव्यवस्थितिः ॥ ६३ ॥
 न तस्य बाधकं तावत्प्रत्यक्षमुपपद्यते ।
 तस्यास्तज्जत्वादत्यक्षे न विधिर्न निषेधनम् ॥ ६४ ॥
 न चानुमानं तद्वाधां विधातुं भवति क्षमम् ।
 तस्मिन् पुरुषत्वादि व्यभिचारि यतोऽखिलम् ॥ ९५ ॥
 यथाहि पुरुषत्वेऽपि वेदार्थज्ञानगोचरः ।
 कस्याप्यतिशयस्तद्वत्सर्वार्थज्ञानगोचरः ॥ ६६ ॥

त्वस्य । अन्वयानुपपत्तितः अन्वया सकलावरणक्षयाभावे' अनुपपत्तितः अस्मन्मन् ॥९२॥ सर्वज्ञत्वमिति ।
 कस्यचित् पुरुषस्य । सर्वज्ञत्व सकलज्ञत्वम् । असिद्धम् अनिश्चितम् । न च न च भवति । बाधकाप्यत्वात्
 बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र, सर्वस्मिन् अनुमानादौ । वस्तुव्यवस्थितिः वस्तुनः पदार्थस्य व्यवस्थितिः
 संसिद्धिः । बाधकाभावादेव बाधकस्यासंभवादेव ॥९३॥ नेति । तस्य सर्वज्ञत्वस्य । तावन् प्रथमम् । प्रत्यक्षं
 प्रत्यक्षं प्रमाणम् । बाधकं बाधकारकम् । न उपपद्यते नोपपत्तिः भवितुं । तस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य ।
 अक्षजत्वात् इन्द्रियोत्पन्नत्वात् । अप्रत्यक्षे अतीन्द्रियविषयपदार्थे । विधिर्न विधिर्न भवति । निषेधं च निषेध-
 नमपि न भवति ॥९४॥ न चेति—'अनुमानं च अनुमानप्रमाणमपि । तद्वाधा तस्य सर्वज्ञत्वस्य बाधाम् ।
 विधातुं कर्तुम् । क्षमं समर्थम् । न भवति न वर्तते ।' यतः यस्मात् । अखिल समस्तम् । पुरुषत्वादि—कश्चित्
 सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिरःपाण्यादिमत्वात् रथ्यापुरुषवदिति । तस्मिन् तस्य सर्वज्ञभावस्य बाधकं
 लिङ्गम् । व्यभिचारि अर्थात्कान्तिकं भवति । अनुमानम् (?) । अथवा अहं सर्वज्ञो न भवति वस्तुत्वात्
 पुरुषत्वात् यद्वादिष्टमित्यनुमानम् । तद्बाधा तस्य सद्बाधबाधाम् । विधातुं विधानाय विधातुं कर्तुम् । क्षम
 समर्थम् । न च भवति । भू सत्ताया लट् ॥९५॥ यथेति । यथा हि पुरुषत्वेऽपि पुरुषत्वसद्भावोऽपि । कस्या-
 पि पुरुषस्य । वेदार्थज्ञानगोचरः वेदानाम् अर्थो वेदार्थः तस्य ज्ञानं गोचरो विषयः [यद्यपि यः] अतिशयो-

युक्तिं सिद्धं होनेसे कर्मोंके क्षयका अनुमान होता है । सर्वज्ञता कर्मक्षयको छोड़कर
 और किसी तरह नहीं हो सकती ॥६२॥ और सर्वज्ञता अमिद्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषको
 सर्वज्ञ माननेमें कोई बाधा नहीं है । बाधा न होनेसे ही सब जगह वस्तुकी व्यवस्था होती
 है ॥६३॥ आप हमे यह समझाइए कि अमुक प्रमाण सर्वज्ञताका बाधक है । यदि आप प्रत्यक्ष-
 को सर्वज्ञताका बाधक समझते है, तो ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष उसका बाधक सिद्ध नहीं हो
 सकता । चूँकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है, इसलिए वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका न साधक है और
 न बाधक । सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है, अतः इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उसका सद्भाव या
 असद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता ॥९४॥ और इसी प्रकार अनुमान भी सर्वज्ञतामें बाधा डालने-
 में समर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई हेतु ही नहीं है, जो सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध कर सके ।
 यदि यह कहा जाय कि पुरुषत्व आदि हेतु उसके बाधक है—'कश्चित्सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात्
 शिरः पाण्यादिमत्वाद् रथ्यापुरुषवत्'—अर्थात् 'कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि वह पुरुष है
 और उसके शिर तथा हाथ आदि है । जैसे गलीमें फिरनेवाला आदमी' । तो यह भी ठीक
 नहीं; क्योंकि उक्त हेतु दूषित है ॥९५॥ जिस प्रकार पुरुषत्वके रहते हुए भी किसी व्यक्तिमें

१. आ प्रती केवल 'सकलावरणक्षयाभावे' इति समुपलभ्यते । २. = अनुपपन्नम् । ३. = व्यवस्था ।

४. क्ष स प्रत्यक्षं । ५. = भवितुं नार्हति । ६. = यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽति-
 शयस्त्वद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ।

रासभो न यथा शृङ्गी देशकालान्तरेऽखिलः ।

तथा पुमान् सर्वज्ञो देशकालान्तरेऽखिलः ॥ ६७ ॥

इत्यादि नोपमानं च युक्तमिष्टविधाततः ।

तथा हि खचरादीनां न स्यात्खगमनादिकम् ॥ ६८ ॥

तस्मान्नरविशेषोऽसौ यस्य सा सकलज्ञता ।

तथा नरविशेषश्चेद्विष्टा तस्यापि शृङ्गिता ॥ ६९ ॥

भवति । न [७] वेदार्थवेदी सर्वार्थवेदी इति । तद्वत् वेदार्थज्ञानगोचरातिशयवत् । सर्वार्थज्ञानगोचरः सर्व-
पामर्थानां ज्ञानस्य गोचरो विषयः (सर्वं च तेषां विषयः सर्वार्थः । तेषां ज्ञानं गोचरो विषयो यस्य सः, अतिशयः
पुरुषत्वेऽपि कथयितुं) । भवति ॥९६॥ रासभ इति । यथा देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे वा । अखिलः
सकलः । रासभः खरः । शृङ्गी विधापो । न भवति । तथा तेन प्रकारेण । अखिलः सकलः । पुमान् पुरुषः ।
देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे । सर्वज्ञः सकलार्थवेदी । न भवति । इति भीमांसकामिप्रायः ॥९७॥
इत्यादीनि । इत्यादि एवमादि । उपमानम् उपमानप्रमाणमपि । इष्टविधाततः इष्टस्याङ्गीकारस्य विधाततो
बाधनात्, इष्टविरोधादित्यर्थः । न युक्तं न संगतम् । तथा हि उक्तार्थं विवृणोति तथा हीति । खचरादीनां खे
चरन्तीति खचराः ते आदयो येषां तेषां धियाचरादीनाम् । खगमनादिकं खगमनमादि यस्य (तत्) खगमनादि-
कम् आकाशगमनादिकम् । स्यात् न भवेत् ॥९८॥ तस्माद्विष्टा । तस्मात् कारणात् यस्य पुरुषस्य । सा सकल-
ज्ञता सकलं जानातीति सकलज्ञः तस्य भावः सकलज्ञता सर्वज्ञता । असौ अयम् । नरविशेषः पुरुष विशेषः ।
तथा तेन प्रकारेण । नरविशेषश्चेत् [चेत्] रासभविशेषश्चेत् [चेत्] । तस्यापि खरस्यापि । शृङ्गिता विधाणिता ।

समस्त वेदोक्तं अर्थको जाननेका अतिशय^१ पाया जाता है, इसी प्रकार पुरुषत्व आदिके रहते हुए
भी किसी पुरुषमें समस्त पदार्थ जाननेका अतिशय पाया जा सकता है ॥९६॥ यदि यह
कहा जाये कि 'जैसे किसी भी देश और किसी भी कालमें गदहें सींगवाले नहीं देखे जाते, वैसे ही
किसी भी देश और किसी भी कालमें मनुष्य सर्वज्ञ नहीं देखा जाता, इत्यादि उपमान सर्वज्ञता
का बाधक है' तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेपर आपके ही इष्टका बिनाश
होगा । वह इस तरह—जैसे किसी देश और किसी भी कालमें आपलोग आकाशमें गमन
करनेवालेके अभावको उपमान मानकर मनुष्यमात्रमें आकाश गमनरूप उपमेयका अभाव
मान लें तो आपको विद्याधरोमें भी आकाश गमनका अभाव मानना पड़ेगा । किन्तु यह
आपको इष्ट नहीं है । इसी तरह उपमानके आधारपर सर्वज्ञताका अभाव मानना भी आपको
इष्ट नहीं होना चाहिए ॥९७-९८॥ इस कारण यदि यह कहा जाये कि वह विशिष्ट पुरुष
होता है, जो आकाशमें गमन कर सकता है, तो हम भी यह कह सकते हैं कि वह विशिष्ट
पुरुष होता है, जिसमें सर्वज्ञता होती है । यदि कहें कि इस प्रकार तो कोई विशेष प्रकार-
का गदहा भी ऐसा हो सकता है, जिसके सींग हों, तो ठीक है यदि आपको कहीं ऐसा गदहा
मिल जाये, जिसके सींग सचमुच हों । किन्तु ऐसा गदहा मिलना असम्भव है, पर किसी विशिष्ट

१. भीमांसकोंकी मान्यता है कि वेद ही पुरुषको त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका बोध करा देता है ।
अतः वेदके आधारपर पुरुषमें सभी पदार्थोंको जाननेका अतिशय प्रकट हो जाता है ।

न चार्थापत्तिरप्यस्ति सर्वज्ञाभावसाधिनी ।
 को ह्यर्थोऽसंभवो तेन विना यस्ततं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥
 नाप्यागमेन सर्वज्ञः कृतकेनेतरेण वा ।
 बाध्यते कर्तृहीनस्य तस्यात्यन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥
 कर्तुरस्मरणादिभ्यः कर्मभावो न सिद्ध्यति ।
 भङ्गात्कर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात् ॥ १०२ ॥
 न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति पौरुषेयैवसंभवो ।
 अतीन्द्रियार्थसंवादः सर्वज्ञोक्तोऽपि संभवेत् ॥ १०३ ॥

इहा अङ्गीकृता ॥१९॥ न चेति । सर्वज्ञाभावसाधिनी । सर्वज्ञाभावस्य साधिनी अर्थापत्तिरपि अर्थापत्तिप्रमाणमपि ।
 न चास्ति न संभवति । तेन विना सर्वज्ञाभावेन विना । असंभवो^१ अभावरूपः (अनुपपत्तयाम्) । अर्थः पदार्थः ।
 को हि न कोटीत्यर्थः । यः को वा । त सर्वज्ञम् । प्रकल्पयेत् समर्थयेत् । कुठोर् सामर्थ्ये निजतास्ति ॥१००॥
 नेति । कृतकेन पौरुषेयेण, पुरुषप्रोक्तनेत्यर्थः । इतरेण वा अपौरुषेयेण, अनादिरूपेणेत्यर्थः । आगमेन आगम-
 प्रमाणेन । सर्वज्ञः । न बाध्यते न निराक्रियते । कर्तृहीनस्य कर्मा प्रणेता हीनस्य रक्षितस्य । अत्यन्तम्
 असंभवात् अभावात्, कर्तुरहितस्यागमस्य सर्वज्ञोऽसंभव इत्यर्थः ॥१०१॥ कर्तुं शिति । कर्तुः देवस्य
 [वेदस्य] कर्तुः । अस्मरणादिभ्यः वेदः पुरुषेण प्रोक्त इति स्मरणाभावादिभ्यः । कर्मभावः वेदकर्तृभावः ।
 न सिद्ध्यति न संभवति । अज्ञातकर्तृकः अज्ञातः कर्ता येषां तैः । वाक्यैः तिसृष्वन्तचयस्वरूपावयवैः ।
 व्यभिचारस्य अनैकान्तिकस्य संभवात् सद्भावात् ॥१०२॥ न चेति । पौरुषेयं पुरुषप्रोक्तं वेदेषु मनु,
 एवं कथनं न संभवतीति कश्चिद्विशेषो नास्ति । अतीन्द्रियार्थसंवादः तेषु न संभवतीति चेत्, सर्वदिदृक्त्वं वेदे
 सोऽपि संभवत्येव । असंभवो असंभवरूपः । कश्चिद्विशेषः कोऽर्थावशेषः । न चास्ति नास्ति । अतीन्द्रियार्थ-

पुरुषका सर्वज्ञ होना असंभव नहीं है ॥१९॥ अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध नहीं कर
 सकती; क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो सर्वज्ञके अभावके बिना असंभव होकर उसके
 अभावको सिद्ध कर सके । यदि ऐसा कोई पदार्थ हो, जो सर्वज्ञके अभावमे ही हो, तो उसे देख-
 कर सर्वज्ञके अभावकी कल्पना की जा सकती है । किन्तु ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है ॥१००॥
 यदि आप यह कहे कि आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि
 हम आपसे पूछते हैं कि पौरुषेय आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, या अपौरुषेयसे ?
 अपौरुषेय आगमसे उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा आगम अत्यन्त असंभव
 है, जो बिना पुरुषके ही बन गया हो ॥१०१॥ कर्ताका स्मरण न होना आदि हेतुओंसे उसके
 कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । यदि कर्ताके स्मरण न होनेसे किसी आगमको कर्ता-
 रहित-पौरुषेय माना जाये, तो ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनके कर्ताका किसीको पता नहीं है,
 अतः उन वाक्योंके साथ उक्त हेतु व्यवहारो है ॥१०२॥ जिसे आप अपौरुषेय आगम सिद्ध
 करना चाहते हैं, उसमें ऐसी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, जो पौरुषेय आगममे सर्वथा
 असंभव हो । यदि आप यह कहे कि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी प्रामाणिक चर्चा अपौरुषेय आगमकी
 विशेषता है, जो पौरुषेय आगममे असंभव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ

१. अ. आ ह म घनी । २. आ पौरुषेयस्य संभवो । ३. = पौरुषेयैवसंभवो कश्चिद्विशेषोऽपौरुषेय-
 नास्ति । यथातीन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते । ४. आ वक्तुर् । ५. श स संवादः ।
 ६. श स देवपुरुषेण । ७. आ स न । ८. आ एषां । ९. = सुप्तिङन्तचयरूपवाक्यैः ।

विवादविषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम् ।
 दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्काविशास्यवत् ॥ १०४ ॥
 तस्मादकर्तृकं शास्त्रं नास्ति सर्वज्ञबाधकम् ।
 कृतकं च द्विधामिन्नं सर्वज्ञेतरहेतुकम् ॥ १०५ ॥
 असर्वज्ञकृतं तावन्न प्रमाणमतीन्द्रिये ।
 सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ १०६ ॥
 प्रस्तुतस्यानुमानस्य साधकत्वेन संभावात् ।
 प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञं न बाधते ॥ १०७ ॥

संवादः अतीन्द्रियार्थस्य संवादः^१ । सर्वज्ञोक्तेऽपि सर्वज्ञेनोक्तेऽपि । संभवेत् ॥ १०३ ॥ विवादेति^२ । ततः तस्मान्कारणात् । विवादविषयापन्नं विवादस्य विषयप्राप्तम् (विषयं प्राप्तम्) शास्त्रम् आगमो घनि । सकर्तृकं कर्तृगहितम्, इति माध्यम् ।^३ दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात्^४ दृष्टकर्तृकस्य समानत्वात्, इति साधनम् । अकलङ्कादिशास्त्रवत् अकलङ्कादीनां शास्त्रमिव, इति दृष्टान्तः ॥ १०४ ॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । सर्वज्ञबोधकं सर्वज्ञस्य बोधकं (सर्वज्ञबाधक सर्वज्ञस्य बाधकं) नास्ति त्वज्ञापकम् अकर्तृकं कर्तृगहितम् । शास्त्रम् आगमः । नास्ति न संभवति । कृतकं च स कर्तृकं च सर्वज्ञेतरहेतुकं सर्वज्ञश्चेतरश्च सर्वज्ञेतरौ नौ एव हेतू यस्य तयोक्तं, सर्वज्ञासर्वज्ञकारणकमित्यर्थः । द्विधा द्विप्रकारेण । भिन्नं भेदयुक्तम् । स्यादित्य-
 ध्याहारः^५ ॥ १०५ ॥ असर्वज्ञेन । तावत् प्रथमम् । असर्वज्ञेन किञ्चिज्ज्ञेन कृतं प्रणीतम् । अतीन्द्रिये अतीन्द्रियविषये । प्रमाणं विषयाद्यर्थमभिवाच्यम् (प्रमाणभूतमित्यर्थः) । न न भवति । प्रत्युत नहि सकलज्ञप्रणीतं तु सकलज्ञेन सर्वज्ञेन प्रणीतं तु । तस्य सर्वज्ञस्य । साधक माधकमेव । भवति न बाधकम् ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतमर्थेति । प्रमाणपञ्चकाभावोऽपि पञ्च अवयवा यस्य (तत्) पञ्चकं, 'संख्या-
 दनेश्वाशास्त्रिणे क' इति क-प्रत्ययः, प्रमाणानां पञ्चकं प्रमाणपञ्चकं तस्याभाव एव स्वरूपं यस्य तयोक्तः, प्रमाणपञ्चकाभावरूपाभावप्रमाणमपीत्यर्थः । अखिलज्ञं सर्वज्ञम् । न बाधते । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य । अनुमानस्य-
 कदिवन्^६ पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रकीर्णप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्^७ इत्यनुमानस्य ।

कथित आगममे अतीन्द्रिय पदार्थोक्तौ चर्चा सम्भव है ॥ १०३ ॥ अतः विवाद कोटिमें स्थित प्रस्तुत आगम निम्न अनुमान प्रमाणसे भी पोष्येय सिद्ध होता है—विवादस्थ आगम पोष्येय है; क्योंकि वह कर्तावाले आगमोके समान है । जैसे अकलंक आदिके शास्त्र ॥ १०४ ॥ ऐसी स्थितिमें अपोष्येय आगम सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता । तथा पोष्येय आगम दो प्रकारका होता है—एक सर्वज्ञ प्रणीत और दूसरा असर्वज्ञ प्रणीत । दोनोंमें-से आप किसे सर्वज्ञका बाधक मानते हैं ? ॥ १०५ ॥ यदि असर्वज्ञ प्रणीत आगमको सर्वज्ञका बाधक मानते हैं, तो वह अतीन्द्रिय पदार्थोके निरूपण करनेमें प्रमाण नहीं है, अतः वह सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता । यदि सर्वज्ञ प्रणीत आगमको बाधक मानते हो तो ठीक नहीं; क्योंकि वह उसका बाधक नहीं बल्कि साधक ही है ॥ १०६ ॥ चौक प्रस्तुत अनुमान, जो बावनवे-तेरावनवे वे श्लोकमें दिया गया है, सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करनेमें समर्थ है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति

१. आ सत्यवादः । २. आ श स विवाद इति । ३. स स वृक्षक^३ । ४. श स वृक्षक^४ । ५. आ 'अ' नास्ति । ६. = श स विषयवर्गम् । ७. = वैरीत्येन । ८. = 'यतावदुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणान्विषयव्यवसो पञ्चसंगति, तद्व्युक्तं, तद्वाहकस्यानुमानस्य संभवात् । तथा हि कदिवत् पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रकीर्णप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् ।' प्रमेयरत्न ० पृ० ५४ ।

तस्माद्गोपयित्वा कश्चिदस्तीत्यागमसंभवा ।
 प्रमाणं बाधकाभावाद्बुद्धिरसादिबुद्धित् ॥ १०८ ॥
 ततो मोक्षोऽपि संसिद्धौ रत्नत्रयनिबन्धनः ।
 जीवाजीवास्तवैर्बन्धनिर्जरासंघैः समम् ॥ १०९ ॥
 यच्चोभिरिति तत्त्वार्थशंसिभिश्चुम्बकैरिव ।
 स शल्यमिव संदेहमाचर्क्य महीपतेः ॥ ११० ॥
 यदुक्तं सूरिणा तेन तस्येति प्रपद्य सः ।
 पप्रच्छ पुनरात्मीयाभवांमुदितमानसः ॥ १११ ॥

‘तथाहि कश्चिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृत्तिशयः । तत्कार्यमकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तित्’ इत्यनुमानस्य च । साधकत्वेन सार्वज्ञसौषकारत्वेन । संभवात् ॥१०७॥ तस्मादिति । तस्मात् प्रमाणपट्टकेनापि सर्वज्ञो न बाध्यते यस्मात्, तस्मात् । अशेषवित् अशेषं वेत्तीत्यशेषवित् सर्वज्ञः । कश्चिदस्ति कश्चिद् वस्तु । इति आगमसंभवा बुद्धिः शास्त्रसंभूता एव मतिः । प्रमाणं प्रमाणभूतैव । बाधकाभावात् बाधकस्य प्रतिबन्धकस्य^१ अभावात् असंभवात् । अस्मादिबुद्धिवत् प्रत्यक्षादिज्ञानवत् ॥१०८॥ तत् इति । तत् अनुमानप्रमाणेन सर्वज्ञः सिद्धो यतः, ततः रत्नत्रयनिबन्धनः । रत्नत्रयमेव निबन्धन यस्य स, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यकारणकः । मोक्षः परमनिर्वाणकर्मोक्षपदार्थः । जीवाजीवास्तवैः जीवैश्चाजीवस्थास्तवश्च तद्योक्ताः ते । एवं यदुक्तैः सम साकम् । सिद्धः निश्चितः ॥१०९॥ यच्चोभिरिति । स. मुनिपतिः । चुम्बकैरिव अयस्कातैरिव । ‘चुम्बको’ बहुगुरुतायस्मात्सत्तामूके’ इत्यभिधानात् । तत्त्वार्थशंसिभिः^२ तत्त्वार्थस्य शंसिभिः । आविष्कारिभिः^३ । इति प्रागुक्तं । यच्चोभिः वचनैः । महीपतेः पद्मानाभस्य । शल्यमिव शङ्खायुधमिव । संदेहं संशयम् । आचर्क्य निराचकार । कृष विलेखने लिट् ॥११०॥ यदिति । तेन^४ सूरिणा तेन मुनिनाथेन । यत् उक्तं भाषितम् । तत् तद्वचनम् । तथेति तेन प्रकारेणैवेति । प्रपद्य अङ्गीकृत्य । मुदितमानस मुदित मनुजं मानस चित्त यस्य सः । सः पद्मानाभमहीपतिः । पुनः पश्चात् । आत्मीयान् आत्मन इमे आत्मीयाः तान् स्वसंबन्धान् । भवान्

और आगम इन पाँच सद्भाव साधक प्रमाणोंका अभाव रूप अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता ॥१०७॥ अतः ‘कोई सर्वज्ञ है’ इस प्रकारके शब्दसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रमाण है; क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं है । जैसे प्रत्यक्ष आदि ज्ञान । अर्थात् जैसे ‘अयं घट’—‘यह घड़ा है’ इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है, इसी प्रकार ‘कश्चित् सर्वज्ञः’—‘कोई सर्वज्ञ है’ इत्याकारक शाब्द ज्ञान भी प्रमाण है ॥१०८॥ सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध हो जानेसे जीव, अजीव, आसृव, बन्ध, सबर और निर्जरा इन छह तत्त्वोंके साथ मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है, जिसका कारण रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य है ॥१०९॥ इस प्रकार सात तत्त्वोंके प्रतिपादन करनेवाले वचनोसे मुनिराज श्रीधरने राजा पद्मानाभके सन्देहको निकाल दिया । जैसे चुम्बक लोहेकी कोलको निकाल देता है ॥११०॥ मुनिराज महान् विद्वान् थे, अतः उनके उपदेशकी वास्तविकतासे राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसने कहा—‘मुनिराज, जीव आदि तत्त्वोंके विषयमें जो आपने उपदेश दिया, वह वैसा ही है, जैसा आगममें बतलाया गया है ।’ इसके बाद उसने उनसे अपने पिछले और अगले भवोंके बारेमें पूछा ॥१११॥

१. अ आ इ म भवात् । २. स स सर्वज्ञः । ३. स स बन्धस्य । ४. स स जीवोऽज्ञः । ५. आ चुम्बकवद् । ६. आ शंसिभिः । ७. स स आविः का । ८. आ प्रती ‘तेन’ इति सम्पुल्लङ्घिते नाग्यायु ।

मुनिना वल्लुमारमे तस्मै भवपरम्परा ।
 चक्रे भव्यसभा विस्रमवधानपरम्परा ॥ ११२ ॥
 द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते पूर्वमन्दरः ।
 क्रीडतिकन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः ॥ ११३ ॥
 तस्यापरविदेहेऽस्ति सुगन्धिरिति नामतः ।
 देशो विभूष्य शीतोदानद्युत्तरतटं स्थितः ॥ ११४ ॥
 बिभ्राणैर्बृहद्बुद्बुदपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् ।
 राजन्ते राजवधस्य प्रदेशाः क्रमुकद्रुमैः ॥ ११५ ॥

भूतमविषयउज्ज्यानि । पप्रच्छ व्याजज्ञे^१ । प्रच्छ क्षोप्साया^२ लिट् ॥१११॥ मुनिनेति । मुनिना मुनिनाथेन । भवपरम्परा भवानां जन्मना परम्परा संततिः । तस्मै पद्यानामहोपतये । वक्षतु भाषितुम् । आरमे उपपक्रमे । रमि राभस्ये कर्मणि लिट्^३ । परा उत्कृष्टा । भव्यसभा भव्यानां रत्नत्रयाभिर्भवनयोग्यानां विनयजताना सभा संसत् । अवधानपरं अवधाने सावधाने^४ पर तत्परम् । चित्तं मानसम् । चक्रे विषयते स्म । बुकुञ्ज करणे लिट् ॥११२॥ द्वीप इति । नृप नृन् पातीति नृपः तस्य आमन्त्रणं^५—हे पद्यानाम ! तृतीयं त्रयाणां पूरणं तृतीयः तस्मिन् । ‘द्विनेस्तीयद्वेद्वच ऋश्’ इति तीयत् प्रत्ययः तद्योगे विशब्दस्य रिकारस्य ऋश्—आदेशः । शित्वात् सर्वस्य । द्वीपे पुष्करार्द्धं पे । क्रीडतिकन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः क्रीडन्तीति क्रीडन्तः(तै) क्रीडङ्किन्नरः किन्नरदेवैः संकीर्णनामाकीर्णानां लताना व्रततीनां भवनैः । आलयैः सुन्दरी मनोहरः । यः पूर्वमन्दरः पूर्वस्मिन् पूर्वभागे विद्यमानो मन्दरो मेरु तथोक्तः । विद्यते वर्तते । विदिसत्ताया लट् ॥११३॥ तस्येति । तस्य मन्दरस्य^६ अपरविदेहे अपरदवासी विदेहवशापरविदेहः तस्मिन्, पश्चिमविदेहेत्यने । शीतोदान-द्युत्तरतटं शीतोदाया नद्याः उत्तरं तटं तारम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं^७ अलङ्कृत्य । स्थितः नामतः नाम्नी नामतो नामधेयात् । सुगन्धिरिति^८ देश जनपदः । अस्ति विद्यते । अस भुवि लिट् ॥११४॥ बिभ्रेति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । प्रदेशाः क्षेत्राणि । बृहद्बुद्बुदपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् उद्गता दण्डा उट्टण्डा बृहन्त उट्टण्डा येषां तानि तद्योक्तानि^९ पिण्डैर्निमित्तानि छत्राणि पिण्डच्छत्राणि बृहद्बुद्बुदानि च पिण्डच्छत्राणि च तेषां मावलिः तस्याः श्रियं शोभाम् । बिभ्राणैः बिभ्रत इति बिभ्राणाः तैः । बुभूञ् धारणपोषणयोः । ‘सलट्’—ह्रस्वादिना नञ्-प्रत्ययः । क्रमुकद्रुमैः क्रमुकानां पूषाणां द्रुमैः वृक्षैः । राजवत् राजान इव । राजन्ते भासन्ते । मुनिराजने पद्यानामसे उनके भवोके बारमे कहना प्रारम्भ कर दिया और उस समय वहाँ श्रेष्ठ सभामें जितने भव्य लोग उपस्थित थे, सभीने उसे सुननेके लिए अपने-अपने मनको सावधान कर लिया—सभी सावधान होकर सुनने लगे ॥११२॥ राजन् ! तीसरे द्वीपका नाम पुष्करार्द्ध है, उसके पूर्वमें ‘मेरु’ पर्वत है, जो ‘पूर्व मन्दर’ नामसे प्रसिद्ध है । उसके मण्डपोंमें किन्नरगण क्रीड़ा किया करते हैं, जिससे वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है ॥११३॥ उस पूर्व मन्दरके पश्चिम विदेहमें शीतोदा नदीके उत्तरी तटपर एक सुगन्धि नामका देश है । उसीसे शीतोदा नदीके उत्तरी तटकी शोभा है ॥११४॥ उस देशमें सुपारीके पेड़ प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं । उनके तने ऊँचे हैं, और उनके ऊपरी भाग, जहाँ सभी ओरसे पत्ते लगे हुए हैं, बिलकुल गोल हैं । अतएव उनमें छातोंकी पूरी शोभा उतर आयी है । उनसे उस देशके प्रदेश छत्रधारी राजाओंके

१. =पुच्छतिस्म । २. श स प्रच्छ क्षोप्सा । ३. आ प्रतो देवलं ‘रमि राभस्ये कर्मणि लिट्’ इति समुदाहृतम् । ४. =एकाग्रतायाम् । ५. =आमन्त्रणे । ६. =पूर्वमन्दरस्य । ७. =पद्यात् किञ्चित् । ८. =विद्यमानः । ९. प्रसिद्ध इति शेषः । १०. =सुगन्धिमामधेयः । ११. अ वा इ अं दुद्बुदपिण्डं । १२. =वस्तुतस्त्वत्र पिण्डपदस्य स्थाने पिच्छपदेनैव भाष्यम् ।

सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धयति यो दिशः ।
 सर्वतोऽपि निजामाख्यां कर्तुमर्थवतीमिव ॥ ११६ ॥
 अकृष्टपच्यसस्याढये निरीतो निरघप्रदे ।
 यत्रानित्यप्रमोदिन्यो मोक्षप्राप्ता इव प्रजाः ॥ ११७ ॥
 ग्रामैः कुक्कुटसंपातैः सरोभिर्विक्रमाम्बुजैः ।
 सीमभिः सस्यसंपन्नैः समन्ताद्विराजते ॥ ११८ ॥
 अर्थ धर्माय सेवन्ते कामं संतानवृद्धये ।
 यत्र न व्यसनाल्लोकाः परलोकक्रियोद्यताः ॥ ११९ ॥

राज्जु दोप्लो लट् । उप्रेक्षा ॥ ११६ ॥ सुगन्धीति । य. देशः । निजा स्वकीयाम् । आख्या नामधेयम् ।
 अर्थवती सार्थकाम् । कर्तुमिव कारणायेव । सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धिना मुशोभनो गन्धो येषा तानि
 सूरूपनिगुरभेगन्धादिषु गुणैः इति इत्-प्रत्ययः ॥ सुगन्धिना कुसुमानाम् आमोदै मनोहरपरिमलैः । 'आमोद-
 सोऽतिनिहारी' इत्यमरः । दिशः ककुभ । सुगन्धयति सुगन्धो करोतीति सुगन्धयति । सुगन्धीति सुगन्धातोः
 'णिज्जबहुलं कृतादिषु' इति णिच् प्रत्ययः । उप्रेक्षा ॥ ११७ ॥ अकृष्टेति । यत्र सुगन्धिदेशे । अकृष्टपच्य-
 सस्याढये अकृष्टेन पच्यैः परिपक्वैः सस्यैः आढये परिपूर्णं निरीतो निगमो ईनयोऽनवृष्टादयो यस्मिन्
 (यस्मात्) तस्मिन् । निरघप्रदे^१ 'निरघप्रदे' इत्यभिधानात् । [यत्र सुगन्धिदेशे] । प्रजा जना । मोक्षप्राप्ता इव
 परमनिर्वाण गता इव । 'नित्यप्रमोदिन्यः प्रमोदोऽस्त्यामामिति तथोक्ताः । वर्तन्ते उपमा (उप्रेक्षा) ॥ ११७ ॥
 ग्रामैः । य. सुगन्धिदेशः । कुक्कुटसंपातैः^२ [त्यैः] कुक्कुटैः ताम्रचूटैः संपातैः [त्यैः] लट् वयितुं शक्यं, अति-
 समीपस्थैरित्यर्थः । ग्रामैः निगमैः विक्रमाम्बुजैः विक्रमान्धम्बुजानि येषु तानि, नैः । सरोभिः कागारैः ।
 सस्यसंपन्नैः सस्यैः धान्यैः संपन्नैः समृद्धैः । सीमभिः क्षेत्रैः । 'सीमसोमैः द्वित्रयान्मैः' इत्यमरः । समन्तान्
 परितः । विराजते विभासते । राज्जु दोप्लो ॥ ११८ ॥ अर्थमिति । यत्र सुगन्धिदेशे । परलोकक्रियोद्यताः परस्व
 उत्तरलोकस्म क्रियाया कारणभूताचरणादिकृत्यं उद्यताः सन्नद्धाः । लोका जना । धर्माय धर्मायम् । अर्थ
 समान मुशोभित हो रहे हैं ॥ ११५ ॥ उस देशमें सभी ओर बाग-वगोचे हैं । उनमें फूल खिले
 हुए हैं । उनकी सुगन्धि दसों दिशाओंको मुवासित कर रही है । इसलिए ऐसा जान पड़ता है
 मानो वह देश अपने 'सुगन्धि' नामको सार्थक सिद्ध करना चाहता है ॥ ११६ ॥ उस देशकी
 भूमि बहुत उपजाऊ है, अतः बिना जोते ही वहाँ भरपूर अनाज उत्पन्न होता है । वहाँ अति-
 वृष्टि, अनावृष्टि, मूपक, शालभ, शुक और अत्यन्त पास निवास करनेवाले राजा ये छह इतियाँ
 नहीं हैं । वहाँ कोई रकावट नहीं है । अतएव वहाँके निवासी सदा आनन्दसे रहते हैं । फलतः
 वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया हो ॥ ११७ ॥ वहाँके गाँव बिलकुल पास-
 पासमें हैं, इतने पास कि एक गाँवके मुँहें दूसरे गाँवमें पहुँच जाते हैं । वहाँके सरोवरोंमें कमल
 खिले हुए हैं । वहाँकी सोमाएँ धान्यसे परिपूर्ण हैं । उन गाँवों, सरोवरों और सोमाओंसे उस
 देशकी सभी ओरसे शोभा है ॥ ११८ ॥ वहाँके निवासी धर्मके लिए धनका उपार्जन करते हैं
 और सन्तति उत्पन्न करनेके लिए विषय सेवन करते हैं । उन्हें धन बढ़ोरने और ऐश करनेका

१. आ प्रतावेण केवलं स्वस्ति नमस्तर्जु. पाठः समुपलभ्यते । २. = कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्यानि
 न कृष्टावगन्धकृष्टपच्यानि यानि सस्यानि धान्यानि तैराढये व्याप्यते । ३. = निरीतो ईति रहिते । 'अति-
 वृष्टिरनावृष्टिर्मुपकाः शालभा. बुधाः । स्वचक्रं परचक्रं च स्पृष्टा इतयः स्मृताः ॥' । ४. = अवृष्टिरहिते ।
 ५. आ इ निप्रमोदि । ६. = कुक्कुटसंपातैः वसन्तीति कुक्कुटसंपातार्थः । ७. आ इ 'लोककृतोद्यताः ।

यस्मिन्निरन्तरारामविश्रामैर्विधुतध्रमाः ।

मन्यन्तेऽध्वानमध्वन्या गृहप्राङ्गणसंनिभम् ॥ १२०

यथाभिलषितं वस्तु शश्वत्संपादयन्नणाम् ।

जिगीषतीव यः कल्पपादपैर्मण्डितां महीम् ॥ १२१ ॥

विद्युतश्चञ्चला यत्र स्वभावेन न संपदः ।

कृष्णानि प्रावृडभ्राणि चरितानि न देहिनाम् ॥ १२२ ॥

कच्चिद्गोधनहुंकारैरिष्यन्नारवैः क्वचित् ।

कच्चिल्लिखण्डिनां नादैर्निगमा यस्य सुन्दराः ॥ १२३ ॥

द्रव्यम् । संतानस्यान्वयस्य वृद्धये । कामं वनितासंभोगम् । सेवन्ते अनुभवन्ति स्वीकुर्वन्ति वा । व्यसनात् पुरुषप्रत्यावर्त्तनहेतुभूतान् । न सेवन्ते इत्यर्थः ॥११९॥ अस्मिन्निति । यस्मिन् यत्र मुगन्धिदेशे । निरन्तरारामविश्रामैः निरन्तराणां निरवकाशानाम् आरामाणाम् उद्यानानां विश्रामैः विश्रान्तिभिः । विधुतध्रमा^१ विधुतो^२ निराकुतोश्च यो येषां ते तथोक्ताः । अध्वन्याः अध्वानमलंगामिनोऽध्वन्या पथिका । 'यध्वानं यत्नौ' इति य-प्रत्ययः । अध्वान मार्गम् । गृहप्राङ्गणमन्निभं गृहाणां स्वालयाणां प्राङ्गणानामङ्गणानां सन्निभं समानमिति । मन्यन्ते जानन्ति ॥१२०॥ यथेति । य मुगन्धिदेशः । नृणां नृगणाम् । यथामिलपितं अभिलपितमनतिरुक्तं यथाभिलषितम् । 'यथाथाः' इत्यव्ययीभावः । वस्तु भोगोपभोगवस्तु । शश्वत् अनवरतम् । संपादयन् संचयन् । कल्पपादपैः कदाश्चने पादपादेष्व कल्पपादपा तैः कल्पवृक्षैः । मण्डिताम् अलङ्कृताम् । मही भोगभूमिम् । जिगीषतीव जेतुमिच्छति जिगीषति जि अभिभवे^३ । 'कस्येककर्तृकात्—' इत्यादिना कस्यर्थे सन् प्रत्ययः । 'जे लिट् मनि' इति निर्यादेशः । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१२१॥ विद्युन् इति । यत्र मुगन्धिदेशे । स्वभावेन निसर्गेण । चञ्चला, चलनरूपा । विद्युन् तडित । संपदः ऐश्वर्याणि न चञ्चलाः । कृष्णानि कल्पपितानि^४ प्रावृडभ्राणि प्रावृषो वर्षाकालस्याभ्राणि मेघाः । देहिना च प्राणिना च । तानि^५ कृष्णानि नन्व सन्तीत्यर्थः । परिसंख्या ॥१२२॥ कच्चिदिति । यस्य मुगन्धिदेशस्य । निगमाः ग्रामाः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । गोधनवृद्धारैः गोधनस्य गोमूहस्य वृद्धारैः वृद्धारध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । इष्यन्नारवैः इक्षणा रसालानां^६ यन्त्राणाम् आरवैर्ध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । शिखण्डिना मयूरा-

व्यसन—चस्का नहीं है । उन्हे परलोकका खयाल रहता है, इसीलिए वे सदा पारलौकिक क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं—वे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करते हैं, किन्तु उनका ध्यान मुख्यतया धर्मकी ओर ही रहता है ॥११६॥ वहाँ लगातार बाग-बगीचे हैं । उनमें विश्राम करके पथिक अपनी यकावट दूर करते हैं । अतः वे मार्गको अपने घरका आँगन सरोखा मानते हैं ॥१२०॥ उस देशमें वहाँके निवासियोंके मनके अनुकूल वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं । अतएव वह देश ऐसा मालूम पड़ता था मानो कल्पवृक्षसे विभूषित भोगभूमि और स्वर्ग-भूमिकी जीतना चाहता हो ॥२२१॥ यहाँ केवल बिजली ही स्वभावसे चञ्चल हैं; सम्पदाएँ चञ्चल नहीं हैं । इसी प्रकार केवल वर्षाकालीन बादल ही काले हैं; वहाँके मनुष्योंके चरित काले-मलिन नहीं हैं ॥१२२॥ वहाँके गाँव अत्यन्त सुन्दर हैं । उनकी सुन्दरता कही गायो और बेलोंके रंगानेसे, कहीं गन्ने पेरनेवाले कोलहूओंके शब्दसे और कही मयूरोंके स्वरसे देखते ही

१. इ 'क्वचित्' इति नास्ति । २. श स 'धूत' । ३. श स 'धूतो' । ४. = सम्पदायन् । ५. = जेतुमिच्छतीव । ६. आ जि जि अभि' । ७. श स कल्पपानि । ८. = चरितानि-आचरणानि । ९. = 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुष्पकान्तरकादयः ।' इत्यमरः ।

मञ्जस्तीमन्तिनीसार्थकुचसंक्रान्तकुङ्कुमः ।
 रक्षांशुकैरिषाभान्ति यस्मिञ्जलधियोधितः ॥ १२४ ॥
 महाविभवसंपन्नं तत्रास्ति श्रीपुरं पुरम् ।
 लोकपुण्यैः समुत्पन्नं त्रिविष्टपमिवापरम् ॥ १२५ ॥
 प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः ।
 सदैवान्तरिता यत्र ज्योतिर्गणविभाभयत् ॥ १२६ ॥
 चन्द्रकान्तस्रुतेयत्र सूर्यकान्तोद्भवान्नितः ।
 मिमीते सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं जनः ॥ १२७ ॥

णाम् । नादै. केकारवै । सुन्दरा मनोहराः । भवन्ति ॥ १२३ ॥ मञ्जदिति । यस्मिन् सुगन्धिदेशे । जलधि-
 योधितः जलधेर्योधितो नद्यः । मञ्जस्तीमन्तिनीसार्थकुचसंक्रान्तकुङ्कुमैः मञ्जस्तीना स्नानं कुर्वन्तीना मौमन्ति-
 नीना नारीणा सार्थस्य समूहस्य कुचेषु स्तनभरेषु संक्रान्तीराकान्ते. कुङ्कुमं कादमीरे । 'मार्थो वणिक्समूहः
 स्यादपि संघातमात्रके' इति विश्वः । रक्ताशुकैरिव रक्तवसनैरिव । आभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् ।
 उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥ १२४ ॥ अहंति । यत्र सुगन्धिदेशे । महाविभवसंपन्नं महागत् पूयुल विभवम् ऐश्वर्यं
 संपन्नं संप्राप्तम् । श्रीपुरं श्रिया संपत्त्योपलक्षितं पुरं 'श्रीपुरम्' इति । पुरं पुरी । अपरम् अन्यत् । त्रिविष्टपमिव
 त्रिदशालय इव । लोकपुण्यैः लोकाना जनाना पुण्यैः सुकृते समुत्पन्नं संजातम् । उपमालङ्कारः ॥ १२५ ॥
 प्रासादेति । यत्र श्रीपुरे । ज्योतिर्गणविभा ज्योतिषा चन्द्रमूर्धादीनां गणस्य समूहस्य विभा कान्तिः । प्रासाद-
 शृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः प्रासादाना सौधाना शृङ्गेषु शिखरेषु मंलग्नाना संबद्धाना रत्नोपलाना
 मरीचिभिः कान्तिभिः । सदैव सर्वस्मिन् काले सदैव । 'सदैतर्ह्ययुनेदानीं तदानीं सद्य' इति साधु । अन्तरिता
 आच्छादिता । अभवत् आसीत् । भू सत्ताया लङ् । सामान्यालङ्कारः ॥ १२६ ॥ चन्द्रेति । यत्र श्रीपुरे ।
 जन. लोकः । सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं सालेन प्राकारेण संरुद्धयोरानुवृतयो रविचन्द्रयोः सूर्याचन्द्रमसो
 उदयमुद्गमनम् । चन्द्रकान्तस्रुतेः चन्द्रकान्तस्य चन्द्रकान्तपाषाणस्य स्रुते. स्पन्दनात् । सूर्यकान्तोद्भवान्नितः.
 सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तशिलायाः सकाशात् उद्भवात् उत्पन्नात् अन्नितः बह्वैः सकाशात् । मिमीते अनुमिनोति ।

बनते हैं ॥ १२३ ॥ बह्नीकी नदियोंमें जिस समय स्त्रियाँ स्नान करती हैं, उस समय वे, बहते हुए
 उनके स्तनोंके केशरके रंगसे रंगीन होकर लाल कपड़ोंको पहननेवाली सीमायवतो स्त्रियो सरीखी
 जान पड़ती हैं ॥ १२४ ॥ उस सुगन्धि देशमे एक श्रीपुर नामका पुर है । वहाँ अद्भुत सम्पत्ति
 है । वह ऐसा जान पड़ता है मानो वहाँके निवासियोंके प्रचुर पुण्यसे रचा गया दूसरा स्वर्ग हो
 ॥ १२५ ॥ वहाँके महलोंके शिखरो पर नाना प्रकारके रत्न जड़े हुए हैं । उनकी किरणें आकाशमें
 फैली रहती हैं । अतः सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ताराओंकी प्रभा सदा छिपी रहती है ॥ १२६ ॥
 उस पुरकी चहार दीवारी बहुत ऊँची है । अतः वहाँके निवासी कभी सूर्य और चन्द्रमाके उदय-
 को नहीं देख पाते; किन्तु सूर्यकान्त मणियोंमेंसे निकलती हुई अग्नि देखकर सूर्योदयका तथा

१. = सन्ति । २. = उपलक्षिता इवेति यावत् । ३. = महता विपुलेन विभवनैश्वर्येण संपन्नं
 संयुक्तम् । ४. = उत्प्रेक्षा यमकं च । ५. आ कान्तस्य ।

यत्प्रासादशिरोलम्बपद्मरागांशुभिर्नभः ।
 भिन्नं करोत्यकाण्डेऽपि संच्याशङ्कां शरीरिणाम् ॥ १२८ ॥
 वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोलीशिखरं शनैः ।
 यत्राधिरुह्य पूर्वाह्ने प्रपूर्णकलशायते ॥ १२९ ॥
 प्राकारशिखरासघ्नैस्तारतारकदम्बकैः ।
 यत्र दीपोत्सवभ्रान्तिस्तन्यतेऽनुदिनं निशि ॥ १३० ॥
 प्राकारः परितो यत्र शृङ्गैरुत्तम्भितोऽङ्गुलिभिः ।
 नाकावलोकनोत्कण्ठां बिभ्रान्न इव भासते ॥ १३१ ॥

माद् माने लट् । अनुपितलङ्कारः ॥ १२७ ॥ यदिति । यत्प्रासादशिरोलम्बपद्मरागांशुभिः यस्य श्रीपुरस्य प्रासादना मौशाना शिरस्तु शिखरेषु लम्बाना संनद्धानां पद्मरागाणां पद्मरागरत्नानामङ्गुलिभिः कान्तिभिः । भिन्नं छत्रम् । नभः आकाशम् । शरीरिणा जनानाम् । अकाण्डेऽपि । 'काण्डोऽस्त्री दण्डवाणावर्गवतिरवारिपु' इत्यमरः । संध्याशङ्का संध्यायां रागस्य शङ्का सन्दिहम् । करोति विदधाति । हुकृञ् करणे लट् । भ्रान्तिमान-लङ्कारः ॥ १२८ ॥ वासरेति । यत्र पुरे । वामराधिपतिः वासरस्य दिवसस्याधिपतिः सूर्यः । पूर्वाह्णे अह्नः पूर्वं पूर्वाह्णं तस्मिन् । तुङ्गप्रतोलीशिखरं तुङ्गस्योन्नतस्य प्रतोल्याः गोपुरस्य शिखरमग्रभागम् । शनैः नीचैः अधिरुह्य अधिरोहणं पूर्वं आरुह्य । प्रपूर्णकलशायते प्रपूर्णश्चासौ कलशश्च तथोक्तः, प्रपूर्णकलश इवाचरतीति तथोक्त । 'ज्यङ्' इत्याचचार्ये ज्यङ्-प्रत्ययः । उपमा ॥ १२९ ॥ प्राकार इति । यत्र श्रीपुरे । प्राकारशिखरासर्गैः प्राकारस्य सालस्य शिखरस्य अग्रस्य भासते समीपगतैः । तारतारकदम्बकैः ताराणां महतीनां ताराणां नक्षत्राणां कदम्बकैः समूहैः । अनुदिनं प्रतिदिनम् । निशि रात्रौ । दीपोत्सवभ्रान्तिः दीपाना-मुत्सवस्य भ्रान्तिर्भ्रमणं । तन्यते क्रियते । तनूज् विस्तारे कर्मणि लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥ १३० ॥ प्राकार इति । प्राकारः सालः । परितः मग्नततः । उत्तम्भितोऽङ्गुलिभिः उत्तम्भिताः धृताः उडभो नक्षत्राणि येषां (यैः) तैः । शृङ्गैः दिग्रेभ्यः । नाकावलोकनोत्कण्ठा नाकस्य स्वर्गस्यावलोकने दशने उत्कण्ठामुत्कलिकाम् ।

चन्द्रकान्त मणियोंका पसोजना देखकर चन्द्रोदयका अनुमान कर लेते हैं ॥ १२७ ॥ वहाँके महलों-के ऊपरी सिरेपर पद्मराग मणि जड़े हुए हैं । उनकी लाल किरणोंसे आकाशका रंग लाल हो जाता है । अतः वह सन्ध्या-समय न रहनेपर भी लोगोंको सन्ध्याका भ्रम उत्पन्न कर देता है ॥ १२८ ॥ सूर्य दिनके पूर्व भागमें जब धीरे-धीरे उस पुरके दरवाजेके शिखरपर चढ़ जाता है तब वह पूर्ण स्वर्ण कलश-सा प्रतीत होने लगता है ॥ १२९ ॥ चहारदीवारीकी चोटोपर रात्रिके समय जब ताराओंका चमकीला गण पहुँच जाता है तब वह उस पुरमें प्रतिदिन दीपावलीका भ्रम फैला देता है ॥ १३० ॥ उस पुरकी चहारदीवारी रात्रिके समय जब नक्षत्रोंको अपने शिखरोसे उठा लेती है तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसे स्वर्ग देखनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न

१. = तुङ्गायाः उन्नतायाः । २. = तुङ्गप्रतोलीशिखरम्—उच्चपुरद्वारशिखरः । ३. = मण्डम् ।
 ४. = पद्मात् किञ्चित् । ५. = अग्रभागस्य । ६. = भ्रमः । ७. = 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः ।

मानोन्नता महाभोगा मत्तवारणशालिनः ।
 बहुभूमियुता यत्र प्रासादाः पार्थिवोपमाः ॥ १३२ ॥
 अम्बुना घनकिञ्जलकच्छादितेन निरन्तरम् ।
 स्वीकुर्वाणा कचिल्लदमी हिरण्यखचितस्तिः ॥ १३३ ॥
 तीरजस्तलसन्तानैः पयसि प्रतिबिम्बितैः ।
 पातालोपवनारेकां कुर्वन्त्यन्यत्र परिश्रणाम् ॥ १३४ ॥
 बिभ्रती काशसंकाशपद्मविज्ञेयशोभिनः ।
 हंसांकापि मरुल्लोलान्फेनपुञ्जानिवात्मनः ॥ १३५ ॥

विभ्रण इव दधान इव । भासते भाति । भाम्बु दीप्तो लट् । उत्प्रेषा ॥ १३१ ॥ मानेति । यत्र श्रोपुरे । मानोन्नता मानेन प्रमाणेन, पक्षे मानेन गर्बेण उन्नता उन्नृज्जा । 'मान प्रमाणे प्रग्यादी मानश्चिनोन्नती ग्रहे' इति विश्व । महाभोगा महान् आभोगो विस्तारो येषां ते, 'पक्षे महान् भोग स्वीचन्दनादिविषयानुभवा येषां ते । 'भोग मुषे धने चाहे । शरीरकणधोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेदे पण्यव्योपिताम् ॥' इति विश्व । मत्तवारणशालिन मत्तवारणं, मदगर्जे, पक्षे उपधानकलकविशेषे शालिन शोभमानाः । 'मत्तवारणमिच्छन्ति दानविल्ले मरुद्विषे' । महाप्रासादवीथीना वग्धे चाप्युपाश्रये ॥' इति विश्व । बहुभूमियुता बहुभि-
 भूमिभिः क्षेत्रे युताः सहिता । प्रासादा सोबा । पार्थिवोपमा पार्थिवाना भूपतीनामुपमा सद्भा भवन्ति । उल्लेखोपमा ॥ १३२ ॥ अम्बुनेति । ववचिन् एव स्मिन् प्रदेशे । निरन्तरम् अन्तर्गतमिगन्त निरन्तर निरवकाशं यथा तथा । घनकिञ्जलकच्छादितेन घने किञ्जलकैः केनरे छादितेन पिहितेन । अम्बुना जलेन हिरण्यखचितेन हिरण्येन स्वर्णेन खचितया निमिताया स्तिः भूमे । लदमी शोभाम् । स्वीकुर्वाणा आदशना । कुलकस्वात् पुरस्तात् स्वातिका भाति (१३७) इत्यन्वयते ॥ १३३ ॥ तीरेति । अग्नय पयसि सल्लिः । प्रतिबिम्बितैः प्रतिच्छाया गर्न । तीरजैः तीरे जायन्त इति तीरजा नं, तटजान् । तलसन्तानं, तल्लणा वृक्षाणा मन्तानं समूहः । 'अपत्यगोत्रमृहसुरकुजेषु मन्तान' इति नानार्थकोटि । परिश्रणा पत्रमस्त्वेषा-
 मिति परिश्रणः खगा तेषाम् । पातालोपवनारेकां पातालस्य अधोभवनस्य उपवनस्य उद्यानस्य आरंका मन्दैरम् । कुर्वन्ती विवधती । उत्प्रेषा ॥ १३४ ॥ बिभ्रतीति । वधापि अन्यत्र । काशसंकाशपद्मविज्ञेयशोभिन काशस्थोन्मत्तशो सकाशाना पद्माना विज्ञेयेण प्रेरणेन शोभिनी भासिनः । हमान् मरालान् । आत्मनः स्वस्य मरुल्लोलान् मरुता वायना लोलान् चञ्चलान् । फेनपुञ्जानिव फेनाना छिन्नोदगणा पुञ्जानिव पिण्डानिव ।

हो गई हों ॥ १३१ ॥ उस पुरके महल राजाओं सरीखे है—राजा गर्वान्न हाते हैं, वे मापमे उन्नत है—बहुत ऊँचे हैं । राजाओंके पास भोग सामग्री खूब होती है, उनका विस्तार बहुत है । राजाओंकी गोमा मदमाते हाथियोंमें होती है; वे छज्जोमें सुशोभित हैं और राजाओंके पास बहुत भूमि होती है तो वे भी तो बहुत भूमिसे युक्त है ॥ ३२ ॥ उस पुरके चारों ओर परिखा-नवाई खुदी हुई है । उसमें लबालब जल भरा हुआ है, और उसमें कमल लहलहा रहे हैं । उनका पराग झड़ कर जलके ऊपर जितने भागमें फैल जाता है, उनना भाग स्वर्ण जटित भूमिकी छवि की ग्रहण कर लेता है ॥ १३३ ॥ उस परिखाके जलमें एक ओर किनारेके वृक्षांका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसे देखकर पक्षियोंको पातालमें उपवनका सन्देश हो रहा है ॥ १३४ ॥ उस परिखाके जलमें जिस ओर हम तैर रहे हैं, और वे कांसके फूलोंकी भाँति अपने सफेद पंख

१ अ क ल्य ग घ म कुर्वन्त्य । २ श स दानविल्लतटद्विषे । ३ उपमा सादृश्यं येषां ते ।
 ४. = पन्तीति शेषः । ५ आ 'निमिताया.' इति नास्ति । ६ श स रंका । ७. भवनलोकस्य ।
 ८. आ कुर्वन्ति विवधति ।

तटपादपसंरुद्धैर्निष्कम्पसलिलानिलैः ।

मुग्धस्त्रोणां वितम्बानां क्वापि स्फटिकभूभ्रमम् ॥ १३६ ॥

मज्जपुरन्ध्रिधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका ।

यत्र तारकितेव द्यौः सर्वतो भाति खातिका ॥ १३७ ॥ (पञ्चभिः कुलकम्)

तीक्ष्णत्वं केवलं यत्र बोधे न बचने नृणाम् ।

कठिनत्वं कुचद्वन्द्वे कामिनीनां न मानसे ॥ १३८ ॥

भङ्गः कचेपु नारीणां व्रतेषु न तपस्विनाम् ।

चिरसत्त्वं कुकाब्धेषु मिथुनेषु न कामिनाम् ॥ १३९ ॥

बिभ्रती घरती ॥ १३५ ॥ तदेति । क्वापि अन्यत्रापि । तटपादपसंरुद्धैः तटस्थ तोरस्य पादपैर्वृक्षैः सरुद्धैरावृत्तैः । अनिलं मरुद्भिः । निष्कम्पसलिला निष्कम्पं सलिलं जलं यस्या सा तथोक्ता । मुग्धस्त्रोणा मुग्धाना मोहितानां मूढानां वा स्त्रोणा वनितानाम् । स्फटिकभूभ्रमं स्फटिकेन पाषाणेन निमित्तायाः भ्रुवो भूमेभ्रमं भ्रान्तिम् । वितम्बानां कुर्वाणा । तनुज् विस्तारे । 'सल्लट्—' इत्यादिना नञ्-प्रत्ययः । भ्रान्तिमान-लङ्कारः ॥ १३६ ॥ मज्जदिनि । यत्र धोपुरे । मज्जपुरन्ध्रो धम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका मज्जन्तीना स्नान कुर्वतीना पुरन्ध्रोणा सुवर्तिवनिताना धम्मिल्ले^३ संयतकचैः गच्छन्ती उज्ज्वला मल्लिका मल्लिकापुष्पं यस्या सा । खातिका परिखा । सर्वतः सर्वत्रदेशतः । द्यौः आकाशम् । तारकितेव तारकाः संजाता यस्यामिति तारकितेव सेव । भाति स्म रराज^४ । उत्प्रेक्षा । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ तीक्ष्णत्वमिति । यत्र धोपुरे । तीक्ष्णत्वं कुशाग्रोद्यम्बं, पक्षे क्रूरत्वम् । केवलं परम् । नृणा जनानाम् । बोधे ज्ञाने, भवतीति शेषः । बचने भाषणे । न न भवति । कठिनत्वं कर्कशत्वम् । कामिनीनां वनितानाम् । कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, भवतीति शेषः । मानसे हृदये । न न वनते । परिसङ्गालङ्कारः ॥ १३८ ॥ भङ्ग इति । नारीणां वनितानाम् । कचेपु^५ केशेषु । भङ्गः अवमर्दनं (वस्त्रम्) स्यात् । तस्मिन्ना तपोऽस्ति येषामिति तपस्विनां, तेषाम् । 'तपस्व्यमाश्रमेषानो विन्' इति विन्-प्रत्ययः । स्त मरुत्वं इति पदसंज्ञाभावः । व्रतेषु चारित्र्येषु । न न स्यात् । कुकाब्धेषु कुस्मितकवि-त्र्येषु । विमरुव शृङ्गारादिनवरसाभावो भवेत् । कामिना कामुकानाम् । मिथुनेषु द्रव्येषु । न न वर्तते ।

हिला रहे है, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हवाके झोकेसे उसके ऊपर फेनका पुञ्ज लहरा रहा हो ॥ १३५ ॥ एक ओर परिखाके किनारेपर बहुत ही घनी वृक्षावली है । उससे हवा रुक जानेके कारण उसके जलका जितना अंश बिलकुल ही निश्चल हो रहा है उस देखकर भोली-भाली स्त्रियोको स्फटिकमणिजटित भूमि(फर्श)का भ्रम हो रहा है ॥ १३६ ॥ स्नान करते समय सौभाग्यवती स्त्रियोके केश पाशसे गिरे हुए सफेद चमेलीके फूल उसके जलमें चारों ओर लहराने लगते है । अतः वह क्षिलमिलाने तारोसे युक्त आकाश सरोखो देख पडती है ॥ १३७ ॥ उस पुरके निवासियोकी केवल बुद्धिमें ही तीक्ष्णता है; उनके बचनोमे तीक्ष्णता—तोखापन नही है । वहाँ केवल स्त्रियोके स्तन युगलमें कठोरता पायी जाती है; उनके मनमें कठोरता नही पायी जाती ॥ १३८ ॥ वहाँकी स्त्रियोके केवल केशोमें ही घुंघरालापन पाया जाता है । और उन्हीमें मर्दन भो (साफ करते समय) देखा जाता है । किन्तु साधुओके व्रतोमे दोष नही देख पडते, और व्रत धारण करनेके पश्चात् उनका मानभङ्ग भी नही होता । केवल कुकवियोके काव्योमे ही वहाँ नीरसता पायी जाती है, कामियोके युगलमे नीरसता नही

१ अ कविभ्रमम् । २ आ मोहिनोनाम् । ३ = धम्मिल्लेभ्यः सयनकचेषु गच्छन्ती पन्यन्ती उज्ज्वला मल्लिका यस्या सा । ४ = सर्वत्रस्तारकितो रिव भाति राजते । ५ क म कुचेषु ।

विरोधः पञ्जरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् ।
 नाभिष्वेव च नीचत्वं नाचारेषु कुटुम्बिनाम् ॥ १४० ॥
 प्राकारपरिखावप्रैः परितः परिवेष्टितम् ।
 परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रघट्टिराजते ॥ १४१ ॥
 प्रसिद्धेनाचिरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा ।
 वणिजस्ताकिंकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिष्यते ॥ १४२ ॥

इयमपि परिसंख्या ॥१३९॥ विरोध इति । पञ्जरेष्वेव पक्षिनिरोधककाष्ठयन्त्रेषु [एव] । विरोध बीना
 पक्षिणा रोधः तिरोधानं, पक्षे वैरं प्रवेत् । महात्मना महानात्मा येषां तेषां सज्जनानाम् । मनसु मानेण ।
 न नास्ति । नाभिष्वेव नाभिप्रदेसेषु [एव] नीचत्वं निम्नत्वं, पक्षे निकृष्टत्वमस्ति । कुटुम्बिना गृहस्थानाम् ।
 आचारेषु चारित्र्येषु । न नास्ति । इयमपि परिसंख्या ॥१४०॥ प्राकारेति । परितः समस्तान् । प्राकार-
 परिखावप्रैः प्राकारश्च परिखा च वप्रश्च प्राकारपरिखावप्रा तैः सालजलम्बानिकाप्राकारान्तर्वेदिकाभिः ।
 परिवेष्टितं परिवृतम् । यत् श्रोत्रम् । परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवत् परिवेषपागा परिधोना त्रयेण अन्वितश्चामौ
 चन्द्रश्च स इव । भासते । राज्ञः दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१४१॥ प्रसिद्धेनेति । यत्र श्रोत्रे । वाणिजो
 वाणिजः । ताकिंकाश्चापि तर्कं न्यायशास्त्रं^१ बोद्धारोऽप्येतारो वा । प्रसिद्धेन लोकप्रतीनेन । अविरुद्धेन
 विरोधरहितेन, विरुद्धपहेतुदोषरहितेन । अव्यभिचारिणा क्रयविक्रयकरणे व्यवभाररहितेन व्यवभाररूप-
 हेतुदोषरहितेन च । मानेन प्रमाणेन^२ । वस्तु रत्नादिवस्तु वस्तुपादिपदार्थं च । प्रमिष्यते अनुमिष्यते । ममिष्य^३

पायी जाती ॥१३९॥ उस पुरमें विरोध—वि + रोध = पक्षियोको रोक रखना केवल पित्रो-
 में ही देखा जाता है; महात्माओके मनमें विरोध नहीं देख पड़ता । केवल स्त्रियोको नाभि-
 में ही गहरायो पायी जाती है; गृहस्थोंके आचरणमें नीचता नहीं पायी जाती ॥१४०॥ वह
 नगर चारो ओरसे चहारदीवारी, खाई और अन्तर्वेदीसे घिरा हुआ है, अतः वह तीन परिधियों-
 के बीचो-बीच पहुँचे हुए चन्द्रमाके समान सुसोभित हो रहा है ॥१४१॥ उस पुरके वणिक्-
 व्यापारी जिन मापनेके पात्रों और तोलनेके बांटोसे सौदा मापते या तोलते हैं, वे सब लोक
 प्रसिद्ध हैं । वे लेनेके बड़े और देनेके छोटे नहीं हैं और उनमें कोई पासंग या करामात नहीं है—
 वहाँके व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिक हैं । इसी प्रकार वहाँके ताकिंक भी प्रमेयका निश्चय जिस
 अनुमान प्रमाणसे करते हैं, उसका बङ्ग-हेतु असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी नहीं रहता—वे
 अग्नि आदि प्रमेयोंका विश्वास धूम आदि सच्चे हेतुओंसे करते हैं, झूठे हेतुओं—हेत्वाभासोंसे

१. = 'वैदेहक. सार्ववाहो नैमो वाणिजो वणिक्.' इत्यमरः । २. = तर्कस्य न्यायशास्त्रस्य
 बोद्धारोऽप्येतारो वा, तेषां । ३. वा स प्रमाणेन च । ४. वा स बुमिष्य प्रमोषणे ।

वापोवनायतनसौधतडागरम्यं स्वर्गाभिभाविबिम्बोदयवर्द्धमानम् ।^१

शक्येत तन्न गुरुणापि पुरं यथावदाख्यातुमल्पमतिना किमु मद्भिधेन ॥ १४३ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमच्चरिते महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

प्रश्नेरणे । श्लेषालङ्कारः ॥ १४२ ॥ वापाति । वापोवनायतनसौधतटाकरम्यं वापोभिर्दीप्तिकाभिर्वनैश्चयाने । आयतनं, चैत्यालये, सौधे, प्रासादेः तटाके पष्पाकरैश्च रम्यं मनोहरम् । स्वर्गाभिभाविबिम्बोदयवर्द्धमानं स्वर्गं सुरलोकम् अभिभवतीत्येवंशीलः स्वर्गाभिभावो स्वर्गतिरस्कारी स चासौ विभवश्च तथोक्तः, स्वर्गाभिभाविबिम्बस्यैष्यस्योदयः प्रादुर्भावः तेन वर्धमानम् एधमानम् । तत् पुरं धीपुरम् । गुरुणापि बृहस्पतिनापि । यथावत् यथेवास्तेति^२ यथावत् सत्यम् । आख्यातुं न शक्येत न समर्थेन । शक्यं शक्यते कर्मणि लिङ् । मद्भिधेन मम विधेः समानं तेन मत्सदृशेन । अल्पमतिना अल्पा मतिर्यस्य तेन । किमु शक्येत । अनेन कवेरस्योद्धत्यपरिहारः कृतः । अतिशयोक्तिः ॥ १४३ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमच्चरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च विद्ममनोवदल-
भाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥ १ ॥

नही ॥ १४२ ॥ उस पुरको सुन्दरतामें वापिकाओं, बाग-बगोचों, देवालयों, महलों और सरो-
वरोंने चार चाँद लगा दिये है । वहाँपर स्वर्गके वैभवको भी मात करनेवाला वैभव-अटूट
सम्पत्ति है, अतः दिनोदिन उसकी प्रगति हो रही है । इस लिए उस पुरका वास्तविक वर्णन
देवगुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते, फिर मुझ जैसा मन्दमति कर ही कैसे सकता है ? ॥ १४३ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उद्घाटन चन्द्रप्रमच्चरित
महाकाव्यमें दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

१. अ^० भिभाविभि^० क ख ग घ स्वर्गाभिपस्य विम । २. स यथेवास्तेति यथावत् ।

तृतीयः सर्गः ।

तत्राभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपक्षो न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकारः ।
 संकोचितारिब्रजितास्यनिशाकरश्रीः श्रीपेण इत्यजनि भानुनिभो नरेन्द्र ॥ १ ॥
 यस्य प्रतापवह्नेन विलङ्घ्यमानमूर्तिर्निरन्तरमरातिगणः समस्तः ।
 द्रष्टुं दिशं न विदिशं चकितः प्रभृण्युर्ध्वकोपमः समभवद्गिरिगङ्गस्थः ॥ २ ॥
 यस्य स्फुरद्भिरनुरागकरैर्यशोमिरुद्रासितासु सकलासु दिगङ्गनासु ।
 तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय लोकः शीतांशवे न नितरां स्पृहयांश्चभूव ॥ ३ ॥

गर्भावनारसमयं (ये) भुवनं समस्तं गङ्गास्फुटमगिरत्नमुषामिषिकतम् ।

श्रीराश्विनोरपरिशोभितदिग्धकार्यं श्रीशीतलं जिनपतिं प्रणमामि नित्यम् ॥

तत्रेति । तत्र श्रीपुरे । अभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपक्ष अभिनन्दिताः प्रवृत्तिता निजस्य स्वस्य अशिलाः समस्ता बन्धव एव पश्यामि नलिनानि येन(सः) तथोक्तः । अथवा अभिनन्दिता निजाखिलबन्धूना पश्चात् लक्ष्मी येन । न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकार न्याया नीतय त एवाशयो मयूषा तेषां जाल समूह तेन निहतो- निराकृतोऽपनयो दुर्नोति स एवान्धकार, रूपकं, न्यायांशुजालनिहतोऽपनयान्धकारो यस्य (येन स) तथोक्तः । संकोचितारिब्रजितास्यनिशाकरश्रीः संकोचिताऽरीणां शत्रूणां व्रजितानां नारीणामास्थान्येव निशाकरदचन्द्रस्तस्य श्री शोभा येन तथोक्तः । भानुनिभः भानो सूर्यस्य निभः समानः । श्रीपेण इति । नरेन्द्र नृपतिः । अजनि अजायत । जनेद् प्रादुर्भावो लुट् । श्लेषोपमा ॥ १ ॥ यश्चेति । यस्य श्रीपेणस्य । प्रतापवह्नेन प्रतापः तेजः स एव वह्नोऽग्निः तेन । रूपकम् । निरन्तरं निरवकाशम् । विलङ्घ्यमानमूर्ति विलङ्घ्यमाना अनुलङ्घ्यमाना मूर्तिरवयवो यस्य स (अतिक्रम्यमाणतनु) । चकितः भोतः । दिशम् आशम् । विदिशं च । द्रष्टुं वीक्षितुम् । न प्रभृण्युः समर्थः । भू सत्तायामिति घातो 'भूजेस्त्वं' इति माधु । धर्मशीलेषु मनुप्रत्यय । समस्तः सकलः । अरातिगण अरातीनां शत्रूणां गण समूहः । गिरिगङ्गस्थः गिरीणां गङ्गरेण स्थः स्थितः (गिरिगङ्गरेषु तिष्ठतीति गिरिगङ्गस्थः) । ध्रुवोपमा । ध्रुवोपमा समान (ध्रुवोपमा ध्रुवोपमा यस्य नः) । समभवत् समभूत् । भू सत्ताया लट् ॥ २ ॥ यश्चेति । यस्य श्रीपेणस्य । स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिः (स्फुरद्-शोलेः) । अनुरागकरैः अनुराग सन्तोषं कुर्वन्तीत्यनुरागकरा तैः । यशोभिः कीर्तिभिः । सकलामु सर्वांम् । दिगङ्गनासु दिशाः कटुभामङ्गनाः कन्यकाः । (दिश आशा एवाङ्गना दिगङ्गनाः) तामु । उद्रासितासु प्रकाशितासु मतीषु । लोकः जनः । तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय तदेव तन्मात्र प्रकाशनमात्र तस्य कार्यस्य करणं

उस श्रीपुरमे श्रीपेण नामका राजा राज्य करता था । वह सूर्य सरोखा था । सूर्य अपने कमल-बन्धुशोका विकास करता है, इसने अपने बन्धु-कमलोंका विकास किया था । सूर्य अपने किरणोंसे अन्धकारको हटाता है, इसने अपने न्यायसे अन्यायको मिटा दिया था । सूर्य चन्द्रमाकी श्रीको फीका कर देता है, इसने अपने शत्रुओंकी स्त्रियोंके चन्द्रमुखको फीका कर दिया था ॥ १ ॥ उसका प्रताप अग्निके समान सन्ताप देनेवाला था । उसके सभी शत्रु उससे सन्तप्त होकर ऐसे घबरा उठे कि वे दिशा और विदिशाको पहचाननेमें असमर्थ हो गये । फलतः वे पहाड़ोंकी गुफाओंमें जा घुसे और वही उल्लुओंकी तरह छिपकर बैठ गये ॥ २ ॥ उसका यण सभी ओर बढ़ी तेजोंसे फैल रहा था, और लोगोंके मनमें अनुराग उत्पन्न कर रहा था । जब उसने सभी

संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिबह्वीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः ।

यः पोषगाद्विनयनाद्व्यसनापनोदात्स्यामी गुरुः सुहृद्भूमिखिलप्रजानाम् ॥४॥

यत्र प्रशान्तसकलव्यसने विनीते स्वाभाविकं मतिमहातिशयं प्रपद्ये ।

चक्रुर्निवासमखिला नरनाथविद्याः पर्युत्सुका इव परस्परदर्शनस्य ॥५॥

तुङ्गत्वमद्रिपतिना हरिणेश्वरत्वं शीतांशुना सुमगता वशिता मुनीन्द्रैः ।

शीर्यं मुगाधिपतिना गुरुणा मनीषा गाम्भीर्यमम्बुनिधिना तुलितं यदीयम् ॥६॥

नागाः पदातिवृषभास्तुरगा रथाश्च शोभानिमित्तमभवन्लल यस्य सर्वे ।

आक्रम्य मण्डलपतीनखिलान्स यस्मात्सर्वा भुभोज वसुधां निजतेजसैव ॥७॥

विद्याने प्रवणाय समर्थाय (प्रकाशनायकार्यकरणसमर्थाय) । शीताशवे चन्द्राय । नितराम् अत्यन्तम् । न स्पृहयाबभूव वाञ्छयतिस्म (वाञ्छतिस्म) । स्पृह ईप्सायां लिट् । सामान्यालङ्कार (व्यतिरेकालङ्कारः) ॥३॥ संपूर्णैः । संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिबह्वीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः संपूर्ण पूर्णकल शारदः शरत्कालभवो निशाकरश्चन्द्रः (स) इव कान्ता मनोहराः कीर्त्तयो यशासि, उपमा, ता एव वक्ष्यो लता, रूपकं, तासां वितान (न) समूहस्तेन वेष्टित परिवृतो विष्टपस्य लोकस्यान्तो मध्यं (मध्य) यस्य (येन) सः । य. श्रोणेण । अखिलप्रजानाम् अखिलानां प्रजानां पोषणात् रक्षणात् । विनयनात् शिक्षणात् । व्यसनापनोदात् व्यसनस्यापनोदानात् निराकरणात् । यथाक्रमम् । स्वामी पालनात् । गुरुः शिक्षणात् । सुहृत् दुःखनिवारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्ताया लुङ् । यथासंख्यालङ्कारः ॥४॥ यत्रेति । प्रशान्तसकलव्यसने प्रशान्त विनष्ट सकल ममस्तं व्यसनं दुःखं यस्य तस्मिन् । विनीते विधृते (विनयान्विते) । स्वाभाविकं स्वभावमवयम् । मतिमहातिशयं मतेर्बुद्धेर्महान्तमतिशयम् । प्रपद्ये प्रयाते (प्राप्ते) । यत्र श्रोणेण । अखिला समस्ता । नरनाथविद्या नरनाथविराजो विद्याः । परस्परदर्शनाय परस्परस्य दर्शनाय बोधनाय । पर्युत्सुका इव पर्युत्कलिका इव (उत्कण्ठिता इव) । निवासम् आवासम् । चक्रुः विवधुः । तुङ्गत्वं उन्नतत्वं । अद्रिपतिना महा-मेघना मह । ईदवरत्वं प्रभुत्वम् । हरिणा देवन्द्रेण । सुमगता सोम्यम् । शीतांशुना शीताः शीतरूपा अश्वो मयूखा यस्य तेन चक्रेण । वशिता इन्द्रिवजयत्वम् । मुनीन्द्रैः यतीन्द्रैः । शीर्यं शूरत्वम् । मुगाधिपतिना सिंहैः । मनोषा बुद्धि । गुरुणा बृहस्पतिना । गाम्भीर्यं गम्भीरत्वम् । अम्बुनिधिना समुद्रेण । तुलितं समानीकृतम् । उपमा (वीपकम्) ॥६॥ नागा इति । स श्रोणेणः । यस्मात् । निजतेजसैव निजस्य स्वस्य तेजसैव प्रतापेनैव । अखिलान् समस्तान् । मण्डलपतीन् भूपालान् । आक्रम्य आक्रमणं पूर्वं (पश्चात् किञ्चित्) तिरस्कृत्य ।

दिशाओको प्रकाशित कर दिया तब लोगोंको, केवल प्रकाश फैलानेमें चतुर चन्द्रमाकी चाह बिलकुल ही नहीं रही ॥३॥ उसकी कीर्ति शरत्कालीन पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान सुन्दर थी । वह दुनियाके कोने-कोनेमें लताकी तरह फैल गयी थी । भरण-पोषण करनेसे वह राजा सारी प्रजाका स्वामी था; शिक्षा देनेसे गुरु था और संकट निवारण करनेसे मित्र भी था ॥४॥ उसमें कोई बुरा व्यसन नहीं था; वह अत्यन्त नम्र था; उसकी बुद्धि स्वभावतः अत्यन्त तीक्ष्ण थी और इसीलिए उसमें वे सारी विद्याएँ, जिनका अध्ययन राजाओंको अवश्य ही करना चाहिए, आकर रहने लगी । मानो वे पहले से ही एक-दूसरेसे मिलनेके लिए उत्सुक थीं ॥५॥ उसकी ऊँचाईकी तुलना सुमेरुसे, ऐश्वर्यकी इन्द्रसे, सुन्दरताकी चन्द्रमासे, जितेन्द्रियताकी बड़े-बड़े मुनियोसे, शूरताकी सिंहसे, बुद्धि की बृहस्पतिसे और गम्भीरताकी सागरसे की जाती थी ॥६॥ हाथी, घोड़े, रथ और बौर सैनिक ये सभी केवल उसकी शोभाके निमित्त थे; क्योंकि केवल

यत्र क्वचिद्वृणगणो गतवान्स ह्रैव हृदि मया नृपतिरेष पुनर्न जाने ।
मां द्वेष्टि शंसति शमप्रभृतीनितीव यो जातनिर्भरुषा मुमुक्षे मदेन ॥८॥
वक्षः श्रियो भुजयुगं वरवीरलक्ष्याः कान्तेः शरीरमखिलं हृदयं क्षमायाः ।
यस्यास्पदं मुखमजायत वाग्विभूतेर्नवाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः ॥९॥
भेजे नितान्तमजज्ञोऽपि नदीनभावं यश्चाभवद्वसुमतीतिलकोऽप्यशोकः ।
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि सर्वे हि विस्मयकरं महतां स्वकृपम् ॥१०॥

सर्वा समस्ताम् । वमुषा भूमिम् । बुभोज पालयति स्म । भुज पालनाभ्यवहारयोः लिट् । 'क्षपनाथगिञ—'
इत्यादि सूत्रेण पालनार्थे तङ् । यस्य श्रियेणस्य । नागा गजा । [पदातिवृषभा] पदातयो वृषभा इव
तथोक्ता, 'व्याघ्रादिभि^३ यौनेस्तदनुक्तौ' इति कर्मधारयः, भटश्रेष्ठा । तुरगाः वाजिनः । रथादयः । सर्वे
समस्ता^४ । शोभानिमित्तं विलासार्थम् । अभवन् अभूवन् । भू सत्ताया लट् । अतिशयोक्तिः ॥७॥ यत्रेति ।
(यत्र) क्वचित्^५ राज्ञि । गुणगणः गुणानां गणः समूहः । मया सहैवै^६ सममेव । वृद्धिः समृद्धिम् । गतवान्
यातवान् । यत्र राज्ञि (?) । न जाने न बुध्ये । ज्ञा अवबोधने । 'अनुपसर्गं ज्ञः'^७ इति लङात्मने पदम् ।
पुन पदवान् । एष नृपति^८ अयं नरनाथः । मा द्वेष्टि क्लृपयति । शमप्रभृतीन् क्षमादीन् । गसति सत्करोति ।
इति एवम् । जातनिर्भरुषेव जातयोत्पन्नया निर्भरयाऽधिकया रूपेव कोपेनेव । मदेन गर्वेण । मुमुक्षे त्यज्यते
स्म^९ । मुच्लृ^{१०} मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥८॥ वक्ष इति । यस्य श्रियेणस्य । वक्षः उरः । श्रिय श्रियेभ्याः । आस्पद
स्थानम् । भुजयुगं भुजयोर्युगं युगलम् । [वर-] वीरलक्ष्याः (श्रेष्ठ-) जयलक्ष्याः स्थानम् । अखिल
सकलम् । शरीरं गात्रम् । कान्तेः देहदीप्त्याः स्थानम् । हृदयं स्वान्तम् । क्षमायाः क्षान्त्याः स्थानम् । मुख
वदनम् । वाग्विभूतेः वाचः सरस्वत्याः विभूतेः ऐश्वर्यस्य स्थानम् । अजायत अजनि । जनैश्च प्रादुर्भावे लट् ।
सतां सत्पुरुषाणाम् । प्रयासः प्रयत्नः । [ननु] (निदचयेन) । सकलस्य सर्वजनस्य । आश्रयाय आश्रयाय
(भवतीति शेषः) । ननु तथाहि (?) । अर्धान्तरस्यासः ॥९॥ भेज इति । यः श्रियेणः । नितान्तं भूगम् ।
अजज्ञोऽपि, जलरहित इति ध्वनिः । क्षु न दीनभावं न दीनं, न दीन इति नयो नस्य लुप्तमा^{११} (?)
तस्य भावः दैन्यभावमिदमर्थः । नदीनां सरितामिनः स्वामी तस्य भावः तम् । समुद्रस्वरूपमिति ध्वनिः । भेजे
खिपे ! भजी सेवायां लिट् । वसुमतीतिलकोऽपि वसुमत्या भूमेस्तिलकोऽप्यलङ्कारोऽपि, वसुमत्या वर्तमान-
तिलकवृक्षोऽपि, इति ध्वनिः । अशोकः दुःखरहितः, अशोकवृक्ष इति ध्वनिः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया

अपने प्रतापसे ही सभी माण्डलीक राजाओंको जीत करके वह समस्त भूमण्डलका परिपालन
कर रहा था ॥७॥ 'जिस किसी भी राजाके गुण अभी तक मेरे ही साथ बड़े है, किन्तु यह
राजा न जाने कैसा है, कि मुझसे द्वेष करता है और शम-शान्ति आदि गुणोंकी प्रशंसा किया
करता है' मानो इसीलिए अहंकार अत्यन्त रूढ़ हो गया और उसे छोड़कर चला गया ॥८॥
उसका वक्षस्थल लक्ष्मीका, बाहु युगल श्रेष्ठ विजयलक्ष्मी या वीरताका, पूरा शरीर कान्तिका,
हृदय क्षमाका और मुख वाणीके वैभवका निवासस्थान हो गया । सज्जनोका प्रयत्न निरक्षय ही
दूसरोंको आश्रय देनेके लिए हुआ करता है ॥९॥ वह (विरोध पक्षमें—) विलकुल जल-
रहित था, पर था समुद्र (परिहार पक्षमें—) वह अत्यन्त बुद्धिमान था, और उनके मनमें
कभी दीनताके भाव उत्पन्न नहीं होते थे । वह (विरोध पक्षमें—) पृथ्वीका तिलक वृक्ष था तो
भी अशोक वृक्ष था (परिहार पक्षमें—) वह भूमण्डलका मण्डन था और उसे कभी शोक नहीं

१. आ आ इ क ख ग घ म त्वाक्ष' । २. आ लेप् श स तिप् । ३. श स गणैः । ४. श स
समयाः । ५. = यत्र क्वचित् यस्मिन् कस्मिदिच्छत् पुरुषे । ६. श स सहैव । ७. श स 'सर्गजः ।
८. आ त्यजति स्म । ९. श स मुच्यते ।

धर्मोऽर्थसंचयनिमित्तमुदारमर्थः कामस्य हेतुरितरः सुखयोनिरेते ।
 यच्च त्रयोऽप्यविरतं न परस्परस्य जैनेभ्यः इव नया विजृम्भ्यपेक्षाम् ॥११॥
 बाष्पान्निराश्रयविशेषमिवात्मयोग्यमीदृयधैर्यविनयादिगुणैरशेषैः ।
 अर्भ्ययितः सततमाव्रवद्भिरेषां वेधाः ससर्जं नृपमालयभूतमेनम् ॥१२॥
 भानुर्भवेद्यपि मनागिह सौम्यरूपस्तेजस्वितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा ।
 धामाधिको विवक्षयेष जनानुरागं तेनोपमानपद्वीं प्रमुञ्चहेत ॥१३॥

लङ् । कलाधरोऽपि द्वास्तज्जितकलाधरोऽपि, चन्द्र इति ध्वनिः^१ ॥ दोषाकरश्च दोषाणां पापाचरणानामाकर उत्पत्तिस्थानम्, रात्रिकर इति ध्वनिः (न बभूव न सप्रवृत्तिः) । महता सत्पुरुषाणाम् । सर्वं निखिलम् । स्वरूपं धर्मः । विस्मयकरं हि विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकरं हि^२ । विरोधार्थान्तरन्यासयोः सकूरः ॥१०॥ धर्म इति । यत्र श्रोत्रेण । धर्मः । उदारम् अत्यन्तम् । अर्थसंचयनिमित्तम् अर्थस्य संचयस्य संपादनस्य^३ । निमित्तं कारणम् । अर्थं कामस्य विषयानुसंधस्य हेतुः कारणम् । इतरः अन्यः कामः । सुखयोनिः सुखस्येन्द्रियमुखस्य योनिः कारणम् । एते त्रयोऽपि—धर्माचंक्षामा अपि । परस्परस्य अन्योन्यस्य । जैनेभ्यः जिनैश्चरस्येते तथोक्ताः जिनसंबन्धिनः । नया इव नैगमसंग्रहणया इव । अविरतम् अनवरतम् । अपेक्षाम् आकांक्षाम् । न जह्नुः न तत्पयुः । ओहाक् त्यागे लिट् । उपमा ॥११॥ बाष्पेति । आत्मयोग्यम् आत्मनां स्वेवा योग्यमुचितम् । आश्रयविशेषम् । आश्रयस्याधारस्य विशेषः भेदम् बाष्पान्निः इच्छन्निः । आदरवद्भिः आश्रये प्रीतियुक्तैः । अशेषैः सकलैः । औदार्यशौर्यविनयादिगुणैः औदार्यं च शौर्यं च विनयपञ्च तथोक्ताः । ते आदिर्येषां ते औदार्यशौर्यविनयादयः ते (च) ते गुणाश्च तथोक्ताः सैः, त्यागप्रतापसत्कारादिगुणैरित्यर्थः । सततमनवरतम् । अर्भ्ययितः प्रायित इव । वेधाः ब्रह्मा । एषां गुणानाम् । आलस्यभूतम् अधारभूतम् । एनं नृपम् इमं श्रोत्रेण-राजम् । सुज विसर्गे लिट् । उपप्रेषा ॥१२॥ भानुरिति । इह लोके । यदि मनाक् ईदृक् । भानुः सूर्यः । सौम्यरूपः सौम्यं मनोहरं रूपं यस्य सः । भवेन् स्यात् । भू सत्तायां लिट् । मृगलाञ्छनः मृग एव लाञ्छनं

होता था । वह (विरोध पक्षमें—) था तो चन्द्रमा पर रात्रिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था (परिहार पक्षमें—) वह समस्त कलाओंमें कोविद था और उसमें कोई दोष नहीं था । महान् पुरुषोंका सारा स्वरूप निश्चय ही आश्चर्यजनक होता है ॥१०॥ धर्म उसके धन-संचयका एक बड़ा निमित्त था, धनसंचय काम पुरुषार्थका और काम पुरुषार्थ इन्द्रिय सुखका और ये तीनों—धर्म, अर्थ तथा काम कभी भी एक-दूसरेकी उपेक्षा नहीं करते थे—सभीको एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती थी । तीनों पुरुषार्थ जिनैन्द्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नैगम आदि नयोंके समान एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते थे ॥११॥ उदारता, धैर्य और विनय आदि सभी गुण अपने निवास करने योग्य किसी विशेष आश्रयको चाह रहे थे, और उन्होंने बड़े आदरके साथ इसके लिए कुछ दिन लगातार ब्रह्मदेवसे प्रार्थना की । मानो इसी प्रार्थनापर उसने इन गुणोंके रहनेके लिए इस राजाकी सृष्टि की ॥१२॥ इस संसारमें सूर्य यदि थोड़े सौम्य रूपको धारण कर लेता अथवा चन्द्रमा ही तेजस्वी हो जाता, तो इन दोनोंमेंसे कोई भी एक, तेजस्वी और प्रजाका रंजन करनेवाले

१. म^१ 'द्विरेष' । २. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. = अजलोऽपि जलरहितोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वं [भेजे] । बहुमत्यां तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽयम् । तदरिहारः—अपि निवचयेन । यतोऽजडः पण्डितोऽत एव दोनभावं दीनत्वं न भेजे । यतश्च बहुमत्वाः बहुधायाः तिलको कलाममृतोऽत एवाधोकोः शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽत एव दोषाणामलोऽन्यः शीतानाकरो न बभूव । ४. आ संपादकस्य । = अर्थसंग्रहसंपादनस्येत्यर्थः । ५. = विशिष्टआश्रयम् । ६. स स^२ राजानम् ।

श्रीकान्तया सरसिजाकरसंनिवासिभीकान्तया सकललोकमनोभिरामः ।
 देव्या स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तयाप योर्गं शशीव कलयामलया स भूपः ॥१३॥
 लावण्यसंपदमलाम्भसि संनिमज्ज्य देहं स्वमुज्ज्वलमिवातितरां विधातुम् ।
 श्लाघ्यः शरद्विशदचन्द्रगमस्तिगौरौ यस्यास्तनौ समुदितः सकलो गुणोद्यः ॥१४॥
 शीलक्षमाविनयरूपगुणमहाधामुच्चित्य याम्बिलविष्टपमुन्दरीषु ।
 भर्तुर्मनो रमयितुं स्वसहायभूतां लक्ष्मीरिधादरपरा स्वयमेव धरे ॥१५॥

यस्य सः, चन्द्रो वा । रूपकम् (?) । तेजस्वितां तेजोऽस्यास्तीति तेजस्वी तस्य भावम् । परिगतः गलवान् ।
 धामाधिकः प्रतापाधिकः । जनानुरागं जनानां लोकानामनुरागं प्रीतिम् । विदधत् विदधातीति विदधत्,
 कुर्वन्, शतुप्रत्ययः । 'न नम्' इति नम् न भवति । एषः अयम् । प्रभुः श्रोत्रेणः । तेन भानुना चन्द्रेण वा ।
 उपमानपदशेषो उपमानस्य सादृश्यस्य पदवीं स्थानम् । उद्धेत दध्यात् । अतिसयोक्तिः ॥१३॥ अंति ।
 सकललोकमनोभिरामः सकलानां जनानां मनोभिरामो मनोहरः । स भूपः श्रोत्रेण नृपः । सरसिजाकरमनिवासि-
 श्रीकान्तया सरसिजाकरे शरीरे सनिवासिनी निवसनशीला श्रीरिव कान्तया मनोहरया । स्वकीयवपुर-
 व्यतिरिक्तया स्वकीयस्य स्वस्य वपुषा शरीरेणाव्यतिरिक्तयाभिन्नरूपया । श्रीकान्तया श्रीकान्तासंज्ञया ।
 देव्या महिष्या । अमलया निर्मलरूपया । कलया शोडशभागेन । शशीव चन्द्र इव । योगं संबन्धम् । आप
 ययौ । आप्लु व्याप्तौ लिट् ॥१४॥ लावण्येति । लावण्यसंपदमलाम्भसि लावण्यस्य देहकान्तेः संपदेव
 अमलेऽम्भसि जले । रूपकम् । स्व स्वकीयम् । देहं शरीरम् । अतितराम् अत्यन्तम् । उज्ज्वल निर्मलम् ।
 विधातुमिव कर्तुमिव । संनिमज्ज्य सन्ताप्य श्लाघ्य पूज्य । शरद्विशदचन्द्रगमस्तिगौरौ शरदः शरत्कालस्य
 विशदस्य निर्मलस्य चन्द्रस्य गमस्तिरिव कान्तिरिव गौरौ मनोहरः । सकलः सर्वः । गुणोद्यः गुणायां पाति-
 त्रयादीनामोद्यः समूहः । यस्या श्रीकान्तया । तनौ शरीरे । समुदितः सञ्चितः । उत्प्रेक्षा ॥१५॥ आलेखि ।
 आदरपरा प्रीतिररा । लक्ष्मी । अञ्जिलविष्टपमुन्दरीषु अञ्जिलस्य विष्टपस्य मुन्दरीषु मन्दोषु । शीलक्षमाविनय-
 रूपगुणैः । शीलं च क्षमा च विनयश्च तथोक्ता त एव रूप येथा तैः गुणैः । महाधाम अतिशयेन पूज्यम् ।
 स्वसहायभूता स्वस्य सहायभूतां सुहृद्भूताम् । या श्रीकान्तादेवोम् । उच्चित्य गृहीत्वा भर्तुं श्रोत्रेण भूपस्य ।

उस राजाका उपमान हो सकता था, तथा राजा भी उपमेयका रूप लेकर उसकी समानता
 धारण कर लेता ॥१३॥ वह सभी लोगोंकी दृष्टिमें सुन्दर था । उसका विवाह श्रीकान्ता देवीके
 साथ हुआ था । वह कमलोमें निवास करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर थी और चन्द्रमाकी
 कलाकी भाँति निर्मल । राजा उसे अपने शरीरसे बिलग नहीं समझता था । उसकी अर्धाङ्गिनी
 जो थी । वह उससे घुलमिल गई जैसे कला चन्द्रमासे सम्बन्ध जोड़कर उससे घुलमिल जाती
 है ॥१४॥ श्रीकान्ताके शरीरमें प्रसन्ननीय तथा शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल
 सभी गुण प्रकट हो गये । मानो वे उसकी कान्तिके निर्मल जलमें स्नान करके अपने शरीरको
 और भी अधिक उज्ज्वल करना चाहते थे ॥१५॥ वह शील, क्षमा, विनय और रूप आदि
 गुणोंके कारण सारे संसारको सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा पूज्य थी । इसे खोजकर लक्ष्मीने मानो
 अपने पति श्रोत्रेण (राजा लक्ष्मीपति कहे जाते हैं) के मनोरञ्जनके लिए बड़े सम्मानके साथ

१. आ था स केन । २. = सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी वासी श्रोत्र तद्वत् कान्तया
 मनोरमया । ३. = या श्रीः सेव । ४. = आत्मीयस्य । ५. = संपदेष । ६. = निमज्जनं विधाय । ७. आ स
 एव । ८. = अञ्जिष्य ।

चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा कथितं सुराणामीशस्य संसदि परीतयता त्रिलोकीम् ।
 रूपं प्रद्योतुमनसः स्पृहयन्ति यस्या देव्यो दिवोवतरणाय तपांसि कर्तुम् ॥१७॥
 दोषानुबन्धरहिता तमसा विमुक्ता रम्या निजोदयविकासितबन्धुपथा ।
 प्राभातिकी धृतिरिवाम्बुजबान्धवस्य या कान्तिमोषधिपतेः परिभूय तस्यै ॥१८॥
 धर्माध्ययोरविद्वत्सविशाम्बीशो बाधा विधूयमयशोधवलीकृताशः ।
 सार्धं तया प्रणयकोपकृतान्तराणि देव्या सुखान्यनुभवन्दिघसाक्षिणाय ॥१९॥

मनः स्वान्तम् । रमयितुं वशीकर्तुमिव स्वयमेवं वने विवाहं वने^१ । वृत् बरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥
 चन्द्रेति । त्रिलोकीं त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, ताम् । 'त्रियोः' इति डो । परीतयता व्याप्तयता ।
 चन्द्रोज्ज्वलेन चन्द्रेणोज्ज्वलेन । यशसा कीर्त्या । सुराणां देवानाम् । ईशस्य इन्द्रस्य । संसदि समायाम् ।
 कथितं प्रोक्तम् । यस्याः श्रीकान्तायाः । रूपं सौन्दर्यम्^२ । गृहीतुमनसः गृहीतुं स्वीकर्तुं मनसो मानसाः चित्ताः ।
 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य लोपः । देव्यः देवस्त्रियः । तपांसि तपश्चरणानि । कर्तुं करणाय ।
 दिवः स्वर्गम् । अवतरणाय आगमनाय^३ स्पृहयन्ति वाञ्छन्ति । स्पृह ईप्सायां लट् । 'स्पृहेर्वा' इति षतुर्थी ।
 उत्प्रेक्षा ॥१७॥ दोषेति । दोषानुबन्धरहिता दोषाया रात्रेर्दोषस्य पापस्यानुबन्धेन संबन्धेन रहिता विमुक्ता ।
 तमसा अन्धकारेण, अज्ञानेन वा । विमुक्ता रहिता । रम्या मनोहरा । निजोदयविकासितबन्धुपथा निजस्य
 स्वस्योदयेन विकासितानि प्रस्फुल्लितानि बन्धव एव पथानि यस्याः (यया) सा । या श्रीकान्ता । अम्बुज-
 बान्धवस्य अम्बुजस्याम्बोजस्य बान्धवस्य सूर्यस्य । प्राभातिकी प्राभातस्योदयकालस्येयं प्राभातिकी । धृतिरिव
 प्रकाश इव । ओषधिपतेः ओषधीनां पतिश्चन्द्र, तस्य । कान्ति धृतिम् । परिभूय तिरस्कृत्य । तस्यै तिष्ठ-
 नि स्म । स्वा गतिनिवृत्ती लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ धर्मेति । धर्माध्ययोः द्वयोः । बाधा विरोधम् । अविद्वत्
 अकुर्वन् । विधूयमयशोधवलीकृताशः विधोश्चन्द्रस्योपधेन समानेन यशसा प्राणधवला इदानीं धवलाः क्रियन्ते
 स्म धवलीकृता आशा दिशो यस्य (येन) सः । विशां राज्ञाम् । अधोशः प्रभुः । सः श्रोत्रेण । तया श्रीकान्तया ।

स्वयं अपना सहायक बना लिया था ॥१६॥ उसका निर्मल यश तीनों लोकोंमें फैल गया था ।
 उसकी चर्चा इन्द्रकी सभामें भी होती थी । उसे सुनकर स्वर्गकी देवियाँ उसके रूपको पानेकी
 इच्छासे तपश्चरण करनेके लिए स्वर्गसे उतरकर मनुष्यलोकमें आना चाहती थी ॥१७॥ जिस
 प्रकार प्रभात वेलामें सूर्यको प्रभा रात्रिके ससर्गसे रहित और अन्धकार-शून्य होती है । सुन्दर
 होती है और अपने उदयके साथ ही कमल-बन्धुओंको विकसित करती है । चन्द्रमाकी कान्ति-
 को फोका कर देती है । इसी प्रकार वह रानी दोषोंसे रहित, अज्ञान रहित, सुन्दर, अपने
 अभ्युदयमें अपने बन्धुओंकी वृद्धि करनेवाली और चन्द्रमाकी कान्तिको फोका करनेवाली थी
 ॥१८॥ श्रोत्रेणने अपने निर्मल यशसे समस्त दिशाओंको धवल कर दिया था—उसका यश
 दुनियाके कोने-कोनेमें फैला हुआ था । धार्मिक और आर्थिक कार्योंमें बाधा पहुँचाये बिना वह
 अपनी पट्टरानीके साथ काममुखका अनुभव करता हुआ काल बिता रहा था । मुखके उन

१ = अनुरञ्जयितुम् । २ = स्वत एव । ३ = वृत्तवती स्वीकृतवती । ४ आ रूपं सौन्दर्यं रूपम्
 श रूपं सौन्दर्यरूपम् स सौन्दर्यं रूपम् । ५ = मनांसि मानसानि चित्तानि यासा ताः । 'चित्तं तु चेती हृदयं
 स्वास्तं हृन्मानसं मनः ।' इत्यमरः । ६ = मानवपर्यायधारणायेति यावत् । ७ = विधोश्चन्द्रस्योपमा यस्य
 तेन, शशधरधवलेनेत्यर्थः ।

कृत्वापरेधुरकिंलावसरं स यावदन्तःपुरं व्रजति किन्नरगीतकीर्तिः ।
 तावत्कराप्रविनिनिष्टकपोलमूलां देवीमुदभूयनां सहसा ददर्श ॥२०॥
 तां तादृशीं समवलोक्य समानदुःखो दुःखं विभक्तुमिव तन्मनसि प्रवृत्तम् ।
 स व्याकुलेन मनसा त्वरमाणवृत्तिः पप्रच्छ हेतुमतिशोकसमुद्भवस्य ॥२१॥
 दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे^१ पृथ्वीतलप्रवृत्तदुर्विधप्रतापे ।
 पप्पायताञ्च मयि जीवति जीवितेशे संभाव्यते परमवो न पराभवस्ते ॥२२॥

देव्या महिष्या । प्रणयकोपकृतान्तराणि प्रणयकोपेन कृतं विहितम् अन्तरमवकाशं(शो) येषां (येषु) तानि ।
 सुखानि । अनुभवन् । वासरान् । निनाय^२ यायति स्म । जीवन् प्रापणे लिट् ॥१९॥ कृतेति । किन्नरगीत-
 कीर्तिः किन्नरैर्देवविशेषैर्गाता स्तुता कीर्तयिष्य सः । सः श्रोत्रेण^४ । अपरेधुः अन्तरिमन् दिने । 'पूर्वापर—'
 इत्यादिना एष्टुमप्रत्ययः । अलिंलावसरं सर्वावसरम्^५ । कृत्वा विधाय । यावत् यावत्पर्यन्तम् । अन्तःपुरम्
 अवरोधम् । व्रजति गच्छति । तावत् । कराप्रविनिनिष्टकपोलमूला करस्य हस्तस्य अग्रे उपरिभागे विनिविष्टं
 स्थापितं कपोलस्य गण्डस्य मूलं यथा ताम् । उदधूनी उत्पतदधूनी^६ नयने नेत्रे यस्याः ताम् ।
 देवो श्रीकान्तादेवीम् । सहसा शोभने (शोभम्) । ददर्श पश्यति स्म । दृष्ट्वा प्रेक्षणे लिट् । स्वभावोक्तिः ॥२०॥
 तामिति । तादृशीं तादृश्याम् । सा श्रीकान्तादेवीम् । समवलोक्य समम् दृष्ट्वा । समानदुःखं समानं दुःखं
 यस्य सः । स श्रोत्रेण^४ । व्याकुलेन कातरेण । मनसा मानसेन । त्वरमाणवृत्तिः सन् त्वरमाणा वृत्तिर्यस्य सः
 विह्वलवर्तनायुक्तः सन् । तन्मनसि तस्याः देव्याः मनसि चित्ते । प्रवृत्तं स्थितम् । दुःखम् असातम्^७ । विभक्तु-
 मिव विभागं कर्तुमिव । शोकसमुद्भवस्य दुःखोद्भवस्य । हेतुं कारणम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । पप्रच्छ
 पृच्छति स्म । प्रच्छ जीप्साया लिट् ॥२१॥ वुञ्जति । पप्पायताञ्च पप्पे इवायते दीर्घे अञ्जिणे नेत्रे यस्याः
 तस्याः संबोधनम्^८ । दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे निवारयितुमशक्यं कीर्यं येषां तेषां^९ शत्रूणां निर्दलेन विभेदने
 प्रवीणे समर्थे । पृथ्वीतलप्रवृत्तदुर्विधप्रतापे पृथ्वीतले भूतले प्रवृत्तो विवृतः^{१०} प्रतापः तेजो यस्य तस्मिन् ।
 जीवितेशे प्राणकान्ते । मयि जीवति सति प्राणति^{११} रुति । परमवः परः^{१२} भवः उत्पन्नः^{१३} । पराभवः

दिनोंमें कभी-कभी रानीके प्रणयकोपके कारण कुछ-कुछ सम्भोगमें व्यवधान पड़ जाया करता था
 ॥१९॥ उसका यशोगान गन्धर्व देव किया करते थे । एक दिनकी बात है—वह आमसभा का
 काम पूरा करके ज्यों ही अन्तःपुरमें प्रवेश करता है त्यों ही उसकी दृष्टि एकाएक पट्टरानीपर
 पड़ी । उसका कपोल हथेलीपर झुका हुआ था और उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे ॥२०॥
 उसे रोते देखकर श्रोत्रेण भी उसीके समान दुखी हुआ—उसको आँखोंमें आँसू भर आये ।
 उसका हृदय व्याकुल हो उठा और उसने शीघ्र ही रानीसे इतने बड़े शोक होनेका कारण
 पूछा । मानो वह उसके दुःखको बाँटना चाहता था ॥२१॥ हे कमललोचने ! हे प्रिये ! बड़े-
 बड़े पराक्रमी शत्रुओंके छक्के छड़ानेमें मैं कुशल हूँ, सारे भूमण्डलपर मेरा प्रबल प्रताप फैला
 हुआ है और मैं तुम्हारे जीवनका रक्षक हूँ । रोज़ेका कारण बताओ । क्या किसीने तुम्हारा

१. अ. 'रिपुनाद्दहनप्रवीणम्' 'रिपुनिर्दहनप्रवीणे । २. आ प्राप' । ३. जीव प्रापणे । ४. सः सः
 श्रोत्रेणः तथा श्रीकान्तया । ५. = समकायम् । ६. आ उदधूनि उत्पतदधूनि । ७. = 'शर्मसातसुखानि
 च' इत्यमरः ; 'सातं सीधं सुखम्' इति हेमचन्द्रश्च । ८. = यस्याः सा, तत्संबुद्धौ । ९. = रिपूणां ।
 १०. = विस्तृत इत्यर्थः । ११. = प्राणिति । १२. = परम्यः । १३. = शत्रुकृत इत्यर्थः ।

संतापमल्लुहृदं विरहं विसोदुमुग्धमात्रमपि तावकमप्रभूणोः ।

मत्तोऽपि मत्तगजगामिनि निश्चयेन जानीहि संभवति न प्रणयस्य भङ्गः ॥२३॥

त्वत्पादपद्मशरणे त्वदधीनवृत्तौ त्वत्प्रेमनिष्पन्नमसि त्वदभिन्नदेहे ।

शाठ्यं मनागपि मृगाङ्गमुखि त्वदीये संभावयामि सरले न सखीजनेऽपि ॥२४॥

छन्दानुवर्तिषु पदातिषु बान्धवेषु दास्यं गतेषु च निशान्तध्वजनेषु ।

भ्रूभङ्गमात्रमपि सोदुमशक्नुवत्सु संजायते न तव तन्वि निदेशभङ्गः ॥२५॥

पराजयः । न संभाव्यते न नोयते^१ । भू कृपोवकल्पने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥२२॥ संतामेति । मत्तगज-
गामिनि मत्तगज इव मदगज इव गामिनि गमनशीले^२ संतापमूल-मूलमुहृदं संतापस्य मूलं मुग्धं मुहृदं मित्रम् ।
तावकं तव संबन्धम् । 'युष्मदस्मदो—' इत्यादिना अत्र तद्योगे एकत्वे तवकादेशः । विरहं^३ । उग्मेधमात्रमपि
उग्मेधमेव उग्मेधमात्र क्षणमात्रमपि । विसोदुं मधितुम् । अप्रभूणोः असमर्थात् । मत्तोऽपि मत्तकाशादपि ।
प्रणयस्य विनयस्य (स्नेहस्य) । भङ्गो नाशः । न संभवति नोत्पद्यते । इति निश्चयेन नियमेन । जानीहि
मन्यस्व । ज्ञा अवबोधने लोट् ॥२३॥ त्वद्विति । मृगाङ्गमुखि । मृगाङ्ग इव मुलं यस्याः सा तस्याः संबोधनं^४
चन्द्रमुखि ! इत्यर्थः 'असद्वनञ्—' इत्यादिना डो । त्वत्पादपद्मशरणे तव पादावेव पद्मं तदेव शरणं रक्षणं
यस्य तस्मिन् । त्वदधीनवृत्तौ तवाधीना वृत्तियस्य तस्मिन् । त्वत्प्रेमनिष्पन्नमसि तव प्रेम्णि प्रीतो निष्पन्नमधीनं
मनो यस्य तस्मिन् । त्वदभिन्नदेहे त्वत्सकाशादभिन्नो देहः कायो यस्य तस्मिन् । सरले ऋजुभावयुक्ते ।
त्वदीये तव संबन्धे । 'दोषच्छः' इति छः । सखीजनेऽपि सक्य एव जनः तस्मिन् । (शाठ्यं शाठवं धूर्तत्वं
वा) । न संभावयामि [न] निश्चिनोमि । भू कृपोवकल्पने लट् । रूपकम् ॥२४॥ छन्देति^५ । तन्वि कृशाङ्गि ।
छन्दानुवर्तिषु अनुवर्तन्ते इत्येवंशीला अनुवर्तिनः छन्दस्यानुवर्तिनः^६ तेषु अनुकूलवृत्तिषु । 'छन्दो वशोऽप्यभि-
प्राये हार्दिक्यो' चित्तवृत्तयो' इति विश्वः । पदातिषु भूत्येषु । दास्यं गतेषु कैङ्कर्यं गतेषु । बान्धवेषु बन्धुषु ।
भ्रूभङ्गनामपि दास्यकथनेन तस्या महत्त्वं व्यज्यते । भ्रूभङ्गमात्रमपि भ्रूवो भङ्ग एव भ्रूभङ्गमात्रं तदपि । सोदुं

अपमान किया है ? मुझे तो इसकी सम्भावना नहीं है कि मेरे जीवित रहते कोई तुम्हारा
अपमान कर सके ॥२२॥ हे मदमाते गजकी भाँति गमन करनेवालो ! तुम्हारा विछोह होते ही
मेरे मनमें सन्ताप होने लगता है । मेरे सन्तापका मूल कारण तुम्हारा विछोह है । इसलिये
तुम यह निश्चित समझो कि मैं तुम्हारे स्नेहको नहीं ठुकरा सकता ॥२३॥ हे चन्द्रवदने ! देवि !
तुम्हारी सखियोंने तुम्हारे साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो, यह भी मेरी दृष्टिसे सम्भव
नहीं है; क्योंकि उन्हें केवल तुम्हारे चरणकमल ही शरण हैं; उनकी जीविका तुम्हारे अधीन
है; वे हृदयसे तुम्हारे प्रेमके लिए लालायित रहती हैं; वे सदा यही सोचती रहती हैं कि तुम्हारे
मनमें प्रेम बना रहे; वे क्षुब्धर भी तुमसे विलग नहीं होतीं और सबसे मुख्य बात यह है कि
वे सभी सरल हैं—उनके मनमें छल नहीं है ॥२४॥ हे कृशाङ्गि ! सभी नौकर-चाकर तुम्हारे
इशारेपर नाचते हैं—तुम्हारी इच्छाके अनुकूल चलते हैं; परिवारके बन्धुओंने तुम्हारी दासता
स्वीकार कर ली है और अन्तःपुरकी रानियाँ तुम्हारी अकुटो-भोके टेढ़ेपनको सहन करनेमें

१. = तिरस्कारः । २. = न उभोयते न तर्प्यते । ३. = मत्तगज इव गच्छतीत्येव शीला
मत्तगजगामिनी तत्संबुद्धौ मत्तगजगामिनि । ४. वा स लज् । ५. = वियोगम् । ६. = तत्संबुद्धौ । ७. अ
पक्षविदं नोपलभ्यते यस्यैवं टोका । ८. वा स नुवृत्तिषु । ९. छन्दानुवर्तिनः । १०. वा हृदाशया ।

पतेष्वसत्स्वपेरितोषनिबन्धनेषु किं कारणं कथय देवि शुचस्तवास्याः ।
 पृष्टेति सा स्मितिभुजा प्रपया न किंचिद्वृत्ते परं मुक्तलोकत बालसख्याः ॥२६॥
 सा ह्रीवशादथ गिरा किमपि स्खलन्त्या^१ तस्याः सखीति निजगाद परेकित्ता^२ ।
 सत्यं न संभवति देव पराभवादिरस्या भवत्प्रणयभारमहाधिकायाः ॥२७॥
 किंत्वत्र कारणमभूत्परं विषादे^३ दैवं विहाय न यदन्यजनस्य साध्यम् ।
 देवस्य तत्सकलमेव निवेदयामि कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम् ॥२८॥

मवितुम् । अशक्नुवत्सु असमर्थेषु । निशान्तवधूजनेषु अन्तःपुरस्त्रीजनेषु । तव ते । निदेशमङ्ग निदेशस्याज्ञाया
 भङ्गा नाश । न संजायते न संभवति । जनैर्ह प्रादुर्भावं लट् । रूपकमनुमितिद्वय ॥२५॥ पृष्टेति । देवि
 भोः श्रीकान्ता देवि^४ । अपरितोषनिबन्धनेषु अरितोषस्य दुःखस्य निबन्धनेषु कारणेषु । एतेषु उक्तवाग्वा-
 दिषु^५ । असत्सु अधिष्ठामानेषु । तव ते । अस्या एतस्याः । शुचः शोकस्य । कारणं हेतुम् । किम् ? कथय
 किम् इति वृद्धिः । कथं वाक्यप्रबन्धे लोट् । इति एवंप्रकारेण । स्मितिभुजा भूपतिना । पृष्टा श्रुता । सा
 श्रीकान्ता । प्रपया लज्जया । किञ्चित् ईषत् (अवि) । नोचे न ब्रवीति स्म । ब्रूयन्त्याया वाचि लिट् ।
 'अस्ति ब्रूवो—' इत्यादिना वचादेशः । बालसख्याः बालायाः सख्याः । मुखं^६ । परम्^७ अधिकम् । अलोकित
 दृष्टेः । लोहृज् दर्शने लट् ॥२६॥ सेति । अथ सखीमुखावलोकनान्तरम् । परेङ्गना परेषामन्येषामिद्विज्ञता
 अभिज्ञाया । तस्याः श्रीकान्ताया । सा सखी बालसखी । ह्रीवशात् लज्जावशात् । स्खलन्त्या मिथ्या ।
 गिरा वचनेन । किमपि किञ्चित् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निजगाद ब्रवीति स्म । गद गद्यताया वाचि लिट् ।
 देव भोः स्वामिन् । भवत्प्रणयभारमहाधिकायाः भवतः तव प्रणयस्य स्नेहस्य भारेण महाधिकाया महापूजा-
 युक्ततायाः । अस्या देव्याः । पराभवादि तिरस्कारादि । न संभवति न जायते । इति सत्यं सत्यमेव ॥२७॥
 किंस्मिन्निति । किन्तु किमिदमुक्ते । अत्र अस्मिन् । विषादे दुःखे । परम् अग्न्यत् । कारणं हेतुः । अभूत्
 अभवत् । दैव पुण्यम् । विहाय त्यक्त्वा । यत् यत्किञ्चित् । अन्यजनस्य अन्यलोकस्य । न साध्य साध्यं
 न भवति । तत्पक्षमेव तत्पक्षमेव । देवस्य स्वामिनो भवतः । निवेदयामि विज्ञापयामि । पुनः पदवात् ।
 कर्तव्यवस्तुनि कर्तव्ये विषादव्ये वस्तुनि पदार्थे । नियतिः नियमः । प्रमाणं सत्यभूतम् ॥२८॥

असमर्थ है । अतः इनसे तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन नहीं हो सकता है ॥२५॥ हे देवि ! जिनकी
 मैंने सम्भावना की है, वे तुम्हारे असन्तोषके कारण नहीं है । फिर तुम्हीं कहो, तुम्हारे इस
 शोकका क्या कारण है ? राजाके यों पूछनेपर रानी लज्जावश कुछ नहीं बोली, किन्तु अपनी
 बचपनकी सहेलीके मुखकी ओर ताकने लगी ॥२६॥ उसकी सहेली दूतरीके भावको भावनेमें बड़ी
 कुशल थी । वह तुरन्त ही रानीका भाव समझ गई । यों उसे भी राजाके सामने बोलनेमें
 लज्जाका अनुभव हो रहा था, और वाणी भी स्खलित हो रही थी । किन्तु फिर भी रानीकी
 आज्ञा शिरोधार्य थी, अतः यों कहने लगी—राजन् ! आपके स्नेहके कारण इसे सभी पूज्य
 मानते हैं । अतः यह सच है कि पराभव-अपमान आदि इसके शोकके कारण नहीं हैं ॥२७॥
 इसके विषादका कारण कुछ और ही है । उसका प्रतीकार केवल भाग्य ही कर सकता है, और
 कोई नहीं । मैं आपको सब सुना रही हूँ, किन्तु उसे सुनकर क्या कर्तव्य है, इस विषयमें

१. म एतेषु सत्सु । २. म लन्त्या । ३. = भो. देवि श्रीकान्ते । ४. = पूर्वोक्तेषु । ५. = अनु-
 युक्ता । ६. = वदनम् । ७. = केवलम् । ८. = नियतिः भाग्यम् । 'दैवं दिष्टं भाग्येयं भाग्यं स्त्री
 नियतिविधिः ।' इत्यमरः । ९. = शरण्यमिति यावत् ।

एषा पुरं त्वदनुभावविबुद्धशोभं द्रष्टुं मयाद्य सह मन्दिरमभ्यरुहत् ।

चेक्रीडतो निजकराहतकन्दुकेन तत्रैकताड्यपृथुकाम्पृथुकान्तियुक्तान् ॥२६॥

तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती चिन्तामगादिति विषण्णमुखारविन्दा ।

धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो यासाममीभिरफला तत्रयैर्न सृष्टिः ॥३०॥

या मद्रिधाः पुनरसंचितपूर्वपुण्याः पुष्पं सदा फलविबजितमुद्रहन्ति ।

ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा धन्या लता इव भृशं न विभाति लोके ॥३१॥

एषेति । एषा श्रीकान्ता । त्वदनुभावविबुद्धशोभं त्वत् (?) तव अनुभावेन विबुद्धा प्रबुद्धा शोभा यस्य तत् । पुरं पत्तनम् । द्रष्टुं दर्शनाय । अद्य इदानीम् । मया सह मया साकम् । मन्दिरं लोभम् । अभ्यरुहत् अचिररोह । तत्र पुरे । निजकराहतकन्दुकेन स्वकरताडितेन कन्दुकेन गोलकेन चेक्रीडतः पुनः पुनः क्रोडन्तीति चेक्रीडतः [चेक्रीडन्तः] तान् पृथुकान्तियुक्तान् पृथ्व्या महत्या कान्त्या युक्तान् । आड्यपृथुकान् आडयानां धनिकानां पृथुकान् बालकान् । 'पृथुक' शाबक शिशु इत्यमरः । ऐक्षत ददर्श । ईक्षि दर्शने लङ् । जात्यलङ्कारः ॥२९॥ तानिति । इन्दुसुन्दरमुखान् इन्दुरिव चन्द्र इव सुन्दरं मुखं येषां तान् । तान् बालकान् । अवलोकयन्ती पश्यन्ती । विषण्णमुखारविन्दा विषण्णं म्लानं मुखमेवारविन्दं सरसि न यस्याः सा । अमीभिः एभिः । तनयैः बालकैः । यासा स्त्रीणाम् । मुष्टिः उत्पतिः । अफला निष्फला । न न भवति । ताः स्त्रियः । जगति लोके । धन्याः कृतायार्थाः भवन्ति । तान्म्यः स्त्रीभ्यः । स्पृहयामि बाञ्छामि 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी । इति एवम् । चिन्ताम् अगात् अगच्छत् । इन् गतो लुङि । 'वैरपो.' इति गादेशः । 'बुभास्वागावाहाक्स' इति सेल्लुक् । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ या इति । पुनः पदवात् । असंचितपूर्वपुण्याः असंचितमसंपादितं पूर्वं पुरातनं पुण्यं सुकृतं यामि ताः । मद्रिधाः मम सद्गताः । स्त्रियः । सदा सर्वकाले । फलविबजितं फलरहितम् । पुष्पं कुसुमम् । उद्रहन्ति धरन्ति । सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा सर्वे सकललोकैः परिनिन्दितो जन्मनो लाभो यासां ताः । ताः । धन्या अफलाः पुनरहिनाश्च । लता इव बल्लर्य इव । लोके जगति । भृशम् अत्यर्थम् ।

केवल भाग्य ही शरण है ॥२८॥ आपके प्रभावसे इस नगरकी शोभा अन्य नगरोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी है । इसे देखनेके लिए यह आज मेरे साथ छत पर गयी थी । वहाँसे इसने खेलके मैदानमें धनिकोंके कुछ तेजस्वी बच्चोंको देखा, जो हाथकी थपकी दे-देकर जी भरकर गेंद खेल रहे थे ॥२९॥ उनके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे । उन्हें देखते ही यह चिन्तामग्न हो गई । इसका मुख कमल म्लान हो गया, और यह सोचने लगी कि इस लोकमें वे स्त्रियाँ धन्य हैं और उनसे मुझे स्पृहा है, जिन्होंने इन बच्चोंको जन्म देकर अपना जन्म सफल कर लिया है ॥३०॥ मेरे समान जिन स्त्रियोने पूर्वं जन्ममें पुण्य संचय नहीं किया और इसीलिए जो सदा पुष्पवती (यहाँ पुष्प शब्दका अर्थ मासिक धर्म है) होकर भी उसके फल (गर्भ) से वंचित रहती हैं, वे बर्बाद समझी जाती हैं । वे उन लताओंके समान सर्वथा श्रोहीन मालूम पड़ती हैं, जिनमें फूल तो लगते हैं, पर फल नहीं लगते । सभी लोग उनके जन्मकी निन्दा किया करते हैं ॥३१॥

१. = गेन्दुकेन । 'गेन्दुक. कन्दुक.' इत्यमरः । २. सा स ईक्ष । ३. = ईष्यामि । ४. आ प्रतावेव 'उद्रहन्ति धरन्ति' इति सम्पुलभ्यते । ५. आ बबलाः ।

याः स्त्यानधर्मिणि पुरंभिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुद्धति कारणनिर्व्यपेक्षम् ।
 सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्बन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ॥३२॥
 चन्द्रोज्जितां खरिदंशुकुते घनानां बोधीं सरोजनिकरः सरसीमहंसाम् ।
 पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ॥३३॥
 तेनोज्जितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।
 मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥३४॥

न विमानि न भासन्ते । आ दीप्ती लट् । उपमा ॥३१॥ वेति । ॥ या स्त्री । स्त्यानधर्मिणी स्त्यानस्य गर्भ-
 धारणस्य धर्मिणि धर्मवति (स्यानं धर्मो यस्य स स्त्यानधर्मा तस्मिन्) पुरंभिजने पुरंभ्यैव जनः (पुरंभ्रीणां
 जनो वर्गः) तस्मिन् । रूपकम् (?) । प्रसिद्धं प्रतीतम् । स्त्रीशब्दम् । कारणनिर्व्यपेक्षं यथा भवति तथा,
 गर्भधारणं विनापीत्यर्थः, स्त्यानधर्मवती स्त्री (स्यायते गर्भो यस्यां सा स्त्री) इति श्रुत्युत्पत्तेः । उद्धति
 भरति । सा स्त्री । जनेषु लोकेषु । हास्यभावं परिहासत्वम् । उपमाति^१ अन्यः दुष्टिरहितः । यद्गत् यथा ।
 सुलोचन इति शोभननयन इति । व्यपदेशकामः नामारोपणं बाह्यनः । अर्थात्तरन्धासः ॥३२॥ चन्द्रेति ।
 चन्द्रोज्जितां चन्द्रेणोज्जितां रहिताम्^२ । घनानां मेघानाम् । बोधीं रम्यां गगनम् । रविः सूर्यः । अलङ्कृते
 भूषयति^३ । अहंसां हंसरहिताम् । सरसीं सरोवरम् । सरोजनिकरः सरोजानां पद्मानां निकरः समूहः ।
 [अलङ्कृते] कुलपुत्रिकाणां कुलोद्भवानां स्त्रीणाम्^४ । निजसंततिबीजं स्वस्य संततेः संतानस्य बीजं कारणम् ।
 पुत्रं तनयम् । विहाय त्यक्त्वा^५ । अन्यः मित्रः । मण्डनविधिः अलङ्कारविधिः । नास्ति ॥३३॥ तेनेति ।
 निजकुलैकविभूषणेन निजस्य स्वस्य कुलस्य एकैव मुख्येन विभूषणेन अलङ्कारभूतेन । सौभाग्यसौख्यविभव-
 स्थिरकारणेन सौभाग्यस्य सुभगरस्य सौख्यस्य सुखस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्य विवरस्य स्थितेः (स्थिरेण दृढेन)
 कारणेन हेतुना । तेन पुत्रेण । उज्जितां रहिताम् । विपुण्यां^६ दुःखिताम् (विपुण्यां हतभाग्याम्) । माम् ।
 परितर्पयितुं संतर्पयितुम् । ज्ञातयः बन्धवः । न शक्नुवन्ति न समर्था भवन्ति । सुहृदः मित्राणि न शक्नुवन्ति ।

गर्भं धारण करना स्त्रीका धर्म है । इस धर्मके बिना भी जो निरर्थक 'स्त्री' संज्ञाको धारण करती
 हैं, लोग उनका परिहास करते हैं । उनकी स्थिति ठीक उस मनुष्यके समान हो जाती है, जो
 अन्धा होकर भी अपना नाम 'सुलोचन' रखवाना चाहता हो । लोग ऐसे व्यक्तिका परिहास
 'आँखोंके अन्धे नामके नयनसुख' कहकर किया करते हैं ॥३२॥ रात्रिके समय चन्द्रमा आकाश-
 की शोभा बढ़ाता है और उसके अस्त होते ही दिनमें सूर्य उसकी शोभा बढ़ाता है । इसी तरह
 हंस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं और उनके चले जानेपर कमल उसकी शोभा बढ़ाते हैं । किन्तु
 कुलकी सन्ततिको आगे बढ़ानेके मुख्य कारण स्वरूप पुत्रके बिना कुलवती स्त्रियोंके लिए कोई
 दूसरा मण्डनका उपाय नहीं है ॥३३॥ पुत्र कुलका एकमात्र भूषण है, और वही मेरे सौभाग्य,
 सुख और वैभवका निश्चल कारण है । यदि मैं उससे वंचित रहती हूँ, तो मैं बड़ी अभागिन हूँ ।
 ऐसी दशामें मुझे परिवारके लोग तृप्त नहीं कर सकते और न मित्र ही । पत्नीके लिए पतिके
 उपहार तृप्ति जनक होते हैं, किन्तु सखि ! मैं दिलीकी बात कहती हूँ, इस समय मुझे उनसे भी
 तृप्ति नहीं हो सकती । पुत्र न रहने पर भी मेरे पति देव भले ही प्रसन्न रहें, किन्तु उनके

१. आ प्रतापेव स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समवलोक्यते । २. = प्राप्नोति । ३. आ स स नामा-
 रोपणम् । ४. स स^२हिताणाम् । ५. आ भूषति । ६. = 'कुलस्त्री कुलबालिका' इति हेमचन्द्रः । ७. आ
 विहाय विहायं पूर्वं त्यक्त्वा । ८. एष टीकाकारपुत्रः पाठः ।

कृत्वा विषादमिति दुःस्थितचित्तवृत्तिर्दुःखं निवेद्य मयि तत्पतले न्यपसत् ।
 संबोचितापि न मया बहुभिः प्रकारैः शोकं चिमुञ्चति मनागपि देव देवी ॥३५॥
 सख्या मुखादिति निशम्य विषादहेतुं निःश्वस्य किञ्चिद्भूमिपतिर्ब्रूमाद्ये ।
 शोकः शरीरहृदयेन्द्रियशोषहेतुर्युक्तो न देवि तव वस्तुनि दैवसाधये ॥३६॥
 दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव दुःखी मदुःखतो भवति सर्वजनस्य दुःखम् ।
 इत्थं समस्तजनतापरितापहेतोर्मा गाः कृपावति शुभो वशमुज्जतायाः ॥३७॥
 जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं यदेव यैरजितं स्वपरिणामवशेन कर्म ।
 तद्योग्यमेव फलमिष्टमनोप्सितं वा तैः प्राप्यते किमिति शोचसि हेतुहीनम् ॥३८॥

प्रतिप्रसादाः पत्युर्ध्वस्य प्रसादाः प्रसन्नताः । न शक्नुवन्ति ॥३४॥ कृत्वेति । देव भोः स्वामिन् । इति एवं प्रकारेण । विषादं शोकम् । कृत्वा विषाय । दुःस्थितचित्तवृत्तिः दुःस्थिता दैव्यं गता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्याः सा । देवी स्वामिनो^१ । मयि (सख्याम्) । दुःखं विषादम् । निवेद्य उक्त्वा^२ । तत्पतले शय्यातले । न्यपसत् अपतत् । पल्लु^३ गतो लुङ् । 'सतिशास्तिर्लिङ्द्युत्पुष्यादेः' अङ्-प्रत्ययः । तद्योगे 'वयत्यस्वच्-पतोऽङ्पथगुप्पम्' इति पमागमः मया बहुभिः बहुलैः । प्रकारैः भेदैः । संबोचितापि विज्ञापितापि । शोकं विषादम् । मनागपि न विमुञ्चति न त्यजति । मुक्लु मोक्षणे लट्^४ ॥३५॥ सख्या इति । भूमिपतिः श्रीपेणः । सख्या बालमर्याः । विषादहेतुं विषादस्य शोकस्य हेतुं कारणम् । इति उक्तप्रकारेण । निशम्य श्रुत्वा । किञ्चित् ईदृशत् । निवस्य निवसासं कृत्वा । अथ अनन्तरम् । ब्रूमाये ब्रूवति स्म । देवि भो देवि । दैवसाधये दैवेन पुण्येन साधये । वस्तुनि पदार्थे । शरीरेन्द्रियशोषहेतुः शरीरस्य देहस्य हृदयस्य चित्तस्येन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां शोषस्य सतापस्य हेतुः कारणम् । शोकः विषादः । तव भवत्याः । युक्तो न उचितो^५ न भवति ॥३६॥ दुःखेनेति । कृपावति दयावति, कृपा अस्या अस्तीति कृपावती तस्याः संबोधनम्^६ । 'अस्यस्मिन्वेति मनु' इति मनुः । 'मास्तोपात्त—' इत्यादिना मस्य वः, 'नृदुग्मि—' इति डी । ते तव । दुःखेन शोकेन । प्रथमं अहमेव दुःखी शोकी । अस्मि भवामि । अहं भुवि लट् । मदुःखतः मत् (?) मम दुःखतः शोकतः । सर्वजनस्य सर्वस्य सकलस्य जनस्य । दुःखं विषादः । भवति जायते । इत्थम् अनेन प्रकारेण । समस्तजनता-परितापहेतोः समस्ताया जनतायाः जनसमूहस्य, 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्ल' इति तल्ल, परितापस्य सतापस्य हेतो । उज्जताया प्रवृद्धायाः । शुभः शोकस्य । वशम् अधीनम्^७ । मा गाः मा गमः । इण् गतो लुङ् । 'गैत्यौः' इति गादेशः ॥३७॥ जन्मेति । यैः जनैः । जन्मान्तरे प्रकृतजन्मनोऽप्यजन्म^८ जन्मान्तरम्, तस्मिन् पूर्वजन्मनि ।

प्रसन्न रहनेसे भी मुझे तृप्ति नहीं ॥३४॥ इस प्रकार इसे विषाद हुआ, जिसके फल स्वरूप इसका हृदय व्याकुल हो उठा । इसने अपने मनका सारा दुःख मुझे सुनाया फिर पलंगपर जा गिरी । राजन् ! मैंने इसे नाना प्रकारसे समझाया, किन्तु यह शोकको जरा भी नहीं छोड़ रही है ॥३५॥ सखीके मुखसे इस प्रकार रानीके शोकका कारण सुनकर राजाने लम्बी साँस ली और फिर कुछ रुककर रानीसे बोला—देवि ! जो वस्तु भाग्याधीन है, उसके विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक शरीर, हृदय और इन्द्रियोंके शोषणका कारण है ॥३६॥ तुम्हारे दुःखसे सबसे पहले मैं ही दुखी हो रहा हूँ, और मेरे दुःखसे परिवार एवं प्रजाके लोगोंको भी दुःख होगा । इस तरह तुम्हारा दुःख सबके दुःखका कारण है । यदि इन सबके प्रति तुम्हें दया है तो हे दयावति ! इतना अधिक शोक न करो ॥३७॥ अपने-अपने शुभ या अशुभ परिणामोंके अनु-

१. क ख ग घ मे दुःखतो । २. आ श स देवे स्वामिनि । ३. श स त्यस्वा । ४. वा स पत् गतो । ५. आ प्रती केवलं स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समुपलभ्यते । ६. आ उचितम् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = पूर्वम् । ९. = अधीनताम् । १०. वा स अय्यजम् ।

अत्यन्तदुर्घटमिदं न हि वस्तुनोऽस्य निष्पत्तिरित्यलसगामिनि माद्यमंस्थाः ।
संपत्स्यते तव मनोरथ एव शीघ्रमेकान्ततो यदि भवेन्न विधिर्विपन्नः ॥३६॥
सम्भवेव केवलदृशोऽवधिलोचनाश्च तोर्थं जिनस्य मुनयो विविधद्वियुक्ताः ।
जाग्रत्स्वप्नप्रचक्षुः प्रचक्षुः विद्वं येवामिदं करतलस्थितवच्छकास्ति ॥४०॥
तेभ्योऽधिगम्य तव संततिलोपहेतुमभ्युद्यतं^१ प्रतिविधातुमहं यतिष्ये ।
कञ्जैर्वचोभिरिति लोकपतिः प्रियायाः शोकापनोदमकरोत्करदीकृताशः ॥४१॥

स्वपरिणामवशेन स्वस्य परिणामस्य वशेनाद्योनतया । शुभ प्रगल्भम् । अथापि अथवा । अशुभम् अप्रगल्भं वा
यदेव कर्म पुण्यपापरूपं कर्म^३ । अजितं संपादितम् । तै जनैः । तद्योग्यमेव तस्य परिणामस्य योग्यमेव ।
दृष्टम् ईप्सितम् । अनौप्सितम् अनिष्टं वा । फलं निष्पत्ति^४ (परिणामः) । प्राप्यते नीयते^५ । आप्तुं
व्याप्तौ कर्मणि लट् । [इति] हेतुहीनं हेतुना कारणेन हीनं रहितं यथा तथा । किमिति किं कारणम्
शोचति^६ । शुच शोके लट् ॥३८॥ अत्यन्तेति । अलसगामिनि अलस मन्द गच्छतोऽप्येव शोला तयोक्ता
तस्या संबोधनम्^७ तत्संबुद्धौ । इदम् एतत् । अत्यन्तदुर्घटम् अत्यन्तमधिक दुर्घटमसाध्यम् । अस्य वस्तुन अस्य
पदार्थस्य । निष्पत्तिर्लाभः । नहोति नास्तीति । माद्यमंस्थाः मा बुध्यस्व । यदि विधिः पुण्यम् । विपन्नः
प्रतिपन्नः । न भवेत् न जायेत । एकान्ततः निश्चयेन । शीघ्रं लघु । एव । अयम् । मनोरथः मनोऽभीष्टः^८ ।
संपत्स्यते संभविष्यते(ति) । पदि गती लट्^९ ॥३९॥ सन्तति । एषा येषां मृतीनाम् । जायन् वृष्ट्यमानम् ।
स्वपत् मुह्यत् । द्रव्यम् [इदम्] । प्रचक्षत् जज्ञम् । अप्रचक्षत् स्वावरम् । विवस्व समन्तम् । करतलस्थितवत्
करतले हस्ततले स्थितवत् । चकास्ति भासते । केवलदृशः^{१०} केवलं दृग् दृशनं जानं येषां ते केवलज्ञानिनः ।
अवधिलोचनाः अवधिरिव लोचनं नेत्रं^{११} येषां ते, अवधिजानिनः । विविधद्वियुक्ताः विविधाभिः ऋद्धिभिर्युक्ताः
सहिताः, नाना ऋद्धि प्राप्ताः^{१२} । [ते] मुनयः^{१३} मूढवद्वश्च । जिनस्य जिनेश्वरस्य । तोर्थं सन्ताने ममये
इत्यर्थः । सत्येव वस्तुन एव ॥४०॥ तेभ्य इति । अहं^{१४} तेभ्यः^{१५} केवलदृगादिव्य । अधिगम्य ज्ञान्वा । अभ्यु-
द्यतम् उदयगतम् । तव ते । संततिलोपहेतुं संतनेः संतानस्य लोपस्य नाशस्य (अभासस्य) हेतु कारणम् ।
प्रतिविधातुं प्रतिकारं कर्तुम् । प्रयतिष्ये प्रयत्नं करिष्ये । इति एव प्रकारेण । वञ्जे मनोहरः । वचोभिः
वचनैः । करदीकृताशः प्रागकरदा इदानीं करदाः क्रियन्ते स्म करदीकृता आशा दिशो येन^{१६} स । लोकपतिः

सार जिन्होंने पूर्व जन्ममें अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म बोधे है, वे उनकी अनुकूल अच्छे या बुरे
फलको प्राप्त करते हैं । ऐसी स्थितिमें तुम व्यर्थ हो शोक क्यों मना रही हो ? ॥३८॥ हे मन्द-
गामिनि ! पुत्र होना कठिन है या असम्भव है ऐसा न समझो । यदि भाग्य सर्वथा प्रतिकूल न
हूआ तो तुम्हारा यह मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ॥३९॥ मुपायदनाथके तीर्थमें इस समय
केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और नाना ऋद्धियोंके धारी मुनि विद्यमान हैं, जिन्हें मोह निद्राने जागे
हुए और मोह निद्रामें अचेत पड़े हुए इस सारे जंगम और स्थावर जगत्का स्पष्ट ज्ञान है । जैसे
वह उनकी हथेलीमें स्थित हो ॥४०॥ किस कारणके रहनेमें तुम्हारे मन्तान नहीं हो रही है,
यह उन मुनियोंसे जानकर, उसका प्रतिकार करनेके लिए मैं प्रयत्न करूँगा । इस प्रकारके मधुर
वचनोसे राजाने रानीका शोक दूर कर दिया । साग संसार उमें अपना स्वामी समझता था,

१ आ आ इ क ख ग घ म यत् । २ आ 'स्वस्य' नास्ति । ३ आ 'लूपकर्म' । ४ आ 'संपादितम्' ।
५ आ 'प्राप्यति' । ६ = अवाप्यते । ७ = किमर्थं व्यर्थम् । ८ = शोकमनुभवति । ९ = वस्तुबुद्धौ । १० =
मनोऽभीष्टम् । ११. श स लट् । १२ आ केवलं मुख्यं दृक् दृग् (?) येषाम् । १३. आ लोचने नेत्रे ।
१४. आ नानाऋद्धिप्राप्ताः । = नाना बुद्ध्यादिलब्धिवर्हिदाः । १५ स मुनिवराः । १६. = श्रोत्रेण । १७.
श स 'केवल' इति नोपलभ्यते । १८ श स यस्य ।

युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः स निजैः सुहृद्भिर्गालिङ्गितं समधिगम्य 'वसन्तलक्ष्म्या ।

क्रीडापन्नं समवलोकितुमभ्ययासीदुद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुषः ॥४२॥

नृत्यच्छिखण्डिनि मृदुकणदन्यपुष्टे सुस्वादुसुन्दरफले सुमनःसुगन्धौ ।

तस्मिन्वने शिशिरमन्दमरुप्रचारे सर्वेन्द्रियोत्सवकरे विजहार भूपः ॥४३॥

अत्रान्तरे पृथुतपःश्रियमुन्नतधीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्धदृष्टिः ।

तारापथादयतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्ट चारणमुनिं सहसा नरेन्द्र ॥४४॥

रोमाञ्चचञ्चिततनू रभसेन गत्वा भूपस्तमालतरुमूलगतस्य तस्य ।

मूर्ध्ना ननाम गुरुभक्तिभरानतेन संसारसिन्धुतरणीं चरणौ महर्षेः ॥४५॥

जनपतिः । प्रियाया, कान्ताया । शोकापनोद शोकस्य दुःखस्य अपनोदं निराकरणम् । अकरोत् अदधात् (व्यधात्) । इहङ्ग करणे लट् ॥४१॥ युक्त इति । अन्यदा अन्यस्मिन् कालेऽन्यदा, एकदा । निजैः स्वकीयैः । सुहृद्भिर् बन्धुभिः । युक्त महितः । स क्षितिपतिः रथपेणभूपतिः । वसन्त रक्ष्म्या वसन्तस्य लक्ष्म्या श्रिया । गालिङ्गितं परिष्ववनम् । क्रीडावन क्रीडोद्यानम् । समधिगम्य ज्ञात्वा । उद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुष उद्दामो महत् कौतुकस्याद्भुतस्य रमस्य प्रसरेण प्रवाहेण प्रणुन्न, प्रेरितः सन् । समवलोकितुं समीक्षितुम् अभ्ययासीत् अभ्यगच्छत् । या प्रापणे लुट् ॥४२॥ नृत्यदिति । भूरा श्रीपेण । नृत्यच्छिखण्डिनि नृत्यन्तः शिखण्डिनो मयूरा यस्मिन्, तस्मिन् । मृदुकणदन्यपुष्टे मृदु मधुर वनणतो ध्वनन्तोऽन्यपुष्टाः कोकिला यस्मिन् (तत् तस्मिन्) । सुस्वादुसुन्दरकरे सु शोभन स्वादु (शोभन स्वादु) येषां तानि सुस्वादिनि सुन्दराणि मनोहराणि कानि पत्राणि [फलाणि] यस्मिन्, तस्मिन् । सुमनःसुगन्धौ सुमनसा पुष्पाणां सुगन्धौ (सुगन्धिर्यस्मिन्, तस्मिन्) मनोहरपरिमलयुक्त । शिशिरमन्दमरुप्रचारे शिशिरस्य शीतलस्य मन्दस्य मृदोरमृत, पवमानस्य प्रचार, मंचारो यस्मिन्, तस्मिन् । सर्वेन्द्रियोत्सवकरे सर्वेषामिन्द्रियाणामुत्सवकरे संतोषकरे । वने विजहार । हङ्ग द्वये लिट् । जातः ॥४३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अस्मिन् प्रस्तावे । उन्नतश्रीः उन्नता श्रीर्यस्य सः । विशुद्धदृष्टि विशुद्धा पञ्चविंशतिमलङ्घिता दृष्टिर्यस्य सः । स नरेन्द्र श्रीपेणः । पृथुतपःश्रियः पृथुः (पृथ्वी) मन्त्रो तपसा श्रौर्यस्य तम् । उन्मीलितावधिदृशं उन्मीलित उन्निमेषणो अवधिरिव दृग् लोचनं यस्य तम् । तारापथान् आकाशान् । अयतन्त्रम् आगच्छन्तम् । अनन्तमंजम् अनन्त इति मञ्जा नाम यस्य तम् । चारणमुनिम् आकाशचारणमुनींश्वरम् । ऐक्षिष्ट दृशनं । ईक्षि दर्शने ॥४४॥ रोमाञ्चेति । रोमाञ्चचञ्चित-तनूः रोमाञ्चवेन रोमहर्षेण चञ्चिता तनू शरीरं यस्य सः । भूपः श्रीपेणः । रभसेन शीघ्रम् । गत्वा प्राप्य ।

और मभी आरमे उसके पास टैंक आता था—मभी राजाश्रीने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी ॥४१॥ वसन्तकी मुपमाके चारों ओर फैल जानेसे क्रीडावन दर्शनीय हो गया है, यह जानकर श्रीपेणको बड़ा कौतूहल हुआ, जिससे प्रेरणा पाकर वह एक दिन अपने मित्रोंके साथ उसे देखने के लिए गया ॥४२॥ उस क्रीडावनमें मयूर नाच रहे थे; मधुर स्वरमें कोकिल गा रहे थे; अत्यन्त स्वादिष्ट अच्छे-अच्छे फल लगे हुए थे; फूलोंकी भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी और मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी । इस तरह वह पाँचों इन्द्रियोको आनन्द दे रहा था । लगता था वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा है । राजा वही पर घूमने लगा ॥४३॥ राजाके पास अद्वैत सम्पत्ति थी और वह निमल सम्यग्दृष्टि था । उसने इसी बीचमें वहाँ आकाशसे उतरते हुए एक चारण ऋद्धिके धारो मुनिको अचानक देखा । वे मुनि बड़े तपस्वी थे और थे अवधिजानी । उनका नाम अनन्त था ॥४४॥ उनका दर्शन करते ही राजाका शरीर पुलकित हो गया ।

१. आ इ 'रम्यवसत्' । २. श स लोकपतेः जनपतेः । ३. एष टीकाकारभूतः पाठः, प्रतिभु 'सुविशुद्ध दृष्टि' इत्येवास्ति । ४. आ 'मेषतः । उन्मेषितः । ५. आ 'पदात् । ६. = चारिणम् ।

लोऽप्यतमनः परिसमाप्य समाधियोगमाशौर्वचांसि निपपाठ विशुद्धपाठः ।
 संस्नापयन्नरपतिं कुमुदोज्ज्वलेन धर्माभिषेकपयसेव निजस्मितेन ॥४६॥
 कृत्वा करावध स संकुचद्वज्रकान्ती सप्रश्रयामिति जगद् गिरं क्षितीशः ।
 दन्तावलीविशदरश्मिबितानकेन लिम्पन्मुनीन्द्रचरणाविध चन्दनेन ॥४७॥
 गत्वा सुदूरमपि यस्य खिलोकनीयौ पादौ पवित्ररजसौ रजसः क्षयाय ।
 तस्यागमे तव मुनीन्द्र न हेतुरन्यो मुक्त्वा ममान्यभवसंचितपुण्यपाकम् ॥४८॥

तमालतलमूलगतस्य तमालस्य तरोर्वक्षस्य मूलं गतस्य । तस्य महर्षेः महामूनेः । संसारसिन्धुचरणी संसार
 एव सिन्धुः समुद्रः तस्यः तरणी^१ । चरणी पादौ । गुरुभक्तिभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेनान्वितेन
 विनयेन^२ मूर्ध्ना शिरसा । ननाम नमतस्मि । नमः प्रह्लादत्वे शब्दे च^३ लिट् । रूपकम् ॥४५॥ स इति ।
 विशुद्धपाठः विशुद्धो दोषरहितः पाठः परमागमोपदेशो यस्य सः । सोऽपि चारणमुनीश्वरः । आत्मनः
 आत्मस्वरूपस्य । समाधियोगं समाधेयानस्य योगं संबन्धम् । परिसमाप्य संपूर्णयित्वा । धर्माभिषेक-
 पयसेव धर्म एवाभिषेकस्य स्नानस्य पयसेव जलेनेव । रूपकोपमे च^४ कुमुदोज्ज्वलेन कुमुदनिव सितकमल-
 मिवोज्ज्वलेन निजस्य स्वस्य स्मितेन दरहसनेन । नरपतिं श्रोपेणमहीपतिम् । संस्नापयन् स्नानं कारयन् ।
 आशौर्वचांसि आशित इष्टप्रार्थनस्य वचांसि वचनानि । निपपाठ निरूपयति स्म । पठ व्यक्ताया वाचि लिट्
 ॥४६॥ कृत्वा^५ । अथ आशीर्वादानन्तरम् । सः क्षितीश श्रोपेणभूयतिः । संकुचद्वज्रकान्ती संकुचतो मुकुलित-
 स्याद्वज्रस्यैव कान्तितर्ययोस्तौ । करो हस्तौ । कृत्वा विरचय्य । दन्तावलीविशदरश्मिबितानकेन दन्तानां
 दशानानामावस्थयाः समूहस्य (पंथेः) विशदानां घबलानां रश्मिनां कान्तीनां बितानकेन निबद्धेन । चन्दनेनेव
 श्रोगन्धेनेव^६ मुनीन्द्रचरणी मुनीन्द्रस्य अनन्तमुनीश्वरस्य चरणी पादौ । लिम्पन् । लेपनं कुर्वन् (चर्चयन्) ।
 सप्रश्रया विनयसहिताम् । गिरं बाणोम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगद् ब्रह्मापे । गद् व्यक्ताया वाचि
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४७॥ गत्वेति । मुनीन्द्र मुनीश । यस्य मुनीशस्य । पवित्ररजसौ पवित्रं रजो धूलितर्ययोस्तौ

फलतः । ऐसा जान पड़ता था मानों उस पर कोई लेप किया गया हो । वह शीघ्र ही उस तमाल
 वृक्षके नीचे पहुँचा, जिसके नीचे वे मुनिराज जा पहुँचे थे । वे अपने समयके बहुत बड़े ऋषि
 थे । उनके चरण संसार सागरसे पार उतारने वाले थे । उन चरणोंमें राजाने अपना मस्तक
 झुकाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥४५॥ जिस समय राजाने प्रणाम किया, उस समय वे
 मुनिराज समाधिभग्न थे । समाधि समाप्त होनेके बाद उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें शुद्ध पाठ किया
 और फिर आशीर्वादके शब्द (धर्मवृद्धिरस्तु—धर्मकी वृद्धि हो) राजासे कहे । जिस समय वे
 आशीर्वादके शब्द कह रहे थे, उस समय उनके मुखपर मुसकान थी । मुसकानकी प्रभा कुमुद
 सरोखी सफेद थी । राजाके ऊपर उसके पड़नेमें ऐसा जान पड़ता था मानो वे धर्माभिषेकके
 जलसे उसे स्नान करा रहे हों ॥४६॥ मुनिराजका आशीर्वाद प्राप्तकर राजा श्रोषेण अपने
 दोनों हाथोंको मुकुलित कमलकी कलीके आकारमें जोड़कर उनसे विनयपूर्वक यों बोला—
 बोलते समय उसके दातोंकी स्वच्छ किरणें मुनिराजके चरणोंपर पड़ रही थी, अतः ऐसा जान
 पड़ता था मानो वह उनके ऊपर चन्दनका लेप कर रहा हो ॥४७॥ मुनिराज ! आपके चरण
 अत्यन्त पवित्र हैं । वे जिस मार्गसे चलते हैं उसकी धूलिको पवित्र कर देते हैं, और चलते समय

१ = तलम् । २ = तारको । ३. आ गुरुभक्तिभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेन गतेन
 विनयेन । ४. आ नमः प्रह्लादत्वे शब्दे । ५. आ समययोगम् । ६. धर्माभिषेकस्य । ७. = धर्मस्नानस्य ।
 ८. = रूपकमुपमा च । ९. आ 'तकुचलय' । १०. = श्रोत्रध्वनेव ।

भेयस्तनोति परिषर्षयते विवेकमुन्मूल्यत्यथमुदीरयते विभूतिम् ।
 त्वद्दर्शनं सुचरितबलमद्रहेतुनीत्पीयसो भवति गम्यमिदं शुभस्य ॥४९॥
 यद्भावि भूतमथवा मुनिनाथ तत्ते बाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसीद ।
 संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि नाद्यापि याति विरतिं किमु मानसं मे ॥५०॥
 भ्रूवेति तद्वचनमेधमुवाच चिन्तां चेतोगतां स नृपतेरवबुध्यमानः ।
 यावत्तव स्फुरति चेतसि स्नुवाब्द्धा तावन्न यासि विरतिं नृपपुंगव त्वम् ॥५१॥

पादौ चरणौ । सुदूरमपि महददूरमपि । गत्वा समेत्य । रजसः पापस्य । क्षयाय नाशाय । विलोकनीयो
 वीक्षणयोगी । तस्य तव भवतः^१ । आगमे आगमने । मम मे । अन्यमवसंचितपुण्यपाकम् अन्यस्मिन् पूर्वस्मिन्
 भवे जन्मनि संचितं सपादितं पुण्यपाकं सुकृतपरिपाकम् । मुक्त्वा त्यक्त्वा । अन्यः परः । हेतुः कारणम् । न
 नास्ति ॥४८॥ श्रिय इति । सुचरितं भो संपूर्णचारित्र्यं । अखिलमद्रहेतुः अखिलस्य मद्रस्य^२ मङ्गलस्य हेतुः
 कारणम् । त्वद्दर्शनं त्वत् (?) तव दर्शनम् । भेयः^३ सोक्ष्यम्^४ तनोति^५ करोति तनूजं विस्तारे लट् ।
 विवेकं हेयोपादेयविवेकभेदम् । परिवर्द्धयते^६ पयंषयते । वृष्टुं वृष्टौ लट् । अर्थं पापम् । उन्मूलयति नाशयति ।
 मूलं प्रतिष्ठायां लट् । विभूतिम् ऐश्वर्यम् । उदीरयते प्रवर्द्धयते । ईर प्रेरणे लट् । इदम् एतद्दर्शनम् । अल्पीयसः
 अल्पतरस्य । शुभस्य पुण्यस्य । गम्यं लब्धुं शक्यम् । न भवति । अनुमितिः ॥४९॥ यदिति । मुनिनाथ
 भो मुनीन्द्र । यद् वस्तु । भावि भविष्यत्^७ । अथवा भूतम् अतीतम् । तद्वस्तु पदार्थः । ते भवतः । बाह्यं
 बहिर्भूतम् । न न भवति । अत एतस्मात्कारणात्^८ । इदं वैराग्याभारकारणम् । कथं ब्रूहि । कथं वाक्यप्रबन्धे
 लोट् । प्रसीद प्रसन्नो भव । वट् विशारणगत्यवसादनेषु । 'पाद्माभ्याम्वा—' इत्यादिना सोद^९ इत्यादेशः,
 लोट् । अखिलं निबलम् । संसारवृत्तं संसारस्य वृत्तं वर्तनम् । परिजानतोऽपि विजानतोऽपि । मे मम ।
 मानसं मनः अद्यापि इदानीमपि । विरतिं वैराग्यम् । किमु किं कारणम्^{१०} । न याति न गच्छति । या प्रापणे
 लट् ॥५०॥ भ्रूवेति । इति एवम् । तद्वचनं तस्य भूपस्य वचनम् । भ्रुवा निशम्य । नृपतेः भूपतेः । चेतोगता
 मनोगताम् । चिन्ताम् आध्यानम् । अवबुध्यमानः जानन् । सः मुनिवृन्धारकः । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण । उवाच
 वभाषे । ब्रूज् व्यस्ताया वावि लट् । नृपपुङ्गव नृपवत्सो पुङ्गवश्च^{११} तस्य संबोधनं^{१२} नृपपुङ्गवः । यावत्

जो धूलि उनके ऊपर पड़ जाती है, वह उनका स्पर्श पाकर पवित्र हो जाती है । अपने पापको
 नष्ट करनेके लिए दूर जाकर मुझे उन (चरणों) का दर्शन करना चाहिए था । किन्तु आप
 स्वयं यहाँ पधारे हैं । आपके पधारनेमें मेरे पूर्व जन्ममें संचित पुण्यके उदयके सिवा और क्या
 कारण हो सकता है ? ॥४८॥ मुनिराज ! आपका चरित निर्मल है । आपका दर्शन कल्याणकारी
 है । आपका दर्शन विवेकको बढ़ता है, पापको मूलसे नष्ट करता है, विभूतिको प्रकट करता है
 और समस्त मंगलोंका कारण है । आपका दर्शन थोड़े पुण्यसे नहीं हो सकता ॥४९॥ मुनिराज !
 जो वस्तु पहले हो चुकी है अथवा आगे होगी वह आपके ज्ञानसे बाहर नहीं है—आप न केवल
 वर्तमान को, बल्कि भूत और भविष्यको भी जानते हैं । अतः प्रसन्नता पूर्वक मुझे यह बतला-
 दिये कि मे संसारके सारे व्यवहारको जानता हूँ, किन्तु फिर भी अभीतक मेरा मन विरक्त क्यों
 नहीं हो रहा है ? ॥५०॥ राजाके ये वचन सुनकर मुनिराज उसके मनकी चिन्ताको समझ

१. = दर्शनीयो । २. आ भवतः । ३. आ अखिलानां मद्रस्य स अखिलमद्रस्य । ४. श स श्रियः ।
 ५. = कल्याणम् । ६. = विस्तारयति । ७. = हेयोपादेयभेदम् । ८. श स परिवर्द्धयति । ९. = प्राप्यं
 विषयो वा । १०. आ भविष्यति, अथवा भूतं यत् तं वस्तु पदार्थः, तद्वस्तु । ११. श स अत एव तस्मात्
 कारणात् । १२. श स सिद्धि । १३. = कथम् । १४. = नृपाणां पुङ्गवो नृपपुङ्गवः । १५. = तस्मै वृष्टौ ।

सा च प्रणश्यति न तावदसौ न यावत्पुत्रो भवत्यरिकुलोन्मथनैकवीरः ।

पुत्रोदयेऽपि भवतोऽस्ति विबम्बहेनुरन्यो भवान्तरगतं शृणु तं ब्रवीमि ॥५२॥

एषा तवाग्रमहिषी पुटभेदेनऽभूदत्रैव पूर्वमभिनन्दितसर्वबन्धोः ।

देवाङ्गदस्य वणिजस्तनया मुनन्दा धोक्त्रिजा गुणगणाभरणाभिरामा ॥५३॥

सान्यां विलोक्य नवयौवन एव नारीं गर्भेण पीडिततनुं गलिताङ्गशोभाम् ।

जन्मान्तरेऽपि वयसि प्रथमेऽहमीदृक्या भूयमित्यकृत मन्दमतिर्निदानम् ॥५४॥

यमानम् अस्य यावत् । 'यत्तद' इति घतु-प्रत्यय, घस्य वः । तत्र ते । चेतसि विने । मृतवाञ्छा सुनोः पुत्रस्य बाञ्छा अभिलाषः । स्फुरति प्रवर्तते । तावत् पर्यन्तम् । एवं भवान् । विग्नं बर्हिमम् । न यासि न गच्छसि । या प्राप्ते लट् ॥५१॥ सा चेति । यावत् 'यावत्पर्यन्तम्' । अरिकुलोन्मथनैववीरः, अरिगणा शत्रूणां कुलस्य समुद्रस्योन्मथने निगकरणे एकोऽसहायो वीरः, शूरः । असौ पुत्रः तनयः । न भवति न जायते । तावत् तावत्पर्यन्तम् । सा च चिन्ता । न प्रणश्यति न विनश्यति । पुत्रोदये च पुत्रस्य नन्मथन्यादये उत्पत्तौ च । भवतः तत्र । भवान्तरगतं जन्मान्तरगतम् । अन्यः अपरः । निबम्बहेतुः निबन्धस्य विरोधस्य हेतुः । अस्मिन् वर्तते । त हेतुम् । ब्रवीमि निगदामि । शृणु आकर्णय श्रु श्रवणे लोट् ॥५२॥ एषेति । तत्र ते । अग्रमहिषी श्रेष्ठमहिषी । एषा इयम् । पूर्वं प्राक् । अत्रैव अस्मिन्नेव । पुटभेदेन पत्ने । 'पत्न्य पुटभेदनम्' इत्यमरः । श्रीकृष्णिजा भ्रियाः श्रुनामधेयाया कुक्षिजा गर्भजाता । गुणगणाभरणाभिरामा गुणाता गणः समूहः स एषा-भरणमलंकारस्तेनाभिरामा मनोहरा । अभिनन्दितसर्वबन्धो अभिनन्दिता^३ सतापिता सर्वे बन्धवा यस्यास्तस्याः^४ । देवाङ्गदस्य देवाङ्गदनामधेयस्य । वणिजः वैशाख्यः । मुनन्दा मुनन्दीति । तनया पुत्री । अनूत् अभवत् । भू सत्ताया लुङ् । क्वाक् ॥५३॥ सेति । मन्दमति मन्दा मतिर्यस्या सा । सा मुनन्दा । नव-यौवन एव नव नूतने यौवन एव तास्य एव । गर्भेण पुत्रयुतगर्भेण । पीडिततनुं पीडिता यापिता तनुस्याः ताम् । गलिताङ्गशोभा गलिता शिथिलताङ्गस्य शोभा यस्यास्ताम् । अन्याम् एकाम् । नारी वनिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । जन्मान्तरेऽपि उत्तरभवेऽपि । प्रथमे वयसि यौवनकाले । अहम् । ईदृक् इवमित्यदृश्यत इतीदृक्, एतदप्रकारावयवद्वक्ता । सा भूव मा अनिषम्^५ न भविष्यामि, इति निदानं निदानजलम् । अकृत

गये और वे उसमे यो बोले—राजन् ! जब तक तुम्हारे मनमें पुत्रकी अभिलाषा बनी रहेगी, तब तक तुम्हे बेराग्य नहीं हो सकता ॥५१॥ राजन् ! तुम्हारे चित्तको चिन्ता तबतक नहीं मिट सकती जब तक कि शत्रु वर्गके छक्के छुड़ानेवाले अद्वितीय वीर पुत्रका जन्म तुम्हारे यहाँ नहीं होता । तुम्हारे यहाँ पुत्रकी उत्पत्तिमे भी रुकावट डालनेवाला कारण कुछ और ही है, जिसका सम्बन्ध पिछले जन्मसे है । मैं उसे बताता हूँ, तुम सुनो ॥५२॥ तुम्हारा यह पटुगनी (श्रीकान्ता) पिछले जन्ममें इसी नगरमे उत्पन्न हुई थी । इसके पिताका नाम देवागद था । वे जातिके वणिक् थे । उनके सभी बन्धु उनसे प्रसन्न रहने थे । उनकी पत्नीका नाम श्री था । उसीके गर्भसे मुनन्दा नामकी गुणवती सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई थी, जो उस समय आपकी पटुगनी है ॥५३॥ उस मुनन्दाने यौवनके प्रारम्भमें ही एक स्त्रीको देखा, जिसका शरीर गर्भके कारण पीड़ित और शोहीन था । उसे देखकर उस (मुनन्दा) ने यह निदान बोध लिया कि

१. श स यावत् इति नास्ति । २. श स वर्धते । ३. संदिताः । ४. श स यस्य तस्य । = येन तस्य । ५. = गर्भधारणेन । ६. अङ्गलाभाम् । ७. श स मा जनि । = न स्याम् ।

सागारधर्मनिरता प्रतिपद्य कालं सौधर्मकल्पमुपगम्य बभूव देवी ।

च्युत्वा ततः पुनरभूद्दिह पुण्यशेषाद्व्योधनस्य दुहिता भवतश्च पत्नी ॥१५॥

तस्माद्भवान्तरभवाद्गुणभाषिदानात्स्या स्यो नवमगादनपत्यमेव ।

कैश्चिद्भिः प्रशममीयुषि तस्य दोषे निःसंशयं तव भविष्यति पुत्रजन्म ॥१६॥

तस्मिन्मुगाङ्क इव सर्वमनोभिरामे सूनौ निधाय पृथुघामिन धुरं धरिष्याः ।

संपत्स्यस्य त्वमधिगम्य जिनेन्द्रदीक्षां सिद्धालयातिथिरशेषितकर्मबन्धः ॥१७॥

संक्षेपतो गिरिममामभिधाय सम्यगानन्ध भूमिपतिमिष्टनिवेदनेन ।

धामेप्सितं मुनिरग्राह्यपतिश्च राजधानीमणुव्रतविभूषणभूषिताङ्कः ॥१८॥

अकुरुत । दृक्कृ करणे लृट् ॥१५॥ सेति । सा सुनन्दा । आ[सा]गारधर्मनिरता । आगारधर्मं श्रावकाचारे निरता तत्परा । कालं मरणम् । प्रतिपद्य प्राप्य । सौधर्मकल्पं सौधर्मनामस्वर्गम् । उपगम्य एष्य । देवी देवस्त्री । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । ततः सोधर्मकल्पात् । पुनः परानात् । च्युत्वा आगत्य । इह अस्मिन् पुरे । पुण्यशेषान् पुण्यस्य सुकृतस्यावशेषान् । दुर्योधनस्य दुर्योधनराजस्य । दुहिता पुत्री । भूत्वा । भवतश्च तव । पत्न्या भार्या । अभूत् अभवत् ॥१५॥ तस्मादिति । भवान्तरभवान् भवान्तरं जन्मान्तरं भवान् जनितात् । अशुभात् अप्रशस्तान् । तस्मात् निदानान्, प्रागुक्तनिदानशल्यात् । अस्या देव्याः । तवं प्रथमम् । वयं गौतमकालः । अनपत्यमेव न विद्यतेऽपत्यं सतानी यस्मिन् तत्, संनानरहितं नत् आगान् अगच्छन् । इण् गौ लुङि 'गैव्यो' इति पादेषः । तस्य निदानशत्यस्य । दोषे कर्मणि । कैश्चिद् भिः दिवसैः । प्रशमं शान्तिम् । ईयुषि श्राय इति ड्यान् तस्मिन् । 'लिट्. क्वमुकानो' इति क्वमुः, 'क्वस उस्' इति उस् । तव भवतः । पुत्रजन्म पुत्रस्य नन्दनस्य जन्म जननम् । नि संशय सन्देहरहितम् । भविष्यति । भू सत्तायां लृट् ॥१६॥ तस्मिन्निति । मुगाङ्क इव चन्द्र इव । सर्वमनोभिरामे सर्वेषां जनानां मनसश्चित्तस्याभिरामे धिराजमाने पृथुघामिन पृथु महद् घाम तेजो यस्य तस्मिन्, महातेजस्विमोत्थयः । तस्मिन् सूनौ तरपुत्रे । धारिष्या भूमे । धुरं भारम् । निधाय गम्याप्य । एवं भवान् । जिनेन्द्रदीक्षां जिनेन्द्रस्य दीक्षाम्, दिगम्बर-रत्नमित्यर्थः । अधिगम्य गृहीत्वा । अशेषितकर्मबन्धः अशेषितो निर्मूलितः कर्मणा कण्ठो येन सः । सिद्धालया-तिथिः सिद्धानां मुक्तानामालयो मोक्षस्तस्यातिथिरुत्सवहेतुः । संपत्स्यते संप्रविष्यति । यदि गतो लृट् ॥१७॥ संक्षेपत इति । मुनिं मुनिपतिं । संक्षेपतः संवृततः । इमाम् एनाम् । गिरं वाणोम् । सम्यक् समीचीनम् । अभिधाय उक्त्वा । इष्टनिवेदनं दृष्टम्य समीहितस्य निवेदनेन निरूपणेन । भूमिपतिं धीपेणमहाराजम् ।

जन्मान्तरमे भी मे युवावस्थामे इस जैवी न होऊं । नादान जो ठहरी ॥१५॥ निदान बाँध लेने-के बाद उसने जीवन भर गृहस्थ धर्मका पालन किया और अन्तमें जीवन लीला समाप्त होनेपर वह सौद्धर्म स्वर्गमें देवी हुई । वहाँसे च्युत होकर शेष पुण्यके फलसे दुर्योधनकी पुत्री और आपकी पत्नी हुई ॥१५॥ पिछले जन्मके उसी अशुभ निदानके निमित्तसे इसका नवयौवन बिना सन्तानके ही बीत गया है । अब थोड़े ही दिनोंमें उस निदान-दोषके शान्त होते ही तुम्हारे यहाँ पुत्रका जन्म होगा । इसमें कोई संशय नहीं ॥१६॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सबके चित्त-को आह्लाद देनेवाला और (सूर्यके समान) बहुत तेजस्वी होगा । उसीको अपना राज्य भार सौंपकर-तुम दिगम्बर-दीक्षा ले लोगे । इसके बाद अष्ट कर्मों को नष्ट कर तुम सिद्धालयके अतिथि-मुक्त हो जाओगे ॥१७॥ संक्षेपमें इनका कहकर और पुत्रोत्पत्तिकी सूचना देकर मुनिराजके दर्शनों और उनके वचनोंसे राजा बहुत प्रभावित हुआ । फलतः उसने अपने मनमें पाँच अणु-

१. आ आ इ म निबन्धनेन । २. आ विवितात् । ३. आ एयिवात् । ४. = रज्जके । ५. = समासतः ।

६. आ एयाम् । ७. टीकाकारवृत्तः पाठः, प्रविष्टु 'इष्टनिबन्धनेन' इत्येव पाठः समुपलभ्यते ।

पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्धमिष्टमित्याकलय्य निबन्धनं मतिं स धर्मे ।
 तत्रोत्सुकं भवति भाग्यवतां हि चेत्ते यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम् ॥५६॥
 दानेन संयमिजनस्य जिनाचनेन तस्य प्रभोरचिरतं नयतो दिनानि ।
 प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं नान्दीश्वरं परमपर्वं समाससाद ॥५७॥
 तस्मिन्विधाय महतीमुपवासपूर्वां पूजां जगद्विजयिनो जिनपुंगवस्य ।
 स्नानं समीहितनिमित्तमतः स्तदीयबिम्बस्य स प्रविद्धे सहितोऽप्रदेव्या ॥५८॥

आनन्द संतोष्य । ईदृशतम् अभीष्टम् । धाम स्थानम् । अगात् अगमत् । अणुव्रतविभूषणभूषिताङ्गः अणूनि च
 तानि व्रतानि च लघोव्रतानि, आचक्रव्रतानोत्पद्यः, ताभ्येव विभूषणानि तैर्भूषितम् अङ्गं यस्य सः । रूपकम् ।
 नृपतिश्च श्रोत्रेणभूषयत् । राजधानीं निजपुरम् । अगात् । दीपकम् ॥५८॥ पुंसामिति । पुसा पुंसवाणाम् ।
 इष्टम् अभीष्टम् । पुरोपचितपुण्यनिबद्धं पुरोपचितेन प्राक्संपादितेन पुण्येन निबद्धं कृतम् । इति एवं प्रकारेण ।
 आकलय्य विचार्य । सः भूपतिः । धर्मे 'सर्वज्ञप्रणीतधर्मे' । मतिं बुद्धिम् । निबन्धनं चकार । बन्ध बन्धने
 लिट् । तथाहि—यत् अनागताना भविष्यता संपदाम् नियत निश्चयम् । अङ्गं कारणम् । तत्र धर्मे । भाग्य-
 वतां पुण्यवताम् । चेत् । चित्तम् । उत्सुकं संभ्रमयुक्तम् भवति हि । अर्थांतरन्यासः ॥५९॥ दानेनेति ।
 संयमिजनस्य संयम्येव जनस्तस्य । रूपकम् (?) दानेन आहारादिदानेन जिनाचनेन जिनेभ्यः पूजनेन । अविरतम्
 अनवरतम् । दिनानि वासरान् । नयतः यापयतः । तस्य प्रभोः श्रोत्रेण भूपते । प्रक्षोभिताखिलसुरामुरानाग-
 लोकं सुराश्चामुराश्च नागाश्च तेषां लोकस्तद्योक्तः, प्रक्षोभित सञ्चितोऽखिलः सुरासुरनागलोको येन तत् ।
 नान्दीश्वरं नन्दीश्वरस्येदं नान्दीश्वरम् । परमपर्वं परमम् उत्कृष्टं पर्वं तिथिः । समाससाद सम्यगाजगाम ।
 वदन् विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । सहामितः (?) ॥६०॥ तस्मिन्निति । अप्रदेव्या श्रीकान्तया । सहितः
 संयुक्तः । स श्रोत्रेण । तस्मिन् नन्दीश्वरपर्वणि । जगद्विजयिनः जगद्विजयश्रीकल्याणं जिनपुङ्गवस्य जिनश्चासौ
 पुङ्गवश्च (?) जिनानामप्रमत्तादिजीनकवायावसानकदेश जिनानां पुङ्गवस्तद्योक्तः, तस्य जिनैन्द्रस्य । उपवास-
 पूर्वां उपवासः पूर्वं मुख्यं यस्यां ताम् । महतीं पृथुलाम् पूजाम् अर्चनाम् । विधाय कृत्वा । अतः
 पश्चात् । तदीयबिम्बस्य तदीयस्य जिनपुङ्गवसंबन्धस्य बिम्बस्य । समीहितनिमित्तं समीहितस्याभ्योदक-

व्रतोंके परिपालन करनेका संकल्प किया, और वह सोचने लगा कि वास्तविक आभूषण गुण
 ही हैं । यह सोचते हुए वह भी अपनी राजधानीमें चला गया ॥५८॥ मानवका मनोरथ पूर्वा-
 पाजित पुण्यसे ही पूरा होता है, यह सोचकर राजाने अपनी बुद्धिको धर्ममें लगा दिया । सच
 है भाग्यवानोंका मन उस कार्यमें उत्सुक होता है, जो भविष्यमें होनेवाली कल्याण-सम्पत्तिका
 निश्चित कारण हो ॥५९॥ राजाके दिन जिनेन्द्रदेवकी पूजा और साधु-सन्तोंको दान देनेमें
 बोलते लगे । वह इन धार्मिक कार्योंको अविराम गतिसे कर रहा था । इतनेमें सर्वोत्कृष्ट आष्टा-
 ल्लिक पर्व आ गया । फिर क्या था ऊर्ध्वं मध्य और अधोलोकमें उत्सवकी तैयारी होने लगी
 और क्या सुर, क्या असुर क्या धरणेन्द्र सभीके मनमें आनन्दका सागर लहराने लगा ॥६०॥
 उस पर्वके अवसरपर राजाने अपनी पट्टरानीके साथ आठ उपवास किये और आठ दिन
 जगद्विजयी जिनेन्द्रदेवकी बड़ी भारी (महामह) पूजा की और इसके पश्चात् उसने इष्टसिद्धिके

१. अ क ख ग घ म 'भूक्तम्' । २. अ 'वासपूर्वं' । ३. अ क ख ग घ म 'मवस्त' । ४. क स
 धर्मज्ञे । ५. आ प्रती 'संपदाम्' इति नोपलभ्यते । ६. आ 'पुण्यवताम्' इति नास्ति । ७. = उत्सृष्टम् ।
 ८. = संयमिनां संयमवतां जनो वर्गः संघो वा तस्य । ९. आ वासरः । १०. = आष्टाल्लिकमहोत्सवः ।
 ११. क स यस्याः । १२. = विपुलाम् ।

प्रह्लादनं विदधती शशिनः क्लेशं संपाद्यन्त्यभिमतं कुलदेवतेषु ।
 गर्भं कियद्भिरथ सा दिवसैर्बभार मुक्ताफलं परममधुचिशुक्लिकेच ॥६२॥
 किञ्चिद्वपुः शिथिलतामगमत्सदानीमापाण्डुरं वदननोररुहं बभूव ।
 गर्भस्य बालगुणभूरिमरादिवागान्मन्दापि मन्दतरतां गतिरायताभ्याः ॥६३॥
 नीलाननं प्रसृतपाण्डिम धारयन्ती वक्षोरुहद्वयमधःकृतचन्द्रकान्ति ।
 गन्धान्धवट्चरणचुम्बितपद्मयुगाममभोजिनीमनुचकार चकोरचक्षुः ॥६४॥
 सर्पकुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन हारो हृतपातिरिषास्य मुखे चकार ।
 संघर्षेणेन मलयोजनिकां कुतोऽपि निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गुणेषु ॥६५॥

प्राप्तैर्निमित्तं कारणम् । स्नानम् अभिषेकम् । प्रविदधे प्रचक्रे । कुचां चरणे च लिट् ॥६१॥ प्रह्लादनमिति ।
 शशिनः चन्द्रस्य । क्लेशं योऽवसागं इव । प्रह्लादनं संतोषम् । विदधती^१ । कुलदेवतेषु अन्वयागतदेवतेषु ।
 अभिमतम् अमोष्टम् । संपादयती संविन्दती । सा श्रीकान्ता । अथ नन्दोत्तरानन्तरम्^२ । कियद्भिर-
 कतिभिः^३ । दिवसै र्दिने । अमृद्विशुक्तिका अमृद्वी समुद्रे विद्यमाना शुक्तिका । परमम् उत्कृष्टम् ।
 मुक्ताफलं मुक्तामणिमिव । गर्भं शिशुम् । बभार दधौ । भूम् चरणे लिट् । उपप्रेषा (उपमा) ॥६२॥
 किञ्चिदिति । तदानीं गर्भसमये । आयताभ्याः आयते दीर्घे अक्षिणो नेत्रे यस्याः तस्याः श्रीकान्तायाः । वपुः
 गात्रम् । किञ्चित् ईषत् । शिथिलता कृशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्ल गती लुङ् । 'सतिशास्ति-'
 इत्यादिना अङ् । वदननोररुहं वदनं मुखमेव नोररुहं कमलम् । आपाण्डुरं किञ्चिच्छब्देतम् । बभूव भवति स्म ।
 भू सत्ताया लिट् । गर्भः पद्मबालगुणभूरिमरादिव गर्भस्यैव गर्भं स्वित्तस्य बालस्य शिशोर्गुणानां भूदे-
 र्बहुलाङ्गरादिव भारादिव । मन्दा [वि] अलया [वि] गतिर्गमनम् । मन्दतरताम् । अत्यस्तमन्दत्वम् ।
 अगत् अयासीत् । उपमा (उपप्रेषा) ॥६३॥ नीलेति । नीलाननं नीलं कुण्डलम् आननं कुचां^४ यस्य तत् ।
 प्रसृतपाण्डिम विस्तृतपाण्डिम, गुञ्जत्वयुक्तम् । अधःकृतचन्द्रकान्तीव [न्ति] अव कृता तिरस्कृता चन्द्रस्य
 कान्तिः शोभा यस्य (येन) तदिदं (तत्) । वक्षोरुहद्वयं वक्षोरुहयोर्द्वयं युगलम् । धारयन्ती दधती ।
 चकोरचक्षुः चकोर इव चक्षुषो यस्याः सा श्रीकान्ता । गन्धान्धवट्चरणचुम्बितपद्मयुगाम् गन्धेन परिमलेनाम्बे-
 रासवतैः पट्चरणैश्चञ्चरोर्कैश्चुम्बितं पद्मयोः कमलयोर्युगं युगलं यस्यास्ताम् । अभोजिनी नलिनीम् ।
 अनुचकार स्वीकृता । हुकुम् चरणे लिट् । उपमा ॥६४॥ सर्पदिखादि । सर्पकुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन कुचयोर्द्वयं

निमित्तसे उसने जिनबिम्ब-जिनमूर्तिका अभिषेक किया ॥६१॥ पर्वके पश्चात् रानी चन्द्रमाकी
 कलाकी भाँति सबको आह्लाद देने लगी और कुल देवताकी तरह सबके मनोरथको पूरा करने
 लगी । फिर कुछ दिनोंके बाद उसने गर्भ धारण किया । जैसे समुद्रकी सोप उत्तम मोतीको
 धारण करती है ॥६२॥ गर्भके समय उस रानीका शरीर कुछ शिथिल हो गया और उसका
 मुखकमल भी सफेद हो चला । यों उसकी चाल पहलेसे ही धीमी थी किन्तु इन दिनोंमें और
 भी धीमी हो गयी । मानो गर्भस्य बालकके गुणोंका भारी बोझ हो गया हो ॥६३॥ उस
 चकोराक्षी रानीके स्तनोंका अगला भाग बिलकुल काला और शेष सभी भाग सभी ओरसे
 सफेद हो गया । ऐसी स्थितिमें उसने चन्द्रमाकी शोभाको मात कर दिया । इन दिनोंमें उसने
 उस कमलिनीका अनुसरण किया, जिसमें दो सफेद कमल खिले हों और दोनोंके बीचों-बीच
 उनकी सुगन्धिमें आसक्त होकर भोरोंका मण्डल बैठा हुआ हो ॥६४॥ रानीके दोनों स्तनोंकी

१. क ल ग घ म हतद्युति । २. अ क ल ग घ कुतोऽपि । ३. = कुर्वन्ती । ४. = तन्वीस्वरपर्व-
 समाप्त्यनन्तरम् । ५. = कतिपयैः । ६. = चूषकाप्रम् । ७. = अनुसार ।

जृम्भाभरततस्निहिता सखीव नान्तं मुमोच धरमित्रमिवास्तत्त्वम् ।
 लज्जाभरः सममगादुदरेण वृद्धिमभ्युद्यमः सह ननाश बलिप्रयेण ॥ ६६ ॥
 नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावकान्त्या मया सहजया सह पुण्डरीकैः ।
 स्पष्टं ध्रुवावहं मिमीच विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलतामगमकृशाङ्गयाः ॥ ६७ ॥
 गर्भस्थितस्य जननान्तरबीजबन्धं बालस्य तस्य वचनेन विना यद्वन्ति ।
 तस्याः शिरीषसुकुमारतनोर्बभूवुरेकान्ततोऽपि जिनपूजमदीर्हदानि ॥ ६८ ॥

कुचद्वयं तस्य विपाङ्गुरता एव गुणः सर्पश्चासौ कुचद्वयस्य विपाङ्गुरतागुणश्च तेन । हनद्युतिरिव हृत्पापहता
 द्युतिर्यस्य स इव । हारः मुक्ताहारः । सवर्णणेन समर्हनेन । अभ्य कुचद्वयस्य । मत्वे अप्रे । मलयोजनकां
 मलस्य योजनिकाम् । चकार करोति स्म । हुकुञ्च करणे लिट् । गुणिता गुणसहितानाम् । गुणेषु । कुताऽपि
 कस्मादपि [हेतोः] निर्मलसरः मत्सररहितः । बिरलः अल्पो हि । अर्धान्नग्न्याम् ॥ ६६ ॥ जृम्भेति । जृम्भा
 जृम्भणम् । सखीव वयस्येव । सततस्निहिता सततं स्निहिता समीपस्था । अभवत् अभूत् । भू मत्तायां लङ् ।
 अलसत्वम् आलस्यम् । परममित्रमिव मित्रश्रेष्ठ इव । अन्तं समीपम् । न मुमोच न त्यजति स्म । मूच्छ्र्
 मोक्षणे लिट् । लज्जाभरः लज्जायास्त्वपया भरौ भारोऽतिशयो वा । अधरेण रदनच्छदेन । मर्म साकम् ।
 वृद्धिं समृद्धिम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुट् । अभ्युद्यमः उद्योगः । बलिप्रयेण सह त्रिबलितौ साकम् ।
 ननाश नश्यति स्म । नश अदमने लिट् । उपमालङ्कारः ॥ ६६ ॥ नीलेति । मया निजया स्वकीयया ।
 सहजया सहजातया । कान्त्या किरणेन । नीलोत्पलानि कुमुदानि । तावत् प्रथमम् । विजितानि निराकृतानि ।
 अधुना इदानीं तु । अहं पुण्डरीकैः सह मिताम्भोजैः साकम् । स्पष्टं संवर्षणं करोमि । स्पष्टं संवर्षे लट् । इति
 एवम् । विचिन्त्येव ध्यास्वैव (विचिन्त्येव ध्यास्वैव) । कृशाङ्गयाः तन्वङ्गयाः । तस्याः श्रोकान्तायाः ।
 नेत्रद्वयं नयनयुगलम् । धवलता शुभ्रत्वम् । अगमत् अगात् । गच्छ् गतौ लृट् । उप्रेक्षा ॥ ६७ ॥ गर्भेति ।
 शिरीषसुकुमारतनोः शिरीषमिव सुकुमारा तनुर्गात्रं यस्या सा तस्याः । तस्याः श्रोकान्तायाः । गर्भस्थितस्य
 गर्भे कुञ्जी स्थितस्य । तस्य बालस्य । जननान्तरबीजबन्धं जननान्तरमेव बीज कारणं यस्मै स चासौ

सफेदी चारो फेल रही थी और उनके ऊपर पड़े हुए हारको कान्ति लुप्त हो गयी । अतएव
 ऐसा जान पड़ता था मानो उसे स्तनोंकी सफेदीने हर लिया हो । और इसीलिए लगता है कि
 उस (हार) ने उनके मुखपर खूब मलकर कज्जल पोत दिया है (स्तनोंका अग्रभाग बिलकुल
 काथा पड़ गया था, इसीलिए यह कल्पना की गयी है) । सच तो यह है कि गुणियोंके समु-
 दायमें भी ऐसे बिरले हो होते हैं, जो किसीसे भी डाह न करते हो ॥ ६५ ॥ जमुहाई सखीकी
 तरह निरन्तर उसको निकटवर्तिनी हो गयी—सदा जमुहाईयाँ आने लगी । अच्छे मित्रके
 समान आलस उसके पाससे नहीं हटता था । पेटके साथ लज्जा बढ गयी और उदरकी तीन
 बलियोंके साथ स्फूर्ति लुप्त हो गयी ॥ ६६ ॥ 'हमने अपनी स्वाभाविक कान्तिमे नीलकमलोंको
 पहले ही जीत लिया है, अब केवल सफेद कमलोसे हो हमें डाह है' मानो यही सोचकर उस
 कृशागी रानोके दोनो नेत्र सफेद हो गये ॥ ६७ ॥ रानी पहलेसे ही सुकुमारशरीरा थी, पर
 इस अवस्थामे उसका शरीर शिरीष पुष्पके समान और भी अधिक सुकुमार हो गया, और

१. क ल ष प्र म 'नग्न्यह' । २. श प्र नावेव 'गुणेषु' इति सम्पुलभ्यते । ३. आ प्र तो केवलम्
 'अर्धान्नग्न्यास' इति । ४ 'अधरेण' इति टीकाकारसंमतः पाठ, सर्वास्वपि प्रतिपु 'उदरेण' पदं सम्पुलभ्यते ।
 ५. = निबन्धः । ६. = सहोक्तिश्च । ७. = दीप्त्या । ८. आ प्र तो केवलं 'तस्याः' इति सम्पुलभ्यते ।
 ९. श स 'सबन्धम्' ।

प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ शुभायामुच्चस्थितेषु सकलेषु शुभग्रहेषु ।
सा भावितीर्थंकरमुज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसिताम्यतमसं सुषुबे कुमारम् ॥ ६६ ॥

शुभ्रं नभोऽभवद्भीषुमतीव तस्मिन्मभ्युद्गते परमधामनिधानभूते ।
लक्ष्मीः सरःकमलिनी सहस्राभ्यनन्ददाशाङ्गना मलिनिमापगमाद्विरेजुः ॥ ७० ॥

निःशेषमभ्युधरधीरगभीरनादैस्त्यैर्बभूव मुखरं नरनाथवेश्म ।

पौरौ जनस्त्वरितमेव निजे निजेऽसौ गेहे महोत्सवमकारयत प्रहृष्टः ॥ ७१ ॥

बन्धवचैः संबन्धवचं तम् (जननान्तरस्य बीजबन्धं संस्कारविशेषम्) । वचनेन विना वचसा विना । वदन्ति
बुद्धिः । जिनपूजनदोहूदानि जिनस्य जिनेश्वरस्य पूजने पूजायां दोहूदानि^१ दोहूलानि । एकान्ततः निश्चया-
दपि । बभूवुः भवन्ति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥ ६८ ॥ प्राप्त इति । सा श्लोकान्ता । अयं अनन्तरम् । प्रसूतिसमये
प्रसवकाले । प्राप्ते आयाते । शुभायां प्रशस्तायां । तिथौ^२ । सकलेषु सर्वेषु । शुभग्रहेषु प्रशस्तग्रहेषु । उच्चै
उन्नतं स्थितेषु—उच्चग्रहेषु । भावितीर्थंकरं भाविनं भविष्यन्तं तीर्थंकरं तीर्थेश्वरम् । उज्ज्वलदेहदीप्ति-
प्रध्वंसिताम्यतमसम् उज्ज्वलस्य दं पश्य देहस्य दीप्त्या कान्त्या प्रध्वंसितं विनाशितमम्यतमसं यस्य [येन]
तं कुमारं बालकम् । सुषुबे प्रभूने स्म । पूष्ट् प्राणिप्रसवे लिट् ॥ ६९ ॥ शुभ्रमिति । अभीषुमतीव अभीषुरस्या-
स्तोत्र्यभीषुमान्^३ तस्मिन् सूर्ये इव । परमधामनिधानभूते परमस्थोत्कृष्टस्य धामनरोत्तमस्य निधानभूते निधिभूते ।
तस्मिन् कुमारे । अभ्युदिते उदिते सति । नभः आकाशम् । शुभ्रं निर्मलम् । अभवत् अभूत् । लक्ष्मीः शोभा-
रूपा । सरःकमलिनी^४ सरसि सरोवरे स्थिता कमलिनी नलिनौ । सहसा शीघ्रम् । अभ्यनन्दत् अविकसत् । दुनदु
समुद्धौ लङ् । आशाङ्गना । दिगङ्गना । मलिनिमापगमान् मलिनिम्भो मलौमसत्त्वस्यापगमात् विगमात् । रेजुः
बभुः । राज्ञृञ् दीप्तौ लिट् ॥ ७० ॥ निःशेषमिति । अभ्युधरधीरगभीरनादैः अभ्युधरस्य मेघस्य ध्वनिरिव धीरः
पटुर्गभीरो गम्भीरो नादो ध्वनि येषां तैः । तूर्यैः बाधैः । निःशेष समस्तम् । नरनाथवेश्म नराणां नाथो
नरनाथो राजा तस्य वेश्म गृहम् । मुखरं वाचालम् । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । प्रहृष्टः संतुष्टः ।
असौ पौरजनः पुरे भवः पौरः स एव जनः तथोक्तः । रूपकम् (?) । स्त्वरितमेव शीघ्रमेव । निजे निजे
स्वकीये स्वकीये । 'वीप्तायाम्' इति द्विः । गेहे मन्दरे । महोत्सव महासभ्रम् । अकारयत वरकरयत् । डुकुञ्ज

उसके कोमल मनमें केवल जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेकी आकाक्षा (दोहला) रहने लगी, जो
गर्भस्थ बालकके जन्मान्तरके शुभ संस्कारोके सम्बन्धको वचनोके विना भी कह रही थी ॥ ६८ ॥
इसके पदवात् प्रभूति-प्रसवका समय आनेपर रानी श्रीकान्ताने पुत्रको जन्म दिया । जन्मके
समयकी तिथि शुभ थी और सभी शुभग्रह उच्च स्थानपर थे । पुत्र भावी तीर्थंङ्कर था — आगे
अष्टम तीर्थंङ्कर चन्द्रप्रभ होगा, और वह बड़ा तेजस्वी था, उसके देहकी उज्ज्वल दीप्तिसे प्रसूति-
गृहका अन्धकार नष्ट हो गया था ॥ ६९ ॥ उसके जन्म लेनेपर आकाश निर्मल हो गया,
शोभास्वरूपा सरोवरकी कमलिनी सहसा खिल उठी और धुँधलापन मिट जानेसे दिशारूपी
स्त्रियोंकी शोभा निराली हो गई । वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था । सूर्योदय होनेपर
जिस तरह प्रकृतिकी अपूर्व सुपमा हो जाती है, उसी तरह उस बालकके जन्म लेनेपर हुई
॥ ७० ॥ मेघोंके समान बाजोंकी गम्भीर ध्वनिसे सारा राजमहल गूँज उठा । इस अवसरपर
पुरवासियोंकी बड़ा हर्ष हुआ । फलतः उन्होंने भी अपने-अपने घरोंमें महान् उत्सव मनाया

१. आ प्रतावेन 'बन्धवच' इति पदं वर्तते । २. = अभिलाषविशेषः । ३. = दिवसे ।
४. = स्थाने । ५. = अर्धाध्वः सन्ति यस्य सोऽभीषुमान् । ६. = प्राप्ते । ७. अ^०लिनौ ।

स्वस्माद्वर्द्धिर्भवनतः प्रकटं निरेत्ये नृत्याग्न्यतन्वत गणो गणिकाजनानाम् ।

लब्धोऽपुना वसुमति प्रभुरद्वितीयो नन्द त्वमित्यजनि जन्मवतां प्रघोषः ॥ ७२ ॥

तुष्टया ददत्स्वसुतजन्म निवेद्यद्गुणो देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः ।

नाजोगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिर्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम् ॥ ७३ ॥

गायत्रिप्रनृत्यदम्भितो रभसेन घलादुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम् ।

तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्तर्जज्ञे विकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि ॥ ७४ ॥

करणे णिञ्स्तात् रुड् ॥ ७१ ॥ स्वस्मादिति । गणिकाजनना गणिका एव जनैस्तेषाम् । रूपकम् (?) । गणाः समूहाः [गण. समूहः] स्वस्मात् स्वकीयात् । भवनतः गृहात् । बहि बाह्ये । निरेत्ये निर्गत्य । नृत्यानि नर्तनानि । प्रकटं प्रसिद्धं यथा भवति तथा (सर्वजनसमक्षम्) अतन्वत अकुरुत । तन्त्रं विस्तारे लङ् । अधुना इदानीम् । अद्वितीयः उपमातोतः । वसुमती प्रभुः वसुमत्या. भूमे । [वसुमति वसुधरे] प्रभुः पतिः । लब्ध. प्राप्तः । एवं नन्द एषस्व । इति जन्मवतां जन्मास्त्येयमिति मनुः 'अस्त्यस्मिन्वेति मनुः' 'मान्तोपास्त—' इत्यादिना मत्व वः । प्रघोषः शब्दः । अजनि अजायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लुङ् ॥ ७२ ॥ तुष्टयेति । स्वसुतजन्म स्वस्य आत्मनः पुत्रस्य जन्म उत्पत्तिम् । निवेद्यद्गुणं विज्ञापयद्गुणः । तुष्टया संतोषेण । आदत् [दत्] दानं कुर्वन् । प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति । प्रमदेन संतोषेण विह्वला 'विकलवो विह्वलः स्यात्' विवशोऽरिष्टं दुष्टयो. ' इत्यमरः । 'विभ्रमो' चित्तस्य मनसो वृत्तिः बलं न यस्य सः । क्षितीशः भूपालः । इदम् एतत् । देयं दातुं योग्यम् । अथवा न देयं दातुं योग्यं न भवतीति । नाजोगणत् नागणयत् । विक्षिप्तवृत्तिः विक्षिप्तेन संतोषेण युक्ता (विक्षिप्तास्थिरा) वृत्तिर्यस्य । मनः चित्तम् । विचारदक्षं परीक्षादक्षम् । न हि न भवति हि । अयन्तिरग्याम. ॥ ७३ ॥ गावदिति । तत्र पुत्रोदये अभितः सर्वतः । रभसेन संतोषेण । गायत् गीतं कुर्वन् । पुनस्त्यत् नटत् । वसुन् लङ्घन् (गच्छन्) समस्त सर्वम् । पुरं नगरम् । उन्मत्ततां भ्रान्तताम् । जगामेव इयायेव । गम्ले गतो लिट् । अभवन् अभून् । द्विषोऽपि शत्रोरपि । यस्य कस्य । अन्तः अर्वाक् (?) हृदयं चित्तम् । सहसा शीघ्रम् । विकासि सत्तुष्टम् । न जज्ञे न जायते । सः पुरुषः । कः न कोऽपीत्यर्थः । यस्यान्तरङ्गं संतुष्टं न । स कश्चित् पुमान् नास्ति । शत्रूणां मानसमपि सत्तुष्टं जात-

॥ ७१ ॥ गणिकावर्गं अपने घरसे बाहर निकला और उसने खुले मैदानमें नृत्य किया । सभी मनुष्योंके मुखसे एक ही बात निकल रही थी—'पृथ्वि !' तुमने अद्वितीय पति पा लिया है, अतः अब तुम खूब समृद्ध हो । ७२ ॥ राजाने पुत्र-जन्मकी सूचना देने वालोंको आनन्द विभोर होकर दान देते समय यह बिलकुल नहीं सोचा कि क्या दान देने योग्य है और क्या अयोग्य । उसका मन उस समय केवल देनेमें ही सन्तुष्टिका अनुभवकर रहा था, और सब तो यह है कि विक्षिप्त मनमें विचारकी चतुरता नहीं रहती ॥ ७३ ॥ उस समय सारा नगर सभी ओरसे गाता नाचता और बड़े वेगसे दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था । अतः ऐसा जान पड़ता था मानो खुशिके मारे पागल हो गया हो । वहाँ ऐसा एक भी मनुष्य नहीं था जिसका हृदय भीतरसे प्रसन्न न

१. म निरित्य । २. स स जनः । ३. आ निरेत्य । ४. आ प्रतावेव 'भवति तथा' इति दृश्यते । ५. = असाधारणः । ६. आ 'सुमति' । ७. = त्वयेति शेषः । ८. = जन्मास्ति येषां तेषाम् । ९. आ उत्पत्तिः । १०. = विकलता । ११. = 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः । १२. स स बल्लत् । १३. आ भ्रातृताम् । १४. स स गमः ।

सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सहितेन वंशवृद्धैः ।

श्रीधर्मैर्यवनभुजाथ तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय ॥ ७५ ॥

विदधद्विलांस्तेजस्तीवाप्परा ननताम्रतानघनिममितामोजोभिः स्वैर्वंशं विवशं नयन् ।

निधिशतमहालाभैर्भूभृच्छतप्रहितैर्धनैरुद्यनिलये जाते तस्मिन्ननन्द स नन्दने ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

मित्युक्तेषु नान्येषां जातं किमित्याश्चर्यम् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ सर्वज्ञमसि । वंशवृद्धैः कुलश्रेष्ठैः । सहितेन^१ संयु-
तेन । अवनिभुजा भूपालेन । कल्याणं मङ्गलरूपे । अहनि दिने । कनकमयै कनकनिर्मितैः । पुष्पैः कुसुमैः ।
सर्वज्ञं सर्ववेदिनम् । समर्च्य पूजयित्वा । अथ पूजानन्तरम् । तस्य बालस्य । श्रीशब्दानुगतं श्रीरतिशब्देन
अनु संयुक्तं श्रीधर्मैति श्रीधर्मकुमार इति । नाम नामधेयम् । मङ्गलाय मङ्गलार्थम् । अकारि^२ अकरोत् ।
दुकृत्य करणे लुङ् ॥७५॥ विदधदिति । उद्यनिलये उद्यस्य ऐश्वर्यस्य निलये स्थाने । तस्मिन् नन्दने कुमारैः ।
जाते सति । स्वैः स्वकीयैः । ओजोभिः तेजोभिः । तेजस्तोत्रान् तेजसा प्रतापेन तोत्रान् तोदयान् । अनतान्
अप्रणतान् । अलिलान् सर्वान् । परान् शत्रून् । नतान् प्रणतान् । विदधत् कुर्वन् । विवशा^३ वशगताम् ।
अमिश्राम् अमर्यादाम् । अर्चनं भूमिम् । वशम् अधीनम् । नयन्^४ । सः नृपः । निधिशतमहालाभैः निधीना
निधानानां शतस्य अनेकस्य महद्भिः लाभैः । भूभृच्छतप्रहितैः भूभृतां भूपतीनां शतेन अनेकेन प्रहितैः प्रेषितैः ।
धनैः^५ । ननन्द तुतोष । टुनटु समृद्धौ लिट् ॥७६॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने

च विदग्धमनोवत्सलाख्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

हुआ हो और तो क्या शत्रुवर्गको भी हादिक प्रसन्नता हुई ॥ ७४ ॥ इसके पश्चात् उस राजाने
अपने वंशके विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ शुभ दिनमें स्वर्ण पुष्पोंसे सर्वज्ञ भगवान्-
को पूजाकी, और पूजाके बाद अपने पुत्रका माङ्गलिक 'श्री'से युक्त 'श्रीधर्म' नाम
रखा ॥ ७५ ॥ बालक बड़ा भाग्यशाली था । उसके जन्मतो ही श्रीधेयने अपने बलसे, बड़े-बड़े
तेजस्वी उद्धत राजाओंको नम्र कर दिया, अपरिमित भूमिको—जिसपर शत्रुओंने अधिकार जमा
लिया था—अपने वशमें कर लिया और सैकड़ों राजाओंने उपहारमें धन भेजा, जिससे उसे
सैकड़ों निधियोंका लाभ हुआ । इस तरह सभी ओरसे उसकी समृद्धि बढ़ने लगी । फलतः वह
बहुत आनन्दित हुआ ॥ ७६ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित

महाकाव्यमे तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१. आ प्रतापेव 'उत्प्रेक्षा' इति समुपलभ्यते । = वस्तुतस्तु पद्यमिदमित्थं व्याख्येयम्—गायत् गानं
कुर्वत् । प्रनृत्यत् नृत्यं कुर्वत् । रभसेन वेगेन । वत्पत् गच्छत् । समस्तं पुरं निखिलं नगरम् । उन्मत्ततामिव
प्रमत्ततामिव । जगाम ययौ । सत्र तस्मिन् पुरे । खलु निश्चयेन । सः सकः । कोऽपि कश्चिदपि । न अभवत्
न बभूव । यस्य हृदयं मनः । अन्तः अन्तस्तः । विकासि प्रसन्नम् । न जज्ञे नाजायत । द्विषोऽपि
शत्रोरपि । हृदयं मनः । अन्तः अन्तस्तः । विकासि प्रसन्नम् । जज्ञे समजनि ॥७४॥ २. क ल ग घ स सह
तेन । ३. सा पूजिता । ४. = व्यवधि । ५. आ आनतान् प्रणतान् । ६. आ 'सर्वान्' इति पदं नास्ति ।
७. = परकरयतामित्यर्थः । ८. आ अनीनम् । ९. आ अधीनम् । १०. = कुर्वन् । ११. = वितैः ।

चतुर्थः सर्गः ।

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः ।
 वृद्धिं स पद्याकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः ॥ १ ॥
 ब्रजन्सहैषोन्नतिमुज्ज्वलाभिः कलाभिरानन्दितसर्वलोकः ।
 स कान्तिमांश्चन्द्रमसा तदानीं जनैरुपामीयत राजपुत्रः ॥ २ ॥
 गुरुगुणसम्यगुपास्य तेभ्यो विद्योपविद्या विधिना चिवित्वा ।
 तद्वद्विनोऽस्ती गणितैरहोभिरथो व्यधाद्दीधितिमानिवेद्धः ॥ ३ ॥

धेनीनिभिः सकलमङ्गलहेतुभूतं लोकोत्तमं शरणमप्रतिमं जिनेशम् ।

श्रेयः सदान्तमहोत्सवदानदर्शनं श्रेयोऽभिधानजिनप प्रणमामि नित्यम् ॥

अथेति । अथ कुमारोदयानन्तरम् । प्रजानां जनानाम् । नयनाभिरामः नयनानां नेत्राणामभिरामो मनोहरः । लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः लक्ष्मीः सम्पत्तिरैव लता वल्गरो तयालिङ्गितः ललितः सुन्दरं मनोहरमङ्गं गार्थं यस्य सः । रूपकम् । सः श्रीवर्धकुमारः । पद्याकरवत् सरोवरवत् । दिनानुसारेण दिनस्यानुसारेणानुक्रमेण । शनैः मन्दम् । वृद्धिं वर्धनम् । प्रपेदे प्रपद्ये । यदि गतो लिट् ॥ १ ॥ ब्रजं किति । उज्ज्वलाभिः प्रदीप्ताभिः । कलाभिः चतुःपष्टिकलाभिः षोडशभागीष्व । सहैव सावमेव । उन्नतिं वृद्धिम् । ब्रजन् गच्छन् । आनन्दितसर्वलोक आनन्दिता आह्लादिताः सर्वे लोकाः जनाः येन सः । कान्तिमान् द्युतिमान् । सः राजपुत्रः । तदानीं तस्मिन् काले । जनैः लोकैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण । उपामीयत उपमा [-विपयोगः] क्रियतः । मादू माने कर्मणि लङ् । श्लेषोपमा ॥ २ ॥ गुरुनिनि । दीधितिमानिब दीधितिरस्यास्तीति दीधितिमान् सूर्य इव [दीधितयोऽस्य सम्तीति दीधितिमन् सूर्यः, स इव] । इद्धः दीप्तः । अगो कुमारः । गुरुन् श्रेष्ठम् । गुणन् उपदेशकान् । सम्यगुपास्य आराध्य । तेभ्यः गुरुभ्यः । विद्योपविद्याः विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयो वासां दण्डनीतिः इति चतस्रो

जिस प्रकार सरोवर सबके नेत्रोंको सुन्दर लगता है, बांधपर लगी हुई सुन्दर लताएं उसके प्रदेशोंकी छविको बढ़ाती हैं और वर्षा ऋतुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होती है, तथा जिस प्रकार कमलोंका समूह सबके नेत्रोंको सुन्दर प्रतीत होता है, उसके ऊपर लक्ष्मी निवास करती है और वह दिनके समयके अनुसार धीरे-धीरे विकसित होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार श्रीवर्मा समस्त प्रजाके नेत्रोंको प्रिय था, उसके पूरे शरीरपर लक्ष्मीको छाया थी और वह अपनी आयुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे बढ़ रहा था ॥ १ ॥ राजकुमार चौंसठ उज्ज्वल कलाओंको उन्नतिके साथ-ही-साथ अपनी उन्नति कर रहा था, उसके शरीरपर कान्ति थी और इसीलिए उसे देखकर सभी लोगोंको बड़ा आनन्द होता था । उस समय उसे जो भी देखते थे वे उसकी तुलना चन्द्रमासे करते थे, क्योंकि चन्द्रमा भी सोलह कलाओंकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, सारे संसारको आनन्द देता है और मनोहर कान्तिको धारण करता है ॥ २ ॥ वह सूर्यके समान तेजस्वी था । उसने श्रेष्ठ गुरुओंकी सच्ची उपासना की और उनसे आन्वीक्षिकी आदि चार विद्याओं तथा उनकी सहायक चौंसठ उपविद्याओंको सीखा ।

१. आ प्रतो पद्यमिदं नोऽलम्बते । २. आ संप्रीति । ३. आ प्रतावेव केवलं 'सरोवरवत्' इति पदमुपलक्ष्यते ।

जनादशेषाद्वयसा लघोयानपि प्रवृद्धैः स महान्वभूय ।
 कलागुणैरुज्ज्वलतरश्मिजालैरिष स्वकीयैर्मणिराकरोत्यः ॥ ४ ॥
 धनुर्वरैः खड्गभिरश्ववारैर्गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च लोकैः ।
 स्वं स्वं गुणोत्कर्षमसाववाप्तुं सदाभियुक्तैरुपजीव्यते स्म ॥ ५ ॥
 तुषाररश्मि भजते निशायां दिनागमे याति सरोजवर्णम् ।
 इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मीरियेष मोक्षतुं न तनुं तदीयाम् ॥ ६ ॥
 वदान्यतां नस्य विलोक्य गुर्वी^१ तद्वद्विरत्याजि वृथाभिमानः ।
 गतस्य लोकै परतोऽभिभूतिं न मानिनो राजति मानयोगः ॥ ७ ॥

राजविद्याः, तादृश, उपविद्याश्च चतुर्षष्टिरूपाः तादृशः विविधा क्रमेण । विदित्वा ज्ञात्वा । गणितैः किमद्भिः । अहोमिः दिवसैः । तद्देदिन । विद्योपविद्यावेदिनः पुरुषान् । अधो व्यवात् तिरस्कृतवान् । कुषाब्धारणे च लुट् । उपमा ॥३॥ जनादिति । सः कुमारः । असीवात् सकलान्^२ । जनात् लोकात्^३ । वयसा वयोधर्मेण । लघोयानपि अत्यन्तं लघुरपि 'गुणाङ्गाद्विष्टेयसु' इति दीयसु-प्रत्ययः । प्रवृद्धैः अधिकैः । कलागुणैः सकलकलागुणैः^४ स्वकीयैः स्वसंबन्धिभिः । उज्ज्वलतरश्मिजालं उज्ज्वलैः रश्मीनां किरणानां जालैः समूहैः । आकरोत्य खनिष्ठा-नोत्पन्नः । मणिरिव रत्नमिव । महान् श्रेष्ठः । बभूव भवतिस्म । भू सत्ताया लिट् । उपमा ॥४॥ धनुरिति । असी कुमारः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । अभियुक्ते । उद्युक्ते । धनुर्वरैः खन्धिभिः । खड्गभिः खड्गोऽस्त्येषा- [ऽ स्ति येषा] मिति खड्गनस्ते खड्गधरैः । अश्ववारैः अश्ववाहैः । गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च गजेन्द्रानां शिक्षायामधिकृतैरधिकारिभिश्च । स्वं स्वं स्वकीयम् । बीप्साया द्वि 'बीप्सामाम्' इति द्वि । गुणोत्कर्षं गुणानां धनुर्विद्यादीनामुत्कर्षं प्रवर्धनम् । अवाप्तुं लब्धम् । उपजीव्यते स्म । जीव प्राणधारणे कर्मणि स्म योगे 'स्मे च लट्' इति भूनायं लट् ॥५॥ तुषारेति । लक्ष्मीः श्रीदेवी । निशायां रात्रौ । तुषाररश्मिं चन्द्रमसम् । भजते खेवते । भज सेवाया लट् । दिनागमे दिनस्य विवसस्य आगमे प्रातःकाले इत्यर्थः । सरोजवर्णं सरोजानां कमलानां वर्णं कदम्बम् । याति गच्छति । इति एवं प्रकारेण । प्रकृत्या स्वभावेन । चपलापि चञ्चलापि । तदोया तस्य कुमारस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । मोक्षतुं त्यक्तुम् । न इवेष न ववाञ्छ । इषु इच्छाया लिट् ॥६॥ वदति । तस्य कुमारस्य । गुर्वी^१ महतीम् । वदान्यता त्यागिताम् । विनोव्य दृष्ट्वा । तद्वद्भिः ओदार्ययुक्तैः^२ । वृथाभिमानः व्यर्थाभिमानः । अत्याजि अमुष्नुत । त्यज हानो कर्मणि लुट् । लोकै

वह प्रतिभाका घनी था, अतः समस्त विद्याओं और उपविद्याओंकी शिक्षा प्राप्त कर उसने थोड़े ही दिनोंमें समस्त विद्याओं और उपविद्याओके जाननेवालोंको मात कर दिया ॥३॥ वह राजकुमार उम्मे सबसे बहुत छोटा था, किन्तु फिर भी विकसित कलाओं और गुणोंमें उनसे बड़ा था । जैसे एक खानसे उत्पन्न हुआ मणि और मणियोंके पीछे निकल कर भी अपनी उज्ज्वल किरणोंके कारण उनसे कहीं श्रेष्ठ होता है ॥४॥ धनुर्वारी, खड्ग चलानेवाले, अश्व-विद्या जाननेवाले और गजशिक्षाके अधिकारी विद्वान् अपने-अपने गुणोंका उत्कर्ष पानेके लिए सदा तत्परताके साथ उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥५॥ लक्ष्मी रात्रिके समय चन्द्रमाकी सेवा करती है और दिन होते हो उसे छोड़कर कमलके पास चली जाती है । इस तरह वह स्वभावसे चञ्चल होकर भी उस राजकुमारके शरीरको नहीं छोड़ना चाहती थी—चन्द्रमा और कमलकी अपेक्षा राजकुमारका शरीर कहीं अधिक सुन्दर था ॥६॥ वह राजकुमार बड़ा दानी था । उसकी सर्व श्रेष्ठ उदारताको देखकर अन्य उदार पुरुषोंने अपनी-अपनी उदारताके निरर्थक

१. अ तद्वद्भिः । २. अ स असेवान् सकलान् । ३. अ स जनान् लोकान् । ४. आ प्रतावेव 'सकलकलागुणैः' इति पर्यायो दृश्यते । ५. अ स योगो । ६. अ स भवि । ७. आ उदारयुक्तैः ।

तदीयसङ्गाद्विलोऽपि भीरुरन्यो जनः शूरतरो बभूव ।
 महात्मनस्तस्य पुनर्महीयः स्वामाविकं शौर्यमिव द्विपारे ॥ ८ ॥
 त्यागश्च शौर्यं च तथैव सत्यं महागुणा नोतिविदाममीष्टाः ।
 त्रयोऽयमपी तस्य तनौ विवृद्धिं स्पर्धाविद्यान्योन्यकृतात्प्रजग्मुः ॥ ९ ॥
 प्रपूर्यन्धान्यधनैरशेषं नियोजयन्नापि महागुणेषु ।
 पतिः स एवाजनि नोतिनेत्रो गुरुः स एवाध्रयिणां जनानाम् ॥ १० ॥
 न केवलं सर्वगुणाध्रयेण प्रहर्षितस्तेन भृशं स्वपक्षः ।
 किं तु द्विपन्तोऽपि अलस्वभावास्तस्मास्ति यत्पुण्यवतामसाध्यम् ॥ ११ ॥

जपति । परतः अन्यस्मात् । अभिभूतिं तिरस्कृतिम् । गतस्य प्राप्तस्य । मानिनं गविणं । मानयोगः मानस्य गवंस्य योगः । न राजति न भाति । राज्ञ् दीप्ती लङ् । अर्धान्तरवास ॥७॥ तदीयेति । तदीयसंगात् तदीयात् कुमारकसंबन्धात् सङ्गात् संपत्तिः । अल्लोऽपि निखिलोऽपि । भीरुः भीलुकः । अन्यः परः । जनः । शूरतरः प्रकृष्ट शूरः । शूरतरः बभूव भवतिस्म । भू सत्ताया लिट् । पुनः पश्चात् । महात्मनः महापुरुषस्य । तस्य कुमारस्य । महीयः अतिमहत् । शौर्यं पराक्रमः । द्विपारेः द्विपाना गङ्गानामरे । सिंहस्य । इव । स्वामाविक स्वभावजनितम् । बभूव । उपमा ॥८॥ त्याग इति । त्यागश्च वितरणम् । शौर्यं पराक्रमश्च । तथा च तेन प्रकारेण । सत्यं तथ्यम् । नोतिविदां नोति नोतिशास्त्रं विदन्ति जानन्तीति नोतिविदः, तेषाममीष्टाः समीहिताः । अमी इमे । त्रयोऽपि महागुणाः मुख्यगुणाः । तस्य कुमारस्य । तनौ गान्धे । अन्योन्यकृतात् अन्वोन्यैः कृतात् ब्रूहितात् । स्पर्धादिव मात्सर्यादिव । विवृद्धिं प्रवृद्धिम् । प्रजग्मुः प्रययुः । गम्लृ गतो लिट् । उपप्रेषा ॥९॥ प्रपूरयन्ति । अशेषं संपूर्णम् । धान्यधनैः धान्यैः क्रोधादिधान्यैर्धनैः धुवर्णादिभिः । प्रपूरयन् पालयन् महागुणेषु मुख्यगुणेषु । नियोजयन्नापि संबन्धयन्नापि । नोतिनेत्रः नोतिरेव नोतिशास्त्रमेव नेत्रं नेयन यस्य स । स एव कुमार एव । आश्रयिणाम् आश्रितानाम् । जनानां पतिः प्रभुः । स एव कुमार एव । गुरुः श्रेष्ठः । अजनि अभवत् । क्वकम् ॥१०॥ नेति । सर्वगुणाध्रयेण सर्वेषां गुणानामाश्रयेणधारभूतेन । तेन कुमारेण । स्वपक्षः सहायजनः । केवलं मुख्यम् [परम्] । भृशम् अत्यन्तम् । न प्रहर्षितः । न सतोपितः ।

अभिमानको छोड़ दिया । क्योंकि इस संसारमें उस मानीका मान शोभा भी तो नहीं देता, जो दूसरेसे पराजित हो चुका हो ॥७॥ उसके सम्पर्कमें रहनेसे सभी अन्य कायर पुरुष भी बहादुरोंके सिरमौर हो गये । उसको आत्मा महान् थी, और उसका महान् पराक्रम सिंहके समान स्वाभाविक था ॥८॥ त्याग, शूरता और सत्य ये तीन महान् गुण हैं, इन्हें सभी नोति शास्त्रके विद्वान् चाहते हैं, किन्तु ये तीनों स्वयं भी उस राजकुमारको चाहते थे । इसीलिए मानी वे आपसी स्पर्धावश उसमें खूब ही विकसित हुए । उनका विकास उसके शरीरको देखनेसे ही प्रतीत हो रहा था ॥९॥ वह नोतिशास्त्रमें निपुण था । वह नोतिशास्त्रको ही अपना नेत्र समझता था । आश्रयमें आनेवाले सभी मनुष्योंका वह पति (पातीति पति.—जो रक्षा करे वह पति कहलाता है) था । क्योंकि भरपूर धन और धान्य-अनाज देकर वह उनका भरण, पोषण और संरक्षण करता था, और उन सबका वह गुरु (शिक्षक) था; क्योंकि उन्हें वह श्रेष्ठ सद्गुणोंको शिक्षा देता था ॥१०॥ वह सर्वगुण सम्पन्न था, अतः उसने न केवल अपने पक्षके लोगोंको ही खूब प्रसन्न किया, बल्कि दुष्ट स्वभाववाले शत्रुओंको भी । ऐसा कोन सा कार्य है, जो पुण्यात्माओंको

१. आ महान् । २. = यथा । ३. = शौर्यं च । ४. = अन्योन्यम् । ५. आ प्रती 'प्रवृद्धिम्' इतिनास्ति ।
 ६. गम गतो । ७. = पोषयन् । ८. आ प्रती स्वस्तिकान्तगतः पाठो नास्ति । ९. = शिक्षकः । १०. = प्रकषेण हर्षं प्रापिताः । ११. आ प्रती 'न' नोपलभ्यते ।

त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं नूनं विधिस्तस्य विलोक्य रूपम् ।

यथावतुस्तश्चतुराननत्वं नान्यद्व्यं कारणमत्र विद्यः ॥ १२ ॥

स संपदामायतनं जयश्रीसमाश्रयः सर्वमनोभिरामः ।

भजे न चोत्सेकमननीतिर्मदं भजन्ते न महानुभावाः ॥ १३ ॥

निरस्तपद्मचर्मरिपुः कृतको गुणाधिकानां धुरि वर्तमानः ।

स मत्सरेणेव समं गुणोर्ध्वेन पस्पृशे दोषगणैः कुमारः ॥ १४ ॥

पितुर्निदेशाद्य सुन्दराङ्गी स राजकन्यां विधिनोपयेमे ।

प्रभाषतो देहगतप्रभायाः प्रभाषतीति प्रथिताभिधानाम् ॥ १५ ॥

किन्तु खलस्वभावाः दुर्जनस्वरूपाः । द्विषन्तोऽपि शत्रवोऽपि प्रहृषिताः । यत् पुण्यवता मुकुतवताम् । असाध्यम् । तत् । लोके नास्ति न^१ भवति । अर्वांतरन्यासः ॥ ११ ॥ त्रैलोक्येति । विधिः कर्म—ब्रह्मा । तस्य कुमारस्य । त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं त्रैलोक्यस्य लोकत्रयस्य शोभायाः कागतेरभिभवे तिरस्करणे प्रवीणं समर्थम् । रूपं^३ सुरूपम् । नूनं निश्चयेन । विलोक्य बोध्य । अतुष्टः तृप्तिरहितः सन् । चतुराननत्वं चतु-
भिरानने युंक्तत्वम् । ययौ हयाय । या प्रापणे लिट् । अत्र चतुराननत्वे । अन्यत् परम् । कारणं हेतुम् । वयं न विद्यः न जानीम । विद जाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ १२ । स इति । संपदाम् ऐश्वर्याणाम् । आयतनं गृहम् । जयश्रीसमाश्रयः जयश्रियाः जयलक्ष्म्याः आश्रय आश्रयः । सर्वमनोऽभिरामः सर्वेषां सकलानां मनोभिरामो मनोहरः । अनूननीतिः अनूना संपूर्णा नीति र्यस्यच । स श्रीवर्मकुमारः । उत्सेकं गर्वम् । न भजे न भजति स्म । भज सेवाया लिट् । महानुभावाः महाननुभावः सामर्थ्यं येषां^४ ते । मदं गर्वम् । न भजन्ते । अर्वांतर-
न्यास ॥ १३ ॥ निरस्तेति । [निरस्तपद्मचर्मरिपुः] निरस्तास्तिरस्कृताः पद्मवर्ग एव रिपवः शत्रवो येन सः । 'अयं कित्ति प्रणीताः कामक्रोडमानमदहर्षा क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिपद्मवर्गः' इति नीतिवाक्यामुक्ते । कृतज्ञः कृतं जानातीति कृतज्ञः, कृतकार्यज्ञ इत्यर्थः । गुणाधिकानां गुणैः मधुर्यादिगुणैरधिकानां प्रबुद्धानाम् । धुरि अग्रभागे । वर्तमानः^५ । कुमारः श्रीवर्मकुमार । गुणोर्ध्वः गुणानामोर्ध्वः समूहः^६ । समं साकम् । समत्सरेणेव^७ ईदृ-
[प्यं] यैव । 'मत्सरोऽयमुन्मद्वेषः' तद्वत्क्रूरणयोस्त्रिषु^८ । इत्यभिधानात् । दोषगणैः दोषाणामप्रशस्तानां गणैः समूहैः । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पृशने कर्मणि लिट् । उपमा ॥ १४ ॥ पितु रिति । अथ यौवनप्राप्त्यनन्तरम् । सः कुमारः । देहगतप्रभायाः देहं मात्रं गतायाः प्राप्तायाः^९ । प्रभायाः काम्याः

कठिन हो ? ॥ ११ ॥ उसका रूप तीनों लोकोंकी शोभाको मात करनेवाला था । उसे देखकर ब्रह्मादेवको तृप्ति नहीं हुई—उसका चित्त नहीं अघाया । मानो इसीलिए उसने तीन मुख और बना लिये—वह चतुर्मुख हो गया । उसके चतुर्मुख होनेका हमें और कोई कारण नहीं जान पड़ता ॥ १२ ॥ वह सम्पत्तिका घर था; विजयलक्ष्मीका आश्रयदाता था; सबके मनको प्रिय था और समस्त नीतिका पालक था, किन्तु फिर भी उसे अहङ्कार नहीं था । सच है विशिष्ट प्रभावशाली पुरुष कभी अहङ्कार नहीं करते ॥ १३ ॥ उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छह आभ्यन्तर शत्रुओंको तिरस्कृत कर दिया था, वह कृतज्ञ था और गुणवानोंमें अग्रेसर था । उसके गुणोंसे दोषोंको बड़ी डाह हो गयी थी, मानो इसीलिए वे उस राजकुमारको कभी छूते भी नहीं थे ॥ १४ ॥ इसके पश्चात् उसने अपने पिताकी आज्ञासे एक परमसुन्दरी राजकुमारीके साथ त्रिधिपूर्वक विवाह किया, जिसका नाम प्रभावती था । शरीरकी विशिष्ट

१. अ आपावित् । २. आ प्रती 'न' नास्ति । ३. आ रूपम् । ४. आ एषां । ५. = विद्यमानः । ६. = स मत्सरेण । ७. आ 'शुभद्वेषि' । ८. आ प्रती 'त्रिषु' इति पदं नास्ति । ९. आ प्रती 'प्राप्तायाः' इति पदं नास्ति ।

तं यौवराज्ये परिणीतमार्यं नियोज्य धुर्यं वशिनां तनूजम् ।
 स राज्यसौख्यं विगतान्तरार्यं निश्चिन्तचित्तोऽनुबभूव भूपः ॥१६॥
 भोगैः स बाष्पकाकृतसंनिधानैर्मनोहरैर्मोहितचित्तवृत्तिः ।
 कालं न गच्छन्तमपि प्रजङ्गे प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति ॥१७॥
 स्थितोऽथ हृदये स नृपः कदाचित्तुलकां विलोक्याम्बरतः पतन्तीम् ।
 विरक्तबुद्धिविषयेषु चिन्तामगादिति प्रोद्गतकाललब्धिः ॥१८॥
 समस्तमेवंविधमेव पुंसामशाश्वतं जीवितयौवनादि ।
 तथापि जानाति न मन्वबुद्धिरस्मादृशः पुत्रकलत्रमूढः ॥१९॥

प्रभावतः सामर्थ्यात् । प्रभावतीति प्रभा देहकान्तिरस्यास्तीति प्रभावती, इति । प्रथिताभिधाना प्रथितं प्रसिद्धमभिधानं यस्याः ताम् । सुन्दराङ्गी सुन्दरमङ्गलं यस्याः सा ताम् । 'असहृदम्' इत्यादिना डी । राजकन्यां राजपुत्रीम् । पितुः जनकस्य । निदेशात् आजायाः । विधिना विधानेन । उपदेमे परिणीतवान् । यम उपरमे लिट् ॥१५॥ तस्मिन् । सः भूपः श्रोत्रेण भूपति । परिणीतमार्यं परिणीता मार्या^१ जामा यस्य^२ तम् । धुर्यं मुख्यम् । वशिन् जितेन्द्रियं जितात्मानं वा । तं तनूजं कुमारम् । यौवराज्ये युवराजपदव्याम् । नियोज्य संस्थाप्य । निश्चिन्तचित्तः चिन्ताया निर्गतं निश्चिन्तं चित्तं यस्य स^३ । विगतान्तरार्यं विगतोऽन्तरार्यो यस्मिन् तत् । राज्यसौख्यं राज्यसुखम् । अनुबभूव अनुभवति स्म । भूसत्तायां लिट् ॥१६॥ भोगैरिति । बाष्पकाकृतसंनिधानं बाष्पका कृतं सन्निधानं समीपं^४ येषां^५ तैः । मनोहरै मनोहररूपैः । भोगै विषयानुभवं । मोहितचित्तवृत्तिः मोहिता आसक्त्या चित्तस्य^६ वृत्तिर्यस्य सः । सः कुमारः । गच्छन्तमपि यान्तं^७ मपि । कालं समयम् । न प्रजङ्गे न जानाति स्म । मोहः मोहनोपकर्म । [हि निश्चयेन] । प्रज्ञा सम्प्रस्थानम् । शिथिलीकरोति अपहरति । दुर्बलं करणे लिट् । हि । अर्थात्तरस्यासः ॥१७॥ स्थित इति । अथ अनन्तरम् । कदाचित् अन्यदा । हृदये सीधे । स्थितः उपविष्टः । सः नृपः श्रोत्रेणनरपति । अम्बरतः आकाशान् । पतन्तीं निपतन्तीम् । उल्कां^८ उल्कातनम् । विलोक्य दृष्ट्वा । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । विरक्तबुद्धिः अनासक्तबुद्धिः । प्रोद्गतकाललब्धिः प्रोद्गता काललब्धिर्यस्य स । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चिन्ता स्मृतिम् । (स्मृतिवम्बाहारम्) । अगात् अयात्^९ । हण् गतो लृट् ॥१८॥ समस्तेति । पुमां पुरुषाणाम् । अशाश्वतम् अस्थिरम् । जीवितयौवनादि^{१०} जीवितं यौवनमादिर्यस्य तत्^{११} । समस्त सकलम् । एवंविधम् एतदुल्का-प्रभाके प्रभावसे उसका 'प्रभावती' नाम सभो ओर प्रसिद्ध हो गया था ॥१५॥ विवाहके बाद राजा श्रोषेण (पिता) ने अपने उस, जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ पुत्र (श्रोवर्मा) को युवराज बना दिया, और स्वयं निश्चिन्त होकर विघ्न-बाधाओंसे रहित राज्यमुखको भोगने लगा ॥१६॥ उसे भोग सामग्री की कमी नहीं थी, इच्छा होते ही मनोहर भोग्य पदार्थ उसकी सेवामें उपस्थित कर दिये जाते थे । उनमें उसका मन इतना आसक्त हो गया कि उसे यह भी पता नहीं रहा कि समय बीत रहा है । सच है मोह मानवकी मतिको शिथिल कर देता है ॥१७॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है । वह अपने राजमहलमें बैठा था । इतनेमें उसने आकाशसे गिरती हुई उल्का देखी । देखते ही उसे विषयोंसे विरक्त हो गयी । उसकी काललब्धि जो आ गयी थी । फलतः वह यों सोचने लगा—॥१८॥ मानव मात्रका जीवन और यौवन आदि सभो वस्तुएँ इसी उल्काकी तरह क्षणभङ्गुर हैं । फिर भी बाल-बच्चोंके मोहमें कैसे हुए मुक्त जैसे

१. आ जीवन् । २. = नाम । ३. आ 'गोता मितमिडा मार्या । ४. = येन । ५. = सामीप्यम् । ६. = यैः । ७. आ स चित्तवृत्ति । ८. आ यात । ९. = शिथिलयति । १०. = अवानिकम् । ११. आ आयात् । १२. आ गन्तु । १३. आ जीवन्ती । १४. जीवितं जीवनं यौवनं तद्वर्ण्यं वादि यस्य तत् ।

नगापगातोयतरङ्गलोलैर्विलोभ्यमानो विषयैर्धराकः ।
 नारम्भदोषाग्नयत्यनन्तदुःखप्रज्ञामोहचरोन जीवः ॥२०॥
 क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः स्थिराभिमानं यदि नैव कुर्यात् ।
 न कर्मपाशैर्विषशीकृतात्मा योनिष्वनन्तासु सहेतु दुःखम् ॥२१॥
 मुहुः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः समागमाः स्वप्नसमागमाभाः ।
 विश्वासमुच्छ्रित्यत एव विज्ञानं तेषु संयोगनिबन्धनेषु ॥२२॥
 या दुःखसाध्या चपला दुरन्ता यस्या वियोगो बहुदुःखहेतुः ।
 तस्याः कृते जन्तुरुपैति लक्ष्म्याः परिश्रमं पश्यत मोहमस्य ॥२३॥

पतनस्य समानमेव । तथापि । पुत्रकलत्रमूढः पुत्राश्च कलत्राणि च तेषु मूढो मोहितः । मन्दबुद्धिः मन्द-
 मतिः । अस्मादृशः वयमिव दृश्यते इति अस्मादृशः । 'त्यदाद्यन्य' इत्यादिना कट्-प्रत्ययः । न जानाति न
 वेति । ज्ञा अवशोधने लट् । आक्षेपः (?) ॥१९॥ नमेति । नगापगातोयतरङ्गलोलैः नगे पर्वते समुत्पन्नाया-
 व्यापगया नद्यास्तोयस्य सलिलस्य तरङ्गाः कल्लोलास्त इव लोलैश्चञ्चलैः^१ विषयैः पञ्चेन्द्रियगोचरैः ।
 विलोभ्यमानः मुह्यमानः । वराहः^२ मूर्खः । जीवः प्राणी । अनन्तदुःखप्रदात् [दान्] अनन्तं निरवसानं दुःखं
 प्रददातीत्यनन्तदुःखप्रदं तस्मात् [न्तान्] । आरम्भदोषान् आरम्भेभ्यः कृष्यादिभ्यः प्रभवपापानि^३ । मोहवशेन
 अज्ञानवशेन । न गणयति । गण संख्याने लट् ॥२०॥ क्षणेति । मूढबुद्धिः मोहितमतिः । एषः अयं जीवः ।
 क्षणक्षयिणि क्षणे क्षयिणि नाशनशोले । आयुषि जीविते । यदि स्थिराभिमानं नित्यमित्यभिमानम् । [न] कुर्यात्
 न विधेयात् । कर्मपाशैः पापपाशैः । विषशीकृतात्मा विषशीकृतः परवशीकृत आत्मा स्वरूपं यस्य सः ।
 अनन्तासु निरवसानासु । योनिषु उत्पत्तिस्थानेषु । दुःख [न] सहेतुं नानुमेषत् । यहि^४ मर्पणे लिट् ।
 आक्षेपः (?) ॥२१॥ मुहुर्बुद्धिः । स्वप्नसमागमाभाः स्वप्नस्य समागमस्यागमनस्याभाः सद्भाः । समागमः
 परिग्रहाः । मुहुः पुनः । प्रणष्ट विनष्ट । मुहुरेव पुनरेव । दृष्टाः दृश्यन्ते स्म दृष्टाः । अतएव एतस्मादेव ।
 विज्ञानं ज्ञानी । संयोगनिबन्धनेषु संयोगस्य कर्मबन्धस्य निबन्धनेषु कारणेषु । तेषु समागमेषु । विश्वासं
 विस्मरम् । न ऋच्छति न गच्छति । ऋच्छ गतो लट् । उपमा ॥२२॥ वेति । या दुःखसाध्या दुःखेन महता
 कष्टेन साध्या साधनीया । चपला चञ्चलरूपा । दुरन्ता दुःखावसाना । यस्याः वियोगः विगमः । बहुदुःखहेतुः
 बहोर्दुःखस्य हेतुः कारणम् । तस्या लक्ष्म्या ऐश्वर्यस्य । कृते निमित्तम् । जन्तुः प्राणी । परिश्रमं प्रयासम् ।

मूर्खं नहीं समझते ॥१९॥ पाँच इन्द्रियोंके विषय पहाड़ों नदोंको तरङ्गोंकी भाँति चञ्चल-
 अस्थिर हैं, फिर भी उन्होंने बेचारे जीवको ऐसा लुभा लिया है कि वह उनके मोहमें फँसकर
 खेती आदि नाना आरम्भ करता है, पर अनन्त दुःखोंको देनेवाले उनके दोषोंकी ओर कोई
 ध्यान ही नहीं देता ॥२०॥ यदि यह मोहो जीव क्षणिक आयुमें स्थिरताका अभिमान न करता
 तो इसे कर्म बन्धन विषय न कर पाते और न अनन्त योनियोंके दुःख भी भोगने पड़ते ॥२१॥
 कञ्चन और कामिनी आदि प्रिय पदार्थोंका समागम स्वप्न समागम सरोखा क्षणिक है, जो
 बार-बार दृष्टि गोचर होता है और बार-बार दृष्टिसे ओझल हो जाता है । यह समागम कर्म
 बन्धनका कारण है । इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य इसपर विश्वास नहीं करता ॥२२॥ जो लक्ष्मी
 बड़े दुःखोंसे कमाई जाती है; जो चञ्चल है; जो बुरा फल देने वाली है और जिसका वियोग
 अनेक दुःखोंका कारण है, उसके लिए यह मनुष्य कितना परिश्रम करता है । इसके मोहको

१. आ क्ष स पुत्रमित्रकलत्रमूढः पुत्रश्च मित्रं च कलत्रं च पुत्रमित्रकलत्राणि तेषु । २. लोलाश्च-
 ञ्चलाः, ते । ३. दोनः । ४. प्रभवानि पापानि । ५. क्ष स सह । ६. क्ष स 'पुनः' इति नोपलभ्यते ।
 ७. क्ष स प्रणष्ट ।

विहाय ये निर्वृतिमव्यपायां बहुव्यपायां वृणुते विभूतिम् ।
 हित्वा हिमं ते शुचिचन्दनाम्नः पिबन्त्यपो मूढधियः सपङ्काः ॥२४॥
 ममेवमस्याहमिति ग्रहेण प्रस्तो वराकः कथमेव जन्तुः ।
 अणुप्रमाणस्य सुखस्य हेतोर्दुःखं गिरीन्द्रोपममभ्युपैति ॥२५॥
 न काकतालीयमिदं कथंचित्क्रोशत्यन्मानुषजन्म लब्ध्वा ।
 युक्तः प्रमादः स्थाहिते विधातुं संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥२६॥
 इति प्रजानामधिपः स्वचिषे विचिन्तयन्संस्तुतिफलमुभाषम् ।
 जगाम वैराग्यमपेतरागो बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः ॥२७॥

उपैति प्राप्नोति । अस्य जीवस्य । मोहम् अज्ञानम् । पश्यत वीराक्षम् । दृष्टि प्रेक्षणे लोट् । 'पा घ्रा—'
 हत्यादिना पश्य अक्षेपः । आक्षेपः (?) ॥२३॥ विहायेति । ये पुरुषाः । अव्यपायां व्यपायरहिताम् । निर्वृति
 मुक्तिम् । विहाय विहातुं पूर्व० त्यक्त्वा । बहुव्यपायां बहुव्यपायो बाधा यस्यास्ताम् । विभूतिम्
 ऐश्वर्यम् । वृणुते गृह्णन्ति । ते मूढधियः अज्ञानिनः । हिमं शीतलम् । गृवि निर्मलम् । चन्दनाम्नः चन्दनेन
 श्रीगन्धेन मिश्रमम्नो जलम् । हित्वा त्यक्त्वा । सपङ्काः सक्रदमाः । अम्भः जलानि । पिबन्ति पान
 कुर्वन्ति । आक्षेपः (निदर्शना) ॥२४॥ ममेति । मम इदं मे एतत् । अस्य एतस्य शरीरादे अहमिति ग्रहेण
 अभिमानेन । प्रस्तः पीडितः । वराकः मूखः । एष अयम् । जन्तुः जीवः । अणुप्रमाणस्य अणुप्रमाणयुक्तस्य ।
 सुखस्य ह्लादनस्य । हेतोः निमित्तम् । गिरीन्द्रोपमं गिरीणां पर्वतानामिन्द्रस्य मेरोः उपमं समानम् ।
 दुःखमभ्युपैति प्रयाति । इण् गतो लट् । आक्षेपः (?) ॥२५॥ नेति । क्लेशक्षयात् कर्मक्षयात् । काकतालीयं
 काकतालस्य समानम् । इदम् एतत् । मानुषजन्म मनुष्यस्येदं मानुष तच्च तज्जन्म च । कथंचित् येन केन
 प्रकारेण । लब्ध्वा प्राप्तः । संसारवृत्तान्तविदा संसारस्य चतुर्गतिभ्रमणव्यवस्था वृत्तान्तं स्वरूपं वेत्तीति
 तद्योजितस्तेन । नरेण पुरुषेण । स्थाहिते स्वस्य आत्मनो हिते । प्रमादः अनवधानता । विधातुं समाचरितुम् ।
 युक्तः योग्यः । न न भवति ॥२६॥ ह्यौति । प्रजानां जनानाम् । अधिपः प्रभु औपेण । अपेतराग
 अपेक्षो व्यपगतो रागो यस्य स । इति उक्तप्रकारेण । समृतिफणुभाव संयुते संसारस्य फलो-
 निःसारस्य भावः^{१०} स्वरूपम् । स्वचित्ते मानसे । विचिन्तयन् ध्यायन् । वैराग्यं विरागत्वम् । जगाम

तो देखा ! ॥२३॥ मुक्ति नित्य है और है निविघ्न—मुक्ति मिल भर जाय, फिर कभी वह
 नष्ट नहीं होती और न वहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ हो जाती हैं । किन्तु लक्ष्मी उससे
 बिलकुल उल्टी है—प्राप्त होकर खर्च हो जाती, नष्ट हो जाती है और यदि किसी तरह रह
 भी जाती है तो उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती है । जो लोग मुक्ति और लक्ष्मी-विभूति
 इन दोनोंमेंसे विभूतिको पसन्द करते हैं, उनकी बुद्धिकी बलिहारी है—वे निरः मूर्ख हैं, और
 वे चन्दन मिश्रित, ठण्डे, पवित्र और निर्मल जलको छोड़कर कीचड़ सहित (गन्दा नालीका)
 जल पीते हैं ॥२४॥ 'यह मेरा है' और 'मे इसका हूँ' यह ग्रह इस बेचारे प्राणीको कैसे लग
 गया है ? इस ग्रहके लग जानेसे यह प्राणी जरा भर सुखके पीछे सुमेरुके समान बड़े-स-बड़े
 दुःखको भोगता है ॥२५॥ यह मानव जन्म बड़े क्लेश भोगनेके बाद कर्मादयके मन्द होनेपर
 किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है । अतः संसारके प्रकरणको जाननेवाले मनुष्यको
 अपने हितमें आलस करना उचित नहीं ॥२६॥ इस प्रकार संसारको असारताको मन-ही-मन

१. म यासम् । २. आ प्रतावेव 'बाधा' इति दृश्यते । ३. आ श स आपः । ४. आ प्रतावेव 'मे'
 इत्युपलभ्यते । ५. आ यो हि यो । ६. = उपमा साम्यं यस्य तत् । ७. स स मानु । ८. स स वृत्तान्तः ।
 ९. स स अयोता । १०. निःसारताम् ।

अन्येष्टुराहूय युवेशमोशः कृतप्रणामाञ्जलिमित्युवाच ।
 मन्दोभवत्प्रेमरसानुबन्धां तदीयवक्त्रे विनिवेश्य दृष्टिम् ॥२८॥
 वात्येव यावन्न वपुःकुटीरमेतज्जरा जर्जरयत्युपेत्य ।
 प्रवर्धमानं तिमिरं विहन्तुं यावन्न वा दर्शनशक्तिमोष्टे ॥२९॥
 यावन्न तीर्थोपगमप्रवीणौ पादौ निजप्रस्फुरणं जहोतः ।
 कालेन यावद्भजतेऽवसादं न च श्रुतिधर्मकथावसक्ता ॥३०॥
 वयोनुरूपेण विवर्धमानो यावत्स्मृतिं भ्रंशयते न मोहः ।
 यावच्च शास्त्राध्ययनप्रवीणा प्रवर्तते प्रस्खलितुं न वाणो ॥३१॥

ययौ । गम्लु गतौ लिट् । आत्यहितप्रवृत्तिः^१ । आत्मनः स्वरूपस्य हिते उपकारके मार्गे प्रवृत्तिर्वर्त्तनम् ।
 बुद्धेः ज्ञानस्य । फलं हि निष्पत्तिर्हि । अर्थान्तरन्वासाः ॥२७॥ अन्येष्टुरिति । ईशः प्रभुः । अन्येष्टुः
 एकस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एषुस् प्रत्ययः । युवेशं युवराजम् । आहूय आकारयित्वा ।
 मन्दोभवत्प्रेमरसानुबन्धा प्रागमन्द इदानीं मन्दो भवतीति मन्दोभवन् प्रेम्णो रसस्तस्यानुबन्धः संबन्धः,
 मन्दोभवन् प्रेमरसानुबन्धो यस्याः ताम् । दृष्टिं लोचनम् । तदीयवक्त्रे तदीये श्रोत्रर्मयबन्धनि वक्त्रे मुखे ।
 विनिवेश्य स्थापयित्वा । कृतप्रणामाञ्जलिं कृतो विरचितः प्रणामस्याञ्जलियेन तम् । वक्ष्यमाणप्रकारेण ।
 उवाच जगद् । ब्रह्म व्यक्ताया वाचि लिट् ॥२८॥ वात्येति । कुटीरं तुणगृहम् । वात्येव वातानां समूह इव ।
 'पाशादेश्च यः' इति समूहे य-प्रत्ययः । 'वात्या वातस्तु मुञ्चति' इत्यभिधानात् । एतत् इदम् । वपुः शरीरम् ।
 जरा वार्धक्यम् । उपेत्य आगत्य । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न जर्जरयति न विनाशयति । प्रवर्धमानम् एष-
 मानम् । तिमिरं नेत्रदोषं (प) । यावत् दर्शनशक्तिं दर्शनयोन्यनयोः शक्तिं सामर्थ्यम्^२ । विहन्तुं विनाशयि-
 तुम् । न ईष्टे न समर्थं मत्रति । ईशि ऐषव्यं लट् । उपमा ॥२९॥ यावदिति । तीर्थोपगमप्रवीणौ तीर्थस्य
 पवित्रस्थानस्योपगमे गमने प्रवीणौ समर्थौ । पादौ चरणौ । निजप्रस्फुरणं निजयोः प्रस्फुरणं सामर्थ्यम् ।
 यावत् पर्यन्तम् । न जहोत न त्यजत । यावत् धर्मकथावसक्ता धर्मस्य कथायामवसक्ता सक्ता । श्रुतिः
 श्रोत्रेन्द्रियम् । कालेन वयोधर्मेण । अवसादं बधिरत्वम् । न च भजते न याति । भज सेवायां लट् ॥३०॥
 वष इति । वयोनुरूपेण वयसो वयोधर्मस्यानुरूपेणानुवर्त्तनेन । वर्धमानः एधमानः । मोहः अज्ञानम् । यावत्
 स्मृतिं सम्यग्ज्ञानम् । न भ्रंशयते न नाशयति । शास्त्राध्ययनप्रवीणा शास्त्रस्यागमस्याध्ययने प्रवीणा समर्था ।

सोचते हुए राजा श्रीवेणको वैराग्य हो गया । फलतः विषयोंमें उसे जो राग रहा, वह अब
 नहीं रहा । आत्महितमें प्रवृत्ति करना ही तो बुद्धिका फल है ॥२७॥ अगले दिन राजा श्रीवेण-
 ने युवराजको बुलाया । वह शोभा ही उपस्थित हुआ, और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा
 हो गया । राजा उसके चेहरेपर दृष्टि—जिसमें प्रीतिका रस बिलकुल ही कम था अर्थात् जो
 प्रीतिसे सनी हुई नहीं थी—डालकर यों बोला—॥२८॥ जिस प्रकार आँधी, फूसकी झोपड़ीको
 झकझोर डालती है, उसी प्रकार मेरे इस शरीरको जबतक वृद्धावस्था आकर नहीं झकझोरती और
 जबतक बढ़ता हुआ तिमिर-नेत्ररोग मेरी देखनेकी शक्तिको नष्ट नहीं कर पाता ॥२९॥ तीर्थ
 यात्रा करनेमें प्रवीण मेरे ये पैर जबतक अपने गमन-सामर्थ्यको नहीं छोड़ते और धर्म-कथाओंके
 श्रवणमें संलग्न मेरे ये कान जबतक कालके प्रभावसे बधिर नहीं होते ॥३०॥ आयुके अनुसार
 क्रमसे बढ़ता हुआ मोह जबतक मेरी स्मरण-शक्तिको नष्ट नहीं करता और शास्त्रोंके पढ़नेमें

१. अ सुवेव^३ । २. आ 'हितमार्गे' या । ३. आ सामर्थ्यतरम् । ४. यावत् पर्यन्तम् ।
 ५. स्मरणं वा ।

तावद्भवान्मोक्षयितुं प्रयत्नादात्मानमिच्छाम्यसुखानलार्ताम् ।
 जनेन्द्रदीक्षाविधिनात्र कार्यं त्वया न भाव्यं परिपन्थिना मे ॥३२॥
 पुरैव संसारपरम्पराया हेतोः श्रियश्चित्तमपेतमेव ।
 अपेक्षमाणोऽनुदिनं त्वदीयमेवोदयं राज्यपदेऽवतिष्ठे ॥३३॥
 भवानपास्तव्यसनो निजिन धाम्नाधिभर्यादमिमामिदानीम् ।
 महीमशेषामपहस्तितारिषर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ॥३४॥
 यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः ।
 सहस्ररश्माद्य चक्रवाको वृत्तं तदेवाधर चारचक्षुः ॥३५॥

वाणो वचनम् । यावच्च प्रस्थलितुं^१ न प्रवर्तते । वृत्तं वृत्तं लट् ॥३१॥ तावदिति । तावत् । असुखा-
 नलार्ताम् असुखमेव दुःखमेवानलोऽग्निस्तेनार्तं पोडितम् । आत्मानं जीवम् । जनेन्द्रदीक्षाविधिना जनेन्द्र-
 दीक्षाविधानेन । भवात् संसारान् । मोक्षयितुं निवारयितुम् । प्रयत्नात् । इच्छामि वाञ्छामि । मे मम । अत्र
 कार्यं कर्म^२ । परिपन्थिनां शत्रुणा । त्वया भवता । न भाव्यं न भवितुं योग्यम् ॥३२॥ पुरेति । संसार-
 परम्परायाः संसारस्य परम्परायाः प्रवाहस्य । हेतोः कारणभूतायाः । श्रियः सम्पद सकाशात् । पुरैव प्रागेव ।
 चित्तं मनः । अपेतमेव अपगतमेव^३ । अनुदिनं प्रतिदिनम् । त्वदीयमेव तव सम्बन्धमेव^४ । उदयम् ।
 ऐश्वर्यम् । अपेक्षमाणः वाञ्छग्रहम् । राज्यपदे राज्यपदव्याप्तम् । अवतिष्ठे तिष्ठामि । छा गतिनिवृत्ती लट् ॥३३॥
 मयानिति । अपास्तव्यसनः अपास्तं निराकृतं व्यसनं येन सः । अपहस्तितारिषर्गोदयः अपहस्तितो निरस्तोऽरीणा
 र्गर्गस्योदय उदरति र्यस्य (येन) सः । प्रशान्तं प्रशमयान् । भवान् त्वम् । निजिन स्वकीयेन । धाम्ना
 तेजसा । इदानीम् अद्य । इमाम् एताम् । अशेषा समस्ताम् । मही भूमिम् । अधिभर्यादम् अधिधरेव समृद्ध एव
 मर्यादा यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । पालयतु रक्षेत्यर्थः । अवच्छेदयोगेन प्रथम पुरुषः ॥३४॥ व्येति । भवति
 त्वयि । अभ्युदिते सति अभ्युदयपुरुषे सति । निरस्तखेदः तिरस्कृतखेदः । अयम् एव । जनः लोकः । सहस्ररश्मो

प्रवीण मेरी वाणी जबतक स्थलित नहीं होती । ॥३१॥ तब तक मैं दिगम्बर दीक्षा लेकर
 दुःखाग्निमें झुलसती हुई अपनी पोड़ित आत्माको पूरे प्रयत्नसे इस जगत्से मुक्त कराना चाहता
 हूँ । मेरे इस कार्यमें तुम विरोध नहीं करना—मेने आत्माकल्याणका निश्चय कर लिया है,
 अतः इस पवित्र कार्यमें तुम्हे मेरा विरोधी नहीं होना चाहिए ॥३२॥ यह राज्य-लक्ष्मी संसार-
 की परम्पराका कारण है । इससे मेरा मन पहलेसे ही ऊँचा हुआ है । मैं कभीका चला गया
 होता । किन्तु तुम नाबालिग रहे, अतः प्रति दिन मैं तुम्हारे अभ्युदयकी अपेक्षामें रहा—“तुम
 राज्य-भार समालने योग्य हो जाओ, तो मैं जाऊँ, बस इसी प्रतीक्षामें मैं अबतक राजगद्देपर
 बैठा रहा ॥३३॥ तुम अने तेजसे समुद्र पर्यन्त इस समूची पृथ्वीका पालन करना । देखो,
 कभी किसी व्यसनमें नहीं फँसना; प्रजाके ऊपर कोई सङ्कट आये तो उसका शोध हो प्रतिकार
 करना; सदा शान्त रहना—प्रथम गुणकी धारण करना और शत्रुओंको गुटवन्दी नहीं करने
 देना—गुटवन्दी करनेवाले शत्रुओंको सिर नहीं उठाने देना ॥३४॥ जिस प्रकार सूर्योदय
 होनेपर चक्रवेका प्रियाविरहका सारा खेद दूर हो जाता है और उसे बहुत आनन्द होता है,
 इसी प्रकार तुम्हारे अभ्युदयसे प्रजा-जनोंको आनन्दका अनुभव हो और उन्हें कभी तनिक भी
 खेद न हो, ऐसा व्यवहार करना । यों सारी प्रजाके कष्टका स्वयं पता लगाना कठिन है,

१. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि दृश्यते । २. प्रस्थलनं लब्धम् । ३. आ वर्तनकृत्ये । ४. प्रतिबन्धकेन ।

५. हा स अपेतमिव अपगतमिव । ६. हा स त्वदीयमिव तव संबन्धमिव ।

वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावाः मोहोविजस्त्वं जनमात्मनीनम् ।
 जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥३६॥
 समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।
 वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥३७॥
 विधिस्तुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।
 गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥३८॥

सूर्ये । [चक्रवाक इव] चक्रवाको रथाङ्गः पक्षिविशेषः, स इव । यथा येन प्रकारेण । आनन्दं संतोषम् ।
 आयाति गच्छाति । या प्रायेण लट् । तथैव (तेनैव प्रकारेण) । चारुचतुः चारा गूढपुरुषा एव चक्षुषी यस्य
 (सः) तथोक्तः । वृत्तं चरित्रम् । आचार प्रवर्तस्व । उपमा रूपकं च ॥३५॥ वाञ्छञ्छिति । परमप्रभावाः
 परमः प्रभावो यासां ताः । विभूतीः ऐश्वर्याणि । वाञ्छन् इच्छन् । त्वम् । आत्मनीनम् आत्महितम् ।
 'भोगोत्तरपदात्मन्या सः' इति हितायै सः । जनं लोकम् । मोहोविजः मा पीडय । व्यज व्याजीकरणे निज-
 स्तात्लुट् । 'गेरिष्ठ—' इति णि-लुक् । 'कं श्रित—' इत्यादिना जिः, तद्योगे 'दिधतिः—' इत्यादिना द्विः ।
 जनेषु प्रजाम् । विहितम् अनुराग प्रीतिम् । तासां संपदाम् । प्रथमं मुख्यम् । निबन्धनं कारणम् । इति
 नीतिविदः नीतिशास्त्रज्ञाः । वदन्ति वृवन्ति । वद व्यवक्ताया वाचि लट् ॥३६॥ समागम इति । निर्व्यसनस्य
 व्यसनरहितस्य । राज्ञः क्षितिपतेः । संपत्तीनां संपदाम् । समागमः आगमनं । स्यात् भवेत् । अस भुवि लिङ् ।
 स्वकीये स्वसन्धिनि । परिवारे परिजने । वश्ये वंशगते सति । 'वश्यपध्य—' इत्यादिना य-प्रत्ययागतो
 निपातः । अस्य राज्ञः । निर्व्यसनत्वं व्यसनरहितत्वं भवेत् । तस्मिन्नेव परिवार एव । अवश्ये अवशं गते सति ।
 गरीयः महत् । व्यसनं विपद् भवेत् । परिवारे वंश गते राज्ञो निर्व्यसनत्वमेवमर्थं च जायते, तदभावे राज्ञो
 व्यसनं विपदायाते, इत्यर्थः ॥३७॥ विधिस्तुरिति । तत् तस्मात्कारणात् । एवं तव वंशगतम् (एन परिवारम्)
 आत्मवश्यम् आत्माधीनम् । विधिस्तुः कर्तुमिच्छुः । 'कम्येक—' इत्यादिना सन्, 'घुमीमा—' इत्यादिना भिम्,
 'सन्मिधा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । कृतज्ञतायाः उपकारस्मरणत्वस्य । पार तीरम् । समुपैहि गच्छ ।
 इण् गतो लोट् । अपरैः अन्यैः गुणैः सङ्ग । उपेतः युक्तः । कृतघ्नः उपकारनाशकः । समस्तं सकलम् । लोकं

किन्तु गुप्तचरोंकी सहायतासे उस (कण्ट) का पता लगाकर शीघ्र ही उसका निवारण करते
 रहना । दूरकी स्थिति देखनेके लिए तुम गुप्तचरोंको ही अपनी चक्षु समझना ॥३५॥ दूसरोंपर
 उत्कृष्ट प्रभाव डालनेवाली विभूतिको चाहते हुए तुम अपने किसी हितैषीको पीडा नहीं देना;
 क्योंकि राजनीति जाननेवाले विद्वान् यह कहते हैं कि 'लोगोंसे अनुराग करना और उनका
 अनुराग प्राप्त करना ही विभूतिका मुख्य कारण है ।' ॥३६॥ सम्पदाओंका समागम उस
 राजाको होता है, जो विपदाओंसे मुक्त हो, और वह राजा विपदाओंसे मुक्त होता है, जिसका
 परिवार अपने वंशमें हो । यदि अपना परिवार राजाके वंशमें न हो, तो उसे बड़ी-बड़ी विपदाएँ
 आ घेरती हैं ॥३७॥ अतः यदि तुम अपने परिवारको वंशमें रखना चाहते हो, तो कृतज्ञताका
 पूरा परिपालन करना । क्योंकि अन्य अनेक गुणोंसे युक्त होकर भी जो कृतघ्न होता है—
 दूसरोंका उपकार नहीं मानता है, वह निश्चय ही सारे संसारको उद्विग्न कर देता है ॥३८॥

१. स स चक्षुषि । २. आ 'वृत्तं चरित्रम्' इति नास्ति । ३. आ 'संबन्धे । ४. स
 स 'पैहि ।

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कतिदोषमुक्तः ।
 युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेधमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितोशः ॥३६॥
 वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहृतप्रमादः ।
 विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥४०॥
 निगृह्यतो बाधकरान्प्रजानां भृत्यास्ततोऽप्याश्रयतोऽभिवृद्धिम् ।
 कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोति बन्धिस्तुनकीर्तनस्य ॥४१॥
 कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि ।
 गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥४२॥

जनम् । उद्धृत्येते हि सतजयति हि । अथ बाधकोरणे लट् ॥३८॥ धर्मेति । कलिदोषमुक्तः कलिरन्यायः स एव दोषः पापाचारस्तेन मुक्तस्त्यक्तः । त्वं भवान् । धर्माविरोधेन धर्मस्याविरोधेन प्रतिकूलभावेन (आनुकूल्येन) अर्थकामौ अर्थश्च कामश्च तौ । वृद्धिं समृद्धिम् । नयस्व प्रापय । णोञ् प्राप्ते लोट्, द्विकर्मकः । युक्त्या उपायेन । त्रिवर्गं त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गम् । निषेधमाणः भजमानः । क्षितोशः भूमीशः । लोकद्वयम् इतलोकपरलोकद्वयम् (इह लोकं परलोकं च) । साधयति स्वसात्करोति । राध साध ससिद्धी लट् ॥३९॥ वृद्धेति । वृद्धानुमत्या वृद्धानां मन्त्रपुरोहितानाम् । अनुमत्या संमत्या । सकलं निश्चिन्तम् । स्वकार्यं स्वस्य कार्यम् । प्रहृतप्रमादः प्रहृतो नष्ट प्रमादो यस्य सः । सदा सर्वदा । विवेहि कुतः । गुरुणा उपाध्यायेन, पक्षे वृद्धस्पतिना । नित्यम् अनवरतम् । विनीयमानः शिक्षमाणः । नरेन्द्रः क्षितोन्द्रः । सुरेन्द्रलोला सुरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य लीलां शोभायुः । लभते प्राप्नोति । कुलभिष प्राप्ती लट् । श्लेषः ॥४०॥ निगृह्येति । प्रजानां जनानाम् बाधकरान् पीडां कुर्वतः । भृत्यान् सेवकजनान् । निगृह्यतः निग्रहं कुर्वतः । ततः बाधकरभृत्येभ्यः (बाधकरभृत्येभ्यः) । अथान् अनुकूलान् । अभिवृद्धिं समृद्धिम् । नयतः नयमानस्य । बन्धिस्तुनकीर्तनेन बन्धिभिः पाठकैः स्तुतेन नूतन कीर्तनेन । तच्च ते । कीर्तिः गुणस्तुतिः । अशेषदिगन्तराणि अशेषाणां सर्वासां दिशामन्तराण्यवसानानि । व्याप्नोति प्रयाति । आप्लु व्याप्ती लट् । अतिशयोक्तिः ॥४१॥ कुर्या इति । संवृतचित्तवृत्तिं संवृतां आच्छादिना चित्तस्य मानस्य वृत्तिं अर्थगोचरेण सः । फलानुमेयानि फलेन कार्यणां नुमेयानि अहितं योग्यानि निजेन स्वेन ईहितानि चेष्टितानि । सदा अनवरतम् । कुप्ये । गूढात्ममन्त्रः

तुम कलिकालके दोष-पापाचरणसे दूर रहना और धर्मकी अनुकूलता पूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थकी वृद्धि करना । युक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करने-वाला राजा दोनों लोकोंको साध लेता है ॥३९॥ वयोवृद्ध मन्त्री और पुरोहितीसे अनुमति लेकर ही तुम सदा अपने सब काम करना । उन कामोंमें आलस कामी नहीं करना । क्योंकि सदा गुरुजनोकी शिक्षा पानेवाला नरेन्द्र, बृहस्पतिसे शिक्षा पानेवाले सुरेन्द्रको शोभाको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥ तुम अपने उन कर्मचारियोंको दण्ड देते रहना, जो प्रजाको पीडा दें और उन कर्मचारियोंको बढावा देते रहना, जो प्रजाको पीडा न होने दें । इसका परिणाम यह होगा कि चारण लोग तुम्हारा गुणगान करेगे, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त दिशाओ और विदिशाओंमें फैल जायगी ॥४१॥ तुम अपने विचारोंको सदा गुप्त रखना, और जिन कार्योंको तुम करना चाहो, उनका किसीको पहलेसे पता नही लगने देना । कार्योंकी समाप्ति होनेके

१. आ आ ह क ख ग घ म व्याप्नोतु । २. आ जयति । ३. आ प्रतावेव 'समृद्धि' इति पदं दृश्यते । ४. आ लट् । ५. आ प्रतावेव 'स्वस्य कार्यम्' इति समुपलभ्यते । ६. आ स 'बाधकरान्' । ७. गुणवर्णनेन । ८. व्याप्नोतु प्रयातु । ९. आ प्रतावेव 'संवृता' इत्युपलभ्यते । १०. निजस्य स्वस्य । ११. विधेहि ।

तेजस्विन पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य ।
 दिनाधिपस्येव तवापि भूयात्करप्रपातो भुवि निर्धिबन्धः ॥४३॥
 इति क्षितीशः सह शिक्षयासौ विभ्राणयामास सुताय लक्ष्मीम् ।
 सोऽपि प्रते / गुरुपरोधात्पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥४४॥
 ततः स / पितराज्यभारः पृष्टाखिलाज्ञातिरपास्तसङ्गः ।
 तत्त्वा तपः श्रीप्रभपादमूले समासवृत्तिस्त्रिवधवरत्वम् ॥४५॥

गूढो व्यवहित आत्मनः स्वस्य मन्त्रो गुप्तभाषणं येन (यस्य) सः । परमन्त्रभेदी परेषां शत्रूणां मन्त्रभेदी मन्त्रालोचननिवारकः^१ । पुरुषः पुमान् । परेषां शत्रूणां । अगम्यः अभेदः । भवति । भू सत्ताया लट् । अर्थान्तरग्यासः ॥४२॥ तेजस्वीति^२ । तेजस्विनः प्रतापवतः, पक्षे कान्तिमतः । अखिलाशाः अखिलानां समस्तानामाशा बाञ्छाः, पक्षे दिशः । पूरयतः संपूर्णाः कुर्वत, पक्षे व्याप्नुवतः । भूभृच्छिर शेखरतां भूपतीनां शिरसां मस्तकानां शेखरतां ललामतां, पक्षे गिरीणां शिरसां शिखराणामलङ्कारताम् । गतस्य यातस्य । दिनाधिपस्येव सूर्यस्येव । तवापि भवतोऽपि । करप्रपातः करस्य मागधेयस्य प्रपातो लाभः, पक्षे करस्य किरणस्य [करणा किरणानां] प्रपतनम् । भुवि लोके । निर्धिबन्धः अनिवार्यः । भूयात् भवेत् । भू सत्तायां लिङ् । श्लेषोपमा ॥४३॥ इतीति । असौ क्षितीशः श्रीवेषमहीपतिः । इति^३ प्रोक्तप्रकारेण । शिक्षया उपदेशेन । सह साकम् । सुताय श्रीवर्मणे । लक्ष्मी साम्राज्यसम्पत्तिम् । विभ्राणयामास ददौ । अर्थे दाने लिट् । सोऽपि श्रीवर्मपि । गुरुपरोधात् गुरोर्महत (पितुर्वा) उपरोधात् प्रार्थनान् । प्रतीथय अङ्गीकरोतिस्म । इषु इच्छायां लिट् । सुपुत्रः सन्पुत्रः । पितुः जनकस्य । [हि निश्चयेन] । अनुकूलवृत्तिर्हि अनुकूला वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य सः । अर्थान्तरग्यासः ॥४४॥ तत इति । ततः पश्चात् । पुत्रापितराज्यभारः पुत्रे तनयेऽपितः स्वापितो राज्यस्य भारो येन सः । पृष्टाखिलाज्ञातिः पृष्टाः प्राप्तिता अखिला ज्ञातयो बन्धवो येन सः । अपास्तसङ्गः अपास्तो निराकृतः सङ्गो येन सः । सः श्रीवेषः । श्रीप्रभपादमूले श्रीप्रभस्य श्रीप्रभाचार्यस्य पादमूले पाद-समीपे । तपः बाह्याभ्यन्तरतपः । तत्त्वा^४ संतप्य सिद्धिबधूवरत्वं सिद्धिरेव मुक्तिरेव बधूस्तस्या वरत्वम्^५ ।

पश्चात् फलको देखकर लोग उसका केवल अनुमान ही लगा सकें, इसका ध्यान रखना; क्योंकि जो मनुष्य अपनी मन्त्रणाको गुप्त रखता है और दूसरोंकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर लेता है, वह अपने शत्रुओंके लिए अजेय होता है ॥४२॥ जिस प्रकार तेजस्वी, सभी दिशाओंको अपने प्रकाशसे भरनेवाला और पर्वतोंके शिखरोंपर पहुँचकर उनके शिरोभूषणकी स्थितिको प्राप्त करनेवाला सूर्य सारे भूमण्डलपर अपनी किरणोंको निर्विरोध रूपसे फैला देता है, इसी प्रकार तुम तेजस्वी बने रहना, सबकी आशाओंकी पूर्ति करना और सभी राजाओंके सिर-भौर होना, जिससे सारे भूमण्डलपर निर्विरोध रीतिसे तुम्हारी टैक्स वसूल करनेकी सुव्यवस्था हो ॥४३॥ राजा श्रीवेषने अपने पुत्र श्रीवर्माको इस प्रकारकी शिक्षाके साथ राजलक्ष्मी समर्पित कर दी । पिताके अनुरोधसे पुत्रने भी उसे स्वीकार कर लिया । सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल व्यवहार करे ॥४४॥ पुत्रको राज्यका भार समर्पित करके श्रीवेषने गोत्रके सभी लोगोंसे दीक्षाकी अनुमति ली और फिर मुनिराज श्रीप्रभके समक्ष समस्त परिग्रहको त्यागकर दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की । इसके पश्चात् उन्हीं मुनिराजके चरणोंके निकट रहकर उसने तपस्या की ।

१. अ पृष्टाखिलाज्ञातिमया । २. मन्त्रस्फोटको वा । ३. तेजस्विन इति ४. = पूर्वोक्त । ५. वा स अणु । ६. आग्रहात् । ७. तपो विधाय । ८. वा अवरत्वम् ।

श्रीवर्मराजोऽपि पितृवियोगाद्दिनानि भूत्वा कतिचित्सशोकः ।
 संबोधितो मन्त्रिसुहृत्समूहैर्विनिर्धाय साधयितुं धरित्रीम् ॥४६॥
 विधाय मौलं बलमात्ममूले स नीतिमानाटविकं बहिःस्थम् ।
 मध्ये च सामन्तबलं बलीयश्चचाल चूडामणिभासिताशः ॥४७॥
 समुच्चलत्तस्य तुरङ्गमोत्थं सेनारजो रासभरोमधूध्रम् ।
 परं विशामेव मलीमसानि नास्यानि चक्रे रिपुयोपितां च ॥४८॥

समासदत्त अगच्छत् । 'षट्' विशरणगत्यवसादनेषु लुङ् ॥४५॥ श्रीवर्मसि । श्रीवर्मराजोऽपि श्रीवर्मभूपोऽपि । पितुः जनकस्य । वियोगात् विगमात् । कतिचित् कियन्ति । दिनानि अहानि पर्यन्तम् । 'कालाध्वनोभ्यांस्ती' इति व्याप्पवर्थे द्वितीया । सशोक दुःखसहितः । भूत्वा भवनं पूर्वम् । मन्त्रिसुहृत्सहार्थः मन्त्रिणा सचिवानां सुहृदां मित्राणां सहायैर्निबहूः । संबोधितः सम्यग् बोधितः सन् । धरित्री भूमिम् । साधयितुं साधनाय । विनियमौ निर्जगाम । या प्रापणे लिट् ॥४६॥ विधायेति । नीतिमान् नीतिशास्त्रवान् । सः श्रीवर्म । आत्ममूले आत्मनः स्वस्य मूले समीपे । मौल क्रमादागतम् । बलं मन्त्रिपुरोहितसेनापतिदुर्गाधिकारिकर्माधिकारिकोशागारिकदेवज्ञ इति सप्तविधं मौलं बलम् । विधाय कृत्वा । आटविकं शबरबलम् । बहिःस्थं बहिःस्थितम् । विधाय । मध्ये च अन्तराले । बलीयः बलिष्ठम् । सामन्तबल राज्ञां बलम् । विधाय । चूडामणिभासिताशः चूडामणिना चूडारत्नेन भासिताः प्रकाशिता आशा दिगो येनैव । सन् । चचाल कगाम । चल कम्पने लिट् । दीपकम् ॥४७॥ समुच्चलदिति । समुच्चलत् उद्गच्छत् । तुरङ्गमोत्थं तुरङ्गमैः अश्वैर्कृत्यमुत्थितम् । रासभरोमधूध्रं रासभस्य गर्दभस्य रोमवद् धूध्रं कृष्णम् । कृष्णाधिकलोहितं धूध्रमिति नाम । तस्य श्रीवर्मणः । सेनारजः सेनाया रजो धूलि । परं केवलम् । दिशामेव ककुभामेव । नास्यानि मुखानि । मलीमसानि मलमस्त्येषामिति मलीमसानि । 'मलारोमसश्च' इति मत्स्ये ईमसः प्रत्ययः । न चक्रे न कुरुते स्म । अपितु रिपुयोपिता च रिपुणा शत्रूणा योषिता नारीणाम् ।

फलतः अष्ट कर्मोको नष्टकरके वह सिद्धिबधूका वर—मुक्त हो गया ॥४५॥ इधर राजा श्रीवर्मा भी पिताके वियोगसे कुछ दिनोंतक शोकमग्न रहा, फिर मन्त्रिमण्डल तथा मित्रवर्गके समक्षानेसे धीरे-धीरे उमका शोक दूर हुआ, इसके बाद वह पृथ्वीको अपने वशमें करनेके लिए—दिग्विजय करनेके लिए निकला । ॥४६॥ वह राजनीतिमें प्रवीण था । दिग्विजयके लिए जाते समय उसने अपने पास उस सेनाको रखा, जो उसके यहाँ कई पीढ़ियोंसे काम करती चली आ रही थी और जिसमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, वर्माधिकारी, कोषाधिकारी और ज्योतिषी सम्मिलित थे, भोलोंकी सेनाको सबसे आगे रखा और वोचमें प्रबल सामन्तोंकी सेना को । चलते समय उसके चूडामणिके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशित होती जा रही थीं ॥४७॥ चलते समय घोड़ोंकी टापोसे सेनामें धूल उड़ रही थी । उसका रंग गदहेके रोमों सरीखा मटमैला था । उसने चारों ओर फैलकर न केवल समस्त दिशाओंके वरन् शत्रु-स्त्रियोंके

१. अ क ल ग घ म चूला । २. श स षट् विशरण । ३. स स लङ् । ४. आ विषयेति । ५. नीतिशास्त्रवित् । ६. श तिलविकम् । ७. श बहिष्ठम् । ८. आ मध्ये बलान्तराले । ९. आ यस्य । १०. एष टीकाकृतसंमतः पाठः प्रतिषु तु 'समुच्चलत्' इत्येव समुपलभ्यते । ११. आ प्रतामेव 'अश्वे' इत्युपलभ्यते । १२. श स एकं केवलम् । १३. 'मलोऽस्त्रियाम्' इत्यपरः ।

सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवातव्याघननप्रोल्लसितैस्तदीयः ।
 नान्तर्दधे केवलमेव सूर्यः शत्रुप्रभावश्च महाप्रभावे ॥४६॥
 प्रयाणकालप्रभवैरुदारैस्तदीयमातङ्गमदप्रवाहैः ।
 पांसुप्रतानः शमयावभूवे न केवलं धाम च शाश्ववीयम् ॥४७॥
 मूर्च्छन्वदीणां विवरेषु तस्य प्रस्थानशंसी पटहप्रणादः ।
 न पातयामास परं तटानि क्षोणोधराणां द्विपतां च चेतः ॥४८॥
 पौरैः समागत्य गृहीतरत्नस्थालैः सुदूराभ्यन्तपूर्वकायैः ।
 प्रदर्शितानेकपयोविकारैः प्रत्युद्यये^१ ग्राममहत्तरैश्च^२ ॥४९॥

आस्थानं मुखात् मलोमसान् चक्र—इत्यभिप्रायः । समुच्चयः ॥४८॥ सैन्येति । अप्रतिकूलवातव्याघनन-
 प्रोल्लसितैः अप्रतिकूलस्यानुकूलस्य वातस्य वायोर्व्याघननेन कम्पनेन प्रोल्लसितैः प्रकाटितैः (दीर्घयमानैः) ।
 तदीयैः तस्य संबन्धे 'महाप्रभावे, महद्भिः प्रभावैः निहादिचिह्नयुतैः । सैन्यध्वजैः सैन्ये सेनायां स्थितै-
 ध्वजैः पताकाभिः । केवलमेव परमेव । सूर्यः आदित्यः । नान्तर्दधे नाच्छादितः । अपि तु शत्रुप्रभावश्च शत्रूणां
 प्रभावस्तैश्चचाच्छादितः ॥४९॥ प्रयाणेति । प्रयाणकालप्रभवे । प्रयाणस्य कालेन^३ प्रभवैरुद्भूतैः । उदारैः
 महद्भिः । तदीयमातङ्गमदप्रभावैः तदीयानां तत्संबन्धानां मातङ्गानां गजानां मदस्य मदजलस्य प्रवाहैर्निर्भरैः ।
 केवलं परम् । पांसुप्रतानः पांसूनां रजसां प्रतानः समूहः । न शमयावभूवे न शमितो बभूव । धाम दम उप-
 शमने णिजन्ताल्लिट् । किन्तु शाश्ववीयं शत्रुसंबन्धि । धाम च प्रभावश्च ॥५०॥ मूर्च्छन्विति । तस्य श्रीवर्म-
 भूपतेः । प्रस्थानशंसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूचकः । पटहप्रणादः पटहाना भेरीणां प्रणाथो ध्वनिः ।
 दरीणां गुहानाम् । विवरेषु रन्ध्रेषु । मूर्च्छन् व्याघ्रवन् । क्षोणोधराणां पर्वतानाम् । परं केवलम् । तटानि
 सानूनि । न पातयामास न पातयति स्म । परं गतो णिजन्ताल्लिट् । द्विपतां शत्रूणाम् । चेतश्च मानसं च
 पातयामास ॥५१॥ पौरैरिति । स^४ श्रौवर्मभूपः । गृहीतरत्नस्थालैः गृहीतानि रत्नस्थालानि यैस्तैः, स्वीकृत-
 रत्ननिमित्तभाजनैरिष्येयः । 'दूरानतपूर्वकायैः दूरादानतो दूरानतः पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, 'पूर्वापर—'
 इत्यादिना समासः, नामेकैर्बन्धे पूर्वकायः, दूरानत पूर्वकायो येषां^५ तैः । पौरैः पुरैः भवाः पौराः तैः पुरजैः ।
 प्रदर्शितानेकपयोविकारैः^६ प्रदर्शितैरुपयनीकृतैरनेकैर्बहुलैः पयोविकारैरुपधादिभिः । ग्राममहत्तरैश्च ग्रामाधि-

मुखको भी मेला कर दिया ॥४८॥ दिग्विजयके लिए जाते समय अनुकूल वायु चल रही थी
 (यह शुभ शकुन है), उससे उसकी सेनाके लहराते हुए झण्डे देखते ही बनते थे । उनके
 ऊपर सिंह आदिके चिह्न बने हुए थे । दर्शकोंपर उनका महान् प्रभाव पड़ रहा था । उन्होंने
 न केवल सूर्यको ही बल्कि शत्रुओंके प्रभावको भी छिपा दिया—अस्त कर दिया ॥४६॥
 प्रयाणके समय उसकी सेनाके हाथियोंके मदजलके बड़े-बड़े प्रवाह बहने लगे, जिनसे न केवल
 मार्गकी धूल ही शान्त हुई, बल्कि शत्रुओंका तेज भी शान्त-ठण्डा हो गया ॥५०॥ उसके
 प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगाड़ेका शब्द पहाड़ोंकी गुफाओंके अन्दर प्रतिध्वनित होने लगा;
 और उसने न केवल पर्वतोंके शिखर ही गिराये किन्तु शत्रुओंके हृदयोंको भी गिरा दिया—
 उन्हें साहस हीन बना दिया ॥५१॥ मार्गमें रत्नोंसे भरे हुए थाल लेकर आये हुए नागरिकोंने
 दूरसे ही अपने मस्तक झुकाकर श्रीवर्मकी अगवानोंकी ओर दही आदि लेकर उपस्थित हुए

१. अ परं । २. अ सहैरानतं । ३. अ प्रत्युद्यये । ४. अ आ इ क ख ग घ म याममहत्तरैश्च ।
 ५. तत्संबन्धिभिः । ६. अतिप्रभावकैः । ७. काले । ८. आ प्रतो 'व्याघ्रवन्' इति नोपलभ्यते । ९. एष
 टीकाकारभूषः पाठः । १०. अयमपि टीकाकारध्वनः पाठः, प्रतिपु तु 'सुदूराभ्यन्त' इत्येव समुपलभ्यते । ११. अ
 एषाम् । १२. = प्रदर्शिता उपयनीकृता अनेके पयोविकारा यैस्तैः ।

निशम्य तस्यातुल्यपुण्यशक्तेः प्रस्थानमाविष्कृतविक्रमस्य ।
 महाभयव्याकुलमानसानां द्विषामभूवन्निति चेष्टितानि ॥५३॥
 दारान्सुतानप्यनपेक्ष्य केचित्स्वदेहरक्षां बहुमन्यमानाः ।
 तत्सैन्यसंचारविमर्दमीता भेजुर्विगन्तान् हरिणैः सहैव ॥५४॥
 कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे कुठारमन्ये भयविह्वलाङ्गाः ।
 सतां शरण्यं शरणं तमोयुजिनं यथा मानमपोह्य भव्याः ॥५५॥
 संनष्ट सैन्यैः सह शौर्यशीघ्रैरेके महामानगजाधिकृताः ।
 तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु प्रपेदिरेऽभ्येत्य पतङ्गवृत्तिम् ॥५६॥

कारिमिः । प्रत्युच्ये समुक्तोऽभूवे (प्रतिगृहीतः) या प्रापणे कर्मणि लिट् ॥५२॥ निशम्येति । अतुल-
 पुण्यशक्तेः^१ अतुला उग्रमाहिता पुण्यस्य सुकृतस्य शक्ति सामर्थ्य यस्य तस्य । आविष्कृतविक्रमस्य
 आविष्कृतः प्रकटीकृतो विक्रमः पराक्रमो यस्य तस्य । तस्य^२ श्रीवर्मभूपस्य प्रस्थानं प्रयाणम् । निशम्य^३
 श्रुत्वा । महाभयव्याकुलमानसानां महाभयेन व्याकुल पीडितं मानसं मनो येषां तेषाम् । द्विषां शत्रूणां । इति
 बध्यमाणप्रकारेण । चेष्टितानि व्यापृतानि । अभवन् अभवन् । भू सत्तायां लुङ् ॥५३॥ दारानिति । केचित् अन्ये ।
 दारान् कलत्राणि । सुतान् पुत्रानपि । अनपेक्ष्य अपेक्षामकुत्वा । स्वदेहरक्षां स्वेषां देहरक्षां शरीररक्षणम् ।
 बहुमन्यमानाः बाष्पछन्तः । तत्सैन्यसंचारविमर्दमीता । तस्य श्रीवर्मभूपस्य सैन्यस्य सेनायाः संचारस्य प्रचारस्य
 विमर्दनं पीडया भीताः । हरिणैः मृगैः । सहैव साकमेव । दिगन्तान् दिशामन्तानवधीन् । भेजुः जग्मुः ।
 भज सेवाया लिट् ॥५४॥ कठोरैति । भयविह्वलाङ्गाः भयेन विह्वल^४ विबलवमङ्ग^५ येषां ते । अन्ये केचि-
 क्षुपाः । कठोरधारं कठोरा निक्षिता धारा यस्य तम् । कुठार पराणम् । कण्ठे गले । विनिवेश्य
 निक्षिप्य । तं श्रीवर्मभूपम् । शरणं रक्षणम् । ईयुः जग्मुः । इण्^६ गतो लिट् । सतां सत्पुरुषाणाम् ।
 शरण्यं शरणं गन्तुं योग्यम् (शरणे साधुः शरण्यस्तम् । 'तत्र साधो' शाकटा० ३।२।१९६ । सत्तप्यन्तान्-
 साधवश्च यो भवति । सामनि साधु सामन्यः । कर्मण्यः । शरण्यः । लभ्य । साधुः योग्यः, प्रवीणः, उपकारको
 वा । इति चिन्तामणिवृत्ती ।) । जिनम् अहंस्पतिम् । मानं गर्वम् । अपोह्य त्यक्त्वा । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवन-
 योग्याः । यथा^७ ईयुस्तथेत्यर्थः ॥५५॥ सन्नष्टेति । महामानगजाधिकृताः महाग्नौ माना गर्वाः । त एव गजा-
 स्तानधिकृताः । एके केचित् । शौर्यशीघ्रैः शौर्येण प्रतापेन शीघ्रैर्व्रितैः । सैन्यैः सेनाभिः । सह सम्म् ।

ग्रामोके बुजुगौ और अधिकारियोंने भी दूरसे ही मस्तक झुकाकर उसकी अगवानी की—
 स्वागत किया ॥५२॥ श्रीवर्मका पुण्यबल अतुल है और उसका पराक्रम किसीसे छिपा नहीं
 है—प्रकट हो चुका है । उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान कर दिया है, यह सुनते ही शत्रु
 लीगोंका हृदय भारी भयसे व्याकुल हो उठा । फलतः उनको ये चेष्टाएँ हुई—॥५३॥ श्रीवर्म-
 की सेनाके संचारसे कही हम रोदे न जायें, यह सोचकर कुछ शत्रु इतने भयभीत हुए कि अपनी
 पत्नी और पुत्रोंको भी छोड़कर, अपने शरीरकी रक्षाको ही बहुत मानकर हिरणोके साथ
 दिशाओंके छोरोंमें जा पहुँचे ॥५४॥ कुछ शत्रु भयसे इतने व्याकुल हुए कि वे अपने कण्ठमे कठोर-
 पैना कुठार लगाकर सत्पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले श्रीवर्मकी शरण जा पहुँचे । जैसे भव्य जीव
 मानकषायकी छोड़कर भगवान् जिनेन्द्र देवकी शरण जाते हैं ॥५५॥ कुछ शत्रु महान् मान-
 धमण्डके हाथीपर सवार होकर, धूर बीरताके धमण्डमे चूर अपने सैनिकोंके साथ सजकर,

१. = प्रतिगृहीतः । २. आ शक्तिः । ३. आ प्रतापेव 'तस्य' इति पद दृश्यते । ४. आ आनिशम्य ।

५. = सुतानपि । ६. = उपेक्ष्य । ७. आ कृषं । ८. स वारं । ९. स वारं । १०. स वारं । ११. स
 इत् । १२. स इयुः ।

पत्रं धनं धान्यमशेषरत्नाम्युपायनीकृत्य निरस्तदर्पाः ।

हिमर्तुवृक्षा इव शातिताङ्गाः स्वजीविताभ्येव ररक्षुरभ्ये ॥५७॥

बद्धाञ्जलीन्खण्डितमातशृङ्गान्युद्धीतसारानथ ताम्बिधाय ।

न्ययुक्तं स स्वेषु पदेषु भूपः^१ सतां हि कोपो नमनावसानः ॥५८॥

निपातितानां रणमूर्धन्यरीणामुपेयुषः कण्ठकुठारवृत्त्या ।

सोऽन्वप्रहोर्दारमनास्तनूजान्युक्तैव दीनेषु^२ कृपोन्नतानाम् ॥५९॥

सम्राट् सज्जोक्त्य । तदीयशस्त्राग्निशिखाबलीषु तदीयस्य तस्य संबन्धस्य (तत्संबन्धिनः) शस्त्रस्थायुधस्यानेः शिखानां उवालानामाबलीषु समूहेषु । अभ्येत्य पतित्वा । पतङ्गवृत्ति पतङ्गस्य शलभस्य वृत्ति वर्तनम् । प्रपेदिरे ययुः । पवि गतो लिट् ॥५६॥ पत्रमिति । निरस्तदर्पाः निरस्तो निराकृतो दर्पो गर्वो येस्ते (येषां ते) । अन्ये केचित् । पत्रं बाह्वन्, पक्षे पर्णम् । 'पत्रं बाह्वनपर्णयोः' इत्यमरः । धनं द्रव्यम् । धान्यम् । अशेष-रत्नानि समस्तरत्नानि । उपायनीकृत्य^३ उपग्राह्यं कृत्वा । हिमर्तुवृक्षा इव हेमन्तकालस्य वृक्षा इव तरव इव । शातिताङ्गाः कृती [शो-]कृतशरीराः^४ । स्वजीविताभ्येव स्वजीवनान्येव । ररक्षुः पालयामासु । रक्ष पालने लिट् ॥५७॥ बद्धेति । स. भूपः । अथ अनन्तरम् । बद्धाञ्जलीन् रचिताञ्जलीन् । खण्डितमानशृङ्गान् खण्डितं मान एव शृङ्गं येषां तान् । गृहीतसारान् स्वीकृतवस्तून् । तान् । शत्रून् । विधाय कृत्वा । स्वेषु स्वकीयेषु । पदेषु स्थानेषु । न्ययुङ्क्त न्ययोजयत् । युजिर् योमे^५ लङ् । सता सत्पुरुषाणाम् । कोपः क्रोधः । नमनावसानो हि नमनमेषावसानं यस्य सः (नमननावसानं यस्य सः) । बध्नातिरस्यास. ॥५८॥ निपातीति । रणमूर्ध्न रणस्य सग्रामस्य मूर्ध्नि अग्रे । निपातितानाम् । अरीणां शत्रूणाम् । कण्ठकुठारवृत्त्या कण्ठे प्रीवाया बर्चमानस्य कुठारस्य परशोर्वृत्त्या वर्तनेन । उपेयुषः आगतवतः । इण् गतो 'सिट् बन्धुसुक्तौ' इति बन्धुः । तनूजान् तनूयान् । आर्द्रमनाः मृदुमानसः । सः श्रीवर्मभूपः । अन्वगृहीत् काश्यपमकरोत् । उन्नतानां महताम्

श्रीवर्माका सामना करनेके लिए घरसे निकल पड़े, किन्तु वे उसकी शास्त्राग्निश्रीकी उवालामें गिरकर पतङ्गोंकी तरह जल गये ॥५६॥ कुछ शत्रुओंने अहङ्कारको छोड़कर, और श्रीवर्माको बाह्वन्, धन, धान्य और समस्त रत्न उपहारमें देकर अपनी जान बचाली । जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्ष (पाला पड़नेसे) पत्तोंको त्यागकर ठूँठ जैसी स्थितिमें पहुँचकर भी अपना जान बचा लेते हैं ॥५७॥ श्रीवर्माने कुछ शत्रुओंको उनसे हाथ जुड़वाकर मान रहित कर दिया और उनकी सारभूत सम्पत्ति अपने अधीन कर ली । ऐसी अवस्थामें वे सींग टूट जानेसे पशुकी भाँति दयनीय प्रतीत होने लगे और विरूप भी । उनकी यह दशा देखकर श्रीवर्माको दया आ गयी । फलतः उसने उन्हें, उन्हींके पद पर पुनः नियुक्त कर दिया । सच है सज्जनोंका क्रोध विरोधीके नमन करते ही शान्त हो जाता है ॥५८॥ कुछ अहंकारी शत्रु लड़नेके लिए लड़ाईके मैदानमें आ डटे, किन्तु श्रीवर्माकी सेनाके सामने वे टिक नहीं सके, फलतः मार गिराये गये । इसके पश्चात् उन मरे हुए शत्रुओंके लड़के अपने-अपने गलेमें कुठार लगाकर श्रीवर्माकी शरणमें उपस्थित हुए । उन्हें देखकर उसका हृदय पिघल गया, अतः उसने उनके ऊपर बड़ा अनुग्रह

१. आ इ क ख ग घ म भूपः । २. अ द्वीपेषु । ३. = उपहृत्य । ४. श कृतशरीराः । ५. आ एषाम् । ६. श युजिर् योमी । ७. = अनुजग्राह ।

गताथलेपैः प्रविशद्भिरेत्य दत्ताभयैर्मण्डलिनां समूहैः ।
 दिने दिने तत्कटकः समन्तादधर्घताम्भोधिजिगीषयेव ॥६०॥
 गण्डस्थलामोदहतद्विरेकैर्मदाम्बुचिह्नैर्द्वितभूरजोभिः ।
 तत्तोरणद्वारमभूदुदारैर्न जानुचिच्छून्यमुपायनेभैः ॥६१॥
 गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचोर्ध्वैर्मृगेन्द्रशाघैरपि पञ्जरस्थैः ।
 तं पार्वतीयाः समुपेत्य भीताः सिपेधिरं सेवकवृत्त्यभिज्ञाः ॥६२॥
 वस्तूपदीकृत्य विचित्ररूपं द्वीपोद्भवं द्वीपपतीनुपेतान् ।
 संभावयामास स तृष्टिदानैश्चेतः प्रभूणां नहि नोचितशम् ॥६३॥

दीनेषु अनाथेषु । कृपा दया । युक्तव योग्यैव । अर्थान्तरन्यासः ॥५९॥ गतेति । गतावलेपैः गतोऽगृहो लेपो गवों येषां तैः । दत्ताभयैः दत्तमभयं येषां (येभ्यः) तैः । मण्डलिनाम् अरातिभूपानाम् । समूहैः । एतय आगत्य । प्रविशद्भिः अन्तर्गच्छद्भिः । दिने दिने दिवसे दिवसे । बोध्याया द्वि । तत्कटकस्य श्रीवर्मण कटकं शिबिरम् । अम्भोधिजिगीषयेव अम्भोवि समुद्र जिगीषयेव जेतुमिच्छयेव । समन्तान् सर्वतः । अवर्द्धत ऐषत । वृधूञ् वर्धते लट् । उपमा (उपदेशा) ॥६०॥ गण्डेति । गण्डस्थलामोदहतद्विरेकं गण्डस्थलस्य कपोलप्रदेशस्यामोदेन परिमत्तेन हृता आकृष्टा द्विरेका भ्रमरा येषां (यैः) तैः । मदाम्बुविषयेति भूरजोभिः मदाम्बुना मदत्रलेन बले [विकले-]दितानि भूवी भूम रजासि येषां (यैः) तैः । उदारै महद्भिः । उपायनेभैः उपायनार्थमानोर्तैः भैर्गजैः । तत्तोरणद्वार तस्य भूास्य तोरणद्वार बहिर्द्वारम् । जानुचित् कदाचिदपि । शून्य रिक्तम् । नामून् नाभवन् । ६१॥ गजेन्द्रेति । भीता बिभ्रति स्म भीताः । सेवकवृत्त्याभिज्ञा । मेवकाना भूतयाना वृत्तो वर्तनेऽभिज्ञा प्रवीणा । पर्वतीयाः पवते भवाः पर्वतीयाः, व्याघा इत्यर्थः । त श्रीवर्मभूपम् । गजेन्द्रदन्तैः गजेन्द्राणा दन्तैः । चमरीकचोर्ध्वं चमरीणा चमरीमृगणा कवाना वेशानामोर्ध्वं समूहैः । पञ्जरस्थैः पञ्जरे तिष्ठन्तीति पञ्जरस्थाः तैः । मृगेन्द्राण्यै मृगेन्द्राणां शावैः । पोतैरपि । समुपेत्य आगत्य । सिपेधिरं सेवन्ते स्म । सेवद् सेवने लिट् ॥६२॥ वस्तिवति । द्वीपोद्भवं द्वीपे उद्भूतमुत्पन्नम् । विचित्ररूपम् आदर्य-रूपयुक्तम् । वस्तु । उपदीकृत्य उपायनोक्त्य । उपेतान् समाभागतान् । द्वीपपतीन् अन्तरंगीणाधिपान् । स.

किया । महान् पुरुषोंका अनार्थों पर दया करना उचित हो है ॥५९॥ श्रीवर्मकिं विजयके इन समाचारोंको सुनकर, माण्डलीक राजाओंका वर्ग अहंकार छोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ । श्रीवर्मने उन्हें अभय प्रदान किया और उन्हें अपनी सेनामें प्रविष्ट कर लिया । इसमें उसकी सेना सभी ओरसे बढ़ गयी । मानो वह अपने विस्तारसे समुद्रको जीतना चाहती हो ॥६०॥ इसके पदचात् श्रीवर्मा मार्गमें जहाँ भी पड़ाव डालता था, अनेक राजे-महाराजे उसके लिए उपहारमें बड़े-बड़े हाथी भेजते थे, जो अपने गण्डम्यन्त्रोंके मदबलको सुगन्धिसे भौरोंको अपनी ओर खींचते थे, और जो मदबलसे पृथिवीको घूर्णितको गोला कर देते थे । उन हाथियोंसे उसका बाहरी दरवाजा कभी खाली नहीं रहता था ॥६१॥ सेवा करनेमें चतुर पहाड़ी लोग श्रीवर्मके पराक्रमके समाचार सुनकर भयभीत हो गये, अतः वे हाथी दाँत, चमरी गावोंके बाल और कटघरोंमें बन्द मिट्टीके बच्चोंको लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए । उन्होंने उसकी खूब सेवा की ॥६२॥ द्वीपोंके अधिपति अपने-अपने द्वीपोंकी विलक्षण वस्तुओंको उपहारमें देनेके लिए श्रीवर्मसे मिले । उमने उन्हें सन्तोषजनक प्रत्युपहार देकर सम्मानित किया ।

१. अ आ इ क ग घ ङ ञ णिष्ठ । २. अ आ इ स वृष्टि । क ख ग घ ङ सुदृष्टिदानैः ।

३. आ कपाली । ४. श स विस्तीर्णित । ५. श स विस्तीर्णितानि । ६. श स सेव । ७. = अद्भुतमित्यर्थः ।

या तेन मुक्ता रविणैव साभूवृक्षारिणी शत्रुचिन्तामिराशा ।
प्रधूमिता यां च चकाङ्क्ष यातुं पलायमानारिचमूरजोभिः ॥६४॥

कल्लोलहस्तैः स्फुरदंशुजालं मुक्ताफलौघं विकिरंस्तटेषु ।
वेलाघनप्राप्तबलस्य तस्य भयादिवादेत्स्करमर्णवोऽपि ॥६५॥

द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु विविक्षु दिक्षु प्रतिकूलिताश्च ।
न कोऽपि तस्याजनि पुरयराशेर्देवेऽनुकूले किमु नानुकूलम् ॥६६॥

मुपतिः । तुष्टिदानैः तुष्टेः सन्तोषकरस्य दानैः । सभावायामास सत्करोति स्म । मू कृपावक्रहपने लिट् । प्रभूणां स्वामिनाम् । चेत-चित्तम् । नोचितजं नहि अनुचितजं नहि (उचितजं नहि, इति न) अपि तु उचितजमेव ॥६३॥
येति । रविणैव सूर्येणैव । तेन श्रीवर्मभूषेन । मुक्ता त्यक्ता । या आशा दिक् । सा शत्रुचिन्ताभिः शत्रुशक्तीनां चिन्ताभिः दाहकाण्डे । अङ्गारिणी हसन्ती, पक्षे सूर्यत्यक्ता । 'अङ्गारिणी हसन्त्या च भारकररत्यक्तदिश्यपि ।' अभूत् अभवत् । स. भूपः । या दिशम् । यातुं गन्तुम् । चकाल ववाञ्छ । बांश काशाया लिट् । पलाय-मानारिचमूरजोभिः पलायमानानां धावतामरीणां शत्रूणां चमूनां सेनानां रजोभी रेणुभिः प्रधूमिता बलेक्षिता, पक्षे सूर्येण गन्तव्या । 'प्रधूमिता [प्रधूमिता] बलेक्षिताया सूर्यगन्तव्यदिश्यपि ।' अभूत् । इत्येव ॥६४॥
कह्लोलेति । अर्णवोऽपि सागरोऽपि^१ । कल्लोलहस्तैः । कल्लोलः गन्तव्या एव हस्ता पाणयस्तैः । रूपकम् । स्फुरदंशुजालं स्फुरत् प्रज्वलद् अंशूनां किरणानां जाल यस्य तम् । मुक्ताफलौघं मुक्ताफलानां मोहितकानामोघं समूहम् । तटेषु तीरेषु । विकिरम् विक्षिपन् । वेलाघनप्राप्तबलस्य वेलायास्तटस्य वनमरणं प्राप्तं यातं बलं सैन्य यस्य तस्य । [तस्य] भूपस्य भयादिब मोतेरिव । करं सिद्धायम् । आशान् आयच्छत् । दुष्टान् दाने लुट् । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ द्वापेर्विति । पुण्यराशेः पुण्यानां मुकुतानां राशेरिव । तस्य श्रीवर्मणः । द्वीपेषु अन्तर्द्वीपेषु । दुर्गेषु जलदुर्गवनदुर्गगिरिदुर्गेषु । अथ अन्तरम् । मण्डलेषु देशेषु । विविक्षु विगन्तरेषु । दिक्षु आशासु । कोऽपि एकोऽपि । प्रतिकूलिताश्चः प्रतिकूलं गता आज्ञा यस्य सः । न अजनि नाज्ञायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लुट् । अनुकूले अनुकूलरूपे । देवे पुण्ये । नानुकूलम् अनुकूल (ना) रहितम् । किमु न किमतीत्यर्थः । अथन्तरम्यासः ॥६६॥

राजाओंका हृदय उचित व्यवहारको नहीं जानता, यह बात नहीं है—राजा उचित व्यवहार-को खूब जानते हैं ॥६३॥ श्रीवर्मा सूर्य सरोखा था । सूर्य जिस दिशाको छोड़ता है वह अंगारिणी कहलाती है और वह जिस दिशामें जाता है वह प्रधूमिता । इसी प्रकार वह जिस दिशासे चला आता था वह शत्रुओंकी चिन्ताओंसे अंगारिणी—अंगारवाली हो जाती थी और जिस दिशाकी ओर प्रस्थान करता था वह भागती हुई शत्रुसेनाओंकी घूलिसे प्रधूमिता—मलिनवर्णा हो जाती थी ॥६४॥ दिग्विजय करते-करते श्रीवर्मा समुद्रके तटपर जा पहुँचा । उसने अपनी सेना समुद्र तटके आस-पासके वनोंमें ठहरा दी । इस अवसर पर समुद्रकी तरंगों, तरंगों क्या, उसके बाहुओंसे चमचमाते हुए मोती श्रीवर्माकी ओरके किनारे पर आ रहे थे, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र भी भयभीत होकर उसे टेक दे रहा हो ॥६५॥ श्रीवर्मा साक्षात् पुण्यकी राशि था वह जिन द्वीपों, अन्तर्द्वीपों, जलदुर्गों, वनदुर्गों, पहाड़ी दुर्गों, देशों, दिशाओं और विदिशाओंमें पहुँचा, वहाँ कोई भी मनुष्य उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका । देवके

१. म °दिवारात् । २. श स कृपो । ३. आ प्रतावेव 'सागरोऽपि' इति दृश्यते । ४. श स अदात् अयच्छत् ।

संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण नीता पुनस्तेन रति समानम् ।

बधूरिषाम्भोनिधिवारिवस्त्रा बभूव वक्ष्या सकला धरित्री ॥६७॥

इति प्रसाध्याखिलभूतघात्रीं घात्रीं चतुर्वारिधिवारिसीमाम् ।

स बन्ध्वन्दैरभिवन्द्यमानः श्रीमान्पुनः श्रीपुरमाससाद् ॥६८॥

नबोधयं प्रस्फुरितप्रतापं प्रसादितशेषदिगन्तरालम् ।

प्रत्यागतं भानुमिव प्रणन्तुं तमर्धहस्ता जनता निरीयुः ॥६९॥

संस्पृश्येति । पूर्वं प्रथमम् । करेण सिद्धायेन, पक्षे हस्तेन । परितः सर्वतः । संस्पृश्य स्पर्शने कृत्वा । पुनः पश्चात् । तेन भूपेन । समानाम् अभिमानसहिता, पक्षे समरूपाम् । रति सुरतं प्रीति च । नीता यापिता [प्रापिता] । अम्भोनिधिवारिवस्त्रा अम्भोनिधेः समुद्रस्य वायव्यं सलिलमेव वस्त्रं वसनं यस्याः सा । सकला सर्वा । धरित्री भूमिः । बधूरिषः स्त्रीषु । वक्ष्या वक्ष्यं वता । 'वक्ष्यपद्य—' इत्यादिना साधुः । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । स्लेषोपमा ॥६७॥ इतीति । चतुर्वारिधिवारिसीमा चतुर्णां वारिधौना वायव्यं सीमा यस्यास्ताम् । अखिलभूतघात्रीम् अखिलाना सकलाना भूताना प्राणिना घात्रीकोपमातेव प्रवर्तमानाम् (प्रवर्तमाना ताम्) । घात्रीं भूमिम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य साधयित्वा । बन्ध्वन्दैः स्तुतिपाठकसमूहैः । अभिवन्द्यमानः स्तुयमानः । श्रीमान् सम्पत्तिमान् । सः श्रीवर्मभूषः । पुनः पश्चात् । श्रीपुरं श्रियोपलक्षितं पुरं—श्रीपुराङ्गं पुरम् । आससाद् आजगाम । बद्धं विघरणगत्यवसादनेषु लिट् । ऋपकम् ॥६८॥ नबोति । नबोदयं नबो नूतन उदय ऐश्वर्यं, पक्षे उत्पत्तिर्यस्य तम् । प्रस्फुरितप्रतापं प्रस्फुरित प्रज्वालितः प्रताप प्रभावः, पक्षे प्रतापस्तेजो यस्य तम् । प्रसादितशेषदिगन्तरालं 'प्रसादिताना प्रसत्रीकृतानामशेषाणां दिशामाशानामन्तरालं यस्य तम् । प्रत्यागत पुनरागतम् । भानुमिव सूर्यमिव । तं श्रीवर्माणम् । प्रणन्तु नमस्करणात् । 'अर्धहस्ताः' अर्धनायोग्यद्रव्ययुक्ताः । जनताः जनानां समूहा जनताः । 'ग्रामजनबन्धुनजसहायात्तल' । निरीयुः

अनुकूल होनेपर कौन अनुकूल नहीं होता ? ॥६६॥ जिस प्रकार चतुर पति अपनी नववधूका— जो समुद्रके समान बड़े लहंगे आदि कपड़े पहनकर लज्जाके कारण एक ओर सिमटी बैठी है— अपने कोमल हाथसे चारों ओर स्पर्श करता है, और फिर उसके मनमें अपने ही समान रतिकी वासनाको उद्बुद्ध करके अपने वशमें कर लेता है । इसी प्रकार श्रीवर्माने समुद्रमें घिरी हुई सारी पृथ्वीको अपना बनाकर उससे टेक्स बसूल किया फिर सुन्दर व्यवस्थासे उसको अपने समान सुखी बनाकर वशमें कर लिया ॥६७॥ इस प्रकार चार समुद्रों तक सीमित समस्त पृथ्वीको—जो समस्त प्राणियोंकी उपमाता है—जीतकर श्रीमान् श्रीवर्मा श्रीपुर लौट आया । लौटते समय रास्तेमें स्तुतिपाठकोंके वर्गने उसका पुनः अभिवन्दन किया ॥६८॥ जिस प्रकार प्रातःकाल उदित होनेवाले, अपने प्रतापकी चारों ओर फैलानेवाले और सभीको प्रसन्न करनेवाले नवीन सूर्यको प्रणाम करनेके लिए लोग अपने-अपने हाथोंमें अर्घ-सामग्री लेकर घरसे निकलते हैं । इसी प्रकार जब दिग्विजयसे श्रीवर्मा लौटा तो उसका ऐश्वर्य बिलकुल नवीन हो गया; उसका प्रताप सभी ओर फैल गया और उसने सभी दिशाओके निवासी शिष्ट पुण्योको प्रसन्न कर दिया । उसके आनेके समाचार सुनते ही श्रीपुरके रहनेवाले सभी लोग उसे प्रणाम करनेके

१. अ आ इ क ख ग घ म प्रसाधिता । २. श स याता । ३. वा स प्रवर्त्य° । ४. = प्रसादितं प्रसत्रीकृतं दिशामाशानामन्तरालं मध्यभागो येन तम् । ५. आ अर्थ° ।

मनोहरैः संहतकच्छवाटैर्बहिर्भुवां श्यामरुचः प्रदेशान् ।
 विलोकयन् राजगजाधिकुडः स गोपुरस्याभिमुखो बभूव ॥७०॥
 भरक्षमत्पारुहमूलबद्धस्कन्धान्मदान्धानलिशोभिकुम्भान् ।
 व्यलोकतासौ ध्रुवतः शिरोधोऽकृतप्रणामानिब धारणेन्द्रान् ॥७१॥
 कलं नवन्ती परिखातटेषु निषेदुषो शङ्खसिता समन्तात् ।
 हंसावलिस्तस्य जहार चित्तं सहैव^१ गत्या गमनोत्सुकस्य ॥७२॥
 स खातिकायाः पयसो विनिर्यत्कुतूहलेनेव विलोकनस्य ।
 ददर्श पाठीनकुलं समन्तात्सरोजजैः पिञ्जरितं रजोभिः ॥७३॥

निर्जग्मुः । इण् गती लिट् । इत्येवंपमा ॥६९॥ मनोहरैरिति । बहिर्भुवां^२ बाह्यभूमिनाम् । मनोहरैः सुन्दरैः ।
 संहतकच्छवाटैः संहतैः कच्छवाटैः शाकवाटैः । श्यामरुचः श्यामा हरिद् रुचकान्तियेषां तान् । प्रदेशान् ।
 विलोकयन् पश्यन् । राजगजाधिकुड राजगजं गन्धहस्तिनमाकुडः । स श्रीवर्मभूपः । गोपुरस्य बहिर्द्वारस्य ।
 अभिमुखः समुखः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । सामान्यालङ्कारः । ७०॥ भरेति । भरक्षमत्पारुह-
 मूलबद्धस्कन्धान् भरस्य भारस्य लयस्य^३ पमारुहाणां मूलेषु बुध्नेषु बद्धाः स्कन्धा येषां तान् । मदान्धान्
 मदेनान्धान् । अलिशोभिकुम्भान् अलिभिर्भ्रमरैः शोभिनां मनोहराः कुम्भा येषां तान् । शिरोधोऽन् कम्बरान् (?) ।
 'शिरोविः कम्बरेत्यपि' इत्यमरः । ध्रुवतः कम्पमानान् (कम्पयमानान्) कृतप्रणामानिब कृतनमस्कारानिब ।
 धारणेन्द्रान् गजेन्द्रान्^४ । असौ भूरः । व्यलोकत अपश्यत् । लोकां दर्शने लङ् ॥७१॥ कळमिति । परिखा-
 तटेषु खातिकातीरेषु । समन्तात् सर्वतः । निषेदुषो स्थितवती । कलं मनोहरम् । नवन्ती ध्वनन्ती । शतु-प्रत्ययः ।
 शङ्खसिता शङ्ख इव सिता शुभ्रा । हंसावलिः हंसानां हंसाक्षिणामावलिः^५ समूहः । आगमनोत्सुकस्य आगमने
 उत्सुकस्योद्युक्तस्य तस्य श्रीवर्मभूषस्य । गत्या गमनेन । सहैव^६ चित्तं मानसम् । अहार हरति स्म । उपमा
 [सहोक्तिः] ॥७२॥ स इति । स. श्रीवर्मभूषः । विलोकनस्य दर्शनस्य । कुतूहलेनेव कीर्तुकेनेव । खाति-
 कायाः परिखायाः । पयसो जलात् । विनिर्यत् विनिर्मलं । सरोजे कमलं जायन्त इति सरोजजानि तैः ।
 रजोभिः घूर्जभिः । समन्तात् परितः । पिञ्जरितं सुवर्णवर्णम् । पाठीनकुलं पाठीनानां मानीनां कुलं
 समूहम् । 'मीन पाठीन एव च' इत्यभिधानात् । ददर्श व्यलोकत^७ । दृग् प्रेक्षणे लिट् । उपमा [उत्प्रेक्षा]

लिए अपने-अपने हाथोंमें अर्धं मामग्री लेकर घरोसे निकल पड़े ॥६९॥ श्रीपुरके बाहर पास-
 पासमें अनेक कच्छवाड़े थे । उनमें शाक-भाजी लगी हुई थी । उनके कारण सभी ओरकी भूमि
 हरी-भरी दृष्टिगोचर हो रही थी । श्रीवर्मा गजराजपर आरुढ़ होकर उसे देखते हुए पुरद्वारकी
 ओर चले जा रहे थे ॥७०॥ कुछ आगे जाकर श्रीवर्मने उन हाथियोंको देखा, जिनके गलेकी
 सांकलें बहुत मजबूत पेड़ोंके तनोंसे बँधी हुई थीं; जो मदान्व थे; जिनके गण्डस्थलोंपर भीरे
 बैठे हुए थे और जो गर्दन हिला रहे थे । उन्हें देखकर श्रीवर्माको लगा कि वे उसे
 नमस्कार कर रहे हैं ॥७१॥ इनके बाद श्रीवर्मने खाईके किनारोंपर मनोहर शब्द करने-
 वाली, सभी ओर बैठी हुई, शङ्खकी भाँति सफेद हंस-पंक्ति देखी । वह आगे जानेको उत्सुक
 था, किन्तु उसके मन और गमन दोनोंको एक ही साथ उस (हंस-पंक्ति) ने हर लिया
 ॥७२॥ उस समय श्रीवर्मने पद्म-परागसे रंगकर सुनहले रंगका प्रतीत होने वाला एक मछ-
 लियोंका झुण्ड देखा । वह खाईके जलकी सतहसे कुछ ऊपर उछल रहा था । अतः ऐसा प्रतीत

१. वा सहैव । २. वा स बाह्यभुवाम् । ३. = मरे भारवहने क्षमाणां । ४. वा प्रती केवलं,
 'गजेन्द्रान्' इति समुपलभ्यते । ५. = पंक्तिः । ६. साकमेव । ७. वा स व्यलोकयत ।

गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः पौराङ्गनास्तं नयनाभिरामम् ।

संभूय नेत्राञ्जलिभिः पिबन्त्यो न सस्मरुः स्वं श्लयनीविबन्धम् ॥७४॥

समधिकनवयौवनोदयश्रीर्विबन्धः शशिनं शरीरकान्त्या ।

स नृपतिरविशत्पुरं पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पञ्चबाणः ॥७५॥

सह शशिसमकान्त्या शीलसौभाग्यवत्या

विधृतचिमलमूर्त्या कामशक्त्येव देव्या ।

रतिसुखमसमानं मानयन्स्वैविलासै-

रकृन् निकृतशत्रुस्तत्र राज्यं स भूपः ॥७६॥

॥७३॥ गवाक्षेति । गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः गवाक्षेषु वातायनेषु निक्षिप्तानि मुख्यान्वेव वदनाभ्येवार-
विन्दानि यासा ताः । पौराङ्गनाः^१ पुरे विद्यमाना अङ्गनाः तथोक्ताः । संभूय संमिलित्वा^२ । नयनाभि-
रामं नयनानां लोचनानामभिरामं मनोहरम् । तं भूपम् । नेत्राञ्जलिभिः । नेत्राण्येव नयनाभ्येवाञ्जलयस्ते^३ ।
पिबन्त्यः पानं कुर्वन्त्यः । स्वं स्वकीयम् । श्लयनीविबन्धं श्लय विश्लिष्टं नोविबन्धम् (वस्त्रप्रणयम्) । न
सस्मरुः न स्मरन्तिस्म । द्यै स्मृतिताया लिट् । रूपकम् ॥७४॥ समेति । समधिकनवयौवनोदयश्रीः समधिका
नवस्य यौवनस्योदयस्य^४ श्रीः शोभा यस्य सः । शरीरकान्त्या वात्रस्य शोभया । शशिनं चन्द्रम् । अधः
तिरस्कारं विदधत् कुर्वन् (अधोविदधत् तिरस्कुर्वन्) । सः नृपतिः श्रीवर्मभूपः । पुरं श्रीपुरम् । पञ्चबाणः
काम इव । पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पुरस्य पत्तनस्यान्तर्गतानां वनिताणां कान्तानां हृदयं मानसं च ।
अविशत् प्राविशत्^५ । विश् प्रवेशने लङ् । उपमा तुल्ययोगिता ॥७५॥ सहेति । शशिसमकान्त्या शशिन-
सद्वदस्य समा सनानां कान्तिं शोभा^६ यस्यास्तथा । शीलसौभाग्यवत्या शीलसौभाग्याप्राप्त्य युक्तया ।
विधृतचिमलमूर्त्या विधृता भूता चिमला निर्मला मूर्तिर्यस्या (यया) तथा । कामशक्त्येव मन्मथशक्त्येव । देव्या
महिन्या प्रभावतीनामधेयया । असमानं समानं [ता] रहितम्^७ । रतिसुखं कामसुखम् । स्वैः स्वकीये ।
विलासैः विनोदैः^८ । मानयन् अनुभवन् । निकृतशत्रुः निकृता निराकृता, शत्रुको येन स । स भूपः श्रीवर्मनृपतिः ।

हो रहा था, मानो वह भी उस (श्रीवर्मा) को देखनेके लिए उत्कण्ठित हो ॥७३॥ श्रीवर्मा
इसके पदचात् कुछ और आगे बढ़ा । उसे देखनेके लिए श्रीपुरम्को स्त्रियाँ सम्मिलित होकर
अपने-अपने मकानोंकी खिडकियोंमें अपने-अपने मुख कमलोंको लगाकर खड़ी हो गयी । वे
अपनी-अपनी नेत्र रूपी अञ्जलियोंसे अत्यन्त सुन्दर उस (श्रीवर्मा) को पीने (प्रेम पूर्वक देखने)
में इतनी तल्लीन हो गयी कि उन्हें अपने ढीले नाडे या धोतीकी गाँठको बाँधनेका कोई खयाल
ही नहीं रहा ॥७४॥ श्रीवर्मके ऊपर नवयौवनकी पूर्ण सुपमा व्याप्त थी । उसने अपने शरीरकी
कान्तिसे चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था । उसने ज्यों ही श्रीपुरम्में प्रवेश किया, त्यों ही
कामदेवने वहाँकी स्त्रियोंके हृदयमें प्रवेश किया ॥७५॥ श्रीवर्मा अपने सभी शत्रुओंको जीत
चुके थे । अतः निश्चिन्त होकर अपनी रानी प्रभावतीके साथ — जिसकी कान्ति चन्द्रमाके
समान थी; जो शील और सौभाग्यसे सम्पन्न थी और जो कामदेव की निर्मल मूर्तिको धारण
करके आयी हुई साक्षात् शक्ति थी — नाना विलासोंके साथ अनुपम सम्भोग-सुख भोगते हुए

१. अ विवृत^१ । २. आ श स पुराङ्गना^२ । ३. स स् संमेल्य । ४. आ विविलष्ट । ५. आ 'दयश्रीः ।
६. आ प्रविशति स्म । ७. आ श्रीवर्मशोभा । ८. = अनुपममित्यर्थः ।

दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमभ्रवृन्द-

मुत्पत्त्यनन्तरविनाशि विनाशितारिः ।

निर्वेदमाप सहसा स भवस्थितिज्ञः

सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम् ॥७७॥

श्रीकान्ताय समर्प्य राज्यमखिलं नत्वा मुनिं श्रीप्रभं

प्रमज्य प्रशमानुरक्तहृदयस्तत्त्वा तपो दुधरम् ।

सौधर्मे परमोदयः प्रमुदितो द्व्यब्धिप्रमायुः स्थिति-

देवः श्रीधर इत्यभूत्स विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः ॥७८॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिनकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तत्र ओपुरे । राज्यम् अकृत अकृत । दुःकृन् करणे लुङ् । उपमा ॥७६॥ दृष्ट्वेति । विनाशितारिः विनाशिता विहता अरयः शत्रवो येन सः । स श्रीधर्मभूपः । अथ भोगानुभवानन्तरम् । कदाचित् एकदा । उत्पत्त्यनन्तर- विनाशि उत्पत्तेरनन्तरमुत्तरसमये विनाशि नाशि । शारद शरत्कालसम्बन्धम् । अभ्रवृन्दम् अभ्राणा मेषानां वृन्द निबहम् । दृष्ट्वा । भवस्थितिज्ञः भवस्य संसारस्य स्थितिज्ञ स्थिति जानन् । सहसा क्षीघ्रेण (शं घ्रम्) । निर्वेदं विरागम् । आप ययो । आप्लं व्याप्तौ लिट् । तथा हि—सन्त सत्पुरुषाः । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अतिसक्तिम् अतिप्रीतिम् । न प्रयान्ति हि न गच्छन्ति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥७७॥ श्रीति । स श्रीधर्मभूपः । श्रीकान्ताय श्रीकान्ताभिधानमुताय । अखिल निखिलम् । राज्य सपर्य्य दत्त्वा । श्रीप्रभं श्रीप्रमाख्यम् । मुनिं मुनीन्द्रम् । नत्वा नमस्कृत्य । प्रबुज्य तपः स्वीकृत्य । प्रशमानुरक्तहृदयः सन् प्रथमेन रागद्वेषोपशमनेनानुरक्तं हृदयं यस्य सः । दुधरम् आचरितुमशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । तत्त्वा । सौधर्मे प्रथमस्वर्गः । परमोदयप्र- मुदित परमेणोत्कृष्टनोदयेनैश्वर्येण प्रमुदितः संतुष्टः । द्व्यब्धिप्रमायु स्थितिः द्वौ अवधौ प्रमाण यस्याः सा चायुषस्य [वायुष] स्थितिर्यस्य स । विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः विबुधस्त्रीणां देवत्राणां नेत्राणां नयनानां नित्योत्सवः । श्रीधर इति देवः सुरः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लृङ् ॥७८॥

इति वीरनन्दिनकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये सप्तमोऽध्यायः च
बिह्वन्मनोबलमाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

राज्य करने लगे ॥७६॥ इसके पश्चात् शत्रु-विजेता श्रीधर्मनि किसी समय शरत्कालीन मेघ देखा, जो उत्तन्न होते ही नष्ट हो गया । उसके देखते ही उसने संसारको स्थिति जान ली कि संसार शरत्कालीन मेघके समान क्षणभंगुर है । फलतः उसे वैराग्य हो गया । सच है अच्छे मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अधिक आसक्त नहीं होते ॥७७॥ इसके पश्चात् उसने अपना सारा राज्य अपने पुत्र श्रीकान्तको सोप दिया और श्रीप्रभ नामके मुनिराजको नमस्कारकर उनसे ज्ञान दीक्षा ले ली । दीक्षा लेनेके बाद उसका मन केवल राग-द्वेष आदिको शान्त करनेमें लग गया । रागादिको जीतकर उसने घोर तपश्चरण किया । फलतः वह सौधर्म स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ । वहाँ उसका ऐश्वर्य अन्य देवोंसे कहीं अच्छा था । उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी । देवागनाएँ उसकी सेवामें उपस्थित रहती थी । उसे देखकर देवांग-नाओंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द होता था । उनके साथ वह आनन्दसे रहने लगा ॥७८॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्र-

चरित महाकाव्यमें चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

पञ्चमः सर्गः

अथ धातकीत्युपपदेन युतामभिभूष्य^१ याम्यदिशि खण्डमुवम् ।

प्रविभासमानवपुरस्ति गुरुः सुरसेव्यसानुरिषुकार्गगिरिः^२ ॥१॥

अपि तस्य पूर्वभरते भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे ।

कविवेषसां स्तुतिपद्याविषयो विषयोऽलकैति दधवस्त्यमिधाम् ॥२॥

कमलानना मधुकरीनयना नवनालदण्डतनुबाहुलताः ।

हृदयंगमा वहति यः परितस्तदणोरिव स्थलसरोरुद्दिणी ॥३॥

स सर्वदेहान्तमते विदूष्य स्पाद्वादविद्या प्रकटोपकुर्वन् ।

मिथ्यान्धकारं प्रहृतं प्रबाण्या श्रोबासुपूज्यो जयता मुमान्यः^४ ॥

अथेति । अथ देवस्योदरपदनन्तरम् । धातकीत्युपपदेन धातकीति समोपपदेन । युता युक्तताम् । खण्डमुवं खण्डस्य^५ भूमिम् । अभिभूष्य अलंकृत्य । याम्यदिशि याम्याया दिशि दक्षिणाया दिशोऽर्थः । प्रविभासमानवपुः प्रविभासमानं शोभमानं वपुः स्वरूपं यस्य सः । गुरुमहान् । सुरसेव्यसानु सुरैर्देवैः सेव्या आश्रयणीयाः सानरी यस्य सः । इषुकारगिरिः इषाकारपर्वतः । अस्ति वर्तते ॥१॥ अपोऽनि । अपि पुनः । भरतप्रमुख-क्षितीश्वरकृतावतरे भरतप्रमुखे भरतादिभिः क्षितीश्वरैर्भूमिपालैः कृतो विहितोऽवतारो यस्मिन् सः, तस्मिन्^६ । तस्य धातकीखण्डस्य^७ । पूर्वभरते पूर्वस्मिन् भरते भरतक्षेत्रे । कविवेषसा कविमुख्यानाम् । स्तुतिकथाविषयः स्तुतेः स्तुतिकथायाः कथाया बाण्या अविषयोऽणोवरः । अलकैति (अलका, इति) । अभिषाम् अभिषानम् । दधत् वहन्^८ । विषयः देशः । अस्ति वर्तते । अतिशयः ॥२॥ कमलेति । कमलाननाः कमलान्येव मुखं यासां ताः । रूपकम् । कमलानीव मुख यासां ताः । उपमा । मधुकरीनयनाः मधुकर्षेण नयने यासा ताः । रूपकम् । जयता मधुकर्षेण नयने यासा ताः । उपमा । नवनालदण्डतनुबाहुलताः नवाना नूनाना नालानां दण्डा यष्टयः । त एव तन्वी कृशा बाहुलता यासा ताः । अथवा नवाना नालना दण्डा इव तन्वी कृशा बाहुलता यासां ताः । उपमा । हृदयङ्गमा मनोहरा । तदणोरिव युवतीरिव । स्थलसरोरुद्दिणी स्थले वर्तमानः सरो-

श्रीवर्मका स्वर्गवासे पश्चात् उससे सम्बन्ध रखनेवाली कहानी शुरू होती है । दूसरे द्वीपका नाम धातकीखण्ड है । उसको दक्षिण दिशामें एक पहाड़ है, जो बाणके आकारका होनेसे 'इष्वाकार' या 'इषुकार' नामसे विख्यात है । उससे धातकीखण्डकी शोभा है । वह सभी ओरसे सुन्दर है । वह अन्य पहाड़ोंसे बड़ा है । इसीलिए उसके शिखरोपर देव लोग विचरण करते हैं ॥१॥ उसके पूर्व-भरतमें जहाँ भरत आदि राजे-महाराजे जन्म ले चुके हैं, एक 'अलका' नामका देश है । उसका वर्णन बड़े-बड़े कवि भी नहीं कर सके — वह अत्यन्त सुन्दर है ॥२॥ उस देशमें सभी ओरसे स्थल कमलिनी लगी हुई है, जो नवयुवतियोंके समान हैं । नव युवतियोंके मुख कमल सरीखे, नेत्र भँवरी जैसे और बाहु मृणाल जैसे हाते हैं । स्थल-कमलिनियोंमें कमल लगे हुए हैं, जो उनके मुख हैं; उनके ऊपर भँवरियां बेटो हैं, जो उनके नेत्र हैं और उनके मृणाल बिलकुल नवीन हैं, जो उनकी भुजाएँ हैं । दोनोंकी सुपमा बिलकुल

१. आ इ^१ अभिभूष्य । २. अ^२ रिरिगिरिः । ३. अ कविवेशास्तुति^३ अ^३ वेषसा स्तुति^३ । ४. आ प्रतो पद्यमिदं नास्ति । ५. आ हा स खण्डमुवं खण्डस्य । ६. आ प्रतो स्वस्तिकान्तगतं पाठो नावलोक्यते । ७. हा स खण्डस्य । ८. = नवा नूतना नालदण्डा मृणालयष्टयः । ९. हा स इव ।

वितताखिलक्षितितलाः पृथक् शिखरावलीबलयलीढघनाः ।
 समतां यदीयनिगमान्तगता धरणीधरैर्दधति धान्यबयाः ॥४॥
 विमलाकृतीरपरिदृष्टतला चिह्निताधरैरपि गम्भीरतया ।
 प्रविभति यः सकललोकमता' महतां मतीरिव महासरसीः ॥५॥
 जलदीर्घिका जनविगाह्यजलाः सरितः शकुन्तरधरम्यतटाः ।
 प्रविभाति यः परिदधत्परितः सरसोश्च पङ्कजवनाभरणाः ॥६॥
 खरशीतमारुतरजोरहिते समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे ।
 निवसन्कदाचिदपि नाकुलतां सकलर्तुषु ब्रजति यत्र जनः ॥७॥

रहिण्यः पधिन्यः ताः । बहति धरति । इलेषोपमा ॥३॥ विनतेति । वितताखिलक्षितितलाः वितत-
 मखिलानां समस्तानां क्षितीना तलं येषां (येः) ते । पृथक् स्मूलाः । शिखरावलीबलयलीढघनाः शिख-
 राणां शृङ्गाणामावल्याः समूहस्य बलयैर्वृत्तैर्लीढश्चुम्बितो घनो मेघो येषां (यैः) ते । यदीयनिगमान्तगताः
 यदीयानां निगमानां ग्रामाणामन्तं समीपं गताः । धान्यबयाः धान्यसमूहाः । धरणीधरैः पर्वतैः । समतां
 सादृश्यम् । दधति धरति । उपमा ॥४॥ विमलेति । विमलाकृतीः विमला आकृतियुक्ता ताः । गम्भीरतया
 गम्भीरत्वेन । विहिताधरैरपि कृतप्रोतिभिरपि, गम्भीरत्वं द्रष्टुं प्रोत्तरपीत्यर्थः । अपरिदृष्टतलाः अपरिदृष्टमप-
 रिलोकितां तलं यासां ताः । सकललोकमताः सकलं निखिललोकैर्जनैः [मताः] संमताः । महतां सत्पुरुषाणाम् ।
 मतीरिव बुद्धीरिव । महासरसीः महतीः सरसीः । य देशः । विभति धरति । उपमा ॥५॥ जलेति । जन-
 विगाह्यजलाः जनैर्विगाह्यं प्रवेशयोग्यं जलं यासां ताः । जलदीर्घिकाः क्रीडासरोवरान् । शकुन्तरधरम्यतटाः
 शकुन्तानां पक्षिणां रवेर्ध्वनिभिरम्यं तटं यासां ताः । सरितः नदीः । पङ्कजवनाभरणाः पङ्कजानां पद्मानां
 वनमेव वण्डमेवाभरणं यासां ताः । सरसीश्च सरासि च । परितः समन्तात् । परिदधत् विभ्रत् । यः अल-
 कादेशः प्रविभाति विराजते । भा दीप्तो लट् । रूपकम् ॥६॥ खरैति । खरशीतमारुतरजोरहिते खरेण
 तीक्ष्णेन शीतेन शीत्येन (शीतलेन) मारुतेन वायुना रजसा रंणुना च रहिते व्यपगते । समयोचितोष्णहिमवर्ष-
 सुखे समयस्य कालम्योचितेन योग्येनोष्णेन हिमेन वर्षेण वृष्टिना (वृष्ट्या) । सुखे सुखभूते । यत्र देशे ।
 निवसन् तिष्ठन् । जनः प्रजा । कदाचिदपि एकदापि (कहिचिदपि) । सकलर्तुषु सकलेषु ऋतुषु । आकुलतां

एक सरोखी है ॥३॥ उस देशके आस-पासमें बहुतसे गाँव हैं । उनके बाहर खिलहानोंमें अनाज-
 के ढेर लगे हुए हैं, जो पहाड़ों सरीखे हैं — पहाड़ोंकी तरह वे सारे भूतलमें फैले हुए हैं, बड़े
 हैं और अपने शिखरोंसे मेघोंकी छू रहे हैं ॥४॥ वहाँ बड़े-बड़े सरोवर हैं । वे महान् पुरुषोंकी
 बुद्धिके समान निर्मल हैं और गंभीरता (गहराई) के कारण, आदर करनेवाले भी उनकी
 याह नही ले पाते । अतएव वे सर्वमान्य हैं । निर्मलता, अगाधता और लोकमान्यताके कारण
 महान् पुरुषोंकी बुद्धि और सरोवरोंमें अद्भुत साम्य है ॥५॥ वहाँ जलसे लबालब भरी हुई
 दीर्घिकाएँ (होज) हैं, जिनका जल स्नान करने योग्य है । वहाँ अनेक नदियाँ हैं, जिनके तट
 पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे मनको लुभानेवाले हैं । वहाँ बहुतसे सरोवर हैं, जिनमें कमल लहलहा
 रहे हैं । इन दीर्घिकाओं, नदियों और सरोवरोंसे उस देशकी शोभामें चार चाँद लग गये हैं
 ॥६॥ वहाँ तेज लू, शीतलहरी और आँधी नहीं चलती । ऋतुओं (शीष्म, शीत और वर्षा)
 के आनेपर उनके अनुकूल गर्मी सर्दी और बरसात होती है । फलतः वहाँके निवासी किसी भी

१. स'हुता । २. अ जलवि' । ३. आ प्रतावेव 'पधिन्यः' इति समुपलभ्यते । ४. वा स शोखरा' ।

५. वा स शोखरा । ६. आ वा स'कृतिः ।

सिकतास्थलोऽज्ज्वलवृहज्जघना भ्रमनाभिकाचचिरमध्यभुवः ।

सुपयोधरा वहति योऽङ्कगता निजवज्रभा इव महासरितः ॥८॥

न नद्यं धयो व्यसनवर्गहन्तं न जरा मतिस्मृतिविमोहहता ।

न हता गुणा मलिनदोषगणैर्न च यत्र मृत्युरपमृत्युहृतः ॥९॥

निरवग्रहैर्नवनवैः परितः परिपूर्णया विविधसस्यचयैः ।

प्रतनोति योऽखिलजनस्य भुवा नयनोत्सवं सुरकुरूपमया ॥१०॥

व्याकुलत्वम् । न व्रजति न गच्छति । व्रज गती लट् ॥७॥ विक्रमेति । सिकतास्थलोऽज्ज्वलवृहज्जघनाः सिकतानां स्थलानि प्रदेशास्ताम्येवोऽज्ज्वले मनोहरे बृहती जघने यासा ताः, पक्षे सिकतास्थलमिबोऽज्ज्वले बृहती जघने यासा ताः । उपमा । भ्रमनाभिकाः भ्रमा आवर्तस्तेन एव नाभि र्यामा ताः । रजकम् । पक्षे भ्रमा इव नाभि र्यामा ताः । रुचिरमव्यभुवः रुचिरा मनोहरा मध्यस्य भू प्रवेशो यासा ता । सुपयोधराः सु शोभनं पयो जल धरन्तीति सुपयोधराः, पक्षे सु शोभनो पयोधरो यासा ता । अङ्कगताः अङ्कमग्रभाग गताः, पक्षे अङ्क-मूहप्रदेशं गताः । निजवज्रभा इव निजस्य स्वस्य वज्रभा वनिता [ता] इव । महासरितः महातरङ्गिणी । यः देशः । वहति धरति । वह प्रापणे लट् । श्लेषोपमा ॥ ८ ॥ नेति । यत्र देशे । नव नूतनम् । वय, योव-नादि । व्यसनवर्गहन्तं व्यसनानां द्यूतादीनां वर्गेण समूहेन हन् बाधितम् । न भवति । जरा वार्धक्यम् । मतिस्मृ-तिविमोहहता मते रामाभिमोचरायाः स्मृतेरतीतविषयकायाः विमोहेन वैराग्येन हता । न भवति । गुणा । मलिनदोषगणे, मलिनं मलोमसं दोषाणां गणं निवहै । हता बाधिता । न भवति । मृत्यु मरणम् । अपमृत्यु-हृतः अपमृत्युना कवलौघातादिना हतो बाधितः । न भवति । परिसरया ॥९॥ निरेति । य देशः निरवग्रहै-अवग्रहाभिर्यते निरवग्रहैरप्रतिवर्तित्वव्यं^२ । नवनवैः नूतनैर्नूतनैः । बोध्याया ३ । विविधनस्यचयैः विविधानां नानाप्रकाराणां सस्यानां चयैः । परितः समन्तात् । परिपूर्णया मपूर्णया । मुरकुरूपमया मुरकुरोर्देव-कुरोरूपमया समानया^३ । भुवा भूम्या । अखिलजनस्य सकलजनस्य । नयनोत्सवं नेत्रमंतोपम् । प्रतनोति

ऋतु (मौसम) मे व्याकुल नहीं होते ॥७॥ उस देशके बोचो-बोच जो नदियाँ बहती हैं, वे उसकी गोदमे बैठो हुई पत्नीके समान जान पड़ती हैं । पत्नीका जघन-भाग, रेताले स्थल-टापूके समान उज्ज्वल और विशाल होता है; भँवर सरीखी नाभिसे उसका मध्यभाग विभूषित होता है और उसके मुन्दर स्तन होते हैं । इसी तरह वे नदियाँ रेतोले स्थल रूपी उज्ज्वल विशाल जघनोंसे विभूषित हैं, उनके मध्यभाग भँवररूपी नाभिसे अलंकृत हैं और उनका जल मधुर है ॥८॥ वहाँके निवासियोंका नव यौवन जुआ आदि बुरो आदतोंमे फँसकर बरबाद नहीं होता; बुढ़ापेमे भी उनकी बुद्धि और स्मृति ठोक बनी रहती है — वे सदा नही जाते; उनके निर्मल गुण, दोषोंसे मलिन नहीं होते । फलतः उनकी मृत्यु आयु समाप्त होनेपर ही होती है । विष आदिके द्वारा किसीकी अपमृत्यु (अकाल मरण) नहीं होती ॥९॥ उस देशकी भूमि सभी ओरसे नये-नये नाना प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहनेसे देवकुरु (उत्तम भागभूमि) सरीखी है । अनाजकी उपज, कभी सूखा (अवर्षण) आदिसे नष्ट नहीं होती । इसीलिए वह देश सभीके

१. आ सा स लिट् । २. = वृष्टिप्रतिबन्धरहितैरिति यावत् । ३. = मुरकुरोर्देवकुरोरूपमा साम्यं यस्याः सा, तया ।

तरुणजयः सकुसुमाः कुसुमं फलवत्फलं मधुरतानुगतम् ।
 नहि तत्र किञ्चिदपि घस्तु न यज्जनतामुदं प्रविदधात्यथवा ॥११॥
 अथ कोशलेति भुवनत्रितयेप्रथितास्ति तत्र विषये नगरी ।
 अलकेव भूरिविभवानुगतैः परिवारिता^१ प्रसुरपुण्यजनैः ॥१२॥
 तनुकुक्षयोऽप्यतनुधारमपो विसृजन्ति यत्र शरदागमने ।
 अतितुङ्गसोषशिखराद्यततिप्रविदारितोदरभुवोऽम्बुधराः ॥१३॥
 मणिदीपकप्रकटनिर्वृतये क्षिपनी शिखासु निजमाल्यरजः ।
 दयितेन यत्र नवमुग्धवधूरपहस्यते^२ नतमुक्ती त्रपया ॥१४॥

विदधाति । तनुं विस्तारे लट् । उपमा ॥१०॥ तरुणजय इति । तत्र देशे । तरुणजयः तरुणा वृक्षाणां राजयः श्रेणयः । सकुसुमाः कुसुमसहिताः । कुसुमं पुष्पम् । फलवत् फलवृक्षम् । फलं मधुरतां मधुरत्वम् । अनुगतं स्वीकृतम् (प्रप्तम्) । यत् वस्तु । जनतामुदं जनतायाः जनसमूहस्य मुद संतोषम् । न प्रविदधाति न करोति । अथवा तद्वस्तु किञ्चिदपि नहि नास्ति । तस्मिन् देशे सर्वं वस्तु सर्वजनानां संतोषप्रदमेव, प्रमोदप्रदं (त्व) रहितं नास्तीत्यभिप्रायः । एकावलि ॥११॥ अथेति । अथ अनन्तरम् तत्र विषये अलका-विषये । भूरिविभवानुगतैः भूरि बहुलविभवमैश्वर्यमनुगतैः । प्रसुरपुण्यजनैः प्रसुरैर्बुधैः पुण्यजनैर्बुधैश्च पुण्योत्पलक्षिप्तजनैश्च । परिवारिता सकीर्णा । अलकेव कुबेरपुरमिव । कोशलेति^३ । भुवनत्रितयप्रथिता भुवनानां लोकानां त्रितयं तस्मिन् प्रथिता प्रसिद्धा । नगरी पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ सम्भवति । यत्र कोशलायाम् । शरदागमने शरदः शरत्कालस्यागमने । अतितुङ्गसोषशिखराद्यततिप्रविदारितोदरभुवः^४ अतितुङ्गानामरपुनतानां सोषानां हर्षाणां शिखराणां शृङ्गानामवतत्वा समूहेन प्रविदारिता त्रिभिन्ना भू-प्रदेशो येषां ते । अम्बुधराः मेघाः । तनुकुक्षयः तनुः कुक्षः कुक्षिर्येषां ते । अतनुधारम् अतन्वी महती धारा प्रवाही यथा तथा । अपः जलानि । विसृजन्ति वर्पन्ति । सूत्र विसर्जने लट् । अतिशयः ॥१३॥ मणीति । यत्र कोशलायाम् । मणिदीपकप्रकरनिर्वृतये मणीनां रत्नानां दीपकानां^५ प्रकरं निवहं^६ निर्वृतये विनाशाय । शिखामु उवालासु । निजमाल्यरजः निजायाः^७ स्वकीयाया माल्यस्य रजो रेणुम् । क्षिपती निक्षि-

नेत्रोको आनन्द देने वाला है ॥१०॥ वहाँ वाग-बगीचे बहुत हैं । उनमें पंक्तिके अनुसार वृक्ष लगाये गये हैं । उनमें फूल लगे हुए हैं, फूलोंमें फल लगे हुए हैं और फलोंमें मधुरता भरी हुई है । वहाँ ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो जनताको आनन्दजनक न हो ॥११॥ यहाँ तक 'अलका' देशका वर्णन हुआ, अब यहाँसे उसकी 'कोशला' नगरीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस देशमें कोशला नामकी एक नगरी है । उसका नाम तीनो लोकोंमें प्रसिद्ध है । वह कुबेरकी अलका पुरीके समान है । जिस प्रकार अलका पुरीमें वैभवशाली पुण्यजन-यक्ष निवास करते हैं, उसी प्रकार कोशला नगरीमें वैभवशाली पुण्यजन-सज्जन निवास करते हैं ॥१२॥ बरसातमें मेघ सजल होनेसे तुन्दिल हो जाते हैं और शरद् ऋतुमें निर्जल होनेसे वे तुन्दिल नहीं रहते, किन्तु उस नगरीके महलोंके शिखरोसे आहत होकर वे शरद् ऋतुमें क्षीणकोष होकर भी अपने मध्यभागसे मूसलाधार जल बरसा देते हैं ॥१३॥ वहाँ प्रथम मिलनकी वेलामें मोली-भाली नव-वधुएँ मणि-दीपोंको बुझानेके लिए उनके ऊपर अपनी मालासे पराग निकालकर फेंक देती

१. अ. आ इ^१ त्रितये । २. अ. परितद्वरत्प्रभु^२ । ३. अ. स्वतनुश्रये । ४. इ. क. ल. ग. घ. म^३ रवहस्यते । ५. आ सुकुपु^४ । ६. आ श. स. न. विदधाति । ७. = 'कोशला' इति नामवती । ८. वा. स. 'वरभुवः' । ९. = उदरभू मध्यप्रदेशः । १०. = मणिदीपकानाम् । ११. = प्रकरो निवहः, तस्य । १२. = निजमाल्यस्य स्वमालाया रजो रेणुम् ।

विबिधासु धन्यजनहर्म्यततेर्मणिभूमिषु प्रतिमया निपतन् ।
 निशि यत्र कुन्दसदृशः कुसुमप्रकरायते ग्रहगणो निखिलः ॥१५॥
 असतीजनं जिगमिषुं बहुलक्षणदामुलेषु दयितावसयम् ।
 निज एव विधनयति यत्र मुहुर्मुखचन्द्रमाः स्मितविभिन्नतमाः ॥१६॥
 रजनीषु यत्र गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नकचिविच्छुरितः ।
 हिमद्रीधितिर्भवति कृष्णवपुः पुरयोषितामिव मुलैर्विजितः ॥१७॥
 शिखराणि यत्र परिधेः परितः परिवारितानि शरदभ्रलवैः ।
 रचियाजिनामिव विलङ्घयतां श्रमजैर्विभ्रान्ति मुखफेनचयैः ॥१८॥

पती^१ । त्रयया लज्जया । नतसुखो विनतानना । नवमुखवधूः नवा नूतना मुख्या अप्रीडा वधूः वनिता । दयितेन पुत्रेण । अपहृत्यते परिहास्यते । हसे हसने कर्मणि लट् ॥१५॥ विविधेति । यत्र पुर्याम् । धन्यजनहर्म्यततेः धन्यानां पुण्यवतां जनानां हर्म्यणा सौधानां ततेः पक्तेः । विविधासु नानाविधासु । मणिभूमिषु रत्नभूमिषु । निशि निशायाम् । 'वह्—' इत्यादिना निशाशब्दस्य निष् इत्यादेशः । प्रतिमया प्रतिबिम्बेन । निपतन् संक्रममाणः । कुन्दसदृशः कुन्दस्य सदृशः । निखिलः सकलः । ग्रहगणः ग्रहाणां नक्षत्राणां गणः समूहः । कुसुमप्रकरायते कुसुमप्रकर इवाचरतीति कुसुमप्रकरायते । उपमा ॥१५॥ असतांति । यत्र पुर्याम् । बहुलक्षणदामुलेषु बहुलस्य कृष्णपक्षस्य क्षणदानां रात्रौणा मुलेषु प्रारम्भेषु । दयितावसयं दयितस्योपपत्तरावसयमावासम् । जिगमिषुं गन्तुमिच्छुम् । असतीजनम् असत्येव (असतीनां) जनस्तम्—शारस्त्रीजनम् । स्मितविभिन्नतमाः स्मितेनेपदसनेन विभिन्नं निराकृतं तमो रस्य (येन) सः । निज एव स्वकीय एव । मुखचन्द्रमाः मुखमेव चन्द्रमाश्चन्द्राः । मुहुः पश्चात् । विधनयति प्रत्यहं करोति । विध्न इति शुभघातोः 'गिञ्जद्वलं कृजदियु' इति गिञ् ॥१६॥ रजनीष्विति^२ । यत्र पुर्याम् । रजनीषु रात्रिषु । गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नकचिविच्छुरितः गुरुणां महतां हर्म्यणा सौधानां शिखाः शिखराणि गतानां नीलरत्नानां कचिभिः कान्तिसिचिविच्छुरितो मिथित^३ । हिमद्रीधितिः चन्द्रः । सामाम्यालङ्कारः (तद्गुणालङ्कारः) पुरयोषिता पुरस्त्रीणाम् । मुलैः वदनेः । विजित इव निराकृत इव । कृष्णवपुः कृष्णशरीरः । भवति । उपमा [उत्प्रेषा] ॥१७॥ शिखरेति । यत्र पुर्याम् । शरदभ्रलवैः शरदः शरत्कालस्याश्रय मेघस्य लवैः क्षणैः । परितः सर्वतः । परिवारितानि व्याप्तानि । परिधेः सालस्य । शिखराणि शृङ्गाणि । विलङ्घयतां लङ्घनं कुर्वताम् । रचियाजिना सूर्यनुरङ्गाणाम् । श्रमजैः आयासजनितैः ।

हैं । यह देखकर उनके पति हँसने लगते हैं और वे लज्जित होकर अपना सिर नीचेको और झुका लेती हैं ॥१४॥ वहाँ धनिक लोगोंके महलोंमें जो फर्श है, उनमें माँग जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनमें ग्रह-नक्षत्र आदि जो दूरसे कुन्द-पुष्प सरीखे जान पड़ते हैं—प्रतिबिम्बित होकर पुष्प-पुञ्ज सरीखे प्रतीत होते हैं ॥१५॥ वहाँ जो अभिसारकार^१ कृष्ण पक्षकी रात्रिके प्रारम्भमें अपने उपतियों (यारों) के घर जाना चाहती हैं, उन्हें उन्हीका मुख-चन्द्र अपनी मुस-कानकी चाँदनीसे अन्धकार मिटाकर विघ्न डाल देता है ॥१६॥ वहाँके महलोके ऊपरी भागोंमें नीलरत्न जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनकी प्रभासे चन्द्रमा काला पड़ जाता है । मानो उस नगरीकी स्त्रियोंके मुखसे पराजित हो जानेसे वह ऐसा (काला) हो गया है ॥१७॥ उस नगरीकी चहार दीवारीपर जब चारों ओरसे शरत्कालीन मेघोंके छोटे-छोटे टुकड़े छा जाते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो उस (चहार दीवारी) को लाँघनेवाले सूर्यके घोड़ोंके मुखसे

सति मानसेऽप्यकलुषाम्भसि यद्गृह्णीष्विकानिरतहंसकुलैः ।
 न विमुच्यते सततसंहितैरिव सुन्दरीगतिशिक्षिपया ॥१६॥
 अतुलप्रतोलिशिखराप्रगतस्फटिकोपलान्शुचयसंवलितः ।
 भजते सहस्रकिरणत्वमुद्रप्रकरोऽपि यत्र रजनीसमये ॥२०॥
 सुरसुन्दरीसमशरीरलताः प्रविधाय यत्र युवतीविधिना ।
 समपादि संकरभियेव भिदा सनिमेषलोचनयुगेन पुनः ॥२१॥
 त्रिदशाधिवासजिति यत्र सदाप्यगुणः समस्ति परमेष महान् ।
 निपतन्मुखे कमलशङ्किमना यदुपद्रवत्यल्लिगणः सुमुक्तीः ॥२२॥

मुखफेनचयं मुखस्य फेनानां चयैरिव । विभ्रान्ति विरेजः । भा दीप्ती लट् । उपप्रेक्षा ॥१८॥ सतीति । या पुरी । अकलुषाम्भसि अकलुष निर्मलम्भो यस्मिन् तस्मिन् । मानसे सरस्यपि सुन्दरीगतिशि शिक्षिपयेव सुन्दरीणां नारीणां गतेर्गमनस्य शिक्षिपयेव अम्भासेच्छयेव । सततसंहितैः सततमनवरतं संहितैः । गृह्णीष्विकानिरतहंसकुलैः गृह्णीष्विकामु क्रीडासरोवरेषु निरनेस्तत्परैः हंसानां मरालानां कुलं समूहः । न विमुच्यते न त्यज्यते । मुच्यते मोक्षणे कर्मणि लट् । उपप्रेक्षा ॥१९॥ अतुलंति । यत्र पुर्याम् । रजनीसमये रात्रिकां । अतुलप्रतोलिशिखराप्रगत अतुल्या, प्रमातीताया प्रतोल्या गोपुरस्य शिखराणामग्रं गत । स्फटिकोपलान्शुचयसंवलित स्फटिकोपलानां स्फटिकपाषाणानामंशूनां किरणानां चयेन निवहेन संवलितो मिथितः । उद्रप्रकरोऽपि उद्भूतं नक्षत्राणां प्रकरोऽपि समूहोऽपि । सहस्रकिरणत्व प्रचुरकिरणत्वम् । भजते सेवते । भज सेवाया लट् । मामान्यालङ्कारः ॥२०॥ सुरैति । यत्र पुर्याम् । विधिना कर्मरूपेण । सुरसुन्दरी-समशरीरलताः सुरसुन्दरीणां दिविजस्त्रीणां समा समाना शरीरमेव लता यासा ताः । युवती, नारीः । प्रविधाय निर्माय । पुन पश्चान् । संकरभियेव मिश्रणभयेनेव । सनिमेषलोचनयुगेन सनिमेषयोनिमेषसहितयोर्लोचनयो-र्नयनयोर्युगेन । भिदा भेदः । समपादि अकारि । पदि गतो कर्मणि लुट् । ॥२१॥ त्रिदशेति । त्रिदशाधिवास-जिति त्रिदशानां देवानामधिवासमावा न जयतीति त्रिदशाधिवासजित् तस्मिन् । यत्र पुर्याम् । मदा सर्वदापि । कम-शङ्किमना, कमलमिति शङ्कु शङ्कुमशीलं मनो यस्य सः । मुखे बन्दने । निपतन् विनमन् । अल्लिगण, अश्लीना भ्रमराणां गण । सुमुक्तीः मु शोभनं मुख यासा ताः । उपद्रवति बाधते । द्रु गती लट् । यत् यस्मान् ।

परिश्रमके कारण गिरे हुए फेन-पुञ्ज हो ॥१८॥ उस नगरीकी दीधिकाओंमें — जो घर-घर बनो हुई है — हंस इतने रम गये हैं, कि निर्मल जलवाले मानस सरोवरके पासमें होनेपर भी, वे उसमें नहीं जाते । मानो वे वहाँकी स्त्रियोकी सुन्दर चाल सोखनेके लिए निरन्तर वही रहना चाहते हैं — शिक्षामें व्यवधान न हो, मानो यह सोचकर उस नगरीको (वर्षा ऋतुमें भी) नहीं छोड़ना चाहते ॥१९॥ उस नगरीके प्रमुख दरवाजोके ऊपर शिखर अनुपम है । उनमें स्फटिक मणि जड़े हुए हैं । रात्रिके समय उनकी किरणें नक्षत्र मण्डलके ऊपर पड़ती हैं । फलतः वह (नक्षत्रमण्डल) भी हजार किरणोंवाला (सूर्य) ही जाता है ॥२०॥ ब्रह्मा (नाम कर्म) ने वहाँको युवतियोंको देवांगनाओके समान सुकुमार और सुन्दर बनाकर, बादमें उनमें खुलने और बन्द होनेवाले (सनिमेष) लोचन लगा दिये । मानो इस भयमें कि वे देवांगनाओंमें मिलकर कही एक न हो जायें ॥२१॥ यों उस नगरीने अपनी सुषमासे स्वर्गको मात कर दिया है, किन्तु वहाँ यह एक बहुत बड़ा दोष सदा बना ही रहता है कि स्त्रियोके

१. = मानससरोवरं सत्यपि । २. स स मुख । ३. = सूर्यत्वमिति व्यज्यते । ४. = तस्याम् ।

५. आ अलिनाम् ।

अथ तत्र शक्युपचयानुगतो नृपशेखरीकृतपदाम्बुदः ।
 नयचिह्नमाजितजगज्जयधानजितंजयोऽजनि मराधिपतिः ॥२३॥
 बिसतन्नुनिर्मलतमैर्जनतापरितापनोदिभिरतीततुलैः ।
 करणैरिवोद्भुपतिनास्मगुणैर्ध्वलीकृता जगति येन दिशः ॥२४॥
 मम कः प्रतापमवजेतुमलं जगतीत्युदेति समदः प्रथमम् ।
 प्रविलोक्य धाम पृथु यस्य पुना रविरेति लज्जित इवास्तमयम् ॥२५॥
 महिमा निसर्गविनयेन यथा न तथा धियाप्यजनि यस्य सतः ।
 न निमित्तमत्र विभवः पुरुषं गुणसंपदेव गुरुतां नयते ॥२६॥

अयं महान् । परं केवलम् । अगुणः दोषः । समस्ति वर्तते । अन्तिमान् ॥२२॥ अथेति । अथ अनन्तरम् ।
 तत्र पुनर्याम् । शक्युपचयानुगतः शक्तीनां प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीनामुपवयव वृद्धिमनुगतः । नृपशेखरीकृत-
 पदाम्बुदः नृराणां भूपतीनां शेखरीकृत प्रागशेखरद्वानो शेखरः क्रियते^१स्म तथोक्तं पादावेवाम्बुदं तथोक्तं
 नृशेखरीकृतं पदाम्बुदं येन सः । नयचिह्नमाजितजगज्जयधानं नयचिह्नमाजितमराधिपतिः नोतिपराक्रमाभ्यामाजितः
 संपादितो जगता जयस्तथोक्तः, नयचिह्नमाजितशक्तीनां जगज्जय सोऽस्यास्तीति तथोक्तं । अजितंजय इति ।
 जनाधिपतिः राजा । अजनि अजायत । जनैश्च प्रादुर्भावे लब्धः ॥२३॥ किमेति । उद्भुपतिना चन्द्रेण ।
 बिसतन्नुनिर्मलतमैर्दिसस्य^२ कमलस्य तत्तत्तत् इव निर्मलतमैरत्यन्तनिर्मलैः । जनतापरितापनोदिभिः जनताया
 जनसमूहस्य । 'प्रामजननश्चुगजसहायात्तल' इति समूहायें तत् । परितापनोदिभिः मनापह्णारिभिः ।
 अतीततुलैः अतिक्रान्तनुशारादिभिः, पक्षे उपमातीतैः । किरणैरिव कान्तिमग्निः । येन अजितंजयेन ।
 आस्मगुणैः स्वकीयगुणैः । जगति लोके । ॥२४॥ दिशं^३ बहुम् । विमलीकृता प्रागविमला इदं नो विमला
 क्रियते^४स्म तथोक्ताः । 'कर्मकर्मण्यं प्रागतसत्त्वेचिवः' इति चिन् । 'चैव चानवययश्च' इति—प्रकारस्य
 ईकारः । श्लेषोपमातिशयो ॥२४॥ ॥२५॥ ममेति । जगति लोके । मम मे । प्रतापं विक्रमं तेजश्च । अवजेतु
 जयनायः । कः को वा । अल समर्थः । इति प्रकारेण । प्रथमं समदं गर्वनाहित । रवि सूर्यः । उदेति
 उद्भूयति । पुन पश्चात् । यस्य राज्ञः । पृथु महत् । धाम तेजः । प्रविलोक्य प्रवीक्ष्य । लज्जित इव श्रपित इव ।
 अस्तमयम् अस्तादिम् । एति गच्छति । इण् गतो लट् । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ महिमिति । स न मत्पुत्रस्य ।

मुखको कमल समझकर भोरे उन्हें सताया करते हैं ॥२२॥ यहाँ, वहाँ के राजा अजितंजयका
 वर्णन प्रारम्भ होता है । उस कोशलापुरीमें अजितंजय नामका राजा राज्य करता था ।
 उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीनों शक्तियाँ खूब विकसित होकर उसका
 अनुगमन करती थीं । सभी राजे-महाराजे मस्तक नवाकर उस नमन करते थे । उसने नोति
 और पराक्रमसे सारे जगत्पर 'वज्र पा ली थी ॥२३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा मृणालतन्तुओंके
 समान अत्यन्त निर्मल, जनताके सन्तापको मिटानेवाली और तुलाराशिको पार करनेवाली
 अपनी किरणोंसे संसारकी सभी दिशाओंको उज्ज्वल कर देता है, इसी प्रकार उस राजाने भी
 मृणालतन्तुओंके समान अत्यन्त निर्मल एवं प्रजाजनके सन्तापको मिटानेवाले अपने अनुपम
 गुणोंसे विश्वके कोने-कोनेको उज्ज्वल कर दिया था ॥२४॥ 'इस संसारमें मेरे प्रताप (तेज,
 पराक्रम) को जीत ही कौन सकता है' यह सोचकर जो सूर्य सबेरे सगर्व होकर उदित होता
 है, वही उस राजाके सर्वत्र फैले हुए प्रबल प्रतापको देखकर मानो लज्जित होकर शामको
 फिर डूब जाता है ॥२५॥ उसकी जो महिमा विनयेसे भी वह लक्ष्मीसे नहीं थी । लक्ष्मी तो

१. अ आ 'मयः' । २. झ स क्रियते स्म । ३. — कमलदण्डस्य तन्तुभिरिव । ४. श स स्वस्तिका-
 न्तगतः पाठो न नोपलभ्यते । ५ = इत्थं विचार्यति यावत् ।

भुवनातिगेन यशसा कथितं प्रविधायं यस्य गुह धैर्यगुणम् ।
 लवणोदधिर्निजयशोभिभवादिब कालिमानमवहृद्वपुषि ॥२७॥
 दहनेन येन रिपुवंशततेः सुहृदाननाम्बुजविकासकृता ।
 न जितः परं दिनमणिर्महता शशलाञ्छनोऽपि कमनीयतया ॥२८॥
 गुरुरीश्वरो नरकभिन्नदः^१ कमलालयः शिशिरगुह्य बुधः ।
 सुगतश्च सन्सकलदेवमयः समपादि यो वसुमतीवल्लभे ॥२९॥

यस्य राज्ञः । निसर्गविनयेन सहप्रविनयेन । यथा येन । महिमा महत्त्वम् । 'धृष्ट्वादेवमन्' इति भावे इमन्-
 प्रत्ययः । अजनि अजायत । तथा तेन^२ । श्रियापि संपत्त्यापि । नाजनि । अत्र जगति । विभवः संपत् । निमित्त
 कारणम् । न भवति । गुणसंपदेव गुणमाप्तिरेव । पुरुषम् आत्मानम् । गुरुता महत्त्वम् । नयते प्रापयति ।
 णीज् प्रापणे लट् । अर्थात्तरस्यासः ॥२६॥ भुवनेति । यस्य राज्ञः । भुवनातिगेन भुवनमतिगच्छतीति
 भुवनतिगं तेन । यशसा कीर्त्या । कथितं प्रोक्तम् । रूक्षैर्यगुणं गुरोर्महतो धैर्यस्य गुणं धैर्यमेव गुणं वा ।
 प्रविधायं निवचयित्वा (निवचय) । लवणोदधि लवणरूपाप्युदकानि धीयस्तेऽस्मिन्निति तथोक्तः । लवणसमुद्रः ।
 निजयशोभिभवादिब निजस्य स्वकीयस्य यशसः कीर्तयिभभवादिब तिरस्करणादिब । वपुषि अवयवे । कालि-
 मानं कृष्णत्वम् । 'वर्णद्वयादिभ्य' इति इमन् । अवहृत् अवहृत् । बहो प्रापणे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२७॥
 दहनेनेति । रिपुवञ्शते रिपुणा शत्रूणा वशानामश्वयानां ततेनिकरस्य । दहनेन वलिना । सुहृदाननाम्बुज-
 विकासकृता सुहृदा मित्राणामाननायेवाम्बुजानि कमलानि तेषां विकासकृता । रूपकम् । येन । महमा
 तेजसा । परं केवलम् । दिनमणिः सूर्यः । न जित न जीयते स्म^३ । पुनः । कमनीयतया मनोहरतया ।
 शशलाञ्छनोऽपि चन्द्रोऽपि, जित इत्यर्थः । दीपकम् ॥२८॥ गुरुरिति । यः राजा । गुरुः^४ बृहस्पतिः ।
 ईश्वर इत्यपती रुद्रश्च । नरकभिन् नरकगतिनामकर्मच्छेदको विष्णुश्च । धनदः^५ धनं प्रदाता कुबेरश्च ।
 कमलालय कमलाया लक्ष्म्या आलयो निलयो ब्रह्मा च । शिशिरगुः शिशिरा गौर्यस्य शीतलवचन इत्यर्थः,

ओरोके पाम भी थो, पर उस जैसी विनय किसोमे नही थो । वह सज्जन जो था । पुरुषके
 बहृत्पनमे वैभव उतना कारण नही जितनी गुणोंकी सम्पत्ति होती है । पुरुषको गौरव, गुणोंसे
 ही मिलता है । गुण-सम्पत्ति ही उसे गौरवकी ओर ले जाता है ॥२६॥ उसका यश इम लोकमे
 समा नही रहा था । वह (यश) उस (राजा) के महान् धैर्यगुणको व्यक्त कर रहा था । उसके
 धैर्यने समुद्रके धैर्यगुणस उत्पन्न हुए यशको भी फोका कर दिया । मानो इसी कारणसे लवण
 समुद्र चारों ओरसे काला पड़ गया ॥२७॥ शत्रु-वंशको जलानेके लिए वह अग्नि था और
 मित्रोंके मुखकमलको विकसित करनेके लिए सूर्य । यों सूर्य भी बाँसोको जलाता है और अपने
 मित्र-कमलोको विकसित करता है । अतः वह उस राजाके समान माना जा सकता है, किन्तु
 राजाने अपने तेजसे उसे जीत लिया था, तथा चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे ॥२८॥ प्रजाको
 शिक्षा देनेसे वह उसका गुरु (बृहस्पति) था; सब कुछ करनेमे समर्थ होनेसे ईश्वर (शंकर)
 था; नरकगतिमे ले जानेवाले पापोंका भेदन करनेसे नरकभिन् (विष्णु) था; धन देनेसे
 धनद (कुबेर) था; सम्पन्न होनेसे कमला-लक्ष्मीका निवास स्थान (कमलालय ब्रह्मा) था;

१. अ आ इ क ल ग घ ङ कविद्वन्दः । २. = येन प्रकारेण । ३. = तेन प्रकारेण ।
 ४. श स अजनि । ५. आ नायते प्रायते । श स नायते । ६. आ जिज्ञ । ७. आ बहि । श स वह ।
 ८. = विकासकारिणा । ९. राजा । १०. य स न जीयति स्म । ११. = महान् बृहस्पतिश्च ।
 १२. = धनप्रदाता ।

निजशौर्यवह्निहृतशत्रुगणे गुणरञ्जिताखिलमहीवलये ।
 पृथुधामिनि रक्षितरि यत्र सदा निरुपद्रवा विषवृधे धरणी ॥३०॥
 रिपुसुन्दरीविततबाणजलैः शमितोरुवैरदहनस्य सतः ।
 रविधाम यस्य ससहायमभूदुरुतेजसाखिलमतद्भवनम् ॥३१॥
 निजविक्रमाहितरणैकरसो मददत्तकेसरिकिशोर इव ।
 द्विपतां बले विपुलतेजसि यः प्रबबन्ध कोटकधियं प्रघने ॥३२॥
 अतुलप्रतापपरिभूतमोरिपुधामिनि यत्र कृतदिग्विजये ।
 निजनाम सर्वभवनप्रथितं दधुरशून्यमधिपाः ककुभाम् ॥३३॥

चन्द्रवधः । वृधः विद्वान् वृधपद्वधः । सुगतः सम्यग्ज्ञानो वृद्धवधः सन् । वसुमतोवलये वसुमत्या भूमेर्वलये मण्डले । सकलदेवमयः सकलदेवानां मयः स्वरूपः । समपादि समभवत् । पादं गतो लुट् । 'पदः' इति कर्तरि जिः ॥२९॥ निजेति । निजशौर्यवह्निहृतशत्रुगणे निजस्य स्वस्य शौर्यमेव वह्निहृतस्मिन् हृतो हवनं कृतः शत्रूणां वैरिणां गणो यस्य (येन) तस्मिन् । गुणरञ्जिताखिलमहीवलये गुणै रञ्जितः प्रीणितः मखिल महीवलये भूमण्डल यस्य (येन) तस्मिन् । पृथुधामिनि महाप्रतापे । रक्षितरि पालयितरि । यस्मिन् राज्ञि (सति) । सदा सर्वस्मिन् काले । निरुपद्रवा निर्बाधा । धरणी भूमिः । विषवृधः बध्धंतेस्म । वृधून् बध्धंते लिट् ॥ ३० ॥ रिप्त्विति । अखिलं निखिलम् । भुवनं जगत् । अटन् गच्छत् । रविधाम रवेः सूर्यस्य धाम तेजः । रिपुसुन्दरीविततबाणजलैः रिपूणां शत्रूणां सुन्दरीणां वनितानां विततबाणजलैश्चुनलैः । शमितोरुवैरदहनस्य शमितो दमित उरुमहान् वैरमेव दहतो यस्य तस्य । सत स्वरूपस्य । यस्य राज्ञः । उरुतेजसा महाप्रतापेन । स्वपहायम् । अभून् अभवन् । भू सताया लुट् ॥३१॥ निजेति । निजविक्रमाहितरणैकरसः निजस्य स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेणाहिते कृते रणे संग्रामे एको मुख्यो रसो यस्य सः । मददत्तकेसरिकिशोर इव मदनं दत्तो पवित केसरिण सिंहस्य किशोर इव शावक इव । य राज्ञा । प्रघने संग्रामे । विपुलतेजसि विपुलप्रतापयुक्ते । द्विपता शत्रूणाम् । बले तेज्ये । कोटकधियं कोटक इति वृद्धिम् । प्रबबन्ध करोति रमः । बन्धं संगमने लिट् ॥३२॥ अनुलेति । अनुलप्रतापपरिभूतमोरिपुधामिनि अनुलेनोपमासीतेन प्रतापेन तेजसा परिभूत तिरस्कृत तमोरिपो सूर्यस्य धाम तेजा यस्य तस्मिन् । यत्र राज्ञि । कृतदिग्विजये सति कृतो विहितो दिशा जयो येन तस्मिन् मतिः । ककुभा दिशाम् । अधिपाः अधिपतयः । सर्वभुवनप्रथितं सर्वेषु भुवनेषु प्रथितं प्रसिद्धम् । निजनाम स्वस्वनामधेयम् ।

मधुरभाषो होनेसे शिशिरगु (चन्द्रमा) था; पण्डित होनेसे वृध (वृधग्रह) था और सम्यग्ज्ञानी होनेसे सुगत (वृद्ध) था । इस प्रकार वह इस भूमण्डलमे सर्वदेवमय था ॥२९॥ उसने शत्रु-वर्गको अपने पराक्रमको अग्निमें होम दिया था और सारे भूमण्डलको अपने गुणोंसे प्रमत्त कर दिया था । अतः उस प्रबल प्रतापी राजाके रक्षक होनेपर पृथ्वी सदा उपद्रवोंसे रहित होकर खूब समृद्ध हो रही थी ॥३०॥ उसने अपने वैरको अग्निको शत्रु-नारियोंके अश्रुजलसे शान्त-कर दिया था और उसका तेज सूर्यके उस तेजको सहायक हुआ, जो सारे संसारमे अकेला ही भटकता रहा ॥३१॥ अपने पराक्रमसे रण छेड़नेमे उसे बड़ा रस आता था । अतः सगर्व शेरके बच्चेकी भाँति वह रण-क्षेत्रमें तेजस्वी-से-तेजस्वी शत्रुओंके दल बलको अपने सामने कोड़ा-मकोड़ा सलसलता था ॥३२॥ उसने अपने अनुपम प्रतापसे सूर्यके प्रतापको मात कर दिया था । उसने जब पूर्व आदि सभी दिशाओंपर विजय पा ली, तब इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम

१. = सकलदेवस्वरूपः । २. = विहितः । ३. = प्राहुरितरूपता नीतः । ४. आ निबबन्धे ।

५. = ससहाय । ६. आ रुद्रप्रतापसंयुक्ते । ७. आ वधः । ८. = येन ।

जयशालिनः सहजभद्रतया परिभूषितस्य गुरुवंशभृतः ।
 अजनिष्ट यस्य न मनागपि दिक्करिणोऽपि कीर्तिनिलयस्य मदः ॥३४॥
 वसुधां पयोनिधिपयोवसनां परिघाकृतौ दधति यस्य भुजे ।
 गुरुभारभुगमहिराजशिरोनिकुरम्बमुन्नतिमवाप चिरात् ॥३५॥
 निजरूपविभ्रममनोरमयाजितसेनया स कुलपुत्रिकया ।
 प्रजगाम योगमवनीतिलकी रजनीमुखे विधुरिवात्मरुचा ॥३६॥
 यदभूत्सुरासुरवधूसमितेरुपपादने महदतीवतराम् ।
 प्रकटं विधातुमिष तद्विधना निजकार्यकौशलमजन्यत या ॥३७॥

अर्थशून्यम् अर्थेन शून्यम् । दधु. धरन्ति स्म । हुषाञ् घारणे च लिट् ॥३३॥ जयेति । जयशालिनः जयेन शालिनः संपूर्णत्वम् । सहजभद्रतया सहजया सहजातया भद्रतया मङ्गलरत्नेन भद्रजातितया । परिभूषितस्य अलङ्कृतस्य । गुरुवशभृत. गुरुं महन्त वंशं पृष्ठास्त्रिं भूतं वरस्य, पक्षे महान्वयभृत कीर्तिनिलयस्य कीर्तिनिलयस्य निवासस्य । दिक्करिणोऽपि दिग्दन्तिनोऽपि । यस्य राजः । मनाक् ईषत् । मदी नाजनिष्ट नाजायत । जनेड् प्रादुर्भावे लुङ् । श्लेषः ॥३४॥ वसुधामिति । परिघाकृतौ परिघस्येव अर्गलाया इवाकृतिराकाशे यस्य तस्मिन् । यस्य राजः । भुजे बाहौ । दधति धरति सति । गुरुभारभुगं गुरुणा महता भारेण भुगं गृणन् । अहिराजशिरोनिकुरम्बम् अहिराजस्य महाशेषस्य शिरसां शीर्षाणां निकुरम्बं कदम्बकम् । चिरात् विरकालान् । उन्नतिम् उन्नमनम् । अवाप आयाति स्म । आण्ड् क्वाप्ती लिट् ॥३५॥ निजेति । अवनीतिलक. भूतिलकः । सः अजितजयः । निजरूपविभ्रममनोहरया [मनोरमया] निजस्य स्वकीयस्य विभ्रमेण विलासेन मनोहरया [मनोरमया मनोहरया] । अजितसेनया अजितसेनादेव्या । कुलपुत्रिकया कुलसजातया । रजनीमुखे रजन्या राश्या मुखे प्रारम्भे । आत्मरुचा स्वस्य कान्त्या । विधुरिव चन्द्र इव । योगं संबन्धम् । प्रजगाम प्रययौ । गम्ल् गतो लिट् । उपाया ॥३६॥ यदिति । सुरासुरवधूसमितौ सुराणां देवानामनुराणां भवनवासिना च बधूना वनिताना समितौ समूहे । 'सङ्घे संभायां सवितिः' इत्यभिधानात् । अतीवतरां नितामन्तम् । यत् आदि समस्त दिक्पालोके लोक-प्रसिद्ध नाम निरर्थक हो गये - वे कोरे नामके ही दिक्पाल रह गये ॥३३॥ दिग्गज विजयमे सुशोभित होता है, भद्र जातिसे विभूषित होता है, उभरी हुई गीढ़की हठ्टीसे युक्त होता है और बहुत यशस्वी होता है किन्तु निर्मद-मद जलमे रहित नहीं होता । पर यह एक विचित्र-सी बात है कि वह राजा विजयसे अलङ्कृत था, स्वाभाविक भद्रतासे विभूषित था, बहुत बड़े वंशमे उत्पन्न हुआ था, यशस्वी था और था दिक्करी-समस्त दिशाओसे टँकस बसूल करनेवाला (दिग्गज), किन्तु उसे मद-अहंकार (मदजल) तनिक भी नहीं था ॥३४॥ पृथ्वीके भारी भारसे शेष नागके सारे (एक हजार) सिर (फण) नोचेकी ओर झुक गये थे । किन्तु उस राजाने जब अपने परिघ सरोखे बाहुसे समुद्र तककी पुरी पृथ्वीको संभाल लिया तो उन्हें (शेषनागके शिरोको) बहुत समयके बाद ऊपर उठनेका अवसर मिल गया ॥३५॥ वह पृथ्वीका तिलक था । उसका विवाह अजितसेना नामकी कुलोन् कन्याके साथ हुआ । वह अपने सौन्दर्य और हाव-भावसे अजितजयके मनको रमाने वाली थी । अजितजय और अजितसेनाकी जोड़ी बड़ी सुन्दर थी, जैसी रात्रिके प्रारम्भमे चाँद और चाँदनीकी होती है ॥३६॥ मुर-कल्पवासी देवों और असुर-भवनवासी, व्यन्तर तथा

१. क स ग घ 'तीवतरम्' । २. विभर्तीति पृष्ठास्त्रिभूत्, तस्य । ३. आ अजितसेनः । ४. आ गमल गतो । ५. स गम गतो । ६. आ श स प्रतिषु 'सङ्घ' इत्येव पाठः समुपलभ्यते, परम् अमरकोशे 'सङ्घे' पाठो वर्तते ।

रतिकरूपसंपदमभूतिकरल्लितैर्मिजस्य वपुषोऽवयवैः ।
 शुभलक्षणैः परिधिभूतितया विभवाद्य भूषणमभारि यया ॥३८॥
 शशलाञ्छनेऽस्तमितवत्यपि सत्यगमद्यदीयमुखचन्द्रमसा ।
 स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरङ्गतिना जगतीतलं सरजनीकरताम् ॥३९॥
 स तयोर्गुणभरणभूषितयोर्विबुधः समेत्य सुरलोकभूष ।
 भूषणानिशायिकमनोयतनुस्तनुभूरभूदजितसेन इति ॥४०॥
 जनतानुरागपरिवृद्धिकरः सुभगाकृतिर्वयसि यः प्रथमे ।
 शरदौषधीपतिरियामल्लिनेस्तिलकः क्षितेरुपचिकाय कलाः ॥४१॥

निजकार्यकौशल निजस्य स्वस्य कार्यस्य^१ क्रियायाः कौशलं प्रौढत्वम् । अभूत् अववत् । लुङ् । तत् प्रकटं प्रकाशम् । विधातुविभ कर्तुमिव । विधित्वा ब्राह्मणा । या देवी । अजन्मत जन्मते स्म । जनैर् प्रादुर्भावे निजतात् कर्मणि लुङ् । वस्त्रेणा ॥३७॥ रत्नाति । रतिकरूपसंपदमभूतिकरं रते रतिदेश्या रूपस्य लावण्यस्य संपदः समुदरेमभूतिकरं स्तरस्कारकरः । ललितं मनोहरैः । शुभलक्षणं शुभैर्लक्षणैर्भूतैः । निजस्य स्वस्य । वपुषः गात्रस्य । अवयवैः परिभूषितया अलङ्कृतया । यया देश्या । भूषण मण्डनम् । विभवाद्य संपदे । अभारि^२ अधात् । भूज भरणे कर्मणि लुङ् । अतिशयः ॥३८॥ शशेति^३ । शशलाञ्छने चन्द्रे । अस्तमितवति अस्तमेति स्म अस्तमितवान् तस्मिन् अस्तगते सत्यपि । स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरङ्गतिना स्मितमयीपद्मसनमेव चन्द्रिका उज्ज्वलता तयोज्ज्वलतरा निर्मलतरा [युतिः] कान्तिर्व्यस्य तेन । यदीयमुखचन्द्रमसा यदीयं यस्याः संबन्धं मुखमेव चन्द्रमाः चन्द्रस्तेन । रूपकम् । जगतीतलं जगत्या भूमेस्तलम् । सरजनीकरता रजनीकरणे चन्द्रेण सह विद्यमानत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लु गतौ लुङ् । अतिशयः ॥३९॥ स इति । गुणाभरणभूषितयोः गुणा एवाभरणानि मण्डनानि तैर्भूषितयोरलङ्कृतयोः । अजितं जयजितसेनयोः । स विबुधः श्रीधरदेवः । सुरलोभ भुवः स्वर्गलोकात् । समेत्य आगत्य । भूषणानिशायिकमनोयतनुः भुवने भुवनस्य वातिशायिनी अतिशयकारिणी कमनीया मनोहरा तनुः शरीर यस्य स । अजितसेन इति तनुभूः तनी भवतीति तनुभू पुत्र । अभूत् अववत् । भू सत्ताया लुङ् ॥४०॥ जनतेति । शरदौषधीपतिरिव शरदः शरत्कालस्थोपधोपतिरिव चन्द्र इव । अमलिनः निर्मलः । 'मलादिमसद्य' इति व-शब्देन मत्वर्थोय इन्-प्रत्ययः । क्षिते भूमे । तिलकः मण्डनः । जनतानुरागपरिवृद्धिकरः जनताया जनसमूहस्य रागस्य प्रोतेः परिवृद्धिकरः । सुभगा कृति सुभगा मनोहरा आकृतिराकारो यस्य स । यः कुमारः । प्रथमे आद्ये । वयसि । कला चतुःषष्टिकलाः षोडशभागाश्च ।

उद्योतिषो देवौ ही समस्त देवियोके निर्माणमे ब्रह्माने जो अत्यधिक कुशलता प्राप्त की थी, मानो उसीके प्रदर्शनके लिए उसने अजितसेनाको बनाया ॥३७॥ उसके शरीरके सभी अवयव सुन्दर और शुभ-चिह्नोंसे विभूषित थे और इसीलिए वे रतिकी सौन्दर्य-सम्पत्तिकी मात करने वाले थे, फिर भी उस (अजितसेना) ने केवल वैभव या लोकप्रसादाके खयालसे आभूषण धारण किया था ॥३८॥ चन्द्रमाके अस्त होने पर भी मुसकानकी चाँदनीसे उज्ज्वल कान्ति फैलाकर उसका मुखचन्द्र ही उस (चन्द्र) की पूर्ति कर देता था ॥३९॥ वे दोनों - अजितंजय और अजितसेना - गुणोंके आभूषणोंसे विभूषित थे - गुणी थे । वह श्रीधरदेव (जिसका वर्णन चौथे स्कंधमें कर आये है) सौधर्म स्वर्गसे व्ययकर उनके यहाँ पुत्र हुआ । उसके शरीरका सौन्दर्य लोकातिशायी था । उसका नाम अजितसेन रखा गया ॥४०॥ वह (अजितसेन) शरत्कालके चन्द्रमाके समान जनताके अनुरागको बढ़ानेवाला, सुन्दर, निर्मल और पृथ्वीका

१. अ आ इ क ख ग घ ङ नास्तिलकः । २. श स शौर्यस्य । आ प्रतो 'शौर्यस्य' 'कार्यस्य' इति द्वे अपि पठे नोपलभ्येते । ३. = अधारि । ४. आ शशीति । ५. = यत्संबन्धि ।

गुणनिमित्तैः सुरभिभिः कुमुदैरिव यद्यशोभिरनुरागकरैः ।
 प्रचिभासिते जगति शीतरुचेरुदयो जनैरवधये विकलः ॥४२॥
 ध्रुवमस्य रूपविभवेन जितस्त्रयया विलीय समभूततनुः ।
 मदनस्तदीयतनुदाहकरी हरलोचनाचिरिति वार्तमदः ॥४३॥
 नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो विभवं च यस्य सहजो विनयः ।
 तमलंचकार परमः प्रशमः प्रशमं पराक्रमगुणो गुणिनः ॥४४॥
 गुणसंपदा सकलमेव जगल्लघयन्तमात्मतनयं तमसौ ।
 मुमुदे महीपतिरुदीच्य भृशं शशिनं समग्रकलमन्धिरिव ॥४५॥

उपबिकाय उपचिनोतिस्म ! 'चेवी' इति बिब् चपने इति चातोर्लिट्, कवर्गादेशः । इत्येवोऽमा ॥४१॥
 गुणेति । गुणनिमित्तैः गुणोद्भाविभिर्^१ निमित्तैः कृतै, पक्षे तन्मुभिः कृतै । सुरभिभिः शुभै सुगन्धिभिश्च ।
 अनुरागकरैः प्रीतिकरैः । कुमुदैरिव केरवैरिव । यद्यशोभिः यस्य कुमारस्य यशोभिः कीर्तिभिः । जगति लोके ।
 प्रतिभासिते प्रकाशिते सति । जनैः लोकैः । शीतरुचे^२ चन्द्रस्य । उदयः उत्पत्तिः । बिक्लः निष्कम्भः । इति
 अवधये जजे^३ । या प्रापणे कर्मणि लिट् । इत्येव ॥४२॥ ध्रुवमिति । यस्य कुमारस्य । रूपविभवेन रूपस्य
 लावण्यस्य विभवेन संपदा । जितः निराकृत । मदनः स्मरः । नयया लज्जया । विलीय विशीर्य । अतनुः
 तनुरहितः । समभूत समभवत् । भू सत्ताया लुट् । ध्रुव^४ निश्चय हरलोचनाभिः हरस्य रुद्रस्य लोचनस्य
 नयनस्याचिज्जाला । तदीयतनुदाहकरी इति तदीयायाः मदनसंबन्धायास्तनोः शरीरस्य दाहकरी भस्मकरी इति
 अदो लोकवचनम् । वार्तम् अस्वयम् । अपह्नुतिः ॥४३॥ नयमिति । गुणिनः औदार्यादिगुणयुक्तस्य । यस्य
 कुमारस्य । इन्द्रलाघवकरः इन्द्रस्य लाघवकरो लघुत्वकरः । विभवः संपत् । तयं नीतिम् । सहजः सहजातः ।
 विनयः विनयगुणः । विभवं संपदम् । परमः महान् । प्रशमः क्षमागुणः । त पराक्रमगुणम् । विक्रमगुणः
 प्रशमं क्षमागुणम् । अलंचकार अलं करोतिस्म ॥४४॥ गुणेति । असौ अयम् । महीपतिः अजितजयः । गुण-
 संपदा गुणसंपत्त्या । सकलमेव विश्वमेव । जगत् लोकम् । लघयन्त लघुकुर्वन्तम् । आत्मतनयम् आत्मनः स्वस्य-
 तनयं नन्दनम् । उदीच्य आलोक्य । समग्रकलं संपूर्णकलावन्तम् । शशिनं चन्द्रम् । अन्धिरिव समुद्र इव ।

मण्डन था । उसने वाल्यकालमें ही सब कलाओंमें पूर्णता प्राप्त कर ली थी । जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमें अपनी कलाओंमें पूर्णता पा लेता है ॥४१॥ जिस प्रकार कुमुद मृणाल तन्तुओंसे रचित, सुगन्धित और सबके अनुरागको उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार उस राज-कुमारका यश उसके गुणोंसे उत्पन्न, मनोज्ञ और प्रजाजनोंके अनुरागको उत्पन्न करने वाला था । उसके यशसे सारे संसारके प्रकाशित हो जानेपर लोगोंने चन्द्रमाके उदयको निरर्थक समझ लिया ॥४२॥ जान पड़ता है इस राजकुमारके उत्कृष्ट रूपसे पराजित होकर कामदेव लज्जावश घुल-घुलकर अनंग हो गया है—अवना शरीर खो बैठा है । 'शिवजोकी नेत्राग्निकी ज्वालासे कामदेवका शरीर भस्म हुआ था' यह तो कोरी गप्प है ॥४३॥ वह बड़ा गुणी था । उसका वैभव इन्द्रसे भी कहीं अधिक था । उसको नीतिकी शोभा वैभवसे, वैभवकी सहज विनयसे, विनयकी प्रशम-क्षमासे और प्रशमकी पराक्रमसे थी ॥४४॥ गुणोंकी सम्पत्तिसे उसने समस्त जगत्को मात कर दिया था । उसे देखकर उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए । जैसे पूर्णचन्द्रको देख

१. क ख परमप्रशमः । २. या स शोभादि । ३. = ध्रुवधे । ४. = निश्चयेन ।

इति च व्यचिन्तयदलाभि न किं निजजन्मनः फलममुष्य मया ।
 भुवि यस्य भानुसदृशस्तनयः पिदधाति धामभिरशेषदिशः ॥४६॥
 मलसङ्गवर्जितमनं पृथुतामुदयाम्पदं सकलधामवताम् ।
 घनवर्म शीतरुचिनेध करमम दीपितं कुलमनेन गुणैः ॥४७॥
 कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नचयौवनाच्छ्रुतवतः प्रशमात् ।
 पुरुषान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ॥४८॥
 अपरेष्टुरेनमवनीतिलकं महतोत्सवेन नृपचक्रयुतः ।
 नृपतिर्यवोविशदनिन्द्यतमे जगतो हिताय युवराज्यपदे ॥४९॥

भृगुम् अन्यन्तम् । मृगदे संतुतोप । वरप्रेक्षा (वपसा) ॥४५॥ इतीति । भुवि भूमौ । यस्य मम । भानुसदृशः भानोः सूर्यस्य सदृशः समानः । तनयः कुमारः । अशेषदिशः समस्तककुम्भः । धामभिः पिदधाति^१ । मया अमुष्य अस्य । निजजन्मनः निजस्य स्वस्य जन्मनो जननस्य । फलमलाभि अलम्भत । हुलभिप् प्राप्ती कर्मणि लुट् । न किम् अपितु अलाभ्येव । इति च एवं प्रकारेण । व्यचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥४६॥ मलेति । मल-सङ्गवर्जितं मलस्य सङ्गेन संबन्धेन वर्जितं रहितम्, पक्षे कालुष्यरहितम् । पृथुता महत्त्वम् । इन गतम् । सकल-धामवता सकलानां सर्वेषा धामवतां तेजस्विना क्षत्रियाणाम्, पक्षे ज्योतिर्मणानाम् । उदयाम्पदम् उदयस्य संपद आसदं स्थानम्, पक्षे प्रदुर्भावस्य स्थानम् । मम मे । कुलं वंशम् (शः) । अनेन एनेन कुमारैः । गुणैः ओदार्षादिभिः । शीतरुचिना चन्द्रेण । करैः किरणैः घनवर्मैव मेघमार्ग इवाकाशमिव । दीपितं प्रकाशितम् । श्लेषोपमा ॥४७॥ कुसुमादिति । विटपिनः वृक्षस्य । कुसुमात् पुष्पात् । यथा वपुः शरीरस्य । यौवनत् यौवनावस्थायाः । श्रुतवतः शास्त्रिणः । प्रशमात् कामाद्युपशमात् । तथा तेन प्रकारेण । इह जगति लोके । पुरुषान्वयस्य पुरुषस्य मनुष्यव्यान्वयस्य वंशस्य । सुपुत्रतः सपुत्रात् । पद्मं जन्मत् । अलङ्कारं भूषणम् । न नास्ति । दृष्टान्त ॥४८॥ अपरेष्टुरिति । अपरेष्टुः अन्यस्मिन् दिन । नृपचक्रयुतः नृपाणां राज्ञां चक्रेण निबद्धेन युतः । नृपतिः भूपतिः । अवनीतिलकं भूमिभूषणम् । एवं कुमारम् । महता पृथुना । उत्सवेन प्रभावतया । अनिन्द्यतमे पृथ्वतमे । युवराजपदे युवराजस्य पदे स्थाने । जगतः लोकस्य । हिताय उपकाराय । न्यवीक्षितम्

कर समुद्र प्रसन्न होता है ॥४५॥ राजा अपने मन-ही-मन यों सोचने लगा कि 'मेरा पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी है और सूर्यके समान मेरे इस पुत्रने अपने तेजसे सब दिशाओंको व्याप्त कर दिया है । इसे पाकर क्या मेने अपने जीवनका फल नहीं पा लिया ? ॥४६॥ मेरा वंश आकाश के समान है । जैसे आकाश मेलके सम्बन्धसे रहित—निर्मल है, विद्याल है और तेजस्वी सूर्य आदि ज्योतिषी देवोके उदयका स्थान है । वैसे ही यह वंश निर्दोष, विशाल और तेजस्वी क्षत्रियोंका अन्म-स्थान है आकाशको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे प्रकाशित करता है और इस वंश-को मेरे पुत्रने अपने गुणोंसे प्रकाशित कर दिया है ॥४७॥ जिस प्रकार वृक्षका फूल, शरीरका यौवन और विद्वानका शान्तिसे बढ़कर कोई अन्य भूषण नहीं है, इसी प्रकार मनुष्यके वंशका सुपुत्रके सिवा और कोई भूषण नहीं है ॥४८॥ यह सोचकर राजा अजितंजयने अगले दिन ही पुत्रको युवराज पद प्रदान करनेके लिए बहुत बड़ा उत्सव किया । उसमे सभी राजे-महाराजे सम्मिलित हुए । उन्हीके समक्ष उसने अपने पुत्र अजितसेनको—जो समस्त पृथ्वीका मण्डन था—लोक हितके लिए सम्मानित युवराज पदपर आरुढ़ कर दिया—उसे युवराज बना दिया ॥४९॥

१. क स ग घ म ाउपपदे । २. = आच्छादयति व्याप्नोतीत्यर्थः । ३. = अन्यदलङ्करणमिह नास्ति ।

भृतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं पद्मास्थितः पितुखदारतमम् ।
 स कलाधरः सकलभूमिभृतां मुकुलीचकार करपद्मचनम् ॥५०॥
 नयनाभिराममकलङ्कितं नवमादधानमुदरं जनता ।
 शिरसा दृशोर्गतममुं विषयं प्रणनाम बालमिव चन्द्रमसम् ॥५१॥
 स कदाचनार्थ युवराजयुतः सदुपायनानुगतमण्डलिनाम् ।
 प्रविलोकयन्निवहमास्त मुदा नृपतिर्मनोहरसभाभवने ॥५२॥
 प्रथितोऽथ चण्डरुचिरित्यसुरस्तद्वशेषमेव परिमोह्य सदः ।
 कृतपूर्ववैरमवगम्य सुतं तमिलापनेरपजहार रुषा ॥५३॥

स्थापयति स्म । विश प्रवेशने निजन्तात्सु ॥४९॥ श्रुतेति । अपरितेन्द्रपदं निरसीकृतदेवेन्द्रपदम्^१ । उदारतमं^२ प्रकृष्टमहितम् । पितुः तानस्य । पदं राज्यपदम् । आस्थितः तिष्ठतिस्म । 'शोऽस्थासोऽधराधारः' इत्याधारे द्वितीया । श्रुतशुद्धीः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्राभ्यासेन शुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य सः । मः कुमारः । कलाधरः चतुःषष्टिकलाधरः, पक्षे षोडशभागधरश्चन्द्रः । सकलभूमिभृता सकलानां सर्वेषां भूमिभृता राजाः । करपद्मचनं करावेष हस्तावेव पद्मचनं कमलचनम् । मुकुलीचकार संकोच चकार 'बर्मवर्तुम्याम्—' इत्यादिना चिवः । 'चवो चानव्ययस्य' इति ईकारादेशः । इलेषो रूपकञ्च ॥ ५० ॥ नयनेति । नयनाभिरामं नयनयोरभिरामं मनोहरम् । अकलङ्कनम् अकलङ्का निर्मला तनुः शरीर यस्य तम् । नव नूतनम् । उदय संपदम्, पक्षे उत्पत्तिम् । आददानं स्वीकृत्यन्तम् । दृशोर्गतयोः । विषयं गोचरम् । यापं गतम् । बालं नूतनम् । चन्द्रमसमिव चन्द्रमिव । अमुं कुमारम् । जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्सु' । [शिरसा मस्तकेन । प्रणनाम प्रणाम चकार ।] इलेषोपमा ॥५१॥ स इति । अथ युवराजपदराख्यनन्तरम् । कदाचन एकदा । युवराजयुतः युवराजेन कुमारेण युतः सहितः । मः नृपतिः अजितजयभूमिपः । मनोहरसभाभवने मनोहरे सुन्दरे सभाभवने सभाभवे । सदुपायनानुगतमण्डलिना सद्भिः प्रशस्तेरुपायनैरुपग्राह्यं अनुगतानाम् अनुगतानां । मण्डलिना भूमताम् । निवहं समूहम् । प्रविलोकयन् पश्यन् । मुदा सतोषेण । अस्त उपविशति स्म ॥५२॥ प्रथित इति । अथ सभागृहस्तिरयनन्तरम् । चण्डरुचिः इति प्रथित प्रसिद्धः । अमुरः अमुरकुलभवः । तद्वशेषमेव सकलमेव । सदः सभाम् । समोह्य मुच्यते कृत्वा । कृतपूर्ववैरं कृतं विहितं पूर्वमद्य वैरं विरोधम् । अवगम्य ज्ञान्वा ।

युवराजकी बुद्धि अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे परिष्कृत थी और वह चन्द्रमाकी तरह समस्त कलाओंका आश्रय था । इन्द्रके पदसे भी उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित पिताके महान पद पर उसके आसीन होते ही समस्त राजाओंने हाथ जोड़ दिये । चन्द्रमाकी देवकर कमलोंका जैसा आकार हो जाता है, ठीक वैसा ही आकार उस समय समस्त राजाओंके हाथोंका हो गया ॥५०॥ जिस प्रकार नयनाभिराम, निष्कलंक और नवोदित बालचन्द्रको देखते ही सभी लोग नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार नयनाभिराम, निष्ठाप और नवीन अभ्युदयको प्राप्त हुए युवराज को देखते ही सभी लोग प्रणाम करने लगे ॥५१॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, राजा अजितजय युवराजके साथ सुन्दर सभा-भवनमें बैठे हुए थे । इसी अवसरपर माण्डलीक राजाओं-का मण्डल उत्तम उपहार लेकर उससे मिलनेके लिए वहाँ आया । अजितजय उसकी ओर दृष्टिपात कर ही रहा था ॥५२॥ कि इतनेमें चण्डरुचि नामका एक कुख्यात अमुर वहाँ आ धमका । राजकुमारके साथ उसका पिछले जन्मका वैर था । सभामें पहुँचते ही उसने उसे

१. अ आ इ क ख ग घ म चन्द्रः । २. आ स नीरसीकृतदेवेन्द्रपदवीम् । ३. आ ० रतनुं । ४. = आरुहः । ५. = संकोचयामास । ६. = उपहारः । ७. आ हा स विलोकयन् । ८. आ ० स्वीकृत्यनन्तरम् । ९. = मूर्च्छितां कृत्वा ।

प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं क्षणमात्रकेण^१ परिधूय तमः ।
 सकलं ससंभ्रममिलाधिपतिः सुतशून्यमैतत् समाभवनम् ॥५४॥
 इक्ष्मिन्द्रजालमुन धातुगता विह्वतिर्मनः किमुत विप्लवि^२ मे ।
 अवलोकयामि यदहं युवराट्त्रिकलामिमां निजसभां परितः ॥५५॥
 अथ मायिनान्यभववैरवशाद्भजनीचरेण दृढबद्धरुपा ।
 असुरेण वासुसदृशस्तनुभूरूपेण वेनविदहारि स मे ॥५६॥
 इति तर्कयन्त्रिकलमङ्गमुवा गणयन्गणयमिध जीर्णमसौ ।
 सकलं सदो दयितया सहितः प्रललाप मुक्तकरुणार्तरवम् ॥५७॥

इलापते भूमिपते । तं सुतम् अजिततेनकुमारम् । रुपा कोपेन । अपवहार अपहरति स्म ॥५३॥ प्रसीति ।
 असुरमोहनजं चण्डकविमोहनेन जनितम् । तम् अजानम् । क्षणमात्रेण अल्पकालेनैव । परिधूय निराकृत्य ।
 प्रतिबुद्धवान् जागरितवान् । इलाधिरिति भूमिपतिः । ससंभ्रम विस्मयवर्धितं यथा तथा । सुतशून्यं कुमार-
 रहितम् । सभाभवनं सामादहनम् । गेसत अपश्यत् । ईक्षि^३ दर्शने लट् । ५४॥ इदमिति । यन् यस्मात्कार-
 णात् । अहं युवराट्त्रिकला युवराजेन विकला रहिताम् । इमाम् एताम् । निजसभा निजस्य स्वस्य सभाम् ।
 परितः समन्तान् । अवलोकयामि बोधे^४ । लोकाद् दर्शने लट् । इदम् एतन् । इन्द्रजालम् इन्द्रजालविद्या ।
 उत अथवा । धनुषता धातून् मन्त्रधातून् यता याना । विह्वति विह्व । उत अथवा । मे मम । मन
 मानसम् । विप्लवि भ्रान्त किम् । मशय ॥५५॥ अथेति । अथ अथवा । अन्यभववैरवशात् अन्यभवस्य
 पूर्वभवस्य वैरवशाद् विरोधवशान् । दृढबद्धरुपा दृढं बाह बद्धा मद् यन् तेन । मायिना मायायुक्तेन । रजनी-
 चरेण राजिवरेण । वा अथवा । अरूपेण कृताग्रहितेन । केनचिदसुरेण अमुग्धेन । अनुसृष्टं अमूना प्राणाना
 सदृशः समानः । मे मम । तनुन् कुमार । अहारि अह्नयन् । हृत् हरणे कर्मणि लृट् । मशय ॥५६॥
 इतीति । इति एवं प्रकारेण । तर्कयन् विचारयन् । अपो राहा । अङ्गमुवा नननेन । विकल रहितम् । सकलं
 समस्तम् । सदः सभाम् । जीर्णं निविलिनम् । अरण्यमिव काननं मय । गणयन् विचारयन् । दयितया
 निजप्रियया । सहित युक्त । मन्त्रकणार्तरव मुक्तया करुणया शोकशेनार्तं पोहिनो रवो ध्वनिर्यस्मिन्

पहुवान लिया, फिर सारी सभाको मूर्छित करके बड़े क्रोधसे उसे हर ले गया ॥५३॥ क्षण
 भरके बाद ही उस असुरकी मोहिनी विद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुई मून्डसि छटकारा पाते ही वह
 राजा घबराकर ज्योही सभाकी ओर देखा है त्यों ही उसे पना लग गया कि राजकुमार
 गायब हैं । उसके बिना सारी सभा उसे मूनी मालूम पड़ने लगी ॥५४॥ मे मारी सभाको चारो
 ओरसे देख रहा हूँ, किन्तु राजकुमार कहीं भी नहीं देख पड़ने । किमीने इन्द्रजाल-जादू फैला
 दिया है, धातुओंमें विचार उत्पन्न हो गया है या मेरे मनमें ही कोई भ्रम उत्पन्न हो गया
 है ? ॥५५॥ अथवा जन्मान्तरके तीव्र वैरके कारण कोई मायावी और तीव्र क्रोधो राक्षस या
 असुर मेरे प्राण-प्रिय उस पुत्रको हर ले गया है ? ॥५६॥ उस तरह उसके मनमें नाना प्रकारके
 तर्क-वितर्क उठ रहे थे । पुत्रके बिना उसे सारी सभा पुराने जंगल सरीखी लगने लगी । इतनेमें
 उसकी रानी भी वहाँ जा पहुँची । उसके साथ वह दुख भरे करुणाजनक शब्दोंमें

१. म^१ केन । २. घ विभ्रमि । ३. म वासुमदृश^५ । ४ = लब्धचेतन इत्यर्थः । ५. वा स ईक्ष ।
 ६. आ बोधये । ७. आ लोका । ८. वा स अह्नीयत । = हृत इत्यर्थः ।

प्रविधाय' मामशरणं सहसा क्व मद्दुर्ललितं हासि गतः ।

लघु देहि दर्शनमहं हि विना भवतावलम्बितुमसूतनलम् ॥५८॥

अधिसूनुं लालनविधावहिनेऽप्यमनोहरं तव मयामिहितम् ।

न कदाचिदप्यसदृशप्रणये किमकारणं मयि विरक्तिमगाः ॥५९॥

वचनामृतैः सुखरसश्रमिदं कुरु पूर्ववच्छ्रवणयोर्युगलम् ।

अनिबन्धनाकुशलशङ्किनया किमुपेक्षसे पितरमाकुलितम् ॥६०॥

यदि वा कुतश्चिदपि कारणतो मयि घत्स तेऽजनि निरादरता ।

अनिमित्तमेव रहिता किमिमां जननीं प्रति प्रकृतिवत्सलता ॥६१॥

कर्मणि तत् । प्रललाप शृणोष । लन व्यवताया वाचि लिट् ॥५७॥ प्रवीणि । भोऽमदुर्ललितं^१ ममाङ्कु-
दोषोः—ऊरुभुजयोः ललित मनाहर । महसा शंघम् । मामशरण शरणरहितम् । प्रविधाय कृत्वा । क्व^२
कस्मिन् । गताऽसि यातोऽसि । हा हन्त । लघु शंघम् । दर्शनं देहि प्रयच्छ । दुशान् दाने लोट्^३ । अहं हि
भवता स्वया विना । अमून् प्राणान् । अवलम्बितुं घत्तुम् । अनलम् असमर्थो भवामि ॥५८॥ अधीति ।
अधिसूनुं सूनुवधिकृ य अधिसूनु तस्मिन् पुत्रविषये । लालनविधौ लालनस्य बालकेत्या विधौ । अहितेऽपि
हितरहितेऽपि । मया कदाचिदपि एकदापि । तव भवत । अगनोद्वम् अमङ्गलवचनम् । अमिहितं न
भावित न । असदृशप्रणये असदृशोऽपाधारण' प्रणय प्रीतियस्मिन् तस्मिन् । मयि । अकारणं कारण विना ।
विरक्तिम् अप्रोक्तिम् । किम् अगा किम् अयासो^४ ॥५९॥ वचनेति । वचनामृतैः वचनान्येवामृतानि तैः ।
इदम् एतत् । श्रवणयोः कर्णयोः । युगल द्वयम् । पूर्ववत् प्रथममिव । सुखरसं सुखस्यानन्दस्य रसजम् । कुश-
विषेहि । अनिबन्धनाकुशलशङ्किनया अनिबन्धनमकारणमकुशल' कष्ट शङ्किततया' शङ्कानशीलत्वेन^५ । आकु-
लितं^६ पीडितम् । पितरं जनकम् । किमुपेक्षसे' किं कारणमुदासिनं करोषि । ईक्षि^७ दर्शने लट् । रूपकम्
॥६०॥ यदिति । वचनं भोः पुत्र । यदि वा, कुतश्चिदपि कस्मादपि । कारणतः हेतोः मयि, ते तव । निरादरता
अप्रीतिता । अज्ञान अज्ञायत । इमम् एताम् । जननीं मातरं प्रति । प्रकृतिवत्सलता प्रकृत्या स्वभावेन

खूब जोर-जोरसे या विलाप करने लगा—॥५७॥ हे मेरी गोद ओर हाथोंके आभूषण;
हाथ, तुम मुझे अशरण बनाकर अचानक ही कहाँ चले गये ? मुझे जोघ्न ही दर्शन दो । तुम्हारे
बिना अब मैं अपने प्राणोंको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥५८॥ वचनमें जब तुम स्वयं अपने
लिए हो अहित करनेवाले खेद खेदने लगने थे, तब भी मैंने तुमसे कोई अप्रिय बात नहीं कही ।
मैं तो तुमसे सदा अमाधारण स्नेह करता आ रहा हूँ, फिर तुम अशरण हो मुझे क्यों रूठ
गये हो ? ॥५९॥ तुम अपने वचनामृतसे मेरे इन दोनों कानोंको पहलेंकी भाँति मुझी करो ।
तुम्हारे बारेमें अकारण ही अकुशलकी आशङ्कामें तुम्हारा यह पिता व्याकुल हो रहा है । तुम
इमकी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? ॥६०॥ हे बेटे ! यदि किसी कारणसे मेरे प्रति निरादरका
भाव हो गया था, तो इस माँ से जो तुम्हारा स्वाभाविक वात्सल्य रहा, उसे यो ही क्यों छोड़

१ क ख ग घ म प्रविहाय । २ अ अयि सूनु । ३ एष टीकाकुशममतः पाठः, प्रतिपु
तु 'मददुर्ललित' इत्येव दृश्यते । ४ = कुत्र । ५ आ लिट् । ६ आ अयासि श स आयासि ।
७ = अमङ्गलम् । ८ = तच्छङ्किनया । ९ = तच्छङ्कानशीलत्वेन । १० = व्याकुलम् । ११ = किमुपेक्षा
करोषि । १२ श स ईक्ष ।

गुणिनं मनोरथशताधिगतं निजवंशवारिधिबिधुं विधिना ।
 हरता भवन्तमकृपेण मम क्षतमक्षियुगमुपदर्श्य निधिम् ॥६२॥
 पद्मीमतीत्य तमसां तपता भुवनोदयाचलशिखामणिना ।
 रहितास्त्वया स्वजनवत्सल मे तिमिरावृता इव विभ्रान्ति दिशः ॥६३॥
 दिनमद्य मे गतमनुत्सवतां शरणोन्मत्तोऽद्य मम बन्धुजन* ।
 भवदीयदुःसहवियोगभवत्तनुदेहयष्टिरहमद्य मृतः ॥६४॥
 यशसः सुखस्य विभवस्य तथा महसस्त्वमेव मम हेतुभूः ।
 यजता त्वया भुवनभूषण तद्व्यपहसितं सकलमेकपदे ॥६५॥

वत्सलता वात्सल्यम् । अनिमित्तमेव कारणरहितमेव । किं किनिमित्तम् । रहिता त्यक्ता ॥६१॥ गुणिनमिति । गुणिनं गुणवन्तम् । मनोरथशताधिगतं मनोरथानां मनोऽभ्योष्टानां शतम् अनेकम् [तेन] अविगतं मागतम् । निज-
 वंशवारिधिबिधु निजस्य स्वस्य वंश एव वारिधित्तस्य* विधुरिव तम् । विधिना देवन । भवन्तं पूज्यं त्वाम् ।
 हरता अपहरता । अकृपेण दयारहितेन । निवि पद्मशङ्खादिकम् । उपदर्श्य दर्शयित्वा । अक्षियुगम् अक्षो-
 नयनयो युग्म युगलम् । क्षतम् अपकृतम् ॥६२॥ पद्मीमिति । स्वजनवत्सल* ! स्वस्य स्वकीयस्य जनेषु
 बन्धुषु वत्सलो वात्सल्ययुक्तः (तत्संबुद्धो हे स्वजनवत्सल) । तमसाम् अज्ञानानाम् । पदवी मार्गम् ।
 अतीत्य* बद्धा । तपता प्रज्वलता । *भुवनोदयाचलशिखामणिना* भुवनमोदयाचलस्तस्य शिखामणिश्चूडा-
 मणिः* तेन । रूपकम् । त्वया भवता । रहिता, त्यक्ता । दिशः ककुम् । मे मम । तिमिरावृता इव
 तिमिरान्धकारेणावृता व्याप्ता इव । विभ्रान्ति विराजन्ते । भा दीप्ती लट् । उपमा ॥६३॥ दिनमिति ।
 मे मम । अद्य इदानीम् । दिनं दिवस । अनुत्सवताम् । उत्सवरहितत्वम् । गत प्राप्तम् । अद्य इदानीम् ।
 मम मे । बन्धुजन* बन्धुरेव जनस्तद्योक्तः । शरणोन्मत्तः शरणेन रक्षणोन्मत्ततो रहित* । भवदीयदुःसह-
 वियोगभवत्तनुदेहयष्टिः भवद्येन भवता अनितेन दुःमहेन मोहमशक्तेन वियोगेन वियोगेन भवन्ती जायमाना
 तावी क्रूरा देहयष्टिः शरीरयष्टिरस्य स* - भवज्जनितातिदुःसहेन वियोगेन क्रूरीभूतशरीरवातिव्यर्थ ।
 अहम् अद्य इदानीम् । मृत* ज्ञियते स्म ॥६४॥ यशस इति । भुवनभूषण । भुवनस्य लोकस्य भूषणमलङ्कार
 (तत्संबुद्धो हे भुवनभूषण) । मम मे । यशस* कीर्ति । सुखस्य । विभवस्य संपद । तथा तेन प्रकारेण ।
 महसः तेजस । त्वमेव भवानेव । हेतु कारणम् । अभू अभवः । यजता गच्छता । त्वया । एकपदे एकक्षणम् ।

दिया ? ॥६१॥ बेटे; तुम गुणवान् हो; सैकड़ों मनोरथोंके बाद तुम मुझे प्राप्त हुए, और इस
 वंश रूपी समुद्रके लिए तुम साक्षात् चन्द्रमा हो । निर्दय विघाताने तुम्हारा हृण करके तो जैसे
 निधि दिखलाकर मेरी दोनों आँखें ही फोड़ डाली है ॥६२॥ जैसे अन्धकारको हटाकर तपने-
 वाले और उदयाचलके शिखरपर उसके चूडामणि सरीखे प्रतीत होने वाले सूर्यके बिना समस्त
 दिशाओंमें अन्धकार फैल जाता है, वैसे ही अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानका प्रकाश फैलाने
 वाले, शत्रुओंको सन्ताप देने वाले और उदयाचलकी भाँति उन्नत संसार (मानव समाज)के
 मस्तकपर चूडामणिका स्थान पानेवाले तुम्हारे बिना सभी दिशाओंमें अन्धकार दिखाई दे रहा
 है ॥६३॥ आजसे मेरे दिन उत्सव रहित हो गये हैं, आजसे मेरे परिवारके लोग अशरण हो
 गये हैं और हे बेटे ! तेरे अमह्य वियोगमें मेरा शरीर मूखक लकड़ो हुआ जा रहा है । ऐसी
 अवस्थामें मैं अब मरा ॥६४॥ हे बेटे ! तुमसे संसारकी शोभा रही, इसलिए तुम उसके भूषण
 थे, और मेरे यश, सुख, ऐश्वर्य तथा तेजके तुमही एक कारण थे । तुम्हारे चले जानेसे वे सब

१. = प्राप्तम् । २. = विधुश्चन्द्रः । ३. आ* वत्सलम् । श स* वत्सलः । ४ = उत्सवः ।

५. श स भवन्ती । ६. श स भवन् । ७. आ श स मणिरिव । ८. = हतः ।

ललितभ्रु लोचनयुगं^१ वदनं तुहिनद्युतिद्युति वचो मधुरम् ।

भवदीयमङ्ग तदशेषमगान्मम पाप्मभिः स्मरणगोचरताम् ॥६६॥

अपि^२ तद्भवेद्दिनमपुण्यवतः परमोत्सवं पुनरपीह मम ।

विषयत्वमेष्यति विलोचनयोस्तव वत्स यत्र मुखपङ्कजम् ॥६७॥

किमभूदमोष्यपि न वत्सलता स्वसुहृत्सु काचन कठोरधिया ।

गमनोत्सुकेन सहपांसुरता^३ यदि मे त्वया दयित नालपिताः ॥६८॥

नेजभर्तुर्दुर्व्यसनदुःखचितं शरणोन्मिक्तं प्रविलपन्तमिमम् ।

सपदि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः सुखिनं कुरुष्व नृपभृङ्गचयम् ॥६९॥

तत्सकलं तत्सर्वम् । व्यपहस्तित । निराकृतम् ॥६५॥ ललितेति । अङ्ग भो. पुत्र । ललितभ्रु ललित मनोहरे भ्रुवौ नयनपताके यस्य तत् । लोचनयुगं लोचनयोर्युगं युगलम् । तुहिनद्युतिद्युति^४ तुहिनद्युतेऽचन्द्रस्यैव द्युतिः कान्तिर्यस्य तस्य संबोधनम् । वदन मुखम् । मधुर^५ माधुर्यम् । वच. वचनम् । तदशेषं तत्सकलम् । मम मे । पाप्मभिः पापैः । स्मरणगोचरता स्मरणस्य विन्ताया गोचरता विषयताम् । अगात् अगमत् । इण् गतो लुङ् । उगमा ॥६६॥ अरोति । भो वत्स भोः पुत्र । यस्मिन् दिवसे । तव भवतः । मुखपङ्कजं मुखमेव पङ्कजं कमलम् । मम मे । विलोचनयोर्नयनयोः । विषयत्वं गोचरत्वम् । एष्यति यास्यति । पुनरपि पञ्चादपि । इह प्रदेशे । अपुण्यवतोऽपि पुण्यरहितस्यापि । तद्विन् तदहं । परमोत्सवं परमोत्सवेन युक्तम् । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लुङ् ॥६७॥ किमिति । यदि यत् यस्मात् कारणात् । कठोरधिया कठोरा निष्ठुरा धीर्यस्य तेन । गमनोत्सुकेन गमने प्रयाणे उत्सुकस्तेन । स्वया भवता । सहपांसुरताः सहपासु-क्रीडिनाः । इमे एते । नालपिताः नाभाषिताः । दयित भोः पुत्र । अमीषु एतेषु । स्वसुहृत्स्वपि स्वस्य तव सुहृत्स्वपि मित्रेऽपि । काचन वत्सलता वात्सल्यम् । कि नाभूत् कि निमित्त नाभवत् । भू सत्ताया लुङ् ॥६८॥ निजेति । निजभर्तुर्दुर्व्यसनदुःखचित निजानां स्वेषां भर्तुः प्रभोर्दुर्व्यसनेन दुःसहेन व्यवसनेन^६ विषया दुःखेन कष्टेन चितं युक्तम् । शरणोन्मिक्तं शरणेन रक्षणेनोन्मिक्त रहितम् । प्रविलपन्तं प्रलाप कुर्वन्तम् । इमम् एवम् । नृपभृङ्गचयं नृपा एव भृङ्गास्तयोश्चतास्तेषां चय समूहम् । सपदि क्षीघ्रम् । प्रदर्शितपदाम्बुरुहः प्रदर्शितं पदमेवाम्बुरुहं कमलं येन सः । सुखिनं सुखयुक्तम् । कुरुष्व विधत्स्व । हुक्ञ् करणे लोट् । रूपकम् ॥६९॥

भो एकदम चले गये ॥६५॥ बेटे ! तुम्हारे मुन्दर भोवाले नेत्र, चाँद-सा चमकता हुआ चेहरा और मधुर वचन—ये सब मेरे प्रचुर पापकर्मके उदयसे अब केवल स्मृतिके विषय बनकर रह गये हैं—अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रहो है ॥६६॥ बेटे ! मुझ पापोंको क्या फिर भी कभी वह उत्सवका दिन आयगा, जब मे तेरे मुखकमलको इन आँखोंसे देखूँगा ? ॥६७॥ प्यारे बेटे ! अच्छा, हम लोगोंकी बात जाने दो, पर जिनके साथ तुम बचपनमें घूमने खेलते रहे, क्या उन मित्रोंसे भी तुम्हें स्नेह नहीं था, जो तुमने अपनी बुद्धिको इतना कठोर कर लिया कि जानेके लिए उत्सुक होकर उनसे भी कुछ नहीं कह गये । ॥६८॥ यह राज-वर्ग-रूपी भ्रमरमण्डल अपने स्वामी (तुम्हारे)के इस सङ्कटसे अत्यन्त दुःखी हो रहा है और अपनेको अशरण समझकर विलापकर रहा है । इसे अपने चरण कमलोंका दर्शन देकर सुखी करो ॥६९॥

१. म 'भ्रुलोचन' । २. अ अवि । ३. अ सहपांसु । म सह पांसु । ४. = तुहिनद्युतिश्चन्द्रस्तस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत् । ५. = माधुर्यमेतत् । ६. आ मनिता ।

यदसह्यशोकघनकालबलप्रबिबुद्धमस्य समुपेत्य पुनः ।
 भव घटन बान्धवजनाधुनीपयसो निदाघसमयः सहसा ॥७०॥
 सुतशोकशङ्कुपरिविबुधमनाः प्रलपन्ति प्रबलबाणजलः ।
 क्षणाधिमन्तरयितुं जगृहे परिमूर्च्छया स कृपयेव नृपः ॥७१॥
 अयोध्वरञ्जन्दनसंचनाद्यैः क्षणादुपायेरपनीतमूर्च्छैः ।
 व्यलोक्यस्वारणमन्तरिक्षे यति तपोभूषणनामधेयम् ॥७२॥
 दधानमिन्द्रोः परिवेषभाजस्तुलामतुल्याङ्गरुचा परीतम् ।
 तदा तमुद्ग्रीवमुदीश्रमाणा सर्वा सभा विस्मयमाजगाम ॥७३॥

वर्तित^१ । बत्स भोः पुत्र । यत् । असह्यशोकघनकालबलप्रबिबुद्धम्^२ अमह्य साहसगवय शोको दुःखं स
 एव घनकालो वर्षाहालस्त्वय जनेन सञ्जितेन प्रबिबुद्धमयितम् । अय एवस्य । बान्धवजनाधु-
 नीपयस्य बान्धवा एव जनारोपामधुना धुनी नदी तस्या. पयस्तस्य । पुनः पश्चात् । सहसा शीघ्रम् ।
 समुपेत्य समीपमागत्य । निदाघसमयः श्रृंषकाल । भव भूया । भू यस्ताया लोट् । ७०१म् । ७०॥ सुतेति
 सुतशोकशङ्कुपरिविबुधमनाः सुतस्य पुत्रस्य शोक स एव शङ्कु शब्द तेन परिविद्ध भिन्न^३ मनो यस्य स^४ ।
 [स.] नृ अजितं जव । शयम् अल्पकालावन्तम् । 'कालाचरना व्याप्नो' इति द्वितीया । आधि मन पीडाम् ।
 अन्तरयितुं निवारयितुम् । मकुरयेव^५ कृपा यातयेव । परिमूर्च्छया महामूर्च्छया । जगृहे गृहीत । गृह^६
 उपादाने कर्मणि लिट् । रूपकम् ॥७१॥ अथेति । अथ मूर्च्छान्तरम् । चन्दनमचताये चन्दनस्य श्रीगन्ध-
 जलस्य सेचनाद्यै. सेचनादिभिः । उपायैः कारणं । क्षणात् अलकालात् । अपनीतमूर्च्छं अनाता मूर्च्छा
 यस्य स । ईश्वर भूति । तपोभूषणनामधेय तपोभूषणमिति (तपोभूषण इति) नामधेयमभिधानं यस्य
 तम् । चारण चारणद्विधातम् । यति मुनिम् । अन्तरिक्षे आकाशे । व्यलोक्य दृश्यन् । लोट् । दधाने
 निजस्तामल^७ ॥७२॥ दधानमिति । परिवेषभाज. परिवेषमाश्रितस्य^८ । इन्द्रोद्वचन्त्यम् । तुला समान (समानम्) ।
 दधान धरन्तम् । अनुदगङ्गरुचा अनुगया निरुपमया अङ्गस्य देहस्य रुचा कान्त्या । परिवेषितं च चारण-
 मुनिम् । तथा नरपतिवीक्षणप्रमाणं । उद्ग्रीवम् उदगता-ग्रीवा यस्मिन् वर्षणि लृत् (तथा) । उदीक्षमाणा
 विलोकमाना । सर्वा सकला । सभा सगत् । विस्मयम् आश्चर्यम् । आजगाम आययो । गम् गती लिट् ।

बेटे । तुम्हारे जानेसे बन्धुओंका ऊपर अमह्य शोकके बादल छा गये है, शोकके बादलके
 छा जानेके इम अवसर (वर्मात्)पर उन (बन्धुओं)की अनुनदीमें वाद आगई है । उसे मुखानेके
 लिए तुम शीघ्र हा आकर श्रोत्रम ऋतु बन जाओ ॥७०॥ पुत्र विरहके शोक रूपी कटिने चुभकर
 राजाके कोमल हृदयमें घाव कर दिया, जिससे वह इस तरह विलाप करते-करते रोने लगा और
 उसकी अधुजलकी धारा वेगसे बहने लगी । इम अवसरपर मानों मानसिक व्यापको दूर करने-
 के लिए मूर्च्छाने दयासे उसे अपने अधोन कर लिया—वह मूर्च्छित हा गया ॥७१॥ इसके
 पश्चात् चन्दन-सेवन आदि शीतोपचारसे कुल ही क्षणोंमें मूर्च्छाके दूर हाते ही उसने आकाशमें
 तपोभूषण नामके चारणमुनिको देखा ॥७२॥ चारो ओर उनके शरीरकी अनुपम प्रभा फैल
 रही थी, उनके बीचमें वे कान्तिमण्डलके बीचों—बीच पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति दृष्टिगोचर
 हो रहे थे । सारी सभा गर्दन उठाकर उनकी ओर देखने लगी, जिससे उसे बड़ा आश्चर्य

१. अ यदशोक शोक । २. अ^३रिक्तात् । ३. आश स यदोति । ४. आश स^४जलप्रवृद्धम् ।

५. श स क्षिन् । ६ = स नृप. कृपयेव कृपयेव । ७. आ गृहि उपादाने । ८. श स लोट् ।

९. श स^९वयुतस्य ।

प्रलापिनीशे करुणाद्रभावं विम्बं किमेतद्गतमुष्णरश्मेः ।
 विनर्कमेवं जनयज्जनानां जघेन जज्ञे स नृपान्तवर्ती ॥७४॥
 संदर्शनादेव तदा महर्षेस्तपोमयेन ज्वलतोऽङ्गधाम्ना ।
 स भूभुजः पुत्रवियोगजन्मा जगाम शोकः सहसा कृशत्वम् ॥७५॥
 न यावदद्यापि पवित्रपांसू निपीदतस्तच्चरणौ धरण्याम् ।
 ससंभ्रमं तावदुपेत्य भूपः प्रसारयामास निजोत्तरीयम् ॥७६॥
 अर्घ्यादिकां सम्यगवाप्य पूजां ससंभ्रमेणोपहृतां जनेन ।
 स्वहस्तदत्तं नृवरेण पश्चादलं चकारोन्नतमासनं सः ॥७७॥
 न तस्य तावानसुसन्निभस्य सूनोर्वियोगेन बभूव शोकः ।
 यावान्भुवो भर्तुर्भूतपूर्वा मुनीश्वराभ्यागमनेन तोषः ॥७८॥

उपमा ॥ ७३॥ प्रलापनीति । ईशो राज्ञि । प्रलापिनि प्रलापयुक्ते^१ सति । करुणाद्रभावं करुणा दययाद्रभावं
 मृदुभावं । उष्णरश्मे सूर्यस्य । गतं यानम् । एतद् इदम् । विम्बं मण्डलं किम् । एवं प्रकारेण । जनानां
 लोकानाम् । विनर्कं विचारम् । जनयन् उत्पादयन् । सः मुनिः । जघेन शीघ्रम् । नृपान्तवर्ती नृपस्य राज्ञोऽ-
 न्तवर्ती समीपवर्ती । जज्ञे जायते स्म । जनेङ् प्रादुर्भावे लट् । संगयः ॥७४॥ संदर्शनादिति । तपोमयेन
 तपोमयेन । अङ्गधाम्ना देहकायस्या । उज्ज्वलत [ज्वलत] प्रकाशमानस्य । महर्षेः । महामुनेः । संदर्शनादेव
 समीपशानादेव । तदा तत्तन्मये । भूभुज भूरस्य । पुत्रवियोगजन्मा पुत्रस्य सूनोर्वियोगेन जन्मा (जन्म यस्य)
 जातः । सः शोकः दुःखम् । सहसा शीघ्रम् । कृशत्वं काशस्यम् । जगाम ॥७५॥ नेति । अद्यापि हृदानीमपि ।
 पवित्रपासू पवित्र पासू^२ धूलि रंयोस्तो । तच्चरणौ तस्य मुनेश्चरणौ पादौ । धरण्या भूमौ । यावत् पर्यन्तं न
 निपीदत न तिष्ठतः । तावत्पर्यन्तं ससंभ्रमं सभ्रमसहितं यथा तथा । भूप भूपतिः । उपेत्य समीपं गत्वा ।
 निजोत्तरीयम् उपरिधृतकूलवस्त्रम् । प्रसारयामास प्रसारयामास ॥७६॥ अर्घ्येति । ससंभ्रमेण सभ्रम-
 युक्तेन । जनेन परिजनेन । उपहृताम् आनीताम् । अर्घ्यादिकां सत्कारपूर्विकाम् । पूजाम् अर्चनाम् ।
 सम्यगवाप्य प्राप्य । पश्चात् पुनः । नृवरेण नरपतिना । स्वहस्तदत्तं स्वस्य हस्तेन पाणिना दत्तं वितरीणम् ।
 उन्नतं प्राप्नु^३ । आसनं विष्टम् । सः चारणमुनि । अलं चकार अलं करोति स्म ॥७७॥ नेति । भुवः भूमेः ।
 भर्तुः प्रभोः । मुनीश्वराभ्यागमनेन मुनोऽभ्यागमनेन । अभूतपूर्वः पूर्वमभूतोऽभूतपूर्वः । यावान् यन्मानसस्य
 यावान् । 'यत्तद्' इति षतुःप्रत्ययः । तोषं गतोप । बभूव भवति स्म । तस्य अनुसन्निभस्य अमुना प्रणानां

हुआ ॥७३॥ उम्हें वडे वेगमे राजाके निकट आने देखकर लोगोंके मनमे यह तर्क उत्पन्न हो
 रहा था कि इसके विलापसे दयाद्र होकर कहीं सूर्यका विम्ब तो नहीं उतरता चला आ रहा
 है ? कुछ ही क्षणोंमें वे राजाके निकट जा पहुँचे ॥७४॥ महर्षिके शरीरपर तपका तेज था ।
 उससे वे प्रज्वलित अग्नि सरीखे प्रकाशमान हो गये थे । उनके दर्शन पाते ही राजाका पुत्र-
 वियोगसे उत्पन्न हुआ शोक एका-एक कम हो गया ॥७५॥ धूलिको भी पवित्रकर देनेवाले उनके
 चरण अभी पृथ्वीपर पहुँच ही नहीं पाये थे कि राजाने शीघ्र ही उनके निकट जाकर अपना
 दुपट्टा बिछा दिया ॥७६॥ राजाके पास उस समय जो लोग उपस्थित थे, वे शीघ्र ही अर्घं
 आदि सामग्री ले आये । इसके पश्चात् मुनिराजके विराजनेके लिए राजाने स्वयं अपने हाथसे
 ऊँचा आसन दिया । उसे उन्होंने अलङ्कृत किया—वे उसपर बैठ गये ॥७७॥ अपने प्राण-
 प्रिय पुत्रके वियोगसे राजाको उतना शोक नहीं हुआ, जितना मुनिराजके पधारनेमे सन्तोष

१. स धारिण्याम् । २. श स प्रलापेति । ३. श स प्रलापे विप्रलापयुक्ते । ४. आ पवित्रपासु ।

५. भा श स मानिताम् । ६. = अर्घ्यादिहामयीसमेताम् । ७. श स प्रांशुम् ।

अस्पृष्टपांसु अपि खेचरत्वात्कृतादरः शास्त्र्युदकार्थमेव ।
 प्रक्षालयामास मुनोन्द्रपादौ नृपः पयोभिः प्रमदाश्रमिश्रैः ॥७६॥
 तस्मिन्नधीताशिषि साधुमुख्ये सप्रश्रया वाचमुवाच भूपः ।
 दन्ताशुभिः कुन्दलैरिवासी समर्चयन्पादयुगं तदीयम् ॥८०॥
 जातोऽहमघेन्दुसमानकीर्तिर्धन्यः कृतार्थो जगतश्च मान्यः ।
 यदभ्युपेतो मदनुग्रहार्थो मनोरथस्यापि भवानभूमिः ॥८१॥
 न काचिदीहा कृतकृत्यभावाच्च च क्वचित्प्रेम समत्वयोगात् ।
 इयं हि कल्याणकरी प्रवृत्तिर्जगद्धितायैव भवाद्दशानाम् ॥८२॥

संनिभस्य समानस्य । वियोगेन वियोजनेन । तावान् तन्मात्र(तन्मान-)मस्य तावान् तरप्रमाण । शोकः दुःखम् ।
 न बभूव ॥७८॥ अस्पृष्टेति । कृतादरः^१ विहितप्रीतिः । नृपः अजितजयः । खेचरत्वात् आकाशचरत्वात् ।
 अस्पृष्टपांसु अस्पृष्ट पांसुर्धूलि यंयो. (याम्या) तो । अपि । मुनोन्द्रपादौ मुनोन्द्रस्य पादौ चरणौ ।
 प्रमदाश्रमिश्रैः प्रमदादानन्दाज्जातेनाश्रुणा नेबोदकेन मिश्रैर्युक्ते । पयोभिः सलिले । शास्त्र्युदकार्थमेव
 घान्तिसलिलनिमित्तमेव । प्रक्षालयामास प्रक्षालयतिस्म । धल शौचकर्मणि लिट् ॥७९॥ तस्मिन्निति ।
 तस्मिन् साधुमुख्ये मुनोन्द्रे । अधीताशिषि प्रोक्ताशीर्वादि सति । असौ भूपः अजितजयभूपतिः । कुन्दलैरिव
 कुन्दस्य माधस्य दलेरिव पुष्पैरिव । दन्ताशुभिः दन्तकान्तिभिः । तदीय तस्येदं तदीयम् । पादयुग पादयो-
 युगं द्वन्द्वम् । समर्चयन् पूजयन् । सप्रश्रया विनययुताम् । वाच वचनम् । उवाच ब्रवीतिस्म । ब्रूञ् व्यस्ताया
 वाचि लिट् । 'अस्ति—' इत्यादिना वचादेशः । उपमा ॥८०॥ जात इति । मनोरथस्य अभिलाषस्य ।
 अभूमिः अनिवाशोऽर्गः । मदनुग्रहार्थो मगानुग्रहार्थो उपकारे प्रीतः । भवान् त्वम् । यत् अभ्युपेतः आगतवान् ।
 (तत्) बन्ध इशानीम् । अहम् इन्दुसमानकीर्तिः इन्दोश्चन्द्रस्य समाना कीर्तियस्य स । धन्यः^२ धनं लब्धो
 धन्यः । कृतार्थः सपूर्णप्रयोजनः । अगतदश्च लोकस्य (च) मान्यः पूज्यः । जातः^३ जायते स्म ॥८१॥ नेति ।
 कृतकृत्यभावात् निराश्रयार्थत्वात् । काचिद् ईहा वाञ्छा । न न भवति । समत्वयोगात् समन्वय समानपरिणाम
 योगात् । क्वचित् कस्मिद्विषत् । प्रेम रागः । न च न भवति । भवाद्दशाना त्वादशानाम् । कल्याणकरी मङ्गलकरी ।

हुआ । ऐसा सन्तोष अपने जीवनमे उसे पहली बार हुआ ॥७८॥ आकाशचारी होनेसे मुनि-
 राजके चरणोको यद्यपि धूल छू भी नहीं सकी थी, किन्तु फिर भी केवल घान्ति-जलके लिए
 ही राजाने उनका आदरपूर्वक जलसे प्रक्षाल किया । प्रक्षाल करते समय उमकी आँखोसे
 हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे ॥७९॥ इसके बाद मुनिराजने राजाको आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद
 पाकर वह कुन्दपुष्पोंके समान अपने दातोको किरणोंसे मानो उनके चरणोंको अर्चना करता
 हुआ बिनम्र शब्दोंमे यों कहने लगा—॥८०॥ मुनिराज ! आज मेरी चन्द्रमाके समान निर्मल
 कीर्ति उत्पन्न हो गई है, मैं धन्य, कृतकृत्य और लोकमान्य हो गया हूँ; क्योंकि केवल मेरे ऊपर
 अनुग्रह करनेके लिए आप यहाँ पधारे है । मैं तो कभी इसकी आशा भी नहीं कर सकता
 था; क्योंकि आपको ऐसा कोई मनोरथ नहीं हो सकता, जिसको पूर्तिके लिए आप मेरे ऐसे
 व्यक्तिके घर पधारे ॥८१॥ आपको अब कोई कामना नहीं; क्योंकि आप कृतकृत्य हो चुके
 हैं, और आपको किसीसे राग नहीं; क्योंकि आप सभीके प्रति समभाव रखते हैं । किन्तु फिर
 भी आप जैसे महर्षियो की यह भ्रमण करनेकी प्रवृत्ति केवल लोकहितके लिए ही हुआ करती

१. स शमवत् । २. = विहितादरः । ३. = पुण्यवान् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इति ह्यमः ।

४. आशस जातेति । = संवृतः ।

निमज्जतो मे परिमूढबुद्धेरर्थविधे बन्धुवियोगदुःखे ।
 मनः समुच्छ्वासि कृतं त्वयैव त्वं बान्धवेष्व्योऽपि यतोऽसि बन्धुः ॥८३॥
 इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रूवाणं महोपति भक्तिभरावनम्रम् ।
 जगाद् भव्याम्बुरु हैकभानुर्मुनिर्मनोहारिभिरुक्तिभेदैः ॥८४॥
 नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं विलोक्य दिव्येन विलोचनेन ।
 गुणानुरागाद्दहमागतोऽस्मि गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम् ॥८५॥
 श्रुतान्वितस्यान्यशरीरभाजस्तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः ।
 भवस्थितिस्ते विनिवेद्यमाना शतक्रतोर्नाककथेव भाति ॥८६॥

इयम् एषा । प्रवृत्तिः प्रवर्तनम् । जगद्धितायैव जगतो हितायैव उपकारायैव ॥८२॥ निमज्जत इति । एवं-
 विधे एवंविधा यस्य तस्मिन् । बन्धुवियोगदुःखे बन्धोवियोगाज्जाते दुःखे । निमज्जत. निमज्जस्य ।
 परिमूढबुद्धेः परिमूढा भ्रान्ता बुद्धिर्माति र्यस्य तस्य । मे भव । मनः मानसम् । यतः यस्मात् । त्वयैव भवतैव ।
 समुच्छ्वासि संतोषयुक्तम् । कृतं क्रियते स्म । (ततः) त्वं भवान् । बान्धवेष्व्योऽपि बन्धुष्व्योऽपि । बन्धुः
 अधिकबन्धु । असि भवति । अस भुवि सद् ॥८३॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । श्रुतिह्लादि श्रुतेः
 कर्णस्य ह्लादि सुखकारि । वषः वचनम् । ब्रुवन्तं निगदन्तम् । भक्तिभरावनम्रं भक्त्या भरो भारस्तेन नमती-
 त्येवं शीलं (नमतीत्येवं शीलः, तम्) । 'नम्रम्—' इत्यादिना शीलायै र-प्रत्यययः । महीपतिम् अजितंजय-
 भूपतिम् । भव्याम्बुरु हैकभानुः भव्या विनेयवनास्त एवाम्बुह्लाणि कमलाणि तेषामेको मुखयो भानुरिव
 प्रवर्तमानः । मुनिः यतीन्द्र । मनोहारिभिः मनःसंतोषकारिभिः । उक्तिभेदैः वचनविशेषैः । जगाद् गदति स्म ।
 रूपकम् ॥८४॥ नरेति । नराधिप नरपते । प्रियविप्रयुक्तं प्रियेण पुत्रेण विप्रयुक्तं वियोगसहितम् । त्वां
 भवन्तम् । दिव्येन दिव्यरूपेण । विलोचनेन ज्ञानेन । विलोक्य दृष्ट्वा । गुणानुरागात् गुणेष्वनुरागात् । अहम्
 आगतः आयात । अस्मि भवामि । गुणेषु केषां पुरुषाणाम् । मनः मानसम् । अनुरक्तं प्रीतं न, अपि
 त्वनुरक्तमेव । अर्थास्तस्यास्य ॥८५॥ श्रुतेति । श्रुतान्वितस्य श्रुतेन शास्त्रेणांश्वितस्य युक्तस्य । अन्यशरीर-
 भाजः अन्यं चरमं शरीरं भजतीत्यन्यशरीरभाक् तस्य । तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः तत्त्वावबोधे तत्त्वपरिज्ञाने
 क्रममाणा वर्तमाना बुद्धिर्यस्य तस्य । ते तव । विनिवेद्यमाना ज्ञाप्यमाना । भवस्थितिः भवस्य संसारस्य
 स्थितिः । शतक्रतोः देवेन्द्रस्य । नाककथेव नाकस्य स्वर्गस्य कथेव कथनमिव-इन्द्रो यथा सुरलोकस्वरूपं स्वत-

है ॥८२॥ मुनिराज ! मे ऐसे पुत्रवियोगके दुःख-समुद्रमें डूब रहा था कि मेरी बुद्धि सर्वथा
 मूढ-विचारशून्य हुई जा रही थी, इतनेमें आपका समागम हो जानेसे मेरा मन सुखकी श्वास
 लेने लगा है । आपके आनेसे ही मेरा मन सन्तुष्ट हुआ है जिससे यह स्पष्ट ही समझ गया हूँ
 कि आप बन्धुओंसे भी बढ़कर बन्धु हैं ॥८३॥ कानोंको आनन्द देनेवाले इन मधुर वचनोंको
 मुनिराजसे कहकर वह राजा मौन हो गया । मुनिराजके सामने वह भक्तिसे नम्र होकर बैठ
 गया इसके पश्चात् वे मुनिराज, जो भव्यजीवरूपी कमलोंको आनन्द देनेके लिए एकमात्र सूर्य थे,
 मनोहर शब्दोंमें इस प्रकार बोले—॥८४॥ राजन् ! अपने दिव्यनेत्र-अवधिज्ञानसे तुम्हें पुत्रसे
 वियुक्त जानकर मैं यहाँ तुम्हारे गुणोंके ऊपर अनुराग होनेसे आया हूँ । गुणोंके ऊपर कितना
 मन अनुरक्त नहीं होता ? ॥८५॥ राजन् ! तुमने शास्त्रोंका परिशीलन किया है, तुम्हारी
 बुद्धि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें लगी हुई है और तुम चरम शरीरी हो—तुम इसी जन्ममें मुक्ति
 पा लोगे । अतएव तुम्हें संसारकी स्थिति बताना इन्द्रको स्वर्गकी कथा सुनानेके समान मालूम

१. म सुलोच* । २. = बुद्धतः । ३. = विहितम् । ४. आ गुणेषु । = गुणेषु गुणवस्तु वा ।
 ५. श स तेषाम् ।

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।
 इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य विद्वान् खेदयत्यात्ममनो विषादैः ॥८७॥
 अहं स्यतस्त्वं प्रविघ्नातुमेनं शरीरसंतापकरं न शोचम् ।
 विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रक्षिप्यते कातरधीर्न धीरः ॥८८॥
 विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे खेदं महीमण्डन मा च यासीः^१ ।
 संयोज्यसि^२ त्वं दिवसैः क्रियद्भिः समृद्धिभाजा निजनन्दनेन ॥८९॥
 इति गिरमभिधाय निश्चितार्थं गतवति तत्र निजाश्रमं मुनीन्द्रे ।
 स निखिलमकृताह्निकं विधेयं प्रहृतनरेन्द्रनियोगिमन्त्रिवर्गः ॥९०॥

एव परोपदेशं विनैव जानाति तथा त्वमपि संसारस्वरूपं सर्वं जानासीत्यभिप्रायः । भारती भावा (?) । भाति ।
 उपमा ॥८६॥ अभिष्टेति । सर्वशरीरभाजा सर्वेषां शरीरभाजा संसारिणाम् । अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ अनिष्ट-
 स्याद्विषयवस्तुनो योगश्च संबन्धश्च प्रियस्येष्टवस्तुनो विप्रयोगश्च विप्रयोगश्च तो । साधारणौ समानौ । इति
 एवं प्रकारेण । आत्मबुद्ध्या स्वस्य बुद्ध्या । विगणय्य विचार्य । विद्वान् ज्ञानी । आत्ममनोविषादैः आत्मनः
 स्वस्य मानसोक्तैः^३ । न खेदयति न पीडयति । खिदि दैव्ये^४ लट् ॥८७॥ अहं स्येति^५ । अत एतस्मात्^६ । एवं
 भवान् । शरीरसंतापकरं शरीरस्य संतापकरं दाहकरम् । एवं शोकं दुःखम् । प्रविघ्नानुं कर्तुम् । नाहंसि न
 समर्थोऽसि । दैवोपनिबन्धनासु दैवमदृष्टमेवोपनिबन्धनं कारणं यासां तासु । विपत्सु विपत्तिषु । कातरधीः
 कातरा भीता भीर्यस्य सः । प्रक्षिप्यते विपाद करोति । धीरः विद्वान् न प्रक्षिप्यते । खिदि दैव्ये लट् ।
 अर्थांतरन्यासः ॥८८॥ विशङ्केति । महीमण्डन भो भूमितिलक । तनूजे तनये । अकुशल कष्टम् (अमङ्गलम्)
 विशङ्कमानः शङ्कां कुर्वन् । खेदं दुःखम् । मा च (मा स्म) यासौ मा गा । या प्रापणे लट् । समृद्धिभाजा
 समृद्धि भजतीति समृद्धिभाक् तेन । निजनन्दनेन निजस्य स्वस्य नन्दनेन पुत्रेण । क्रियद्भिः कतिपयैः । दिवसैः
 दिनैः । एवं वदाम् । संयोज्यसि संबन्धं प्राप्स्यसि । युज्य् योगे कर्मणि लट् ॥८९॥ इतीति । तत्र तस्मिन् ।
 निश्चितार्थं निर्णीताभिप्रायाम् । गिर वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उदीर्य । मुनीन्द्रे मुनीश्वरे ।
 निजाश्रमं निजस्य स्वस्याश्रमं स्थानम् । गतवति यातवति सति । प्रहृतनरेन्द्रनियोग [गि] मन्त्रिवर्गः
 प्रहृतो विसर्जितो नरेन्द्राणां भूपानां नियोग [गि] पुरुषाणां मन्त्रिणां वर्गं समूहो येन स । स. राजा ।
 निखिलं सकलम् । आह्निकं दिने प्रवर्तमानम् । विधेयं कार्यम् । अकृत अकरोत् । दृक्प्रकरणे लुट् ॥९०॥

होता है । जिस प्रकार इन्द्रस्वर्गकी स्थितिको स्वयं जानता है इसी प्रकार तुम भी संसारकी स्थितिको स्वयं जानते हो ॥८६॥ इस संसारमें जितने शरीरधारी-प्राणी है, उन सभीके साथ इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग समान रूपसे लगे हुए हैं, यह अपनी बुद्धिसे सोचकर बुद्धिमान् मनुष्य विपादसे अपने मनको खिन्न नहीं करते ॥८७॥ अतः तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक करनेसे शरीरमें सन्ताप होता है, लाभ तो कुछ होता नहीं । पूर्वोक्तजित कर्मोंके कारण विपदाएँ आती हैं । उनके आने पर कायर पुरुष ही खिन्न होते हैं, न कि धीर-वीर ॥८८॥ राजन् ! तुम इस भूमिके भूषण हो—तुमसे इसभूमिकी शोभा है । अपने पुत्रके बारेमें अकुशलकी आशङ्कासे खिन्न न होओ । थोड़े ही दिनोंमें अपने समृद्धिशाली पुत्रमें तुम्हारी भेट होगी । ८९॥ निश्चित अर्थसे भरे वचन कहकर मुनिराजने उधर अपने इष्ट स्थानकी ओर प्रस्थान किया, और इधर राजाने भी वहाँ उपस्थित राजाओं, अधिकारियों और मन्त्रियोंको

१. क. ख ग घ भावयासीः । मु० मा स्म यासीः । २. क. ख ग घ संयोज्यसे । स संयुज्यसे ।

३. = विषादैः मानसोक्तैः । आत्ममनः आत्मनः स्वस्य मनश्चितम् । ४. स. स. खिदि । ५. स. स. अहंसीति ।

६. आ तस्मात् । = अतः अस्मात् कारणात् । ७. स. स. लुट् ।

दिनैरल्पैरेव प्रथितगुणराशेस्तनुभुवो
 चिदित्वा संयोगं परममुदयं चोग्रमहसः ।
 पठद्बन्दिद्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा
 सुखं तस्ये राज्ञा मुनिवचनविश्वस्तमनसा^१ ॥६१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकुताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

दिनैरिति । प्रथितगुणराशेः प्रथितो गुणानां राशिः समूहो यस्य तस्य । उग्रमहसः स्रग्स्तोत्रो (उग्रं तोत्रं)
 महः प्रातापो यस्य तस्य । तनुभवः कुमारभ्य । अल्पैरेव स्तोत्रैरेव दिने । संयोगं समेलनम् । परमम्
 उत्कृष्टम् । उदयं च सन्दं च । चिदित्वा ज्ञात्वा । पठद्बन्दिद्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा पठता बन्दिनां
 द्रातेन व्रजेन स्तुत शशिकलेन चन्द्रकलेन शुभ्र यदा यस्य तेन । मुनिवचनविश्वस्तमनसा मुनिवचने विश्वस्त्वं
 विश्ववर्धं मनो यस्य तेन । राज्ञा भूरेन । सुखं तस्ये स्वीयते स्म । पठ् गतिनिवृत्तौ भावे लिट् ॥९१॥

इति वीरनन्दिकुताबुदयाङ्गे चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च
 विद्वन्मनोबलभाष्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

बिदाकर अपना सारा दैनिक कार्य पूरा किया ॥९०॥ थोड़े ही दिनोंके बाद, अपने गुणोंसे
 प्रसिद्ध और अत्यन्त तेजस्वी पुत्रसे भेट होगी । उसका उत्कृष्ट अभ्युदय होगा, यह जानकर राजा
 सुखसे रहने लगा । मुनिराजके वचनोपर उसे अपनेमें पूर्ण विश्वास था । अब उसे कोई चिन्ता
 नहीं रही । सब काम पूर्ववत् चलने लगे उसके चन्द्रकलाकी भाँति धवल यशका, स्तुतिपाठक
 गान करने लगे ॥६१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
 महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

षष्ठः सर्गः

अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्तः सरुपासावसुरेण राजसूनुः ।
 निपपात मनोरमाभिधाने सरसि 'प्रोन्मिपदुग्रनक्रचक्रे ॥ १ ॥
 गगनात्पतितस्य तस्य घातादपविद्धेषु पयःसु सर्वदिक्कम् ।
 जलधाम तदा स्थलीबभूव स्थलमासीच्च जलाशयो मुहूर्तम् ॥ २ ॥
 परितः परिचूर्णयन्नुपेतान्मकरादीन्घनमुष्टिपाणिघातैः ।
 प्रकटीकृतपूर्वपुण्यशक्तिस्तटमाप प्रचिलङ्घ्य वारि दोर्भ्याम् ॥ ३ ॥

वस्तुस्थिति कथयतस्तत्र दिव्यमार्गं मिथ्यामतं त्विति वदन्ति कुदर्शनस्थाः ।

यत्पश्य हा विमल तद्विपरीतवर्ति काले कलो च विपरीतमति स्वभावा^२ (?) ॥

अथेति । अथ मुनीन्द्रबोधनामन्तरम् । सरुपा कोपसहितेन^३ । तेन असुरेण देवविशेषेण । परिभ्रमय्य परितो भ्रामयित्वा । मुक्तः सन् त्यक्तः सन् । असौ अयम् । राजसूनुः राजकुमार । प्रोन्मिपदुग्रनक्रचक्रे प्रोन्मिपदुगच्छदुग्राणा^४ क्रूराणां नक्राणां ग्रहाणां चक्रं बृन्द यस्मिन् तस्मिन् । मनोरमाभिधाने मनोरमम् इत्यभिधानं यस्य तस्मिन् । सरसि सरोवरे । निपपात पतति स्म । पतत्यु गतो लिट् । जातिः ॥१॥ गगनादिति । गगनात् आकाशात् । पतितस्य प्रच्युतस्य । तस्य कुमारस्य । घातात् प्रतिस्खलनान् । सर्वदिक्कं सर्वा दिश एव सर्वदिक्कम् । पुनस्तत्^५ (?) । पयःसु सलिलेषु । अपविद्धेषु^६ सन्मु प्राप्तेषु सन्मु । तदा तत्समये । जलधाम जलानां धाम स्थानं सरोवर इत्यर्थः । स्थली बभूव प्रागस्थलमिदानीं स्थल बभूवेति तद्योक्तम्, 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्वे —' इति चित्रः, स्थलं भवति स्म । मुहूर्तं^७ घटिकाद्वयपर्यन्तम् । 'कालाध्वनो-भ्यांप्तो' इति द्वितीया । जलाशयः सरोवरः । स्थलं जलरहितप्रदेशः । आसीच्च अमवक्च । अस भुवि लङ् ॥२॥ परित इति । परितः समस्तात् । उपेतान् समायातान् । मकरादीन् मकरादिजलचरान् । घनमुष्टिपाणि-घातैः घनैर्मुष्टिपाण्योर्घातैः प्रतिघातैः । परिचूर्णयन् परिमर्दयन् । दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । वारि सलिलम् ।

उधर उस चण्डरुचि नामके क्रोधी असुरने राजकुमार अजितसेनको—जिसे वह हर ले गया था—दोनो हाथोंसे चारों ओर घुमाकर फेंक दिया । वह मनोरम नामके सरोवरमें—जिसमें भयंकर मगर-मच्छ उछल-कूद मचा रहे थे—जा गिरा ॥१॥ आकाशसे गिरे हुए उस राजकुमार-के आघातसे सरोवरका सारा जल ऊपर की ओर उछल गया, जिससे जलसे लबालब भरा हुआ सरोवर थोड़ी देरके लिए स्थल हो गया और जहाँ-जहाँ वह जल जा गिरा वे स्थल जलमय हो गये ॥ २ ॥ कुछ ही क्षणोंमें सरोवर फिर जलसे भर गया । जलके साथ मगर-मच्छ आदि जल-जन्तु भी वही-के-वहीं आ गये, और राजकुमारके ऊपर झपटने लगे । किन्तु पूर्वोपाजित पुण्यकर्मकी शक्तिसे उसने उन्हे जोरके मुक्कों और एड़ियोंसे मार-मारकर चकनाचूर कर दिया,

१. अ प्रोन्मिल^१ । २. आ प्रती पद्यमिदं न दृश्यते । ३. अ स कोपेन सहितेन । ४. आ ^०षदुच्छलदुः । ५. आ पुस्तत् । ६. अ स ^०हृदेषु । ७. = स्वल्पकालं यावत् ।

धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः ककुभः कर्बुरयन्सरोन्तिकस्थः ।
 स ददर्श समं ततोऽपि धीरः^१ पृषाभ्यामदवीमगम्यकृपां ॥ ४ ॥
 पृथुतुङ्गनिरन्तरैस्तारुणां निवहैश्छन्नसमस्तदिङ्मुखायाम् ।
 निपतन्ति न यत्र तिग्मरश्मेरपि पादा इव दर्भसूचिभीत्या ॥ ५ ॥
 मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः समन्तात् ।
 पतिता इव तारका नभस्तस्तदशाखास्खलनेन भान्ति यस्याम् ॥ ६ ॥
 अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकाशारुणिता दधाति भूमिः ।
 रश्मिरत्नमरण्यदेवतानां चरणालककचर्चितेव यस्याम् ॥ ७ ॥

प्रविलङ्घ्य उल्लङ्घ्य । तट तोरम् । आप प्राप । आप्नु व्याप्तो लिट् ॥३॥ धवलंति । धवलारुणकृष्णदृष्टि-
 पातैः धवलारुणकृष्णैः दृष्टलोहितनीलैः दृष्टयोः पातैः पतनैः । ककुभः दिशः । कर्बुरयन् विचित्रवर्णं (पांः)
 कुर्वन् । सरोऽन्तिकस्थः सरसः सरोवरस्यान्तिकस्थः समीपस्थः । धीरः धीरपुरुषः । स. कुमारः समन्ततोऽपि
 सर्वतोऽपि । अगम्यकृपां अगम्यं गन्तुमशक्यं रूपं यस्यास्ताम् । पृषाभ्यां 'पृषा'^२ इत्याभ्यामिधानं
 यस्यास्ताम् । अदवीम् अरण्यानीम् । ददर्श पश्यति स्म । दृष्टुं^३ प्रेक्षणं लिट् ॥४॥ धृषीति । पृथुतुङ्गनिरन्तरैः
 पृथुभिर्महद्भिस्तुङ्गैश्चरैः निरन्तरैः सान्द्रैः । तारुणा वृक्षाणाम् । निवहैः समूहैः । छन्नसमस्तदिङ्मुखायां
 छन्नानि समस्तानां सर्वासां^४ दिशां मुखानि समस्तदिङ्मुखानि दिग्विहराणि यस्यास्तस्याम् । यत्र अटव्याम् ।
 तिग्मरश्मेरपि सूर्यस्य (अपि) । पादा. किरणाः, चरणा इति ध्वनिः । दर्भसूचिभीत्या दर्भाणां दर्भा एव
 वा सूचयस्तासां भांश्या भवेनेव । न निपतन्ति न प्रविशन्ति । पत्म् गतो लट् । उपप्रेक्षा ॥५॥ मृगेति ।
 यस्याम् अटव्याम् । मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः मृगाणां राजेन (राजा) सिंहने विदारितम्य
 इभानां गजानां कुम्भेभ्यः कुम्भस्थलोभ्यश्च्युतास्तथोक्ता, तावच्च ता मुक्ताफलानां मोहितकानां पङ्क्तयो
 राजयः । समन्तात् सर्वतः । तदशाखास्खलनेन तदशां वृक्षाणां शाखानां स्खलनेन घातेन । नमसः
 [नमस्त] आकाशात् । पतिता. प्रच्युता । तारका इव नक्षत्राणोव । भान्ति विराजन्ते । भा दीप्तो लट् ।
 उपप्रेक्षा ॥६॥ अवीति । यस्याम् अटव्याम् । *अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकाशारुणिता अतिरौद्राणाम्^५
 अतिकोपिना किरातानां पुलन्दानां भटलैर्बाणैर्मिश्रानां विदारितानां प्रियकाशां मृगाणामख्येण रश्मतेनारुणिता

और फिर तैरकर किनारेपर जा पहुँचा ॥ ३ ॥ किनारेपर पहुँचते ही वह खड़ा होकर चारों ओर
 देखने लगा । ऊँचाईसे गिरने, जल जन्तुओंसे जूझने और तेरनेके कारण उसके नेत्र लाल हो
 गये थे । नेत्रोंके मध्य-भागमें कालापन था और चारों ओर कुछ सफेदी और कुछ लालिमा ।
 इन तीनों वर्णोंकी सम्मिलित प्रभाके सभी ओर पड़नेसे सारी दिशाएँ चितकबरी-सी हो गयी ।
 वह वीर वहाँसे जानेके लिए मार्ग देखना चाहता था, किन्तु उसे चारो ओरसे पृषा नामकी
 अटवी दिखलाई पड़ी, जो बहुत ही घनी थी । उससे निकलनेका कोई रास्ता ही नहीं सूझ
 रहा था ॥ ४ ॥ उसमें सभी ओरसे लगातार ऊँचे और विशाल वृक्षोंके झुण्ड थे, जिनसे सारी
 दिशाएँ आँखोंसे ओझल हो गयीं थी । उसमें सुई-सरीखा नुकीला कांस लगा हुआ था । मानो
 उसकी नोक चुभनेके भयसे सूर्यके भी पाद (किरण, चरण) वहाँ नहीं पड़ते थे ॥ ५ ॥ वहाँ
 सिंहोंने जिन हाथियोंके गण्डस्थलोंका विदारण किया था, उनकी मुक्ताएँ (गजमुक्ताएँ) चारों
 ओर पड़ी थीं, उनके देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानों वहाँकी उन्नत-वृक्ष-शाखाओंकी रगड़से
 आकाशसे ताराएँ टूटकर बिखरी पड़ी हों ॥ ६ ॥ वहाँ अत्यन्त क्रोवी भीलोंने अपने भालोंसे

१. अ क ख ग घ म वीरः । २. आ पृष्य इति । ३. क स दृष्टु । ४. आ सर्वाणाम् ।
 ५. क स अतिकाद्रं । ६. क स अतिकाद्राणाम् ।

शबराहनपुण्डरीकयूथैर्विटपालम्बिभिरैकतोऽपरम् ।

हरिहंसितसामजास्थिकूटैर्जनसंज्ञासकरी पुरीव मृत्योः ॥ ८ ॥

मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु ।

करिशङ्कितया क्रमं दधाना हरयो यत्र भवन्ति बन्धकोपाः ॥ ९ ॥

सततप्रसूतैरपोदशीताः शयुनिःश्वासचयोष्णितैर्मरुद्भिः ।

गमयन्ति महोरुहाधिरुढाः शिशिरर्तुं प्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥ १० ॥

लोहिता । 'चमूहप्रियकावपि' इत्यमरः । भूमिः पृथ्वी । अरण्यदेवतानाम् अरण्ये कान्ते विद्यमाना देवताना देवीनाम् । चरणालक्तकचचित्ते चरणाना पादानामलक्तकेन यावकरसेन चचित्तेव लिखेव । रचिरं मनोहरम् [रचिरत्वं मनोहरत्वम्] । दधाति धरति । दृष्टाञ् धारणं च लट् । उपप्रेक्षा ॥७॥ शबरैः । एकतः एकस्मिन् एकतः—एकप्रदेशे । विटपालम्बिभिः । विटपेषु शास्त्रामु लम्बिभिः । 'विटपः पल्लवे पिङ्गे^३ बिस्तारे रुक्मश्चास्त्रयो' इति विद्वत् । शबराहतपुण्डरीकयूथं शबरैर्धार्धगहनानां घातितानां^४ पुण्डरीकाणां व्याघ्राणां यूथं समूहः । परत्र अन्यप्रदेशे ।^५ हरिहंसितसामजास्थिकूटैः हरिभिः विहंसितसामजाघातानां^६ सामजाना गजानामस्थना कूटैः राशिभिः । मृत्योः यमस्य । पुरीव पलनमिव । जनमन्त्रासकरी जनानां लोकानां मन्त्रासकरी भयङ्करी । भाति । उपमा (उपप्रेक्षा) ॥८॥ मदेति । यत्र अटव्याम् । मदगन्धिषु मद इव मदजल इव गन्धिषु परिमलयुक्तेषु । प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु प्रचुराभिः प्रान्ते सन्निभे विद्यमानाभिरन्तर्भाभिरन्धकारितेषु ध्वान्तयुक्तेषु । सप्तपर्णकेषु कर्पूरकदलीषु । करिशङ्कितया गजमश्विनया । क्रमं पादम् । दधानाः । धरन्तः । हरयः सिंहाः । बन्धकोपा निष्कनक्रोधाः । भवन्ति मन्ति । भू सत्ताया लट् ॥९॥ सततेति । यस्याम् अटव्याम् । महोरुहाधिरुढा महोरुहान् वृक्षान् अधिरुढा आरुढवन्तः । प्लवगाः वानरा । सतनप्रसूतैः सततमनवर्तं प्रसूतं व्याप्तं । शयुनिःश्वासचयोष्णितैः शयूनां सर्पविशेषाणां निश्वासानामन्तर्बहिर्मानवायूनां चवेन समूहेनोष्णितैः संज्ञातोष्णैः । मरुद्भिः वायुभिः । अपोदशीताः अपोद निराकृतं शित हिम येषां ते । शिशिरर्तुं

जिन मृगोका शिकार किया था, उनके रवनसे पृथ्वी लाल हो गयी थी, जो ऐसी जान पड़ती थी मानो वन देवियोंके चरणोंके महावरसे रंग गयी हो ॥७॥ जहाँ एक ओर वृक्षोंकी शाखाओं-पर वे वाघ लटक रहे थे, जिन्हें भोलोने अभी-अभी मारा है और दूसरी ओर सिंहोंके द्वारा मारे गये हाथियोंकी हड्डियोंके ढेर लगे हुए थे । फलतः वह अटवी यमगुणोंके समान, मानवकी भयावनो हो गयी थी ॥ ८ ॥ वहाँ सप्तच्छद (कर्पूरकदली) वृक्ष लगे हुए थे : उनकी गन्ध हाथियोंके मदजलकी गन्धके समान थी । उनके आम-पास सघन लताएँ छाई हुई थी । अतएव वहाँ सदा अन्धकार रहता था । फलतः वहाँ मिहोकी हाथियोंका भ्रम हो जाया करता था, जिससे वे छलांग मारकर सप्तच्छद-वृक्षोंके ऊपर पंजोका प्रहार कर बैठते थे । यद्यपि उनका यह क्रोध व्यर्थ ही होता था ॥९॥ वहाँ अजगरोकी द्वासे वायु गरम होकर बहा करती थी । अतः वृक्षोंपर चढ़े हुए बन्दरोकी जाड़ा नहीं सताता था । वे शिशिर ऋतु सुखपूर्वक बिताया करते थे

१. आ आ इ दधानाः । २. क र्ग ग ध भ महोरुहाधि^३ । ३. आ पण्डे । ४. आ घातना । ५. आ अन्यत्रप्र^४ । ६. = मारितानां विदारिताना वा । ७. = मदजलमिव । ८. = चटिताः । ९. = अजगराणां ।

घनपादपसंकटान्तराले गहने यत्र स जातदिक्प्रमोहः ।

घनिचिन्ताय चिराद्घनेचराणां पदवीं निर्भयमानसः प्रतस्थे ॥ ११ ॥

गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं स्थितिमत्युन्नतिशालिनीं दधानम् ।

रुचिराकृतिमेकमालुलोके स्वसमानं स नगं गजेन्द्रगामी ॥ १२ ॥

बहुनागमेकलङ्घितेभ्यं तमिलानाथमिव प्रसादिताशम् ।

गगनस्पृशमारोह शैलं वनपर्यन्तबुभुक्षया कुमारः ॥ १३ ॥

शीतकालम् । मुखेन निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति । गम्तुं गतीं निजन्तात्लट् ॥ १० ॥ घनेति । [घन-
पादपसंकटान्तराले] घनैः सान्द्रैः पादपैस्तहमि. सङ्कटं सङ्कीर्णमन्तरालं मध्यं यस्मिन् तस्मिन् । तत्र तस्मिन्
कानने । जातदिक्प्रमोहः जात उरान्नो दिशां प्रमोहो भ्रमो यस्य सः । स. अजितसेनकुमारः । वनेचराणां
व्याधानाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति वचित् श्लुगभावः । पदवीं मार्गम् । चिरान् शनैः विनिचार्य
विलोच्य । आद्यपूजानिशामनयोः । निर्भयमानसः सन् निर्भयं अघरहितं मानवं यस्य सः, सन् । प्रतस्थे
प्रयथौ ॥ ११ ॥ गुरुवंशमिति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । गजेन्द्रगामी गजेन्द्र इव गच्छतोऽप्येव शीलो मन्दगामी-
त्यर्थः । सः कुमारः । गुरुवंशं गुरुषो घटान्तो वंशा वेणवो यस्मिन् तम्, पक्षे गुरुमहान् वंश कुलं यस्य तम् ।
अप्रमाणसत्त्वम् अप्रमाणा सत्त्वाः प्राणिनो यस्मिन् तम्, पक्षे बहलधामर्थ्यम् । अत्युन्नत [ति] शालिनीम्
अत्युन्नत्या शालिनीं संपूर्णां स्थितिं व्यवस्थिति, पक्षे मर्यादाम् । दधानं धरतम् । रुचिराकृतिं रुचिराकृतियं-
स्य तम् । एकं स्वसमानम् । नगं पर्वतम् । आलुलोके दर्शः । लोके दर्शने लिट् । श्लेषोपमा ॥ १२ ॥ बङ्घितः ।
बहुनागं बहुवो नागा. कुञ्जरा यस्मिन् तम् । अनेकखड्गिण्येभ्यम् अनेकैर्बहलैः खड्गिण्यैः खड्गिण्यैः, पक्षे,
वीरमण्डपं सेव्यं सेवनीयम् । प्रसादितां प्रसादितां प्रसादा आशा दिशो येन तम्, पक्षे प्रसादितामिलापम् ।
गगनस्पृशम् आकाशस्पृशम् । इलानाथमिव भूमिनाथमिव । तं शैलं पर्वतम् । कुमारः अजितसेनः । वन-
पर्यन्तबुभुक्षया वनस्य काननस्य पर्यन्तमवसानं बुभुक्षया बोद्धुमिच्छया आरोह आरोहतिस्म । रुह बीज-

॥ १० ॥ उस अटवीके बीचमे सपन वृक्षावली थी, इस कारण राजकुमार अजितसेनको दिशा
पहचाननेमे भ्रम हो गया । बहुत देरके बाद उसे खोज करनेपर भीलोंका एक आने-जानेका
मार्ग मिला । उसी मार्गसे वह निर्भय होकर चल पड़ा ॥ ११ ॥ गजराजकी भाँति गमन करने-
वाला वह राजकुमार उर्वो ही कुछ आगे बढ़ा त्योंही उसे एक पहाड़ दिखलाई दिया । वह उसी
राजकुमारके समान था । राजकुमार श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुआ था, पहाड़में बड़े-बड़े बांस लगे
हुए थे । राजकुमारसे अपरिमित बल था, पहाड़मे अपरिमित प्राणी थे । राजकुमार उत्तरोत्तर
उन्नतिसे मुशोभित व्यवस्थासे युक्त था, पहाड़ श्रेष्ठ ऊँचाईसे युक्त था । राजकुमार का आकार
सुन्दर था और पहाड़ भी दर्शनीय था । इस तरह वंश (वंश, बांस), सत्त्व (बल, प्राणी),
स्थिति (व्यवस्था, मर्यादा) और सुन्दरताकी दृष्टिसे दोनों समान थे ॥ १२ ॥ वह पहाड़
राजाके समान था । राजाके पास बहुत हाथी होते हैं; उसकी सेवा खड्गधारी सिपाही करते हैं;
वह सबके मनोरथको पूरा करता है और वह गगनचुम्बी महलोपर चढ़कर आकाशको छूता है ।
इसी प्रकार वह पहाड़ बहुत हाथियों और सर्पोंसे युक्त था; उसपर गैंडे निवास करते थे; वह
सभी दिशाओंको प्रसन्न करता था और उन्नत शिखरोंमे आकाशको छू रहा था । राजकुमार

१. आ 'पादपसंकटान्तराले' । २. 'चिन्ताशम्' । ३. = सुवपुर्व्वम् । ४. = चिरं । ५. आ विनिचार्य
विलोच्य । आयुज् पूजानिशामनयोः । ६. = 'निशामनं चाक्षुषज्ञानम्' इति मावः । ७. = सत्त्वानि । ८. =
अत्युन्नत्या शालते क्षोभत इत्येवंशीलाताम् अतिसमुन्नतिक्षोभमानामित्यर्थः । ९. आ लोङ् । १०. = प्रसादं
प्रापिता आशा दिशो येन तम् । ११. = गगनचुम्बिनमत्युन्नतमित्यर्थः । १२. = तन्बुभुक्षया तद्बोद्धुमिच्छया ।

स्फुरदोष्ठतटः^१ करालवक्त्रो भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः ।
 सहस्राविरभूत्पुत्रोऽस्य तस्मिन्पुरुषः प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः ॥१४॥
 प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः स समेत्य त्वरया समीपदेशम् ।
 वचनैः परुषाक्षराविपद्यैरिति तं तर्जयति स्म राजपुत्रम् ॥ १५ ॥
 किमु कोऽपि बलोद्धतस्त्वमुच्चैरित विद्यातिशयं दधासि कंचित् ।
 यद्वाकिर मनस्त्वया मदीयां भुवमाक्रान्तुमिमामनन्यभोग्याम् ॥ १६ ॥
 त्रिदशो^२ यदि बावितेस्तनूजो न मदाक्षामनवाप्य कोऽपि शक्तः ।
 परिरक्षितमस्मदीयदोभ्यां गिरिमाक्रान्तुमिमं विशालशृङ्गम् ॥ १७ ॥

अन्यनि लिट् । श्लेषोपमा ॥ १३ ॥ स्फुरदिति^३ । स्फुरदोष्ठतटः स्फुरत्कम्पमानोष्ठस्याधरस्य तटं प्रवेशो यस्य सः । करालवक्त्रः करालं भयङ्करं वक्त्रं मूलं यस्य सः । भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः भुजदण्डेन भ्रमिताः कम्पिता प्रचण्डा निष्ठुरा यष्टिर्योदण्डो यस्य (येन) सः । प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः^४ प्रावृषिजो वर्षाकालजनितोऽम्बुवाह इव नीलः कृष्णवर्णः । पुरुषः मनुष्यवेषधारी । तस्मिन् पर्वते । अप्य कुमारस्य । पुरः अग्रे । सहस्रा योघ्रम् । आविरभूत् प्रादुरभूत् । आविः ॥ १४ ॥ प्रतीतिः । प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः प्रतिनादितं प्रतिध्व (ध्वा) नितं सर्वेषां शैलानां पर्वतानां रन्ध्रं छिद्रं येन सः । सः पुरुषः । त्वरया वेगेन । समीपदेशं निकटप्रदेशम् । समेत्य आगत्य । परुषाक्षराविपद्यैः^५ परुषैर्निष्ठुरैरक्षरैः वचनैर्विपद्यैः दुःसहैः । वचनैः वचोभिः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । तं राजपुत्रं राजकुमारम् । तर्जयति स्म प्राशयति स्म^६ । तर्ज भरत्संने^७ लट् ॥ १५ ॥ किमु इति । अत् यस्मात् । मदीयां मम सम्बन्धिनीम् । अनन्य-भोग्याम्^८ अनन्यगोचरहिताम् इमाम् एताम् । भुव भूमिम् । आक्रान्तुम् आगन्तुम् । त्वया मनः चित्तम् । अकारि अक्रियत । दुष्टम् करणे कर्मणि लुट् । [किम् किंवा] त्वम् उच्चैर् बलोद्धतः । बलेन पराक्रमेणोद्धतो गवितः कोऽपि^९ । [उत अथवा] कंचित् विद्यातिशयं विद्यायाः जात्यादिविद्याया अतिशयम् । दधासि धरसि । उत किम् । संशयः ॥ १६ ॥ त्रिदश इति । यदि त्रिदशः देवः । (वा अथवा, कोऽपि) अदितेः अदितोति^{१०} मातुः तनूज पुत्रः, दानव इत्यर्थं (?) वा किम् । मदाक्षाम ममाक्षाम् । अनवाप्य अलब्ध्वा । अस्मदीयदोभ्याम् अस्मदीयाभ्यां दोभ्यां भुजाभ्याम् । परिरक्षितं परिपालितम् । विशालशृङ्गं^{११} विस्तारशृङ्ग-पुच्छतम् । इमम् एतम् । गिरि पर्वतम् । आक्रान्तुम्^{१२} आगन्तुम् । शक्तः समर्थः कोऽपि, न

अजितसेन वनका और-छोर जाननेके लिए उस पहाड़पर चढ़ गया ॥ १३ ॥ ज्यों ही वह ऊपर पहुँचा त्योंही उसके सामने एकाएक एक पुरुष (पुरुष वेषधारी देव) प्रकट हुआ । क्रोधके कारण उसका अधर (नीचेका होठ) फड़क रहा था, उसका मुख बड़ा भयंकर दिख रहा था, वह एक भयानक लोहदण्डको अपने हाथोंसे घुमा रहा था और वह वर्षाकालीन मेघकी भाँति काला था ॥ १४ ॥ उसकी भयावनी आवाजसे पहाड़की सारी गुफाएँ गुँज उठीं । वह शीघ्र ही राजकुमारके पास आ घमका और कठोर अक्षरोंसे भरे हुए असह्य वचनोंसे उसको भर्त्सना यों करने लगा—॥ १५ ॥ क्या तुझे अपने बलका इतना भारी घमण्ड है या तू किसी विशिष्ट विद्याको जानता है ! जो तेरी इच्छा मेरी इस भूमिमें आनेकी हुई, जिसका उपभोग कोई भी नहीं कर सकता ॥ १६ ॥ कोई देव हो या दानव, पर कोई मेरी आज्ञाके बिना, उन्नत शिखरों-वाले इस पर्वतपर नहीं आ सकता । मैं स्वयं अपनी बाहुओंसे इसकी रखवाली जो करता हूँ

१. स^१ छतल । २. अ भुवमागन्तुं । ३. अ त्रिदशेश । ४. अ^४ मागन्तुं । ५. अ स स्फुरेरित । ६. = वर्षाकाल जनितः सबासवम्बुवाहो मेघः स इव नीलः कृष्णवर्णः । ७. अ स^७ राविसहैः । ८. अ स^८ रविसहैः । ९. अ^९ आशयतिस्म^९ इति नीलस्यते । १०. अ तज्यं भरत्संने । ११. = अनन्यगोचराम् । १२. = असि । १३. = अदिति इति नामधेयायाः । १४. = विस्तारिशृङ्गपुच्छतम् । १५. अ आक्रान्तुम् ।

जलनिर्भरसङ्गशीतवाते^१ धृत्णोघ्रे शिशिरत्वमावधानाः ।

न पतन्ति यदत्र तिग्मरश्मेः किरणाः कारणमत्र मत्प्रतापः ॥ १८ ॥

इदमात्मवधाय मद्विरुद्धं विद्वानोऽबुध केन विप्रलब्धः ।

अथवा न गतः श्रुतिं तवाहं नहि विद्वानसमीक्षितं विषयते ॥ १९ ॥

इति तस्य निशम्य गर्वगर्भी स गिरं मर्मनिकुन्तनीं^२ निवैषुम् ।

कुपितः कृतसौष्ठवं बभाषे जयलक्ष्मीनिलयो नरेन्द्रसूनुः ॥ २० ॥

भजते भयमेभिर्यशून्यैर्वचनैः कापुरुषो न धीरचेताः ।

अहमस्मि सुरासुरैकमङ्गो गणना कैव भवद्विधे नृकीटे ॥ २१ ॥

कोऽपीत्यर्थः ॥ १७ ॥ जलेति । जलनिर्भरसङ्गशीतवाते जलनिर्भरस्य जलप्रवाहस्य सङ्गेन संबन्धेन शीतलो [शीतो] वातो यस्मिन् तस्मिन् । अत्र अस्मिन् । धरणीघ्रे पर्वते । शिशिरत्वं शीतत्वम् । आवधानाः धरन्तः । तिग्मरश्मेः सूर्यस्य । किरणाः प्रभूताः । न पतन्ति न प्राप्नुवन्ति । इति यत् यत् किञ्चित् । अत्र सूर्यकिरणा-पतने । मत्प्रतापः मम प्रतापः पराक्रमः । कारणं निमित्तम् । भवति । अनुमितिः ॥ १८ ॥ इदमिति । अबुध भो अज्ञानिन् । इदम् एतत् । विरुद्धं विरुद्धकार्यम् । आत्मवधाय आत्मनः स्वस्य वधाय मारणाय । विद्वान् कुर्वन् । केन येन । विप्रलब्धः वञ्चितः । अथवा तत्र श्रुतिं कर्णम् । अहं न गतः न यातः । विद्वान् विवेको । असमीक्षितम् अविवारितम् । न विषयते हि न करोति हि । दुष्प्राग् धारणे च लट् ॥ १९ ॥ इतीति । इषुमिव बाणमिव । मर्मं अन्तरङ्गम् । निकुन्तनीं मेदिनीम् । गर्वगर्भी गर्मे गर्वो यस्य तां । 'गर्वादिभ्यः' इति पूर्वनिपातः । तस्य कृतकपुरुषस्य गिरं बाणोम् । निशम्य श्रुत्वा । कुपितः क्रुद्धः । जयलक्ष्मीनिलय जयलक्ष्म्या निलय आलयः । स. नरेन्द्रसूनुः नरेन्द्रस्य भूरेन्द्रस्य कुमारः । कृत-सौष्ठवं कृतं सौष्ठवं वर्णव्यक्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत् । बभाषे जगाद । भाषि व्यक्ताया भाषि लिट् । उपमा ॥ २० ॥ भजते इति । अर्चयाम्य अर्धरहितैः, निष्प्रयोजनैरित्यर्थः । एभिः एतैः । वचनं वचोभिः । कापुरुषः कुतितः पुरुषः । 'पुरुषे का वा' इति पुरुषशब्दे परे कुलव्यस्य^३ का-प्रादेशः । भयं भीतिम् । भजते भजते । अत्र सेवया लट् । धीरचेताः धीरं भयरहितं चेतद्विचलं यस्य सः । न न भजते । अहं सुरासुरैकमङ्गलः सुरासुराणामेको मुखो मल्लः प्रतिभटः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । भवद्विधे भवतस्तच्च

॥ १७ ॥ इस पर्वतपर अनेक जलप्रपात हैं । उनके कारण यहाँ ठण्डी हवा बहा करती है । यहाँ सूर्यकी किरणें ठण्डी हो जाती हैं—ठिठुरने लगती हैं । फलतः वे यहाँ प्रवेश ही नहीं करतीं । इसमे मेरा प्रताप कारण है । मेरे प्रभावक्षेत्रमें सूर्य भी हतप्रभ हो जाता है, फिर तेरा तो सामर्थ्य ही क्या है ? ॥ १८ ॥ रे मूर्ख ! अपनी मौतके लिए जो तू मेरे विरुद्ध यह काम कर बैठा—मेरी आज्ञाके बिना यहाँ घुसता चला आया, सो क्यों ? क्या तुझे किसीने शनका दिया है ? या तूने मेरा नाम ही नहीं सुना था ? क्योंकि समझदार (विद्वान्) मनुष्य कभी नासमझीका काम नहीं करता ॥ १९ ॥ उसकी ऐसी गर्वोली और बाणकी तरह मर्म-मेदिनी बातें सुनकर राजकुमारको, जो जयलक्ष्मीका निवासस्थान था, क्रोध आ गया । फिर उसने स्पष्ट शब्दोंमें यो उत्तर दिया— ॥ २० ॥ तुम्हारी इन निरर्थक बातोंसे कायर भले ही डर जायें, पर जिसके हृदयमें धीरता है, वह कभी नहीं डर सकता । तुम मुझे नहीं जानते ? नहीं जानते हो, तो जानलो—मैं देवों और दैत्योंसे टक्कर लेनेवाला योद्धा हूँ । तुम सरोखे नर-

१. अ. 'निर्भरशीतसङ्गवाते । २. आ इ न तपन्ति, क क ग च निपतन्ति, म प्रतपन्ति ।

३. क स 'कुन्तनीं मेदिनीम् । ४. = मद्विरुद्धं । ५. = मद्विरुद्धकार्यम् । ६. = केन मानवेन । ७. = नहि विषयते नहि करोति । ८. आ क स गर्वादिभ्यः । ९. = इति गिरं । १०. आ भजते । ११. क स कुस्य ।

तद्वत् परिभाषितैरमीभिर्बहुभिः^१ संमितभाषिणो हि सन्तः ।
 यदि पौरुषमस्ति मुञ्च घातं न भवत्येष^२ मदीयमुष्टिपिष्टः ॥ २२ ॥
 इति वादिनि तत्र राजपुत्रे तरसापातयद्यासीं स यष्टिम् ।
 तमसावपि यश्चित्तप्रहारः स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं चकार ॥ २३ ॥
 इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ मिलितौ लोकपती इवाजिकण्डवा ।
 निभृताभिरण्यदेवताभिर्दृष्टाते तरजालकान्तरेण ॥ २४ ॥
 करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्यै^३ हतिभिर्भुजप्रहारैः ।
 क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन^४ तयोर्बभूव युद्धम् ॥ २५ ॥

विधे सद्यो । नृकोटे मनुष्यकीटके । कैव गणना संख्या न कैवेत्यर्थः । आक्षेप ॥ २१ ॥ तदिति । तत् तस्मात् ।
 अमीभिः एभिः । बहुभिः बहुलैः (बहुलैः) परिभाषितैः परिगणितैः । अलं पर्याप्तम् । सन्तः सत्पुरुषाः ।
 संमितभाषिणः मितवचनाः^५ । हि यदि । पौरुषं प्रताप । अस्ति चेत् । [घातं मुञ्च प्रहारं कुरु] । एषः
 अयं स्वम् । मदीयमुष्टिपिष्टः मदीयया मन संबन्धया^६ मुष्टया मुष्टिप्रहारेण पिष्टः चूर्णीकृतः । न भवमि नासि ।
 भू सत्तायां लट् । घातं बधनघातम् । मुञ्च त्यज । मुच्यु मोक्षणे कोट् ॥ २२ ॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । राजपुत्रे
 राजकुमारे । इति उक्तप्रकारेण । वादिनि सति वदति सति । सः कृतकपुरुषः । तरसा शीघ्रम् । आयसीम्
 अयसा निर्मिताम् । यष्टि दण्डम् । अपायतत् न्यक्षेपयत्^७ । परल गतो विजन्ताल्लङ् । वञ्चितप्रहारः विप्रलम्ब-
 प्रहारः । अतो अपि कुमारोऽपि । त कृतकपुरुषम् । स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं स्वस्यात्मनोभुजयो बाह्योरभ्यन्तरे मध्ये
 वर्तितशीलम् । चकार करोति स्म । दृक्कृञ् करणे लिट् ॥ २३ ॥ इतरेति । बाजिकण्डवा आज्ञः सग्रामस्य कण्डवा
 कण्डूयाः । मिलितौ युक्तौ । इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ इतरेतरयोरन्योन्ययोर्बाहुभ्यां भुजाभ्यां पीडित बाधितमङ्ग-
 शरीरं ययोस्तौ । लोकपती इव दिवशालाविभ । तरजालकान्तरेण तरजा वृक्षाणां जालकस्य समूहस्यान्तरेणात-
 रालेन । निभृताभिः निष्कलाभिः । अरण्यदेवताभिः वनदेवताभिः । दद्याते दूष्यते^८ स्म । दृगु प्रेक्षा करमणि लिट्
 ॥ २४ ॥ करणैरिति । विविधैः नानाप्रकारैः^९ । करणैः अंगैः । अशेषबन्धैः अशेषैः समस्तबन्धविधेयैः । चरणाभ्या-
 हतिभिः चरणानां पादानामग्राहतिभिर्घातैः । भुजहारैः भुजानां बाहूनां प्रहारैर्बाधनैः । प्रचण्डशक्त्योः प्रचण्डा
 तोक्षणा शक्तिः पराक्रमो ययोस्तयो^{१०} । अङ्गेन शरीरेण । क्रमजातजयं क्रमेण जातो जयो यस्य^{११} तत् । एकवारं

कीटोंकी मेरे सामने गिनती ही क्या है ? ॥ २१ ॥ इसलिए तुम इन निरर्थक बातोंको बन्द
 करो—चुप रहो, बकवास न करो । तुम बहुत बक चुके हो । अच्छे आदमी बहुत थोडा बोला
 करते हैं । यदि पौरुष-शक्ति या मर्दानगी हो तो बार करो । पर इतना सोच लो कि बार
 (प्रहार) करनेसे पहले ही मेरे मुक्कोंकी मारसे तुम कहीं पिस न जाना ॥ २२ ॥ राज-
 कुमारके यों कहते ही उसने बार करनेके लिए बड़े वेगसे लोह-दण्ड ऊपरकी ओर उठाकर
 गिराना चाहा, पर राजकुमारने उसे बीचमें ही रोक लिया, और प्रहार करनेवाले उस असुर-
 को अपने बाहुओंके बीचमें दबोच लिया ॥ २३ ॥ उस असुरने भी राजकुमारको अपने बाहुओंसे
 दबा लिया—दोनों आपसमें लिपट गये । एक दूसरेको बाहुओंसे खूब जकड़कर पकड़ लेतेसे वे
 दोनों ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों युद्धकी खूजली मिटानेके लिए दो लोकपाल आपसमें भिड़
 पड़े हों ! वनदेवियां वृक्षोंकी ओटमें चुपचाप खड़ी होकर उनकी ओर देख रही थी ॥ २४ ॥
 दोनोंमें प्रचण्ड शक्ति थी : दोनों ही पैतरे व दाव-पेंच जानते थे । फलतः नाना प्रकारके पैतरों व

१. म संमितं । २. बा इ न भवत्येष, म न भवत्येष । ३. अ क ख ग घ णाभ्यां ।
 ४. क ख ग घ णाभ्यां । ५. = भवन्तीति शेषः । ६. = संबन्धिन्या । ७. = पातयामास । ८. आ दूष्याते ।
 ९. आ दृग्, क स दृशि । १०. = यस्मिन् ।

अथ भूपतिस्तुना कराम्यां स समुत्फाल्य नभस्तले विमुक्तः ।
 कृतघोडशभूषणाभिभूषं बपुरावर्शयति स्म दिव्यरूपम् ॥ २६ ॥
 इति चाभिवधे हिरण्यनामा परमर्द्धिस्त्रिवशोऽस्मि नाकलोके ।
 अभिवन्ध जिनालयान्सुराद्री सुभग क्रोडितुमागतोऽत्र शैले ॥ २७ ॥
 कृतकप्रघनेन रूपमन्यत्समुपादाय मया परीक्षितोऽसि ।
 अमुना तव साहसेन चेतः परतन्त्रीकृतमेतद्वस्मदीयम् ॥ २८ ॥
 बिभ्रतोऽसि ययाम्बुजाक्ष कुसौ जननी धम्यतमा तवैव सैका ।
 कृतिनः ससुरासुरेऽपि लोके चरितं यस्य चमत्कृतिं विधत्ते ॥ २९ ॥

कुमारस्य जयः, पुनरेकवारं देवस्य जयः—इति क्रमः । युद्धं संग्रामः । चिरं^१ दीर्घम् । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ २५ ॥ अथेति । अथ युद्धानन्तरम् । भूपतिसूनुना कुमारेण । कराम्या हस्ताभ्याम् । समुत्फाल्य उद्धृत्य । नभस्तले [नभस्तले] नभस आकाशस्य तले प्रदेशे । विमुक्तः विमुक्त्यते स्म विमुक्तो निःसृष्टः । सः देवः । कृतघोडशभूषणाभिभूषं कृता घोडशैर्भूषणैरभिभूषा अलङ्कारो यस्य तत् । दिव्यरूपं दिव्य रूपं यस्य तत् । बपुः शरीरम् । आदर्शयति स्म आलक्षयति स्म । दृगु प्रेक्षणं निःश्रुताल् ॥ २६ ॥ इति । सुभग भो मनोहराङ्ग । नाकलोके सुरलोके । हिरण्यनामा हिरण्य इति नाम यस्य सः । परमर्द्धिः परमा उत्कृष्टा ऋद्धि ऐश्वर्यं यस्य स । त्रिदशः देवः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । सुराद्री मेरी । जिनाल-यान् चैत्यालयान् । अभिवन्ध वन्दित्वा । अत्र अस्मिन् । शैले पर्वते । क्रोडितु क्रोडानिमित्तम् । आगतः^२ । इति एवं प्रकारेण । अभिवधे ऋचे । दशाब्धारणे च लिट् ॥ २७ ॥ कृतकैति । मया, अयत् मिदम् । रूपं वेषम् । समुपादाय अङ्गीकृत्य । कृतकप्रघनेन कृतकैन कपटरूपेण प्रघनेन युद्धेन । परीक्षितः विचारित । असि भवसि । तत्र भवतः । अमुना एतेन । साहसेन सामर्थ्येन । अस्मदीयम् अस्मत्संबन्धम् । चेतः चित्तम् । पर-तन्त्रीकृतं पराधीनं कृतम् ॥ २८ ॥ बिभ्रतः^३ इति । अम्बुजाक्ष अम्बुजमिवाक्षिणी यस्य तस्य संबोधनम्—भो अम्बुजाक्ष । कृतिनः पुण्यवतः । यस्य पुण्यस्य । चरितं प्रवर्तनम् (वृत्तं वा) । ससुरासुरेऽपि सुरैश्चा-सुरैश्च सह वर्तते इति ससुरासुरः, तस्मिन् अपि । लोके भुवने । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । विधत्ते करोति । स त्वम् इत्यध्याहारः । यया कुक्षौ गर्भे । बिभ्रतः^४ बिध्रियते स्म । असि भवसि । तवैव भवत एव । सैका

अनेक प्रकारके पेचोके प्रयोगसे वे दोनों एक दूसरेके ऊपर कभो हाथोंसे और कभो पैरोसे प्रहार कर रहे थे । बराबरीका जोड़ होनेसे कभो एक की, तो कभो दूसरेकी विजय हो रही थी । इस तरह उन दोनोंमें बहुत देर तक शारीरिक युद्ध (कुस्ती) होता रहा ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् राजकुमारने उसे अपने दोनों हाथोंसे उठाकर ऊपर उछाल दिया । तब उसने अपने शरीरकी सोलह आभूषणोंसे विभूषित करके उसे अपना असली दिव्यरूप दिखला दिया ॥ २६ ॥ और उसने राजकुमारसे कहा—हे सुभग ! मैं उत्तम ऋद्धिओंका धारण करनेवाला देव हूँ । मैं स्वर्गमें रहता हूँ । मेरा नाम हिरण्य है । मैं वहाँसे चैत्यालयोंकी वन्दना करनेके लिए सुमेरुपर्वत-पर गया था । फिर वहाँसे क्रोडा करनेके लिए यहाँ चला आया ॥ २७ ॥ मैंने अपना रूप बदलकर बनावटी युद्धसे तुम्हारी परीक्षा ली है । तुम्हारे इस साहसे मेरा मन तुम्हारे अधीन हो गया है—मैं हृदयसे तुम्हारा हो चुका हूँ ॥ २८ ॥ हे कमललोचन ! जिस पुण्यात्माका चरित आज सुरलोक और असुर लोकमें चमत्कार उत्पन्न कर रहा है, उसे (अर्थात् तुमको) जिस माताने अपने गर्भमें धारण किया है, केवल वही (तुम्हारी माता) सबसे अधिक

१. = चिरकाल यावत् । २. = समायातः । ३. एष टीकाकृत्रिमतः पाठः, प्रतिषु 'बिभ्रतः' इत्येव दृश्यते । ४. अयमपि पाठस्तथैव श्रेयः ।

हृदयामिमत्तं वरं वृणीष्वेत्यमिधानुं त्रपया न मेऽस्ति शक्तिः ।
 नहि पुण्यवतां भवद्विधानां परनिष्ठं भुवने समस्ति किञ्चित् ॥ ३० ॥
 तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये विषयेऽहं मनसि त्वया निधेयः ।
 न सहाययिनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः ॥ ३१ ॥
 अपरं च निवेदयाम्यहं ते शृणु जन्मान्तरवृत्तमेकचित्तः ।
 अभवत्स्वमितो भवे तृतीये नृपतिः श्रीपुरभुक्सुगन्धिदेशे ॥ ३२ ॥
 गृहिणी शशिसूर्यनामधेयावथ तत्रैव कृपीवलावभूताम् ।
 अपरेद्युःपेत्य दत्तत्वातः सकलं सूर्यधनं शशी जहार ॥ ३३ ॥

मुखा । जननी माता । धन्यतमा पुण्यवतो भवति ॥३९॥ हृदयेति । हृदयामिमत्तं हृदयेन चित्तोनामिमत्तं वाञ्छितम् । वरम् अभीष्टम् । वृणीष्वेति प्रार्थय इति । अमिधानुं वक्तुम् । त्रपया लज्जया । मे मम । शक्तिः सामर्थ्यम् । नास्ति न भवति । [हि यतः] । पुण्यवता कुशलवताम् । भवद्विधाना युष्मा-
 दृशाम् । भुवने लोके । किञ्चित् यत्किञ्चित् वस्तु । परनिष्ठं पराधीनम्, असाध्यमित्यर्थः । न समस्ति ।
 हि नास्ति हि (न समस्ति नास्ति) ॥३०॥ तदिति । तदपि तदापि । क्वचन क्वचित् । प्रयत्नसाध्ये
 प्रयत्नोद्योगेन साध्ये साधनीये । विषये वस्तुनि । अहं, मनसि चित्ते । त्वया भवता । निधेयः स्मरणीयः ।
 उद्यमशालिनोऽपि प्रयत्नशालिनोऽपि । पुरुषस्य जनस्य । कदाचित् कस्मिंश्चित् । सहाययिनाकृता सहायेन
 विनाकृता रहिता^१ । सिद्धिः कार्यसिद्धिः । न न भवति ॥३१॥ अपरमिति । अहं, जन्मान्तरवृत्तं प्रकृत-
 जन्मनोऽन्यजन्म जन्मान्तरं तस्य वृत्तवृत्तान्तम् । अपरम् अन्यत् । ते तव । निवेदयामि बोधयामि । विद
 ज्ञाने लब्धम् । एकचित्तः एकनिश्चलं चित्तं मनो यस्य सः, सन्, शृणु । त्वं ममान् । इतः एतस्माद्भवात् ।
 तृतीये त्रयोदशवयस्य तस्मिन् । भवे जन्मनि । सुगन्धिदेशे सुगन्धिरिति देशे विषये । श्रीपुरभुक् श्रीपुरपालकः ।
 नृपतिः राजा । अभवः अजायया । ॥३२॥ गृहिणाविति । अथ अनन्तरम् । तत्रैव तस्मिन्नेव पुरे । शशि-
 सूर्यनामधेयो शशिसूर्यामिधानो । कृपीवलो कृपिकर्मजीविनो । गृहिणी गृहस्थो । अभूताम् अजायताम्^२ । भू
 सत्ताया लुब्धः । शशी तयोर्मध्ये शशी । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापरः—' इत्यादिना एद्युम्-प्रत्ययः ।
 उपेत्य आगत्य । दत्तत्वातः दत्तः त्वातो येन सः, विहितसुरङ्ग इत्यर्थः । सकलं सर्वम् । सूर्यधनं सूर्याहवस्य

पुण्यात्मा है । सबकी मसि तुम्हारी ही मैं अधिक धन्य है ॥ २९ ॥ लज्जावश मुझे यह कहने-
 का साहस नहीं हो रहा है, कि तुम मुझसे इच्छित वर माग लो; क्योंकि सच तो यह है कि इस
 संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे पानेके लिए आप जैसे पुण्यात्माओंको दूसरोंका
 आसरा लेना पड़े—उनका मुंह देखना पड़े ॥ ३० ॥ तो भी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ
 कि किसी प्रयत्नसाध्य—कठिन कामके आ पड़नेपर मेरा स्मरण करना; क्योंकि सहायकके
 बिना उद्योगी पुरुषकी भी कार्य सिद्धि कभी नहीं होती ॥ ३१ ॥ एक बात और निवेदन करता
 हूँ— मैं तुम्हारे पिछले जन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ । तुम उसे सावधान होकर सुनो—पिछले
 तीसरे जन्ममें तुम सुगन्धि नामक देशमें श्रीपुर नामके नगरके राजा हुए थे ॥ ३२ ॥ तुम्हारे
 शासनकालमें वही पर (श्रीपुरमें) दो गृहस्थ रहते थे । दोनों किसान थे । उनमेंसे एकका
 नाम शशी था और दूसरेका सूर्य । एक दिनकी बात है । शशी सूर्यके घर गया और सेंध लगा-

१. आ तदित्यादि । २. आ श स 'निधेयः' शेषामु च प्रतिषु 'विधेयः' इति पाठः समस्ति । ३. आ
 विहिता । ४. आ अजायताम् ।

अधिगम्य निपातितस्त्वयासौ स्वधनेन प्रतियोजितश्च सूर्यः ।
 परितृप्त्य भवे प्रभूतयोनावसुरः^१ चण्डरुचिः शशी बभूव ॥ ३४ ॥
 समुपाजितपूर्वपुण्यलेशात् भवं सूर्यचरस्त्वहं हिरण्यः ।
 अजनिष्ट ततः स पूर्ववैरासव इतां रिपुरस्यहं च मित्रम् ॥ ३५ ॥
 मधुराक्षरहारिणीं^२ स वाणीमभिधायेति तिरोबभूव देवः ।
 नरनाथसुतोऽपि तत्प्रभावात्सहसात्मानमलोकयन्नान्ते ॥ ३६ ॥
 किमिदं परमाद्भुतं मया यद्वनमुत्तीर्णमदशि काननान्तः ।
 मनसेति विचिन्तयंस्तदा तं महिमानं स हिरण्यजं विवेद् ॥ ३७ ॥

घनं द्रव्यम् । जहार अपहरति स्म । हृज् हरणे लिट् ॥ ३३ ॥ अर्जति । त्वया भवता । अधिगम्य ज्ञात्वा ।
 असौ शशी । निपातितः दण्डितः । सूर्यः, स्वधनेन स्वस्य निजस्य धनेन द्रव्येण । प्रतियोजितः संबन्धितः ।
 शशी, [प्रभूतयोनी प्रभूता नाना योनय उत्पत्तिस्थानानि यत्र तस्मिन्] भवे संसारे । प्रभूतयोनी प्रभूतो
 बहुलो योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य तस्मिन् । परितृप्त्य परितृप्त्यम् । चण्डरुचिः चण्डरुचिरिति । असुरः भवनवासि-
 देवः । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ ३४ ॥ समुपेति । सूर्यचरः सूर्यः पूर्वः^३ (भूतपूर्वः सूर्यः) सूर्य-
 चरः, पूर्व सूर्यभूत इत्यर्थः । 'भूतपूर्व चरट्' इति चरट्-प्रत्ययः । अहं तु अहमपि । समुपाजितपूर्वपुण्यलेशात्
 समुपाजितस्य संपादितस्य पूर्वपुण्यस्य लेशात् कणात् । हिरण्यः हिरण्याक्ष्यदेवः । अभवम् आसम् । भू सत्ताया
 लुङ् । सः शशिवरः । पूर्ववैरात् पूर्वजनिताद् वैरात् । तव त्वामित्यर्थः । 'कृत्कामुकस्य' इत्यादिना कर्मणि
 षष्ठी । इतां अपहृतां । रिपुः शत्रुः । अजनिष्ट अभूत् । जनैश्च प्रादुर्भवे लुङ् । अहं च अहमपि । मित्रं
 सुहृत् । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥ ३५ ॥ मधुरेति । स देवः हिरण्याक्ष्यदेवः । मधुराक्षरहारिणी
 मधुरैः प्रियैरक्षरैर्वर्णैरहारिणीं मनोहारिणीम् । वाणीं वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिषाय उक्त्वा । तिरो-
 बभूव^४ व्यवधानो बभूव । नरनाथसुतोऽपि नरनाथस्य सुतोऽपि कुमारोऽपि । तत्प्रभावात् तस्य देवस्य प्रभावात्
 सामर्थ्यात् । सहसा शीघ्रम् । आत्मानं स्वम् । वनान्ते^५ वनमध्ये । अलोकयत् अदर्शयत् । लोकाद्दर्शने
 ण्यन्ताल्लङ् ॥ ३६ ॥ किमिति । यम् उच्छृष्टम् । इदं किमद्भुतं किमाश्चर्यम् । यत् मया, वनं काननम् ।
 उत्तीर्णं लङ्घितम् । काननान्तः काननस्यान्तोऽवसानम्^६ । अदशि^७ दृश्यते स्म । इति एवं प्रकारेण । मनसा
 मानसेन । विचिन्तयन् स्मरन् । स कुमारः । तदा तं महिमानं महत्त्वम् । हिरण्यजं हिरण्यदेशज्जातम् ।

कर उसका सारा धन चुरा लाया ॥ ३३ ॥ इसका पता लगाकर तुमने सूर्यका धन उसे वापिस
 दिलवाया और शशीको फाँसीकी सजा दी । बहुत अधिक (चौरासी लाख) उत्पत्ति स्थानोंवाले
 संसारमे इधर उधर भटककर—खोटी-खोटी योनियोंमें जन्म लेकर शशी, चण्डरुचि नामका
 असुर हुआ ॥ ३४ ॥ पूर्वोपाजित पुण्य कर्मके बचे-खुचे अंशसे मैं हिरण्य नामका देव हुआ ।
 मे तुम्हारा मित्र हूँ । मैं ही पहले सूर्य रहा । वह शशी पूर्व वैरके कारण तुम्हारा शत्रु है, और
 वही तुम्हें हर ले आया है ॥ ३५ ॥ मधुर अक्षरोसे मनको हरनेवाले इन वचनोंको कहकर वह
 देव आँखोंसे ओझल हो गया, और उसके प्रभावसे राजकुमारने भी अपनेको उस वनकी सीमासे
 बाहर पाया ॥ ३६ ॥ यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि मैं इतने बड़े बीहड़ जंगलको इतनी
 शीघ्रतासे पारकर एकाएक उसकी सीमाके बाहर आ पहुँचा हूँ । वनकी बाहरी सीमा आँखोंके
 सामने है । यों अपने मन-ही-मन सोचता हुआ वह समझ गया कि यह तो हिरण्य देवकी महिमा

१. अ क ख ग घ म चण्डरुचिः । २. अ क ख ग घ म कारिणी । ३. आ सूर्यपूर्वः ।

४. = व्यवहितोऽतहितो वा । ५. = वनावसाने । ६. आ 'सानः । ७. = व्यक्षोकि ।

गहनान्तमथापहाय राष्ट्रं नगरग्रामनिरन्तरं प्रविष्टः ।
 सकलास्वपि दिक्षु जातमीति बिलुलोके स जनं पलायमानम् ॥ ३८ ॥
 उपसृत्य पुमांसमेकमाराद्वयरोमाञ्जितसर्वगात्रयष्टिम् ।
 उपजातकुतूहलः कुमारः परिपप्रच्छ पलायनस्य हेतुम् ॥ ३९ ॥
 पृथिवीपतिपुत्रपृच्छयासाविति निर्विण्णमना जगाद वाचम् ।
 गगनात्पतितोऽसि किं प्रसिद्धं न विजानासि यदेतमप्युदन्तम् ॥ ४० ॥
 प्रथितोऽयमरिजयाभिधानो धनधान्यादयजनाकुलो जनान्तः ।
 विजहाति सदा न यत्र शोभां नवसस्याङ्कुरशाद्वला धरित्री ॥ ४१ ॥

विशेष बुबोध । विद ज्ञाने लिट् ॥ ३७ ॥ गहनेति । अथ अनन्तरम् । गहनान्तं काननावसानम् । अपहाय विहाय । नगरग्रामनिरन्तरं नगरैर्ग्रामैश्च निरन्तरमन्तररहितम् । राष्ट्रं देशम् । प्रविष्टः प्रविष्टवान् । स. कुमारः । सकलामु सर्वास्वपि । दिक्षु दिशासु । जातमीति आतमयम् । पलायमानं धावमानम् । जनं लोकम् । बिलुलोके दःशः । लोकञ्च दशाने लिट् ॥ ३८ ॥ उपति । उपजातकुतूहलः उपजातं कुतूहल यस्य सः । कुमारः, मयरोमाञ्जितसर्वगात्रयष्टिं मयेन भीत्या रोमाञ्जिता रोमहर्षणयुक्ता सर्वा निखिला गात्रयष्टिर्यस्य तम् । एकं पुमांसं पुरुषम् । आरात् समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । उपसृत्य प्राप्य । पलायनस्य इतस्ततः पलायनस्य । हेतुं कारणम् । परिपप्रच्छ^१ मुखात् । प्रच्छ^२ श्रोत्राया लिट् ॥ ३९ ॥ पृथिवीति । पृथिवीपतिपुत्रपृच्छया पृथिव्याः पत्युर्भूषते । पुत्रस्य कुमारस्य पृच्छया प्रश्नेन । निर्विण्णमना, निर्विण्णं दुःखितं मनो यस्य सः । असौ बयं पुरुष । वाचं वाणीम् । जगाद ब्रवीतिस्म । नद ग्यक्तया वाचि लिट् । यत् यस्मात्कारणात् । प्रसिद्धं प्रतीतम् । एनमपि अमुमपि । उदन्तं बाहिम् । न विजानासि न वेत्सि । जा अवबोधने लट् । गगनात् आकाशात् । पतितः^३ निमग्नः । असि भवसि । अस भुवि लिट् ॥ ४० ॥ प्रथित इति । यत्र देशे । नवसस्याङ्कुरशाद्वला नवैर्नवीनैः सस्याङ्कुरैः शाद्वला हरिता । धरित्री भूमिः । सदा सर्वकाले । शोभां मनोहरत्वम् । न जहाति न त्यजति । ओहाङ्कृत्याने लट् । प्रथितः प्रतीतः । धनधान्यादयजनाकुलः धनैर्धान्यैरादयः । ससुदैर्जनैराकुलः संकुलः । अरिजयाभिधानं अरिजय इत्यभिधानं यस्य सः । अयम् एषः ।

है ॥ ३७ ॥ इसके पश्चात् वह राजकुमार उस स्थानको छोड़कर ज्योंही आगे बढ़ा, त्यों ही उसने एक ऐसे देशमें प्रवेश किया, जहाँ लगातार नगर और ग्राम बसे हुए थे । वहाँपर उसने देखा कि जिधर देखो उधर लोग डरके मारे भागे जा रहे हैं ॥ ३८ ॥ राजकुमारको बड़ा कौतूहल हुआ । अतः उसने एक मनुष्यके—जिसके सारे शरीरमें भयके कारण रोगों खड़े हुए थे—पास जाकर लोगोंके भागनेका कारण पूछा ॥ ३९ ॥ राजकुमारके प्रश्नसे अपने मनमें दुःखो होकर वह टिरिति हुए यों बोला—क्या तुम आसमानसे टपके हो, जो इस लोक-विदित वृत्तान्तको भी नहीं जानते ? ॥ ४० ॥ यह अरिजय नामका प्रसिद्ध देश है । यहाँके निवासी खुशहाल हैं, धनाढ्य हैं और उनके पास भरपूर अनाज रहता है । यहाँको पृथिवी सदा नये-नये धान्यके अंकुरोंसे हरी-भरी रहनेके कारण कभी अपनी सुषमाको नहीं छोड़ती ॥ ४१ ॥

१. = व्याप्यमित्यर्थः । २. = गत्या प्राप्य-इत्यर्थः । ३. = अप्राप्तीत् । ४. आ पृच्छञ् श्रोत्राया लिट् । पृच्छ श्रोत्रायां आकटा ४।२।२५७ पू० २७७ । ५. = क्युतः ।

विपुलं विपुलामिधां दधानं पुरमस्त्युत्तममस्य नाभिभूतम् ।
 प्रविभाति यदुच्चसौधशृङ्गैर्विलिखत् खचराधिवासकल्पम् ॥ ४२ ॥
 जयवाज्यवर्मनामधेयो नगरं तत्पृथिवीपतिः प्रशस्तिः ।
 यदतीवकरापनीततापा निरपेक्षा वसुधोदये हिमांशोः ॥ ४३ ॥
 दिननार्यविभेधं पुरिताशास्मरपत्नीव वितीर्णकामसौख्या ।
 रणलब्धजयश्रियो जयश्रीरभवत्तस्य वधूर्विधूपमास्या ॥ ४४ ॥
 उदपादि तथोः शशिप्रभाख्या बुहिता सर्वजगल्ललामभूता ।
 तरतीव शशाङ्कवार यस्या निजलावण्यपयोनिधौ शरीरम् ॥ ४५ ॥

अन्तः देशः । 'राष्ट्रं जनपदो निर्गो जनान्तो विषयः स्मृतः' ॥४१॥ विपुलमिति । यत्, उच्चसौधशृङ्गैः उच्चानामुन्नतानां सौधानां प्रासादानां शृङ्गैः शिखरैः । खं गगनम् । विलिखत् स्पृशत् । खचराधिवासकल्पं खचराणां विद्याचराणामधिवासस्य पत्तनस्य कल्पं सद्दशम् । प्रविभाति विराजते । अस्य देशस्य । नाभिभूतं मध्यप्रदेशम् (शः) । विपुलामिधां विपुलेत्यभिधाममिधानं^१ । दधानं धरत् । विपुलं 'विपुलम्' इति । उत्तमं श्रेष्ठम् । पुरं पत्तनम् । अस्ति वर्तते । अब भुवि लट् । उपमा ॥४२॥ जयवानिति । यत् यस्मात् (?) । अतीवकरापनीततापा^२ अतीव्रेण मुदुना करेण सिद्धायेन, पक्षेऽविमुदुभिः करैः किरणैरपनीतो निराकृतः तापः संतापो यस्याः सा । वसुधा भूमिः । हिमांशोः चन्द्रस्य । उदये उत्पत्तौ । निरपेक्षा निर्व्यपेक्षा—चन्द्रोदयाभावेऽपि राजनोतिपालनेन शीतीभूता—इत्यर्थः । जयवान् जययुक्तः । जयवर्मनामधेयः 'जयवर्मा' इति नामधेयं यस्य सः । पृथिवीपतिः भूमिपतिः । तन्नगरं विपुलपुरम् । प्रशस्तिं वालयति ॥४३॥ दिनेति । दिननार्यविभेधं दिनस्य दिवसस्य नायस्य सूर्यस्य विभेधं कान्तिरिव । पुरिताशा प्रापितसंशयो, पक्षे व्याप्तदिवक्ता । स्मरपत्नीव रतिदेवीव । वितीर्णकामसौख्या वितीर्णं दत्तं कामसौख्यं यया सा, पक्षे वितीर्णं कामस्य मन्मथस्य सौख्यं यया सा । विधूपमास्यां^३ विधोश्चन्द्रस्योपममास्यं यस्याः सा । जयश्रीः जयश्री—इति । रणलब्धजयश्रियः रणे संप्राप्ते लब्धा जयश्रीर्जयलक्ष्मीर्यस्य (येन) तस्य । जयवर्मणः, वधू वनिता । अभवत् अभूत् । इत्येवोपमा ॥४४॥ उदपादीति । यस्याः, शशाङ्कवार शशाङ्क इव चन्द्र इव चार मनोहरम् । शरीरं गात्रम् । निजलावण्यपयोनिधौ निजस्य स्वस्य लावण्यमेव देहकान्तिरेव पयोनिधिः समुद्रः, तस्मिन् । तरतीव लवमानेव ।

इस देशके ठीक बीचमे एक विशाल और सुन्दर विपुल नामका पुर है जो इसकी नाभिके समान प्रतीत होता है । वह पुर कभी किसीसे अभिभूत—तिरस्कृत नहीं हुआ । अपने उन्नत महलोंकी चोटियोंसे आकाशकी छूनेवाला यह पुर विद्यावरोंके पुरकी भाँति जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ उस पुरमे विजयो जयवर्मा नामका राजा राज्य करता है । वह उतना ही टैंकस लेता है, जिससे किसीको सन्ताप न हो । उसके कर-टैंकस (किरण) से पृथ्वी (लक्षणया उसके निवासियों) को तनिक भी सन्ताप नहीं होता । फलतः वहाँकी सन्तापहीना पृथ्वीको कभी चन्द्रोदयकी अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४३ ॥ रणांगणमें विजयलक्ष्मीको पानेवाले उस राजाका विवाह चन्द्रमुखी जयश्रीके साथ हुआ । वह सूर्यकी प्रभा सरीखी है । सूर्यकी प्रभा जेधे सभी दिशाओंको भर देती है उसी तरह जयश्री सबकी आशाओं (मनोरथ) को पूरा कर देती है, और वह कामदेवकी पत्नी-रतिके समान है । रति कामदेवको सुख देती है और जयश्री अपने पति जयवर्माको सम्भोगका सुख प्रदान करती है ॥ ४४ ॥ उन दोनोंके शशिप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न

१. अ^१यवो^१ । २. यस्या । ३. = संज्ञामित्यर्थः । ४. = यदतीवकरापनीततापा यस्य राज्ञोऽतीव्रेण सहो न करेण भागधेयेन, पक्षेऽतीवैमुदुभिः करैरपनीतो निराकृतस्तापः संतापो यस्याः सा । ५. = विधूपमं चन्द्रसदृशमास्यमानं यस्याः । ६. = लवमानमिव भाति ।

अथ तामपरो महेन्द्रनामा जयवर्माणमयाचत श्रितीशः ।

वितरन्नचिरायुषे तन्वृजं^१ किल तस्मै स निमित्तिना निषिद्धः ॥ ४६ ॥

स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं^२ सह संभूय समस्तराजलोकैः ।

जयवर्मबलं निहत्य युद्धे पुरमावृत्य वितिष्ठते तदीयम् ॥ ४७ ॥

तद्यं स्वविनाशमीक्षमाणः सकलो राष्ट्रजनः प्रयाति भग्नः ।

गिरमित्यवगम्य तस्य हृष्ययुवराजो विपुलं प्रति^३ प्रवस्ये ॥ ४८ ॥

दृष्टे च गतेन तेन तस्मिन्नगरं तद्विपुलैर्निकैः परीतम् ।

शिशिरांशुसमुद्गमे प्रवृद्धैरिव^४ वेलावनमम्बुधेस्तरङ्गैः^५ ॥ ४९ ॥

सर्वजगल्लामभूता हर्वस्य जगतो ललामभूता । शशिप्रभाक्या 'शशिप्रभा' इत्याख्या कनिधानं यस्याः सा । दुहिता कुमारी । तयोः जयवर्मजयप्रियोः । उवादि अत्रायत ॥ ४७ ॥ ॥ ४५ ॥ अथेति । अथ शशिप्रभोत्पत्त्य-
नन्तरम् । महेन्द्रनामा 'महेन्द्रः' इति नाम यस्य सः । अपरः अन्यः । क्षितीशः भूमिशः । तत्र शशिप्रभाम् ।
जयवर्मणि जयवर्ममूर्पतिम् । अयाचत याचते स्म । अचिरायुषे अचिरमल्पमायुर्यस्य तस्मै, स्तोकायुष्यायेत्यर्थः ।
तस्मै महेन्द्राय । तन्वृजा पुत्रीम् । वितरन् ददानः । सः क्षितीशः । निमित्तिना निमित्तिनेन । निषिद्धः निषारितः
किल ॥ ४६ ॥ स इति । निरस्तमनोरथः निरस्तो निराकृतो मनोरथोऽभोष्टं यस्य सः । सः महेन्द्रस्तु । इदानीम्
अथ । समस्तराजलोकैः समस्तैर्निखिले राजलोकैः राजजनैः । सह साकम् । संभूय मिलित्वा । युद्धे संग्रामे ।
जयवर्मबलं जयवर्मराजबलम् । निहत्य हत्वा । तदीयं जयवर्मसंबन्धम् । पुरं पत्तनम् । आवृत्य वेष्टित्वा ।
वितिष्ठते वर्तते । षडा गतिनिवृत्तौ षट् । 'संविशावात्' इति तड् ॥ ४७ ॥ तदिति । तत् तस्मात् । स्वविनाशं
स्वस्य विनाशम् । ईक्षमाणः बिलोकमानः । अव्यम् पृथः । सकलः समस्तः । राष्ट्रजनः राष्ट्रस्य जनपदस्य जनो
लोकः । भग्नः पराजितः बन् । प्रयाति पलायते । तस्य पुरुषस्य । इति उक्तप्रकारेण । तत् [गिरं] वचनम्
अवगम्य ज्ञात्वा । हृष्यन् संतोषं श्रुत्वा । युवराजः अजितसेनकमारः । विपुलं प्रति विपुलपुरं प्रति । प्रवस्ये
प्रययौ । षडा गति निवृत्तौ षट् । 'संविशावात्' इति तड् ॥ ४८ ॥ दृष्टम् इति । शिशिरांशुसमुद्गमे शिशिरांशो-
वद्गमस्य समुद्गमे उदये । प्रवृद्धैः समृद्धैः । अम्बुधेः समुद्रस्य । तरङ्गैः कूर्मभिः । वेलावनं तीरवनमिव ।
तस्मिन् समये प्रस्तावे वा । तद्विपुलैर्निकैः तस्य रिपोः शत्रोः सैनिकैर्बलैः परीतं परिक्षेपितम् । नगरं पुरम् ।

हुई । वह सारे संसारका आभूषण या तिलक है । उसका चन्द्रमाके समान सुन्दर शरीर अपने कान्तिके समुद्रमें ऐसा जान पड़ता है मानो तेर रहा हो ॥ ४५ ॥ इसके पश्चात् उसके विवाह योग्य होनेपर महेन्द्र नामके राजाने जयवर्मसे उसकी कन्या (शशिप्रभा) की अपने लिए मगनी की । राजा जयवर्मा इसके लिए राजी भी हो गया, किन्तु एक निमित्त जानीने महेन्द्रको अल्पायु बतलाकर उसे रोक दिया ॥ ४६ ॥ मनोरथके ठुकराये जानेसे महेन्द्रने अपने पक्षके सभी राजाओंसे मिलकर जयवर्मके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी, और युद्धमें जयवर्मकी सेनाको मारकर उसके नगरको घेर लिया है ॥ ४७ ॥ इस कारण पराजित, इस राष्ट्रके सभी लोग अपना विनाश सोचकर भागे जा रहे हैं । उसके ये वचन सुनकर युवराज अजितसेनने मन-ही-मन प्रसन्न होकर विपुलपुरकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ ४८ ॥ आगे जाकर उसने देखा कि उस नगरको शत्रु-सैनिकोंने सभी ओरसे घेर लिया है । जैसे चन्द्रोदय होनेपर समुद्रकी उत्ताल

१. क स ग य अ ऋ एतदानीं । २. अ 'प्रति' इति नास्ति । ३. अ 'समुद्गमप्रवृद्धैः' । ४. अ अम्बु-निधेस्तरङ्गैः ।

अधिकम्पितधीर^१ संस्तुतत्वात्प्रतिषिद्धोऽपि नृपाजया प्रगच्छन् ।
 करिकीर्णपथां प्रतिप्रतोलीमिति तैः स्तोत्रमिदं महेन्द्रयोधैः ॥ ५० ॥
 शिरसा न निजेन तेऽस्ति कार्यं परिनिर्विण्णमतिः स्वजीविते वा ।
 नृपशासनमप्रसक्तमन्यैर्यदतिक्रम्य परैरि^२ निर्विशङ्कः ॥ ५१ ॥
 स तदीयवचःप्रवृद्धमन्युर्धनुरेकस्य कराज्जहार वीरः^३ ।
 स्वनृपेण सहैव रक्षतासुख्यदि शक्तिर्भयनामिति ब्रवाणः ॥ ५२ ॥
 नगतुङ्गमतङ्गजोघ्ननके पथनस्पधितुरङ्गवीचिचक्रे ।
 विचरन्चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ दृशे मन्दरवत्स पौरलोकैः ॥ ५३ ॥

गतेन यातेन । तेन कुमारेण ददृशे दृश्यते स्म । दृशं प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥ ४९ ॥ अवीति । अविहम्पितधीः
 अविहम्पिता निश्चला धीर्यस्य स । असंस्तुतत्वात् अननुमत्वात् । नृपाजया राजाजया । प्रतिषिद्धोऽपि
 निवारितोऽपि । करिकीर्णयथा^४ करिणां गजानां कीर्णः सङ्कोटो मार्गो यस्याः ताम् । प्रतीको गोपुरं प्रति ।
 प्रगच्छन् प्रयान् । सः कुमारः । तैः महेन्द्रयोधैः महेन्द्रभटैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे प्रोक्तः
 ॥ ५० ॥ शिरसेति । यत् कारणात् । अन्यैः अपरैः । अप्रसक्तं निराकर्तुमशक्यम् । नृपशासनं नृपस्य राज्ञः
 शासनमाज्ञाम् । अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य । निर्विशङ्कः निःशङ्कः सन् । परैरि^५ गच्छसि यासि । [तत्] ते
 तव । निजेन स्वकीयेन । शिरसा मस्तकेन । कार्यं प्रयोजनम् । न अस्ति न भवति । स्वजीविते स्वस्य जीवने ।
 परिनिर्विण्णमति परिनिर्विण्णा विरक्ता मतिर्यस्य सः । वा किमन्यर्थः ॥ ५१ ॥ स इति । तदीयवचः-
 प्रवृद्धमन्युः तदीयेन भटसंभविना वचसा वचनेन प्रवृद्धः प्रेषितो मन्युः कोपो यस्य सः । सः कुमारः ।
 भवता युष्मकम् । यदि चेत् । शक्तिः सामर्थ्यम् । अस्ति । स्वनृपेण निजभूपतिना । सहैव साकमेव ।
 अमूर्त् प्राणान् । रक्षत पालयत । इति एवम् । ब्रवाणः ब्रुवन् । वीरः शूरः । एकस्य पुरुषस्य । करात्
 हस्तात् । धनुः चापम् । जहार हरति स्म । हृत् हरणे लिट् ॥ ५२ ॥ नगेति । नगतुङ्गमतङ्गजोघ्ननके नगा इव
 पर्वना इव^६ तुङ्गा उग्रता ये मतङ्गजा मत्तदन्तिनः त एवोघ्रा भयकरा नक्का यस्मिन् तस्मिन् । पवनस्पर्ध-
 तुरङ्गवीचिक्रे पवनो वायुस्त (तस्मै) स्पर्द्धन्ते तच्छीलाः (इत्येवंशीलाः) अतिवेगवन् इत्यर्थः, तथोक्ता
 ये तुङ्गा^७ वाजिनस्त एव बीचयस्तरङ्गास्तामा चक्र समूहो यस्मिन् तस्मिन् । चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ चतुरङ्गं
 तरंगोके द्वारा उसका किनारेका वन घेर लिया जाता है ॥ ४९ ॥ वह आगे बड़े वेगसे बढ़ता
 चला जा रहा था, किन्तु अपरिचित तथा अनुमति पत्रसे रहित होनेके कारण राजाकी आज्ञासे
 रोक दिया गया । फिर भी वह निःशंक होकर उस पुरके प्रवेशद्वारकी ओर चलता ही गया,
 जिसका मार्ग हाथियोंसे घिरा हुआ था । फिर राजा महेन्द्रके सिपाही उससे यों बोले— ॥ ५० ॥
 क्या तुझे अपने सिरसे कोई काम नहीं है ? या तू अपने जीवनमें ऊब चुका है ? जो दूसरोंसे
 अनुल्लङ्घनीय राजाकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके इधर निःशंक होकर चला आ रहा है ॥ ५१ ॥
 उनके इन वचनोंकी सुनकर राजकुमारकी बड़ा क्रोध आया । अतः उसने उत्तर दिया कि यदि
 तुम लोगोंमें शक्ति हो तो अपने और साथ ही अपने राजाके भी प्राण बचा लो । यह कहते-
 कहते उस शूर-वीर राजकुमारने उन्हींके बीचमें-से किसी एकके हाथसे धनुष छीन लिया ॥ ५२ ॥
 फिर क्या था, उसे चतुरंगिणी सेनाने चारों ओरसे घेर लिया । पर राजकुमार भी बड़ा सूरमा
 था । उसके लिए सेना समुद्र थी तो वह उसके लिए मन्दराचल था । समुद्रमें बड़े-बड़े भयंकर

१. अ वीरस^१ । २. अ म परैरि । ३. अ इ म वीरः । ४. = करिभिर्गजैः कीर्णो व्याप्तः पन्था
 मार्गो यस्याः ताम् । ५. = यस्मात् कारणात् । ६. आ परैरि । ७. = वर्तते । ८. आ पर्वतवत् ।
 ९. आ पवनेन वायुना स्पर्द्धितस्तुरंगाः ।

विषयवृत्तिश्चामिवेषुमात्रां क्षिपतः संततधारमेकवक्त्राम् ।
 विषयवृत्तिमुखांमटानिवाहीन्स गच्छमेव महेन्द्रमाप कोपात् ॥ ५४ ॥
 प्रलयाहिमदीधितेरिवोल्कां सृजतो मार्गणसंहति कुमारः ।
 स विलासनिपातितैकबाणो विषयां तस्य अकार राज्यलक्ष्मीम् ॥ ५५ ॥
 तमकारणबान्धवं ततोऽसौ समुपादाय विपलकलदावम् ।
 प्रविशेश समुत्सवैर्महद्भिर्जयवर्मा^१ नगरं^२ कृताष्टशोभम् ॥ ५६ ॥

वत्सायंङ्गान्यवयवा यस्य तच्छतुरङ्गं तच्छ तत्सैन्यं च तथोक्त, तदैव सिन्धुस्समुद्रस्तस्मिन्^३ विचरन् भ्रमन्
 सन् । स. कुमार । पीरलोकेः पुरसंबन्धिनैः । मन्दरवत् मन्दर इव । दृष्टो^४ ईशाचके^५ : दृष्ट प्रेक्षणे
 कर्मणि लिट् । कृपकम् ॥ ५३ ॥ विधेति^६ । विषयवृत्तिश्चामिव विषयमेव (?) बह्नेरग्नेः सिद्धामिव । एकवक्त्राम्
 एकं वक्त्रं यस्यास्ताम् । इषुमात्रां इषुणां मात्रायावलिम् । संततं निरन्तरं धारा यस्मिन् कर्मणि तत् । क्षिपतः
 प्रेरित (?) । अहोनिब सर्पानिव । गरुडमेव गरुड इव । भटान् योधून् । विमुखां विनष्टमुखां । विदधत् कुर्वन् ।
 सः कुमारः । कोपात् क्रुधः । महेन्द्रं देवेन्द्रं, महेन्द्रभूपं च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा ॥ ५४ ॥
 प्रलयेति । प्रलयाहिमदीधितेः प्रलयस्य प्रलयकालस्याहिमदीधितेः सूर्यस्य । उल्काम् [इव] ज्वालामिव ।
 मार्गणसंहति मार्गणानां बाणानां संहति समूहम् । सृजतः सृजतः । तस्य महेन्द्रस्य । विलासनिपातितैकबाणः
 विलासेन लीलया निपातित एको बाणो यस्य^७ सः । [सः] कुमारः अजितसेनः । राज्यलक्ष्मीं राज्यसंप-
 त्तिम् । विषयां पतिरहिताम् । अकार विदये । दुकृञ् करणे लिट् । सपमा ॥ ५५ ॥ तमिति । ततः अनन्तरम् ।
 असौ अयम् । अयवर्मा अयवमभूयः । विपलकलदावं विपल एव शत्रुरेव वल शृङ्खलन तस्य दावं दावान्तिम् ।
 अकारणबान्धवम् अकारणं निनिमित्तं बान्धवम् । त. कुमारम् । समुपादाय समुपानीय कृताष्टशोभं कृता रचिता
 अष्टशोभा यस्य तत् । मार्जन-सैन्य-सङ्घस्तत्तोरण-रञ्जकस्त्री-वृणोपहार-बाण-गीत-नृत्यम् (नृत्यानि)
 इत्यष्टशोभाः । नगरं विपुलनगरम् । महद्भिः पुरुभिः । समुत्सवैः सभ्रमैः । प्रविशेश प्रविशति स्म । विषा
 घडियाल और बड़ी-बड़ी लहरें होती हैं । इसी तरह उस सेनारूपी समुद्रमें पहाड़ों सरीखे ऊँचे-
 ऊँचे हाथीरूपी भयंकर घडियाल और बायुसे स्पृष्टां करनेवाले घोड़ेरूपी उताल तरंग थे ।
 समुद्रका मन्थन मन्दराचलसे हुआ था इसी तरह राजकुमाररूपी मन्दराचलसे सेनारूपी समुद्र-
 का मन्थन शुरू हो गया, जिसे सभी पुरवासियोंने देखा ॥ ५३ ॥ विषाग्निकी ज्वालाले समान
 लगातार एकके पोछे एक करके बाणोंकी वर्षा करनेवाले सैनिक, जहरोले नागोंके समान थे ।
 उनके दमन करनेके लिए राजकुमार गरुडके समान था । उसने उन सबको विमुख कर दिया
 और फिर वह बड़े रोषसे राजा महेन्द्रके पास जा पहुँचा ॥ ५४ ॥ जिस प्रकार प्रलयकालका
 सूर्य अग्नि-ज्वालालोंकी वर्षा करता है, उसी प्रकार राजा महेन्द्र दनादन बाण बरसा रहा था ।
 किन्तु राजकुमारने यों ही एक बाण चलाकर उसकी राज्यलक्ष्मीको विषवा कर दिया ॥ ५५ ॥
 इसके पश्चात् राजा अयवमनि राजकुमार अजितसेनको—जो उसका अकारणबन्धु था और
 जिसने उसके शत्रुरूपी वनकी जला डाला था—साथ लेकर अपने नगरमें प्रवेश किया । उस

१. क ल ग घ ङ म वक्त्रम् । २. अ सविपातिं । ३. अ घयवर्मा । ४. एष टीकाकृदभिमतः
 पाठः प्रतिपु तु 'कृताष्टशोभम्' इत्येव वर्तते । ५. स स चतुरङ्गमेव सिन्धुः समुद्रः, तस्मिन् । ६. = दृष्टो
 नपुल्लिङ्ग वा । ७. अ प्रतावेव 'ईशाचके' तो 'कृपकम्' यावत् पाठो वर्तते । ८. = विषयवृत्तिश्चामिव
 विषयानलज्वालामिव । एकवक्त्राम् एकं वक्त्रं यस्याः, ताम् । इषुमात्रां इषुणां मात्रायावली पंक्तिः, ताम् ।
 संततधारा संतता धारा यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । क्षिपतः प्रेरयतः । अहोनिब सर्पानिव । भटान् योधून् ।
 गरुडमेव गरुड इव । सः कुमारः । विमुखां विनष्टमुखां, पक्षे पराङ्मुखां । विदधत् कुर्वन् । कोपात्
 क्रुधः । महेन्द्रं देवेन्द्रं, महेन्द्रभूपं च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा ॥ ५४ ॥ ९. स स एतच्छ्लोकटीका तु
 भूचक्रनटपुस्तके नास्ति किन्तु लेखकप्रणीता इति सूचना समवलोक्यते । १०. = येन ।

‘पुरनाथपुरःसरः कुमारः प्रविशन्नाजनिक्तेमुत्पताकम् ।
विदधे विविधान्वधूजनानां हृदयोन्मादविधायिनः स्वभावान् ॥ ५७ ॥
वपुषा जयता नरेन्द्रलक्ष्मीमितरासंभविना च पौरुषेण ।
परिसूचनया विनापि राज्ञा बुबुधे जातिकुलोन्नतिस्तदीया ॥ ५८ ॥
निवसन्कृतसत्कृतिः स तस्मिन्विनमदयाविनिपाशितप्रतापैः ।
विपुलाधिपतेऽकार बध्यां सुरराजोपमविक्रमो धरित्रीम् ॥ ५९ ॥
सह बल्लभया पतिं प्रजानां शयनीयस्थितमेकदा समेत्य ।
विहितप्रणतिः परेक्षितज्ञा निजगादेति सखी शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

प्रवेशे लिट् ॥ ५६ ॥ पुरेति । पुरनाथपुरःसरः पुरनाथस्य जयवर्मणः पुरःसरः । कुमारः अजितसेनः । उत्पता-
कम् उद्धृताः पताका यस्य तत् । राजनिक्षेतनं राजमन्दिरम् । प्रविशन्, वधूजनानां बन्ध एव जनास्तेषाम् ।
रूपकम् (?) हृदयोन्मादविधायिनः हृदयस्य चित्तस्योन्मादं विकारं विदधतीत्येवंशीलाः, हृदयोगमादकारिण-
स्तान् । विविधान् नानाप्रकारान् । स्वभावान् चेष्टाः । विदधे चकार । बुधश्च धारणे च लिट् ॥ ५७ ॥
वपुषेति नरेन्द्रलक्ष्मीं नरेन्द्रस्य महेश्वरस्य लक्ष्मीं शोभाम् । जयता जयमानेन । वपुषा गात्रेण । इतरासंभविना
इतरेवामसंभविना । पौरुषेण प्रतापेन । परिसूचनया बल्लभेन विनापि । तदीया तस्यैव तदीया-अजितसेन-
संभन्धिनी । जातिकुलोन्नतिः जातिकुलयोः मातापित्रोः कृत्रितिराश्रयम् । राजा भूपेन । बुबुधे बुध्यते स्म ।
बुधिमतिं ज्ञाने कर्मणि ङिट् । अनुमितिः ॥ ५८ ॥ निवसन्निति । तस्मिन् विपुलपुरे । निवसन् तिष्ठन् ।
कृतसत्कृतिः कृता विहिता सत्कृतिः सत्कारो यस्य सः । सः कुमारः । निजप्रतापैः निजस्य स्वस्य प्रतापैस्ते-
जोभिः । [अवनिवान् भूपान् । विनमदयै बन्दयित्वा । सुरराजोपमविक्रमः सुरराजस्य देवराजस्य उपमा
समानो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । धरित्रीं भूमिम् । विपुलाधिपतेः जयवर्मणः । बध्यां बर्षागताम् ।
‘बधयिष्य—’ इत्यादिना साधु । चकार करोति स्म । बुबुध् करणे ङिट् ॥ ५९ ॥ सहेति । बल्लभया वनिताया ।
सह साकम् । शयनीयस्थितं शयनीये तस्य स्थितम् । प्रजानां लोकानाम् । पतिं प्रभुम् । एकदा एकस्मिन्
दिने । समेत्य प्राप्य । परेक्षितज्ञा परेक्षामन्येवामिक्षितज्ञां अभिप्रायज्ञा । विहितप्रणतिः कृतप्रणामा ।
शशिप्रभाया शशिव्रमाकुमार्याः । सखी वयस्या । इति वदयमाणप्रकरणेन । निजगाद ऊचे । गद व्यक्तार्थां

समय नगरमे खूब सजावट की गयी थी और उत्सवोंकी धूम मची हुई थी ॥ ५६ ॥ राजमहल
पताकाओंसे सजा दिया गया था । उसमें राजकुमार अजितसेनने—जिसके आगे-आगे राजा
जयवर्मा चल रहा था—प्रवेश किया । राजकुमारको देखकर वहाँकी वधुओंकी नाना प्रकारकी
चेष्टाएँ प्रकट हुईं, जिनसे उनके हृदयके उन्माद भरे भाव अभिव्यक्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥ राज-
कुमारके इन्द्रसे भी कही अधिक सुन्दर शरीर और पुरुषार्थकी, जो दूसरोंमें कभी सम्भव नहीं
हो सकता-देखकर राजाने, बिना किसी सूचनाके उसकी जाति और कुलकी उन्नति जान
ली ॥ ५८ ॥ राजकुमार, जयवर्माके यहाँ कुछ दिन सत्कारके साथ रहा । वह इन्द्रके समान
पराक्रमी था । अतः उसने अपने प्रतापसे सभी राजाओंको नम्र बना दिया और सारे भूमण्डल-
को विपुल नरेश-जयवर्माके अधीन कर दिया ॥ ५९ ॥ एक दिनकी बात है । राजा, रानीके
साथ एक पलंगपर बैठा हुआ था । उसी समय राजकुमारो शशिप्रभाकी एक सहेली, जो
दूसरोंके भावको भाँपनेमें बड़ी कुशल थी, उस (राजा) के पास जाकर नमस्कारपूर्वक यों

१. अ सुरराजपुरः । २. अ म स भावान् । ३. अ क ल ग ब म 'मरेन्द्र' । ४. आ मातु-
विभोः । ५. =विनान् विधाय । ६. सुरराजोपमो देवराजसदृशो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, विष्यपराक्रम
इति यावत् । ७. = इक्षितं पराभिप्रायं जानातीतीक्षितज्ञा ।

नरनाथ युवा यदा स दृष्टो भवतो देहजया महेन्द्रमदीं ।

चिदधाति ततः प्रभृत्यनास्थां स्वशरीरेऽपि विमुक्तगन्धमाल्या ॥ ६१ ॥

परिश्रम्यमना चिचिन्तयन्ती किमपि क्षामविपाण्डुगण्डलेखा ।

परिवारसमाहृतेऽन्नपाने ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम् ॥ ६२ ॥

हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गया हति तस्या विनिपत्य तत्क्षणम् ।

क्वथता नयनाम्बुनान्तरङ्गः परितापः परिगम्यते गरीयान् ॥ ६३ ॥

श्वसितैरहिमेनितान्तदीर्घैरिव धूमप्रसरैर्वियोगवह्नेः ।

सरसोरुहशङ्कया मुखेऽस्या निपतद्दूरमुदस्यतेऽलिवृन्दम् ॥ ६४ ॥

वाचि लिट् ॥ ६० ॥ नरनाथेति । नरनाथ भूपाल । महेन्द्रमदीं महेन्द्र मर्दतीत्येवशोलः, तद्योवतः, महेन्द्रस्य हन्ता । युवा तद्वयः । सः कुमारः । भवतः तव । देहजया तन्मया । यदा यत्समये । दृष्टः आलोकितः । ततः प्रभृति तत्वादि । विमुक्तगन्धमाल्या विमुक्ते गन्धमात्ये यया सा । स्वशरीरे स्वशरीरेऽपि देहेऽपि । अनास्थाम् औदासीन्यम् । विदधाति करोति दृष्टात् धारणे च लट् ॥ ६१ ॥ परिश्रम्येति । परिश्रम्यमनाः परिश्रम्य मनो यस्य सः (यस्याः सा) । किमपि यत्किञ्चिदपि । [वि-] चिन्तयन्ती विचारयन्ती । क्षामविपाण्डुगण्डलेखा क्षामा कुशा पाण्डुः शुभ्रा, क्षामा चासौ पाण्डुश्च तद्योवता क्षामगण्डगण्डयोल्लेखा प्रदेशो यस्याः सा । परिवारसमाहृते परिवारं परिवर्जनेः समाहृते^२ नीते । अन्नपाने भक्षतपाने^३ । ज्वरहीनापि ज्वरेण जूर्यो^४ हीनापि । अरोचकत्वम् अरुचित्वम् । दधाति धरति । हेतुः (विभाजना) ॥ ६२ ॥ हिमेति । हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गयाः हिमेन दग्धस्य भस्मोक्तस्य सरोरुहस्योपमा समानम् (साम्यं यस्य तत्) अङ्गं यस्यास्तस्याः । तस्याः शशिप्रभाया^५ । हृदि चित्ते । तत्क्षणम् तत्समयेन । विनिपत्य पतित्वा । क्वथता उष्णतायता (उष्ण-तायता) । नयनाम्बुना नेत्रांशुना । अ [आ-] न्तरङ्गः अन्तरङ्गे प्रवर्तमानः । गरीयान् प्रकृष्टो गुरुः (प्रकृष्टेण गुरु) गरीयान् । 'गुणाङ्गाद्विषेयसू' इति यमू (ईयसु) । 'प्रियस्मिन्' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः । परितापः संतापः । परिगम्यते जायते । गम्यते गतो कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥ ६३ ॥ श्वसितैरिति । अहिमि^६ वण् । नितान्तदीर्घं नितान्तमपत्यं दीर्घैरापते । वियोगवह्ने वियोग एव विरह एव बह्निरग्नस्तस्य । धूमप्रसरैरिव धूमस्य प्रसरैरिव प्रसरणेनैव । श्वसितैः श्वासैः । सरसोरुहशङ्कया सरसोरुहमिति कमलमिति शङ्कया सन्नेहेन । अस्याः शशिप्रभाया । मुखे वदने । निपतत् स्खलत् । अलिवृन्दम्

कहने लगी— ॥ ६० ॥ राजन् ! आपको कन्या शशिप्रभावे जवने राजा महेन्द्रको मारनेवाले युवक अजितसेनको देखा है तभीसे उसने चन्दनके लेप और मालाका परित्याग कर दिया है तथा अपने शरीरकी भी उपेक्षा कर दी है ॥ ६१ ॥ उसका मन मृतसान (एकान्त) स्थान-को पसन्द करने लगा है । वहीं (एकान्त में) बैठकर वह कुछ सोचती रहती है । उसके कपोल सूख गये हैं और उनका रंग पीला पड़ गया है । परिवारके लोग उसके पास अन्न-जल ले जाते हैं, किन्तु ज्वरके बिना भी उसे खाने-पीनेसे अरुचि हो गयी है ॥ ६२ ॥ उसका सुकुमार शरीर पालेंसे झुलसे हुए कमलके समान हो गया है । उसके अश्रु-विन्दु आँखोंसे सीनेपर गिरकर शीघ्र ही खोलने लगते हैं, जिनसे उसके तोष अन्तस्तापका पता लगता है । ॥ ६३ ॥ कमलके भ्रमसे उसके मुख पर जो भीरे गिरना चाहते हैं, वे वियोगाग्निके फैलते हुए धूर्त सगीले प्रतीत

१. अ^१समादते । २. = समानीते । ३. आ भुक्षितपाने । ४. आ जूत्या ।

मुषिता^१ वदनश्रिया मम भीरनयेतीव सद्योपजातमूर्च्छाम् ।
 विदधाति मुहुर्मुहुर्मृगाक्षीं विपनिःस्यन्दिभिरंगुभिः शशाङ्कः ॥ ६५ ॥
 परितापविनाशनाय शय्या क्रियते या नवपल्लवैः सखीभिः ।
 दववह्निशिखावलीव सापि ज्वलयत्यम्बुजकोमलं तदङ्गम् ॥ ६६ ॥
 विदधातु भुजंगसङ्क्रमाजो रससेकः खलु चन्दनस्य तापम् ।
 प्रविभाति महत्तदत्र चित्रं यदम् प्लुष्यति दक्षिणोऽपि घातः ॥ ६७ ॥
 नितरां परिकोपितो मनोभू^२ रतिरूपं ध्रुवमेतया हरन्त्या^३ ।
 विदधाति विनाशहेतुमस्याः किमसाधारणमन्यथा प्रयत्नम् ॥ ६८ ॥

अलीनां भ्रमराणां वृन्दं समूहः । दूरम् उदस्यते निराक्रियते । असू क्षेपणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥ मुषितेति । मम मे । श्री शोभा । अनया, अन्वादेशः एनदादेशः (?) । वदनश्रिया वदनस्य मुखस्य श्रिया शोभया । मुषिता अपहृता । इति एवम् । मत्वा, कृपा कोपेन, इव । शशाङ्कः चन्द्रः । विप [निः-] स्यन्दिभिः विप [निः] स्यन्दत इत्येवंशोलेः । अंगुभिः किरणैः । मृगाक्षीं मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्यास्ताम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः । उपजातमूर्च्छाम् उपजाता उत्पन्ना मूर्च्छा यस्यास्ताम् । विदधाति करोति ॥ ६५ ॥ परितापेति^४ । परिताप-विनाशनाय परितापस्य सतापस्य विनाशनाय विनाशायम् । सखिभिः [सखीभिः] वयस्याभिः । नवपल्लवैः नवैर्नूतनैः पल्लवैः किसलयैः । या शय्या तल्पम् । क्रियते विधोयते । सापि पल्लवशाय्यापि । दववह्नि-शिखावलीव दवश्चाष्टौ बह्निवच (दवस्य बह्निः) तद्योक्तस्तस्य शिखानां ज्वालानामावलीव समूह (जालम्) इव । अम्बुजकोमलम् अम्बुजमिव कमलमिव कोमल मुदुलम् । तदङ्ग तस्याः शशिप्रभाया अङ्ग यात्रम् । ज्वलयति^५ दहयति । ज्वल दीप्तौ णिजन्ताल्लट् । हेतुः (?) ॥ ६६ ॥ विदधाति । भुजङ्गसङ्क्र-माजः भुजङ्गानां सङ्ग सपकं भजतीति तद्योक्तस्य । चन्दनस्य मलयजस्य । रससेकं (कः) रसस्य द्रवस्य सेकं (क) सेचनम् । खलु, तापं सन्तापम् । विदधातु करोतु । दुष्पाञ्चारेण च लोट्^६ । दक्षिणोऽपि दक्षिणदिश आगतोऽपि । घातः बाधुः । अमम् एताम् । प्लुष्यति दहति । प्लप् दाहे लट् । यत् प्रकृतम् । तत्, अत्र लोके । महत्चित्रम् आश्चर्यम् । भवति । हेतुः ॥ ६७ ॥ नितरांमिति । रतिरूप रतिदेश्या रूपम् । हरन्त्या अपहरन्त्या । एतया अनया शशिप्रभाया । मनोभूः मन्मथः । नितराम् अत्यन्तम् । परिकोपितः परिक्रुद्धः । ध्रुवं^७ निश्चय । अन्यथा न परिकोपितश्चेत् । अस्याः शशिप्रभायाः । असाधारणं^८ प्रतिकार-रहितम् । विनाशहेतुं निघनकारणम् । प्रयत्नं^९ प्रारम्भम् । किं किं कारणम् । विदधाति करोति । दुष्पाञ्च

होने वाले उसके उष्ण और दीर्घ स्वास वायुसे हटा दिये जाते हैं ॥ ६४ ॥ 'इसने अपने मुखकी शोभासे मेरी शोभा चुरा ली है', मानो यह सोवकर रात्रिके समय चन्द्रमा क्रुद्ध होकर अपनी किरणोंसे ब्रिष बहाकर शशिप्रभाको बार-बार मूच्छित कर देता है ॥ ६५ ॥ उसके तीव्र सन्तापको दूर करनेके लिए सहेलिया नवीन कोपलोसे जो सेज सजाती है, वह भी उसकी कमल कोमल कायाको दवाग्निकी ज्वालाकी भांति जलाने लगती है ॥ ६६ ॥ चन्दन-द्रवका सिंचन या लेप भले ही उसे सन्ताप दे; क्योंकि उससे जहरीले काले नाग लिपटे रहते हैं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल) वायु भी उसे जलाता है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है ॥ ६७ ॥ लगता है शशिप्रभाने रतिके रूपको हरकर कामदेव (रतिपति) को बहुत अधिक क्रुद्ध कर दिया है । यदि यह बात न होती

१. अ मुजिता । २. अ मनोजो^१ । ३. अ वहन्त्या । ४. आ वा स इदं (६६ तमं) पद्यं पश्चाद् व्याख्यातम्, इतः पूर्व तु विदधातु इत्यादि (६७ तमं) पद्यं व्याख्यातम् । ५. = दहति संधुषयति वा । ६. आ लट्, वा स लट् । ७. = कृत इति शेषः । ८. = निश्चयेन । ९. = प्रयत्नम् ।

सपदि प्रविधीयतां तदत्र प्रविधेयं गुणवद्विभूतय बुद्ध्या ।
हरिणायतचक्षुरीश यावद्दशमी याति दशां न पुष्पकेतोः ॥ ६६ ॥
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयःप्रमदोद्यत्पुलको बभूव भूपः ।
दुहितुर्विगणय्य चित्तवृत्तिं सदृशीमात्मन एव चित्तवृत्ते ॥ ७० ॥
अपरेद्युर्पृच्छद्दशदतात्मा^१ सहसाह्वय निमित्तिनं नरेन्द्रः ।
विषधे च शुभे शरीरजाया दिवसे तत्प्रतिपादिते प्रदानम् ॥ ७१ ॥
स ततः प्रभृति प्रतीततेजा^२ निजपाणिग्रहवासरं कुमारः ।
गणयन्स्मरबाणभिन्नमर्मा^३ दयितासङ्गसमुत्सुकोऽघतस्थे ॥ ७२ ॥

धारणे च लट् ॥ ६८ ॥ सवदोति । ईश भो स्वामिन् । हरिणायतचक्षुः हरिणस्य मृगस्येवायते विशाले चक्षुषो यस्याः सा । यावत् यत्प्रमाणम् । पुष्पकेतोः^४ मन्मथात् । दशमी दशाना पूर्णो दशमी, ताम् । दशाम् अवस्थां मरणावस्थामित्यर्थः । न याति न गच्छति । (तावत्) गुणवत् गुणयुक्तम् । प्रविधेयमिति कार्य-मिति । बुद्ध्या बोधनेन । विमृश्य विचार्य । अत्र अस्याम् । तत् कार्यम् । सगदि शीघ्रम् । प्रविधीयतां प्रतिकारः क्रियताम् । उच्यते ॥ ६९ ॥ श्रुतेति । इति उक्तप्रकारेण । तद्गिरं तस्याः शशिप्रभासस्या गिरं वाचम् । श्रुतवान् आकणितवान् । भूपः जयवर्मा । आत्मन एव स्वस्यैव । चित्तवृत्तेः चित्तस्य वृत्तेर्बर्तनस्य । सदृशीं समानाम् । दुहितुः पुत्र्याः । चित्तवृत्तिं मानसवृत्तिम् । विगणय्य निदिश्य । गरीयःप्रमदोद्यत्पुलकः गरीयसा महता प्रमदेन संतोषेण उद्यत्पुलकमानः पुलको रोमाञ्चो यस्य स । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । ७० ॥ अपरेद्युर्दिति । आदृतात्मा आदृत आदरयुक्त आत्मा बुद्धि यस्य सः । नरेन्द्रः जयवर्मा । अपरेद्युर् अग्न्यस्मिन् दिवसे । निमित्तिनं निमित्तकम् । सहसा शीघ्रम् । आह्वय आह्वानं कृत्वा । अपृच्छत् अन्वृणोत् । तत्प्रतिपादिते तेन निमित्तज्ञेन प्रतिपादिते कथिते । शुभे शोभने । दिवसे दिने । शरीरजायाः कृशप्रभाकृमायाः । प्रदानं वाग्दत्तम् । विषधे च चकार च । दुबाम् धारणे च लिट् ॥ ७१ ॥ स इति । ततः प्रभृति तद्विषयमारभ्य । प्रतीततेजाः प्रतीतं प्रथितं तेजः । प्रतापो यस्य सः । स्मरबाणभिन्नमर्मा स्मरस्य मदनस्य बाणैर्मर्गैर्भिन्नं स्फुटितं मर्म मर्मस्थानं यस्य सः । दयितासङ्गसमुत्सुकः दयितायाः कान्तायाः सङ्गे संयोगे समुत्सुकः समुद्युक्तः । सः कुमारः । अजितसेनकुमारः निजपाणिग्रहवासरं निजस्य स्वस्य पाणिग्रहस्य विवाहस्य वासरं विषयम् । गणयन् संकषानं कुर्वन् । अघतस्थे तिष्ठति स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'संविधावात्' इति तट्

तो वह इसके बिनाशके लिए असाधारण प्रयत्न क्यों करता ? ॥ ६८ ॥ राजन् ! इसलिए अपने बुद्धिसे इस विषयमें जो भी लाभकर हो शीघ्र कोजिए, जिससे हरिणाक्षी शशिप्रभा कामदेवकी दशवीं (मृत्यु) दशासे बच जाये ॥ ६९ ॥ शशिप्रभाकी सहेलोकिये वचन सुनकर एवं अपने विचारोंके समान अपनी पुत्रिके विचारोंको भी जानकर जयवर्मा मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसी प्रसन्नताके कारण उसके शरीरमें रोमांच हो आया ॥ ७० ॥ इससे अगले दिन राजाने आदर पूर्वक एक ज्योतिषीको शीघ्र ही बुलवाया । राजाके पूछने पर उसने जो शुभ दिन बतलाया, उसी दिन उसने अपनी कन्याका प्रदान—वाग्दान (सगाई) कर दिया ॥ ७१ ॥ विवाहकी बात तय होनेके बाद कामदेवने तेजस्वी राजकुमार अजितसेनके मर्मस्थलको अपने बाणोंसे बीच डाला । फलतः वह पत्नोके समागमके लिए उत्सुक होकर विवाहके दिन गिनने लगा

१. अ 'दाहितात्मा । २. आ इ प्रथिततेजा' । ३. = यावत् पर्यन्तम् । ४. = मन्मथस्य । ५. आ संतोषयुक्तः । ६. = पृच्छति स्म ।

गिरिरस्यथ खेचराधिवासः शिखरोत्तमिमततारकासमूहः ।
 विजयार्थ इति प्रसिद्धनामा निजविस्तारनिरुद्धविश्वभागः ॥७३॥
 कलघौतमयोऽखिलासु विष्णु प्रकिरन्त्यः शशिशुभ्रमंशुजालम् ।
 प्रविभाति विशालमेदिनीकः शुचिनिर्मोक इवाम्बरोरगस्य ॥७४॥
 पृथु दक्षिणतोऽस्ति तत्र रम्यं पुरमादित्यपुराभिषां दधानम् ।
 रजताच्छतयेव देवलोकात्प्रतिबिम्बं पतितं मनोभिरामम् ॥७५॥
 धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता बलवांस्तस्य पुरस्य खेचरेन्द्रः ।
 अमरेन्द्र इवोद्धतान्ध्रधाद्यः सकलान्खेचरभूतौ विपक्षान् ॥७६॥

॥७२॥ गिरिरिति । अथ अनन्तरम् । खेचराधिवासः खेचराणां विद्याधराणामधिवासः आधारभूतः । शिखरोत्तमिमततारकासमूहः शिखरैः शृङ्गैरुत्तमिमत सदृशः तारकाणां नक्षत्राणां समूहो यस्य (येन) सः । निजविस्तारनिरुद्धविश्वभागः, निजस्य स्वस्य विस्तारेणायामेन निरुद्धो व्याप्तो दिशां विभागो यस्य (येन) सः विजयार्थ इति रजताक्षर इति । प्रसिद्धनाम्ना^१ प्रसिद्धेन प्रतीतेन नाम्ना अभिमानेन । गिरिः पर्वतः । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । स्वभावः ॥७३॥ कलघौतेति^२ । कलघौतमयः रजतमयः । शशिशुभ्रं शशोव चन्द्र इव शुभ्रं गोरम् । अंशुजालम् अंशूनां किरणानां जालं समूहम् । अखिलासु सर्वासु । विष्णु विशासु । प्रकिरन् विकिरन् । विशालमेदिनीकः विशाला^३ विस्तारा मेदिनी भूमि र्यस्य सः । यः पर्वतः । अम्बरोरगस्य अम्बरमाकाशमेवोरगः संप्रतस्य । शुचिनिर्मोक इव शुचिः शुभ्रो निर्मोकः कञ्जुकः (स) इव । प्रविभाति प्रभासते । भा दीप्तो लट् । उदप्रेक्षा ॥७४॥ पृथ्विति^४ । तत्र पर्वते । दक्षिणतः दक्षिणस्या श्रेण्याम् । रजताच्छतया रजतस्य छत्रस्याच्छतया वैर्मल्येन । मनोभिरामं मनोहरम् । देवलोकात् स्वर्गात् । पतितं श्रुतम् । प्रतिबिम्बं प्रतिकृतीय^५ । रम्यं सुन्दरम् । आदित्यपुराभिषाम् 'आदित्यपुरम्' इत्यभिषा ताम् । दधानं धरमाणम् । पृथु महत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उदप्रेक्षा ॥७५॥ धरणीति । यः विपक्षान् शत्रून् । विगतपट्टान् । सकलान् निखिलान् । खेचरभूतः खेचरभूमिपालान्, पक्षे खेचरान् आकाशचरान् भूभूतः पर्वतान् । अमरेन्द्र इव देवेन्द्र इव । उद्वतान् विनष्टान् । रम्यधान् अकरोत् । बलवान् पराक्रमी ।

॥७२॥ इसके पदवात्—एक विजयार्थ नामका प्रसिद्ध पर्वत है । उसने अपने विस्तारसे सारी दिशाओं और विदिशाओंके विभागको समाप्त कर दिया है—जिधर देखो उधर वह फैला हुआ है, अतः पूर्व किस ओर है और किस ओर है पश्चिम आदि, इसका पता ही नहीं पड़ता । उसने अपने शिखरोंसे तारागण्डलको ऊपर उठा दिया है, और उस पर विद्याधर लोग निवास करते हैं ॥७३॥ उस पर्वतने अपनी लम्बाईसे भी विशाल भूभागको आत्मसात् कर रखा है । रजतमय होनेसे वह सभी ओर चन्द्रमाके समान अपनी धवल किरणोंको फैलाए हुए है । अतः वह आकाश रूपी सपंकी गिरी हुई सफेद कंचुलीके समान जान पड़ता है ॥७४॥ दक्षिणकी ओर उस पर्वतके ऊपर (उस पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें) एक आदित्य नामका विशाल नगर है । वह अत्यन्त अभिराम—सुन्दर है । उसे जो भी एक बार देख लेता है, उसका मन वहीं रम जाता है (अभिरामम्-अभिरमते मनो यत्र तदभिरामम्) । अतएव ऐसा जान पड़ता है मानो उसके रजतमय स्वच्छ प्रदेशमें स्वर्गका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥७५॥ धरणीध्वज नामका एक बलवान् राजा उस नगरका शासक था । वह समस्त विद्याधरोंका स्वामी था । उसने सारे विपक्षी

१. अ मनोभिरामम् । २. अविबाधो निबाधो यत्र सः । ३. 'प्रसिद्धनाम्ना' इति पाठटीकाकृदधिमतः । प्रतिपु प्रसिद्धनामा' इत्येष पाठो दुष्यते । प्रसिद्धं प्रख्यातं नाम यस्य सः—इति तद्व्याख्या कार्या । ४. आ कलघौत इति । ५. स विस्तृता । ६. स स पृथीति । ७. = प्रतिकृतिरिव । ८. आ विगतपट्टान्, अ स विगतपट्टान् ।

अथ सर्वप्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्तम् ।
 यतिबिह्वधरं समाप्तरस्यः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥७७॥
 प्रतिपत्तिमिरर्घ्यपूजिकाभि स्वयमुत्थाय तमप्रह्वीत्खगेन्द्रः ।
 मतयो न खल्वचित्तृतायां मृगयन्ते महतां परोपदेशम् ॥७८॥
 प्रविस्मृतं सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः ।
 गुरुविष्टरमास्थितेन तेन स्मितपूर्वं स कृताशिपा बभाषे ॥७९॥
 खचराधिप योगिनोऽपि कामं किमपि स्निह्यति मानसं न जाने ।
 त्वयि बान्धववत्सले ममाहो बलवान्सर्वजगत्सु मोहराजः ॥८०॥

धरणीध्वज इति धरणीध्वज इति नाम (नामकः) । खचरेन्द्रः खचराणां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । तस्य पुरस्य आदित्यपुरस्य । प्रशास्ता पालकः । 'कृतकामुकस्य—'इत्यादिना कर्मणि पठो । जभूत् जमवत् ॥७६॥ अथेति । अथ अनन्तरम् । समाप्तरस्य समायाः संसदोऽन्तरस्यो मध्यस्थ । स. धरणीध्वजः । परमाणुव्रत-पालनप्रपक्षत् परमाणुव्रतस्य धावकव्रतस्य पालने रक्षणे प्रसक्तमासक्तम् । यतिबिह्वधरं मुनिबिह्वधरं—जपमालादिधरमित्यर्थः (?) । प्रियधर्मनामधेयं प्रियधर्म इति नामधेयं यस्य तम् । सहसा शीघ्रम् । आगतम् । आयातम् । क्षुल्लकं ब्रह्मचारिणम् (?) ददर्श पश्यति स्म । दृश प्रेक्षणे लिट् ॥७७॥ प्रतिपत्तिमिरिति । खगेन्द्र खगानां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । स्वयम् उत्थाय सिंहासनादुत्थाय । अर्घ्यपूजिकाभिः अर्घ्यः पूजायोग्यं द्रव्यं पूर्वं पुरस्सरं यासां तामिः । प्रतिपत्तिभिः सत्कारैः । तं प्रियधर्माणम् । अग्रहीत् अप्रजयत् । महता महापुरुषाणाम् । मतयः, उचित्तृतायां प्रकृतज्ञतायाम् । परोपदेश परेषामुपदेशम् । न मृगयन्ते नान्वेषयन्ति । मृगि जन्वेषणे लट् । खन्व् उपसक्तम् । जयन्तिरन्यासः ॥७८॥ प्रवीति । प्रविस्मृतमवपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः पादयोः सेवा पादसेवा तस्य आगतास्तथोक्ताः, सर्वे च ते पादसेवागताश्च (तथोक्ता) सर्वपादसेवागतानां विद्याधराणां खचराणां बन्धूनां संगोत्राणां मन्त्रिणां सचिवानां वर्यः समूहः, प्रविस्मृतः प्रह्वितः सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गो येन स । सः धरणीध्वजः । स्मितपूर्वं स्मितं मनाक् स्मितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तत् । कृताशिपा बिह्विताशीर्वादेन । गुरुविष्टरं महदासनम् । आस्थितेन । तेन प्रियधर्मब्रह्मचारिणा । बभाषे उच्यते स्म । भाषि उपसक्ताया वाचि कर्मणि लिट् । ७९॥ खचरेति । खचराधिप मो खचराणां विद्याधराणामधिप प्रभो । बान्धववत्सले बान्धववत् वत्सले वात्सल्ययुक्ते । त्वयि भवति । योगिनोऽपि

विद्याधरोंकी सत्ता समाप्त कर दी थी । जैसे इन्द्रने आकाशमें उड़नेवाले (जेनेतर पुराणोंकी दृष्टिसे) पहाड़ोंके पक्ष काटकर उन्हे निष्पाण कर दिया था ॥७६॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, वह सभाके बीचमें बैठा हुआ था । इतनेमें उसने अचानक ही वहाँ आये हुए क्षुल्लक-ग्यारहवीं प्रतिमाके धारी उत्कृष्ट श्रावकके दर्शन किये । वे उत्कृष्ट अणुव्रतोके पालक थे । वे दिगम्बर साधुओंकी तरह उद्दिष्ट भोजन त्याग आदि चिह्नोंसे विभूषित थे । उनका नाम था प्रियधर्म ॥७७॥ वह विद्याधरोंका राजा सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया, और अर्घ आदि पूजा सामग्री लेकर उसने स्वयं उनका सत्कार किया । महान् पुरुषोंकी वृद्धि उचित बातोंकी जानकारीके लिए निश्चय ही परोपदेशकी प्रतीक्षा नहीं करती ॥७८॥ फिर अपने धरणीकी सेवामें उपस्थित हुए विद्याधरों, बन्धुओं और मन्त्रियोंके मण्डलकी राजा धरणीध्वजने बिदा करके क्षुल्लकजीकी एक बड़े आसन पर बैठा दिया । आसन पर बैठकर उन्होंने आशीर्वाद देकर मुस्कराते हुए, उससे यों कहा—॥७९॥ हे विद्याधरोके नाथ ! मैं एक यांगी हूँ, फिर भी मेरा

१. अ प्रियधर्म । २. अ स 'रर्घ्यपूजि' । ३. इ प्रतिपत्ति । ४. अ आ इ सर्वगतश्च मोह ।
 ५. आ प्रतापे 'प्रकृतज्ञतायाम्' इति पर्यायः समुपलभ्यते । ६. स स भाष ।

तथ मानघनाखिलप्रकारैः प्रविधातुं प्रियमीदृते मतिर्मे ।

तमिमं शृणु यो मया मुनीन्द्रास्त्वदुदन्तो विदितः सुधर्मनाम्नः^१ ॥८१॥

विपुलाख्यमरिजयामिधाने पुरमस्तीन्द्रपुरोपमं जनान्ते ।

तदपास्तसमस्तवैरिषगो जयधर्मेति^२ भुनक्ति भूमिपालः ॥८२॥

मृगदृष्टिरिव^३ भ्रमप्रहोणा शशभृत्कान्तिरलाञ्छनप्रसङ्गा ।

करदीकृतमण्डलस्य जिष्णोस्तनया तस्य शशिप्रभामिधाना ॥८३॥

तपस्विनोऽपि । मम मे । मानसं चित्तम् । कामं भूषम् । स्निह्यति प्रीतिं करोति । किमपि किं निमित्तमिति । न जाने न वेपि । जा अवबोधने लट् । सर्वजगत्सु सर्वज्ञेषु । मोहराजः मोहकर्मराजः । बलवान् शक्तिमान् । बहो हृत् । अर्धान्तरयासः ॥८०॥ तथेति । मानघनं मान एवामिमान एव धनं यस्य तस्य संबोधनम्—भो अमिमानघन । अखिलप्रकारैः नानाप्रकारैः सर्वप्रकारैर्वा । तव भवतः । प्रियं प्रीतम् । (हितमिति यावत्) प्रविधातुं कर्तुम् । मे मम । मतिः बुद्धिः । ईदृते प्रवर्तते । ईहि चेष्टायां लट् । सुधर्मनाम्नः सुधर्मामिधानात् । मुनीन्द्रात् मुनीनामिन्द्रः श्रेष्ठस्तस्मात् । य त्वदुदन्तः तव भवत उदन्तो वार्ता । मया विदितः जातः । [तम् इमम् उदन्तं वृत्तान्तम् । शृणु आकर्ण्य ।] । रूपकम् (?) ॥८१॥ विपुलेति । अरिजयामिधाने अरिजय इत्यमिधानं यस्य तस्मिन् । जनान्ते देशे । इन्द्रपुरोपमम् इन्द्रपुरस्यामरावसीपुरस्योपमं (उपमा यस्य तत्) समानम् । विपुलाख्यं विपुलमित्याख्या यस्य तत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अश भुवि लट् । अशास्तसमस्तवैरिषगः अपास्तः तिरस्कृतः समस्तानां वैरिणां रिपूनां वर्गः समूहो येन सः । जयधर्मेति, भूमिपालः भूमि पालयतीति यबोक्तः । तत् पुरम् । भुनक्ति पालयति । मृग पालनाभ्यवहारयोर्लट् ॥८२॥ मृगेति । अविभ्रमप्रहोणा अविभ्रमेण ब्रह्मासाभावेन प्रहोणा रहिता विलासेन सहिता—इत्यर्थः । मृगदृष्टिः मृगस्यैव^४ दृष्टिर्यस्याः सा—पणलोचना । अलाञ्छनप्रसङ्गा अलाञ्छनेन लाञ्छनरहितेन प्रसङ्गा संबन्धा । शशभृत्कान्तिः शशभृत्सन्देशकान्तिसृतिर्यस्याः सा । शशिप्रभामिधाना शशिप्रभेत्यभिधानं यस्याः सा । तनया भुमारी । करदीकृतमण्डलस्य करदीकृतं करदानविहितं मण्डलं देशो यस्य तस्य । जिष्णोः जयशीलस्य । भूजेस्त्वृक^५ इति शीलायै स्तु- (स्तुक्-) प्रत्ययः । तस्य जयधर्मणः । अमूत्,

मन न जाने क्यों तुमसे बहुत अधिक स्नेह करता है । यों तुम भी सभीसे मित्रवत् स्नेह करते, हो, किन्तु तुम्हारा स्नेह उचित है, राजा जो ठहरे, पर एक योगी किसीसे स्नेह करे, यह एक अद्भुत-सी बात है । सच तो यह है कि सारे संसारमे मोह बढ़ा बलवान् है । वह सभी कमोंका राजा है ॥८०॥ हे राजन् ! तुम मानके धनी हो । मेरी बुद्धि हर तरहसे तुम्हारा हित करना चाहती है । अतः सुधर्म नामक मुनिसे मेने जो वृत्तान्त तुम्हारे बारेमें सुना था, उसे सुनाता हूँ । तुम सुनो— ॥८१॥ अरिजय नामके देशमें एक विपुल नामका पुर है । वह इन्द्रके पुरके समान है । शत्रुओंके छक्के छुड़ानेवाला राजा जयधर्मा उसका शासक है ॥८२॥ राजमण्डलसे वह टेकबसूल करता है— सभी राजे उसके मातहत थे । वह विजयशील है । उसकी एक शशिप्रभा नामकी कन्या है । उसकी दृष्टि मृगकी है—वह मृगनयनी है, किन्तु उसमें नारीके विलासकी बहुलता है । उसकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, किन्तु उसमें कभी लांछन (कलङ्क)

१. अ सुधर्मनाम्नः । २. अ जयधर्मेति । ३. क ल ग घ म^४दृष्टिरपि भ्रम^५ । ४. आ प्रीतिम् । ५. श स यस्मिन् । ६. एष टीकानुसारी पाठः प्रतिष्ठा तु^७रपि भ्रमप्रहोणा—इत्येव समलोक्ष्यते । ७. मृगस्य दृष्टिरिव । ८. प्रसङ्गः संबन्धो यस्याः सा । ९. = चन्द्रस्येव ।

परिणेष्यति तां य एव घन्यो भवनस्येव धनुर्लतां नताङ्गीम् ।
 स भविष्यति पुण्यराशिरेकस्तत्र हृता भरतस्य च प्रभोका ॥ ८४ ॥
 इति वाचमष्टमुद्गराभां सहसा तस्य निशम्य खेचरेन्द्रः ।
 हृदये विपसाद् साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः ॥ ८५ ॥
 गुणवत्सल मा गमस्त्वमस्मिन्विषये मामकचिन्तयाकुलत्वम् ।
 कमपि प्रतिकारमत्र योम्यं प्रविधास्याम्यहमप्रमत्तचित्तः ॥ ८६ ॥
 इति देशयति नमश्चराणामधिपस्तं विससर्ज नम्रमौलिः ।
 अवधाय च कृत्यमात्मचित्ते तमनैवीहि वसं निगूढभावः ॥ ८७ ॥ (युग्मम्)

इत्यध्याहारः । उरमा ॥ ८३ ॥ परीति^१ । भवनस्य गन्धस्थ । धनुर्लता धनुषो लतामिव^२ नताङ्गी^३ स्तनभारेण किञ्चिदानतशरीराम् । 'असङ्ग' इत्यादिना डो-प्रत्ययः । तां शशिप्रभाम् । घन्यः पुण्यवान् । पुण्यराशिः पुण्यानां सुकृतानां राशिः समूहो यस्य सः । य एव पुण्यं एव परिणेष्यति परिग्रही भविष्यति सः पुण्यः । एकः, तत्र ते । हन्ता हिंसिता । कृतकामकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । भरतस्य भरतक्षेत्र-स्य । प्रभोक्ता च पालकश्च । अत्रापि कर्मणि षष्ठी । भविष्यति । भू सत्ताया लट् ॥ ८४ ॥ इति । खेचरेन्द्रः धरणीध्वजः । तस्य प्रियधर्मणः । अदृष्टमुद्गराभाम् अदृष्टस्यानालोकितस्य मृगदरस्यायोगदाया^४ आभां समानाम् । इति प्रतीतिभूताम् । वाचं बधनम् । निशम्य ध्रुवः । सहसा शीघ्रम् [साध्वसोद्यत्प्रचुर-स्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः] साध्वसेन भवेन उद्यत उत्पद्यमानस्य प्रचुरस्य बहुलस्य स्वेदस्य जलेन सलिलेन प्लुता सादिता (आर्द्रा) अङ्गस्य गात्रस्य यष्टिः (अङ्गयष्टिर्गात्रयष्टिः) यस्य सः । हृदये मानसे । विपसाद् बिलेद (बिलेद) । पदम् बिशरणगात्रयवसादनेषु लिट् ॥ ८५ ॥ गुणेति । गुणवत्सलं गुणेषु वत्सलः प्रीति र्यस्य तस्य संबोधनं भो गुणवत्सल गुणप्रीत । अस्मिन् विषये एतस्मिन् कार्ये । त्वं भवान् । मामकचिन्तया मदीया चिन्तया । 'सुप्तस्वप्न'—' इत्यादिना अञ्' तद्योगे यमकादेशः^५ । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । मा गम मा गच्छ । गच्छ गतो लुङि 'सतिशक्ति'—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । अत्रमत्तचित्तः अत्रमत्तं प्रमादहितं चित्तं यस्य सः । अहम्, अत्र कार्ये । योऽयम् अहम् । कमपि कंचन । प्रतिकार^६ प्रतिकूलम् । प्रविधास्यामि करिष्यामि । दुबाह्वा घ्राणे च ॥ ८६ ॥ इतीति । नमश्चराणां विद्याचराणाम् । अधिरः प्रभवं^७ णोऽध्वजः । तं देशयति प्रियधर्मत्राचारिणम् । नम्रमौलिः नम्रो मौलिर्यस्य सः । विससर्ज विमृष्टवान् । आ-मचित्ते आत्मनः

का कोई प्रसंग नहीं आया ॥ ८३ ॥ उसका शरीर कामदेवकी धनुर्वल्लोकी भाँति नमनशील और कोमल है । वह पुरुष घन्य है, जो उसके साथ विवाह करेगा । उसका पुण्यात्मा पति तुम्हे मारनेवाला होगा और फिर भरतक्षेत्रका शासक होगा ॥ ८४ ॥ धुल्लकः प्रियधर्मको इस बातको—जो जादूसे न दिखनेवाले मुद्गरके प्रहारके समान है—अचानक सुनकर विद्या-धरोंका राजा अपने मनमें बड़ा दुःखी हुआ । भयके कारण उसका सारा शरीर पसीनेसे सगबोर हो गया ॥ ८५ ॥ हे गुणवत्सल ! इस विषयमें आप मेरी चिन्तासे व्याकुल न हो । अब मैं सावधान रहूँगा—अपने मनमें तनिक भी प्रमाद नहीं करूँगा । और इसके बारेमें कोई योग्य प्रतीकार करूँगा ॥ ८६ ॥ यह कहकर विद्याधरोंके राजा धरणीध्वजने अभिवादनपूर्वक उन देशव्रती धुल्लकजीको वहाँसे बिदा कर दिया, और फिर अपने मनमें कर्तव्यका निश्चय कर

१. अ'सति गूढ' । २. अ आ इ क ल ग घ 'युग्मम्' इति नोपलभ्यते । ३. आ श स परेति ।

४. = धनुर्लतामिव कुशाङ्गोमिर्यः । ५. = य एव पुण्यं । ६. = परिग्रहीष्यति । ७. = आभा यस्य । सा तां तस्मान्नामिति वाच्यं । ८. = गुणेषु वत्सलो गुणवत्सल । तन्मृदो हे गुणवत्सल हे गुणानुरागिन् । ९. आ प्रतापे च 'गुणप्रीत' इति सम्प्लभ्यते । १०. आ अजि, श स अजो । ११. आ मामकादेशः । १२. = प्रतिक्रियाम् ।

अपरेद्युरशेषसैन्ययुक्तः स विमानैर्मणिकिङ्किणीकरालैः ।

जयवर्मपुरं^१ करोच गत्वा सभयेः पौरजनैर्विलोक्यमानः^२ ॥ ८८ ॥

प्रजिघास च दूतमुद्धताख्यं वचनञ्च^३ विनिवेदिताभिसंघिम् ॥

स सभापुण्यस्य सूचितात्मा जयवर्मणमिदं^४ वचो वभाषे ॥ ८९ ॥

धरणीध्वज इत्यमोघनामा प्रथितः खेचरचक्रचक्रवर्ती^५ ।

वदतीति भवन्तमक्षताहो नृप मद्रक्तनिवेशितैर्वचोभिः ॥ ९० ॥

स्वस्य चित्ते मानसे । कृत्यं कार्यम् । अथर्वमं निश्चित्य । निगूढबाधः निगूढः^६ व्यवहितो^७ भावो यस्य स, सन् । तं दिवस तद्दिनम् । अनैवोत्^८ प्रापयत् । णीञ् प्रापणे लृङ् ॥ ८७ ॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । अशेषसैन्ययुक्तः अशेषैः समस्तीः सैन्यैः सेनाभिर्युक्तः सहितः । स. धरणीध्वजः । मणिकिङ्किणीकरालैः मणिमो रत्नं कृताभि^९ किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः करालैर्बाणैः । विमानं ध्योमयानैः गत्वा प्राप्य । सभयेः भयवर्हातैः । पौरजनैः पुरजनैः । विलोक्यमानः बोधयमाणः सन् । जयवर्मपुरं जयवर्मणं पुरं पुरीम् । करोच ऋणद्धि स्म । कश्चिद् आचरणे लिट् । जातिः^{१०} ॥ ८८ ॥ प्रजिघासेति । वचनञ्च वचनवागुच्यम् । विनिवेदिताभिसंघिं विनिवेदितोऽभिसंघिरभिप्रायो येन^{११} तम् (कथिताभिप्रायमित्यर्थः) । उद्धताख्यम् उद्धत इत्याख्याभिधानं यस्य तम् । दूतं वचोहरम् । प्रजिघासं प्राहिणोत् । हि गतिवृद्धमोलिट्^{१२} । 'हि घ्नोऽडे कुः पूर्वात्' इति हेः पूर्वात् परस्य कुः कवगदिशः । सूचितात्मा सूचितो विज्ञापित आत्मा येन स. । सः दूतः । सभा सभागृहम् । उपगम्य गत्वा । जयवर्मणं जयवर्मभूषं प्रति । इदं वचः एतद्वचनम् । वभाषे ऊचे । भाषि व्यवहृताया वाचि लिट् । १८९ ॥ धरणीध्वज इति । नृप भो नरपते । अक्षतामः अक्षता बाधारहिता^{१३} आशा शासनं यस्य स । धरणीध्वज इति, अमोघनामा अमोघं सार्थकं नाम यस्य सः । प्रथितः^{१४} प्रतीतः । खेचरचक्रचक्रवर्ती खेचराणां विद्याधराणां चक्रस्य समूहस्य चक्रवर्ती सार्वभौमः । मद्रक्तनिवेशितैः मम वक्ष्णे मूलैः निवेशितैः^{१५} स्थापितैः । वचोभिः वचनैः । भवन्तं पूज्यं रक्षाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वदति

लिया । उसने अपना मनोभाव गुप्त रखा । इस प्रकार उसने बहू दिन बिताया ॥ ८७ ॥ अगले दिन अपनी सारी सेनाओंकी साथ लेकर बहू विमानोसे—जिनमें मणिमय छोटी-छोटी घण्टियोंकी सजावट थी—जयवर्मके नगरमें जा पहुँचा । पहुँचते ही—उसने उसके नगरको चारों ओरसे घेर लिया । उसे देखनेवाले वहाँके निवासी मन-ही-मन बड़े भयभीत हो रहे थे ॥ ८८ ॥ और उसने अपने एक उद्धत नामके दूत को—जो बोलनेमें कुशल था—अपना अभिप्राय बतलाकर जयवर्मके पास भेजा । उसने सभामें पहुँचकर और अपना परिचय देकर जयवर्मसे ये वचन कहे—॥ ८९ ॥ राजन् ! विद्याधरोके चक्रवर्ती धरणीध्वजने मेरे-द्वारा आपके पास सन्देश भेजा है । सारे भूमण्डलमें उनके झण्डे लहरा रहे हैं । इसीलिए उनका 'धरणीध्वज' नाम सार्थक है । कोई भी मनुष्य उनकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं कर सकता । उनकी सब

१. अ 'वर्मपुरं' । २. अ 'वर्ममानैः' । ३. अ 'वर्मणं' । ४. आ इ 'राजचक्रवर्ती' । ५. = नितरां गूढो गुप्तः । ६. आ व्यवहितः । ७. = निनाय । ८. स स लृङ् । ९. = संस्कृताभिः । १०. आ प्रती केवलं, 'जातिः' इत्युपलक्ष्यते । ११. = यस्मै । १२. स स लिटि । १३. आ 'वरहिता' । १४. = प्रसिद्धः । १५. स स निवेशितैः ।

तथ कापि शशिप्रभाभिधाना दुहितास्त्यर्थसमन्वितेन नाम्ना ।

भवता किल सा विदेशकाय प्रवितीर्णेति मया श्रुतं जनेभ्यः ॥ ६१ ॥

तद्विदं शरदभ्रगुभ्रकीर्तस्तत्र युक्तं न कुलोन्नतस्य कर्तुम् ।

भवतो भवति ह्यकीर्तिरेवं सति गुर्वी पृथ्वीतले समस्ते ॥ ६२ ॥

विदधाति मति सुताविमोहाद्गृहजामातरि यद्यपीह कोऽपि ।

अभिजातिरवश्यमेव तेनाप्यभिमुग्या ननु सा वरेषु मुख्या ॥ ९३ ॥

भवतो ननु पुण्यमत्र हेतुर्यद्यिज्ञातकुलेन तेन नोढा ।

तद्विधं स्वकरणे दीयतां मे हठकारः क्रियते मया न यावत् ॥ ६४ ॥

ब्रवीति । बह्व्यक्ताया वाचि लट् ॥९०॥ तद्वेति । तत्र ते । अर्थसमन्वितेन अर्थयुक्तेन—सायंकेनेत्यर्थः । नाम्ना अभिधानेन । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभा—इत्यभिधाना यस्याः सा । कापि काचिन् । दुहिता पुत्री । अस्ति किल^१ वर्तते किल^२ । भवता त्वया । सा कन्या । विदेशकाय देशान्तरादागतया । प्रवितीर्णा इति दत्ता इति । मया, जनेभ्यः लोकेभ्यः । श्रुतम् आकर्षितम् ॥९१॥ तद्विति । शरदभ्रगुभ्रकीर्तं, शरदः शरत्कालस्याभ्रबन्धमेवयत् शुभ्रा घवला कीर्तयस्व तस्य । कुलोन्नतस्य कुलेनोन्नतस्य महत् । तत्र भवत । तद्विदं तद्वेत्यर्थः । युक्तं न योग्यं न भवति । एवं सति, समस्ते निश्चिन्ते । पृथ्वीतले पृथिव्या भूम्या तले । भवतः तत्र । गुर्वी महती । अकीर्तिः अपकीर्तिः । भवति हि । उपमा ॥९२॥ विदधातीति । इह अस्मिन् । कोऽपि; सुताविमोहात् सुताया पुत्र्या विमोहात् प्रीतेः । गृहजामातरि गृहस्यागते (गृहमागते) जामातरि दुहितृपुत्री । मति बुद्धिम् । विदधाति करोति । तेनापि पुरुषेणापि । वरेषु परिजयनयोग्यपुरुषेषु । मुख्या प्रधाना । सा अभिजातिः कुलम् । अवश्यमेव निश्चयेनैव । अभिमुग्या ननु अन्वेषणीया ननु ॥९३॥ भवत इति । अविज्ञातकुलेन अविज्ञातमविदितं कुल जातिर्यस्य तेन । तेन वरेण । नोढा न परिणीता । यत्, अत्र कार्यं । भवतः तत्र । पुण्य मुकुतम् । हेतुः कारणं ननु । अज्ञातकुलपुत्र्याय कन्येतावत्पर्यन्तं न दत्ता तदत्र तत्र पुण्यमित्यर्थः । मया, यावत्पर्यन्तम् । हठकारः बलारकारः । न क्रियते न विधीयते । तत् तावत् । इयम् एषा । स्वकरणे स्वहस्तेन । मे मह्यम् । दीयतां वितोर्यताम् । हृदा न दाने कर्मणि लट् ॥९४॥

जगह प्रसिद्धि है । उनका संदेश यह है—॥९०॥ आपकी कोई शशिप्रभा नामकी कन्या है । शशी—चन्द्रमाके समान प्रभा होनेसे वह यथानाम तथा गुण है । ऐसी सुन्दर कन्या आप किसी परदेशीको देना चाहते हैं । उसे आप विवाहका वचन भी दे देंगे, ऐसा मैंने लोगोंसे सुना है ॥९१॥ आपकी कीर्ति शरत्कालीन चन्द्रमाकी भाँति शुभ्र है, और आपका कुल भी उन्नत है । अतः आपकी ऐसा करना योग्य नहीं है । यदि आप ऐसा ही करेंगे, नहीं ही मानेगे तो सारे संसारमें आपका अपयश फैल जायेगा ॥६२॥ यदि कोई पुत्रोंके मोहवश अपने घर आये व्यक्तिको घर (जमाई) बनाना चाहता है, तो उसे भी उसके कुलका विचार अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि घरमें कुलीनता ही मुख्य रूपसे विचारणीय होती है ॥९३॥ उसके साथ—जिसके कुलका भी कुछ पता नहीं—तुमने अपनी कन्याका विवाह नहीं कर दिया, बट मंगनी पट व्याह नहीं कर डाला, इसमें तुम्हारा पुण्य ही कारण है । अतः तुम अपने हाथसे अपनी कन्या मुझे शीघ्र ही सोप दो, जिससे मुझे हठ या बलका प्रयोग न करना पड़े ।

इति तद्वचनैर्विद्वच्चित्तो^१ वचनं भूपतिरभ्यधात्समासात् ।
 मतिमानपि दूत कोविदस्त्वं न मनागप्यसि लौकिकक्रियायाम् ॥ ६५ ॥
 कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु सोऽस्मै न हि दत्ता तनया भवत्पदत्ता ।
 यदि कोऽपि बलात्प्रहीतुमीशस्त्वरितोऽभ्येतुं^२ विलम्बते किमर्थम् ॥ ६६ ॥
 इति दूतमसौ विसृज्य^३ राजाजितसेनाय तदाकथंवाग्नु कार्यम् ।
 रचितभ्रुकुटिस्तदा स कोपाविदमूखे श्वशुरं विलोक्य बाहू ॥ ६७ ॥
 तव तात न युक्तमाकुलत्वं मयि तिष्ठत्यरिमस्तकैकशूले ।
 त्वमिमं प्रविलोकयाद्य मृत्योर्वदने दुष्टनभश्चरं विश्रान्तम् ॥ ६८ ॥

इतीति । इति एवंविधैः । तद्वचनैः तस्य दूतस्य वचनैः । विद्वच्चित्त । विद्वद् वचनं भूपतिरभ्यधात्समासात् । मतिमानपि दूत कोविदस्त्वं न मनागप्यसि लौकिकक्रियायाम् । लौकिकक्रियाया लौकव्यवहारकार्ये । मानगपि ईषदपि । कोविदः प्रोढ़ः । नासि न भवति । अस भुवि लट् ॥ ९५ ॥ कुलज इति । सः गृहागतो वरः । कुलजः वंशजातः । अववाकुलजो वा दुष्कुलजो वा । अस्तु भवतु । अस भुवि लेट् । अस्मै एतस्मै । तनया कुमारी । दत्ता वित्तीर्णा । अदत्ता न वित्तीर्णा हि वा । न भवतु [भवति] । कोऽपि बलात् बलात्कारात् । गृहीतुं स्वीकर्तुम् । ईशः समर्थपतेत् । स्वरित शीघ्र (ता-) युक्तः । अभ्येतु आगच्छतु । किमर्थं किन्निमित्तम् । विलम्बते कालयापनं करोति ॥ ९६ ॥ इतीति । इति अनेन प्रकारेण । अतो राजा जयवर्मन्पुः । दूतम् उद्वेगताकथदूतम् । विसृज्य^४ गन्तु-
 माशाप्य । अजितसेनाय अजितसेनकुमाराय । तत्कार्यं घरणीध्वजसंभवधीष्ट प्रयोजनम् । आशु शीघ्रम् । आरुप्यत् अग्रसीत् । श्या प्रकथने लङ् । तया तत्समये सः कुमारः । कोपात् रोषात् । रचितभ्रुकुटिः रचिता विहिता भ्रुकुटिर्यस्य (येन) सः । बाहू भुजौ । विलोक्य वीक्ष्य । श्वशुरं मातुलं (?) प्रति । इवं वदयमाण-
 वचनम् । ऊचे जगद । ब्रूय वक्तव्यां वाचि लिट् । 'अस्तिब्रूयैर्ब्रूवौ' इति वधादेशः । 'क्षयादिस्ववचः किति' इति यञ् इक् ॥ ९७ ॥ तवेति । तात भोः पूज्य । 'तातोऽनुकम्प्ये जनकैः' इति विश्वः । अरिमस्तकैकशूले अरीणां शत्रूणां मस्तकानामेक केवलं शूलमिव अरिमस्तकैकशूलः तस्मिन् । मयि तिष्ठति विद्यमाने सति । तव भवतः । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । न युक्तं न योग्यम् । अथ इदानीम् । मृत्योः यमस्य । वदने मुखे । विश्रान्तं गच्छन्तम् । इमम् एतम् । दुष्टनभश्चरं दुष्टविद्याधरम् । त्वं विलोकय पश्य । लोकज्ञं दर्शने निजन्तात्सलोद्-

मेरे हठ करनेके पहले ही तुम अपनी कन्या मुझे दे दो ॥ ९४ ॥ दूतके इन वचनोंको सुनकर उसने संक्षेपमें दूतसे ये वचन कहे—दूत ! तुम बुद्धिमान् हो, फिर भी लोकव्यवहारमें सर्वथा अनभिज्ञ हो—लौकिक व्यवहारको तुम तनिक भी नहीं जानते ॥ ९५ ॥ जिसे मैं अपनी कन्या दे चुका हूँ, वह कुलीन हो या अकुलीन, पर अब कुछ नहीं हो सकता । दी गयी कन्या अब नहीं दी गयी, नहीं हो सकती । यदि कोई उसे बलात् ग्रहण करनेमें समर्थ है, तो तुरन्त चला आये, विलम्ब क्यों कर रहा है ? ॥ ९६ ॥ यह कहकर राजाने दूतको बिदा किया, और शीघ्र ही अजितसेनको वे सारी बानें सुना दीं, जो दूतके साथ हुईं । उन बातोंको सुनकर मारे क्रोधके उसकी भ्रुकुटि तन गयी । फिर वह अपने बाहुओंको देखकर अपने श्वशुरसे यों बोला— ॥ ९७ ॥ पिताजी, मैं शत्रुओंका सिरदर्द हूँ । मेरे रहते हुए आपका व्याकुल होना योग्य नहीं—आप व्याकुल न हों । उस दुष्ट विद्याधरको आप आज ही मृत्युके मुखमें घुसते देखना ॥ ९८ ॥

१. क ख ग घ ङ 'वदतेता' । २. अ 'रितः सोऽस्तु । ३. अ आ इ विसृज्य । ४. अ स विसृज्य ।
 ५. आ 'वजः संदिष्ट' । ६. आ लिट् ।

इति चित्तममुष्य धीरयित्वा हृदि सस्मार दृढस्मृतिर्हिरण्यम् ।
 स्मृत एव पुरोऽभवद्दृष्ट्वा स रथं रोपितदिव्यशस्त्रजालम् ॥ ९९ ॥
 अधिरुह्य स तत्र विस्मितास्यैः पुरलोकैश्च परैश्च दृश्यमानः ।
 सुरसारथिरुत्पपात शत्रोरभिसैन्यं शरसंहतीर्विमुञ्चन् ॥ १०० ॥
 तमुदीक्ष्य क्षरांशुवद्दुरीक्ष्यं प्रभुलज्जाविषीकृताः प्रहर्तुम् ।
 शरशक्तिरथाङ्गकुन्तद्वस्ताः सह संभूय दुहौकिरे नभोगाः ॥ १०१ ॥
 निखिलानमितानलक्ष्यमोक्षैः सममल्लप्रधियागताम्पृषत्कैः ।
 समकोचयदप्रकम्पधैर्यैः कुमुदानीव करैः सरोजबन्धुः ॥ १०२ ॥

॥ ९८ ॥ इतीति । अमुष्य एतस्य । चित्तं मानसम् । इति अनेन प्रकारेण । धीरयित्वा धैर्यवत्कृत्वा । हृदि हृदये । दृढमतिः दृढा मतिर्नृद्धिरस्य सः । हिरण्यं हिराण्यास्यदेवम् । सस्मार स्मरति स्म । स्मृन् एव स्मृत-
 मात्रः । स हिरण्यदेवः । रोपितदिव्यशास्त्रजालं रोपितं पुरितं दिव्यानां शास्त्राणामायुधानां जालं यस्मिन् तम् ।
 रथं स्यन्दनम् । गृहीत्वा आनीय । पुरः अग्रे । अववत् अभूत् । भू सत्ताया लुट् ॥ ९९ ॥ अभीति । सुरसारथिः
 सुर एव हिरण्य एव सारथिः । सूतो यस्य सः । सः कुमारः । तत्र रथे । अधिरुह्य आरुह्य । विस्मितास्यैः
 विस्मितमाश्चर्येण रोपितमास्थं मुलं वेधा तैः । पुरलोकैश्च पौरजनैश्च । परैश्च शत्रुभिश्च दृश्यमानः प्रेक्ष्यमाणः ।
 दृष्ट् प्रेक्षणे कर्मणान्-प्रत्ययः । शरसंहति शराणां बाणानां सहति समूहम् । विमुञ्चन् विमुञ्चन् । शत्रोः
 वैरिणः । अभिसैन्यं सेनामिमुखं यथा तथा । उत्पपात उज्जयाम । पल्लं गतौ लिट् ॥ १०० ॥ तमिति । क्षरा-
 णुवद्दुरीक्ष्यं क्षराणः सूर्यस्तद्वद्दुरीक्ष्यं दुर्दृशम् । तं कुमारम् । उदीक्ष्य विलोक्य । प्रभुलज्जाविषीकृताः प्रभवा
 महत्या लज्जया त्रपया वशीकृताः परवशीकृताः । शरशक्तिरथाङ्गकुन्तहस्ताः शराश्च शक्तिश्च रथाङ्गानि
 चक्राणि तानि च कुन्ताश्च प्रासादश्च तथोक्ताः, त एव हस्तेषु वेपा तैः तथोक्ताः । 'प्रहरणात् सप्तमी च'
 इति पूर्वनिपातः । नभोगाः विद्याधराः । सह युगपत् । संभूय मिलित्वा । प्रहर्तुं मग्नम कर्तुम् । दुहौकिरे
 ययुः । दौहृद् गतौ लिट् । उपमा ॥ १०१ ॥ निखिलानिति । अप्रकम्पधैर्यम् अप्रकम्प निश्चलं धैर्यं यस्य
 सः । अक्षत्रधिया अक्षत्र इति क्षत्रियो न भवतीति धिया बुद्ध्या । मम युगपत् । आगतान् आयातान् ।
 निखिलानपि सकलानपि । तान् विद्याधरान् । अलक्ष्यमोक्षैः अलक्ष्योद्दृष्टो मोक्षो मोक्षणं वेपा तैः ।

इस तरह जयवर्मके मनमें धैर्य उत्पन्न कर अजितसेनने हिरण्य नामके देवका स्मरण किया ।
 अजितसेनको स्मृति बड़ी प्रबल थी । यही कारण है जो ऐन मौकेपर, उसे संकटमें सहायताका
 वचन देनेवाले हिरण्यका स्मरण हो आया । स्मरण करते ही वह दिव्य शस्त्रोंसे भरे हुए रथको
 लेकर उसके सामने उपस्थित हुआ ॥ ९९ ॥ वह उसपर सवार हो गया और उसके आगे वह
 देव, सारथी बनकर बैठ गया । पुरके निवासी और शत्रु, सभी उसे आश्चर्यसे देख रहे थे ।
 फिर बाणोंकी वर्षा करता हुआ वह शत्रु-सेनाका सामना करनेके लिए चल पड़ा ॥ १०० ॥
 राजकुमार प्रचण्ड मातृण्डकी भाँति तेजस्वी था, नजर उठाकर उसकी ओर देखना कठिन था ।
 उसे आते देखकर विरोधी विद्याधर बहुत भारी लज्जासे बिचल हो उठे । फिर बाण, शक्ति,
 चक्र और भाले अपने-अपने हाथोंमें लेकर वे सब मिलकर राजकुमारके ऊपर प्रहार करनेके
 लिए आगे बढ़े ॥ १०१ ॥ इस तरह क्षत्रियधर्मको ताकमें रखकर अगणित सङ्ख्यामें आये हुए
 समस्त विद्याधरोंको देखकर राजकुमार तनिक भी नहीं घबराया । उसके बाणोंको—जिनका
 छोड़ना अदृश्य था—देखकर सभी विरोधी विद्याधर संकोचमें पड़ गये । जैसे सूर्यकी किरणोंके
 कारण कुपुद संकोचमें पड़ जाते हैं—संकुचित हो जाते हैं । जिस तरह सूर्य अपनी किरणोंसे

तमसाध्यमवेत्य मानुषास्त्रैरघलोक्ष्य स्वबलं विह्वलमानम् ।
 मुमुक्षे धरणीध्वजेन कोपादरिमोहप्रवणेन^१ तामसास्त्रम् ॥ १०३ ॥
 तिमिरप्रविधायि धावमानं स तदुद्गीक्ष्य तिरोहिताखिलाशम् ।
 सुरदत्तविसर्जितेन सद्यस्तपनास्त्रेण निधोरयांभूव ॥ १०४ ॥
 भुजगान्गरुडेन यत्किमर्थैः कुलिशेनाचलमुद्यमेन तन्द्राम् ।
 पवनेन पयोधरान्स शूरो रुधे विघ्नविनायकेन सिद्धिम् ॥ १०५ ॥
 स ततो हतहेतिरुद्रकोपादसिमुद्यम्य समापतज्जवेन ।
 विगततासुरकार्यमोघशक्त्या हृदि निर्भिद्य शशिप्रभाप्रियेण ॥ १०६ ॥

पूतकैः बाणैः । 'पूतकबाणविशिखा' इत्यमरः । सरोजबन्धुः दिवाकरः । करैः किरणैः । कुमुदानोव कुचल-
 यानीव । समकोचयत्^२ संकोचमकरोत् । कुच संकोचने^३ छद् । उपेक्षा (उमा) ॥ १०२ ॥ तमिति ।
 मानुषास्त्रैः मानुर्वैमनुष्यसंबन्धैः सामाग्यैरित्यर्थः । अस्त्रैः बाणैः । तं कुमारम् । असाध्यं साध्यितुमशक्यम् ।
 अवेत्य ज्ञात्वा । ह्वयमानं ह्रिष्यमानम् । स्वबलं च स्वसैन्यं च । अवलोक्य बोधय । अरिमोहप्रवणेन अरेः
 शत्रोर्मोहस्य करणे प्रवणेन समर्थेनेत्यर्थः । धरणीध्वजेन धरणीध्वजखचराधिपेन । कोपात् रोषात् । तामसास्त्रं
 तमोबाणः । मुमुक्षे मुच्यते स्म । मुचलूय मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥ १०३ ॥ तिमिरिति । सः कुमारः ।
 तिमिरप्रविधायि तिमिरमन्धकारं प्रविधत्ते तच्छीलं तमःप्रसारकमित्यर्थः । धावमानं गच्छत् । तिरोहिता-
 खिलां तिरोहिता व्यबहिता अखिला निखिला आशा दिशि येन तत् । तत् अस्त्रम् । उदीक्ष्य विलोक्य ।
 सुरदत्तविसर्जितेन सुरेण हिरण्येन दत्तं तेन विसर्जितेन विमुक्तेन—पूर्वं हिरण्याक्षदेवेन दत्तं पश्चादनेन
 कुमारेण विसर्जितमित्यभिप्रायः । तपनास्त्रेण सूर्यप्रकाशबाणेन । सद्यः^४ तदैव । निवारयांबभूव निवारयति
 स्म । वृज् बाणे णिज्ज्ञास्लट् । जातिः ॥ १०४ ॥ भुजगानिति । सः कुमारः । भुजगान् भुजगबाणान् । गरु-
 डेन गरुडबाणेन । बह्वि बह्विबाणम् । अर्धैः मेघबाणैः । अवलं पर्वतबाणम् । कुलिशेन वज्रबाणेन । तन्द्राम्
 आलस्यबाणम् । उद्यमेन उद्योगबाणेन । पयोधरान् मेघबाणान् । पवनेन वायुबाणेन । सिद्धिं कार्यसिद्धिबाणम् ।
 विघ्नविनायकेन विघ्नविनायकबाणेन । रुधे रण्डि स्म । रुधूय आवरणे लिट् ॥ १०५ ॥ स इति । ततः
 पश्चात् । हतहेतिः हता नष्टा हेतय आयुधानि यस्य सः । सः धरणीध्वजः । उग्रकोपात् तीक्ष्णरोधात् । अस्त्रं
 चक्रायुधम् । उद्यम्य कोशादपनीय । अवेन शीघ्रम् । समापतन् समापद्यमानः । शशिप्रभाप्रियेण शशिप्रभायाः

कुमुदोंको संकुचित कर देता है, उसी प्रकार उसने अपने बाणोंसे प्रतिद्वन्द्वियोंको संकुचित कर
 दिया ॥ १०२ ॥ राजा धरणीध्वजने मानवोंके मामूली हथियारोंसे अजितसेनको अजेय जानकर
 और अपनी सेनाको बुरी तरह मरते देखकर विरोधीके ऊपर मोहका चादर डालनेके लिए
 क्रुद्ध होकर तामस (अन्धकार फैलानेवाला) अस्त्र छोड़ा ॥ १०३ ॥ राजकुमारने यह देखकर
 कि अन्धकार फैलानेवाला और सभी दिशाओंको छिपा देनेवाला तामस अस्त्र सामने बड़े वेगसे
 चला आ रहा है, हिरण्यदेवके द्वारा समर्पित तपनास्त्र-सूर्यास्त्रका प्रयोग किया । उसके प्रयोगसे
 उसने शीघ्र ही तामसास्त्र (तामस अस्त्र) का निवारण कर दिया ॥ १०४ ॥ इसके पश्चात्
 अजितसेनने धरणीध्वजके द्वारा प्रयुक्त भुजगास्त्रको अपने गरुडास्त्रसे, आग्नेय अस्त्रको मेघास्त्र-
 से, पर्वतास्त्रको वज्रास्त्रसे, तन्द्रास्त्रको उद्यमास्त्रसे, मेघास्त्रको वायव्य अस्त्रसे और सिद्धि-
 अस्त्र को विघ्नविनायक अस्त्रसे रोका ॥ १०५ ॥ इस तरह धरणीध्वजके सभी आयुध व्यर्थ कर
 दिये गये । तब उसे बड़ा क्रोध आया, अतः वह म्यानसे तलवार निकालकर अजितसेनके ऊपर

निहतप्रमुखे ततोऽरिसैन्ये नगमुद्गीय गते समं धयोमिः ।
 प्रविसर्ज्य^१ हिरण्यमक्षताङ्गः स पुरं पौरकृतोत्सव विवेश ॥ १०७ ॥
 अथ पुण्यदिने मुहूर्तमात्रान्मिलिताशेषपरिच्छदो महच्छुः ।
 गुरुणा निरवर्तयन्निवाहं जयधर्मा^२ दुहितुर्महोत्सवेन ॥ १०८ ॥
 विधिना परिणीय राजपुत्रीं युवराजः कतिचित्दिनान्युपस्था ।
 श्वशुरानुमतो जगाम शीघ्रं स्वपुरीमुत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् ॥ १०९ ॥
 अतिदूरतरोऽपि तेन सोऽप्या जनकाश्वासनलोलमानसेन ।
 दिवसैरतिसंमितैर्लङ्घ्ये जनयत्युत्सुकतां न कस्य बन्धु ॥ ११० ॥

प्रियेण कान्तेन । अमोघशक्त्या अमोघया सकलया शक्त्या शक्त्यायुधेन । हृदि वसति । निर्मल विदार्य ।
 विगतायुः विगता अपगता बसवः प्राणा यस्य सः । अकारि अक्रियत । दुकृञ् करणे कर्मणि लुट् ॥ १०६ ॥
 निहतोति^३ । सतः पश्चात् । निहतप्रमुखे निहितो ह्रितः प्रमुखो मुखपानायको यस्य तस्मिन् । अरिसैन्ये अरेः
 शत्रोः सैन्येऽनीके । धयोमिः पक्षिभिः । सार्कं समम् । उद्गीय आकाशमुच्यम् । नग विजयार्धपर्वतम् । गते सति
 वाते सति । हिरण्यं हिरण्याख्यदेवम् । प्रविसर्ज्य प्रहृत्य । अक्षताङ्गः अक्षतमवाधितमङ्गं शरीरं यस्य सः । सः
 अजितसेनः । पौरकृतोत्सवं पोरैः पुरजने कृत उत्सवो यस्य तत् । पुर विपुलपुरम् । विवेश विधायि स्म । विश
 प्रवेशने लुट् ॥ १०७ ॥ अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पुण्यदिने शुभदिवसे । मुहूर्तमात्रात् अलकाल-
 मात्रात् । मिलिताशेषपरिच्छदः मिलितः संचितोऽशेषः समस्तः परिच्छदः परिकरो यस्य सः । महच्छुः गभीरः
 जयधर्मा जयधर्मभूषितः । गुरुणा महता । महोत्सवेन महोत्साहेन । दुहितुः पुत्र्या । निवाहं पाणिग्रहम् ।
 निरवर्तयत् अकरोत् ॥ १०८ ॥ विधिनिति । युवराजः अजितसेनः । राजपुत्रीं राजसुता शशिप्रभाम् । विधिना
 विधानेन । परिणीय विवाहं कृत्वा । कतिचित् कियन्ति । दिनानि^४ दिवसपर्यन्तम् । उपस्था स्थित्वा ।
 श्वशुरानुमतः सन् श्वशुरस्य मातुलस्यानुमतः संमतः सन् । उत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् उत्सुका^५ सर्वे बिभवे बन्धव-
 एव लोका यस्या ताम् । अयकम् (?) । स्वपुरीं साकेतपुरीम् (?) । शीघ्रं त्वरितम् । जगाम ययौ । गम्ल-
 गतो लुट् ॥ १०९ ॥ अतोति । जनकाश्वासनलोलमानसेन जनकस्य पितुः आश्वासने विश्रान्तः^६ (विश्रम्भ-)
 कारणे लोल^७ लम्पटं मानसं यस्य तेन अजितसेनकुमारेण । सोऽप्या स भागं । अतिदूरतरोऽपि अत्यन्त विप्र-
 कृष्टतरोऽपि । अतिसंमितैः परिमितैः । दिवसैः दिनेः । लङ्घ्ये गम्यते स्म । बन्धुः बान्धवः । कस्य, उत्सुकताम्
 तोत्र वेगते झण्टा । पर शशिप्रभाके प्रिय (अजितसेन) ने सोनेपर अमोघ शक्तिका प्रहार
 करके उसकी जीवनलीला समाप्त कर दो ॥ १०६ ॥ इसके पश्चात् स्वामीके दिवंगत होते ही
 उसकी सेना पक्षियोंके साथ उड़कर विजयार्ध पर्वतको ओर चली गयी और राजकुमार अजित-
 सेनने हिरण्यको बिदाई देकर सकुशल विपुलपुरमें—जहाँ पुरवासी उत्सव मना रहे थे—प्रवेश
 किया ॥ १०७ ॥ फिर उदार हृदय राजा जयवमने शीघ्र ही सब प्रकारकी समाश्री एकत्रित
 करके महान् उत्सव और उत्साहके साथ शुभ दिनमें अपनी कन्याका विवाह कर दिया ॥ १०८ ॥
 राजकुमारी शशिप्रभासे विधिपूर्वक विवाह करके युवराज अजितसेन कुछ दिन समुरालमें रहा ।
 फिर श्वशुरसे अनुमति लेकर उसने शीघ्र ही अपनी नगरीको प्रस्थान कर दिया, जहाँपर सभी
 बन्धु-बान्धव उससे मिलनेके लिए लालायित थे ॥ १०९ ॥ अपने पिताको आश्वासन देनेके लिए
 उसका मन उतावला हो रहा था, अतः बहुत लम्बे रास्तेको उसने बहुत ही थोड़े दिनोंमें

१. अ प्रविमुख्य । २. अ जयधर्मा । ३. स स विहितेति । ४. = तस्मिन् । ५. = महाशयः । 'महच्छुः
 महाशयः' । ६. आ गम्लोर्बुद्धिः । ७. = गुरुजनेन समम् । ८. = महामहेन । ९. = उदाहृत । १०. = अहानि ।
 ११. अ स विक्रम । १२. = सत्पणम् ।

भूत्वा तं सकलत्रमुद्धृतारिपुं भूत्या महत्यागतं
 बिभ्राणः प्रमदोदयान्निजतनुं पुण्यत्कदम्बाकृतिम् ।
 निर्गत्यानुगतः पिता परिजनैः पीरैश्च जातोत्सवै-
 रानन्दध्वतरङ्गितैर्ज्ञणयुगः प्रावेशयत्यपत्तनम् ॥ १११ ॥

इति श्रीवीरनन्दिहृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

■

उद्युस्तताम् । [न] जनयति [न] उत्सादयति, अपि तु जनयत्येव । जनैः प्रादुर्भावि लट् । अर्थात्वरन्मासः ॥ ११० ॥ श्रुत्वेति । उद्धृतारिपुम् उद्धृता रिपवः शत्रवो येन तम् । सकलत्रं वनितासहितम् । महत्या भूत्या विभूत्या । आगमम् आयातम् । त कुमार्गम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । प्रमदोदयात् प्रमदस्य संतोषस्योदयादुद्गम-
 मान् । पुण्यत्कदम्बाकृतिः पुण्यतो विकसितः कदम्बस्य नीपवृक्षस्याकृतिर्यस्यास्ताम् । निजतनुं स्वशरीरम् ।
 बिभ्राणः परमाणः । [पिता जनकः] । जातोत्सवैः उत्पन्नोत्सवयुक्तैः । परिजनैः सेवकजनैः । पीरैः पुरजनेः ।
 अनुगतः पश्चादागतः । निर्गत्य निर्याय । आनन्दध्वतरङ्गितैर्ज्ञणयुगः आनन्दाज्जाटैनाश्रुणा नेत्रोदकेन
 तरङ्गितमस्मिन्मीक्षणयोग्यनयनयोर्नेत्रयोर्धुमं युगलं यस्य स, सन् । पत्तनं पुरम् । प्रावेशयत् प्रवेशयति स्म ।
 विषा प्रवेशने निजन्ताल्लट् ॥ १११ ॥

इति श्रीवीरनन्दिहृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च
 विद्वन्मनोज्ञमाख्ये षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

■

समाप्त कर दिया । बन्धुजन किसे उत्सुक नहीं बना देते ? ॥ ११० ॥ अजितसेनके पिताने जब
 यह समाचार सुने कि अजितसेनने संग्राममें शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये हैं ; उसका विवाह हो गया
 है ; वह नगरके बाहर आ गया है ; अपने साथ बहुत अधिक सम्पत्ति भी लाया है ; तब उसे
 बड़ा हर्ष हुआ, और हृषसे उसके शरीरमें रोमांच हा आये, जिससे वह विकसित कदम्बकी भाँति
 हो गया । वह अपने परिजन और पुरजनोंके—जिन्होंने खूब उत्सव मनाया है—साथ अपने नगरके
 बाहर पहुँचा । वहाँ अपने पुत्र अजितसेनको देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ, और आनन्दसे
 उसको आँखोंमें अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । उसने उसे नगरमें प्रवेश कराया ॥ १११ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रमचरित महाकाव्यमें
 छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

■

१. स पश्यत् । २. = सर्वस्यापि । ३. = अनुसृतः ।

[७. सप्तमः सर्गः]

पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पाकशासनसमानतेजसः ।

चक्ररत्नमय तस्य खण्डितारातिचक्रमुदपादि चक्रिणः ॥ १ ॥

रश्मिजालजटिलीकृताभिलष्योम दुःसहनिरीक्ष्यविग्रहम् ।

यद्व्यभाम्यत विलोक्य मानवैर्भानुविम्बमिव सेवयागतम् ॥ २ ॥

आसितारिरुभूभिजघुतिद्योतिनद्युविधरो महानसिः ।

इत्यजिह्व इव तेन चक्रिणं क्षुब्धना स्त्रियमसेवतान्तकः ॥ ३ ॥

^१ प्रयोगवातिस(क)चतुष्टयलब्धबोधदुर्भीर्यहीरुपसदनन्तचतुष्टयार्हः ।

आनम्रमव्यजनतानुलदानशीलः पायादनन्तजिनपो जगतीमनन्ताम् ॥

पूर्वति । अथ पुःप्रवेशानन्तरम् । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतं विहितं पुण्यकर्म येन तस्य । पाकशासनसमानतेजसः पाकशासनस्य देवैः द्रस्य समानं संकाश तेजः प्रतापो यस्य तस्य । अजित-
सेनस्य, चक्रिणः सार्वभौमस्य । खण्डितारातिचक्रं खण्डित रश्मिप्रमरानीना शङ्खणा चक्रं यस्य तत् । चक्ररत्नं
चक्रमेव रत्नं तथोक्तम् । रूपकम् । उदपादि उदपद्यत । पदि गतो लुङ् ॥१॥ रश्मीनि । रश्मिजालजटिली-
कृताभिलष्योम रश्मीनां किरणानां जालेन समूहेन जटिलीकृतं वेणीकृतमखिलं व्योमावाश यस्य (येन) तत् ।
दुःसहदुरीक्ष^(१) (१य-) निग्रह दुःसहः । सोढुपशब्दो दुर्गोच (२यः) द्रष्टुमशक्यो विग्रहो गान यस्य तत् । यत्
चक्रम् । मानवैः मनुष्यैः । विलोक्य वीक्ष्य । सेवया बरिवस्यया । 'बरिवस्या तु शृङ्गुपा सेवाभविनरुपायना' ।
जागतम् आयातम् । भानुविम्बमिव भानोः सूर्यस्य बिम्बमिव मण्डलमिव । व्यमाध्यत निरक्षोयत^२ । भू-
कूपोबकल्पने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ आसितेति । त्रामिताग्रिः त्रामिता अरयो येन सः । निजद्युतिद्योतिनद्युविधरः
निजस्य द्युत्या कान्त्या द्योतिनं प्रकाशितं दिव आकाशस्य विधर मध्य येन तत् (यः) । महान् अक्षिः खड्ग-
रत्नम् । उदभूत् उदेति स्म । भू सत्तायां लुङ् । तेन छयना^३ खड्गध्याजेन । दृश्यजिह्वः दृश्या जिह्वा यस्य
सः । अन्तक इव यम इव । इत्यं, चक्रिणं चक्रवर्तिनम् । असेवत असेविष्ट । पेवङ्^४ सेवने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके पश्चात् पूर्व जन्ममे पुण्य कमानेवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी चक्रवर्ती अजित-
सेनके यहाँ शत्रुओंका दमन करनेवाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ ॥१॥ उसकी किरणोंका जाल
पूरे आकाशमें फैला हुआ था । तीव्र तेजसे युक्त होनेसे वह दर्शकोंके नेत्रोंको असह्य था, और
इसोलिए लोगोंको उसकी ओर देखना कठिन था । उसे देखकर लोग समझते थे कि राज-
सेवाके निमित्तसे जैसे सूर्यमण्डल आ गया हो ॥२॥ उसके यहाँ खड्गरत्न उत्पन्न हुआ । उसे
देखकर अजितसेनके शत्रु भयभीत हो गये । उसने कान्तिसे आकाशका मध्यभाग प्रकाशित हो
उठा । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वह अदृश्य रूपमें चक्रवर्तीकी सेवा करनेवाले

१. आ प्रती पद्यमिदं नोपकल्पते । २=येन । ३. एष टीकागतः पाठः, प्रतिपु तु 'निरीक्ष्य' इत्येव
पाठः सम्पुलक्यते । ४. आ विरचीम्यत । ५. आ स भा । ६. आ स व्याजेन । ७. स घ पेवङ् ।

वज्रपांसुजलधर्मवारणं जातमिन्दुरुचिं धर्मवारणम् ।
 व्यञ्जितुं कमलया स्वसेवनं पाणिपद्ममिषं संप्रदर्शितम् ॥ ४ ॥
 सिन्धुतोयतरणादिषु क्रियासुपयोगगमेन गर्वितम् ।
 पुण्यवैभववशीकृतं विभोर्धर्मरत्नमगमद्विधेयताम् ॥ ५ ॥
 ज्योतिरुज्ज्वलमनल्पमण्डलं यद्गहराजद्वनी प्रसारितम् ।
 चक्रभृन्महिमनिर्जितं नभः संप्रकुच्य तमिवाध्वं गतम् ॥ ६ ॥
 वृत्तिमद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु बृहत्पटोयसीम् ।
 दण्डरत्नमभवद्भवान्तरोपाजितोर्जितशुभाभ्युदीरितम् ॥ ७ ॥

वज्रेति । वज्रपांसुजलधर्मवारणं वज्रस्याशनेः ^१पाशोर्धून्या जलस्य तलिलस्य धर्मस्य चातपस्य च वारणं निवारणम् । इन्दुरुचि इन्दोश्चन्द्रस्येव रुचिः कान्तिर्मस्य तत् । धर्मवारणं छत्ररत्नम् । कमलया लक्ष्मीदेव्या । स्वसेवनं निजसेवनम् । व्यञ्जितुं प्रकाशितुम् । पाणिपद्मं पाणिरेव पद्मम् । रूपकम् । सं [प्र] दर्शितमिषं संविलोक्तमिषं । जातम् उत्पन्नम् । उपप्रेषा ॥४॥ सिन्ध्विति । सिन्धुतोयतरणादिषु सिन्धोः समुद्रस्य तोयस्य जलस्य ^२तरणादिषु प्लवनादिषु । क्रियासु कार्येषु । उपयोगगमनेन उपयोगस्य प्रयोजनस्य गमनेन प्राप्या । गतिनम् अहंशरितम् । पुण्यवैभववशीकृतं पुण्यस्य मुकुतस्य वैभवेन सामर्थ्येन वशीकृतमपीनकृतम् । धर्मरत्नं चमरपरत्नम् । विभोः चक्रिणः । विधेयता वशात्त्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम् गतो लङ् । 'सतिशास्ति—' इत्यदिना अट्-प्रत्ययः ॥५॥ उद्योतिरिति । ज्योतिरुज्ज्वलं ज्योतिषा कात्या उज्ज्वलं प्रज्वलम्, पक्षे ज्योतिर्भिः पञ्चविधज्योतिर्भिर्गुज्ज्वलम् । अनल्पमण्डलम् अनल्पं बहूलं मण्डलं प्रदेशो यस्य तत्, पक्षे अनल्पमण्डलं विस्तृतविस्त्वम् । अवनी भूम्याम् । प्रसारितं मधुतारितं ^(१) बिस्तृतं वा यत्सूर्यमण्डलम् । चक्रभृन्महिमनिर्जितं चक्रभृतचक्रवर्तिनो महिम्ना निर्जितं विजितम् । नभः गगनम् । संप्रकुच्य सकोचनं कृत्वा । त चक्रिणम् । आश्रयम् आचारम् । गतमिषं यातमिषं । गहराजं व्यमासत । राज्ञ् दीप्तो लङ् । इत्योपात्ता ॥६॥ वृत्तिमिति । अद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु अद्रिकुलिशादीनां पर्वतवत्प्रादो ना भेदनेन प्रायकर्मसु बहुक्रियासु । 'प्रायो भूष्यन्तगमने' इत्यमरपाठाद्वन्तत्वं प्रायशब्दस्य । पटोयसीं प्रकुट्ट-पटम् । वृत्तिं वर्तनाम् । दण्डत्वरम् । भवान्तरोपाजितशुभाभ्युदीरितं भवान्तरे जगन्तरे उपाजितेन शुभेन

यमराजको जीभ दृष्टिगोचर हो रही हो ॥३॥ उसके यहाँ छत्ररत्न उत्पन्न हुआ । वह वज्र, घूलि, जल और धूपको रोकनेवाला और चन्द्रमण्डलके समान सफेद था । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी सेवामें उपस्थित होकर स्वयंकी सेवा व्यक्त करनेके लिए लक्ष्मीके द्वारा प्रदर्शित किया गया, उसका कर-कमल हो ॥४॥ उसके यहाँ धर्म-रत्न उत्पन्न हुआ । यो वह समुद्रके जलमें तैरने आदि अनेक कार्योंमें उपयोगी होनेसे सगर्व-सा था किन्तु चक्रवर्तीके पुण्यके वैभवसे प्रभावित होकर उसकी इच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला हो गया ॥५॥ वह धर्मरत्न ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी महिमासे पराजित होकर जगमगाती ज्योतिसे उज्ज्वल और विशाल मण्डलवाला आकाश संकुचित होकर उसकी शरण पाकर, उसके घर, पृथ्वीमें फैला हुआ पड़ा हो ॥६॥ चक्रवर्तीके जगन्तरोमें संचित शुभ कामोंको प्रेरणासे उसके यहाँ दण्डरत्न उत्पन्न हुआ, जो पर्वत और वज्र आदि

१. इ मण्डलं । २. वा स पाशुं । ३. वा स पाशो । ४. = तोये जले । ५. 'मपीनोक्तम् । ६. वा स गम् गतो । ७. = बिस्तारितम् । ८. वा स 'प्रसारितं मधुतारितम्' इति नोपलभ्यते । ९. = प्रकुच्य पटोयम् ।

यद्भराज निजभासुरप्रभाभासिताखिलनभोदिवन्तरम् ।
 तद्भयाधिगतवेषयोश्च्युतं वासवस्य कुलिशं करादिषु ॥ ८ ॥
 भास्करादिगणोचरीभवद्भवान्तपाटनविधौ पटोयसी ।
 किकरत्वमभजत्समुज्ज्वला तारकाधिपकलेष काकणी ॥ ९ ॥
 प्रोद्भूय नवमेघमेवकप्रान्तवर्तिमिरक्षतिक्षमः ।
 रत्नदर्पण इव श्रियः स्फुरद्दीपभासुराशिखः शिखामणिः ॥ १० ॥
 स्वन्दमानमद्विभोरक्षलक्ष्माणवामरचिराजितो गजः ।
 तद्गुणवगुणनिर्जितश्चलत्तुलराडिव ययावृपानतम् ॥ ११ ॥

शुभनामकर्मणाभ्युदितं प्रेरितम् । दण्डरत्नम्, अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् ॥७॥ यदिति । यत् दण्ड-
 रत्नम् । निजभासुरप्रभाभासितनभोदिवन्तरं निजस्य स्वस्य भामुगणा देदीप्यमानानां प्रमाणा कान्तोना
 आरेण समूहेन भासितं प्रकाशितं नभसो गगनस्य दिशा ककुभामन्तरं मध्यं यस्य (येन) सत् । तद्भयाधिगत-
 वेषयोः तस्माद्विजितसेनाज्जातभयाद्भूतेरधिगताः प्राप्तो वेषयुः कम्पन यस्य (येन) तत्प । वासवस्य दवेन्द्रस्य ।
 करात् हस्तात् । च्युतं पतितम् । कुलिशनिव वज्रमिव । राराज राजति स्म । राज्ञः दीप्ती लिट् ।
 उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥ भास्करेति । भास्कराधिपगोचरीभवद्भवान्तपाटनविधौ भास्करस्य मूर्त्यस्याधिष्ठोऽधिककाले-
 रगोचरीभवस्याविवयभूतस्य ध्वान्तस्य तमसः पाटनस्य भेदनस्य विधौ विधाने । पटो, पमी प्रकृष्टपट्वी ।
 तारकाधिपकलेष तारकाधिपस्य चन्द्रस्य कलेष पोशभागा इव । समुज्ज्वला प्रज्वला । काकणी काकणी-
 नामरत्नम् । किकरत्व भूत्यत्वम् । अभजत् आश्रयन् । उपमा ॥ ९ ॥ प्रोद्भूयेति । नवमेघमेवकप्रान्तवर्ति-
 तिमिरक्षतिक्षमः नवमेघ इव वर्षाकालमेव इव मेवकस्य नोलवर्णस्य प्रान्ते मर्मोप यतिना विद्यमानस्य
 तिमिरस्य तमसः क्षतो विनाशने क्षमः समर्थः । श्रियः आदेष्टव्यः । रत्नदर्पण इव रत्नमुकुट इव । स्फुरद्दीप-
 भासुराशिखः स्फुरतः प्रज्वलतो दीपस्य प्रदीपस्य (इव) भामुगा दीप्यमाना शिखा उज्ज्वला यस्य स । शिखा-
 मणिः चूडामणिः । प्रोद्भूय भूय उत्पद्यते स्म । भू सत्ताया लिट् ॥ १० ॥ स्वन्देति । स्वन्दमाननशीलं रत्नं स्वन्दमानः
 लवन् मदस्य मदलस्य निरंतरं प्रवहो यस्य स । चलत्त्वाम्बामगविर्गजित चलत्तुः कम्पमानंदवानामर्मनो-
 हरीरवामरैश्चमरीरुः । विराजितो विभामित । गजः गज्जत्नम् । तद्गुणवगुणनिर्जितः तस्याजितसेनस्य
 गुणवमेव गुणस्तेन निर्जितो विजितः । तुलराट् महामेघवन्त । छलत् (गजरत्न-) व्याज्राडिव । उपार्णित

भेदन-जैसे बहुत-से कार्योमें अत्यन्त पटु था । ॥ ७ ॥ दण्डरत्नने अपनी जगमगाती प्रभासे पूरे
 आकाश और सभी दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित कर दिया था । वह ऐसा जान पड़ता था
 मानो चक्रवर्तीके भयसे कांपनेवाले इन्द्रके हाथमें गिरा हुआ वज्र हो ॥ ८ ॥ सूर्य आदिकी प्रभा
 जहाँ नहीं पहुँच सकती वहाँ अन्धकारको हटानेमें समर्थ, उज्ज्वल और इमोलिए चन्द्रकला
 सरोखी काकणी (काकणीरत्न) चक्रवर्तीकी सेवामें उपस्थित हुई ॥ ९ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ चूडा-
 मणिरत्न उत्पन्न हुआ, जो अपने आस-पासमें फैले हुए, वर्षाकालीन मेघकी भाँति काले और
 गाढ़ अन्धकार को मिटानेमें समर्थ था, जिसकी आभा जलते हुए दीपककी लौ के समान थी
 और जो ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका रत्नदर्पण हो ॥ १० ॥ अजितसेनकी सेवामें एक
 गजरत्न उपस्थित हुआ । उसका मदजलका प्रवाह वह रहा था और वह चलते हुए चामरों
 (चैवरों) से सुशोभित था । ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके गौरवमें पराजित हुआ
 पर्वतराज मुमेरु अपना हिमालय उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो, जिसके ऊपर झरने वह रहे

१ एष पाठहीकाश्रयः, 'प्रतिपु तु दिग्ग' इत्येव दृश्यते । २ = प्रोज्ज्वला । ३ = बालव्यवर्तनः ।
 'चामरं बालव्यवर्तन रोममुच्छः प्रकीर्णकम् ।' इति हैम ।

अस्खलद्गतिं बृहद्भ्रान्तिं वाजिरत्नमसद्वैष्मनोजवम् ।

तन्निभेन विदधे समीपगस्तस्य बाधुरिषं पर्युपासनम् ॥ १२ ॥

शक्रदुर्विषहशक्तिभीषणस्तेजसा विजिततारकाधिपः ।

शौर्यभूररिभियामभूरभूत्कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः ॥ १३ ॥

देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षमः ।

देहबद्ध इव पुण्यसंचयः संवभूव भवने पुरोहितः ॥ १४ ॥

सेवाम् । ययौ इयाय । या प्रापणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥ अस्खलदिति । अस्खलद्गतिं स्खलनरहिता गति-
गमनं यस्य तत् । बृहद्भ्रान्तिं बृहता महता बलेन शक्त्यान्वितं युक्तम् । मनोजवं मन इव जवो वेगो
यस्य तत् । बाजिरत्नम् अववरत्नम् । अमदन् प्रसन्नमभवत् । पदलं विशरणगत्यवसादनेषु लुब्धं । ॐ सति-
शक्ति— इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । तन्निभेन तस्याववरत्नस्य निभेन व्याजेन । तस्य नृपस्य । समीपगः
समीपं गच्छति स्म तथोक्तः, निकटमागत इत्यर्थः । बाधुरिष वात इव । पर्युपासनं सेवाम् । विदधे चकार ।
दुष्पाद्धारणे च लिट्^३ । उत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥ शक्रति । शक्रदुर्विषहशक्तिभीषणः शक्रेण देवेन्द्रेण दुःसहया
शक्त्या सामर्थ्येन भीषणो भयंकरः, पक्षे शक्तिर्नामायुधविशेषस्तथा भयंकरः । तेजसा कात्या, पक्षे प्रतापेन ।
विजिततारकाधिपः विजितो निजितस्तारकाधिपद्वन्द्वो यस्य (येन) स, पक्षे पराजिततारकाधुरः । 'बाहुले-
यस्तारकजित्' इत्यभिधानात् । शौर्यभू शौर्यस्य प्रतापस्य भू स्थानम् । अरिभियाम् अरिभिः कृतानां मिथं
भयानाम् । अभूः अस्थानम् । कार्तिकेय इव यन्मुख इव । वाहिनीपतिः सेनापतिरत्नम् । अभूत् अभवत् ।
भू सत्ताया लुट् । उपमा ॥ १३ ॥ देवेति । देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षमः । देवः सुरैर्मानवैर्मनुष्यैः
शुभस्य (शुभात्) इतरेऽनुमास्त एव ग्रहाः शनेऽस्त्राद्यशुभग्रहा इत्यर्थः । अशुभग्रहैश्च प्रापिता कृता सा
चासावापच्च तथोक्ता तस्या अपहस्तने विनाशने क्षमः समर्थः । देहबद्धः शरीरसंबद्धः । पुण्यसंचय इव
पुण्यानां शुभकर्मणा संचयः समृद्ध इव (समृद्ध, स इव) । पुरोहितः पुरोहितरत्नम् । भवने राजमन्दिरे ।

हो और जो चमरमृगोके बालोसे अलंकृत हो ॥ ११ ॥ चक्रवर्तिको अदवरत्नकी प्राप्ति हुई ।
उसकी गति अस्खलित थी; उमका वेग वायुके समान था और वह बड़ा बलवान् था । वह
ऐसा जान पड़ता था मानो अजितसेनकी सेवामें उस (अदव) के बहाने वायु उपस्थित हो
गया हो ॥ १२ ॥ अजितसेनका सेनापति कार्तिकेयके समान था । कार्तिकेय अपने पास शक्ति
नामक आयुध रखते थे । वह आयुध शत्रुओंके लिए असह्य था । फलतः शत्रु लोगोको कार्ति-
केय भीषण थे । कार्तिकेयने अपने तेजसे तारक नामके अमुरको जीत लिया था । कार्तिकेय
पराक्रमके निवास स्थान थे, सर्वथा निर्भय थे और थे सेनापति । इसी तरह अजितसेनका सेना-
पति सामर्थ्यसे सम्पन्न था, शत्रु उसके सामर्थ्यको असह्य जानकर उससे डरते थे । उसने अपनी
कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया था; वह पराक्रमी था और था निर्भय ॥ १३ ॥ चक्रवर्तिके यहाँ
पुरोहितरत्न उत्पन्न हुआ । वह देव, मानव और अशुभ ग्रहोंके निमित्तसे होनेवाली विपदाओं-
को दूर करनेमें समर्थ था, और वह ऐसा जान पड़ता था मानो मूर्तिमान् पुण्यराशि हो—पुण्य-

१. अ क ख ग घ म 'मसिधन्मनो' । २ अ 'योजनानि य उदित्य गच्छति द्वादश क्षणत ईदृशो
धनुः । शत्रुतारककृतधयः समी कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः ।' एष त्रयोदशः श्लोकः । ३. आ प्रतापेन
स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो दृश्यते । ४. एष माडण्डिकाकुरभिमतः, प्रतिपु तु शत्रु इत्येवकोषयते ।

तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः ।
 ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा संनिभः स्थपतिरप्यजायत ॥ १५ ॥
 'चित्तपट्टलिखितव्ययागमो नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः ।
 लोकवृत्तविबुद्धाधीरधीसंगतो गृहपतिः समुद्ययौ ॥ १६ ॥
 'प्रासदञ्जिति शशिप्रभाम्बिता रत्नशब्दगदिताश्चतुर्दश ।
 तस्य भाग्यभवनस्य भूपतेर्दुर्लभं किमथवा शुभोदये ॥ १७ ॥
 नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः ।
 रत्नवच्च निधयः सुकर्मणस्तस्य सन्निभ नवोपतस्थिरे ॥ १८ ॥

संभवूष संजायते स्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा ॥ १४ ॥ तत्क्षणेति । तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्प-
 सवनादिसाधकः तत्क्षणेन क्षणमात्रेणामिलषिताना बाञ्छितानाममराधिरस्य देवैर्गृहस्थावासस्य विमानस्य
 कल्पानां सदृशानां सवनादीनां मन्दिरादीनां साधको निर्माणकः । शिल्पकर्मणविश्वकर्मणां शिल्पकर्मणा
 नानाविधशिल्पक्रियया प्रतीतः शिल्पकर्मणः, 'तेन वित्ते चूडचूषणौ' इति प्रतीतायै षण-प्रत्ययः, स बासी
 विश्वकर्मा ब्रह्मा तेन । संनिभः समानः । ब्रह्मणा देववर्षदिना वा समानः-इत्यर्थः । स्थपतिः तत्क्षकरत्नमपि ।
 जायत समभवत् । जनैश्च प्रादुर्भावे लट् । उपमा ॥ १५ ॥ चित्तेति । चित्तपट्टलिखितव्ययागमः चित्तमेव मन
 एव पट्टो लेखनपत्रं तत्र लिखितो व्ययागमो येन सः । कृपकम् । नित्यकृत्यगृहकार्यकोविद नित्यमनवरतं कृत्ये
 विधानुं योग्यं कार्यं क्रियायां कोविदो निपुणः । लोकवृत्तवित् लोकस्य वृत्त बासी वित् ज्ञानम् । उदारधीर-
 धीसंगतः उदारया गम्भीरया धीरया धीररूपया विद्या संगत सयुतः । गृहपतिः गृहपतिरत्नम् । समुद्ययौ
 समुद्भवूष । या प्रापणे लिट् ॥ १६ ॥ प्रासदञ्जिति । भाग्यभवनस्य भाग्यस्य भवनस्य स्थानस्य । तस्य
 भूपतेः अजितसेनस्य । शशिप्रभाम्बिताः शशिश्रमया शशिप्रभादेव्या अम्बिता युनताः । रत्नशब्दगदिताः रत्न-
 शब्देन गदिताः प्रोचताः । चतुर्दश चतुर्दशप्रमिताः । प्रासदम् प्रकृता अवसन् । अवसा तथा हि । शुभोदये
 पुण्योदये । दुर्लभं प्राप्नुवसक्यं किम् । अर्वांतरस्यास ॥ १७ ॥ नित्येति । नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तित-
 विचित्रवस्तवः नित्यमनवरत संनिहितार्थिदेहेन युक्ताभिर्देवताभिर्देवतानि चिन्तितानि स्मृतानि विचित्राणि
 नानाविधानि वस्तूनि येषां ते । नव नवसक्याः । निधयः कालादिनिधयः । रत्नवत् रत्नानीव । मुकर्मणः
 पुण्यवतः । तस्य अजितसेनस्य । सन्निभ मन्दिरे । उपतस्थिरे प्रापु । छा गतिनिवृत्तौ लिट् । उपमा ॥ १८ ॥

राशिकी मूर्ति हो ॥ १४ ॥ उसके यहाँ शिल्पिरत्न उत्पन्न हुआ । वह शीघ्र ही इच्छित, इन्द्रके
 निवास मन्दिर सरोखे महलोके निर्माणमे चतुर था, और इसीलिए वह सारी शिल्पकारीको
 जाननेवाले ब्रह्मके समान था ॥ १५ ॥ उसके यहाँ गृहपतिरत्न उत्पन्न हुआ । वह अपने
 चित्तरूपी लकड़ीके पट्टियेपर आय और व्ययका हिसाब लिखता रहता था—वहीमें लिखे बिना
 ही वह सारे आय और व्ययके हिसाबको याद रखता था । वह प्रतिदिन करने योग्य घरके
 कार्योंमे प्रवीण था, लोकव्यवहारका जानकार था और उसको बुद्धि उदारता और धीरतासे
 युक्त थी ॥ १६ ॥ इस प्रकार उस भाग्यशाली चक्रवर्तीको शशिप्रभा सहित चौदह रत्न प्राप्त हुए ।
 शुभोदय होनेपर क्या दुर्लभ है ? ॥ १७ ॥ पुण्यादमा चक्रवर्ती अजितसेनके घर चौदह रत्नोंकी
 तरह नौ निधियाँ भी उपस्थित हुईं । वे निधियाँ अपने पास रक्षाके निमित्तसे रहनेवाले सदेह

१. म चित्रपट्ट । २ क ल ग घ म प्रासिधञ्जिति । ३. = निर्माता । ४. सर्वांगु मूलप्रतिषु 'ब्रह्मणा
 सकलशिल्पकर्मणा' इत्येव पाठः समुद्रमन्त्रे । ५. = लोहवृत्तं वेति श्रुतावति लोकवृत्तवित् ।

तेषु माषवणकातसीतिलमीहिशालियवमुद्गकोद्रधान् ।

पाण्डुकः सततमेवमादिकान्क्षुमयामयहरान्यशिश्रणत् ॥ १६ ॥

कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणिमेखलादिकम् ।

रत्नरश्मिदक्षिणं विभूषणं चित्तवाञ्छितमदत्त पिङ्गलः ॥ २० ॥

वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं चित्तहारि सकलतुंगोचरम् ।

पुष्पपल्लवमथोत्तमं फलं तस्य कालनिधिरीप्सितं ददौ ॥ २१ ॥

रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतो भिद्यमानवपुष्टमोत्तमम् ।

वाद्यवस्तु सुखकारि कर्णयोस्तस्य शङ्खनिधिना ग्यतीर्यत ॥ २२ ॥

तेष्विति । तेषु निधिषु । पाण्डुकः^१ पाण्डुकालयनिधिः । क्षुमयामयहरान् क्षुमया एवामया व्याधयस्तान् हरन्तीति क्षुमयामयहरास्तान् । माषवणकातसीतिलमीहिशालियवमुद्गकोद्रधान् माषव, वणको हरिमन्धकः स च, अतसी उमा सा च, तिलव, मीहि, शालिव, यवव, मुद्गव, कोद्रवव, तथोक्तास्तान् । एवमादिकान् एवं प्रमुखात् धान्यविशेषान् । सततम् अन्तरतम् । व्यशिश्रणत् अददात् । श्रण दाने लङ् । ॥१६॥ कान्तेति । पिङ्गलः^२ पिङ्गलालयनिधिः । रत्नरश्मिदक्षिणं रत्नाना रश्मिभिः कान्तिभो दक्षिणं मनोहरम् । चित्तवाञ्छितं चित्तेन मनसा वाञ्छितमभिलषितम् । कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणि-मेखलादिकं कान्ते च ते कुण्डले च तथोक्ते, मनोज्ञा चासौ मुद्रिका च तथोक्ता, तारो निर्मलः स चासौ हारव च तथोक्तः, मणिभिर्निर्मिता मेखला काञ्चोदाम, सा च मणिमेखला च तथोक्ता—कान्तकुण्डले च मनोज्ञमुद्रिका च तारहारव च मणिमेखला च तथोक्तास्त आदयो यस्य^३ तत् । विभूषणम् आभरणम् । अदत्त अददात्^४ । दृढाङ् दाने लङ् । ॥२०॥ वृक्षेति । अथ पुनः । कालनिधिः कालालयनिधिः^५ । तस्य चक्रिणः । ईप्सितं वाञ्छितम् । वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं वृक्षवृत्तादिगुल्मो वृक्षादिर्लतिका द्राक्षादिः—वृक्षव गुल्मव लतिका च तथोक्ताः, तानु समुद्भवं निष्पन्नम् । चित्तहारि मनोहारि । सकलतुंगोचरं सकला ऋतव एव गोचरो विषयो यस्य तत् । पुष्पपल्लवं पुष्पं च पल्लवव च तथोक्तम् । 'फलं जातिः' इति द्वन्द्व एकवद्भावः । उत्तमं श्रेष्ठम् । फलं फलजातिम् । ददौ विश्राण । दृढाङ् दाने लिट् ॥२१॥ रन्ध्रेति । रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतः रन्ध्रं वंशादि नटं भेदादि निबिडं वीणादि रन्ध्र च नटं च निबिडं च तथोक्तानि सान्येवादिः (दो) येषां ते तथोक्तास्त एव भेदास्तेभ्यो रन्ध्रनटनिबिडादिभेदतः । भिद्यमानवपुः भिद्यमानं वपु स्वरूपं यस्य तत् । उत्तमोत्तमम् अत्यन्तोत्तमम् । कर्णयोः श्रवणयोः । सुखकारि आह्लादनकारि । वाद्यवस्तु पञ्चमहावाद्यवस्तु । तस्य चक्रिणः । शङ्खनिधिना शङ्खालयनिधिना । व्यतीर्यत दीयते स्म । तु

देवीं द्वारा चक्रवर्तीको मनचाही विचित्र चीजें प्रदान करती थीं ॥१८॥ उन नौमें एक पाण्डुक नामकी निधि थी । वह भूलकी व्याधिको दूर करनेवाले उडुद, चने, अलसी, तिल, सामान्य धान्य-मीहि, विशेष धान्य-शालि (साठिया धान), जौ, मूग और कोदों आदि खाद्यान्नोंको सदा प्रदान करती थी ॥१९॥ पिङ्गल नामकी निधि रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित सुन्दर कुण्डल, मनोज्ञ अँगूठियाँ, जगमगाते हार और मणिरचित करधनी आदि इच्छित आभूषण प्रदान करती थी ॥२०॥ काल नामकी निधि वृक्षों, झाड़ियों और लताओंमें उत्पन्न होनेवाले, मनोहर, छहों ऋतुओंके फूल, कोंपल और उत्तम फल चक्रवर्तीकी इच्छानुसार प्रदान करती थी ॥२१॥ शंख नामकी निधि बांसुरी, मृदङ्ग और वीणा आदि नाना प्रकारके कानोंको

१. य स पाण्डुकः । २. = यस्मिन् । ३. आ अददात् । ४. आ 'कालनिधिः कालालयनिधिः' इति नोपलभ्यते । ५. आ द्वन्द्वैकत्वम्, य स द्वन्द्वैकवद्भावः ।

चित्रनेत्रपटवीनपट्टिकारत्नकम्बलपटोपटादिकम् ।
 वस्त्रजातमखिलं महागुणं चित्रहारि विततार पद्मकः ॥ २३ ॥
 कञ्जताम्रनपनीयनिर्मितं त्रापुपं रजतलोहसंभवम् ।
 मन्दिरोपकरणं ददौ महाकालनामनिधिरयमादिकम् ॥ २४ ॥
 प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं शक्तिशङ्कुतरवारितोमरम् ।
 शस्त्रजालमिदमादि माणवः शाश्वतमददादुरुग्रमम् ॥ २५ ॥
 सोपधानशयनासनादि यदेहनिर्वृतिविधायि मार्दवम् ।
 तत्समस्तमजनिष्ट तस्य नैपूर्वसर्वनिधिसंप्रपादितम् ॥ २६ ॥

प्लवनतरणयोः कर्मणि लट् ॥ २२ ॥ चित्रेति । चित्रहारि मनोहारि । महागुणं महागुणकारित्वादित्यभाव-
 युक्तम् । चित्रनेत्रपटवीनपट्टिकारत्नकम्बलपटोपटादिकं चित्रवत्वात् नैत्रपटवश्च चित्रनेत्रपटो चित्रचन्द्रमूत्रसं-
 नेत्रं मुद्रगुणं वस्त्रे तत्समं विलोकने । नेत्रं रथे च नाड्या (वशा) च नेत्रो नेतर भेदवत् ॥ इति विश्वः,
 चित्रनेत्रपटवश्च, चीन कोनैय तच्च, पट्टिका कटिवेष्टन सा च, रत्नकम्बलो लोहितकम्बलः स च, पटो द्विपट्टिका
 सा च, पटः सामान्यवस्त्रं स च तथोक्ता ते आदिः (आद्यो) यस्य लट् । अखिल निखिलम् । वस्त्रजालं
 वस्त्रसमूहम् । पद्मकः पद्मनिधिः । विततार ददौ । नृ प्लवनतरणयोः लट् ॥ २३ ॥ कञ्जति । कञ्जताम्रनपनीय-
 निमित्तं ताम्रं च तपनीयं च तथोक्ते कञ्जं च तं ताम्रतपनीये च ताम्र्या निमित्तं रचितम्, ताम्रमृगवर्णवर्णित-
 मित्यर्थः । त्रापुपं त्रपुषो विकारस्त्रापुपं त्रपुभाजनम् । रजतलोहसंभवं रजतं रूप्यं लोहं च ताम्रं संभवम् ।
 एवमादिकम् एवं प्रकारम् । मन्दिरोपकरणं मन्दिरस्य शिवसदनयोपकरणम् । महाकालनिधि महाकालाध्य-
 निधिः । ददौ दच्छति स्म । हुडाञ्च दाने लिट् । स्वभावोक्तिः ॥ २४ ॥ प्राप्तेति । प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं
 प्रासः कुन्तामृगं सायको बाणो रथाङ्गं चक्रं मुद्गरं (र.) लोहयुद्धा—प्रासश्च सायकश्च रथाङ्गं च मुद्गरश्च
 तथोक्तम् । शक्तिशङ्कुतरवारितोमरं शक्तिश्च शङ्कुश्च तरवारश्च तोमरश्च तथोक्तम् । 'वा एति शल्यं
 शङ्कुर्ना सर्वला तोमराऽस्त्रियाम्' । इत्युभयत्र, पयसः । शाश्वतं तद्वन्तीति तथोक्तम् ।
 उरुग्रमम् उर्वी प्रमा यस्य लट् । इदम् एतत् । इदमादि इदप्रभृति । शस्त्रजालं शस्त्राणामायुधानां जालं
 समूहम् । माणवः माणवाभ्यनिधिः । अददात् अदत् । हुडाञ्च दाने लट् ॥ २५ ॥ सोपधानेति । यत्, देहनि-
 र्वृतिविधायि देहस्य शरीरस्य निर्वृतिं सुखं विधत्ते इत्येव शीलं तथोक्तम् । मार्दवं मुदुस्त्वभावम् । सोपधानशय-
 नासनादिकं सोपधानम् उपधानेनोपबर्हेण सह वर्तते इति तथोक्तम् । सोपधानं च तच्छयनं च, तच्च आसनं
 च सोपधानशयनासने ते आदि (आदौ) यस्य लट् । तत्समस्तं तत्सकलम् । नैपूर्वमर्पनिधिसंप्रपादितं
 नै एव पूर्वस्मिन् यस्य स नैपूर्वं स चामो संपनिधिव तथोक्तस्तेन नैमर्पनिधिसा संप्रपादितं संप्रदत्तम् । तस्य

सुखं देनेवाले उत्तमोत्तम वाद्य, चक्रवर्तीको देवी थी ॥२२॥ पद्म नामक निधि विचित्र सूक्ष्म
 वस्त्र, चाइना सिल्क, कमरबन्द, लालकम्बल, दुपट्टे एवं लाभकारी और सभी प्रकारके सुन्दर
 वस्त्र चक्रवर्तीको दिया करती थी ॥२३॥ महाकाल, नामक निधि राजमहलके योग्य, सुन्दर
 तबिये, सोने, शीशे, चांदी और लोहे आदिके बने पात्र (लोटे, गिलास, थाली, घड़े आदि)
 प्रदान करती थी ॥२४॥ माणव नामक निधि भाले, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति, शंख, खड्ग
 और तोमर आदि नाना प्रकारके, वैरियोंको मारनेवाले चमकीले हथियार देती थी ॥२५॥
 चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ उसके शरीरको सुख देनेवालो कोमल तनिक्या, सेज और आसन

१. अ महाताल । २. आ नेत्रमणिगुणं । ३. आ नाड्या । ४. एव टीकापाठः, सूत्रप्रतिपु
 'वस्त्रजातम्' इत्येव समुपलभ्यते । ५. = एवं प्रकारकम् ।

चित्ररत्नकिरणैः प्रवर्तयन्त्योमनीन्द्रधनुर्दृष्ट्वां श्रियम् ।

सर्वरत्ननिधिरस्य सर्वदा सर्ववाञ्छितफलप्रदोऽभवत् ॥ २७ ॥

नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनीं तादृशीमपि विलोक्य तां श्रियम् ।

धर्म एष हि सतां क्रमागतो यन्न याति विभवेन विक्रियाम् ॥ २८ ॥

वीतरागचरणौ समर्च्य सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः ।

संपदा परमया सबान्धवः स व्यधत्त निधिरत्नपूजनम् ॥ २९ ॥

चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं तस्य पार्थिवसमूहसंगतः ।

पट्टबन्धविधिमन्यदा स्वयं संनिधाय निरवर्तयद्गुरुः ॥ ३० ॥

चक्रिणः । अत्रनिष्ठ अभूत् । वनेड् प्रादुर्भावे लिङ् ॥ २६ ॥ चित्रेति । चित्ररत्नकिरणैः चित्राणां नानाविधानां रत्नानां मणोनां किरणमयूखैः । व्योमनि गगने । इन्द्रधनुर्दृष्ट्वाम् इन्द्रधनुषि (घः) उद्भूतामुद्भूताम् । श्रियं शोभाम् । प्रवर्तयन् कुर्वन् । सर्वरत्ननिधिः सर्वरत्नानां निधिः^१ (सर्वरत्नाख्यनिधिः) । अस्य चक्रिणः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । सर्ववाञ्छितफलप्रदः वाञ्छितं च तत्फलं च तथोक्तं सर्वं च तद् वाञ्छितफलं च तथोक्तं सर्ववाञ्छितफलं प्रददातीति तथोक्तः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥ २७ ॥ नोद्वेति । सः चक्री । मदप्रवर्तिनीं मदं गर्वं प्रवर्तयति इत्येवं शोभा मदप्रवर्तिनी ताम् । तादृशीमपि, तां श्रियं संपत्तिम् । विलोक्य विलोकनं पूर्व० वीक्ष्य । नोदसिक्त शिवितो नामवत् । शिवी क्षरणे इति घातोर्लुङ् । विभवैव संपदा । (सन्त) विक्रिया विक्राम् । न याति न गच्छन्ति । या प्रापणे लिट् । यत् यस्मात् । एषः अयम् । सताम्^२ । क्रमागतः क्रमात् परिपाटया आगतः । धर्मो हि स्वभावो हि । अचन्तिरन्यासः ॥ २८ ॥ वीतरागेति । सबान्धवः बान्धवैः सह वर्तते इति तथोक्तः, बन्धुसहित इत्यर्थः । सः चक्री । सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः गन्धश्च धूपश्च कुसुम चानुलेपनं च तथोक्तानि, सति च तानि गन्धधूपकुसुमानुलेपनानि च तैः । वीतरागचरणौ वीतरागस्य सर्वज्ञस्य चरणौ पादौ । समर्च्य संपूज्य । संपदा संपत्त्या सह । निधिरत्नपूजन निधीना नवनिधीनां^३ रत्नानां चतुर्वंशरत्नानां च पूजनमर्थनम् । व्यधत्त चकार । दुष्वाङ् धारणे च लङ् ॥ २९ ॥ चक्रवर्तीति । पार्थिवसमूहसंगतः पार्थिवानां—पृथिव्या ईशाः पार्थिवाः 'ईशे' इत्यङ्—प्रत्ययः^४, तेषां समूहेन सदाहेन संगतः सहितः । गुरुः पिता । तस्य चक्रिणः । चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं चक्रवर्तिनः सार्वभौमस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्योचितं योग्यमुत्सवम् (निःवर्तयत्, यन्न) । पट्टबन्धविधि पट्टबन्धस्य पट्टाभिवेकस्य विधिम् । अन्यदा अन्यदिनम् दिने । स्वयं

आदि सारी चोर्जे नैसर्प निधिके द्वारा दी हुई थी ॥ २६ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ सदैव उसके सब प्रकारके मनचाहे फलको देनेवाली सर्वरत्न निधि नामकी निधि थी, जो नाना प्रकारके रत्नों और मणियोंकी किरणोंसे आकाशमें इन्द्र धनुषकी शोभा फैलाया करती थी ॥ २७ ॥ गर्वको उत्पन्न करनेवाली ऐसी विभूतिको देखकर भी वह चक्रवर्ती कभी सगर्व नहीं हुआ । क्योंकि सच तो यह है कि सज्जनोंका कुल परम्परासे चला आया यह स्वभाव होता है, कि वे वैभवके निमित्तसे कभी इतराते नहीं ॥ २८ ॥ चक्रवर्ती अजितसेनने अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ श्रेष्ठ चन्दन, धूप, पुष्प और लेपनसे वीतराग प्रभु—अरहन्तके चरणोंकी पूजा की और फिर उत्तम सम्पत्ति व्यय करके नौ निधियों और चौदह रत्नोंकी भी पूजा की ॥ २९ ॥ इसके पश्चात् एक दिन चक्रवर्ती अजितसेनके पिता अजितजयने स्वयं सभी राजा-महाराजाओंकी उपस्थितिमें चक्रवर्तीकी शानके अनु-

१. अ क ख ग घ याति । २. आ 'सर्वरत्नानां निधिः' इति नोपलभ्यते । ३. = सज्जनानाम् ।

४. श स नवरत्ननिधीनाम् । ५. अ श स ईश इत्यङ्—प्रत्ययः ।

केवलं तदभिषेकवारिभिर्दूरमुच्छ्वसद्भूत भूतलम् ।
 हर्षसागरविषर्तवर्तिनां सर्ववन्धुसुहृदां च मानसम् ॥ ३१ ॥
 सप्रसादसविकासतारकं निर्मलाम्बरतया मनोहरम् ।
 केवलं न पुरलोकयोषितां मण्डलं समभवद्दिशामपि ॥ ३२ ॥
 लब्धसौरभगुणैर्भुज्यतयातुम्बितविकासिकैसरैः ।
 पर्यपूरि कुसुमोत्करैः परं भूमिजैर्न दिविजैरपि क्षितिः ॥ ३३ ॥
 संततोत्सवनिविष्टचेतसां संबभूव सुहृदां न केवलम् ।
 विद्विषामपि भविष्यदापदां सवतोऽप्युदितकेतु मन्दिरम् ॥ ३४ ॥

संविधाय संनद्धो भूत्वा । निरवर्तयत् बकरोत् । वृष्ट् वर्तने लङ् ॥ ३० ॥ केवलमिति । तदभिषेकवारिभिः
 तस्य पट्टाभिषेकस्य वारिभिः सलिलैः । केवलं मुक्यम् । भूतलं भूमितलम् । दूरं निताप्तम् । उच्छ्वसत्
 प्रवर्धमानम् । नाभूत् नाभवत् । लुङ् । हर्षसागरविषर्तवर्तिना हर्षं संतोषं स एव सागरस्तस्य समुद्रस्य
 (स एव सागरः समुद्रस्तस्य) विषर्तं जलधमे वर्तिना स्थितानाम् । सर्ववन्धुसुहृदा सर्वेषां बन्धुना सुहृदां
 मित्राणाम् । मानसं च चित्तं च, उच्छ्वसद्भूतवर्त्यः ॥ ३१ ॥ सेति । दिशां वकुभाम् (पुरलोकयोषितां
 पौराज्जनानाम्) । मण्डलं समुद्रः । निर्मलाम्बरतया निर्मलं मलरहितमम्बरं वज्र यस्य तस्य भावस्तथोक्ता
 तया मलरहितवस्त्रयुक्तया, पक्षे मेघरहितगगनयुक्तया । सप्रसादसविकासतारकं प्रसादस्य विकासश्च तथोक्ता
 प्रसादविकासस्या सह वर्तत इति तथोक्ता । सप्रसादसविकासो तारका कनौनिका यस्य तत्, पक्षे तारका
 नक्षत्राणि यस्य तत् । मनोहरं मञ्जुलम् । केवलं मुक्यम् । न समभवत् नाभूत् । लङ् । पुरलोकयोषितामपि
 पुरलोकानां पुराणानां योषितामपि स्त्रीणां अपि (दिशामपि वकुभामपि) समभवत् (इति) शेषः ॥ ३२ ॥
 लब्धेति । लब्धसौरभगुणैः सौरभ एव गुणस्तथोक्तः, लब्धः सौरभगुणो यस्तैः । मन्त्रत्रयातुम्बितविकासि-
 कैसरैः मन्त्रत्रयानां भ्रमराणां व्रातेन समूहेन तुम्बिता आवृता विकासिनः कैसरा विच्छेदका येषां तैः । भूमिजैः,
 कुसुमोत्करैः कुसुमानां पुष्पाणामुत्करैर्निबद्धैः क्षितिः भूमिः । परं केवलम् । न पर्यपूरै न वःपत् । पूषालन-
 पूरणयोः कर्मणि लुङ् । (किन्तु) दिविजैरपि स्वर्गोत्पन्नैरपि । मुष्पण्वृष्टिरपि जातैर्यथैः ॥ ३३ ॥ सनेति ।
 संततोत्सवनिविष्टचेतसां संततमनवरतमुत्सवे निविष्टं न्यस्तं चेतश्चित्तं येषां तेषाम् । सुहृदा मित्राणाम् । मन्दिरं

कूल उत्सवके साथ अपने चक्रवर्ती पुत्रका पट्टाभिषेक किया ॥ ३० ॥ अजितसेनके अभिषेकके जल-
 से न केवल भूतल ही फूला, वरन् हर्षके समुद्रमे डुबकी लगानेवाले सभी बन्धुओं और मित्रोंके
 हृदय भी फूले नहीं समा रहे थे ॥ ३१ ॥ इस अवसरपर न केवल वहाँका महिलामण्डल ही
 बल्कि सारा दिङ्मण्डल भी मनोहर हो गया । महिलाओंका मण्डल स्वच्छ वस्त्र पहने हुए था,
 उसके चेहरेपर प्रसन्नता झलक रही थी, जिससे उसके नेत्रोंकी कनौनिकाएँ कमलकी भाँति
 खिल उठीं थी । इसी प्रकार आकाशकी निर्मलताके कारण सभी ताराएँ स्पष्ट ही प्रसन्नता
 हो गया ॥ ३२ ॥ उस समभ भूमि न केवल पार्थिव फूलोंकी राशिसे बल्कि दिव्य फूलोंकी राशिसे
 भी व्याप्त हो गयी । दोनों ही प्रकारके फूल अत्यन्त मुगन्धित थे और इसीलिए उनकी विकसित
 परागके ऊपर बैठकर भीरोंका झुण्ड उन्हें ढके हुए था ॥ ३३ ॥ निरन्तर उत्सव मनानेमें
 जिनका मन आसक्त था, उन मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ फहरा रहीं थी और जिनके ऊपर
 आपदाएँ आनेवाली थीं, उन शत्रुओंके महलोंपर केतु ग्रह उदित हो रहा था । इस अवसरपर

१. कूल ग ब कासितारकं । २. अ निर्मलं परतया । ३. = परम् । ४. = उच्छ्वसनम् । ५. व स
 लङ् । ६. आ वर्तते इति तथोक्ते । ७. = सप्रसादा सविकास च । ८. = परम् । ९. = न व्याप्ता ।

प्राप धारवनिताप्रवर्तितैर्गीतनृत्यविधिभिर्मनोहृताम् ।
 मेदिनी विहितलोकविस्मयैर्धौञ्च किन्नरघघूसमुद्भवैः ॥ ३५ ॥
 पेटुरित्य नटगायकादयो^१ मङ्गलं नृपतिमन्दिराङ्गणे ।
 तुम्बरुप्रभृतयश्च कोकिलालापकोमलगिरो नभोङ्गणे ॥ ३६ ॥
 धारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः केवलं न खलु राजवत्सलु ।
 वारिकैरपि^२ मनाक्प्रवर्धिभिः पांसवः प्रशममाशु निन्यरे ॥ ३७ ॥
 केवलं न मणिबन्धभासुरं तेन पुण्यजयिना नृपासनम् ।
 चकिरे गुरुज्जनाशिषोऽप्यधस्तम्मनोरथपथातिगमिष्या ॥ ३८ ॥

सदनम् । सर्वतोऽपि^३ सर्वस्मादपि । उदितकेतु उदिताः उत्पन्नाः । केतवो ऋषय इत्येतत् । केवलं परम् । न
 संबभूव संजायते स्म । भू सत्ताया लिट् । अपितु भविष्यदापदां भविष्यन्ती अपाद् येषां तेषां । विधिधामपि
 शत्रूनामपि । मन्दिरमुदितकेतु^४ संबभूवत्यर्थः ॥ ३५ ॥ प्रापेति । धारवनिताप्रवर्तितः धारवनिताभिर्गणिकाभिः
 प्रवर्तितैर्विहितैः । विहितलोकविस्मयैर्विहितः कृतो लोकस्य विस्मय आश्चर्यं येषां (मेः) तैः । गीतनृत्य-
 विधिभिः गीतनृत्ययोर्विधिविधानं । मेदिनी भूमिः । मनोज्ञतां मनोहरताम् । न प्राप न ययौ^५ । किन्नरघू-
 समुद्भवैः किन्नरस्य स्त्रीभिः समुद्भवैश्चैरपि^६ । दौष्टव्यं गणनमपि । मनोज्ञतां प्रापेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ पेटुरिति ।
 नृपतिमन्दिराङ्गणे नृपतेर्भूतेर्मन्दिरस्य सदनस्याङ्गणेऽङ्गरे । नटगायकादयोः नर्तकायकादयोः । एत्य आगत्य ।
 मङ्गलं मङ्गलस्तोत्रम् । पेटुः गायन्ति स्म । पठ व्यवसाया वाचि लिट् । नभोऽङ्गणे गगनाङ्गणे । कोकिलालापकोमल-
 गिरः कोकिलानां पिकानामालाप इव कोमला मृदुला शोभाणी येषां ते । तुम्बरुप्रभृतयः तुम्बरुमुखाश्च, पेटुरित्यर्थः
 ॥ ३६ ॥ वारिकैरिति । राजवत्सलु^७ राजवीर्यिणु । मृदुजलच्छटोद्यतैः मृदुजलस्य छटन(?)सेचनेन उद्यतैरुद्यतैः ।
 वारिकैः रथोदकवाहकैः^८ । केवलं परम् । पांसवः^९ रेणवः । प्रशमम् उपशमम् आशु शीघ्रम् । न खलु
 निविरे^{१०} नहि नयन्ति स्म । मनाक् किञ्चित् । प्रवर्धिभिः प्रशम्भिभिः । वारिकैरपि मेधैरपि । पामवः
 प्रशमं निन्यरे, इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ केवलमिति । पुण्यजयिना पुण्यजयतीत्यर्थं शीलस्तेन, धर्मजयित्वेत्यर्थः ।

न केवल मित्रोके बलिक शत्रुओंके भी महल उदितकेतु हो गये थे—मित्रोंके महलोके ऊपर
 केतु—पताकाएँ और शत्रुओंके महलोंपर केतु—केतुग्रह दृष्टिगोचर हो रहा था । मित्रोंने हादिक
 प्रसन्नता व्यवस्त करनेके लिए अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई थीं, और शत्रुओंने केवल व्यवहार
 बश अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई । किन्तु आश्चर्य है जो मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ उद्यो-
 की-र्यों फट्हाती रही पर शत्रुओंके महलोंकी पताकाएँ कट-फटकर नीचे गिर रहीं थीं ॥ ३४ ॥
 लोगोंको आश्चर्यजनक, वेद्योंओंके गान और नाचसे न केवल पृथ्वी ही, बल्कि गन्धर्वोंकी अङ्ग-
 नाओंके अद्भुत गान और नाचकी विधिसे आकाश भी मनोज्ञ हो गया ॥ ३५ ॥ इधर राज-
 महलके आगनमें पहुँचकर नटों, गायकों और उनके सहयोगियोंने मङ्गल-स्तोत्रोंका पाठ किया
 उधर कोकिलकण्ठ तुम्बरु आदिने बीच आकाशमें जाकर मङ्गलमय स्तवन पढ़े ॥ ३६ ॥ न
 केवल जल छिड़कनेवाले लोगोंने थोड़ा-थोड़ा-सा जल छिड़ककर सड़कों की धूलिको शान्त
 किया, बल्कि धीमी-धीमी वर्षा करनेवाले बादलोंने भी उसी काम (धूलि-शामन) को उनसे
 कहीं पहले ही पूरा कर दिया ॥ ३७ ॥ पुण्यात्मा राजकुमार अजितसेनने न केवल रत्न-
 जटित देदोप्यमान सिंहासनको ही (बैठकर) नीचा कर दिया, बल्कि गुरुजनोंके मनोरथसे भी

१. म 'गायनादयो' । २. अ वारिकैर्मृदु^३ । ३. = परितोऽपि । ४. = 'ग्रहभेदे ऋषजे केतुः' इत्यमरः ।
 ५. = प्राप ययौ—इति स्यात् । ६. = गीतनृत्यविधिभिरित्यर्थः । ७. = राजवाग्गेषु । ८. = छटाया सेचने-
 सेचनकर्मणि । ९. वा एषोदकवाहकैः । १०. आ वा पांसवः । ११. = नीयन्तेस्म ।

प्राप्य चक्रघरराज्यसंपदा^१ संगमं गुरुकृताभिषेचनः ।
 सोऽधिकं सहजदीधितिर्बभौ सूर्यकान्त इव सूर्यरोचिषा^२ ॥ ३९ ॥
 अन्तरेऽत्र नक्षत्रचन्द्रिकाबुम्बितत्रिदशराजमस्तकः ।
 भव्यलोकनिबहं प्रबोधयन्नाययौ जिनपतिः स्वयंप्रभः^३ ॥ ४० ॥
 सिंहविष्टरनिविष्टं मध्युतं तं निशम्य निकटव्यवस्थितम् ।
 निर्जगाम रमसेन वन्दितुं चक्रवर्तिसहितोऽजितंजयः ॥ ४१ ॥

तेन चक्रिणा । मणिबन्धमासुरं^४ मणे रत्नस्य बन्धेन कोलेन भानुरं देवोप्यमानम् । नृगसनं सिंहा-
 सनम् । केवलं परम् । अथ. अधोभागे । न (चक्रे), किन्तु तन्मनोरथपथातिगमिष्या तेषां गुरुजनानां
 मनोरथस्यामिलाषस्य पथं-[पन्थानं-] मतिमच्छतीति तन्मनोरथपथातिगा^५ सा चासौ श्रीश्च तथा ।
 गुरुजनानां योऽपि गुरुजनैर्गुणाढ्यसत्पुरुषैः कृता आशिष इष्टार्थसनवचनानि च । अध. नीचं । चक्रिरे
 बिदधिरे । दुष्कृत् करणे (कर्मणि) लिट् । श्रीः आशोरर्थादे- (आशिषो-) पश्चिका-इति भावः
 ॥ ३८ ॥ प्राप्येति । गुरुकृताभिषेचनः गुरुणा पित्रा कृतं विरचितमभिषेचनमभिव्यज्य यस्य सः । सहजदी-
 धितिः सहजा निसर्गजा दीधितिः कान्तिर्यस्यसः । सः चक्रो । चक्रघरराज्यसंपदा चक्रघरस्य चक्रेश्वरस्य
 राज्यस्य संपदा संपत्त्या । संगमं संबन्धम् । प्राप्य लब्धसः । सूर्यरोचिषा सूर्यस्य रोचिषा कान्त्या । सूर्यकान्त
 इव सूर्यकान्तशिले^६ बभौ भाति स्म । आ दीप्तो लिट् । अतिशय उत्प्रेक्षा वा (उपमा) ॥ ३९ ॥ अन्तर-
 इति । अन्तरे एतस्मिन् प्रस्तावे । नक्षत्रचन्द्रिकाबुम्बितत्रिदशराजमस्तकः नक्षा एव चन्द्रस्तेषां चन्द्रिका
 ज्योत्स्ना तथा बुम्बिता व्याप्ता^७ त्रिदशानां देवानां राज्ञां मस्तका यस्य^८ सः । स्वयंप्रभ. स्वयंप्रभ इति
 जिनपतिः तीर्थङ्करः । भव्यलोकनिबहं रत्नत्रयाभिर्बन्धनयोग्यभव्यलोकानां भव्यजनानां निबह समूहम् ।
 प्रबोधयन् प्रबोधयतीति तथोक्तः सन् । आययौ आजगाम । या प्रापणे लिट् । समाहितालङ्कारः (?) ॥ ४० ॥
 सिंहेति । सिंहविष्टरनिविष्टं^९ सिंहैर्मृगेन्द्रैर्धृतं विष्टरे पोटे निविष्टं स्थितम्^{१०} । तं जिनपतिम् । निशम्य
 आकर्ष्य । चक्रवर्तिसहितः चक्रेश्वरेण सहितः । अजितंजयः । वन्दितुं वन्दनाय । रमसेन शीघ्रम् । निर्जगामे^{११}

कहीं अधिक लक्ष्मी पाकर उन (गुरुजनो) के आशीर्वादोकी भी नीचा कर दिया ॥ ३८ ॥
 पिताने जब राज्याभिषेक कर दिया, तब राजकुमार अजितसेन चक्रवर्ती राज्यकी सम्पत्तिके
 सङ्गम या अधिकारको पाकर पहलेसे कहीं अधिक शोभायमान हुआ । जैसे स्वाभाविक ज्योतिसे
 युक्त सूर्यकान्त मणि सूर्यकिरणोका सम्पर्क पाकर अत्यधिक सुशोभित होने लगता है ॥ ३९ ॥
 इसी बीचमें स्वयंप्रभ नामक तीर्थङ्कर—जिनके चन्द्रसरीखे चरणनखोंकी चन्द्रिका-सी प्रभा
 देवैन्द्रोंके मस्तकको (भवितपूर्वक झुककर अष्टाङ्ग या पञ्चाङ्ग नमस्कार करते समय) प्रका-
 शित करती थी—भव्यजीवोंके समाजको प्रबोध देते या मोह निद्रासे जगाते हुए वहाँ (अजित-
 सेन भी राजधानीमें) पधारे ॥ ४० ॥ 'तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ बिलकुल निकटमें ही पधारे हुए है, वे
 अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं, और वे सिंहासनपर विराजमान हैं ।'
 यह सुनकर राजा अजितंजय अपने चक्रवर्ती पुत्र अजितसेनके साथ उनकी वन्दना करनेके लिए

१. एष टीकानुगतः पाठः प्रतिषु तु 'संपदा'—इति दृश्यते । २. अ 'सोऽधिकं सहजदीधितिर्बभौ' तारकापतिरिष व्यदीप्यते ॥' इति पाठो दृश्यते । ३. अ पद्यमिदं नोरुलभ्यते । ४. = सिंहोपलसितं विष्टरं सिंहविष्टरं सिंहासनं तस्मिन् निविष्टमुपविष्टम् । ५. = मणोना रत्नानां बन्धो रचनाविशेषः, तेन भानुरं देवोप्यमानम् । ६. सा 'पदातिगा । ७. = सूर्यकान्तमणिर्बिम्बिता वा । ८. सा स प्राप्ताः । ९. आ राजानाम् । १०. = येन । ११. अ 'निविष्ट'—इति नास्ति । १२. य सुस्थिरम् । १३. = निर्वयो ।

तीर्थभूतैर्मुक्तमभिभाषितस्तं प्रणम्य मुनिहंससेवितम् ।
 मस्तकस्थकरकुड्मलोऽमलं प्रश्नमित्युक्तं तत्त्वगोचरम् ॥ ४२ ॥
 बध्यते कथय कर्मभिः कथं नाथ जन्तुरिह मुच्यतेऽथवा ।
 देव संशयविपर्ययाकुलं तिष्ठते^१ त्वयि अगद्यतोऽभिलम् ॥ ४३ ॥
 वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो भारतीमिति निश्चम्य भूभूतः ।
 योजनप्रमितया गिराधरस्पन्दवर्जितमुवाच तीर्थकृत् ॥ ४४ ॥
 सप्रमादहृदयः कषाययुग्योगवान्विरतिवर्जिताशयः ।
 सम्यगोक्षणविपर्ययस्थितः कर्मबन्धमुपयाति चेतनः ॥ ४५ ॥

प्रविवेश । गच्छ गतो लट् ॥ ४१ ॥ तीर्थेति । उद्भवितभावात् उर्ध्वा महत्या भक्त्या गुणानुरागेण भावितः संस्कृतः । मस्तकस्थकरकुड्मलः मस्तकस्थकरादेव कुड्मलो यस्य सः । अमलः निर्मलचित्तः सन् । तीर्थभूतं पवित्रीभूतम् । मुनिहंससेवितं मुनिहंसेर्गणधरादिमुनिवरैः सेवितमाराधितम् । तं स्वयंप्रभञ्जनम् । प्रणम्य बन्धित्वा । तत्त्वगोचरं तत्त्वान्वेष गोचरो विषयो यस्य तत् (तम्) । प्रश्नं पृच्छनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अकृत व्यधात् । हुकुञ् करणे लुङ् ॥ ४२ ॥ बध्यत इति । भोः स्वामिन् । संशयविपर्ययाकुलं संशयविपर्ययाभ्यामाकुलं बाधितम् । अखिलं सकलम् । जगत् लोभः । यतः यस्मात् । त्वयि भवति । तिष्ठते प्रकाशते । छा गतिनिवृत्ती लट् । 'स्थेय प्रकाशने' इति तड् । नाथ जिनपते । जन्तु जीवः । इह ससारे । कर्मभिः शुभाशुभकर्मभिः । कथं केन प्रकारेण । बध्यते संबध्यते^२ । अथवा, कथं मुच्यते श्रूयते । कथय ब्रूहि । कथ बाधप्रबन्धे लट् ॥ ४३ ॥ वसिष्ठनि । वस्तुतत्त्वं वस्तुनः पदार्थस्य तत्त्वं स्वरूपम् । अधिगन्तुं ज्ञातुम् । इच्छतः वाञ्छतः । भूभूतः क्षितिपतेः^३ । इति एवं (भूताम्) । भारती वचनम् । निश्चम्य श्रुत्वा । तीर्थकृत् स्वयंप्रभञ्जनपतिः । योजनप्रमितया योजनप्रमाणभूतया (योजनव्यापिम्या इत्यर्थः) । गिरा दिव्यनिनादेन । अधरस्पन्दवर्जितम् अधरयोरोष्ठयोः स्पन्देन चलनेन वर्जितं रहितं यथा भवति तथा । उवाच निरूपयतिस्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचो' इति वचादेशः । स्वभावाचितः ॥ ४४ ॥ सेति । सप्रमादहृदयः प्रमादविषयादिपञ्चदशप्रमादियुक्त हृदयं मानसं तेन सह वर्तते इति । [कषाययुक्] क्रोधादिबन्धकषायैर्युक्तः क्रोधादिकषायवान् । योगवान् कायबाधनः कर्मयोगस्तजान् । विरतिवर्जिताशयः विरत्या हिंसादिनिवृत्त्या वर्जित आशयो यस्य सः । सम्यगोक्षणविपर्ययस्थितः सम्यगोक्षणस्य सम्यग्दर्शनगुणस्य^४ विपर्यये मिथ्यादर्शने स्थितः । चेतनः जीवः । कर्मबन्धं कर्मणा

घरसे चल पड़े ॥ ४१ ॥ वे तीर्थस्थान स्वरूप हैं । श्रेष्ठ मुनि या गणधर उनकी आराधना करते हैं । उनके दर्शन करते ही अत्यन्त भक्तिभावसे प्रणाम करके अजितत्रयने हाथ जोड़ते हुए मस्तक नवाकर शुद्ध हृदयसे एक तात्त्विक प्रश्न किया — ॥ ४२ ॥ भगवन् ! सारा संसार संशय और विपर्ययसे व्याकुल हो रहा है । चूँकि वह आपके ज्ञानमें स्पष्ट हो सलक रहा है, अतः नाथ ! यह बताइये कि इस संसारमें यह जीव शुभ और अशुभ कर्मोंसे कैसे बँध जाता है और फिर उनसे छुटकारा कैसे पा जाता है ? ॥ ४३ ॥ वस्तु स्वरूपके जिज्ञासु राजा अजितत्रयके इन वचनोंकी सुनकर तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ यों बोले । बोलते समय उनका अधर (नीचेका ओठ) स्पन्दन रहित था और उनकी वाणी एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ रही थी ॥ ४४ ॥ जिस जीवके हृदयमें प्रमाद भरा हुआ है; जो कषायवान् है; जिसके मन, वचन और कायमें चञ्चलता भरी हुई है; जिसका हृदय हिंसा आदि पापोंसे विरत नहीं है और जिसको श्रद्धा

१. अ. भूतगुरुं । २. अ. क. ल. ग. च. म. बन्धनो । ३. अ. तिष्ठति । ४. आ. बध्यन्ते । ५. आ. पतिपतिः । ६. = कषायैः क्रोधादिभिर्भूयते इति कषाययुक् । ७. आ. समस्तमिदं पद नास्ति । ८. आ. इदमपि समस्तं पदं नास्ति ।

तेन स स्ववशभावमाहृतः कर्मणाष्टविधभेदभागिना ।
 संसरत्यशरणो भवान्बुधौ लोहकान्तमणिऋष्टलोहवत् ॥ ४६ ॥
 कर्मभिः परवशीकृतात्मनो^१ भ्राम्यतो बहुविधासु योनिषु ।
 खल्वबिल्वविधिना प्रमादतो जायते मनुजजन्मसंगमः ॥ ४७ ॥
 प्राप्तमानवमवोऽपि रुच्छतः पुत्रबाण्यवकलत्रमोहितः ।
 कर्म तत्किमपि संचिनोत्यसौ येन गच्छति पुनः कुयोनिषु ॥ ४८ ॥

ज्ञानावरणादीना बन्धम् । उपयाति उपगच्छति । या प्रापणे लट् ॥४५॥ तेनेति । अष्टविधभेदभागिना
 अष्टविधा प्रकरा यस्य स तथोक्तः, अष्टविधवशां भेदश्च तथोक्तः, अष्टविधभेदं भजतीत्यर्थशीलं
 अष्टविधभेदभागि, तेन । तेन कर्मणा । स्ववशभावं स्वस्य वशभावमधीनत्वम् । आहृतः^२ नीतः । अशरणः
 सन् न विद्यते शरणं यस्य सः, रक्षितुरहितः सन् । सः जीवः । भवान्बुधौ नञ् एवाम्बुधितस्मिन् । रूपकम् ।
 लोहकान्तमणिऋष्टलोहवत् लोहकान्तमणिना अयस्कान्तमणिना ऋष्ट आहृतो लोहवत् । संसरति भ्रमति ।
 सु गतो लट् । उपमा ॥४६॥ कर्मभिरिति । प्रमादतः प्रमादात् । कर्षचित् (?) । बहुविधामुं बहुषु विधामु
 भेदेषु । योनिषु^३ जन्मसु । भ्राम्यतः पर्यटत । कर्मभिः शुभाशुभरूपकर्मभिः । परवशीकृतात्मनः परवशीकृतस्य
 पराधीन (नी) कृतस्यात्मनो जीवस्य । खल्वबिल्वविधिना खल्वस्य नष्टरोमशिरः^४ पुरयस्य बिल्वविधिना
 बिल्वकलस्य न्यायेन । अबुद्धिपूर्वकं बिल्वकलं नष्टरोमशिरोयुक्तस्य मस्तके पतितं^५ (पतति) यथा तथा इत्यर्थः ।
 मनुजजन्मसंगमः मनुजस्य मानुषस्य जन्मन उरग्लैः संगमः संपर्कः । जायते संभवति । जनैश्च प्रादुर्भावे लट् ।
 उपमा ॥४७॥ प्राप्तेति । रुच्छतः कष्टात् । प्राप्तमानुषमवोऽपि प्राप्नो लब्धो मानुषस्य मनुष्यस्य भवो यस्य
 (येन) सः । पुत्रबाण्यवकलत्रमोहितः पुत्राश्च बाण्यवाश्च कलत्राणि च तथोक्तानि तेषु मोहित आसक्तः सन् ।
 किमपि तत्कर्म^६ शुभाशुभकर्म । संचिनोति संपादयति । पुनः पश्चात् । येन कर्मणा सन्धः, तेन कर्मणा । योनिषु
 गच्छतीत्यर्थः । असौ जीवः । कुयोनिषु कुत्सितयोनिषु । गच्छति याति । गन्तुं गतो लट् ॥४८॥ इतीति ।

विपरीत है उसके कर्मबन्ध होता है । मूल बात यह है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय
 और योग ये पाँच कर्मबन्धके कारण हैं ॥ ४५ ॥ ज्ञानावरण आदि आठ भेदोंवाले कर्मने जीव-
 को अपने आधीन कर लिया है । अतः जैसे अयस्कान्त मणि या चुम्बक पत्थरसे आकृष्ट होकर
 लोहा अशरण हो जाता है, वैसे कर्माधीन जीव भी—अशरण हो जाता है । फलतः वह संसार
 सागरमें गोते खाता रहता है ॥ ४६ ॥ प्रमादके कारण यह जीव कर्मों द्वारा परवशकर दिया
 जाता है । फिर यह नाना (चौरासी लाख) योनियोंमें भटकता फिरता है । भटकनेवाले इस
 जीवको खल्वबिल्व न्यायसे मानव जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है । खलवाट जब-जब बेलके नीचे
 जाय तब-तब उसके सिरपर बेल गिरे, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता । ऐसी घटना क्वचित् कदा-
 चित् ही घटती है । इसी प्रकार यह जीव जब-जब पर्याय बदले तब-तब उसे मानव जन्म मिले,
 यह असम्भव है । वह तो बड़े भाग्यसे मिलता है ॥४७॥ बड़ी कठिनाईसे मानवभवको पाकर भी
 यह जीव पुत्र, मित्र और कलत्रके मोहमें फँसकर ऐसे कर्मोंका सञ्चय कर लेता है, जिससे वह

१. अ 'ब' नोलभ्यते । २. अ भवान्तरेऽन्वन्वितमृतिर्नरः स्वयम् । ३. अ कर्मसङ्गविषयी-
 कृतात्मनो । ४. अ 'मा'नातः । ५. = ऋष्टमाहृत यत्लोहं लोहघातुस्तद्वत् । ६. = बह्वो विधा यासां तासु
 नानाविधासु । ७. = उपपत्तिस्थानेषु । ८. = खलवाटस्य । ९. आ परोतं । १०. = अशुभकर्म ।

इत्येवेत्य भवदुःखमीरवः संगमं चिच्छते सुमेधसः ।
 कर्मबन्धनविपक्षभूतया ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ॥ ४६ ॥
 ज्ञानमर्थपरिबोधलक्षणं दर्शनं जिनमतमिरोचनम् ।
 पापकार्यचिरतिस्वभावकं कीर्तितं चरितमात्मवेदिभिः ॥ ५० ॥
 संगतं त्रयमिदं प्रजायते कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणम् ।
 पङ्गुलोचनविहीनवज्रवेदेकं न पुनर्यसाधकम् ॥ ५१ ॥
 ज्ञानमागमनिरोधि कर्मणो भाविनश्चरितमजितसन्तम् ।
 दृष्टिराचरति पुष्टिमेतयोरित्यमेतदुपयोगवत्त्रयम् ॥ ५२ ॥

सुमेधसः शोभता मेधा सेवु^१ ते । इति एवम् । अवेत्य ज्ञात्वा । भवदुःखमीरवः^२ भवे संसारे संभवदुःखे मीरवो भीताः । कर्मबन्धनविपक्षभूतया कर्मणा^३ बन्धनस्य विपक्षभूतया । ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तच्च दर्शनं सम्यग्दर्शनं तच्च चरित्रं सम्यक्चारित्र्यं तच्च तथोक्तानि, ज्ञानदर्शनचरित्राणां संपदा संपदा । संगमं संगमम् । विदधते कुर्वन्ति । दुष्पात्र धारणे च लट् ॥ ४९ ॥ ज्ञानमिति । आत्मवेदिभिः आत्मज्ञानिभिः । अर्थ-परिबोधलक्षणम् अर्थस्य परिबोधः परिज्ञानं स एव लक्षणं यस्य तत् । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । जिनमतमिरोचनं जिनमते आहृतमतेऽभिरोचनं विद्वास । दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । पापकर्मचिरतिस्वभावकं^४ पापकर्मणा कर्मबन्धन-कारणहिंसादिभ्यापाराणां विरतिनिवृत्तिरेव स्वभावा यस्य तत् । चरितं सम्यक्चारित्र्यमिति । कीर्तितं भाषितम् ॥ ५० ॥ संगतमिति । संगतं समुत्तम् । इदम् एवम् । त्रयं त्रयोऽवयवा अस्य त्रयम् । 'अवयवात्तयद्' इति तयद् । 'द्वित्रिभ्यां लुग्रा' इति तकारस्य लृक् । सम्यग्ज्ञानादित्रयम् । कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणं कृत्स्नानां साकल्यानां (सकलानां) कर्मणा द्रव्यभावकर्मणां विनिवृत्तिबोधस्य कारणं निमित्तम् । प्रजायते प्रभवति । पङ्गुलोचनविहीनवत् पङ्गुः खञ्जः (कन्) स च लोचनविहीनोऽन्धकः स च तथोक्तो पङ्गुलोचनविहीनाविव तथोक्तम् । एककर्म^५ असहायम् । पुनः पश्चात् । अर्थसाधकं प्रयोजनसाधकम् । न भवेत् न स्यात् । भू सत्ताश्च लिङ् । सपमा ॥ ५१ ॥ ज्ञानमिति । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । भाविनः भविष्यतः । कर्मणः, आगमनिरोधिः (धि) आगमस्यास्तवस्य निरोधिः । (चि) निवारकः (कम्) । चरितं चारित्र्यम् । अजितसन्तम् अजितस्य पूर्वोक्तस्य कर्मणोऽसन् नाशनम् । दृष्टिः सम्यग्दर्शनम् । एतयोः ज्ञानचारित्रयोः । पुष्टिं^६ तुष्टिम् । आचरति^७ इत्यम् अनेन प्रकारेण । एतत् इदं त्रयं सम्यग्ज्ञानादित्रयम्^८ । उपयोगवत् परस्परोपकारवत् । भवति ॥ ५२ ॥

फिर खोटी-खोटी योनियोमें चला जाता है ॥ ४८ ॥ यह जानकर संसारके दुःखोंसे डरनेवाले बुद्धिमान् पुरुष कर्मबन्धनकी विरोधिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की सम्पत्ति का समागम करते हैं ॥ ४९ ॥ जोवादि पदार्थोंका यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है; जिन मतकी अभिरुचि सम्यग्दर्शन है और हिंसा आदि पाप कार्योंसे निवृत्त होना सम्यक् चारित्र्य है, ऐसा आत्मज्ञानियोने कहा है ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर समस्त कर्मोंकी निवृत्तिके कारण हैं । यदि वे पंगु और अन्धे पुरुष की भाँति अलग-अलग रहें तो मानवके प्रयोजनकी सिद्ध नहीं कर सकते । अन्धे और पंगु मिलकर अपने इष्ट स्थानमें पहुँच सकते हैं । इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि तीनों गुणोंके सम्मिलित सहयोगको पाकर जीव अपने गन्तव्य मोक्ष-धाम तक पहुँच सकता है ॥ ५१ ॥ सम्यग्ज्ञान आनेवाले कर्मोंको रोकने-वाला है और सम्यक्चारित्र्य पहलेसे आये हुए-बद्ध कर्मोंको दूर करनेवाला है । तथा सम्यग्दर्शन

१. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते । २. = येषां । ३. = भवः संसारः तस्य दुःखं तस्माद् मीरवो भीताः ।
 ४. वा कर्मणो* । ५. = पापकर्मणामनुकर्मणो हिंसादिभ्यापाराणां विरतिनिवृत्तिरेव स्वभावा यस्य तत् ।
 ६. वा एकम् । ७. = पुष्टताम् । ८. = विदधाति । ९. वा सम्यग्ज्ञानचारित्र्यम् ।

ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये कल्पितं यद्बुधैर्न तत्तथा ।
 भेषजावगममात्रतः शर्म व्याचिरेति किमनुष्ठितैर्विना ॥ ५३ ॥
 शुश्रुवानिति स बन्धमोक्षयोः कारणं जिनमुखारविन्दतः ।
 तत्क्षणानुपपद्यौ धिरक्तां श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता ॥ ५४ ॥
 स प्रहाय शमसक्तमानसः प्रेम बन्धुसुतदारगोचरम् ।
 देहजापितपरिच्छदः परं शिष्ये श्रमणसेवितं पदम् ॥ ५५ ॥
 चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः कायवाङ्मनसशुद्धिसंयुतः ।
 त्रिः प्रणम्य जिनमचितं सतां प्राविशत्पुरमुद्गारगोपुरम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानमात्रमिति । इह अस्मिन् । संसृतिक्षये संसृतेः संसारस्य क्षये । यत् ज्ञानमात्रं दर्शनमात्रं (दर्शन—) चारित्र्य-
 निरपेक्षं ज्ञानमात्रम् । अनुधेः अज्ञानिभिः । कल्पितं कृतं तत् तथा [न] तेन प्रकरणेन न भवति । अनुष्ठितैः
 [विना] आचरणैर्विना । भेषजावगममात्रतः भेषजस्य बोधस्यावगममात्रतो ज्ञानमात्रतः । व्याधिः रोगः ।
 शमम् उपशमम् । एति किं याति किम् ॥ ५३ ॥ शुश्रुवानिति । सः अजितंजयः । जिनमुखारविन्दतः जिनस्य
 तीर्थङ्करस्य मुखमेवारविन्दः कमलं तस्मात् । बन्धमोक्षयोः कर्मबन्धमोक्षयोः । इति एवं प्रकारेण । शुश्रुवान्
 शृणोति स्म । तत्क्षणात्, विरक्ततां वैराग्यम् । उपपद्यौ उपजगाम । या प्र.पणे लिट् । भव्यता भव्यत्वम् ।
 श्रेयसे मोक्षनिमित्तम् । त्वरयते हि शीघ्रं (शीघ्रताम्) करोति ॥ ५४ ॥ स इति । शमसक्तमानसः शमेन
 उपशमेन (शमे उपशमे) सक्त युक्त (आसक्त) मानसं यस्य स । सः अजितंजयः । बन्धुसुतदारगोचरं
 बन्धवश्च सुताश्च दाराश्च तथोक्ता बन्धुसुतदारा एव गोचरा यस्य तत् । प्रेम प्रीतिम् । प्रहाय विहाय । देह-
 जापितपरिच्छदः देहेऽजितसेनेऽपि स्यापित परिच्छदो येन सः, सन् । श्रमणसेवितं श्रमणैः सेवितमाराचि-
 तम् । परं प्रकृतम् । पदं मोक्षपदमित्यर्थः । शिष्ये शिषेवे । शिष्य सेवाया लिट् ॥ ५५ ॥ चक्रेति । कायवाङ्-
 मनसशुद्धिसंयुतः कायवाङ्मनसानां शुद्धया युतः । चक्रवर्त्यपि सार्वभौमोऽपि । गृहीतं दर्शनं यस्य (येन) सः
 सन् । सतां सद्भिः । अचितं पूजितम् । ' वा नाकस्य—' इत्यादिना करणे षष्ठी । जिन जिनेश्वरम् । त्रिः
 प्रणम्य त्रीन् बारान् प्रणम्य । उदारगोपुरम् उदाराण्युन्नतानि गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्य तत् । पुरं विनीता-

इन दोनों (सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य) की पुष्टि करता है । इस तरह ये तीनों उपयोगी हैं
 और हैं एक दूसरेके उपकारी ॥ ५२ ॥ 'अकेला ज्ञान ही संसारका अन्त करके मुक्ति दिलाने-
 में समर्थ है' ऐसी कल्पना कुछ अज्ञानी लोगोंने कर रखी है, पर वह ठीक नहीं; क्योंकि अनु-
 ष्ठानके बिना दवाओंका खाली ज्ञान कर लेनेसे व्याधि शान्त नहीं हो सकती । दवाओंकी
 जानकारीके साथ जब विश्वास और परहेज होते हैं, तब रोग शान्त होता है । इसी प्रकार
 तत्त्वोंके ज्ञानके साथ जब श्रद्धा और आचरण होते हैं तब कही संसारकी समाप्ति—मुक्तिकी
 प्राप्ति होती है ॥ ५३ ॥ जिनेन्द्र भगवान् — स्वयंप्रभके मुख कमलसे, इस तरह बन्ध और मोक्ष
 के कारण सुनकर अजितंजय तत्काल विरक्त हो गया । भव्यता निदचय ही कल्याणके लिए
 शीघ्रता कराती है ॥ ५४ ॥ अजितंजयका मन अब केवल आत्मशान्ति पानेके लिए उत्तम हो
 उठा । कलतः उसने अपने परिवारके बन्धु, पुत्र और पत्नीसे प्रेमका नाता तोड़ दिया, राज्यका
 भार पुत्रको सौंप दिया और फिर उत्कृष्ट पदका—जिसकी आराधना श्रमण करते चले आ रहे हैं—
 आश्रय लिया ॥ ५५ ॥ चक्रवर्तीके मन, वचन और कायमें पहलेसे पवित्रता थी ही, पर इस
 अवसरपर उसे सच्ची श्रद्धा भी उत्पन्न हो गई । सज्जनोके द्वारा पूजित स्वयंप्रभ भगवान्को

१. अ ज्ञानमात्रमिहोन्नतं सज्ज्ञानहीनमपि तत्र सिद्धये । २. अ क स य घ म भेषजैश्च विदितै-
 र्यतः शर्मः । ३. = कल्पनाविषयीकृतम् । ४. = मुखमरविन्दमिव ।

अन्यदा नृपतिवृन्दवेष्टितः संनियुज्य^१ स पुरः प्रयाणके ।

वाहिनीपतिमसह्यतेजसं निर्जगाम दशदिग्जिगीषया ॥ ५७ ॥

छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं निर्बभाषुपरि तस्य गच्छतः ।

धर्मवारणमुखेन^२ सेवितुं चन्द्रमण्डलमिवागतं स्वयम् ॥ ५८ ॥

चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो मन्द्रगजितकृतोऽर्णवा इव ।

संचरिष्णुरथरूपधारिणं स्वं विकृत्य निधयः प्रतस्थिरे ॥ ५९ ॥

स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं^३ व्यन्तरामरसहस्ररक्षितम् ।

सर्वमध्वनि रथाङ्गपूर्वकं तस्य रत्नमभवत्पुरःसरम् ॥ ६० ॥

पुरम् । प्राविशत् प्रविष्टवान् । विश प्रवेशने लङ् ॥ ५६ ॥ अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन् काले । नृपतिवृन्द-
वेष्टितः नृशतोना भूशाना वृन्देन समूहेन वेष्टितः परिभूतः । स. अजितसेनचक्रो । असह्यतेजस सोढमशक्यप्रतापम् ।
वाहिनीपति सेनापतिम् । पुर प्रयाणके अथप्रयाणनिमित्तम् । संनियुज्य विनियोगं विधाय । दशदिग्जि-
गीषया जेतुमिच्छा जिगृषा दशाना दिशा दिशाना जिगीषा तथा । जि जि अभिभवः । 'कस्येककर्तृकात्'
हस्यादिना सन् । 'जेलिट् सन्' इति द्विभावे पूर्वस्मात्परस्य गौ—इत्यादेशः । निर्जगाम निर्ययो । गम्लु गतो
लिट् ॥ ५७ ॥ छत्रमिति । उल्लसितफेनपाण्डुरम् उल्लसितो विभासितः फेन इव छिण्डीर इव पाण्डुरं शुभ्रम् ।
छत्रं छत्ररत्नम् । गच्छतः यात । तस्य चक्रिणः । उपरि ऊर्ध्वभागे । धर्मवारणमुखेन (मिषेण) धर्मवारणमिति
छत्रमिति मुखेन व्याजेन (धर्मवारणं छत्रं तस्य मिषेण व्याजेन) सेवितुम् आराधय (धियः) तुम् । स्वयम्
आगतम् आयातम् । चन्द्रमण्डलमिव चन्द्रबिम्बमिव । निर्बभौ भाति स्म । उत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥ चित्रेति । चित्र-
रत्नपरिपूर्णकुक्षयः चित्रैर्नानाविधै रत्नैः परिपूर्णः, कुक्षियेषां ते । मन्द्रगजितकृतः मन्द्र गम्भीरध्वनिः तच्च
तद्गजितं च मन्द्रगजितं (तत्) कुर्वन्तीति तद्योक्ताः । अर्णवा इव समुद्रा इव । निधय नवनिधयः । स्वं
स्वरूपम् । मवरिष्णुरथरूपधारिणं संचरिष्णोर्गमनशीलस्य रथस्य स्पन्दनस्य रूपधारिणं स्वरूपधारिणम् ।
विकृत्य निमित्तम् । प्रतस्थिरे निर्जगामः । उत्प्रेक्षा (?) ॥ ५९ ॥ स्वेति । स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं स्वेषां स्वेषां
कृत्यस्य कार्यस्य करणे विधाने उद्यत उद्युक्त आशयो मानसं यस्य तत् । व्यन्तरामरसहस्ररक्षित व्यन्तराणां
व्यन्तरादेवानां सहस्रेण रक्षितं पालितम् । रथाङ्गपूर्वकं रथाङ्गं चक्रं तद्देव पूर्वं यस्य तत् । सर्वं सकलम् ।
रत्नं जोबाजोवभेदम् । तस्य चक्रिणः । अध्वनि मार्गः । पुरःसर पुरः सरतीति पुरःसरमग्रमिति । अग्रवत्

तीन बार प्रणाम करके उसने अपने नगरमें प्रवेश किया — जहाँ बड़े-बड़े द्वार थे ॥ ५६ ॥ कुछ
दिनोंके बाद चक्रवर्ती अजितसेन—जिसके साथ सभी राजे-महाराजे थे—अपने तेजस्वी सेनापति-
को आगे प्रयाण करनेका आदेश देकर दिग्विजयके लिए निकल पड़ा ॥ ५७ ॥ चलते समय चक्र-
वर्तीके ऊपर, लहराते फेनकी भाँति सफेद छाता ऐसा जान पड़ता था मानो उस (सफेद छाते) के
बहाने स्वयं चन्द्रमण्डल उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो ॥ ५८ ॥ जिनका भीतरी भाग विचित्र
रत्नोंसे भरा हुआ है और जिनका गर्जन गम्भीर है, समुद्र सरोखी वे नौ निधियाँ चलते हुए
रथका रूप धारण करके चल पड़ीं ॥ ५९ ॥ अपना-अपना कर्तव्य पालन करनेके लिए उद्यत
और एक हजार व्यन्तर देवोंसे सुरक्षित चौदह रत्न मार्गमें चक्रवर्तीके आगे-आगे चलने लगे ।

१. अ संनियुज्य म संनियोज्य । २. अ क ल ग घ ङ वारणमिषेण । ३. म ण्ठपधारिणः । ४. व
'व्यव्यन्तरा' । ५. आ गिरित्यादेशः श गौरित्यादेशः । ६. = फेनी छिण्डीरः स इव ।

तस्य वाजिमुखै रजश्चयैरुत्थितै स्तपनवर्त्मरोधिभिः ।
 पूरिताः करभयादिव स्वयं भेजिरे भृशमदृश्यतां दिशः ॥ ६१ ॥
 चित्रमेतद्वतिदूरवर्तिनाप्यस्य सैन्यरजसा प्रसर्पता ।
 यन्निरन्तरमरातियोषितश्चक्रिरे विगलदध्रुलोचनाः ॥ ६२ ॥
 सिद्धरत्नमयगम्य संनुकीभूतमप्रतिमपौरुषाश्रयम् ।
 मूर्धदेशनिहिताप्रपाणय प्राभूतैस्तमुपतस्थिरे नृपः ॥ ६३ ॥
 नामयन्तुलदैवपौरुषः सिद्धश्चक्युपचिताम्स पार्थिवान् ।
 प्राप वारिचिततं समुच्चलत्कीर्तिभासितसमस्तदिङ्मुखः ॥ ६४ ॥

अभूत् । भू सत्ताया लङ् । आतिः ॥ ६० ॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । वाजिमुखैः वाजिनामद्वानां मुखैः
 शफत्रातैः । तपनवर्त्मरोधिभिः तपनस्य सूर्यस्य वर्त्म आकाश रोधिभिराच्छादिभिः । उत्थितै ऊर्ध्वं गतैः ।
 रजश्चयैः रजसा रेणूना चयैर्निबहैः । पूरिताः^१ व्यापिताः । दिशः बहुभुज । करभयादिव करस्य किरणस्य
 भयादिव भीतेरिव । स्वयं, भूषम् अर्थयम् । अदृश्यता दृष्टिगोचरहितत्वम् । भेजिरे भजति स्म । भज सेवाया
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६१ ॥ चित्रमिति । अस्य चक्रिणः । प्रसर्पता निर्गच्छता । सैन्यरजसा (सैन्यस्य सेनाया)
 रजसा रेणुना । अतिदूरवर्तिना अपि विप्रकृष्ट^२ वर्तमानेनापि । निरन्तरम् निरवकाशम् । अरातियोषितः अरा-
 तीनां शत्रूणा योषितः प्रमदा । विगलदध्रुलोचनाः विगलत् खलद् अथ नेत्रोदकं ययौ^३ ते तथोक्तं विगलदध्रुलो
 लोचने यासा ता । चक्रिरे^४ विदधु यत् एतत् । चित्रम् अर्थचयम् । उत्प्रेक्षा (?) ॥ ६२ ॥ मिद्वेति । सिद्धरत्नं
 सिद्धानि रत्नानि यस्य तम् । समुखोभूतम् अभिमुखोभूतम् । अप्रतिमपौरुषाश्रयम् अप्रतिमस्योपमातीतस्य
 पौरुषस्याश्रयः तम् । तं चक्रिणम् । अचिगम्य जाता । मूर्धदेशनिहिताप्रपाणयः मूर्धनो मस्तकस्य देवो प्रदेशो
 निहितोऽप्रपाणयैवा^५ ते । नृपाः भूमिगाः । प्राभूतैः उपायनैः । उपतस्थिरे सेवा चक्रिरे । छा गतिनिवृत्तौ
 लिट् । ६३ ॥ नामयजिति । अनुलदैवपौरुष अनुले असमाने दैवपौरुषे यस्य मः । समुच्चलत्कीर्तिभासित-
 समस्तदिङ्मुखः समुच्चलत्या कीर्त्या यशसा भासितानि समस्तानां सर्वांश दिशा मुखानि यस्य सः ।
 सः चक्रो । सिद्धश्चक्युपचितान् सिद्धाभित्विनाश्रमि । शक्तिभिरुत्साहप्रभूमन्त्रशक्तिभिरुपचितान्^६ राशोभूतान् ।
 प्रापिवान् भूमिगालान् । नामयन् नम्रीकुर्वन् । वारिचिततं वारिचे समुद्रस्य तटं तीरम् । प्राप ययौ । आप्त्

चलते समय रत्नांम सबस आगे चक्र था ॥ ६० ॥ घोड़ों की टापोके पडनेसे धूल उडने लगी ।
 धीरे-धीरे उसने पूरे आकाशको घेरकर सूर्यका मार्ग छेक लिया । सारी दिशाएँ अदृश्य हो गईं,
 जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चक्रवर्तीको लगान देनेके भयमे सब दिशाएँ स्वयं कहीं
 जाकर छिप गई हों ॥ ६१ ॥ उस समय यह एक आश्चर्यकी बात हुई कि फेननेवाली सेना
 की धूलिने स्वयं बहुत दूर रहकर भी (केवल अपना दर्शन देकर, आँखोंमें धुलकर नहीं) शत्रु-
 स्त्रियोंको लगातार आँखोंसे आँसू मिरानेके लिए बाध्य कर दिया ॥ ६२ ॥ चक्रवर्तीको चोदह
 रत्न सिद्ध हैं । उसका पराक्रम अनुपम है — पराक्रममे उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता ।
 वह यहाँ आ ही रहे है, यह जानकर राजे-महाराजे नाना प्रकारका उपहार लेकर उसके सामने
 हाथ जोड़कर सिर नवाते हुए पहुँचे ॥ ६३ ॥ अनुपम देव और पुरुषार्थ वाले और परिपूर्ण प्रभु-
 शक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्तिसे समुद्र राजाओंको झुकाकर चक्रवर्तीने अपनी बड़ती
 हुई कीर्तिसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर दिया । फिर वह समुद्र तटपर पहुँचा ॥ ६४ ॥

१. म "कच्चित्तं" । २. आ इ क ल ग घ म "दैवपौरुषान्" । ३. = व्याप्ता । ४. वा विप्रकृष्टवर्त" ।

५. = यास्यां । ६. = बिदधिरे । ७. = निहिता अग्रभागो येः । ८. एष टोकाश्रयः पाठः प्रतिपु तु सर्वाभु
 'समुच्चलत्' इत्येवोपक्रम्यते । ९. = येन । १०. = संपन्नान् ।

तत्क्षणात्कुमितसिंहविष्टरः संनिकृष्टमवगम्य चक्रिणम् ।
 तं प्रभासविबुधः कृताञ्जलिर्द्विपरत्ननिकरैरपू पुञ्जन् ॥ ६५ ॥
 पश्य द्यौकितविचित्रभूषणो देव नन्द जय रक्ष मेदिनीम् ।
 तं बभौभिरिति साञ्जलिः स्तुतवन्मागधोऽप्यजनि सत्यमागधः ॥ ६६ ॥
 द्वीपसिन्धुविषिधाकरोद्भवैः प्राभूतैर्वरतनुर्मनोहरैः ।
 तं विनम्रमुकुटः कुटुम्बिवत्पर्युपास्त मद्मानवर्जितः ॥ ६७ ॥
 प्रागपावग्रहणदिग्ध्यवस्थितानामभ्य नृपखेचरामरान् ।
 व्योमसंचरणगर्वितानसौ निजिगाय विजयार्धवासिनः ॥ ६८ ॥

व्याप्तो लिट् । सामान्यम् (?) ॥ ६४ ॥ तत्क्षणादिति । अस्मकालात् । कुमितसिंहविष्टरः कुमितं^१ संबलितं सिंहविष्टरं सिंहासन यस्य सः । प्रभासविबुधः प्रभासनामा अमरः । संनिविष्टम्^२ आगतम् । तं चक्रिणम्- अजितसेनचक्रवर्तिनम् । अवगम्य ज्ञात्वा । कृताञ्जलिः, विहृताञ्जलिः सन् । दिग्धपरत्ननिकरैः दिग्धमानो रत्नानां निकरैः समूहैः । अपूञ्जत् अपूजयत् । पूज पुजाया लुङ् ॥ ६५ ॥ एष्येति । द्यौकितविचित्रभूषणः द्यौकितान्यानीतानि विचित्राणि नानाविधानि भूषणानि येन सः । साञ्जलिः अञ्जलिना युक्तः । मागधोऽपि मागधामरोऽपि । पश्य आगत्य । देव स्वामिन् । नन्द समुद्रो मय । जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । मेदिनीं भूमिम् । रक्ष पालय । रक्ष पालनं लेट् (लोट्) । इति एवंविधैः । बभौभिरः बभूवैः । तं चक्रिणम् । स्तुतुन् नुवन् । तस्य चक्रिणः । मागधः स्तुतिपाठकः । अजनि अजायत । जनैश् पादुभिर्वै लुङ् ॥ ६६ ॥ द्वीपेति । विनम्रमुकुटः विनम्रं विनमनशीलं मुकुटं^३ यस्य सः । 'नम्कम्य-' इत्यादिना स्त्रीलार्थे र-प्रत्ययः । मद्मानवर्जितः मद्मानाभ्यां मदाग्रहणवर्माभ्यां वर्जितो रहितः । वरतनुः वरतनुनामा अमरः । द्वीपसिन्धुविषिधाकरोद्भवैः द्वीपेषु अन्तरोपेषु^४ सिन्धौ समुद्रे विद्यमानेषु [विविधेषु] नानाप्रकारेषु आकरेषु खनिस्थानेषु उद्भवैः उत्पन्नैः । मनोहरैः मनोमैः । प्राभूतैः उपायनैः । तं चक्रिणम् । कुटुम्बिवत् करद्विकृतकुपोवलयवत् । पर्युपास्त अष्टवत् । आसि उत्प्लवने लङ् ॥ ६७ ॥ प्रागिति । अमो अयं चक्री । 'प्रागपावग्रहणदिग्ध्यवस्थितान् प्राक् पूर्वां सा च अपाग् दक्षिणा सा च ग्रहणा पश्चिमा सा च तथोक्ताः ताश्च ता दिशश्च तथोक्ताः, प्रागपावग्रहणदिग्ध्यवस्थिताः प्रवृत्ताः, तान् । नृपखेचरामरान् नृपान् भूमिपान् खेचरान् विद्याधरान् देवान् । आनमय आनमनं पूर्व० । व्योमसंचरणगर्वितान् व्योम्नि गमने संचरणेन गमनेन गर्वितान् । विजयार्धवासिनः विजयार्धं विजयार्धपर्वते वासिनो वसन्तीत्येवशीलान् । निजिगाय अपति स्म । जि औ अभिभवे लिट् ।

ज्यो हो वह समुद्र तटपर पहुँचा त्यों ही अपने सिंहासनके हिलनेसे प्रभास नामक देव यह समझ गया कि चक्रवर्ती अजितसेन यहाँ आया हुआ है । फिर उसने दोनों हाथ जोड़ते हुए दिग्ध रत्नों-का उपहार देकर चक्रवर्तीका सत्कार किया ॥ ६५ ॥ मागध नामका देव चक्रवर्तीके पास जाकर तथा विचित्र रत्नोंके आभूषण प्रदान करके उसको स्तुति करता हुआ कि 'देव ! आप समुद्र हों, आपकी जय हो, आप सारी भूमिकी रक्षा करें' पूरा मागध (स्तुति पाठक) ही बन गया ॥ ६६ ॥ वरतनु नामक देवने आग्रह और अहङ्कार छोड़कर अपने मुकुटको नवाते हुए द्वीप, समुद्र और नाना खानोंसे उत्पन्न सुन्दर उपहार देकर चक्रवर्ती अजितसेनको कुटुम्ब-के एक सदस्यकी भाँति उपासना की ॥ ६७ ॥ अजितसेनने पहले पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंके निवासी राजों-महाराजों, विद्याधरों और देवोंको नमामा फिर आकाशगमनका गर्व

१. न पूजयत् । २. आ इ प्रागपाव । ३. = कम्पितमित्यर्थः । ४. = संनिकृष्टम् । ५. आ मुकुटं । ६. आ अन्तरोपेषु । ७. = 'कुटुम्बो कर्षकः क्षेपो ह्यो कृषिक कर्षको । कुपोऽलोऽपि' इति हेनः । ८. वा प्रागपावम् ।

शक्तिमिस्तिस्मिन्वितोऽभवत्तु । समस्तविजयस्य भाजनम् ।
 तस्य कः अलु जितांशुमहद्युतेर्विस्मयोऽत्र विजयार्थसाधने ॥ ६९ ॥
 साधयन्विधिरत्नमण्डिता मेदिनीमधरितारिविक्रमः ।
 वर्धमानविभवोऽनुवासरं सोऽभवत्सकललोकवत्सलः ॥ ७० ॥
 प्रत्यहं द्विगुणपोडशावनीमुख्यपाथिवसहस्रमूर्धसु ।
 तस्य संसदि गतस्य चक्रिरे वासचूर्णरुचिमङ्गिघरेणवः ॥ ७१ ॥
 पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा सोऽजनिष्ट भुवनातिवर्तिना ।
 वण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मपट्पदः ॥ ७२ ॥

'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावं पूर्वस्मात्तरस्य गो-इत्यादेशः । अवसरः (?) ॥ ६८ ॥ शक्तिमिरिति । य चक्रो ।
 तिसृभिः त्रिमह्याभिः । शक्तिभिः प्रभूताहमन्त्रशक्तिभिः । अन्वितः युक्तः । समस्तविजयस्य समस्तानां
 सर्वेषां विजयस्य । भाजनं शक्तिविधानं च । अवसत् अवभूत् । जिताशुमद्युतेः जिता अंशुमद्युतियस्यै
 तस्य । तस्य चक्रिणः । अत्र अस्मिन् । विजयार्थसाधने समस्तदेवाधिपतेः तस्य विजयार्थपर्वतस्थितविद्याधर
 (स्य) साधने देशार्थसाधने वा । को विस्मयः, विस्मयो नास्तीत्यर्थः । सर्वाविजयभाजनस्य चक्रिणो
 विजयार्थं हत्युक्ते अर्थे विजयो यावत् (तावत्) तस्य साधने को विस्मयः, इति ध्वनिः ॥ ६९ ॥
 साधयन्निति । अधरितारिविक्रमः अधरितो निराकृतोऽरोणा विक्रमा येन सः । सकललोकवत्सल सकले
 लोके जने वत्सलः प्रीतियुक्तः । सः चक्रो । विविधरत्नमण्डिता विविधैर्नानाविधै रत्ने मण्डितामलकानाम् ।
 मेदिनी भूमिम् । साधयन् निष्पादयन् । अनुवासरं प्रतिदिनम् । वर्धमानविभवः वर्धमान एवमानो विभवः
 संपद यस्य सः । अवसत् अवभूत् ॥ ७० ॥ प्रत्यहमिति । संसदि सभायाम् । गतस्य यातस्य । तस्य चक्रिणः ।
 अङ्घ्रिघरेणवः अङ्घ्रयो रणेणो रजांसि । द्विगुणपोडशावनीमुख्यपाथिवसहस्रमूर्धसु द्वौ गणौ घेया तं (तेषां)
 द्विगुणानां पोडशानामवन्त्या मुख्यानां ध्येष्ठानां भूयानां सहस्रस्य मूर्धसु मस्तकेषु-द्वाविंशस्तस्य-
 मकुटबद्धानां मस्तकेष्वित्यर्थः । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । वासचूर्णरुचि वासचूर्णस्य पटवासचूर्णस्य रुचि शोभाम् ।
 चक्रिरे विदधुः । लुक् करणे लिट् । उपेक्षा (?) ॥ ७१ ॥ पूर्वलिः सः चक्रो । भुवनातिवर्तिना । भुवनं
 लोकमतिवर्तिना अतिक्रम्य वर्तमानेन । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा पूर्वस्मिन् जन्मनि प्रारम्भे कृतेन विहितेन
 पुण्यकर्मणा शुभकर्मणा ॥ वण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मपट्पद अचिरं रोचि यन्म्याः सा अचिर-
 रोचिविद्युग्माला सेवोज्ज्वलाः स्त्रियो वनितास्तासां सहस्रं तद्योक्तं पद्मिनीविका नवतिः तद्योक्ता
 वण्णवतिवारान् ॥ ॥ चिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्र तस्य मुखाग्रेषु पदानि कमलानि तेषां पट्पदो भ्रमरः ।

करनेवाले विजयाई पर्वतके वासियोंको परास्त किया ॥ ६८ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन प्रभुशक्ति,
 मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, इन तीन शक्तियोंसे युक्त है, मूर्धसे कहो अधिक तेजस्वी है
 और उसमें पूरे भरतक्षेत्रके—जिसके छः खण्ड है—विजयकी पूर्ण क्षमता है । अतः उसके
 विजयाई विजयसे क्या आश्चर्य ? ॥ ६९ ॥ नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित भूमि (रत्नगर्भा
 वसुधरा) को अपने वशमें करके चक्रवर्तीने शत्रुओंके पराक्रमको हेठा-नीचा कर दिया ।
 उसका वैभव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था और उसका वात्सल्य भी सभी लोगोंमें हो गया ॥ ७० ॥
 अजितसेन प्रतिदिन जब सभा में जाता था तब उसके चरणोंको धूलि बत्तीस हजार प्रमुख
 राजाओंके मस्तकपर सुगन्धित चूर्णकी शोभाको प्राप्त कर रहो थो ॥ ७१ ॥ चक्रवर्ती
 अजितसेन पूर्व संचित लोकातिशायी पुण्यकर्मके निमित्तसे छियानवे हजार बिजुलीके समान

१. = यंन । २. = वधोक्तुर्वन् । ३. = लोकमतिवर्तत इति लोकातिवर्ती, तेन । लोकातिशायिना
 इत्यर्थः । ४. आ प्रती स्वस्तिकान्तगतः पाठो नोपलभ्यते ।

तस्य मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्मैः ।
 मन्दिराङ्गणमभूदनारतं दुष्प्रलङ्घ्यमघनागमेध्वपि ॥ ७३ ॥
 तस्य मारुतविलोलमूर्तिभिर्द्विनवोत्तमतुरङ्गकोटिभिः ।
 क्षुब्धपति स्म परितश्चमचयो वीचिपङ्क्तिमिरिवापगापतिः ॥ ७४ ॥
 शुद्धकुन्दलरोचिषां गवामाचितास्तिसृभिरस्य कोटिभिः ।
 रेजिरे गहनभूमया दिशः शारदीभिरिव मेघपङ्क्तिभिः ॥ ७५ ॥
 तस्य वारिनिधिवारिमैखला मेदिनी मदनसंनिभाकृतेः ।
 तस्यसंपदमसूत चाङ्घ्रिनामेकसंस्थहलकोटिवाहिता ॥ ७६ ॥

रूपकम् । अजनिष्ट अजायत । जनैर्द्वा प्रादुर्भवे लुङ् ॥ ७३ ॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । मन्दिराङ्गणं
 मन्दिरस्य गृहस्याङ्गणम् । मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्मैः चतुष्टयेनाधिकाशीतः, चतुष्टयाधिका-
 पोतिवारान् लक्षानि येषां ते च ते करिणश्च तथोक्ताः, मन्थरा मन्दगमनाः ते च ते चतुष्टयाधिकाशीति-
 लक्षकरिणश्च तथोक्ताः । तेषां दान मदजलं तस्मात्प्राप्तं (तैः) कर्मैः ५६ । अघनागमेध्वपि श्रेष्ठम-
 कालेध्वपि । अनारतम् अनवरतम् । दुष्प्रलङ्घ्य लङ्घितुमशक्यम् । अभूत् अभवत् । ७३ ॥ तस्येति । तस्य
 चक्रिणः । चमूचयः चम्वाः सेनायादयः समूहः । मारुतविलोलमूर्तिभिः मारुत इव वायुरिव विलोला
 चञ्चलामूर्तिः शरीरं वासा तामिः । द्विनवोत्तमतुरङ्गकोटिभिः द्वौ चारौ नव द्विनव उत्तमाश्च ते तुरङ्गाश्च
 तथोक्ता, उत्तमतुरङ्गाणां कोटयस्तथोक्ताः द्विनव च ता उत्तमतुरङ्गकोटयश्च तामिः । वीचिपङ्क्तिभिः
 वीचीना तरङ्गाणां पङ्क्तिभिः समूहैः । आपगापतिः समुद्रः । स इव । सर्वतः परितः । क्षुब्धपति स्म क्षुब्धः ।
 क्षुभिः सञ्चलने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥ शुद्धेति । शुद्धकुन्दलरोचिषां शुद्धानां निर्मलानां कुन्दलानां
 कुन्दपुष्पाणां रोचिरिव रोचिः कान्तितया तामाम् । गवा धेनूनाम् । तिसृभिः कोटिभिः, आचिता व्याप्ताः ।
 अस्य चक्रिणः । गहनभूमयः गहनस्य काननस्य भूवयः प्रदेशाः । शारदीभिः शरत्कालसम्बन्धिनीभिः ।
 मेघपङ्क्तिभिः । मेघानां जलदानां पङ्क्तिभिः समूहैः । दिशः ककुभ इव । रेजिरे राजसिंहासने स्म । राज्ञ्
 दोषो लट् ॥ ७५ ॥ तस्येति । मदनसंनिभाकृतेः मदनस्य मन्मथस्य संनिभा आकृतिराकारो यस्य तस्य ।
 उपमा । तस्य चक्रिणः । एकसंस्थहलकोटिवाहिता एका सह्या येषां ते तथोक्ताः, एकसंस्थानां हलानां
 लाङ्गलानां कोटया बाहिता कृपिता, एककोटिप्रमितहला—इत्यर्थः । वारिनिधिवारिमैखला वारिनिधिः
 समुद्रस्य वार्येव जलमेव मैखला काञ्चिः ३ यस्यां सा समुद्रमयी—इत्यर्थः । रूपकम् । मेदिनी भूमिः ॥

उज्ज्वल, सुन्दर स्त्रियोके मुखकमलोंका रस लेनेके लिए साक्षात् भ्रमर बन गया ॥ ७२ ॥
 अजितसेनके यहाँ मन्द गतिसे चलने वाले चौरासी लाख हाथी थे । उनके मदजलसे राजप्रासाद-
 के आँगनमें वर्षा ऋतुके बिना भी सदा इतनी अधिक कोच मची रहती थी कि लोगोंको वहाँ
 से निकलना ही कठिन हो गया ॥ ७३ ॥ चक्रवर्तिके यहाँ वायुकी गतिसे चलनेवाले और
 वायुके समान चञ्चल अठारह करोड़ घोड़े थे । उनके रहनेसे उसकी विशाल सेना चारो
 लहराते हुए धुवध समुद्रोंकी भाँति दृष्टिगोचर होती थी । सेना समुद्रकी तरह अपार थी और
 घोड़े उत्ताल तरङ्गों सरोखे—सदा उछल-कूद मचाने वाले ॥ ७४ ॥ उसके यहाँ तीन करोड़
 गायें थी । वे निर्मल कुन्दपुष्पके समान धीले रंग की थी । उनसे व्याप्त चरागाहकी भूमियाँ,
 शरत्कालीन मेघोंसे घिरी हुई दिशाओंकी भाँति सुशोभित होती थी ॥ ७५ ॥ वह कामदेवके
 समान सुन्दर था—उसका आकार कामदेवसे बिल्कुल मिलता-जुलता था । उसके राज्य की
 सीमा समुद्र पर्यन्त थी—उसके राज्यकी भूमि समुद्रसे घिरी हुई थी । उसकी उपजाऊ जमीन,

सैन्यनाटयनिधिरत्नभोजनान्यासनं शयनभाजने^१ पुरम् ।
 बाह्वनेन सममित्यभीप्सितं भोगमाप स दशाङ्गमीश्वरः ॥ ७३ ॥
 सोऽधिगम्य वसुधाविशेषकः षोडशामरसहस्रसेव्यताम् ।
 नाकनायक इव स्वतेजसा दुःसह्येन विततान रोदसीम्^२ ॥ ७४ ॥
 संकुलं नरनभश्चरामरैराकरैश्च बहुरत्नयोनिभिः ।
 म्लेच्छखण्डसहितं स समितैरार्यखण्डमनघद्वयं दिनः ॥ ७५ ॥
 षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति^३ प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुभरतं^४ प्रसाध्य ।
 प्रयाजगाम जगतोतिलकः स^५ सम्राट्खण्डमाननिजबन्धुजनोमयोध्याम् ॥ ८० ॥

वाञ्छिता समीहितम् । सस्यसम्पद ससरसपत्तिम् । असूत वदपादयत् । पृष्टं प्राणिमन्त्रिमोक्षेन लब्धं ॥ ७६ ॥
 सैन्येति । ईश्वरः प्रभुः । सः चक्री । सैवनाटयनिधिरत्नभोजनानि सैन्यं सेना तच्च नाटयं नर्तनं तच्च निधिश्च
 रत्नानि जीवाजीवभेदानि तानि च भोजनं जेवनं^१ तच्च तथोक्तानि । आसनं सिंहासनम् । शयनभाजने शयनं च
 भाजने च तथोक्ते । बाह्वनेन समं यत्नेन साकम् । पुरमिति पुरीति । अभीप्सितं वाञ्छितम् । दशाङ्गं दश अङ्गा
 न्यवयवा यस्येति दशाङ्गस्तम् । भोगम्, आप ययो । आप्लु व्याप्ती लिट् ॥ ७७ ॥ स इति । वसुधाविशेषकः
 वसुधाया वसुधाराया विशेषकस्तिलकः । सः चक्री । षोडशामरसहस्रसेव्यता षोडश्य [षोडश] अमराणां^२
 गणद्वेदेवानां सहस्रेण^३ सेव्यतामाराध्यताम् । अधिगम्य लब्धः । दुःसह्येन सोढुमशक्येन । स्वतेजसा स्वस्य
 तेजसा प्रतापेन । नाकनायक इव नाकस्य स्वर्गस्य नायक इव देवेन्द्र इव । रोदसी भूम्याकाशे । 'एकयोक्त्या
 द्यावाभूमौ रोदस्यो रोदसी तथा'^४ इत्यभिधानात् । विततान विस्तारयति स्म । तन्नु विस्तारे लिट् ।
 उपमा ॥ ७८ ॥ संकुलमिति । स चक्री । नरनभश्चरामरै नरैर्मनुष्यैर्नभश्चरै विशाघरैरमरै देवैश्च । बहुरत्न-
 योनिभिः बहुलां बहुलानां रत्नाना योनिभिरुत्पत्तिकारणैः । आकरैश्च खनिस्त्वानिश्च । संकुल संकीर्णम् ।
 म्लेच्छखण्डसहितं म्लेच्छानां खण्डैर्भगिः । सहितं युक्तम् । आर्यखण्डम् आर्याणां पूज्यपुण्याणां खण्डम् ।
 समितेः अस्परित्यक्तं । दिनेः दिवसैः । वसं स्वाधोयनम् अनयत्^५ प्रापयत् । णीज् प्रापणे लट् । सहोक्तिः (?)
 ॥ ७९ ॥ षट्खण्डेति । प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपु प्रचण्डेन समयेन कोदण्डेन चापेन खण्डिता निरस्ता रिपवः शत्रवो
 यस्य^६ सः । जगतोतिलकः जगत्या लोकस्य तिलकः श्रेष्ठः । स सम्राट् अजितनेनचक्री । षट्खण्डमण्डितं
 षट्खण्डैः पट्टभागे मण्डितमलंकृतम् । खण्डं संपूर्णम् । भरतं भरतसैन्यम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य

जो एक करोड़ हलोसे जोतो जाती थो, इच्छित खाद्य सम्पत्ति उत्पन्न करनी थी ॥ ७६ ॥
 सारी प्रजा उस अपना ईश्वर समझती थी । उसके पास सेना, नाटय, निधि, रत्न, भोजन,
 आसन, सेज, पात्र, पुर और वाहन ये दस प्रकारके इच्छित भोग थे ॥ ७७ ॥ वह पृथ्वीका
 तिलक था । सोलह हजार देव उसको सेवामें उपस्थित रहा करते थे । उसने इन्द्रके समान
 अपने असंख्य तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर दिया था ॥ ७८ ॥ उसने थोड़े ही
 दिनोंमें आर्यखण्डको—जो मनुष्य, विद्याधर, देव और नाना प्रकारके रत्नोको उत्पन्न करनेवाली
 खानोसे व्याप्त था—म्लेच्छखण्ड सहित जीत लिया—पाँच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड—इस
 तरह छः खण्डवाले भरतक्षेत्रको अजितसेन चक्रवर्तिने अपने अधीन कर लिया ॥ ७९ ॥
 सम्राट्का पराक्रम अप्रतिहत था । उसने अपने भयङ्कर धनुषसे शत्रुओंके छत्रके छूटा दिये थे ।

१. आ आ इ 'रत्नभाजने' । २. आ आ इ शयनभाजने । ३. क ख ग घ म रोदसी । ४. अ क ख ग
 घ म 'म्लेच्छखण्डः' । ५. अ 'रिपुनिशङ्कः' । ६. आ इ 'दुत्कण्टः' । ७. अ 'बन्धुरता' । ८. श पूडो । ९. = 'भोजनं
 जेवनाधने' इति हैमः । १०. श षोडशमराणां । ११. श प्रते सहस्रेण इति नोपलभ्यते । १२. आ रोचस्वी
 रोचसी तथा । १३. = षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति भरतक्षेत्रमहोमस्वीयसा कालेन जिगायेत्यर्थः । १४. = येन ।

तस्यां षणिकपयकृताधिकसत्क्रियायां^१ द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणायाम् ।

तं कामकल्पवपुषं प्रविशन्तमुच्चैश्चुक्षोभ वीक्ष्य निबहः पुरसुन्दरीणाम् ॥ ८१ ॥

प्रावेशिकानकनिनाद्विबोधितस्य भूपालमार्गमभिघावनतत्परस्य ।

योषिद्वयस्य गुणवानपि संबभूव श्रोण्या सहानभिमतः कुचकुम्भभारः ॥ ८२ ॥

तद्रूपलोकनविलोभितलोचनायाः कस्याश्चिदुद्रप्रथितनीचि नितम्बबिम्बे ।

संसक्तमन्दुरुचिरं दधदन्तरीयं स्वेदाम्बु बुद्धिमदिव स्खलितं ररक्ष ॥ ८३ ॥

साधयित्वा । उत्कण्ठमाननिजबन्धुजनां निजस्य स्वस्य बन्धव एव अनाः, उत्कण्ठमाना द्रष्टुमीहमाना निजबन्धुजना यस्याः^२ ताम् । अयोध्यां विनीतापुरीम् । प्रत्यागमाम् प्रत्याययो । गम्ल गती लिट् । रूपकम् (?) ॥ ८० ॥ तस्यामिति । षणिकपयकृताधिकसत्क्रियायां (संक्रियायां) षणिकपये विपण्या कृता विहिता अधिकं बहुते सत्क्रिया (संक्रिया) यस्यां तस्याम् । द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणाया द्वारप्रदेशे विनिवेशिता, स्थापितास्तोरणा यस्याः^३ तस्याम् । तस्याम् अयोध्यायाम् । प्रविशन्तं^४ गच्छन्तम् (प्रवेशं कुर्वन्तम्) । कामकल्पवपुषं कामस्य मन्मथस्य कल्पं समानं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं चक्रिणम् । पुर-सुन्दरीणां पुरे पुर्यां विद्यमानसुन्दरीणा स्त्रीणाम् । निबहः समूहः । वीक्ष्य दृष्ट्वा । उच्चैः अधिकम् । चुक्षोभ संचलित स्म । क्षुभि संचलने लिट् । उपमा ॥ ८१ ॥ प्रावेशिकेति^५ । प्रावेशिकानकनिनाद्विबोधितस्य प्रावेशिके प्रवेशकाले ताडितानामानकाना भेरीणा विनादैर्व्रन्तिविबोधितस्य ज्ञापितस्य । भूपालमार्गं भूपालस्य राज्ञो मार्गं बोधोम् । अभिघावनतत्परस्य अभिघावनेऽभिमुखं घावने तत्परस्य^६ प्रीतस्य । योषिद्वय-णस्य योषिता स्त्रीणा गणस्य समूहस्य । कुचकुम्भभारः कुचावेव कुम्भो तयोर्भारः । गुणवानपि कठिन-स्पर्शनादिगुणयुक्तोऽपि^७ । श्रोण्या निजम्बेन । सह साकम् । अनभिमतः अनिष्टः । संबभूव संभवति स्म । भू सत्ताया लिट् । रूपकम् (?) ॥ ८२ ॥ तद्वदेति । तद्रूपलोकनविलोभितलोचनायाः तस्य चक्रिणी रूपस्य विलोकने दर्शने विलोभिते मोहिते लोचने यस्यास्तस्याः । कस्याश्चिदुद्रप्रथितायाः । नितम्बबिम्बे नितम्बप्रदेशे । उद्रप्रथितनीचि उद्रप्रथिता शिथिलिता नीचो यस्य तत् । इन्दुरुचिरम् इन्दुरिव चन्द इव रुचिरं मनोहरम् । उपमा । अन्तरीयम् उपसंभ्यानवस्त्रम्^८ । संसक्तं संबद्धम् । दधत् धरत् । स्वेदाम्बु स्वेदस्य घर्मस्वाम्बु जलम् । बुद्धिमदिव बुद्धियुक्तमिव । स्खलितं प्रवादम् । ररक्ष पालयति स्म । रक्ष पालने लिट् । उत्प्रेक्षा

वह पृथ्वीका तिलक था—उससे पृथ्वीकी शोभा थी । वह छः खण्डवाले भरत क्षेत्रको जीत-कर अयोध्या लौट आया, जहाँ बन्धुजन उससे मिलनेके लिए उत्सुक थे ॥ ८० ॥ उस नगरीके बाजारोमें खूब सजावट की गई और दरवाजोके ऊपर तोरण (राजस्थानमें अभी भी इस शब्दका प्रयोग होता है) स्थापित किये गये । कामदेव सरीखे सुन्दर अजितसेनको नगरीमें प्रवेश करते देख वहाँका स्त्रीवर्ग उतावला हो उठा ॥ ८१ ॥ प्रवेशके शुभ अवसरपर बजनेवाले नगाड़ों-के शब्दसे चक्रवर्तीको सड़कपर आया हुआ जानकर स्त्रीवर्ग उसी ओर दौड़नेको तत्पर हो गया । इस अवसरपर उसे अपने स्तन और नितम्ब अप्रिय हो गये, यद्यपि दोनों गुणवान् थे—स्तनोंमें कठोरता और नितम्बोंमें गुह्यता थी ॥ ८२ ॥ किसी सुन्दरीके नेत्र अजितसेनके रूपको देखकर उसीमें लुभा गये । गांठ ढोली पड़ जानेसे उसका अधोवस्त्र—जो चन्द्रमाकी आकृतिकी बूटियोंसे सुन्दर था—कमरसे नीचेकी ओर खिसकने लगा, पर पसोनेके जलने उसे नितम्बपर

१. आ आ इ षिकसंक्रियायां । २. = यस्यां । ३. = यस्यां । ४. प्रवेशं कुर्वन्तम् । ५. आ प्रावेति वा प्रेति । ६. = प्रबणस्य । ७. सद्गुणसमेवोऽपीति ध्वनिः । ८. = अधोवस्त्रम् । ९. = उत्पत्तं ।

काचिद्विहाय गृहभित्तिगतं विचित्रं चित्रं गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी ।
तद्रूपदर्शनसमुद्भवमन्यदेव चित्रं स्वचेतसि चकार चकोरनेत्रा ॥ ८४ ॥
कस्याश्चिद्वन्यजनसंकुलमार्गगाया धर्मोद्विन्दुहचिरे कुचकुम्भमध्ये ।
जातश्रपेव परभागमनःपुत्रवाना तुषोट हारलतिका लतिकाकुशाङ्गयाः ॥ ८५ ॥
आर्द्राद्रिदत्तनवयावकमण्डनेन काचिद्विकासिरुचिराघरपल्लवेन ।
तद्रूपदर्शनसमुत्थममान्तमङ्गं बभ्राम रागमतिरिक्तमिधोद्गिरन्ती ॥ ८६ ॥

॥८३॥ काचिदिति । गृहभित्तिगतं गृहस्य सदनस्य भित्ति गच्छतिस्म गृहभित्तिगतम्—कुडघगतम् । विचित्रं
मानाविषम् । चित्रं रचनाम् । विहाय त्यक्त्वा । गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी गवाक्षस्य वातायनस्य मुखस्यै
आभरणीकृते अलंकारविहिते अलिपो नयने यस्याः सा । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्याः सा । उपमा ।
काचित् कापि स्त्री । तद्रूपदर्शनसमुद्भूतं तस्य चक्रिणो रूपस्य दर्शने बोधने समुद्भव संज्ञानम् । अन्यदेव
मित्रमेव । चित्रं रचनाम् विस्मय च । स्वचेतसि स्वचित्ते । चकार करोति स्म । तुकुञ्च करणे लिट् ॥८४॥
कस्या इति । अन्यजनसंकुलमार्गगायाः अन्यं श्रेष्ठं मङ्गल संकीर्णं मार्गं पन्थानं गच्छन्तीत्यन्यजनसंकुल-
मार्गगा तस्याः । लतिकाकुशाङ्गयाः लतिकेव कुशमङ्गं यस्यास्तस्याः । 'अमहन्—' इत्यादिना डी ।
कस्याश्चित् एकस्या नायाः । धर्मोद्विन्दुहचिरे धर्मोदस्य स्वेशेदकस्य बिन्दुमी हचिरे मनोहरे । कुचकुम्भमध्ये
कुचावेव कुम्भो तयोर्मध्ये मध्यप्रदेशे । परभाग शोभाम् । 'भागो रूपार्थके प्रोक्तो भागधेयैकदेशधो' । 'परः
स्यादुत्तमानात्मवैरद्वारेण केवलः' इत्युभयत्रापि विद्वत् । अनन्तुवाना अलभमाना । हारलतिका हार एव
लतिका । रूपकम् । जातश्रपेव जातलज्जेव । तुषोट भवति स्म । नृपति स्म । नृप छेदने लिट् । उत्प्रेषा
॥८५॥ आर्द्रा इति । काचित् एका वनिता । आर्द्राद्रिदत्तनवयावकमण्डनेन आर्द्रामार्द्रं दत्तं लिप्ते नवं नूतनं यावक-
मण्डनं यस्य तेन । विकासिरुचिराघरपल्लवेन अधर एव ओष्ठ एव पल्लवस्तथोक्तः । विकासिना रुचि-
रेणाघरपल्लवेन । तद्रूपदर्शनसमस्य तस्य चक्रिणो रूपदर्शनेन समुद्भवमन्त्रम् । अङ्गे शरीरे । अमान्तम्
असंमितम् । अतिरिक्तम् अतिक्रान्तम् । रागमिव अनुगमिव । 'उद्गन्तीव उद्गमन्तीव बभ्राम चचाल ।

हो रोककर एक बुद्धिमान् पुरुष की भति पतनमे बचा लिया ॥ ८३ ॥ एक चकोरक्षी
नायिका अपने घरकी दीवारपर एक आश्चर्यकारी सुन्दर चित्र बना रही थी, उसे छोड़कर
वह खिडकीके पास जाकर खड़ी हो गई । उनके नेत्रोंसे खिडकीकी शोभा बह गई । चक्रवर्ती-
की देखते ही उसके मनमें दूसरा ही चित्र आ गया । और दीवारके चित्रसे मनका चित्र कहीं
सुन्दर है, यह सोचकर उसके मनमें चित्र (आश्चर्य) भी उत्पन्न हो गया ॥ ८४ ॥ अजित-
सेनके दर्शनोके लिए छरहरे वदनकी कोई पृथ्वी बहुत ही भीड़भरे रास्तेमें चली जा रही
थी । जाते-जाते वह पसंनेसे सगावोर हो गई । पसंनेकी बिन्दुओंमें स्वनकलशोका मध्यभाग
बहुत ही सुन्दर प्रतीत होने लगा । वहीपर एक लड़ीका हार भी लटक रहा था, पर
पसीनेकी बिन्दुओंकी सुषमाके सामने उसकी सुषमा फीकी पड़ गई, मानो इसी कारणसे वह
लज्जित होकर सहसा टूट गया ॥ ८५ ॥ शीघ्रतावश एक नायिका पैरोंमें लगाने योग्य महावर-
की अपने सुन्दर होठपर लगाकर अजितसेनको देखनेके लिए चल पड़ी । अजितसेनको देखते
समय भी उसके होठपर लगा हुआ महावर गोला था और नोचेकी ओर फैलता जा रहा था ।
अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो उसके देखनेसे उत्पन्न हुए रागको — जो उसके शरीरमें समा

१. अ क ख ग घ म सहसा कुशा । २. अ क ख ग घ म मान्तमन्त । ३. = विलक्षणम् । ४.
= चित्ररचनाम् । ५. = ऊर्ध्वभागस्थैरयः । ६. = मण्डनोक्तम् । ७. = यया । ८. = दर्शनाद् बोधनात् ।
९. = आलेख्य-रचना । १०. श 'एका वनिता' इति नास्ति । ११. = यत् । १२. = रागम् अनुगमम् ।

अन्योन्यसंहतकराङ्गलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जुग्ममाणा ।
तद्दर्शनात्प्रविशतो हृदये स्मरस्य माङ्गल्यतोरणमिधोत्तिषती रराज ॥ ८७ ॥
संभावितैकनयना रुचिराञ्जनेन तद्विक्तमेव दधतीक्ष्णमन्यद्वन्या ।
लोकस्य सस्मितविलोकनकारिणोऽर्धनारीश्वरस्मरणकारणतां जगाम ॥ ८८ ॥
वस्त्रं गल्लिङ्गितनोवितया दधाना रोमोद्गमोपचयगाढतया रजन्ती ।
विस्त्रस्तकेशनियमाकुलिताप्रपाणैर्द्वेष्ट्या प्रिया च सभ्रमुद्गता परस्याः ॥ ८९ ॥

भ्रमु चलने लिट् । उपेक्षा ॥ ८६ ॥ अन्योन्येति । अन्योन्यसंहतकराङ्गलिबाहुयुग्मम् अन्योन्यं संहताः संयुक्ता कराङ्गुलयो यस्य तद् बाल्लोर्मुबोयुग्मं^१, अन्योन्यसंहितं कराङ्गुलिबाहुयुग्मं यस्मिन् तत् । निजमूर्धनि स्वमस्तके । निधाय संस्थाप्य । जुग्ममाणा गात्रविनामं कुर्वन्ती^२ । अन्या एका स्त्री । तद्दर्शनात् तस्य चक्षिणो दर्शनात् । हृदये चित्ते । प्रविशतः अन्तर्गच्छतः । स्मरस्य मारस्य । माङ्गल्यतोरणं माङ्गल्याय माङ्गल्यनिमित्तं वर्तमानं तोरणं बन्धनमालाम् । उत्तिष्ठतीति न दधतीति । रराज बभौ । राज्ञू दीप्ती लिट् । उपेक्षा ॥ ८७ ॥ संभावति । रुचिराञ्जनेन रुचिरेण मनोहरेणाञ्जनेन नेत्राञ्जनेन । संभावितैकनयना संभावितं सत्कृतम्^३ एकं नयनं यस्याः 'षा । तद्विक्तमेव तेनाञ्जनेन रिषतमेव' । अन्यत् एकम् । दधती धरन्ती । अन्या एषा नारी । सस्मितविलोकनकारिणः सस्मितमीपद्मसहितं विलोकनकारिणो दर्शनकारिणः लोकस्य जनस्य । अर्धनारीश्वरस्मरणकारणताम् अर्धनारीः अर्धं नारीरूपयुक्तस्य ईश्वरस्य स्मरणस्य कारणतां हेतुत्वम् । जगाम ययौ । गम्त् गतौ लिट् । उपेक्षा ॥ ८८ ॥ वस्त्रमिति । विवृतनीवितया [विगतनोवितया] विधृतया नोवितया (विगता विवृता नोविर्वस्त्रग्रन्थिस्तस्या भावस्तया) । गत् पठत् । वस्त्रं वसनम् । दधाना धरन्ती । रोमोद्गमोपचयगाढतया रोम्णा तन्नुह्णाणामुद्गमस्य (मेन) गाढतया दृढतया । रजन्ती तुदन्ती । रशना काञ्ची । विस्त्रस्तकेशनियमाकुलिताप्रपाणिः (गेः) विवृताप्रपाणिः शिथिलिताना वेशानां मूर्धज्ञाना नियमे बधने बाकुलिता व्यापारितोऽप्रपाणि यस्याः सा (यया सा तस्याः) । अपरस्याः अन्यस्याः । द्वेष्ट्या कोपनीया (द्वेषविषया, अग्रिया—इत्यर्थः) । प्रिया च (तद्विपरीता च) । सभ्रमुत् नही रहा था—बाहर निकाल रही हो ॥ ८६ ॥ कोई स्त्री अंगुलियोंमें अंगुलियाँ डालकर दोनों बाहुभोंको सिरपर रख करके जैभाई ले रही थी । अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो अजित-सेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके लिए वह ऊपर मङ्गल तोरण उठा रही हो । इस अवसरपर उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ८७ ॥ शीघ्रतावश एक स्त्री अपनी एक आँखमें मुन्दर अञ्जन आज कर और दूसरीको बिना आजि ही सप्प्राट्के दर्शनोके लिए दीड़ी चली गई । उसे आचचयके साथ देखनेवालोंको वह अर्धनारीश्वरका स्मरण दिलानेमें कारण बन गई—उसे देखकर दर्शकोंको अर्धनारीश्वरकी याद आ गई । अर्धनारीश्वरके वामभागमें पार्वती और दक्षिण भागमें शिवजी हैं ॥ ८८ ॥ एक युवती अपने बालोंको सँवार रही थी, पर चक्रवर्तीके आनेके समाचारको सुनकर वह बिल्वे हुए बालोंको एक हाथसे पकड़कर दीड़ी चली जा रही थी । दीड़नेसे उसका वस्त्र नीचे गिरने ही वाला था, पर उसकी गाँठ करधनीमें फँसी हुई थी, इसलिए गिर नहीं सका । फलतः नायिकाको वह करधनी बड़ी प्रिय लगी । चक्रवर्तीकी देखते ही उसे रोमाञ्च हो आया, जिससे करधनी कमरमें कसने लगी और उसे पोड़ा देने लगी । इसीलिए करधनी उसे द्वेष्ट्य भी बन गई । वस्त्रको गिरनेसे

१. युगलम् । २. आ कुर्वन्ती । ३. = संस्कृतमल्लकृतं वा । ४. = अनजितमेव । ५. = दक्षिणनेत्रमिति यावत् । 'संग्यं हि पूर्वं सनुष्या अञ्जते' इति वचनात् । ६. = सस्मेरं विलोकयतः—इत्यर्थः ।

कादम्बरीमद इवाशयसंप्रमोहं संस्कारनाश इव च स्मृतिविप्रमोषम् ।
 कुर्वन्प्रमञ्जन इवाखिलदेहभङ्गं चिक्रीड तासु मन्त्रो ग्रहतुल्यवृत्तिः ॥ ९० ॥
 इत्थं नारीः क्षणरुचिरुवः क्षोभयन्तीति दक्षः क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।
 क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं प्रापक्षोजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥ ९१ ॥
 प्रविश्य भवनान्तरं क्षणचतुष्कमप्यस्थितः प्रतीक्ष्य जरतीकृतं कुशलमङ्गलारोपणम् ।
 नमन्प्रपि स पादयोर्गुरुजनस्य बद्धाञ्जलिर्बभूव धृशमुन्नतो यदिदमद्भुतादद्भुतम् ॥ ९२ ॥

समभवत् । भू. मत्ताया लुङ् । शिथिलतया द्वेष्या शृङ्गारतया प्रोता - इत्यर्थः ॥ ८९ ॥ कादम्बरीति । कादम्बरी-
 मद इव कादम्बर्या मयेन जातमद इव उन्माद इव । आशयसंप्रमोहम् आशयस्य चित्तस्य संप्रमोहं भ्रान्तिम्
 (मूर्च्छां वैवृत्यं वा) । संस्कारनाश इव संस्कारस्य धारणाज्ञानस्य नाश इव विनाश इव । चः समुच्चयार्थः ।
 स्मृतिविप्रमोषं स्मृतेः स्मरणस्य विप्रमोषं भ्रंशम् । प्रमञ्जन इव वायुरिव (वातरोग इव) । अखिलदेह-
 भङ्गम् त्रिविधाना सर्वेषां देहभङ्गं कम्पनम् । कुर्वन् विदधत् । मदनं काम । ग्रहतुल्यवृत्तिं ग्रहेण भूतेन
 तुल्या समाना वृत्ति र्यस्य स, सन् । तासु वृत्तितासु । चिक्रीड विजहार । क्रोडू विहारे णिङ् । उपमा ॥ ९० ॥
 इत्थमिति । नीतिदक्षः न र्थो नीतिशास्त्रे दक्षः प्रवीणः । क्षीणक्षोभ क्षीणो नष्ट क्षोभश्चित्तविक्षेपो यस्य
 स । क्षपितनिखिलारातिपक्ष क्षपितो निराकृतो निखिलानां समस्तानामारातीना पक्षो येन स । अम्बुजाक्षः
 अम्बुजं कमलमिवाक्षिणी यस्य सः । ते शोभितततान तेजसा प्रतापेन विजितो निराकृतस्तपनः सूर्यो
 यस्य स । क्षोणीनाथः क्षोण्या भूम्या नाथः प्रभुः । क्षणरुचिरुवः क्षणरुचिरिव विद्युदिव रुक् कान्तियोर्भा
 ताः । नारी पुरश्चरिताः । इत्यम् अनेन प्रकारेण । क्षोभयन् विकारयन् । विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं
 विनिहितानां महामङ्गलद्रव्याणां प्रशस्ः पूर्णकुम्भादिमङ्गलवस्तुना शोभा यत्र तम् । मन्दिरद्वारदेशं
 मन्दिरस्य राजमन्दिरस्य द्वारस्य देशं प्रदेशम् । प्रापत् अगमत् । आप्लू व्याप्तो लुङ् । 'सतिशास्त्रि—' इत्यट्-
 प्रत्ययः । उपमा ॥ ९१ ॥ प्रविश्येति । स. चक्री । भवनान्तरे सदनमध्ये । प्रविश्य गत्वा । क्षणचतुष्कमप्य-
 स्थितः सन् क्षणम्यानवस्य चतुष्टयस्य मण्डपस्य मध्ये मध्यप्रदेशे स्थितः सन् । जरतीकृतं जरया वृद्धया
 कृतं रचितम् । कुशलमङ्गलारोपणं कुशलस्य सेमकरणस्य मङ्गलस्यारोपणं नीराजनम् प्रनश्य प्रतपानम्,
 गृहीतवा—इत्यर्थः । बद्धाञ्जलि. सन् बद्धो रचितोऽञ्जलिर्द्येन स । गुरुजनस्य शिष्टजनस्य । पादयो.

बचाया, इसलिए प्रिय, और रोमञ्चसे कसने लगी, अतः द्वेष्य ॥ ८९ ॥ चक्रवर्त्तिको देखकर
 स्त्रियोंमें काम उत्पन्न हो गया । उम (कामदेव) ने शराबके नशेके समान उनके हृदयमें बेहोशो-सी
 उत्पन्न कर दी, संस्कारनाशकी तरह उसने उनकी स्मृतिको नष्ट कर दिया—वे अपनी मुग्ध-बुध
 खो बैठी, वायुकी भाँति उसने उनके शरीरमें कम्पन उत्पन्न कर दिया और वह उनमें ग्रह-भूतकी
 तरह क्रोडा करने लगा ॥ ९० ॥ सम्राट् अजितसेन नीतिनिपुण था; उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं
 होता था; उसने शत्रुओंकी पाटियाँ समाप्त कर दी थी; उसके लोचन कमल-सरल थे; उसने
 अपने प्रतापसे सूर्यको परास्त कर दिया था, और वह समस्त पृथ्वीका स्वामी था । राजमार्गमें
 चलते समय देखनेवाली स्त्रियोंके मनमें उसने विकार उत्पन्न कर दिया था । धीरे-धीरे वह राज-
 महलके द्वार तक—जहाँ रखे गये बड़े-बड़े मंगल कलश आदि मांगलिक वस्तुओंसे शोभा बढ़
 गयी थी—पहुँच गया ॥ ९१ ॥ राजमहलके अन्दर जाकर अजितसेन मंगल चौकके बीचमें बैठ
 गया । फिर वृद्धाओंने आरती उतारकर उसके ऊपर मांगलिक अक्षतोका प्रक्षेप किया, जिसे
 उसने सादर स्वीकार किया । फिर उसने हाथ जोड़कर गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणाम किया । चरणोंमें

१. आ क्रोड । २. = अम्बुजं कमल तद्दक्षिणी यस्य सः । ३. = येन । ४. आ यस्य सः ।
 ५. = स्थापिताना । ६. श यस्य स तम् । ७. = मङ्गलाक्षतप्रक्षेपं वा ।

कृतचरणनमस्क्रियास्तदाकां सह मुकुटेन शिरोभिमुख इन्तः ।
 नृपक्षचरणयोः यथायथं ते ययुरपरेऽङ्गि रयाङ्गिना विसृष्टाः ॥ ६३ ॥
 दिव्यान् दिव्याकारकान्तासहायो भोगान्भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।
 राज्यं राज्यभ्रंशितारातिलोकभक्ते चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतबुद्ध्याङ्के चन्द्रप्रभवचरिते महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

चरणयोः । नमस्त्राय नमस्त्यत्रापि । भृगुम् अत्यन्तम् । उन्नतः उत्तुङ्गः । बभूव भवति स्म । यदिदम् इदं कार्यम् । अद्भुतात् आश्चर्यात् । अद्भुतम् आश्चर्यम् । विरोधः । १२॥ कृतेति । कृतचरणनमस्क्रियाः कृता विहिताश्चरणयोः पादयोः नमस्क्रिया येस्ते । तदाज्ञा तस्य चक्रिण आज्ञाम् । मुकुटेन मौलिना । सह साकम् । शिरोमि । मस्तके । उद्वहन्तः चरन्तः । ते नृपक्षचरणयोः नृपणा भूगणा क्षत्राणां गणाः समूहाः । यथायथं स्वस्वस्थानम् । परेङ्गि परेषु । रयाङ्गिना चक्रिणा । विसृष्टाः सन्तः विसर्जिताः सन्तः । ययुः प्रायुः । या प्रापणे लिट् ॥ १३॥ दिव्यानीति । दिव्याकारकान्तासहायः दिभ्यो मनोहर आकारो यासा ताः, ताश्च ता कान्ताश्च, ता एव सहायो यस्य सः (तासां सहायः) । भोगी दशाङ्गभोगी । दिव्यान् मनोहरान् भोगान् । निर्विशन् अनुमन् । निर्विपादः संश्लेशहितः [निर्विशङ्कः निःशङ्कः] । राज्यभ्रंशितारातिलोकः राज्याद् भ्रंशितो निराकृत आरातयः शत्रवः त एव लोको यस्य सः (निराकृतोऽरातीना शत्रूणां लोको वर्गो येन सः) । चक्री सार्वभौमः । पूर्वपुण्य दयेन पूर्वस्य जन्मान्तरसंपादितस्य पुण्यस्योदयेन । राज्यं साम्राज्यम् । चक्रे विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । कृञ्कम् (?) ॥ १४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतबुद्ध्याङ्के चन्द्रप्रभवचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं च विद्वन्मनो-
 वरकभाष्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अवनत होता हुआ भी वह उस समय बहुत अधिक उन्नत हो रहा था, यह अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक बात हुई ॥ १२॥ इस शुभ अवसरपर जो राजे-महाराजे और विद्याधर लोग सामूहिक रूपमें अजितसेनके यहाँ पधारे थे, वे एक दिन ठहरकर दूसरे दिन अजितसेनके चरणोंमें प्रणाम करके और उनकी आज्ञाको अपने-अपने सिरपर मुकुटके साथ धारण करके उससे विदाई लेकर अपने-अपने घर चले गये ॥ १३॥ पूर्वोपाजित पुण्यकर्मके उदयसे अत्यन्त सुन्दर छियानवें हजार सुन्दर स्त्रियाँ अजितसेनकी संगिनी बनी, भोगनेको दिव्य भोग प्राप्त हुए, और प्रजाको सताने-वाले उद्वह शत्रुओंको राज्यसे च्युत या निर्वासित कर देनेसे वह शंकाओंसे मुक्त हुआ । इस तरह भीतरी और बाहरी परिस्थितिको अनुकूलतामें वह राज्यका संचालन करने लगा ॥ १४॥

इस तरह श्री वीरनन्दिकृत बुद्ध्याङ्क चन्द्रप्रभवचरित महाकाव्यमें
 सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७॥

[८. अष्टमः सर्गः]

तत्र शासति महीं जनतायाश्चातरि क्रमसरोजनतायाः ।
 मोदयन्मधुरभृन्मधुपानां संततिं 'कृतगलन्मधुपानाम् ॥ १
 संहतिं नवनवाङ्कुरलीनां नेक्षितुं तरुषु शेकुरलीनाम् ।
 साधुभिर्विरहिणो रमणीयैर्लोचनैरपहृता रमणी यैः ॥ २ ॥
 अस्मरत्पतति चम्पकरेणौ वल्लभां कुसुमचापकरेणौ ।
 अध्वगो विधुरघोरमराणां कामिनीमिव मनोरमराणाम् ॥ ३ ॥

सद्दृष्टिबोधचरितारमकधर्मनाथः श्रीधर्मनाथजिनपो जगदेकनाथ ।
 धर्माभूत विजयतां सुखदं प्रवर्पन् यो धर्मशीलमखिलं सुजनं करोतु २ ॥

तत्रेति । क्रमसरोजनतायाः क्रमो पादौ तावेव सरोजे कमले तयोर्नता प्रणता तस्याः । जनतायाः जनसमूहस्य । 'वामजनबन्धुगञ्जसहायात्तत्' इति समूहे तत्प्रत्ययः । आतरि रक्षितरि । 'कृतकामस्य—' इत्यादिना कर्मणि पठ्यते । तत्र तस्मिन् चक्रिणि । महीं भूमिम् । शासति पालयति सति । कृतगलन्मधुपाना वल्लभं तन्मधु च गलन्मधु स्रवत्पुष्पासः तस्य पानं गलन्मधुपानं कृतं गलन्मधुपानं यया सा कृतगलन्मधुपाना ताम् । मधुपाना भ्रमराणाम् । संहतिं निबद्धम् । मोदयन् सतोषयन् । मधुः वसन्तकालः । अभूत् लब्धाव-सरोऽभवत् । रूपकं यमकं (च) ॥ १ ॥ संहतिमिति । साधुभिः वेत्रोदत्सहितैः । रमणीयै मनोहरैः । यैः कैविल्यत् । लोचनैः नयनैः । रमणी नारी । अपहृता रञ्जिता । तैः इत्यध्याहारः । तरुषु वृक्षेषु । नवनवाङ्कुरलीनां नवेषु नवेषु नूतनेषु नूतनेषु, 'बीप्सायाम्' इति टि, अङ्कुरेषु मुकुलेषु लोना स्थगिताम् । अलीनां मधुकराणाम् । संहतिं समूहम् । ईक्षितुम् आलोक्षितुम् । विरहिणं वियोगिनः । न शोकः समर्थं न अवस्थि स्म । शालू शकती लिट् ॥ २ ॥ अस्मरदिति । कुसुमचापकरे कुसुममेव चापं यस्य तस्य कामस्य करे हस्ते ३ । अणौ सूक्ष्मे । चम्पकरेणौ चम्पकस्य हेमपुष्पस्य रेणौ धृत्याम् । पतति गलति सति । विधुरघोः विधुरा सद्गुणा घोर्बुद्धिर्यस्य (सः) । अध्वगः पथिकः । अमराणां देवानाम् । कामिनीमिव रमणीमिव । मनोरमराणां मनोरमो राणो ध्वनिर्यस्यास्ताम् । वल्लभां वनिताम् । अस्मत् स्मरति स्म । स्मृ चिन्तायां

चक्रवर्ती अजितसेनके शासन करनेपर सारी जनता उनके चरणोमें क्षुब्ध गयी, और वह भी बढ़ी तत्परतासे उसकी रक्षा करने लगा । मानो उसके शासनसे प्रभावित होकर ऋतुराज वसन्त भी भीरोंकी सन्तुष्ट करता हुआ प्रकट हुआ । ऋतुराजने सभी प्रकारके फूलोंको विकसित कर दिया । खिले हुए फूलोंसे रस बहने लगा, और भीरोने उसे पीना शुरू कर दिया ॥ १ ॥ युवकीने अपने जिन सजल सुन्दर नेत्रोंसे पहले युवतियोका आवर्जन और मनोरंजन किया था, वे युवक विरही होकर आज वसन्तके इन दिनोंमें उन्ही नेत्रोंसे, वृक्षोंके ऊपर नयी-नयी कलियोमें छिपकर बैठे हुई भ्रमर-पंक्तिको न देख सके ॥ २ ॥ चम्पक वृक्षकी कामोद्दीपक सूक्ष्म परागकी झडते देख, एक पथिकका मन बेचैन हो उठा, और उसे अपनी देवांगना-सी मधुरभाषिणी प्रियाकी

१. अ 'कृत' इति नोपलभ्यते । २. आ प्रती पक्षमिदं नास्ति । ३. = कामोत्साहके ।

विभ्रती मधुकरं कलिकालं नागकेसरतरोः कलिकालम् ।
 मन्मथार्तिमकरोह्मनितामां चित्तनाथवसताधनितानाम् ॥ ४ ॥
 पुष्पमम्बुरुहनाम धुनाना भृङ्गपङ्क्तिरदती मधु नाना ।
 कामिनीजनमनोऽभिनन्दन्तः कोकिलाश्च परितोऽभिनन्दन्तः ॥ ५ ॥
 वीक्ष्य जातमुकुलं सहकारं कामिनी प्रणयिना सह कारम् ।
 पञ्चसायकशरैर्वितता न प्रीतिकारि सुरतं विततान् ॥ ६ ॥
 शीतलो वनभुवामनिलोऽलं स्त्रीजनं दधितधामनि लोलम् ।
 उत्कयन्प्रविकसत्कमलास्यं पल्लवं प्रविद्धे कमलास्यम् ॥ ७ ॥

लङ् ॥३॥ विभ्रतीति । कलिकालं कलिरिव कलिकाल इव कालः कुण्वर्णस्तम् । मधुकरं भ्रमरम् । विभ्रतो
 धरन्ती । नागकेसरतरोः पुत्रागवृक्षस्य । कलिका कोरकः । चित्तनाथवसतो चित्तनाथस्य प्राणकान्तस्य वसतो
 सदनम् । 'वसतो रात्रिवेदमनो' इत्यमरः । अनिताना यन्ति स्म इताः (न इताः) अनिताः तासां ।
 अयातानाम् । अनिताना स्त्राणाम् । मन्मथार्ति मन्मथस्य मदनस्याति पीडाम् । अलं नितान्तम् ।
 अकरोत् अकार्षीत् । दुःकुर्व करणे । उपमा ॥४॥ पुष्पमिति । अन्तः वनमध्ये । अम्बुरुहनाम अम्बुरुहमिति
 कमलमिति नाम यस्य तत् । पुष्पं कुसुमम् । धुनाना धुनीते इति धुनाना कम्पयन्ती । नाना बहुविकारम् ।
 'नानानेकोमयार्थयो' इत्यमरः । मधु पुष्परसम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षीरेऽपि' इत्यमरः । अदती पिवती ।
 भृङ्गपङ्क्तिः भृङ्गाणा मधुकराणा पङ्क्तिः संदोहः । कामिनीजनमनः कामिभ्योजनः^१ तस्य मनश्चित्तम् ।
 रूपकम् (?) । अभिनन्त^२ भेदयति स्म । मिदञ्च विदारणे लङ्^३ । परितः समन्तात् । अभिनन्दन्, ध्वनन्तः ।
 कोकिलाश्च परभूताश्च । च—शब्दबलेन कामिनीजनमनोऽनिन्दन् इत्यन्वीयते ॥५॥ वीक्ष्येति । जातमुकुलं
 जातं मुकुलं यस्य तम् । सहकारं चतुतम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । पञ्चसायकशरैः पञ्चसायकस्य मन्मथस्य
 शरैर्बाणैः । अरं नितान्तम् । वितता व्यापता । [का]कामिनी [का]रमणी । प्रीतिकारि प्रियविधापि । सुरतं
 निधुवनम् । प्रणयिना प्राणनाथकेन । सह साकम् । न विततान न चकार । अपि तु विततान—इत्यर्थः
 ॥६॥ शीतल इति । प्रविकसत्कमलास्यं प्रविकसत्कमलमिवास्यं मूलं यस्य तम् । दधितधामनि दधितस्य
 पुरुषस्य धामनि सदनम् । लोलं लम्पटम् । 'लोलदलसत्पुण्योः' इत्यमरः । स्त्रीजनं वनितजनम् । अलं
 नितान्तम् । सरकण्ठयन् उत्सुकं कुर्वन् । वनभूषा वने भवन्ति स्म वनभूवस्तेषाम्, वृक्षणा संबन्धी इति शेषः ।
 शीतलः शैत्यगुणयुतः । अनिलः मासुतः^४ । क पल्लवं, वितं च । 'पल्लवः किसलये पिङ्गे वितपे विस्तरे
 जवे । शृङ्गारेऽलवतरागेऽपि' इति विद्वत् । अलास्यं नृत्यरहितम् । अपि तु सलास्यं प्रविद्धे एव । उपमा

याद आने लगी ॥३॥ कलिकालके समान काले भोरको धारण करनेवाली नागकेसरकी कलीने
 उन युवतियोंके मनमें काम पीड़ा उत्पन्न कर दी, जो अपने प्राणनाथके घर नहीं पहुँच सकी
 ॥४॥ बाग-बगीचोंके अन्दर कमलको हिलानेवाली और उनके नाना प्रकारके रसको पीनेवाली
 भ्रमरपक्षितने एवं चारों ओर 'कुहू-कुहू' शब्द करनेवाली कोकिलाओंने नायिकाओंके हृदयको
 कुरेदना या विदोष करना शुरू कर दिया ॥५॥ एक आमके पेड़को—जिसपर चारों ओरसे बौर
 लगी हुई थी—देखते ही कामदेवके बाणोंके प्रहारसे पीड़ित हुई किस नायिकाने अपने पतिके साथ
 अतिमात्रामें सुखद सम्भोग नहीं किया ? ॥६॥ जिनका चेहरा खिले हुए कमलके समान था
 और जो पतिके यहाँ जानेके लिए लालायित थी; उन युवतियोंको वनकी ठंडी हवाने और भी
 अधिक उत्सुक कर दिया, तथा उस (हवा) ने किस कामी पुरुषको नृत्यसे अछूता छोड़ा, और

१. = इत्यर्थः । २. = कामिनीनां जनो वर्गः । ३. = भिष्यति स्म । ४. आ वा लुङ् ।
 ५. = यस्मिन् । ६. वा प्रती 'अनिलः मासुतः' इति नोपलम्भ्यते ।

तापकृत्कुरबकः स्तवकेन हेतुना न नमितस्तव केन ।
 प्रावसो य इति नो किल नादः पान्थमभ्यधित कोकिलनादः ॥ ८ ॥
 योऽभवत्प्रियतमैः सह मानस्तं पुरंध्रनिवहोऽसहमानः ।
 वायुनाभ्ररजसा शबलेन प्रत्यवाध्यत रतीशबलेन ॥ ९ ॥
 याः प्रसूनविगलन्मधुरागास्तेनिरे मधुलिहो मधुरा गाः ।
 प्रोषितस्य सकलं विषमाभिर्हृद्यवस्तु विदधे विषमाभिः ॥ १० ॥
 अप्यनारततपोनियतीनां तान्यजायत दिनानि यतीनाम् ।
 मानसं प्रविकसत्कुसुमेषु वीक्षितेषु सुरभेः कुसुमेषु ॥ ११ ॥

॥७॥ तापेति । यः त्वम् । प्रावसः परदेशस्थितोऽभवः । वस निवासं लङि मध्यमपुरुषः । स्तवकेन पुष्प-
 समूहेन । नमितः नम्रोभूतः, प्रह्लोभूत — इत्यर्थः । कुरबकः कुरबकवृक्षः । तव 'यमकदम्बेपत्रिषु वनयो-
 डेलयो नं मित्' इति वचनात् तव—इत्यर्थः । केन हेतुना कारणेन । तापकृत् सतापकृत् । न इति न
 भवसीति । अदः इत्येतत्, वाताम् (वचनम्) इत्यर्थः । कोकिलनादः कोकिलस्य नादः स्वरः । पान्थं
 पथिकम् । 'नित्यं णः पन्थदश्च' इति पन्थादेशः । नो न अभ्यधित नावोचयति नो, अपि त्ववोचदेव । द्वौ नञौ
 प्रकृतमर्थं द्योतयतः ॥८॥ य इति । प्रियतमं प्राणवत्स्वभे । सह साकम् । यः मानः गर्वः । अमवत्
 अभूत् । भू सत्ताया लट् । तं मानम् । असहमानः अधममाणः । पुरंध्रानिवहः पुरंध्राणां सुचरितम्बोणा
 निवहः । आभ्ररजसा आभ्रस्य साकन्तस्य रजसा वायुना । शबलेन मिश्रणं । रतीशबलेन रतीशम्य बलेन
 सहायेन । वायुना मन्दमासतेन । प्रत्यवाध्यत प्रापीडयत । बाधुः रोषमे कर्मणि लट् । मन्दमासतेन
 कामिनीनां बाधा जाता—इत्यर्थः ॥९॥ या इति । प्रसूनविगलन्मधुरागाः प्रसूनाद् विगलन् स्रवत् तत्तच्च
 तन् मधु च तत्र रागः प्रीतिर्वेषा ते । मधुलिहः भूङ्क्ता । याः मधुगः मन्त्राहाराः । गाः झङ्कारं रवान्
 'स्वर्गपुष्पावाग्वादिङ्नेत्रवृष्णिभूङ्क्ते । लक्ष्यदृष्टयो' श्रिया पुंसि गोः ।' इत्यमरः । तेनिरे विस्तारयन्ति
 स्म । विषमाभिः तीक्ष्णभिः । आभिः शोभि । झङ्कारैः—इत्यर्थः । प्रोषितस्य देशान्तरगतस्य । सकल
 समस्तम् । हृद्यवस्तु मनोज्ञलक्ष्मन्दनादिवस्तु । विष विषमम् । अनिष्टम्—इत्यर्थः । विदधे क्रियत स्म ।
 दुषाञ् धारणे कर्मणि लिट् ॥१०॥ अपीति । सुरभेः वसन्तस्य, वृक्षादिमेषस्य वा । 'चम्पकस्वप्नगुग्गु-
 वसन्तपञ्चमोजेषु सुरभिः' इति नानार्थकोटिः । कुसुमेषु पुष्पेषु । वीक्षितेषु विलोक्षितेषु सत्सु । अनारततपो-

तो और नये-नये पत्तीको भी नृत्यसे मुक्त नहीं रहने दिया—वे हिलने लगे ॥७॥ कोकिल अपने
 शब्दोमे पथिकसे कही यह बात तो नहीं कह रहा था कि मुच्छांस झुका हुआ यह कुम्बक वृक्ष
 किस कारण तुम्हें सन्तापकारा नहीं हुआ जो तुम अपनी प्रियाको छोड़कर अकेले ही प्रवासमे
 निकल पड़े हो ॥९॥ जो मानवती कुलीन नायिकाएँ पहले अपने प्रियतमके गर्वको नहीं सह्य
 करती थीं, उनको आमकी बोरके परागसे मिश्रित, कामदेवकी मृदायक वायुने बाधा देना शुरू
 कर दिया । फलतः इन वसन्तके दिनोमे उन्हें बाध्य होकर पतिका मान सहना पड़ा ॥९॥
 फूलोसे बहते हुए रसमे राग रखनेवाले भीरे अपने जिस झंकारके मधुर स्वरको खूब जोर-जोरसे
 सुना रहे थे, वह प्रवासियोको बड़ा ही दुःखदायी सिद्ध हुआ । उसने प्रवासियोके लिए माला
 और चन्दन आदि जो चीजें बहुत प्रिय थीं; उन सभीमे विष घाल दिया ॥१०॥ वसन्तके फूलों-

१. क ख ग घ 'रबक । २. अ प्रावसोऽपि । ३. आ इ 'मग्निह । ४. अ पुसूनमगलम् ।
 ५. अ प्रस्फुटसुरभेः । ६. आ रलयो । ७. आ वा 'योरभेदः । ८. आ लोटने । ९. आ झङ्कार' ।
 १०. आ 'दृष्टयो । श अक्ष्यदृष्टयोः । ११. आ प्रस्तारयन्ति । १२. आ धारणोपपद्यो । १३. आ प्रती 'कर्मणि
 लिट्' इति नोपलभ्यते ।

मन्दधूतबकुलोपवनेन स्पृश्यमानवपुषां पवनेन^१ ।
 सुभ्रूवामवधिना चिकलेन पञ्चमेन समभावि कलेन ॥ १२ ॥
 माग्रहं सखि भजस्व स माया यत्करोति दयितः स्वसमायाः ।
 गोप्यते तव कथं तनु तेन पुष्टिमङ्गकमिदं तनुते न ॥ १३ ॥
 नास्ति तस्य मयि यन्ममतापि तेन मानसमिदं मम तापि ।
 तन्ममास्तु सखि तन्ममनेन नासुखप्रतिविधानमनेन ॥ १४ ॥
 योऽपराधरचनासु खलेश्चस्तेन कः प्रणयिना सुखलेशः ।
 तद्वरं विदधन् महिमानं युक्तमेव विदधीमहि मानम् ॥ १५ ॥

नियतानाम् अनारतमनवरत तपसो नियतिनिवमो येषां तेषाम् । यतीनां यमिनामपि । मानसं चित्तम् । तानि
 दिनानि तादृक्त्वमयमेतत् । 'कालः स्वतोऽप्यस्ति' इति द्वितीया । प्रविकसन् कुसुमेण प्रादुर्भवन् कुसुमेणः
 कामविकारो यस्य^२ तन् । अजायत अमवत् । जनैश्च प्रादुर्भाव लब्धः ॥ ११ ॥ मन्देति । मन्दधूतबकुलोपवनेन मन्दम्
 ईषद् धूतं कम्पितं बकुलोपवनं बह्वृक्षोद्यानं येन तेन । पवनेन मास्तेन । स्पृश्यमानवपुषा स्पृश्यमानं वपुः शरीरं
 यासां तासाम् । सुभ्रूवा सु शोभने भ्रूवौ यासां तासाम्, वनिष्ठानाम्—१२यथः । अवधिना मर्यादाया । चिकलेन
 रहितेन । कलेन सन्तोहरणं । पञ्चमेन पञ्चमरागेण । समभावि सभूतम् । भू सत्ताया कर्मणि लुट् । 'इन्
 दृशि—' इत्यादिना जिः । 'अ' इति तन्-लुक् । १२॥ अस्ति । सखि भो वयस्ये । यत् कारणात् । सः दयितः
 प्राणनायकः । माया वञ्चनानि । करोति विदधाति । स्वसमायाः स्वस्य प्राणानां समायाः सद्भावाः । तव ते ।
 इदम् एतत् । तनु क्लान्तम् । अङ्गकं शरीरम् । पुष्टि^३ तुष्टिम् । न तनुत्रे न विस्तारयति । तनुञ्च विस्तारे लट् ।
 तेन प्राणनायकेन । कथं केन प्रकारेण । गोप्यते बाष्पाच्छाद्यते । गुणो रक्षणे कर्मणि लट् । माग्रहं^४ तात्पर्यम् ।
 मा भजस्व मा कृया । ॥ १३ ॥ नास्तीति । सखि भो वयस्ये । तस्य प्राणनायकस्य । मयि, यत् कारणात् ।
 ममतापि ममत्वमपि । नास्ति न विद्यते । तेन^५ दयितेन । मम मे । इदम् एतत् । मानसं चित्तम् । तापि
 तापोऽप्याग्नीनि तापि सतापयुक्तम् । तत् तस्मान् कारणात् । अनेन एतेन । तन्ममनेन तस्य प्राणनायकस्य
 नमनेन नमस्कृतेन । मम मे । असुखप्रतिविधानम् असुखस्य विरहजनितदुःखस्य प्रतिविधानं प्रतीकारः ।
 नास्तु न भवतु ॥ १४ ॥ य इति । यः पुरुष । अपराधरचनासु मानसस्यानुकूल(ता)रहितवर्तनाक्रियामु^६ ।
 खलेशः खलानां दुर्जनामीशः श्रेष्ठ । तेन प्रणयिना प्राणकान्तेन । सुखलेशः सुखस्य संतोषस्य लेश एकदेशः ।

को देखकर निरन्तर तप करनेवाले यतियोंके मनमें भी कामविकार उत्पन्न हो गया, जो
 वसन्तके अन्तिम दिनों तक बगबर बना ही रहा ॥ ११ ॥ धीरे-धीरे बकौलीके वृक्षोंको हिलाने-
 वाले (मन्द सुगन्ध) पवनेन ज्यों ही मुन्दर नायिकाओंके शरीरका स्पर्श किया, त्यों ही उनका
 अस्पष्ट किन्तु मधुर पचम स्वर, जिसमें किसी प्रकारकी मर्यादाका कोई नियन्त्रण नहीं था—
 शुरू हो गया । इधर बसन्ती हवा बही उधर मधुर स्वरमे नायिकाओंका गान शुरू हुआ ॥ १२ ॥
 हे सखि ! वह पतिदेवजी चूँकि मुझसे मायाचारी करते है, इसीलिए तो मेरा यह शरीर पुष्ट नहीं
 हो रहा है । तुझे मैं अपने समान मानती हूँ । अतः तुझसे ये बातें कैसे छिपाऊँ ? अब तू मुझसे,
 उनसे मिलनेका आग्रह न कर ॥ १३ ॥ सखि ! मेरे ऊपर उनकी ममता भी तो नहीं है । इसी
 कारणसे मेरा यह मन सन्तप्त रहा करता है । अब उनके चरणोंमें नमन करनेसे मेरे विरहजन्य
 दुःखोंका प्रतीकार—जो पहले कभी सम्भव रहा—न हो तो न सही, पर अब तो उनसे मेरा
 दिल बिलकुल ही निकल गया है ॥ १४ ॥ अपराधोकी झड़ी लगानेके लिए जो खल, खल नहीं,

१. अ. वपुषोपवनम् । २. = यस्मिन् । ३. = पुष्टत्वम् । ४. = दृढम् । ५. = कारणेन ।
 ६. = मनःप्रतिकूलव्यवहारविधानेषु ।

तापहारि वपुषो विधुरस्य चन्द्रनाम्बु न न वा विधुरस्य ।
 गन्तुमप्रियकृतौ नियतेहं न प्रियं तदपि घाम्नि यतेऽहम् ॥ १६ ॥
 यान्यदास्त वचनानि वदन्ती कृतिकामिति महानिष दन्ती ।
 माधवीऽकृत वशे मधुरस्य तां प्रियस्य धृतकामधुरस्य^१ ॥ १७ ॥
 (पञ्चभिः कुलकम्)

त्वाद्दशी पट्टरकारि वयस्या मच्छुभैर्ग्रहपतेरिव यस्याः ।
 मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य^२ ॥ १८ ॥
 तत्प्रगम्य दयितं रुचिताभिर्वाग्मिरालि निगदेरुचिताभिः ।
 यत्प्रियैकवचसामपरस्य आयते न तदसामपरस्य^३ ॥ १९ ॥

कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत् तस्मात् कारणात् । परम् उत्कृष्टम् । महिमानं महत्त्वम् । विदधतं कुर्वन्तम् ।
 युक्त्वं दक्षितम् । मानसमेव गर्वमेव । विदधोमहि कुर्यामहि । दुष्पात्रं धारणे च लिङ् ॥१५॥ तापेति ।
 विधुरस्य (विदह-) दुःखितस्य । [अस्य] वपुषः शरीरस्य । चन्द्रनाम्बु गन्धोदकम् । तापहारि संतापहारि ।
 न भवति । विधुर्वा चन्द्रोऽपि । अस्य [वपुषः] शरीरस्य । तापहारि न भवति । तदपि तथापि । अप्रियकृतौ
 अप्रियस्य कृतिकार्यस्य कृतौ करणे । नियतेहं नियता नियमिता ईडा-चेष्टा यस्य तम् । प्रियं वत्तलम् ।
 गन्तुं गमनाय । घाम्नि गृहे । अहं न यते यत्न न करोमि । यत्नेऽ् प्रयत्ने लट् ॥१६॥ येति । या नायिका ।
 अन्यदा योवतुं । अन्ययम् । कृतिका संचारिकाम् । इति उक्तप्रकारेण । वचनानि वच्नांति । वदन्ती भुवाणा ।
 आस्त अतिष्ठत् । माधव वसन्तः । धृतकामधुरस्य धृता कामस्य मदन्त्य धूमरी यस्य^४ तस्य । मधुरस्य
 मनोहररूपातिशययुक्तस्य । प्रियस्य वत्तलम् । वशे अधीने । ता स्त्रीम् । महान् दन्तीव गज इव । अकृत
 अकरोत् । दुःकृत् करणे लुङ् । पञ्चभिः कुलकम् ॥१७॥ त्वादशीति । यस्याः वनितायाः^५ । मूर्तिः शरीरम् ।
 सविकासकलस्य सविकासः प्राकट्यसहिताः कलावचतुःपष्टिकला यस्य तस्य, पक्षे प्रकाशयुक्तपोद्भासाग-
 सहितस्य । ग्रहपतेः चन्द्रस्य इव । सकलस्य सर्वस्य । सज्जनस्य सत्पुरुषजनस्य^६, पक्षे सत्ता नक्षत्राणां जनस्य
 लोकस्य च । उत्सवकरी संतोषकरी । पट्टः समर्था । त्वादशी त्वत्सदृशी । वयस्या सखी । मच्छुभैः मम
 शुभैः पुण्यैः । अकारि अक्रियत । दुःकृत् करणे कर्मणि लुङ् । इत्येवमपि ॥१८॥ तदिति । तत् तस्मात् कार-
 णात् । इति काचिन्नायिका सखी स्तोति—इत्यर्थः । आलि भो. सखि । दयितं प्राणकामम् । प्रगम्य प्राप्य ।

महाखल है, उस खलनायकसे क्या लेशमात्र भी मुख हो सकता है ? अतएव मैं श्रेष्ठ बड़प्पन
 दिलानेवाले मानकों कल्लू, यही उचित है ॥१४॥ मेरे इस दुःखी शरीरके सन्तापको न तो
 चन्दनका जल या गन्धोदक हर सकता है और न चन्द्रमा । तो भी वे जान बूझकर अप्रिय कार्योंमें
 लगे रहते हैं; अतः उनके पास जानेके लिए मैं अपने घरमें कोई प्रयत्न नहीं कर रही हूँ ॥१६॥
 इस तरह जो नायिका शीष्म आदि अन्य ऋतुओंमें अपनी दूतीसे कहा करती थीं, उन्नी (नायिका)
 को, बहुत बड़े हाथोंके समान प्रभावशाली वसन्तऋतुने उसके अत्यन्त मुन्दर और इमोलिए
 कामदेवके कार्यभारको धारण करनेवाले पतिके वशमें कर दिया ॥१७॥ तुझ सखी समर्थ
 सखी मुझे बड़े भाग्यसे मिली है । जिस प्रकार सोलह कलावाले पूर्णचन्द्रमाकी मूर्ति नक्षत्र
 लोकके उत्सवकी पूति करनेवाली होती है इसी प्रकार तेरी मूर्ति सब कलाओंमें निष्ठागत
 समस्त सज्जनोको सन्तोष देनेवाली है ॥१८॥ अतः हे सखि ! मेरे पतिदेवके निकट जाकर

१. अ यान्यदा तव च तानि वदन्ती हन्ति मामिति महानिष दन्ती । साधवीऽकृत वशे मधुरस्य
 माप्रियस्य धृतकामधुरस्य ॥ २. अ क ल स च 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ३. अ सज्जनोऽश-
 यविकासकलस्य । ४. आ इ 'युगम्' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । ५. = येन । ६. तव-इत्यर्थः ।
 ७. = सत्पुरुषस्य ।

किंकरी तव भवामि सदाहं मन्मनः सुरतकामि सदाहम् ।

ह्लादय प्रियतमानयनेन त्वं क्षमात्र न मृगीनयने न ॥ २० ॥

तापयन्ति मम मानिनि तान्तं मानसं मधुदिनानि नितान्तम् ।

तद्विधेहि दयितं दयमानं सामभिर्भस्म महोदयमानम् ॥ २१ ॥

काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा रन्तुमुत्सुकमनाः सह नेत्रा ।

दूतिकामिति जगौ चिनयेन दुःखमुद्भवति भावि न येन ॥ २२ ॥

(पञ्चभिः^१ कुलकम्)

उचिताभिः इष्टाभिः । उचिताभिः प्रस्तुताभिः । वाग्भिः वचनैः । निगदैः त्वं ब्रूहि । गद व्यवसायां वाचि लिट् । प्रियकवचसा प्रियं प्रीतमेकं मुख्यं वचो येषां तेषाम् । यत् वस्तु । जायते संपद्यते । असामपरस्य अस्मिन् अप्रियवचने परस्य तदारस्य । अपरस्य अन्यस्य । तत् वस्तु । न जायते ॥ १९ ॥ किंकरीति । मृगीनयने मृगाः (नयने) इव नयने नेत्रे यस्यास्तस्याः संबोधने^२ भो एणलोचने । अहं सदा अनवरतम् । तव ते । किंकरी सेविका । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् । सुरतकामि (सुरतं) संभोगम् (कामयते) इच्छतो- (ति सुरतकामि) । सदाहं संतापसहितम् । मन्मनः मम मे मनः चित्तं मन्मनः । प्रियतमानयनेन प्रियतमस्य प्रकृष्टप्राणकान्तस्यानयनेन । त्व भवती । ह्लादय तृप्ति नय । अत्र प्रियतमानयने । त्वं न क्षमा न समर्था (इति) न, न भवसि, अपि तु समर्थ । द्वौ नवौ प्रस्तुतार्थं समयतः ॥ २० ॥ तापेति । मानिनि भोः मखि । तान्तं दुःखसहितम् । मम मे । मानसं चित्तम् । मधुदिनानि अर्धोर्वसस्तस्य दिनानि दिवसाः । नितान्तं तीव्रम् । तापयन्ति संतापयन्ति । तत् तस्मात् कारणात् । महोदयमानम् उदय ऐश्वर्यं, मानोऽभिमानः, उदयदक्ष मानश्च तथोक्तौ, महान्तो उदयमानो यस्य तम् । मम मे । दयितं कान्तम् । सामभिः प्रियवचनैः । दयमानं पालयन्तम् । विधेहि कुरु । इष्टाश्च वाग्भिश्च लोट्^३ ॥ २१ ॥ काचिदिति । उत्पलतुलासहनेत्रा^४ उत्पलस्य कुलकस्य तुले समाने असहे नेत्रे यस्यां सा, उत्पलोपमाननेत्रा—इत्यर्थः^५ । काचित् अस्या स्त्री । तैत्रा प्राणनाशनेन । सह साक्षम् । रन्तुं क्रीडितुम् । उत्सुकमनाः उत्सुकतमनाः सती । येन केन (?) । भावि भविष्यत् । दुःखं कृच्छम् । नोऽरुहति न आरते । चिनयेन प्रशयेन । दूतिका सखीम् (दूतीम्) । इति प्रोक्त-प्रकारेण । जगौ जगाद । गौ शब्दे लिट् । 'एवोऽवयाः' इति आकारादेशः । उपमा । पञ्चभिः कुलकम् ॥ २२ ॥

तुम उचित वचन बोलना; क्योंकि जो वस्तु प्रियावादीको मिल जाती है, वह अप्रियवादीको नहीं मिल सकती ॥ १९ ॥ हे मृगनयनी ! मैं सदा तेरी दासी बनी रहूँगी । मेरा सन्तप्त मन सम्भोगके लिए लालायित है । अतः उन (पतिदेव) को यहाँ लाकर मुझे तृप्त कर दे । तू इस काममें समर्थ नहीं है, सो यह बात तो है नहीं ॥ २० ॥ हे सखि ! ये वसन्तके दिन मेरे दुखी मनको खूब ही सन्ताप दे रहे हैं । अतएव तू अपनी प्रिय बातोंसे उन (पतिदेव) को मेरे ऊपर दयालु बना दे । वे महान ऐश्वर्यके स्वामी हैं और हैं मानके धनी । तू भी तो मानकी धनी है । अतएव वे तेरी बातको टालेगे नहीं ॥ २१ ॥ इस तरह कोई नवयुवती, जिसके नेत्रोंकी तुलनामें नील-कमल भी अत्यन्त तुच्छ थे और जिसके मनमें अपने पतिके साथ क्रोड़ा करनेकी उमंग भरी हुई थी, यह सोचकर कि उसे आगे विरहका दुःख न उठाना पड़े, बड़ी विनयसे ये बातें अपनी

१. आ इ 'पञ्चभिः' इति नोपलभ्यते । २. = तत्संबुद्धौ । ३. आ लिट् वा लोट् । ४. = उत्पल-कुलकस्य तस्य तुला साम्यं न सहते नेत्रे यस्य सा । ५. = उत्पलाभिर्भाबिलोचना—इत्यर्थः ।

का क्षता' हृदयभूशबरस्य सायकैर्न विननाश वरस्य ।
 संस्मरन्त्यनुपमासहितस्य प्रोषितस्य मधुमासहितस्य ॥ २३ ॥
 प्रीणिताहिनरदेवकुलानि प्रोल्लसन्ति नितरां बकुलानि ।
 नीररिक्जलवाहसितानां साम्यमापुरबलाहसितानाम् ॥ २४ ॥
 काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ताह्वितामलिनविद्युति मत्ता ।
 कुर्वती ध्वनिमतारमतारं कालिनी न सरसारमतारम् ॥ २५ ॥
 तां शशाङ्ककिरणा विद्वहन्ति मन्मथश्च नयकोविद्व हन्ति ।
 पीडितां निजमनःकमलेन त्वद्वियोगमवशोकमलेन ॥ २६ ॥

केति^१ । अनुपमासहितस्य उपमया सादृश्येन सहितः संयुक्तः तथोक्तः, न उपमया सहितोऽनुपमासहितः तस्य, उपमाराहित्ययुक्तस्य—इत्यर्थः^२ । प्रोषितस्य परदेशस्वभ्यः । मधुमानहितस्य मधुमासाय वसन्तमासाय हितस्य हितभूतस्य । 'शक्तार्थ—' इत्यादिना हितशब्दयोगे चतुर्थो वा (?) । वरस्य वरस्य-नायकस्य । वषयोः शेषः । संस्मरन्ती व्याधन्ती । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हृदयभूशबरस्य हृदयभूरेव मन्मथ एव शबरो व्याधस्तस्य । सायकैः बाणैः । क्षता विद्धा क्षती । का न विननाश का न नश्यति स्म, अपि तु ननाश एव । रूपम् ॥ २३ ॥ प्रीणितेति । प्रीणिताहिनरदेवकुलानि अहीना भवनवासिनां^३ नराणां मनुष्याणां वेवानां कल्पवासिनां^४ कुलानि समूहाः तथोक्तानि, प्रीणितानि^५ तृप्तानि तानि च तानि अहिनरदेवकुलानि च तथोक्तानि । नितराम् अत्यन्तम् । प्रोल्लसन्ति विलसन्ति । बकुलानि बकुलपुष्पाणि । नीररिक्जलवाहसितानां नीरेण जलेन रिक्तो रहितो जलवाहवत् शरत्कालमेषवत् (जलवाहः शरम्पे तद्वत्) सितानां शुभ्रानाम् । अबलाहसितानाम् अबलानां वनितानां हसितानां मन्दस्मितानाम् । साम्यं सादृश्यम् । आपुः ययुः । आप्त्वां व्याप्तौ लिट् । उपमा ॥ २४ ॥ काञ्चनारैरिति^६ । द्युतिमत्ताह्वितामलिनविद्युति द्युतिमत्तया कान्तियुक्त-रश्मेन ह्वेयिता लज्जिता बभ्रुलिना निर्मला विद्युद् यस्य^७ तस्मिन् । काञ्चनारकुसुमे काञ्चनारस्य कोविदारस्य कुसुमे पुष्पे । मत्ता प्रीता । क्षारमतारं मन्दं मन्दम् । 'बन्सायाम्' इति द्वि । ध्वनि स्वरम् । कुर्वती विदधती । सरसा सरागा । का अलिनी भ्रमरी । अरम् अत्यन्तम् । नारमत नाक्रोशत् अपि स्वरमत एव ॥ २५ ॥ तामिति । नयकोविदो भो नीतिचतुर । त्वद्वियोगमवशोकमलेन तव वियोगेन विरहेण भवो जातः योको विषादः स एव मलं दोषो यस्य^८ तेन । निजमनःकमलेन निजस्य स्वस्य मन एव चित्तमेव कमलं तेन । क्वकम् । पीडितां बाधिताम् । ता स्त्रीम् । शशाङ्ककिरणाः शशाङ्कस्य चाद्रस्य किरणा मयूषाः । विद्वहन्ति^९

दूतीसे कह रही थी । (यहाँ १८ वें से २२ वे श्लोक तक सम्बन्ध है) ॥ २२ ॥ ऐसी कौन सी युवती थी, जो सौन्दर्यमे अनुपम एवं वसन्त मासमें हितकर अपने प्रवासी पतिको याद करती-करती काम-व्याधके बाणोंसे घायल होकर कामदेवकी दसवी अवस्थामे नहीं पहुँचो ? ॥ २३ ॥ भवनवासी, मनुष्य और कल्पवासी देवों (तीनों लोकोंके निवासियों) को प्रसन्न करनेवाले बकुल (मोलसिरी) के फूल खूब ही खिल रहे हैं और वे शरत्कालीन मेषकी भाँति ध्वेत, नायिकाओंके हासकी (धवल होनेसे) बराबरी कर रहे हैं ॥ २४ ॥ इन दिनोंमें ऐसी कौन सी रसिली भौरी थी, जो अपनी कान्तिसे उज्ज्वल बिजलीको लजानेवाले कचनारके फूलपर उसके रससे मनुवाली होकर, मन्द-मन्द ध्वनि करती हुई क्रीड़ा नहीं कर रही थी ? ॥ २५ ॥ हे नीति-निपुण ! तुम्हारे विरह जन्य शोकके मलसे उस (तुम्हारी प्रिया) का हृदयकमल भीतर-ही-भीतर दबा-सा जा रहा है, अतः वह योंही दुःखी है, ऊपरसे चन्द्रमाकी किरणें उसे जला रही हैं

१. इति । २. आ क्ष का इति । ३. = अनुपमस्य—इति यावत् । ४. आवासिकानां वा वासितानां । ५. वा वासितानां । ६. = तृप्तिं प्राप्तिना । ७. आ क्ष कामिति । ८. = येन । ९. = यत्र । १०. = संघस्ययम् ।

शीतवग्धनलिनीसमवेहां वल्लभां च्युतबिलासमवेहाम् ।

पासि तां यदि गुणो भवतोऽयं देहि वा जितमनोभव^१ तोयम् ॥ २७ ॥

यः प्रविश्य हृदये रजनीषु स्थैर्यवान्तिपतेरजनीषुः ।

सुभ्रुवः स तच्च संगमनेन नोद्धृतो^२ व्रजति संगमनेन ॥ २८ ॥

गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं संप्रहाय दायितां रमय त्वम् ।

मग्मयव्यसनलाधिरहस्य न क्षमेन्दुवदना विरहस्य ॥ २९ ॥

वितपन्ति । मग्मयश्च मारोऽपि । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्योः लट् ॥ २६ ॥ शीतंति । जितमनोभव
जितः पराजितो मनोभवः कामो येन तस्य संबोधनम्,^३ भो जितमार । शीतवग्धनलिनीसमवेहां शीतेन हिमेन
दम्बायाः संतप्ताया नलिण्याः पद्मिण्याः समः समानो देहः शरीरं यस्याः, ताम् । च्युतबिलासमवेहा च्युता
विनष्टा बिलासस्य शृङ्गारस्य मरस ईहा चेष्टा यस्याः, ताम् । तां वल्लभां प्राणकान्ताम् । यदि पासि
रक्षसि । पा रक्षणे लट् । अयम् एवः । भवतः तच्च । गुणः^४ । वा अधवा । तोयं जलम् । देहि यच्छ ॥ २७ ॥
य इति । यः, रतिवते^५ कामस्य । हृदुः बाणः । रजनीषु रात्रिषु । सुभ्रुवः सु शोभने भ्रुवो यस्याः तस्याः,
स्त्रिया—इत्यर्थः । हृदये अन्तरङ्गे । प्रविश्य गत्वा । स्थैर्यवान् स्विस्तरत् । अव्रजति अव्रजयत । तच्च ते । संगम-
नेन संसर्गेण । उद्धृतः उत्पाटितश्चेत् । सः बाणः । अनेन हृदयेन । संगं संसर्गम् । न व्रजति न प्राप्नोति ।
व्रज गतौ लट् ॥ २८ ॥ गच्छेति । तत् तस्मात् कारणात् । सुभग भो मनोहराङ्ग । मग्मयव्यसनलाधिरहस्य
मग्मयेन कामेन जातं व्यसनं मग्मयव्यसनं तस्लुनातीरयेवं शीलं तथोक्तं मग्मयव्यसनलाधि रहस्यं भोगो यस्य
तस्य संबोधनं^६ हे कामव्यसनच्छेदिभोगव्यक्त—इत्यर्थः । सारमयत्वं लोहमयत्वं कठिनत्वं मूर्खत्वं वा—
इत्यर्थः । 'जलजबल्ल्याट्यस्थिराशवरचर्त्तु सारः' इति नाशार्थकोशे । संप्रहाय त्यक्त्वा । गच्छ याहि । गम्लु
गतौ लोट्^७ । 'यग्गमिषोऽिश्छः' इति छडादेशः । त्वं भवान् । दायिता बनिताम् । रमय क्रोडय । इन्दुवदना
इन्दुरिज वदनं मुखं यस्याः सा । विरहस्य वियोगस्य । क्षमा^८ सहमाना । न न भवति । उपमा ॥ २९ ॥

और कामदेव मारे डालता है ॥ २६ ॥ सुन्दर ! तुमने तो सुन्दरतामें कामदेवको भी मात कर
दिया है । तुम्हारी प्रियाकी अवस्था इस समय अत्यन्त दयनीय हो गयी है—उसकी काया शीत-
लहरी (पाला) से झुलसी हुई कमलिनोके समान हो गई है, और उसे अपने जिस शृङ्गारपर
गर्व था, उस ओर अब उसका ध्यान ही नहीं जाता, न उसकी चेष्टा ही करती है । यदि तुम
उसे बचा लेते हो (उसके निकट जाकर) तो तुम्हारा दयागुण व्यक्त होगा—तुम्हारी दया
होगी । यदि ऐसा नहीं कर सकते हो तो उसे जलाञ्जलि दे दो ॥ २७ ॥ रात्रिके समय कामदेवका
जो बाण तुम्हारी प्रियाके—जिसकी भी अत्यन्त सुन्दर है—कलेजेमें घुसकर बही जम गया है,
जरा भी नहीं हिलता, उसे तुम अपने मधुर संसर्गसे निकाल दो तो वह उस (कलेजे) के
साथ नहीं जायगा ॥ २८ ॥ हे सुभग ! कामपीडाको दूर करनेका रहस्य तुम जानते हो । अतः
तुम अपनी फौलादी कठोरताको छोड़ो, जाओ और अपनी प्रियाको रमाओ । तुम्हारी चन्द्रमुखी

१. भ जनमनो^१ । २. भ मोक्षितो^२ । ३. = तत्संबुद्धौ । ४. = लाभ उपकारी वा ।
५. = तत्संबुद्धौ । ६. भा लिट् ष लेट् । ७. = योग्या ।

दूतिकोक्तिमिति कोऽपि निकामं शुश्रुवात्मनसि कोपिनि कामम् ।
 तत्क्षणानुपययौ परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण ॥ ३० ॥ (पञ्चभिः कुलकम्)
 कर्णिकारमधवाजनितान्तं^२ चारुगन्धगुणतोऽजनि तान्तम्^३ ।
 सर्जने हि विधिरप्रतिमोदस्तस्य युक्तघटनां प्रति मोहः ॥ ३१ ॥
 वृक्षपट्टिक्तयुक्तेरधरेण चारुतापरमपारधरेण ।
 किंशुकैर्न शुशुभे समयोऽसौ बिन्दुनेव सविलासमयोऽसौ ॥ ३२ ॥
 गायनेष्वलिवधूनिकरेषु^४ जातवस्तु शमहानिकरेषु ।
 पुष्परेणुकृतपांसुलतानां नर्तको मरुद्भूत्सुलतानाम् ॥ ३३ ॥

दूतिकेति । दूतिकोक्तं दूतिकया संचारिकया उक्तं भाषितम् । इति एवम् । कोपिनि क्रोधयुक्ते । मनसि
 मानसे । निकामम् अत्यन्तम् । शुश्रुवान् शुधाव इति शुश्रुवान् आकर्णितः^५ । कोऽपि कष्टिचप्रायकः । परमेण
 महता । दीर्घमानकलुषोपरमेण दीर्घो बहलो मानो गर्वः स एव कलुष दोषः नस्योपरमो विनाशः तेन । तत्क्षणानु
 क्षणमात्रम् । कामं कामविलासम् । उपययो जगाम । या प्रापणे लिट् । रूपकम् । पञ्चभिः कुलकम् ॥ ३० ॥
 कर्णिकारमिति । अधवाजनितान्तं न विद्यते घञो यासां ता अधवास्तासां नायकवियुक्तानां अनितोर्जातो
 अन्तो नाशो येन तत् । कर्णिकारः^६ गिरिपद्मम् । चारुगन्धगुणतः चारुगन्धस्य गुणतो विशिष्टपरिमलात् ।
 तान्तं दूयम् । अजनि अभूत्, स्वयं दूष्यमपि सुगन्धिहीनमभूत्-इति भावः । तथा हि--विधिः ब्रह्मा ।
 सर्जने सृष्टौ । अत्यतिमोहः अप्रतिम उपमातीत ऊहो विचारो यस्य सः, स तपोक्तः । तथापि । तस्य ब्रह्मणः ।
 युक्तघटनां प्रति^७ परिमलसंरम्भस्यापारं प्रति । मोहो हि अज्ञानं हि ॥ ३१ ॥ वृक्षेति । चारुतापरमपारधरेण
 चारुताया मनोहरत्वस्य परममुकृष्टं पारमवसानं धरतीति चारुतापरमपारधरः, तेन । वृक्षपट्टिक्तयुक्तेः वृक्षाणां
 तट्ठणां पट्टिक्तः समः^८ (राजि) सा एव युवतिस्तरुणी तस्याः । रूपकम् । अधरेण रदनकच्छदनिभेन ।
 किंशुकैर्न पलाशेन । असौ समयः । अयं वसन्तकालः । असौ खड्गे । अयः लोहम् । बिन्दुनेव जलकणेनेव ।
 सविलासं विलाससहितं यथा तथा । शुशुभे बभौ । शुभि दीप्ती लिट् । उपमा ॥ ३२ ॥ गायनेष्विति ।
 शमहानिकरेषु शमस्य उपशमगिरिणामस्य हानिकरेषु नाशकारिषु^९ । अलिवधूनिकरेषु अलीना मधुकराणां

प्रिया अब विरह सहने योग्य नहीं है ॥ २९ ॥ किसी नायकके मनमें यों तो अत्यधिक क्रोध भरा
 हुआ था, किन्तु दूतीकी उक्त बातोंको सुनते ही उसके मनको, गर्वसे उत्पन्न हुई कलुषता
 बिलकुल ही बिलीन हो गई । फलतः वह शीघ्र ही अपनी प्रियाके पास चला गया । (२६वें
 से ३०वें श्लोक तक सम्बन्ध है) ॥ ३० ॥ कनेरका फूल अत्यन्त सुन्दर होता है, कामादीपक
 होता है और होता है विधवाओं या विरहिणियोंके जीवनका अन्त करनेवाला । किन्तु उसमें
 अच्छी गन्ध नहीं होती । सच तो यह जान पड़ता है कि मृष्टिके बारेमें विधाता अनुपम विचारों-
 का धनी होता है, किन्तु किस वस्तुका किस वस्तुके साथ ठीक मेल बैठेगा, इस योजनाके विषय-
 में उसे मोह हो जाता है । इसीलिए तो उसने कनेरके फूलको मूब सुन्दर बनाया पर उसे अच्छी
 गन्धसे वञ्चित रखा ॥ ३१ ॥ सुन्दरताके नये कीर्तिमान (रिकार्ड) को स्थापित करनेवाले,
 टेसूके फूलरूपी, वृक्षबीथेरूपी युवतीके होठसे वसन्तके इस मुहावने समयकी शोभा
 है । जैसे कलापूर्ण विधिमें चढ़ाये गये आबसे तलवारके लोहेकी शोभा होनी है ॥ ३२ ॥
 भौरोंकी अंगनाएँ गाना गानेके लिए जब सम्मिलित रूपमें उद्यत हो गयीं, और उनका गान

१. अ क ख ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नास्ति । २. अ 'नेतान्ता' । ३. अतान्तम् । ४. अ 'वलि-
 जने निकरेषु' । ५. = आकर्णितवान् । ६. = उत्पादितः । ७. = द्रुमोत्पलम् । ८. = योग्यसंयोगं प्रति ।
 ९. आ समूहः । १०. सा नाशकरेषु ।

कन्तुना भवदशोकबलेन मृत्युनेव सकलोलङ्कवलेन ।
 प्रस्यते स्म विरहो प्रमदाया संस्मरन्मुहुरकम्प्रमदायाः ॥ ३४ ॥
 प्रागतीव मनसा समुद्रा यस्नस्थिवाग्विरहिणीसमुदायः ।
 सोऽतिदुःसहमनोभवदूनो माधवे सुखितयामभवदूनः ॥ ३५ ॥
 कामशोकजलधेरुदितानि संहारालि सततं रुदितानि ।
 मेरुभूधरसहस्रममुक्तं धैर्यमापदसनक्षममुक्तम् ॥ ३६ ॥
 यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभः ।
 यस्नवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः ॥ ३७ ॥

बधूना बनिताना निकरेषु निवहेषु । गायनेषु गायतसु । जातवत्सु जातेषु सत्सु । पुष्परेणु कृतपांगुलतानां पुष्परेणुना कुमुदरसेन (रजसा) कृता विहिता पांगुलता मलिनत्वं यासा तासाम् । सुलतानां शोभनव्रततीनाम् । मरुत् वायु । नतकः नटः । अभूत् अववत् । परिणामः (रूपकम्) ॥ ३३ ॥ कन्तुनेति । अकवलेन प्रासरहितेन । मृत्युनेव यमेनेव^१ । भवदशोकबलेन भवद् अशोक एव कङ्कलिवृक्ष एव बलं सहायो यस्य तेन । कन्तुना मन्मथेन । अकम्प्रमदायाः अकम्प्र. स्थिरो मदो गर्वो यस्याः, तस्याः । प्रमदायाः कान्तायाः । स्मरणाद्यत्वाद् बनितामित्यर्थः । 'स्मृत्यर्थे—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । मूढः पुनः । संस्मरन् संधायन् । सकलः सर्वः । विरहो वियोगशून्य जन । प्रस्यते स्म गिर्यते स्म^२ । प्रमूङ् अदने कर्मणि लट् । उप्रेक्षा ॥ ३४ ॥ प्रागिति । य. विरहिणीसमुदायः विरहिणीना वियोगिनीनां समुदाय. समवायः । प्राक् पूर्वम् । अतीव अत्यन्तमिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । समुद्रा मुद्रा संतोषेण सह वर्तते इति समुत् तेन । मनसा चित्तेन । तस्थिवान् तस्थो इति तस्थिवान् स्थितवान् । सः विरहिणीसमुदायः^३ । माधवे मधुरेव माधवः (प्रसादि-स्वाद्यन्) तस्मिन् वसन्ते । अतिदुःसहमनोभवदूनः अतिदुःसहेन सौदुमन्येन मनोभवेन मन्मथेन दूनः संतापितः सन् । सुखितया मुखयुक्तावेन । ऊनः रहितः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् ॥ ३५ ॥ कामेति^४ । आलि सखि । कामशोकजलधेः कामेन जातः शोकः स एव जलधि तस्मात् । सततं संततम् । उदितानि जातानि । रुदितानि रोदनानि । संहार त्यज । मेरुभूधरसदृशं मेरुणा मन्दरेण भूधरेण पर्वतेन सदृशं समानम् । धैर्यं धीरत्वम् । अभुवन् अवस्यत सत् । आपदसनक्षमम् आपदो विपत्तेरसने नाशने क्षमं समर्थम् । उषत माषितम् ॥ ३६ ॥ यत्रेति । [यत्र यस्मिन् वसन्ते] । अमलाभैः अमला आभा कान्तियेया तैः । जनमनोरमलाभैः

सुनकर साधुओंका शमगुण नष्ट होने लगा, तब मलयानिल भी परागसे धूसरित लताओंको नचानेके लिए उद्यत हो गया । फूल खिल उठे, भीरे उनपर गुंजार करने लगे, दक्षिण पवन बहने लगा । लतायें हिलने लगीं और साधुओंके मनमें विकार शुरू होने लगा ॥ ३३ ॥ अशोकका बल पानेवाले कामदेवने समस्त विरहियोंको—जो स्थिर गर्व रखनेवाली अपनो प्रियाओंकी बार-बार याद कर रहे थे—यमराजकी तरह एक ही साथ निगलना शुरू कर दिया ॥ ३४ ॥ विरहिनियोंका जो वर्ग पहले शिशिर ऋतुमें खूब प्रसन्नचित्त रहा, वही वसन्त-के आते ही असह्य कामसे सन्तप्त होकर सुखी न रह सका ॥ ३५ ॥ सखि ! कामसन्तापके कारण तेरे शोकसागरसे ये लगातार आसू बरसाने वाले रुदनरूपी मेघ उठ रहे हैं । इनका संहार कर-लगातार रो मत । अनुभवी लोगोंने कहा है—'धीरज न छोड़ा जाय तो वह मेरु पर्वतके समान अटल होकर विपदाओंकी दूर करनेमें समर्थ होता है' ॥ ३६ ॥ जिस वसन्त ऋतुको तेरे पतिने परदेश जाते समय आनेकी अवधि कहा था, और जिसमें वृक्ष निर्मल

१. म यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः । यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभैः ॥ २. = गायकेषु । ३. हा प्रती 'यमेनेव' इति नोपलभ्यते । ४. आ प्रती 'गिर्यते स्म' इति नास्ति । ५. आ वा प्रसू । ६. वा 'समवायः' । ७. वा कामिति ।

विप्रयोगकृश्वारहितेन चेतसा कठिनतारहितेन ।

उत्सुको नहि विकासमयन्तं सोऽतिवर्तितुमर्ह^१ समयं तम् ॥३८॥

रक्ष तद्वपुरिवं नियमेन मा विवेहि^२ लघुदानि यमेन ।

^३रंश्यसेऽल्पदिवसैः सह तेन स त्वदीयविरहं सहते न ॥३९॥

मन्ददीप्तिरसुखावहमाना जीविते शिथिलतां वहमाना ।

दूरविक्षपतिरपोहितमालया काञ्चनेति जगदे हितमालया ॥४०॥

(पञ्चमिः कुलकम्)^४

जनानां प्रज्ञानां मनसि मानसे रमयस्(?) क्रोधाया लाभं प्रापणं । अथवा जनाना मनोरमाः प्रीतिकराः लाभाना येषां तैः । कुसुमैः पुष्पैः । शास्त्रिनः भूकृताः । निबन्धगुणैः स्वयम् गुणैः । सन्तः सज्जना इव । मान्ति विराजन्ते । यः वसन्तः । तव ते । प्रेयसा नायकेन । अन्वि, अवधिकारः । अकारि अक्रियत । दुःकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । तादृशं वसन्तमिति परस्लोकेनास्वीयते । उमा ॥३७॥ विप्रयोगेति । विप्रयोग-कृश्वारहितेन विप्रयोगेन विरहेण कृशानां तनूनां दाराणां कलत्राणां हितेन उपकारेण । कठिनतारहितेन कठिनतया कठिनत्वेन रहितेन । चेतसा चित्तेन । उत्सुकः उत्सुक् । स नायकः । विकासं विस्तारम् । अयन्तं यावत् । त समयं तादृशं वसन्तम् । अतिवर्तितुम् अतिक्रामितुम् । नाल हि न समर्थो हि ॥३८॥ रक्षेति । तदिदं तदेवत् । वपुः शरीरम् । नियमेन निश्चयेन । रक्ष पालय । यमेन मृत्युना । लघुदानि लघु धौघ्रे (लघु धौघ्र) दानियस्य तत् । मा विवेहि मा कुरु । तेन सह नायकेन सह । अलदिवसैः कतिपय-दिनैः । रंश्यसे क्रोडिष्यसि । सः नायकः । त्वदीयविरह त्वदीयं तव सव्यं^५ विरहं त्रियोगम् । न सहते न जमते । वहि मर्पणे लट् ॥३९॥ मन्देति । मन्ददीप्तिः मन्दा अल्पा दीप्तिः कान्ति रंश्याः सा । असुखावह-माना असुखं दुःखमावहतीति असुखावहः, (असुखावहो) मानो गर्वो रंश्याः सा । जीविते जीवने । शिथिलता^६ क्षीणताम् । वहमाना धरमाणा । दूरविक्षपतिः दूरदिशि विप्रकृष्टेण पतियस्याः सा । अपो-हितमालया अपोहितं रम्यतं माल्यं यया सा । काञ्चन बनिता । आलया सख्या । इति प्रोक्तप्रकारेण । हितम्

आभावान्ते तथा लोगोंके मनको प्रसन्न करनेवाले फूलांसे मुग्धाभित होते हैं । जैसे सत्पुरुष अपने, निर्मल और लोगोंके मनमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले गुणोंसे सुग्धाभित होते हैं ॥ ३७ ॥ तेरे प्रियतमका हृदय कोमल है, उसमें कठोरता तनिक भी नहीं है । उसे विरह व्याकुल कृश अंगनाओके हितका स्वयं खयाल है, फिर भला तुम्हारे हितका खयाल नहीं होगा ? वह यहाँ आनेको उत्सुक है । उस वसन्तके इन विकासकारी दिनोंका वह उल्लंघन नहीं करेगा— अवश्य ही आयगा ॥ ३८ ॥ रक्षाका नियम लेकर तू अपने इस शरीरको बचा ले इसे इतनी जल्दी यमराजके द्वारा हानि पहुँचाने योग्य न बना डाल । तू थोड़े हो दिनोंमें उसके साथ रमण करेगा । वह तेरे विरहको सहन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥ ये हितकी बातें एक सहेली-ने अपनी उस विरहिणी सखीसे कहीं, जिसकी दीप्ति फीकी पड़ गयी थी, जिसे अपना सम्मान भी दुःखदायी जान पड़ता था, जिसने अपने जीवनमें भी शिथिलता धारण कर ली थी, जिसका पति कहीं दूर गया हुआ था और जिसने मालाका भी परित्याग कर दिया था ।

१. अ सोऽविलम्बितुमर्ह । २. अ आ इ विषाहि । ३. क ख ग घ म रम्यसे । ४. आ इ क ख ग घ 'पञ्चमिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ५. = उत्कण्ठितः । ६. = अतिवर्तनं कर्तुम् । ७. = सव्यन्त्रं । ८. = धीरिष्यम् ।

दारुणा विरचना भ्रुकुटीनां साम्यमावदति सुभ्रु कुटीनाम् ।
 बिभ्रति प्रियतमे तव दास्यं कोपनं किमिति जातवदास्यम् ॥४१॥
 का धृतिस्तव रतेन विना मे नोद्यताञ्जलिर्हं न विनामे ।
 किं वृथैव मयि मानममाने संतनोति भवती नममाने ॥४२॥
 कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते मग्नमम्बुजनिभं वदनं ते ।
 पातुमुत्सुक इव भ्रमरोऽहं जायमानबहुविभ्रमरोहम् ॥४३॥
 मग्नमः सुतनु भीमदनेन बाध्यमानमनिशं मदनेन ।
 वर्तते भज रूपस्तनिमानं मुञ्च पीवरतरस्तनि मानम् ॥४४॥

उपकारवचनम् । जगदे ऊचे । गद व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । पञ्चभिः प्रुलङ्गम् ॥४०॥ दारुणेति । सुभ्रु मु शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः संबोधनम्, भो मनोहरभ्रु वनिते । भ्रुकुटीनां भ्रूविकाराणाम् । दारुणा निष्ठुरा । विरचना करणम् । कुटीना तुण्डोराणाम् । साम्यं सादृश्यम् । आवहति धरति । तुण्ड-कुटीरवच्छेत्रं नश्येत्—इत्यर्थः । तव ते । दास्यं दासत्वम् । बिभ्रति धरति । प्रियतमे प्राणनायके, मयि, इत्यपवाहारः । आस्यं मूलम् । किमिति किं कारणम् । कोऽनं कोपयुक्तम् । जातवत् जातम् । स्तवतु—प्रत्ययः ॥४१॥ का धृतिरिति^१ । तव ते । रतेन सुरतेन । विना ऋते । मे मम । का धृतिः कः संतोषः । अह, विनामे प्रणामे । नोद्यताञ्जलिः न विहिताञ्जलिर्न वि(हि)ममामि, इति न, अवि तु उद्यताञ्जलिरेव—इत्यर्थः । भवती पूज्या स्वम् । अमाने गर्वरहिते । नममाने नमस्कारं कुर्वाणि । मयि नायके । वृथैव व्यर्थमेव । मानं गर्वम् । किं कारणम् । संतनोति करोषि(ति) । मभच्छब्दयोगे प्रथमपुष्पः ॥४२॥ कान्तीति । नभोवत् गगनवत् । अनन्ते अन्तरहिते । कान्तिवारिणि कान्तिःलावण्यमेव वारि जलं तस्मिन् । मग्नं निपतितम् । अम्बुजनिभम् अम्बुजस्य कमलस्य निभं समानम् । जायमानबहुविभ्रमरोहं जायमान उत्पद्यमानो बहुबहुलो बिभ्रमस्य भ्रूविकारस्य रोहः स्थानम्, जयवा अङ्कुरप्रादुर्भाषो यस्य^३ तत् । तव, वदनं मूलम् । अह, भ्रमरः भृङ्ग इव । पातुं पानं कर्तुम् । उत्सुकः उद्युक्तः ॥४३॥ मग्नम इति । सुतनु मु शोभना तनुर्यस्याः तस्याः संबोधनम्^४, भो मनोहराङ्गि । पीवरतरस्तनि पीवरतरो अत्यन्तपीवरो स्तनो कुक्षौ यस्याः तस्याः संबोधनम्^५, भोः पूवतरस्तनि । अनेन एतेन । मदनेन मग्नयेन । अनिशम् अनवरतम् । बाध्यमानं पीडयमानम् । मग्नमः मम चित्तम् । भीमन् भीमंयमस्यास्तीति भीमद् भयसहितम्—इत्यर्थः । वर्तते बिद्यते । एवः कोपस्य । तनिमानं तनोः कृशस्य मावः तनिमा तं कृशत्वम्—इत्यर्थः । भज आश्रय ।

(३६वें से ४०वें पद्य तक सम्बन्ध है) ॥४०॥ प्रिये ! तेरी भीहूँ सुन्दर हैं, पर इस समय कोपके कारण कुटिलता और कठोरता आ जानेसे ये दारुण हो गयी हैं और इसीलिए लकड़ीकी कुटियों जैसी हो गयी हैं । प्रियतमने (मैंने) तेरी दासता स्वीकार कर ली है तो फिर तेरा मुल्ल कोपयुक्त क्यों है ? ॥ ४१ ॥ तेरे सम्भोग बिना मुझे कौन-सा सन्तोष है ? तुझे प्रणाम करते समय मैं हाथ नहीं जोड़ता, यह बात भी नहीं है । मैं मान छोड़कर तेरे सामने नम गया हूँ, तो फिर तू व्यर्थ ही मान क्यों कर रही है ? ॥ ४२ ॥ आकाशकी तरह अनन्त कान्ति रूपी जलमें डूबे हुए, नाना प्रकारके शृंगारसे युक्त तुम्हारे कमलसरीखे मुखको मैं भीरके समान पीनेके लिए उत्सुक हूँ ॥ ४३ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली ! और हे पुष्ट स्तनों वाली ! इस काम-देवके द्वारा निरन्तर सताया गया मेरा मन भयभीत हो रहा है । अतः क्रोधको कम कर, और

काचिदित्यमुदिता दयितेन प्रेम सार्धमकृतोदयि तेन ।

कं वचांसि रसभारचितानि प्रीणयन्ति न बुध रचितानि ॥४४॥

(पञ्चमिः कुलकम्^१)

कन्दरास्वनुकृताहिमवन्तं ध्वान्तराशिमचलं हिमवन्तम् ।

भानुराप शशिश्चन्द्रनदायां भाति यो दिशि वसञ्जनदायाम् ॥४५॥

लीनपट्पदकुला तिलकाली यद्विकासमगमत्तिलकाली ।

प्राप तेन मनसापमुदारं मानिनी मदनतापमुदारम् ॥४७॥

संनिषेध्य सततं कमलिन्या रागकारि मधु साकमलिन्या ।

यामि चक्रुरल्लयो ध्वनितानि के निशम्य ययुरध्वनि तानि ॥४८॥

भज सेवाया लोट^२ । सानं गर्भम् । मुञ्च इत्यञ् । मुञ्चन् भोजने लोट^३ ॥४४॥ काचिदिति । दयितेन नायकेन । इदम् अनेन प्रकारेण । काचित् एका स्त्री । उदिता भाविता । तेन नायकेन । सार्धं साकम् । प्रेम स्नेहम् । उदयि उदयोऽस्यास्तीति उदयि, उत्पत्तिरुक्तम् (वर्धमानमिति यावत्) । अकृत अकरोत् । कुञ्ज करणे लुट् । तथा हि—रसभारचितानि रसाना शृङ्गागदिनवरमाना भारेण अतिशयेन चितानि पोषितानि । बुधे, विद्वद्भिः । रचितानि निमित्तानि । वचांसि वचनानि । कं पुरुषम् । न प्रीणयन्ति न संतोषयन्ति । प्रीञ्ज तर्पणे लट् । पञ्चमिः कुलकम् ॥४५॥ कन्दरास्थितिः । यः हिमवान् पर्वतः । शशिश्चन्द्रनदायां शशीव चन्द्र इव शूद्रा निर्मला नदा नद्यो यस्या तस्याम् । वसञ्जनदायां वसन् तिष्ठन् धनदः कुबेरो यस्यां तस्याम् । दिशि ककुभिः । भाति राजते । तम्—इत्यध्याहारः । कन्दरामु^४ शङ्करेण अनुकृताहिम् अनुकृताः समीकृता अहयः सर्पा येन तम् । ध्वान्तराशिं ध्वान्तानां तमसा राशिं समूहम् । अवन्त रक्षन्तम् । हिमवन्तं हिमश्रामधेयम् । अचलं पर्वतम् । भानुः सूर्यः । आप ययो । आप्लु व्याप्तौ लिट् । उत गायन्तोभून्—इति भावः ॥४६॥ कीमेति । लीनपट्पदकुला लीनं स्वयित पट्पदानां कुलं समहो यस्या मा । तिलकाली तिल इव काली कृष्णवर्णा । 'कालश्रवण' इत्यादिना डौ । तिलकाली तिलकासा तिलकान्ताणामाली पङ्क्तिः । पत् यस्मात् । विकासं विकसनम् । अगमत् अगात् । गम्ल् गतो लुट् । 'सतिमास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । तेन कारणेन । मानिनी कान्ता । अमुदा अपमता व्यवसता मुद् यस्य तेन । मनसा मानसेन । उदारं महात्मम् । मदनतापं मदनेन कामेन जनित (त) संतापम् । अम् अत्ययम् । आप जगाम । आप्लु व्याप्तौ लिट् ॥४७॥ संनिषेध्येति^५ । अलपः भवराः । अलिन्या भृङ्गया । साकं सह । कमलिन्याः

गर्वको छोड़ ॥ ४४ ॥ किसी युवतीसे उसके पतिने जब यों कहा तो उसने उसके (पतिके) साथ खूब ही प्रेम किया, जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया । बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा कहे गये सरस वचन किये नहीं प्रसन्न कर देते हैं ? (यहाँ भी पाँच श्लोकोका सम्बन्ध है) ॥ ४५ ॥ अपनी गुफाओंमें नागके समान काले अन्धकारकी रक्षा करनेवाले उस हिमालय पर्वतको सूर्यने प्राप्त कर लिया—उत्तरायण हो गया, जो चन्द्रमा सरोखो शुभ्र और निर्मल नद व नदियोंकी बहानेवाली कुबेरके निवासकी दिशा—उत्तरमें सुशोभित है ॥ ४६ ॥ तिलक नामके वृक्षोंकी पवित्र लिल उठी, उसके ऊपर चारों ओरसे भोरोके झुण्ड निश्चल होकर बैठ गये । फलतः तिलक वृक्षोंको आवली (पवित्र) तिलोके समान काली हो गयी । उसके इस विकाससे मानवती नायिकाके मनकी प्रसन्नता लुप्त हो गयी, और उसे कामवन्ध सन्ताप भी बहुत अधिक हुआ ॥ ४७ ॥ भौरोंने भौरियोंके साथ कमलनीके, कामरागको बहानेवाले रसको लगातार

१. म प्रती 'पञ्चमिः कुलकम्' इत्युपलभ्यते नाम्यासु प्रतिपु । २. आ लिट् वा लट् । ३. आ लिट् वा लट् । ४. = गुहासु । ५. अ स समिति ।

शीतला इति विभाव्य जनेन पातिताः ससलिलव्यजनेन ।

को न जातविरहोऽननुतापः काथिताम्बुसहशोऽननुतापः ॥४९॥

वीक्ष्य जातविरहवासमहानि पद्मपण्डमविकासमहानि ।

तिग्ममुर्विद्धितवानह्निमानि भास्वतां न हृदयं नहि मानि ॥५०॥

इत्थं मयौ मधुकरोमुखरीकृताशे व्याजृम्भिते मकरकेतुनिर्मगबन्धौ ।

भूयः प्रविश्य मुद्रितः सहसा निशान्तं विश्वधर्मव्यभिचयेऽङ्गतां स देवीम् ॥५१॥

नलिन्याः । रागकारि प्रीतिकारि । मधु पुष्परसम् । सन्निपेय्य निरीय । सन्तम् अन्वतरम् । यानि ध्वनितानि यान् ध्वनोन् । चक्रुः विदधुः । तानि ध्वनितानि । निशम्य श्रुत्वा । अञ्जनि मार्गे । के पुरुषाः । ययुः जग्मुः । न केऽपि—इत्यर्थः । या प्रापणे लिट् ॥४८॥ शीतला इति । ससलिलव्यजनेन ससलिलेन जलसहितेन व्यजनेन तालवृत्तेन । जनेन परिवारजनेन । शीतला इति शीतगुणयुक्ता इति । विभाव्य निदिक्ष्य । पातिताः विवृताः । आपः (अपः) सलिलानि । जातविरहः जातः समुत्पन्नो विरहो विद्योभो यस्य सः । अननुतापः अतनुर्बलः तापो यस्य नः, कामर्मतापयुक्तो वा । क. को वा पुरुषः । कथायिताम्बुमदशः कथावितस्य सन्तपस्य (संतापं प्राप्तिस्म्य) जलस्य सदृशः समानाः । न अतनुत न कर्गेति स्म । तनुं विस्तारे लङ् ॥४९॥ वीक्ष्येति । तिग्मम् तिग्माः तीक्ष्णा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यः । अविकाशं विकासरहितम् । असमहानि असमा अमदृशा हानिर्नाशो यस्य तत् । प्रागुतुगुणयुतम्—इति यावत् । पद्मपण्डं पद्माना कमलाना पण्डं समूहम् । बोधय दृष्ट्वा । जातविरह जाता उत्पन्ना रुट् कोपो यस्य स इव । 'रुट्कृषी स्विधौ'^१ इत्यमरः । अहानि दिवसानि । अह्निमानि उष्ण (ता) सहितानि । विहितवान् कृतवान् । तथा हि—भास्वतां भासः सन्नेपा तै भास्वन्तः, तेषां तेष्वितानाम् । हृदयं चित्तम् । मानि नहि अभिमानयुक्त न भवतीति नहि, अपि तु मानमुत्तमेश ॥५०॥ इत्थमिति । मधुकरोमुखरीकृताशे मधुकरीभिर्भृङ्गवधूमिखरीकृता वाचालिता अशा (दिशो) यस्मै न तस्मिन् । मकरकेतुनिसर्गबन्धो मकरकेतोर्ममवस्य निसर्गेण सहजेन बन्धो मित्रे । मयो वसन्ते । इत्यम् उक्तप्रकारेण । व्याजृम्भिते सति व्यावृद्धे^२ सति । मुद्रितः संतुष्टः । स भूपः अजितसेनचक्रवर्त्तिः । सहसा स्वेच्छया । निशान्तम् अन्तःपुरम् । प्रविश्य प्रवेशनं कृत्वा । अङ्गताम् संसङ्गताम् । देवी शशिप्रभादेवीम् । विश्वधर्मव्यभिचये यथा तथा । इति त्रय्यमाणप्रकारेण । अविद्ये ऊचे ।

पोकर जो झंकार की ध्वनि की, उसे सुनकर ऐसे कौनसे धीर-वीर थे, जो उस मार्गमें आगे कदम बढ़ा सके हों ? ॥ ४८ ॥ परिवारके लोगोंने शीतल समझकर जिस जलके छीटे देकर ताड़के पल्लोको विरहियोंके ऊपर झलना शुरू किया, वही जल एक-एक बिन्दुके रूपमें जब उनके सन्तप्त शरीरपर गिरा, तब उसे उन विरहियोंमेसे किस तीव्र सन्तापवाले विरहीने खोलाये गये जलके समान नहीं कर दिया ? ॥ ४९ ॥ शशिर ऋतुमे कमलोका विकास रुक गया था, और उनकी इतनी हानि हुई थी, जितनी हानि कभी किसीको नहीं हुई होगी, मानो इमी विचारसे क्रुद्ध होकर सूर्यने हिमको दूर कर दिया, और दिनोमे उष्णता भर दी । तेजस्वियोंका मन मानयुक्त नहीं होता, यह बात नहीं ॥ ५० ॥ जिसने भौरियोंके शब्दसे सभी दिशाओंको मुखरित कर दिया है और कामदेव जिसका स्वभावतः मित्र है, उस वसन्त ऋतुके पूर्ण विकासको प्राप्त कर लेनेपर अजितसेन बड़ा प्रसन्न हुआ । वह सहसा अन्तःपुरमे प्रविष्ट होकर अपने पास आकर बैठो हुई रानी शशिप्रभासे शान्तिपूर्वक यों बोला—॥ ५१ ॥

१. आ जलरहितेन वा जलसहिते । २. = 'पद्मविद्धये पण्डोऽस्मी' इति विश्वलो० । ३. आ वा स्विध्याम् । ४. वा प्रती 'दिशो' इति नीपलम्ब्यते । ५. आ प्रवृद्धे ।

पश्य प्रिये परभृन्ध्वनितच्छलेन^१ मामेष दर्शयितुमाह्वयतीव चैत्रः ।
 प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेषशोभां सीमन्तिनीमिव पुरोपवनस्य लघुमोम् ॥५२॥
 संभावयामि तदहं तमनङ्गबन्धुं गत्वा घने मलयमारुतनृतशाखे ।
 तत्र त्वमप्यवननाङ्कि तिरोहितानां नेत्रोत्सवं कुरु गता घनदेवतानाम् ॥५३॥
 ह्रीतो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्येत् ।
 कार्यस्त्वया स्मरनिवासनितम्बचुम्बी चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः ॥५४॥

दुषाञ् चारणे च लिट् ॥५१॥ पश्येति । प्रिये भो. कान्ते । प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेष^२ शोभा प्रादुर्भवतामुत्पद्यमानानां तिलकानां तिलकवृक्षाणां पत्रैः छद्दैः^३ विशेष^४ बह्वो शोभा, पक्षे प्रादुर्भवता तिलकपत्रेण मकरिकापत्रेण^५ विशेषा अधिका शोभा यस्याः, ताम् । सीमन्तिनीमिव कामिनीमिव । पुरोपवनस्य पुरोद्यानस्य । लघुमो^६ शोभाम् । दर्शयितुम् आलोकयितुम् । परभृन्ध्वनितच्छलेन परभृन्ध्वनितकोकिलस्य ध्वनितमिति ध्वनिरिति^७ छन्देन ग्याजेन । एष अयम् । चैत्र^८ । माम्, आह्वयतीव आकारयतीव । पश्य बीजस्व । दृष्ट् बीजणे लोट् ॥५२॥ संभावयामीति । बवननाङ्किं अवनतमेषतमङ्गं यस्याः तस्याः संबोधनम्^९ भो नम्राङ्कि । तत् तस्मात्कारणात् । अहं, मलयमारुतनृतशाखं मलयमारुतं दक्षिणवायुना नृतां^{१०} शाखां यस्मिन्, तस्मिन् । घने उद्याने । गत्वा प्राप्य । त वसन्तम् । अनङ्गबन्धु मन्मथमित्रम् । [तं वसन्तम्] । संभावयामि सत्करोमि । त्वमपि, तत्र वने । गता याता सर्वा । तिरोहितानां व्यवहितानाम् । वनदेवतानां वनदेवतानाम् । नेत्रोत्सवं नयनोत्सवम् । कुरु विधेहि । कुङ्कुजं कर्णे लोट्^{११} ॥५३॥ ह्रीत इति । सुमुखि भो मनोहरमुखि । तत्र वने । शिखी मयूरः । ह्रीतः लज्जित । मम मे । लोचनहारि लोचनयोनयनयो हारि मनोहरम् । नृत्तं नर्तनम् । विहाय त्यक्त्वा । यदि, गन्तुं गमनाय । व्यवस्येत् उद्यानं कुर्वन् । वि अवपूर्व. यो अस्तकर्मणि लिट् । (तत्) त्वया, स्मरनिवासनितम्बचुम्बी स्मरस्य कामस्य निवासमाश्रयं नितम्बं चुम्बति स्पृशतीत्येवं शीलः तथोक्तः । निजकेशपाश निजस्य स्वरूप केशपाशो धम्मिल्ल । चीनांशुकेन

प्रिये ! इस समय पुरके उपवनकी शोभा सीमाग्यवती नायिका सरीखी हो गयी है । जिस प्रकार नायिका तिलक (मुद्रागबिन्दु) और पत्र-रचनासे सुशोभित होती है, उसी प्रकार उपवनकी शोभा तिलक वृक्षोंके अभी-अभी उत्पन्न हुए नये-नये पत्तोंसे है । इसी शोभाको दिखलानेके लिए मानो चैत्रमास कोकिलके शब्दके बहानेसे मुखे बुला रहा है ॥ ५२ ॥ उपवनमे मलय-पवनके इशारेपर टहनियाँ नर्तकीकी भाँति नृत्य कर रही हैं-हिल रही है । मे वहाँ जाकर कामदेवके मित्र ऋतुराज वसन्तका सत्कार करूँ । नम्र शरीरवाली प्रिये ! तुम भी चलो और वहाँ ओटमे खड़ी हुई-अदृश्य वनदेवियोंकी आँखोंको उत्सव उत्पन्न कर दो ॥ ५३ ॥ हे सुमुखि ! वहाँ मेरी दृष्टिको आकृष्ट करने वाले नृत्यकां छांडकर मयूर यदि लज्जित होकर भागनेका प्रयत्न करे तो तुम कामदेवके निवास स्थान स्वरूप नितम्ब तक लटकने वाले अपने

१. आ इ परभृतां ध्वनित^१ । २. एर टोकाध्यः पाठः प्रतिपु तु विशेषस्य स्थाने विचित्रं इत्यसिद्धि ।
 ३. = प्रादुर्भवत्तिः तिलकायं तिलकवृक्षच्छदैः । ४. = विविधा । ५. वा प्रती मकरिकापत्रेण^५ इति नोपलभ्यते । ६. = ध्वनितं ध्वनिः, तस्य । ७. = चैत्रमासः । ८. आ लिट् वा लेट् । ९. = तस्मिन्बुद्धौ ।
 १०. = नृतयुताः । ११. आ लिट् वा लेट् ।

माधुर्यमिच्छुरतिशायि परिग्रहीतुं चूनाङ्कुरप्रसनजातकपायकण्ठः ।

मूकीभवत्परभृतां निबहोऽपि नूनमाकर्णयिष्यति तवानतगात्रि वाणीम् ॥५४॥

तत्र त्वदीयचरणाम्बुजताडयमानो द्वौ यास्यतः सुषदने सदृशीभवस्थाम् ।

सद्यो वहन्मुकुलजालमशोकशाखी रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिरहं द्वितीयः ॥५६॥

गत्या निसर्गपरिमन्थरया भ्रमर्ती त्वां संनिरीक्ष्य निवसन्नदीर्घिकासु ।

हंसीकुलं न हरिणाक्षि अनिष्यते न त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु मन्थे ॥५७॥

कोशोयवस्थेन । पिहितः आच्छादितः । कार्यं विधेयः ॥५४॥ माधुर्यमिति । आन्तगात्रि विनताङ्गि । अति-
शायि अतिशयशोभम् । माधुर्यं मधुरत्वम् । परिग्रहीतुं परिग्रहणाय । इच्छुः इच्छन् । 'सन्निभः—' इत्यादिना
उ-प्रत्ययः । चूनाङ्कुरप्रसनजातकपायकण्ठः च्युतस्य माकन्दस्य अङ्कुरस्य कलिकायाः प्रसनेन सेवनेन जातः
संजातः कपायं शुद्धता वा यस्यासौ च्युतः अङ्कुरप्रसनजातकपायः । स कण्ठो यस्यासाविति पुनः ब्रह्मः^१ (?) ।
'कपायो रसभेदे स्यादङ्गणं रिलेने । नियमि च कपायोऽथ सुभौ लीहितेऽप्यवत् ॥' 'कटुतिक्तकपायास्तु
सुगन्धस्याभिधायकाः ।' इत्यभिधानात् । परभृता कोकिलानाम् । निबहोऽपि समूहः (अपि) । मूकीभवन्
प्रागमूक इदानीं मूको भवतीति तथोक्तम् । तत्र ते । वाणीं वचनम् । नूनं निश्चयेन । आकर्णयिष्यति
आवृणोष्यति (श्रृणोष्यति) । छिद्रकर्णभेदे लृट् ॥५५॥ तत्रेति । सुषदने सु शोभनं वदनं यस्याः तस्याः
सवीचनम्^२ मुमुक्षि । तत्र बने । त्वदीयचरणाम्बुजताडयमानो त्वदीयाश्च तत्र सवन्धिभ्यां चरणाम्बुजाभ्यां
पादास्त्रिन्धाभ्यां ताडयमानो आहत्यमानो । द्वौ, सद्यः, तदैव । सदृशीं समानाम् । अवस्था परिणतिम् ।
यास्यतः गमिष्यतः । द्वौ चो, इत्युक्ते कथ्यते—मुकुलजातं मुकुलानां कुर्मलानां जातं समूहम् । वहन् धरन् ।
अशोकशाखी अशोकशाखी शाखी च तथोक्तः, एकः । रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिः रोमाञ्चने रोमहर्षणे
कञ्चुकिता कञ्चिता मूर्तिर्यस्य सः । अहं, द्वितीयः । 'द्विनेऽऽद्यद्वेष्टे च ऋणं' इति तीयन्-प्रत्ययः । भवामि,
इत्यष्टाहायम् ॥५६॥ गन्धेति । हरिणाक्षि हरिणस्य (अक्षिणी) इव अक्षिणी यस्याः तस्याः संबोधः^३
भो एणाक्षि । वनदीर्घिकासु वनस्य दीर्घिकासु सरोवरेषु निवसत् विद्यमानम् । हंसीकुलं हंसवधूनां कुलं यूथम् ।
निसर्गपरिमन्थरया निसर्गेन स्वभावेन मन्थरया मन्दया गत्या गमनेन । भ्रमर्ती चलर्तीम् । त्वां भवतीम् ।
संनिरीक्ष्य संविलोक्य । त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु तव ते शिष्यत्वाच्च छात्रत्वं गमने प्रापणे स्पृहयालु वाञ्छा-
युक्तम् अथवा तव शिष्यभावगमनं वाञ्छन् । न अनिष्यते न अविवर्धति (इति) न, किन्तु भविष्यत्येव ।

बालोंको चीनी रेशमी चादरसे ढक लेना ॥ ५४ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! वहाँ आभ्रमंजरी
खानेसे कोकिलोंका कण्ठ मुरीला हो गया है । फिर भी सर्वश्रेष्ठ मधुरताको प्राप्त करनेकी
इच्छासे उनका झण्ड निश्चय ही मोन रहकर तुम्हारे वचन सुनेगा ॥ ५५ ॥ हे मुन्दर मुख-
वाली प्रिये ! वहाँ तुम्हारे चरण कमलोंके आघातसे दो, एक सरीखी अवस्थाको प्राप्त करेंगे—
पहला अभी-अभी उरपन्न हुई कलियोंको धारण करनेवाला अशोक वृक्ष और दूसरा मैं, जिसके
सारे शरीरमें रोमांच-हो-रोमांच दृष्टिगोचर होगे ॥ ५६ ॥ हे मृगलोचने ! मेरा खयाल है वहाँ-
के सरोवरोंमें रहनेवाला हंसियोंका झण्ड तुम्हें स्वाभाविक मन्दगतिसे घूमती हुई देखकर

१. क ख ग घ म गमने स्पृहयालु । २. वा शुद्धवाक् । ३. आ इति पुनर्भक्तः । ४. आ भवदक् ।
५. = तत्संबुद्धौ । ६. = तत्संबुद्धौ ।

हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि भृङ्गस्तवाधरदले नवविद्रुमामे ।
 धावन्नशोकनवपल्लवशङ्खिताः स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनाम्ने ॥५८॥
 पर्यन्तजाततत्तज्जालनिरुध्यमानभास्वरकरेष्वपि वनान्तलतागृहेषु ।
 रवद्वक्त्रचन्द्रशचिभिः प्रतिहन्यमानो मुग्धाक्षि नः परिभविष्यति नान्धकारः ॥५९॥
 दृष्टयोर्मदालिपु लतासु शरीरयष्टेरुर्वोर्विचित्रकदलीष्वधरस्य बिम्बे ।
 संवाहिताङ्घ्रियुगला स्वसखोजनेन सादृश्यमिन्दुवदने विहरेक्षमाणा ॥६०॥

मन्ये जावे । मनि जाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ हस्तेनेति^१ । सुन्दरि रमणि । नवविद्रुमामे नवस्य विद्रुमस्य प्रवालस्यामे समाने^२ । तव ते । अवरदले अधर एव दलं पल्लवः, तस्मिन् । रूपकम् । अशोकनवपल्लव-
 शङ्खिताः अशोकस्य कङ्कलिवृक्षस्य नवः प्रत्ययः पल्लव इति शङ्खि शङ्खपुस्त चेतो यस्य सः । मूढं
 षट्पदः । हस्तेन पाणिना । मुहुः पुनः । निवारितोऽपि निगृहीतोऽपि धावन् वगेन गच्छन् सन् । 'मत्तेर्धौ वगे'
 इति सु गतो इति धातोः वेगर्थे धावादेशः । वनाम्ने वनमध्ये । कस्य पुरुषस्य । मुग्ध वदनम् । स्मेरं स्मिन्म्
 (सस्मितम्) । न करिष्यति न विधास्यति । हुङ्कुज् करणे लट् ॥५८॥ पर्यन्नेति । मुग्धाक्षि मग्धे मनोहरे शिषो
 यस्याः तस्याः । सखीवनम्, भो मनोह्रनयने । पर्यन्तजाततत्तज्जालनिरुध्यमानभास्वरकरेषु पर्यन्ते समीपे
 जातानामुपगमनानां तत्तज्जालना जालेन समूहेन निरुध्यमाना आविषमाणा^३ । आम्बुन सूर्यस्य करा किरणा
 येपु तेषु । वनामलतागृहेषु वनस्याम्ने मध्ये विद्यमानाभिलताभिर्वनलोभनिमित्तानि गृहाणि तेष्वपि ।
 रवद्वक्त्रचन्द्रशचिभिः तव ते वक्त्रं मुखं तदेव चन्द्र सोमः तस्य मरीचिभिः, कान्तिभिः । रूपकम् । परिहन्यमानः
 निराक्रियमाणः । अन्धकारः द्वावन्तम् । नो परिभविष्यति न पराजयिष्यति, इति न, किं तु परिभाविष्यदेव । नः
 अस्मान् । परिभविष्यति अधधारयिष्यति, इति न । रवन्मुखचन्द्रे सति तन्नाम्धकारस्य मनागपि सभावना नास्ति,
 इति भावः ॥५९॥ दृष्टयोरिति^४ । इन्दुवदने इन्दुरिव वदनं मुखं यस्याः तस्या सखीवनम्, भो चन्द्रमणि ।
 उपमा । मदालिपु मदेन युक्तेषु अलिपु मृङ्गेषु । दृष्टयोः नयनयोः । शरीरयष्टेः, लतासु वल्लरीषु । विचित्र-
 कदलीषु विचित्रासु आदर्ययुक्तासु कदलीषु रवासु, ऊर्वोः । बिम्बे बिम्बकले । अधरस्य रदनच्छदस्य ।
 सादृश्यं साम्यम् । ईक्षमाणा आश्रयमाणा । स्वसखीजनेन निजालिजनेन^५ । संवाहिताङ्घ्रियुगला संवाहित
 मर्दितमद्भ्युचोः पादयोर्मुगलं यस्याः सा (स्वम्) । बिहर विहार कुक्षे । हृज् हरणे लट् (लाट्) । उपमा

तुम्हारी शिष्यता स्वीकार करनेके लिए लालायित हो उठेगा ॥ ५७ ॥ हे सुन्दर ! हाथसे बार-बार हटाया गया भी भीया नवीन कोपलकी आभा वाले तुम्हारे होटपर अशोककी कोपलके भ्रमसे दौड़कर उपवनमें किसके मुखको हासयुक्त नहीं कर देगा ? ॥ ५८ ॥ हे सुन्दर आँखों वाले ! वहाँ लतामण्डप बने हुए हैं, उनके चारों ओर घनो वृक्षावली लगी हुई है, जिससे सूर्य की किरणें बाहर ही रोक दी जाती हैं—अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती । अतः वहाँ अन्धकार छाया रहता है । फिर भी तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिसे वह नष्ट कर दिया जायगा । हम लोगोंकी बाधा नहीं पहुँचा सकेगा ॥ ५९ ॥ हे चन्द्रवदने ! वहाँपर तुम अपनी आँखोंकी समानता मतवाले भीरोमें, शरीरकी समानता लताओंमें, ऊँचोंकी समानता विचित्र कदली वृक्षोंमें, होठकी समानता कुन्दरूप देखती हुई विहार करना । यकान होनेपर तुम्हारी

१ अ 'युगलाम् । सखीजनेन । २. वा हस्तेति । ३. = नवविद्रुमवधाभा यस्य तस्मिन्, विद्रुमवर्ण—
 इत्यर्थः । ४. = तत्सदृशो । ५. भा आह्वियमाणाः । ६. एव टीकानुगः पाठः, प्रविष्टु तु 'दृष्टेः' इत्येव
 सम्बलभ्यते । ७. = तत्सदृशो । ८. वा निजालिजनेन' इति नास्ति ।

क्षणमिति मधुराभिर्भूयतिभारतीभिः स रहसि रमयित्वा वल्लभां वल्लभायाम् ।
 निजनगरनिवेशे^१ लोकमानन्दयन्तीं वनविहरणयात्राघोषणामादिदेश ॥६१॥
 दिङ्नागान्प्रतिदन्तिशङ्किमनसः श्रव्योत्कटान्कोपय-
 न्मभःपूर्णपयोदरेकिहृदयानुत्फण्डयन्केकिनः ।
 नागानुत्फण्यश्चमत्कृतिभृतो भूभृत्तटांश्चास्त्रय-
 न्व्योम व्याप^२ मृदङ्गभूरुदयवान्प्रस्थानशंसी ध्वनिः ॥६२॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्येऽष्टमः सर्गः ॥८॥

॥६०॥ क्षणमिति । सः भूरतिः अजितसेनचक्रवर्ती । इति उक्तप्रकारेण । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् ।
 मधुराभिः मनोहराभिः । भारतीभिः वचनैः । वल्लभायां वल्लो रचितो भावशिष्यविकारो यस्याः, ताम् ।
 वल्लभा प्राणहास्ताम्, शशिप्रभाम् इति यावत् । रहसि एहास्ते । रमयित्वा क्रोडयित्वा । निजनगरनिवेशे
 निजनगरस्य स्वपुरस्य निवेशे मध्ये । लोकं जनम् । आनन्दयन्तीं सतोषयन्तीम् । वनविहरणयात्राघोषणां
 वनस्य विहरणस्य^३ क्रोडायाः [यात्रायाः] निर्वाणस्य घोषणाम् । आदिदेश आज्ञे । दिशि अतिसर्जने कृत्
 ॥६१॥ दिङ्नागाति । [श्] श्रव्योत्कटान् [श्] श्रव्योत्तः कटा येषां तान् स्वरत्नपोलान् । प्रतिदन्ति-
 शङ्किमनसः प्रतिदन्तिन इति प्रतिकूलयज्ञा इति शङ्कि सन्देहयुक्त मनो येषां तान् । दिङ्नागान् दिग्गजान् ।
 कोपयन् क्रोधयन् । अभःपूर्णपयोदरेकिहृदयान् अमसा कलिलेन पूर्णं पयोदो मेघ इति शङ्क हृदयं चित्तं येषां
 तान् । केकिनः मयूराः । उत्फण्डयन् सतोषयन् । चमत्कृतिभृतः चमत्कृति चमत्कारं भूतो धरतः (विभ्रतीति
 भूतः धरतः तान्) । नागान् सपिन् । उत्फण्यन् उदयतफणान् कुर्वन् । भूभृत्तटान् भूभृता पर्वतानां तटान्
 सानून् । स्कालयन् पादेन प्रहरन् । प्रस्थानशसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूची । ध्वनिः ध्वानः । मृदङ्गभूः
 पटोद्भूः । उदयवान्^४ प्रादुर्भावयुक्तः । व्योम गगनम् । व्याप व्याप्नोति स्म । आल्लु व्याप्तो लिट् ।
 अतिशयः ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्के चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
 विद्वन्मनोवल्लभाख्येऽष्टमः सर्गः^५ ॥८॥

सखियां पेर दबा देगी ॥ ६० ॥ स्थिर विचारवाली रानी शशिप्रभाको इस प्रकारके मधुर
 वचनोसे थोड़ी देर एकान्त स्थानमें आनन्द देकर चक्रवर्ती अजितसेनने अपने नगरके अन्दर
 सभी लोगोंको आनन्द देनेवाली वनविहारकी यात्राकी सूचना देनेके निमित्तसे घोषणाका
 आदेश दिया ॥ ६१ ॥ प्रस्थानसूचक मृदङ्ग-शब्द बहुत तेज था । वह पूरे आकाशमें गूँज
 उठा । उसे सुनकर मदजल बहानेवाले दिग्गजोंको दूसरे हाथियोंके शब्दका भ्रम हो गया,
 जिससे वे क्रुद्ध हो उठे; मयूरोको सजल मेघोंके गर्जनकी आवांका उत्पन्न हो गयो, फलतः वे
 ग्रीवा उठाकर ऊपरकी ओर देखने लगे; नाग आश्चर्यमें पड़ गये और फन उठाकर इधर-
 उधर ताकने लगे तथा पहाड़ोंके शिखर हिलने लगे ॥ ६२ ॥

इस तरह श्रीवीरनन्दिविरचित उदयाक चन्द्रप्रभविरचित महाकाव्यमें अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

१. अ. 'निवेशः' । २. अ. व्योमव्यापिमृदङ्गभू^३ । ३. = विहारस्य । ४. = वर्धमानः । ५. आ सा चैत्र-
 वर्णनो नामाष्टमः सर्गः ।

[६. नवमः सर्गः]

मधुविनिहितविभ्रमाभिरामां मदकलकोकिलनादिनीं नरेन्द्रः ।
परिजनपरिवारितो वनान्तश्रियमबलामिव वीक्षितुं प्रतस्थे ॥१॥
ललितघनतमालका मनोज्ञद्विजसुभगास्तिलकाहितोरुशोभाः ।
स्तनजघनभरालसं प्रबेलुस्तुलितवनायलिविभ्रमा रमण्यः ॥२॥

संसारसिन्धुरतितततिबद्धत्रोवानुद्ध्य नित्यपदवीमघतिष्ठति स्म
धर्मं प्रकाशयति तं जिनधर्मनाथं तीर्थकरो जयति सर्वविनेयकृतो ॥

मधुविनिहितविभ्रमाभिरामा मधुना वसन्तेन मद्येन च विनितितेन कुनन विभ्रमेण शोभया अभिरामा
बिराजमानाम्, पक्षे विभ्रमेण भ्रमरया अभिरामा । मनोहराम् । मदकलकोकिलनादिनी मदेन कल, कोकिलस्य
नादोऽस्या अस्तीति मदकलकोकिलनादिनी, ताम् । 'मदकलः स्यामरमे मदेनाव्यक्तं वाचि च' इत्यभि-
धानात् । अबलामिव स्त्रियमिव । वनान्तश्रिय वनस्यान्तस्य मध्यस्य श्रिय शोभाम् । वीक्षितुं वीक्षणाय ।
प्रतस्थे प्रययौ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । श्लेषः ॥१॥ ललितेति । ललितं घनतमालका ललिता^१ मनोहरा
घनतमा अलकाः कुन्त्या यासा ताः, पक्षे ललिता^२ मनोहरा घना निरन्तराः तमाला तमालवृक्षा यासा
ताः । मनोज्ञद्विजसुभगा । मनोज्ञमनोहरं द्विजैर्दन्तैः सुभगा, पक्षे मनोज्ञद्विजैः^३ (मनोज्ञद्विजैः) पक्षिभिः
सुभगाः । 'दशविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । तिलकाहितोरुशोभा तिलकैः कस्तुर्यादितिलकैराहिता कृता उरुः
(उर्वी) महती शोभा यासा ताः, पक्षे तिलकवृक्षैः । तुलितवनायलिविभ्रमा । तुलता समानीकृता वनाना-
मावलिरिव पङ्क्तिरिव विभ्रमा^४ मनोहराः । रमण्यः रमिता । स्तनजघनभरालसं स्तनजघनेषु स्तननितम्बयो-

इसके पश्चात् वनकी शोभा देखनेके लिए राजा अजितसेनने अपने स्थानसे प्रस्थान
कर दिया । इस अवसरपर वे चारों ओरसे अपने पूरे परिवारमें घिरे हुए थे । वनकी जिस
शोभाको देखनेके लिए वे जा रहे थे, वह युवतीके समान थी । युवती मद्यपान कर लेनेपर
विलाससे मनोज्ञ हो जाती है और मद्यके नशेमें कोकिलकी भाँति अव्यक्त, किन्तु मधुर शब्दोंमें
बोलने लगती है । इसी तरह वनकी सुषमा भी वसन्तकी छायासे दर्शकोंको रमानेवाली हो
जाती है तथा मतवाले कोकिलके शब्दोंसे आकर्षक ॥ १ ॥ उस यात्रामें स्तन और नितम्बके
बोझसे जो स्त्रियाँ अलसामयी हुई सी, चली जा रही थीं, उनकी शोभा वन पङ्क्तिके समान
थी । वनकी पङ्क्तिमें सुन्दर एवं सघन तमाल वृक्ष होते हैं, वह मनोज्ञ पक्षियोंमें सुहावनी
होती है और तिलक वृक्षोंसे उसकी श्रौवृद्धि होती है । इसी तरह उन स्त्रियोंके केश सुन्दर और
अत्यधिक सघन थे, वे सुन्दर दाँतोसे बड़ी सुहावनी थी और सुहावनी बिन्दुओंसे उनकी शोभा

१. आ पद्यमिदं नास्ति । २. श 'सेवकजनैः' इति नास्ति । ३. आ मदे व्यक्तं श मदे वाग्यक्तं ।
४. ललितेति । ५. श अलितं । ६. श अलिताः । ७. श अलिताः । ८. आ मनोज्ञा द्विजैः । ९ =
विभ्रमा. शोभा यामिः, ताः ।

प्रणवितकलकाञ्चिन्पुरोत्थं ध्वनिमनुबध्नति राजहंसयूथे ।
 सदृशगतिकुतूहलेन दृष्टिमुन्दुरपतद्भ्रान्तिजने च यूनाम् ॥३॥
 सुललितगमनो न राजहंसः कलभर्पतिर्न च मन्द्यरप्रयातः ।
 अलसगतिषु वामलोचनानां गुरुरजनिष्ट निजो नितम्बभारः ॥ ४ ॥
 गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं हरिणदृशां बटुलैः कटाक्षपातैः ।
 पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिणः सरसो बभार लक्ष्मीम् ॥ ५ ॥

भरेण भारेणालसं यथा भवति तथा । प्रचेलु प्रवयु । अल कम्पने लिट् ॥२॥ प्रणदितेति । प्रणवितकल-
 काञ्चिन्पुरोत्थं प्रणदितैर्मनोहरध्वनिते कलैर्मनोहरैः काञ्चिन्पुर्वैः काञ्चिदामपादकटकैः उत्पद्यते जातम् ।
 ध्वनि शब्दम् । अनुबध्नति अनुयाति । राजहंसयूथे राजहंसानां यूथे समूहे । वनितात्रने^३ वनिता एव जनः
 तस्मिन् । च । तरुणानां (यूनाम्) । दृष्टिः नयनम् । सदृशगतिकुतूहलेन सदृशगती समानगमने कुतूहलेन
 कौतुकेन । मूढः पुनः पुनः^४ । अपतत् । अप्तत् । पल्लु गतो लुङ् ॥३॥ सुललितेति । वामलोचनानां
 कामिनीनाम् । निजः स्वकीयः । नितम्बभारः नितम्बस्य भारः । सुललितगमनः सुललितं सुललितं गमनं
 यस्य सः । तथापि राजहंसः हंसपक्षी । नाजनिष्ट नाभवत् । मन्द्यरप्रयातः मन्द्यगमनः, सम्मति । कलभपतिः
 कलिशवकपतिः । न च नाजनिष्ट । ततः, अलसगतिषु मन्द्यगतिषु गमनेषु । गुरुः उपदेशकः । अजनिष्ट
 बभूव । जनैर् प्रादुर्भावे लुङ् ॥४॥ गगनमिति । हरिणदृशां हरिणस्य (दृशो) इव दृशो नयने
 यामा तासाम्, नारीणाम्-१२यर्थः । बटुलैः चंचलैः^५ । कटाक्षपातैः कटाक्षस्यापाङ्गदर्शनस्य पातैर्विभक्तैः ।
 उभयतः उभयपाक्षतः । प्रपूर्यमाणं सपूर्णं क्रियमाणम् । (प्रियमाणम्) । गगनम् आकाशम् । पवनविधुत-
 नीलनीरजौघव्यतिकरिणः पवनेन वायुना विधुतस्य^६ (कम्पितस्य) नीलानां कुण्डलानां नीरजानां
 नीलोत्तरलानामिति यावत्, ओघस्य समूहस्य व्यतिकरिणो व्यतिकरः संप्रभोऽस्त्यस्येति तथोक्तं, तस्य ।
 'व्यतिकरः स्याद् व्यननव्यतिषद्भयो' इति विश्वः । सरसं सरोवरस्य । लक्ष्मीं शोभाम् । बभार धरति स्म ।

और भी अधिक बढ़ गयी थी ॥ २ ॥ यात्रामें सम्मिलित होनेवाली सभी स्त्रियोंकी कमरमें
 बजनेवाली करधनी और पैरोंमें नपूर थे । चलते समय उन दोनोंकी ध्वनि सुनकर राजहंसी-
 का झुण्ड इधर-उधरसे आ-आकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा । उन स्त्रियों और हंसोंकी
 बिलकुल एक सरीखी चाल देखकर युवकोंको बड़ा कौतूहल हुआ, अतः उनकी दृष्टि स्त्रियों और
 हंसोंकी ओर बार-बार जा रही थी ॥ ३ ॥ राजहंस उतना सुन्दर गमन नहीं कर पाता और
 न श्रेष्ठ कलभ भी उतनी मन्दगतिमें चल सकता है । अतः स्त्रियोंको सुन्दर एवं मन्द गतिका
 उपदेश देनेवाला गुरु उनके नितम्बका भार था, न कि राजहंस या कलभ ॥ ४ ॥ हिरणोंके
 समान सुन्दर नेशोंवाली स्त्रियोंके चंचल कटाक्षोंसे दोनों ओरसे व्याप्त होकर आकाश उस
 सरोवरके समान हो गया, जिसमें वायुमें कम्पित होकर नील कमलोंका समूह लहरा रहा

१. आह 'काञ्चि' । २. अ स ललितं । ३. = वनितायां जनो वर्गः तस्मिन् । ४. श 'पुनः' इति
 नोपलक्ष्यते । ५. = राजहंसः मरालः । सुललितगमनः सुललितगतिमनोहरं गमनं यस्य सः । न नास्ति ।
 कलभपतिः च त्रिशद्वककारिणावकेशोऽपि । मन्द्यर-यातः मन्द्यरं मन्दं प्रयातं गमनं यस्य सः । न न वर्तते ।
 अतो वामलोचनानां कामिनीनाम् । अलसगतिषु मन्दगतिषु । निजः स्वकीय एव । नितम्बभारः बहुलितम्बः ।
 गुरुः शिक्षकः । अजनिष्ट समजनि । नितम्बिनीनां यादृशी गतिरस्ति तादृशी राजहंसं कलभं च नावलोक्यते ।
 अत एव तासामलसगतिः पवने तन्वितम्ब एव गुर्वनं राजहंसो न च कलभ इति निर्वलितायः । व्यतिरेका-
 लङ्कारः ॥४॥ ६. श चंचलैः । ७. श विधुतस्य ।

ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे रञ्जयितुमेव वृथा तव प्रयासः ।
 मुखकमलमलं करोति यत् पतदलिनीकुलमेव पद्मोद्भात् ॥६॥
 विरचयसि यमाद्रेण हारं तमपि तवाहमवैमि शुद्धभारम् ।
 कमलमुखि पयोधरान्तराले भ्रमजलबिन्दुविभूषिते व्रजन्त्याः ॥७॥
 भ्रवणतटविलम्बि संविधत्ते नयनयुगं न किमेतदीयशोभाम् ।
 धरतनु विकलक्रियं विधातुं यदस्तिमुत्पलमुद्यतासि कर्णे ॥ ८ ॥
 चिरयसि परमेव निक्षिपन्ती रसमतिसान्द्रमलककस्य कान्ते ।
 ननु किसलयभासि रागबन्धस्तव पदपद्मतले निसर्गसिद्धः ॥ ९ ॥

दुःखं धारणपोषणयो लिट् । उपेक्षा (निदर्शना) ॥५॥ छलितेति । मुग्धे सुन्दरि । 'मुग्ध मुग्धमूढयोः' इत्यभिधानात् । ललिततिलकमण्डनानि ललितानि मनोहराणि तिलकान्वेव मण्डनानि यदा उपलक्षणात् निलक-
 प्रभुतिमण्डनानि तपोक्तानि । विरचयितुं [रचयितुं] कर्तुम् । तव ते । एषः अयम् । प्रयासः प्रयत्नः । वृथा व्यर्थः । यत् यस्मत् । पद्मोद्भात् पद्मम्—इति मोहाद् भ्रान्तेः । पतदलिनीकुलमेव पतन्तीनामलिनीना भृङ्गोणा कुलमेव समृद्ध एव । ते तव । मुखकमलं वदपद्मम् । अलकरोति मण्डयति । टुङ्ग्यं करणे लट् । रूपकम् ॥६॥
 विरचयसीति । कमलमुखि कमलमिव पद्ममिव मुख यस्या तस्याः संबोधनम् । य हार हास्यति । आदरेण प्रीत्या । विरचयसि संधारयसि । रञ्ज प्रतियत्ये लट् । तमपि हारमपि । अहम् । ब्रह्मन्त्याः गच्छन्त्याः । भ्रमजलबिन्दुभूषिते भ्रमजलस्य स्वेदसलिलस्य बिन्दुभिर्विदुर्भूषिते मण्डिते । पयोधरान्तराले पयोधरयोः स्तनयोरन्तराले मध्ये । तव ते । शुद्धभारं तूष्णीं भारमिति । अवैमि जानामि । एण् गतो लट् । उपेक्षा । ७॥
 भ्रवणेति । धरतनुं धरा मनोहरा तनुङ्गं यस्याः तस्या संबोधनम्, भो मनोहरीङ्गि । विकलक्रियं विकला-
 निष्कला क्रिया यस्मिन् कर्मणि तत् । यत् असितं कृष्णम् उत्पल नोलोत्पलम्—इति यावत् । कर्णे श्रोत्रे । विधातुं कर्तुम् । उद्यता उद्युक्ता । असि भवसि । अस भुवि लट् । एतदीयशोभाम् एतदीयस्य नोलोत्पल-
 संबन्धस्य शोभा विलासम् । भ्रवणतटविलम्बि भ्रवणयोः कर्णयोस्तटं मूलं विलम्बि^१ आश्रयणीलम् । नयनयुगं नयनयोरनैत्रयोर्युगं युगम् । न संविधत्ते किं न संवरति^२ किं, किन्तु संविधत्ते एव । सामान्यम् ॥८॥
 चिरयसीति । कान्ते भो ललने । अलककस्य यावकस्य^३ । अस्मिन्मात्रम् अतिधनम् । रस द्रवम् । निक्षिपन्ती स्थापयन्ती । परमेव अत्यन्तमुत्कृष्टमेव । चिरयसि चिर करोषि जालस्य करोषि—इत्यर्थः । किसलयभासि^४ किसलयमिव भासि कान्तियुक्ते । ते तव । पदपद्मतले पदमेवपद्मतले बन्धसरोरुहं तस्मिन् । रागबन्धः

हो ॥ ५ ॥ हे सुन्दरी ! सुन्दर तिलक आदि लगाकर शृंगार करनेका तेरा यह प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि कमलके भ्रमसे आया हुआ भीरियोंका झुण्ड ही तेरे मुख-कमलको अलंकृत कर रहा है ॥ ६ ॥ हे कमलमुखी, जिस हारको तू बड़े शौकसे पहन रही है, मे उसे केवल, तेरा बोझ ही समझता हूँ, जब कि चलनेसे तेरे स्तनोंके बीचका भाग पक्षीनेके बिन्दुओंसे भूषित, भूषित नहीं, विभूषित है—हारसे भो कही अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥ हे सुन्दर शरीर-
 वाली ! कानों तक फैले हुए नेत्रोंसे क्या तेरे इन (कानों) की गोभा नहीं है, जो तू नील-
 कमलोंको व्यर्थ ही कानोंके ऊपर धारण करनेके लिए उद्यत हो रही है ॥ ८ ॥ हे प्रिये ! खूब गाढ़ा महावर लगाकर तू केवल विलम्ब ही कर रही है (न कि परो का शृंगार), क्योंकि नयी कोपलो सरोखी कान्तिको धारण करने वाले तेरे चरण-कमलोंके तलबोंमें निश्चय ही

१. आ इ विपुलकिं । २. आ टु दु भुज् भरणे लिट्, वा टु दु भुज् धारणपोषणयोरलिट् । ३. = 'तसंबुद्धौ' । ४. = केवलभारमिति । 'शुद्धः केवलपूतयोः' इत्यनकायसप्त । ५. = विलम्बते समाश्रयतोऽप्यं शीलम् । ६. आ युगल । ७. = विदधाति । ८. आ युवकस्य । ९. = किसलयवद् भाः कान्तियस्य तस्मिन् । १०. वा पदावेव ।

लघु जिगमिषुणेति काचिद्वै स्ववपुरलंकरणाकुला प्रियेण ।
 प्रतिपदमवगच्छता तदीयं जघनमहाभरविचित्रं^१ प्रयातम् ॥ १० ॥
 सहृद्वुधतया कृतेऽपराधे भवति ततो विनिवृत्तिरेव दण्डः ।
 तदहमपि न तं पुनर्विधास्ये सुतनुं तवेति स वल्लभो प्रवीति ॥ ११ ॥
 अपि च सुवदने नरो न दोषाद्विरमति शिक्षयते न यावदभ्यः ।
 स च कुसुमशरेण शिक्षितस्त्वद्विरहसखेन निनीषुणा विनाशम् ॥ १२ ॥
 न च सखि सुसहस्त्वयापि तावत्प्रियविरहः क्षयहेतुरङ्गयष्टेः ।
 कथयति हि नबोष्ट्विभ्यमुष्णश्वसितविरुक्षितमान्तरङ्गमाधिमं^३ ॥ १३ ॥

रागस्यारुणस्य^४ बन्धः सन्धः । निसर्गसिद्धः स्वभावसिद्धः । ननु ललु ॥९॥ लब्धवति । स्ववपुरलंकरणाकुला
 स्ववपुषः स्वशरीरस्यालंकारणैः लङ्कारैः (मण्डने) आकुला सक्ता । काचित् एका स्त्री । प्रतिपदं पदं पदं प्रति
 चरणनिर्दोषं चरणनिर्दोषणं प्रति । जघनमहाभरविचित्रं जघनस्य नितम्बस्य महाभरेण भारेण विचित्र-
 मन्तरितम् । तदीयं तस्या इदं तदीयम् । प्रयातं गमनम् । अवगच्छता जानता । लघु जिगमिषुणा लघु स्त्रीर्त्रं
 जिगमिषुणा^५ गन्तुमिच्छुना । प्रियेण दयितेन । इति वदाम्यत्र (उक्त-) प्रकारेण । ऊचे उच्यते स्म । पञ्चमिः
 कुलकम्^६ ॥ १० ॥ सहृद्विति । सतनु भो मनोदुराङ्ग । अवुधतया अज्ञानतया । सहृद्वै एकवारम् । अपराधे
 दोषे । कृते विहिते । तन तस्मात् । विनिवृत्तिरेव निराकृतिरेव । दण्डः^७ अपराधः (?) भवति । भू सत्तायां
 लट् । तस्मात्, अहमपि, तम् अपराधम् । पुनः पश्चात् । न विद्याभ्ये न करिष्ये । सः, तव ते । वल्लभः
 प्रणनायकः । इति एवम् । ब्रवीति वदति । ११. अर्थाति^८ । सुवदने सुमगमूखि । अपि च विशेषोऽस्ति
 (अथ च) । अन्यः, नरः पुरुषः । यावत् यत् (यावत्) पर्यन्तम् । न शिक्षयते शिक्षां न करोति । शिक्षि^९ ।
 विद्योपादाने यन्तात्तलट्^{१०} । तावत्—इत्यध्याहारः । दोषात् अपराधात् । न विरमति नापस्यति । 'न
 पयोद्वै रम' इति स्मृत् न भवति । 'विनाशं विनाशनम्'^{११} । निनीषुणा नेतुमिच्छुना । त्वद्विरहसखेन^{१२} तव ते
 विरहस्य वियोगस्य सखेन (?) महायेन । कुसुमशरेण पुष्पबाणेन । स च पुरुषः । शिक्षितः ॥ १२ ॥ न चेति ।
 सखि भो वयस्ये । अङ्गपटं शरीरपट्टेः । क्षयहेतुः नाशकारणम् । प्रियविरहः प्रियस्य दयितस्य विरहो वियोगः ।

स्वाभाविक लालिमा बनी हुयी है ॥ ९ ॥ योघ्न ही जानेके लिए इच्छुक नायकने इस तरह
 अपनी पत्नीसे कहा, जो अपने शरीरका शृङ्गार करनेमें व्यग्र थी; क्यों कि वह पहलेसे ही
 उसके नितम्बके भारी भारसे गमनमें पग-पगपर आनेवाली बाधाको जो जानता था । (छेडे
 इलोकसे यहाँ तक सम्बन्ध है) ॥ १० ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा पति यों कहता
 है कि भूलने एकवार अपराध कर लेनेपर उसमें निवृत्त होना ही दण्ड है । अतः मैं
 भी अब कभी उस अपराधको नहीं करूँगा, जो मुझसे भूलवश एक बार हो गया है
 ॥ ११ ॥ हे सुन्दर मुखवाली ! और एक बात यह भी तो है कि मनुष्य किसी अपराधसे तभी
 तक निवृत्त नहीं होता, जबतक कि उसे कोई शिक्षा नहीं दे देता—समझा नहीं देता । विरहा-
 वस्थामें तुम्हारी मदद करनेवाले और अपराधीको विनाशकी ओर ले जानेकी इच्छा रखने-
 वाले कामदेवने उसे (तेरे पति को) खूब शिक्षा दे दी है ॥ १२ ॥ हे सखि ! प्रियका विरह
 शरीरके विनाशका कारण है, अतः तेरे लिए भी वह (प्रिय विरह) आसानीसे सहने योग्य

१. अ जनमनहःविचित्रं । २. आ इ सुतनो । ३. आ आ इ 'तमङ्गरङ्गमाधिमं । ४. = रागस्य
 आरुणस्य । ५. = गन्तुमिच्छुजिगमिषुः, तेन । ६. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । ७. = दमनोपायः ।
 ८. स असीति । ९. आ शिक्षा । १०. आ लुट्, श लट् । ११. आ नाशनम् । १२. तव विरहो वियोगः स
 एव सखा मित्रं यस्य, तेन ।

त्यज मम विरहोऽधुनेव पश्चादपि न रुजाकर इत्यपि स्वमानम् ।
 नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादाघधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः ॥ १४ ॥
 इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रैरपहृतमानविषा सखीबचाभिः ।
 दयितमनुजगाम मन्दमन्दं निहितपदा किल नेच्छतीव काचित् ॥ १५ ॥
 (कुलकम्^१)

स्मरपरवशबुद्धिरसंपृष्ठप्रगमितपाणिघृतप्रियाकुचाग्रः ।
 गजपतिरिव मन्थरेण कश्चित्समुपजगाम शनैः पदक्रमेण ॥ १६ ॥

स्वयापि^२ । तावत्^३ तत्पर्यन्तम् । सुतहः सुलेन सहः । स च^४ । तव ते । आन्तरङ्गम् अन्तरङ्गभवम् ।
 आशिषीडा^५म् । उष्णदशसितविरुक्षितम् उष्ण^६दशसितेन दशासेन विरुक्षितं पक्वितम् । ओष्ठबिम्बम्^७ ओष्ठो-
 षरः स एव बिम्बं बिम्बफलम् कथयति हि बवति । कथं वाग्म्यप्रबन्धे लट् । अनुमितिः ॥ १३ ॥ त्यजेति । मम
 मे । विरहः वियोगः । अधुनेव इदानीमिव । 'सदेतद्वाधुनेदानीं सचः' इति साम् । पश्चादपि परस्मिन्निवि^८
 (समये) । रुजाकरः पीडाकरः । न भवति, इत्यपि, स्वमानं स्वस्य मानं गवम् । त्यज जहि । त्यज हानौ
 कोट्^९ । चेतः चित्तम् । क्रियादौ क्रियायाः कार्यस्यादौ प्रारम्भे । यथा, स्थिरं दृढम् । तथैव^{१०} । अधिकृत-
 निर्वहणे अधिकृतस्य प्राग्बन्धस्य निर्वहणे^{११} संपूर्णकरणे । न भवति हि नास्ति हि ॥ १४ ॥ इतीति । इति
 एवम् । हितमधुरैः हितैरहितभूतैर्मधुरैर्मनोहरैः । अहिमन्त्रैरिव विषापहारमन्त्रैरिव । सखीबचाभिः सख्या
 आल्या बचोभिरवचनैः । अपहृतमानविषा अपहृतं निराकृतं मानं एव गवं एव विपं यस्याः सा । नेच्छतीव न
 वाञ्छतीव । मन्दं मन्दं शनैः शनैः । 'वोष्ठायाम्' (इति) द्वि । निहितपदा^{१२} निहितौ निक्षिप्तौ पदौ यथा
 सा । काचित् अग्या वनिता । दयितं बल्लभेन सह (बल्लभम्) । अनुजगाम अनुयाति स्म । गम्लु गतो लट् ।
 उरमा— (रूपकमुपेक्षा च) । पञ्चभिः कुलकम्^{१३} ॥ १५ ॥ स्मरेति । स्मरपरवशबुद्धिः स्मरणं मन्थनेन
 परवशा पराबोना बुद्धिरस्य सः । अंष्टपृष्ठप्रगमितपाणिघृतप्रियाकुचाग्रः अंशेन भुजगिरमा पृष्ठे चरमनो^{१४} प्रगमि-
 तेन प्रापितेन पाणिना हस्तेन घृतं प्रियाया दयितायाः कुचप्रमथ्य^{१५} स । गजपतिरिव मन्थरस्तीव ।
 कश्चित्^{१६} एकनायकः । मन्थरेण मन्थने । पदक्रमेण पदविन्यासेन । शनैः, समुपजगाम 'नम्रगयाति स्म ।

नहीं है; क्योंकि तेरा होठ, जो गरम द्वासवायुसे रूखा पड़ गया है, और जिमपर पपड़ी पड़ गयी
 है, तेरी मानसिक व्याधिको बतला रहा है ॥ १३ ॥ जैसे इस समय मुझे प्रियका विरह पीडा
 नहीं दे रहा है, इसी तरह आगे भी नहीं देगा, यह सोच कर भी तू मान मत कर—मानको छोड़
 दे; क्योंकि किसी भी कार्यके प्रारम्भमें मन जैसा स्थिर होता है, वैसा उसके अन्त तक नहीं
 रहता ॥ १४ ॥ इस तरह हितकर, मधुर एवं संप्रमन्त्रके समान सखीके वचनोसे किसी मान-
 वती नायिकाका मान विपकी तरह शान्त हो गया । फलतः वह अपने पनिके पीछे-पीछे धीरे-
 धीरे पैर रखकर चलने लगी, जिससे उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जाना नहीं
 चाहती हो ॥ १५ ॥ एक कामी—जिसकी बुद्धि कामदेवके वशमें थी—अपनी प्रियाके कन्धे और
 पीठके ऊपरसे बगलमें डाले हुए हाथसे उसके स्तनके अगले भागको पकड़कर गजराजकी तरह

१. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । २. = भवत्यापि । ३. = वाग्म्यालङ्कारे । ४. = विरहः ।
 ५. आ उष्णस्य । ६. = ओष्ठो बिम्बमित्योष्ठबिम्बम् । ७. श 'परमिप्रवि' इति नोपलभ्यते । ८. श
 लट् । ९. = तेनैव प्रकारेण । १०. = निबहि । ११. = निहिते निक्षिप्ते पदे यथा सा । १२. श 'पञ्चभिः
 कुलकम्' इति नोपलभ्यते । १३. श गतो । १४. = येन । १५. श कश्चिदेव । १६. आ समनु ।

कृतमनसिजवेगमुरुयुग्मं पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् ।
 मुहुरलसगतेः^१ स्पृशन्प्रियायाः समुपययावपरोऽल्पकेऽपि मार्गे ॥ १७ ॥
 इति कृतविधिवप्रकारचेष्टा मनसिशयाकुलचेतसः^२ सभार्याः ।
 विधिशुरुषवनं पुरः प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि पौराः ॥ १८ ॥
 तद्विष्टप^३ शिखावसक्तहस्ताश्चिरमनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः ।
 फलकुसुमसमृद्धिमीक्षमाणा हरिणदृशो वनदेवता इवाभुः ॥ १९ ॥
 सति निजकरजारुणांशुभिन्ने जरठपलाशचये महोरुहाणाम् ।
 समजनि वनिताजनस्य हेतुर्जदिमगुणो नयपल्लवावबोधे ॥ २० ॥

गमू गतो हिट् । उपमा ॥ १६ ॥ कृतेति । अपरः ब्रह्मो नायकः । पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् पथिब्रह्म
 मार्गजातस्य परिश्रमस्य नोदनस्य निराकरणस्यापदेशाद् व्याज्जात् । अलसगतेः अलसा मन्दा गतिर्गमनं यस्याः
 तस्याः । प्रियायाः दयिताया । कृतमनसिजवेगं कृतो विहितो मनसिजो^४ मनसि जातो वेगः शीघ्रं यथा
 तथा । ऊरुयुग्मम् ऊर्ध्वयुग्मं युगलम् । मुहुः भूयः । स्पृशन् स्पर्शनं कुर्वन् । अल्पके समीपे । मार्गेऽपि
 सत्यपि । समुपययी समुपजगाम । या प्रापणे लिट् ॥ १७ ॥ इतीति । इति एवम् । कृतविधिवप्रकारचेष्टाः
 कृता विविधप्रकाराः नानाप्रकारा चेष्टा व्यापारा यैः, ते । मनसिशयाकुलचेतसः मनसिष्येन कामेनाकुलं व्याकु-
 लितं चेतश्चित्तं येषां ते । सभार्याः आयाजनसहिताः । योगः पुरे भवाः पौराः पुरजनाः । पुरः अग्रे ।
 प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि प्रयातनं गतेन क्षितिपतिना भूमिपतिना सेवित आश्रितः कृत्रिमाद्रिः कृतकःशीलो
 यस्मिन् तन् । उपवनं व्रीडावनम् । विधिशुः प्रविष्टाः ॥ १८ ॥ तद्विष्टपेति । तद्विष्टपशिखावसक्तहस्ताः
 तरुणा वृक्षाणां विटपानां^५ शिखानामग्रेऽवसक्ता ग्यस्ता हस्ता यासां (याभिः) ताः । चिरं मन्दम् ।
 अनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः अनुपातोऽस्वीकृतो निमेषो निमोहनं यस्य तत्तद्योवर्तं नेत्रयोर्नयनयोर्गुणं तथोक्तम्,
 अनुपात्तनिमेषं नेत्रयुग्मं यासां ताः । फलकुसुमसमृद्धि फलानां कुसुमानां पुष्पाणां (च) समृद्धि प्रवृद्धिम् ।
 ईक्षमाणाः धिलोक्मानाः । हरिणदृशः हरिणस्य (दृशो) इव दृशो यासां ताः । वनदेवता इव वनस्य
 देवता इव देववनिता इव । आभुः रेजुः । आ दीप्तौ लङ् ॥ १९ ॥ सतीति । महोरुहाणा वृक्षा-
 णाम् । जरठपलाशचये जरठानां पुराणानां पलाशानां पत्राणां चये समूहे । निजकरजारुणांशु-
 भिन्ने निजानां करजानां नखानामरुणलौहितैरंशुभिभिन्ने मिश्रिते सति । वनिताजनस्य^६ वनिता
 एव जनः, तस्य । रूपकम् (?) । नव पल्लवावबोधे नवा नूतनाः पल्लवाः किसलयानि-इत्यवबोधे विज्ञाने ।
 मुदिमगुणः मुहु (ता) गुणः । हेतुः कारणम् । समजनि अजायत । जनेद् प्रादुर्भविलङ् । 'दीपूरजन्-'

घोरे-घोरे आगे बढ़ रहा था ॥ १६ ॥ दूसरा कामी मन्द गतिसे चलती हुई प्रियाके ऊरुओं—
 घुटनेके ऊपरी भागोंको, मार्गको थकावटको दूर करनेके बहानेसे सुहराकर काम-विकारके वेगको
 बढ़ाता हुआ, बढ़त सकरे रास्तेसे भी आनन्द पूर्वक चला जा रहा था ॥ १७ ॥ इस प्रकारकी
 और भी अनेक चेष्टाओंको करनेवाले सपत्नीक पुरवासियोंने—जिनके मन कामदेवसे व्याकुल
 थे—नगरके उस उपवनमें प्रवेश किया, जिसके कृत्रिम पर्वत पर चक्रवर्ती अजितसेन पहले ही
 पहुँच चुका था ॥ १८ ॥ उपवनमें पहुँचकर मृगसरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियाँ वृक्षोंकी शाखाओंको
 पकड़कर उनके फलों और फूलोंकी समृद्धिको निमेष-अपलक दृष्टिसे देखने लगी । उस समय
 वे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनदेवियाँ हों ॥ १९ ॥ वृक्षोंके पुराने पत्तोंके समूहको स्त्रियोंने
 अपने नखोंको लाल कान्तिसे बिलकुल ही भिन्न बना दिया—पीलेसे लाल कर दिया, और फिर

१. आ इ रलसगतिः । २. अ मनसिज व्याकुलं । ३. अ तद्विष्टपं । ४. = कामजो^१ ।
 ५. = व्याकुलं । ६. = शाखानाम् । ७. = चिरात् । ८. वा लिट् । ९. = वनितानां अमो वगैः, तस्य ।

प्रगमितमरविन्दलोचनायाः प्रणयवता श्रवणाघतसमावम् ।

‘स्वयमतिविहितादरेण शोकं व्यतरदशोकमपि प्रतीपपत्न्याः ॥ २१ ॥

कुसुमकिसलयं विषेतुकामां विटपिनि सत्यपि नम्रनम्रशाखे ।

तरुमनयत तुल्यमेव भर्ता भुजयुगमूलविदल्लया मृगाक्षीम् ॥ २२ ॥

तिलकमिति यदत्र पूर्वमासीद्भुवि विदितं खलु नाममात्रकेण ।

कुवलयनयनाभिरुक्तमाङ्गे निहितमवाप यथार्थतां तदानीम् ॥ २३ ॥

वपुषि कनकभासि चम्पकानां सुदति न ते परभागमेति माला ।

स्तननटमिति संस्पृशन्प्रियाया हृदि रमणो बकुलस्रजं घवन्ध ॥ २४ ॥

इत्यादिना जि.। ‘वेः’ इति तस्य लृक् । हेतु ॥२०॥ प्रगमितमिति । स्वयम्, अतिविहितादरेण अतिविहि-
तेनातिक्रमेण विहितेन कृतेनादरेण प्रीत्या । प्रणयवता स्नेहवता पुरुषेण अरविन्दलोचनादा. अरविन्दे कमले इव
लोचने यस्या तस्या. । श्रवणाघतसमाव श्रवणयोः कर्णयोर्यवनसयो. कर्णयोर्योर्भाव स्वकम्पम् । प्रगमितं
प्रापितम् । अशोकमपि कङ्कालपदामपि । प्रतीपपत्न्या सपत्न्या । शोकं दुःखम् । व्यतरत् करोति स्म । तू
प्लवनतरणयोल्लङ्घयाम्येत्यर्थः । यथार्थतां ॥२१॥ कुसुमेति । भर्ता बल्लभ । कुसुमकिसलय वृक्षकिसलयम् । ‘शेषोऽप्राणी’
इति द्वन्द्वैकत्वम् । विषेतुकामा छेतुकामाः । ‘तुमो मनस्वामि’ इति तुमो मकारस्य कामे परे लृक् । मृगाक्षी
कुरङ्गाक्षीम् । नम्रनम्रशाखे नम्रनम्रेऽत्यन्तं नम्रे शाखे शाखायुक्ते । विटपिनि वृक्षे, मर्त्यापि । भुजयुगमूल-
विदल्लया भुजयो बाह्वोर्युगं युग्मं तस्य मूलस्य विदल्लया द्रष्टुमिच्छया । तुल्यमेव उन्नतमेव । तरं वृक्षम् ।
अनयत् प्रापयत् । षीञ् प्रापणे लट् । द्विकर्मक ॥२२॥ तिलकमिति । अत्र भुवि भूमौ । अत् पूर्व प्राक् ।
तिलकमिति तिलकवृक्षमिति । नाममात्रेण संज्ञामात्रेण । विदितं प्रसिद्धम् । आगोत् खलु अभवत् खलु स्फुरत् ।
कुवलयनयनाभिः कुवलयमिव नीलोत्पलवन्नयने यासां तामि । उत्तमाङ्गे मस्तके । निहितं धृतम् । तदानीं
तस्मिन् काले । यथार्थतां सत्यरूपसंज्ञास्वम् । अवाप ययौ । आप्त् व्याप्ती लिट् ॥२३॥ वपुर्प्राति । मुदति
सु शोभना दग्धा अस्या इति (मुदती तत्सम्बुद्धौ) मनोहरदन्तयुक्ते । ‘वयसि दन्तस्य दह’ इति दन्तस्य
दन्तादेशः (दन्त-आदेशः) । ऋदित्वात् ‘नृदुग्मि—’ इत्यादिना डौ । ते तव । कनकभासि कनकस्येव भा-
काग्निस्येव तस्मिन् । सुवर्णश्चाये-इत्यर्थः । वपुषि शरीरे । चम्पकाना हेमवृक्षकाणाम् । माला मातृगम् ।
परभागं स्ववर्णस्य संपूर्णस्वम्-अतिसयम् । ‘परभागो गुणोत्कर्षः’ इत्यभिधानात् । नैति न याति । इति एवम् ।

वे उन्ही पुराने पत्तांको नये पत्तांके रूपमें समझने लगी । इसका कारण उन्हीका भोलापन था ॥२०॥ किसी कमललोचना नायिकाके स्नेही पतिने बड़े आदरसे जो फूल उनके कानमें पहनाया था, वह स्वयं अशोक-अशोक वृक्षका फूल था अथवा शोक रहित था पर सौतकी शोक दे रहा था । उसे देखते ही सौतके चित्तमें शोक उत्पन्न हो गया ॥२१॥ फूलों और पत्तियोंकी चुननेकी इच्छा रखनेवाली एक मृगनयनीको उसका पति, अत्यन्त नाचो शाखाओवाले वृक्षके समीपमें होनेपर भी, उसके बाहुके मूत्र भागकी देखनेकी इच्छासे खूब ऊँचे वृक्षके पास ले गया ॥२२॥ इस भूमि पर पहले जो फूल केवल ‘तिलक’ इस नामसे ही प्रसिद्ध था, वही जब नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली नायिकाओके द्वारा मस्तक पर रख लिया गया, तब वह यथार्थ ‘तिलक’ हो गया । पहले वह केवल संज्ञासे ही तिलक था, पर अब अर्थसे भी तिलक हो गया है ॥२३॥ हे मुन्दर दाँतोंवाली ! तरे गोरे रंगके शरीर पर चम्पेकी माला फव नहीं रहो है, यह कहकर उसके पतिने स्तनोंका स्पर्श करते हुए उसके सीने पर

१. आ इ स्वर्भावति । २. = पत्न्या-इति यावत् । ३. = कर्णपूरत्वमित्यर्थः । ४. = नम्रनम्रा अत्यन्तं नम्राः शाखा यस्य तस्मिन् । ५. = अन्वर्थताम् । ६. आ संज्ञताम् ।

स्फुटमिह कमनीयमन्यथा वा न किमपि भावकृतस्त्वयं विभागः ।
 समजनि यदशोकतः पलाशं प्रियमवतंसितमीश्वरेण बध्वाः ॥ २५ ॥
 ऋतुजनितरुचिर्यथूसमूहैरवचितपुष्पचयश्च यस्तरुणाम् ।
 मुदित इव परार्थयात्मलक्ष्म्या पवनधुतैर्नवपल्लवैर्ननर्त ॥ २६ ॥
 इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं निखिलमवेत्य जनं स्वप्नप्यधोशः ।
 सरसि शुचिजले ममज सज्जीकृतजलकैलिपरिच्छदप्रपञ्चे ॥ २७ ॥

प्रियायाः दयितायाः । स्तनतट^१ स्तनप्रदेशम् । संस्पृशन् स्पर्शं कुर्वन् । रमणः नायकः । हृदि हृदये ।
 बहुलजं बहुलपुष्पमालाम् । बध्वा बध्नाति स्म ॥ २४ ॥ स्फुटमिति । ईश्वरेण नायकेन । अशोकतः
 कङ्क्रेलिपुष्पात् । यत् पलाशं किशुकपुष्पम् । बध्वाः वनितायाः अवतंसित कर्णाभरणोक्तम् । (तत्) प्रियं
 प्रीतम् । समजनि समजायत । जनैर्^२ प्रादुर्भावे लुट् । इह भुवि । किमपि, स्फुट व्यक्तम् । कमनीयं मनोहरम् ।
 अन्यथा वा न । कमनीयाकमनीयविभागः अयं विभागः अतिशयः तु । भावकृतः संकल्पकृतः ॥ २५ ॥
 अरविनि । शत्रुजनितरुचिः ऋतो कालविशेषे जनिता चासी रुचिः शोभा च तथोचिता । बध्नुमूहैः बध्ना
 वनिताया समूहैर्नवैः । अवचितपुष्पचयः अपचितोऽपनीतः पुष्पाणा चयः समूहो यस्य सः । लक्ष्म्या
 महोदहाणाम् । चयः समूहः । परार्थया परेवामन्येषामर्थया प्रयोजनया । आत्मलक्ष्म्या आत्मनः स्वस्य लक्ष्म्या
 संपदा । मुदित इव समुष्ट इव । पवनधुतैः पवनेन मारुतेन धुतैः कम्पितैः । नवपल्लवैः नवैः प्रत्यगैः पल्लवैः
 किसलयैः । ननर्त नूनयति स्म । नृतै^३ मात्रविशेषे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥ इतीति । अधोशः चक्रवर्ती । इति
 एवम् । वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं वनस्य विहृतैः क्रोडायाः प्रसङ्गेन सम्बन्धेन^४ लिङ्गमायस्तम्^५ । निखिलं
 समस्तम् । जन लोकम् । स्वमपि आत्मानमपि । अवेत्य ज्ञात्वा । शुचिजले शुचि निर्मलं जल यस्य तस्मिन् ।
 सज्जीकृतजलकैलिपरिच्छदप्रपञ्चे सज्जीकृतः सन्नद्धीकृतो जलकैस्या जलक्रोडायाः परिच्छदाना परिकराणा
 प्रपञ्चो निचयो यस्य (यत्र) तस्मिन् । सरसि सरोवरे । ममज स्नाति स्म । हुमज^६ शुद्धौ । लिट् ॥ २७ ॥

मौलसिरीको माला पहना दो ॥ २४ ॥ निश्चय ही इस संसारमे कोई भी चीज न तो सुन्दर
 है और न असुन्दर; क्योंकि सुन्दर और असुन्दरका यह विभाग मानवके मनोभावों पर निर्भर
 है । एक नायकने अपनी नायिकाके कानसे अशोकका फूल निकालकर उसके स्थानमे ढाकका
 फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे कहीं अधिक प्रिय लगा । अथवा एक नायकने स्वयं
 अपने हाथसे अपनी नायिकाके कानमे ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे भी
 अधिक अच्छा लगा । अशोकका फूल सुन्दर और ढाकका फूल असुन्दर समझा जाता है । पर
 पति अपने हाथसे स्नेहपूर्वक यदि टेसू-ढाकका भी फूल पहना दे, तो उसका प्रिय होना ही
 उचित है ॥ २५ ॥ जिनमे वसन्त ऋतुने शोभा उत्पन्न कर दो थी और जिनकी पुष्पराशिको
 नायिकाओके वर्गने चुन लिया था, उन वृक्षोके हवासे हिलते हुए पत्तोंको देखकर ऐसा जान
 पड़ता था मानो वे अपनी परोपकारिणी लक्ष्मीके निमित्तसे खुशोके मारे नाच रहे हों ॥ २६ ॥
 इस तरह वन विहारके प्रसङ्गसे सारे पुरवासियोंको, अपने परिवारके लोगोंको और स्वयं अपने
 को थका हुआ जानकर आंजतसेन चक्रवर्तीने, जिसके लिए जल क्रोडाके योग्य नाना प्रकारकी

१. = स्तनाग्रम् । २. आ जनी । ३. आ नृती । ४. वा अविकाचरणेन । ५. वा आगतम् ।

६. वा स्वकीयमपि । ७. आ हुमज्जा ।

हृषिततनुवृद्धाश्चिरेण भीरुप्रकृतितयाम्भसि नाभिमात्रकेऽपि ।
 प्रियकरधृतपाणयो रमण्यः प्रविचिशुराहितमन्दमन्दपादाः ॥ २८ ॥
 तद्वल्लिमपि वारि निक्षिपन्त्यः कठिनपयोधरपीडनैः पुरस्तात् ।
 पृथुतरनिजकुम्भनुषतोया धनकरिणीरनुचकरञ्जनेत्राः ॥ २९ ॥
 जलमकलुषमन्तरानुबन्धन्युवतिमुखप्रतिमां पयोजबुद्ध्या ।
 भ्रममफलमवाप मत्तभृङ्गो न खलु हितं मद्मूढधीरवन्ति ॥ ३० ॥
 सरलनवमृणालनालबाहुश्चपलशिलीमुखलोचना कृशाङ्गी ।
 निजतनुमुकुर्वती कयाचित्सरभसमम्बुजिनी समालिलिङ्गे ॥ ३१ ॥

हृषितेति । हृषिततनुवृद्धा, हृषिताः तनुवृद्धा रोमाणि यासा ता । चिरेण कालविलम्बनेन । भीरुप्रकृति-
 तया भीरोभयशैलस्य प्रकृतितया स्वभाववत्तया । नाभिमात्रकेऽपि नाभिः प्रमाणमस्य नाभिमात्रकं तस्मिन् ।
 'तदस्य प्रमाणमात्रक' इति मात्रद-प्रत्ययः । अम्भसि सलिले । प्रियकरधृतपाणयः प्रियाणा दयिताना करैर्हस्तै-
 र्वृता मृनाः पाणयो हस्ता यासा ताः । रमण्य वनिताः । आहितमन्दमन्दपादाः आहितो निक्षिप्तो मन्दो पादो
 यासा ताः, सस्यः । प्राविशिशुः अवतंसः । विश प्रवेगने लिट् । जाति ॥२८॥ तद्विति । कठिनपयोधरपीडनैः
 कठिनानां कर्कशानां पयोधराणां स्तनानां पीडनैर्बाधनैः (आघातैः) तद्वल्लिमपि तत्सर्वमपि । वारि जलम् ।
 पुरस्तात् अग्रे । निक्षिपन्त्यः सेचयन्त्यः । अञ्जनेत्रा, अञ्ज कमल तदिव नेत्रं यासा ता । पृथुतरनिजकुम्भनुष-
 तोयाः पृथुतरैर्मश्रतरैर्निजकुम्भैः स्वकीयकुम्भस्थलैर्नुषं^१ निरसितं तोय जलं यासा ताः । धनकरिणीः वने
 विश्रान्ताः करिणीः करेणुकाः । अनुचक्रः अनुकुर्वन्ति स्म । हुक्कृ करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२९॥ जलमिति ।
 अकलुषं निर्मलम् । जलं सलिलम् । अन्तः [अन्तरा] मध्ये । युवतिमुखप्रतिमा युवत्या वनिताया मुखस्य
 वदनस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बम् । पयोजबुद्ध्या पयोजमिति कमलमिति बुद्ध्या । अनुबध्न्न् अनुपतन् अनुवरन्^२
 वा । मत्तभृङ्गः मत्तभ्रमरः । अकलं निष्कलम् । भ्रमं प्रयासम् । अवाप याति स्म । अल्पं व्याप्तौ लिट् ।
 भ्रान्तिमान् । मद्मूढधीः मदेन मयेण मूढा मुग्धा धीबुद्धिर्यस्य सः । हितं हितकार्यम् । नावैति खलु न जानाति
 खलु । इण् गतौ लिट् । अर्थात्तरन्यासः ॥३०॥ सरलेति । सरलनवमृणालनालबाहुः सरलम् शृङ्गु नवं प्रत्यष्टं
 मृणालस्य बिम्बस्य नालमेव बाहुः (पक्षे) नालवद् बाहुर्द्वयस्याः सा । चपलशिलीमुखलोचना चपलदचञ्चल-
 शिलीमुख इव (एव) लोचनं यस्याः सा, (पक्षे) भ्रमरलोचना वा । कृशाङ्गी रुग्णाङ्गी । निजतनुं
 स्वशरीरम् । अनुकुर्वती^३ शोकुर्वती अम्बुजिनी^४ कमलपण्डम् । कयाचित् स्थिया । सरभस सभ्रमयुक्तं यथा
 सामग्री सजा दी गई है—पवित्र जलवाले जलाशयमे स्नान किया ॥२७॥ भीरु स्वभाव होनेसे
 स्त्रियोंके रोगटे खड़े हो गये । फलतः वे अपने अपने पतिके हाथोंमे अपने हाथ देकर, नाभि
 तक गहरे जलाशयके जलमें भी बहुत देरके बाद धीरे-धीरे पैर रखती हुई उतरी ॥२८॥
 जिनके लोचन कमलोंके समान थे, उन स्त्रियोंने अपने कठोर स्तनोंके आघातसे जलाशयके
 सारे जलको आगेकी ओर ठेल दिया । अतः वे उस समय अपने विशालगण्डस्थलोकी टक्कर
 लगाकर जलाशयके जलको आगेकी ओर ठेलनेवाली हृषिनियोंका अनुकरण कर रही थी ॥२९॥
 निर्मल जलमें युवतीके मुखके प्रतिबिम्बको कमल समझकर एक मतवाला भौरा उसके ऊपर
 मँडराने लगा, किन्तु उसे अपने परिश्रमका फल नहीं मिला—परिश्रम निष्फल हो हुआ । जिसकी
 बुद्धि मदसे विकृत हो गई है, वह निश्चय ही अपने हितको नहीं जान पाता ॥३०॥ सीधे
 नवान कमलदण्डरूपी बाहुको धारण करनेवाली, चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रोंसे युक्त, पतली और
 इसीलिए अपने शरीरका अनुकरण करनेवाली कमलिनीको किसी नायिकाने सखीके भ्रमसे

१. = याभिः । २. = निरस्तम् । ३. = याभिः । ४. क्ष अनुबुध्न् । ५. = बिम्बयन्ती ।
 ६. = कमलिनी ।

अपहृतवसना वधूस्तरङ्गैः पृथुनि नितम्बतटे निविष्टइष्टम् ।
 प्रियतममवलोक्य जातलज्जा कलुषयति स्म अलं विलोडनाभिः ॥ ३२ ॥
 पयसि समवतीर्य नाभिदध्ने विलुलितकेशकलापबन्धनायाः ।
 समजनि रभसोत्कटं तरन्त्याः स्तनयुगमेव तरण्डकं तरण्याः ॥ ३३ ॥
 जनमयपरिविद्रुतेऽपि पत्यौ युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः ।
 सलिलगतविमुग्धकोकवध्वा विरहभव्यवधया न संभभूवे ॥ ३४ ॥
 इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये चकिततया स्थिरतामनश्नुषाना ।
 गतिमिव परिशिस्तुं त्वदीयां सुतनु करोति गता गतानि हंसी ॥ ३५ ॥

तथा । समालिलङ्गे आलिङ्गता । लिगु गतो कर्मणि लिट् । दृष्टेर्बोधमा ॥ ३१ ॥ अपहृतेति । तरङ्गैः उभयिभिः । अपहृतवसना अपहृतमपनीतं वसनं यस्याः सा । वधू काचिद्वनिता । मृदुनि^१ कोमले । नितम्बतटे नितम्ब-
 प्रदेशे । निविष्टदृष्टिं निविष्टे स्थापिते दृष्टौ लोचने यस्य तम् । प्रियतमं वल्लभम् । अवलोक्य बोध्य । जात-
 लज्जा जातद्रोहा । विलोडनाभिः विलोडनैः । जल सलिलम् । कलुषयति स्म कलुषमकरोत् ॥ ३२ ॥ पयसीति ।
 नाभिदध्ने नाभिमात्रे—नाभिमात्रमस्य नाभिदध्नुः, तस्मिन् । 'बोध्यं दधन्द्वयसट्' इति प्रमाणे दधन्-प्रत्ययः ।
 पयसि जले । समवतीर्य प्रविश्य । विलुलितकेशकलापबन्धनायाः विलुलितं शिथिलित केशकलापस्य केशपाशस्य
 बन्धनं ग्रन्थिका यस्या तस्याः । रभसोत्कट रभसस्य संभ्रमस्योत्कटमाधिक्यं यस्मिन् कर्मणि तत् । तरन्त्याः
 प्लवमानायाः । तरण्याः युवत्याः । स्तनयुगमेव कुचयुगलमेव । तरण्डकं तुम्बिगण्डिकाद्वयम् । समजनि
 समशायत । जनैर्द्रा^२ प्रादुर्भावे लुट् । 'दोपूरजन—' इत्यादिना जि-प्रत्ययः । 'भेः' इति तस्य लृक् ।
 रूपकम् ॥ ३३ ॥ जनेति । पत्यौ पुरुषवशिणि । जनमयपरिविद्रुतेऽपि [जनमयात्] पलायमानेऽपि सति ।
 युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः युवत्या वनिताया धनयोः कठिनयोः स्तनयोर्बिम्बे प्रदेशे चक्रदाक इति मोहितं
 (मोहो) भ्रान्तिर्यस्याः, तस्याः । सलिलगतविमुग्धकोकवध्वाः सलिलं गताया विमुग्धाया मनोहरायाः
 कोकवध्वाश्चक्रशकवनितायाः । विरहभव्यवधया विरहेण वियोगेन अवया जातया व्यथया पीडया । न
 संभभूवे न जन्यते स्म । जनैर्द्रा प्रादुर्भावे, भवे लिट् । भ्रान्तिमान् ॥ ३४ ॥ इयमिति । सुतनु भो मनोहरायात्रे^३ ।
 इह अस्मिन् । निसर्गरम्ये निसर्गेन स्वभावेन रम्ये मनोहरे । पुलिने सिकते । चकिततया मोहितयुक्ततया ।
 स्थिरता स्थिरत्वम् । अनश्नुषाना अप्राप्नुवती । इयम् एषा । हंसी हंसवधूः । त्वदीयां तव संवन्धिनीम् ।
 गतिं गमनम् । परिशिस्तुमिव^४ क्षम्यासं कर्तुमिव । गतागतानि गमनागमनानि । करोति विदधाति । दुरुज्ज

अपने गले लगा लिया—आलिङ्गन कर लिया ॥ ३१ ॥ किसी नायिकाके अधोवस्त्रको तरङ्गोंने
 छीन लिया, जिससे उसके विशाल निर्वस्त्र नितम्ब पर उसके पतिने अपनी दृष्टि गड़ा दी ।
 उसे ऐसा करते देखकर नायिकाने लज्जित होकर (जब और कुछ उपाय नहीं सूझा) जलका
 विलोडन करके उसे मिलाकर दिया ॥ ३२ ॥ नाभि तक गहरे जलमें उतर कर कोई युवती बड़ो
 तेजोसे तैरने लगी । उसके केशपाशका बन्धन खुल गया और केशपाश बिखरकर जलमें लहराने
 लगा । इस अवसर पर उसके दोनों स्तन डोंगेसे बँधी हुई दो तुम्बियोंका काम कर रहे थे
 ॥ ३३ ॥ लोगोंके भयसे पतिके भाग जाने पर भी जलमें स्थित एक भोली-भाली चकवीको—
 जिसे किसी युवतीके कठोर स्तनमण्डलमे चकवे (अपने पति) का भ्रम हो गया था—
 विरहकी व्यथा नहीं हुई ॥ ३४ ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! यहाँ इस स्वभावतः सुन्दर तटपर
 भयभीत हो जानेसे एक जगह स्थिर न रहनेवाली यह हंसी ऐसी जान पड़ती मानो तुम्हारी

१. एष टोकाकुराभिमतः पाठः, प्रतिपु तु 'पृथुनि' इत्येव समुपलभ्यते । २. = नाभिः प्रमाणं यस्य
 यत् । ३. आ कुम्भं । ४. आ जनी । ५. आ क्यातिः । ६. आ 'जनैर्द्रा प्रादुर्भावे, भवे लिट्' इति नोपलभ्यते ।
 ७. आ क्यातिमान् । ८. श 'गति' । ९. = परिशीलयितुमिव ।

अयमपि मधुरस्वरोऽभिसर्गमधु मधुपः परिहृत्य पद्मिनीजम् ।
 अहमिव परिपातुमानं ते सुमुखि निसर्गसुगन्धि वाञ्छनीव ॥ ३६ ॥
 अयमनमिमुखीं सुकेशि कीकः समनुतयम्बुवाटुभिः स्वजायाम् ।
 प्रकुपितव्यिताप्रसादहेतुपुद्विशतीव ममापि चाटुकारान् ॥ ३७ ॥
 इयमपि शफरी समुत्पतन्ती गगनमिनः सलिलादनेकवारान्^१ ।
 ध्रुवमपहृतविभ्रमा भवत्या नयनयुगेन नताङ्गि पूत्करोति ॥ ३८ ॥
 इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं सलिलनिवासिमनोजसत्त्ववृत्तम् ।
 अरमयत युवा चकोरनेत्रां सरसि तद्वसविलम्बिवामबाहुः^२ ॥ ३९ ॥

करणे कट् । उपमा^३ ॥ ३५ ॥ अयमिति । सुमुखि मनोहरवदने । पद्मिनीज^४ कमलपण्डजितम् । मधु पुष्प-
 रसम् । परिहृत्य हिरवा । मधुरस्वरः मनोहरस्वरयुक्तः । अभिसर्गं अभिमुखमागच्छन् । अयमपि एषोऽपि ।
 मधुपः भ्रमरः । ते तव । निसर्गसुगन्धि सहजगन्धयुक्तम् । आननं मुखम् । अहमिव परिपातुं परिपानाय ।
 वाञ्छनीव इच्छतीव, माति-इत्यभिप्रायः । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ अयमिति । सुकेशि नु शोभना^५ केशा यस्याः
 तस्याः संबोधानम्^६ । अयमिमुखीं विमुखीम् । स्वत्रायां स्वभायाम् । मधुवाटुभिः बहुभिर्दुर्लभवाटुभिः प्रिय-
 वचनैः । समनुतयन् प्रतिबोधयन् । अयम् एवः । कीकः चक्रवाकः । प्रकुपितवनिताप्रसादहेतुं प्रकुपितायाः^७
 कोपं कृतायाः दविताया मायायाः प्रसादस्य संतोषस्य हेतुन् कारणानि । चाटुकारान् प्रियवचनानि । ममापि ।
 सपविशतीव उपदेशं करोतीव । दिशि^८ अतिसर्जने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥ इयमिति । नताङ्गि विनम्र-
 गात्रि 'असहनञ्—' इत्यादिना डौ । इतः अस्मात् । सलिलात् सरसः । अनेकवारम् अमृतम् । गगनम्
 आकाशम् । समुत्पतन्ती समुद्गच्छन्ती^९ । इयमपि एवापि । शफरी मत्स्यी^{१०} । भवत्या तव । नयनयुगेन
 नेत्रयुगलेन । अपहृतविभ्रमा अपहृतः स्वीकृती विभ्रमः शोभा याया सा । पूत्करोति पूत्कारं करोति^{११} । ध्रुवं
 निश्चयः । उत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥ इदमिति । तद्वसविलम्बिवामबाहुः तस्या^{१२} नायक्या असे भुक्तिशिरसि विलम्बो
 अवलम्बी^{१३} वामबाहुर्हस्य सः । युवा तरुणः । सरसि सरोवरे । अनेपं मङ्गलम् । सलिलनिवासि जल-
 निवासि । मनोजसत्त्ववृत्तं^{१४} मनोज्ञाना मनोहराणां सत्त्वाना जीवाना वृत्त वर्तनम् । [इदमिदमिति] इदमेतत्
 [इति] । 'कोप्तायाम्' (इति) द्विः । दर्शयन्^{१५} बोधमाणाः । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्य ताम् ।
 अर भृशम् । अयत अगच्छन् । अय गतौ लट् । (अरमयत रमय माप—इति वा) । कुलकम् ॥ ३९ ॥

गति (चाल) सोखनेके लिए बार-बार आ-जाकर अभ्यास कर रही हो ॥ ३५ ॥ कमलिनिके
 रसको छोड़कर इसी ओर आता हुआ यह मधुरस्वरवाला भोग भी, हे मुन्दर मुखवाली प्रिये !
 तेरे स्वामाधिक सुगन्धमे युक्त मुखको, जान पड़ता है मेरे ही समान पाना चाहता है ॥ ३६ ॥
 हे मुन्दरबालोंवाली ! अपनी विमुख-प्रसन्न पत्नीको बहुत-सी मोठी बातोंमें समझाता हुआ यह
 चकवा, लगता है मुझे भी, क्रुद्ध प्रियाको प्रसन्न करनेवाली विकनी-चुपडी बातोंका उपदेश दे
 रहा है ॥ ३७ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! यह मछली भी सरोवरके डम जलमे बार-बार ऊपर
 आकाशकी ओर उछल रही है । जान पड़ता है तुमने अपनी आँवोंमे उपकी शोभा छीन ली
 है, जिससे यह पूत्कार कर रही है ॥ ३८ ॥ सरोवरमे अपनी चकोरलोचना प्रियाको
 एक युवकने—जो उसके गलेमें अपना बायाँ हाथ डाले हुए था—'यह देखो, यह देखो' ऐसा
 कहकर जलमें रहनेवाले सभी सुन्दर जन्तुओंकी विशेषताएँ दिखलाकर प्रसन्न किया ॥ ३९ ॥

१. आ आ इ 'निकवारम् । २. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि सम्पुल्लभ्यते । ३. उत्प्रेक्षा । ४. कमलिनो-
 समुद्गसम् । ५. तत्संबुद्धौ । ६. प्रकोपकरतायाः । ७. आ दिशि । ८. सर—सलिलादित्यर्थः । ९. आ सम-
 नुपाता । १०. आ मत्स्यौ । ११. आ पूत्करोति पूत्कारं करोति । १२. नायिकायाः । १३. विलम्बते इत्येवं
 वाकः । १४. सलिलनिवासिमनोजसत्त्ववृत्तं सलिलनिवासिना मनोजसत्त्वाना मनोहराणिना वृत्तं चेष्टितम् ।
 १५. प्रदर्शयन् ।

मुकमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा सुमगतनोररविन्दमध्यगायाः ।
 सरसिजमिदमित्युपेत्य 'शाठ्याद्विदिततत्त्व इवापरश्चुम्बम् ॥ ४० ॥
 सरसिजजरजसारुणे सपत्न्याः स्तनयुगले नखशङ्कया कृतेर्ष्या ।
 किमपि न द्यितं जगाद् काचित्परमवधीत्परिमङ्गुरैः कटाक्षैः ॥ ४१ ॥
 निजमधुरविलासशोभितानां सलिलविहारजुषां विलासिनीनाम् ।
 वदनशशिजिताम्बुजानुमम्बलौ दूरमल्लिना^१ नु मृणालिनी जनौधैः ॥ ४२ ॥
 अधरदलगतं निधाय रागं स्ववपुषि यावकसंभृतं बधूनाम् ।
 विदधति हृदयं स रागमासां विनिमयवृत्तिमशिश्रियञ्जलानि ॥ ४३ ॥

मुखमिति । अरविन्दमध्यगायाः^३ अरविन्दस्य कमलपुष्पस्य मध्यगाया मध्यं यतायाः । सुमगतनोः मनोहरा-
 ङ्गयाः । असदृशविभ्रमः अमदृशरसमानैर्विभ्रमैः^४ शोभाभिः । मुखं वदनम् । विदित्वा ज्ञात्वा । इदम् एतत् ।
 सरसिजं सरसि (सी) दृष्टम्, इति, उपेत्य समीपं गत्वा । अवदिततत्त्व इव अवदितं तत्त्वं स्वरूपं येन स
 (इव) । अपर, कविश्च पुरुषः । शाठ्यात् शाठ्यत् । चुम्बम् चुम्बति स्म । चुम्बु^५ बध्नसयोगे लिट् ॥ ४० ॥
 सरसीति । सापत्याः प्रतिकूलचित्रयाः । स्तनयुगले स्तनयोः कुचयोर्गुणले गुग्मे । सः सितजरजसा सः सितस्य
 कमलस्य रजसा पाशुना^६ । बध्ने लोहिते सति । नखशङ्कया नख, करग्रह इति शङ्कया सन्देहेन । कृतेर्ष्या
 कृताम्या । कश्चित् वनिता । द्यितं पुरुषम् । [न] किमपि यत्किमपि (न किञ्चिदपि) । जगाद् ब्रवीति
 स्म । (किन्तु) परिमङ्गुरैः बर्कैः । कटाक्षैः अपाङ्गदङ्गैः । परम् अधिकम् । अवधीत् बाधयति स्म । हन्
 द्विषामत्योलूङ्^७ । उल्लेखः (?) ॥ ४१ ॥ निजेति^८ मृणालिनी कमलिनी । सलिलविहारजुषां^९ सलिलस्य
 जलस्य विहार क्रोडा जुषा सेवमानानाम् । निजमधुरविलासशोभितानां निजानां^{१०} मधुरेण मनोहरेण विलासेन^{११}
 विरोदेन शोभितानां वराजितानाम् । विलासिनीनां वनितानाम् । वदनशशिजिताम्बुजा वदनानि मुखाभ्येव
 शशिनश्चन्द्राः । तैजितानि पशजितान्यम्बुजानि सः मिजानि यस्याः सा, सती । मम्बली म्बायति स्म । म्बे गान्-
 विनामे लिट् । नु किम् । जनौधैः जनसमूहैः । दूरम् ईषत् । मल्लिना मल्लिना । नु किम् । संलय. ॥ ४२ ॥
 अधरेति । बधूना वनितानाम् । अधरदलगतम् अधर ओष्ठ स एव दलं परलवः तद्गतम् । यावकसंभृतं
 यावकेन संभृतं संभृतम् । रागम्^{१३} अरुणम् । स्ववपुषि निजगते । निधाय स्थापयित्वा । आसाम् एतासां
 नारीनाम् । हृदयं चित्तम् । साराग रागेण सहितम् । विदधति कुर्वति । जलानि सलिलानि । विनिमयवृत्ति
 विनिमया ग्रहणप्रतिग्रहणरूपा वृत्ति वर्तनाम् । अशिश्रियन् भ्रजन्ति स्म । सरोजलानि स्वयं स्त्रीणां

दूसरे युवकने कमलके बोचमे खड़ी हुई अपनी सुन्दर शरीरवाली प्रियाके मुखको, उसके असा-
 धारण विलासोंसे जानकर भी अनजानके समान निकट जाकर कमल बतलाते हुए धूर्तता पूर्वक
 चूम लिया ॥ ४० ॥ स्नान करते समय एक नायिकाका स्तनयुगल कमलकी परागसे लाल हो
 गया, जिससे उसकी सौतकी नखझतकी शङ्का हो गई । फलतः उसके हृदयमें ईर्ष्या उत्पन्न
 हो गई, पर उसने पतिसे बड़ा कुल भी नहीं, केवल कुटिल कटाक्ष बाणोंसे उसके ऊपर प्रहार
 किया ॥ ४१ ॥ एक कमलिनीकी म्लान देखकर दर्शक अपने मनमें यह सोचने लगे कि अत्यन्त
 सुन्दर विलाससे अलंकृत जलक्रोडा करनेवाली विलासिनियोंके मुखचन्द्रसे अपने कमलोंका पराभव
 देखकर यह कमलिनी मुरझा गई है या स्नान करनेनाले पुरुष वर्गके द्वारा मसली जानेसे ?
 ॥ ४२ ॥ जलाशयके जलने नायिकाओंके अधर और पेरोंके माहुरका राग-लाल रंग लेकर

१. अ साक्षात् । २. अ आ इ क ख ग च दूरमल्लिता । ३. = अरविन्दानां कमलाणां मध्यं
 मध्यभागं गच्छतीति अरविन्दमध्यगा, तस्याः । ४. = विनामे । ५. आ चुम्बि । ६. सा पाशुना । ७. सा वध
 द्विषामां लुङ् । ८. न नोचेति । ९. = सलिलविहारं जुषन्ते सेवन्ते-आ- ताः, तासाम् । १०. = निजेन ।
 ११. = विभ्रमेण । १२. सा अविकेति । १३. = आरुण्यम् ।

कठिनकुचविचूर्णितोऽप्यपत्तद्वि मुहुर्मुखमिव यो विलासिनीनाम् ।
 व्रजति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम् ॥ ४४ ॥
 कृतदयितविचञ्चना मुहूर्तं यद्वक्तु धारिणि मज्जनं मृगाक्षी ।
 स्फुटमजनि तदङ्गरागगन्धावुपरि परिश्रमतालनीकुलेन ॥ ४५ ॥
 व्रजति मम जलक्रिया समाप्तिं वरतनु तावक एव कान्तितोये ।
 किमपरमधिकं जलैर्विगाढरिति दयितां दृढमालिलिङ्ग कञ्चन ॥ ४६ ॥
 मुखमिदमरविन्दमुन्दरं नः प्रकृतिमभं मुषितं न पङ्कजिन्याः ।
 इति पयसि चिरं निमज्ज्य नायौ ददुरिव दिव्ययिमुस्त्रिमोश्वराय ॥ ४७ ॥

यावकरागं गृहीत्वा तासां पुनः मनोमृगागं ददति^१ स्म—इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ कठिनेति । उमिचयः उर्मोणां तरङ्गाणां चयः समूहः । विलासिनीनां मुन्दरीनाम् । कठिनकुचविचूर्णितः कठिने कर्कशे कुचै रतनैर्विचूर्णितः पेषितः^२ अपि । मुहुः पुनः । हृदि हृदये । अपपत्त पतित स्म । पत्न्यं गती लुट् । 'रुप्रशास्ति—' इत्यादिना अङ् । 'दयदत्य—' इत्यादिना वमागमः । युवतिषु तरुणीषु । बुधोऽपि^३ प्राज्ञोऽपि । विप्रमोहं भ्रान्तिम् । व्रजति खलु गच्छति खलु । जलात्मकानाम् अज्ञानरूपाणाम्, पक्षे जलस्वरूपाणाम् । कैव कथा कैव वात्ता ॥ ४४ ॥ कृतेति । यत् । कृतदयितविचञ्चना कृतं दयितस्य विचञ्चनं यस्यां^४ ता । मृगाक्षी कुक्कुशाक्षी । तत् (?) । धारिणि जले । मुहूर्तं घटिकाद्वयपर्यन्तम् । मज्जनं स्नानम् । अकृत अकरोत् । हुक्ञ् करणे लुट् । तदा तत्समये । तदङ्गरागं तस्या मृगाक्ष्या अङ्गस्य शरीरस्य गन्धान् परिमलात् । उपरि ऊर्ध्वभागे । परिश्रमता पर्यटता । अलिनीकुलेन अलिनीनां भ्रमरोणा कुलेन सम्प्लेहेन । स्फुटं व्यक्तम् । अजनि अजायत । जर्मण्यं प्रादुर्भावे लुट् । अनुमिति ॥ ४५ ॥ व्रजताति । वरतनु भो मनोहरगात्रि । तावक एव तवेवं तावकं तस्मिन् तावक एव । 'युग्मदस्मद्—' इत्यादिना अङ् । तथोपे एकैवे तवक इत्यादेशः । कान्तितोये कान्तिर्देहाकान्तिः सैव तोयं तस्मिन् । रूपम् । मम मे । जलक्रिया अङ्गीडा । समाप्तिं^५ संपूर्णम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतो लट् । विगाढे^६ प्रयाते । जलेः उदके । अपरम् अगम्यन् । अधिकं किम् ? यद् भवति—इत्याद्याहारः । इति, कश्चित् नायक । दयिता वनिताम् । दृढ ग दृढम् । आलिलिङ्ग आलिङ्गति स्म । लिगु गती क्तिट् । ४६ ॥ मुखमिति । नः अस्माकम् । अरविन्दमुन्दरम् प्ररविन्दमिव कमलमिव सुन्दरं कश्चिम् । इदम् एतत् । मुखं वदनम् । प्रकृतिमभं प्रकृत्या स्वभावेन भवं जानम् । पङ्कजिन्याः

(स्वयं लाल होकर) और उनके हृदयमें राग-अनुराग उत्पन्न करके विनिमय-अदल बदलके व्यवहारका पालन किया ॥ ४३ ॥ नायिकाओके कठोर स्तनोके आघातसे चू-चू होकर भी जलके तरङ्ग बार-बार उठें (नायिकाओं) के हृदय पर जा गिरते थे । ठीक है, जब बुधजन भी युवतियोंके मोहमें पड़ जाते हैं तो जड़ों (जल) की क्या बात है ॥ ४४ ॥ एक मृगनयनीने अपने पतिको धोखा देकर धोड़ी देर जलमें डुबकी साध ली । उसका पति उसे इधर-उधर खोजने लगा । इननेमें नायिकाके लेपकी मुगन्धि पाकर उसके ऊपर (जड़ों वह डुबकी साधकर बैठी हुई थी) भीरियोंका झुण्ड मँडराने लगा, जिससे उसका स्पर्श ही पता लग गया ॥ ४५ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली प्रिये ! तुम्हारे कान्तिके जलमे ही मेरी जलक्रीडा समाप्त हो जाती है, फिर जलाशयके जलमें अवगाहन करनेसे और अधिक क्या हो सकता है ? यह कहकर किसी नायकने अपनी नायिकासे गाढ़ आलिङ्गन कर लिया ॥ ४६ ॥ 'हमारा यह कमल जैसा सुन्दर मुख स्वाभाविक है, कमलनीसे चुराया हुआ नहीं है' यह कहकर स्त्रियां जलमें बहुत देर तक डुबकी

१. म मिश्रयो ।

२. वा दधति ।

३. कनिना ।

४. आ रोषितः ।

५. वा पत ।

६. वा बुधोऽपि ।

७. = यथा । ८. = स्वस्वकालं यावत् । ९. आ जनी । १०. = संपूर्णताम् । ११. = कृतप्रवेशः ।

विष्वक्पुत्रलकान्विलासिनोनामधिरुहुर्जघनाभ्युरांसि जघन्तुः ।
 अनवरतनिपातिनस्तरङ्गा निपुणमिधाभ्यसितुं भुजङ्गवृत्तम् ॥४८॥
 मदनरसमिवातिरिच्यमानं मुखगतवारिपदेन विलिपन्ती ।
 प्रियतममभि काचिदाबभासे स्मितरुचिराजितमुखवक्त्रचन्द्रा ॥४९॥
 निपतति कुचमण्डले रमण्याः प्रियरचितः सलिलाञ्जलिर्न यावत् ।
 हृदयमभिषिषेव तावदेव प्रतियुवतेनयनाम्बुनः प्रवाहः ॥५०॥
 सितकुसुमखयैश्च्युतैः कवर्षा वियदिव तारकितं बभौ यदम्भः ।
 समजनि मृगमुखलोचनाया वदनसरोरुहमेव तत्र चन्द्रः ॥५१॥

कमलिण्याः । न मुषिताः न लुण्ठिताः [न मुषितं नापहृतम्] । इति एवम् । नायः वनिताः । पयसि जले ।
 विरं, निमज्ज^१ स्नात्वा । ईदृशगय प्रियतमाय । दिव्यशुद्धि कोशपातं शपथम् । ददुरिव ददति स्मेव । रुदाञ्च
 दाने लिट् । भान्ति । उत्प्रेक्षा ॥४७॥ विष्वक्पुत्ररिति । अनवरतनिपातिनः अनवरत सततं निपातिनः निपतन-
 कोलाः । तरङ्गाः ऊर्मयः । निपुण प्रोढम् । भुजङ्गवृत्त भुजङ्गानां विटागं वृत्तं वर्तनम्^२ । अभ्यसितुम् [इव]
 अभ्यासं कर्तुमिव । विलासिनोना वनिनानाम् । अलकान् चूर्णकुम्भकान् । विष्वक्पुः आकृष्टि^३बहुः । कुव
 विरेक्षने लिट् । जघनानि नितम्बानि^४ । अधिरुहुः आरु(रो)हन्ति स्म । सह बीजजन्मनि^५ लिट् । उरांसि
 वक्षसि । जघ्नुः घ्नन्ति स्म । हन हिसागत्यो^६ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ मदनरसमिति । मुखगतवारिपदेन
 मुखं बभूव गतम् इत वारि सलिलम् इति पदेन व्याजेन^७ । अतिरिच्यमानं वर्धमानम्^८ । मदनरसं मदनस्य मन्मथस्य
 रसं शृङ्गाररसम्—इत्यर्थः । प्रियतममभि प्रियतमं दयितस्याभिमुखम् । 'भातिनि प्रतिपय्युन्मि' इति द्वितीया ।
 विलासनीव बभूवोव । स्मितरुचिराजितमुखवक्त्रचन्द्रा स्मितस्य ईदृशसनस्य चन्द्रा काप्या राजितं विलासितं
 मुखं मनोहरं वक्त्रं मुखमेव चन्द्रो यस्याः सा । रूपकम् । कानित् एका नारी । आबभासे । भासु दोषो
 लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ निपततीति । प्रियरचितः प्रियेण दयितेन रचितः कुतः सलिलाञ्जलिः सलिलस्य
 जलस्याञ्जलिः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । रमण्याः तरुण्याः । कुचमण्डले कुवयोस्तनयो मण्डले प्रदेशे । न
 निरतति न निष्पतति^९ । तावदेव^{१०} तावन्मात्रमेव । प्रतियुवतेः सपत्न्याः । नयनाम्बुनः नेत्रोदकस्य । प्रवाहः
 निर्धरः । हृदयं चित्तम् । अभिषिषेव । पिबू^{११} रुचने लिट् ॥५०॥ सितेति । कवर्षाः केशदेसः । च्युतैः
 पतितैः सितकुसुमखयैः सितानां श्वेतानां कुसुमानां खयैः समुदायैः । तारकितं तारकाः संज्ञाता अस्मिन्निति ।
 'सञ्ज्ञाततारकादिभ्य इत्' इति इत्^{१२}—उत्पद्यः । वियदिव गगनमिव । यद् अम्भः सलिलम् । बभौ राजाज ।
 भा दोषो लिट् । तत्र जले । मृगमुखलोचनाया मृगस्येव मुखं मनोहरे लोचने नयने यस्याः तस्याः । वचन-

लगाकर मानो दिव्य पराक्षाके द्वारा अपने पतिको आत्मशुद्धिका परिचय दे रही थी ॥४७॥
 लगातार ऊपर गिरनेवाले तरंग मानो विटवृत्तिका चतुराईसे अभ्यास करनेके लिए स्त्रियोंके
 बाल खींच रहे थे, जघन प्रदेशके ऊपर चढ़ रहे थे और छातोसे टकरा रहे थे ॥४८॥ एक
 नायिका—जिसका मुखचन्द्र मुसकानकी चाँदनीसे सुशोभित था—अपने पतिके सामने कुरलेके
 बहानेसे मानो अन्दर न समा सकनेवाले शृङ्गाररसको बाहर निकाल रही थी ॥४९॥ नायक
 अपनी एक नायिकाके स्तनोंपर अपनी अञ्जलिका जल डालनेको ही था, इतनेमें उसकी दूसरी
 नायिकाने देख लिया । फलतः अञ्जलिके जल गिरनेसे पहले ही दूसरी नायिकाकी आँखोंसे
 आँसुओंका प्रवाह बहने लगा, जिससे उसका हृदय भीग गया ॥५०॥ एक नायिकाके कंशपाशसे
 गिरे हुए सफेद फूलोंसे सरोवरका जो जल, ताराओंसे व्याप्त आकाशकी भाँति सुशोभित हो

१. आ इ म वृत्तिम् । २. अ मदनरसम् । ३. = कृष्टिवा । ४. = चेष्टितं व्यवहारं वा ।
 ५. वा आकृष्टम् । ६. = नितम्बान् । ७. आ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भव । ८. वा हन हिसायां गतो व ।
 ९. वा वर्तमानम् । १०. वा निशिपाठ । ११. = तावत्पर्यन्तमेव । १२. आ सिच् सचने । १३. आ इत् ।

उदककणचितैर्मितम्बिनीनां नयनयुगः सरसश्च कृष्णपद्मैः ।
 समुपहितमतिभ्रमा बभूवुः क्वचिदपि न स्थितिशालिनो द्विरेकाः ॥५२॥
 क्षणमरुणितलोचना रमण्यः सलिलविहारमपास्य जातलेदाः ।
 ममुरपरि निपत्य कौतुकिन्यो निजजघनैरुलूधूनि सेकतानि ॥५३॥
 अयमुदकहतो व्यधिष्यते त्वां यदि विदधे न मुखानिलेन सेकम् ।
 इति कृतकृतकश्चिरं सवन्तव्रणमधरं दयितः पपौ प्रियायाः ॥५४॥
 अनिमिषकुलसंकुले विशङ्किः पयसि निजप्रतिमानिभेन नेत्रैः ।
 ध्रुवमभिलषितो विलासिनीनां चलशफरीकुलविभ्रमापहारः ॥५५॥

सरोरुहमेव बदनं मुखं तदेव सरोरुहं कमल तदेव । चन्द्रः सोमः । समन्त्रिण अजायत । जर्नद् प्रादुर्भावे लुङ् ।
 रूपकम् ॥५१॥ उदककणचितैः उदकस्य जलस्य कणैर्बिन्दुमिश्रितैः युवतैः । नितम्बिनीनां
 मानिनीनाम् । नयनयुगैः नयनानां लोचनानां युगलैः । सरसः सरोवरस्य । कृष्णपद्मैः नीलं त्र्यलक्षम् ।
 समुपहितमतिभ्रमाः समुपहितः कृतो मतेबुद्धेर्भ्रमो भ्रान्तियेवा ते । द्विरेकाः भ्रमराः । क्वचिदपि
 कस्मिंश्चित् [अत्र] प्रदेशे । स्थितिशालिनः^३ स्थित्या शालिनः । न बभूवुः न भवति स्म । भ्रान्ति-
 बदलङ्कारः ॥५२॥ क्षणमिति । क्षण क्षणपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्गोष्ठो' इति द्वितीया । अरुणितलोचनाः
 अरुणितं लोहितं लोचने नयने यासा ता । रमण्यः वनिताः । जातलेदाः आतायासा । सलिलविहारं
 जलक्रीडाम् । अपास्य त्यक्त्वा । कौतुकिन्यः कौतुहलिन्यः सस्यः । निजजघनैः^४ निजानां जघनैः । उलूधूनि
 महागतिः । सेकतानि पुलिनानि । उपरि अग्रे । निपत्य स्थित्वा । ममः प्रमाणं स्म ॥५३॥ अयमिति ।
 मुखानिलेन मुखस्यानिलेन वायुना । सेकं सेवनम् । यदि न विदधे न करोति (मि) स्म । उदकहृतः उदकेन
 सलिलेन हृतो बाधितः पीडितः । अयम् अधरः । त्वां व्यधिष्यते^५ बाधिष्यते । व्यध^६ ताडने नृद् । इति
 एवम् । कृतकृतकः कृतः कृतको येन सः, कृतकपट इत्यर्थः । दयितः नायकः । सवन्तव्रणं दन्तजातं व्रणं
 (दन्तव्रणं, दन्तव्रणो वा) तेन सह वर्तते इति सवन्तव्रणः, तम् । अधरम् ओष्ठम् । प्रियायाः भार्यायाः ।
 चिरं पपौ पिबति स्म ॥५४॥ अनिमिषेति । अनिमिषकुलसंकुले अनिमिषाणां मत्स्यानां कुलेन निबद्धेन
 संकुले संकीर्णे । पयसि सलिले । निजप्रतिमानिभेन निजानां प्रतिमा इति निजैः व्याजेन । विशङ्किः गच्छङ्किः ।
 विलासिनीनां लीलमन्त्रिणीनाम् । नेत्रैः नयनैः । चलशफरीकुलविभ्रमापहारः चलानां चलन्तीनां शफरीणां
 मत्स्यवनितानां कुलस्य समूहस्य विभ्रमस्यापहारः परिहारः । ध्रुवं निरवयम् । अभिलषितः बाञ्छितः ।

रहा था, उसमें मृगनयनीका मुख ही चन्द्रमाकी छवि दे रहा था ॥५१॥ नायिकाओंके पानीकी
 बिन्दुओंसे व्याप्त नेत्रों और सरोवरके नीले कमलोमें भोरोकी बुद्धिभ्रम हो गया, जिससे वे
 कही भी स्थित नहीं हो सके—कभी नेत्रोंकी ओर तो कभी नीलवमलोकी ओर दीड़ते ही रहे
 ॥५२॥ कुछ स्त्रियाँ जब थक गईं और उनकी आँखें लाल हो गईं, तब वे जलक्रीडा बन्द
 करके थोड़ी देरकी बड़े-बड़े रेतोले प्रदेशोंके ऊपर चढ़कर जा बैठी । अपने नितम्बोंसे उन
 प्रदेशोंकी वे मापने लगी, तो उन्हें बड़ा कौतूहल होने लगा, यह जानकर कि वे प्रदेश ठीक
 उनके नितम्बोंके मापके हैं ॥५३॥ 'यदि मैं अपने मुखकी वायु (फूँक) से सेक न कहूँ तो
 दन्तक्षतसे घायल, तेरा यह अधर पानी पड़नेसे तुझीको दुःखी कर देगा, यह छल भरी बात
 बनाकर किसी नायकने काफी समय तक अपनी प्रियाके अधरका पान किया ॥५४॥ मछलियोंसे
 व्याप्त जलमें परछाईके बहाने प्रवेश करनेवाले स्त्रियोंके नेत्रोंने मानो चञ्चल मछलियोंकी

१. स. उपहितमतिभ्रमाः । २. = व्याप्तैः । ३. = स्थिराः । ४. = स्वजघनैः । ५. वा व्यधिष्यते ।

वनजवनगताः करेण लीलाकमलमुदुद^१शिलीमुखं बहन्त्यः ।

भ्रियमनुविदधुर्नरेन्द्रजाया जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः ॥५६॥

निजभुजयुगलैरुदस्य जाया जघनभरेण पदे पदे स्खलन्तीः ।

कृतमुदमुदतारयन्तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपा युवानः ॥५७॥

कुवलयनयनाभिरस्यमानान्यनुपुलिनं सरसानि रागवन्ति ।

मुमुक्षुरिव शुचाभ्रणः प्रवाहं स्रवणपदेन पुरातनांशुकानि ॥५८॥

उत्प्रेक्षा (अपङ्गुतिश्च) ॥५५॥ वनेति । वनजवनगताः वनजानां जलजानां वनं वण्डं गता याताः । 'प्रलवणप्रवासनिवासवारिकान्तरेषु वनम्' इति नानार्थकोशे । उदुदशिलीमुखम् उदुदः संघृतः शिलीमुखो भ्रमरो यस्मिन् तत् । 'अलिबाणो शिलीमुखी' इत्यमरः । लीलाकमलं लीलाकं घृतं कमलं तथोक्तम् । करेण पाणिना । बहन्त्यः घातयः । जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः जलस्योदस्य कणौ बिन्दुभिर्मण्डितौ पीनौ महास्तो पाण्डु शुभ्रौ कपोलौ यासां ताः । नरेन्द्रजायाः नरेन्द्रस्य चक्रवर्तिनी जाया वनिताः । भ्रियं लवमौ देवीम् । अनुविदधुः अनुकुर्वन्ति स्म । उपमा ॥५६॥ निजेति । जघनभरेण जघनानां भरो भारः, तेन । पदे पदे पदविन्यासे पदविन्यासे । वीप्सायां द्विः । स्खलन्तीः, जायाः रमणीः । निजभुजयुगलैः निजानां भुजानां बाहूनां युगलं युग्मम् । उदस्य उदधुः । तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपाः तदीयानां तासां संबन्धना^२ स्तनानां कुक्षानां परिमर्शने स्पर्शने । लोलुपाः लम्पटाः । युवानः तरुणाः । कृतमुदं कृता मुदो यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । उदतारयन् उत्तारयन्ति स्म । तु प्लवनतरणयोः निजस्ताम्लङ् ॥५७॥ कुवलयेति । कुवलय-नयनाभिः कुवलयमिव उत्पन्नमिव नयने नेत्रे यासां ताभिः । अनुपुलिनं पुलिनस्यानु अनुपुलिनं तस्मिन् अनु-पुलिनम् । 'सत्तम्भा' इति वाम् । अस्यमानानि मुच्यमानानि । सरसानि^३ सार्द्राणि रागवन्ति अरुणवर्ण-युक्तानि । पुरातनांशुकानि पुरातनानि पूर्वं धनानि अंशुकानि वस्त्राणि । स्रवणपदेन स्रवणस्य स्पन्दनस्य पदेन व्याजेन । शुचा शोकेन । अध्रुणः नेत्राभ्युनः । प्रवाहं निर्गमः । मुमुक्षुरिव मुञ्चन्तिस्मेव । उत्प्रेक्षा

शोभा चुरानेका सङ्कल्प कर लिया था ॥५५॥ चक्रवर्ती अजितसेनकी रानियाँ कमलके वनमें खड़ी हुई थीं, उनके हाथोंमें कमल थे—जिनके ऊपर भीर बैठे हुए थे, उनके भरे हुए कपोल जल-बिन्दुओंसे अलंकृत थे । अतः उस समय वे लक्ष्मीका अनुकरण कर रही थी ॥५६॥ नितम्बके बोझसे जो युवतियाँ पग-पग पर फिसल रही थीं उन्हें उनके स्तनोंके स्पर्शके लोभो पतियोंने अपने बाहुओंसे उठाकर प्रसन्नता पूर्वक घाटके ऊपर पहुँचा दिया ॥५७॥ नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियोंने गीले (रसिक) रंगीन (अनुरागयुक्त) जिन पुराने कपड़ोंको किनारे पर उतार दिया, उनसे पानी निकल रहा था । अत एव ऐसा जान पड़ता था मानो वे

विश्रामस्यर्थं समनुसरति प्रस्थमम्भोधराध्व-
 आन्त्युद्भूतभ्रम इव रक्षौ पश्चिमस्याचलस्य ।
 गत्वा भूपः पुरमुत्थवांस्यस्ततोयावगाह-
 अके कृत्स्नं सह परिजनैरक्षपानादिकृत्यम् ॥५९॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिद्विषाङ्कचन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये नवमः सर्गः ॥९॥

॥५८॥ विश्रामस्यर्थं^१ । रक्षौ सूर्ये । अम्भोधराध्व आन्त्युद्भूतभ्रम इव अम्भोधराध्वनो गगनस्य आन्त्या
 भ्रमणेनोद्भूत उत्तराध्वः अथो यस्य तस्मिन्निव । पश्चिमस्य अपरदिक्स्थस्य पर्वतस्य । प्रस्थ सानुम्^३ ।
 विश्रामस्यर्थं विश्रामार्थम् । समनुसरति समनुगच्छति सति । त्यक्ततोयावगाहः त्यक्तो मुक्तस्तोयस्य जलस्या
 वगाहः क्रोडा येन सः । उदयवान् ऐश्वर्यवान् । भूपः चक्रवर्ती । पुरं नगरीम् । गत्वा एत्य । परिजनैः ।
 भृत्यजनैः । सह साकम् । अक्षपानादि भोजनपानादि । कृत्स्नं सकलम् । कृत्यं कार्यम् । चक्रे करोति स्म ।
 सरप्रेक्षा ॥५९॥

इति वीरनन्दिद्विषाङ्कचन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वाम्भोवह्नुनामये
 नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

शोकके कारण आँसू बहा रहे हों ॥५८॥ आकाशमे भ्रमण करनेसे सूर्य मानो थककर विश्राम
 करनेके लिए अस्ताचलके शिखरकी ओर चल दिया । यह देखकर चक्रवर्ती अजितसेन जो
 उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा था—जलक्रोड़ा बन्द करके पुरकी ओर चला गया । वहाँ जाकर
 उसने अपने परिवारके लोगोके साथ भोजन आदि सभी आवश्यक कार्य किये ॥५९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें
 नवां सर्ग समाप्त हुआ ॥९॥

१. क ख ग घ म भूयः । २. आ विश्राम्नि इति, या विश्राम्तीति । ३. आ स्थानम् ।

[१०. दशमः सर्गः]

इतरेषु जनेषु का कथा न सुरेष्वप्युदया निरत्ययाः ।
इति सूचयितुं शरीरिणां रविरस्ताद्रिमथाधिशिथिल्यै ॥१॥
प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैरिव क्षतः ।
तनुमावहति स्म भानुमानरुणाम्बोरुहभारसंनिभाम् ॥२॥
दिवसाधिपवल्लभागमे वरुणशा परिलोहितानना ।
स्वयमेव समेत्य कुक्कुर्मैः कृतचर्चय रराज संभ्यया ॥३॥
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कुच्छगतोऽपि पूज्यते ।
शिरसास्तमयेऽप्यवीधरघदशीतद्युतिमस्तभूधरः ॥४॥

इतरेष्विति । अथ बलक्रीडानन्तरम् । सुरेष्वपि देवेष्वपि । उदयाः प्रभुदयाः । निरत्ययाः निर्बाधाः । न नमयन्ति । इतरेषु अन्येषु । जनेषु लोकेषु । का कथा का वार्ता । रविः सूर्यः । शरीरिणां जीवानाम् । इति परमार्थवचनम् । सूचयितुं दर्शयितुम् (इव) । अस्ताद्रिः पश्चिमाद्रिम् । अधिक्षिप्तिवे अधिप्रयति स्म । उत्प्रेक्षा ॥१॥ त्रियेति । प्रियसङ्गं समुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैः प्रियाणां दयितानां सङ्गं संयोगे समुत्सुकानामुद्युक्तानामङ्गनानां नयनानां नेत्राणां प्राग्भाः अपाङ्गास्त एव क्षरा बाणाः, तैः । क्षत इव घातित इव । भानुमान् सूर्यः । अरुणाम्बोरुहभारसंनिभाम् अरुणाम्बोरुहाणां रक्तसरोरुहाणां भारस्य समूहस्य संनिभां समानाम् । तनुं गानम् । आवहति स्म भरति स्म । बहो^१ प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ दिवसेति । वरुणाणां वरुणा पश्चिमा दिक् सीताया स्त्री । रूपकम् । दिवसाधिपवत्तमागमे दिवसाधिपः सूर्यः स एव बलकमो नायकः तस्यागमं आगमनं, तस्मिन् । परिलोहितानना परिलोहितमरुत्मानं मुखं यस्याः सा । स्वयमेव, समेत्य प्राप्य । कुक्कुर्मैः काश्मीरजैः । कृतचर्चा इव कृता चर्चा स्नानं लेपनं वा यस्याः सा इव । सन्ध्यायां सन्ध्याप्रागेण । रराज भाति स्म । राजञ्ज् दीप्ती लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥ परेति । यत्, अस्तभूधरः अस्ताचलः । अशीतद्युतिम् अशीता लब्धा द्युतयः कान्तयो यस्य तम्, सूर्यम्-इत्यर्थः । अस्तमयेऽपि अस्तमान (मन) काले, पक्षे नाशसमयेऽपि । शिरसा मस्तकेन । अदोघरत् भरति स्म । धृञ् धारणे निजन्तात्लुङ् । परकृत्यविधौ परैवामग्न्येषां कृतपस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । समुद्यतः समुद्युतः । पुरुषः पुमान् । कुच्छगतोऽपि कुच्छं कष्टं गतोऽपि प्राप्तीऽपि, पक्षे विगतपुच्छोऽपि । पूज्यते हि महीयते हि । अर्थान्तरम्भासः ॥४॥

इसके पदवात्—‘जब देवोंका भी अभ्युदय निर्बाध नहीं है, तो और लोगों की बात ही क्या है’ मानों यह सूचना, समस्त प्राणियोंको देनेके लिए सूर्यने अस्ताचलका आश्रय लिया ॥१॥ अपने-अपने पतिके समागमके लिए उत्सुक नायिकाओंके कटाक्ष-बाणोंने भानो सूर्यको घायल कर दिया, फलतः उसका शरीर रक्त कमलोंके समूहकी भाँति बिलकुल लाल हो गया ॥२॥ सूर्य रूपी नायकके आते ही पश्चिम दिशा रूपी नायिकाका मुख (अगला भाग) लाल हो गया । इतनेमें संध्या (उसकी सखी) आ गयी । उससे वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो उसके शरीरपर कुंकुमका लेप कर दिया गया हो ॥३॥ जो पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए उद्यत रहता है, वह आपद्ग्रस्त होनेपर भी पूज्य होता है दूसरोंके द्वारा सम्मानित होता है । मानों इसीलिए

१. अ 'बाधाधिथिल्ये' । २. अ 'रुहभारसंनिभाम्' । ३. आ वह, वा वहि । ४. आ 'वने' । ५. = यया । ६. आ राज् । ७. आ 'उत्प्रेक्षा' इति नास्ति ।

मयि पश्यति मामिभूयतां तमसेद् मलिनात्मना जगत् ।

इति तर्कयतेष्व मण्डलं दिनभत्रान्तरधीयतात्मनः । ५॥

बलवान्विचारेव देहिनां न सहाया न मतिर्न पौरुषम् ।

तमसा स तथा प्रतापवान्दिननाथोऽपि यदभ्यभूयत ॥६॥

विषये गुणवद्विचरिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः ।

गगनं हि तमोभिरावृतं मलिनैरस्तमिते दिनाधिपे । ७॥

कृतवीतरवैर्विहङ्गमैर्निजनीडाभिमुखैः समाकुलाः ।

वियुता इव पद्मवन्धुना प्रविलापं विदधुर्विगङ्गनाः ॥८॥

मयीति । मयि पश्यति सति बोध्यमाणे^१ सति । इदम् एतत् । जगत् विष्टपम् । मलिनात्मना मलिनो मली-
मस आत्मा स्वकृतं यस्य तेन । तमसा अन्धकारेण । मामिभूयता तिरस्कारो मा क्रियताम्^२ । भू सत्ताया
कर्मणे लोड^३ । इति एवम् । तर्कयतेष्व विचारयतेष्व । दिनभत्रा सूर्येण । आरमगः स्वस्य । मण्डलं बिम्बम् ।
अन्तरधीयत व्यवधीयते स्म । दुष्पात्रं धारणे च^४ कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा । ५॥ बलवानिति । तथा तेन
प्रकारेण । प्रतापवानपि प्रतापयुक्तोऽपि । स दिननाथः सूर्यः । यत् यस्मात्कारणात् । तमसा तिमिरेण ।
अभ्यभूयत तिरस्क्रियते स्म । (तत्) देहिना बोधानाम् । विचारेव बभूव । बलवान् बलवत् (सबलः) ।
सहायाः बलवन्तो न भवन्ति । मतिः बुद्धिः । न, बलवतो न भवति । अर्थात्तरस्यासः ॥६॥ विषय इति ।
दिनाधिपे सूर्ये । अस्तमिते अस्तं गते सति । मलिनैः मलीयसैः । 'मलादोममद्व' इति ईमसं^५—प्रत्ययः ।
तमोभिः तिमिरैः । गगनं हि आकाशं हि । आवृतं व्याप्तम् । गुणवद्विचरिते^६ गुणवद्विगुणवतैः पुरुषै-
र्विचरितं रहितं । विषये देशे । गुणहीनाः गुणहीना रहिताः । प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । का गतिः गतिः ।
का ? गुणवद्विचरितेऽपि देशे गुणहीनानां स्थित्यभावे तेषां गति का^७ इत्यर्थः ॥७॥ कृतेति । कृतवीतरवै-
रुता विहिता वीर्यताः तारा रवाः स्वरा ये, ते । निजनीडाभिमुखैः निजानां स्वेषा नीडानां कुलायानामभि-
मुखैरभिमुखं गच्छद्भिः । विहङ्गमैः पक्षिभिः । समाकुला व्याप्ताः । विगङ्गनाः^८ विष्णु ककुत्मु विद्यमाना
अङ्गनाः कन्यकाः । पद्मवन्धुना पद्मस्य कमलस्य बन्धुराग्नयः, तेन, सूर्येण—इत्यर्थः । वियुताः विरहिताः ।

अस्ताचलने डूबते समय भी सूर्यको अपने मस्तक (शिखर) पर धारण किया ॥४॥ मेरे देखते
हुए—मेरी दृष्टिके सामने, यह जगत् मलिन (कृष्णवर्ण, पापी) अन्धकारसे अभिभूत न हो,
मानो यह सोचकर सूर्यने अपने मण्डलको छिपा लिया—सूर्य डूब गया ॥५॥ जब प्रतापी सूर्य
भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत कर दिया गया, तब तो यही कहना चाहिए कि
प्राणियोंका भाग्य ही बलवान है, न कि सहायक, बुद्धि और पुरुषार्थ ॥६॥ जिस देशमें गुणवान्
नहों रहते, उसमें निर्गुणोंकी प्रभुता हो जाती है । इसका उपाय ही क्या है ? इसीलिए न,
सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने आकाशको घेर लिया ॥७॥ जोर-जोरसे शब्द करते हुए
पक्षी अपने-अपने घोंसलोंको ओर जाने लगे, तो सभी दिशाएँ उनसे व्याप्त होकर ऐसी प्रतीत

१. आ बोध्यमाणे । २. = न तिरस्क्रियताम् । ३. ला सेट् । ४. आ 'च' नास्ति । ५. आ इम ।
६. एव टीकाशयः पाठः, प्रतिपुत्र 'गुणवद्विचरिते' इत्येव वर्तते । ७. = उपायः । ८. = एव इति यावत् ।
९. = विषय एवाङ्गना विगङ्गनाः ।

ककुभो मलिनात्मनाखिलं तमसा ध्यातमवेत्य धिष्टपम् ।
 ययुरस्तमुपागते रवाधिष विध्वंसमयाद्दृश्यताम् ॥९॥
 अधभास्य जगद्गृहं करै रविदीपे विरतिं गते तमः ।
 प्रसरद्दृशे शनैः शनैरिष तत्कज्जलमम्बरे जनः ॥१०॥
 तमसाखिलमेव कुर्वता निजसङ्गेन अण्मलीमसम् ।
 इति देहवतां स्फुटीकृतं गुणदोषाः सवस्तप्रसङ्गजाः ॥११॥
 विनिवृत्तिनिजाह्निकक्रियं विगतालोकमुपात्तसंभ्रमम् ।
 परिवृत्तिमगादिवाखिलं भुवनं संतमसावगुण्ठितम् ॥१२॥

प्रविलापं प्रलापम् । विदधुरिष चक्रुरिष । भान्ति स्म । हुवाब् धारणे च^१ लिट् । उपप्रेक्षा ॥८॥ ककुभ इति ।
 रवौ सूर्ये । अस्त^२ परोक्षम् । उपागते याते सति । मलिनात्मना मलिनो मलीमसः आत्मा यस्य, तेन ।
 तमसा तिमिरेण । व्याप्तम् आवृतम् । अखिलं निखिलम् । धिष्टपं भुवनम् । अवेत्य आत्मा । ककुभः दिशः ।
 विध्वंसमयादिष विध्वंसाद् नाशाज्जातमयादिव भोतेरिष । अदृश्यतां नयनविषयामावम् । ययुः यान्ति स्म ।
 या प्रापणे लिट् । उपप्रेक्षा ॥९॥ अधभास्येति । रविदीपे रविरेव दीपः प्रदीपः, तस्मिन् । करैः किरणैः ।
 जगद्गृहं जगदेव गृहं मन्दिरम् । अवभास्य^३ प्रकाशनं कृत्वा । विरतिं विरामम् । गते याते सति । अम्बरे
 गगने । शनैः शनैः मन्द मन्दम् । प्रसरत् व्याप्नुवत् । तमः तमिस्रम् । जनैः लोकैः । तत्कज्जलमिव तस्य
 रविदोषस्य कज्जलमिव मसिकेव^४ । ददृशे दृश्यते स्म । दृष्टुं प्रेक्षणं लिट् । उपप्रेक्षारूपकयोः सङ्करः
 ॥१०॥ तमसेति । निजसङ्गेन निजस्य सङ्गेन संगेण । अखिलमेव निखिलमेव । जगत् भुवनम् । मलीमसं
 मलम् (मलो) अस्य अस्तोति मलीमसं पुनस्तत् । 'मलादीममश्च' इति ईमस—प्रत्ययः । कुर्वता विध्वता ।
 तमसा तिमिरेण । देहवता देहः शरीरमस्येषामिति देहवन्तः, तेषाम्, संसारिणाम्—इत्यर्थः । ॥ गुणदोषाः^५
 गुणाश्च दोषाश्च तथोक्ताः । सवस्तप्रसङ्गजाः सता सत्पुरुषाणामसता दुर्जनाणां प्रसङ्गजाः संगेण जाताः ।
 इति एवम् । स्फुटीकृतं प्रागस्फुटमिदानीं स्फुटं क्रियते स्म स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्—इत्यर्थः ॥ दृष्टान्तः (?)
 ॥११॥ विनिवृत्तेति^६ । विनिवृत्तिनिजाह्निकक्रियं विनिवृत्ता निरस्ता निजस्य स्वस्याह्निका दिवसे प्रवर्तमाना
 क्रिया व्यापारो यस्य तत् । विगतालोकं विगतो रहित आलोको यस्य तत् । उपात्तसंभ्रमम् उपात्तं स्वीकृतः
 संभ्रमोऽनवधिषति भयं वा येन तत् । 'संवेगमयादरेत् संभ्रमः' इति तानार्थकोशे । संतमसावगुण्ठितं संतमसेन
 समन्ताद् विलमानेन तमसा अवगुण्ठितमाच्छादितम्, (पक्षे) अज्ञानान्धकारेणावगुण्ठितम् । अखिलं निखिलम् ।
 भुवनं धिष्टपम् । परिवृत्तिं व्यस्तवृत्तिम्, पक्षे उन्मत्तवृत्तिं तिरस्कारं वा । अगादिष अयादिष । इण् गतो लुट् ।

होने लगी मानों सूर्य (पति) से वियुक्त होकर वे विलाप कर रही हैं ॥८॥ सूर्यके अस्त होते
 ही मलिन अन्धकारने सारे संसारको घेर लिया, यह देखकर सभी दिशाएँ मानो विध्वंसके भयसे
 अदृश्य हो गई ॥९॥ जगत् रूपी घरको प्रकाशित करके सूर्य रूपी दीपकके अस्त होते ही लोगों-
 ने आकाशमें धीरे-धीरे उसके कज्जल सरीखे प्रतीत होनेवाले अन्धकारको फैलते देखा ॥१०॥
 अपने संसर्गसे सारे संसारको मलिन करते हुए अन्धकारने, समस्त प्राणियोंके सामने इस बात-
 को स्पष्ट कर दिया कि गुण और दोष, क्रमशः अच्छे और बुरे संसर्गसे हुआ करते हैं ॥११॥
 अन्धकारका आवरण या पर्दा पड़ जानेसे सारा संसार बिलकुल बदल-सा गया । उसने दिनमें
 होनेवाली सारी क्रियाएँ छोड़ दीं, उसका प्रकाश समाप्त हो गया और उसे भय भी उत्पन्न हो
 गया । फलतः वह पागल सरीखा जान पड़ने लगा । पागल दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त रहता है

१. आ 'च' नोपलभ्यते । २. = अस्ताचलम् । ३. = प्रकाश्य । ४. अ मसिकेव । ५. आ दृशिर्, ।
 ६. आ स्वस्तिकाभ्यर्गतः पाठो नास्ति । ७. अ विनीति । ८. अ 'धरेयु ।

न जहाति पुमान्कृतकृत्यमष्टमकेऽपि निसर्गनिर्मलः ।
 रक्षिणा गमितः समुच्चति सह तेनास्तमियाय वासरः ॥१३॥
 गुणवान्समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः ।
 दिवसापगमे मलीमसं कमलं पश्य समुज्झितं श्रिया ॥१४॥
 ककुभां विवरेषु तारका विहृतध्वान्तलवाश्चकासिरे ।
 गलिता इव मित्रविप्लवे गगनस्योग्रशुचोऽश्रुबिन्दवः ॥१५॥
 गलिताश्रुभिरार्तनिःस्वनैर्बहलध्वान्तमयीमलीमसैः ।
 विरहानलधूमधूसरैरिव चक्राह्वयुगैर्व्ययुज्यते ॥१६॥

‘गैरयोः’ इति गायेयः । उपप्रेक्षा ॥१२॥ नेति । रक्षिणा सूर्येण । समुच्चति महोन्नतिम् । गमितः प्रापितः । वासरः
 विषयः । तेन सूर्येण । सह साकम् । अस्तं नाशम् । इयाय अगाम । इण् गतो लिट् । निसर्गनिर्मलः निसर्गेण
 स्वभावेन निर्मलो मलरहितः । पुमान् पुरुषः । असुभञ्जेऽपि असूना प्राणाना भन्तेऽपि नाशेऽपि । कृतकृत्यो उपकार-
 स्मरणत्वम् । न जहाति न त्यजति । बोद्धाक् त्यागे लट् । अश्रुवन्तिरन्त्यासः ॥१३॥ गुणवानिति । गुणवान्
 गुणसहितः । जनः लोकः । सेव्यता पूज्यताम् । समुपैति संयाति । गुणहीनात् गुणहीनाद् रहितात् ।
 अपरज्यते^१ अपसरति । रज्जुं रागे लट् । लोके गुणवान् जनो गुणवन्तमाश्रित्य पूज्यतामुपयाति, स एव
 गुणहीनमाश्रित्य स्वगुणान् त्यजते (ति) इत्यभिप्रायः । दिवसामपगमे दिवसस्य दिनस्य । अगमे नाशे ।
 मलीमसं मलसंयुक्तम् । श्रिया शोभया । समुज्झितं रहितम्^२ । कमल नलिनम् । पश्य विलोकय । दृष्टुं प्रेक्षणे
 लोट्^३ । ‘पा घ्रा—’ इत्यादिना पश्यादेशः । दृष्टान्तः ॥१४॥ ककुभामिति । ककुभा दिशाम् । विवरेषु भागेषु ।
 विहृतध्वान्तलवाः विहृता निरस्ता ध्वान्तस्य तमसो लवाः कणा यासां ताः तथोक्ता । तारकाः नक्षत्राणि ।
 मित्रविप्लवे मित्रस्य सूर्यस्य विप्लवे नाशे, मित्रस्य सुहृदो विप्लवे नाशे च । श्लेषः । गगनस्य आकाशस्य । उप-
 शुभा उपप्राया तीव्रया शुभा शोकेन । अश्रुबिन्दवः अश्रुणो नयनोदकस्य बिन्दवः कणाः । गलिता इव व्युता इव ।
 चकासिरे^४ । कास^५ शीघ्रो लिट् । उपप्रेक्षा ॥१५॥ गलितेति । गलिताश्रुभिः गलितं स्वचित्तमश्रु वेत्नोदकं
 येषां तैः । आर्तनिःस्वनैः आर्तं शोभनं युक्तो निःस्वनो येषां तैः । बहलध्वान्तमयीमलीमसैः बहलं गाढ ध्वान्तं
 तमस्वदेव मयी^६ तथा मलीमसानि मलिनानि तैः । चक्राह्वयुगलैः चक्राह्वाना चक्रवाकाना युगलैर्द्वन्द्वैः ।
 विरहानलधूमधूसरैः [इव] विरहो बियोगः स एवानलोऽग्निस्तस्य धूमेन धूमरा विवर्णा तीरिव । व्ययुज्यते ।

उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता और उसे भ्रम हुआ करता है ॥१२॥ जो मनुष्य स्वभावतः निर्मल
 होता है—जिसका दिल साफ होता है—वह प्राण निकलनेको नोबत आनेपर भी कृतज्ञताको
 नहीं छोड़ता । मानो यही सोचकर, सूर्यके द्वारा समुन्नत किया गया दिन, सूर्यके साथ ही अस्त
 हो गया ॥१३॥ गुणी मनुष्य पूज्य होता है, पर जब वह गुणहीन हो जाता है, तब लोग उससे
 विरक्त हो जाते हैं । कमलको देखो, दिन अस्त होनेपर उधों हो वह मलिन होने लगता है,
 त्योंही लक्ष्मी उसे छोड़ देती है ॥१४॥ दिशाओंके बीच-बीचमे अन्धकारको कुछ-कुछ दूर करने
 वाली ताराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों मित्र (सूर्य, सखा) के अस्त (नष्ट) होनेपर अत्यधिक
 शोक करनेवाले आकाशको अश्रु-बिन्दुएँ टपक रही हो ॥१५॥ चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े दुःखी
 हो गये—उनकी आँखोंसे आँसू टपकने लगे, उनके मुखसे दुःखभरे शब्द निकलने लगे और वे
 अन्धकार रूपी काली स्याहीसे मैले होकर ऐसे जान पड़ने लगे मानो विरहाग्निके धुएँसे मटमैले

१. वा अस्तमियाय नाशमियाय प्राप । २. वा स्मरत्वम् । ३. = अपरज्यतो भवति । ४. वा रञ्जि ।

५. वा अपगतम् । ६. वा दृशिर् । ७. वा लोट् । ८. = यामिः । ९. वा चकासिरे । १०. वा काश ।
 ११. = यवति हिनस्त्योऽप्यवत्यमिति मयो ।

विसरन्निबसं तन्तुनिर्मलो विषभासेऽथ नमः पयोनिधौ ।
 निकरो रजनीपते कचामिव मुक्ताफलरोषिषां चयः ॥१७॥
 प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनद्युतिरद्रथन्तरिताधर्मण्डलः ।
 द्रजति स्म ललाटपट्टतां क्षणमात्रं बलमिद्दिशः शशी ॥१८॥
 विदधन्तिमिरं तिरोहितं करजालैर्गगनान्तगामिभिः ।
 अभवद्रजनीकरः कमादुदयाद्रीन्द्रशिरः शिखामणिः ॥१९॥
 उदयाद्रिशिरः श्रितः शशी शशमन्तर्गतमाजिघांसुना ।
 तमसा शबरेण सायकैरिव बिजोविजगाम रक्तताम् ॥२०॥

युज्ज^१ योगे भावे लङ् । उत्प्रेसा ॥१६॥ विसरन्ति । अथ सूर्यास्तमाया (ना) नन्तरम् । विसरन्तुनिर्मलः विसस्य^२ कमलस्य तन्तुरिव निर्मलः शुभ्रः । विसरन् प्रसरन् । रजनीपतेः निशाकरस्य । कचां काण्ठीनाम् । निकरः, नमःपयोनिधौ समुद्रे^३ । मुक्ताफलोरोषिषा मुक्ताफलानां मुक्तामणोनां रोषिषां काण्ठीनाम् । चय इव निबह इव । विषभासे मासते स्म । मासुं^४ दीप्ती लिट् । उत्प्रेसा ॥१७॥ प्रसृतेति । प्रसृतालकतुल्यलाञ्छन-द्युतिः प्रसृतस्य विसृतस्यालकस्य चूर्णकुन्तलस्य तुल्या समाना लाञ्छनस्य द्युतिः काण्ति र्यस्य सः । अद्रथन्तरिता-धर्मण्डलः अद्रिणा पूर्वपर्वतेनान्तरितं व्यवहितं मण्डलस्य बिम्बस्याधर्मं अधर्मण्डल यस्य सः । शशी चन्द्रः । क्षणमात्रं क्षणपर्यन्तमेव । बलमिद्दिशः बलमिद इन्द्रस्य दिशः । ललाटपट्टता ललाटस्य पट्टता^५ प्रदशत्वम् । द्रजति स्म गच्छति स्म । द्रज गती लट् । उत्प्रेसा ॥१८॥ विदधन्ति । गगनान्तगामिभिः गगनस्याकाशस्यान्तम-सन्तं गामिभिः^६ गगनशीलैः । करजालैः करानां किरणानां जालैः समूहैः । तिमिरं तमः । तिरोहितं व्यव-हितम् । विदधत् कुर्वन् । रजनीकरः निशाकरः । क्रमात्^७ परिवाटघाः । उदयाद्रीन्द्रशिरःशिखामणिः उदया-द्रीन्द्रस्य उदयपर्वतेन्द्रस्य शिरसो मस्तकस्य शिखामणिवृक्षामणिः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । उपमा ॥१९॥ उदयेति । उदयाद्रिशिरःश्रितः उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिरः शिखरं श्रित आश्रितः । शशी चन्द्रः । अन्तर्गतम् अन्तर्मध्यं गतं यातम् । शशं शशमृगम् । आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना । तमसा तिमिरेण । शबरेण व्याधेन । सायकैः बाणैः । विद्ध [हव] वेधित इव । रक्तता लोहितत्वम् । निजगाम [अविजगाम] ययौ ।

हो गये हों । फिर वे विछुड़ गये ॥१६॥ इसके पश्चात् सभी ओर फैलनेवाला, कमलदण्डके तन्तुओंके समान निर्मल, चन्द्रमाकी किरणोंका समूह सुशोभित होने लगा, जो ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंकी किरणोंका समूह हो ॥१७॥ चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगा । उसका आधा भाग उदयाचलकी ओटमें छिपा हुआ था, और आधा उसके ऊपर देख पड़ता था, जो थोड़ी देर तक इन्द्रकी दिशा (पूर्व) रूपी नायिकाके ललाटकी छविको धारण कर रहा था, और उसमें काला घन्वा बिखरे केशपाशकी सुधमाकी व्यवृत्त कर रहा था ॥१८॥ आकाशमें सभी ओर जानेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूर करता हुआ चन्द्रमा धीरे-धीरे उदयाचलके सिर—शिखरपर, पूरा-का-पूरा पहुँच गया, और वहाँ वह उसका चूड़ामणि बन गया ॥१९॥ चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर पहुँच गया । वहाँ वह बिल्कुल रक्तवर्ण हो गया, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार रूपी भीलने उसके भीतर स्थित खरगोशकी मारनेके लिए जो बाण मारे थे, उनसे वह स्वयं धायल हो गया हो, और धावसे निकलनेवाले

१. आ विषशब्धिः । २. आ युजिर् । ३. = कमलदण्डस्य-मुक्तालस्य । ४. = आकाशसमुद्रे । ५. आ मासुज् । ६. = फलकत्वम् । ७. = गच्छन्तीत्येवं शोकाणि, तैः । ८. = क्रमतः । ९. = 'शशस्तु मुदुकोमकः' इति ह्रियः । १०. आ जगाम ।

घनवीथिरथं क्षपापताचधिकदे घृतघामधन्वनि ।
 उपभुक्तनिशं तमो भयात्यरदारग्रहजादिवाद्रवत् ॥२१॥
 विगलत्तिमिरावगुण्टनामुदुधमोदकबिन्दुसंभृताम् ।
 दहशुः शिशिरांशुसंगमे सुरतस्थाभिव शर्वरी जनाः ॥२२॥
 भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित् ।
 चिकसद्भिरिति स्फुटीकृतं कुमुदैरेव निशाकरोदये ॥२३॥
 प्रविकासिनि यन्मयलोयत भ्रमरीणां कुमुदानने कुलम् ।
 तिलकं तदभूत्प्रसाधने कुमुदिन्यास्तुहिनांशुसंगमे ॥२४॥

गम्लु गती लट् । उपप्रेक्षा ॥२०॥ चनेति । घृतघामधन्वनि^१ धामैव किरण (नाः) एव धनु तमोक्तम्, घृतं भूतं च तद् घामधनुश्च तयोक्तम्, घृतघामधनुस्यास्तीति घृतघामधन्वा तस्मिन् समापतो निशापतो, चन्द्रे—इत्यर्थः । घनवीथिरथं घनस्य मेघस्य वीथिः, गगनम्—इति भावः, घनवीथिरेव रथः तम् । रूपकम् । अचिरुदे सति । उपभुक्तनिशम् उपभुक्तानुभूता निशा रात्रियेन तन् । तमः तिमिरम् । परदारग्रहजात् परदारगणा परस्त्रीणां ग्रहजाद् ग्रहणेन जातात् । भयादिव भीतेरिव । अद्रवन् अवावत् । दृ गतो लङ् । उपप्रेक्षा ॥२१॥ विगलदिति । शिशिरांशुसङ्गमे शिशिरांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे सङ्गमे^२ । विगलत्तिमिरावगुण्टना विगलद् विगच्छत् तिमिरमेव तम एवावगुण्टनं बन्धनं यस्याः ताम् । उदुधमोदकबिन्दुसंभृताम्^३ उदुधनि नक्षत्राणि तान्येव धर्मस्य स्नेहस्योदकं जलं तस्य बिन्दुवस्तान् संविमति स्म उदुधमोदकसंभृता, ताम् शर्वरी रात्रिम् । जनाः लोकाः । सुरतस्थाभिव निधुवनस्थाभिव । ददशुः पश्यन्ति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लट् । उपप्रेक्षा ॥२२॥ भवतीति । इह अगति । हेतुना विनापि कारणेन विनापि । कस्यचिदेव^४ वस्तुन एव । केनचित् वस्तुना साकम्^५ । घटना सम्बन्धः । भवति जायते । निशाकरोदये निशाकरस्य चन्द्रस्योदये । चिकसद्भिः^६ । कुमुदैरेव कैवैरेव^७ । इति एवम् । स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्^८ । कुमुदैरेव मह मन्त्रेण कुमुदानां विकसनेनेव व्यक्तीकृत इत्यर्थः । अनुमितिः ॥२३॥ प्रविकासिनीति । प्रविकासिनि विका (क, सनशोके । कुमुदानने कुमुदमेवानने तयोक्तं, तस्मिन् । भ्रमरीणां^९ भ्रमरीणां । कुलं समूह । न्यलोयत्^{१०} म्यसत् । लोह् दलेषणे कर्मणि लट् । तुहिनांशुसङ्गमे तुहिनांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे सङ्गमे । कुमुदिन्याः^{११} कुमुदपण्टस्य कुमुदिनी-जातिः (ते.), स्थिया इति ध्वनिः । तन् भ्रमरीकुलम्^{१२} । तिलकं तिलकम्—इति नाम । प्रसाधनम्

रक्तसे रंजित हो गया हो ॥२०॥ अपना प्रकाश या प्रभाव रूपी धनुष (और किरण रूपी बाण) लेकर ज्यों ही रात्रिका पति-चन्द्रमा आकाश रूपी रथपर सवार हुआ, त्यों ही रात्रिका उपभोग करनेवाला अन्धकार मानो परनारी भोगनेके भयसे भाग गया—चन्द्रोदय होते ही अन्धकार नष्ट हो गया ॥२१॥ चन्द्रमाका सगम होते ही रात्रि रूपी नायिकाका अन्धकार रूपी घृष्ट उतर गया और उसके ऊपर नक्षत्र रूपी पसीनेके बिन्दु दृष्टिगोचर होने लगे । अतएव दर्शकोंको वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो वह सुरतमे निरत हो ॥२२॥ चन्द्रोदय होनेपर केवल रात्रि विकासी कमल ही विकसित हुए (न कि दिनमे खिलकनेवाले कमल), जिन्होंने मानो यह स्पष्ट बतला दिया कि इस संसारमे किसीका किसीके साथ बिना किसी कारणके भी (स्वाभाविक) सम्बन्ध होता है ॥२३॥ विकसित कुमुद रूपी (कुमुदिनीके) मुखपर जो भोरोंका क्षुण्ड जा बैठा,

१. क. ल. ग. ब. म. भ्रमराणां । २. = घृतं धामैव धनुर्मेन, तस्मिन् । ३. वा दृ सु (लु) गतो । ४. वा 'संसर्गे' इति नोपलभ्यते । ५. = उदुधमेव धर्मोश्चिन्धवः तै. भृता व्याप्ताम् । ६. आ दृ शि । ७. = कस्यचिद्वस्तुन एव । ८. वा 'साकम्' इति नास्ति । ९. = स्फुटीकृतम् । १०. वा कुमुदैरेव कैवैरेव । ११. वा 'व्यक्तीकृतम्' इति नोपलभ्यते । १२. वा भ्रमराणां । १३. वा व्यक्तीकृतम् । १४. = कुमुदराः । १५. वा भ्रमरी ।

अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान्गुणवन्तमाश्रितः ।
 नमसा हि हिमांशुसंगमादपनीतं मलिनस्वमात्मनः ॥२५॥
 उदितेन पयोधिरिन्दुना परमां कोटिमनीयतोन्नतेः ।
 महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि ॥२६॥
 विकसत्कुमुदाकरं सरः प्रकटोद्भ्रमकरं नभःस्थलम् ।
 द्वयमाप परस्पोषमां करजाले शशिनः प्रस्रपति ॥२७॥
 रजनी तमसान्यजातिना परिमृष्टा घनवर्मवर्मनि ।
 प्रविधातुमिवात्मशोधनं निमगज्जेन्दुमहोमहाह्वदे ॥२८॥

अलङ्कारः । अभूत् अवबत् । भू सत्ताया लुट् । उत्प्रेक्षा ॥२४॥ अपहन्तीत्यादि । हिमांशुसङ्गमात् हिमांशो-
 वचनस्य सङ्गमात् ससर्गात् । नमसा गगनेन । आत्मनः स्वस्य । मलिनत्वं मलीमसत्त्वम् । अपनीतं निराकृतम् ।
 गुणवन्तं गुणिनं पुरुषम् । आश्रितः समुपयातः । नरः पुरुषः । निमर्गजान् स्वभावजनितान् । दोषानपि
 पापान्यपि । अपहन्ति नाशयन्ति । हन हिंसामृत्योः कर्तरि लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२५॥ उदितेनेति ।
 उदितेन उदेति स्म उदितः, तेन उदयं गतेन । इन्दुना सोमेन । पयोधिः समुद्रः । उन्नतेः महत्त्वस्य । परमाम्
 वत्कृष्टाम् । कोटि मागम् । अनीयते अयायते^१ । णीञ् प्रापणे कर्मणि लङ् । दुहि याचि—' इत्यादिना
 द्विकर्मकः । महता सत्ताम् । परोपकारिता परेषा सर्वेषामुपकारितामुपकारित्वम् । सहजा निसर्गजनिता । हि
 मनागपि ईषदपि । न अद्यतनी अद्यमया न । 'साम्यम्—' इत्यादिना तनट् । 'टिट्ठण्डे—' इत्यादिना डो^२ ।
 अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ विकसदिति । शशिनः चन्द्रस्य । करजाले कराणां किरणानां जाले समूहे । प्रस्रपति
 प्रसरति सति । विकसत्कुमुदाकरं विकसन् कुमुदानां कुबलयानामाकरो निबहो यस्मिन् तत् । सरः सरोवरः ।
 प्रकटोद्भ्रमकरं प्रकटः प्रादुर्भवन् उद्भूना नक्षत्राणां प्रकरो निबहो यस्मिन् तत् । नमस्तलं नमस आकाशस्य तलं
 प्रदेशः । द्वय सरोवरनमस्तलयोद्भयम् । परस्पोषमाम् अयोधोपमाम् । आप याति स्म । आप्लु व्याप्तौ लिट् ।
 उपमा ॥२७॥ रजनीति । घनवर्मवर्मनि घनवर्मैव गगनमेव वर्म मार्गः, तस्मिन्, आकाशमार्ग—इत्यर्थः ।
 तमसा तिमिरेण । अम्यजातिना चण्डालेन^३ । परिमृष्टा परिस्पृष्टा । रजनी रात्रिः स्त्री । आत्मशोधनम्
 आत्मनः स्वस्य शोधनं शुद्धिम् । प्रविधातुमिव कर्तुमिव । इन्दुमहोमहाह्वदे इन्दोवचनस्य महः कान्तिः तदेष
 महति ह्वदे (महाह्वदः, तस्मिन्) सरोवरे । निमगज्ज स्नाति स्म । दुमर्जो^४ शुली लिट् । रूपकं परिणामो

वह कुमुदिनी रूपी नायिकाका चन्द्रमाके समागमके समय तिलक बन गया ॥२४॥ 'गुणवान्का
 आश्रय पानेवाला पुरुष अपने स्वाभाविक दोषोंको भी छोड़ देता है' यह बिलकुल सच है, क्योंकि
 आकाशने चन्द्रमाका संसर्ग पाकर अपनी स्वाभाविक मलिनताको छोड़ दिया ॥२५॥ चन्द्रमाने
 उदित होकर समुद्रको उन्नतिको चरम सोमामें पहुँचा दिया । इसका एकमात्र कारण है महान्
 पुरुषोंकी स्वाभाविक परोपकार करनेकी प्रवृत्ति, जो अंशतः भी आजकी नहीं मानो जा सकती
 ॥२६॥ चन्द्रमाकी किरणोंके फैलनेपर सरोवर—जिसमें कुमुदोंका समूह खिल उठा और
 आकाश—जिसमें नक्षत्र मण्डल प्रकट हो गया, ये दोनों बिलकुल एक सरोखे हो गये ॥२७॥
 चन्द्रोदयके पहले अन्धकार रूपी चण्डालके द्वारा रात्रि रूपी स्त्री आकाशमार्गमें छू लो गई थी,
 मानो इसीलिए अपनेको शुद्ध करनेके लिए उसने चन्द्रमाके प्रकाश रूपी बहुत बड़े जलाशयमें

१. क ख ग घ ङ प्रविबोधेनु^१ । २. नीतः । ३. आ अयास्ययत । ४. आ डोप् । ५. घ कमला-
 नाम् । ६. आ चण्डालेन । ७. आ दुमर्जो ।

तिमिरेममदुर्न हिंसितुं शशिसिंहाय गुहाश्रितं नगाः।
 शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ॥२६॥
 विषभावधिरौहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम्।
 अनयद्धरिविम्बधृजपाकुसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम् ॥२७॥
 समभूत्सुखिचक्रवाकयोर्मिथुनं संगमदृष्टमङ्गि यत्।
 निशि तद्विरहातिविह्वलं घिगिमां दग्धविधेर्विडम्बनाम् ॥२८॥
 यदधुः प्रियकोपधूपिते हृदि मानप्रहशस्यमङ्गनाः।
 विधुरुद्धरति स्म दुर्धरं करसंदंशकताडनेन तत् ॥२९॥

वा (उपप्रेक्षा) ॥२८॥ तिमिरेमेति^१ । नगाः पर्वताः । गुहाश्रितं गुहा गङ्गाप्रमाश्रित^२ केवितम् । तिमिरेमं तिमिरेमेवमः करी तम् । शशिसिंहाय शशयेव सिंहो मृगेन्द्रः तस्मै । हिंसितुं हन्तुम् । नातु न ददति स्म । दुदाब् दाने लुब् । शरणागतरक्षणं शरणं रक्षणमागतानां रक्षणं पालनम् । सतां सप्तपञ्चाशत् । जातु एकवारमपि । व्यभिचारं व्यत्ययम् । नेष्यति हि न यास्यति हि । इण् गतो लट् । अर्थास्तस्यास्यः ॥२९॥ विषभावधिति । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । उद्गमारुणम् उद्गमे उदयेऽरुणं लोहितम् । अम्बरे गगने । अधिरौहत् आरोहत् । विधुबिम्बं विधोवृषभद्रस्य बिम्बं मण्डलम् । अङ्गिना जनानाम् । हरिदिग्धपूत्रपाकुसुमापीडवितर्कं हरिदिग्धेव इन्द्रदिग्धेव बधूर्बनिता तस्या जपाकुसुमेन जपापुष्पेण रचितं आपीड दोषहर इति वितर्कमाशङ्काम् । अनयत् उत्पादयत् सत् । बिबभौ भाति स्म । आ दीप्तो लट् । संशयः ॥३०॥ समभूदिति । सङ्गमदृष्टं सङ्गमेन संसर्गेण दृष्टं संतुष्टम् । यत्, चक्रवाकयोः कोकपक्षिणोः । मिथुन द्वादशम् । अङ्गि दिवसे । सुखि सुख-युक्तम् । समभूत् समभवत् । भू सत्ताया लुट् । तत्, निशि निशायाम् । विरहातिविह्वलं विरहस्य वियोगस्या-स्यां पीडया विह्वलं^३ मूर्च्छितम् । अमृतं । दग्धविधेः^४ धूर्त्वापस्य । इमाम् एनाम् । विडम्बना तिरस्कृतिम्^५ । धिक् । 'हा धिक् समया' इत्यादिना द्वितीया ॥३१॥ चदिति । अङ्गना वनिता । प्रियकोपधूपिते प्रियं नायके विद्यमानेन कोपेन धूपिते संतापिते । हृदि हृदये । यत्, मानप्रहशस्य मानस्य गर्वस्य प्रह एव स्वीकार^६ एव सत्यं शाङ्कम् । अधुं धरन्ति स्म । विधुः चन्द्रः । दुर्धरं धर्तुमशक्यम् । तत्, करसंदंशकताडनेन कर एव किरण एव संदंशकस्य (संदंशः कङ्कपुष्पः तस्य । संदंशते तप्तहेमादि येन स संदंशः ।) तप्तलोहपाहकस्य

प्रवेश किया ॥२८॥ पर्वतोने अपनी गुफाकी शरण आये अन्धकार रूपी हाथीको मारनेके लिए चन्द्रमा रूपी सिंहके हवाले नहीं किया; क्योंकि शरणागतको रक्षा करना सज्जनोंका व्रत है, जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता—चन्द्रमाने गुफाओंके अन्धकारको छोड़कर बाहरके अन्धकारको हटा दिया ॥२९॥ उदयकालीन लाल चन्द्रमा, जब आकाशमें चढ़ रहा था, बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा था । उस समय वह दर्शकोके मनमें यह तर्क उत्पन्नकर रहा था कि यह (चन्द्रमा) इन्द्रकी दिशारूपी नायिकाका कही जपापुष्पका शिरोभूषण तो नहीं है ॥३०॥ चक्रवा-चक्रवाक जो जोड़ा दिनमें एक साथ रहनेसे सुखी रहा, वही रातमें एक दूसरेके विरहसे बेचैन हो उठा । निठुर विधाताको इस विडम्बनाको धिक्कार है ॥३१॥ पतिते ऊपर उत्पन्न हुए क्रोधकी अग्निसे सन्तप्त अपने हृदयमें मानवती (रूठकर बैठी हुई) नायिकाओंने जिस मानके कांटे या कीलको ठोक लिया था, वह रात्रिके समय दुर्धर हो गया, पर उसे चन्द्रमाने अपनी

१. आ श तिमिरेति । २. = प्राप्तम् । ३. = व्याकुलम् । ४. = निष्ठुरदेवस्य । ५. आ तिरस्कृतम् ।

६. आ 'स्वीकार एव' इति नोपलभ्यते । ७. वा 'तत्' इति नास्ति ।

हिमरश्मिकरापसारिते तिमिरे काण्डपटस्फुटोपमे ।

रुच्येऽम्बरकुट्टिमस्थितैः सितपुष्पप्रकरैरिव ग्रहैः ॥३३॥

रजनीपतिना प्रतर्जितं करकुन्तैर्भुवनान्तवर्ति यत् ।

प्रविवेश वियोगिनीमनःस्विव मूर्च्छाकृतकेन तप्तमः ॥३४॥

क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहान्निज्वलितेन चेतसा ।

वनितामिरचिन्ति चित्तभूशरशाणाकृतिं चन्द्रमण्डलम् ॥३५॥

शिशिरांशुकराभिमर्शनाद्रजसाविर्भवता समन्ततः ।

मकरन्दमयेन निर्यभाविष निर्यत्पुलका कुमुद्वती ॥३६॥

ताडनेन । उदरति स्म उद्धृतवान् । रूपकम् ॥३२॥ हिमेति । काण्डपटस्फुटोपमे काण्डपटेन ज्वनिकापटेन स्फुटं व्यक्तमुपमा^१ समानं यस्य तस्मिन् । तिमिरे तमसि । हिमरश्मिकरापसारिते हिमरश्मेऽवशब्दस्य करेण करणेन^२ अपसारिते निवारिते । अम्बरकुट्टिमस्थितैः अम्बरमेवाकाशमेव कुट्टिमम् अङ्गणं, तस्मिन् स्थितैः । सितपुष्पप्रकरैरिव सितानां शुभ्राणां पुष्पाणां कुसुमानां प्रकरैरिव समूहैरिव । ग्रहैः नक्षत्रैः । रुच्ये दिदीपे । रचि दीप्ती भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ रजनीति । भुवनान्तवर्ति भुवनस्मान्ते मध्ये वति वर्तमानम् । रजनीपतिना सोमेन । करकुन्तैः करा एव कुन्ताः कुन्तामुष्पानि, तैः । प्रतर्जितं मस्तिंतम् । यत् तमः तिमिरम् । तत्, मूर्च्छाकृतकेन मूर्च्छा इति कृतकेन व्याजेन । वियोगिनीमनःसु वियोगिनीनां विरहिणीनां^३ मनसु चित्तेषु । प्रविवेश इव अन्तर्गतं (तम्) इव । विश प्रवेशने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥ क्षणदेति । क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहान्निज्वलितेन क्षणदैव रात्रिरेवानिलो वायुः तेन भासुरीभवतः प्रकाशनीभवत् । अने बल्लेज्वलितेन संतापितेन (क्षणदा रात्रिः तस्या अनिलो वायुस्तेन भासुरीभवत् प्रज्वलन् विरहान्निज्वियोगानलस्तेन ज्वलितेन संघुक्षितेन) । चेतसा चित्तेन । वनिताभिः सुन्दरीभिः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बम् । चित्तभूशर-शाणाकृतिं चित्तभूको मन्मथस्य शरस्य बाणस्य शाणस्य आकृतिर्यस्य तत् । इति, अचिन्ति चिन्त्यते स्म । चित् सज्जने कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥३५॥ शिशिरैति । शिशिरांशुकराभिमर्शनात् शिशिरांशोश्चन्द्रस्य करणां^४ किरणानामभिमर्शनात् स्पर्शनात् । मकरन्दमयेन पुष्परसमयेन । समन्ततः परितः आविर्भवता प्रकटीभवता । रजसा ध्रुव्या । कुमुद्वती कुमुदिनी । निर्यत्पुलकेव निर्यन् निर्यञ्चन् पुलको यस्याः सा इव । निर्बभौ प्राति स्म ।

किरणोंको संसीसे पकड़कर निकाल दिया ॥३२॥ चन्द्रमाने अपने कर (किरण, हाथ) से पर्दे सरीखे अन्धकारको हटा दिया तो आकाश रूपी फर्श या रंगमंचपर स्थित नक्षत्र (पुष्प शशिकी भाँति सुशोभित होने लगे ॥३३॥ चन्द्रमाने अपनी किरणोंके भालोंसे जगत्के अन्दरके जिस अन्धकारका तर्जन किया, वह मूर्च्छाके बहाने विरहिणियोंके हृदयमें जा घुसा ॥३४॥ रात्रिकी वायुसे विरहान्नि प्रज्वलित हो उठी और उससे विरहिणियोंका हृदय जलने लगा । इस अवसर पर विरहिणियोंने चन्द्रमण्डलको कामदेवके बाणोंको तेज करनेवाले शाण (सान) के आकारमें देखा—चन्द्रमा उन्हें सान-सा प्रतीत हुआ ॥३५॥ चन्द्रमाकी किरणों (अथ च हाथों) के स्पर्श-से कुमुदिनीके चारों ओरसे सरस पराग निकलने लगा, जिससे वह ऐसी जान पड़ने लगी मानो

१. क ल ग घ म कुट्टिम स्थितैः । २. अ "शिरसाणीकृत" । ३. = साम्यम् । ४. = हस्तेनेति
व्यवर्थः । ५. आ रच । ६. = भुवनस्यान्ते मध्ये वर्तत इति भुवनान्तवर्ति । ७. अ विरहिणां ।
८. अ प्रकाशिनी ।

रजनोपतिबिम्बदर्शनात्प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसाम् ।
 परिवृद्धिमियाय योषितां हृदये कामपि रागसागरः ॥३७॥
 सुहृदर्थपरैर्महारमभिर्न पुनः स्वार्थपरैरुदीयते ।
 यदभूद्रजनीकरोदयः परिवृद्धये स्मरशक्तिसंपदः ॥३८॥
 बभुरौषधयः समन्ततः शिखरे भूमिश्रुतां ज्वलच्छिख्राः ।
 क्षणदाङ्गनयेव दीपिका हरिणाङ्गाभिगमे प्रदीपिताः ॥३९॥
 निजधामबिबुद्धिकारिणी न परं चन्द्रमसा विभाधरी ।
 कुमुदिभ्यपि भासिता सतां निरपेक्षा हि परोपकारिता ॥४०॥
 परिणामिनि यामिनीमुखे हरिणाङ्गे च कठोरतेजसि ।
 जशृहेऽथ विविक्रमास्पदं रतये रागिभिरङ्गनासखैः ॥४१॥

भा दीप्तो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ रजनीति^१ । रजनीपतिबिम्बदर्शनात् रजनीपतेश्चन्द्रस्य बिम्बरूप मण्डलस्य दर्शनात् विलोकनात् । प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसा प्रियस्य धवस्य^२ सङ्गमे ससमं त्वरमाणमुत्सुकं चेतो यासां तासाम् । योषिता वनितानाम् । हृदये चेतसि । रागसागरः राग एव सागरः समुद्रः । कामपि^३ परिवृद्धि प्रवृद्धिम् । इयाय याति स्म । इण् गतो लिट् । कृपकम् ॥३७॥ सुहृदिमि । महारमभिः महापूतवैः । सुहृदर्थपरैः सुहृदो मित्रस्यार्थे प्रयोजने परैः तत्परैः । उदीयते ऐवयं प्राप्यते । स्वार्थपरै स्वप्रयोजनतत्परैः । पुनः पश्चात् । न मोदीयते । यत् यस्मात् । रजनीकरोदयः रजनीकरस्य चन्द्रस्योदयः । स्मरणवितसपदः स्मरस्य मन्मथस्य शक्तैः सामर्थ्यस्य सम्पदः संपत्तेः । परिवृद्धये परिवर्धनाय । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुट् ॥३८॥ बभुरिति । भूमिश्रुतां पर्वतानाम् । शिखरे शृङ्गे । समन्ततः सर्वतः । ज्वलच्छिख्रा ज्वलन्ती शिख्रा यासां ताः । औषधयः काष्ठज्योतिष । हरिणाङ्गाभिगमे हरिणाङ्गरूप चन्द्रस्याभिगमे^४ आगमे । क्षणदाङ्गनया क्षणदैव रात्रिरेवाङ्गना स्त्री तया । प्रदीपिताः प्रज्वलिताः । दीपिका इव प्रदीपा इव । बभू भासित स्म । भा दीप्तो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ निजैति । चन्द्रमसा चन्द्रेण । पर केवलम् । निजधामबिबुद्धिकारिणी निजधामनः स्वकारणस्य विवृद्धि प्रवृद्धि करोतीत्येवं शोला तबोक्ता । विभाधरी रात्रिः । न भासिता न प्रकाशिता । किन्तु, कुमुदिभ्यपि कुशलवपण्डमनि भासिता-इत्यर्थः । सता सत्पुरुषाणाम् । परोपकारिता परोपकारित्वम् । निरपेक्षा हि अपेक्षारहिता हि । अर्थास्तरन्नासः ॥४०॥ परिणामिनीति । यामिनीमुखे यामिन्या रात्रेर्मुखे प्रारम्भे । परिणामिनि परिपाकवति । हरिणाङ्गेऽपि चन्द्रेऽपि । कठोरतेजसि कठोरं मण्यं तेजः किरणो यस्य तस्मिन्, सति । अप अनन्तरम् । अङ्गनासखैः अङ्गना एव वनिता एव सख्यो येषां तैः 'राजन् सखे' इति अट् ।

उसे रोमांच हो रहा हो ॥३६॥ जो नायिकाएँ प्रिय समागमके लिए भीतरसे उतावली हो रही थीं, उनके हृदयमें, चन्द्रबिम्बको देखते ही रागका सागर उमड़ पड़ा । उस समय उममें जो वृद्धि हुई, वह अनिर्वचनीय है ॥३७॥ महात्मा अपने मित्रोंके उपकारके लिए अवतरित होते हैं, न कि अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए । इसीलिए चन्द्रमाका उदय कामदेवकी शक्तिरूपी सम्पत्तिके बढ़ानेके लिए हुआ ॥३८॥ पर्वतोंकी चोटियोंपर चारों ओर जड़ी वृटियाँ जगमगाने लगीं, उनसे लौ निकलने लगी । अतएव ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चन्द्रमाके शुभागमनके अवसरपर उसकी रात्रिरूपी प्रियाने छोटे-छोटे दीपक जला कर रख दिये हों ॥३९॥ चन्द्रमाने अपने प्रकाशको बढ़ानेवाली न केवल रात्रिकी, वरन् कुमुदिनीकी भी मुशोर्भास कर दिया । सज्जनोंकी परोपकारकी प्रवृत्ति निश्चय हो निःस्वार्थ होती है ॥४०॥ रात्रिका पहला भाग जब समाप्त होने-

१. वा रजनीपतीति । २. = पर्युः । ३. = अनिर्वचनीयम् । ४. = समागमे । ५. = प्रज्वलिताः प्रबोधिता वा । ६. = स्फुरिणाम् । ७. = कुमुदभ्यपि । ८. = अङ्गनाया सखायाऽङ्गनासखाः, तैः ।

विरहे तनुतामतीव ये दधुरङ्गावयवा नतभ्रुवाम् ।
 प्रियसंगमजन्मभिर्युः पुलकैस्ते पुनरेव पीनताम् ॥४२॥
 हठकारिणि यावदङ्गनाः प्रतिकूलं क्षणमाचरन्मिये ।
 निजशासनभङ्गस्पर्ध्वधीरिव तावद्वनुराददे^१स्मरः ॥४३॥
 नवसंगमजन्मना ह्रिया नतमूर्ध्नामरविन्दचक्षुषाम् ।
 भयमिश्रमपोयताधरो हठवृत्त्युपमिताननः प्रियैः ॥४४॥
 पतिरङ्गनया न्यपेधि यत्परिरस्मेऽधरपीडनेऽपि वा ।
 विपरीततया मनोभुवस्तदभूदागविवृद्धयेऽखिलम् ॥४५॥
 हतदृक्प्रसरा निरन्तरस्तनभारेण ददशे नाङ्गना ।
 वसनं व्युतमप्यधः पतिप्रियदृष्ट्या न्वमिमोत केवलम् ॥४६॥

रागिभिः कामभिः । रतये क्रोडाये । विविकतं प्रच्छन्नम् । अस्वद स्थानम् । अगृहे स्वीक्रियते स्म । ग्रह^२
 उपादाने कर्मणि लिट् ॥४१॥ विरह इति । नतभ्रुवा नते भ्रुवो यासां तासां नारीणाम् । ये अङ्गावयवाः
 शरीरावयवाः । विरहे वियोगे । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । तनुता कृशत्वम् । दधुः धरन्ति
 स्म । प्रियसङ्गमजन्मभिः प्रियाणां नायकानां सङ्गमे संयोगे जन्मभिर्जातिः पुलकैः रोमाञ्चैः । ते अङ्गावयवाः ।
 पुनरेव एवादेव । पीनता स्थूलत्वम् । ययु यान्ति स्म । या प्रापणे लिट् ॥४२॥ हठकारिणीति । अङ्गनाः
 वनिताः । हठकारिणि बलात्कारिणि सति । प्रिये नायके । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । प्रतिकूलं प्रतीपम्^३ । यावत्
 यावत्पर्यन्तम् । आचरन् आचरन्ति स्म । चर गतो लङ् । तावत् स्मरः मन्मथः । निजशासनभङ्ग^४स्पर्ध्वधीरिव
 निजस्य स्वस्य शासनसंज्ञायां भङ्गेन नावीनं स्पर्ध्वं सकोपा धीर्यस्य च इव । धनुः चापम् । आददे आददो^५
 ॥४३॥ नपेति । नवमजन्मजन्मना नवेन नूतनेन सङ्गमेन^६ जन्मना जातया । ह्रिया लज्जया । नतमूर्ध्ना^७
 नता मूर्ध्ना^८ यस्यां तामाम् । अरविन्दचक्षुषाम् अरविन्दमिव चक्षुषो यासां तासाम् । अधरः ओष्ठः ।
 हठवृत्त्युपमिताननं हठवृत्त्या बलात्कारवृत्त्या उपमितमृदगतं मुखं देया^९ तैः । प्रियैः प्राणनायकैः । भयमिश्रं
 भयसहितं यथा भवति तथा । अपीयत पीयते स्म । पा पाने ऋमणि लङ् ॥४४॥ पतिरिति । पतिः नायकः ।
 परिरस्मे आलिङ्गने । अधरपीडनेऽपि वा अधरस्य ओष्ठस्य पीडने बाधनेऽपि वा । अङ्गनया वनितया । यत्
 यत्कार्यम् । न्यपेधि तिरस्क्रियते स्म । मनोभुवः कामस्य । विपरीततया विपरीतत्वेन । तत् तत्कार्यम् ।
 अखिलं सङ्कलम् । रागविद्वये रागस्य विद्वये प्रवृद्धये । अमूत् अमवत् । भू सत्ताया लुट् ॥४५॥ हतेति ।
 निरन्तरस्तनभारेण निरन्तरेण निबिडेन स्तनभारेण स्तनातिशयेन । हतदृक्प्रसरा हत सन्तो दृशोः प्रसरो
 को हुआ और चन्द्रमाका पूर्ण प्रकाश फेल गया, तब रागो युवक अपनी-अपनी प्रियाओके साथ
 एकान्त स्थानमें चले गये ॥४१॥ कामदेवके धनुषकी भाँति नम्र भो वाली युवतियोंके जो अंग
 विरहके समय अत्यन्त कृश हो गये थे, वे प्रियके समागमसे उत्पन्न हुए रोमांचसे पुनः पुष्ट हो गये
 ॥४२॥ पतिके हठ करनेपर ज्योंही युवतियोने न, न, न, कहकर प्रतिकूल व्यवहार किया त्यों ही
 कामदेवको मानो अपने शासनको अवहलना करनेसे उनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, फलतः उसने
 तत्काल ही अपना धनुष उठा लिया ॥४३॥ प्रथम समागमके समय युवतियोने—जिनके नेत्र कमल
 सरीखे थे—लज्जावश अपने सिर झुका लिये, तब उनके पतियोने बलात् उनका मुख ऊपर
 उठाकर अधर पान कर लिया ॥४४॥ पतिको आलिङ्गन अथवा अधरपानमें प्रवृत्त होते देख उसकी
 नायिकाने जो न, न, न कहकर निषेध किया, कामदेव उसके खिलाफ था । फलतः वह सारा
 निषेध अनुरागको बढ़ानेके लिए हुआ ॥४५॥ सघन स्तनोंका व्यवधान पड़ जानेसे नायिकाकी

१. अ क क ग घ म रादधे । २. वा ग्रहि । ३. आ प्रतिपथम् । ४. वा आवधे दधौ । ५. = जन्म
 यस्याः सा तथा । ६. क नवो मूर्धा । ७. = येः ।

सहसापहताचरांशुकः किल यावज्जघनं कुतूहली ।
 परिपश्यति तावदङ्गना^१ प्रियमासञ्जयति स्म चुम्बने^२ ॥४७॥
 करताडनमास्यचुम्बनं परिरम्भो दशनच्छदग्रहः ।
 विविधेति विलासिनां क्रिया मदनान्नेरभ्यदघृताहुतिः ॥४८॥
 हृदये हरिणोदशां प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते ।
 पुलकैः प्रमदाङ्कुरैरिवानवकाशैः पद्मादधे बहिः ॥४९॥
 अनुरागपरापि बिभ्रती ह्रियमासन्नगते सखीजने ।
 मुखचुम्बनलोलुपं प्रियं परिरम्भेण वधूरजीगमत् ॥५०॥

यया सा । अङ्गना वनिता । वयुतं^१ प्लवम्^२ अपि । वसनं वस्त्रम् । न ददशं न पश्यति स्म । दृष्टुं प्रेक्षणे लिट् । केवल परम् । अथ परतिप्रयदृष्ट्या अथ पतन्या प्रियस्य नायकस्य दृष्ट्या नयनेन । अन्वमिमीत अनुमिमीते स्म । मा माने लिट् । अनुमित्यलङ्कारः ॥४६॥ सङ्गसेति । सहसा शीघ्रम् । 'सहसा भटिति ध्रुम् (द्रुतम्)' । अणुहवाचरानुकः अणुह निवारितमघोरमन्तरीयमंशुक वस्त्रं यस्य सः । कुतूहली कौतुकी । यावत् यावत्पर्यन्तम् । जघनं नितम्बम् । परिपश्यति परितो वीक्षते । दृष्टुं^३ प्रेक्षणे लट् । तावत्, अङ्गना वनिता । चुम्बने वक्त्रसंयोगेन । आसञ्जयति^४ स्म किल सङ्गश्यति स्म किल । पञ्च^५ सङ्गे णि वन्ताल्लट् ॥४७॥ करताडनमिति । करताडनं करस्य हस्तस्य ताडनं हननम् । वास्तवचुम्बनम् वास्त्यस्य मुखस्य चुम्बनं वक्त्रसंयोगनम् । परिरम्भः बालिङ्गनम् । दशनच्छदग्रहः दशनच्छदस्य ओष्ठस्य प्रशो ग्रहणम् । इति एवम् । विलासिना कामुकानाम्^६ । विविधा नानाप्रकाराः । क्रिया कृत्या (नि) । मदनान्ने, मदन एव ममस्य एवाग्निस्तस्य । रूपकम् । घृताहुतिः घृतस्वाहुतिः मपिषारा । अभवत् अभूत् । लट् ॥४८॥ हृदय इति । हरिणां दशा हरिण्या (दृशो) इव दृशो नेत्रे यासा तानाम् । प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडितं प्रियस्य नायकस्य प्रथमेन पौरस्त्वेनालिङ्गनेन परिरम्भेन पीडितं बाधिते । हृदये हृदयप्रदेशे । अनवकाशे स्थानुमनवकाशोऽवकाशरहितं । प्रमदाङ्कुरैरिव प्रमदस्य मनोवस्थाङ्कुरैरिव । पुलकैः रोम ऊचै । बहिः, पद स्थानम् आदेशे अङ्ग्रे । दुधाङ्ग धागणे^७ कर्मणि लिट् । उन्प्रेषा ॥४९॥ अनुरागेति । वधू वनिता । अनुगम-परापि अनुगमे प्रीतो परापि तत्परापि । सखीजने^८ सखि एव जनः । (सखीना जना वर्ग) नास्मिन् रूपकम् (?) । आसन्नगते आसन्न समीपं गते याते सति । ह्रिय लज्जाम् । बिभ्रती धरन्ती । मुखचुम्बन-

दृष्टिका प्रसार रुक गया । इस कारण वह नीचे गिरे हुए अपने अधोवस्त्रको न देख सकी, पर पतिकी दृष्टिसे—जो बार-बार उसी ओर लगी हुई था—उसने केवल अनुमान कर लिया—'मेरा अधोवस्त्र नीचे गिर गया है; क्योंकि ये बार-बार नीचेकी ओर घूर-घूरकर देख रहे हैं ।' ॥४६॥ एकाएक अधोवस्त्र खींचकर एक रसिक जयां हो अपनी प्रियाके जघनको देखनेकी उद्यत हुआ, त्यों ही उसकी प्रियाने उसे (अपने प्रियका) चुम्बनमे बिलमा लिया ॥४७॥ हाथसे पथराणा, मुख चुम्बन करना, आलिंगन करना और अधर पान करना आदि अनेक प्रकारका विलासियोंकी चेष्टाएँ कामाग्निकी प्रज्वलित कर्नेके लिए घी की आहुति का काम करने लगी ॥४८॥ मृगनयनियोका हृदय, प्रथम आलिंगनके अवसरपर उनके पतियोंके द्वारा जब खूब जोरसे दबा दिया गया, तब उन्हें रोमांच हो आया, जो ऐसा जान पड़ना था मानो सन्तोषके अंकुर भीतर स्थान न मिलनेसे बाहर फूट निकले हो ॥४९॥ पतिसे अनुराग होनेपर

१ अ 'वङ्गना' । २ अ 'मञ्जनयन्ति चुम्बने' । ३ = यस्याः । ४ = पतितम् । ५. श श्लक्षितम् । ६. दृशिर । ७. श 'मिदं इति नास्ति । ८ = अवलोकनेन । ९. = येन । १०. आ दृशिर । ११. = सखीयाँ स्म वा । १२. आ साञ्ज । १३. वा विलासिनीना कामिनीनाम् । १४. श दुदाङ् दाने । १५. = सखीना जना वर्गः तस्मिन् ।

विरहव्यसितोष्णनीरसाधरबिम्बा वनिता समीयुषे ।
 न ददौ क्षणमास्यचुम्बनं दयितायाम्यकथाप्रवर्तिनी ॥५१॥
 बहुशः प्रणिपत्य बोधिता प्रियवाग्भिः प्रणयेन मानिनी ।
 स्मरकातरमात्मवल्लभं परिरेभे इत्यथबाहुबन्धनम् ॥५२॥
 परिरम्भमवो वधूवपुःपरिपुष्टिं विध्वंसितासिनाम् ।
 बहुलः पुलकोद्गमोऽगमत्सविचत्वं^१ दृढनीबिमोक्षणे ॥५३॥
 परिरम्भिणि जीवितेश्वरे विगलत्स्वेवपदेन संततः ।
 सुदृशां हृदयेष्वसंभवश्रिघ्नं शृङ्गाररसो विनिर्ययौ ॥५४॥

लोलुप मुक्तचुम्बने मुखसंयोजने लोलुप लम्पटम् । प्रियं नायकम् । परिरम्भेण आलिङ्गनेन । अजीगमत् समयति स्म^१ । गमन् गतो गिगस्ताल्लुट् । 'जे. -' इति णि लुक्^३ । 'कं थि—' इत्यादिना डः^४ । तस्मिन् परे 'द्विधत्तिः—' इति द्विः ॥५०॥ विरहेति । विरहव्यसितोष्णनीरसाधरबिम्बा विरहेण विमोहेन जातेन र्वास्तस्य दशासानिलस्योष्णेन तापेन नीरसं रसरहितमधःस्योष्ठस्य बिम्बं प्रदेशो यस्याः सा । वनिता रमणी । समीयुषे सम् समीपम् इयाय इति समीयिषान् तस्मै, समीपं गताय इत्यर्थः । दयिताय नायकाय । अय्यकथाप्रवर्तिनी अय्यकथायाम् इतरप्रसङ्गे प्रवर्तिनी प्रवर्तमाना सती । आस्यचुम्बनं मुखचुम्बनम् । क्षण क्षणपर्यन्तम् । न ददौ न ददाति स्म । बहुशः दाने लिट् ॥५१॥ बहुश इति । प्रणयेन स्महेन । बहुशः बहुलम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । प्रियवाग्भिः प्रियाभिः^५ प्रिययुक्ताभिर्वाग्भिर्वचनैः । बोधिता विज्ञापिता । मानिनी वनिता । स्मरकातरं स्मरे कामकल्या कातर तत्परम्^६ । बारमवल्लभं स्वनायकम् । अदलथबाहुबन्धनम् अदलथ दृढं बाहुबन्धनं भुजबन्धो यथा भवति तथा । परिरेभे झालिलङ्ग । रभि^७ रामस्ये लिट् ॥५२॥ परिरम्भेति । परिरम्भमवः परिरम्भे आलिङ्गने भव उत्पन्नः । वधूवपुःपरिपुष्टिं वध्वा स्त्रियो वपुः शरीरस्य परिपुष्टिं नृष्टिम् । विधत्त कुर्वन् । बहुलः बहु । पुलकोद्गम पुलकस्य रोमाञ्चस्य उद्गम उदय । दृढनीबिमोक्षणे^८ दृढस्य गाढस्य विमोक्षणे विमोचने^९ । विलासिना कामुहानाम्^{१०} । सविचत्वं सहायत्वम् । अगमत् अगच्छन् । गमन् गतो लुट् । लट्स्वाद्^{११} ॥५३॥ परिरम्भिणीति । जीवितेश्वरे प्राणनायके । परिरम्भिणं आलिङ्गन-
 शीले सति^३ । संततः व्याप्तः । सुदृशा सुशोभने^{१२} दृशौ यासा तासाम्, स्त्रीणाम्—इत्यर्थः । हृदयेषु

भो एक नायिका, सखीको निकट आती देख लज्जित हो गई । अतः उसने मुख चुम्बनके लिए लालायित अपने पतिको केवल आलिंगनसे ही सन्तुष्ट करके टाल दिया ॥५०॥ विरहसे निकलने-
 वाली श्वासकी गर्मसे एक नायिकाका होठ नीरस हो गया—सूख गया, अतः निकट आये हुए पतिको उसने कुछ क्षणों तक अपना मुख नहीं चूमने दिया । उस समय उसने ओर-ओर बातें छेड़ दी और उन्हींमें अपने पतिको उलझा लिया ॥५१॥ एक नायकने बार-बार प्रणाम करके अपनी मानवती पत्नीको खूब स्नेह पूर्वक मोठे शब्दोंमें समझाया, जिससे उसने अपने काम पोड़ित पतिको बाहुओंसे बांधकर गले लगा लिया—गाढ़ आलिंगन किया ॥५२॥ पतिके आलिंगनमें नायिकाओंको अत्यधिक रोमांच हो आया, जिससे उनके शरीरको पुष्टकर दिया और उनके विलासी पतियोंको उनके नाड़ीकी दृढ़ गाँठ खोलनेमें सहायता दी ॥५३॥ पतिके

१. अ सविचत्वं । २. = विलम्बयति स्म । ३. आ चिणो । ४. आ कल चित्यादिना जः । ५. = मधुराभिः । ६. = कातरताम्बितं । ७. आ 'तत्परम्' इति नास्ति । ८. अ रम् । ९. = पीनताम् । १०. आ श दृढविमोक्षणे । १०. = दृढा गाढा या नोविर्वहन्प्रश्निः तस्या विमोक्षणे विमोचन । ११. श विलासिनीना कामुहानाम् । १२. श इदित्वाद् । १३. आ 'आलिङ्गनशीले सति' इति नोपलभ्यत । १४. आ शोभनी ।

दयितामतिपीवरस्तनीं परिरञ्जुं दृढबन्धमक्षमः ।
 स्पृहयालुरभूत्समाकुलो भुजदैर्घ्यातिशयाय कश्चन ॥५४॥
 प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो दधतीं मानकपायमङ्गनाम् ।
 परिसान्त्वय^१ रसंस्तदोष्ठजैर्मदनार्गिं मनसि व्यदिध्यपत् ॥५६॥
 अद्यं दयितेन पातितैरपि काटिन्यगुणेन योषिताम् ।
 नवकुङ्कुमकेसरैरिवोपरि तस्ये स्तनयोर्नखक्षतैः ॥५७॥
 करताडनमोष्ठखण्डनं नखपातप्रसरः कचग्रहः ।
 अजनीष्टजनेऽपि कामिनां चरितं चाममहो मनोभुवः ॥५८॥

हृदयप्रवेशो । असंभवन् स्थानमलमपान । शृङ्गाररसः शृङ्गार एव रसः सन्निकृष्टः । विगलस्त्वेवपदेन विगलन्^२ द्रवन् स्वेद इति घर्म (-जलम्) इति पदेन व्याजेन । विनिर्ययाविव निर्गच्छति स्मेव । या प्रापणे किद् । रूपकमुपेक्षा (कैतवापह्नुतिश्च) ॥५४॥ दयितामिति । अतिपीवरस्तनीम् अतिवीरौ अत्यन्तं स्पृहो स्तनौ कुचौ यस्याः, ताम् । दयिता वल्लभा । दृढबन्ध दृढो गढा बन्धो बन्धन यस्मिन् कर्मणि तत् । परिरञ्जुं परिरम्भणाय, आलिङ्गनाय—इत्यर्थः । अक्षम. शक्तिरहितः । कश्चन पुरुषः । भुजदैर्घ्यातिशयाय भुजयोर्बाह्वोर्दैर्घ्यस्य दं.पं.रसस्य अतिशयाय अतिशयः । स्पृहयालुः वाञ्छाशीलः सन् । 'अट्टा' इत्यादिना शीलायै आलु-प्रत्ययः । 'स्पृहे वा' इति कर्मणि चतुर्थी । समाकुलः^३ व्याकुल (-ता) सङ्घितः । अभूत् अभवत् । भू मत्ताया लुङ् ॥५५॥ प्रियचाटुषु । प्रियवचनेषु । कोविदः प्रवीणः । कोऽपि कश्चन । मानकपायं मानस्य गर्वस्य कपाय परिणामम् । दधनी धरन्तोम् । अङ्गना वतिताम् । परिसान्त्वय^४ शमयित्वा । तदोष्ठजैः तस्या वनिताया ओष्ठजैर्धरसंजातैः । रसं सलिलं मनसि मानसे । मदनार्गिं कामाग्नम् । व्यदिध्य-पत् शमयति स्म । द्ये^५ बिन्ताया निजन्ता-ल्लुङ् ॥५६॥ अद्यमिति^६ । काटिन्यगुणेन काटिन्यं गुणो यस्य तेन । दयितेन नायकेन । अद्यं कृपारहितं यथा तथा । योषिता स्त्रीणाम् । स्तनयोः कुचयोः । उपतस्थे क्षिप्यते स्म । पातितैः अङ्कृतैः । नखक्षतैः नखाना क्षतैर्घातैरपि । नवकुङ्कुमकेसरैरिव नवम्य नूतनस्य कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य केसरैरिव किञ्चलकैरिव । उपेक्षा ॥५७॥ करंति । करताडनं हस्तताडनम् । ओष्ठखण्डनम् अधरखण्डनम् । नखपातप्रसरः नखाना कररुद्धाणां पाताना प्रसरः समूहः । कचग्रहः कचाना केशाना ग्रह आकर्षणम् । कामिना कामुकानाम् । जने अत्र लोके अपि (इष्टजने अपि प्रियजने अपि, प्रियावर्गे अपि—

आलिङ्गन करनेपर नायिकाओको पसीना आने लगा, और वह बहकर चारों ओर फेल गया, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो शृङ्गाररस, उनके हृदयमे समा नहीं सकनेसे बहते हुए पसीनेके बहाने बाहर निकल आया हो ॥५४॥ अपनी अत्यन्त पीन स्तनवाली घरवालीको बाहुओंमें लपेटकर गाढ़ आलिङ्गन करनेमे असमर्थ कोई नायक व्याकुल होकर पर्याप्त मात्रामें अपनी बाहुओंको लम्बाई प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठा ॥५५॥ प्रिय वचनोंकी रचना करनेमें कुशल दूसरे नायकने अपनी मानवती पत्नीको समझा-बुझाकर शान्त किया, फिर उसके अधरके रस (अथ च जल) से अपने मनको कामाग्नि को शान्त किया ॥५६॥ नायिकाओंके स्तनोंपर उनके पतियोने निर्दयतापूर्वक जो नखक्षत किये, वे उन (स्तनो) की कठोरताके कारण काश्मीरी केसरकी भाँति उन (स्तनो) के ऊपर ही रह गये, अन्दर प्रवेश नहीं कर सके ॥५७॥ कामी पुरुषोंने अपने प्रिय वर्ग (स्त्री वर्ग) में भी करताडन, दन्तक्षत, नखक्षत

१. श परिशाम्य । २. क न्व ग घ रमे प्रदीयजै । ३. = सवन् । ४. = लब्धमिति शेषः । ५. = व्याकुल । ६. श परिशाम्य । ७. श द्ये म्पू । ८. आ पन्ताल्लुङ् । ९. = अद्यमिति । दत्तितं । अद्यं निर्दयं यथा स्यात् तथा । पातितैरपि अङ्कृतैरपि । नखक्षतैः नखग्रणैः । योषिता वरुणोनाम् । स्तनयोः कुचयोः । काटिन्य-गुणेन कठोरतया । नवकुङ्कुमकेसरैरिव अनिनवकुङ्कुमविक्रमकैरिव । उपेक्ष बहिरेव । उपतस्थे स्थीयते स्म ॥५७॥

श्रुतिताप्यतिमात्रसंस्तबां मणिमालेष गुणैर्धिलासिनाम् ।

रमणोमणितर्मनोहरैः सुरतेच्छा पुनरेव संदधे ॥१९॥

सुभगाकृतिस्तीकृतं कलस्वर्णितं चाटुमनोहरं वचः ।

दयितासुरतेषु शृण्वता बहु मेने त्रिदिवो न कामिना ॥२०॥

इति वृद्धिमिते रतोत्सवे रमयित्वा क्षितिपः शशिप्रभाम् ।

सुखनिद्रमशेत कोमले शयने तद्भुजपाशवेष्टितः ॥२१॥

प्रक्षुब्ध क्षणमथ मङ्गलैकहेतौ विश्रान्ति समुपगते प्रभाततूर्ये ।

यामिन्या विरतिमिति प्रविश्य सूता भूभर्तुः सपदि निवेदयांभूनुः ॥२२॥

इत्यर्थः) । अजनिष्ट बजायत । जनेड् प्रादुर्भावे लङ् । मनोभुवः मन्मथस्य । चरितं चरित्रम् । वाममहो मनोहरमहो (अहो वामम् अहो मनोहरम्) वक्र वा । 'वामे (मो) वक्त्रे मनोहरः' इत्यमरः^१ । अर्वान्तर-
न्यास ॥१८॥ श्रुतिमिति । अतिमात्रसंस्तबात् अतिमात्रं मस्तबात् परिचयात् । बहुलानु 'भवात्-इत्यर्थः ।
'संस्तव' स्यात् परिचयः' इत्यमरः । मणिमालेव मणोना रत्नाना मालेव मात्स्यमिव । श्रुतितापि^२ छेदिता
अपि । विलासिना कामुकानाम् । सुरतेच्छा निधुवनेच्छा । मनोहरैः रुचिरैः । रमणोमणिते रमणोना वनितानां
मणितैर्गलरुचि । 'मणितं रतिकूजितम्' इत्यमरः । गुणैः तन्तुभिः । पुनरेव पश्चादेव । संदधे सघटिता ध्रियते
स्म वा । सुरतेच्छाश्रुतितापि गुणर्मणिमालेव महिलामणितैः पुनः सघटिता, भूयोऽपि सुरतेच्छाऽभायत^३—
इत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥१९॥ सुमगेति । दयितासुरतेषु^४ दयितानु नायिकानु सुरतेषु निधुवनेषु । सुभगाकृति
मनोहराकारयुक्तम् । स्तीकृतं स्तोत्कारम् । कलस्वर्णितम् अध्यस्तमनोहररत्नम् । चाटुमनाहर चाटुभिः विषयचर्च-
मनोहरम् । वचः वचनम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । कामिना कामुकेन । त्रिदिवः स्वर्गः । बहु महदिति । न मेने
न मन्यते स्म । बुधि मनि ज्ञाने कर्मण लिट् । जातिः ॥२०॥ इतीति । रतोत्सवे, इति एवम् । वृद्धि
प्रवृद्धिम् । इते गते सति । क्षितिप अजितसेनचक्रवर्ती । शशिप्रभा शशिप्रभादेशोम् । रमयित्वा क्रीडयित्वा ।
कोमले मृदुले । शयने शयनायाम् । तद्भुजपाशवेष्टितः तस्याः शशिप्रभाया भुज एव बाहुरेव पाशो रज्जुस्तन
वेष्टितः । सुखनिद्रं सुखेन सतोपेय युक्ता निद्रा यस्मिन् कर्मण तत्^५, इति क्रियाविशेषणम् । अयोत अनिद्रायत ।
शोड् स्वप्ने लङ् ॥२१॥ प्रक्षुब्धेति । अथ निद्रानन्तरम् । मङ्गलैकहेतौ मङ्गलस्य एकहेतौ मुख्यकारणे ।
प्रभाततूर्ये प्रभातस्य विभातस्य तूर्ये बाह्यविद्ये । क्षण क्षणपर्यन्तम् । प्रक्षुब्ध धोपयित्वा^६ । विश्रान्ति
विश्रामम् । समुपगते समुपयाते । सूताः मङ्गलपाठकाः । 'क्षत्रिपाद् बाह्याणोऽपि सूतः पारदवन्धिन्।'
इत्यभिधानात् । प्रविश्य गत्वा । भूभर्तुः चक्रिणः । यामिन्याः रात्रिः । विरति विरामम् । निवेदयांभूनुः

और कचग्रह (बाल पकड़ना) आदि चेष्टाएँ कीं । ओह कामदेवका चरित बिलकुल बिपरीत है ! ॥१८॥ जिस प्रकार अधिक उपयोगमें आनेसे टूटी हुई मणियोंकी माला डोरेसे पुनः जुड़ जाती है उसी प्रकार प्रचुर मात्रामे अनुभव कर लेनेसे विलासियोंकी संभोगकी टूटी हुई (पूरी हुई) भी इच्छा नायिकाओंके मुखसे निकले 'सो, सो, सो,' शब्दोंको मुनते ही पुनः जुड़ गई—उत्पन्न हो गई ॥१९॥ नायिकाओंके साथ सम्भोग करते समय उनके अत्यन्त सुन्दर स्तोत्कारको, उनके गहनोंके शब्दोंको, और प्रिय और मनोहर वचनोंको सुनकर कामियोने स्वर्गकी भी मामूली या तुच्छ समझा ॥२०॥ इस प्रकार रतोत्सवके बढ़नेपर चक्रवर्ती राजा अजितसेनने अपनी प्रिया शशिप्रभाके साथ संभोग किया फिर कोमल सेजपर उसकी बाहोसे वेष्टित हाँकर आरामसे सो गया ॥२१॥ इसके पश्चात् प्रभात होते ही मांगलीक बाजे थोड़ी देर बजकर बन्द हो गये, फिर स्तुति पाठकोने शीघ्र ही अन्दर प्रवेश करके राजाको रात्रिके समाप्त

१. आ इ 'समवात्' । २. = अहो वामम् अहो मनोहरम् । ३. = इति वनञ्जयः । ४. आ बहुलम् । ५. = छिन्ना । ६. वा 'जायदिव' । ७. = दयिताना नायिकानां सुरतेषु । ८. वा बोधयित्वा ।

यात्येषा नृवर विभावरी विकीर्णं संवृत्त्यांशुकमिव धाम तारकाणाम् ।
 अन्द्रैः स्तं जिगमिषति त्वदानेन्दुं शोभायै जगत इव प्रबोधयन्ती ॥६२॥
 सिन्दूरद्युतिरिव पूर्वदिक्पुरंध्र्याः सीमन्तान्तरविस्तृता विभाति सध्या ।
 मुखौर्वीमिव शयनं तव स्मितेन व्यामिश्रां दधतु र्विव विभातदीपाः ॥६३॥
 एतच्च प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं गच्छद्भिर्भ्रमरगणैर्विमुच्यमानम् ।
 ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्च संकोचं कुमुदवनं शुचैव धत्ते ॥६४॥
 पिङ्गत्वादिव विरहानलप्रलितमोत्सुक्यात्सर्वान् मिलद्रथाङ्गयुग्मम् ।
 वस्रोज्ज्वलमिव नाथ कुकुमाकं कामिन्यास्तव हृदयस्थले विभाति ॥६६॥

विज्ञापयामासुः । विद जाने पिङ्गत्वादिह ॥६२॥ या गति । नृवर नृणां [नृवर नृणां] वर श्रेष्ठ । चन्द्रे
 सोमे । अस्तम् अस्तपर्वतम् । जिगमिषति गन्तुमिच्छति सति । त्वदानेन्दुं तव त्वं आननमेवन्दुश्चन्द्रः, तम् ।
 रूपकम् । जगत, लोकस्य । शोभायै शोभांनिमित्तम् । प्रबोधयन्तीव निवेदयन्तीव । एषा इयम् । विभावरी
 निशा स्त्री । विकीर्णं विस्तीर्णं । तारकाणां नक्षत्राणाम् । धाम कान्तिम् । अनुकमिव वसनमिव । संवृत्त्य
 संकोचयित्वा । याति गच्छति । या प्रापणे लट् । उपेक्षा । ६३॥ सिन्दुरेति । उर्वीमिव भूपते । पूर्वदिक्-
 पुरंध्राः पूर्वदिगेव पुरंध्रो नारे, तस्या । रूपकम् । सीमन्तान्तरविस्तृता सीमन्तस्य देशमध्यपट्टतरस्तरे
 मध्ये विस्तृता वितृता । सिन्दूरद्युतिरिव सिन्दूरस्यै चूर्णविशेषस्य^१ द्युतिरिव कान्तिरिव । सध्या^२ प्रभात ।
 विभाति विराजते । आ दीप्तौ लट् । तवः शयन शय्यातलम् । मुञ्च त्वयः । मुञ्च मोक्षणे लोट् । तव ते ।
 स्मितेन मन्दस्मितेन । व्यामिश्रा मिश्रितम् । र्विव कान्तिम् । विभातदीपा प्रदीपाः । दधतु धरन्तु । दृष्ट्वा
 चारणे लोट् । उपेक्षा ॥६४॥ एतदिति । प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं प्रविकसतोऽम्बुजस्य कमलस्याभिमूल्यम्^३ ।
 गच्छद्भिः सर्पद्भिः । भ्रमरगणैः भ्रमराणां मधुराणां गणैः समूहैः । विमुच्यमानं त्यजमानम् । ब्रह्माण्डप्रसृत-
 भवद्यथाजितश्च ब्रह्माण्डेषु लोकेषु लोकलुब्धयोग, प्रसूतेन व्याप्तेन भरतस्तव यशसा कीर्त्या जिता विजिता
 योः शोभा यस्य तत् । एतत् इदम् । कुमुदवनं कुवलयवनम् । शुचैः शोकेनव । संकोचं मुकुलितम् ।
 (मुकुलितावस्थाम्) । धत्ते धरति । उपेक्षा ॥६५॥ पिङ्गत्वादिव । नाथ भो नाथ । पिङ्गत्वात् हेमवर्ण-
 त्वात् । विरहानलप्रलितम् [इव] विरह एव विद्यां एवानलो बल्लिस्तेन प्राल्प्य प्रलितमिव । ओत्सुक्यात्,
 सरसि सरोवरे । मिलद्रथाङ्गयुग्मं मिलत् संयोजत्^४ रथाङ्गानां चक्रवाकानां युग्मं युगलम् । तव ते ।

होनेकी सूचना इस प्रकार दी ॥६२॥ राजन् । आप सब राजाओमें श्रेष्ठ है अब चन्द्रमा अस्त
 होना चाहता है, अतः जगत्की शोभा बढानेके लिए आपके मुखरूपी चन्द्रमाको जगाती हुई-सी
 यह रात्रि ताराओकी कान्तिरूपी फेले हुए वस्त्रको लपेटकर जा रही है ॥६३॥ राजन् प्रभातकी
 सध्या ऐसी जान पड़ती है मानो पूर्वदिशा रूपी सौभाग्यवती नायिकाका मागमें भरी हुई
 सिन्दूरकी द्युति हो । अब आप सेव छोड़िये । ये प्रभातके दीपक आपकी मुसकानमें मिली हुई
 कान्तिको धारण करें ॥६४॥ राजन सारे ब्रह्माण्डमें फेले हुए आपके यगने जिसकी श्रो-शोभा
 जीत ली है और भौरोके झुण्ड जिसे छोड़-छोड़कर विकसित कमलओकी ओर चले जा रहे हैं,
 वह (पराजित और अपमानित) कुमुदवन मानो शोकेके कारण सकुचित हो रहा हो ॥६५॥
 राजन् ! सरोवरमें चक्रवाक और चक्रवाकी का युगल बड़ी उत्सुकतासे मिल रहा है । पोले

१. आ 'निशा स्त्रा' इत्यस्य स्थाने 'रात्रि' इति सङ्गुलभ्यते । २. श भूमि ते । ३. = नागसंभवस्य ।
 सिन्दूरं नागसंभवम्^४ इत्यमरः । ४. आ चूर्णविशेषस्य । ५. = प्रभातम्, प्रगतना सध्या इति यावत् । ६. वा
 लट् । ७. वा चारणे च लट् । ८. = सामीप्यम् । ९. = मुकुलितावस्थाम् । १०. = संयोगं भजत् । ११. आ
 संयोजयत् । १२. वा चक्रवाकाणां ।

धर्माशुद्धयमर्हाभरुद्धमूर्तेः कुन्ताग्रैरिव किरणाङ्कुरैः प्रणुभम् ।
 संश्लिष्यद्वनगिरिगह्वरेषु वृत्तिं ध्वान्तं त्वद्विषदनुशीलतां दधाति ॥६७॥
 प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः पतद्भिर्मुक्ताभैरवनिरुद्धाः परिष्कृताङ्गाः ।
 रत्युत्पथमसलिलो भवानिवैते लक्ष्यन्ते तरुणलतावधूपगूढाः ॥६८॥
 गच्छन्ती क्षितितलरोपितैकपादा शय्यास्थं यदतिरसेन चुम्ब्यतीशम् ।
 पाथेयं धरणिपते वधूर्ध्रुवं तद्गुह्येते गुरुचिरहाश्चलङ्घनाय ॥६९॥

कामिन्या वनितायाः । हृदयस्थले हृदयस्थ स्थले प्रवेशे । कुङ्कुमाक्तं कुङ्कुमेन काश्मीरजेनावर्तं रक्तम् ।
 वलीअद्वयमिव वलीअयोस्तनयोद्वयमिव द्वन्द्वमिव । विभाति भासते । उद्रेका ॥६६॥ धर्माशोरिति । उद्वय-
 मर्हाभरुद्धमूर्तेः उदयेन उदयनाम्ना मर्दोप्रेण पर्वतेन रुद्धा आवृता मूनिरवयवो यस्य तस्य । धर्माशोः सूर्यस्य ।
 कुन्ताग्रैरिव कुन्तानामामुवविशेषाणामग्रैरिव । किरणाङ्कुरैः किरणानां मयूक्षानामङ्कुरैः । प्रणुनं विद्धम् ।
 वनगिरिगह्वरेषु वनेषु गिरिषु गह्वरेषु गुहासु । मश्लिष्यत्^१ संबन्धयत् ध्वान्तम् अश्वतमसम् । त्वद्विषदनु-
 शीलतां तव ते द्विपता शत्रूणामनुशीलतां सादृशम् (यत्र तम्) । वृत्तिं वर्तनम् । दधाति धरति ।
 दुषाञ् चाण्ये च लट् । उद्रेका (उपमा) ॥६७॥ प्रत्यूषेति । पतद्भिर् आपतद्भिः । मुक्ताभैः
 मोक्षितकममानैः । प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः प्रत्यूषे प्रभाते उद्भवन्वोत्पथमागस्य हिमस्य बिन्दुभिः ।
 परिष्कृताङ्गाः । परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं येषां ते । तरुणलतावधूपगूढाः तरुणाः^२ कोमलाः लता एव वत्कर्यं
 एव वक्ष्यन्मिव, तामिर्गूढा आलिङ्गताः । एते इमे । अनिरुद्धाः वृक्षाः । रत्युत्पथमसमपलिलः रती संभोगे
 उत्पथमपवर्नं श्रमाउजातं सलिलं यस्य सः । भवानिव त्वमिव । लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते । लक्ष्ये^३ दर्शनाङ्कु-
 मशोर्लट् उपप्रेक्षा ॥६८॥ गच्छन्तीति । धरणिपते भूमिपते । क्षितितल रोपितैकपादा क्षितितले भूतले रोपिताः
 क्षिपन् (एक) पादो यस्याः^४ सा । वधू वनिता । शय्यास्थं शयनस्थम् । ईशं प्रभुम् । यत् यस्मात् ।
 अतिरसेन अतिप्रीत्या । चुम्बति^५ चुम्ब्य वक्ष्यमयोगं लट् । तत् गुरुचिरहाश्चलङ्घनाय गुरुर्महान् विरह एव
 वियाग एव अथवा मार्गस्त्वय लङ्घनाय गमनाय । पाथेयं मार्गहितम् । गृह्णीते स्वीकरोति । ध्रुवं^६ निश्चयम् ।

होनेसे दोनो—चकवा और चकवी, ऐसे जान पड़ते है मानों विरहकी अग्निसे लिप्त हों ।
 राजन् ! सरोवरमे दोनोंकी वही शोभा है जो आपके सीनेपर आपकी नायिकाके कादमीरी
 केसरसे लिप्त स्तनोकी होती है ॥६६॥ राजन् ! इस समय सूर्य उदयाचलको ओटमें है । उसको
 भालोकी नौक सरीखी किरणीमे घायल हुआ अन्धकार सघन वनों और पर्वतोंकी गुफाओंमें
 घुसकर आपके शत्रुओका अनुसरणकर रहा है ॥६७॥ राजन् ! ये वृक्ष इस समय आप सरीखे
 लग रहे हैं । आप लताओंके समान छरहरे वदनकी युवतियोंसे आलिगन करते है, ये छरहरे
 वदनकी युवतियोंके समान नवीन लताओंसे आलिगन कर रहे हैं । आप संभोगके परिश्रमके
 कारण मोतियों जैसी पसीनेकी बिन्दुओसे मुशोभित होने लगते है तो ये भी प्रभातकी वेलामें
 गिरनेवालो मोतियो सरीखी ओसकी बिन्दुओसे विभूषित हो रहे हैं ॥६८॥ राजन् ! शयनागार-
 से बाहर जानेवाली एक नायिका अपने एक पैरकी नीचे (और एक को सेजके ऊपर) रखकर,
 सेजपर लेटे हुए पतिका जो खूब ही स्नेहसे चुम्बनकर रही है सो ऐसा जान पड़ता है मानो वह

१. अ क ख ग घ 'रबनिरुद्धः । २. = संबन्ध भवत् । ३. = नूदनाः । 'तरुणः कुञ्जपुष्पे
 स्यादेरण्डे यूनि नूतन' इत्यनेकार्कसप्रसङ्गः । ४. सा लक्षि । ५. = यथा । ६. = चुम्बनं करोति ।
 ७. = निश्चितम् ।

लिखं ते वपुरनपायिनामुनैव^१ भारेणोन्नतिजयिनः कुचद्वयस्य ।
 मुष्पैर्म सुतनु वृथैश्च रोषभारं नो किञ्चित्कलमतिभग्नपीडनेन ॥७०॥
 नत्वाहं विरहभयाङ्गणामि यस्मादृष्टापि त्वमसि हृदि स्थिता सदा मे ।
 किं स्वम्भोजमुखि तवैव देहतापी कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः^२ ॥७१॥
 कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमाद्रंभावं कः कोपः प्रणयिनि चक्रवाकवृत्तो ।
 इत्येवं निजविरुतैर्निशान्तशंखी वक्ति त्वामिव मुहुरेष ताम्रचूडः ॥७२॥
 काठिन्यं तव हृदये स्तनद्वयस्य सांनिध्याश्च खलु सुकैशि कल्पयामि ।
 किं जानु त्यजति महामृतस्य वृत्तो माधुर्यं विषयनमध्यसंप्रसूनः ॥७३॥

कपकम् (उदप्रज्ञा च) ॥६९॥ लिखन्मिति । इतः परं कश्चिद्व्यापको नायकी प्रति वक्ति । वयमागम्यैः
 कुरुकम् । सुतनु शोभनगात्रि । अनपायिना विगमरहितेन । अमुनैव एतेनैव । उन्नतिजयिनः^१ उन्नतिं जयिनः
 पूजयन्—इत्यर्थः । कुचद्वयस्य वक्षोजगुलस्य । भारेण, ते तव । वपुः शरीरम् । लिखन् पीडितम् । (अतः)
 वृथैश्च फलरहितैश्च । इमम् एतम् । रोषभारं रोषस्य कोपस्य भारमतिशयम् । मूत्रं त्यज । मूत्रं चूडं^४ मोक्षणे
 लट्^३ । अनिमग्नरोडनेन अतिभग्नस्यातिपीडितस्य पीडनेन बाधनेन । किञ्चित् कल किञ्चित्प्रयोजनम् । नो
 न भवति ॥७०॥ नात्वेति । अस्माजमुखि अस्मोजमिव कमलमिव मुखं यस्याः तस्याः संबोधनम्^५ । विरह-
 भयात्^६ विरहाद् विद्योभाद् भयात् । स्वा स्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति स्वा—आदेशः । अहम्, न भणामि
 न भवामि भण शब्दे लट् । यस्मात् कारणात् । त्वम्, दृष्ट्वापि खिलोक्त्यापि । सदा अनवरतम् । मे मम ।
 हृदि हृदये । स्थिता, अस्ति भवसि । अस भूवि लट् । किन्तु विद्योऽस्ति । आमङ्गलावसानं अमङ्गलमेव
 मङ्गलाभाव एवावसानं यस्य स । अयम् एवः । कोपः क्रुध् । नियत निश्चयेन । तवैव भवत्या एव । देह-
 तापी देहस्य नाशस्य तापी संतापकारी । भवति । उपमा ॥७१॥ कालुष्यमिति । कालुष्यं^७ क्लेशम् ।
 त्यज मुञ्च । त्यज हानौ लोट्^८ । तुङ्गम् उन्नतम् । आद्रंभावं आद्रंत्वम् । भज आश्रय । चक्रवाकवृत्तो
 चक्रवाकस्य रथाङ्गपथिगो वृत्तिरिव वर्तनमिव वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । वृत्तिः—इत्यर्थः (?) । प्रणयिनि
 नायके । कोपः क्रोधः । कः न कोऽपीत्यर्थः । इत्येवं प्रोक्तरकारेण । निजविरुतैर् निजस्य स्वस्य विरुतैर्
 र्वनिमिः । निशान्तशंखी निशान्तस्य प्रमानकालस्य शंखी प्रशमाशौलः, सूचक इत्यर्थः । एष अयम् । ताम्रचूडः
 ताम्रा लोहितवर्णा चूडा शिखा यस्य स, कुबकुट इत्यर्थः । मृदु^९ पुनः । त्वामिव भवतीमिव । वक्ति व्रवीति ।
 तव परिभाषणे लट् । उपमा, उत्प्रेक्षा ॥७२॥ काठिन्यमिति । सुधसि सु शोभनाः केशाः शिरोरुद्धा यस्या-
 रस्याः संबोधनम्^५ 'अमहानञ्—' इत्यादिना हो । स्तनद्वयस्य स्तनयोः कुचयोर्द्वयस्य युगलस्य । सांनिध्यात्
 सामीप्यात् । समर्गात्—इत्यर्थः । तव ते । हृदये उरसि । काठिन्यं कठिनत्वम् । न खलु कतायामि न सकल

महान् विरहके मार्गको तय कानेके लिए कलेवा ले रही हो ॥६९॥ हे सुन्दर शरीरवाली !
 तेरा शरीर अत्यन्त उन्नत स्तनोके कभी विलग्न होनेवाले इस भागसे पीडित है अतः व्यर्थके इस
 रोषके बोझको छोड़ दे । अत्यन्त पीडितको पीडा देनेसे कुछ फल भी तो नहीं मिलता ॥७०॥
 हे कमलके समान मुख वाली ! मैं विरहके भयसे तुझसे नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि तू मानके दोष-
 से दूषित होकर भी सदा मेरे हृदयमे बसी रहनी है । किन्तु इस लिए कह रहा हूँ कि अन्तमें
 अमंगल करनेवाला यह कोप निश्चयसे तेरे ही शरीरको मन्ताप देगा ॥७१॥ प्रभातकी सूचना
 देनेवाला यह सुर्मा अपने शब्दोंमें मानो तुमसे बार-बार यह कह रहा है कि चित्तकी कलुषता
 को छोड़ो और श्रेष्ठ कोमलताको धारण करो । चक्रवेकी भाँति स्नेह करनेवाले घरवालेपर कोप
 कैसा ? ॥७२॥ हे मुन्दरवाली वाली ! मैं निश्चय ही यह कल्पना नहीं कर सकता कि स्तनोके

१. म भारेणान्न । २. अ^१ वसानम् । ३ = नायिका । ४ = उन्नत्या जस्योत्थेवं शौलं, तस्य । ५.
 आ मुखल । ६. सा लोट् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = विद्योभययात् । ९. = कलुषताम् । १०. सा लोट् । ११. = पुनः
 पुनः । १२. = तत्संबुद्धौ ।

कोऽपीत्थं प्रणयवशा विवृत्य सुतां प्रेमान्धः प्रियवचसातुनीय कान्ताम् ।

संपूर्णाधिगतलपोमानभावाभालिङ्गनपदपञ्चवैविध्यते ॥७४॥

ससीनां रुचिरनवातपल्लुतानामात्वातिशयमरञ्जितेतरैभ्यः ।

तिग्मांशोर्विदधति बाजिभूषकास्ते प्रौढत्वे करकृतकुङ्कुमाः^१ प्रतीक्षाम् ॥७५॥

शक्नोतीति तुमधरीकृतप्रतापी भूपालो न अल्लु ममोपरि प्रयातम् ।

रोचिष्मानिति मयतोभयादिवायमाकाशप्रणयि शनैः करोति बिम्बम् ॥७६॥

यामि । विषवनमध्वसंप्रसृतः विषाणा विषवृक्षाणा वनस्य काननस्य मध्ये संप्रसृतः संजातः । महामृतस्य महामृत-
रूपस्य । वृक्षः महीरुहः । माधुर्यं स्वादुत्वम् । जातु सकृत् । त्यजति किं मुञ्चति किम् । न त्यजति—इत्यर्थः ।
अर्षान्तरित्यादा ॥७३॥ कोऽपीत्थमिच्छि^२ । प्रेमान्धः प्रेम्णा प्रीत्या अन्धो मूढः । कोऽपि कश्चिन्नायकः । प्रणय-
वशा प्रणयेन स्नेहेन जातया वशा कोपेन^३ । विवृत्य पराङ्मुखी भूत्वा । मुक्ता निद्रायिताम् । कान्तां वनिताम् ।
इदम् अनेन प्रकारेण । प्रियवचसा प्रियवचनेन । अनुनीय संतप्य । आलिङ्गन् आश्लिष्यन् । नल्लपदपल्लवैः
नल्लानां कररुहाणां^४ पदा एव शता एव पल्लवाः किसलयानि, तैः । संपूर्णाधिगतलपोमानभावा^५ संपूर्ण गताया
याताया लताया वल्लर्या उपमानः समानो भावो यस्याः ताम् । विधने करोति । दुष्पाञ्च बाणै^६ लट् । कुल-
कम् ॥७४॥ ससीनामिति । रुचिरनवातपल्लुतानां रुचिरेण मनोहरेणातपेन^७ उद्योतेन प्लुतानां^८ मग्नानाम् ।
सप्लुतानां नुरङ्गनाणाम्^९ । अरञ्जितेतरैभ्यः अरञ्जितेभ्यः कुङ्कुमालङ्कारशून्येभ्य इतरैभ्यः कुङ्कुमालङ्कारिभ्यः^{१०}
स्तुरैभ्यः । अतिशयं भेदम् । अज्ञात्वा अवधत्वा । ते, प्रौढत्वे तीक्ष्णत्वे । करकृतकुङ्कुमाः करे हस्ते कृतं
कुङ्कुम ये तैः बाजिभूषकाः^{११} बाजिनस्तुरङ्गान् (भूषयन्तीति बाजि-)भूषका अलङ्कारकाः । तिग्मांशोः सूर्यस्य ।
प्रतीक्षा^{१२} वाञ्छाम् । विदधति कुर्वन्ति । बालातपेन व्याप्तान् सूर्यनुरागान् कुङ्कुमरञ्जितेनान्^{१३} ज्ञात्वा
रञ्जितानपि रञ्जयन्ति^{१४} इत्यर्थः^{१५} । भ्रान्तिमान् ॥७५॥ शक्नोतीति । अचरीकृतप्रतापिभूपालः^{१६} अचरीकृता

सप्तर्षेस्ते तुम्हारे हृदयमे कठोरता आ गई है । विषवनके बीचमे उत्पन्न हुआ अमृत वृक्ष क्या
कभी अपनी मधुरताको छोड़ सकता है ? ॥७३॥ किसी रागान्ध नायकने ऐसे प्रिय वचन सुना
कर, प्रणयक्रोपसे विमुख होकर सोई हुई अपनी नायिकाको अनुकूल बना लिया । फिर
आलिंगन करते हुए उसने उसे नल्लक्षतीके पल्लवोंसे अलंकृत करके पूर्णतया लताको समता
पाने योग्य बना दिया । वह छरहरे शरीरसे पहले अशता लताके समान थी, अब नल्लक्षत
रूपी पल्लवोंसे अलंकृत होकर पूरी तीरसे लताके समान हो गई । नल्लक्षतीने पल्लवोंकी कमोको
दूरकर दिया ॥७४॥ राजन् ! घोड़ोंका शृगार करनेवाले लोग, घोड़ाको केशर लगा रहे
थे । इतनेमें बाल सूर्यकी सुन्दर अरुण आभाके पड़ते ही सभी घोड़े अरुण वर्णके हो गये । तब
उन घोड़ोंका पहचानना कठिन हो गया, जिन्हें केशर नहीं लगाई गई थी; क्योंकि जिन्हें केशर
लगाई जा चुकी थी; उनसे उन घोड़ोंका अन्तर ही ज्ञात नहीं हो सका, जिन्हें केशर नहीं
लगाई गई थी ! ऐसी स्थितिमें शृगार करनेवाले लोग हाथमें केशर लेकर सूर्यके प्रौढ़ होनेकी
प्रतीक्षा करने लगे ॥७५॥ प्रतापी राजाओंके छक्के छुड़ानेवाला राजा (अजितसेन) निश्चय ही

१. कलश क म भूषकास्ते । २. आङ् कुङ्कुमं । ३. आश क इति । ४. = प्रणयकोपेन । ५. = पदाभि
लिङ्गान्येव क्षतान्येव । ६. = संपूर्णाधिगतो लताया उपमानभावः साम्यं यया सा, ताम् । ७. श बाणैश्च लट् ।
८. = प्रभातारुणिम्ना । ९. = व्याप्तानाम् । १०. आ तुराणाम् । ११. श रैभ्यः । १२. श सुताः ।
१३. = प्रतिपालनाम् । १४. = रञ्जयन्ति । १५. = प्रभातारुणिम्ना प्रभातितानवधान् रञ्जितान् ज्ञात्वा न
रञ्जयन्ति बाजिभूषकाः । परं करकृतकुङ्कुमाः सन्तः ते तिग्मांशोः प्रौढत्वं प्रतीक्षन्ते । १६. एष टीकाश्रयः पाठः
अतिष्ठ तु 'अचरीकृतप्रतापिभूपालः' इत्येव सम्पलभ्यते ।

बन्दिभ्यो ललितपदक्रमाभिरामां संशृण्वन्मिति दयितोपमां स वाणीम् ।

'निःस्पन्दोच्छ्वसददरप्रसुप्तभृङ्गैरम्भोजैः सप्रममजन्तृपः प्रबोधम् ॥७७॥

अथ कथमप्यपास्य दयिताभुजपाशमसा-

वरुणरुचा प्रसाध्यति पूर्वदिशं तपने ।

रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणि-

प्रकरञ्चितं पयोनिधिमिव व्यमुचच्छ्वयनम् ॥७८॥

विराकृताः प्रतापिनः तेजस्विनो भूपाला राजानो येन स' । मम मे । उपरि प्रयातम् ऊर्ध्वं प्रयातं मागतम् । ईक्षितुं बिलोकितुम् । न खलु शक्नोति न समर्थो भवति । इति मत्वा । भवतः तत्र । मयादिब भीतिरिव । अयम् एवः । रोचिष्मान् सूर्यः । बिम्बं मण्डलम् । आकाशप्रणयि आकाशे गगने प्रणयि प्रसरणयुक्तम् । 'प्रणयः प्रेम्णि बिम्बे याक्त्वा प्रसरयोरपि' इति विरचः । शनैः मन्दम् । करोति विदधाति । उत्प्रेक्षा ॥७६॥ बन्दिभ्य इति । बन्दिभ्यः मङ्गलपाठकैः । ललितपदक्रमाभिरामा ललिताना मनोहराणां पदामां तिङ्-सुबन्त-(सुपतिङन्त-) रूपाणां क्रमेण परिपाटया अभिरामां मनोहराम्, पक्षे, ललितेन मृदुलेन पदक्रमेण पादस्था-सेनाभिरामाम् । दयितोपमां भार्योपमाम् । इति उक्तप्रकाराम् । वाणी वचनम् । सशृण्वन् आकर्णयन् । सः नृपः चक्रो । निष्पन्दोच्छ्वसददरप्रसुप्तभृङ्गैः निष्पन्दाश्चलनरहिता उच्छ्वसन्त उच्छ्वासं कुर्वन्तः उदरे अन्तः प्रसुप्ता भृङ्गा मधुकरा येषां तैः । अम्भोजैः कमलैः । सम साकम् । प्रबोध जागरम्, पक्षे विक्रमनम् । अभजन् आश्रयत् । मत्र^१ सेवायां लङ् । सङ्कोचः ॥७७॥ अथेति । अथ जागरणान्तरम् । तपने सूर्ये । अरुणरुचा अरुणया लोहितया रुचा काम्या । पूर्वदिशम् इन्द्रदिशम् । प्रसाध्यति सति भूयसति सति । अनो चक्रवर्ती । दयिताभुजपाश दयितायाः शशिप्रमाया भुज एव पाश, तम् । कथमपि येन केनापि (प्रकारेण) । अपास्य त्यक्त्वा । रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणिप्रकरञ्चित रतिकलहस्य प्रणयकलहस्य प्रसङ्गेन गलितस्य पतित-स्योज्ज्वलहारस्य प्रज्वल (प्रोज्ज्वल-) हारस्य मणाना मौक्तिकाना प्रकारेण समूहेन चितं^२ विततम् । पयो-निधिमिव समुद्रमिव । शयनं शय्याम् । व्यमुचत्^३ । मुच्लृञ् मोक्षणे लुङ्^४ । 'सतिशास्ति—' इत्यादिना

अपने ऊपरसे मेरा जाना देख नहीं सकेगा, मानो यही सोचकर सूर्य आपके डरसे अपने बिम्बको धीरे-धीरे आकाशमें चढ़ा रहा है ॥७६॥ मंगलपाठ करनेवालोंसे नायिकाके समान सुन्दर पद-बिन्द्यास (सुबन्त तिङन्त पदोका विन्द्यास, पैरोका विन्द्यास) से मनको रमानेवाली वाणी सुनता हुआ राजा अजितसेन, कमलोंके—जिनके अन्दर निश्चेष्ट, धीरे-धीरे श्वास लेनेवाले भीरे सोए हुए थे—साथ-ही-साथ प्रबुद्ध हो गया । कमल खिल उठे और राजा जाग उठा । ॥७७॥ सूर्य अपनी अरुण आभासे अभी पूर्व दिशाके शृंगार करनेमें ही लगा हुआ था, किन्तु राजा अजितसेनने जागते ही जिस किसी तरह अपनी प्रियाके बाहुपाशसे निकलकर सेज छोड़ दी, जो रतिकलहके प्रसंगसे गिरे हुए हारके मणियोंसे व्याप्त होकर रत्नाकरकी भाँति दृष्टिगोचर

१. क ल ग घ ङ निःस्पन्दी । २. अ आ इ मृञ्छच्छ्वयनम् । ३. = वचनम् । ४. श मञि । ५. = व्याप्तम् । ६. = मुमोष । ७. आ लङ् ।

द्वाराप्रप्रथितामलारुणमणिज्योतिर्मिहस्त्विमि-
मिक्षाङ्गावयवः स्वभावमहता दीप्तो वपुस्तेजसा ।
धर्माशोरदयाचलेन्द्रशिखराद्भ्युज्जिह्वासोः^१ ध्रियं
भेजे भूमिपतिः स वासभवनाभिर्यजनानन्दितः ॥७६॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्क चन्द्रप्रबचरिते महाकाव्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

अङ् । उपमा ॥७८॥ द्वारेति । उत्सृपिभिः व्यापनशीलैः^२ । द्वाराप्रप्रथितामलारुणमणिज्योतिभिः द्वारस्याग्रं पुरोभाग, तत्र प्रथितानां^३ स्थापितानाम् अमलानां निर्मलानामरुणमणीनां पद्मरागमणीनां ज्योतिभिः किरणैः । मिश्राङ्गावयवः मिश्रो^४ विविधितोऽङ्गस्य मात्रस्यावयवो यस्य सः । स्वभावमहता स्वभावेन^५ स्वरूपेण महता पृथुलेन । वपुस्तेजसा वपुषः शरीरस्य तेजसा काम्यया । दीप्तः देदीप्यमानः । जगन्नन्दिनः^६ जगतो लोकस्य नन्दिनो मनोहरात् (जगत् लोकं मन्दयतीत्येवं शीलम्, तस्मात्, मनोहरात्—इत्यर्थः) । वासभवनात् गर्भागारात् । निर्वन् निर्गच्छन् । सः भूमिपतिः सार्वभौमः । उदयाचलेन्द्रशिखरात् उदयाचलेन्द्रस्योदयपर्वतस्य शिखरात् शृङ्गात् । अभ्युज्जिह्वासोः उदितुमिच्छोः । धर्माशोः सूर्यस्य । ध्रियं संपदम् । भेजे भजतिस्म । भज^७ सेवाया लिट् ॥७९॥

इति वीरनन्दिकृतानुदयाङ्क चन्द्रप्रबचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

हो रही थी ॥७८॥ दरवाजेके अगले भागमें निर्मल पद्मरागमणि जड़े हुए थे, उनकी ऊपर फैलनेवाली प्रभासे राजा अजितसेनके शरीरके सारे अवयव बदल गये—लाल हो गये और वह स्वयं भी अपने स्वाभाविक अत्यधिक तेजसे देदीप्यमान हो रहा था अतएव लोगोंको आनन्द प्रदान करनेवाले अपने निवासके भवनसे निकलते समय अजितसेन उदयाचलके शिखरसे उदित होनेवाले सूर्यकी सुषमाको प्राप्तकर रहा था ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रबचरित
महाकाव्यमे दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

१. क ल ग घ म 'दभ्युज्जिह्वासोः' । २. आ 'शीलैः' इति नास्ति । ३. = क्षयितामाम् । ४. वा 'वि' नास्ति । ५. = प्रकृत्या । ६. एष टीकाकृतमिमतः पाठः प्रतिपु तु 'जनानन्दितः' इत्येव सम्पुण्यते । ७. या भजि । ८. आ वा चन्द्रोदयसूर्योदय वर्णनो नाम वक्ष्यते सर्गः ।

[११. एकादशः सर्गः]

अथ प्रवृद्धे दिवसे विशांपतिविधाय स स्नानपुरःसराः क्रियाः ।
 गृहीतवस्त्राभरणोऽधिशिथिये^१ सभागृहं कल्पितसिंहविष्टरम् ॥१॥
 तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थितं प्रधानदौवारिकसूचितागमाः ।
 महीतलाशिलप्रशिखेन मौलिना नृपाः प्रणमुः प्रणतैकवत्सलम् ॥२॥
 ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने यथायथं सम्भवजने व्यवस्थिते ।
 विलोकयामास स सेवयागतं सभाजिरे राजगजं प्रजापतिः ॥३॥

श्रीमन्नरामचन्द्रकिरीटकोटोमाणिक्यसंभवविलासमरीचिकाभिः ।

आलौढपादयुगलजिनकुन्धुनार्यं नित्यं नमामि जिनराजविनूतपादम् ॥^२

अथेति । अथ सूर्योदयानन्तरम् । दिवसे दिने । प्रवृद्धे सति एषिते सति^३ । स. विशांपति नरपतिः । स्नानपुरस्सरा. स्नानमेव पुरस्सरं पूर्वं यासा ताः । क्रियाः कार्याणि । विधाय कृत्वा । गृहीतवस्त्राभरणं गृहीतानि स्वीकृतानि^४ वस्त्राभरणानि येन स. । कल्पितसिंहविष्टरं कल्पितं विरचितं सिंहविष्टरं सिंहासनं यस्मिन् तत् । सभागृहम् आस्थानमण्डपम् । अधिशिथिये आश्रयति^५ स्म । शिञ्^६ सवाया लिट् ॥१॥ तमिति । प्रधानदौवारिकसूचितागमाः प्रधानेन मुख्येन दौवारिकेन सूचितो विज्ञापित आगम आगमन येषां ते । नृपाः भूमिपा । प्रणतैकवत्सलं प्रणतेषु एको मुखगो वत्सल^७ प्रीतिर्यस्य तम् । सर्वावसरव्यवस्थितं सर्वासि प्रजानामवसरे^८ व्यवस्थितं स्थितम् । तं चक्रवर्तिनम् । एष्य आगत्य । महीतलाशिलप्रशिखेन महीतले भूतले आशिलश्लिष्टा संस्पृष्टा^९ शिवा अवभागो यस्य तेन । मौलिना मुकुटेन । प्रणमुः प्रणमन्ति स्म । नमः^{१०} प्रह्वस्वे शब्दे लिट् ॥२॥ तन् इति । ततः पदवात् । प्रतीहारः^{११} कृतप्रवेशने प्रतीहारण दौवारिकेण कृत प्रवेशनमन्तर्गमनं यस्य तस्मिन् । सम्भवजने मध्ये सभायोग्ये जने लोके । यथायथं मर्यादामनतिक्रम्य । व्यवस्थिते सति स्थिते मति । स. प्रजापतिः चक्रवर्ती । सेवया सेवानिमित्तम् । आगतम् आयातम् । राजगजं गन्ध-

इसके पश्चात् दिन चढ़ते ही राजा अजितसेनने स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर वस्त्र और आभूषणोंको धारण किया । फिर वह सभा-भवनमें पहुँचा, जहाँ सिंहासन रखा हुआ था ॥१॥ वह आम सभाका भवन था । वहाँ सबको आनेका और बोलनेका भी अवसर दिया जाता था । इसीलिए उसका नाम सर्वावसर रखा गया था । चक्रवर्ती उस सभामें जाकर सिंहासनपर बैठ गया । फिर प्रमुख द्वारपालके द्वारा अपनी सूचना अन्दर भेजकर आगन्तुक राजाओंने विनम्र व्यक्तिभोजके एकमात्र स्नेही अजितसेनके पास जाकर उन्हें मस्तक नवाकर प्रणाम किया । प्रणाम करते समय उनके मुकुटका ऊपरी भाग भूमिका स्पर्श कर रहा था ॥२॥ इसके पश्चात् द्वारपालकी सूचनाके अनुसार सभासदोंने प्रवेश किया, और वे वहाँ अपने-अपने योग्य स्थानपर बैठ गये । जब सभी लोग वहाँकी व्यवस्थाके अनुसार बैठ गये, राजा

१. क थ ग च 'अधि' । २. आ इदं पद्यं नोपलस्यते । ३. आ 'एषिते सति' इति नास्ति । ४. = परिचारितानि । ५. आ 'अधि' इति नास्ति । ६. आ आश्रयते । ७. श शिञ् । ८. = स्निग्धः । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' वत्सोऽस्त्यस्य, वत्सलः, सिध्मादिस्वाद् । इति ह्रैः । ९. = अवसरोऽस्त यस्मिन्, तस्मिन्, सर्वसि-
 द्यर्थः । १०. आ संश्लिष्टा । ११. आ गम् । १२. आ श प्रतिहारः ।

अनल्पसत्त्वं गुरुवंशशालिनं प्रलम्बहस्तं स्वमिवावलोक्य तम् ।
 मतङ्गजं क्रोडयितुं कुतूहलादच्युत्तुर्द्वीरनरान्नराधिपः ॥४॥
 तदाक्षयैकः समुपेत्य धोरधीर्जधानं मुष्टया घनपीचरे करे ।
 तमेति'यावत्स जघेन वृष्टतस्तुतोद तावद्वृश्मारायापरः ॥५॥
 निवृत्य^१ यावत्किल वृष्टवर्तिनं प्रतिप्रधावत्यतिकोपपीडितः ।
 निपत्य तावन्निजलाघवात्परश्चकार पार्श्वे घनलोष्टताडनम् ॥६॥

हस्तिनम् । सभाजिरे सभाया आस्थानस्याजिरेऽङ्गणे । 'अङ्गणं चत्तराजिरे' इत्यमरः । विलोकयामास
 बीजां चक्रे ॥३॥ अनक्षयेति । नराधिपः भूमिपालः । अनल्पसत्त्वम् अनल्पं महत् सत्त्व सामर्थ्यं यस्य तम् ।
 गुरुवंशशालिनं गुरुणा महता वंशेन पुष्टास्थना^३ (पुष्टास्थिना-इत्यर्थः) शालिनं^४ शोभिनम्, पक्षे महाकुलेन
 आसिनम् । 'वेणो वणो कुले' वंशः पुष्टस्यावयवेऽपि च ।' इत्यभिधानात् । प्रलम्बहस्तं प्रलम्बी दीर्घो हस्तः
 गुण्डादण्डो यस्य तम्, पक्षे हस्तः पाणि यस्य तम् । स्वमिव आत्मानमिव । तं मतङ्गजं मदमजम् । अवलोक्य
 बीक्ष्य । क्रोडयितुं क्रोडनाय । कुतूहलात् कुतुकात् । चीरपुरुषान् । अच्युत्तुदत् अग्रेरयत् । नुद प्रेरणे लुङ्^५ ॥४॥
 तदाक्षयेति । तदाक्षया तस्याजितसेनस्याक्षया अनुशया । धोरधीः धोरा धीर (-त्व) गुणयुक्ता धीर्बुद्धि-
 यस्य सः । एकः शूरभटः । समुपेत्य समीपं गत्वा । घनपीचरे घने कठिने^७ पीचरे स्थूले । करे गुण्डादण्डे ।
 मुष्टया वज्रमुष्टया । जधानं^८ हस्ति स्म । हन द्विसागत्योनिट् । सः गजः । जघेन शीघ्रम् । तं पुरुषम् ।
 यावत् यावत्पर्यस्तम् । एति आयाति । तावत्, अपरः अन्यो भटः । वृष्टतः पश्चाद्भागं । आरया आरा-
 दण्डेन^९ । भृगुम् अरयस्तम् । तुनोद वनाद्य । तुद^{१०} व्यधने लिट् ॥५॥ निवृत्ययेनि^{११} । अतिकोपपीडितः^{१२}
 अतिकोपेनाधिकक्रोधेन पीडितः^{१३} प्रकाशितः^{१४} सन् । निवृत्य बलिः वा । वृष्टवर्तिनं पश्चाद्भागवतिनम् ।
 पुरुषं प्रति, यावत् किल, प्रधावति लघु पलायते^{१५} । सु गतो लट् । 'सर्तं चो वेगे' इति धाव-आदेशः ।
 तावत्, परः अन्यः । पुरुष, निजलाघवात् निजस्य स्वस्य लाघवात् लघुत्वात् । निपत्य समीपे गत्वा । पार्श्वे
 दक्ष (दक्षिण) पार्श्वे^{१६} । घनलोष्टताडनं घनेन कठिनेन लोष्टेन ताडनं हननम् । चकार करोति स्म ।

अजितसेनने अपनी सेवाके निमित्तसे सभाके आँगनमें आये हुए एक गजराजको देखा ॥३॥
 वह गजराज अजितसेन सरीखा था । अजितसेनमें बहुत अधिक बल था; वह महान्
 वंशमे जन्मा था और उसके बाहु लम्बे थे । इसी प्रकार गजराज बहुत बलवान् था;
 वह उभरी हुई रोढ़की हड्डीसे विभूषित था और उसकी सूँढ़ खूब लम्बी थी । उसे अपने ही
 समान देखकर अजितसेनने कौतुकवश कुछ वीर पुरुषोंको उसके क्रोड़ा करनेके लिए प्रेरित
 किया ॥४॥ राजाकी आज्ञा पाकर एक धीर बुद्धिवाले वीर पुरुषने पास जाकर उसकी कठोर
 और पुष्ट सूँढ़पर मुक्केका प्रहार किया । हाथी बड़े वेगसे जबतक मुक्का मारनेवालेपर अपटने
 ही वाला था, इतनेमें ही दूसरे वीरने उसे पीछेसे चमड़ा काटनेका औजार चुमा दिया, जिससे
 उसे बड़ी व्यथा हुई ॥५॥ फिर क्या था, उसका क्रोध भड़क उठा । फलतः वह जबतक मुड़-
 कर पीछेसे प्रहार करनेवालेकी ओर लपकनेकी ही था कि तीसरे पुरुषने बड़ी फुर्तसे कुछ आगे

१. अ तमेव । २. अ आ निवृत्य । ३. आ 'पुष्टास्थो' इति नोपलभ्यते । ४. = शालते शोभते
 इत्येवं शालः, तम् । ५. श वगिकुले । ६. श लङ् । ७. आ 'कठिने' इति नोपलभ्यते । ८. = तताड ।
 ९. अ आरया आरादण्डेन । = 'आरा चर्मप्रवेदिका' इति हैम । १०. श तुवि । ११. श वृत्येति ।
 १२. आ 'दापितः' । १३. आ बोपितः । १४. = 'प्रकाशितः' इति अनेत् । १५. आ पलायति, अ पलायते ।
 १६. आ पार्श्वे दक्षिणः पार्श्वे ।

विनीयमानो नृपशासनेन तैः कृतक्रियैरित्थमसौ मतङ्गजः ।
 प्रधावितुं कञ्चिदशक्तमुद्धतः करेण अग्राह पुरः प्रसारिणा ॥७॥
 प्रहागतं तं मदमूढमानसो जनस्य हाहेति रवेण पश्यत ।
 तथा समास्फालयति स्म भूतले यथा स सर्वावयवैर्व्ययुज्यत ॥८॥
 विलोक्य तं शारदमेघवत्क्षणाद्विलीनमङ्गेन च जीवितेन च ।
 कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसो जगाम निर्वेदमिति क्षितीश्वरः ॥९॥
 अहो नराणां भवगतवर्तिनामशाश्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम् ।
 ययातिदूरेण जिताः स्वचापलात्तद्विद्विलासाः शरदम्बुदैः समम् ॥१०॥

बुद्ध्वा करेण लिट् ॥६॥ विनीयमान इति । नृपशासनेन^१ नृपस्य चक्रिणः शासनेनाज्ञया । कृतक्रियैः कृता विहिता क्रिया अभ्यासो यैः, तैः । तैः भटैः । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विनीयमानः बोध्यमाण (शिष्यमाणः) । उद्धतः प्रवृद्धकोपः । असौ मतङ्गजः । मदगजः । प्रधावितुं पलायितुम् । अशक्तं सामर्थ्यरहितम् । कञ्चित् कञ्चित्पुरुषम् । पुरःप्रसारिणा पुरःअग्रभागे प्रसारिणा प्रसरणशीलेन । करेण दण्डादण्डेन । अग्राहं गृह्णाति स्म । गृह्ण^२ उपादाने लिट् । ७॥ ग्रहेति । मदमूढमानः सः मदेन मूढं मोहितं मानसं यस्य सः । सः । मदगजः । हाहेति हा हा इति । रवेण ध्वनिना । पश्यतः बोधमाणस्य । जनस्य लोकस्य हा हा इति पश्यः । बोधमाणस्य हा हा इति ध्वनिं कुर्वन्तं पश्यन्तं जनमनादृत्य उदासीनं कृत्वा (उपेक्ष्य) इत्यभिप्रायः । 'वष्टो बानादरै' इति पद्ये । प्रहागतं ग्रहं बधम् (ग्रहणम्) आगतम् आयातम् । 'ग्रहे ग्राहो बधः' इत्यमरः । (ग्रहः सूर्यादिनिबन्धोपरागेषु रणोद्यमे । ग्रहणे पूतनादौ च संहिकृत्येऽप्यनुग्रहे । विश्वलोचनकोशः) । तं पुरुषम् । यथा सर्वावयवैः सर्वैः अवयवैः । व्ययुज्यत व्यभिद्यत । युज्^३ योमे कर्मणि लङ् । तथा, भूतले महींतले । समास्फालयति स्म । आघातयति स्म । स्फल्^४ लट् । दृष्टान्तः (?) ॥८॥ विलोक्येति । शारदमेघः तं शारदः शरदि शरत्काले भवो जातः मेघवत् बारिवाहवत् (शरदि भवः शारदः म चासौ मेघो बारिवाहः तद्वत्) । अङ्गेन च शरीरेण । जीवितेन च जीवनेन । क्षणात् अल्पकालात् । विलीनं नष्टम् । तं पुरुषम् । विलोक्य बोधय । कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसः कृपैव काह्वयमेवाङ्गना बनिता तयालिङ्गितमादिलष्टं तुङ्गमुन्नतं मानसं चित्तं यस्य सः । कृपकम् । क्षितीश्वरः सार्वभौमः । इति बोध्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम ययौ । गम्ल् गतो लिट् ॥९॥ अहो इति । यया ससारस्थित्या । स्वचापलात् । निजबाञ्चवत्प्रात् । शरदम्बुदैः शरदः ।

बहुकर उसकी बगलमें कठोर लाढ़ेका प्रहारकर दिया ॥६॥ इस तरह राजाके आदेशसे अभ्यास करनेवाले वीराके द्वारा उस हाथीको युद्धकी शिक्षा दी जा रही थी । इतनेमें, सयोगकी बात है, उस उद्धत हाथीके सामने एक ऐसा मनुष्य आ गया, जो दीड़नेमें असमर्थ था । फिर क्या था, हाथीने आगे सूड फैलाकर उसे पकड़ लिया ॥७॥ लोगोंमें हाहाकार मच गया । उनके देखते देखते हाथीने—जो बिलकुल मदान्ध था—पकड़में आये हुए उस मनुष्यको जमीनपर ऐसे ढगसे दे पटका कि उसके हाथ, पैर आदि सारे अङ्ग टूट-टूटकर अलग जा गिरे ॥८॥ शरत्कालके मेघकी तरह उसे क्षणभंग्मे ही शरीर और जीवनके साथ विलीन (मरते) होते देखकर कृपा रूपी अङ्गनाने राजा अजितसेनके उन्नत हृदयसे आलिङ्गन कर लिया—उस पुरुषको मृत्युके मुखमें जाते देखकर अजितसेनको दया आ गयी । फिर उसे वैराग्य हो गया । उस समय उसके मनमें इस प्रकारके वैराग्यके विचार उत्पन्न हुए ॥९॥ यह संसार बहुत बड़े गड़ढेके समान है । ओह इसमें पड़े हुए मनुष्यकी क्षणभङ्गुर जीवनकी अवस्थाको तो देखो !, जिसने अत्यन्त दूर

१. 'नृपशासनेन' इति टोकाङ्गसंमतः पाठः, प्रतिपु तु 'नृपशासनादरैः' इत्येव पाठो दृश्यते । २. आ ग्रहः । ३. आ युजर् । ४. आ स्फ लट् । ५. श तुङ्गम् उच्चम् ।

गदेन मुक्तोऽशनिना कटाक्ष्यते तदुज्जितः शस्त्रविषाग्निक्वण्टकैः ।

अनेकमृत्युद्भवसंकटे नरः कियद्वराकश्चिरमेव जीवतु ॥११॥

वपुर्धनं यौवनमायुरन्यदप्यशाश्वतं सर्वमिदं शरीरिणाम् ।

तथाप्ययं शाश्वतमेव मन्यते जनः प्रमोहः खलु कोऽप्ययं महान् ॥१२॥

इदं करोम्यद्य परहिनेष्विदं परार्थदृष्टं प्रविधेयमित्ययम् ।

अनेककर्तव्यशताकुलः पुमाश्च मृत्युमासन्नमपीक्षितं क्षमः ॥१३॥

शरत्कालस्याभ्युदयारिवाहः । समं साहम् । तडिद्विलासाः तडितः सोदामिन्नाः विलासाः शोभाः । अतिदूरेण भूतं दूरेण विप्रकृष्टेन (नितान्तम्-इत्यर्थः) । जितः अभिमृताः । अबगर्तवर्तिनां भवः संसारः स एव गर्तोऽवटः तस्मिन् वर्तिनां विद्यमानानाम् । नाराणां मनुष्याणाम् । अशाश्वतोऽम् अनित्यम् । जीवितस्थितिं जीवनस्थितिम् । पश्यत बीक्षन्वम् । दृष्टुं प्रेक्षणं लोट् । शरन्मेघेभ्योऽपि विद्युद्विलासेभ्योऽपि (च) भवस्थितिरत्यन्तमनित्या इति भावः ॥१०॥ गदेनेति । गदेन रोगेण । मृतः त्यक्तः । अशनिना अशनिपातेन । कट क्षयै बाधयते कटाक्ष इति सुव्धातोः कर्मणि लट् । तदुज्जितः तस्यां रोगाशमिण्यामुज्जितो रक्षितः । शस्त्रविषाग्निक्वण्टकैः शस्त्रेण आयुधेन विषेण गरलेन अग्निना बह्विना क्वण्टकैः इव (क्वण्टकैः क्षुद्रशत्रुभिश्च) । अनेकमृत्युद्भवसंकटे अनेकैर्बहुभिः मृत्युद्भवैः मरणोत्पत्तिभिः (मरणोत्पत्तिहेतुभिः—इति यावत्) संकटे विपत्तिपुष्टे (श्वाते वा) । संसारे । वराकः (दौनः), 'वराको नामवर्जितः' इत्यभिधानात् । कः दौनः । एषः अयम् । नर मनुष्यः । कियत् कियत्यर्थम् । 'वर्तिवद किम्' इति घटुः । किमिदमः कीष्टं इति किः आदेशः । चिरं स्थिरम् । जीवतु प्राणान् धारयतु । चिरजीवनं नास्ति—इत्यभिप्रायः ॥११॥ वपुरिति । शरीरिणा प्राणिनाम् । वपुः शरीरम् । धन इवम् । यौवनं तरुण्यम् । आयु आयुष्यम् । अन्यदपि चाभ्यासपि । इदम् एतत् । सर्वं सकलम् । अशाश्वतम् अनित्यकर्म भवति । तथापि अशाश्वतमपि । अयम् एषः जनः लोकः । शाश्वतमेव नित्यमिति । मन्यते वृष्यते । 'मनि ज्ञाने लट् । अयम् एषः । कोऽपि कश्चित् । महान् बलवान् । मोहः खलु अज्ञानं खलु ॥१२॥ इदमिति । अद्य इदानीम् । इदम् एतत् । करोमि विदधामि । बुक्कु करणे लोट् । परहिने तु आगामिदिक्षे । इदम् एतत् करोमि । परारि प्राणामिद्विने' (परध्वः) 'परुत्परारि—' इति निपातनम् । वस्तुतस्तु पूर्वस्मिन् सबत्सरे पस्तु, पूर्वतरे सबत्सरे परारि—इति व्याख्या भवेत्, किन्तु ग्रन्थकृता स्वयं 'परहिने' इति लिखितम्, अतो व्याख्याकृतापि तदनुसारं व्याख्या कृता । अन्ये वीरनमिना कक्षाणया 'परहिने' इति व्यलेखि । अदः इदम् । प्रविधयं करणीयम् । इति (इत्यम्) । अनेककर्तव्यशताकुलः

रहकर भी शरत्कालके मेघोंको और उनके साथ चपलाके विलासको भी अपनी चपलतासे पराजितकर दिया है—मानवका जीवन, शरत्कालीन मेघों और बिजुलीके विलाससे भी कहीं अधिक अस्थिर है ॥१०॥ यह मनुष्य यदि रोगसे बच जाता है तो वज्र या बिजुलीका शिकार हो जाता है, और यदि किसी तरह रोग, वज्र या बिजुलीसे बच भी गया तो शस्त्र, विष, अग्नि और शुद्र शत्रुओंके रहते नाना तरहके मौतके कारणोंका संकट हर समय बना ही रहता है । ऐसी अवस्थामें बेचारा यह मनुष्य जो भी कितना सकता है ? ॥११॥ मनुष्योंका यह शरीर, धन, यौवन, आयु एव और भी संसारको सभी वस्तुएँ बिनश्वर हैं । तो भी यह मनुष्य इन सभी वस्तुओंको अनिश्वर ही मानता है । निश्चय ही यह एक बड़ा भारी अद्भुत अज्ञान है ॥१२॥ यह काम आज करता हूँ, यह कल कहूँगा और फिर यह परसों करने योग्य है, अतः परसों कहूँगा, इस तरह नाना प्रकारके सेकड़ों कार्योंमें व्यस्त होकर यह मनुष्य निकटमें आयी हुई

१. क ख ग घ ङ जोषति । २. आ इ 'पीक्षितं' । ३. आ दुश्चि । ४. ख लोट् । ५. आ 'ठानित्या' ।

६. ख 'बाध्यते' इति नोपलभ्यते । ७. ख बुध्नि मनि । ८. आ 'दिने' । ९. ख प्राणादिदिने ।

बिभेति पापान् सतामसंमतान् न मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।

विलोभ्यमानो विषयामिवाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानवः ॥१४॥

मदान्धकान्तानयनान्तश्चञ्चलाः सदा सहन्ते न सहासितुं श्रियः ।

उबलज्जरावज्जहविर्भुजो जये कियच्चिरं स्यास्यति यौवनं वनम् ॥१५॥

क्रियावसाने विरसैर्मुञ्चप्रियैः स्वयं विहास्यैर्विषयैर्विनाशिमिः ।

विलेख्यते कालमरीचिमालिनः करैर्हतं हा हिमसन्निभं वपुः ॥१६॥

अनेकेषां कर्तव्यानां कार्याणां शतेन बहुता (बाहुल्येन) आकुलो व्याकुलः । अयम् एषः । पुमान् पुरुषः । आसन्नमपि समोपमागतमपि । मृत्युं मरणम् । ईक्षितुं वीक्षणाया । न क्षम न समर्थो भवति ॥१३॥ बिभे-
तोति । विषयामिवाशया विषयाणां पञ्चेन्द्रियमोक्षरणांमामिषस्य स्शोकारस्याशयां अमिलापेण । विलोभ्य-
मानः विमुच्य (ह्य) मानः । मानवः मनुष्यः । सता सत्पुरुषाणाम् । असंमतात् अनन्युपगमात् । पापात्
दुरितात् । न बिभेति भयं न याति । जिभो भये लट् । उद्धतं प्रवृद्धम् । दुर्गतिदुःखं दुर्गतीनां नरकादिदुर्गतीनां
दुःखं ऋष्टम् । न मन्यते न जानाति । बुधि मनि जावे लट् । अकर्तव्यशतानि अकर्तव्यानां शतानि अनेकानि
(नाना अकर्तव्यानि-इत्यर्थः) । करोति विदधाति । आक्षेपः (?) ॥१४॥ भवेति । मदान्धकान्तानयनान्त-
श्चञ्चलाः भवेन अन्धः (अन्धानां) कान्तानां वनितानां नयनानां नेत्राणाम् अन्त इव अवसानम् (कटाक्ष-)
इव चञ्चला भृण् चलनरूपाः । श्रियः सम्पदः । सदा सर्वदा । सह साकम् । आसितुं^३ स्थातुम् । न सहन्ते
समर्थो न भवन्ति । उबलज्जरावज्ज हविर्भुजः उबलन् जरैव बाह्यंरमेव वज्जहविर्भुजः (वज्जहविर्भुक् वज्जग्निः,
तस्य) । जये विजये सति (जय विषये, जयाय-इत्यर्थः) । यौवनं तारुण्यम् । वनं काननम् । कियच्चिरं
कियत् स्थिरम् (कियत्कालं काल तावत्) । स्यास्यति । उपमा ॥१५॥ क्रियेति । मुञ्चप्रियैः, मुले प्रथमे (अनु-
भवाद्) प्रियैः प्रीतिरूपैः (आशात्मकपुरुषैः) । क्रियावसाने क्रियाया अनुभवस्यावसाने पर्यन्ते । विरस्यैः
(विरसैः) अप्रियैः । विनाशिमिः विनाशशूलैः । विषयैः पञ्चेन्द्रियविषयैः । स्वयम् अहम् (स्वत
एव) । विहास्यैः विरहियैः (विहास्यैः त्याज्यैः) । हिमसन्निभं हिमस्य सन्निभं समानम् । वपुः शरीरम् ।
कालमरीचिमालिनः काल एव यम एव मरीचिमाली सूर्यरूपः^१ तस्य । रूपकम् । करैः किरणैः । हत

भो मृत्युको देखनेके लिए असमर्थ रहा करता है—(किरण्यामि किरण्यामि किरण्यामोति
चिन्तया । मरिण्यामि मरिण्यामि मरिण्यामोति विस्मृतम्) ॥१३॥ यह मनुष्य, सन्त पुरुषोके
द्वारा निषिद्ध पापसे नहीं डरता और नरक आदि खोटी गतियोंके बड़े-बड़े असह्य दुःखोको नहीं
मानता, किन्तु पाँच इन्द्रियोंके विषयके लोभमें फँसकर सैकड़ों ऐसे-ऐसे काम करता रहता है,
जो कभी नहीं करने चाहिएँ ॥१४॥ लक्ष्मी मतवाली नायिकाके कटाक्षोकी भाँति चंचल है ।
यह किसोके साथ सदा नहीं रह सकती । बुढ़ापा प्रज्वलित वज्जग्निके समान है । जब मनुष्य
उसके चंगुलमें फँस जाता है, तब यौवन रूपी वन उसके सामने कितनी देर टिका रह सकता
है ?—जिस प्रकार वज्जग्निके प्रज्वलित होते ही सारा जंगल भस्म हो जाता है, इसी प्रकार
जराके आते ही यौवन नष्ट हो जाता है ॥१५॥ इन्द्रियोंके विषय प्रारम्भमें प्रिय, भोगनेके
पश्चात् अप्रिय और विनयवर है । ये स्वयं ही मुझे छोड़ देते । यह शरीर बर्फके समान है ।
जिस प्रकार बर्फ सूर्यकी किरणोंसे पिघलकर नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार शरीर भी कालके

१. अ करावसानेवरसैः । २. आ 'स्य बाह्यया अग्नि' । ३. स आस्थितुं । ४. आ मरीचि-
मालिनः सूर्यस्य ।

शनैर्विहास्यन्ति गतधियं न मां न बान्धवा बद्धधनद्विबुद्धयः ।
 फलप्रसूनप्रलये हि कोकिला भवन्ति चूतावनिजं जिहासवः ॥१७॥
 प्रपित्सु संपक्वफलोपमान्वितं जगत्यहो जीवितमत्र जीविनाम् ।
 विलीयमाना निचयाः क्षणक्षयाः शुभाशुभं नन्दुमनीश्वरं परम् ॥१८॥
 कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुङ्गततः समुत्थितः ।
 न शान्तिमायाति भृशं परिज्वलन् यद्ययं ज्ञानजलैर्निषिच्यते ॥१९॥
 दुरात्मकादेव भवाद् भयंकराद् भवन्त्यनर्था वधबन्धनादयः ।
 न ते स्युरुत्खाततलः स वेद् भवेद्देहेतुकाः क्वापि न कार्यसंपदः ॥२०॥

नष्ट सत् । विलेख्यते^१ जीर्ण^२ (जीर्णत्वम्) नेष्यते । [हा हन्त] । कीङ् दलेषणे ॥१६॥ शनैरिति ।
 बद्धधनद्विबुद्धयः धनं द्रव्यं तच्च ऋद्धिरैश्वर्यं सा च दुद्धिषिषणा सा च तपोक्ताः, बद्धाः कृता
 धनद्विबुद्धयो येषां (यैः) ते । बान्धवाः ज्ञातयः^४ । यतस्त्रियं गता रहिता (नष्टा) श्रोः सम्पद् यस्य तम्,
 ऐश्वर्यरहितम् इत्यर्थः । मा मा । शनैः मन्दं मन्दम् । न विहास्यन्ति न त्यजन्ति (इति) न^५, किन्तु
 त्यजन्त्येव । द्वौ नवौ प्रकृतमयं द्योतयतः । फलप्रसूनप्रलये फलानां पक्वानां प्रसूनानां कुसुमानां^६ प्रलये
 रहिते (अवसाने) सति । कोकिलाः पिकाः । चूतावनिजम् आश्रयस्थम् । जिहासवः त्यक्तुमिच्छवः । भवन्ति
 हि । अर्थान्तरन्यासः (प्रतिवस्तूपया) ॥१७॥ प्रपित्सवति । अत्र जगति लोके । जीवानां प्राणिनाम् ।
 जीवितं जीवनम् । प्रपित्सुसंपक्वफलोपमान्वितं प्रपित्सूना पतनशीलानां संपक्वानां संपूर्णपरिणतानां
 फलानामुपमयान्वितं युक्तम् । स्यात् । विलीयमानाः आश्रय (स्थि) यमाणाः । निचयाः परिग्रहाः । क्षणक्षयाः
 क्षणोत्पत्तिकाले क्षयो नाशो येषां ते । स्युः । शुभाशुभं पुण्यपापकर्म । नन्दुं^७ नाशनाश । परं केवलम् ।
 अनीश्वरं स्यात् असमर्थं स्यात् । जातिः ॥१८॥ कषायेति । कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिः कषायाः क्रोधादयस्त
 एव साराणि बलिष्ठानि रन्ध्रानि काष्ठानि तैर्बद्धा पद्धतिं मर्शो यस्य सः । उत्तुङ्गततः उन्नतततः । समुत्थितः
 उत्थानः । परिज्वलन् परितो ज्वलन् । अयम् एषः । भवाग्निः संसाराग्निः । ज्ञानजलैः ज्ञानाम्येव जलानि तैः ।
 यदि न निषिच्यते सेवनं न करिष्यते (नोदयते) । भृशम् अत्यन्तम् । शान्तिं शमम् । न आयाति नागच्छति ।
 या प्रापणे लट् । रूपकम् ॥१९॥ दुरात्मेति । दुरात्मकात् दुष्टस्वभावयुक्तात् । भयंकरात् भीतिकरात् ।

सम्पर्कसे घुल-घुलकर नष्ट हो जाता है ॥१६॥ धन-सम्पत्तिके इच्छुक बन्धु लोग लक्ष्मीके चले
 जानेपर धीरे-धीरे मुझे नहीं छोड़ देंगे, यह बात नहीं है—जब तक मेरे पास धन है तभी तक
 बन्धु-बान्धव साथ देंगे, पर जब धन चला जायगा, मैं निर्धन हो जाऊँगा, तब धीरे-धीरे सभी
 लोग किनाराकसी करने लगेंगे । जब फल-फूल विलीन हो जाते हैं, तब कोकिल आमके पेड़को
 छोड़ देनेके लिए उत्सुक हो जाते हैं ॥१७॥ जगत्में जीवोंका जीवन गिरनेवाले पके फलके समान
 है । ओह यह कितने खेदकी बात है ! संचित चेतन और अचेतन परिग्रह भी क्षणभंगुर है ।
 केवल शुभ और अशुभ कर्म ही ऐसे हैं, जो बिना फल दिये नष्ट नहीं हो सकते ॥१८॥ क्रोध
 आदि कषाय रूपी ठोस ईधनसे जिसका चारों ओरका मार्ग तैयार कर दिया गया है; जो ऊपर
 उठकर बहुत ऊँचाई तक पहुँच गया है और जो खूब प्रज्वलित हो रहा है, इसके ऊपर यदि
 ज्ञान जलका सिंचन न किया जाये तो वह संसार रूपी अग्नि कभी शान्त ही न हो
 ॥१९॥ यह संसार दुष्ट स्वभाववाला है, और भयंकर है । इसीसे वध और बन्धन आदि
 अनर्थ हुआ करते हैं । यदि संसारका मूल आधार (राग) उखाड़ दिया जाय तो वध बन्धन

१. क ल ख ग च नष्टुं । २. क विलेख्यते । ३. कानि मिश्रं । ४. श ज्ञातयः । ५. क नेति न ।

६. क 'कुसुमानां' इति नास्ति । ७. क नन्दुं ।

नरो विषयचेत् सरागतां गतो न कर्मभिस्तद्विपरीतभावनः ।
 निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ॥२१॥
 चराचरे नास्ति जगत्यभोजि यन्न जन्तुभिर्जन्मपयोधिमध्येनैः ।
 किमेष लोको विषयान्धलोचनः पराङ्मुखो नश्यति मोक्षसाधनात् ॥२२॥
 दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्तयेत् शेमुषी यः सुखलेशलोभितः ।
 कथं करिष्यत्युपरुद्धिमागतामिमां स जन्मव्रतति विनाशिनीम् ॥२३॥

भवादेव संसारादेव । अनयाः अपायरूपाः । वषबन्धनादयः वधस्ताडनं बन्धो बन्धनं तौ आदौ (आदौ)
 येषां ते । सः संसारः । उत्थाततलः उत्थातं तलं यस्य सः भवेच्चेत् यदि स्यात् । भू सत्ताया लिङ् ।
 ते वषबन्धनादयः । न स्युः न भवेयुः । क्वापि कुत्रापि । कार्यसंपदः कार्यसमुद्भवः । (कार्याणीत्यर्थः) ।
 अहेतुकाः कारणरहिताः । न स्युः । अस भुवि लिङ्^३ । अर्धन्तरन्यासः ॥२०॥ नर इति । सरागताम्
 अभिलाषवत्त्वम् । गतः यातः । नरः मनुष्यः । कर्मभिः शुभाशुभभेदकर्मभिः । विषयैर्न नह्येत । बधि बन्धने
 कर्मणि लिङ् । तद्विपरीतभावनः तस्मात् सरागपरिणामाद् विपरीता विरागरूपा भावना यस्य सः । न^४
 कर्मभिः—(ज्ञानावरणादिकर्मभिः) न बध्येत । वारिचेः समुद्रस्य [वारिदे मेघे] वारि जले (जलम्) । निरन्तरं
 निबिडम् । मुञ्चति सति त्यजति सति । धूलिः रजः । अम्बरम् आकाशम् । विगाहितुं लङ्घितुम् । नालं समर्थं
 न भवति हि । अर्धात्तरन्यासः ॥२१॥ चरेति । चराचरे चरा जङ्गमा अचराः स्थावरा यस्मिन् तस्मिन् ।
 जगति लोके । जन्मपयोधिमध्येनैः जन्मैव पयोधिः समुद्रः तस्य मध्यगैर्मध्यं गतैः । जन्तुभिः प्राणिभिः ।
 यत् वस्तु । न अभोजि नाभुज्यते^५ । भुज पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लुङ् । तद् वस्तु । नास्ति न विद्यते ।
 विषयान्धलोचनः विषयैरन्ध्रे लोचने यस्य सः । एषः अयम् । लोकः जनः । मोक्षसाधनात् मोक्षस्य साधनाद्
 रत्नत्रयात् । पराङ्मुखः सन् विमुखः सन् । किं किंकारणम् । नश्यति । आक्षेपः (?) ॥२२॥
 दुरन्तेति । यः सुखलेशलोभितः (सुखलेशे) अल्पे-स्तोके सुखे लोभितः प्रोतः^६ (मोहितः) । 'पोटा-
 युवतिः—' इत्यादिना समासः । दुरन्तभोगाभिमुखात् दुरन्तेषु दुष्परिणामेषु भोगेषु पञ्चवेन्द्रियभोगेषु
 अभिमुखाद् आसंजनात् (दुरन्तभोगाभिमुखां दुरन्तेषु दुष्परिणामेषु भोगेषु पञ्चवेन्द्रियविषयेषु अभिमुखा-
 मासन्नताम्) । शेमुषी बृद्धिम् । न निवर्तयेत् न निराकुर्वत् । सः जीवः । उपरुद्धि प्रवृद्धिम् । आगताम्
 आयाताम् । इयाम् एताम् । जन्मव्रतति^७ जन्म संसारः तदेव व्रततिलता^८ ताम् । विनाशिनी विनाश-

आदि भी नहीं होंगे । बिना कारणके कार्य कही भी नहीं होता ॥२०॥ रागी मनुष्यको ही कर्म-
 बन्धन हो सकता है, पर जिसकी भावना रागसे रहित-वीतराग है, उसे कर्म-बन्धन नहीं
 हो सकता । यदि मेघ लगातार पानी बरसाता रहे, तो आकाशमे धूलि नहीं उड़ सकती ॥२१॥
 इस जंगम और स्थावर जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे संसार समुद्रके बीचमे पड़े हुए
 जीवोंने न भोगा हो । जब भोगने योग्य वस्तु नहीं रहो तो फिर क्या कारण है जो मनुष्य
 विषयोंमें अन्धा हो रहा है और सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके साधनोंसे पराङ्मुख होकर दुःखी
 हो रहा है ॥२२॥ जो जरासे विषयसुखके लोभमें फँसकर अन्तमें दुःख देनेवाले भोगोंकी ओर
 जाती हुई अपनी बुद्धिको नहीं लौटाता, वह खूब बढ़नेवाली संसार रूपी लताको कैसे नष्ट कर

१. क ख ग म रूपयति । २. क्ष लेट् । ३. श लेट् । ४. आ स । ५. श न भुजते । ६. क्ष 'प्रोतः' इति
 नास्ति । ७. एष टीकाकृत्वममतः पाठः, प्रतिषु तु 'दुरन्तभोगाभिमुखा' इत्येव पाठो दृश्यते । ८. = न
 निवारयेत् । ९. आ प्रति । १०. आ व्रततिः ।

मनुष्यजन्मेदमवाप्य दुर्लभं त्रयात्कथंविम्वलिनस्य कर्मणः ।
 भवान्भुराशी पुनरावशां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाप्रति ॥२४॥
 यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिस्तौद्यममकैः ।
 तदा प्रशंसापदमेतदप्यहो विधान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम् ॥२५॥
 निहत्य नूनं शमखङ्गधारया निबन्धकानद्य कषायविद्विषः ।
 वरीतुमिच्छोर्मम सिद्धिकामिनीं निबन्धुमीष्टे^१ अगतीह कः परः ॥२६॥
 समुद्रतान्पापरिपून्हनिष्यतो वशं स्वकर्मप्रकृतीश्च नेष्यतः ।
 तपोवनं प्राप्तवतोऽप्यखण्डितं तदेव राज्यं मम सिद्धिभागिनः ॥२७॥

युक्तान् । कथं केन प्रकारेण । करिष्यति विधास्यति । दुःखं करणे लृट् । रूपकम् ॥२३॥ मनुष्येति ।
 कथंवित् केनवित् प्रकारेण । मलिनस्य मलमस्य कष्टरूपस्य^२ इत्यर्थः । कर्मणः शुभाशुभरूपस्य^३ । सयात्
 नाशात् । दुर्लभं दुर्लभापम् । इदं मनुष्यजन्म मनुष्यभवम् । अवाप्य लब्ध्वा । ये पुरुषाः । हिते मोक्षकारणे ।
 न विजाप्रति^४ न विजापरिणो भवन्ति । ते पुरुषाः । पुनः परचात् । आपदाम् आपत्तीनाम् । पदे स्थाने ।
 भवान्भुराशी भव एव संसार एव अम्बुराशिः समुद्रः, तस्मिन् । पतन्ति मज्जन्ति । पतलु गतो लृट् । रूपकम्
 ॥२४॥ यदिति । आगन्तुकदुःखकारणम् आगन्तुकस्य भविष्यतो दुःखस्य कारणं निमित्तम् । संसृतिस्तौक्ष्यं
 संसृतेः संसारस्य सौक्ष्यं सुखम् । अज्ञः अज्ञानिजनेः । यदि प्रशस्यते प्रस्तुयते । तदा तर्हि । प्रशंसापदं प्रशंसायाः
 पदं स्थानम् । एतदपि इदम् (अपि स्यात्) — । विधान्वितस्य विषेण वरलेन अन्वितस्य युक्तस्य । गुडस्य^५
 शर्करायाः । भक्षणं सेवनम् । अहो । (सविषस्य गुडस्य भक्षणमिव संसृतिमुखं न प्रशस्यते—इति भावः) ।
 आक्षेपः (?) ॥२५॥ निहत्येति । विबन्धकान् प्रतिबन्धकान् । कषायविद्विषः कषाया एव क्रोधमानादय एव
 विद्विषः शत्रवः, तान् । शमखङ्गधारया शम एव रागद्वेषनिवृत्तिपरिणाम एव खङ्गधारा प्रहरणधारा तथा ।
 नूनं निश्चयेन । निहत्य समिधं^६ । अथ इदानीम् । सिद्धिकामिनीं सिद्धिदेव मोक्ष एव कामिनी वनिता ताम् ।
 वरीतुं परिणेतुम् । इच्छोः^७ वाञ्छितस्य । मम मे । इह जगति अस्मिन् लोके । निबन्धुं निरोद्धुम् । परः
 अन्यः । कः को वा । ईष्टे समर्थो भवति, न कोऽपि इत्यर्थः । रूपकम् ॥२६॥ समुद्रतानिति । समुद्रतान्
 गवितान् । पापरिपून् पापान्धेव रिपवः शत्रवः, तान् । हनिष्यतः^८ हतिष्यतः । स्वकर्मप्रकृतीः स्वस्यात्मनः

सकेगा ? ॥२३॥ अशुभ कर्मके क्षयसे, बड़ी कठिनाईसे इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो
 लोग अपने हितकी ओर जागरूक नहीं रहते, वे आपत्तियोंके घर स्वरूप संसार सागरमें फिर
 जा गिरते हैं ॥२४॥ यह सांसारिक सुख भावो दुःखोंका कारण है, फिर भी मूर्ख लोग यदि
 इसकी प्रशंसा करें, तो विष मिले हुए गुडका भक्षण भी प्रशंसनीय होना चाहिए ॥२५॥ अब
 मैं क्रोधादि कषाय रूपी रोड़ा अटकानेवाले शत्रुओंको निश्चय ही समता रूपी खड्गकी धारासे
 नष्ट करके मुक्ति-कान्ताका वरण करना चाहता हूँ । इस संसारमें फिर अन्य कौन शत्रु है, जो
 मुझे रोक सके ? ॥२६॥ जिस प्रकार मैं यहाँ रहकर उदण्ड शत्रुओंको मारता रहा, अपने कर्म-
 भारियों और प्रजाजनोको अपने अधीन रखता रहा और मन, वचन और देवी सिद्धिको प्राप्त
 करता रहा । इस तरह अखण्ड साम्राज्यका स्वामी रहा । इसी तरह तपोवनमें जाकर भी मैं
 अखण्ड साम्राज्यका स्वामी बना रहूँगा । वहाँ जाकर मैं उद्वत पाप रूपी शत्रुओंका हनन करूँगा—
 सभी पापोंका परित्याग कर दूँगा । चंचल मन वचन और कायकी प्रकृतिको अपने वशमें

१. आ इ विबन्धुं । २. = कष्टकरस्य । ३. = अष्टविधकर्मणः । ४. = दत्तावधाना न भवन्ति ।

५. = गुडसि रसतीति गुडः—इक्षुरसकषायः, उष्य । 'गुड इक्षुरसकषायः' इति हेमः । ६. आ संक्षिप्त ।

७. = वाञ्छितस्य । ८. = नाशयतो निवारयतो वा ।

त्वमेव भोगामिषलोभ्यलोकयः कर्धर्मीभित्त चिरं चतुर्गतीः ।
 प्रशान्तिमायाहि ममाधुनापि कं' करिष्यसि क्लेशमतः परं परम् ॥२८॥
 विवेकिनो जन्मविपत्तिभीरवो निरापदां संपदि बद्धचेतसः ।
 अपीन्द्रियानीकजये यदीशते न मद्भिष्ठाः सिद्धिधूरमर्तुकाः ॥२९॥
 निर्वर्तितात्मा विषयेभ्य इत्यसौ पुनर्भविष्यद्भवभारभीलुकः ।
 चकार चित्तं चतुरस्तपोवने हिताच्च योऽपैति स एव पण्डितः ॥३०॥

कर्मणा मनोवाक्कायव्यापाराणां प्रकृतौः स्वभावात्, पक्षे चतुरङ्गवेनामात्मादिप्रकृतौश्च । वशम् अधीनम् ।
 नैष्यतः यास्यतः । तपोवने प्राप्त्वतो गतवतोऽपि । सिद्धिमागिनः सिद्धिमाप्नोष्वधि भागिनः आश्रयशीलस्य ।
 मम मे । तदेव, अक्षण्डित^१ निष्कण्टकम् । राज्यम्^२ । रूपकम् ॥२७॥ त्वमिति^३ । चित्तं भो मानस । भोगा-
 मिषलोभि भोगेषु पञ्चबेन्द्रियविषयेषु आमिषेण आसक्त्या लोभि वाञ्छासहितम् । कदमिनीः कद् कुत्सितोऽर्थः
 प्रयोजनमस्तवातामिति तपोवताः । '.....'— इत्यादिना समासः । 'कोः कदमि' इति कुशब्दस्य कद्
 आदेशः । चतुर्गतीः चतस्रश्च ता गतयश्च ताः । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । [त्वम्] अवलोकयः अवश्यः । अत
 एव तस्मात् कारणात् । परं परम् उत्कृष्टम् । 'योन्त्यायाम्' इति^४ द्विः । कं क्लेशं^५ श्रमम् । करिष्यसि
 निघास्यसि । अधुनापि इवान्नीमपि । प्रशान्तिम् उपसमम् । आयाहि आगच्छ । या प्रापणे लोद्^६ ॥२८॥
 विवेकिन इति । जन्मविपत्तिभीरवः जन्म जननं विपत्तिमरणं ताम्बा भीरवः—विषयतात्वेवशोलाः
 भयशीलाः-इत्यर्थः । 'म्यः कु—' इत्यादिना कु-प्रत्ययः । विवेकिनः हेवोपायैवविवेकमुपवताः । निरापदाम् ।
 आपद्ग्रहितानां सिद्धानाम्—इत्यर्थः^७ । संपदि संपत्तौ । बद्धचेतसः बद्धं संबद्धं चेतश्चित्तं येषां ते ।
 मद्भिष्ठा. मम सद्गुरुः । इन्द्रियानीकजये इन्द्रियाणां पञ्चबेन्द्रियाणामनीकस्य जयेऽपि विजयेऽपि । नेशते समर्था
 न भवन्ति । (तत्) सिद्धिबधूः । मोक्षवनिता । अमर्तुका पतिरहिता भवति । मम समान (ना) सत्पुरुषा
 इन्द्रियजये कुतस्तथा न भवन्ति चेद् मोक्षस्य गन्तारो न सन्ति तस्मात्प्राप्तवन्तितायाः पतिरहितत्वम्—
 इत्यर्थः ॥२९॥ निर्वर्तितेति । विषयेभ्यः । पञ्चबेन्द्रियविषयेभ्यः । इति एवं प्रकारेण । निर्वर्तितात्मा निवर्तितो
 निवारित आत्मा स्वरूपं यस्य सः । चतुरः प्रोढः । असौ जीवः । पुनः पश्चात् । भविष्यद्भवभारभीलुकः
 भविष्यत एष्यतो भवस्य संसारस्य भाराद् भीलुको बिभेतीत्येवंशीलः । 'म्यः कु—' इत्यादिना क्लृप्त-प्रत्ययः ।
 तपोवने तपोऽनुष्ठाने । चित्तं मानसम् । चकार करोति स्म । यः पुरुषः । हितात् सन्मापत् । नापैति

कल्याण । ज्ञानावरणादि कर्मोकी प्रकृतियोंको अपने अधीन बनाऊँगा । आत्माके शुद्ध स्वरूपकी
 सिद्धि प्राप्त करूँगा । इस प्रकार घरकी तरह तपोवन भी मुझे सुखदायी सिद्ध होगा ॥२७॥
 रे मन ! भोगोंकी आसक्तिमें फँसकर तूने दुःख देनेवाली चारो गतियोंको चिरकाल तक देखा
 है । तू अब भी शान्त हो जा । मेरे लिए इससे भी बढ़कर और कौन सा क्लेश उत्पन्न करेगा ?
 ॥२८॥ हेय और उपादेयको जाननेवाले, जन्म और जरासे डरनेवाले और हृदयसे मुक्त जीवो-
 की रत्नत्रय रूप सम्पत्तिको चाहनेवाले मुझ जैसे लोग भी यदि इन्द्रियोंकी सेनाको जीतनेमें
 समर्थ नहीं होसकते तो कहना चाहिए कि भुक्ति कन्या कुंवारी हो रह जायगी ॥२९॥ इस
 तरह अजितसेनका मन विषयोंसे विमुक्त हो गया और उसे भावो जन्मपरम्परा बोझ मालूम पड़ने
 लगी । फलतः वह उससे डरने लगा । फिर उस चतुर चक्रवर्तिन तपोवन जानेका विचार कर
 लिया । यह उसने ठीक ही किया; क्योंकि जो हितके मार्गसे दूर नहीं भागता वही पण्डित

१. आ इ कि । २. = अधीनताम् । ३. = नयतः । ४. = सकलम् । ५. = संपत्स्यते, इतिशेषः ।
 ६. यः त्वमिति । ७. यः 'कद्' इति नास्ति । ८. यः 'इति' इति नोपलभ्यते । ९. = पोडाम् । १०. यः क्लिद् ।
 ११. यः 'सिद्धानाम्—इत्यर्थः' इति नास्ति ।

विहर्तुमत्रावसरे समागतं महीपतिर्भूरिगुणं गुणप्रभम् ।
 सङ्गुप्तमज्ञानतमस्तमोरिपुं मुनीन्द्रमुद्यानचराद्बुद्ध सः ॥३१॥
 निशम्य तस्यागमनं स पावनं शिवंकरोद्यानमुपेत्य तस्थुषः ।
 मुद्याम्बुदस्थादचिरेण विष्टराकृती कृतार्थोऽहमिति ब्रुवन्बचः ॥३२॥
 जनेन पौरेण वृतः पुरादसौ निरित्य^१ तद्धाम जगाम भूमतिः ।
 प्रचालयन्धर्मकथां समं नृपैः समन्वितैः^२ संसृतिदुःखभीरुभिः ॥३३॥
 गतस्य तस्योपवने^३ वनेचरो निदृश्यामास समुत्कचेतसः ।
 विविक्रमत्यन्तमजन्तुकं शुचिं महामुनेराश्रममाश्रितं श्रिया ॥३४॥

नापवाति । स एव, पण्डितः विवेको । अर्थात्तरस्यासः ॥३०॥ विहर्तुमिति । अत्र अस्मिन् । समये वैराग्य-
 यावनाप्रवृत्तये । सः महीपतिः चक्रवर्ती । विहर्तुं विहारार्थम् । समागतं समायातम् । भूरिगुणं भूरयो बहुला
 गुणा यस्य तम् । सङ्गुप्तं वृन्देन मुनिसन्धोहेन सह वर्तते इति सङ्गुप्तः, तम् । अज्ञानतमस्तमोरिपुम् अज्ञानमेव
 तमस्तिमिरं तस्य तमोरिपुं सूर्यम् । गुणप्रभं गुणैः प्रभातीति गुणप्रभः, तं गुणप्रभनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनिपतिम् ।
 उद्यानचरात् उद्याने चरतीत्युद्यानचरः, तस्मात्, वनपालकात्-इत्यर्थः । अद्भुतं अनुद्भूतम् । बुधिं मतिं ज्ञाने
 लुब्धः जातिः ॥३१॥ निशम्येति । शिवंकरोद्यानं शिवंकरम् इति (नामकम्) उद्यानम् । उपेत्य आगत्य ।
 तस्थुषः अध्युषतः । तस्थो इति तस्थिवान् तस्य तस्थुषः । 'लिटः क्वसुकानो' इति वचसुः । तस्य गुणप्रभस्य ।
 महामुनेः महामुनीशस्य । आश्रमम् आश्रमम् । निशम्य श्रुत्वा । अहं कृतार्थः कृतः संपूर्णोऽर्थः प्रयोजनं
 यस्य सः कृतकृत्य इत्यर्थः । इति एवम् । बचः वचनम् । ब्रुवन् भावमाणः । मुदा संतोषेण । अचिरेण
 शीघ्रम् । विष्टरात् विहासनात् । अम्बुदस्थात् अम्बुदतिष्ठत् । अथा गतिनिवृत्तौ लुब्धः ॥३२॥ जनेनेति । पौरेण
 पुरे भवेन^४ । जनेन लोकेन । वृतः परिवेष्टितः । असौ भूपतिः अजितसेनचक्रो । पुरात् नगरात् । निरित्य^५
 निर्गत्य । धर्मकथा धर्मस्य रत्नत्रयात्मकधर्मस्य कथां प्रसङ्गम् । प्रचालयन् विस्तारयन् प्रवर्तयन् वा ।
 समान्वितैः शमेन मध्यस्थपरिणामेनान्वितैर्युक्तैः । संसृतिदुःखभीरुभिः संसृतेः संसाराज्जाताद् दुःखात् कष्टाद्
 मोक्षनिर्भयशीलैः । नृपैः भूपतिभिः । समं साकम् । तद्धाम तच्च मुनेधाम स्थानम् । जगाम गच्छतिस्म ।
 गम्लु गतो लिट् ॥३३॥ गतस्त्वेति । उपवने आश्रमे । गतस्य यातस्य । समुत्कचेतसः समुत्कं समुत्सुकं
 चेतविभक्तं यस्य तस्य । तस्य चक्षिणः । वन (ने) चरः वनपालकः । विविक्तम् एकान्तम् । अजन्तुकं
 निर्जन्तुकम् । शुचिं पवित्रम् । अत्यन्तं नितान्तम् । श्रिया शोभया । आश्रितं सेवितम् । महामुनेः गुणप्रभ-

कहलाता है ॥३०॥ इसी अवसरपर राजा अजितसेनको वनपालसे पता लगा कि विहार करनेके
 लिए एक महा गुणी और अज्ञान अन्धकारको मिटानेके लिए सूर्यकी बराबरी करनेवाले आचार्य
 गुणप्रभ अपने सचके साथ उद्यानमें पधारे हैं ॥३१॥ शिवंकर नामक उद्यानमें पधारकर वहाँ
 ठहरनेवाले मुनि राजगुणप्रभके पुनीत आश्रमके क्षुभ समाचार सुनकर बुद्धिमान राजा अजित-
 सेन 'मैं कृतकृत्य हो गया' ये वचन बोलता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे तुरन्त ही अपने आसनसे
 उठकर खड़ा हो गया ॥३२॥ पुरवासिधोसे चिरा हुआ राजा अजितसेन अपने नगरसे निकल-
 कर शान्त परिणामवाले और सासारिक दुःखोंसे डरनेवाले राजाओंके साथ धर्मचर्चा करता
 हुआ शिवंकर नामक उद्यानमें पहुँचा, जहाँ मुनिराज पधारे हुए थे ॥३३॥ तपोवनमें पहुँच-
 कर राजाका मन मुनिराजके दर्शनोंके लिए और भी अधिक उत्सुक हो उठा । तब मालीने
 उसे मुनिराजके आश्रमके दर्शन कराये, जो एकान्त, जीव-जन्तुओंसे रहित, पवित्र और प्राकृ-

१. आ इ तस्यागमनं महामुनेः । २. आ इ निरीत्य । ३. आ इ शमान्वितैः । ४. क ख ग घ म
 'वने महीपतिः' । ५. आ 'पुरे भवेन' इति नास्ति । ६. क निरीत्य ।

गृहीतयोगं तपसा कुशीकृतं ददर्श कंचिन्मुनिमातपस्थितम् ।
 दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां प्रयातमुन्मूलितमोहविद्विषम् ॥३५॥
 प्रभावनायां जिनवर्त्मनो रतं विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगम् ।
 समुद्यतं धर्मकथाप्रवर्तने यतिं धरित्रीपतिरैक्षतापरम् ॥३६॥
 नयप्रमाणं शुभिरुज्ज्वलात्मभिः प्रवादिष्यद्योतचयं परामखम् ।
 नयन्तमुद्द्योतितलोकमैक्षत प्रजापतिः कंचन साधुभास्करम् ॥३७॥
 त्रिकालमध्यस्थमनन्यगोचरं परोक्षवस्तूपदिशन्तमञ्जसा ।
 स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनीयतं व्यलोकितान्यं स नृपस्तपोधनम् ॥३८॥

मुनोन्मूलितः आश्रमं स्थानम् । निदर्शयामास दर्शयति स्म । दृष्टं प्रेक्षणे निजन्तः कालिदः ॥३५॥ गृहीतेति ।
 [गृहीतयोगं] गृहीतः प्रशस्तो योगो ध्यानं यस्य (येन) तम् । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपतपसा । कुशीकृतं
 प्रागकृत इदानीं कुशः कियते स्म कुशीकृतः, तं सूक्ष्मीकृतम् । 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना च्विः । 'क्षो
 चानभ्यस्य—' इति ईकारः । आतपस्थितम् आतपे आतपयोगे स्थितम् । दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां दिवा
 विवसं करोतीति दिवाकरः । 'दिवा [-विभा-] निशा—' इत्यादिना दिवा शब्दात् परात् करोते. व—(ट—)
 प्रत्ययः, दिवाकरस्य सूर्यस्यासूनां किरणानां प्रकरस्य निबहस्य एका मुख्यरूपा लक्ष्यतां लक्ष्यत्वम् । प्रयात
 गतम् । उन्मूलितमोहविद्वेषम् उन्मूलितः समूहमुद्धूतो मोह एव विद्विष शत्रुर्येन तम् । कंचिन्मुनिम् एकं
 मुनीशम् । ददर्श पश्यति स्म । दृष्टं प्रेक्षणे लिट् । जातिः ॥३५॥ प्रभावनायामिति । जिनवर्त्मनः जिनमार्गस्य ।
 प्रभावनाया प्रवर्धने । रतं तत्परम् । विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगं विशुद्धो निर्मलः सिद्धान्तः परमागमः स एव
 पयोधिः समुद्रः तस्य पारं पारदृशवानम् । धर्मकथाप्रवर्तने धर्मस्य रत्नत्रयात्मकस्य कथायाः प्रसङ्गस्य प्रवर्तने
 करणे । समुद्रं सप्रयत्नम् । अपरम् अन्यम् । यतिं मुनिम् । धरित्रीपतिः भूमिपतिः । ऐक्षत ददर्श । ईश
 दर्शने लङ् । कृपकम् ॥३६॥ नयेति । उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वरूपैः । नयप्रमाणं नया नैगमादयः प्रमाणे
 प्रत्यक्षपरोक्षे साम्येर्षावः किरणाः तैः । प्रवादिष्यद्योतचयं प्रवादिनो मिथ्यवादिनस्त एव ब्रह्मोता व्योतिरिङ्गणा-
 स्तेषां चयं समूहम् । परामवं तिरस्कारम् । नयन्तं प्रापयन्तम् । उद्योतितलोकम् उद्योतितं प्रकाशितो लोको
 येन तम् । कंचन एकम् । साधुभास्करं साधुर्भूतः स एव भास्करः सूर्यः, तम् । प्रजापतिः जनपतिः । ऐक्षत
 अवश्यत् । दलेषो रूपकञ्च ॥३७॥ त्रिकालेति । त्रिकालमध्यस्थं त्रयाणां भूतमविष्यद्गतमानरूपाणां कालानां
 समयानां मध्यस्थं मध्ये वर्तमानम् । अनन्यगोचरम् अन्येषामज्ञानिनामगोचरमविषयम् । परोक्षवस्तु परोक्ष-
 तिक शोभासे युक्तं था ॥३४॥ बह्वीं अजितसेनने किसी मुनिको आतप योगमे स्थित देखा, जो
 ध्यानमग्न थे; तपस्यासे कृशकाय थे; जिनके ऊपर सूर्यकी किरणें पड़ रही थीं—जो धूपमें
 बैठे हुए थे और जिन्होंने मोह रूपी शत्रुको मूलसे नष्टकर दिया था—जो निर्माह थे ॥३५॥
 राजा अजितसेनने एक अन्य साधुको जिन मार्गकी प्रभावनामें तत्पर देखा, जो निर्मल आगम
 रूपी समुद्रके पारगामी थे और धार्मिक चर्चा चलानेके लिए सदा तैयार रहा करते थे ॥३६॥
 चक्रवर्ती अजितसेनने किसी साधुको सूर्यकी बराबरी करते देखा—जिस प्रकार सूर्य अपनी
 उज्ज्वल किरणोंसे जुगनुओंको हतप्रभ कर देता है और समस्त लोकको प्रकाशितकर देता है,
 इसी प्रकार वे मुनिराज नैगम आदि नय और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूपी उज्ज्वल किरणोंसे
 अन्यवादी रूपी जुगनुओंको परास्त करके सारे संसारको ज्ञानका प्रकाश देकर आलोकित
 कर रहे थे ॥३७॥ अजितसेनने अन्य साधुको त्रिकालवर्ती, दूसरोके द्वारा अज्ञात तथा परोक्ष

१. अ क ख ग म प्रमाणम् । २. आ हर्षिर् । ३. वा स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४, वा
 'प्रयातं गतम्' इति नास्ति । ५. आ दृष्टिर् । ६. वा द्रवर्धमाहे ।

अनेकचेष्टैरिति पर्युपासितं तपस्विबृन्दैरर्चयित्वा वृत्तिभिः ।

नरेश्वरस्तं प्रणिपत्य योगिनामधीश्वरं स्तोतुमिति प्रचक्रमे ॥३९॥

मनस्विभिर्नाथ भवान्भवास्तद्विचिन्त्यते यः क्षणमात्मचेष्टिभिः ।

व्रजन्ति तेऽप्याश्चुभाः कृतार्थतां कृतार्थं दृष्टे स्वयि का विचारणा ॥४०॥

जगन्महामोहतमः पटावृतं कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमम् ।

कथं विबुधयेत तवांशुमालिनो न संचरेयुर्दिवि वाङ्मरीचयः ॥४१॥

मतीन्द्रियं वस्तु पदार्थम् । अत्रजसा साकल्येन^१ यथास्वरूपेण (यथास्वरूपं) वा । उपदिशन्तं निरूपयन्तम् । स्वभावाभावाभ्यनिर्देशोद्यतं स्वस्य मार्गस्य वर्यमेनः^२ आहात्म्यस्य सामर्थ्यस्य^३ निदर्शनं प्रकाशने उद्यतमुच्यते । अन्यं पुनरेकम् । तपोधनं तप एव धनं यस्य तम् । सः नृपः चक्रवर्ती । व्यलोकित ऐश्वर्य । लोकोद्^४ दर्शनं लब्धं । रूपकम् ॥३८॥ अनेकेति । इति उक्तप्रकारेण । अनेकचेष्टैः^५ अनेकैः स्वाध्यायादिभिश्चेष्टैर्भ्यापारैः । अनिन्द्यवृत्तिभिः अनिन्द्या स्तुत्या वृत्तिवर्तनं येषां तैः । तपस्विबृन्दैः तपस्विनां मुनीनां बृन्दैः समूहैः । पर्युपासितं पूजितम् । योगिनां मुनीनाम् । अधोऽध्वरम् अविपत्तिम् । तं गुणप्रभमुनीश्वरम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । नरेश्वरः नरनाथः । स्तोतुं स्तुतिं कर्तुम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारभते स्म । क्रमं पादविशेषेण लिट् । 'प्रोपाभ्यां समर्थोभ्याम्' इति तङ् । अतिशयः^६ (?) ॥३९॥ मन्स्वीति । कृतार्थं कृतो निष्पन्नोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्संबोधनं (तत्संबुद्धो) सो निदालप्रयोजनं (कुतः कृत्य इति यावत्) । नाप स्वाभिन् । भवान्तकृत् भवस्य संसारस्थानोऽश्मनां तं करोतीति तपोधनः । भवान् पूज्यस्त्वम् । मनस्विभिः सम्यग्ज्ञानिभिः । आत्मवेदिभिः स्वकृपजैः । यैः पुरुषैः । क्षणं स्वल्पकालं पर्यन्तम् । विचिन्त्यते ध्यायते^७ (ध्यायते) इत्यर्थः । अवच्छिन्नप्रयोगे प्रथमपुरुषः । तेषां पुरुषाः^८ । अपि शब्दोन्मिर्धारणार्थः । आत्मशुभाः आत्मस्वीकृतं शुभं पुण्यं यैस्ते स्वीकृतपुण्याः भूत्वा । कृतार्थता निष्पन्नप्रयोजनत्वम् । व्रजन्ति व्रजन्ति । व्रज गतो लट् । स्वयि भवति । दृष्टे विलोकिते सति । का विचारणा को वा विचारोऽस्ति—इत्यर्थः^९ । तव स्मरणभावेण सर्वं कृतपुण्या भवन्ति, स्वदर्शनेन तु^{१०} शुभा^{११} भूयिष्या भवन्ति—इत्यभिप्रायः ॥४०॥ जगदिति । महामोहतमः पटावृतं महान् मोहोऽज्ञानं स एव तस्माँसि तेषां पटो निबद्धः तैनावृतमावृद्धम् । कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमं कुदृष्टोना मिथ्यादृष्टोना सेवया आश्रयेण परिवृद्धः प्रवृद्धो विभ्रमो भान्तियस्य तत् । जगत् लोकं (कः) । अंशुमालिनः सूर्यस्य । तव ते । वाङ्मरीचयः वाच एव

पदार्थोका वास्तविक उपदेश देते, एवं साधु मार्गिके महत्त्वको प्रकट करनेमें तत्पर रहते देखा ॥३८॥ इस प्रकारकी प्रशस्त चेष्टाओंसे युक्त और श्लाघ्य वृत्तिवाले मुनि सङ्घसे पूजित उन गुणप्रभ नामके योगिकाट्-आचार्यको प्रणाम करके राजा अजितसेनने उनकी स्तुति इस प्रकारसे शुरू की—॥३९॥ हे नाथ; जो आत्मज्ञानी मनस्वी भव परम्पराको नष्ट करनेवाले आपका क्षण-भर भी ध्यान कर लेते हैं, वे भी शुभ परिणामोंको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर हे कृतकृत्य ! आपके दर्शन कर लेने पर तो विचार ही क्या करना है ? क्षण-भर ध्यान करने-वाले भी जब कृतकृत्य हो जाते हैं, तो साक्षात् दर्शन करनेवालोंकी कृतकृत्यताका होना तो सुतरां सिद्ध है । इसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥४०॥ जिसके ऊपर महामोह-के अन्धकारका पर्दा पड़ा हुआ है और जिसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेसे भ्रम बढ़ गया है, वह जगत्, बोधको कैसे प्राप्त करता, यदि आप सरीखे मुनि-सूर्यकी वाणी रूपी किरणोंका

१. सा सामर्थ्येन । २. सा वर्तनस्य । ३. आ 'सामर्थ्यस्य' इति नास्ति । ४. आ लोको । ५. = अनेका नामा चेष्टा व्यापारा येषां तैः । ६. आ 'अतिशयः' इति नास्ति । ७. आ ध्यायते । ८. सा पुरुषाः । ९. सा विचारः को वा, विचारणा नास्ति—इत्यर्थः । १०. सा 'तु' इति नास्ति । ११. आ 'शुभा' इति नास्ति ।

निराश्रयाणां पततामयोगतावसि त्वमात्मन्बनमीश देहिनाम् ।
 त्वमेव सोपानपथः स्थिराश्रयो^१ विमुक्तिसौधाग्रभुवं विद्यासताम् ॥४१॥
 स्वभावजैः क्षान्तिदयादमाहिभिः परिफुट्टकुन्दसमानकान्तिभिः ।
 प्रकाशितं विभ्रममेयतां गतेस्त्वया गुणैश्चन्द्रमसा च रश्मिभिः ॥४२॥
 जगत्प्रमुष्मिन्दिवाधिपोषम त्वदीयवाग्मासुररश्मिभासिते ।
 न मार्गशुद्धिर्हन्तैरलम्भि येन तेन चूकायितमत्र जन्तुभिः ॥४३॥
 विभिन्दतो हार्दमनेकजन्मजं तमस्तबाशेषजगद्गुरोनयैः ।
 विजोक्तं वक्त्रमपूर्यमास्वतो कृद्यैव तेषां वत जन्म जग्मिनाम् ॥४४॥

वचनाम्येव मरीचयः कान्तयः । यदि न संबरेयुः न भ्याप्नुयुः । चर गतिमज्ञणयोर्लङ्^२ । कथं केन प्रकारेण । विबुधैश्च जानीयात् । बुधि मनि ज्ञाने लिङ्^३ ॥४१॥ निराश्रयाणामिति । ईश भोः स्वामिन् । अयोगतो नरकगतौ । पतता निमज्जताम् । निराश्रयाणां निराधाराणाम् । देहिना जीवानाम् । त्व प्रकम्पनम् [त्वम् आकम्पनम्] आधारः । अस्ति अवसि । अस्ति भुवि लट् । विमुक्तिसौधाग्रभुवं विमुक्तिमार्गः स एव सौधो मन्दिरं तस्याग्रभुवमग्रभूमिम् । विद्यासता यातुमिच्छताम् । स्थिराश्रयः स्थिराधारः । सोपानपथः सोपानस्तारोहणस्य पन्थाः मार्गः । 'नृक्षुः पन्थपोऽत्' इति अत्—प्रत्ययः । त्वमेव भवानेव । रूपकम् ॥४२॥ स्वभावेति । स्वभावजैः निसर्गजैः । परिफुट्टकुन्दसमानकान्तिभिः परिफुट्टतो विकसितः कुन्दस्य कुन्दपुष्पस्य समाना सदृशो कान्तिर्द्युतिर्वैद्यं तैः । अमेयतां संस्कारहितत्वम् । गतैः यानैः । क्षान्तिदयादमाहिभिः क्षान्तिदय दया च दमश्च तत्त्वोपताः त एव आदयो (आदौ) वेपा तैः । गुणैः । त्वया भवता । रश्मिभिः किरणैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण च । विद्वं सर्वम् । प्रकाशितं विभासितम् । तुल्ययोगिता ॥४३॥ जगतीति^४ । दिवसाधिपोष दिवसाधिपस्य सूर्यस्योपम समान (उपमा साम्यं यस्य तत्संबुद्धौ हे दिवसाधिपोषम हे सूर्यसमान) । त्वदीयवाग्मासुररश्मिभासिते त्वदीयायाः तच्च संबन्धायाः वाचो वचनस्य मासुरेण प्रकाशन-शोलेन रश्मिना भासिते प्रकाशिते (त्वदीयवाग्मिरेव मासुररश्मिमिभासिते) । जगति लोके । हस्तकः निकृष्टः । यै, मार्गशुद्धिः मार्गस्य रत्नत्रयात्मकस्य शुद्धिर्निर्मल्यम् । न अलम्भि न लभ (लभ्यते) ते स्म^५ । हलन्धि प्राप्नो लुङ् । तैः जन्तुभिः प्राणिभिः । अत्र अस्मिन् स्वयि । न चूकायितं, न चूकवदधरितम् (इति) न, किम्वाधरितमेव । उपमा ॥४४॥ विभिन्दन् इति । अनेकजन्मजम् अनेकजन्मजातम् । हार्दं हृदयसमम् । तमः तिमिरम् । विभिन्दतः छिन्दतः^६ । अशेषजगद्गुरोः अशेषस्य सकलस्य जगतो लोकस्य गुरोः श्रेष्ठस्य ।

सञ्चार न हुआ होता तो ॥४१॥ हे ईश ! किसोका आश्रय न मिलनेसे अधोगतिमें गिरनेवाले प्राणियोंको तुम ही आश्रय हो और मुक्ति महलके ऊपर सिरे तक पहुँचनेको अभिलाषा करने-वालोको तुम ही मजबूत सोपानमार्ग-सीढ़ी हो ॥४२॥ मुनिवर ! आपने अपने स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्दपुष्पके समान निर्मल, तथा अगणित क्षमा, दया और दम आदि गुणोंसे पूरे विश्वको प्रकाशित किया है और चन्द्रमाने अपनी स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्द पुष्पके समान शुभ्र एवं अगणित किरणोंसे समूचे विश्वको प्रकाशित किया है ॥४३॥ हे मुनीन्द्र ! आप सूर्यके समान हैं । आपने अपनी वाणी रूपी देदीप्यमान किरणोंसे इस जगत्को प्रकाशित कर दिया है, किन्तु फिर भी जिन अभागों प्राणियोंने रत्नत्रय रूप मार्गकी निर्मलता नहीं प्राप्तकी, उन्होंने उल्लूका-सा आचरण नहीं किया, यह बात नहीं है ॥४४॥ हे आचार्य-वर्य ! जोवोंके हृदयमें भरे हुए अनेक जन्मोंके पाप या अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाले,

१. अ म स्थिराश्रयो^१; क ल म स्थिरा श्रियो^२ । २. अ लट् । ३. अ लट् । ४. अ अ-प्रत्ययः । ५. आ जगदिति । ६. = त्व संबन्धिण्याः । ७. = नालाभि । ८. आ भिन्दतः ।

अपायमुक्तां पदवीं परे न वां चिरादपि प्रापयितुं परिहृताः ।
 त्वदाश्रयस्तामचिरेण लम्भयन्करोति नश्चेतस्ति नाथ विस्मयम् ॥४६॥
 कषायनाम्नां विजयेन वैरिणामनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् ।
 तवेश यः प्रादुरभून्महोदयो भवादृशासेव गिरां स गोचरः ॥४७॥
 स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनोहरां पुरो निषण्णे विनयेन भूपतो ।
 सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किनां निपेतुरक्षीणि समं तपोभूताम् ॥४८॥
 प्रवृत्तसंभाषणयोर्मिथस्तयोरुर्वंशुवन्तद्यतिदीपिताशयोः ।
 घृतैकचन्द्रद्युजिगीषया स्वयं मही तदा द्वीन्दुरिव व्यजायत ॥४९॥

अपूर्वभास्वतः अपूर्वस्य नूतनस्य भास्वतः सूर्यस्य । तव ते । वषट् मुखम् । येः न विभोक्तिं न निरीक्षितम् ।
 तेषां जग्मिनां शोभानाम् । जन्म जीवनम् । वृषेव निष्फलमेव । बत हन्त । उपमा (व्यतिरेकः) ॥४५॥
 अपायेति । अय अनन्तरम् । परे अग्रे । अपायमुक्ताम् अपायेन बाधया मुक्ता रहिताम् । या पदवीं
 स्थानम् । चिरादपि बहुकालादपि । प्रापयितुं^१ यापयितुम् । परिक्षमाः समर्थाः । नभः अवन्ति । त्वदाश्रयः^२
 त्वदाश्रययुक्तः । ता पदवोम् । अचिरेण शीघ्रम् । लम्भयन् प्राप्नुवन् । नः अस्माकम् । चेत्तस्मिन् चित्ते ।
 विस्मयम् आश्चर्यम् । करोति विदधाति । दुकृञ् करणे लट् ॥४६॥ कषायेति । ईश भो नाथ । कषायनाम्नां
 कषाय इति नाम येषां तेषाम् । अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् अनश्वरश्रीयो मोक्षसम्भवः प्रतिबन्धं^३ प्रतिकूलं
 कुर्वन्तीति प्रतिबन्धकारिणः, तेषाम् । वैरिणा शत्रूणाम् । विजयेन जयेन । तव ते । यः महोदयः अभ्युदयः ।
 प्रादुरभूत् प्रकटोऽभवत् । भू सत्तायां लुङ् । सः, भवादृशमेव भवानिव प्रदृश्यते तै भवादृशः, तेषामेव,
 त्वदाश्रयमेव—इत्यर्थः । 'त्यदादिना' इत्यादिना भवच्छब्दाद् दूले, क्षि । 'आद्यद्—' इत्यादिना दीर्घः,
 गिरा बाधाम् । गोचरः विषयो भवति । बतितयः ॥४७॥ स्तुतिमिति । इति उक्तप्रकारेण । मुनेः गुणप्रभ-
 मुनेः । मनोहरा मनोहररूपाः । स्तुतिं स्तोत्रम् । विषय विरचय । विनयेन ज्ञानादविनयेन । पुरः अग्रे ।
 निषण्णे उपविष्टे । भूपतो क्षितिपतो । सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किना विग्रहेण देहेन सह विद्यमानानां प्रश्रयाणां^४
 विनयानां पुञ्ज इति राशिरिति शङ्किना शङ्कायुक्तानाम् । तपोभृता यतीनाम् । अक्षीणि नयने । समं
 युगपत् । निपेतुः^५ विशिष्टपतुः । पल्लु गतो लिट् । सहोक्तिः ॥४८॥ प्रवृत्तेति । उद्गुदन्तद्युतिदीपिताशयोः

सारे संसारको घर्मोपदेश देनेवाले और इसीलिए अपूर्व सूर्यके रूपमें प्रकट होनेवाले आपके मुखका
 जिन्होने दर्शन नहीं किया, उन जीवोंका जन्म व्यर्थ ही है । यह बड़े ही खेदकी बात है ! ॥४५॥
 हे नाथ ! सारी बाधाओंसे रहित एवं नित्य जिस मुक्तिपदवीको अन्य लोग चिरकालमें भी
 प्राप्त नहीं करा सकते, उसीको तुम्हारा आश्रय शोध ही प्राप्त करवाकर हमारे मनमें आश्चर्य
 उत्पन्न कर रहा है ॥४६॥ मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले क्रोध, मान, माया
 और लोभ नामक शत्रुओंको जीत लेनेसे हे नाथ ! जो आपका महान् अभ्युदय प्रकट हुआ
 है, वह आप सरोखे महामुनियोंको वाणीका विषय है—आप सरोखे विशिष्ट ज्ञानी मुनि ही
 उसका वर्णन कर सकते हैं ॥४७॥ इस तरह गुणप्रभ मुनिकी स्तुति—जो सबके मनको
 हरनेवाली थी—करके राजा अजितसेन उनके आगे विनय पूर्वक बैठ गया । उसे मूर्तिमान्
 विनय या विनयकी मूर्तिके रूपमें देखनेवाले मुनियोंकी दृष्टि एक ही साथ आकृष्ट हुई—
 सभी मुनि उसे एक ही साथ देखने लगे ॥४८॥ मुनिराज गुणप्रभ और राजा अजितसेनका

१. = निरपाया, नित्यागति यावत् । २. = मुक्तिम् । ३. = लम्भयितुम् । ४. = तत्वालम्बनम् ।
 ५. = प्रापयन् । ६. = प्रातिकूलम् । ७. आ क्षिप् । ८. क्ष यथाम् । ९. = पतितार्थाः ।

महोद्भूतस्तस्य सतां प्रणायकः स धर्मवृद्धिं परिपुष्य पावनीम् ।
 विलोकिताशेषमुखेन्दुरस्पृहो गुणानुरागाद् गिरमित्युपाददे ॥५०॥
 निमित्तभावेन मदस्य भूयसो निसर्गतः पार्थिवता व्यवस्थिता ।
 महानुभावे पुनरत्र सान्यथा प्रवर्तते पश्यत पश्यताद्भुतम् ॥५१॥
 नयेन नृणां विभवेन नाकिनां मतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।
 महीभुजाभेन निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥५२॥

सदंशुनाम् उदगता बहिः (ऊर्ध्वं) गता अंशवः किरणा येषां तेषां दन्तानां रदनानां द्यूत्या कान्त्या दीप्तिताः प्रकाशिता आशा दिशो ययोः तयोः । तयोः मुनिपतिभूतयोः । मिथः परस्परम् । प्रवृत्तसंभावणयोः प्रवृत्तं कृतं संभावणं ययोः तयोः सतोः । धूर्तकवन्द्यजिगीषया धृत्वं संभूत एकवन्द्यो यस्या (यया) सा तयोक्ता, धूर्तकचन्द्रा चासौ द्योव च ता जिगीषया जेतुमिच्छया, एकवन्द्योवेताकाशं जेतुमिच्छया—इत्यर्थः । जि^१ अविभवे तस्य सन्-प्रत्यये 'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावे पूर्वत्वं परस्य क्तः कवचदिशः । मही भूमिः । तवा तत्समये । द्वीपुखि चन्द्रद्वयसहितेव । व्यजायत समभवत् । जनैश्च^२ प्रादुर्भावे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ अदीभृत इति । सता सत्पुष्पाणाम् । प्रणायकः प्रभुः । विलोकिताशेषमुखेन्दुः विलोकिता वासिता अशेषाणां सर्वेषां मुखानि बचचाभ्येव चन्द्रा वेन सः । अस्पृहः बाञ्छारहितः । सः गुणप्रभमुनीशः । तस्य महीभूय अजितसेनचक्रिणः । पावनी पवित्राम् । धर्मवृद्धिं धर्मवृद्धिरस्तु—इत्याशिषम् । [परिपुष्य] संपुष्य निरूप्य । गुणानुरागात् गुणप्रीत्या । इति कथ्यमाणप्रकारेण । गिरं वाचम् । उपाददे उवाच । हुवाञ् दाने लिट् । रूपकम् ॥५०॥ निमित्तेति । निसर्गतः स्वभावात् । भूयसः बहुलस्य । मदस्य गर्वस्य । निमित्तभावेन कारणस्वरूपेण । पार्थिवता भूमिपतिरवम् । व्यवस्थिता विविष्टा । अत्र चक्रेश्वरे । महानुभावे महासामर्थ्येन युवते । स्वयि, पुनः पश्चात् । सा पार्थिवता । अन्यथा मदमिमित्ताभावेन । प्रवर्तते विद्यते । वृत्तुद् प्रवर्तनं लङ्^३ । (इति) अदभुतम् आश्चर्यम् । पश्यत पश्यत वीक्षणं वीक्षणम्^४ । 'वीक्षायाम्' इति^५ द्विः ॥५१॥ नयेति । एषः अजितसेनचक्रो । नृणां मनुष्याणाम् । विभवे मतसि । नयेन नयगुणेन । नाकिना देवानाम् । विभवेन ऐश्वर्येण । मतस्पृहाणां बाञ्छारहितानाम् । योगिनां मुनीनाम् । विनयेन विनयगुणेन । महीभुजा भूमिपतीनाम् ।

आपसमे वार्त्तालाप होने लगा । इन अवसरपर दोनोंके दाँतोंकी धुन्न कान्तिसे सारी दिशाएँ प्रकाशित हो उठी, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो केवल एक ही चन्द्रमाको धारण करनेवाले आकाशकी जीतनेकी इच्छासे पृथ्वीने उस समय दो चन्द्रमा धारण कर लिये हों ॥४९॥ गुणप्रभ समस्त मुनियोंके नायक थे । वे निस्पृह थे । उन्होंने सभीके चेह्रोंकी ओर दृष्टिपात किया, और राजा अजितसेनको 'धर्मवृद्धिरस्तु'—'धर्मकी वृद्धि हो' कहकर आशीर्वाद दिया । फिर उसके गुणोंके प्रति अनुराग होनेसे उन्होंने ये वचन कहे—॥५०॥ राजा होना स्वभावसे ही बहुत भारी मदका कारण है, यह बात बहुत पहलेसे ही निश्चित है । फिर भी इस प्रभावशाली चक्रवर्तिम यह मदवाली बात बिलकुल विपरीत है—चक्रवर्ती होनेपर भी इसे (अजितसेनको) तनिक भी अहङ्कार नहीं है । देखो, देखो, यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥५१॥ यह अपनी नीतिसे मनुष्योंके, विभूतिसे देवोंके; विनयसे निस्पृह योगियोंके और प्रतापसे राजाओंके चित्तमें निरन्तर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है—इसकी नीति, विभूति, विनय और प्रतापको देखकर क्या मनुष्य, क्या देव, क्या योगी और क्या राजे-महाराजे सभीको आश्चर्य

१. आ द्युतिना कान्तिना (?) । २. = याम्याम् । ३. = प्रारब्धम् । ४. श जि जि । ५. आ जनी । ६. श लिङ् । ७. = निश्चिता । ८. = महाप्रभावे । ९. श 'मद' इति नास्ति । १०. आ वृत्तु वर्तने लङ् । ११. आ 'वीक्षणम्' इति नास्ति । १२. आ 'इति' नोपक्रम्यते ।

तुलाव्यतीतो' विनयः क चेदृशः क्व सार्वभौमी प्रभुतेयमीदृशी ।
 निषेव्यते सर्वगुणो गुणैरयं परस्परमीतिमुपागतैरिव ॥५३॥
 न तादृशी स्वे विभवे न बान्धवे न चापि संसारसुखे मनोहरे ।
 यथास्य चिन्ता परलोकसाधने हितानुबन्धाचरितं महात्मनाम् ॥५४॥
 चवन्तमेवं तमुवाच भूपतिः समासतः प्रभयनम्रमस्तकः ।
 यियासतस्तावकमेव धाम मे त्वदागमः पूर्वकृतैः कृतः शुभैः ॥५५॥
 पदातिसार्थाः विभवाश्च बान्धवा भवन्ति पाते शरणं न दुर्गता ।
 समाकलयेति मम प्रवर्तते त्वदीयसेवासृष्टमेव मानसम् ॥५६॥

निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रभावेण । सततम् अनवरतम् । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । तनोति करोति । तनूञ्
 विस्तारे लट् । चित्ते—इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । दीपकः (कम्) ॥५२॥ तुलामिति । तुलाव्यतीतः तुलया
 उपमया व्यतीतोऽतीतः । ईदृशः एतादृशः । 'इत्यादि—' इत्यादिना क्वि । विनयः विनयगुणः । क्व च कुत्र
 च । सार्वभौमी सार्वभौमस्य चक्रिणः संबन्धिनी, तथोक्ता । 'पृथिवी सर्वभूमिभ्यामञ्ज' इति
 अञ्-प्रत्ययः । इयम् एषा । ईदृशी एतादृशी । प्रभुता विभुत्वम् । क्व कुत्र । सर्वगुणः निखलगुणवान् ।
 अयम् एषः । गुणैः विनयादिगुणैः । परस्परप्राप्तिम् आगम्योन्मेषीतिम् । उपागतैरिव आयातैरिव । निषेव्यते
 आराध्यते । षेवृञ् सेवने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥५३॥ नेति । अस्य चक्रिणः । परलोकसाधने परलोकस्य
 उत्सङ्गतेः साधने । यथा चिन्ता बुद्धिः । तादृशी तादृश्या । स्वे स्वकीये । विभवे संपदि । न-न भवति ।
 बान्धवे बन्धुजनेऽपि, न । मनोहरे मनोहररूपे । संसारसुखे सासारिकसुखेऽपि च, न । न—इति प्रत्येक-
 मभिसंबध्यते । दीपकः (कम्) । महात्मना महापुरुषाणाम् । आचरितम् आचरणम् । हितानुबन्धि हिता-
 नुसारि हि । अशान्तिरत्यासः ॥५४॥ बद्धन्तमिति । एषम् उक्तप्रकारेण । बद्धन्तं ब्रुवन्तम् । त मुनिपतिम् ।
 प्रभयनम्रमस्तकः प्रभयेण विनयेन ममो नमनशीलो मस्तको यस्य सः । भूपतिः चक्रवर्ती । समासतः
 संक्षेपात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि लिट् । तावकं त्वदीयम् । 'युष्मदस्मदोऽञ्ज् अञ्जो—'
 इत्यादिना अञ्, तस्योने तवकादेशः । धामैव स्थानमेव । यियासतः गन्तुमिच्छोः । मे मम । त्वदागमः
 त्वागमनम् । पूर्वकृतैः प्राग्जन्मकृतैः । शुभैः पुण्यैः । कृतः । अनुमितिः ॥५५॥ पदातीति । दुर्गता नरका-
 दिदुर्गता । पाते पतने । पदातिसार्थाः पदातीना मताना सार्थाः समूहाः । विभवाश्च सम्पदश्च । बान्धवाश्च

हो रहा है ॥५२॥ कहाँ ऐसी अनुपम नम्रता और कहाँ सारे भूमण्डलकी ऐसी प्रभुता—ऐसी
 नम्रता और ऐसी प्रभुता किसी एक व्यक्तित्वमें नहीं हो सकती, केवल यही एक ऐसा व्यक्ति है,
 जिससे परस्पर विरोधी ये दोनों गुण—नम्रता और प्रभुता दृष्टि-गोचर हो रहे हैं । इन गुणोंकी
 तरह इससे और भी सभी गुण हैं, जिनको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी गुणोंमें एक
 दूसरेके प्रति प्रीति उत्पन्न हो जानेसे वे मिलकर इसकी सेवा करने लगे हों । ॥५३॥ अजित-
 सेनको परलोक साधनेकी जैसी चिन्ता रहा करती थी, वैसी अपने वैभव, बन्धु-बान्धव और
 मनोहर सांसारिक सुखकी नहीं रहती थी । ठीक है, महात्माओंका आचरण हितका अनुसरण
 करनेवाला होता है ॥५४॥ इस प्रकार कहते हुए गुणप्रभसे राजा अजितसेन विनयसे सिर नवा
 कर संक्षेपमें यों बोला—मे आपहूँके स्थानमें—जहाँ इससे पहले आप थे—आना चाहता था,
 किन्तु मेरे पूर्वजन्मके क्षुभकर्मके उदयसे आप स्वयं यहीपर पधार गये हैं ॥५५॥ नरक आदि खोटी
 गतियोंमें गिरते समय सैनिक, वैभव और बन्धु-बान्धव रक्षा नहीं कर सकते, यह सोच करके

१. क ल ग च म तुलां व्यती° । २. अ क ल ग च म पदातिपूर्वा । ३. आ तनु । ४. आ अ
 तुकेति । ५. आ वेव, वा कीब्रज ।

प्रसादो नस्तद्वत्तत्त्वदीक्षया यतः प्रसादो भवतः कियानपि ।
 श्रुमं तनोत्याशु निहन्ति चाश्रुमं करोति किं वा न सतामनुग्रहः ॥५७॥
 निवेदितान्तःकरणस्य भूभुजः परीक्षितुं साहसिकस्य साहसम् ।
 तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं पतिर्मुनीनां पुनरित्यथोचत ॥५८॥
 तपो वपुमिः कठिनैः सुदुष्करं यद्वर्जितं साधुजनेन भादृशा ।
 कथं सहेरन्सुकुमारमूर्तयो भवादृशाः कुङ्कुमलेपलालिताः ॥५९॥
 दयावतो धर्मधनस्य धीमतामनिन्यवृत्तस्य परार्थसंपदः ।
 चरित्रमेतद् गृहमेधिनोऽपि ते तपोभृतामारचणाञ्च भिद्यते ॥६०॥

बन्धववचः । शरणं रक्षणम् । न भवन्ति न सन्ति । भू सत्ताया लट् । इति एवम् । समाकलय्य विचार्य । मम मे । मानसं चित्तम् । त्वदीयसेवास्पृहमेव त्वदीयार्थे सेवायै स्पृहमेव वाञ्छितमेव (स्पृहा वाञ्छा यस्य तत्, भवदीयसेवानिलापि — इत्यर्थः) । प्रवर्तते विद्यते ॥५६॥ प्रसीदेति । तत् तस्मात् कारणात् । वरद भो दृष्टदायक । अस्मदीक्षया^१ अस्माकमोक्षणेन (आत्मदीक्षया स्वदीक्षया, साधुदीक्षया — इत्यर्थः) । न. अस्माकम् । प्रसीद प्रसन्नो भव । यतः, भवतः तव । प्रसादः काश्यम्^२ । कियानपि लघुरपि । 'वत्सिदं किमः' इति घतु-प्रत्ययः । 'किमिदमः कौष्' इति कि- आदेशः^३ । आशु शीघ्रम् । शुभ पुण्यम् । तनोति करोति । तनून् विस्तारे लट् । अशुभं पापम् । हन्ति निहंसति । हन् हिंसावत्यो लट् । सता सत्पुरुषाणाम् । अनुग्रहः काश्यम् । किं वा किमिदम् । न करोति न विदवाति । अर्थान्तरन्यासः ॥५७॥ निवेदितेति । निवेदितान्त-करणस्य निवेदितं विज्ञापितमन्तःकरणं यस्य^४ तस्य । साहसिकस्य समर्थस्य । भूभुजः भूमिपते । साहसं सामर्थ्यम् । परीक्षितुं परीक्षणाय । मुनीनां योगिनाम् । पतिः विभ् । तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं तदीयाया भूपसंभिक्षया वाञ्छाया दीक्षास्वीकाराभिलाषस्य निवर्तने निराकरणे उचितं योग्यम् । वचनम्^५ । पुनः पश्चात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अथोचत् अथवीत । ब्रून् व्यवताया वाचि लट् । 'अस्ति ब्रूवो भूवचो' इति वच-आदेशः ॥५८॥ तप इति । यत्, कठिनैः कर्कशैः । वपुमिः शरीरैः । सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । मादृशा मम सद्वीरे । साधुजनेन साधुरेव जनस्तेन मूर्तिजनेन । अजितं कृतम् । सुकु-मारमूर्तयः सुकुमारा कोमला मृतिः शरीरं येषां ते, मृदुशरीराः इत्यर्थः । कुङ्कुमलेपलालिताः कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य लेपेन विलेपेन लालिता विराजिता । भवादृशाः त्वादृशाः । 'त्यदादि—' इत्यादिना विव-प्रत्ययः । कथं केन प्रकारेण । सहेरन् सहासु^६ । पक्षि मरणे लिङ् । विषमालङ्कारः ॥५९॥ दूयेति । दयावतः काश्यवतः । धर्मधनस्य धर्म एव धर्म यस्य तस्य । धीमता बुद्धिमन्त्रिः । अनिन्यवृत्तस्य सत्युत्पादितस्य ।

मेरा मन अब केवल आपकी सेवाके लिए ही लालायित है ॥५६॥ इसलिए हे मनोरथको पूरा करनेवाले मुनिराज भूभुज पर प्रसन्न होइये, और मुझे जिनदीक्षा प्रदान कीजिए; क्योंकि आपका थोड़ा-सा भी प्रसाद कल्याणको बढ़ानेवाला और अकल्याणको नष्ट करनेवाला है । सन्त पुरुषोंका अनुग्रह क्या नहीं कर देता है ? ॥५७॥ इस तरह अपने मनोभावको व्यक्त करनेवाले साहसी राजा अजितसेनके साहसकी परीक्षा करनेके उद्देश्यसे मुनिराज गुणप्रभ उसकी इच्छाको बदलने-के लिए उचित रीतिसे पुनः यों कहने लगे—॥५८॥ राजन् ! मुझ सरीखे साधुवर्गने कठोर शरीरसे जिस घोर और कठिन तपका अर्जन किया है, उसे तुम सरीखे सुकुमार एवं काश्मीरी केशरका शृङ्गार करनेवाले लोग कैसे सहन कर सकते हैं ? ॥५९॥ राजन् ! तुम दयालु हो;

१. क त्व ग ध म यदपितं । २. एष टीकाकृदयमतः पाठः प्रतिपु तु 'आत्मदीक्षया' इत्येव पाठो दृश्यते । ३. अ प्रसादतः काश्यत्वात् । ४. आ किरादेशः, अ केरादेशः । ५. आ तनु । ६. = येन । ७. अ दीक्षास्त्वित्यर्थः । ८. = इतिशेषः । ९. अ 'सहासुः' इति नास्ति ।

दयापरः साधुरतः परब्रध्नीरतस्त्वमेतामनुशाधि मेदिनीम् ।

समुद्धरंलोकमनाथमायुगं किमस्ति दीनोद्धरणात्परं तपः ॥६१॥

उदीरितायामिति वाचि सूरिणा पतिः प्रजानामबलान्तराश्रयः ।

समाहितः श्रेयसि पक्षमात्मनः पुनर्हृदीकर्तुमुपोपचक्रमे ॥६२॥

शिरःसमभ्यर्च्यमपोश लङ्घयते मया यदेतद्भवतोऽनुशासनम् ।

विहाय जन्मव्यसनानि विद्यते मुनीन्द्र नैवापरमत्र कारणम् ॥६३॥

परार्थसंपदः परार्था परप्रयोजना संपद् यस्य तस्य । गृहमेचिनोऽपि गृहस्थस्यापि । ते तब । एतत् इदम् । चरित्रम् आचरणम् । तपोभूता मुनीनाम् । आचरणात् चरित्रात् न भिद्यते^१ भेदो न क्रियते मिदं^२ विदारणे कर्मणि लट् ॥६०॥ दधेति । ततः तस्मात् । दयापरः^३ दयया कारणेन परः श्रेष्ठः । साधुरतः साधुषु मुनिषु रतः प्रीतः । परब्रध्नीः परब्रह्मणोऽपि धीर्बुद्धिं यस्य सः । अनाथं निराधारम् । लोकं जनम् । समुद्धरन् पालयन् एताम् इमाम् । मेदिनी भूमिम् । आयुगं युगपर्यन्तम् । अनुधावि रस । शासु अनुशिष्टौ लोट्^४ । 'शाध्वेषिजहि' इति साधुः । दीनोद्धरणात् अनाथोद्धरणात् । परम् उत्कृष्टम् । तपः तपश्चरणम् । किमस्ति किं वर्तते, न किमपि—इत्यर्थः । अर्थान्तरस्यासः ॥६१॥ उदीरितेति । सूरिणा मुनिना । इति उक्तप्रकारेण । वाचि वचने । उदीरिताया निरुपिताया सत्याम्^५ । अबलान्तराश्रयः अबलान्तराश्रयो यस्य सः । श्रेयसि मोक्षे । समाहितः संनद्धः । प्रजानां लोकजनानाम् । पतिः प्रभुः । आत्मनः स्वस्थ । पक्षम् अङ्गीकारम् । पुनः पश्चात् । दूढीकर्तुं स्थिरीकरणाय । उपोपचक्रमे^६ प्रारभते स्म । क्रमं^७ पादविक्षेपे लिट् । 'प्रोपोत्सं पादपूरणे' इति द्विः । 'प्रोपाश्या समर्पश्याम्' इति तट् ॥६२॥ शिर इति । ईश प्रभो । मुनीन्द्र मुनिपते । शिरःसमभ्यर्च्यमपि शिरसा मस्तकेन समभ्यर्च्य पूजनीयमपि । भवतः तब । यत्^८ कारणात् । एतत् इदम् । अनुशासनम् आज्ञा । मया, लङ्घयते अतिक्रम्यते । लघुहृ^९ गतो कर्मणि लट् । अत्र^{१०} गृहस्थत्वे । जन्मव्यसनानि^{११} जनितदुःखानि विहाय परित्यज्य । अपरम् अन्यत् । कारणं हेतुः । नैव विद्यते नैवास्ति । विदि^{१२} सत्ताया लट् ॥६३॥

धर्मको अपनी सम्पत्ति समझते हो; तुम्हारे चरित्रकी, विद्वज्जन भी प्रशंसा करते हैं और तुम अपनी सम्पत्तिको परोपकारमें लगाया करते हो । अतएव यह स्पष्ट है कि तुम गृहस्थ हो किन्तु तुम्हारा चरित्र साधुओंके चरित्रसे भिन्न नहीं है ॥६०॥ राजन् ! तुम सदा दया करनेमें तत्पर रहते हो; साधुओंके भक्त हो और तुम्हारी बुद्धि परलोककी ओर लगी रहती है । अतः तुम युगके अन्ततक अनाथ लोगोंका उद्धार करते हुए इस पृथ्वीपर शासन करो । दीनोंके उद्धारसे बढ़कर और तप कौन सा है ? ॥६१॥ आचार्य गुणप्रभके यों कहनेपर भी राजा अजितसेन अपने विचारोंसे विचलित नहीं हुआ । चूँकि वह मुक्ति पानेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था, अतः अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए पुनः यों बोला— ॥६२॥ हे मुनीन्द्र ! आपकी यह आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य एवं पूजनीय है, किन्तु फिर भी मे इसका जो उलङ्घन कर रहा हूँ, उसका कारण गृहस्थ अवस्थामें रहनेसे होनेवाले जन्म, जरा और

१. = भेदं न भजते । २. आ मिदिर । ३. वा 'दयापरः' इति नास्ति । ४. वा लट् । ५. वा तस्याम् । ६. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'अपोपचक्रमे' इत्येव पाठो वर्तते । ७. वा क्रमु । ८. = यस्मात् । ९. वा लघि । १०. = अनुशासनलङ्घने । ११. = जन्मनो जन्मवरणं मरणानां दुःखानि । १२. वा विद ।

बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गिनामनिष्ठयोगादिकृता दुराधयः ।
जिनेन्द्रचन्द्राचरितं सुदुःसहं सहेत कः सत्यमिदं महाव्रतम् ॥६४॥
विचित्रदुःखा भवमृत्युसंततिः प्रलीयते चेद् गृहमेधिनामपि ।
भवाहशामेकविवेकचक्षुषो^१ भवेद्गृहा तर्हि तपःपरिश्रमः ॥६५॥
इति ब्रुवन्तं तमुदारचेष्टितं जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसम् ।
विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयो विशामधीशं मुनिरन्वमन्यत ॥६६॥
ततः स तेनानुमतो महोपतिर्वितीर्य राज्यं जितशत्रुसूनुवे ।
तपोऽग्रहीत्संयमभारभूषणं विमुक्तये मुक्तपरिग्रहग्रहः ॥६७॥

चक्षुःशक्तिः । अङ्गिना जीवानाम् । अनिष्टयोगादिकृता अनिष्टस्याहितकष्टकादेर्योगादिना सबन्धादिना, आदिशब्देन वियोगादिगुहाते, कृता विहिताः । बहुप्रकाराः नानाप्रकाराः । दुराधयः दुष्टपीडाः । यदि न स्युः न भवेयुः । जिनेन्द्रचन्द्राचरितं जिनेन्द्रचन्द्रेणाचरितं प्रवृत्तम् । सुदुःसहं सोढुमशक्यम् । सत्यं सत्यरूपम् । इदम् एतत् । महाव्रतं पञ्चमहाव्रतादिकम् । कः को वा । सहेत अमेत, न कोऽपि—इत्यर्थः । संसारे सुखं वर्तते चेत्, जिनेन्द्रपादाचरितं कृच्छ्रं तपश्चरणं मुनयः किमितिमाचरन्ति—इत्यर्थः । अनुमितिः । ६४॥ विचित्रेति । विचित्रदुःखा विचित्रं दुःखं यस्या सा । भवमृत्युसंततिः भवाना जननाना मृत्यूना मरणाना सन्ततिः^२ समूहः । गृहमेधिनामपि गृहस्थानामपि । प्रलीयते चेत् विनश्यति चेत् । छोड् इलेषणे लट् । तर्हि, एकविवेकचक्षुषाम् एको मुखो विवेक एव बहो येषा तेषाम् । भवादृशा युष्मादृशाम् । तपःपरिश्रमः तपसः तपश्चर्यायाः परिश्रमः प्रयासः । दृषा निष्फलः । भवेत् स्यात् । भू सत्ताया लिट् ॥६५॥ इतीति । विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयः विनिश्चितो निर्णयः एकान्तो दृढस्तदीयस्तस्य सबन्धी निश्चयो निर्णयो येन सः । मुनिः यतिः^३ । इति उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्तं भाषमाणम् । उदारचेष्टितम् उदारं महत्चेष्टितं व्यापारो यस्य तम् । जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसं जिनेन्द्रस्य जिनेन्द्रवरस्य दीक्षाया तपःस्वीकारे निहितं स्थापितमेकं मुख्यं भागसं चित्तं यस्य तम् । विशा महाताम् । बधोष प्रभुम् । अन्वमन्यत अनुमन्यते स्म । यति^४ जाने लङ् । अनुमितिः ॥६६॥ तत इति । ततः पश्चात् । तेन मुनौन्द्रेण । अनुमतः संमतः । सः महोपतिः भूमिपतिः । जितशत्रुसूनुवे^५ जितशत्रुरिति सूनुवे पुत्राय । राज्यं भूषतित्वम् । वितीर्य दत्त्वा भूषतपरिग्रहग्रहः भूषतस्त्यक्तः परिग्रह एव ग्रहो येन सः । संयमभारभूषणं संयमस्येन्द्रियनिग्रहस्य भार एवातिशय एव भूषणमलंकारो यस्य

मरणके घोर दुःखोको छोड़कर और कुछ नहीं है ॥६३॥ यदि जीवोंको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदिके निमित्तसे होनेवाली नाना प्रकारकी बुरी-बुरी मानसिक व्यापारें न होती तो जिनेन्द्र भगवान्ने जिसका स्वयं प्रयोग किया है, उस दुर्घर और सत्य महाव्रतको कौन पालता ? संसार सुखमय होता तो सचमुच ही कोई महाव्रत पालन करनेका कष्ट न उठाता ॥६४॥ विचित्र दुःख देनेवाली जन्म और मरणकी परम्परा यदि गृहस्थोंकी भी नष्ट हो जाय तो आप सरोखे परम विवेकियोंके तपश्चरणका परिश्रम व्यर्थ हो चला जाय ॥६५॥ अजित-सेनकी चेष्टाओंमें उदारताका पुट रहता था और उसका मन केवल जिनदीक्षाकी ओर ही लगा हुआ था । उसके मुँहसे उक्त बातें सुनकर मुनिराजने उसके दृढ़ निश्चयको निश्चित रूपमें जान लिया । इसके पश्चात् गुणप्रभने उसे जिनदीक्षाकी अनुमति दे दी ॥६६॥ इसके पश्चात् अजितसेनने मुनिराज गुणप्रभसे जिनदीक्षाको स्वीकृति पाते ही अपने जितशत्रु नामके

१. क ल म घ म 'दुःखामेर विवे' । २. आ 'महाव्रतं' इति नास्ति । ३. वा 'व्रताधिकम्' । ४. = परिश्रम । ५. आ वा लिङ् । ६. आ 'लट्' इति नास्ति । ७. ल लट् । ८. श यतो । ९. = येन । १०. आ मनु । ११. = जितशत्रुसंज्ञकाय सुताय ।

तपश्चरन्धोरमघोरमानसः स्थिरैकपर्यङ्ककृतस्थितिर्बहिः ।
 निनाय निस्त्रिंशद्दिमानिलाहृतो निशा धृतिप्रावरणः स हैमनीः ॥६८॥
 विभीषणोल्काशतपातदुःसहो घनागमे घोरघनान्धकारिणि ।
 स बारिधारा मुसलाकृतीः कृती क्षपासु सेहे तरुमूलमास्थितः ॥६९॥
 तपेऽभिमुख्यं प्रतिमावपस्थितः स तप्तसूचीसदृशै रघेः करैः ।
 न तुद्यमानोऽपि चञ्चल योगतः स्थिरा हि सन्तः करणोयवस्तुनि ॥७०॥
 मनो दधद्वादशसु प्रतिक्षणं स भावनासु ध्रुवमध्रुवादिसु ।
 लुदादिभिः कुण्णमदो न बाधितुं पराधैर्जातुचिदप्यशक्यत ॥७१॥

तत् । तप. तपस्वरणम् । विमुक्तये मोक्षाय । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रही^३ उपादाने लुङ् । रूपकम् ॥६७॥
 तप इति । धोरं भयंकरम् । तपः तपस्वरणम् । वरन् आचरन् । अचोरमानसः अघोरं सप्तभयरहितं मानसं
 मनो यस्य सः । बहिः बाह्यप्रदेशे । स्थिरैकपर्यङ्ककृतस्थितिः स्थिरेण दृढेन एकेन पर्यङ्केन पर्यङ्कासनेन कृता
 बिहिता स्थितिः^४ स्थानं यस्य^५ सः । निस्त्रिंशद्दिमानिलाहृतः निस्त्रिंशेन तीक्ष्णेन हिमेन क्षीतकैमानिलेन
 वायुनाहृतः पीडितः । धृतिप्रावरणः धृतिर्धैर्यं सैव प्रावरणं बलं यस्य सः । सः चक्री । हैमनीः हेमन्ततोः
 संबान्धनीः । हेमन्तशब्दाद् अणि, 'लुक्तोऽणि' इति तलोपे सति हैमन इति भवति, तस्मात् 'टिङ्ण—
 इत्यादिना डो', हैमनी इति भवति । निशाः रात्रीः निनाय नयतिस्म । जोक् प्रापणे लिट् ॥६८॥
 विभीषणेति । विभीषणोल्काशतपातदुःसहो विभीषणानां^६ भयंकराणामुल्कागामाशनीनां शतस्यानैकस्य पातेन
 पतनेन दुःसहो संदुषणये । घोरघनान्धकारिणि घोरं भयंकरं घनेन निरन्तरेण अन्धकारेण युक्ते ।
 घनागमे वर्षाकाले । कृती पुण्यवान् । तरुमूलं वृक्षमूले । आस्थितः^७ । 'शोड् स्वासो'^८ इत्यादिना आचारे
 द्वितीया । सः चक्री । क्षपासु निशासु । मुसलाकृतीः मुसलाकाराः । बारिधाराः जलधाराः । सेहे सहते स्म ।
 वहि^९ मर्षणे लिट् । जातिः ॥६९॥ तप इति । तपे श्रोत्रमूले । अभिमुख्यं सूचिनिमुखम् । प्रतिमावपस्थितः
 प्रतिमया प्रतिमायोगेन व्यवस्थित आस्थितः^{१०} । सः अजितसेनमुनिः । तप्तसूचीसदृशैः तप्तायाः संतप्तायाः
 सूच्याः सदृशैः सवर्णैः । करैः किरणैः । तुद्यमानोऽपि पीडयमानोऽपि । योगतः योगात् । न चञ्चल न
 चलति स्म । चल कम्पने लिट् । सन्तः सत्पुरुषाः । करणोयवस्तुनि करणोये कर्तुं योग्ये वस्तुनि प्रयोगे ।
 स्थिरा हि निश्चला हि । अघोरान्तरायाः ॥७०॥ मन इति । अध्रुवादिसु अनिरयादिसु । द्वादशसु द्वादशविधेषु

पुत्रको राज्य सौप दिया, समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया और फिर संयमके प्रकर्षसे
 मुशोभित होनेवाले तपको ग्रहण किया ॥६७॥ चक्रवर्ती अजितसेनने जिनदीक्षा लेकर घोर
 तप तपना शुरू कर दिया । उनके मनमें सात भयोंमेंसे कोई एक भी नहीं था । वे नगरके
 बाहर खुले मैदानमें स्थिरतासे पर्यङ्कासन लगाकर बैठे हुए थे । उन्होंने धैर्यका ओढ़ना ओढ़कर
 तेज बर्फाली वायुके आघातको सहते हुए हेमन्तकी रातें बितायीं ॥६८॥ भयङ्कर सेकड़ों
 उल्कापातोंसे असह्य और घोर अन्धकारसे घिरे हुए वर्षाकालमें वे पुण्यवान् चक्रवर्ती मुनि
 वृक्षके नीचे बैठकर मूसलाधार वर्षा सहते थे ॥६९॥ वे अजितसेन मुनि श्रोत्रमूले सूर्यके
 सामने प्रतिमायोग लगाकर खड़े हो जाया करते थे । गरमकी गई सुइयोंके समान प्रतीत होने-
 वाली सूर्यकी किरणोंसे पीडित किये जानेपर भी वे योगसे विचलित नहीं होते थे । सन्त
 पुरुष निश्चय ही अपने कर्तव्य-मार्गसे कभी डिगते नहीं ॥७०॥ मुनि अजितसेन अपने मनको

१. अ आ इ 'सूर्यं प्रतिमां, क ख ग घ स 'सूर्यं प्रतिमं च' । २. आ इ क्षुण्णमदो, क ख ग घ
 क्षुण्णमना । ३. आ ग्रह । ४. = अवस्थानं । ५. = येन । ६. आ क्षीपि । ७. स 'विभीषणानां' इति नास्ति ।
 ८. आ आश्रितः । ९. आ 'अभिशीङ्क्षासां कर्म' अष्टाध्यायी १।४।४६ । १०. आ वह । ११. आ आसितः ।

इत्थं विधाय विविधं स तपस्तपश्चोव्यालिङ्गितः परिणतोऽब्जवत्प्रमत्तेश्वरः ।
 व्यायन्गुक्तुगुक्तुगुक्तु हृदयेन पञ्च प्राणान्समाधिमरणेन मुनिर्मुमोक्ष ॥७२॥
 प्राप्याच्युतं सपदि कल्पमथाच्युतेन्द्रो भूत्वाप्सरोजनमनो नयनाभिरामः ।
 सम्यक्परत्नरुचिरोऽनुभवन्स तस्यै दिव्यं सुखं द्वयधिकविशतिसागरायुः ॥७३॥
 च्युत्वा ततो विगलितायुरसाविहाम्भूस्थं रत्नसञ्चयपुरे नृप पद्मानाभः ।
 पुत्रो जगद्विजयिनः कनकप्रभस्य माता च ते जनमनोऽब्ज सुवर्णमाला ॥७४॥

(बाधु) । भावनानु अनुप्रेषासु । ध्रुवं निश्चयेन । प्रतिक्षणं^१ क्षणं प्रति । मनः मानसम् । दधत् धरन्^३ ।
 क्षुण्णमदः क्षुण्णवर्णोक्तो मदी येन सः । सः मुनिः । क्षुदादिभिः क्षुत्प्रमुखः । परोषहैः^४, जातुषिदपि^५
 सङ्गृह्णी । बाधितुं पीडितुम् । न अशक्यत न शक्योऽभूत् । शकलं शकती कर्मणि लट् ॥७१॥ इत्थमिति ।
 इत्थम् अनेन प्रकारेण । विविधं नानाप्रकारम् । तपः तपस्वरणम् । विधाय कृत्वा । तपःशोव्यालिङ्गितः
 तपःश्रिया तपोलक्ष्म्या आलिङ्गितः संलिङ्गितः । परिणतोऽब्जवत्प्रमत्तेश्वरः परिणताः परिणामं गता उज्ज्वलाः
 प्र(प्रो)ज्ज्वला वर्णा उत्तमसमादयो लक्ष्याः पीतादयो यस्य सः । गुणगुक्तुं गुणमंहतः । पञ्च पञ्च-
 संख्यान् गुक्तुं परमेष्ठिनः । हृदये चित्ते । ध्यायन् चिन्तयन् । सः मुनिः अजितसेनमुनिः^६ । समाधिमरणेन
 समाधिना श्रद्धास्तध्यानेन युक्तेन मरणेन निश्चयेन । प्राणान् असून् । मुमोक्ष तत्याज । मुचल्लु मोक्षणे लिट् ।
 जतिः ॥७२॥ प्राप्तेति । अथ मरणानन्तरम् । अच्युतनामधेयम् । कल्पं स्वर्गम् । सपदि क्षीघ्रम् । प्राप्य गत्वा ।
 अच्युतेन्द्रः अच्युतामिष्येन्द्रः । भूत्वा जनित्वा । अप्सरोजनमनोनयनाभिरामः अप्सरस एव जना लोका
 (अप्सरसा जना वर्गाः) तेषां मनसां मानसानां नयनानभिरामो (प्रियो) मासमानः । सम्यक्परत्नरुचिः
 सम्यक्त्वमेव श्रद्धानमेव रत्नं तेन रुचिरो मनोहरः । द्वयधिकविशतिसागरायुः द्वाभ्यामधिकविशत्या विशति-
 प्रमाणैः सागरो सागरोपमैः प्रमितमायुरेव सः । सः अच्युतेन्द्रः दिव्यं स्वर्गजम् । सुखं शीघ्रम्^७ । अनुभवन्
 निर्विकल्पम् । तस्यो आवांश्चमूय । छा नतिनिवृत्तो छिद् ॥७३॥ च्युत्वेति । नृप भो भूपते । विगलितायुः
 विषतायुः । अतो अच्युतेन्द्रः । ततः अच्युतकल्पात् । च्युत्वा आगत्य । इह अत्र । रत्नसञ्चयपुरे रत्नसञ्चय-

हर सगय निश्चय ही अनित्य आदि बारह भावनार्थोंमें लगाये रहते थे—उनके मनमें रह-रह-
 कर जगत् अनित्य है, अशरण है—इत्यादि भाव उत्पन्न होते थे । गृहस्थ अवस्थामें जिस तरह
 पूर्ण सफल रहे, उसी तरह वे साधु अवस्थामें भी पूर्ण सफल हुए, फिर भी उन्हों अहङ्कार
 नहीं था—उन्हे अपने तपका मद नहीं था । भूख, प्यास आदिकी परोषहे उन्हे कभी तनिक
 भी बाधा नहीं पहुँचा सकी ॥७१॥ इस प्रकार अजितसेन मुनिने अनेक प्रकारका तप
 किया, जिससे उनके ऊपर तपोजनित शोभा दृष्टिगोचर होने लगी—और उनके क्षमा आदि
 दस धर्मों और शुभ लक्ष्याओंमें निखार आ गया । गुणोंमें महान् पाँच परमेष्ठियोंका हृदयसे
 ध्यान करते हुए उन्होंने समाधिमरण पूर्वक प्राणोंका त्याग किया ॥७२॥ इसके पश्चात् वे
 शीघ्र ही अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें जाकर अच्युतेन्द्र-अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए । वे वहाँ
 अप्सराओंके वर्गको अत्यन्त प्रिय थे, इन्हें देखकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो जाता
 था और उनके नेत्र भी उसीमें रम जाया करते थे । वे सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे सुन्दर
 थे—सम्यग्दृष्टि थे । बाईस सागर तक उन्होंने वहाँका दिव्य सुख भोगा ॥७३॥ आयु
 समाप्त होनेपर तुम अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर रत्न सञ्चयपुरमें लोकविजेता राजा

१. स भूत्वा सरोजनयोः । २. = क्षणं क्षणं प्रति, सर्वदेव—इत्यर्थः । ३. स धरन् ।
 ४. 'क्षुदाठारान्जना पोदा' इति हैमः । ५. आ परिषहैः । ६. स 'अपि' नास्ति । ७. आ हितादयोः ।
 ८. स 'गुणैः' इति पदं नास्ति । ९. स 'सेन' इति नास्ति । १०. स क्षातम् ।

जन्मावलीमिति यथावदसौ निगद्य तूष्णीमभून्मुनिपतिर्मुनिवन्द्यायः ।

राजापि पूर्वभवकीर्तनदृष्टरोमा बद्धाञ्जलिर्यतिवृषं पुनरित्युवाच ॥७५॥

जन्मान्तराणि भगवन्भवतः प्रसादाज्जातानि संशयमुपैति तथापि चेतः ।

तत्प्रत्ययं कमपि नाथ कुठञ्च येन निःसंशया भवति धीर्मम संशयाना ॥७६॥

तद्भारतीमिति निशम्य जगाद् भूपं संदेहपङ्कमपहस्तयितुं मुनीन्द्रः ।

यूथं त्वदीयनगरे दशमेऽङ्गि हित्वा दन्ती मद्यान्धमतिरेष्यति कश्चिदेक ॥७७॥

नामनगरे । जगद्विजयिनः लोकविजयिनः । कनकप्रभस्य कनकप्रभभूपस्य । पद्मनाभः पद्मनाभ इति पुत्रः तनयः । अभूः अबधः । भू सत्ताया लुङ् । ते तब । जनमनोज्ञसुवर्णमाला जनानां लोकानां मनोज्ञा मनोहर-रूपा सा चासौ सुवर्णमाला च तथोक्ता (जनमनोज्ञ इति पद्मनाभस्य संबोधनमपि भवितुमर्हति) । माता च जनन्यपि । वशब्दः समुच्चयार्थः, अभूत्—इत्यर्थः । ७४॥ जन्मावलीमिति । मुनिवन्द्यादः मुनिवन्द्या पादौ चरणौ यस्य सः । असौ मुनिपतिः श्रीधरमुनीन्द्रः । इति उक्तप्रकारेण । जन्मावलि भवबलिम् । यथाभूत् सत्यरूपम् (यथा स्यात्तथा) । निगद्य निरूप्य । तूष्णीं ओषम् । अभूत् अभवत् । पूर्वभवकीर्तन-दृष्टरोमा पूर्वभवानां जन्मान्तराणां कीर्तनेन भाषणेन संतुष्टं रोम रोमाञ्चो यस्य सः । राजापि पद्मनाभोऽपि । बद्धाञ्जलिः सन् रचिताञ्जलिभूत्वा । यतिवृषं यतीनां मुनीनां वृषं श्रेष्ठम् । पुनः पश्चात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूय व्यवक्ताया वाचि लिट् ॥७५॥ अन्मसि । भगवन् भौ महारमन् । भवत पूजं स्य तब । प्रमादात् कुपायाः । जन्मान्तराणि भवान्तराणि । जातानि अवबुद्धानि । तथापि, चेतः मम चित्तम् । संशयं संदेहम् । उपैति प्राप्नोति । नाथ भो स्वामिन् । संशयानां संशयं कुर्वाणा । मम मे । योः बुद्धिः । येन केन (?) प्रत्ययेन । निःसंशया संदेहरहिता । भवति जायते । कमपि, तत्प्रत्ययं स चासौ प्रत्ययश्च तत्प्रत्ययः, तं, विद्वान्मम—इत्यर्थः । कुठञ्च विधेहि । हुकुञ् करणे लोट् ॥७६॥ तदिति । मुनीन्द्रः मुनिपतिः । इति एवम् । तद्भारती तस्य भूपस्य भारती वाचम् । निशम्य श्रुत्वा । संदेहपङ्कं^३ संशय एव मलम् । अपहस्तयितुं निवारयितुम् । भूयः पश्चात् । जगाद् उवाच । गद व्यवहाराया वाचि । मद्यान्धमतिः मदेन कर्णकोपोलसि-मदेनान्धा मतिर्यस्य सः । कश्चित् एकः । दन्ती भद्रगत्रः । यूथं गत्रमवहम् । हित्वा त्यक्त्वा । दशमे अङ्गि दिवसे । त्वदीयनगरे त्वदीये^४ तब संबन्धे नगरे पुरे । एष्यति आगमिष्यति । इण् गतौ लृट् । जातिः

कनकप्रभके यहाँ उनकी रानी सुवर्णमालाको कुक्षिसे पद्मनाभ नामक राजकुमार हुए हो । राजकुमार । तुम प्रजाजनको अत्यन्त प्रिय हो ॥७४॥ इस प्रकारसे पद्मनाभके पिछले भवोंको परम्पराको ठीक-ठीक बतलाकर श्रीधर मुनिराज—जो समस्त मुनियोंके द्वारा बन्दनीय थे—मौन हो गये । पूर्व जन्मोंकी चर्चा सुनकर पद्मनाभको रोमाञ्च हो आया । उसने हाथ जोड़कर मुनिराजसे पुनः यों कहा—॥७५॥ भगवन् ! आपकी कृपासे मैंने अपने पिछले भवोंको जान लिया है, फिर भी मेरा मन संशयमें पड़ा हुआ है । अतः मुझे कोई विद्वान् जनक बात बतलाइये, जिससे मेरी संशय-बुद्धि, संशय रहित हो जाय ॥७६॥ पद्मनाभके ये वचन सुनकर श्रीधर मुनिने उसके संशयके मेलको दूर हटानेके लिये यों कहा— आजसे दसवें दिन एक मदी-

१. क स ग घ ङ 'मुनिवृषं' । २. स लेट् । ३. = संदेहः संशयः स एव पङ्को मलः, तम् ।

४. = त्वदीये ।

तत्प्रत्ययास्तथमिदं निबिरेण राज्ञिद्वेष्यसि त्वमखिलं वचनं मनुकम् ।
 प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमतां सकलं प्रमाणम् ॥७८॥
 प्रह्लादिनेति वचसा वदतां वरस्य निर्धूय संशयमलं विरतस्य साधोः ।
 पादौ प्रणम्य शिरसा व्रतभूषिताङ्गः प्रत्याययौ निजपुरं प्रति पद्मानामः ॥७९॥
 आकस्मिकोद्गतवृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदं ध्वनिपूर्यमाणः ।
 तस्मिन्मुनीन्द्रकथितेऽथ दिने तुरंगानुत्कर्णयन्कलकलोऽतिमहान्बभूव ॥८०॥
 किं किं किमेतदुपयाहि विलोकयेति संप्रष्टरि क्षितिभुजि त्वरितं प्रगत्य ।
 कश्चिन्निरुत्य पुनरित्यवदद्वचस्वी निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः ॥८१॥

॥७७॥ सदिति । राजन् भूप । तत्प्रत्ययात् तद्विषयात् । मनुक्तं मया उक्तं प्रोक्तम् । इदं तु एतत् तु [इदम् एतत्] । अखिलं सकलम् । वचनं वचः । त्वं स्वयमेव त्वमेव । निबिरेण शीघ्रम् । निद्वेष्यसि निर्णयं करिष्यसि । चिन् वचने लट् । अथ । जगति लोके । प्रत्यक्षं विशदरूपम् । अष्टादश परोक्ष रूपं वा । प्रमाणं ज्ञानम् । मतिमतां बुद्धिमताम् । संवादकं सत् विषयव्याप्यभिवारं सत् । सकलं सर्वम् । प्रमाणं सत्यवचनं स्यात् । जातिः । ७८॥ प्रह्लादिनेति । प्रह्लादिना संतोषकरणशीलेन । वचसा वचनेन । संशयमलं संदेहमलम् । निर्धूय निराकृत्य । विरतस्य महाव्रतयुक्तस्य । वदतां वरस्य वदता वामिना वरस्य श्रेष्ठस्य । साधोः मुनिपत्य । पादौ चरणौ । [शिरसा प्रणम्य] । अणुगुणादिव्रतेन भूषितमलकृत-
 मङ्गमवयवो यस्य सः । पद्मानामः पद्मानामभूषः । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यदन्तः । शिरसा मस्तकेन । प्रणम्य नमस्कृत्य । निजपुरं स्वराजधानीम् । प्रति, प्रत्याययौ प्रत्याजगाम । या प्रापणे लिट् ॥७९॥ आकस्मिकेति ।
 अथ आगमनानन्तरम् । मुनीन्द्रकथिते मुनीन्द्रेण श्रीधराचार्येण कथिते प्रोक्ते । तस्मिन् दशमं । दिने दिवसे ।
 आकस्मिकोद्गतवृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदं ध्वनिपूर्यमाणः आकस्मिकेन अकारणेन उद्गतस्तप्तोद्गत-
 परेषां शान्तां चक्रं सेना तद्विति शङ्का संदेहस्तथा त्रयन्तो बिम्बस्तस्ते च ते जनाश्च, त्रयन्तजनस्तप्तोद्गत-
 किमिदम् इति ध्वनिस्तप्तोक्तः, आकस्मिकोद्गतेन वृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यजनोक्तकिमिदमिति ध्वनिना
 पूर्यमाणो व्याप्यमानस्तप्तोक्तः । तुरङ्गान् अश्वान् । उत्कर्णयन् उद्गतकण्ठं कुर्वन् । अतिमान् अत्यन्तं
 महान् । कलकलः कलकल इति ध्वनिः । बभूव प्रवति स्म । जातिः ॥८०॥ किमिति । एतत् इदम् ।
 किं किं किम् । 'संभ्रमेऽसकृत्' इति असकृत्प्रयोगः । उपयाहि गच्छ । विलोकय इति वीक्षस्व इति । क्षिति-

न्मत्त हाथी अपने झुण्डको छोड़कर तुम्हारे नगरकी ओर आयगा ॥७७॥ राजन् । उस हाथी-
 को देखकर तुम्हें विश्वास हो जायगा, फिर तुम स्वयं शीघ्र ही मेरी कही सारी बातोंकी सचाई-
 का निश्चय कर लोगे । क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सभी प्रमाणोंका प्रामाण्य (सचाई)
 तभी सिद्ध होता है, जब वे विद्वानोंको दोष रहित दृष्टिगोचर होते हैं ॥७८॥ श्रीधर मुनि, श्रेष्ठ
 वक्ता थे । उन्होंने उक्त आह्लादजनक बात कहकर राजा पद्मानामका मंशयका मेल दूर कर
 दिया । जब वे उत्तर दे चुके, तब व्रतोंसे विभूषित—व्रतों पद्मानाम उनके चरणोंमें प्रणाम करके
 अपने पुरकी ओर चला गया ॥७९॥ अपनी राजधानीमें पहुँचनेपर मुनिराजके कथनानुसार
 दसवें दिन बहुत भारी कोलाहल हुआ, जिससे घोड़े चौंक उठे, और उनके कान खड़े हो
 गये । कोलाहलमें, अचानक ही बहुत बड़े शत्रुओंके गिरोहके आक्रमणकी शंकासे डरे हुये
 लोगोंकी 'यह क्या है ? यह क्या है ?' यह ध्वनि मिली हुई थी— ॥८०॥ 'क्या, क्या, क्या

१. आ वा मयोक्तं मया प्रोक्तम् । २. = त्वं स्वत एव । ३. = जयवा । ४. श 'सकल' इति
 नास्ति । ५. श वड्मिना । ६. श आकस्मीति । ७. श गमनानन्तरम् । ८. श व्याप्त । ९. = कोलाहल
 इति यावत् । 'कोलाहलः कलकलः' इति हैमः ।

कोऽपि शरत्करटमिच्छिरपेत्य देव दन्ती कुतोऽपि सुरदन्ति समानसत्त्वः ।
 हन्युद्धतः सकलमेव पुराद्विद्विष्य लोकं त्वदीयभुजरक्षितमारुहन्तम् ॥८२॥
 निष्कामति प्रविशति प्रकटोऽथ वा यः सर्वः स तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः ।
 दिग्भ्यो बलिर्भवति किं बहुना जनानां संहारकाल इव स द्विषकपधारी ॥८३॥
 इत्यागमं करटिनो मुनिस्त्वितस्य भ्रष्टा जहर्ष हृदयेऽधिपतिर्धरित्र्याः ।
 भेजे विषादमपि किंचिदुदारबुद्धिर्दुःसाध्यतां परिमृशन्मनसा तदीयाम् ॥८४॥

भुजि राजि । स्वरितं शोघम् । संघट्टि^१ सति संभृण्वति सति । वचस्वी वचोहरः । कविचत् एकः । प्रगत्य^३
 एत्य । निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः लोको जनः स एव विषयो यस्याः सा तथोक्ता, सा वासावाकुलता
 च तथोक्ता, तस्या निमित्तं तथोक्तं, निर्णीतं निश्चितं लोलविषयाकुलतानिमित्तं येन सः । पुनः पश्चात् ।
 निवृत्य आगत्य । इति एवम् । अवदत् वदति स्म । वद अयक्तितायां वाचि लङ् । संशयः (?) ॥८१॥
 क इति । देव भो. स्वामिन् । शरत्करटमितिभिः^४ (त्तिः) द्रवत्कपोलप्रदेशे. (सः) । सुरदन्तिसमानसत्त्वः
 सुरदन्तिन ऐरावतस्य समानं सदां सत्त्वं सामर्थ्यं यस्य सः । उद्धत. गवित । कोऽपि^५ एकः । दन्ती गजः ।
 कुतोऽपि^६ कस्मादपि । उपेत्य आगत्य । त्वदीयभुजरक्षितं त्वदीयेन^७ तव संवन्धेन । भुजेन बाहुना । रक्षितं
 पालितम् । आरुहन्तम् आक्रोशन्तम् । पुरात् नगरात् । बहिष्यं बाह्यस्थितम् । सकलमेव सर्वमेव । लोकं
 जनम् । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्योलट् । जातिः ॥८२॥ निष्कामतीति । यः जनः । प्रकटः प्रकटो
 भूत्वा । निष्कामति निर्गच्छति । अधवा प्रविशति^८ अन्तर्गच्छति । सः सर्वः जनः । तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः
 तस्य गजस्य करस्य गुण्डायाः पराहत्या आहत्या चूर्णितं पेषितमज्जं गात्रं यस्य सः, सन् । दिग्भ्यः अष्ट-
 दिशाभ्यः^९ । बलिः, भवति जायेत । जातिः । बहुना बहुनोक्तेन । किं किं प्रयोजनम् । जनानां लोकानाम् ।
 सः गजः । द्विषकपधारी द्विषस्य गजस्य कपधारी वेधधारी । संहारकाल इव प्रलयकाल इव भवति ।
 उरभेदा ॥८३॥ इतीति । उदारबुद्धिः उदारा बुद्धिर्यस्य सः । धरित्र्याः भूमेः । अधिपतिः प्रभुः । मुनिस्त्वितस्य
 मुनिनिष्कृतस्य । करटिनः दन्तिनः । आगमम् आगमनम् । इति एवम् । भ्रष्टा आकर्ण्य । हृदये वित्ते ।
 जहर्ष तुतोष । हृप्^{१०} अलोके^{११} लिट् । तदीयां गजसंबन्धिनीम् । दुःसाध्यतां सावयितुमशक्यताम् । मनसा

है यह, जाओ देखो' राजाके यह पूछने या कहने पर कोई दूत वहाँसे शीघ्र ही निकल करके
 और लोगोंकी आकुलताके कारणको ठीक-ठीक जान करके वापस लौट आया और पद्मप्रभसे
 यो कहने लगा—॥८१॥ राजन् ! कहीसे एक हाथी आ घमका है । उसके गण्डस्थलसे मद-
 जल बह रहा है । वह ऐरावतके समान बलवान् है और है उद्धत । वह आपकी बाहुओंसे
 सुरक्षित, नगरके बाहर स्थित सभी लोगोंको मारे डालता है, इसीलिए वे सब 'त्राहि-त्राहि'—
 'बचाओ' 'बचाओ' की रट लगा रहे हैं—चिल्ला रहे हैं ॥८२॥ कोई निकल रहा
 हो, कोई प्रवेश कर रहा हो या कोई और भी किसी रूपमें प्रकट होता देख पड़ रहा
 हो तो वे सब-के-सब उसकी सूंडकी प्रहारसे चूर-चूर होकर दिशाओंकी बलि होते जा रहे
 हैं । बहुत कहनेसे क्या लाभ ? संक्षेपमें इतना समझ लीजिये कि मनुष्योंके लिए वह
 हाथीका रूप धारक करके आया हुआ प्रलयकाल ही जान पड़ता है ॥८३॥ उदार बुद्धि-
 वाला राजा पद्मनाभ इस तरह हाथीके—जिसकी सूचना श्रीधर मुनि नौ दिन पहले ही दे

१. आ इ दु.षाघनां । २. =पृच्छके । ३. = गत्या । ४. स 'कटमितिभिः । ५. = कविचत् ।
 ६. कुतचित्पदि प्रदेशात् । ७. = अवधीयेन । ८. स अप्रविशति । ९. अ पीठितं । १०. आ 'दिशात् ।
 ११. आ हृप् । १२. 'अलीकमानवः' इति काशकृत्स्नप्रातुपाठीयकम्पठकोका (पृ० ६१) ।

तस्माच्च दुष्टकरिणो यदि पौरलोकं रक्षामि तन्मम वृथा क्षितिपालशब्दः ।
 संश्लिप्तयन्त्रिं स बाहुबलाद्वितीयो^१ निर्गत्य तस्य बलिनोऽभिमुखीभवूय ॥८५॥
 बद्ध्वा दृढं परिकरं^२ विनिवार्य दूरं सामन्तलोकमिभमाजुहुवे तमेकः ।
 सोऽप्युन्नमस्य करमुन्नतपूर्वकायस्तत्संमुखं प्रचुररोषवशाद्वाधायत् ॥८६॥
 तस्यायतः^३ करिवधूजितमूत्रसिक्तं चिक्षेप वस्त्रमभिवक्त्रमसौ करेणो ।
 यावत्त शक्तिमुपगच्छति तत्र तावत्पार्श्वं निपत्य लघुटेन जवाज्जघान ॥८७॥
 यावत्पुनः स बलतेऽभिमुखं जवेन तावद्बभूव वसुधापतिरन्यपार्श्वे ।
 तत्रापि चाहयति यावत्सौ निवृत्त्य^४ हस्तं तलेन निरियाय स तावदीशः ॥८८॥

चिन्तेन । परिमृशन् विचारयन् । किञ्चित् ईदृशं । विधादमपि खेदमपि । भजे भजति स्म । मत्र सेवायां
 लिट् । अनुमितिः (?) ॥८४॥ तस्मादिति । यदि तस्मात्^५ दुष्टकरिण, दुष्टगजात् । तं पौरलोकं पौरजनम् ।
 न रक्षामि न पालयामि चेत् । मम [तद् मम] मे । क्षितिपालशब्दः क्षितिपाल इति शब्दः । वृथा इति
 निष्फलम् इति । संश्लिप्तम् विचारयन् । बाहुबलाद्वितीयः बाहुबलेन भुजबलेन अद्वितीय उपप्राप्तः । सः
 पद्मानाभः । निर्गत्य निर्याय । बलिनः क्षयितमतः । तस्य दन्तिनः । अभिमुखीभवूय प्रागनभिमुख इदानी-
 मभिमुखो भवूय, इति ॥८५॥ बद्ध्चेति । परिकरम्^६ अङ्कुशाद्युपकरणं परिवार वा । दृढं गाढम् । बद्ध्वा ।
 दूरे विप्रकृष्टे । सामन्तलोकं राजलोकम् । विनिवार्य निरुध्य । एकः असहायो राजा । तमिभं तं गजम् ।
 आजुहुवे आकारयति स्म । क्लेशं स्वार्थां (शब्दे च) बिट् । उन्नतपूर्वकाय उन्नतः पूर्वकाया यस्य सः
 सोऽपि गजोऽपि । करं शुष्कादशब्दम् । उन्नतस्य उद्धृत्य । प्रचुररोषवशात् प्रचुरस्य प्रकृष्टस्य रोषस्य कोपस्य
 वशात् । तत्संमुखं तस्य भूयस्य (संमुखम्) अभिमुखम् । अधावत् धावति स्म । सू गतो लङ् । 'सर्तव्यो वेगे'
 इति धावादेशः । जातिः ॥८६॥ तस्येति । असौ राजा । आयतः आगच्छतः । तस्य कारेणोः 'करेणुरिभ्यां
 स्त्री भेभे' इत्यमरः, गजस्य । करिवधूजितमूत्रसिक्तं करिणो गजस्य वक्षः वनिताया उज्जितेन मूत्रेण सिक्तं
 सेवितम् । बस्त्रं वस्त्रम् । अभिवक्त्रं वक्षस्थलोपरि । 'लज्जणोनाभि—' इत्यादिना अवयवीभावः । चिक्षेप
 निक्षिप्तवान् । क्षिप प्रेरणे लिट् । स. गजः । तत्र बस्त्रे । सवितम् आसवितम् । यावत्, उपगच्छति उपयाति
 तावत्, जवात् शीघ्रम् । पार्श्वं पार्श्वभागे । निपत्य आगत्य । लघुटेन दण्डेन । जघान ताडयति स्म । हन
 हिंसागम्योलिट् ॥८७॥ यावदिति । सः गजः । पुनः पश्चात्^७ । अभिमुखं स्वस्याभिमुखम् । बलते श्रावते ।
 बलि बलिं सवरणे लट् । अत्रावत् तावन्मात्रे । वसुधाधिपः पद्मानाभः । जवेन शीघ्रम् । अन्यपार्श्वे अन्यास्मिन्

चुके धे—आनेके समाचार सुनकर मन-हो-मन प्रसन्न हुआ, और अपने मनसे यह सोचकर
 कि उसे बशमे करना कठिन है, कुछ लिख भी हुआ ॥८४॥ यदि मे उस दुष्ट हाथीसे अपने
 पुरवासी लोगोंको नहीं बचाता, तो मेरा 'क्षितिपाल' शब्द व्यर्थ है । इस तरह सोचता हुआ
 वह राजा पद्मानाभ—जो बाहुबलमें वेजोड़ था—रात्रमहलसे निकलकर उस बलवान् हाथीके
 सामने जा पहुँचा ॥८५॥ खूब मजबूतीसे कमर कसकर और सामन्त लोगोको दूर हटाकर
 अकेले पद्मानाभने ही उस हाथीको ललकारा । वह भी अपनी सूँडको ऊपर उठाकर तथा
 अगले भागको कुछ ऊपर उठाकर बड़े रोषसे उसके सामने दोड़ा ॥८६॥ दौड़कर सामने आते
 हुए उस हाथीके मुखपर पद्मानाभने हथिनोकी पेशाबसे सिञ्चित कपड़ा फेंक दिया । उधर वह
 उस कपड़ेमें आसक्त होता है इधर पद्मानाभ शीघ्र ही उसकी बगलमें जाकर दण्डेका प्रहार
 कर देता है ॥८७॥ जब-तक पुनः वह सामने आनेको हुआ, तब-तक पद्मानाभ शीघ्र ही

१. अ क ख ग घ ङ 'बलद्वि' । २. अ 'प्रतः' । ३. आ ह क ख ग घ ङ विवृत्य । ४. स यस्मात् ।
 ५. = कटि वा । ६. आ 'पुनः पश्चात्' इति नास्ति ।

पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजाधिपस्य बभ्राम तस्य स तथा निजलाघवेन ।
 सर्वैर्यथा परिधिस्तौघतलाधिरुढैः सर्वासु दिक्षु युगपदृश्ये जनौघैः ॥८६॥
 निःस्पन्दं गजमिति संविधाय तस्य स्कन्धेऽसौ विभ्रुतसृणिः समाकरोह ।
 तुष्टेनामरनिवहेन लोलभृङ्गः पुष्पीघैर्दिधि विविजैर्विकीर्यमाणः ॥८७॥
 अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभूय सर्वैः करिपतिरुद्धैर्यैः सुरैरप्यसाध्यः ।
 तमकुलत स वश्यं लीलया चारुलीलो नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम् ॥८८॥

पादर्वभागे । बभूव भवति स्म, अन्यथावर्षे स्थितवान्—इत्यर्थः । असौ गजः तत्रापि अन्यपादवर्षेऽपि । निवृत्य
 चलित्वा । हस्तं गुण्डादण्डम् । यावत्, बाह्वयति प्रापयति । बहिः प्रायणे लट् ॥८८॥ तावदेव, सः ईशः पद्मनाभः
 तलेन जठरतलेन । निरयाय निर्जंगम । इण् गतो लिट् ॥८८॥ पश्चादिति । सः राजा । तस्य गजाधिपस्य
 मद्रगजस्य । पश्चादपि पृष्ठभागे । पुरोऽपि अग्रभागेऽपि । उभयतश्च उभयभागयोरपि । परिधिसौघतलाधि-
 रुढैः परिधेः प्राकारस्य सौधानां राजसदनानां तलानि प्रदेशान् अधिरुढैः चारुढैः । सर्वैः सकलैः । जनौघैः
 जनसमूहैः । यथा येन प्रकारेण । सर्वासु सकलासु । दिक्षु दिशासु । युगपत्, द्रुतं दृश्यते स्म । दृष्टं प्रेक्षणं
 कर्मणि^१ लिट् । तथा तेन प्रकारेण । निजलाघवेन स्वस्याध्यासेन बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रम् चलने लिट् ॥८९॥
 निःस्पन्दमिति । विभ्रुतसृणिः^२ भृताङ्कुशः । असौ पद्मनाभः गजं करिणम् । इति एषम् । निःस्पन्दं चलनरहितं
 यथा तथा । संविधाय कृत्वा । दिवि आकाशे । तुष्टेन संतुष्टेन । अमरनिवहेन अमराणां देवानां निवहेन
 समूहेन । लोलभृङ्गं लोला^३ लालसा भृङ्गा येषु तैः । दिविजैः स्वर्गजैः । पुष्पोघैः कुसुमोघैः । विकीर्यमाणः
 सन् । [तस्य गजस्य । स्कन्धे स्कन्धप्रदेशे । समाकरोह चटति स्म ।] ॥९०॥ अनुपममिति । यः^४ उद्धैर्यः
 (यैः) महाधैर्ययुक्तः (क्ते ।) । अनुपमबलवीर्यैः^५ अनुपमैरुपमातीतैर्बलैरौपाधिकशक्तिविधैः स्वाभा-
 विकशक्तिविशेष (अनुपमं बलं वीर्यञ्च येषां तैः) । सर्वैः सकलैः । सुरैरपि देवैरपि । असाध्यः साध्यमितु-
 मशक्यः करिपति गजपतिः । तं गजम् । चारुलीलः मनोहरविलासः । सः पद्मनाभः संमुखीभूय अभिमुखं
 गत्वा । लीलया विलासेन । वश्यं वशंगतम् । 'बध्वापध्य—' इत्यादिना साधुः । अकुलत अकृत । दुकुम् करणे
 लङ् । जगति लोके । पुण्यभाजं पुण्यवस्तुनाम् । नराणां पुरुषाणाम् । असाध्यः साध्यरहितम् । कार्यं नहि

दूसरी बगलमे (जिधरसे ढण्डा मारा था, उधर नहीं) पहुँच गया । उस ओर भी जबतक
 वह मुड़कर झूँड फटकारता है तबतक वह राजा उसके नीचेसे निकल गया ॥८८॥ राजा
 पद्मनाभ उस गजराजके आगे, पीछे और दोनों बगलोंमें भी बड़ी ही फुर्तीसे ऐसे ढंगसे घूम रहा
 था, जिससे चहार-दीवारी और महलोकी छतोंपर चढ़कर देखनेवाले सभी मनुष्योंके द्वारा वह
 सारा दिशाओंमें एक ही साथ देखा गया ॥८९॥ इस तरह हाथीको इतना पस्त कर दिया
 कि उसे अपने अवयवोंका हिलाना-डुलाना भी कठिन हो गया (निःस्पन्दम्)' फिर वह हाथ-
 में अंकुश लेकर उसके कन्धेपर सवार हो गया । यह देखकर देववृन्दने सन्तुष्ट होकर उसके
 ऊपर दिव्य पुष्पोकी—जिनके ऊपर भौरे महरा रहे थे—वर्षाकी ॥९०॥ अतुल बल और अनुपम
 पराक्रमवाले, एवं अत्यधिक धैर्य धारण करनेवाले सभी देवलोग भी सामने जाकर जिस हाथी-
 को अपने वशमें नहीं कर सकते थे, उसे सुन्दर विलास करनेवाले पद्मनाभने खेल-खेलमें अपने
 अधीन कर लिया । सच तो यह है कि इस जगत्में पुण्यवान् मनुष्योंके लिए कोई भी काम कठिन

१. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । २. आ दुग्धिर् । ३. क 'कर्मणि' इति नास्ति । ४. = धृता-
 कृत्सः । ५. = चरुकाः सत्पुण्या वा । ६. = गजः । ७. क 'वीर्यः' । ८. = दुर्घटं कठिनं दुःसाध्यं वा ।

यस्मात्केलिमसाबुधास्तै बिदधल्लब्धोदयः सद्गने
तस्मात्तं वनकेलिरित्यक्षितयं नाम्ना प्रयोष्यामुना ।
प्राविशन्तिस्तिथो महेन महता चञ्चत्पताकं पुरं
शृण्वन्पौरजनैः प्रहृष्टरुदयैरुद्गीयमानं यशः ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदबाह्वे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये एकादशः सर्गः ॥११॥

■

नास्ति हि । अर्थान्तरस्यासः ॥९१॥ यस्मादिति । लब्धोदयः प्राप्तमामध्यः अक्षो पद्मनाभः । यस्मात्
कारणात् । सद्गने सप्तोन्नोन्नारण्ये । केलि क्रीडाम् । बिदधत् कुर्वन् । उवाच वसति स्म । वस निवासे लिट् ।
तस्मात्, तं गजम् । वनकेलिः इति वनक्रीडा इति (?) । अविशत्य सत्यं यथा तथा । अमुना एतेन । नाम्ना
नामधेयेन । [प्रयोष्य घोषयित्वा] प्रहृष्टरुदयैः संतुष्टचित्तैः । पौरजनैः पुरजनैः । उद्गीयमानं प्रस्तुय-
मानम् । यशः कीर्तिम् । शृण्वन् आकर्णयन् । स्तिथिः पद्मनाभः । महता पटुना^४ । महेन उत्सवेन । चञ्च-
त्पताकं चञ्चवन्त्यो भासमानाः पताका वै श्रयन्त्यो यस्य^५ तत् । पुर रत्नसंभवपुरम् । प्राविशत् प्रविशति स्म ।
विश प्रवेशने लुङ् ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदबाह्वे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानं^६ च
बिहृग्ममोवह्नुमाख्ये^७ एकादशः सर्गः ॥११॥

■

नही है ॥९१॥ हाथीको वशमें करके पद्मनाभ चूँकि सुन्दर वनमें क्रीड़ा करने लगा और फिर
वहीं पर ठहर भी गया, इसलिए उसने हाथीका 'वनकेलि' यह सार्थक नाम घोषित कर
दिया । इसके उपरान्त उसने राजधानीमें प्रवेश किया, जहाँ बड़ा भारी उत्सव मनाया जा
रहा था, पताकाएँ फहरा रहीं थी और पुरबासी लोग प्रसन्न चित्त होकर पद्मनाभका यशो-
गान कर रहे थे ॥९२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उद्बाह्वे चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

■

१. अ तस्मात् । २. अ °विमसाधुना स° । ३. क ल ग घ म प्रयोष्या° । ४. आ पृथुना ।
५. ± यस्मिन् । ६. वा तद्व्याख्यायां । ७. वा °बल्लभाख्यायां ।

[१२. द्वादशः सर्गः]

अथ कश्चिदुपेत्य शासनाभिजमर्तुर्विदितः सभागतम् ।
 तमिलाधिपतिं कुशाग्रधीरिदमूचे वचनं वचोहरः ॥१॥
 रविणेव निजेन तेजसा कठिनांस्तापयता महीभृतः ।
 विहिताः सह मित्रबान्धवै रिपवो येन महापदाश्रिताः ॥२॥
 परया प्रभुशक्तिसंपदा परिरक्षन्सकलां वसुंधराम् ।
 नयति प्रथितं यथार्थतां पृथिवीपाल इति स्वनाम यः ॥३॥
 नयचिह्नमशक्तिशोभितो मतिमान्यो द्वितयेन मानदः ।
 प्रणतेषु ददाति नाभवद्व्यतिना तद्विपरीतवृत्तिषु ॥४॥

अथेति । अथ गजवशीकरणानन्तरम् । कुशाग्रधीः कुशस्य धर्मस्याग्रमिव धीर्बुद्धिर्यस्य सः, तीक्ष्ण-
 बुद्धिः—इत्यर्थः । विदितः प्रवीतः । कश्चित् एकः । वचोहरः वृत्तः । निग्रभतुः स्वस्य स्वामिनः । शासनात्
 आशयाः । सभागतम् आस्थानगतम् । तम् इलाधिपतिं पद्मानभमहीपतिम् । उपेत्य गत्वा । इदम् एतत् ।
 वचनं वाचणम् (वचः) । ऊचे जगाद । ब्रू व्यक्तायां वाचि लिट् । बैताली (वियोगिनी) वृत्तम् ॥१॥
 रविणेति । रविणेव सूर्येणैव । निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रतापेन । कठिनान् कर्कशान् । महीभृतः क्षिति-
 पतीन्, (पक्षे) पर्वतान् । तापयता संतापयता, पीडयता—इत्यर्थः । येन राजा । रिपवः शत्रवः । मित्र-
 बान्धवैः मित्रबन्धुभिः । सह साकम् । महापदं महास्थानम्, वैरिपक्षे महाविपदम् आश्रिताः ।
 विहिताः कृताः । इलेवः ॥२॥ परयेति^१ । परया प्रकृष्टया । प्रभुशक्तिसंपदा प्रभुशक्तेः संपदा समृद्धपा^२ ।
 सकलां समस्ताम् । वसुंधरां भूमिम् । परिरक्षन् पालयन् । यः राजा । प्रथितं प्रसिद्धम् । पृथिवीपालं^३
 इति स्वनाम स्वस्व नामधेयम् । यथार्थतां सत्यार्थमुक्तस्वम् । नयति प्रापयति । णीञ् प्रापणे लट् ॥३॥
 नयेति । नयचिह्नमशक्तिशोभितः नयेन नीत्या विक्रमेण पराक्रमेण शक्तिभिः त्रिशक्तिभिः शोभितो विराजितः ।
 यः राजा । प्रणतेषु विनतेषु । ददातिना दानक्रियया । तद्विपरीतवृत्तिषु तस्य प्रणमनस्य विपरीता प्रणमनर-

इसके पदवात् एक दिनकी बात है राजा पद्मानभ अपनी सभामें बैठा हुआ था, इतने-
 में प्रवेशकी स्वीकृति लेकर उसके पास एक कुशाग्रबुद्धि दूत आया, जो अपने स्वामी पृथिवी-
 पालके आदेशके अनुसार यों कहने लगा—॥१॥ राजन् ! पृथिवीपाल राजा सूर्यके समान
 है । जिस प्रकार सूर्य अपने तेजसे कठोर पहाड़ोंको तपाकर अपने स्नेही कमल-बन्धुओंको लक्ष्मी-
 का स्थान बना देता है और कुमुद आदि शत्रुओंको विपत्तिमें डाल देता है—संकुचित कर देता
 है । इसी प्रकार हमारा पृथिवीपाल राजा अपने प्रतापसे कठोर और घमण्डी राजाओंको सन्ताप
 देता है, मित्रों और बन्धुओंको उन्नत पद प्रदान करता है और शत्रुओंको बड़े विपदाओंमें गिरा
 देता है ॥२॥ राजन् ! उत्कृष्ट प्रभुशक्ति अर्थात् सेना और कोषकी समृद्धिसे सारी पृथिवीका
 पालन करके हमारा राजा अपने पृथिवीपाल इस प्रसिद्ध नामको सार्थक कर रहा है । (पृथिवी
 पालयतीति पृथिवीपालः—जो पृथिवीका पालन करे, उसे पृथिवीपाल कहते हैं) ॥३॥ राजा
 पृथिवीपाल नीति, पराक्रम, प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह शक्तिसे सुशोभित है, बुद्धिमान्

परिरभ्य दृढं स मत्प्रभुमयि संकामितवाक्यपद्धतिः ।
 वदतीति भवन्तमक्षतप्रणयं दूतमुखा हि पार्ष्विवाः ॥५॥
 महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः ।
 शरदभ्रनिभा गमस्तयः कुमुदानामिव कौमुदीपतेः ॥६॥
 तव कीर्तिभिरेव सर्वदिग्वितताभिर्विनयैकवृत्तिता ।
 सुमनोभिरिवानुमीयते फलसंपन्नमहती महातरोः ॥७॥

हिता वृत्तिवर्तनं येषां तेषु । छतिना खण्डनक्रियया । दो अवलण्डने । तद्विदितये द्वयत्रयं । प्रणते प्रणतजने ।
 दितयेन द्वयत्रयवेन । मानदः मानं पूजां ददातीति मानदः पूजादायकः । मानमहंकारं छति खण्डयतीति
 मानदो गर्वखण्डनः । प्रणतपक्षे पूजादायकः, तत्र दुःख, दाने, तद्विपरीतपक्षे गर्वखण्डनः, तत्र दो अवलण्डने ।
 अमवत् अभूत् । भू सत्ताया लङ् । इत्येवः ॥४॥ परिरभ्येति । मयि, संकामितवाक्यपद्धतिः संकामिता स्थापिता
 वाक्यस्य पदसमुदायस्य पद्धतिचोरणी येन सः । मत्प्रभुः मम मे प्रभुः स्वामी । अक्षतप्रणयम् अक्षतोऽलण्डितः
 प्रणयः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तत् । भवन्तं पूज्यं स्वाम् । परिरभ्य आलिङ्ग्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण^१ ।
 वदति व्रीति । पार्ष्विवाः राजानः । दूतमुखाः हि दूता एव मुखं वदनं येषां ते तथोक्ताः । अर्धन्तरस्यासः ॥५॥
 महतामिति । अतिदूरवर्तिनोऽपि अतिदूरं वर्तते इत्येवं शोलः (अतिदूरवर्त्ति) तस्य । [ते तव] । शरद-
 भ्रनिभाः शरदः शरदकालस्याभ्रस्य येष्वस्य निभाः समाः । ते तव । गुणाः, कौमुदीपतेः कौमुद्या ज्योत्स्नायाः
 पतेः (पत्युः) चन्द्रस्य । गमस्तयः किरणाः । कुमुदानामिव कुलयाणामिव । महता सत्पुरुषाणाम् । अनु-
 रागं प्रीतिम् । जनयन्ति उत्पादयन्ति । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६॥ तत्रेति । सर्वदिग्वितताभिः सर्वाः दिशः
 (सर्वां दिक्षु) वितताभिर्व्यप्यताभिः । तव ते । कीर्तिभिरेव यथोक्तिरेव^२ । विनयेकवृत्तिता विनय एव एका-
 वृत्तियस्याः तस्या भावो विनयमुख्यवृत्तित्वम् । महातरोः महावृक्षस्य । महती, फलसंपत् फलमंपतिः । सुमनो-

है और दो प्रकारसे मानद है—(१) नञ् व्यक्तियोंको मान देनेसे (२) और घमण्डियोंके मान-
 का दलन करनेसे । (मानं ददातीति मानदः—जो विनञ् व्यक्तियोंको सम्मान प्रदान करे उसे
 मानद कहते हैं और 'मानं छति खण्डयतीति मानदः—जो मानियोंके मानका भञ्जन करे,
 उसे भी मानद कहते हैं) ॥४॥ मेरा स्वामी पृथिवीपाल आपसे आलिङ्गन करके अत्यन्त स्नेह-
 पूर्वक मेरे द्वारा यों कह रहा है । आपके पास भेजते समय उसने मुझसे वे बातें कही थीं,
 जो मैं आपसे इस समय कह रहा हूँ : मैं उसका दूत जो ठहरा । और दूत ही तो राजाओंके
 मुख होते हैं । (बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः । चारुक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि
 पार्ष्विवः ॥ राजा अद्भुत पुरुष है, जिसका शस्त्र बुद्धि है; जिसका शरीर प्रजा है, जिसका
 कवच मन्त्रगुप्ति है; जिसके नेत्र गुप्तचर हैं और जिसका मुख दूत है ।) ॥५॥ राजन् !
 आपके गुण शरद् ऋतुके मेघोंके समान उज्ज्वल हैं, और वे स्वयं दूर रहकर भी महान् पुरुषों-
 को अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं । जैसे शरद् ऋतुके मेघोंकी भाँति शुभ्र, चन्द्रमाकी किरणें
 कुमुदोंको अनुराग उत्पन्न कर देती हैं ॥६॥ जिस प्रकार फूलोंसे महान् वृक्षकी महती फल
 सम्पत्तिका अनुमान लगा जाता है, इसी प्रकार सभी दिशाओंमें फैली हुई कीर्तिसे ही तुम्हारे

१. आ परिरभ्येति । २. आ नः मत् । ३. अ 'स्वरूपेण । ४. अ 'यथोक्तिरेव' इति नास्ति ।

विचिन्ता द्रव्यरूपताम्बुधेर्विहिता मूलत एव शान्तये ।
 तत्र धैर्यजितेन लज्जया द्रवता नाभिभवो बधीक्षितः ॥८॥
 विबुधोति मनोगतामियं नयवृत्तिर्मवतः सुखीकृताम् ।
 अनुकूलतया प्रकाश्यते निजनेतुः करिणो हि भद्रता ॥९॥
 गुणवानपि स स्वमीदृशी मदनश्चेतनधीरिवैश्यसे ।
 कियतापि पुरातनं कर्म यदतिक्रम्य विबेष्टसेऽन्यथा ॥१०॥
 प्रणमन्ति मदम्बयोद्भवं तत्र वंश्या इति पूर्वजस्थितिः ।
 करिणोऽपि मदश्चुतांगला^१ भवता सा सकलापि लङ्घिता ॥११॥

भिरिव पुष्परिव । अनुमीयते अनुमानं क्रियते । माङ् माने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥७॥ विचिन्नेति ।
 यद्वि । अम्बुधेः समुद्रस्य । विचिन्ता ब्रह्मणा । मूलत एव सृष्टिकाले एव, प्रथमत एव वा । शान्तये तिर-
 स्कारजनितशोकविच्छिन्नये । द्रव्यरूपता प्रत्यक्षरूपत्वम् । विहिता कृता । (तत् तस्माद्धेतोः) । तत्र ते ।
 धैर्यजितेन धीरत्वेन विजितेन । तिरस्कारजनितस्वेदलक्षणहेतुकेन । लज्जया शोभया । द्रवता प्रत्यक्षता ।
 समुद्रेण, अभिभवः तिरस्कारः । न ईक्षितः न लोकिता । उपप्रेक्षा ॥८॥ विबुधोतीति । भवतः तत्र । इयम्
 एषा । नयवृत्तिः नीतिसहितवर्तना । मनोगता (तां) चिन्तयता (ताम्) । सुखीकृतां प्रशस्तस्वभावयुक्त-
 त्वम् । अनुकूलतया अनुकूलत्वेन । विबुधोति व्यक्तीकरोति । निजनेतुः स्वस्य प्रभोः । अनुकूलतया, करिणः
 गजस्य । भद्रता भद्रजातिरूपम् । प्रकाश्यते प्रकाश्यते । अनुमितिः ॥९॥ गुणवानिति । यत् यस्य स्कारणात् ।
 पुरातनं पूर्वकालभवम् । कर्म परिपाटीम् । अतिक्रम्य अतिक्रमणं कृत्वा । कियतापि अल्पकार्येणापि । अन्यथा
 अन्यप्रकारेण । विबेष्टसे वर्तसे । (अत एव) । ईदृशः एतादृशः । गुणवानपि गुणयुक्तोऽपि । सः त्वं
 भवान् । मदनश्चेतनधीरिव मदेन ऐश्वर्यादिमदेन निश्चेतना मूढा बुद्धिर्यस्य स इव । ईदृश्यसे नृदृश्ये । ईश
 दशने कर्मणि लट् ॥ उपमा ॥१०॥ प्रणमन्तीति । तत्र ते । वंश्याः वंशे भवा वंश्या । मदम्बयोद्भवं मम
 मे अम्बुधेः समुद्रेण उद्भवम् उत्पन्नम् । प्रणमन्ति नमस्कृन्वन्ति । नमः प्रहृत्ये शब्दे लट् । इति एवम् ।
 [पूर्वजस्थितिः] पूर्वजा प्राग्जाता स्थितिर्मर्यादा । मदश्चुता मयं द्रव्यतोतीति क्षरतीति मदश्चुत् तन् । करिणा
 गजेन । अंगलेख निगल (ड) इव । भवता त्वया । सकलापि सर्वापि । सा स्थितिः, लङ्घिता उद्वगता

विनय व्यवहारका अनुमान लग रहा है ॥७॥ समुद्रको शान्त रखनेके लिए ब्रह्माने सृष्टिके प्रारम्भसे ही उसे द्रव रूपमें रचा । मानो इसीलिए धीरतामें आपसे पराजित होनेपर भी वह पानी-पानी होकर रह गया, अपमानका खयाल करके आग-बबूला नहीं हुआ ॥८॥ आपका नैतिक व्यवहार आपके हृदयकी सुशीलताकी प्रकाशित करता है । जैसे अपने स्वामीके प्रति अनुकूल व्यवहार करनेसे निश्चय ही हाथीकी भद्रता-भद्रजाति प्रकाशित हो जाती है । हाथीके व्यवहारसे उसकी भद्रताका पता चल जाता है, इसी प्रकार आपके न्याय्य व्यवहारसे आपकी सुशीलताका स्पष्ट आभास हो जाता है ॥९॥ आप गुणी हैं, फिर भी कुछ दिनोंसे आप ऐसे मदान्ध-से देख पड़ते हैं कि अपनी पुरानी परिपाटीको ताकमे रखकर और अपने प्राचीन वंश-की मर्यादाका उल्लङ्घन करके विपरीत चेष्टा करने लगे हैं ॥१०॥ आपके वंशज हमारे वंशजों-को प्रणाम करते आ रहे हैं, यह पुरानी परिपाटी है, जिसे आपने बिलकुल ही तोड़ दिया है ।

१. आ इ सुशीलताम् । २. क ल ग य म प्रकाशते । ३. आ इ रिवैश्यसे । ४. आ इ मदश्चुता-
 गला, म मदश्चुतांगला । ५. क माङ् । ६. क्ष पीडया । ७. = उल्लङ्घयते । ८. = वंशे । ९. आ गम्
 ब्रह्मत्वे शब्दे च । १०. = अतिक्रम्या ।

करिणो मदमूढचेतसः परिपश्यन्स्वयमेव बन्धनम् ।

भजते मदवृत्तिमात्मवान्क इवानात्महितप्रवर्तिनीम् ॥१२॥

मदमूढमतिहिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते ।

परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा ॥१३॥

बडमी रिपवः शरीरजा नयचिद्भिर्भादिता मदादयः ।

निजचेतसि यः पुरैव तान्मृषतिः शास्ति स शास्ति मेदिनीम् ॥१४॥

क्षमते निजमेव रक्षितुं रिपुषड्वर्गहृतं मनो न यः ।

परिभूतिभयादिवात्मनस्तमपास्यापसरन्ति संपदः ॥१५॥

(अतिश्रान्ता) । उपमा ॥११॥ करिण इति । मदमूढचेतसः मदेन मूढमज्ञानं चेतश्चित्त यस्य तस्य । करिणः गजस्य । बन्धनं स्वयमेव, परिपश्यन् विलोकमानः । अनात्महितप्रवर्तिनीम् अनात्महिता स्वयंहिता प्रवर्तिनीं प्रवर्तनाम् । मदवृत्ति मदेनाहंकारेण युक्तं वृत्तिं वर्तनाम् । आत्मवान् बुद्धिमान् । क इव को वा । इव शब्दो बाष्प्यालङ्कारे । भजते आश्रयते । भज सेवायां लट् । आक्षेपः ॥१२॥ मद्भिति । मदमूढमतिः मदेन गर्वेण मूढा मुग्धा मतिवृद्धिर्यस्य सः । जात्यन्ध इव अनुपान्ध इव । हिताहितम् इष्टानिष्टम् । न हि अवलोकते न वीक्षते । लोहज्ज् दर्शने लट् । अथवा जात्यन्ध, धिया बुद्ध्या । परिपश्यति पर्यलोकते । दृष्ट्वा प्रेक्षणं लट् । मदान्धस्तु मदेनाधस्तु । धिया च न पश्यति, चक्षुषा च नयनेन च न पश्यति । उपमा । अन्तरिक्षः ॥१३॥ वदिति । नयचिद्भिः नयं नीतिशास्त्रं विदन्तीति नयचिदः, तैः । शरीरजा, अन्तरङ्गभावाः । मदादयः मद-प्रभृतयः । 'कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः शितीशानामन्तरङ्गोपरिषद्भवन्'—इति नीतिशास्त्रमूलं । अमी इमे । वद् रिपवः शत्रवः । यद्विताः प्रोक्ताः । यः नृपतिः भूपतिः । पुरैव प्रागेव । निजचेतसि स्वस्य मानसं । तान् शरीरशरीरपूतं । शास्ति निगृह्णाति । सः भूयः । मेदिनीं भूमिम् । शास्ति रक्षति । शामे अनुशष्टी लट् ॥१४॥ क्षमते इति । यः राजा रिपुषड्वर्गहृतं रिपूणां शत्रूणां वण्णा वगं, समूहं, तेन हृतं वाधितम् । निजमेव स्वकीयमेव । मनः वित्तम् । रक्षितुं रक्षणाय । न क्षमते समर्थो न भवति । क्षमोषि सहने लट् । तं राजानम् । संपदः संपत्तयः । आत्मनः स्वस्य । परिभूतिभयादिव परिभूनेस्तिः स्कारस्य भयादिव भोतेरिव ।

जैसे मदमाता हाथी अंगला (आगर) को तोड़ देता है ॥११॥ मदान्ध हाथीके बन्धनको स्वयं देखकर भी कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो अपने लिए अहित करनेवाली मदान्ध वृत्तिको अपनावे ॥१२॥ जिसकी बुद्धि मदेन विकृत हो जाती है, उसे जन्मान्ध पुरुषकी भाँति अपना हित और अहित नहीं सूझता । यों मदान्ध और जन्मान्ध बिल्कुल एक सरीखे हैं, किन्तु जन्मान्ध पुरुष अपनी बुद्धि (ह्रियेकी आँख) से सभी ओर देख लेता है—आगा-पीछा सोच लेता है, पर मदान्ध न ह्रियेकी आँखसे देख सकता है, और न ऊपरी आँखसे । अतः मदान्ध जन्मान्धसे भी गया-बीता है । १३॥ नीतिशास्त्रके जाननेवाले विद्वानोंने इन मद आदि छ — (मद, मान, क्रोध, लोभ और हर्ष) को अन्तरंग शत्रु कहा है । जो राजा पहलेसे ही अपने मनमें इन छहों पर शासन कर लेता है, वही पृथिवीका शासन करता है ॥१४॥ जो राजा अपने ही मनको इन छह शत्रुओंके आक्रमणसे नहीं बचा सकता, उसकी लक्ष्मी मानो अपने

१. अ 'लोकति' । २. आ 'भज सेवाया' इति नास्ति । ३. = जन्मान्ध इव । ४. आ दृष्टिः । ५. आ शास्ति । ६. आ श 'हृतं' । ७. आ श 'हृतं' । ८. आ क्षमूषः ।

शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया द्विरदेनेष मयावधीरिता ।
 चिरकालमियं^१ त्वयाधुना विहितो योऽपनयः स दुःसहः ॥१६॥
 वनकेलिरिति द्विपाधिपः स्वयमागत्य तवाविशत्पुरम् ।
 स धृतो भवतेति सत्वरैर्मम निश्चित्य चरैर्निवेदितम् ॥१७॥
 स्वयमेव किल प्रहेष्यसि द्विरदं तं ननु नष्टवस्तु मे ।
 स पुनर्भवतात्मसात्कृतो मदपेक्षारहितेन वारणः ॥१८॥
 इति ते विनिवेदितं मया कुरु जानासि यदात्मशान्तये ।
 हितमज्ञजानो हि शिष्यते न भवाञ्जीतिसमुद्रपारगः ॥१९॥

अपास्य मुक्त्वा । अपसरन्ति निर्गच्छन्ति । मृ गतो रुट् । आक्षेपः (उद्वेष्टा) ॥१५॥ शठतेति । भवतः तव । शठता दुर्जनता । द्विरदेन गजेन । अङ्कुशक्रिया इव सृणिव्यापार इव । मया, चिरकालं^२ अवधीरिता^३ क्षान्तिः कृता । यः अयम् । अपनयः दुर्नयः । अधुना इदानीम् । त्वया भवता । विहितः कृतः । सः अपनयः । दुःसहः सोढुमशक्यः । अभवत् ॥१६॥ वनेति । वनकेलिरिति वनकेलिनामधेयः । द्विपाधिपः गजपतिः । स्वयम् आगत्य एवम् । तव भवतः । पुरं नगरम् । अविशत् अगच्छत् । सः द्विपाधिपः । भवता त्वया । धृतः स्वीकृतः । इति एवम् । सत्वरैः शीघ्रगमनयुक्तैः । चरैः दूतैः । निश्चित्य निर्णयः । मम मे । निवेदितं^४ नियोजितम् ॥१७॥ स्वयमिति । तं द्विरदं तं गजपतिम् । स्वयमेव^५ स्वमेव । प्रहेष्यसि किल प्रहेषयन् भविष्यसि किल । नष्टवस्तु^६, मे मम । ननु निश्चयः । पुनः पश्चात् । सः वारणः वनकेलिः इति गजपतिः । मदपेक्षारहितेन मम मे अपेक्षया बाधछया सहितेन । भवता त्वया । आत्मसात्कृतः स्वाधीनं (नः) कृतः । प्राग्गतात्माधीन इदानीमात्माधीनः कियते स्म आत्मसात्कृतः । 'व्याप्तो सात्' इति सात्-प्रत्ययः ॥१८॥ हसीति । मया, इति एवम् । ते भवतः । विनिवेदितं विज्ञापितम् । यद् आत्मशान्तये आत्मनः स्वस्य शान्तये हितनिमित्तम् । जानासि बुध्यसे^७ । आ अवबोधने लट् । तत्कार्यं कुरु विधेहि । दुष्कृत्यं करणे लोट् । अज्ञजानो हि मूढलोकोको हि । हितं शिष्यते शिष्यते । शार्मु^८ अनुशिष्टो कर्मणि लट् । नीतिसमुद्रपारगः नीतिरेव

अपमानके भयसे उसे छोड़कर चली जाती है ॥१५॥ जैसे हाथी अंकुशकी चुभनको चिरकाल सहता है, वैसे मैंने तुम्हारी धूर्तता बहुत समय तक सह्यी, और उसकी ओर उपेक्षा की, किन्तु अभी-अभी तुमने जो अन्याय किया है, वह मेरे लिए असह्य है ॥१६॥ क्या अन्याय किया ? सुनिये, हमारा 'वनकेलि' नामका एक गजराज स्वयं वहाँ पहुँच कर तुम्हारे नगरमें घुस गया, उसे तुमने पकड़ लिया है । इस बातको निश्चित रूपसे जानकर हमारे गुप्तचरोंने शीघ्र ही हमें खबर दी है ॥१७॥ मैं सोचता था कि तुम मेरी खोई हुई चीजको अर्थात् उस हाथीको स्वयं मेरे पास भेज दोगे, किन्तु मेरी उपेक्षा करके तुमने उसे अपना बना लिया है ॥१८॥ बस, मैंने तुमसे इतना निवेदन कर दिया है, अब जो तुम्हारी शान्तिके लिए हो—जिससे तुम्हें शान्ति हो, सो करो । हितकी शिक्षा मूर्खको दी जाती है । आपको हितकी शिक्षा कैसे दी जा सकती है ? क्योंकि आप तो नीतिशास्त्रके—जो समुद्रकी भाँति अपार है—पारगामी

१. आ इ मयं । २. = बहुकालपर्यन्तम् । ३. = उपेक्षिता । ४. = कथितम् । ५. = स्वत एव ।

६. आ वा नष्टेन वस्तु । ७. = निश्चयेन । ८. वा बुध्यसि । ९. आ शार्मु ।

तद्वेत्य वचः प्रभोरिव भव तन्नोऽर्पय तं मतङ्गजम् ।

न भयन्ति हि जातुचिक्वा जलधौ तिष्ठति रत्नभाजनम् ॥२०॥

अपरानपि यच्छति द्विपानमुनेकेन विभुः प्रसादितः ।

परिकुप्यति चेत्स दारुणो न तद्यायं भविता न चापरे ॥२१॥

प्रविहाय जिगीषुतामिमां भव गत्वा प्रभुपादवत्सलः ।

अधिकं तव लाभमिच्छतो ननु तन्मूलमपि प्रणक्ष्यति ॥२२॥

समुद्रो जलविः तस्य पारगः तीरं गतवान् । यवान्, न शिलयते ॥१९॥ तद्विति । तत् तस्मात्कारणात् । प्रभोः स्वामिनः । इदम् एतत् । वच, वचनम् । अवरेय ज्ञात्वा । नम्रः विनयशीलः । 'नमस्कृत्य'— इत्यादिना शीलार्थे इ-प्रत्ययः । भव स्वाः । भू सत्ताया लोट् । तं मतङ्गजं वनकेलिनामधेयं गजम् । अर्पय वेहि । ऋ प्रापणे णिङ्गतात्त्विकोऽङ् । 'ह्रींस्वी'— इत्यादिना वक्—आगमः । जलधौ समुद्रे । तिष्ठति सति विद्यमाने सति । जातुचिदपि एकवारमपि । नदा, नद्यः । रत्नभाजनं रत्नानां भाजनम् आधारः । न भयन्ति हि । अर्थान्तरमात्रः ॥२०॥ अप्रशमिति । अमुना एतेन । एकेन गजेन । प्रसादितः सतोषितः । विभुः पृथिवीपालः । अपरान् अन्यान् । द्विपानपि गजानपि । यच्छति ददाति । बाणं दाने लट् । 'पात्रा'— इत्यादिना बाणं घातीर्वच्छ-आदेशः । सः विभुः । दारुण, सन् भयंकरः सन् । परिकुप्यति चेत् कोपयति चेत् । कुप क्रोधे लट् । अयं गजः । तव ते । भविता भविष्यन् । न अपरे अन्ये । गजाश्च न न भवि-
तारः—इत्यर्थः । जाओष, (विद्यमालङ्कारः) । २१॥ प्रविहायेति । इमाम् पुताम् । जिगीषुता जेतुमिच्छ-
त्वात् । प्रविहाय विमुच्य । गत्वा प्राप्य । प्रभुपादवत्सलः प्रभोः पादयोश्चरणयोर्वत्सलो वात्सल्ययुक्तः । भव
भवेः । भू सत्तायां लोट् । अधिकं बहुलम् । लाभमिच्छतः^१ बाञ्छतः । तव ते । तन्मूलमपि तस्य लाभस्य
मूलमपि, लाभाय दीयमानराज्यादिरपि^२—इत्यर्थः । प्रणक्ष्यति^३ नाशमेधति । ननु निश्चयेन । नद्यः^४

है ॥१९॥ राजन् । यह मेरे स्वामी पृथिवीपाल राजाका सन्देश है । इसे समझकर जो उचित हो, कीजिये । यदि मेरी सलाह उचित हो तो आप नम्र हो जाइये और वह हाथी वापिस कर दीजिये । क्योंकि समुद्रके रहते हुए नद कभी रत्नोंका पात्र नहीं हो सकता । समुद्र ही तो रत्नाकर कहलाता है । इसी तरह उत्तम गजरत्नका पात्र केवल पृथिवीपाल हो सकता है । 'रत्नहारी हि पार्थिव' यह उक्ति पृथिवीपालके लिए है ॥२०॥ यदि इस एक अकेले वनकेलि हाथीकी वापिस करके तुमने पृथिवीपालको प्रसन्न कर लिया, तो वह तुम्हें और भी हाथी प्रदान करेगा । यदि तुम हाथी वापिस नहीं करोगे, तो वह भोषण रूप धारण कर लेगा, फिर तुम्हारे पास न यह वनकेलि रहेगा, और न अन्य हाथी भी, जो इस समय तुम्हारे पास हैं ॥२१॥ जीतनेकी इस इच्छाको छोड़ो और पृथिवीपालके पास जाकर उसके चरणोंमें अपना वात्सल्य प्रकट करो । यदि तुम अधिक लाभके लोभमें पड़ोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा मूल (राज्य) भी

१. अ. प्रणक्ष्यति । २. बा लट् । ३. बा लिट् । ४. आ आधारभूतम् आविष्टकिङ्कम् । ५. आ बाणो ।
१. = कृष्यति चेत् । ७. = भविष्यति । ८. बा मिच्छत्यम् । ९. बा लट् । १०. बा मिच्छोः । ११. आ
कोमया विद्या मानराज्यादिरप्यर्थः । १२. आ प्रणक्ष्यति । १३. नद्यः ।

क्षमते विनयातिलङ्घनं स यथा ते गवितास्मि ते तथा ।
 ननु तत्र भवत्यसंशयं मम वाक्येन पयोऽपि गोरसः ॥२३॥
 हितमिच्छसि चेदकैतवां कुरु मद्वाचमथ प्रियप्रिय^१ ।
 रहसि व्रज तिष्ठ भाषयस्त्रय जीवेति गिरः स्वयोषितः ॥२४॥
 इति भाषिण^२ एव भारती रिपुदूतस्य सगर्वमाक्षिपन् ।
 नरनाथदृशा कटाक्षितो युवराजो गिरमित्युदाहरत् ॥२५॥
 विनयप्रशमकभूषणं परमन्यायसमर्थनोद्यतम् ।
 प्रविहाय भवन्तमोदशं वचनं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२६॥

अदर्शने लूट् । 'नश्मन्—' इत्यादिना नम्-आगमः ॥२२॥ क्षमते इति । स. प्रभुः । ते तव । विनयाति-
 लङ्घनं विनयातिक्रमम् । यथा येन प्रकारेण । क्षमते सहते । क्षमोषि सहने लट् । तथा तेन प्रकारेण ।
 तं विभुम् । गवितास्मि भणिष्यामि । यद् व्यक्ताया वाचि लुट्, उत्तमपुरुषैकवचनम् । विनयातिलङ्घनं न
 क्षमेत इत्यर्थः । तत्र पृथिवीपाले भूपे । मम मे । वाक्येन वचनेन । पयोऽपि जलमपि । गोरसः क्षीरम् ।
 असद्यं निश्चयेन^३ । भवति जायते । अतिशयः ॥२३॥ हितमिति । प्रियप्रिय प्रियेषु प्रिय भो मित्र,
 अत्यन्तं मित्रं—इत्यर्थः । हितं स्वस्य हितम् । इच्छसि चेत् वाञ्छसि चेत् । इमाम् एताम् । मद्वाचं मम
 मे वाचं वचनम् । अकैतवा सत्यकृपां । कुरु विचेहि । डुकृञ् करणे लोट्^४ । स्वयोषितः स्वस्य योषितो
 वनिता । जय जीव इति, गिरः वचनानि । भाषयन् उच्चारयन् । रहसि निक्षायाम् (एकान्ते) । व्रज गच्छ ।
 तिष्ठ ॥२४॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । भाषिणः एव भाषणशीलस्यैव । रिपुदूतस्य शत्रोदूतस्य वचो-
 हस्य । सगर्वं गर्वयुक्तं । यथा तथा । भारती वचनम् । आक्षिपन् निवारयन् । नरनाथदृशा नरनाथस्य
 पत्न्यामस्य । दृशा नयनेन । कटाक्षितः^५ कटाक्षेण दक्षितः । युवराजः सुवर्णनाभकुमारः । इति वक्ष्यमाण-
 प्रकारेण । गिर भारतीम् । उदाहरत् अवधीत् । हृञ् हरणे लङ् ॥२५॥ विनयेति । विनयप्रशमकभाषणं^६
 विनयप्रशमो एकभाषणे एकवचने यस्य तम्, अन्यत्र विगतनयप्रशमैकभाषणम् । परमन्यायसमर्थनोद्यतं परम-
 दृष्टात्वा न्यायश्च परमन्यायस्तस्य समर्थने साधने उद्यतमुद्यतम्, अन्यत्र परं केवलमन्यायसमर्थनोद्यतम् । भवन्तं

नष्ट हो जायेगा—'लाममिच्छतो मूलच्छेदः' यह उक्ति चरितार्थ होगी ॥२२॥ मे पृथिवीपाल
 भूपालसे तुम्हारे बारेमे ऐसे ढंगसे बात कहूँगा, जिससे वह तुम्हारे इस विनयके उल्लंघनको
 क्षमा कर देगा । यह निश्चित है कि मेरे कहनेसे वह पानीको भी दूध मान लेगा ॥२३॥ हे
 प्रियवर ! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो मेरे निश्छल वचनका पालन करो, और अपनी
 स्त्रियोंसे 'जय हो महाराजकी, जियो महाराज' यह कहलवाते हुए जाओ और एकान्तमें
 पृथिवीपालसे मिलो ॥२४॥ इतना सुनकर पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको ज्योंही आँखका
 इशारा किया त्योंही उसने, उक्त प्रकारसे बड़े धमण्डसे बोलनेवाले पृथिवीपालके दूतको टोककर
 यों उत्तर दिया—॥२५॥ हे दूत ! विनय और शान्तिपूर्वक बोलनेवाले और उत्कृष्ट न्यायका
 समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हे छोड़कर ऐसे वचन और कौन कह सकता है ?
 (यह प्रशंसा परक अर्थ हुआ) हे दूत ! नीति और शान्ति रहित भाषण करनेवाले और
 सरासर अन्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हें छोड़कर ऐसे वचन कहनेके

१ आ इ ललु तत्र । २. अ मयाप्रियाप्रियः, आ इ म मिमां प्रियाप्रियः, क ल ग व 'मथ प्रिय-
 प्रियः । ३. इ भाषण एव । ४. आ इ पृथिवी । ५. आ 'नश्च भ्रश्च' इत्यादिना नुमागमः । ६. आ क्षमू ।
 ७. = कङ्घन क्षमेत । ८. आ निश्चयम् । ९. आ 'न्त प्रिय' । १०. वा लोट् । ११. = कृतसंकेत इत्यर्थः ।
 १२. एष टोका पाठः प्रतिषु तु 'भूषणं' इत्येव पाठः समुपपद्यते ।

सच्चिच्चरुना भवद्विधैः परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः ।

सहितस्य कथं भवेत्प्रमोदनव भूतिः प्रचुरा न मन्दिरे ॥२७॥

विनयैकरतिर्महागुणः सकलेऽस्मिन्भुवने स गण्यते ।

नृपतिः प्रविनिन्दितं सतामुचितं तस्य विधातुमीदृशम् ॥२८॥

यदि भाग्यवशेन वारणो गृहमस्माकमयं व्यगाहत् ।

इयतैव किमक्षमा प्रभोः परबुद्धिर्व्यसतां हि मत्सरः ॥२९॥

ताम् । प्रबिहाय विमुच्य । ईदृशम् एतादृशम् । वचनं भाषणम् । वक्तुं निगदितुम् । कः को वा । उपक्रमेत प्रारभेत । क्रमं पार्यावक्ष्ये लङ् । 'श्रोषाम्ना समर्पाम्याम्' इति लङ् । श्लेषः ॥२६॥ सच्चिच्चरित । परमेधो-
द्यमयोग्यतान्वितैः परा उत्कृष्टा मेधा धारणाबुद्धिः, परा चासौ मेधा च तस्या उद्यम उद्योगः तस्य योग्यतया योग्यतान्वितैर्युक्तैः, अन्यत्र परं केवलम् एषोद्यम इत्यनानामुद्यम उद्योगः तेन अन्वितैः । भवद्विधै भवादृशैः । सच्चिच्चैः दूतैः । अधुना इदानीम् । सहितस्य युवतस्य । तव त । प्रभो. पृथिवीपालस्य । मन्दिरे गृहे । भूतिः संपत्, अन्यत्र भस्म । प्रचुरा बहुला । कथं केन । न भवेत् न स्यात् । लिट् । श्लेषः ॥२७॥ विनयेति । अस्मिन् एतस्मिन् । सकले निखिले । भुवने लोके । विनयैकरतिं विनये एका मुख्या रतिः प्रीतियस्य सः, अन्यत्र विगतनयैकप्रीतिः । महागुणः महान्तो गुणा यस्य स, अन्यत्र महान्तो अगुणा दोषा यस्य सः । सः नृपतिः भूपतिः । गण्यते ससपाक्रियते । गण सख्याने कर्मणि लट् । सता सत्पुरुषे । प्रविनिन्दितं प्रकुत्सितम् । 'वा नाकस्य' इत्यादिना कर्मणि पर्यो । ईदृशम् एतादृशं कार्यम् । विधातु कर्तुम् । उचितम् । श्लेषः ॥२८॥ व्यदिति । यदि भाग्यवशेन भाग्यस्य दैवस्य वशेन अधोनेन । अद्य मयं । वारणः गजपतिः । अस्माकं गृहं मन्दिरे । व्यगाहत् प्रविशति स्म । गाहोद् विलोडने लङ् । इयतैव एतावतैव । प्रभो. भवतः स्वामिनः । अक्षमा [किं] मात्सर्यं किम् । असता दुर्जनानाम् । परबुद्धिपुं परेपामन्देपां बुद्धिपुं संपत्तिपु ।

लिए और कोन उपक्रम (प्रारम्भ) कर सकता है ? (यह निन्दापरक अर्थ हुआ) ॥२६॥
हे दूत ! दूसरोंकी बुद्धिको प्रेरणा देनेकी योग्यतावाले आप सरीखे सलाहकारोंसे युक्त पृथिवीपालके महलमें इस समय प्रचुर सम्पत्ति क्यों न हो ? (यह स्तुतिपरक अर्थ है)
हे दूत ! केवल ईश्वर ले आनेकी योग्यता रखनेवाले तुम्हारे सरीखे नीकरोंसे युक्त तुम्हारे स्वामी पृथिवीपालके घरमें इस समय भस्म क्यों न हो ? (यह निन्दा परक अर्थ है) ॥२७॥
'वह राजा पृथिवीपाल विनयमे अत्यन्त आसक्त और महान् गुणो है', इस रूपमे उसकी इस संसारमे गणना की जाती है । सज्जनोके द्वारा श्लाघ्य समझे जानेवाले, ऐसे काम करना उसके लिए उचित है । (यह स्तुतिपरक अर्थ है) इस संसारमें सभी जगह पृथिवीपालकी गणना अन्यायमे आसक्त और महान् दुर्गुणोके रूपमें की जाती है । अतः सज्जनोके द्वारा निन्दनीय, ऐसे काम करना, उसके लिए उचित है । (यह निन्दापरक अर्थ है) ॥२८॥ यदि भाग्यवश यह हाथी हमारे घरमें घुस आया, तो इतने मात्रमे तुम्हारे प्रभुजी महाराज आपसे बाहर क्यों हो रहे है ? सच तो यह है कि दूसरोंकी बुद्धि होनेपर दुर्जनोंको डाह हुआ करती

१. अ यस्य । २. कथं वा विवाहत् । ३. = केन प्रकारेण । ४. स लेङ् । ५. = गणनाविषयीक्रियते ।
६. अ 'प्र' नास्ति । ७. आ करणार्थे । ८. आ यदिति । ९. = दैवात् । १०. आ माह । ११. आ परमधिपु । १२. आ ऋद्धिपु ।

इह तावद्दातुमिच्छतां निजमस्माकमयं किलाक्रमः ।
परवस्तु जिगीषतां पुनर्भवतामेष किमुच्यते क्रमः ॥३०॥

वचनं क खलूपयुज्यते प्रभुरस्मि क्रमतोऽहमित्यद् ।
ननु खल्वबलेन भुज्यते वस्तुधा न क्रमसंप्रकाशनैः ॥३१॥

करिणीपतिरन्यदेव वा कृतपुण्यं समुपैति वस्तु यत् ।
बलिना तदपास्यते बलान्नहि लोके कचिदोदृशः क्रमः ॥३२॥

अथ सप्रणयेन याचने करिणीनाथमनाथवत्सलः ।
इति ते विनिवेदितं मयेत्यभिप्रेत्य भयदर्शि किं वचः ॥३३॥

मत्सरः मात्सर्यं हि । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥ इहेति । इह अस्मिन् जगति । तावत् प्रथमम् । निजं स्वकीयं वस्तु । अदातुम् अदानाय । इच्छता वाञ्छताम् । अस्माकम्, अयम् एषः । क्रमः किल अन्यायः किल । पुनः पश्चात् । परवस्तु अन्यदेवं वस्तु । जिघृषता गृहीतुमिच्छताम् । भवतां युष्माकम् । एष अयम् । क्रमः 'न्याय' इति उच्यते निगद्यते किम् ॥३०॥ वचनमिति । अहं क्रमतः वशक्रमात् । प्रभुः राजशाधिपतिः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । [इति] अदः एतत् । वचन भाषणम् । वश कुत्र । खलु स्फुटम् । उप-युज्यते प्रयुज्यते । वस्तुधा भूमिः । खल्वबलेन शस्त्रबलेन । भुज्यते अनुभूयते । भुव पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लट् । क्रमसंप्रकाशनैः क्रमस्य^१ परिपाट्याः संप्रकाशनं प्रकटनैः^२ । [ननु निश्चयेन] । न भुज्यते^३ ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥३१॥ करिणीति । करिणीपतिः गजपतिः । अन्यदेव वा गजादयत् अमृत्य-रत्नादि वा । यत् वस्तु । कृतपुण्यं कृतं पुण्यं सुकृतं येन तम् । पुरुषं समुपैति संप्राप्नोति । इण गतो लट् । तत् वस्तु । बलिना सामर्थ्यवता पुरुषेण । बलात्^४ सामर्थ्यात् । अपास्यते आकृष्यते गृह्यते^५ वा । अमू^६ क्षेपणे कर्मणि लट् । ईदृशः एतादृशः । क्रमः परिपाटी, मम गजो मदीयः-इति क्रमः । लोके जगति । कचिद् नहि नास्ति हि ॥३२॥ अयेति । अथ अथवा । अनाथवत्सलः अनाथेषु दीनजनेषु वत्सलः प्रीतिमान् । सः^७ पृथिवीपाल^८ । करिणीनाथं गजपतिम् । प्रणयेन विनयेन । याचते प्रार्थ्यते । याचूञ्^९ याचने लट् । इति एवम् । तं तव । मया विनिवेदितं जापितम्—इत्युक्ते (इत्युक्तम्) । भयदर्शि भयप्रकाशः । वचः वचनम् ।

हे ॥२९॥ हम अपनी वस्तु आपको नहीं देना चाहते, इसे आप हमारा अन्याय कहते है, तो फिर पराई (हमारी) वस्तुको जो आप स्वयं हड़प लेना चाहते है, उसे क्या आपका न्याय कहा जायेगा ? ॥३०॥ 'मैं पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे साम्राज्यका स्वामी हूँ' यह कहना कहाँ उपयोगी है ? निश्चय ही तलवारके बलपर पृथिवीका भोग किया जाता है, न कि वंश परम्पराका राग अलापनेसे ॥३१॥ गजराज या और भी कोई वस्तु, जो पुण्यवान् पुरुषको प्राप्त हो, उसे कोई तीसमारखाँ बलात् छीन ले, ऐसा न्याय या ऐसी परिपाटी हम दुनियामें कहीं भी नहीं है ॥३२॥ और, यदि वह दोनानाथ (दीन, अनाथ) विनय पूर्वक हमसे हाथीकी याचना करना चाहता है, तो 'मैंने तुमसे निवेदन कर दिया' (६ से १९वें श्लोक तक) ये डर दिख-

१. इ^१ अन्यदेव । २. आ इ^२ वत्से । ३. आ इ तं वचः । ४. वंशस्य । ५. आ प्रकटक्रियाभिः । ६. = नानुभूयते । ७. = इडात् । ८. आ दृश्यते । ९. आ त्रु । १०. स 'सः' इति नास्ति । ११. आ पृथ्वीपा^१ । १२. आ याच ।

किमु तस्य न सन्ति वारणा बहवोऽभ्ये परपक्षवारणाः ।
 अमुना स पदेन मन्दधीर्ध्वमस्मानभियोक्तुमिच्छति ॥३४॥
 बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये ।
 अधिकक्रमतैव मृत्युवे ननु सिंहस्य घनं लिलङ्घियोः ॥३५॥
 बलवद्वितयैव निष्फलं प्रविचिस्तुर्महतामतिक्रमम् ।
 स्वयमेव खलः स भोत्स्यते^१ कटुनो यम्भपुरस्य खान्तरम् ॥३६॥
 शयितस्य हरेः प्रबोधनामिति कुर्वन्तमुपेत्य मत्प्रभुः ।
 सहसैव हिनस्ति किं न तं यदि न स्यात्क्षमया निवारितः ॥३७॥
 अभियुज्य निहन्ति यो रिपूतभियुक्तः स पुनर्विशेषतः ।
 ज्वलितु स्वयमुत्सुकः शिखी^२ सुतरां मारुतसंप्रभुक्षितः ॥३८॥

(किम्) अभिघते (किं) वदति । दुष्पाञ्च वारणे च लट् । किं किं निमित्तम् ॥३३॥ किञ्चित्^३ । तव भूपतेः । परपक्षवारणाः परेषां पक्षस्य सेनायां वारणाः तिरस्कर्तारः । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । अन्ये केचित् । बहवः बहुलाः । वारणाः गजाः । न सन्ति न विद्यन्ते । असं भुवि लट् । किम् किम् । मन्दधीः मन्दबुद्धिः । सः तव भूपः । अमुना एतेन । पदेन व्याजेन । अस्मान्, अभियोक्तुं योद्धुम् । इच्छति वाञ्छति । भ्रुवं निश्चयेन ॥३४॥ बलवानिति । अहं बलवान् सामर्थ्यवान् इति । अहंक्रिया अहंकारः । सर्वत्र सर्वप्रदेशेषु कार्येषु वा । प्रशान्तये सुखाय । न भवेद्दि न स्याद्दि [नहि भवेत् नहि स्यात्] । भू सत्तायां लिङ्^४ । घनं मेघम् । लिलङ्घियोः लङ्घितुमिच्छोः । सिंहस्य कण्ठोरवस्य । अधिकक्रमता अधिकमत्यन्तं क्रमता पादविक्षेपतैव । मृत्युवे मरणाय^५ । ननु । अर्धान्तरन्यासः ॥ ३५ ॥ वदति । बलवद्वितयैव बलेन सामर्थ्येन वदितयैव वदयुक्तयैव । महता महापुरुषाणाम् । निष्फल प्रयोजन-रहितं यथा तथा । अतिक्रमं लङ्घनम् । प्रविचिस्तुः कर्तुमिच्छुः । स खलः दुर्जनः । कटुन कटुवस्तुनः । मधुरस्य मधुरवस्तुनश्च । यत् अन्तरं तारतम्यम्, अस्ति । (तत्) स्वयमेव भोत्स्यते^६ आस्यते । बुधि मनि ज्ञाने लट् । 'बधो भव्—' इत्यादिना भयादेशः । आक्षेपः ॥३६॥ शयितस्येति । इति एवम् । शयितस्य सुप्तस्य । हरेः सिंहस्य । प्रबोधना^७ जागरणम् । कुर्वन्तं विदधतम् । तं पुरुषम् । समुपेत्य समोप गत्वा । मत्प्रभुः स्वामी क्षमया^८ क्षान्त्या । निवारितः निरुद्धः । यदि न स्यात् न भवेत्, तर्हि । सहसैव ग्रीष्मेश । न हिनस्ति किं न हन्ति किम्^९, अपितु हन्त्येव ॥३७॥ अभियुज्येति । यः भूप । रिपून् शत्रून् । अभियुज्य अभिप्रेणयित्वा, शत्रून् प्रति सेनया सह अभिगम्य—इत्यर्थः । निहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योर्लट् । सः

लानेवाले घमकी भरे वचन कयो कहता है ? ॥३३॥ क्या उसके पास शत्रुओंकी सेनाका वारण करनेवाले (परेषां शत्रूणां पक्षं वारयन्तीति परपक्षवारणाः) और बहुतेरे हाथो नहीं हैं, जो वह नादान इस बहाने हमसे युद्ध करना चाहता है ॥३४॥ 'मैं बलवान् हूँ' यह अहंकार सभी जगह सुखदायी नहीं हो सकता । मेघको लॉघनेकी इच्छा करनेवाले सिंहकी ऊँची छलांग हो उसकी मृत्युके लिए हो जाती है ॥३५॥ केवल बलके घमण्डसे बड़ोंके ऊपर निष्प्रयोजन आक्रमण करनेका इरादा करनेवाला वह दुर्जन पृथिवीपाल अपने आप कड़ुए और मोठेका फर्क जान जायेगा ॥३६॥ यदि क्षमाने न रोक लिया होता तो इस तरह सोए हुए सिंहको जगानेवाले पृथिवीपाल को, मेरे प्रभु—पिता पपनाभ, सहसा चढ़ाई करके क्या मार न डालते ? ॥३७॥ जो झूठा अभियोग लगाकर अथवा आक्रमण करके शत्रुओंको मारनेको उद्यत होता है, वह

१. आ इ भोत्स्यते, म भोत्स्यते । २. अ शिखी । ३. आ किमिति । ४. वा लेट् । ५. = भवतीति शेषः । ६. आ भोत्स्यते । ७. स प्रबोधनां । ८. = पृथिवीपालम् । ९. आ शील्या । १०. स 'न हन्ति किम्' इति नोपलभ्यते ।

सयवाग्निजिगीष्यते परैर्व्यसनी दैवविचित्रितोऽथवा ।

कलिता घट तत्र के वयं प्रसभं स्वप्नभुणा जिगीषता ॥३६॥

भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया ।

इति किं न स वेत्ति मूढधीरथवा को विभवैः सचेतनः^१ ॥४०॥

न भवान्किमवैति यद्बलान्कुरुते राज्यमसावकण्टकम् ।

प्रहरन्ति न सांख्यपुरुषं ननु तं मत्प्रभुशङ्क्यारयः ॥४१॥

राजा । पुनः पश्चात् । अभियुक्तः अन्येन गृहीतः । विशेषतः विशेषात्, निहन्ति । सिद्धी वृत्तिः । स्वयं ज्वलितुं दीपितुम् । उत्सुकः उत्सुक्तः । मारुतसंप्रयुक्तः मारुतेन वायुना संप्रयुक्तः प्रवर्द्धितः । सुतराम् अत्यन्तं ज्वलति—इत्यर्थः । अर्थांतरन्यासः ॥३८॥ क्षयवानिति । क्षयवान् नाशवान् । अथवा, व्यसनी कामक्रोधादितोषवान् । दैवविचित्रितः दैवेन पुण्येन विचित्रितो रहितः । परः शत्रुः । जिगीषोष्यते जेतुमिष्यते । प्रसभं हठात् । जिगीषता जेतुमिच्छता । स्वप्नभुणा स्वामिना । तत्र त्रये । वयं के कलिताः गणिता । निश्चिता वा । वद ब्रूहि । वद व्यक्तार्थां वाचि लोट्^२ । आक्षेपः ॥३९॥ भवतीति । महति स्वस्मादधिके । प्रियं प्रीतिः । इष्टसाधकम् इष्टस्य अमीष्टस्य साधकम् । भवति जायते । क्षुद्रजने स्वस्मादोने^३ । हठक्रिया बलात्कारः (इष्टसाधिका) भवति । मूढधीः मूढा मण्डा भीमतिर्यस्य सः । सः राजा । इति किं न वेत्ति किं न जानाति । क्षयवा तथापि^४ विभवैः सद्भिः सचेतनः सैतन्ययुक्तः कः को वा वेत्ति । विद ज्ञाने लट् अर्थांतरन्यासः^५ ॥४०॥ नेति । यद्बलान् यस्य पदानामस्य बलात् सामर्थ्यात् असौ पृथ्वीपालः । राज्यं राजो भावः कृत्यं वा राज्यं, देशाधिपत्यम् । अकण्टकं न विद्यते कण्टको यस्मिन् कर्मणि तत् शत्रुरहितं यथा तथा—इत्यर्थः । भवान् त्वम् । नावैति न जानाति किम् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । सांख्यपुरुषः सांख्येनाज्ञोक्तः पुरुषः, जडान्मा—इत्यर्थः । अकिञ्चित्करं तं^६ पृथ्वीपालम् । मत्प्रभुशङ्क्या मम मे प्रभुः स्वामी तस्य शङ्का

विशेष रूपसे अभियुक्त या आक्रान्त होकर स्वयं मारा जाता है—जो दूसरेको मारना चाहता है, वह स्वयं दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अग्नि जलनेके लिए स्वयं उत्सुक रहता है, फिर वायुसे खूब प्रज्वलित होकर तो और भी अधिक जल उठता है । पद्मनाभ अग्निके समान है । पृथिवीपाल उन्हें छोड़ेगा तो स्वयं मारा जायेगा ॥३८॥ जो राजा क्षीण हो, दुर्व्यसनीमें फँसा हुआ हो अथवा भाग्यहीन हो, उसे दूसरे जीत लेना चाहते हैं । तुम्हारा स्वामी पृथिवीपाल हमें जीतना चाहता है, तो तुम हमें यह तां बताओ कि उसने हमें उन तीनोंमें-से क्या समझ रखा है—क्षयवान्, दुर्व्यसनी या हतभाग्य ? ॥३९॥ 'महान् पुरुषके साथ किया गया प्रिय व्यवहार और क्षुद्र व्यक्तिके साथ किया गया बलात्कार इष्टको सिद्ध करनेवाला होता है' इस बातको क्या वह मूर्ख पृथिवीपाल नहीं जानता ? अथवा वैभव होनेसे कौन चेतना (बुद्धि) युक्त रह पाता है ?—वैभवके मदसे चेतना (बुद्धि) विकृत हो जाती है, जिससे विवेक लुप्त हो जाया करता है ॥४०॥ जिनके बलके भरोसे पृथिवीपाल निष्कण्टक राज्य कर रहा है, उन्हें क्या आप नहीं जानते ? न जानते हो तो सुनो, निश्चय ही मेरे पिताजीके भयसे हो शत्रु लोग उस जड़ और अकिञ्चित्कर पृथ्वीपालके ऊपर प्रहार नहीं

१. अ कुचेतनः । २. ङ लट् । ३. ङ स्वात्माधीने । ४. ङ तथा हि । ५. ङ पृथ्वी ।

६. = भीतिः ।

इति तस्य निशम्य भारतां रिपुदूतः परिवृद्धमत्सरः ।
 म्बगदीदृशुरुग्वर्गदग्दामभिसर्पग्निरमप्रतोऽप्रतः ॥४२॥
 स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युद्ये सुकर्मणः ।
 अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः ॥४३॥
 न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।
 कुशलाकुशला च जायते धिषणा दैववशेन देहिनाम् ॥४४॥
 अवभाति निजं स पौरुषं कथयन्निर्वहते तथैव यः ।
 निजचिक्रमगर्वाणि रणे हसनीया बहवो मयेक्षिताः ॥४५॥

संशयः तथा । अरयः शत्रवः न प्रहरन्ति न धनन्ति । हृद् हरणे लट् । आक्षेपः ॥४१॥ इतीति । इति
 उक्तप्रकारेण । तस्य सुवर्णनामस्य । भारती वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । परिवृद्धमत्सरः परिवृद्धः प्रवृद्धो
 मत्सरो यस्य सः । रिपुदूतः शत्रुवचोहरः । अप्रतोऽप्रतः अयं अपरे । बोधनाया हिः । अभिसर्पन् गच्छन् ।
 गुरुगर्वगदग्दां गुफा महता गर्वेणाहंकारेण गदग्दा स्खलन्तीम् । तिरं वचनम् । म्बगदीन् अभाषत । गद
 व्यक्तायां वाचि लुङ् ॥४२॥ स्वहितमिति । पुरुष पुमान् । सुकर्मणः पुण्यस्य । उद्ये कलानपरिणतो,
 सति । स्वहितं स्वस्य हितम् । स्वधियैव स्वैव धियैव बुद्धयैव । बुध्यते जानाति । बुधि मति ज्ञाने लट् ।
 अविधेयविधिः अविधेयः प्रतिकूलो विधिः कर्मणि यस्य सः, शुभकर्मरहितः—इत्यर्थः । स्वधिया स्वबुद्ध्या ।
 न बुध्यते न जानाति । परेण अग्रेण । बोधितोऽपि ज्ञापितोऽपि । न न बुध्यते । आक्षेपः ॥४३॥ नेति ।
 इह अविधेयबुद्ध्या (?) । उपदेशकः गुरुः । न [निमित्तम्] (कारणम्) नास्ति । शास्त्रं तोरथादि-
 शास्त्रम् । न च निमित्तमिति (निमित्तं नास्ति) । साधुसंगतिः साधूना सज्जनानां संगतिः संसर्गश्च । न नास्ति
 देहिनां औषानाम् । कुशला [अकुशला] च प्रशस्ता (अप्रशस्ता) च । धिषणा बुद्धिः । दैववशेन पुण्या-
 पुण्यवशेन । जायते उत्पद्यते । जनेद् प्रादुर्भावे लट् । अर्थापरम्यासः ॥४४॥ अवभातीति । यः पुरुषः । निजं
 स्वकीयम् । पौरुषं सामर्थ्यादिकम् । कथयन् बुवन् । तथैव श्रोतप्रकारेणैव । निर्वहते संपूर्णयति । बह
 प्रापणे लट् । सः पुरुषः । अवभाति अवभासते । भा दीप्तो लट् । निजचिक्रमगर्वाणिः निजानां स्वेषां विक्रमेण
 पराक्रमेण गर्वाणोऽहंकारिणः । बहवः प्रचुराः । रणे सयामे हसनीयाः । हसितुं योग्याः । मया ईक्षिताः

करते—उसके निष्कण्टक राज्यका एकमात्र श्रेय पथनाभको है ॥४१॥ राजकुमार सुवर्णनाभके
 इन वचनोंको (२६वे श्लोकसे ४१वें श्लोक तक) सुनकर शत्रु-पृथिवीपालके दूतका पारा चढ़
 गया—वह क्रुद्ध हो उठा । फिर आगे-आगे बढ़कर अखर्व गर्व भरी बातें गद्गद होकर यो
 सुनाने लगः—॥४२॥ शुभकर्मका उदय होनेपर पुरुष अपनी बुद्धिसे ही अपना हित जान लेता
 है, किन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल हो, वह पुरुष न अपनी बुद्धिसे अपना हित जान पाता है,
 और न दूसरेके समझाने पर । हे सुवर्णनाभ ! पृथिवीपालका भाग्य अनुकूल है, अतः वह अपने
 आप अपना हित समझता है, पर तुम्हारा भाग्य प्रतिकूल है, अतः तुम अपने आप अपना हित
 नहीं समझे और न मेरे समझाने पर भी ॥४३॥ शुभ कर्मोंके उदयसे प्राणियोंको अच्छो बुद्धि
 और अशुभ कर्मोंके उदयसे बुरी बुद्धि होती है—बुद्धिकी कुशलता और अकुशलता देवके
 अधीन है । बुद्धिकी कुशलता और अकुशलतामे उपदेशक निमित्त नहीं है; शास्त्र निमित्त नहीं
 है; और सत्संगति भी निमित्त नहीं है ॥४४॥ वह मनुष्य शोभा पाता है, जो अपने पुरुषार्थके

१. अं ला प्रजायते । २. आ लृङ् । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४. = स्वहितादि-
 बोधने । ५. = निमित्तं नास्तीत्यर्थः । ६. आ 'श्रोत' इति नास्ति । ७. = संपूरयति ।

प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।
 'अविमृश्य कृतो हि विक्रमः' शरभस्येव विपाकदाहणः ॥४६॥
 अधमेन समेन बाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम्^१ ।
 मतिमान्विदधानु विग्रहं बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः ॥४७॥
 बहुभिः परिवारितोऽखिलं हतबुद्धिजितमेव पश्यति ।
 अवगच्छति नेवमुद्गते गुरुकार्ये मम नात्र कञ्चन ॥४८॥
 स्वयमिति यतो नदारयात्पतनं स्तब्धवतस्तटीतरोः ।
 अभवत्कलु तेन संमतः प्रणिपातो विदुषां बलाधिके ॥४९॥

बिलोकिताः । आक्षेपः ॥४५॥ प्रविचिन्त्येति । उदेतुम् अभ्युदयं प्राप्तुम् । इच्छता वाञ्छता पुरुषेण । प्रथमं पूर्वम् । स्वस्य आत्मनः । परस्य अन्यस्य च । अन्तरं तारतम्यम् । प्रविचिन्त्यम् आलोच्यम् । अविमृश्य अविचार्य । कृतः विहितः । विक्रमः पराक्रमः शरभस्येव सिंहादेरिव (सिंहारेरिव^२) । विपाकदाहणः विपाकेऽवसाने दाहणो भयं करोति हि । उपमा ॥४६॥ अधमेनेति । अधिका प्रचुराम् । निजभाग्यसंपदं निजस्य स्वस्य भाग्यस्य संपदं संपत्तिम् । अधिगच्छन् जानन् । मतिमान्^३ बुद्धिमान् । अधमेन हीनेन । समेन समानेन वा पुरुषेण । विग्रहं कलहम्, संग्रामम् । विदधानु करोतु । बलवद्भिः सामर्थ्ययुक्तैः पुरुषैः । सह साकम् । अस्य पुरुषस्य । विग्रहः संग्रामः । कः को वा, न कोऽपि—इत्यर्थः ॥४७॥ बहुभिरिति । बहुभिः खनैः । परिवारितः वेष्टितः । हतबुद्धिः हता बुद्धिः बुद्धिरस्य सः । अखिलं सकलम् । जितमेव विजितमेव । इति पश्यति बीजते । दृष्टं प्रेक्षणं लट् । गुरुकार्ये महति कार्ये । उद्गते सति । मम मे । अत्र बहुषु भृत्यादिषु । कञ्चन एकोऽपि वा । इदं 'कार्यम्' इति, नावगच्छति न जानाति^४ । गम्ल गतौ लट् । आक्षेपः ॥४८॥ स्वयमिति^५ । यतः यस्मात् । नदारयात् नद्याः प्रवाहात् स्तब्धवतः गर्वयुक्तस्य । तटीतरो तटपा तीरे विद्यमानस्य तरोर्वृक्षस्य । पतनं भञ्जनम् । इव (?) [स्वयम्] । ऐक्षि^६ ऐक्षत् । ईक्षि^७ दर्शने लुङ् । तेन कारणेन । बलाधिके सामर्थ्याधिके प्रणिपातः^८ नमस्कारः । विदुषा विद्वज्जनैः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना

बारेमें जैसा कहता है वैसा ही निर्वाह करके दिखा भी देता है । अपने पराक्रम की डींग मारनेवाले बहुतसे पुरुषोंको मेने संग्राममें परिहास योग्य होते देखा है ॥४५॥ अभ्युदय पानेकी इच्छा रखनेवालेको आक्रमण करनेसे पहले अपना और अपने शत्रुका—जिसपर आक्रमण करना है—अन्तर सोच लेना चाहिए; क्योंकि बिना विचार किया गया पराक्रम अष्टापदके पराक्रमकी भाँति अन्तमे भयानक होता है, यहाँ तक कि प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है । (इसका स्पष्टीकरण प्रथम सर्गके ५१वें श्लोककी हिन्दी टोकामें देखिये ।) ॥४६॥ अपने भाग्यकी सम्पत्तिको औरोंसे कही अधिक जानकर बुद्धिमान् पुरुष अपनेसे होन या बराबरीवालेके साथ युद्ध करे । बलवान्के साथ निर्बलका युद्ध कैसा ?—'मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः' ॥४७॥ बुद्धिहीन राजा बहुतसे ऐरों-गैरों नत्थूखैरोंसे चारों ओरसे घिरा रहकर सारे विश्वको अपनेसे जीता हुआ समझता है, किन्तु वह, यह नहीं समझता कि किसी बड़े कामके आ पड़नेपर इनमेंसे कोई एक भी पास नहीं फटकेगा ॥४८॥ चूँकि विद्वानोंने स्वयं, तटपर अकड़कर खड़े पेड़को नदीके वेगसे गिरते देखा है, इसलिए उन (विद्वानों) का

१. अ प्रविमृश्य, म परिमृश्य । २. म न हि क्रमः । ३. अ 'संपदाम्' । ४. = 'क्षरभः कुञ्जरासारतिस्तदाकोऽष्टपादपि' इति हैमः । ५. वा 'मतिमान्' इति नास्ति । ६. आ दृशिर । ७. वा 'न जानाति' इति भोषलम्पते । ८. अ 'स्वयमिति' इति नास्ति । ९. = नदीवेगात् । १०. = दृष्टः । ११. आ ईक्ष, वा दृष्ट । १२. = नमनम् ।

बहुसत्त्वयुतो स्थिराशयावबिहङ्गयो यदि नाम तावुभौ ।
 महदेव तथापि दूरतो नदभर्तुं न नदस्य चान्तरम् ॥५०॥
 प्रियवात्परेषु विश्वसोक्तुमटेष्वेषु वृथैव मा भवान् ।
 परिवारितमप्यगैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः ॥५१॥
 स्वयमेतदुदाहृतं मया प्रधने तत्प्रकटं भविष्यति ।
 स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना ॥५२॥
 अहितस्य हितोपदेशनैरथवा किं मम कुर्षमीप्सितम् ।
 प्रतिकूलजने हापेक्षणं हितशिखानुगतैकवृत्तिषु ॥५३॥

करणे षष्ठे । संमतः अङ्गोक्तः । नामवत् नामूत् [अवयवत् अवयूत्] । भू सत्ताया लुट् ॥४९॥ बह्विति ।
 बहुसत्त्वयुतो बहूना प्रचुरेण सत्त्वेन युतो युक्ती, अन्यत्र बहुप्राणियुतो । स्थिराशयो दृढबुद्धियुतो, पक्षे दृढहृदी ।
 अबिहङ्गो लङ्घयितुमशक्यो । तावुमी नाम नामानो (?) । नाम समानार्थेऽप्ययम् । यदि । तथापि तहि ।
 नदभर्तुं न नगरस्य । नदस्य नद्यावत् । अन्तरं तारतम्यम् । दूरतः अत्यन्तम् । महदेव पृथुलमेव भवति
 ॥५०॥ प्रियेति । प्रियवात्परेषु प्रियेषु इच्छानुकूलेषु वादेषु वचनेषु परेषु तत्परेषु एषु एतेषु । कुमटेषु
 कुप्तिस्तमूत्येषु । भगवान् स्वम् । वृथैव निष्फलमेव । मा विश्वसोक्तुं विश्वास मा कावीः । अनवस प्राणने
 लुङ् । अगैः वृत्तैः । परिवारितं परिवेष्टितम् । नग पर्वतमपि । क्षुभितः सञ्चलितः । अम्बुधि समुद्रः ।
 प्लावयितुं मज्जयितुम्^१ । क्षमः समर्थः, भवति । अर्थान्तरग्यासः ॥५१॥ स्वयमिति । मया, उदाहृतं प्रोक्तम् ।
 (यत्) एतत् इदम्, वचनम् । प्रधने सग्रामे । स्वयमेव, तत् वचनम् । प्रकटं व्यक्तम्, भविष्यति । जिह्वया
 रसनया । विना ऋते । रसभेदः रसाना पदरसाना भेदोऽन्तरम् । कस्यचित् पुरुषस्य । स्फुटता व्यक्तताम् ।
 नोपयाति हि न प्राप्नोति हि (नहि उपयाति न प्राप्नोति) । जिह्वया रसभेदः प्रकटतामायाति तथा सग्रामे
 मद्रचनं प्रकटं भविष्यति—इत्यर्थः । अर्थान्तरग्यासः ॥५२॥ अहितस्थेति । अहितस्य शत्रो—विपरीत-
 वर्तनायुक्तपुरुषस्य-इत्यर्थः । हितोपदेशनैः हितस्य उपकारकस्य उपदेशनैर्वचनैः । मम मे । किं प्रयोजनम् ।
 अभीप्सितम् अभीष्टम् । कुर्ष विधेहि । कुर्षु करणे लोट् । अथवा तथा हि । प्रतिकूलजने अहितजने ।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि बलवान्के आगे झुक जाना चाहिए ॥४९॥ यो बहुत जल-
 जन्तुओंसे युक्त होनेके नाते, स्थिर आधार युक्त होनेके कारण और लाघने योग्य न होनेकी
 वजहसे समुद्र और नद ये दोनों भले ही एक सरीखे हों, फिर भी दोनोंमें महान् भेद होता है ।
 इसी तरह पृथिवीपाल और पथनाभ ये दोनों ही बहुत बली हैं, स्थिरचित्त है और है अनाक्रमणीय,
 फिर भी दोनोंमें बहुत अधिक अन्तर है, जो मामूली नहीं कहा जा सकता—एक बड़ा है, दूसरा
 छोटा; एक स्वामी है, दूसरा सेवक और एक शरण देनेवाला है तो दूसरा शरणार्थी ॥५०॥
 सुवर्णनाम । इस प्रकारकी मोठी-मोठी बातें करनेवाले इन गेहेनर्दी सैनिकोंका व्यर्थ विश्वास न करो ।
 सभी ओरसे वृक्षोंसे घिरे हुए भी पहाड़की, क्षुब्ध समुद्र आप्लावित कर सकता है—डुबो सकता
 है ॥५१॥ मैंने जो यह कहा है, वह युद्धमें अपने-आप, आपको स्पष्ट हो जायेगा । जीभके बिना
 किसीकी भी रसोंका अन्तर स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सकता ॥५२॥ अथवा जिसे अपने हितका
 स्वयं खयाल नहीं, उसे हितका उपदेश देनेसे मुझे क्या लाभ ? तुम्हारी जो इच्छा हो, करो । जो
 समझाया जाये उससे विपरीत काम करनेवालोंके प्रति उपेक्षा करना हो उचित है । हितकी

१. अ क ख ग घ त्वत्प्रकटं । २. क ख ग घ हितशिष्या । ३. = चाटुकारेषु । ४. वा 'मज्ज-
 यितुम्' इति नास्ति । ५. वा लोट् । ६. वा तथापि ।

समुत्तः समुपेत्य^१ तत्समाप्तिमभ्यर्चय मुक्तमत्सरः ।
 प्रणतिं गमितैः शिरोऽम्बुजै रणभूमिपथा गच्छन्मुतैः ॥१४॥
 क्षुमितामिति तस्य भाषितैर्युवराजप्रमुखां समाम् ।
 परवागनुवादिनोऽस्य कः बलु दोषः प्रभुरित्यथारयत् ॥१५॥
 ब्रज योग्यगृहासनादिकं^२ व्यवहारोचितमस्य कारय ।
 अमिधाय नियुक्तमित्यसाबुदतिष्ठत्प्रविसर्जिताखिलः ॥१६॥
 अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्सममाहूय समस्तमन्त्रिणः ।
 युवराजसमन्वितोऽभ्यधाविति वाचं वचने विचक्षणः ॥१७॥

वैषर्ण्यं हि ओदासीन्यं हि । अनुगतैकवृत्तिषु अनुगता अनुकूल (तां) गता एका मुख्या वृत्तिवर्तनं येषु तेषु अनुकूलगतजनेषु—इत्यर्थः । द्वितिक्षा शिरोपदेशः, सकलः—इत्यर्थः ॥१५॥ समुत्त इति । मुक्तमत्सरः त्यक्तमत्सरः । समुत्तं सुतेन सहितः त्वम् । तत्समाप्तिं तां^३ सभाया आस्थानस्य क्षितिं भूमिम् । समुपेत्य प्राप्य । प्रणतिं प्रणमनम् । गमितैः प्रापितैः । शिरोऽम्बुजैः शिरास्येवाम्बुजानि तैः । अभ्यर्चय पूजय । अथवा गच्छन्मुतैः गच्छेन्मच्छन्मुतैः पतितैः शिरोऽम्बुजैः रणभूमि रणस्य संग्रामस्य भूमिम् । अभ्यर्चय पूजय । अथवा पूजया पयस्तात्तिट् । दोषकः (कम्) ॥१५॥ क्षुमितामिति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य दूतस्य । भाषितैः वचनैः क्षुमिता^४ कोपिताम् । युवराजप्रमुखा युवराज एव प्रमुखा यस्यां ताम् । समाम् आस्थानम् । असौ प्रभुः पद्मानाभ । परवागनुवादिनः परस्य शत्रोर्वाचं वचनमनुवादनशीलस्य (अनुवदतोऽप्येवशीलः, तस्य-परोक्षितमनुवदतः—इत्यर्थः) अस्य वृत्तस्य । कः बलु स्फुटं, दोषः । इति एवम् । अथारयत् निवारयतिस्म । वृत्तं वरणे लङ् । रूपकम् ॥१५॥ ब्रजेति । ब्रज गच्छ । व्यवहारोचितं व्यवहारस्योचितं योग्यम् । योग्यगृहासनादिकं योग्ये गृहासने आदी^५ यस्य तत् । अस्य दूतस्य । कारय विधापय । इच्छन् कारणे निजन्तात्सोद् । इति एवम् । नियुक्तं नियोगिगुह्यम् । अमिधाय निमग्नः । प्रविसर्जिताखिलः प्रविसर्जिताः प्रहिता अखिला येन स । असौ पद्मानाभः । उदतिष्ठत् उत्तिष्ठतिस्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लङ्^६ ॥१६॥ अथेति । अथ उर्या-नानन्तरम् । मन्त्रवित् मन्त्रालोचनवेदी । युवराजसमन्वितः युवराजेन समन्वितो युक्तः । वचने भाषणे । विचक्षणः प्रौढः । सः पद्मानाभः । समस्तमन्त्रिणः समस्तान् सर्वान् मन्त्रिणः सचिवान् । समं युगपत् । मन्त्रगृहे मन्त्रशालायाम् । आहूय आह्वानं कृत्वा । इति बध्यमाणप्रकारेण । वाचं वचनम् । अभ्यधात् अवबोत् ।

शिक्षा उन्हे दी जानी चाहिए, जो केवल अनुकूल व्यवहार कर सकते हैं—जो शिक्षा दी जाय, उसे मान सकते हैं ॥१५॥ अब डाह करना छोड़ो और अपने राजकुमारको साथ लिवाकर पृथिवीपालकी सभामें जाकर उस (सभा) की भूमिकी अपने बिनम्र मस्तकरूपी कमलोंसे पूजा करो, अथवा घडसे विलग हुए अपने मुण्डरूपी कमलोंसे संग्रामभूमिकी अर्चना करना ॥१५॥ दूतके इस कथनसे सारी सभा—जिसमें युवराज सुवर्णनाभ प्रमुख था—क्षुब्ध हो उठी, किन्तु राजा पद्मानाभने उसे यह समझा-बुझाकर प्रतीकार करनेसे रोक लिया कि, यह दूसरे की कही हुई बातको उसी रूपमें दूसरी बार कह रहा है, इसमें इसका क्या अपराध ? ॥१५॥ फिर एक अधिकारीको पासमें बुलाकर पद्मानाभने कहा कि जाओ व्यवहारके अनुकूल इस दूतका ठहरने और भोजन आदिका योग्य प्रबन्ध करवा दो । इसके उपरान्त सभी सभासदोंको बिदा करके वह अपने सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया ॥१६॥ इसके पश्चात् मन्त्रणाके मर्मको समझनेवाले राजा पद्मानाभने मन्त्रशालामें सभी मन्त्रियोंको आमन्त्रित करके युवराजके साथ प्रवेश किया ।

१. अ क ख ग घ म तत्समा क्षितिः । २. अ 'गृहासना' । ३. = तस्य । ४. = कुपिताम् । ५. = आदी । ६. वा नियोगहारिणम् । ७. आ लङ् । ८. = आकायं ।

वयमप्यगमाम कौशलं नयमाण यद्वयं भवद्गुणः ।

अवभासयतेऽखिलं जगद्विस्तृतं महिमा रवेरसौ ॥५८॥

परिवर्धयति स्वकौशलैः कुशलं शास्त्यवति प्रमादतः ।

जननी जनिकैव तत्फलं कुरुते नः सकलं भवन्मतिः ॥५९॥

अपि मेरुसमे समुद्रगते मम का व्याकुलता प्रयोजने ।

अभिजाप्रति यस्य सर्वतो गुरवः कार्यविधौ भवद्विधाः ॥६०॥

द्विरदानिव मद्रिधान्सदा मद्रमूढान्स्खलतः पदे पदे ।

अपथाद्विनियतयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः ॥६१॥

दुष्यान् धाणे च लुङ् ॥५७॥ वचमिति । वयमपि, नयमाणं नयस्य नीतेर्मणिं शास्त्रे । कौशलं नैपुण्यम् । अगमाम अगच्छाम । गम्लूँ गतो लुङ् । यत् यस्मात् । अयम् एष । भवद्गुणः भवद्गुणो युष्मत् आतो गुणः । दिवसः दिनम् । अखिलं निखिलम् । जगत् लोकम् । अवभासयते प्रकाशयते । समुद्रं दीप्तौ लट् । अयम् इति यत् । असौ सः । रवे सूर्यस्य । महिमा सामर्थ्यम् ॥५८॥ परिवर्धयतीति । जननी माता । स्वकौशलैः स्वस्य नैपुण्यैः । परिवर्धयति पर्वयति । वृध्ङ् वृद्धौ लट् । कुशलं श्रेयम् । शास्ति शिक्षते । शास् अनु-
शिष्टौ लट् । प्रमादतः अपायतः । अवति रक्षति । अव रक्षणादिपु लट् । प्रमादं परिहृत्य रक्षति—इत्यर्थः । भवन्मति भवता युष्माकं मतिर्बुद्धिः । जनिकै(के)व मातेव । सकलं समस्तम् । तत्फलं तत्प्रयोजनम् । न कुरुते न विवर्धयति । दुङ्ङ् करणे लट् ॥५९॥ अपीति । यस्य मम । कार्यविधौ कार्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । भवद्विधाः भवता युष्माकं विधाः सद्गताः । गुरवः गुणाद्विधाः । सर्वतः सर्वकार्ये । अभिजायति जागरणं कुर्वन्ति । मम मे । मेरुसमे महामेरुसमे । प्रयोजने कार्ये । समुद्रगतेऽपि संभवेष्वपि, आगतेऽपि वा । व्याकुलता आध्या-
नता । न कापि—इत्यर्थः ॥६०॥ द्विरदाजिति । पदे पदे चरणविक्षेपण(स्य)स्थाने स्थाने । 'वापसायाम्' इति द्विः । स्खलतः स्खलनं कुर्वतः । सदा सर्वदा । मद्रमूढान् मदेन मूढान्गान् । द्विरदानिव गजानिव । मद्रिधान् मम सदृशान् । गुरवः गुणाद्विधाः । अङ्कुशाः सुणयः, न भवेयुर्वचेत् । अपथात् दुर्मागति । क को वा । विनि-

राजा बोलनेमे बहुत चतुर था । उसने यों कहना शुरू किया—॥५७॥ हे मन्त्रिमण्डल ! हम भी जो नीति-शास्त्रके दाव-पेंच जानने लगे हैं, यह आपका प्रसाद है । दिन, पूरे ससारको प्रका-
शित करता है, यह सूर्यकी ही तो महिमा है ॥५८॥ जिस तरह जन्म देनेवाला माँ अपने पुत्रको पाल पोसकर बड़ा करती है, उसे होशियार बनानेके लिए होशियारोसे शिक्षा देती है और असावधानोसे दूर रखती है । इसी तरह आपकी बुद्धि हमको आगे बढ़ाती है, कुशलता सिख-
लाती है और प्रमादसे बचाया करती है—इस तरह माँका पूरा काम करती है ॥५९॥ प्रत्येक कार्यकी विधि बतलानेके लिए जिसके यहाँ हर काममें आप सरोखे नीतिज्ञ हमसा जागरूक रहते हैं, उसे मेरु जैसे बड़ेसे-बड़े कामके आ पड़नेपर भी व्याकुलता कैसे हो सकती है ? ॥६०॥ मदान्ध हाथियोकी भाँति पग-पगपर हमेशा गिरनेवाले (भूल करनेवाले) हम लोगोको गुरुजन

१. आ इ यद् महिमा । २. अ र्धयते । ३. अ आ इ जनिकैव । ४. आ गम । ५. आ युष्मभ्यम् ।
६. वा भातुङ् । ७. आ वृधु । ८. = शिक्षयते । ९. = विहस्तता । 'विहस्तव्याकुलो व्यग्र' इति हैमः । १०. = प्रतिपश्य ।

क्रमतेऽरिषु मत्पराक्रमो भवतामेव धिया पुरस्कृतः ।
 नहि धामघनोऽप्यसारथिर्नभसः पारमुपैति भास्करः ॥६२॥
 स्वयमेव भवद्गिराहितधृतिभिः किं न समागतैः धृतम् ।
 निजदूतमुखेन निष्ठुरं मयि यत्नेन शठेन भाषितम् ॥६३॥
 पश्यं भम शृण्वतस्तथा सहसा क्षोभमुपमज्जमनः ।
 किममन्त्रि गृहं तदीयमित्यपवादेन जनस्य धारितम् ॥६४॥
 भजते गदवध विक्रियामुदयधेव रिपुश्चिकित्सितः ।
 इति वक्रमतिः स कैतवाद्रुत'मस्मानभिहन्तुमीहते ॥६५॥
 अत पथ च दण्डवज्जितः सदुपायोस्ति न तस्य सिद्धये ।
 वदतास्ति स चेत्प्रकृष्यते मतिरासर्वविदो हि देहिनाम् ॥६६॥

वर्तयेत् निवारयेत् । उपमा ॥६१॥ क्रमते इति । भवतामेव युष्माकमेव । धिया बुद्ध्या । पुरस्कृतः अग्रे कृतः । मत्पराक्रमः मम मे पराक्रमः सामर्थ्यम् (अरिषु) शत्रुषु । क्रमते आक्रमते वर्तते वा । धामघनोऽपि धामिव किरण एव घनं यस्य सः अपि । अमारथिः सारथिरहितः । भास्करः सूर्यः । नभसः गगनस्य । पारं गमनम् । न हि उपैति नोपयाति हि । अर्धान्तरग्यासः ॥६२॥ स्वयमिति । निजदूतमुखेन निजस्य स्वस्य दूतस्य वचोहरस्य मुखेन । शठेन धूर्तेन । तेन 'पृथिवीपालेन । मयि, यत् निष्ठुरं कर्कशम् । भाषितं प्रोक्तम् । आहितधृतिभिः आहिता संतप्ताः श्रुतयः कर्णां येषां तैः । सभागतैः, भवद्गिरिः युष्माभिः । स्वयमेव न श्रुतं न आकर्णितं किम् । ६३॥ पश्यमिति । पश्यं निष्ठुरं वचनम् । शृण्वतः आकर्णयतः । मम मे । तदा तत्समये । सहसा क्षीघ्रम् । क्षोभं संबलम् । उपमज्जत् उपगच्छत् । मनः चित्तम् । तदीयं पद्मनाभसंबन्धिः । गृहं मन्दिरम् । अमन्त्रि मन्त्रिरहितं किम् । इति जनस्य लोकस्य । अपवादेन निन्दया । धारितं निवारितम् । मनो धारितम्—इत्यभिप्रायः ॥६४॥ भजते इति । गदवत् व्याधिरिव । उदयस्ये[न्नि]व अम्युदयं प्राप्नुवन् एव । चिकित्सितः प्रतिकारं धितः । रिपुः शत्रुः । विक्रियां विपरीतक्रियाम् । न भजते नाश्रयते । इति एवम् । वक्रमति' शत्रु(ता)रहितबुद्धिः । स 'पृथिवीपालः । कैतवात् गजव्याजात् कपटाद्वा । द्रुतं क्षीघ्रम् । अस्मान्, अभिहन्तु मारयितुम् । ईहते प्रवर्तते । उपमा ॥६५॥ अत इति । अत एव एतस्मात्कारणदेव । तस्य 'पृथिवीपालस्य । सिद्धये अयाय । दण्डवज्जितः दण्डोपायेन वजितो रहितः । सदुपायः प्रशस्तोपायः ।

(आप लोग) अंकुश न बने रहते, तो उन्मार्गसे कौन बचाता ? ॥६१॥ आप ही सबकी बुद्धि-का सहयोग पाकर हमारा पराक्रम आगे बढ़कर शत्रुओंके छक्के छुड़ा देता है । सूर्य अत्यन्त तेजस्वी होकर भी सारथीके बिना आकाशका पार नहीं पाता ॥६२॥ उस धूर्त पृथिवीपालने दूतके मुखसे निष्ठुरता-भरी जो बातें मुझसे कहीं, उन्हें आप सबने—जो सभामें बैठे हुए थे—क्या स्वयं कान लगाकर नहीं सुना ? ॥६३॥ उसको निष्ठुरताभरी बातें सुनकर मेरा मन उसी समय सहसा क्षुब्ध हो उठा, पर मैंने अपने क्षुब्ध मनको यह सोचकर शान्त कर लिया, कि यदि दूतको मार डाला तो जगत्में यह अपवाद फैल जायेगा कि पद्मनाभके घरमें कोई समझदार सलाहकार नहीं रहा ॥६४॥ 'रोगकी तरह शत्रुका भी यदि प्रारम्भमे ही प्रतीकार कर दिया जाये तो वह शान्त हो जाता है' यह सोचकर पृथिवीपाल—जिसकी बुद्धिमे कूट-कूटकर कपट भरा हुआ है—हाथीका बहाना बनाकर हमें मारना चाहता है ॥६५॥ अतएव मेरे खयालसे उसे जीतनेके लिए दण्डके सिवा और कोई अच्छा उपाय नहीं है । यदि है तो आपलोग बत-

१. आ इ ध्रुवमस्मानभि' । २. म 'पायोऽस्मि । ३. म 'तास्मि । ४. श पृथ्वी' । ५. आ चञ्चलम् । ६. = कुटिल-बुद्धिः । ७. श पृथ्वी' । ८. श पृथ्वी' ।

अभिधाय गिरं ससौष्ठवामिति^१ तूष्णीं नृपतावबस्थिते ।
 म्यगदीदिति नीतिमद्वयः पुरुभूतिः पुरुभूतिकारणम्^२ ॥६७॥
 अभवाम भवत्प्रसादतो वयमृद्धं मतेष्व भाजनम् ।
 अतएव भुवि त्वमेव नो गुरुरीशः सुहृदेकबान्धवः ॥६८॥
 तव कार्यविदोऽभिजलिपतुं^३ पुरतो दृष्टपरम्परस्य च ।
 नयशास्त्रलवैकलितघीः परिजिह्वेति कथं न मादृशः ॥६९॥
 नहि कार्यविपश्चितः^४ पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः ।
 सकलं पुरुषस्य लक्षणं ननु संविन्धमलक्ष्यवेदिनः^५ ॥७०॥

नास्ति न विद्यते । दण्डसाध्यः—इत्यर्थः । सः दण्डोपायं विनाऽयोग्यः^१ । अस्ति चेत् वर्तते चेत् । वद हत । वद व्यक्तताया बाबि लोट् । आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम् । देहिनां जीवानाम् । मतिः बुद्धिः । प्रकृत्यते हि अतिशयते हि । रूप बिलेखने कर्मणि लट् ॥६६॥ अभिधावेति । इति एवम् । ससौष्ठवा शोमायुक्ताम् । गिरं बाणीम् । अभिधाय निगद्य । नृपतो भूपतो । तूष्णीं जोषम् । अवस्थिते सति स्थिते सति^२ । पुरुभूतिः^३ । 'पुरुभूतिनामधेयो मन्त्री । पुरुभूतिकारणं पुरोमहत्वाः भूतेः ऐश्वर्यस्य कारण निमित्तम्'^४ । नीतिमद्वयः नीतिमद् नीतियुक्तं वचो वचनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । म्यगदीत् अवीचत् । गद व्यक्तताया बाबि लुङ्^५ ॥६७॥ अभवामेति । भवत्प्रसादतः भवता युष्माकं प्रसादतः कारणत्वात् । वयम्, कृद्धेः च ऐश्वर्यस्य च । मतेः च बुद्धेश्च । भाजनं पात्रम् । अभवाम अभूम्^६ । भू सत्तायां लुङ् । अत एव एतस्मादेव । भुवि भूमौ । त्वमेव भवानेव । नः अस्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना अस्मदः पष्ठो बहुवचनस्य नसादेशः । गुरु उपाध्यायः । ईशः प्रभुः । सुहृत् मित्रम् । एकबान्धवः मुख्यबन्धुः । भवति—इत्यध्याहारः ॥६८॥ तवेति । कार्यविदः प्रयोजनवेदिनः । दृष्टपरम्परस्य दृष्टा परम्परा पूर्वक्रमो यस्य^७ तस्य । तव भवत । पुरतः पुरस्तात् । अभिजलिपतुम् अभिमुखं वक्तुम् । नयशास्त्रलवैकलितघीः नयस्य नीतेः शास्त्रस्य लवैकेन लेश-मात्रेण लिप्ता गविता जीर्णुदियंस्य सः । मादृशः मम समानः । कथं^८ केन । न परिजिह्वेति लज्जितो न भवति, किन्तु जिह्वेस्थेव ॥६९॥ नेति । कार्यविपश्चितः कार्यस्य^९ प्रयोजनस्य विपश्चितः वेदिनः । पुरः अग्रे । निगदन् कुबन् । शास्त्रपण्डितः शास्त्रे नीत्यादिशास्त्रे पण्डितः निपुणः । [नहि] राजति [न]

लाहये; क्योंकि सबको बुद्धि एक-सो नहीं होती, निगोदिया जीवसे लेकर सर्वज्ञ तक समस्त प्राणियोंकी बुद्धिमें तारतम्य देखा जाता है ॥६६॥ इस तरह (५८ वें श्लोकसे ६६ वें श्लोक तक) सुन्दर शब्दोंमें अपना वक्तव्य देकर राजा पद्मनाभ चुप हो गया । फिर पुरुभूति नामके मन्त्रीने वैभवको उत्पन्न करनेवाले नीतिसे युक्त वचन कहे—॥६७॥ राजन् ! आपके प्रसादसे हम सब ऋद्धि और बुद्धिके पात्र बने हैं । अतएव इस भूतलपर आप हम सभीके गुरु, स्वामी, मित्र और एकमात्र वन्द्य हैं ॥६८॥ राजन् ! आप समस्त कार्योंके जानकार हैं और सारी परम्पराओंको देख चुके हैं । अतएव नीतिशास्त्रके बहुत थोड़े ज्ञानका भी गर्व करनेवाला मुझ सरीखा व्यक्ति आपके सामने लज्जित क्यों नहीं होगा ? ॥६९॥ कार्योंके अनुभवों विद्वान्के सामने बोलनेवाला कोरा शास्त्रका पण्डित, जिसे कार्यका अनुभव नहीं है, केवल शास्त्रकी पक्तियाँ आती है, शोभा नहीं पाता है । लक्ष्यको न जाननेवाले पुरुषका सारा शास्त्र निरवय्य हो

१. स स सौष्ठवां । २. अ पुरुभूतिः, पुरुभूतिकारणम् । ३. अ इ 'पि जलिपतुं । ४. आ इ 'विपश्चित्तुः । ५. म 'लसवेदिनः । ६. श मित्रोपायः । ७. श लोट् । ८. श 'स्थिते सति' इति नास्ति । ९. श पुरुभूतिः । १०. श मरुभूतिः । ११. श 'निमित्तम्' इति नास्ति । १२. आ लङ् । १३. आ 'अभूम्' इति नास्ति । १४. = येन । १५. = केन प्रकारेण । १६. = कृतव्यस्य ।

अधिकारपदे स्थितैस्तथाप्यनुशिष्यः प्रभुरात्मशक्तिः ।
 सुपराशिकणक्रमाद्भवेदपि बालाद्विरलं सुभाषितम् ॥७१॥
 पुरुषेण जिगीषुणा सदाप्यवलम्ब्यो नयविक्रमद्रुमौ ।
 नहि तावपहाय विद्यते फलसिद्धेरपरं निबन्धनम् ॥७२॥
 नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः ।
 प्रविदारितमत्तकुञ्जरः शबरेणापि निह्न्यते हरिः ॥७३॥
 बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम् ।
 मदमन्थरमप्युपायतो ननु बध्नन्ति गजं वनेचराः ॥७४॥

विभाति । राज्ञ् दोषो लट् । अवलम्ब्येति । अवलम्ब्य वेत्तीत्येवंशोऽलक्ष्यवेत्ती तस्य—लक्ष्यपरिज्ञानरहित-
 यस्य । पुरुषस्य नरस्य । सकलं समस्तम् । संबिम्बं संदेहयुक्तम्^१ । ननु^२ निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥
 अधिकारेति । तथापि, अधिकारपदस्थिते, अधिकारे श्रेष्ठे पदे स्थाने स्थितैर्नियोजितैः । आत्मशक्तितः आत्मनो
 स्वेषा शक्तितः नामधेयत् । प्रभुः स्वामी । अनुशिष्यः^३ शिषितुं योग्यः । सुपराशिकणक्रमात् सुपाणा वाग्य-
 त्वात् राक्षो पुञ्जे स्थिततनुलक्षणस्य क्रमात् न्यायात् । बालात् अज्ञानिनः सकाशादपि । सुभाषितं प्रशस्त-
 वचनं महता पुर स्वल्प भवति—इत्यर्थः । भवेत् । लिट् । अर्थान्तरन्यासः ॥७१॥ पुरुषेणेति । जिगीषुणा
 जेतुमिच्छता । पुरुषेण राजपुरुषेण^४ । नयविक्रमद्रुमौ नयो नीतिविक्रमः पराक्रमः, नमश्च विक्रमश्च तयोश्चो,
 नयविक्रमावेव द्रुमौ वृक्षौ । रूपकम् । सदापि सर्वकालेऽपि । अवलम्ब्यो अवलम्बयितुं योग्यो । तौ नय-
 विक्रमद्रुमौ । अपहाय विमुच्य । फलसिद्धेः कार्यसिद्धेः, पक्षसिद्धेः^५—इति ध्वनिः । अपरम् अन्यत् । निबन्धनं
 कारणम् । नहि नास्ति हि । वृक्षमपहाय फलसिद्धिर्नास्ति—इत्युचितलेशः । अर्थान्तरन्यासः ॥७२॥ नयेति ।
 नयविक्रमयोः नीतिविक्रमयोर्मध्ये । नयः नीतिपुणः । बली बलवान् । नयहीनस्य नयगुणरहितस्य । पराक्रमः
 विक्रमः । वृथा निष्फलं (लां) भवति । प्रविदारितमत्तकुञ्जरः प्रविदारिता विदलिता मत्तकुञ्जरा मत्तमत्तकुञ्जा
 येन स । हरिः सिंहः । शबरेणापि व्याधेनापि । निह्न्यते निह्न्यते । हन हिंसागत्यो कर्मणि लट् । नयहीनस्य
 वेदल—पराक्रमश्च^६ कार्यसिद्धिर्न भवति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥७३॥ बलवानिति । बलवानपि
 पराक्रमवानपि । रिपुः शत्रुः । नीतिवर्तिना नीतो वर्तिना विद्यमानानाम् । सुखसाध्यः^७ सुखेन सुलभेन साध्यः
 जायते उत्पद्यते । खलु स्फुटम् । मदमन्थरमपि मदेन मन्थरो मदगर्भात्, तमपि । गजं करिणम् । वनेचराः

सन्देहसे भरा रहता है । लक्ष्यको जानने पर हीलक्षणका ज्ञान सन्देहमुक्त होता है ।
 उदाहरण न जाननेवाले वैयाकरणका व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान भ्रमसे भरा हुआ रहता
 है ॥७०॥ तो भी उच्च पदोंपर नियुक्त अधिकारियोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार
 राजाको शिक्षा दी ही जानी चाहिए । जिस प्रकार खोजनेपर भूसेकी ढेरीमे चावलके कुछ
 कण मिल जाते हैं, इसी तरह बालक अथवा अल्पज्ञानीमे भी कभी-कभी थोड़ी-सी अच्छी
 बात सुननेको मिल जाती है ॥७१॥ विजयके अभिलाषी पुरुषको हमेशा नय-नीति और
 पराक्रमके वृक्षोंका आश्रय लेते रहना चाहिएः क्योंकि इन दोनोंको छोड देनेपर फल (कार्य) की
 सिद्धिका और कोई साधन नहीं है ॥७२॥ नय और विक्रम इन दोनोंमे नय बलवान् है । नय-
 हीनका पराक्रम निष्फल होता है । जो पराक्रमी (नीतिमान् नहीं) सिंह मदमाते हाथियोंको
 चौर डालता है, वह एक गिकारीके द्वारा भी मारा जाता है ॥७३॥ बलवान्मे-बलवान् भी
 पराक्रमी शत्रु नीति मार्गपर चलनेवालोंके लिए आसानीसे जीतने योग्य होता है । भील या

१. अ आ इ "पदस्थि" । २. बा "हप्राप्तम्" । ३. = निश्चयेन । ४. आ "शिष्यः" । ५. आ
 'राजपुरुषेण' इति नास्ति । ६. बा फलसिद्धिः कार्यसिद्धिः पक्षसिद्धिः । ७. = अनायाससाध्यः ।

नयमार्गममुच्चतः स्वयं विघटेतापि यदि प्रयोजनम् ।

पुरुषस्य न तत्र दूषणं स समस्तोऽपि विधेः परामर्शः ॥७४॥

नयशास्त्रनिर्देशितेन यः सततं संचरते न वर्त्मना ।

शिशुवत्स कुशुक्षिरुलमुकं स्वयमाकर्षति कृच्छ्रमात्मनः ॥७६॥

स्वमतः प्रथमो विवेकिनां सहसा दण्डमरौ प्रयुङ्क्ष्व मा ।

स हि शाश्वयति साममात्रतः पृथिवीपालनृपोऽभिमानवान् ॥७७॥

अभिमानधनो हि विक्रियां व्रजति प्रत्युत दण्डदर्शनैः ।

प्रशमं न तु याति जातुचित्परिनिर्वीति किममिरग्निना ॥७८॥

शब्दराः । उपायतः उपायात् । बन्धन्ति बन्धनं कुर्वन्ति । ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७४॥ नयेति । नयमार्गं नीतिशास्त्रम् । अमुच्चतः अत्युच्चतः पुरुषस्य । यदि प्रयोजनं कार्यम् । स्वयं विघटेत^१ अपि वियोजयेत् । घटि^२ वेष्टाय^३ लिङ् । तत्र कार्याभावे । पुरुषस्य नःस्य । दूषण^४ निन्दा । न न भवति । सः समस्तोऽपि सकलोऽपि । विधेः पापकर्मणः । परामर्शः तिरस्कारः । नयशास्त्रमार्गेण विहितकार्यस्य विघ्ने कर्मणोऽपराधो न तु पुरुषस्य—इत्यभिप्रायः । 'स देवस्यापराधो न मन्त्रिणा यत्सुघटितमपि कार्यं न घटते' इति नीतिवाक्यामृते ॥७५॥ नयेति । यः पुरुषः । नयशास्त्रनिर्देशितेन नयशास्त्रेण नीतिशास्त्रेण दर्शितेन^५ दृष्टान्तबिहितेन । वर्त्मना मार्गेण । सततम् अनवरतम् । न संचरते न प्रवर्तते । कुबुद्धिः कुस्मितबुद्धियुक्ता । सः पुरुषः । आत्मनः स्वस्य । कृच्छ्रं^६ वृष्टम् । सस्मृष्टम् अलातम् । शिशुवत् बालकवत् । स्वयम्, आप^७ पति आकर्षणं करोति । उपमा (निदर्शनालङ्कारः) ॥७६॥ स्वमिति । अतः कारणात् । विवेकिना सम्यग्ज्ञानिनाम् । प्रथमः मुख्यः । एवं भवान् । सहसा क्षीघ्रम् । अरौ शत्रौ । दण्डं दण्डोपायम् । मा प्रयुङ्क्ष्व मा प्रयोजस्व । युज्ज^८ योने । अभिमानवान्^९ अभिमानयुक्तः । स हि 'पृथिवीपालनृप' 'पृथिवीपालभूषति'^{१०} । प्रियपूर्वं वच^{११} (?) । साममात्रतः सामोपायमात्रादेव । ज्ञाम्पति उपसमं प्राप्नोति । शमं दम् उपशमने ॥७७॥ अभिमानेति । प्रत्युत न चेत् —साधुवचो न प्रयुक्तं चेद्—इत्यर्थः । अभिमानधनः अभिमान एव धनं यस्य सः । दण्डदर्शनैः दण्डप्रयोगैः । विक्रिया विकारम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतो लट् । प्रशमं उपशमम् । न तु याति न गच्छति । जातुचित् सकृदपि । अग्निः बह्निः । अग्निना बह्निना । परिनिर्वीति किं नश्यति

शिकारी लोग अपने उपायसे मदमाते हाथीको भी बाँध लेते हैं ॥७४॥ नीति मार्गको न छोड़ने-वाले पुरुषका यदि कोई काम बिगड़ भी जाये तो उसमे उस पुरुषका कोई दोष नहीं । वह तो सारा-का-मार्ग विधिका विधान है, जो उस पुरुषका विनाश करनेवाला है । 'विधि-विधान कभी-टलता नहीं' ॥७५॥ जो पुरुष सदा नीतिशास्त्रके द्वारा दिखलाये गये मार्गमे नहीं चलता, वह दुर्बुद्धि छोटे बच्चेकी तरह स्वयं ही काष्ठको जलतो हुई लकड़ीको अपनी ओर खींचने लगता है । जिस प्रकार अबोध शिशु जलतो लकड़ीका खींचकर दुःख उठाता है, उसी प्रकार नीतिसे न चलनेवाला पुरुष भी अपने-आप संकटमे डालनेवाले कामको हाथमे ले लेता है ॥७६॥ राजन् ! आप विवेकी पुरुषोंमें प्रमुख है, अतः शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नहीं कीजिये । राजा पृथिवीपाल बड़ा अभिमानी है । फलतः वह केवल प्रिय वचनोसे शान्त हो जायेगा । यदि गुड़ देनेसे काम बन जाये तो ईंट मारनेकी क्या आवश्यकता ॥७७॥ अभिमानो पुरुष दण्ड दिखलाने-से दण्डनीतिका प्रयोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकता, उल्टा भड़क ही उठता है । क्या

१. क ख ग घ ननु मार्ग । २. = विनश्येत् । ३. आ घट । ४ = दोष । ५. = उपदिष्टेन । ६. आ युजिर् । ७. श 'अभिमानवान्' इति नास्ति । ८. श पृथो । ९. श पृथो । १०. आ नृपतिः ।

प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमानय भेदादि युक्तं सिद्धये ।

गुरुदण्डनिपीडना रिपोरियमस्या हि विवेकिनां क्रिया ॥७६॥

प्रभु दोषशतं प्रमाजितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं वचः ।

पयसैव जनस्य वल्लभा ननु वज्रादिमुखः पयोमुखः ॥८०॥

धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।

अयशः कपटोति भेदतो बहुमद्रं न हि सामतः परम् ॥८१॥

प्रणिगद्य नयान्वितं वचः पुरुभूताविति मौनमास्थिते ।

युवराज्य पौरुषाश्रयामिति सास्यमुदाहरदिगरम् ॥८२॥

किम् । बा गतिमन्वयोलट् । अशान्तिरन्वयासः । ७८॥ प्रथममिति । बुद्धिमान् धीमान् । रिपो शत्रोः । सिद्धये^१ कार्यसिद्धये । प्रथमं पूर्वम् । द्विषि शत्रौ । साम सामोपायम् । युनक्ति प्रयोजयति । अथ पश्चात् । भेदादि अयमित्तं भेदाद्युपायः प्रयोजनस्यः । इयम् एषा । गुरुदण्डपीडना गुरुणा महता दण्डेन पीडना बाधना । विवेकिना सम्यग्ज्ञानिनाम् । अन्या अवसानवतिनो । क्रिया^२ हि विधेया हि ॥७९॥ अभिविनि । पुरुषस्य नरस्य । एकमपि, प्रिय प्रीतिभूतम् । वचः वचनम् । दोषशतं दोषाणामपराधानां शतमङ्कम् । प्रमाजितुं निवारयितुम् । प्रभु समर्थम् । ^३ वज्रादिमुख वज्रादीन् मुञ्चन्तीति^४ त्रितयोक्ता । पयोमुखः मेघा । पय-मैव जलेनैव । जनस्य लोकस्य । वल्लभा प्रीतिकरा ननु ॥८०॥ धनहानिरिति । उपप्रदानतः दानोपायान् धनहानिं द्रव्यनाश । दण्डतः दण्डोपायात् । नियमेन निश्चयेन । बलहानिः चतुरङ्गबलहानिः । भेदतः भेदोपायात् । कपटो—इति कपटयुक्त इति । अयशः अपकीर्तिः । सामतः सामोपायतः । परम् अन्यत् । बहुमद्रं प्रभुमङ्गलम्पम् । न हि नास्ति हि ॥८१॥ प्रणिगद्येति । पुरुभूतो पुरुभूतनामधेयमन्त्रिणि । इति वचनप्रकारेण । नयान्वितं नीतियुक्तम् । वचः वचनम् । प्रणिगद्य उक्त्वा । मौनं तूष्णीम् । आस्थिते आसिते सति । अथ^५ पुरुभूतप्रोक्तानन्तरम् । युवराट् सुवर्णनामकुमारः । पौरुषाश्रया पराक्रमयुक्ताम् । गिरं बाणीम् । नासूय^६ दोषरहित (सासूयम् असूयासहितं) यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । उदाहरत् अवोक्त ।

अग्निं अग्निसे वृक्ष सकतो हे ? । ७८॥ बुद्धिमान् राजा अपनी सिद्धिके लिए शत्रुके साथ पहले साम-मधुर वचनोका प्रयोग करता है, मुलह करता है । यदि सामसे सफलता न मिले तो भेदका प्रयोग करता है—शत्रुके पक्षके लोगोंमें फूट डालता है अथवा उसे दान देता है । साम, भेद और दान इन तीनों ही उपायोंसे जब सफलताकी आशा न हो, तब दण्ड नीतिका प्रयोग करता है । दण्डसे शत्रुको पोछा देना—उसपर चढ़ाई कर देना, यह विवेकियोका अन्तिम उपाय है ॥७९॥ मनुष्यका केवल एक ही प्रिय वचन सैकड़ों दांषाका निवारण करनेमें समर्थ होता है । केवल जल बरसानेके कारण ही मेघ—जो बज्र आदि भी गिरा देते हैं—लंगोको प्यारे हाते है ॥८०॥ दानसे धनकी हानि हातो है, दण्डसे निश्चय ही सेनाका विनाश हाता है और भेदसे 'यह कपटो है' इस प्रकारका अपयश फैलता है । अतएव सामसे बढ़कर और कोई अत्यधिक मंगलकारी उपाय नहीं है—दान, दण्ड और भेद इन तीन उपायोंसे हानि ही होती है और सामसे लाभ ही होता है, अतः सामसे उत्कृष्ट मंगलकारी कोई उपाय नहीं है ॥८१॥ इस प्रकार नीतिमय वचन मुनाकर—वक्तव्य देकर पुरुभूति मन्त्री चुप हो गया । इसके उपरान्त युवराज सुवर्णनाम पराक्रमकी भावनासे भरे हुए—जोशिले और असूयासे भरे हुए शब्दोंमें यों बोला—

१. = वशीकरणाय । २. = द्विषिः । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ४. = पुरुभूतिनिगद-मानन्तरम् । ५. एष टीकाश्रयः पाठो मूलप्रतिपु तु सर्वासु 'बासूयं' इत्येव समुपलभ्यते ।

पठितव्यमिहाम्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा ।
 नहि पृष्ठभरे नियुज्यते^१ हलसंभावितयोग्यतः पशुः ॥८३॥
 अनिरूपितकृत्यानाया ह्रियते कः खलु कूर्चशोभया ।
 ननु बीजपदे व्यवस्थितं फलमन्यः पद्माक्ष्यडम्बरः ॥८४॥
 परवृद्धिनिबद्धमत्सरं विफलद्वेषिणि साम कीदृशम् ।
 सुतरां स भवेत्स्वरः प्रियेरविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः ॥८५॥

हृञ् हरणे लङ् ॥८२॥ पठितव्यमिति । इह कार्ये । पठितव्यं वक्तव्यम् । अन्यथा अन्येन प्रकारेण स्थितम् ।
 करणीयप्रतिपत्तिः करणीयस्य कार्यस्य प्रतिपत्तिः परिज्ञानम्^२ । अन्यथा अन्यप्रकारेण । हलसंभावितयोग्यतः
 हले लाङ्गले संभावित्वा संस्कृता योग्यता यस्य सः । पशुः अनड्वान् । पृष्ठभरे पृष्ठभारे^३ । न नियुज्यते हि
 न संबध्यते हि । युज्ज् योने कर्मणि लट् । अघ्नितिरन्याम । ॥८३॥ अनिरूपितेति । अनिरूपितकृत्याना
 अनिरूपितमभावितं कृत्य कार्यं यथा तथा । कूर्चशोभया कूर्चं इव शौरविकार इव (?) शोभया मनोहर-
 त्वयुक्तया-मुदुना च—इत्यर्थः । अनया एतया, वाचा । क को वा । खलु स्फुटम् । आह्रियते^४ उवाह्यते ।
 हृञ् हरणे कर्मणि लट् । फलं निष्पत्तिः । बीजपदे बीजस्य कारणस्य पदे^५ शब्दे । व्यवस्थितम् आश्रितम् ।
 अन्यः कलाभावः पद्माक्ष्यडम्बर, पदानां तिङन्तसुबन्तरूपाणां वाक्यानां पदसमुदागानामाडम्बर सभ्रमः ।
 ननु निश्चयम् । अघ्नितिरन्यासः ॥८४॥ परवृद्धीति । परवृद्धिनिबद्धमत्सरं परेणामन्येया वृद्धो मत्सरो निश्चयः ।
 कृतो मत्सर इष्या येन तस्मिन् । विफलद्वेषिणि विफलं वृथा^६ द्वेषिणि द्वेषयुक्ते । साम सामायाय । कीदृश
 किमिव दृश्यत इति तथोक्तम् । स पृथिवीपालः^७ । प्रिये^८ इष्टवचनं । सुतरां भृशम् । स्वर क्रूरः । भवेन्
 स्यात् । लिङ्^९ । दुर्जनः दुष्टजनः । [अविभाव्यप्रकृतिः] अविभाव्या विभावितुमयोग्या प्रकृतिर्यस्य न ।
 तथा हि (?) विपरीतस्वरूपयुक्तः—इत्यर्थः । 'सता हि प्रह्वता शान्त्ये खलानां दपकारणम् ।' इति यावत् ।

॥८२॥ प्रस्तुत विषयमें पद लेना और बात है, तथा कर्तव्यका निश्चय करना कुछ और ।
 राजनैतिक पोथा पद लेने या पदकर सुना देनेमें कर्तव्यका निश्चय नहीं होता । इसके लिए
 अनुभव चाहिए । हल खींचनेकी योग्यता रखनेवाला बेल लादने या मवारिके बाममें नहीं लगाया
 जा सकता ॥८३॥ कर्तव्यका निश्चय न करनेवाली कोरी दाढ़ी और मूछवो शोभामें कान
 आकृष्ट हो सकता है ? कोई भी वक्ता—जिसकी दाढ़ी खूब लम्बी है, व्यक्तित्व प्रभावक है और
 जो खूब डींग मारता है—प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डाले बिना श्रोताओपर प्रभाव नहीं डाल
 सकता । फल निश्चय ही अपने बीजसे ही उत्पन्न होता है, फिर भी यदि बीजके बिना भी फल
 उत्पन्न होनेको बात कही जाये तो वह कोरा वापाडम्बर है—बकवास है । कार्य अपने कारणसे
 उत्पन्न होता है, बिना कारणके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करना, बकवास नहीं तो और
 क्या है ? ॥८४॥ दूसरीकी वृद्धि देखकर डाह करनेवाले और व्यर्थ ही द्वेष करनेवालेके साथ
 साम कैसा ? प्रिय वचन कहनेसे—सामका प्रयोग करनेसे वह पृथिवीपाल और भी भड़क
 उठेगा । दुर्जनकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होनी है, वह नञ् व्यवहारसे शान्त नहीं किया जा सकता—

१. 'भरेण युज्यते । २. भा परिज्ञा । ३. श 'पृष्ठभारे' इति नास्ति, आ पृष्ठभारे पृष्ठभरे ।
 ४. = आह्रियते । ५. = स्थाने । ६. श 'वृथा' इति नास्ति । ७. भा वृद्धिपालः, श पृथ्वीपालः ।
 ८. = मिष्टवचनः । ९. श लट् ।

विषये खलु संनियोजितः सद्दुपायः फलवाच्य बान्धव्यथा ।
 नहि वज्रधरायुधोचिते क्रमते प्रावणि औहमायुधम् ॥८६॥
 मदमाजि परापमाननाप्रवणे^१ दण्डमुशन्ति सूरयः ।
 उपयाति सुखेन^२ वश्यतां किमनडधानपनाथनासिकः ॥८७॥
 पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परैर्याधदसौ विगाह्यते^३ ।
 तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्तृणराशौ निपतत्यसंशयम् ॥८८॥
 शिवहेतुरुदाहना क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम् ।
 बहुना ननु विप्रकृष्यते पदवी संस्मृतिमुक्तिधर्मिणोः ॥८९॥

अर्थात्तरन्यासः ॥८५॥ विषय इति । विषये योग्ये । संनियोजितः प्रयोजितः । समुदायः सामोपायः^४ । फलवान् सफलः । खलु । अन्यथा अन्येन प्रकारेण, अविषये इत्यर्थः । न च—प्रयुक्तोपायः फलवान् न भवतीत्यर्थः । वज्रधरायुधोचिते वज्रधरस्य देवेष्टस्य आयुधस्य वज्रस्य उचिते योग्ये, वज्रेण भेत्तु योग्ये इत्यर्थः । प्रावणि^५ पर्वते । 'प्रावाणो वीलवाघाणो'^६ इत्यमरः । औहं^७ लोद्धनिमित्तम् । आयुधं प्रहरणम् । न क्रमते हि समर्थं न भवति हि । अवन्तिरन्यासः ॥८६॥ मदमाजोति । मदमाजि गर्वयुक्ते । परापमाननाप्रवणे परेपामपमाननार्थमुदासीनकरणे प्रवणे समर्थे । सूरयः नीतिविदः । दण्डं दण्डोपायम् । उशन्ति वदन्ति । वशं कान्ती लट् । अनयायना^८ सक^९ अनाया अस्त्रिता नामिका घोणा यस्य सः । अनड्वान् सौरभेयः । सुखेन अनायासेन^{१०} । वश्यताम् अधीनताम् । उपयाति प्राप्नोति किम् ? नोपयातीत्यर्थः । अर्थात्तरन्यासः ॥८७॥ पुरुष इति । पुरुषः नरः । परं. अन्यपुरुषं । यावत् यावत् पर्यन्तम् । न विगाह्यते^{११} नापहीयते^{१२} । गाहोङ्^{१३} विलोडने कर्मणि लट् । असौ पुरुषः । (तावत्) तपनीयवत् सुवर्णवत् । गुरुः^{१४} भारभूतो भवति । अन्यैः साकं यावत् पर्यन्तं नोपमितस्तावत्पर्यन्तं तुलारापणरहितसुवर्णवत् गुरुगुणयुक्तो भवतीत्यर्थः । तुलितश्चेत् उप-मितश्चेत् । स एव पुरुषस्तु । तत्क्षणात् स्वल्पकालादेव । तृणराशौ तृणानां राशौ पुञ्जे । असंशयं निस्संदेहम् । निपतति लघुत्व प्राप्नोतीत्यर्थः । उपमा आलोपश्च ॥८८॥ शिवहेतुरिति । व्रतिनामेव तपस्विनामेव । क्षमा उत्तमक्षमा । शिवहेतुः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः कारणमिति । उदाहृता निगदिता । मेदिनीभुजा भूवती-नाम् । न नोदाहृता । समृतिमुक्तिधर्मिणोः समृते. समारस्य मुक्तेर्मोक्षस्य धर्मिणो. धर्मयुक्तायोः । पदवी 'सना हि प्रवृत्ता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम्' ॥८५॥ साम उपाय तभी सफल होता है, जब उसका प्रयोग उमके योग्य पुरुषके साथ किया जाता है, अन्यथा नहीं—अयोग्य पुरुषके साथ सामका प्रयोग सफल नहीं होता । वज्रसे तोड़ने योग्य पहाड़पर लोहेका हथियार या औजार काम नहीं दे सकता ॥८६॥ अहंकारी और दूसरोंको अपमानित करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुषके साथ दण्डका प्रयोग करना चाहिए, यह राजनीतिज्ञ विद्वान् कहते हैं । बिना नथा बेल क्या सुखसे वशमें किया जा सकता है ? बेलकी नाकमें रस्सी पिरो दी जाती है तभी वह वशमें आता है ॥८७॥ जबतक दूसरोंके द्वारा विरोधीकी तहका पता नहीं लगा लिया जाता—थाह नहीं ली जाती तब तक वह सोनेकी तरह भारो जान पड़ता है । किन्तु बादमें तौलनेपर वही विरोधी तत्काल निश्चय ही तृण पुजमें जा गिरता है—बिलकुल हलका हो जाता है ॥८८॥ क्षमा कल्याण या मुक्तिका कारण बतलाई गयी है, किन्तु किनकी क्षमा ? व्रतियों की, न कि राजाओंकी । संसार और मुक्तिके पथिकोंका मार्ग बिलकुल अलग-अलग है—एकके मार्गसे

१. अ. मानतां । २. अ. सुखेन । ३. क. ख. ग. घ. स. निगृह्यते । ४. श. सामोपायः । ५. आ. प्राणि । ६. आ. 'लपर्वतो' । ७. आ. 'औहं' इत्यस्य स्थाने 'पताह' इत्युपलभ्यते । ८. = तिरस्करणे । ९. आ. निरायासेन । १०. = नाक्रम्यते । ११. आ. नोपहीयते । १२. आ. ग्राह । १३. = गौरवाच्चिदः ।

अभिवाञ्छति पादसङ्क्रमण्यञ्जितः कर्तुमतिगमदीक्षितेः ।
 तपनं न दृशापि धीक्षितुं महिमा नम्यञ्जितः स तेजसः^१ ॥६०॥
 कृपणस्य परानुवर्तनैः सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।
 अनुनीय परं निजोचितैर्ललनैर्जीवितं किं न मण्डलः ॥९१॥
 अनुगच्छति यः शठं प्रियैः प्रविहायोचितमात्मसौष्ठवम् ।
 स निजां विवृणोत्यसारतामपवृष्टिनिनदभिवाञ्छुदः ॥९२॥
 मृत एव विलीन एव वा वरमप्राप्तभवः पुरैव च ।
 न पुमान्परिभूतिजीवितः सहते कः खलु मानखण्डनम्^२ ॥९३॥

मार्गः । [बहुना] विप्रकृत्यते दूरीक्रियते । कृषी^३ विच्छेदने कर्मणि लट् । ननु निश्चयम् ॥८९॥ अभिवाञ्छ-
 तीति । अतिगमोद्यते. चन्द्रस्य । पादसर्गं पादस्य किरणस्य पादेन गगम् इति दृश्यते^४ । अखिलोऽपि
 सकलोऽपि । कर्तुं विधानुम् । वाञ्छति इच्छति । वाछ इच्छाया लट् । तपनं सूर्यम् । दृशापि नेत्रेणापि ।
 वोक्षितुं द्रष्टुम् । न न वाञ्छति । स. अञ्जितः सकलः । तेजसः प्रनाप्तव्य । महिमा^५ सामर्थ्यम् । ननु निश्चयः^६
 (निश्चयेन) । अर्थात्तरन्यासः ॥९०॥ कृपणस्येति । परानुवर्तनैः परेषामप्येषामनुकूलवर्तनैरनुसारवृत्तिभिः ।
 सततार्तस्य सततमनवरतमार्तस्य^७ पतितस्य कृपणस्य दीनस्य । जीवितं जीवनम् । धिगस्तु चिन्तितमस्तु ।
 मण्डलः सारमेयः । 'मण्डलो राज्ञागार' इत्यभिधानात् । निजोचितैः निजस्य स्वसौचित्यैर्घोषैः ।
 ललनैः लाङ्गूलचालनादिभ्यः^८ । परम् अन्यम् । अनुनीय संतोषयित्वा । न जीवति किं प्राणधारणं न करोति
 किम् ? किन्तु करोत्येव । अर्थात्तरन्यासः ॥९१॥ अनुगच्छतीति । य. पुरुष । उचितं योग्यम् । आत्म-
 सौष्ठवम् आत्मनः स्वरूपस्य सौष्ठवं महत्त्वम् । प्रविहाय विमुच्य । शठं दुर्जनम् । प्रियैः प्रियवचनादिभिः । अनु-
 गच्छतिः अनुकूलं याति । गम्य गतो लट् । सः पुरुषः । निनदन्^९ ध्वनन् । अपवृष्टिः अपगता रहिता वृष्टि-
 र्वर्षं यस्य सः । अम्वुद इव मेघ इव । निजा स्वकीयाम् । असारता निस्सारत्वम् । विवृणोति व्यक्ततीकरोति ।
 वृज् वरणे लट् । उपमा ॥९२॥ मृत इति । मृत एव त्यक्तप्राण एव । विलीन एव प्रच्छन्न एव । पुरैव च
 प्रागैव च । अप्राप्तभवो वा अलभ्यमनुपपन्नो वा । वरम् उत्कृष्टम् । परिभूतजीवित. परिभूतं पराभव गत
 जीवित जीवनं येन^{१०} सः । पुमान् पुरुषः । [न] वरं न भवति । मानखण्डना मानस्याभिमानस्य खण्डना

दूसरेका मार्ग दूर है । उत्तम क्षमा गृहस्थोंके लिए नहीं, साधुओंके लिए उपयोगी है ॥८६॥
 सारा संसार चन्द्रमाकी किरणोका (परोका भी) सम्पर्क चाहता है, पर सूर्यको वह अलि
 उठाकर भी नहीं देखना चाहता । यह सब तेजकी महिमा है ॥८७॥ दूसरोंको खुशामद करने-
 वाले और इसीलिए हमेशा परेशान रहनेवाले दीन-हीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है । क्या एक
 कुत्ता अपने योग्य व्यवहार—पूछ हिलाना, पीछे पीछे चलना और पैरोंमें गिगना आदि—सं
 दूसरोंको खुश करके पेट नहीं भर लेता ? ॥८८॥ जो पुरुष अपने योग्य गौरवको खोकरके खुश-
 मदसे किसी धूर्तको प्रसन्न करना चाहता है और उसके पीछे-पीछे लगा फिरता है, वह वृष्टि न
 न करके गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी असारताको प्रकट करता है ॥८९॥ पुरुषको अपमानित
 होकर जीवन बिताना उचित नहीं । अपमानित जीवनसे उमका मर जाना हो अच्छा है; मर्कि
 पेटमें विलीन हो जाना—गर्भसाव हो जाना अच्छा है अथवा गर्भमें न आना भी उत्तम है ।

१. आ इ^१ लिलस्य तेजसः । २. स^२ ललिते^३ । ३. अ ननु गच्छति । ४. अ^४ दण्डनम्, आ इ^५
 खण्डनम् । ५. आ कृप । ६. आ दृश्यते । ७. = महत्त्वम् । ८. आ 'ननु निश्चयः' इति नागलभ्यते ।
 ९. = परेषामप्येषामनुवर्तनैर्ननुवृत्तिभिः । १०. = पौष्टितस्य । ११. = अनुसरति । १२. = यस्य ।

रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलात् बाध्यते ।
 महतामत एव वल्लभा ननु वृत्तिर्मुगराजसेविता ॥९४॥
 अथवाच्छ्रुतनीति मा भवानिदमेकान्तत एव मद्ब्रह्मः ।
 अहमीश यतो ब्रवीम्ययः सकलं कालबलव्यपेक्षया ॥९५॥
 स्वयमेव न वेत्ति किं प्रभुः स यथा क्षीणबलो बलाद्बध्ने ।
 समुद्रव्यसनश्च वर्तते विगृहीतं कुलजैर्महाबलैः ॥९६॥
 अभियातुमतः प्रयुज्यते भवतो वृद्धिमतः क्षये स्थितः ।
 प्रभवेत्तल्लु भाग्यसंपदा सहितः स्थानगतोऽप्यरातिषु ॥९७॥

मञ्जनाम् । क. को वा । ललु स्फुटम् । सहते क्षमते । पटि मर्षणे लट् । अर्थांतरन्यासः ॥९३॥ रहित इति ।
 सहजेन निसर्गजेन । तेजसा प्रतापेन । रहितः विरहितः । पशुवत् बलीवर्द इव । बलं पराक्रमः (बलात्
 हठात्) । न बाध्यते न पीडयते । बाध्यते इति वा पाठः । अतएव एतस्मात् कारणादेशः । मुगराजसेविता
 मुगराजेन सिंहेन सेविता आश्रिता । वृत्तिः वर्तनम् । महतां महापुरुषाणाम् । बलभा प्रिया । ननु निश्चयम् ।
 प्रतापयुक्तप्रवृत्तिरेव न बाध्यते (बाध्यते वा) इत्यभिप्रायः । अर्थांतरन्यासः ॥९४॥ अवेति । ईश भो
 स्वामिन् । इदम् एतत् । मद्ब्रह्मः मम मे त्वो वचनम् । एकान्ततः सर्वथा । च्युतनीति च्युतानीतियेन
 (यस्य) तत् । 'कना' इति च्युतशब्दस्य पूर्वनिपातः । भवान् त्वम् । मा अवगात् मा जानोष्व । इण्
 गतो लुङ् । 'गैर्योः' इति पाठेयः । अहं यतः यस्मात् । कालबलव्यपेक्षया कालबलव्यपेक्षया आश्रयेण ।
 अदः एतत् । सकलं सर्वम् । अवोमि निगदामि । मूत्र व्यक्ताया वाचि लट् ॥९५॥ स्वयमिति । यथा येन
 प्रकारेण । स. पृथ्वीपालः । बलाद्बध्ने बलस्य बलराजस्या हवे संप्रामे । क्षीणबलः क्षीणं नष्टं बलं चतुरङ्गबलं
 यस्य सः । [महाबलैः प्रबलैः] कुलजैः दायादैः सह । महाबले महाबलराजे (?) । विगृहीते संप्रामे
 विहिते सति [विगृहीतः सन्] । समुद्रव्यसनश्च समुद्रो मित्रस्य अप्सरं विष्णुं तेन सह वर्तते इति
 तथोक्तः । वर्तते तिष्ठति । वृद्धिं वर्तने लट् । इति प्रभुः पदनाभः । स्वयमेव न वेत्ति किं न जानाति
 किम् ? ॥९६॥ अभियातुमिति । अतः एतत्कारणात् । वृद्धिमतः क्षीणवृद्धाधिक्यलक्षणवृद्धियुक्तस्य । भवतः
 तव । क्षये क्षीणस्यावे । क्षीणवृद्धादीनां क्षीयमानत्वं क्षयः । स्थितः प्रवृत्तः पृथिवीशालः । अभियातुम्

अपमानको कौन सह सकता है ? ॥९३॥ जो पुरुष तेज रहित होता है, वह पशु सरीखा हो
 जाता है । पशुको तरह उसपर कौन जबरन सवार नहीं हो जाता ? पशुकी ही भाँति उसे
 कौन नहीं बलात् जोत लेता है ? इसीलिए तो महान् पुरुषोंको सिंहवृत्ति प्यारी होती
 है ॥९४॥ राजन् ! आप मेरे कथनको सर्वथा नीति रहित नहीं समझ लीजियेगा । क्योंकि
 यह सब मैं समय और शक्तिको समझ कर कह रहा हूँ ॥९५॥ राजन् ! क्या आप
 स्वयं यह नहीं जानते कि बल नामक राजाके साथ संप्राम छिड़ जानेसे पृथिवीपालका
 सैन्यबल क्षीण हो गया है । यों पृथिवीपाल बड़ा बलवान् है, पर अपने कुलके लोगोंसे
 भी उसका संघर्ष चल रहा है, अतः उसके ऊपर मित्र-संकट भी छाया हुआ है । इस
 समय पृथिवीपालकी स्थिति क्या घर और क्या बाहर दोनों ही जगह गिरी हुई है ॥९६॥
 राजन् ! इस समय आप कोष और सैन्यकी दृष्टिसे सम्पन्न हैं और पृथिवीपाल विपन्न ।
 वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे बहुत ही गिरी हुई—क्षयकी अवस्थामें हैं, अतएव आपको

१. आ इ °हीते कुलजे महाबले । २. = निश्चयेन । ३. आ मा जाशिष्ट । ४. आ 'कालबलव्य-
 पेक्षया' इति नास्ति । ५. = पृथिवीपालः । ६. आ 'बलराजस्य' इति नास्ति । ७. आ वृत् । ८. आ
 'वृद्धादिना । ९. क स पृथ्वीपालः ।

अवधार्यं सुवर्णनामजामिति वार्णी करणीयपेशलाम् ।
 भवभूतिरुदाहरद्वचः प्रभूणा स्निग्धदृशावलोकितः ॥९८॥
 निखिलं विधिचद्विवेचिते युवराजेन विधेयवस्तुनि ।
 अपरोऽत्र यदाह सोऽखिलः प्रतिशब्दः शुक्रशारिकादिवत् ॥९९॥
 विशदामसमुज्जितान्वयां नयसारामविहीनसौष्टवाम् ।
 गिरमेष कदाचिदोदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पतिः ॥१००॥
 न तथाप्यनुवर्तनामहं सहसास्य प्रविधानुमत्सहे ।
 न विमुह्यतु मद्भिधः कथं गहने कृत्यविधौ विधेरपि ॥१०१॥

अभिगन्तुम् । युवते योग्यो भवति । भाग्यसंपदा भाग्येन संपदा च । सहितः युक्तः । स्थानगतोऽपि कोश-
 वण्णादौना माभ्यं स्थानं यतोऽपि प्राप्तोऽपि । अरातिषु शत्रुषु । प्रभवेत् खलु समर्थो भवेत् खलु । लिङ्
 ॥९७॥ अवधार्येति । सुवर्णनामजा सुवर्णनामेन जनिताम् । करणीयपेशला करणीये कार्यं पेशलां मनोहराम् ।
 इति उक्तत्वेनाम् । वार्णी वाचम् । अवधार्यं निर्णयः । प्रभूणा पदानाभेन । स्निग्धदृशा स्निग्धया प्रीतियुक्तया
 दृशा नयनेन । अवलोकितः बोलितः । भवभूतिः भवभूतिनामा मन्त्रो । वच वचनम् । उदाहरतु अवोचतु ।
 द्वयं हरये लङ् ॥९८॥ निखिल इति । युवराजेन युवा चासौ राजा च युवराजस्तेन, सुवर्णनामेन । निखिले
 सकले । विधेयवस्तुनि विधानुं कर्तुं योग्यं विधेयं तस्मिन् वस्तुनि । विधिबन्धुं^१ नीतिशास्त्रोक्तविधिबन्धुः ।
 विधीयते विचारिते मति । अत्र अस्मिन् कार्ये । अपरः अन्यः । यत् वचनम् । आह ब्रवीति । प्रज्ञं व्यक्ताया
 वाचि लट् । 'बृवस्तिप्पचतः—' इति तिपो णशादेशः^२ । बृव आह इत्यादेशश्च^३ । म अखिलः सकलः ।
 शुक्रशारिकादिवत् शुक्रशारिकादिवक्षण इव । प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः । अवतीत्यध्याहारः ॥९९॥ विशदामिति ।
 एषः अयं युवराजः । कदाचित् एकस्मिन् समये । विशदा व्यक्तत्वेनाम् । असमुज्जितान्वया असमुज्जिता-
 ऽन्यवस्तुऽन्वयः पूर्वकम् यस्याः^४ ताम् । नयसारा नवे नीतिशास्त्रे सारामुत्कृष्टाम् । अविहीनसौष्टवाम् अविहीन-
 मरयवत् वा सौष्ठवं माधुर्यं यस्याः^५ ताम् । ईदृशीम् एतादृशीम् । गिरं वाणीम् । अभिदध्यात्^६ दधात् ।
 दुध्यात् धारणे लिङ् । अववा बृहस्पतिः सुरगुरुः । [कदाचित् मन्त्रेण ।] अभिदध्यात् । युवराजो बृहस्पति-
 समान इत्यर्थः । अतिशयः ॥१००॥ नेति । त्रिधेः अत्र ब्रह्मणोऽपि । गहने विषये^७ । कृत्यविधौ कृत्यस्य
 कार्यस्य विधौ करणे । मद्भिधः मम सद्भिधः । कथं केन प्रकारेण । न विमुह्यतु भ्रान्तो न भवतु । तथापि

खड़ाई करनेके लिए प्रेरित किया जा रहा है । भाग्य सम्पत्तिसे युक्त राजा शत्रुशोपर विजय पानेमें समर्थ होता है, भले ही वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे उनके समान हो । क्योंकि अदृष्ट जिसका साथ देता है, वही विजयी होता है ॥९७॥ इस तरहकी सुवर्णनामकी प्रस्तुत कर्तव्यकी विचारधारासे मन हरनेवाली वाणी सुनकर पद्मनाभने प्रीतिसे सनो हृद् दृष्टिसे भवभूति नामक अपने मन्त्रीको देखा । उसके अवलोकनसे बोलनेका संकेत पाकर वह (भवभूति मन्त्री) यों बोला—॥९८॥ युवराजके द्वारा सारे प्रस्तुत कार्यके बारेमें नीतिशास्त्रके अनुकूल जो विवेचन किया गया है, वह हृदय ग्राह्य है । अब इस विषयमें यदि और कोई बोलेंगा, तो निश्चय ही वह तोते-मैनेकी भाँति युवराजके वक्तव्यको केवल दुहरा भर देगा—प्रत्युच्चारण या प्रतिध्वनि मात्र कर देगा ॥९९॥ स्पष्ट, क्रमबद्ध, नीतियुक्त और मधुर, इस प्रस्तुत वक्तव्यको युवराज सुवर्णनाम ही दे सकता था, अथवा अब ऐसे वक्तव्यको शायद बृहस्पति दे दे, और तो किसीमें ऐसी योग्यता नहीं देख पड़ती ॥१००॥ तो भी मैं इसे शीघ्र ही स्वीकार नहीं कर सकता;

१. आ साम्यलक्षणस्थानं । २. = दृष्ट्या । ३. = नीतिशास्त्रानुसारम् । ४. आ णादेशः ।
 ५. अ 'व' नोपलभ्यते । ६. = यया । ७. = यया । ८. आ विषये ।

सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।
 रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे ॥१०२॥
 प्रविचेष्टितमेवमेव चेदुभयोरप्यविवेकपूर्वकम् ।
 पशुमानुषयोस्तदा भवेत्किञ्चिन्मृते शृङ्गयुगाद्विभेदकम् ॥१०३॥
 युधराणमतमस्तु किं तु नः प्रतिपाल्यः समयः कियानपि ।
 विदितारिषत्ता प्रयुञ्जते ननु बाहुष्यमुदारबुद्धयः ॥१०४॥
 सकलं प्रविगाह्य तं चरै र्पुसर्वस्वमुपेत्य सर्वतः ।
 स्वपरप्रविभागवेदने स्थयमस्तुघतधीर्भवानपि ॥१०५॥

अहम् अस्य कार्यस्य । अनुवर्तनाम् अङ्गीकारम् । सहसा शीघ्रम् । प्रविधातुं कर्तुम् । न उरसहे उद्युक्तो न भवामि । यहि मर्षणे । अहंकारपरिहारः । १०१॥ सुविचार्येति । बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानो । प्रयोजनं कार्यम् । विचार्य परीक्ष्य । करोति विन्याति । अपवा तथा नो चेत् । न आरभते नोपक्रमते । रभिरामस्ये कट् । कर्मणा कार्याणाम् । रभसात् शीघ्रम् । करणं विधानम् । हि पशुधर्मः मूढधर्मः । स मानुषे मनुष्ये । कथं नु कथं भवेत् ? ॥१०२॥ प्रविचेष्टितमिति । अविवेकपूर्वकम् अविवेकपूर्वकमेव । विचेष्टितं व्यापृतम् । चेत्, तदा तहि । पशुमानुषयोः पशुमनुष्ययोः समयोरेपि । शृङ्गयुगात् शृङ्गयोर्विषाणयोर्मुगाद् युगलात् । ऋते बिना । विभेदक^१ भेदः । [किं भवेत् (किं) स्यात् ?] लिङ् । आक्षेपः ॥१०३॥ युधराडिति । नः वस्माकम् । युधराड्मतं युधराजः सुवर्णनाभस्य मर्त^२ संमतम् । वस्तु भवतु । अस भुवि लोट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । कियानपि स्वलोऽपि । 'परित्वं किमः' इति षतु-प्रत्ययः । 'किमिदमः कोऽ' इति किरादेशः । समयः कालः । प्रतिपाल्यः रक्षणोप । विदितारिषत्ता । विदितं ज्ञातमरीषा शत्रूणा बल^३ स्वरूपं येस्ते । उदारबुद्धयः उदारा महतो बुद्धिर्येषां ते । पाङ्गुष्यं सन्ध्यादिषाङ्गुष्यम् । प्रयुञ्जते प्रयोगं कुर्वन्ति । मुञ्जं योगे कट्^४ । अर्चनरन्ध्यामः ॥१०४॥ सकलमिति । सकलं निखिलम् । रिपुसर्वस्वं रिपूणां शत्रूणा सर्वस्वं सर्वस्वरूपम् । चरैर्गृहचरैः । सर्वतः सर्वस्मात् । उपेत्य ज्ञात्वा (गत्वा) । प्रविगाह्यता ज्ञायताम् । गाहोइ विच्छेदवे लोट्^५ । स्वपरप्रविभागवेदने स्वस्य परेषामन्येषां प्रविभागस्य वेदने । भवानपि त्वमपि । स्वयम् उद्यतधीः

क्योंकि जो काम विधाताके लिए भी कठिन है, उसमें मुझ सरोखेको भला भ्रम क्यों नहीं होगा ? ॥१०१॥ बुद्धिमान् मनुष्य खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य प्रारम्भ करता है, या फिर प्रारम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य प्रारम्भ कर देना पशुओंका धर्म है, वह मनुष्यमें कैसे पाया जा सकता है ? ॥१०२॥ यदि पशु और मनुष्य दोनोंकी ही चेष्टाएँ अविवेक पूर्वक-बिना सोचे-समझे हों, तो दा सोंगोंके सिवा, दोनोंमें भेद बतानेवाला चिन्ह कौन-सा होगा ? ॥१०३॥ युधराजका मत हम सबको मान्य हो, किन्तु अभी कुछ समय प्रतीक्षा करनी चाहिए । शत्रुओंके बलका पता लगाकर, बुद्धिमान् पुरुष निश्चय ही छह गुणों—सन्धि, विश्रह, यान, आसन, संध्रय और द्वेषीभाव—का प्रयोग करते हैं ॥१०४॥ पहले सभी ओरसे जासूसोंको भेजकर, पृथिवीपालके सर्वस्वका ठीक-ठीक पता लगा लेना चाहिए । आप भी अपनी और

१. = निश्चयेन । २. = धर्मः । ३. = भेदकारि । ४. आ 'रामत' । ५. = अविमतम् । ६. आ. स्वल्पमपि । ७. = सामर्थ्यम् । ८. आ लङ् । ९. = परितः । १०. क् लोट् ।

तरलोभयवेतनैर्वशीक्रियतां भृत्यगणो यथोचितम् ।

कृतकप्रयितैश्च शासनैः^१ परिदूष्या रिपुसामवायिकाः ॥१०६॥

विनिवेद्यमिव प्रयोजनं सकलं भीमरथस्य रंहसा ।

स न तिष्ठति लेखदर्शनासमदुःखोऽस्ति सुहृद् तादृशः ॥१०७॥

तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृदो व्यसनेऽनुवर्तते ।

स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य घ्नो न नीरसम् ॥१०८॥

तमनन्यसमानतेजसं समनुप्राप्य सहायमूर्जितम् ।

सचित्तेव घनाल्पे भवान्भवित्वा भासुरधामदुःसहः ॥१०९॥

प्रयत्नद्विः । अस्तु भवतु । लोट् ॥१०५॥ तस्मैति । कृत्यगणः कृत्यानां कार्याणां (भृत्यगणः भृत्यानां सचक्रिकचूराणां) गणः समूहः । तरसा शीघ्रम् । उभयवेतनैः उभयेषां शत्रुप्रतिशत्रूणां वेतनैः^२ सेवकैः । यथोचितं यथायोग्यम् । वशीक्रियतां वशी विधीयताम् । वश विषये^३ कर्मणि लोट् । कृतकप्रयितैः कृतकेन कपटेन प्रयितै रचितैः । शासनेष्व लेखनेष्व । रिपुसामवायिकाः रिपोः शत्रोः सामवायिकाः सामगतादयः । परिदूष्याः बाधितुं^४ (?) योग्याः स्युः ॥१०६॥ विनिवेद्यमिति । इदम् पुनर्त्तु । सकलं निश्चलम् । प्रयोजनं कार्यम् । रंहसा शीघ्रम् । भीमरथस्य भीमरथरात्रस्य । विनिवेद्यं निवेदितव्यम् । समदुःखं समं ममानं दुःखं कष्टं वक्ष्ये सः । स. भीमरथः । लेखस्य लेखनपत्रस्य । दर्शनात् बालोक्तानात् । न तिष्ठति नास्ति । लट् । तादृशः । भीमरथस्य समः । सुहृत् मित्रम् । नास्ति न बिद्यते । लट् । उपमा (?) ॥१०७॥ तनय इति । यः पुरुषः । कुलं वंशम् । तनोति विस्तारयति । स. तनयः पुत्रः । यः व्यसने दुःखे । अनुवर्तने अनुतिष्ठति^५ । सः सुहृत् सखा । यः प्रजाः सर्वजानाम् । प्रतिपाति^६ प्रतिपालयति । स नृप. नरपति । यस्य पुरुषस्य । वच. वचनम् । नीरसं शृङ्गाराविरहितम् । न-न भवति । सः कविः कवीश्वरः । भवतीत्यप्युदाहारः ॥१०८॥ तस्मैति । अनन्यसमानतेजसं न विद्यतेऽप्येषा समानं सद्गं तेजः प्रतापो यस्य तम् । ऊर्जितं^७ प्रसिद्धम् । न भीमरथम् । सहायं मित्रम् । समनुप्राप्य संग्राह्यं^८ संलभ्य । घनाल्पेय शरकालम् । प्रप्य, सचित्तेव सूर्ये इव । भवान् रथम् । आनुरधामदुःसहः आनुरेण^९ मनोहरेण घाम्ना प्रतापेन, पक्षे किरणेन दुस्महः सोढमशक्त्य । भविता

पृथिवीपालको स्थितिका अन्तर जाननेके लिए प्रयत्नशील रहिये ॥१०५॥ पृथिवीपालके यहाँसे जितना वेतन मिलता हां, उतना अपनी आरसे भी देकर, उसके समस्त कर्मचारियोंको योग्य रीतसे शीघ्र ही अपने वशमें कर लीजिये, और जालो लेख या आज्ञापत्र भेजकर शत्रुको पार्टीमें सम्मिलित माण्डलीक राजाओं एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियोंको अभियाग लगवा दीजिये, ताकि फूट पड़ जाये ॥१०६॥ भीमरथको शीघ्र ही अपना सारा प्रयोजन पत्र-द्वारा सूचित कर दीजिये । आपका पत्र देखकर वह अपने घर बैठ नही रहेगा—यहाँ अवश्य ही आयेगा । आपके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझनेवाला, उस सरोखा आपका कोई मित्र नही है ॥१०७॥ तनय-पुत्र वही है, जो कुलका विस्तार करे; मित्र वही है, जो आपत्तिमें अनुगमन करे; राजा वही है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वही है, जिसके वचन नीरस न हों ॥१०८॥ अनुपम तेजको धारण करनेवाले और बलशाली उस भीमरथको अपना सहायक पाकर आप शरद ऋतुके सूर्यके समान इतने तेजस्वी हो जायेंगे कि आपका तेज शत्रुआका अमहा हो

१. इ. शासनैः । २. = द्विगुणितवेतनवर्द्धः । ३. श. 'वश विषये' इति नास्ति । ४. आ. बाधितुम् । ५. आ. अनुवर्तते । ६. श. लोकनात् । ७. = नास्ति । ८. आ. आनुरधामानुतिष्ठति । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रविभु तु 'परिपाति' इत्येव दृश्यते । १०. = प्रबलम् । ११. आ. 'संग्राह्य' इति नास्ति । १२. = प्रतीत्येन ।

करिणं प्रदिशामि निश्चितं समरं बाह्वनि मासपूरणे ।
 भवत्येऽहमिति प्रहोयतां रिपुदूतो वचनैर्द्वयाश्रयैः ॥११०॥
 हितमितवचनानि मन्त्रिमुष्यादिति सकलाभिमतान्यसौ निशम्य ।
 अनलसप्ततिरर्थतोऽनुतस्थौ गुरुवचनं^३ हृदयैषिणामलङ्घयम् ॥१११॥

इति श्रीबीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

भविष्यति । भू सत्तायां लुट् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । उगमा ॥१०९॥ करिणमिति । अहं भवते तुभ्यम् । मासपूरणे मासस्य पूरणे संपूर्णकरणे । अहनि दिने । निश्चितं निर्णयितम् । करिणं गजपतिम् । प्रदिशामि प्रयच्छामि । दिश अतिसर्जने लट् । 'वत्स्यति फलकारणे' इति भविष्यदर्थे णट् । समरं वा संग्रामं वा । प्रदिशामि । इति एवम् । द्वयाश्रयैः द्वयमवलम्बनमाश्रयो येषां तैः । वचनैः वचोभिः । रिपुदूतः रिपोऽशत्रुदूतः वचोहरः । प्रहोयता प्रेषयताम् । हि गतिवृद्धयोः कर्मणि लोट् ॥११०॥ हितेति । असौ पद्मानभः । मन्त्रिमुष्यात् मन्त्रियेष्वेष्टभवभूनेः । मक्लानि मतानि सकले, सर्वैरभिमतानि समतानि । हितमितवचनानि मितानि च तानि वचनानि च तपोस्तानि, हितानि च तानि मितवचनानि च तपोस्तानि । इति एवम् । निशम्य श्रुत्वा । अनलसप्ततिः सन् अनलसा आलस्यरहिता मतिबुद्धिर्यस्य सः । अर्थतः परमार्थतः । अनुतस्थौ अङ्गाकरोति स्म । ष्टा गति निवृत्तौ लिट् । उदयेषिणाम् ऐश्वर्यं बाष्पछद्भिः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना करणार्थे षष्ठी । गुरुवचनं गुरोः श्रेष्ठस्य । वचनं माधितम् । अलङ्घयं हि नोल्लङ्घनीयं हि । अर्थान्तरन्यासः ॥१११॥

इति श्रीबीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

जायेगा ॥१०॥ 'आजसे तीसवें दिन निश्चय ही मैं आपको हाथी दूँगा, या फिर युद्ध करूँगा', यह अनिश्चित उत्तर देकर पृथिवीपालके दूतको बिदा कर दीजिये ॥११०॥ इस प्रकार मुख्य-मन्त्री भवभूतिये सर्वममत्त, हितकारी और परिमित इन वचनोको सुनकर पद्मानभने—जिसे नाममात्रको भी आलस नहीं था—वास्तविक रूपमें स्वीकार कर लिया । ठीक है, ऐश्वर्य चाहनेवालोंको गुरुजनोंके वचन अनुल्लङ्घनीय होते हैं ॥१११॥

इस प्रकार महाकाव्य बीरनन्दि चरित उदयाङ्क चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें
 बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

■

१. अ द्वयाश्रितैः । २. अ हितमिति । ३. अ हृदयैषिणः । ४. ण लोट् । ५. वा 'संपत्तानि' इति नास्ति । ६. अ करणेऽर्थे । ७. अ 'हि' नास्ति ।

[१३. त्रयोदशः सर्गः]

अथ स विक्रमवान्नयभूषणो मिलितभीमरथप्रमुखः प्रभुः ।

निरगमत्प्रतिशब्धु जिगीषया प्रशमितप्रकृतिव्यसनो नृपः ॥१॥

सकललोकमनोरममुखस्तकुमुदपाण्डु विकसितदिङ्मुखम् ।

पथि रराज धृतं धरणीपतेः स्वयशसा सममातपवारणम् ॥२॥

जलदवीथिविशालमुरः प्रभोः पृथुलहारलतामणिमिर्बभौ ।

मुखसरोजमुपासितुमागतैरुडुगणैरिव जातशशिभ्रमः ॥३॥

अथेति । अथ मन्त्रालोचनान्तरम् । विक्रमवान् पराक्रमयुक्तः । नयभूषणः नय एव नीतिरेव भूषणं यस्य सः । मिलितभीमरथप्रमुखप्रभुः मिलिता युक्ता भीमरथप्रमुखाः । प्रभवो राजानो यस्य म^१ । प्रशमित-प्रकृतिव्यसनः प्रशमितमुपशमितं प्रकृतोनाममात्पादाना^२ व्यसनं दुःखं येन स । 'अमात्पादश्च स्वपीरादश्च' सङ्घः प्रकृतयः स्मृताः^३ । स नृपः पद्मनाभनृपतिः । जिगीषया जेतुमिच्छया । जि 'जि' अभिभवं लिट् । 'जेतिद् सनि' इति कवगदिशः । प्रतिशब्धु शत्रोरभिमुख प्रतिशब्धु^४ । निरगमन् निर्गच्छति स्म । रूपकम् ॥१॥ सकल्लेति । सकललोकमनोरमं सकलानां सर्वेषां लोकानां जनानां मनोरमं मनोहरम् । उल्लसत्कुमुदपाण्डु^५ उल्लसद् विकसत् कुमुदमिव पाण्डु शुभ्रम् । उपमा । विकसित^६ दिङ्मुख विकसितानि प्रकाशितानि दिशां ककुमा मुखानि वदनानि येन तत् । स्वयशसा स्वस्य आत्मनो यशसा कीर्त्या । समं समानम् । धरणीपते पद्मनाभस्य । धृतं भूतम् । जातपवारणम् जातपत्रम् । पथि मार्गे । रराज भाति स्म । गज्जूं वीर्यो लिट् । उपमा ॥२॥ जलदेति । प्रभोः पद्मनाभस्य । जलदवीथिविशालं जलदवीथिवद् गगनवद् विशालं विस्तीर्णम् । उरः वक्षः । जातशशिभ्रमैः जात उत्पन्नः वशीति चन्द्र इति भ्रमो भ्रान्तिर्देया नै । भ्रान्तिमान् । मुख-सरोजं^७ मुखमेव सरोजं कथ्यते तत् । रूपकम् । उपासितुम् आराधितुम् । आगते, आयाते । उडुगणे, उडूनां नक्षत्राणां गणैरिव समूहैरिव । पृथुलहारलतामणिभिः पृथुलहारलतायां हारयष्टमणिभिः । बभौ रराज ।

इसके पश्चात् पराक्रमो एवं नीतिनिपुण राजा पद्मनाभने पहले अपने मन्त्रियों और पुरवासियोंके कष्टोंका निवारण किया, फिर भीमरथ आदि अनेक मित्र राजाओंको अपने साथ लिवाकर विजयकी अभिलाषासे पृथिवीपालके नगरकी ओर प्रयाण कर दिया ॥१॥ पद्मनाभके ऊपर छत्र लगा हुआ था । उसे उनके मृत्यु पकड़े हुए थे । उसका सफेद रंग कुमुदसे मिलता-जुलता था । वह उसके यशकी भाँति शुभ्र था और सभी ओर दृष्टिगोचर हो रहा था । मार्गमें वह सभी लोगोंके मनको हर रहा था ॥२॥ पद्मनाभका वक्षस्थल आकाशकी भाँति विशाल था । वह हारके बड़े-बड़े मणियोंसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पद्मनाभके मुखने चन्द्रमाका भ्रम हो जानेसे उसकी उपासना करनेके लिए आये हुए नक्षत्रगणसे व्याप्त हो गया हों ॥३॥

१. = येन । २. वा 'ममात्पाना । ३. वा पीरादश्च । ४. आ ओ । ५. वा 'शत्रोरभिमुखं प्रतिशब्धु' इति नास्ति । ६. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु "कुमुदपाण्डु" इत्येव दृश्यते । ७. अथमपि टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु "विभासित" इति सम्पुलभ्यते । ८. = मुखं सरोजमिवेति मुखसरोजं, तत् । उपमा ।

प्रसूतया बभतुर्वरकुण्डलप्रथितवारिजरागमणिस्थिषा ।
 सरसगैरिकपङ्कपरिष्कृतौ करिकराविष भूमिभुजो भुजौ ॥४॥
 मुकुटरत्नचयेन परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा ।
 जलदकाल इवेन्मृधनुःश्रियं प्रविततान महीपतिरम्बरे ॥५॥
 परिभवत्यरिनिर्जयनिर्गतो निखिलमाण्डलिकाननतानयम् ॥
 इति भयेन तदीयभुजद्वयं शशिरवी इव भेजतुरङ्गदे ॥६॥
 शिखिगलाकृतिना रशनाश्रमनो रुचिचयेन निरन्तरपूरितम् ।
 क्षितिपतेरखिलां यमुनाद्वयश्रियमलुम्पत नाभिसरोवरम् (रः) ॥७॥

भा दीप्तौ लिट् । उपमा^१ । पद्मनाभस्यालंकरणम् ॥३॥ प्रसूतयेति । प्रसूतया विस्तृतया । वरकुण्डलप्रथित-
 वारिजरागमणिस्थिषा वरयो^२र्महतोः कुण्डलयोः कर्णवेष्टनयोः प्रथितानां कीलितानां वारिजरागमणीना पद्मराग-
 मणीनां द्विषा कान्त्या । सरसगैरिकरागपरिष्कृतौ सरसस्वाद्रतायुक्तस्य गैरिकस्य मनःशिलायाः पङ्कतं कर्ममेव
 परिष्कृतावलङ्कृतौ । 'संपर्युपात्कृज्-' इत्यादिना सहायमः । करिकराविष गजशृण्डादण्डाविष । भूमि-
 भुजः पद्मनाभस्य । भुजौ बाहू । बभतुः रेजतुः । भा दीप्तौ लिट् । उपप्रेक्षा ॥४॥ भकुटेति । सः महीपतिः
 पद्मनाभभूपः । परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा परस्परमन्योर्म्य व्यतिकरेण मिश्रणेनोल्लसितं विलसितम-
 मलं रोचिः कावित्यस्य तेन । मकुट^३रत्नचयेन मकुटे^४ किरौटे विद्यमानानां रत्नानां चयेन समूहेन । जलद-
 काल इव वर्षाकाल इव । अम्बरे गगने । इन्द्रधनुषः सुरक्षापस्य श्रियं शोभाम् । विततान वितनीति स्म ।
 तनु^५विस्तारे लिट् । उपप्रेक्षा^६ ॥५॥ परिभवतीति । अरिनिर्जयनिर्गतः अरेः शत्रोर्निर्जयाय निर्गतो निर्यातः ।
 अयं पद्मनाभः । अनतान् नयनविमुखान् । निखिलमाण्डलिकान् निखिलान् सकलान् माण्डलिकान्^७ देशाधि-
 पतीन् । परिभवति तिरस्करोति । मू मत्तया लट् । इति^८ भयेन भीत्या । शशिरवी इव सूर्याचन्द्रमसा-
 विष । तदीयभुजद्वयं तदीयं तस्य संबन्ध^९ भुजयोर्द्वयम् । अङ्गदे केयूरे । भेजतुः भजतः स्म । भजि^{१०} सेवाया
 लिट् । चन्द्रसूर्ययोरपि मण्डलवत्त्वात् तावत्स्याश्रितावित्यर्थः । उपमा^{११} ॥६॥ शिखीति । रशनाश्रमनः^{१२} रश-
 नाया काञ्चया कीलितस्याश्रमनो हुरिन्मणेः । शिखिगलाकृतिना शिखिनी मयूरस्य गल इव कण्ठ इवाकृति-

पद्मनाभके कानोंमें जो कुण्डल थे, उनमें पद्मराग मणियोंसे अपूर्व सुषमा उत्पन्न हो गयी थी ।
 उनकी लाल प्रभाके पड़नेसे उसके दोनों भुज हाथोंकी उन सूइके समान सुशोभित हो रहे थे,
 जिनपर अभी-अभी गेरूका लेप किया गया हो ॥४॥ जिस तरह वर्षा ऋतुका समय आकाशमें
 इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पद्मनाभने अपने मुकुटमें जड़ी हुई रत्न-
 राशिकी परस्परमें मिलकर फैलनेवाली किरणोंकी प्रभासे आकाशमें इन्द्रधनुष सरीखी शोभा
 उत्पन्न कर दी थी ॥५॥ पद्मनाभ शत्रुओंपर विजय पानेके लिए निकला है । यह नमन न
 करनेवाले सभी माण्डलिक राजाओंका तिरस्कार करेगा, इस भयके कारण मानो चन्द्र और
 सूर्य अङ्गदके रूपमें उसके दोनों बाहुओंके आभूषण बनकर सेवा करने लगे । अपने-अपने
 मण्डलों—देशोंकी रक्षा करनेवाले अविनोत राजा अपमानित होने लगेंगे, तो हम दोनों भी तो
 मण्डल-वर्तुलाकार वाले हैं और राजाको नमन भी नहीं करते, अतः हम दोनोंका भी अपमान
 होगा, मानो यही सोचकर सूर्य और चन्द्र केयूरका रूप लेकर उसके भुजाओंकी सेवामें उपस्थित
 हो गये ॥६॥ पद्मनाभकी कमरमें करघनी शोभा बढ़ा रही थी । उसमें लगे हुए वैदूर्यमणियों-

१. = उपप्रेक्षा । २. = भेद्योः । ३. आ मुकुटं । ४. आ मुकुटे । ५. आ तनु । ६. उपमा
 निदर्शना च । ७. वा विशिषि । ८. वा इतीति । ९. संबन्धि । १०. आ भज । ११. = उपप्रेक्षा ।
 १२. एष टोकाधयः पाठः प्रतिष्ठु तु 'श्रमना' इत्येव समवसोक्ष्यते ।

गुरुमताभिरतामलमानसं विहितदिव्यशरीरपरिग्रहम् ।
 त्रिविधनाथमिव त्रिविधौकस्तमवनीपतयो नृपमन्वयुः ॥८॥
 तुरगधारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः ।
 पथि भयापसरच्छिद्युसंकुले स्फालितवेगमगामि तुरंगमैः ॥९॥
 तुरगियत्ननिरुद्धमहारायैर्हरिभिरुत्पतितैर्जलदोन्मुखम् ।
 गगननीरनिधिर्निखिलस्तदा समजनीव तरङ्गितचिप्रदः ॥१०॥

राकारो^१ यस्य तेन । रुचिचयेन रुचीनां काम्तीनां चयेन समूहेन । निम्नतरपूरित निरवकाशं पूरितं व्याप्तम् ।
 क्षितिपतेः पथनाभस्य । नामिसरोवरं^२ नामिरंभ सरोवरम् । रूपकम् । अमिला सकलाम् । यमुनाहृदयं
 यमुनाया यमुनानद्या हृदस्यावाचत्रलस्य^३ । अयं खोभाम् । अलम्बन निराकुलः । लुल्लु छेदने लङ् ।
 उत्प्रेक्षा ॥७॥ गुरुमतेति । 'गुरुमताभिरतामलमानसं गुरुणा हितोपदेशेन बृहस्पतिना वा मतमभिमतमभिरत
 मनोहरं निर्मल मानसं चित्तं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कुतो दिव्यं शरीरं गात्रं
 तदेव परिग्रहः परिकरो यस्य तम् । तं नृपं पथनाभभूतिम् । दिवौकसः सुराः । त्रिविधनाथमिव
 स्वर्गनाथमिव देवेन्द्रमिवेत्यर्थः । अवनीपतयः भूमिपतयः । अन्वयुः अनुजम् । या प्रापणे लङ् ।
 उपमा ॥८॥ तुरगेति । तुरगधारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः^४ तुरगधारणामश्वारोहाणां^५
 कठोरयोः कर्कशयोः करयोर्हस्तयोर्दंष्ट्रा द्वयेन घृतेन भूतेन^६ कुशागुणेन वरगारज्जुना (रज्ज्वा) पीडिता
 बाधिताः कन्धरा येषां तैः । तुरङ्गमैः अश्वैः । भयापसरच्छिद्युसंकुले भयाद् भीतेरपमरङ्गिरतस्ततो
 गच्छद्भिः शिशुमिश्रितैः सकुले सकुलैः । पथि मार्गे । स्फालितवेगं स्फालितो रुद्धो वेगः शीघ्रं यस्मिन्
 कर्मणि तत्० । अगामि अगम्यत् । गम्लु गतो भावे^७ लुङ् ॥९॥ तुरगति । तुरगियत्ननिरुद्धमहारायैः^८
 तुरगिणामश्वारोहाणां यत्नेन प्रयत्नेन निवारितो रथो वेगं^९ 'शोघ्र [रथो] येषां तैः । जलदोन्मुखं जलदस्य मेघस्यो-
 न्मुखमभिमुखम् । उत्पतितैः दुर्लङ्घितैः^{१०} (उदगतैः) उद्घोर्नैवा^{११} । हरिभिः वाजिभिः । तदा गगनसमये ।

की किरणोसे—जिनका रंग मयूरके गलेके रंगसे बिलकुल मिलता-जुलता था—सभी ओरसे
 व्याप्त होकर उसकी नाभि, यमुनाके कुण्डकी—जिसमें कालिय नाग रहा करता था—सारी
 छविको छोन रही थी ॥७॥ जिस प्रकार बृहस्पतिके द्वाग दी गयी शिक्षामें निर्मल मनको
 लगानेवाले और दिव्य शरीरको धारण करनेवाले इन्द्रके पीछे देव लोग चला करते हैं, उसी
 प्रकार गुरुजनोंके अभिमत नीतिमार्गमें स्वच्छ हृदयको लगानेवाले—स्वच्छ हृदयसे गुरुजनोंकी
 शिक्षा माननेवाले और अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले राजा पथनाभके पीछे-पीछे अन्य राजे-महाराजे
 चल रहे थे—अनुगमन कर रहे थे ॥८॥ भयसे इधर-उधर भागते हुए छोटे-छोटे वच्चोमें घिरे हुए
 मार्गमें घुड़सवारोंने अपने कठोर हाथोंसे घोड़ोंको रासोंकी रस्सियोंको खूब जोरसे खींच लिया,
 जिससे वे अपनी गर्दन टेढ़ी किये हुए, और उसकी पीड़ाका अनुभव करते हुए धीरे-धीरे चलने
 लगे ॥९॥ घुड़सवारोंने ज्योंही बड़े यत्नसे घोड़ोंको तीव्र गतिको रोका, त्यों ही वे मेघोंकी

१. म. 'न्मुखे' । २. = वर्षा^१ । ३. निखिलानु प्रतिपु 'नामिसरोहम्' इत्येव पाठो वर्तन । ४. =
 द्रहस्पतेति यावत् । 'द्रहोऽगाधजलो ह्य' इति हैमः । ५. = गुरुमताभिरतामलमानसं गुरोर्मन्त्रिणः, पक्षे
 बृहस्पतेर्मतेऽभिरतं निरतममल निर्मल मानसं हृदयं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कुतो दिव्यस्य
 सुन्दरस्य, पक्षे वैकृतिकस्य शरीरस्य परिग्रहः स्वीकारो येन तम्, अतिशयिरणेरधारणमिति यावत् ।
 ६. आ 'रोहकाणा । ७. = 'कुणा वल्गा कुशं जले' अकार्य० । ८. आ कर्मणि । ९. एष टोकाश्वयः
 पाठो मूलप्रतिपु तु 'जबै' इत्येव दृश्यते । १०. = जवो^२ । ११. आ उल्लङ्घित । १२. श
 'उद्घोर्नैवा' इति नास्ति ।

चलितवद्भिरजोयत वाजिमिस्त्वरितमभ्यधिकेन निजोजसा ।

कृतपदैर्निखिलेऽपि महीतले यदनिलः किमिवात्र महाद्रुतम् ॥११॥

निरवधि प्रसृतैर्वसुधातले नृपबलैर्महिमा मम खण्डितः ।

इति नमस्त्रपयेव तिरोभवद्रजसि वाजिखुराहतिर्बुद्धिते ॥१२॥

सतडिडाभरणाः प्रवितन्वते घृतजला जलदा दिवि यां श्रियम् ।

स्फुरितरत्नकुयैरलिकोमलैः प्रचलितैर्भुवि सा विदधे गजैः ॥१३॥

निखिलः सकलः । गगननोरनिधिः गगनमेवाकाशमेव नोरनिधिः समुद्रः । तरङ्गितविग्रहः तरङ्गितः संजात-
तरङ्गयुक्तो (तरङ्गो) विग्रहो गान् यस्य सः, इव । समवनि जन्वते स्म । जनैर्द्रादुर्भावे लुङ् । उत्प्रेक्षा
॥१०॥ चलितेति । निखिले सकले । महीतले भूतलेऽपि । कृतपदैः कृतं पदं चरणं येषां तैः, स्थानमिति ध्वनिः ।
चलितवद्भिः चलनयुक्तैः । वाजिमिः अश्वैः । अभ्यधिकेन बहुलेन । निजोजसा निजस्यात्मन ओजसा साम-
प्येन । त्वरितं शीघ्रम् । कृतम् (?) । अनिलः वायुः । न विद्यते इला भूमिर्यस्य (सोऽ-) अनिलः ।
इलारहित इति ध्वनिः । अजोयत जोयते स्म । जो ज्यो अभिभवे^१ कर्मणि लट् । यदत्र^२ निजस्य नो कृत-
निखिलमहीतलैरिलारहितस्य अये न किमप्याश्चर्यमिति छलार्थः^३ । महाद्रुतं महदाश्चर्यम् । किमिव किम् ?
इवाम्बो बाष्पायलङ्कारे ॥११॥ निरवधीति । वसुधातले वसुधाया भूमेस्तले प्रदेशे । निरवधि अपरि-
मितम्^४ । प्रसृतैः विस्तृतैः । नृपबलैः नृपस्य पद्मनाभस्य बलैश्चतुरङ्गबलैः । मम मे । महिमा^५ साम-
प्यम् । खण्डितः निराकृतः । इति एवम् । त्रपयेव लउप्रयेव । नमः गगनम् । वाजिखुराहतिर्बुद्धिते वाजिनां
तुरगाणां खुराणामाहत्या^६ पीडया बुद्धिते प्रबुद्धे । रजसि धूम्याम् । तिरोभवत् व्यदधात् । लङ् । उत्प्रेक्षा
॥१२॥ सतडिदिति । सतडिदाभरणाः तडिदेव विद्युदेवाभरणं भूषणं तेन सहिताः । घृतजलाः घृतं जलं यस्ते
घृतजलाः । जलदाः मेघाः । दिवि नभसि । या श्रियं यां शोभाम् । प्रवितन्वते विस्तारं कुर्वन्ति । स्फुरित-
रत्नकुयैः स्फुरितैर्भासितै रत्नकुयै रत्नकम्बलैः । 'परिस्तोमः कुबो द्वयोः' इत्यमरः । 'कुवः स्यात्करिकम्बलः'
इति वा । अलिकोमलैः अलिभिर्भ्रमरै कोमलैः सद्गुणैः । प्रचलितैः निर्गतैः । बजैः करिमिः । भुवि भूमौ ।

ओर—ऊपर उछलने लगे, जिससे सारा आकाश-समुद्र तरंगोंसे युक्त-सा दृष्टिगोचर होने लगा ॥१०॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने सारे भूतलपर अपने पैर जमा लिये (अधिकार कर लिया) । ऐसी स्थितिमें उन्होंने अपने सर्वाधिक बलसे अनिल-वायु (न विद्यते इला भूमिर्यस्य सोऽनिलः—जिसके पास भूमि न हो) को जीत लिया, इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥११॥ 'भूतलपर जिधर-देखो-उधर पद्मनाभकी चतुरगिणी सेना फैल गयी है । किसी भी ओर सेनाका ओर-छोर नहीं देख पड़ता । इससे तो मेरी महिमा ही नष्ट हो गयी है—मेरा महत्त्व खण्डित हो गया है । असीमित क तो मैं अकेला ही ओर-छोर रहित (अनन्त) था, अब यह सेना भी मेरी बराबरी कर रही है । इससे तो मेरी नाक-सी कट गयी है' मानो यह सोचकर आकाश शमिन्दा होकर घोड़ोंकी टापोंके प्रहारसे ऊपर उड़कर सभी ओर बढ़नेवाली धूलमें छिप गया ॥१२॥ बिजली रूपी आभूषणकी धारण करनेवाले सजल बादल आकाशमें जो शोभा उत्पन्न करते हैं, उसी शोभाको चमचमाते रत्नोंसे जड़ो हुई झूलको धारण करनेवाले और भौरोंके समान काले,

१. = येः । २. आ जो जयेऽभिभवे च । ३. आ यस्वत् । ४. आ दलार्थः । ५. स अभिप्रमितम् ।

६. = महत्त्वम् । ७. = आवातेन ।

पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डिमचनितनष्टजनेषु यदृच्छया ।
 कुपितधीरविवर्तितदृष्टिभिः पद्मदीयत मत्तमतङ्गजैः ॥१४॥
 नृपतिरेकक एव कुलं द्विषां क्षपयितुं क्षम एष किमत्र वः ।
 जगुरितीव रवैर्बलं^१ दन्तिनां श्रितमदाद्रकटा मधुलिङ्गणाः ॥१५॥
 यमघनीशगमावसरे मदं जगृहिरे करिणो जयशंसिनः ।
 रजसि तेन तुरङ्गसुरोत्थिते प्रशमिते ददृशुः पदवीं जनाः ॥१६॥
 सूरनिपातविदारितभूमिभिः प्रजविभिस्तुरगैर्विषमोक्तैः ।
 पथि परिस्त्रलनेन समुच्छलच्चरणया चलितं रथकडवया ॥१७॥

सा शोभा । विदधे क्रियते स्म । हुषाञ् धारणे च कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा परिवृत्तिर्वा ॥१३॥ पथिष्विति । हस्तिपकाहतडिण्डिमचनितनष्टजनेषु हस्तिपकैराघोरणैराहृतस्य बाधितस्य डिण्डिमस्य डिण्डिमवाद्यस्य चनितेन रवेण नष्टा निवारिता जना येषु तेषु । पथिषु मार्गेषु । कुपितधीरविवर्तितदृष्टिभिः कुपिते क्रुद्धे धीरं भयरहितं यथा तथा विवर्तिते दृष्टौ नयने येषां तैः । मत्तमतङ्गजैः मत्तवारणैः । यदृच्छया स्वेच्छया । पद चरणन्यासः । अधीयत न्यक्षिप्यत । कर्मणि लङ् ॥१४॥ नृपतिरिति । एषः अयम् । एक एव एककः । नृपतिः नरपतिः^२ । द्विषां शत्रूणाम् । कुलं वंशम् । क्षपयितुं नाशयितुम् । क्षमः समर्थः । व. युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दबहुवचनस्य वसादेशः । अत्रकार्ये किमिति ? अतीव^३ अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्या-
 कङ्कारे । बलवन्तिना बलयुक्तजानां चतुरङ्गबलजाना वा । श्रितमदाद्रकटाः श्रित आश्रितो मदेन मद-
 जलेनाद्रः कटो गजगण्डो येषां (यैः) ते । मधुलिङ्गणाः मधुलिङ्गां भ्रमराणां गणाः समूहाः । [रवैः] । जगुः
 कृचुः । गै शब्दे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१५॥ वमिति । जयशंसिनः जयसूचिनः । करिणः गजाः । अवनीशगमावसरे
 अवनीशस्य भूमिपतेर्गमस्य गमनस्यावसरे प्रस्तावे । य मदं मदजलम् । जगृहिरे स्वीकुर्वन्ति स्म । ग्रहो उपा-
 दाने लिट् । तुरङ्गसुरोत्थिते तुरङ्गाणामश्वानां सूरैः । सूरपुटेरुत्थिते समुत्पन्ने^४ । रजसि रेणो । तेन मद-
 जलेन । प्रशमिते उपशमिते सति^५ । जनाः लोकाः । पदवी मार्गम् । ददृशुः दृश्यान्ति स्म । दृशुः प्रेक्षणे
 लिट् । पर्यायोक्तिः (?) ॥१६॥ सूरैस्ति । सूरनिपातविदारितभूमिभिः सूरणां सुरपुटानां निपातेन पातेन
 विदारिता विभेदिता भूमियेषां तैः । प्रजविभिः ऐश्वर्यभिः । तुरगैः अश्वैः । विषमोक्तैः निम्नोन्नतोक्तैः ।
 पथि मार्गे । परिस्त्रलनेन स्त्रलनक्रियया । समुच्छलच्चरणया समुच्चलत् प्रस्त्रलच्च^६ चरणं^७ पादो यस्याः

चलते हुए हाथियोंने पृथिवीपर उत्पन्न कर दिया ॥१३॥ हाथियोंपर महाव्रत डिण्डिम बजा रहे थे, उनकी आवाज सुनते ही लोग रास्तोसे अलग हट गये । फिर छाली रास्तोसे मदमाते हाथी अपनी क्रुद्ध एवं निर्भय दृष्टि इधर-उधर डालते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक चले जा रहे थे ॥१४॥ सेनामे जो हाथी चल रहे थे, उनके गण्डस्थलोंपर भौरोके झुण्ड बैठे हुए थे, उनके मुखसे 'गुन गुन' शब्द निकल रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे उन (हाथियों) से यह कह रहे हों कि यह राजा पद्मनाभ अकेला ही शत्रुओंके वंशका ध्वंस करनेके लिए समर्थ है, फिर आपका यहाँ-सेनामे क्या काम ? ॥१५॥ पद्मनाभके जानेके अवसरपर विजयको सूचना देनेवाले हाथी जो मदजल बहा रहे थे, उससे घोड़ोंकी टापोंसे उड़ायी गयी धूल शान्त हो गयी । फिर लोगोंको रास्ता दोख पड़ने लगा । ॥१६॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने अपनी टापोंके प्रहारसे जमीनको खोदकर नीचा-ऊँचा कर दिया, जिससे रास्ता विषम हो गया । उसमें दबक लगनेसे रथोंका समूह उछलता हुआ जा

१. अ 'धीर' । २. अजा इ रवैर्बलं । ३. अज इ जगृहिरे । ४. श 'नरपतिः' एवं नोपलभ्यते । ५. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'इतीव' इत्येव दृश्यते । ६. = समुत्पत्तिते । ७. अ पथि । ८. = यैः । ९. = चक्रं ।

न सहते करपातमयं नृपो विजयवानपरस्य महीतले ।
 रविरितीव रथध्वजबोधरैरविरलैर्विदधेऽन्तरितं वधुः ॥१८॥
 नृपपराक्रमबीजविवस्त्रुमिरिव रथैर्बहुष्यत भूतलम् ।
 मदपयोमिरपूर्यत तन्मधुमतकुलाकुलगण्डतलैर्गजैः ॥१९॥
 खलितशैलचयेन शरीयसा बलभरेण निपीडितदेहया ।
 बधिरिताखिलविप्रथमण्डलध्वनिपदैरिव निःस्वनितं भुवा ॥२०॥
 कतिपयानि न यावदधुः पदान्यनुचरै रभसेन विनिर्गताः ।
 कतिपयैः पथि तावदुपेत्य साम्भटगणा नृपतीन्परिवहिरै ॥२१॥

तथा । रथकवचया रथसमूहेन । 'बोरववातात् प्रकटधोलम्' इति समूहे कटध^१-प्रत्ययः । चलितं प्रया-
 तम् ॥१७॥ वेति । विजयवान् विजययुक्तः । अयं नृपतिः एव नरपतिः । महीतले भूतले । अपरस्य अन्यस्य ।
 करपातं करस्य सिद्धास्य किरणस्य च पातं पतनम् । न सहते न जमते । वहि मयणं लट् । इति एवमिष
 (इतीव इति हेतोरिव) । रविः सूर्यः । बधिराजैः बहुलैः । रथध्वजबोधरैः रथानां स्मन्दानां पठाकानां
 बीजैर्बन्धैः । वधुः अवयवम् । व्यवहितम् अन्तरितम् । विदधे करोति स्म । दुषाम् चारणे च लिट् ।
 उत्प्रेक्षा ॥१८॥ नृपेति । नृपपराक्रमबीजविवस्त्रुमिः नृपस्य नरपतेः पराक्रम^३ एव प्रताप एव बीजस्य विष-
 न्पुमिर्वस्त्रुमिच्छुमिः । बररवैः परमरवैः । यद् भूतलं भूमितलम् । अकृष्यत अलिख्यत^४ । कृष विलिखने
 कर्मणि लट् । मधुवतकुलाकुलगण्डतलैः मधुवतानां भ्रमराणां कुलेन समूहेनाकुलं संकीर्णं गण्डतलं कपोल-
 प्रदेशो येषां तैः । गजैः करिभिः । मदपयोभिः मदजलैः । अपूर्यत अजम्भ्यत^५ । पृ पालनप्रणयोः कर्मणि^६
 कङ् । पर्वयोक्तिः (?) ॥१९॥ चकितेति । खलितशैलचयेन खलितः कम्पितः शैलानां पर्वताणां चयो
 येन तेन । शरीयसा गुह्यतरेण । 'प्रियस्त्रिभू—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य ईयसि परे नरादेशः । बलभरेण
 बलस्य सेनाया भरेण भारेण । निपीडितदेहया निपीडितो बाधितो देहोऽवयवो यस्यास्तथा । भुवा भूम्या ।
 बधिरिताखिलविप्रथमण्डलध्वनिपदैः बधिरिता खलिलविषः समस्तककुमो दैस्ते तयोवताः, बधिरिताखिल-
 विशाच ते रवाचव तेषां मण्डलं समूहस्तस्य ध्वनिरिति पदैः^७ व्याजैः । स्वनितमिष ध्वनितमिष । छःप्रेक्षा ॥२०॥
 कतीति । कतिपयैः कैश्चित् । अनुचरैः भटैः । यावत् यावत् पर्यन्तम् । कतिपयानि कियन्ति । पदानि
 चरणनिक्षेपणानि । न अमुः न जम्मुः । या प्रापणे लिट् । तावत् तावत्पर्यन्तम् । पथि मार्गे । रभसेन
 शोभम् । विनिर्गताः निर्गताः । अटगणाः नृत्यसमूहाः । तान् नृपतीन् नृपतीन् । उपेत्य प्राप्य । परिवहिरै

रहा था ॥१७॥ यह विजयी राजा इस भूतलपर किसी दूसरेके टेक्स (हस्तक्षेप, किरणोंका पड़ना) सहन नहीं कर सकता । मानो यही सोचकर सूर्यने रथोंके सघन ध्वजपटोमें अपनेको छिपा लिया ॥१८॥ मानो राजाके पराक्रमके बीज बोनेकी कामनासे रथोंने जिस भूतलको जोत डाला, उसे उन हाथियोंने अपने मजजलसे खूब सींचकर तर कर दिया, जिनके गण्डस्थलोंपर भीरोंके झुण्ड बैठे हुए थे ॥१९॥ समस्त पहाड़ोंको कम्पित करनेवाली बड़ा-भारी सेनाके बोझसे दबकर पृथिवीके शरीरमें पीड़ा उत्पन्न हो गयी, मानो इसीलिए वह समस्त दिशाओंको बहुरा कर देनेवाली रथसमुदायकी आवाजके बहानेसे चिल्ला रही थी ॥२०॥ राजा लोग अपने थोड़े-से नौकरोंके साथ निकलकर जबतक कुछ ही कदम आगे नहीं पहुँच पाये थे तबतक बड़े बेगसे और भी नौकरोंने पास पहुँच कर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—बीचमें राजा बल रहे थे और

१. क ल ग च 'विषिस्तुमि' । २. क कटध' । ३. = पराक्रमः प्रतापस्तस्य बीजानि । ४. क विलिख्यत । ५. क 'अजम्भ्यत' इति नास्ति । ६. क 'कर्मणि' इति पदं नास्ति । ७. = ध्वनिः शब्दस्तत्पदैः ।

परिहितायसकञ्चुकमेवकं पिहितभूमि पदातिकदम्बकम् ।
 नरपतेरुच्चच्छुरणागतं तिमिरशत्रुभयादिव तामसम् ॥२२॥
 कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा गुणविशेषविभूषितविग्रहा ।
 कुलवधूरिव मुष्टिगता मुदं व्यधित योधजनस्य धनुर्लता ॥२३॥
 घनघटासदृशीषु कृतासना गजवधूष्ववरोधपुरंध्रयः ।
 विपुलकान्तिपरिप्लुतविग्रहा विदधिरे श्रियमार्चररोचिषीम् ॥२४॥
 तदखिलं पुटभेदनमुद्गटैः स्फुटदिवामदासकुतूहलैः ।
 न निरतैर्यदवेक्षितुमीश्वरं दशतयोष्वपि दिक्षु जनैर्ममे ॥२५॥

आवृण्वन्ति स्म । वृज् वरणे लिट् । समाहितम् ॥२१॥ परिहितेति । परिहितायसकञ्चुकमेवकं परिहितेन परिभूतेन आयसेन अयसा निमितेन कञ्चुकेन तनुत्राणेन संषकं नीलम् । पिहितभूमिः पिहिता आच्छादिता भूमि-
 यैव तत् । नरपतेः पद्मानामस्य । पदातिकदम्बकं पदातीना पदगामिना कदम्बकं निकुरम्बकम् । तिमिर-
 शत्रुभयात् तिमिरशत्रोः सूर्यस्य भयाद् भोतेः । शरणागतं रक्षणाग्रंमागतम् । तामसं तिमिराणां समूह इव ।
 कृतसमुन्नत-
 वंशपरिग्रहा कृतसमुन्नतस्य^१ बिहित उच्छ्रितस्य वंशस्य वेणोः, पक्षे विंशष्टगोत्रस्य परिग्रहः स्वीकारो
 मस्मा^३ सा । गुणविशेषविभूषितविग्रहा गुणेन मोक्ष्या, पक्षे पातिव्रत्यादिगुणेन विशेषं भूषितो विग्रहो यस्याः
 सा । मुष्टिगता मुष्टि हस्तमुष्टि, पक्षे बधीन^४ गता । धनुर्लता^५ धनुषश्चापस्य लता यष्टिः । कुलवधूरिव कुल-
 स्त्रीव । योधजनस्य योध एव भट एव जनस्तस्य । ऊपकम् (?) । मुदं संतोषम् । व्यधित अकरोत् ।
 दुष्पाञ्च धारणे च लङ् । दशैषोपमा ॥२३॥ वनेति । घनघटासदृशीषु घनानां मेघानां^६ घटायाः समूहस्य
 सदृशीषु समानामु । गजवधूषु करेषुषु । कृतासनाः कृतं बिहितमासनं यामिस्ता । विपुलकान्तिपरिप्लुत-
 विग्रहाः विपुलया महत्या कान्त्या कारणेन परिप्लुत^७ उत्तीर्णो विग्रहो यासा ताः । अवरोधपुरंध्रयः अवरोध-
 स्थानतःपुरस्य पुरंध्रयः श्रियः । आचिररोचिषीम् अचिररोचिषो बिलुतः सबन्धिनीम् । श्रियं शोभाम् । विद-
 धिरे धरन्ति स्म । दुष्पाञ्च धारणे च लिट् । सामान्यालङ्कारः (निदर्शनालङ्कारः) ॥२४॥ तदिनि । उद्गटैः
 अक्षिकैः । भट भट परिभाषणे । आसकुतूहलैः आस स्वीकृत कुतूहलं यैस्ते । ईदृशं प्रभुम् । अवेषितुं

उनके चारों ओर नीकर चाकर एवं अंगरक्षक गण ॥२१॥ पयादोंके समुदायने सारी पृथिवी घेर
 ली थी, सभी पयादे लोहेका कवच पहने हुए थे और इसीलिए वे बिलकुल काले देख पड़ते
 थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यके भयसे साग्रा अन्धकार शरणागतके रूपमें
 पद्मानामके पास चला आया हो ॥२२॥ जिस प्रकार उन्नत वंशमे उत्पन्न होनेवाली, पातिव्रत्य
 आदि गुणसे अपनेको भूषित करनेवाली और आज्ञाकारिणी कुलीन स्त्री अपने पतिको आनन्द
 देती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ बाँससे बनी हुई, चढी हुई प्रत्यंवा-डोगेसे सुशोभित और मृट्टोमें स्थित
 धनुर्ग्रंथि सिपाहीबगंको सन्तोष दे रही थी ॥२३॥ मेघोंकी घटा सरीखी काली हृथिनियोंपर अत्य-
 धिक कान्ति युक्त शरीर धारण करनेवाली रानियाँ बैठी हुई थी, जो बिजलीकी शोभाको
 उत्पन्न कर रही थी । वर्षा कालीन काली घनघटा जिस तरह बिजुलोसे सुशोभित होती है,
 उसी तरह हृथिनियोंकी पंक्ति रानियोंसे सुशोभित हो रही थी ॥२४॥ राजा पद्मानामको
 देखनेके लिए लोग—जिन्हें कुतूहल उत्पन्न हो रहा था—अपने-अपने घरोंसे निकल पड़े ।

१. आ तिसु । २. = कृतो बिहितः समुन्नतस्य । ३. = यया । ४. = बधीनता । ५. = धनु-
 र्वस्वरी । ६. श 'मेघानां' पदं नोपलभ्यते । ७. = व्याप्यः ।

परिचिते बहुशोऽप्यवनीश्वरे कमलिनीकुसुमैरिव भास्करे ।
 विचकसे नयनैः पुरयोषितां न रमणीयमपोहति कौतुकम् ॥२६॥
 जनरवास्त्रसतो निपतन्त्यघस्तरलवेगसराद्बरोधिका ।
 युवजनं विद्धे गलदम्बरप्रकटितावयवा सकुतूहलम् ॥२७॥
 कृतकटुस्वरमायतकंधरं सपदि भाण्डमपास्य पलायितः ।
 करिमयात्कटके समपूपुषुषाट् इवाधिकहास्यरसं मयः ॥२८॥
 पथि वृषैः करिस्तूकृतिचित्रतैर्मृदितधृद्वितये शकटे सति ।
 विपुल्लाभकृते यणिजोऽटतो घृतघटेर्मनसा सह पुस्तुटे ॥२९॥

बोजितुम् । निरर्तः^१ निगतेः । जनैः प्रजानिः । दशतयीष्वपि दशावयवा मासां ता इति दशतय्यः तासु ।
 'अवयवास्तयट्' इति तयट्-प्रत्ययः । विशु दिशानु । न ममे न माति स्म । माड् माने लिट् । तद् अलिलं
 सकलम् । घटभवनं पत्तनम् । फुटिविष विभिन्नविष । अमवत् अमृत् । कड् । उपमा (उपप्रेक्षा) ॥२५॥
 परिचित इति । बहुमः बहुवारान् । परिचितेऽपि अम्यस्त्रेऽपि बोजितेऽपि वा । अवनीश्वरे भूमिवती । पुरयो-
 पितो नगरस्त्रीणाम् । नयनैः नेत्रैः । विचकसे विकस्यते स्म । कस गतौ भावे लिट् । भास्करे सूर्ये । कम-
 लिनीकुसुमैरिव कमलिभ्याः पद्मिभ्याः कुसुमैः पुष्पैरिव । रमणीयं मनोहरम् । कौतुकम् आश्चर्यम् । नापोहति
 न ह्यञ्जति । ओह् ह् व्यागे लट् । अतिशयः (उपमा, अत्यन्तरम्यः सशब्) ॥२६॥ जनेति । जनरवात् जनानां
 रवात् कोलाहलात् । त्रसतः बिभ्यतः । तरलवेगसरात् तरलान्वक्कलात् । वेगसरात् खरभेदात् । अषः
 भूभागे । निपतन्ती स्खलन्ती । अवरोधिका अन्तःपुरस्त्रीजनः । गलदम्बरप्रकटितावयवा गलता^३ क्षणिलयता
 अम्बरेण बन्धेन प्रकटितोऽवयवः स्तनावयवो यस्यां सा । युवजनं^४ यौवनजनम् । सकुतूहलं सौस्तुकम् ।
 विदधे चकार । लिट् । २७॥ कृतेति । कटके सेनायाम् । करिमयात् प्रजमयात् । कृतकटुस्वरं कृतो विहितः
 कटुस्वरौ यस्मिन् कर्मणि तत् । आयतकंधरम् आयताकंधरा कण्ठो यस्मिन् कर्मणि तत् । सपदि क्षीघ्रम् । भाण्डं
 भारम् । अपास्य त्यक्त्वा । पलायित विदुतः । मयः उष्ट्रः । नट इव नर्तक इव । अधिकहास्यरसं बहुलहास्य-
 रसम् । समपूपुषन् अवधयत् । पुव पुष्टो निवृत्ताल्लुङ् ॥२८॥ पथीति । पथि मार्गे । करिफूत्कृतविदुतः^५
 करिणो गजस्य फूत्कृतेन फूत्कारश्चनिना विदुतः पलायितः । वृषैः अनङ्गिद्वैः । शकटे, मथितधृद्वितये मथिताया

उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि वे दसों दिशाओंमें भी नहीं समा रहे थे । इतने दर्शनार्थी
 कहाँसे आ गये, लगता था मानो नगर फट पड़ा हो ॥२५॥ यों राजा पचनाभ चिरपरिचित था,
 उसे बहुत बार देखा भी था, पर विजयके लिए जाते समय उसे देखकर नगरकी स्त्रियोंके नेत्र
 खिल उठे । जैसे चिरपरिचित सूर्यको देखते ही कमल खिल उठते हैं । सच तो यह है कि सुन्दर
 वस्तु कभी आश्चर्य उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती ॥२६॥ लोगोके शब्द-कोलाहलसे एक
 बंचल खच्चर डर गया और उसके ऊपर बैठे हुई, अन्तःपुरमें काम करनेवाली एक युवती
 गिरनेकी स्थितिमें पहुँच गयी, उसके बस्त्र इधर-उधर हो गये, स्तन आदि अवयव दृष्टिगोचर
 होने लगे, तथा मनचले युवकोंके मनमें कौतुक उत्पन्न हो गया ॥२७॥ हाथीको देखते ही एक ऊँट
 डर गया । फलतः कानोंको उठेजना उत्पन्न करनेवाले स्वरमें चिल्लाता हुआ, अपनी गर्दनको
 लम्बी करता हुआ बात पटककर ऐसे ढंगसे भागा कि छावनीमें उसने एक नटकी भाँति हास्य
 रसकी खूब हो पुष्टि की—उसे देखनेवाले लोग ठहाका मारकर हँसने लगे ॥२८॥ हाथीकी सूँड़से

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु सर्वाणि 'निरर्तः' इत्येव समपलम्यते । २. श ऊहि तर्क । ३. =
 पतता । ४. आ 'स्तनावयवयो' इति नास्ति । ५. = तद्वचनम् । ६. 'फूत्कृत्' इति टीकायामेव दृश्यते, प्रतिपु
 तु सर्वत्रैव 'फूत्कृत्' इति वर्तते । ७. नचिठ् इत्यपि पाठटीकाश्रय एव, प्रतिपु तु 'मृदित' इति दृश्यते ।

अविदितागमवारणभीभवत्पतनभम्नबृहदधिपात्रया ।

निववृते क्षणशोचितनशया नृपपथात्किल बलवयोषिता ॥३०॥

गुरुभरप्रहकुञ्जितघ्नश्चैश्चिरतरास्त्वलितैरपि चक्रिरे ।

कटकिनः प्रथमं कृतनिर्गमाः सपदि वैधधिकैरनुपायिनः ॥३१॥

नृपवधूजनयानवितानकैरलघुभिः कटकं निश्चितान्तरम् ।

तमवलोक्य जनैर्न न सस्मरे प्रचुरपोतचितः सरितां पतिः ॥३२॥

भगनाया घुरो यानमुखस्य द्वितये भागद्वये सति । विपुललाभकृते विपुलाय महते लाभाय (विपुललाभस्य) कृते, लाभनिमित्तम् । कृते इत्यलपयम् । अटतः सच्छतः । वज्रिजः बाणिजस्य । मनसा सह मानसेन साकम् । घृतघटैः घृतस्य घटैः कलयीः । स्फुटस्फुटपते स्म^१ । स्फुट विभेदने भावे लिट् । चित्तेन सह घृतघटैर्भिन्न-भिर्यथः । सहोचिन् ॥२९॥ अविदितेति । अविदितागमवारणभीभवत्पतनभम्नबृहदधिपात्रया अविदित^२ आगम^३ आगमनं यस्य तस्माद् वारणाज्जातेन भयेन (जातया भिया) भवना जायमानेन पतनेन भग्नं विभिन्नं बृहद् महद् दधिपात्रं यस्यास्तथा । क्षणशोचितनशया क्षणं स्वल्पकालं शोचितः^४ शोक्तो नाशो यस्य^५ तथा । बलवयोषिता बलवया गोपालया^६ योषिता स्त्रिया, बलवस्य योषिता वा । नृपपथात् राजमार्गात् । निववृते^७ किल आव्रियते स्म । वृत् वरणे कर्मणि लिट् ॥३०॥ गुरुमरति । गुरुभरप्रहकुञ्जित-विग्रहैः गुरोर्महतो भारस्य ग्रहेण स्त्रीकारेण कुञ्जितो ह्रस्वीकृतो विग्रहः शरीरं येषां तैः । चिरतरात् चिर-कालात्^८ । चलितैः आगतैः । वैधधिकैः भारवाहैः, कावहिकैर्वा । अपि प्रथमं पूर्वम् (अपि) । कृतनिर्गमाः कृतो बहिर्गतो निर्गमो निर्गम्य येषां^९ तैः । कटकिनः सेनानायकाः । सपदि शीघ्रम् । अनुपायिनः पथवाद्गामिनः । चक्रिरे चक्रुः । डुकृञ् करणे लिट् ॥३१॥ नृपति । अलघुभिः बहूभिः । नृपवधूजनयानवितानकैः नृपस्य राज्ञो वधू एव स्त्रिय एव जनाः (वधूना जनाः समूहाः) तेषां यानानां शिविकानां विनानकैः समूहैः । निश्चितान्तरं निश्चितं परिपूर्णमन्तरं मध्य^{१०} यस्य तम् । तं कटकं सेनाम् । अवलोक्य वाङ्मय । जनैः लोकैः प्रचुरपोतचितः

निकले हुए 'फू' शब्दको सुनकर वेल घबराकर ऐसे ढंगसे भागे कि गाड़ीके धुरेके दोनों अगले भाग टूट गये, और गाड़ीमे रखे हुए घोके घड़े, खूब मुनाफेकी इच्छासे सेनाके साथ गमन करने-वाले व्यापारीके हृदयके साथ फूट गये ॥२९॥ दहीसे भरे हुए बहुत बड़े घड़ेको अपने सिरपर रखकर एक स्थालिन सड़कसे चली जा रही थी, इतनेमें अचानक एक हाथी सामनेसे आ गया, उसे देखकर वह घबरा उठी और उसका घड़ा नीचे गिरकर फूट गया । बेचारी थोड़ी देर तक वहीं खड़ी-खड़ी दहीके बिनाशके बारेमें शोक करती रही, फिर वहाँसे लौटकर अपने घर चली गयी ॥३०॥ कुछ भार ढोनेवाले पुरुष अपने कन्धोंपर अत्यधिक बोझिल बहंगी—काँवर रखकर चले जा रहे थे । भारी भारके कारण उसके शरीर कुबड़ेको भाँति आगेकी ओर झुके जा रहे थे, फिर भी उन्होंने उन सेनापतियोंको पीछे कर दिया, जो बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे । कुलो लोगोंने बहुत पीछे प्रस्थान किया था, पर तेज चलनेके कारण वे सेनापतियोंसे भी आगे निकल गये ॥३१॥ जिन शिविकाओंमें रानियाँ बैठी थी, वे बहुत बड़ी-बड़ी थीं, उनसे सेनाका मध्य भाग घिरा हुआ था । इस अवसरपर सेनाको देखकर लोगोंको प्रचुर जहाजोंसे घिरे हुए समुद्रका स्मरण नहीं हो आया, यह बात नहीं थी—अर्थात् अवश्य ही स्मरण हो आया ।

१. अ क ख ग घ म "गतवारण" । २. म न स सस्मरे । ३. अ "स्फुटपते स्म" इति नास्ति ।

४. आ अविदितमज्ञातभागम् । ५. एष टोकाश्रयः पाठः, प्रतिबु "आगतम्" इति दृश्यते । ६. = चिन्तितः ।

७. = यथा । ८. = गोपालकया । ९. "निववृते" इति टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिबु "निववृते" इति पाठः समुपलभ्यते । १०. = अतिशक्तिम्बत इति यावत् । ११. व. । १२. अ "मध्य" इति नास्ति ।

सरभसैर्नरायविनिर्गमं^१ क्षितिभुजां प्रतिपालयतां बलैः ।

रुचिरे निचिताः पुरवीथयो गुरुतरङ्गव्यैरिव निम्नगाः ॥३३॥

तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतुरङ्गया ।

बहुमुखैर्जलधेरिव वेलया क्षुभितया प्रसृतं नृपसेनया ॥३४॥

पटहजेन पटुध्वनिना मुहुर्मुहुरिषाढयता प्रतिनिःस्वनैः ।

क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना सकलसैनिकसङ्घसु बध्ने ॥३५॥

अधिकमेधितया मुदितैर्जनः स हृतदृष्टिमनाः पुरशोभया ।

क्षितिपतिः सहसैव सविस्मयो रथमलोकत शालतले निजम् ॥३६॥

प्रचुरैर्बहुलैः पोतैर्नौभिः चितो युतः । सरितां नदीनाम् । पतिः समुद्रः । न स्मरे न स्मर्यते स्मेति न ।
द्वी नञो प्रकृतमर्थं द्योतयतः । उप्रेक्षा ॥३२॥ सरेति^१ । नरनायविनिर्गमं नरनायस्य भूपते
विनिर्गमं नियमिन् । प्रतिपालयतां^२ बाधकताम् । क्षितिभुजां भूपानाम् । सरभसैः संतोषयुतैः^३ । बलैः
सेनाभिः । निचिताः^४ युक्ताः । पुरवीथयः पुरस्य नगरस्य बीथयो रथ्याः । गुरुतरङ्गव्यैः^५ गुरुणा महतां
तरङ्गाणां कलोलानां चयैः^६ समुद्रेः । निम्नगाः नद्य इव । रुचिरे भान्ति स्म । उपमा ॥३३॥ तुरगेति ।
तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतुरङ्गया तुरगरोहानामम्बारोहानां कराग्रस्य हस्ताग्रस्य संज्ञया
समुत्पतन्तो नृत्यन्तस्तरलादञ्चलास्तुङ्गा उन्नतास्तुरङ्गा अश्वाः त एव तरङ्गा ऊर्मयो यस्यां तया । नृप-
सेनया नृपस्य नरपतेः सेनया संगेन । क्षुभितया संचलितया । जलधेः समुद्रस्य । वेलया^७ तीरेण इव ।
बहुमुखैः गानामुक्षैरित्यर्थः । प्रसृतं प्रयातम् । उपमा ॥३४॥ पटहति । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः । आह्वयता आकारय-
तेव । क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना क्षितिपतीना भूभूतामोषवरस्य पद्मनाभस्य निर्गमस्य निर्गमनस्य शंसिना^८
द्योतिना । पटहजेन भेरिजनिवेन । पटुध्वनिना पटुना व्यक्तेन ध्वनिना निस्वनेन । प्रतिस्वनैः प्रतिध्वनिभिः ।
सकलसैनिकसङ्घसु सकलानां निखिलानां सैनिकानां^९ सेनानायकानां सङ्घसु सदन्वु । बध्ने व्याप्यते स्म ।
बलमे कर्मणि लिट् ॥३५॥ अधिकमिति । मुदितैः संतुष्टैः । जनैः लोकैः । अधिकम् अत्यन्तम् । एषितया^{१०}
वधितया । पुरशोभया पुरस्य पत्तनस्य शोभया धिया । हृतदृष्टिमनाः हृते आहृते दृष्टिमनसो नयनमानसे
यस्याः सा (यस्य स) तथोक्तः । सविस्मयो आश्चर्ययुतः । सः क्षितिपतिः पद्मनाभः । शालतले शालस्य

शिविकार्हे जहाजो सरोखी थी और सेना समुद्र जैसी । अतः स्मरण होना स्वाभाविक था ॥३२॥
राजा पद्मनाभके निकलनेकी प्रतीक्षा करनेवाले राजाओंकी प्रसन्न सेनाएँ जिन मार्गोंमें खड़ी हुई
थी, वे मार्ग बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे युक्त नदियों सरोखे सुशोभित हो रहे थे । मार्ग नदियोंके
समान थे और सेनाएँ तरंगोंके समान ॥३३॥ सवारोंके हाथके हथारेपर नाचनेवाले घोड़े
पद्मनाभकी जिस सेनामें उत्ताल तरंगोंकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे वह समुद्रके ज्वार-भाटेकी
तरह अनेक ओरसे आगेकी ओर बढ़ चली ॥३४॥ राजाके विजय-प्रस्थानकी सूचना देनेवाला
मेरीका खूब जोरका शब्द सभी ओरसे प्रतिध्वनित हो रहा था । सभी सैनिकोंके घरोंमें भी
उसकी प्रतिध्वनि बार-बार पहुँच रही थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह उन्हें
(सैनिकोंको) राजाके साथ बाहर जानेका निमन्त्रण दे रही हो ॥३५॥ प्रस्थानके समय नाग-
रिक्तोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरकी खूब सजावट की थी । राजाका मन और नयन उस सजावटकी
ओर इतने आकृष्ट हो गये थे कि उसे अपने गमनका बिलकुल ध्यान ही नहीं रहा । जब अपने

१. स 'विनिगमे' । २. स सुहृत् । ३. = यानवाहिनैः । ४. आ नरेति । ५. = प्रलीलताम् ।
६. स संतोषयुतैः । ७. = व्यापताः । ८. आ श 'निचयैः' । ९. आ श निचयैः । १०. = 'अध्वग्यविकृतो
वेला' इत्यमरकोषानुसारं 'अध्वग्यप्रवृद्धजलाश्लिने' इति स्यात् । ११. = सूचकेन । १२. = बोधघूणां ।
१३. श अधितया ।

कृतपरस्परवाजिविघट्टना नमितवारणरोहशिरोधरा ।
 व्यथित तिर्यगुपाहितकेतना निरयणं पुरगोपुरतश्चमूः ॥३७॥
 विधुतपङ्कहो मधुपायिनामिव स्वैर्विदधत्परिभाषणम् ।
 वसुमतीदयितं परिरभ्य तं सुहृद्विषासुखयत्परिखानिलः ॥३८॥
 विकसिताम्बुरुहाणि सरोवराण्य कलुपाश्च पयोनिधयोषितः ।
 पथि विलोकयतः स्पृहणीयया क्षितिभुजोऽजनि शारदयात्रया ॥३९॥
 हृदयहृदयसो विमलाम्बराः पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः ।
 नरवरेण पुनः पुनरादराहृदिरे दयितासदृशो दिशः ॥४०॥

प्राकारस्य तले मूले । निजं स्वकीयम् । रथं चक्रयानम् । सहस्रैव शोधयेत् । अलोकित पश्यति स्म । लोकात्
 दर्शनं लब्धः ॥३६॥ कृतेति । कृतपरस्परवाजिविघट्टना कृत विहितं परस्परं वाजिनामम्बानां विघट्टनं संमर्दनं
 यस्यां सा । नमितवारणरोहशिरोधरा नमितः प्रणतो वारणरोहानां हस्तिपाकानां शिरोधरः कम्बरो^१ यस्या
 सा । तिर्यगुपाहितकेतना तिर्यक् तिर्यगुपेणोपाहितानि धृतानि केतनानि ध्वजा यस्या सा । चमूः सेना । पुरगो-
 पुरतः पुरस्य नगरस्य गोपुरतो गोपुरात्, पुरद्वारादित्यर्थः । निरयण निस्तरणम् । व्यथित करोति स्म ।
 लुब्धः ॥३७॥ विधुतेति । विधुतपङ्कहः विधुतानि कम्पितानि पङ्क^२रुहाणि कमलानि येन सः । मधुपायिना
 भ्रमराणाम् । रसैः ध्वनिभिः । परिभाषणं संभाषणम् । विदधत् कुर्वन्नेव । परिखानिलः परिखायाः स्वातिकाया
 अनिलो वायुः । वसुमतीदयितं भूमिवत्कम्पम् । तं पश्यामम् । परिरभ्य आलिंग्य । सुहृदिव मित्रवत् ।
 असुखयत् सुखमकरोत् । 'सुषुप्तःखतरिकाया लब्धः' । उत्प्रेसा (उपमा) ॥३८॥ विक्रमिरेति । विकसिताम्बु-
 रुहाणि विकसिताम्बुम्बुरुहाणि येव तानि । सरोवराणि^३ । अकलुपाः न विजले कलुष क्लमयो^४ यासा ताः ।
 पयोनिधयोषितः पयोनिधेः समुद्रस्य योषितः स्निग्धश्च (नदी) । पथि मार्गे । विलोकयतः बोधमाणस्य ।
 क्षितिभुजः भूमिपतेः । शारदयात्रया शारदया शरत्कालसंबन्धिन्या यात्रया प्रयागेन । स्पृहणीयया अभिलषितु
 योग्यया । अजनि । जनैश्च प्रादुर्भावे लुब्धः ॥३९॥ हृदयेति । हृदयहृदयस्य हृदयवृत्तौ मनोहरा वयसं^५ वक्षिणे
 यासा ताः, पक्षे हृदयहृन्ति मनोहराणि वयांसि योवनानि यासा ताः । विमलाम्बराः विमलं निर्मलम्ब्रमाकाशं
 यासा ताः, पक्षे विमलान्यम्बराणि वस्त्राणि यासा ताः । पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः पृथक् पीना^६ समुन्नताः
 प्राशवः पाण्डव शुभ्राः पयोधरा मेधा यासा ताः, पक्षे पृथु समुन्नतो पाण्डू धवलौ पयोधरौ स्तनौ यासा ताः ।

रथको सहसा चहारदीवारीके बाहरकी ढाल जमीनमें जाते देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ
 ॥३६॥ नगरके फाटकसे सेना निकलनेका दृश्य दर्शनीय था । एक ही साथ अनेक घोड़ोंके
 निकलनेसे, वे (घोड़े) आपसमें टकरा रहे थे; जो लोग हाथियोपर बैठे हुए थे, उन्हें अपनी
 गर्दन नवानो पड़ी; और ध्वज कुछ तिरछे करने पड़े—इस तरहमें नगरके फाटकसे सेना बाहर
 निकली ॥३७॥ कमलोंको हिलानेवाले (सुगन्धित) परिखाके वायुने पश्यामसे आलिंगन
 करके, और भीरोंके शब्दोंमें उससे कुशल-क्षेमकी बाते करके उसे एक मित्रकी तरह सुखो
 किया ॥३८॥ खिले हुए कमलोंसे अलंकृत तालाबों और निर्मल जलवाली नदियोंको देखकर
 राजा पश्यामको शरदश्रुती यह यात्रा बड़ी सुहावनी प्रतीत हुई ॥३९॥ नायिकाओंकी समा-
 नता करनेवाली सभी दिशाओंको राजा पश्यामने बार-बार आदरसे देखा ! नायिकाएँ मन
 हरनेवाले योवनसे युक्त हांती हैं; स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करनेवाली होती हैं; और बड़े-बड़े
 उन्नत एवं गोरे पयोधरोंको सुषमाका आश्रय होती है । इसी तरह शरदश्रुती दिशाएँ मनोहर

१. 'वट्टनानमित' । २. म सरोरुहाण्य । ३. = शिरोधरा कम्बरा । ४. अ पङ्के । ५. = सुख-
 यति स्म । ६. = सरोवरान् । ७. = कलुषं क्लमयं वासु । ८. = वय-शब्दस्य सुस्वं मृगम् ।

रुचिररत्नकराजितविभ्र हेविहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।

पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥४१॥

कुचमरादसहं शुकवारणे कलमगोपवधूमवलोकयन् ।

स्मितमुखः समचिन्तयदित्यसौ कचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते ॥४२॥

बृहदलाबुकगौरववामनां वृतिमुपर्युपरि प्रसूतैः पपे ।

सत्पितैरिव गोकुलयोषितां विपुलकान्तिजलो नयनैर्नृपः ॥४३॥

दयितासदृशः दयितामिर्यनितानिः सदृशः समानाः । दिशः ककुभः । नरवरणे नृपतिना । पुनः पुनः भूयो भूयः । ददशिरै रीक्ष्यन्ते स्म । कर्मणि लिट् । दलेपोपमा (पूर्वापमा वा) ॥४०॥ रुचिरैति । रुचिररत्नकराजितविभ्रहैः रुचिरमनोहरै रत्नकैः कम्बलै राजितो विभासितो विभ्रहो देहो येषां तैः । विहितसंभ्रमगोष्ठ-महत्तरैः विहितः कृतः संभ्रमो येषां ते तद्योक्ता, गोष्ठस्य गोस्थानस्य महत्तरा गोपालाः, विहितसंभ्रमावृत्ते गोष्ठमहत्तरावृत्ते तैः । पथि मार्गे । पुरः अग्रे । उपहितानि आनीतानि । दधिसर्पिरुपायनानि दधिसर्पिषोरुपायनान्युपश्रान्तिषु सः राजा । विलोक्य रीक्ष्य । पिप्रिये प्रीणाति स्म । प्रीञ् कान्तितर्पणयोः । लिट् ॥४१॥ कुचेति । कुचमरात् कुचयोर्मराद् मारात् । शुकवारणे शुकानां कोराणां वारणे निराकरणे । असहाम् असमर्थम् । कलम[गोप]वधू^५ कलमस्य बालिलेखनस्य [गोप]वधूं स्त्रियम् । अवलोकयन् रीक्षमाणः । स्मितमुखं स्मितमीषदसितं मुखं यस्य सः । असौ राजा । इति एवम् । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म । चित्तै संज्ञाने । लङ् । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । गुणोऽपि परमगुणोऽपि । क्वचित्^६ एकस्मिन् । अगुणायते अगुण इवाचरति, दोषायते इत्यर्थः । गुण इति आचारार्थे ण्यङ्-प्रत्ययः । अचान्तरग्यासः ॥४२॥ वृत्तिरिति । बृहदलाबुकगौरववामनां बृहत्तो महतोऽलाबुकस्य तुम्बीफलस्य गौरवेण गुल्मेन वामनां कुम्भाम् । वृत्तिम् आवरणम् । उपर्युपरि अग्रेऽग्रे । वीप्ताया द्विः । प्रसूतैः विस्तृतैः । गोकुलयोषिता गोकुलानां गोपालानां योषिता स्त्रीणाम् । तृपितैरिव पिपासितैरिव । नयनैः नेत्रैः । विपुलकान्तिजलः विपुला रुन्दा कान्तिः शरीर-कान्तिः सैव जल यस्य सः । सः नृपः पद्मनाभः । अपे पीयते स्म । पा बाने कर्मणि षिट् । उपमातिशयश्च

हंस आदि पक्षियोसि युक्त होनी हैं, निर्मल आकाशको धारण करनेवाली होती हैं एवं विस्तृत, उन्नत तथा शुभ्र मेघोंसे विभूषित होती हैं ॥४०॥ राजाके दर्शन करनेके लिए गोशालाओंके प्रमुख अहीर बड़े आदरसे पद्मनाभके सामने उपस्थित हुए । वे सभी कम्बल ओढ़े हुए थे । उन्होंने राजाको उपहारमें दही और घी समर्पित किया । मार्गमें सामने उपस्थित हुई इन उपहारकी वस्तुओंको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ । यात्राके समय दही देखना शकुन जो समझा जाता है ॥४१॥ एक घानके खेतमें बार-बार तोते आ रहे थे, उन्हें उस खेतकी रख-वाली भगाना चाहती थी, किन्तु स्तनोंके बोझसे वह विवश थी—दोड़-दोड़कर भगा नहीं पा रही थी । यह देखकर राजा मुनकराने लगा और मन-ही-मन यह सोचने लगा कि कहीं-कहीं-पर श्रेष्ठ गुण भी दोष बन जाता है ॥४२॥ बड़ी-बड़ी लौकियोंके बोझसे जो बाड़ी शुकती जा रही थी, उसीकी ओटमें खड़ी हुई खालिनोंकी आँखें मानो प्यासी थीं, अतएव बाड़ीके ऊपरसे निकालकर उन्होंने (आँखोंने) अत्यधिक कान्तिजलसे सम्पन्न राजा पद्मनाभको पी लिया—

१. = 'रत्नकरः कम्बले स्मृतः' अनेका ० ३।८५ । २. = यैः । ३. 'उपायनमुपश्रान्तिमुपहारस्तपोपवा' । इत्यमरः । ४. आ कलमकावधूं । ५. = कुचोबलबालामित्यर्थः । ६. = कुत्रचित् ।

समधिगम्य समस्तसमीहितामवनतैर्महतीं फलसंपदम् ।

क्षितिभृतः कलमैरथलोकितैः स्मृतिरजायत सज्जनगोचरा ॥४३॥

क्षणमुपास्य परां प्रियमागतं सरसि हंसवधूमवजानतीम् ।

समवलोक्य विवेद स भूपतिः सहजमेव पुरंध्रिषु कैतवम् ॥४५॥

शशिकराङ्कुरनिर्मलगून्बाह्विःकृतलालाभिजसोमपरिष्कृतान् ।

बुधनिभाभिगमान्स विलोक्यसज्जनि हृष्टमना वसुधाधिपः ॥४६॥

अनुपदाय बिसं प्रणयार्पितं सरसि चञ्चुधृतं परिकोपिताम् ।

अनुनयन्तमथो हृदयेश्वरोमभिननन्द स कोकमिलाधिपः ॥४७॥

॥४३॥ समधीति । समस्तसमीहितां समस्ता सकला समीहिताममोहात् । महतीं बृहतीम् । फलसम्पदं फलसमृद्धिम् । समधिगम्य संप्राप्य । अवनतैः विनतैः । बोधितैः । कलमैः शालिमैः । क्षितिभृतः भूपत्य । सज्जनगोचरा सज्जनास्त्वपुष्पा एव गोचरो विषयो यस्याः सा । स्मृति स्मरणम् । अजायत अजनि । कर्तुं प्रादुर्भावे लब्ध ॥४४॥ क्षणमिति । क्षण स्वल्पकालपर्यन्तम् । पराम् अन्यहंसीम् । उपास्य अनुमूय । आगतम् आयातम् । प्रियं वत्सलम् । अवजानतीम् उदासीनं कुर्वन्तीम् । हंसवधू मरालवनिताम् । सरसि सरोवरे । समवलोक्य समीक्य । सः भूपतिः पद्मनाभक्षितिपतिः । पुरंध्रिषु वनिताम् । कैतवं मायास्वरूपम् । सहजं स्वाभाविकमेवेति । विवेद जानाति स्म । विद ज्ञाने लिट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४५॥ शशीति । शशि-कराङ्कुरनिर्मलगून् शशिनश्चन्द्रस्य कराः [कराङ्कुराः] किरणास्त इव निर्मला विमला गावो घेवधः, पक्षे गावो बाधो येषां तान् । बहुवीहितमासत्वात् 'म्यगोध्यतोऽनघी —' इति ह्रस्वः । बहिष्कृतखलान् बहिष्कृता दूरीकृताः खला बाधराशयः, पक्षे दुर्जना येऽनान् । निजसीमरिष्कृतान् निजे स्वकीये सोमनि परिष्कृतानलङ्कृतान्, पक्षे निजने सीम्ना मर्यादया विभूषितान् । बुधनिभान् बुधैर्बिहङ्गिनिभान् समान् । निगमान् ग्रामान् । प्रविकोक्यन् भीक्षमाणः । वसुधाधिपः भूमीशः । हृष्टमनाः हृष्टं संतुष्ट मनश्चत यस्य सः । अजनि अजन्त । लुब्ध् । विलोपोपमा (पूर्णोपमा वा) ॥४६॥ अन्विति । सरसि सरोवरे । प्रणयार्पितं प्रणयेन स्नेहेनार्पित याचितम् । चञ्चुधृतं चञ्चुवा श्रोतया धृतं भूतम् । बिसं कमलनालम् । अनुपदाय अदत्त्वा । परिकोपिता

प्रेम पूर्वक देखा ॥४३॥ सभोके द्वारा अभिलषणीय महती फल सम्पत्तिको पाकर भी नम्रता धारण करनेवाली धानको देखकर राजाको सज्जनोका स्मरण हो आया, जो बड़ी-से-बड़ी विभूतिको पाकर भी नम्र रहा करते हैं ॥४४॥ क्षणभर दूसरी हंसीसे प्रणय करके आये हुए अपने पति (हंस) को देखकर विरुद्ध व्यवहार करनेवाली हंसीको सरोवरमे देखकर राजा यह समझ गया कि स्त्रियोमे माया व्यवहार उनके साथ ही उत्पन्न होता है ॥४५॥ कुछ और आगे जाकर राजा पद्मनाभ, पण्डितोंको बराबरी करनेवाले ग्रामोको देखकर मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ । पण्डित लोग चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल वचनोंके धनी होते हैं; दुर्जनोंको अपने पास नहीं फटकने देते और अपने कुल और शास्त्रकी मर्यादासे सुशोभित होते हैं । इसी प्रकार वे ग्राम चन्द्रमाकी किरणोंके समान धौली गायोंसे युक्त थे; उनके बाहर खलिहान थे और वे अपनी सीमाके भीतर साफ-सुथरे थे ॥४६॥ एक सरोवरमे राजा पद्मनाभकी दृष्टि एक चकई-चकवेकी जोड़ीपर जा पड़ी । चकवीने चकवेकी चोचमे स्थित मृणालको पानेके लिए बड़े स्नेहसे याचना की, पर चकवेने उसकी पूर्ति न करके उसे रुष्ट कर दिया । इसके पश्चात् उसे मन-ही-

१. = अथलोकितैः । २. वा कुर्वन्तीम् । ३. आ वा 'श्रीषु । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अथयार्पितं' वतंसे ।

अलदनादगभीरमधिष्णिवनिश्रवणजातसमुत्सुकमानसम् ।
 नटकुदीप्य कुलं भुजगद्विषामभिग्रशंस स गोकुलवासिनाम् ॥४८॥
 कलमगोपकबंधराहितधृति कुरङ्गकुलं पृथनाचरैः ।
 इतमुदीप्य जनैरिति सोऽध्यगाद्विषयिणो नियतं विपदां पदम् ॥४९॥
 सुगतिगामिनि भाषितमानसे विमलपक्षतया परिभूषिते ।
 न स शशाक निवर्तयितुं दृशौ स्वसदृशे नृपहंसकुले नृपः ॥५०॥

क्रोधं कृतवतीम् । हृदयेऽवतीं कोकवनिताम् । अथो पश्चात् । अनुनयन्तम् अनुसरन्तम् । कोकं चक्रवाकम् । सः इलाधिपः पद्मनाभभूषितः । अभिनन्द^१ संतुतोष । दृष्टुं समुद्रो हि^२ ॥४७॥ अलदेति । अलदनादगभीर-
 मधिष्णिवनिश्रवणजातसमुत्सुकमानसं अलदस्य मेघस्य नाद इव ध्वनिवद् गभीरस्य गम्भीरस्य मयिनोऽकारणस्य
 (मयिनो दधिमन्थनकारणस्य) ध्वनेः शब्दस्य श्रवणेन जातं समुद्भूतं समुत्सुकं संप्रमयुक्तं मानसं चित्तं
 यस्य तत् । नटत् नृत्यत् । गोकुलवासिनां यथां कुले समूहे वासिनां विद्यमानानाम् । भुजङ्गद्विषां भुजगानां
 सर्पाणां द्विषां शत्रूणां मयूराणामित्यर्थः । कुलं यूथम् । उदीक्ष्य बिलोदय । सः राजा । अभिग्रशंस स्तोत्रि स्म ।
 शम्भूद्^३ स्तुती हि^४ । जातिः (भ्राष्ट्रिमा^५) ॥४८॥ कलमेति । कलमगोपकबंधराहितधृति कलमानां
 शालिक्षेणाणा गोपकानां रक्षता बंधस्य^६ कण्ठस्य रवे ध्वनौ आहिते आसक्ते श्रुती यस्य तत् । पृथनाचरैः
 सेनावर्तिभिः । जनैः लोकेः । हतं^७ बाधितम् । कुरङ्गकुलं कुरङ्गाणां मृगाणां कुलं यूथम् । उदीक्ष्य वीक्ष्य ।
 विषयिणः^८ इन्द्रियविषययुक्ताः । नियतं^९ निश्चयम् । विपदा विपत्तीनाम् । पदं स्थानम् । इति एवम् । सः
 राजा । अध्यगात् स्मरति स्म । इक् स्मरणे लङ्^{१०} । अर्चान्तरन्यासः ॥४९॥ सुगतीति । सुगतिगामिनि सुगत्या
 प्रशस्तगमनेन गामिनि गमनशीले, पक्षे सुगति स्वर्गादिगति गच्छतीत्येवंशीले । भाषितमानसे भाषितं चिन्तितं
 मानसं मानससरोवरं (रो) यस्य^{११} तस्मिन्, पक्षे भाषितं सम्यक्त्वादिनां परिणतं मानसं यस्य तस्मिन् ।
 विमलपक्षतया^{१२} विमलया शुभ्रया पक्षतया पक्षतया, पक्षे विमलेन निर्दोषेण पक्षतया प्रतिज्ञायुक्ततया
 निदुष्टमहावजनतया वा । परिभूषिते अलंकृते । स्वदूले स्वस्य समाने । नृहंसकुले नृपहंसानां राजहंसानां^{१३}
 कुले समूहे । दृशौ नयने । सः राजा निवर्तयितुं निवर्तनाय । न शशाक न शक्नोति स्म । इत्येवंप्रथमा ॥५०॥

मन पश्चात्ताप होने लगा । फलतः वह अप्रसन्न की गयी अपनी उस हृदयकी स्वामिनी चक्रवीका
 अनुनय करने लगा । यह सब देखकर पद्मनाभ बड़े प्रसन्न हुआ ॥४७॥ मेघोंके गर्जनके समान
 गम्भीर दहोके मन्थनके शब्दको सुनकर मयूरोंके झुण्डका मन उत्कण्ठित हो उठा, और वह
 नाचने लगा, उसे देखकर राजाने गायोंके झुण्ड (गोकुल) में निवास करनेकी बड़ी प्रशंसा की
 ॥४८॥ घानके खेतोंकी रखवाली करनेवाले बाँसुरी बजा रहे थे, उसके मधुर स्वरको मृगोंका
 झुण्ड बड़े ध्यानसे सुन रहा था । उसे बाँसुरीके स्वरमें वेसुध-सा देखकर सैनिकोंने आसानीसे
 मार डाला । यह देखकर राजाको यह भान हो गया कि विषयी जीव निश्चय ही विपत्तियोंके
 शिकार होते हैं ॥४९॥ अपने ही समान राजहंसोंका झुण्डको देखकर राजा पद्मनाभ अपने
 नेत्रोंको उसकी ओरसे हटानेके लिए असमर्थ हो गया । पद्मनाभ स्वर्ग आदि अच्छी गतियोंमें
 जाने योग्य था, उसका हृदय शुभ भावनाओंसे युक्त था और वह निर्मल -निर्दोष व्यक्तियोंके
 पक्षसे विभूषित था । इसी तरह राजहंसोंका झुण्ड अच्छी चालसे युक्त था, उसका ध्यान
 मानस सरोवर झीलकी ओर लगा हुआ था और वह शुभ पंखोंसे सुशोभित था ॥५०॥

१. क ल ग घ म^१ वासिताम् । २. = अभिग्रशंस । ३. आ^२ मधिष्णवि, श^३ मधिष्णवि^३ । ४. आ
 शम्भूज् । ५. श^४ मरोपक^४ । ६. श^५ रोप^५ । ७. = वेणुवाद्यस्य । ८. = मारितम् । ९. = इन्द्रियविषययुक्ताः ।
 १०. = निश्चितम् । ११. श^६ लङ् । १२. = येन । १३. = विमलो निर्मलः पक्षो विमलानां निर्मलः वा पक्षोऽ-
 नुरागविशेषस्तस्य भावस्तथा । १४. श^७ 'राजहंसानां' पदमिदं नोपलभ्यते ।

फलितसस्यसमूहानिरन्तरास्वतिमनोरमलाङ्गलराजिषु ।
 क्षितिषु गौरिव गौर्जगतीभुजश्चिरतरं विचचार निरङ्कुशा ॥५१॥
 जनमनःशयने शयितं मनोभवमिव प्रतिबोधयता कृतः ।
 समदहंसकुलेन कलध्वनिर्नृपतिनावहितश्चरति शुभ्रवे ॥५२॥
 परिमितैर्गमनैः कुषवाहिनीं पथि सुविश्रमयन्गजवाहिनीम् ।
 जलधिधीरजलां जलवाहिनीं वसुमतीपतिराप स वाहिनीम् ॥५३॥
 विविधमङ्गतरङ्गशिरःस्थितैस्तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः ।
 वसुमतीव विराजति या शरद्वनधनाघनरुद्धमहोधरा ॥५४॥
 समवगाढवतां वनवन्तिनां कटतटादुगलितस्य मदाम्भसः ।
 उपरि संचरतामलिनां कुलैः सतिलकाभरणेषु विभाति या ॥५५॥

फलितेति । फलितसस्यसमूहानिरन्तरासु फलितानां फलभरितानां सस्यानां समूहेन निश्चयेन निरन्तरासु
 संकीर्णानि । अतिमनोरमलाङ्गलराजिषु अतिमनोरमा अत्यन्तं मनोहरा लाङ्गलानां हलानां राजयो रेखा यासु
 तासु । क्षितिषु क्षेत्रेषु । गौरिव धेनुरिव । जगतीभुजः भूभुजः । गो. दृष्टिः । निरङ्कुशा निर्बाधा । चिरम्
 अनेककालम् । विचचार^१ वर्तते स्म । उपमा ॥५१॥ जनेति । जनमनःशयने जनानां लोकानां मन एव
 चित्तमेव शयनं पर्वङ्क (कु.) तस्मिन् । गयितं पुनश्च । मनोभवं मन्थयम् । प्रतिबोधयता इव जागरयता
 इव । समदहंसकुलेन समदानां हर्षयुक्तानां हंसानां मरालानां कुलेन यूयेन । कृतः विरचितः । कलध्वनिः
 मनोहरध्वनिः । नृपतिना पद्मनाभेन । अवहितश्चरति अवहिते सप्रदे श्रुती कर्णौ यस्मिन् कर्मणि तत्० ।
 शुभ्रवे श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥५२॥ परिमितैरिति । पथिषु मार्गेषु ।
 कुषवाहिनीं कुषं रत्नकम्बलं बहवीर्येवंशीला कुषवाहिनीं ताम् । 'कुषः स्यान् करिकम्बलः' इत्यभिधानात् ।
 गजवाहिनीं गजानां वाहिनीं सेनां ताम् । गजवाहिनीमित्युपलक्षणम् । सर्वमपि सेनामित्यर्थः । विश्रमयन्
 विश्रांतिं नयन् । परिमितैः कतिपयैः । गमनैः प्रयाणैः । सः वसुमतीपतिः भूमिपतिः । जलधिधीरजलां
 जलधिरिव समुद्रबद्धो धीरं प्रवृद्धं जलं यस्याः सा ताम् । जलवाहिनीं जलवाहिनीनामधेयाम् । वाहिनीं नदीम् ।
 आप यथो । आप्लु व्याप्तो लिट् । जातिः (यमकम्) ॥५३॥ विविधेति । विविधमङ्गतरङ्गशिरःस्थितैः^२
 विविधैर्नानाप्रकारैर्मङ्गलैर्वक्रपुनैः (विविधमङ्गलानां नैकविधरचनानां) तरङ्गानां कलोलानां शिरस्यग्रे
 स्थितैः । तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः तुहिनमिव निर्मलानां युष्मानां फेनानां बिम्बराणां कदम्बकैर्निकुरम्बकैः ।
 या नदी । शरद्वनधनाघनरुद्धमहोधरा शरदः शरत्कालस्य घनैः मन्दैर्घनाघनैर्मयै रूढा आवृता महोधराः
 पर्वता यस्याः सा । वसुमतीव भूमिरिव । विराजति भाति । लिट् । उपमा ॥५४॥ ममेति । समवगाढवता
 मवक्रताम् । वनवन्तिना वनगजानाम् । कटतटात् कपोलप्रदेशात् । गलितस्य प्रसृतस्य । मदाम्भसः मदजलस्य ।

चावल आदिके दानांसे भरे हुए घान आदि अनाज, जिन खेतोंमें लगातार लगे हुए थे, उनमें
 राजाकी दृष्टि बहुत देर तक एक गायकी भाँति स्वच्छन्द-विचरण कर रही थी ॥५१॥
 लोगोंकी चित्त-शय्यापर सोये हुए कामदेवको जगानेवालेके समान प्रतीत होनेवाले मतवाले हंसों-
 के झुण्डने जो मधुर ध्वनि की, उसे राजाने कान लगाकर बड़े चावसे सुना ॥५२॥ मार्गमें बहुत
 थोड़े पड़ाव डालकर झूलते विभूषित हाथियोंकी सेनाको विश्राम कराता हुआ राजा पद्मनाभ
 समुद्रके समान गम्भीर नोरसे भरी हुई जलवाहिनी नामकी नदीके पास जा पहुँचा ॥५३॥
 उसकी छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी तरंगोंके ऊपर बर्फोंकी तरह शुभ्र फेन लहरा रहा था, अतः

१. क ख ग घ ङ सरिद्वय । २. = बहुभालं यावत् । ३. = संचरति स्म । ४. श जागरता
 इव । ५. = गमोर् । ६. = विविधमङ्गलानां नैकविधरचनानां तरङ्गानां कलोलानां शिरस्यग्रभागे
 स्थितैः । ७. आ हिमिराणां ।

कृतपरस्परकेलिभिरुच्छलन्मेधुरगीतरवानुगनिःस्वनैः ।
 उभयकूलगतैः पततां कुलैर्निजविनोदकरैरिव भाति या ॥५६॥
 तदगतामलनीलशिलातलोत्सितदोघितिरञ्जितनीरया ।
 पतितया सततायनवर्त्मनः^१ प्रतिमयेव विभाति मही यथा ॥५७॥
 मकरसूक्ततदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिरिन्दुमणिप्रभैः ।
 सततमम्बुधराध्वनि तारकाकुलकृता क्रियतेऽभिरुचिर्यया ॥५८॥

उपरि अग्रे । संचरतां भ्रमताम् । अलिना मधुराणाम् । कुलैः समूहैः । या जलवाहिनी नदी । सलिलका-
 भरणेव तिलकमेवाभरणं भूषणं तेन युतेव । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ कृतेति ।
 कृतपरस्परकेलिभिः कृता बिहिता परस्परकेलिरन्योन्यविलासो येषां^२ तैः । उच्चरन्मधुरगीतरवानुगनिस्वनैः
 उच्चरतः पठतो मधुरस्य मनोहरस्य गीतस्य गानस्य रवं ध्वनिमनुगोऽनुगतो निस्वनो रभो येषां तैः । उभय-
 कूलगतैः उभयं कूलं तटं गतेयतिः । पतता पक्षिणाम् । कुलैः मूषैः । या नदी । निजविनोदकरैरिव^३ स्वस्य
 परिहासैरिव । भाति विराजते^४ लट् । उत्प्रेक्षा ॥५६॥ तटेति । तदगतामलनीलशिलातलोत्सितदोघिति-
 रञ्जितनीरया तटं तोरं गताया अमलाया निर्मलाया नीलशिलाया इन्द्रनीलशिलायास्तलस्य प्रदेशस्योत्क-
 सितया विराजितया दोघित्या कान्त्या रञ्जितं रागं गतं नीरं जलं यस्यां (यस्याः) तथा । यथा जल-
 वाहिनीनद्या । पतितया निराधारेण च्युतया । सततायनवर्त्मनः सततं सततमयनं गमनं यस्य स तथोक्तः,
 वायुरित्यर्थः, तस्य वर्त्मनो मार्गस्याकाशस्येत्यर्थः । प्रतिमयेव प्रतिबिम्बेव । मही भूमिः । विभाति विराजते ।
 लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ मकरैति । इन्दुमणिप्रभैः इन्दुमणेश्चन्द्रकान्तस्य प्रभेव प्रभा येषां तैः । उपमा । मकर-
 सूक्ततदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिः मकराणां जलचरविशेषाणां सूक्ततेन दूर समुच्चलद्भिरितस्तत्सलिल-
 सलिलस्य जलस्य बिन्दुभिः पुष्पैः । सततम् अनवरतम् । अम्बुधराध्वनि आकासे । तारकाकुलकृता
 तारकाणां नक्षत्राणां कुलेन समूहेन कृता बिहिता । अभिरुचिः शोभा । यथा नद्या । क्रियते विधीयते । कर्मणि
 वह (नदी) उस पहाड़ी भूमिकी भाँति सुशोभित हो रही थी जहाँ छोटे-बड़े सभी पहाड़ोंके
 शिखरोंपर शरदकालके मेघ छाये हुए हों ॥५४॥ उस नदीमें जहाँ जंगली हाथी डुबकी साध
 रहे थे, वहाँ जलकी सतहपर उनके गण्डस्थलोंसे निकला हुआ मदजल बह रहा था, उसके
 ऊपर भीरोंके झुण्ड भँडरा रहे थे, उनसे वह नदी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो तिलकका
 शृंगार किये हुए हो ॥५५॥ उस जलवाहिनी नदीके दोनों तटोंपर पक्षियोंके झुण्ड बैठे हुए थे ।
 वे । वे आपसमें क्रीड़ा कर रहे थे और मधुर गानकी भाँति शब्द कर रहे थे, अतः उनकी
 परिस्थितिसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मनोरंजन करनेवाले अभिनेताओं—नाटकके पात्रोंसे
 युक्त हो ॥५६॥ उसके छाटोंपर निर्मल नीले रंगकी शिलाएँ जड़ो हुई थी—उनकी किरणोंसे
 उसका जल रंगीन—सफेदसे नीला हो गया था, अतः उस नदीके कारण पृथ्वी ऐसी जान पड़ती
 थी मानो आकाशकी छायासे युक्त हो । नील शिलाओंकी किरणोंके पड़नेसे पूरी नदी नीली होकर
 आकाशकी छाया-सी जान पड़ती थी ॥५७॥ उस नदीमें मगर बहुत थे । उनके
 मुखसे निकले हुए सूत्कारसे जलकी बूँदें—जो चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाकी भाँति शुभ्र
 थीं—बहुत ऊँचाई तक उछलकर आकाशमें सदा ताराओंकी शोभा फैलाया करती थीं ।

१. आ इ "मिच्छलन्म" । २. अ आ इ "यतवर्त्मनः" । ३. = येः । ४. = स्वमनोरञ्जनकारिभिरुप-
 लक्षितेव । ५. सा विराजति । ६. अस्य टीकाधयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु "सूक्तत" इति दृश्यते ।
 ७. "समुच्चलत्" इति टीकायामेव वर्तते, मूलप्रतिषु "समुच्छलत्" इति समबोध्यते । ८. = नकाणां ।
 ९. सा "इतस्तत्पक्षिभिरुचिः" इति पाठो नोपलभ्यते ।

पुलिनभूमिषु यत्र तटद्रुमव्यवहितान्शुमदंशुषु मारुतः ।

सुरतज्जभमवारिकणान्पिबन्नमयते मिथुनानि नभःसदाम् ॥५९॥

घनतरैरुपरिजितवारिभिः सुरमिताखिलदिग्विवराम्बरैः^१ ।

परिमलैरुपरिस्थितखेचरोसलिलकैलमयो चिबृणोति या ॥६०॥

दानाम्भोभिर्भूरिभिर्वीरनानां श्रान्त्युद्भूतैर्वाजिनां वक्त्रफेनैः ।

वक्त्रे पुण्यस्त्रोतस्^२ तुल्यनामप्रोत्थेवासी^३ वाहिनी वाहिनीं ताम् ॥६१॥

कट् । अतिशयः ॥५८॥ पुलिनेति । यत्र नद्याम् । तटद्रुमव्यवहितान्शुमदंशुषु तटस्य तोरस्य द्रुमवृक्षव्यवहिता
अन्तरिता अंशुमतः सूर्यस्यांशवो मयूखा यामु तामु । पुलिनभूमिषु सिकतापुञ्जभूमिषु । मारुतः वायुः ।
सुरतज्जभमवारिकणान् सुरतज्जस्य निधुवनजनितस्य श्रमवारिणस्त्वेदजलस्य कणान् लवणान् । पिबन्^४ पानं
कुर्वन् सन् । नभःसदाम् अमराणां विद्याधराणां वा । मिथुनानि युगलानि । रमयते संतोषयति स्म । रश्मि
क्रीडायां लिजन्तास्लट् ॥५९॥ घनतरैरिति । घनतरैः बहुलैः । उपरिजितवारिभिः उपरिजितैः क्रीडानिमित्त-
मायात[खेचर]स्त्रोतजनितनगलिनकुङ्कुमादिना रागं गतैः । वारिभिः सलिलैः । सुरमिताखिलदिग्विवराम्बरैः
सुरमितानि परिभक्षिताय्पिबलानि सकलानि दिशा विचाराण्यम्बरमाकाशं वेष्टा^५ तैः । परिमलैः सुरभिभिः ।
या नदी । उपरि स्थितखेचरोसलिलकैलम् उपरिस्थितानामुपरिष्ठात् स्थितानां खेचगेणा देवीनां विद्याधराणां
(वा) सलिलकैर्लि जलक्रीडाम् । अधः अधोभागः । चिबृणोति व्यक्तोत्क्रोति ॥६०॥ दामेति । वारणानां
गजानाम् । भूरिभिः प्रचुरैः । दानाम्भोभिः मदजलैः । श्रान्त्युद्भूतैः श्रान्त्या श्रमंगोद्भूतैः प्रवृद्धैः । वाजिनाम्
वक्त्रवानाम् । वक्त्रफेनैः वक्त्राणां मुखाणां फेनैः छिन्नैः^६ । असी इयम् । वाहिनो सेना । ता वाहिनीं नदीम् ।
तुल्यनामप्रोत्थेव तुल्ये समाने नामनि प्रोत्थेव स्नेहेनेव । पुण्यस्त्रोतस पुण्यप्रवृद्धं स्त्रोतः प्रवाहो यस्यास्ताम् ।

इसका एक मात्र श्रेय उस नदीको था ॥५८॥ उस नदीके तटपर घनी वृक्षावली थी,
उसके कारण सूर्यकी किरणें उसीमें उलझ जाया करती थी, नीचे नहीं पहुँच पाती थी ।
उसी वृक्षावलीके नीचे जलसे निकले हुए क्षीतल प्रदेशोंमें देव-देवियोंके युगल सम्भोगका
सुख भोगते थे । सुरतके परिश्रमसे निकली हुई पसीनेकी बिन्दुओंको पीकर वायु उन्हें आनन्द
पहुँचाता था ॥५९॥ उस नदीमें विद्याधरोकी स्त्रियाँ जलक्रीडा करने आया करती थीं ।
उनके फूलोंके आभूषणोंकी परागसे नदीका जल गाढा हो जाता था, अंगरागके घुलनेसे रंगीन
हो जाता था, तथा उनके मूल-कमलकी सुगन्धसे सभी दिशाओंका मध्यभाग या सारा-का-सारा
वायुमण्डल सुवासित हो उठता था । उस नदीका बहाव जिस ओर था, उस ओर नहानेवाले
जलकी घनता व बदले हुए रंगको देखकर तथा उस ओरसे आनेवाली सुगन्धको सूँघकर ऊपर-
की ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीडाका अनुमान कर लेते थे । जल और वायुमण्डलका परिवर्तन
ही उन्हें ऊपरकी ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीडाकी सूचना दे दिया करता था ॥६०॥ राजाकी
वाहिनी-सेनाने मानो अपने नामकी समानतासे उत्पन्न हुई प्रीतिके कारण उस वाहिनी-नदीके
प्रवाहको अपने हाथियोंके अत्यधिक मदजलसे एवं श्रमवश घोड़ोंके मुखसे उत्पन्न हुए फेनसे पुष्ट

१. क ल ग घ ञ दिग्बलयातरैः । २. आ इ पुण्यस्त्रोतसं । ३. क ल ग घ ञ तुल्यनाम-
प्रोत्थेवासी । ४. = शोषयन् । ५. = यैः । ६. = संजातैः । ७. आ दिग्विः ।

संसर्पतटगतकर्कटां समीनामुन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् ।
तीर्त्वा तामुदयसमन्वितो जगाम क्षोणीभृत्सरितमिवाम्बुवाहवीथीम् ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

पक्षे चकार । दुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥६१॥ संसर्पदिति । संसर्पतटकर्कटां संसर्पतटगततास्तीरवताः कर्कटाः कुलीरा यस्यास्ताम्, पक्षे कर्कटैराशियुक्ताम् । समीनां मीनैर्मत्स्यैर्युक्ताम्, पक्षे मीनराशियुक्ताम् । उन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् उन्मज्जद्भिरुत्तरद्भूमिकरैर्जलचरविशेषैः विराजमानं मध्यं यस्याः ताम्, पक्षे (मकरराशिसहिताम्) । तस्य (?) अम्बुवाहवीथीमिव गगनमिव । तां सरितं जलवाहिनीं नदीम् । उदय-समन्वितः उदयेन^१ संपदा समन्वितो युक्तः^२ । क्षोणीभृत्^३ पथनाभः । तीर्त्वा उत्तीर्य । जगाम ययौ । गन्तु गतौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमथरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

कर दिया—बड़ा दिया ॥६१॥ वह नदी आकाश सरीखी थी । जिस तरह आकाशमें कर्कराशि, मीनराशि और मकरराशि होती है, उसी तरह उस नदीके तटपर कर्क—कंकड़े रेंग रहे थे, उसके जलमें मत्स्य—मछलियाँ थीं और उसके मध्यभागमें मकर-मगर निवास करते थे । अम्बुदयशाली राजा पथनाभ उसे पार करके आगे चला गया ॥६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रमथरित महाकाव्यमें तेरहवाँ
सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

१. = कर्कराशियुक्ताम् । २. = तर्कः । ३. = अम्बुदयेन । ४. आ समन्वितः सहितः । ५. आ क्षाभृत् ।

[१४. चतुर्दशः सर्गः]

मणिप्रभाभिर्मणिकूटमद्रिं सदीपेमुच्चैरुपदं ददर्श ।

अयुतं विषोऽन्योन्यविघट्टनेन तडित्त्वतां वारिमुचामिवौघम् ॥१॥

विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकीयैरिषाद्वितीयां बहती विभूषाम् ।

निशाकरो यस्य निशासु शोभां करोति चूडामणिमात्रजन्याम् ॥२॥

पर्यन्तचर्यः कनकोज्ज्वलासु यन्मेखलासुचतरासु ताराः ।

परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां कुर्वन्ति कृत्यं मणिकिङ्किणीनाम् ॥३॥

मणीति । मणिप्रभाभिः मणीनां रत्नानां प्रभाभिः । दीपं देदीप्यमानम् । 'नमस्कृत्यजस्क—' इत्यादिना शोले र-प्रत्ययः । उच्चैरुपगतं दृषण्डं वृषकदम्बकं यस्य तम् । मणिकूटं मणिकूटनामधेयम् । अद्रिं पर्वतम् । अन्योन्यविघट्टनेन अन्योन्यं परस्परं विघट्टनेन संमर्दनेन^१ । दिवः आकाशात् । अयुतं पतितम् । तडित्त्वतां विद्युत्त्वताम् । 'स्तं मत्वं' इति पदत्वामावाप्तं जस्त्वम् । वारिमुचा मेधानाम् । ओषमिव समूह-मिव । सः राजा । ददर्श पश्यतिस्म । लिट् ॥१॥ विचित्रेति । स्वकीयैः स्वसंबन्धैः । विचित्ररत्नैः विचित्रै-र्नानाविधै रत्नैर्मणिमयैः । कटकैरिव बलार्थैरिव स्थितैः । कटकं नितम्बैरित्यर्थः । अद्रितीया सादृश्यरहि-ताम् । विभूषाम् अलंकारम् । बहती चरतः । यस्य पर्वतस्य । निशासु रात्रिषु । निशाकरः चन्द्रः । चूडा-मणिमात्रजन्या चूडामणिमात्रेण शिरोरत्नमात्रेण जन्यामूत्रज्याम् । शोभां करोति विदधाति । लिट् । चन्द्र-ह्चूडामणिरिषामिति, इत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥२॥ पर्यन्तेति । कनकोज्ज्वलासु कनकेन सुवर्णधातुना^२ उज्ज्वलासु प्रकाशमानासु । उच्चतरासु^३ अत्युन्नतासु । यन्मेखलासु यन्मेखलासु सानुषु काञ्चीधामसु^४ । पर्यन्तचर्यः पर्यन्ते समन्ततः (चरन्तीति) चर्यः संबन्धः^५ । तारा नक्षत्राणि । परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां परिस्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या दीधित्या काम्या भासुराणां प्रकाशनशीलानाम् । 'भजभास—' इत्यादिना घुर—प्रत्ययः । मणि-

इसके पश्चात् राजा पद्मानभने आगे बढ़ते ही मणिकूट नामक पर्वतको देखा । उसके ऊपर खूब ऊँचे-ऊँचे प्रस्तरखण्ड-चट्टानें थे, और वह मणियोंको प्रभासे देदीप्यमान हो रहा था । अतएव वह ऐसा जान पड़ता था मानो आपसमें टकराकर आकाशसे गिरा हुआ, बिजली सहित मेघोंका समूह हो ॥१॥ वह नाना प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए कड़ोंके समान शोभाको धारण करनेवाले अपने विचित्र रत्नमय मध्यभागके प्रदेशोंसे अद्वितीय मुषमाको प्राप्त कर रहा था । जिस प्रकार कड़े मनुष्यको मण्डित करते हैं उसी प्रकार मध्यभाग उसकी शोभाको बढ़ा रहे थे । मध्यभाग (कटक) ही उसके कड़े थे । अब केवल चूडामणिकी कमी रह गयी थी, जिसे रात्रि-के समय चन्द्रमाने पूरा कर दिया जो उसके सबसे उन्नत शिखरपर चूडामणि सरीखा जान पड़ता था ॥२॥ उस पर्वतकी, अत्यन्त उन्नत और स्वर्णमय होनेसे उज्ज्वल मेखलाओं-मध्यभाग-के प्रदेशों (करधनी) में चारों ओर घूमनेवाली ताराएँ चमाचमाती हुईं किरणोंसे देदीप्यमान मणिजडित छोटी-छोटी घण्टियोंका काम कर रही थी । उसके मध्यभाग (मेखला) करधनी सरीखे थे और उन्हींके आस-पास घूमनेवाली ताराएँ छोटी घण्टियों सरीखी । उसके मध्यभाग

१. अ आ इ सदीप^१ । २. 'दृषण्डं' टीकायां 'दृषद्' च मूलप्रतिषु वर्तते । ३. श 'संमर्दनेन' इति नास्ति । ४. = स्वसंबन्धिभिः, आश्लेषैः—इत्यर्थः । ५. = छविम् । ६. श 'कनकेन स्वर्णधातुना' इति नास्ति । ७. आ उच्चतरा, श उज्ज्वलतारासु । ८. श 'धामसु' । ९. = संबन्धिष्यः ।

धूमोद्गमैरागुरवैः सुरस्त्रीप्रवर्त्यमानैः पटवासहेतोः ।

सदाम्बरे यत्र तपान्तलक्ष्मीर्वितन्यते बद्धपयोदवृन्दैः ॥४॥

दत्तश्रुतिः किन्नरकामिनीनां गीतेषु मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः ।

मृगव्रजो यत्र सजीवशिल्पशङ्कां विधत्ते गगनेचराणाम् ॥५॥

निवारयन्तोऽपि दरीमुखस्थाः करप्रवेशं सवितुः पयोदाः ।

तडितप्रभादर्शितवक्त्रभास्या व्रजन्ति यत्र सुसदां प्रियत्वम् ॥६॥

किङ्किणीनां मणिमयी रत्ननिमित्तानां किङ्किणीनां शुद्धघण्टिकानाम् । कृत्यं कार्यम् । कुर्वन्ति विदधति । उत्प्रेक्षा ॥३॥ धूमेति । यत्र गिरी । पटवासहेतोः पटवासस्य परिमलस्य पटवासस्र्णस्य हेतोर्निमित्तम् । सुरस्त्रीप्रवर्त्यमानैः सुरस्त्रीभिर्देववनिताभिः प्रवर्तमानैः प्रवर्तमानं क्रियमाणः^१ । आगुरवैः कालागुरुसंभवैः । धूमोद्गमैः धूमस्योद्गमैरुदयैः । अम्बरे गगने । बद्धपयोदवृन्दैः बद्धैर्विरचितैः पयोदानां मेघानां वृन्दैः समूहैः । सदा सर्वकाले । तपान्तलक्ष्मीः तपान्तस्य वर्षाकालस्य लक्ष्मीः शोभा । वितन्यते^२ । उत्प्रेक्षा ॥४॥ दत्तेति । यत्र गिरी । किन्नरकामिनीनां किन्नरवनिटानाम् । गीतेषु गानेषु । दत्तश्रुतिः दत्ते भ्यस्ते श्रुती कर्णौ यस्य^३ । मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः मूर्च्छागतं परवशं^४ निश्चलं निष्कम्पमङ्गं शरीरं यस्य सः । मृगव्रजः मृगाणां कुरङ्गाणां व्रजः समूहः । गगनेचराणां विद्याचराणाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति छि-प्रत्ययस्य ण्लुक्भावः । सजीवशिल्पशङ्का सजीवं जीवयुक्तं शिल्पं चित्रमिच्छाङ्कां संशयम् । विधत्ते करोति । उत्प्रेक्षा^५ ॥५॥ निवारयति । यत्र गिरी । दरीमुखस्थाः दरीणां गुहानां मुखस्था द्वारेषु विद्यमानाः । पयोदाः मेघाः । सवितुः सूर्यस्य । करप्रवेशं करणानां किरणानां प्रवेशं प्रवेशनम्^६ । निवारयन्तोऽपि रुन्धन्तोऽपि^७ । तडितप्रभादर्शितवक्त्रभास्याः तडितो विद्युतः प्रभया प्रकाशेन दर्शितं^८ विलोकयितं वक्त्रभानां वनितानामास्यं मुखं येषां^९ ते, सन्तः । सुसदां

ताराओंके पास तक पहुँचे हुए थे ॥३॥ उस पर्वतपर देवांगनाएँ अपने वस्त्रोंको सुवासित करनेके लिए अगुरु धूप जलाया करती थी । उसके घुएँसे आकाशमें मेघमण्डल तैयार हो जाते थे (धूमज्योतिः सलिलमस्तानां सन्निपातः स मेघः—धूम, अग्नि, जल और वायुके सम्मिश्रणसे मेघ बनता है) । फलतः वहाँ सदा बरसातकी शोभा उत्पन्न कर दी जाती थी ॥४॥ उस पर्वतपर किन्नरोंकी स्त्रियाँ गाना गाया करती थीं । उनके गानको हिरण अपने कान लगाकर बड़े चावसे सुनते थे । उस समय उन्हें इतना आनन्द आता था कि उन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी, और उनके शरीर बिलकुल ही निश्चल हो जाते थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर विद्याधरोंको सजीव शिल्पकी शंका हो जाती थी ॥५॥ उस पर्वतकी गुफाओंमें देवलोग अपनी देवियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए जाया करते थे । गुफाओंके दरवाजोंके आगे आकर स्थित हुए मेघ उन (गुफाओं) के अन्दर जानेवाली सूर्यकी किरणोंको रोक देते थे, और अन्धकार उत्पन्न कर देते थे फिर भी अपनी बिजुलीकी प्रभासे उन्हें प्रियाका मुख दिखला देते थे । इसलिए वे मेघ उन देवोंको बड़े

१. = समुत्पादितः । २. आ 'वितन्यते' इति नास्ति । ३. = येन । ४. आ परवशगतं ।

५. = भ्रान्तिमान् । ६. श प्रकरप्रदेशं प्रकराणां किरणानां प्रदेशं प्रवेशनम् । ७. श 'रुन्धन्तोऽपि' इति नास्ति । ८. = दृष्टिबिषयतां नीतं । ९. = यैः ।

प्रभावतो लब्धमहर्षिकस्य प्रभावतो योगिजनस्य यस्मिन् ।
 नरो गतो रम्यविशालशृङ्गे न रोगतो गच्छति कोऽपि पीडाम् ॥७॥
 नितम्बवाप्यः लज्जराङ्गनानामधः प्रवर्षेण्यपि वारिदेषु ।
 विच्छिन्दते यत्र न तोयकैलि परिलवनिर्झरपूर्यमाणाः ॥८॥
 परिलुतानीन्नुमणिप्रतानात्पयांसि पीयूषवदापिबन्तः ।
 नित्यप्रसूतामिनवप्रवाला भजन्ति यत्राजरतां द्रुमीधाः ॥९॥
 महोषधीगन्धगतप्रभावाश्रित्यैक्यकृष्णाद्बिषु चन्दनानाम् ।
 वनेष्वनाशङ्कितेशुभीकाः क्रीडन्ति कान्तैः सह यत्र कान्ताः ॥१०॥

देवानाम् । त्रियत्वं संतोषत्वम् ।^१ व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतो लट् ।^२ ॥६॥ प्रमेति । प्रभावतः दीप्ति-
 मतः कान्तियुक्तस्य । लब्धमहर्षिकस्य लब्धाः प्राप्ता महत्त्व श्रुत्यो महोषधादयो यस्य^३ तस्य । योगिजनस्य
 मुनिजनस्य । प्रभावतः सामर्थ्यतः । यस्मिन् गिरो । रम्यविशालशृङ्गे रम्ये मनोहरे विशाले विस्तृते शृङ्गे
 शिखरे । गतः यातः । कोऽपि कश्चिदपि । नरः पुरुषः । रोगतः व्याधेः सकाशात् । पीडा बाधाम् । न
 गच्छति न प्राप्नोति । गच्छ गतो लट् । यमकम् ॥७॥ नितम्बेति । यत्र गिरो । वारिदेषु मेषेषु । अधः-
 प्रवर्षेण्य[अपि] अधः अधोभागे प्रवर्षे^४ वृष्टियैवां तेषु अपि । परिलवनिर्झरपूर्यमाणाः परिलवता परितो धावता
 निर्झरेण प्रवाहेण पूर्यमाणाः^५ संपूर्णं गम्यमानाः । नितम्बवाप्यः नितम्बे^६ तटे विद्यमाना वाप्यो दीपिकाः ।
 लज्जराङ्गनानां विद्याधरवनिनानाम् । तोयकैलि जलकैलिम् । न विच्छिन्दते अभावं न कुर्वते । छिदञ्
 द्वेषीकरणे लट् ॥८॥ परीति । यत्र गिरो । इन्दुमणिप्रतानात् इन्दुमणीना चन्द्रकान्तानां प्रतानान्
 निकरात् । परिलुतानि परिरुन्वितानि । पयांसि जलानि । पीयूषवत् सुधारसवत् । आपिबन्तः पानं
 कुर्वन्तः । नित्यप्रसूतामिनवप्रवालाः नित्यमनवरतं प्रसूता^७ जिता^८ अभिनवाः प्रत्यक्षा प्रवालाः^९ येषां ते ।
 द्रुमीधाः द्रुमाणां वृक्षाणामोधाः समूहाः । अजरता नवीनताम्^{१०} । भजन्ति श्रयन्ते^{११} । अतिशयः ॥९॥
 महोषधीति । यत्र गिरो । महोषधीगन्धगतप्रभावात् महोषधीना महामूलकौषधीनां गन्धगताद् बासगतात्
 प्रभावात् सामर्थ्यतः । निर्बीर्यकृष्णाद्बिषु निर्बीर्या निर्गतविषसामर्थ्याः कृष्णाद्बिषुः कालोरगा येषां^{१२} तेषु ।
 चन्दनानां श्रोत्रगन्धानाम् । वनेषु काननेषु । अनाशङ्कितेशुभीकाः अनाशङ्किताः संशयरहिता शेमुषी
 यासां ताः । कान्ताः वनिताः । कान्तैः सह निजदयितैः सह । क्रीडन्ति खेलन्ति । क्रीड् बिहारे लट् ।

प्यारे लगते थे ॥६॥ रमणीय विशाल शिखरींवाले उस पहाड़पर गया हुआ कोई भी मनुष्य,
 बड़ी-बड़ी श्रद्धियोंके चारक प्रभा सम्पन्न योगियोंके प्रभावसे रोगसे पीड़ित नहीं होता था—
 स्वस्थ हो जाता था ॥७॥ वह पहाड़ बहुत ऊँचा था । जल बरसानेवाले मेघ उनके मध्यभाग
 तक भी नहीं पहुँच पाते थे, मध्यभागके नीचे ही वे जल बरसाया करते थे । उसके मध्यभागमें
 अनेक बापिकाएँ थीं, जो सभी ओर बहनेवाले क्षरनोंसे भरी रहती थीं, ओर इसीलिए वे वहाँ
 विचरनेवाली विद्याधरियोंकी जलक्रीड़ांमें कभी विच्छेद नहीं होने देती थीं—विद्याधरियाँ उनमें
 नित्य जलक्रीड़ा किया करती थीं ॥८॥ उस पर्वतपर चन्द्रकान्त मणियोंके समूहसे अमृतके
 समान जल बहता रहता था, उसे पीनेवाले वृक्षोंके समुदायोंमें सदा नयी-नयी पत्तियाँ उत्पन्न हुआ
 करती थीं । फलतः वे वृक्ष हमेशा नवीन ही बने रहते थे, कभी पुराने नहीं होते थे ॥९॥ वहाँ
 चन्दनके वनोंमें जहरीले काले नाग थे, पर वे सभी उत्कृष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रभावसे निर्बीर्य-विष

१. अ क ल स घ म प्रवर्षिष्यपि । २. म वनेषु निःशङ्कितं । ३. स संतोषम् । ४. आ लिट् । ५.
 =वेन । ६. स प्रवर्षी । ७. =संपूर्णतां नीयमानाः । ८. मध्यभागे । ९. =जनिताः । १०. आ जीठाः ।
 ११. =पल्लवाः । १२. आ नवीनताम् । १३. स श्रयन्ति । १४. =येषु । १५. स क्रीड ।

शिलातले यस्य घनायमाने घनायमाने कमनीयभावम् ।
 विराजते देहविभासुराणां विभासुराणामचिरांशुदेस्या ॥११॥
 गन्तुं पतङ्गोपलबलितसादपारयन्त्यः सहसा प्रवेशात् ।
 द्विषन्ति यस्मिन्नजमेव तुङ्गं तुरङ्गवक्त्राः कुचकुम्भभारम् ॥१२॥
 समुद्रगतैर्प्राक्तले पतित्वा अङ्गीकृतो निर्झरवारिपूरैः ।
 न तापितायोमयपिण्डतुल्यस्तपेऽपि यत्रोत्पते पतङ्गः ॥१३॥
 प्रमञ्जनः खेचरसुन्दरीणां रतिभ्रमापोहकृतोपकारः ।
 यस्मिन्सुगन्धीक्रियते तदास्यश्वासैरिव प्रत्युपकर्तुकामैः ॥१४॥

महीपधिसामर्थ्येन सर्पाणां विपरहितत्वात्तत्र क्रीडातां स्त्रीपुरुषाणां कालोरवदंशमयं नास्तीत्यर्थः ॥१०॥
 शिलेति । कमनीयभावं कमनीयस्य मनोहरस्य भावं स्वरूपम् । अयमाने^१ गच्छति^२ । घनायमाने
 मेघायमाने । यस्य पर्वतस्य । शिलातले शिलाप्रदेशे । घना गुर्वा । अचिरांशुदेश्या अचिराशोविद्युतो
 देश्या समाना । विभासुराणां विशेषेण भासनशीलानाम् । सुराणाम्^३ । देहविभा देहस्य शरीरस्य विभा
 कान्तिः । विराजते भाति । राज्ञं दीप्तो लट् । उपमा^४ ॥११॥ गन्तुमिति । यस्मिन् गिरो । पतङ्गो-
 पलबलितत्वात् पतङ्गोपले सूर्यशान्तशिलायामुत्पन्नेन बल्लिनाम्निना तप्तात् संतप्तात् । प्रदेशात् स्थलात् ।
 सहसा क्षीघ्रम् । गन्तुं यातुम् । अपारयन्त्यः असमर्थाः । तुरङ्गवक्त्राः किन्नरवनिताः । तुङ्गम् उन्नतम् ।
 निजमेव स्वकीयमेव । कुचकुम्भभारं स्तनकुम्भानां कुचकलशानां भारम् । द्विषन्ति^५ कुप्यन्ति^६ । रूपकम्
 ॥१२॥ समुद्रगतैरिति । यत्र गिरो । तापितायोमयपिण्डतुल्यः तापितेनायोमयेन लोहमयेन पिण्डेन पोलकेन
 तुल्य समानः । पतङ्गः सूर्यः । प्राक्तले शिलानले । पतित्वा निपत्य । समुद्रगतैः प्रसृतैः^७ । निर्झरवारि-
 पूरैः निर्झरस्य प्रवाहस्य वारिणां पूरैः । अङ्गीकृतः क्षीणीकृतः सन् । तपेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि । नोत्पते न
 संतपते । तप सतापे ऋट् ॥१३॥ प्रमञ्जन इति । यस्मिन् गिरो । खेचरसुन्दरीणां विद्याधरस्त्रीणाम् ।
 रतिभ्रमापोहकृतोपकारः रत्या कामकैस्या जातस्य भ्रमस्थापोहेन विनाशेन कृत उपकारो यस्य^८ सः । प्रमञ्जनः
 वायुः । प्रत्युपकर्तुकामैः [इव] प्रत्युपकारं कर्तुकामैः कर्तुमिच्छुमिरिव । तदास्यश्वासैः तासां विद्याधरस्त्री-

रहित हो गये थे । इसलिए वहाँपर स्त्रियाँ निर्भय होकर अपने पतियोकै साथ क्रीडा किया
 करती थी ॥१०॥ उस पर्वतको मेघ सरीखी सुन्दर शिलापर देदीप्यमान देवोंके शरीरको घनी-
 प्रभा बिजुलीको भाँति सुशोभित होती थी ॥११॥ उस पर्वतपर गन्धर्वोंको अंगनाएँ-जिनके मुख
 अश्व सरीखे थे—सूर्यकान्त मणियोंकी अग्निसे सन्तप्त प्रदेशसे सहसा भाग जानेमें असमर्थ
 होकर अपने ही अत्यधिक, स्तन-कलशोंके बोझसे ट्रेप करने लगती थीं ॥१२॥ उस पर्वतपर
 अनेक झरने बह रहे थे । उनके जलका पूर चट्टानोंके ऊपर गिरकर आकाशमें बहुत ऊँचाई तक
 उछल जाता था, उससे, तप्त लोह पिण्ड सरीखा सूर्यमण्डल बिलकुल ठण्डा हो जाया करता
 था, अतः ग्रीष्म ऋतुमें भी वह नहीं तपता था—उष्ण नहीं हो पाता था ॥१३॥ उस पर्वतपर
 विद्याधरियोंकी रतिक्रियाकी थकानको मिटाकर वायुने उनका उपकार किया, तो उन्होंने भी
 मानो प्रत्युपकारकी कामनासे उसे अपनी श्वासवायुसे सुवासित कर दिया ॥१४॥ वह पर्वत
 बड़ी तेजीसे बढ़नेवाली और सभी ओर फैलनेवाली लताओंका अक्षय स्थान था । सघन वृक्षा-

१. म तटेऽपि । २. श आयमाने । ३. = नौयमाने । ४. = देवानाम् । ५. = यमकं च ।
 ६. = निन्दन्ति । ७. आ कुप्यन्ति । ८. = ऊर्ध्वगैः । ९. श प्रसृतैः । १०. = येन ।

कान्तैर्विचित्रोऽज्वलचन्द्रकान्तै रुदैर्लतानां निवहैः प्रकटैः ।
यस्य द्युतिः केकिमिरक्षयस्य तेने तटे शाखितरोहितेने^१ ॥१५॥
मध्वास्वापानमनोज्ञगानाः^२ समुन्नयन्तो मनसो विकारम् ।
सकोपकान्तानुनयेषु यूनां साहायकं यत्र भजन्ति भृङ्गाः ॥१६॥
भ्रुत्वा घनध्वाननिभं नटन्तः शिखडिनो^३ निर्मरवारिनादम् ।
कुर्वन्ति यस्सानुगतं सुरीघं दिव्याङ्गनानृत्यविधौ वितृष्णम् ॥१७॥
गुह्योदरे ध्येयहिमे हिमर्तुं निदाघमन्यन्निषु गह्वरेषु ।
सानुष्वधोगामिघनेषु वर्षाः सुखेन यस्मिन्गमयन्ति सिद्धाः ॥१८॥

पामास्यानां स्वासीः । सुगन्धीक्रियते परिमलोक्रियते । अतिशयः^४ ॥१४॥ कान्तैरिति । कान्तैः कमनीयैः ।
विचित्रोऽज्वलचन्द्रकान्तैः विचित्रं नानाविधमुज्ज्वलं (रूपं) येषां ते तथोक्ताः, विचित्रोऽज्वलाश्चन्द्रका मेघकः
अन्ते येषां तैः । केकिमिः मयूरैः । रुदैः आरुढैः । प्रकटैः प्रवृद्धैः । लतानां बल्लरीणाम् । निवहैः समूहैः ।
अक्षयस्य अविनाशस्य । यस्य गिरेः । द्युतिः कान्तिः । शाखितरोहितेने शाखिमिवलैस्तिरोहित आच्छादित
इतः सूर्यो यस्मिन् तस्मिन् । तटे सानो । तेने वस्तीर्यतेस्म । तन्त्रु विस्तारे लट् । यमकम् ॥१५॥ मध्विति^५ ।
यत्र गिरी । मध्वास्वापानमनोज्ञगानाः मधोर्गुणवृक्षस्वामवस्य पुष्परसस्य^६ आपानेन पानगोष्ठिकया
मनोज्ञं मञ्जुलं गानं येषां तैः । मनसः चित्तस्य । विकारं^७ पलटम् । समुन्नयन्तः वर्धयन्तः । भृङ्गाः
मधुकराः । यूनां तृणानाम् । सकोपकान्तानुनयेषु सकोपानां कोपसहितानां कामानां स्त्रीणामनुनयेष्वास्वास-
नेषु । साहायकं^८ सहायत्वम् । ब्रजं गच्छन्ति । लट् । भृङ्गध्वनिश्रवणे स्त्रीणां योगकाप्ता जायते, इत्यर्थः ।
समाहितः ॥१६॥ भ्रुत्वेति । घनध्वाननिभं घनस्य मेघस्य ध्वानस्य ध्वनेनिभं सदृशम् । निर्मरवारिनादं निर्म-
रस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य नाद ध्वनिम् । भ्रुत्वा आकष्ये । नटन्तः नृत्यन्तः । शिखण्डिनः मयूराः ।
यस्सानुगतं यस्य गिरेः सानुगतं तटयातम् । सुरीष सुराणां देवानामोषं समूहम् । दिव्याङ्गनानृत्यविधौ दिव्या-
ङ्गनानां देवस्त्रीणां नृत्यविधौ नटनकरणे । वितृष्णं काक्षारहितम् । कुर्वन्ति विदधति । लट्^९ । अत्रैव
नर्तनासक्तं कुर्वन्ति, इत्यर्थः । अतिशयः ॥१७॥ गुह्योदर इति । यस्मिन् गिरी । सिद्धाः देवविशेषाः । ध्येयहिमे
ध्यातुं योग्यं हिमं^{१०} शीतल यस्मिन् तस्मिन् । प्रत्यक्षग्रमेयं हिमं नास्ति, इत्यर्थः । गुह्योदरे गुहायां गह्वरस्योदरे
मध्ये । हिमर्तुं हेमस्तर्तुम् । सुखेन^{११} निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति^{१२} । गल्गु गतो णिजन्तात्सलट् । अव्ययिन्पु

बलीसे सूर्यं तिरोहितं हो जानेसे उसके तटोपर अन्धकार छाया रहता था । पर उन अन्धकार-
मय तटोपर सुन्दर, वृक्षोपर चढ़े हुए और अद्भुत स्वच्छ चन्द्राकृतियोंसे-जो पंखोंमें बनी हुई
थीं—युक्त मयूरोके द्वारा प्रकाश कर दिया जाता था ॥१५॥ उस पर्वतपर पुष्परस रूपी
आसवका पान कर लेनेसे सुस्वर गान करनेवाले और मनके विकारको बढ़ानेवाले भोरे, रुठो
हुई नायिकाओंकी मनानेमें युवकोको सहायता पहुँचा रहे थे ॥१६॥ उस पर्वतपर मेघध्वनिके
समान जल-प्रपातके शब्दकी सुनकर नाचनेवाले मयूर तटो या शिखरोपर बैठे हुए देववृन्दको
देवियोंके नृत्य देखनेकी तृष्णासे मुक्त कर देते थे—मयूरोंका नृत्य देखकर उन्हें देवियोंका नृत्य
देखनेकी उत्सुकता नहीं रहती थी ॥१७॥ उस पर्वतपर रहनेवाले देवलोग हिमके प्रभावसे
सर्वथा मुक्त गुफाओंमें और फुहारेसे युक्त गुफाओंमें क्रमशः हेमन्त और ग्रीष्मऋतुको सुखसे

१. म^१ तिरोहितेन । २. आ ह^२ मनोज्ञगानाः । ३. अ आ क ल ग घ म निर्भरं । ४. = उप्रेक्षा,
अभ्योम्यारुञ्जारस्य । ५. आ मध्वेति । ६. = मधु पुष्परसः तद्रूपस्यावसस्य मधस्य । ७. = विकृतिम् ।
८. हा सहायकं । ९. आ लृट् । १०. = शैत्यं । ११. = मुषपूर्वकम् । १२. हा 'यापयन्ति' इति नास्ति ।

अयम्ब्रुवा निस्तमसौ समुत्कः शीतेतरांशु तमसौ समुत्कः ।

प्रष्टुं चमूच्या जगदेकपाली बलेन साक्षाज्जगदे कपाली ॥१९॥

निषेव्यविबरो वरोऽविविचनिर्मलकृतः

सदन्ति चमरोऽमरीपहितमाघवीमण्डपः ।

विकासिकमलोऽमलोपलविचित्रमाभासुरो

न विस्मयमयं नगः प्रविद्धाति कस्येक्षितः ॥२०॥

अपां जलानां यन्निपुं^१ यन्त्रयुक्तेषु । गङ्गरेषु गुहासु । निदाघं ग्रीष्मम् । अधोगामिधनेषु अधो अधोभागे गामिनो गमनशोका घना मेघा येषु तेषु । सानुषु^२ तटेषु । वर्षाः प्रावृत्कालान् । गमयन्तीति प्रत्येकमभि-
संबध्यते । दीपकम् ॥१८॥ जयजिति । निस्तमसौ निर्गतं तमो ययोस्तौ । शीतेतरांशु शीतः शीतल इतर
उष्णः शीतेतरो अंशु किरणो ययोस्तौ—चन्द्रसूर्यौ । रुचा कात्या । जयन् निर्जयन् । तं रत्नकूटगिरिम् ।
द्रष्टुं बोधनाय । समुत्कः^३ संतुष्टः । समुत्कः समुन्नतं क मस्तकं यस्य सः । बलेन सामर्थ्येन । साक्षात्
प्रत्यक्षम् । कपाली रुद्रः । जगदेकपाली जगतो भूवनस्य एकपालो मुख्यपालकः । असौ राजा । चमूच्या
केनानायकेन । जगदे भाष्यते । यमकम् ॥१९॥ निषेव्येति । निषेव्यमाश्रयणीयं विवरं गङ्गारं
यस्य सः । वरः प्रशस्तः । विविचनिर्झरालकृतः विविधैर्नामप्रकारैः प्रवाहैरलङ्कृतो भूषितः । सदन्तिचमरः
दन्तिभिर्गजैश्चमरैश्चमरमृगैश्च युक्तः । अमरोपहितमाघवीमण्डपः अमरैर्देवैरुपहित आश्रितो माघवीना^४ युविका-
लताना मण्डपो यस्य सः । विकासिकमलः विकासीनि विकसनशोलानि कमलान्यम्बुह्राणि यस्मिन् सः ।
अमलोपलविचित्रमाभासुरः अमलाना निर्मलानामुपलानां शिलातलाना विचित्रया बहुविधया भया काम्या
भासुरो दोषः । ईक्षितः दृष्टः । अयं नगः मणिकूटगिरिः । कस्य पुरुषस्य । विस्मयम् आश्चर्यम् । न प्रविद-

विताया करते थे । तथा वर्षाश्रुतुको वे उन शिखरोंपर आरामसे जिताते थे, जहाँ मेघ पहुँच ही नहीं सकते थे, उनसे बहुत नीचे रह जाते थे । क्या सर्दी, क्या गर्मी और क्या बरसात तीनों ही मौसमोंमें देवलोग वहाँ सुख पूर्वक रहते थे । वहाँकी उष्ण गुफाओंमें हिमका कभी कोई असर नहीं पहुँच पाता था । हाँ, वहाँ रहनेवाले देव उसका स्मरण अवश्य कर लेते थे, कि प्रवासके अवसरपर अमुक स्थान देखा था, जहाँ अत्यधिक हिमपात हो रहा था । इसी तरह अन्य स्थानोंपर ग्रीष्म और वर्षामें वह सुख नहीं मिल सकता, जो मणिकूट पर्वतके निवासियोंको अनायास ही प्राप्त हो रहा था । वह पर्वत सभी श्रुतुओंमें सुखद था । इसीलिए वहाँ देवलोग भी निवास करते थे ॥१८॥ राजा पद्मनाभने अपने देहकी कान्तिसे चन्द्रमाको और दीप्तिसे सूर्यको मात कर दिया था, जो अन्धकारसे सर्वथा मुक्त थे । पद्मनाभ सारे जगत्का एक मात्र रक्षक था और बलमें तो साक्षात् शंकर । उसे पर्वतकी विशेषताओंके देखनेसे बड़ा हर्ष हुआ और उत्सुकता भी । पर्वत देखनेके लिए उसे उत्सुक जानकर सेनापतिने यों कहना प्रारम्भ किया—॥१९॥ इसकी गुफाएँ रहने योग्य है, यह अनेक प्रकारके झरनोंसे सुशोभित है; इसपर कहीं हाथी घूम रहे हैं तो कहीं चमरी मृग विचर रहे हैं; इसके माघवीलताके मण्डपोंमें देवलोग भी आकर ठहर जाते हैं; इसपर कमल खिले हुए हैं; निर्मल मणियो और शिलाओंको अनोखी प्रभासे यह सभी ओरसे प्रकाशित है; अतएव निश्चय ही यह सभी पर्वतोंसे श्रेष्ठ है । इसे देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा ? इसे देखकर तो ब्रह्मादेव (कस्य-ब्रह्मादेवस्य) को भी अचरज होगा

तुहिनपाण्डुरेतीरजसैकतां कमलजेन गतां रजसैकताम् ।
 वहति सिन्धुमयं सरसामलंकृतदिशां च चयं सरसामलम् ॥२१॥
 सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य ।
 विगलिततिमिरासु संप्रसर्पन्भवति निशास्विह दर्पणो मृगाङ्कः ॥२२॥
 न महीरुहा परिहृताः कुसुमैर्मणिदीपकैर्विरहिता न गुहाः ।
 न नितम्बभूः सुरजनैर्विकला न सरः समुल्लिख्यमिहाम्बुह्रैः ॥२३॥
 इह गगनचरैः कन्दरागोचरैः सुरभिश्चुचिपटैः कामिनीलम्पटैः ।
 अवसितसुरतैः सानुसेवारतैः समधुकरकनः सेव्यते मारुतः ॥२४॥

धाति न करोति । लट् । यमकम् ॥२०॥ तुहिनेति । तुहिनपाण्डुरेतीरजसैकतां तुहिनमिव पाण्डुरं शुभ्रं तीरजं
 कूलजनितं सैकतं सिकतामयं^१ यस्यास्ताम् । कमलजेन तामरसजेन । रजसा परागेण साकम् । एकताम्
 यमेवैकम् । गता याताम् । सरसां जलसंहिता स्वादुरसवती वा । सिन्धुं नदीम् । 'वेशे नदविशेषेऽम्बो
 सिन्धुर्वा' सरिति । 'मृग्याम्' इत्यमरः । अलंकृतविशाम् अलंकृता भूषिता दिशो येषां^२ तेषाम् । सरसा
 सरोवराणाम् । ५५ च समूहं च । अलं भूतम् । वहति धरति । वहि प्रापणे लट् । दीपकम्^३ ॥२१॥
 सुरेति । इह गिरी । सानुभाजः सानुं^४ तटं भाजः (सानु तटं भजते इति सानुभाक्, तस्य) आश्रितस्य ।
 वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य वदनमेव मुखमेव सरोरुह कमल तस्य मण्डने भूषणे उद्यतस्योद्युक्तस्य । सुरयुवति-
 जनस्य^५ सुरयुवतिरेव जनस्तस्य । विगलिततिमिरासु विगलितं तिमिरं यासां तासु । निशासु^६ रात्रिषु ।
 संप्रसर्पन् गच्छन् । मृगाङ्कः चन्द्रः । दर्पणः मृकुरः । भवति^७ । लट् । रूपकम् ॥२२॥ नेति । इह गिरी ।
 कुसुमैः पुष्पैः । परिहृताः रहिताः । महीरुहा वृक्षाः । न न मणित । मणिदीपकै ररनदीपकै । विरहिताः
 शून्याः । गुहाः गह्वराणि । न न सति । सुरजनै^८ सुरा एव जना लोकाः तैः । विकला हीना । नितम्बभूः^९
 सानुप्रदेशः । [न] न भवन्ति (भवति) । अम्बुह्रौ सरोरुहैः । समुल्लिखतं त्यक्तम् । सरः सरोवरः^{१०} ।
 [न] न भवति ॥२३॥ इहेति । इह गिरी । कन्दरागोचरै कन्दरस्य गह्वरस्यागोचरैर्गव्यधैः, कृतमुरताः
 स्मृतः कन्दरान्निर्गताः^{११} इत्यर्थः । 'वरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । सुरभिश्चुचिपटैः सुरभिः परिमलः चुचि-
 निर्मलः पटो येषां तैः । कामिनीलम्पटैः कामिनीषु वनितासु लम्पटैरुत्थासकतैः । अवसितसुरतैः अवसितं
 संपूर्णं सुरतं येषां तैः । सानुसेवारतैः सानोनितम्बस्य सेवायामाश्रयणे रतैः प्रीतैः । गगनचरैः विद्याधरैः ।
 समधुकरकतः मधुकराणां भ्रमराणां स्तेन ध्वनिना युतः । मारुतः वायुः । रेवत्येते भुज्यते । पेषुड् स्वने

॥२०॥ जिनके किनारोको बालू बर्फको भाति शुभ्र है और जिनका मधुर जल कमलोको पराग-
 के साथ एक रूप हो चुका है, न केवल उन नदियोंको ही अपने जन्म दिया है, बल्कि सारी
 दिशाओंको शोभा बढ़ानेवाले जलाशयोंको भी जन्म देकर यह उन्हें अपनी गोदमें लिए हुए है ।
 ॥२१॥ शुक्लपक्षको रातोमे इस पर्वतके शिखरोपर देवांगनाएँ ज्यों ही अपने मुखका शृंगार
 करने बैठती थी, त्यों ही सामनेसे आया हुआ चन्द्रमा दर्पणको कमोको पूरा कर देता है
 ॥२२॥ यहाँके वृक्ष पुष्प रहित, गुफाएँ मणिदोषोंसे रहित, मध्यभागको भूमि देवोंसे रहित और
 सरोवर कमलोंसे रहित नहीं है—यहाँके वृक्ष सदा फूलोंसे अलंकृत रहते हैं, गुफाओंमें मणिदीप
 जगमगाया करते हैं, मध्यभागके रम्य प्रदेशोंमें देवलोग विराजमान रहते हैं और सरोवरोंमें
 कमल लहलहाते रहते हैं ॥२३॥ यहाँपर स्त्रोलम्पट विद्याधर लोग सम्भोगके उपरान्त मुगन्धित
 और पवित्र वस्त्र पहनकर गुफाओंसे बाहर निकलते ही शिखरोपर टहलने लगते हैं, और फिर

१. मं नपाण्डुरं । २. = सैकतं सिकतामयम् इत्यमरः । ३. = दीपः । ४. = यमकम् । ५. क्ष
 सानु । ६. = सुर-युवतीनां जनो वर्गस्तस्य । ७. = वल्लपक्षपासु । ८. = जायते । ९. = सुराणां
 देवानां जना वर्गाः, तैः । १०. = मध्यभागः । ११. क्ष सरोवरं । १२. = कृतसुरतैः सङ्गैः कन्दरान्निर्गतैः ।

अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताम्रेः शिखरेऽस्य स्थलपुण्डरीकखण्डैः ।
 भवतीव विकासशालिभिर्द्यौर्वदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा ॥२५॥
 विध्यातेऽप्यनिलवशेन मङ्गलार्थं दीपानामिह निकरे लतागृहेषु ।
 वीक्षन्ते गगनचरा महौषधीनामुद्द्योतै रतिषु धूमुस्वाम्बुजानि ॥२६॥
 मत्वनुपप्लवशिखानिह रत्नदीपान्वात्यन्तरव्यपगमात्पिदधत्करणे ।
 नेत्रे नितम्बगतवस्त्रहृतां प्रियाणां प्रीत्य भवत्यधिगृहं खचराङ्गनौघः ॥२७॥
 बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु निपतन्नस्य तडिल्लतानुकरणक्षमश्चिषु गिरेः ।
 काञ्चनमेदिनीषु जनयति धिपणां नीलदलोपहारविषयां मधुकरनिकरः ॥२८॥

कर्मणि लट् । यमकम् ॥२४॥ अलिनीति । अस्य गिरेः । शिखरे शृङ्गे । अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताम्रेः अलिनीनां अमरवनितानां निकुरुम्बेण समूहेन चुम्बितमालिङ्गतमम् येषां तैः । विकासशालिभिः, विकासेन विकसनेन शालिभिः, शोभिभिः । स्थलपुण्डरीकखण्डैः स्थलपुण्डरीकाणां स्थलपद्मानां खण्डैः कदम्बकैः । धीः गगनम् । उदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा^१ उदितं समुद्भूतमनेकेन बहुलेन लाञ्छनेन युक्तमिन्दुबिम्बं यस्याः सा इव । भवति । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ विध्यात इति । इह गिरी । गगनचराः विद्याधराः । लतागृहेषु^२ लतासदनेषु । मङ्गलार्थं मङ्गलनिमित्तं मङ्गलमेवार्थः प्रयोजनं यस्य (तस्मिन्) । दीपानां प्रदीपानाम् । निकरे समूहे । अनिलवशेन अनिलस्य वायोवर्धनं । विध्यातेऽपि विनष्टेऽपि । रतिषु रतिक्रीडासु । धूमुस्वाम्बुजानि धूनां वनितानां मुखान्येवाम्बुजानि सरोजानि । महौषधीनां काष्ठज्योतिरादीनाम् । उद्योतैः प्रकाशैः । वीक्षन्ते विलोकयन्ते । ईक्षि दर्शने लट् । सामाग्यालङ्कारः ॥२६॥ मन्वेति । इह गिरी । रत्नदीपान् अनुपप्लवशिखान् अनुपप्लवा निर्वाधा शिखा उवाला येषां तान् । इति मत्वा बुध्वा । गत्यन्तराभावात् गत्यन्तरस्योपायान्तरस्य व्यपगमादभावात् । नितम्बगतवस्त्रहृतां नितम्बगतस्य कटिगतस्य वस्त्रस्य दुकूलम् हृतामपहारिणाम् । प्रियाणां दधितानाम् । नेत्रे नयने । करेण हस्तेन । पिदधन्^३ पिनक्षन् । खचराङ्गनौघः खचराङ्गनानामौघः समूहः । अधिगृहं गुहास्वाधिकृत्याधिगृहम्, गुहास्वस्थं । प्रीत्य प्रीति-निमित्तम् । भवति । लट् ॥२७॥ बिम्बितेति^४ । अस्य गिरेः । बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु बिम्बिताः पुष्पाणां गुच्छैर्मञ्जरीभिर्निचिता निःस्तरिता व्रतस्थो लता यासु^५ तामु । तडिल्लतानुकरणक्षमश्चिषु तडिल्ल-ताया विद्युल्लताया अनुकरणे क्षमा समर्था रुचिरासां तामु । काञ्चनमेदिनीषु सुवर्णमयमूमिषु । निपतन्

भौरोंका मधुर सगीत सुनते हुए वायु सेवन करते हैं ॥२४॥ इस पहाड़के शिखरोंपर सफेद स्थल कमल खिले हुए है और उनके ऊपर भौरियोंके क्षुण्ड बैठे हुए हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश, लाञ्छन सहित अनेक (पूर्णमासीके) चन्द्रमण्डलों अलंकृत हो ॥२५॥ विद्याधर युवक विवाहके बाद यहाँ आया करते हैं । उनके प्रथम मिलनकी मंगलवेलामें यहाँके लतामण्डपोंमें मंगल दीप जलाये जाते हैं, हवाके झीकेसे वे कभी वृक्ष भी जायें तो भी रतिक्रीडा-के अवसरपर विद्याधर युवक अपनी नववधूका मुखकमल जड़ी-बूटियोंके प्रकाशसे देख लेते हैं । ॥२६॥ यहाँकी गुफाओंमें सम्भोगके अवसरपर विद्याधर लोग ज्यों ही अपनी प्रियाओंके नितम्ब-से वस्त्र हटाते हैं, त्यों ही वे शमिन्दा होकर रत्नद्वीपोंको बुझानेका प्रयत्न करती हैं । पर जब वे नहीं बुझते, तब वे और उपाय न रहनेसे अपने हाथसे पतिके नेत्रोंको मूढ़ लेती हैं । यह देखकर वे अपने मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते हैं ॥२७॥ इस पर्वतकी बिजुलीके समान चकाचौध उत्पन्न करनेवाली स्वर्णभूमिमें, जहाँ फूलोंके गुच्छोंसे लदी हुई लताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं, वहाँ

१. = उदितान्येकानि सलाञ्छनानिन्दुबिम्बाणि यस्यां सा । २. = निकुञ्जेषु । ३. = आच्छादयन् ।

४. आ भीतेति । ५. सा यासां ।

तटगतासितरत्नविनिःश्रुतैरखिरलैः परितो निकरै रुचाम् ।

इह कदाचन मेवकितत्वियो निजहविं न भजन्ति शरद्धनाः ॥२९॥

मानोन्मादव्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।

यूनामस्मिन्घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभूतरुतयः ॥३०॥

ध्वनञ्जितम्बावनि तारमन्ते गीत्वा प्रियाणां वनिता रमन्ते ।

इहादतैर्हममहो नभोगैर्निषेव्यते काममहोनभोगैः ॥३१॥

विनमन् । मधुकरनिकरः मधुकराणां भ्रमराणां निकरो निबहः । नीलदलोपहारविषया नीलदलैरिन्द्र-
नीलमणिभिः कृत उपहारो रङ्गबल्ली स एव विषयो मोचरो यस्मास्ताम् । पिषणां बुद्धिम् ।
सततम् अनवरतम् । जनयति उत्पादयति । अनेद् प्रादुर्भावे लट् । भ्रान्तिमान् ॥२९॥ तटेति । इह
गिरो । परितः समन्तात् । तटगतासितरत्नविनिःश्रुतैः तट सानुं गतै रसितैर्नीलै रत्नैर्मणिभिर्विनिः-
श्रुतैर्निर्गतैः । रुचा कान्तौनाम् । निकरै समूहै । मेवकितत्वियः मेवकित^१ इयामा स्विट् कान्तियेषां
ते । शरद्धनाः शरदकालमेवाः । कदाचन कस्मिंश्चित् (अवि) समये । निजहविं स्वकीयकान्तिम्, शुभ्र-
कान्तिमित्यर्थः । न भजन्ति नाश्रयन्ति । अत्र सेवायाम् । लट् । सामान्यालङ्कारः^२ ॥२९॥ मानेति^३ ।
अस्मिन् गिरो । चैत्रारम्भे चैत्रारम्भे प्रारम्भे । मानोन्मादव्यपनयचतुराः मानेन गव्येण जातोन्मादस्य चित्त-
विकारस्य व्यपनये^४ चतुराः प्रोढाः । मधुराः श्रवणप्रियाः । घटितयुवतयः, घटिताः^५ प्रेरिताः युवतयो वनिता
येषां^६ ते । परभूतरुतयः परभूतानां कीकिलानां रुतयो ध्वनयः । यूना तृणानाम् । दूतीकृत्यं दूरयाः कृत्यं
कार्यम् । विदधति कुर्वति । उत्प्रेक्षा (?) ॥३०॥ ध्वनञ्जलि । इह गिरो । वनिताः कान्तियः । प्रियाणां
व्यधितानाम् । अन्ते समीपे । ध्वनञ्जितम्बावनि ध्वनन्ती नितम्बस्य प्रस्थस्यावनिभूमिं यस्मिन् कर्मणि तत्^७ ।
तारम् उच्चैःस्वरम् । गीत्वा ध्वनित्वा । रमन्ते^८ क्रोडन्ते । रमि क्रोडाय लट् । आदृतं प्रीतियुक्तं । अहोनभोगैः
अहोनैः संपूर्णभोगिभोगद्वयसहितैः । नभोगैः विद्याधरै । हेममहो स्वर्णमयभूमिः । कामं यथेष्टम् । निषेव्यते

भौरे (साक्षात् फूलोंके गुच्छोंके घोलेमें आकर) आ-आकर मड़राने लगते हैं, और अपने मड़रानेके
प्रदेशमें दर्शकोंको नीलमणियोंसे पूरे गये चौकका भ्रम उत्पन्न कर देते हैं ॥२८॥ इस पर्वतके
तटोंपर यत्र-तत्र-सर्वत्र नील मणियोंकी अपूर्व सुषमा बनो रहती है । उन मणियोंकी सघन किरणें
सभी ओर फैली रहती है । उनसे शरदऋतुके शुभ्र मेघ बिलकुल काले या नीले हो जाते हैं ।
इस तरह वे यहाँ पर अपनी स्वाभाविक (शुभ्र) कान्तिको कभी भी नहीं प्राप्त कर पाते
हैं ॥२९॥ इस पर्वतपर चैत्रमासमें मानवती युवतियोंके मान जन्य उन्मादको दूर करनेसे चतुर,
मधुर और विछुड़ी हुई तृण नायिकाओंको उनके पतियोंसे मिला देनेवाली कीकिलकी बोली
युवकोंके लिए दूतीका काम देती है ॥३०॥ यहाँपर संगीतज्ञ नायिकाएँ अपने-अपने पतियोंके
निकट, इसकी पूरी मध्यभागकी भूमिमें गूँज उत्पन्न करनेवाले ढंगसे तारस्वरमें गाना गाकर
मनोविनोद करती हैं, और समादृत विद्याधर लोग—जो उत्कृष्ट भोग गामग्रो साथमें लाये हैं—

१. 'सतत' मूलग्रन्थे नास्ति । २ श गतेराश्रितैः । ३. = इयामोक्ता । ४. = तद्व्युत्पा-
नकृत्वा । ५. आ मन इति । ६. = दूरीकरणे । ७. = संयोजिताः । ८. = याभिस्ताः ।
७. = क्रोडन्ति ।

व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र प्रविष्टं रत्नक्षोण्यां वन्यमार्जारपोतः ।
 बिम्बं लौह्येनानुबन्धनञ्च धत्ते^१ दिव्यस्त्रीणां गन्तुमन्यत्र दृष्टिम्^२ ॥३२॥
 अयं मुनिघनोऽघनोदनसहः सहस्तिचमरोऽमरोचिततटः ।
 सुराद्रिसदृशो दृशोऽम्बरसदां सदाञ्चितबिभो विभो रमयते ॥३३॥
 नीलोपलोल्लसितलोहमरीचिजालसाम्ब्रीकृतान्धतमसेष्विव गरुडेषु ।
 क्रीडातिरोहिततनूर्युवतीः पतीनां तच्छ्वाससङ्गसुरभिर्विबुधोति वायुः ॥३४॥

आश्रियते^३ । लट् । यमकम् ॥३१॥ व्योम्नेति । अत्र गिरी । रत्नक्षोण्यां रत्नमयभूम्याम् । व्योम्ना गगनेन ।
 आयातः गच्छतः । पत्रिणः पक्षिणः । प्रविष्टं^४ प्रतीताम्बरम् । बिम्बं प्रतिबिम्बम् । लौह्येन लाम्पटघेन ।
 अनुबन्धनञ्च आकर्षणम् । वन्यमार्जारपोतः वन्यस्य वने जातस्य मार्जारस्य विहालस्य पोतः शिशुः । दिव्यस्त्रीणां
 देवबनितानाम् । दृष्टिं नयनम् । अन्यत्र अन्यप्रदेशे । गन्तुं गमनाय । न धत्ते^५ न धरति (न दत्ते न ददाति) ।
 दुषाञ्च धारणे च लट् । भ्रांतिः ॥३२॥ अयमिति । विभो भौ पद्मनाभ । मुनिघनः मुनिभिर्व्यतिभिः घनः
 साम्ब्रः । अघनोदनसहः अघस्य पातकस्य नोदने निराकरणे सहः समर्थः । सहस्तिचमरः हस्तिमिदन्तिमिवच-
 मरदेवचमरमृगैश्च युक्तः । अमरोचिततटः अमराणां देवानामुचितं योग्यं तटं सानुर्यस्य सः । आरचितविभः
 आरचिता (अञ्चितविभः अञ्चिता) प्रशस्ता विभा कामिः शोभा वा यस्य सः । सुराद्रिसदृशः सुराद्रिर्मरीः
 सदृशः समानः । अयं गिरिः । अम्बरसदां सुराणाम् । दृशः नयनानि । सदा अनवरतम् । रमयते क्रीडयति ।
 रमि क्रीडायाम् । षिञ्स्तालट् । यमकम् ॥३३॥ नीलेति । इह गिरी । नीलोपलोल्लसितलोहमरीचिजाल-
 साम्ब्रीकृतान्धतमसेषु नीलोपलस्येन्द्रनीलस्योल्लसितानां भासितानां लोलानां चञ्चलानां मरीचोनां काम्नीनां
 जालेन कदम्बेन साम्ब्रीकृतं निर्गमरीकृतमन्धतमसं येषां^६ तेषु । गङ्गरेषु दरीषु । क्रीडातिरोहिततनूः क्रीडया
 विलासेन तिरोहिवा व्यबहिता तनूः गात्रं यासा ताः । युवतीः तरुणीः । तच्छ्वाससङ्गसुरभिः तासां युवतीनां
 श्वासस्योच्छ्वासस्य सङ्गेन संसर्गेण सुरभिः परिमलसहितः । वायुः मास्तः । पतीनां दयितानाम् । 'स्त्रियोऽत्र

यहाँकी स्वर्णमयी भूमिका भरपूर उपयोग करते हैं ॥३१॥ यहाँ पर रत्नजटित भूमिमें, आकाश-
 मार्गसे घीरे-घीरे जाते हुए ऐक पक्षीको परछाईं देखकर, जंगली बिलावका बच्चा बड़ी तृष्णासे
 उसे पकड़नेके लिए बार-बार प्रयत्न कर रहा है, और अपनी इस चेष्टासे आकृष्ट की गयी देवांग-
 नाओंकी दृष्टिको अन्यत्र नहीं जाने देता है—वे और कुछ न देखकर उसीकी ओर धूर-धूरकर
 देख रही हैं ॥३२॥ राजन् ! वीतराग मुनियोंसे व्याप्त होनेके कारण यह पर्वत भव्यजीवोंके
 पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है । यहाँ हाथी और चमरी मृगोंकी बहुलता है । इसके तट देवोंके
 विहार करने योग्य हैं । यहाँ सदा प्रकाश रहता है । अतएव यह सुमेरु सरीखा है, और इसी-
 लिए यहाँ देवी-देवताओंकी दृष्टि रम जाती है ॥३३॥ नीलमणियोंसे निकली हुई चञ्चल
 किरणोंसे जब यहाँकी गुफाओंमें अन्धकार और भी अधिक गाढ़ हो जाता है, तब युवतियाँ
 अपने पतियोंसे आँख बचाकर उनके भीतर जा छिपती हैं । उनके पतियोंको जब खोजने पर
 भी उनके शरीर नहीं दिखाई देते, तब उनकी श्वास वायु ही उनके छिपनेकी सूचना देती है—

१. अ क ख ग घ चत्ते । २. क ख ग घ म दृष्टेः । ३. वा आश्रियते । ४. = पतितं प्रवेशं गतं वा ।

५. 'धत्ते' इति टीकाअवस्य पाठस्य स्थाने प्रतिषु 'दत्ते' इत्येव दृश्यते । ६. = साधुभिः । ७. = येषु ।

तीरेष्वेताः कुसुमितवानीरालीरालीनलीरनिलरयोद्धूतान्ताः ।

तान्ता धर्मैरचिरतमूलापातीः पातीद्वायं प्रसूतनदीनीरौघः ॥३४॥

घातिनिर्मथनलब्धकेवला योगिनोऽत्र परिनिविवासवः ।

कुर्वते प्रतरपूरणादिभिः कर्मणां समबलत्वमाधुपा ॥३५॥

शिखरमणिशिलानां शास्त्रिशास्त्रान्तरालैः प्रसूतरविकराणामुल्लसन्नरोचिरोघः ।

तडिदनुकृतिकारी शङ्किताम्भोदकालान्मदयितुमलमस्मिन्नोलकण्ठानकाले ॥३७॥

वर्तन्ते' इति विवृणोति विवरणं करोति । वृक्षं वरणे लट् । म्रियोऽत्र वर्तन्ते इति अनुमितिः ॥३४॥ तीरेष्विति ।
इह गिरी । आलीनानीः आलीनाः पतिता अलथो भ्रमरा 'यासा' ता । अनिलरयोद्धूतान्ताः अनिलस्य वायो
रयेण वेगेन उद्धूतः^१ अन्तो^२ मध्यप्रदेशो यासा ताः । तान्ताः म्लाना । तमू रलानी । एताः हमा । अविरत-
मूलापातीः अविरतं निरन्तरं मूलं बुध्नमापातीरागमनशोला । कुसुमितवानीराली । कुसुमिताः पुष्पिता
वानीराणां वञ्जुलानामालीः संहतीः । अयम् एषः । प्रसूतनदीनीरौघः प्रसूताः प्रस्पन्दितो नदीनामापयाना
नीराणां बलानामौघः प्रवाहः । पाति रलति । पा रलणं लट् । यमकम् ॥३५॥ पातीति । अत्र गिरी ।
घातिनिर्मथनलब्धकेवलाः घातीनां घातिकर्मणा निर्मथनेन विनाशेन लब्धाः प्राप्ताः । केवला नवकेवललब्धयो
येषां^३ ते । योगिनः मुनयः । परिनिविवासवः सकलकर्मणि विनाशयितुमिच्छवः । प्रतरपूरणादिभिः प्रतरपूरणे
क्वादी येषां तैः, प्रतरपूरणप्रमुखसमुद्घातैरित्यर्थः । आयुषा आयुःकर्मणा । कर्मणा नामाद्यघातिकर्मणाम् ।
समबलत्वं समानशक्तिवत्त्वं । कुर्वते विदधति । लट् । स्वभावः ॥३६॥ शिखरेति । अस्मिन् गिरी । शास्त्रि-
शास्त्रान्तरालैः शास्त्रिना तर्कणां शास्त्राणां शिखानामन्तरालैर्मध्यैः । प्रसूतरविकराणां प्रसूतः^४ प्रस्पन्दितो रवः
सूर्यस्य करः किरणो येषां तेषाम्^५ । शिखरमणिशिलानां शिखरे शृङ्गे विद्यमानानां मणिशिलानाम् । उल्लसन्
भासमानः । रोचिरोघः रोचिषा किरणानामौघः समूहः । तडिदनुकृतिकारी तडिता विद्युतामनु [कृति] कारी
सन् अनुकरणकारी सन् । अकाले असमये । शङ्किताम्भोदकालान् शङ्कित्वा अशङ्कितोऽम्भोदस्य मेषस्य कालो

स्वासवायुसे वे उनके छिपनेका सङ्केत पाकर उन्हें खोज लेते हैं ॥३४॥ राजन् ! जरा इधर
भी देखिये, तटों पर यहाँ विकसित वेतके पेड़ खड़े हुए हैं । इनमे भीरे छिपकर बैठे हुए है ।
इन्हें हवा हिला गयी है । ये तेज धूपसे मुग्धायें हुए है । ऐसी स्थितिमे ये जडसे उखड़ जाते,
किन्तु फैला हुआ यह नदियोंका प्रवाह इन्हें बचाये रहता है—उनकी रक्षा किया करता है
॥३५॥ राजन् ! यहाँ पर निर्वाणके अभिलाषी मुनियोने चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण,
मोहनीय और अन्तराय) कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है । अब ये प्रतर
और पूरण आदि समुद्घातोंके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंको आयु
कर्मकी स्थितिसे बराबर कर रहे हैं ॥३६॥ इन पर्वतके शिखरों पर मणिमय शिलाएँ पाई
जाती है । वृक्ष-शाखाओंके बीचसे सूर्य-कर्मणोंके पड़नेपर उनसे बिजुलीकी भाँति प्रतीत होनेवाली
चमचमाती हुई ज्योति निकल पड़ती है, और वह असमयमे ही सूर्योको वर्षाकालका धोखा
उत्पन्न करके उन्हें उन्माद उत्पन्न करनेके लिए खूब अच्छी तरह समर्थ हो जाती है ॥३७॥

१. = यासु । २. = कम्पितः । ३. = ऊर्ध्वप्रदेशः । ४. = वे । ५. = प्रसारं गतः । ६. = यासु
तासाम् ।

तटरुहकुटजावनीरुहाणामतिमहतोषु शिखासु सकृद्विम्बः ।
 जनयति रजनीषु तारकाणामिह कुसुमस्तवकश्रियं समूहः ॥३८॥
 निकरै रुचां तिमिरहानिकरैरमितै रवेर्वियदपारमितैः ।
 विहृतैः स्फुरन्मणिरुचाविहृतै रजनोष्विव ग्रहपतेरजनि ॥३९॥
 निष्कान्तैः शिखरचयाभिरन्तरालैरालीढाः सरसिजरागरश्मिजालैः ।
 श्रीमत्तां दधति दिशो दशाप्यमुष्मिन्नीरकैरिव^१ वसनैः परिष्कृताङ्गाः ॥४०॥
 सेनापतेरिति वचो ललितैकवर्णमाकर्ण्य भूमिपतिरप्रतिवार्यबोध्यः ।
 तस्मिन्नदीर्घमणिरोचिषि शैलराजे रन्तुं कियन्त्यपि दिनानि बह्वन्ध बुद्धिम् ॥४१॥

येस्तान् । नीलकण्ठान् मयूरान् । मदयितुं संतोषयितुम् । अल शक्तः ॥३७॥ तटेति । इह गिरी । रजनीषु रात्रिषु । तटरुहकुटजावनीरुहाणां तटरुहाणां सानुभवानां कुटजावनीरुहाणां कुटजभूराणाम् । अतिमहतोषु अत्युन्नतासु । शिखासु अग्रभागेषु । सक्तविम्बः सक्तं संबद्धं विम्बं मण्डल यस्य सः । तारकाणां नक्षत्राणाम् । समूहः निबहः । कुसुमस्तवकश्रियं कुसुमानां पुष्पाणां स्तवकस्य^२ मञ्जर्याः श्रियं शोभाम् । जनयति उत्पादयति । उपेक्षा^३ ॥३८॥ निकरैरिति । इह गिरी । तिमिरहानिकरैः तिमिरस्यान्धकारस्य हानिकरैरन्धकारिभिः । अपारम् अनन्तम् । विषय आकाशम् । इतैः गतैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरन्त्या प्रचलन्त्या मणीनां रत्नानं रुचौ कान्त्याम् । विहृतैः बाधितैः प्रतिहृतैर्वा । रवेः सूर्यस्य । रुचां किरणानाम् । निकरैः समूहैः । रजनीषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य । तैः इव किरणैर्यथा तथा । अर्जनि अजायत । जर्नद् प्रादुर्भावो लुट् । उपमा ॥३९॥ निष्कान्तैरिति । अमुष्मिन् गिरी । शिखरचयात् शिखराणां कूटानां चयाम् निबहत् । निष्कान्तैः निर्गतैः । निरन्तरालैः निरन्तरैः । सरसिजरागरश्मिजालैः सरसिजरागाणां पद्मरागमणीनां रश्मीनां किरणानां जालैरनिकरैः । आलीढा व्याप्ताः । दश अपि दशसंख्या अपि । दिशः कुक्षुमः । नीरवतैः नितरां रसैरक्षणवर्णैरित्यर्थः । वसनैः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गा इव परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं वाचं यासां ता इव । श्रीमत्ता शोभावस्त्वम्^४ । दधति धरति । हुवाङ् धारणे च लट् । उपेक्षा ॥४०॥ सेनापतेरिति । अप्रतिवार्यबोध्यः अप्रतिवार्यं निवारयितुमशक्यं बोध्यं प्रतापो यस्य सः । भूमिपतिः पद्मनाभः । सेनापतेः सेनाभ्याः । ललितैकवर्णं ललितो मनोहर एको मुख्यो वर्णो वर्णनं यस्य (ललितं मनोहरं एके मुख्यं वर्णं अक्षराणि यस्मिन्) तत् । वचः वचनम् । इति एवम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । उदीर्यमणिर्विचि उदीर्यं व्यप्तं मणोना रत्नानां रोचिः कान्तिर्यस्य^५ तस्मिन् । शैलराजे मणिकूटपर्वते । कियन्त्यपि वतिपयान्यपि । दिनानि दिनपर्यन्तम् । रन्तुं

इस पर्वतके तटवर्ती कुटजवृक्षोंकी बहुत लम्बी-लम्बी ऊपरी शिखाओं-चोटियों पर रात्रिके समय लगा हुआ तारा-मण्डल, फूलोंके गुच्छोंकी शोभाको उत्पन्न कर देता है ॥३८॥ यहाँ दिनमें खूब चमचमानेवाले मणियोंका तीव्र प्रकाश रहता है । अतः असोम आकाशकी सीमाओं-में फैलकर सूर्यकी जो किरणें अन्धकारको मिटा देती हैं, वे यहाँ आकर हतप्रभ हो जाती हैं, फलतः रात्रिके समय चन्द्रकिरणोंकी जैसी शोभा होती है, वैसी शोभा फैलाने लगती है— दिनमें सूर्य चन्द्रसंगीखा हो जाता है, और उसकी किरणें चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति मन्दप्रकाश फैलाया करती है ॥३९॥ राजन् ! इधर भी दृष्टिपात कीजिए, यहाँ शिखरोंके समूहसे निकली हुई पद्मराग मणियोंकी किरणोंने सभी आर लगातार फैलकर दसों दिशाओंको रंग दिया है— लाल कर दिया है, अतः वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं; मानो लाल रंगके वस्त्र पहने हों ॥४०॥ सेनापतिके इन सुन्दर वर्णवाले वचनोंकी सुनकर अप्रतिहत शक्तिवाले राजा पद्मनाभने मणियोंकी जगमगाती ज्योतिसे प्रकाशमान उस मणिकूट नामक पर्वतपर कुछ दिन ठहरकर क्रीडा

१. अ 'भारतैरिव । २. = गुच्छकस्य । ३. = निदर्शना । ४. आ शोभित्वम् । ५. = यस्मिन् ।

संपश्यता कुसुमवासितविन्विमाणा राजीगिरेरनुतटं विविधद्रुमाणाम् ।
 मध्याह्नवर्तिनि रवाहुवितभ्रमेण प्रापे नृपेण पृतनानिविशदेशः ॥४२॥
 घर्मोदबिन्दुभिरुपाह्वितभूरिशोभा गण्डस्थलीः पथि विलोकयतः प्रियाणाम् ।
 बाधाकरोऽपि शिशिरैतररश्मिरासीत्तस्यावनीतलभुजोऽभिमनस्तदानीम् ॥४३॥
 द्राघोयसीरविरलं रचिता वणिग्भिरप्रे गतैः पटमयापणराजितामताः ।
 पश्यन्क्रयाकुलजनाः क्षितिपोऽदृवीधीरुत्तुङ्गतोरणमियाय निजं निवासम् ॥४४॥

कीदृशम् । बुद्धि मतिम् । बन्ध बन्धने लिट् ॥४१॥ संपश्यतेति । गिरेः पर्वतस्य ।
 अनुतटं तटस्य वप्रस्य समीपमनुतटम् । 'समीपे' इति समासः । विविधद्रुमाणा विविधाना नानाविधाना
 द्रुमाणां तरुणाम् । कुसुमवासितविन्विमाणाः कुसुमैः पुष्पैर्वर्णितः परिमलीकृतो दिशा कुसुमा विभागे यासां^२
 ताः । राजीः श्रेणीः । संपश्यता बीजभागेन । रवो सूर्यः । मध्याह्नवर्तिनि मध्याह्नि (ह्ने) मध्याह्नकाले
 वर्तिनि सति । उदितभ्रमेण उदित उत्पन्नः भ्रमः परिभ्रमो यस्य तेन । नृपेण पद्मनाभेन । पृतनानिवेशदेशः
 पृतनायाः सेनाया विनिवेशस्य निवसनस्य^३ देशः स्थानम् । प्रापे^४ प्राप्यतेत्यम् । बाध्वा व्याप्तौ कर्मणि लिट्^५
 ॥४२॥ घर्मोदिति । घर्मोदबिन्दुभिः घर्मोदस्य स्वेदोदस्य बिन्दुभिः कर्णैः । उपाहितभूरिशोभा^६ उपाहिताः
 स्वीकृता भूरयो बहुलाः शोभाः यासां ताः । प्रियाणा स्त्रीणाम् । गण्डस्थलीः कपोलप्रदेशान् । पथि मार्गे ।
 विलोकयतः पश्यतः । तस्य राजाः । शिशिरैतररश्मिः सूर्यः । शिशिरस्य^७ इतर उष्णो रश्मिः किरणो यस्य
 सः । बाधाकरोऽपि पीडाकरोऽपि । अभिमन इष्ट^८ । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । घर्मोदबिन्दुकलित-
 नारीबदनदर्शनेन आतशीतस्यापहरणात् सूर्यस्येष्टत्वमिति भावः ॥४३॥ द्राघीति । अप्रे पुरः । गतैः यातैः ।
 वणिग्भिः वाणिजैः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा । रचिता विहिता । द्राघोयसी दीर्घतराः । 'प्रिय
 स्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य ईयसी-प्रत्यये द्राघो इत्यादेशः । पटमयापणराजितामताः पटमयैर्वस्त्रविमित-
 रापणैर्विवणिभिः राजितो भासितो मध्यप्रदेशो यासां ताः । क्रयाकुलजनाः क्रये वस्तुग्रहणे बाहुलाः संकीर्णा
 जना यापु ताः । अदृवीधीः^९ पण्यवीषिकाः । पश्यन् बीजमाण । क्षितिपः राजा । उत्तुङ्गतोरणम् उत्तुङ्ग-
 मुग्रतं तीरर्णं बहिर्द्वारं यस्य तम् । निजं स्वकीयम् । निवासम् आलयम् । इयाय जगाम । इण् गतो लिट् ।

करनेका विचार किया ॥४१॥ फिर राजा पद्मनाभ पर्वतकी मुष्मा देखनेके लिए चल पड़ा ।
 उस पर्वतके सभी तटोंपर नाना प्रकारके वृक्षोंकी पंक्तियाँ लगी हुई थी, जिन्होंने अपने फूलोंकी
 खुशबूसे सारी दिशाओंके अन्तरालको मुगन्धित कर दिया था । उनको छवि देखते-देखते मध्याह्न
 हो गया । सूर्य आकाशके ठीक मध्यमें पहुँच गया । राजाको थकानका भी अनुभव होने लगा ।
 तब वह अपनी सेनाको ठहराने योग्य स्थानमें जा पहुँचा ॥४२॥ यों दोपहरका सूर्य सन्ताप
 देकर सबको पीडा देनेवाला होता है, किन्तु उनने पसीनेकी वूदोसे गनियोके कपोलोंको बहुत
 अधिक सुशोभित कर दिया था । उन्हे देखकर पद्मनाभका चित्त प्रसन्न हो रहा था, और इसीलिए
 उसे उस समय सबको बाधा देनेवाला भी सूर्य प्रिय लग रहा था ॥४३॥ व्यापारियोंने पहले
 पहुँचकर बड़े-बड़े बाजारोंकी रचना कर ली थी, जो पास-पासमें कपड़े तानकर बनाई गई
 दूकानोंसे दर्शनीय थी । सभी बाजारोमें ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी । सभी बाजारोंको देखता
 हुआ राजा पद्मनाभ अपने निवासके लिए बनाये गये उस भवनमें जा पहुँचा, जिसके आगे बहुत

१. अ आ इ पश्यन् क्रिया । २. = याभिः । ३. वा 'निवसनस्य' इति नास्ति । ४. आ श प्रापि ।

५. आ लृङ् । ६. = उपाहिता विहिता भूरिशोभा यासां ता । ७. = शिशिराद् । ८. = हट्टवीषिकाः ।

'अदृवी हट्टादालकयोः' अनेका० २।८१ ।

यान्तीमिरात्मनिलयाथ तुरङ्गिणीभिः सामन्तसंहतिमिरिश्विसजिताभिः ।

वेलाभिः^१ उन्नततरङ्गविभङ्गाभिरनुभ्यद्रमुधिरिष्वजिनीनिवेशः ॥४५॥

राजाधिराजवसतेर्हयमन्दुरायाः पण्याङ्गनापरिषदो विपणिम्रजस्य ।

पर्याकलस्य परितो विनिवेशदेशं स्वाधासमूमिरनुवासिजनेन जज्ञे ॥४६॥

वेश्यागणाः परिचितानुपचारहेतोरेष्वधमातुरत्तनूननुपालयन्तः ।

द्वारस्थिताः पटमयस्वनिवासपङ्क्तेर्वास्तव्यवहृदशिरे पृतनाजनेन ॥४७॥

प्रासन्निरादुरपरिश्रमस्त्रिभ्रजङ्गः पर्युहितुं^२ निजनिवासपदान्यशक्तः ।

बभ्राम मुग्धविपणः परितः स्ववर्मव्याहारनादनिहितश्रवणो जनौघ ॥४८॥

जातिः ॥४४॥ यान्तीमिरिति । ईश्विसजिताभिः ईशेन राजा विसजिताभिः प्रहिताभिः । आत्मनिलयाथ स्वमुहाय । यान्तीभिः गच्छन्तीभिः । तुरङ्गिणीभिः अश्वयुक्ताभिः । सामन्तसंहतिभिः सामन्तानां राज्ञां संहतिभिः समूहैः । एवजिनीनिवेशः एवजिण्याः सेनाया निवेशो निवासस्थानम् । उन्नततरङ्गविभङ्गाभिः उन्नतः प्रवृद्धेस्तरङ्गैः कल्लोलैर्विभङ्गाभिर्यकाभिः । वेलाभिः^३ जलविकारैः । अम्बुधिरिष्व समुद्र इव । अनुभ्यत् क्षुभ्यतिस्म ॥४५॥ राजेति । राजाधिराजवसतेः राजाधिराजानां वा वसतेर्मन्दिरस्य । हयमन्दुराणां हयानां वाजिनां मन्दुराणां शालानाम् । पण्याङ्गनापरिषदः पण्याङ्गनानां गणिकानां परिषदः समूहस्य । विपणिम्रजस्य^४ विपणीनां पण्यवीथीनां म्रजस्य समूहस्य । विनिवेशदेशं निवासप्रदेशम् । परितः समन्तात् । पर्याकलस्य^५ । अनुयायिजनेन पण्यादायतेन जनेन प्रजया । स्वाधासमूमिः स्वस्यात्मन आधासमूमिर्निवासभूः । जज्ञे जायते स्म । ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट् ॥४६॥ वेद्येति । अष्वधमातुरत्तनून् अष्वधमाः मार्गधमाद् आतुरा पीडिता तनूः शरीरं येषां तान् । परिचितान् परिचययुक्तान् । उपचारहेतोः उपचारस्य^६ विनयस्य हेतोर्निमित्तम् । अनुपालयन्तः वीक्षमाणाः । पटमयस्वनिवासपङ्क्तेः पटमयानां बन्धमयानां स्वनिवासानां निजनिलयाणां पङ्क्तेः श्रेण्याः । द्वारस्थिताः^७ द्वारेषु स्थिता आसिताः । वेश्यागणाः वेदयानां गणिकानां गणाः समूहाः । पृतनाजनेन पृतनायाः सेनाया जनेन । वास्तव्यवत् प्राक् स्थिताः^८ इव । दृष्टिरे वीक्षयन्ते स्म । दृष्टुं वीक्षणे^९ कर्मणि लिट् । उपमा ॥४७॥ प्रास इति^{१०} । उरपरिश्रमस्त्रिभ्रजङ्गः उरणां महुता परिश्रमेणायासेन खिन्ने बाधिते जङ्घे यस्य सः । चिरात् कालविलम्बात् । प्राप्तः आयातः । निजनिवासपदानि निजस्य स्वस्य निवासस्या-

बड़ा दरवाजा-प्रवेश द्वार बनाया गया था ॥४४॥ राजा पचनाभको ठहराकर और फिर उनसे बिदा लेकर सभी सामन्त घोड़ोंपर सवार होकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानमें चले गये । सामन्तोंके उछलते हुए घोड़ोंसे पड़ाव ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे समुद्र, उत्ताल तरङ्गोंबाले ज्वार-भाटेसे सुशोभित होता है ॥४५॥ राजाधिराज पचनाभ एवं अन्य सामन्तोंके निवास भवनोंको, घुड़सालको, और गणिकाओंके गण तथा बाजारोंके स्थानोंको सभी ओरसे देखकर पीछे आने बाले प्रजाके लोगोंने यह जान लिया कि हम सभीके ठहरनेका यही स्थान है ॥४६॥ मार्गके परिश्रमसे थके-मादे पूर्व परिचित लोगोकी परिचर्या करनेके लिए उनकी प्रतीक्षा करनेवाला जो गणिकाओंका गण अपने-अपने तम्बुओंकी अगली पंक्तिमें खड़ा हुआ था, उसे सैनिकोंने वहीका निवासी समझा ॥४७॥ कुछ और लोग, जो सबसे पीछे आये थे, और अत्यधिक परिश्रमसे जिनकी जंघाएँ भर आई थीं—बहुत ही अधिक थक चुकी थीं, वे अपने डेरोंका स्थान खोजने-

१. अ आ इ पर्याहितुं । २. श 'वेलाभिः' इति नोपलभ्यते । ३. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'विपणिष्वजस्य' इत्येवावलोक्यते । ४. = समवलोक्य । ५. = परिचर्यायाः । ६. टीकाया 'द्वारस्थिताः' मूलप्रतिषु च 'द्वारि स्थिताः' इति दृश्यते । ७. = तत्रत्याः । ८. आ दक्षिर् प्रेक्षणे । ९. आ श प्राप्तेति ।

प्रत्यप्रपाकधिततं सुरभीकृताशमाप्राय चित्तहरमिद्धुरिकोदिगन्धम् ।
 पर्याकुलं कटकमिः समुपवर्जितः सुरक्षामकुक्षिभिरजायते धाम कण्डाः ॥४६॥
 शैलानिलः शिथिलकम्पितवेवदारुच्छाच्छन्निर्भरपयःकणसङ्गशीतः ।
 मार्गभ्रमव्ययपटुः पटमण्डपं स्थैर्निद्रालसैर्वसुमतोपतिभिः सिपेवे ॥४७॥
 प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैरुत्तोरणपल्ययनभूरिभरैस्तुरङ्गैः ।
 भूवेत्तनाय परितः परिवर्तमानैरावर्तमानिव बभौ शिविराम्बुराशिः ॥४९॥

वासस्य पशानि स्वानानि । पर्याहितुं^१ विचारयितुम् । अशक्तः असमर्थः । मुग्धविषणः मुग्धा मूढा विषणा बुद्धियस्य सः । स्ववर्ग्यव्याहारनादनिहितश्रवणः स्ववर्ग्यव्यासा स्वसंबन्धजननात् व्याहारस्य वचनस्य नादे ध्वनौ निहिते म्यत्से श्रवणे येन सः । जतोषः जनाना लोकानामोषः समूहः । परितः समन्तात् । बध्नाम प्रमति स्म । भ्रमू चलने लिट् । जाति ॥४८॥ प्रत्यप्रति । प्रत्यप्रपाक^२धितत प्रत्यप्रपेण नूतनेन पाकेन^३ निततं विस्तृतम् । सुरभीकृताश्च सुरभीकृताः परिमलकृता आशा दिशो येन तम् । चित्तहरं मनःप्रीतम् । इद्धुरिका^४दिगन्धम् इद्धुरिका^५दीनां भद्राभेदाना गन्ध परिमलम् । आप्राय उपादाय । पर्याकुलं व्याकुलम् । समुपवर्जितः समुपगच्छितः । क्षुत्क्षामकुक्षिभः क्षुधा क्षामः कुषः कुक्षिद्वरं घेषा तैः । कटकमिः मंताजनैः । कण्डाः^६ खड्गाः^७ । धाम स्थानम् । [पर्याकुलम्^८] अजायत अभवत् । लङ् । जातिः ॥४९॥ शीलेति । शिथिलकम्पितवेवदारु शिथिल मन्दं कम्पिते इव उच्चालितो देवदारुदेवदारुवृक्षो यस्य^९ सः । अच्छाच्छान्निर्भरपयः-कणसङ्गशीतः अच्छाच्छस्यात्यन्तनिर्मलस्य निर्भरस्य प्रवाहस्य पयसो जलस्य कणानां लेहानां सङ्गं संसर्गेण शीतः शीतलः । मार्गभ्रमव्ययपटुः मार्गभ्रमात्स्य भ्रमस्वायासस्य व्यये विनाशे पटुः समर्थः । शैलानिलः शैलस्या-निलो वायुः । पटमण्डपः^{१०} स्थः दुग्धस्थितैः । निद्रालसैः^{११} निद्रायामलसैर्यम्पटैः । वसुमतोपतिभिः भूमिपालैः । सिपेवे मज्जतेसम् । पेज्जु सेवने कर्मणि लिट् । जातिः ॥५०॥ प्रस्वेदेति । प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैः प्रस्वेदव्ये^{१२} धर्मस्य फेनस्य विण्ढोरस्य लवैः कणविच्छुरिता अङ्गस्वै^{१३} अवयवस्य रेखा शोभा येषां तैः । उत्तीर्ण-पल्ययनभूरिभरैः उत्तीर्णोऽवरोहितः पल्ययनस्य पर्याणस्य भूरिर्वहुको भरो^{१४} येषां तैः । भूवेत्तनाय भुवि भूमौ वेत्तनाय विलोडनाय । परितः समन्तात् । परिवर्तमानैः परिभ्रमन्ति । तुरङ्गैः^{१५} अश्वैः । शिविराम्बुराशिः

मैं असमर्थ थे । अतएव वे भोले-भाले लोग अपने वर्गके लोगोंकी पुकारकी आवाज सुननेकी प्रतीक्षामें इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥४८॥ भोजनालयमें ताजा पक्का भोजन बन रहा था । पूरियों एव और-और पकवानोंकी मनोहर खुशबूकी—मिसने सारी दिशाओंको सुगन्धित कर दिया था—सूँघकर अत्यन्त भूखे सैनिक बड़ी तेजीसे आगे बढ़े, और उनके पहुँचते ही हलवाईयोका सारा-का-सारा स्थान घिर गया ॥४९॥ निद्रासे अलसाये हुए राजाओंने अपने-अपने तम्बुओंमें मणिकूट पर्वतकी उस वायुका सेवन किया, जो घोंरे-घोंरे देवदार वृक्षोंकी हिला रहती थी अर्थात् उनके स्पर्शसे सुगन्धित थी, अत्यन्त स्वच्छ झरनोंकी जल बिन्दुओंसे ठण्डी थी और इसीलिए रास्तेकी थकानकी दूर करनेमें समर्थ भी ॥५०॥ घोंघोंके शरीरमें पसीने पर लगी हुई फेनकी छोटी-छोटी बिन्दुओंसे अपूर्व शोभा उत्पन्न हो गई थी । उनके ऊपरसे जोन

१. अ मिद्धुरिका, आ मिद्धुरिका, इ सिद्धुरिका । २. म रसायत । ३. अ आ इ क ख ग घ कण्डाः । ४. म मण्डलस्थैः । ५. श पर्याहितुं । ६. श प्रत्यप्रवात । ७. श वातेन । ८. म मनोहरम् । ९. आ इद्धुरिका । १०. आ इद्धुरिका । ११. आ कुण्डा, श कण्डाः । १२. आ भर्वाः । १३. = क्षुब्धं व्याप्तं वा । १४. = विधृतः । १५. = येन । १६. आ मण्डल । १७. = निद्रया अलसैः सारसैः । १८. = धर्मबलस्य । १९. = शरीरस्य रेखाः पङ्क्तयः । २०. = भारो ।

अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन^१ भूयः संमूर्च्छताद्विचित्रे इयहेषितेन ।
 सेनाचरैर्बधिरितश्रुतिभिर्मुहूर्तं मूर्कैरिव प्रकृतवस्तुकथासु तस्ये ॥५२॥
 मध्येजलं प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे पानाय सत्तिनिकरे परितोऽवतीर्णं ।
 संचारिताद्विसदृशैः शखिलाशयानां प्राचुर्यवद्भिरिव वीचिचयैर्बभूवे ॥५३॥
 पीताम्भसः श्रमलवानिध वारिबिन्दुव्याजेन बाजिनिवहाः स्तपिताः क्षरन्तः ।
 संयैमिरे युगपदेव समापतन्तः क्षितोलपास्वथ^२ कथंचन मन्दुरासु ॥५४॥

शिबिरमेवाम्बुराशिः समुद्रः । रूपकम् । आवर्तवानिव^३ रोमावर्तयुवत इव । बभौ भाति स्म । लिट् ।
 उत्प्रेक्षा ॥५१॥ अन्योन्येति । भूयः भूयम्^४ । अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन^५ अन्योन्यदर्शनेन परस्परदर्शनेन
 समुच्चरितेन समुद्भूतेन । अद्विविधे अद्वेः पर्वतस्य विधरे गुहायाम् । संमूर्च्छता प्रतिध्वनिं कुर्वता । इयहेषि-
 तेन हयानां तुरगाणां^६ हेषितेन रवेण । बधिरितश्रुतिभिः बधिरास्ते श्रुती कर्णौ येषां ते^७ । सेनाचरैः ध्वजि-
 नीचरैः^८ । प्रकृतवस्तुकथासु प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः कार्यस्य कथासु कथनेषु । मुहूर्तं^९ मुहूर्तपर्यन्तम्
 मूर्कैरिव बभाषणैरिव । तस्ये आस्यते स्म । छा गतिनिवृत्ती भावे लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥५२॥
 मध्ये जलमिति । [मध्ये जलं] जलस्य मध्य मध्येजलं तस्मिन्, जलमध्ये, इत्यर्थः । 'पारे मध्येऽन्तश्च घृष्टा' इति
 साधुः । प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे प्रकटो ध्वस्तः चञ्चलः पृष्ठभागे यस्य तस्मिन् । सत्तिनिकरे सप्ति (पत्नी)
 नामधेयानां निकरे निवहे । पानाय पाननिमित्तम् । परितः समन्तात् । अवतीर्णं^{१०} सति याते^{११} सति ।
 संचारिताद्विसदृशैः संचारिण्या^{१२} चलनयुक्तानाम् । बद्रोणा पर्वतानां सदृशैः समानैः प्राचुर्यवद्भिः बाहुल्यसहितैः ।
 शखिलाशयानां जलाशयानाम् । वीचिचयैरिव वीचीना तरङ्गाणां चयैरिव निकरैरिव । बभूवे मूयते स्म । भावे
 लिट् । उपमा^{१३} ॥५३॥ पीतेति । अथ बाजिनां जलपानव्ययान्तरम्^{१४} । पीताम्भसः पीतं सेवितमम्भो यैस्ते ।
 स्तपिताः मज्जिताः^{१५} । युगपदेव सकृदेव । समापतन्तः^{१६} लङ्घयन्तः वारिबिन्दुव्याजेन^{१७} वारिणो जलस्य बिन्दुरिति
 कण इति व्याजेन । श्रमलवान् श्रमलेशान् क्ष-न्त इव बिम्बुच्यन्त इव । बाजिनिवहाः बाजिनामध्वानां निवहाः

तथा और जो भी बांस था, उतार लिया गया और पृथ्वी पर लोट लगवानेके लिए उन्हें गोल
 दायरोमें घुमाया जा रहा था । उनसे पड़ाव रूपी समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो वह बड़ो-
 बड़ो भँवरोंसे युक्त हो ॥५१॥ एक दूसरेको देखकर घोड़े हिनहिनाने लगे । पहाड़की गुफाओंमें
 प्रतिध्वनित होनेसे उनकी हिनहिनाहटकी आवाज और भी अधिक बढ़ गई । फलतः सेनामें
 सञ्चार करनेवाले लोगोंके कान बहरे हो गये, अतः वे अपनी प्रारम्भकी गई चर्चाओंमें कुछ
 समय तक, मूक-से होकर चुप-चाप बैठकर रह गये—उन्होंने आपसकी चर्चा बन्द कर दी
 ॥५२॥ पानी पीनेके लिए घोड़ोंका झुण्ड, जब चारों ओरसे जलाशयोंमें उतरकर उनके बीच
 तक पहुँच गया, तब उनकी चञ्चल पीठ स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रही थी । उनकी पीठकी
 चञ्चलताके कारण उन जलाशयोंमें बड़ो-बड़ो लहरें प्रचुर मात्रामे उत्पन्न हो गईं, जो
 जङ्गम पहाड़ियों सरीखी प्रतीत हो रही थीं ॥५३॥ जल पीनेके बाद नहलाये गये घोड़े जब
 जलाशयोंसे निकलकर बाहर आ गये, तब उनके शरीरसे जल-बिन्दु टपक रहे थे, जो
 पसीनेके बिन्दुओं सरीखे जान पड़ते थे । फिर वे एक ही साथ घुड़सालोंमें घुसने लगे ।

१. क ख ग घ म^१ मूर्च्छलितेन । २. आ इ संचारिता^२ । ३. आ इ^३ लवास्वथ, क ख ग घ म^४ पला-
 स्वथ । ४. = 'स्वादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरवचनादत्राम्भसा भ्रम इव—इति स्यात् । ५. आ 'भूयः भूयम्'
 इति नास्ति । ६. मूलप्रतिपु तु 'समुच्छलितेन' इत्येव वतंते । ७. सा तुरङ्गाणां । ८. आ ध्वजनीभिः । ९. =
 स्वल्पकालं यावत् । १०. = प्रविष्टे । ११. आ संदाते । १२. = अङ्गमानाम् । १३. = उत्प्रेक्षा च । १४. आ जल-
 पानान्तरम् । १५. सा मज्जिताः । १६. = समुत्पतन्तः । १७. = वारिणो जलस्य बिन्दुना कणानां व्याजेन चलेन ।

तोयावगाहचलितैर^१लिनीसदृष्टस्सारितभ्वजकुषाभरणास्त्रभारैः ।
 कल्पान्तमास्तपरिक्षुमितैरिषाद्रिराजै^२ रराज वसुधा धरवारणेन्द्रैः ॥५५॥
 यानि द्विपेन्द्रनिबद्धो निजपुष्कराणि संजाततुष्टिरुदमीमिलदम्बुमग्नः ।
 तान्येष सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु रक्ताम्बुजधियमधुः सलिलाशयेषु ॥५६॥
 कुर्वन्ति यामनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः सन्ध्यारुणाभ्रनिवहा नभस्तटेषु ।
 सा श्रीर्हृदेषु सरितां विवधे विशद्विः सिन्दूररागचिरावयवैर्वाजेन्द्रैः ॥५७॥

समूहाः । क्षिप्तोत्पलासु^३ क्षिप्ताः स्थापिता उलपाः तूणादयो यासु तासु । मन्दुरासु वात्रिशालासु । कथंवन
 कथमपि । संवेमिरे बध्यन्ते स्म । यम उपरमे कर्मणि लट् । उपमा^४ ॥५४॥ तोयेति । तोयावगाहचलितैः
 तोयस्य जलस्यावगाहाय प्रवेशाय चलितैर्वर्तैः । अलिनीलदेहैः अलय इव नीलाः कृष्णा देहाः शरीराणि येषा
 तैः । उत्सारितभ्वजकुषाभरणास्त्रभारैः उत्सारिता अवरोहिता^५ ध्वजाः पताकाः कुषाः करिकम्बलाः
 आभरणागलङ्कारा अस्त्राणि दन्तशङ्खास्तेषा भारो येषा तैः । वरवारणेन्द्रैः वरैस्तमैर्वारणेन्द्रैर्मजेन्द्रैः ।
 कल्पान्तमास्तपरिक्षुमितैः कल्पान्तस्य युगावसानस्य मास्तेन संवत्कवायुना परिक्षुमितैश्चलितैः । अद्रिराजैरिव
 अद्रोणां पर्वतानां राजभिरिव । वसुधा भूमिः । रराज बभौ । लिट् । उत्प्रेषा ॥५५॥ यानीति । अम्बुमग्नः
 अम्बुनि जले मग्नो लोनः । संजाततुष्टिः संजाता संभूता तुष्टिर्यस्य^६ । द्विपेन्द्रनिवहः द्विपेन्द्राणां निवहो
 विकरः । यानि निजपुष्कराणि स्वहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् उदधीचरत्^७ । मिल निमेषणे णिजन्ताल्लङ् ।
 तान्येष निजपुष्कराण्येव । सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु सैनिकैः सेनाचरैर्विलुण्ठितानि लुञ्चितानि^८ वारिजानि
 कमलानि येषु^९ तेषु । सलिलाशयेषु जलाधारेषु । रक्ताम्बुजधिय रक्तानामरुणानामम्बुजानां कमलानां त्रियं
 शोभाम् । बधुः धरन्ति स्म । दुषाब् धारणे च^{१०} लुङ् ॥५६॥ कर्यन्तीति । अनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः अनुकृतानि
 दृष्टान्तीकृतानि अचलानां पर्वतानाम् इव तुङ्गान्युन्नतानि शिखराणि येषा^{११} तैः । सन्ध्यारुणाभ्रनभसः^{१२}
 सन्ध्यायां सन्ध्याकालेऽर्णं लोहितमभ्रं मेघा यस्य तस्य (सन्ध्यारुणाभ्रनिवहाः सन्ध्यायाः सन्ध्याकालस्यारुणां
 ताभ्रवर्णानामरुणवर्णानां वा आर्णं मेघानां निवहाः समूहाः) । नभसः आकाशम् । तटेषु प्रदेशेषु । या शोभाम् ।
 कुर्वन्ति विदधति । लट् । सरिता नद्यानाम् । हरेषु अगाधजलेषु । विशद्विः गच्छद्विः । सिन्दूररागचिरावयवैः

वहाँ उनके बाँधनेके लिए पहलेसे ही बड़े-बड़े पत्थर डाल दिये गये थे, उनसे वे बड़ी
 कठिनाईसे बाँध दिये गये ॥५४॥ ध्वजाएँ, झूल, आभूषण और अस्त्र—इन सबका बोझ
 उतारकर जब भौरोके समान काले शरीरवाले श्रेष्ठ हाथी जलमें प्रवेश करनेके लिए चले तब
 उनसे व्याप्त हुई पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो वह प्रलयकालकी वायुकी प्रेरणासे लुढ़कने-
 वाले पहाड़ोंसे घिर गई हो ॥५५॥ जलाशयोके जलमें प्रवेश करके हाथियोंके झुण्डने डुबकी
 साध ली । इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ । इस अवसरपर उन्होंने अपनी-अपनी सूझके जिन
 अगले भागोंको जलके ऊपर (श्वास लेनेके लिए) कर रखा था, उन्होंने सैनिकोंके द्वारा जला-
 शयोंके तोड़े गये कमलोंके स्थानमें नवीन लाल कमलोंकी शोभा उत्पन्न कर दी ॥५६॥ पहाड़ोंके
 उन्नत शिखरोंका अनुकरण करनेवाले सन्ध्याकालीन लाल बादल आकाशके ओर-छोरके भागोंमें
 जो शोभा फैलते हैं, उसी शोभाको सिंदूरसे रंगे हुए सुन्दर अवयवोंको धारण करनेवाले गज-

१. क ख ग घ म^१ गाहचलितैः । २. क ख ग घ म^२ द्रिकृटं । ३. आ क्षिप्तोत्पलासु । 'उलपसु
 गुल्मिनीतूणभेदयोः' अनेका० ३।४६९ । ४. = कैतवापहृतविष । ५. आ 'उत्सारिता अवरोहिताः' इति
 नास्ति । ६. वा तुष्टिः तुष्टिर्यस्य । ७. आ 'उदधीचरत' इति नास्ति । ८. = अपहृतानि । ९. = येषा ।
 १०. आ धारणपोषणयोः । ११. = यैः ।

जळे पयः प्रविशतः सुतरं यदेव भूभृत्सरित्सु पृतनाकरिणां कुलस्य ।

गण्डस्थलप्रविगलमन्दपूरपूर्णमासीसदेव सुदुस्तरमुत्तितीर्थः ॥१८॥

कृत्वा क्षणं जनकतूहलकारि युद्धं दपोद्धरैर्जलगर्जितकाशिनस्ते ।

जम्बुः सलीलमदमन्दपर्वं करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करीन्द्राः ॥१९॥

वन्धेभगण्डकषणाहितदानगन्धे नीतस्तरी नियमनाय करी नियन्त्रा ।

रोषाद् वमञ्ज निजतापनुदोऽस्य शाखा न श्रेयसे क्षलु भवत्यपदेऽपि कोपः ॥२०॥

सिन्दूररागेण वर्णेन रुचिरो मनोहरोऽवयवो येषां तैः । गजेन्द्रैः द्विपेन्द्रैः । सा श्रीः सा क्षोभा । विदधे क्रियते स्म । कर्मणि लट् ॥१७॥ जळे इति । यदेव । भूभृत्सरित्सु भूभृतो गिरैः सरित्सु नदीषु । पयः सलिलम् । प्रविशतः गच्छतः । पृतनाकरिणां पृतनायाः सेनायाः करिणां गजानाम् । कुलस्य निकरस्य । सुतरं सुवेन तरणयोग्यम् । जले जायते स्म । जनैर्^२ प्रादुर्भवि लिट् । तदेव^३ । गण्डस्थलप्रविगलमन्दपूरपूर्णं गण्डस्थलात् कपोलप्रदेशात् प्रविगलतः प्रखलतो मदस्य मदजलस्य पूरेण प्रवाहेण पूर्णं परिपूर्णम् । उत्तितीर्थः उत्तर्तुमिच्छीः । सुदुस्तरं कष्टेनोत्तरणयोग्यम् । आसीत् । असं भुवि लङ् ॥१८॥ कृत्वेति । दपोद्धरैः दपेण गर्वेणोद्धरैः प्रवृद्धैः । जलगजैः जळे समुद्भूत (तैः) गजैः । जनकतूहलकारि जनानां सेनाजनानां कुतूहलकारि आश्चर्यकारि । युद्धं योधनम् । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । जितकाशिनः जितमानिनो जितसम्प्राप्तिणो वा । करेणु-पाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करेणूनां करिणीनां पादचास्ये पदचान्द्रवे भागे निहिताः स्थापिता आत्मनां स्वेधां कराः येषां^४ तैः । करीन्द्राः गजेन्द्राः । सलीलमदमन्दपर्वं सलीलं विलासयुक्तं मदेन मदजलेन मन्दमलसं पर्वं यस्मिन् कर्मणि तत्० । जम्बुः ययुः । लिट् । जातिः ॥१९॥ वन्धेभेति । वन्धेभगण्डकषणाहितदानगन्धे वन्ध्यानां वनेप्रधानामिधानां गजानां गण्डानां कपोलानां कषणेन कर्षणेनाहितः संबद्धो दानस्य मदजलस्य गन्धो यस्मिन् तस्मिन् । तरी वृक्षे । नियन्त्रा हस्तिपकेन । नियमनाय बन्धाय । नीतः प्रापितः । करी गजः । निजतापनुदः निजस्यात्मनस्तापस्य नुदो विनाशकस्य । अस्य तरौः । शाखाः शिक्षाः^५ । रोषात् कोपात् । वमञ्ज मञ्जन् करोतिस्म । भञ्जो^६ अवमर्दने लिट् । अपदेऽपि अस्थानेऽपि । कोपः क्रोधः । श्रेयसे सुखाय ।

राजोंने उन सरोवरोंके किनारोंपर उत्पन्न कर दिया, जिनके अग्राध जलमें वे प्रवेश कर रहे थे ॥१७॥ पहाड़ी नदियोंमें प्रवेश करनेवाले सेनाके हाथियोंके झुण्डको उन (नदियों) का जो जल आसानीसे तैरने योग्य था, वही उन (हाथियों) के गण्डस्थलोंसे बहे हुए मदजलके प्रवाहसे पूर्ण होकर (बाढ़ जैसी अवस्थाको पाकर), लौटनेकी इच्छा करनेवाले हाथियोंके उसी झुण्डको आसानीसे तैरने योग्य नहीं रहा ॥१८॥ दपमें चूर रहनेवाले उद्धत जलहस्ति-योंके साथ, थोड़ी देर, सैनिकोंको कौतूहलजनक युद्ध करके विजयका गर्व करनेवाले वे गजराज हथिनियोंके पिछले भागोंपर अपनी-अपनी सूँढ़ रखकर विलासपूर्ण मन्दगतिसे अपने स्थानकी ओर चल पड़े ॥१९॥ जङ्गली हाथीने अपना गण्डस्थल जिस पेड़से घिसा था और अपने मद-जलकी गन्धसे सुगन्धित कर दिया था, उसीसे बाँधनेके लिए महावत एक हाथीको लिबाकर ज्योंही पहुँचा, त्योंही उसने क्रुद्ध होकर अपने सन्तापको मिटानेवाले उसी पेड़की सारी शाखाओंको तोड़ डाला । बादमें उसे स्वयं गर्मी सहनी पड़ी । सच है अयोग्य स्थानमें भी किया गया

१. क ख ग घ म दपोद्धरैः । २. आ जनी । ३. = पयः । ४. = यैः । ५. वा शिक्षाः । ६. आ भञ्ज ।

आनीलनीरदनिभैः प्रविश्या लवंगीनगैः प्रवृत्तमदनिरक्षरवारिपूरैः ।

रेजे समुन्नतमहोरुहमूलबद्धैः जङ्गमैरिव निजावयवैरिरीन्द्रः ॥६१॥

यत्सल्लकीकिसलयं रुचये रुचिञ्चा प्रासान्तरेषु ददिर^१ खलु हस्तिपालाः ।

तत्प्रत्युताहितवनस्मृति वारणेन्द्र^२ सावज्ञमेव कवलग्रहणे चकार ॥६२॥

उत्तीर्णभारलघवः परितो महोक्षाः पोताम्भसः भ्रमभिदां नगनिम्नगानाम् ।

कूलानि बभ्रमुदरारवाः खनन्तः शान्त्य भवत्युपकृतं क खलप्रियेषु ॥६३॥

न भवति खलु । अर्थान्तरन्यासः ॥६०॥ आनीलेति । आनीलनीरदनिभैः आनीलानामासमन्तान्नीलानां कृष्णना नीरदाना मेधानां निभैः समानैः । प्रविशालवैः प्रविशाला विस्तीर्णा वंशाः पृष्ठास्थीनि^३, (पक्षे) वेणवश्च येषां तैः । प्रवृत्तमदनिरक्षरवारिपूरैः प्रवृत्तः स्थितो मदस्य (मदजलस्य, पक्षे) निक्षरस्य प्रवातस्य वारिणो जलस्य पूरः प्रवाहो येषां तैः । समुन्नतमहोरुहमूलबद्धैः समुन्नतानामत्युन्नतेष्वाना महोरुहाना वृक्षाणा मूलेषु^४ पक्षे वृक्षेषु बद्धैरिव्योजितैः । तैः नागैः गजैः । जङ्गमैः गमनयुक्तैः । निजावयवैः (इव) स्वशरीरैरिव । गिरीन्द्रः मणिकूटः । रेजे बभौ । राज्ञः दीप्तो लिट् । स्वेवोपमा ॥६१॥ यदिति । रुचिञ्चाः^५ हस्तिपालाः गजरक्षकाः । यत् सल्लकीकिसलयं यत् सल्लक्या गजभक्ष्यायाः किसलयं पल्लवम् । रुचये^६ स्वादुनिमित्तम् । प्रासान्तरेषु प्रासस्य कवलस्यान्तरेषु मध्येषु । ददिर^७ यच्छन्ति स्म । हुदाञ्च दाने लिट् । खलु^८ । तत्^९ प्रत्युताहित-वनस्मृति प्रत्युताहिता आनीता वनस्यारुणस्य स्मृतिर्यस्य^{१०} तत्, सत् । वारणेन्द्र गजेन्द्रम्^{११} । कवलग्रहणे कवलस्य प्रासस्य ग्रहणे स्वीकारे । सावज्ञमेव उदासीनमेव । चकार करोति स्म । लिट् ॥६२॥ उत्तीर्णैति । उत्तीर्णभारलघवः उत्तीर्णनावतीर्णन भारेण लघवो लघु (लाघव-) युक्ताः । पोताम्भसः पोतमम्भो बलं येषां^{१२} तैः । उदरारवाः उदारो महान् रवो रावो येषां तैः । भ्रमभिदा भ्रमविनाशकारिणीनाम् । नगनिम्नगाना नगस्य निम्नगानामापगानाम् । कूलानि तीराणि । खनन्तः खननं कुर्वन्तः । महोक्षाः^{१३} महावृषभाः । परितः समस्तात् । बभ्रमुः भ्रमन्ति स्म । लिट् । खलप्रियेषु पक्षे पिष्णाकं पक्षे दुर्जनेषु प्रियेषु प्रीतेषु । उपकृतं^{१४}

क्रोध कल्याणकारी नहीं होता ॥६०॥ धीरे-धीरे सभी हाथी पेड़ोंके स्कन्धोसे बांध दिये गये । वे मणिकूट पर्वतके जङ्गम अङ्गोंकी भाँति सुगोमित हो रहे थे । पर्वतके अङ्ग मेघोंके समान होते हैं, बड़े-बड़े बाँसोंसे युक्त होते हैं, बहते हुए झरनोसे युक्त होते हैं और उन्नत वृक्षोंकी जड़ोंसे घिरे हुए होते हैं । इसी प्रकार वे सभी हाथी काले बादलोंकी भाँति काले रंगके थे, उनकी रीढ़ उभरी हुई थी, उनके गण्डस्थलोसे मदजलके झरने बह रहे थे और उन्नत वृक्षोंके नीचे उनके स्कन्धोसे बंधे हुए थे ॥६१॥ हाथियोंकी रुचिको जाननेवाले महावृत्तोंने, उन (हाथियों) की रुचि बढ़ानेके लिए भोजनके प्रासोंके बीच-बीचमे जो सल्लकी वृक्षकी नई-नई कोंपलें दीं, उन्होंने हाथियोंकी जङ्गलोंकी स्मृति दिला दी और रुचि बढ़ानेके स्थानमें उल्टी अरुचि बढ़ा दी तथा उन्हें कवल गृहण करनेमे उदासीन कर दिया ॥६२॥ सेनाका बहुत-सा सामान बड़े-बड़े बैलोंकी पीठपर लदा हुआ था । मणिकूटके पडावपर ज्योंही उनकी पीठसे बोझिल सामान उतारा गया त्योंही उन्हें हल्केपनका अनुभव होने लगा । वे बहुत थके हुए थे और थे खूब प्यासे । अतः थोड़ी देर बाद उन्होंने थकान मिटानेनाली पहाड़ी नदियोंका पानी पिया । फिर वे डकारते हुए और उन नदियोंके किनारोंकी सीमाँ और अगले पैरोंसे खोदते हुए चारों

१. क रुच ग घ म सुविशाल । २. आ इ दधिर । ३. आ इ वारणेन्द्रः । ४. आ पृष्ठास्थीनि । ५. = अश्वोमानेषु । ६. = रुचि गजरुचि जानन्तीति रुचिञ्चाः । ७. = रुचिबध्नाय । ८. = निषवधेन । ९. = किसलयम् । १०. = वेन । ११. स 'गजेन्द्रम्' इति पदं नास्ति । १२. = यैः । १३. आ महाक्षाः । १४. = उपकारः ।

छायासु धत्तिक्षितिरूहां तृणतोयतृप्तैः रोमन्धतत्परमुखैर्बृषभैर्बभूवै ।
 तन्मूनमध्वजपरिश्रम एव तेन व्याजेन तैरलसनेत्रयुगैश्चर्चवै ॥६३॥
 विच्छिन्नकर्णसुखकुम्भजकाकलीकमध्रायि किन्नरगणैः कटु कन्दरस्थैः ।
 भारावतारसमये रसितं मयानां रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम् ॥६४॥
 क्षुद्रेतरक्षितिरूहां करभैः प्रवालजाले भृशायतशिरोधिभिर्गम्यमाने ।
 क्षीरापदेशमगलौप्रमदाश्रु नूनं युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः ॥६६॥

कृतद्वितम् । शान्त्यै उपसमाय । क्व भवति क्व भवति ? अर्थान्तरन्यासः ॥६३॥ छायास्त्विति । क्षितिरूहां वृक्षाणाम् । छायासु अनासपेषु । तृणतोयतृप्तैः तृणतोयाम्या तृणोदकाभ्या तृप्तैः^१ प्रीतः । रोमन्धतत्परमुखैः रोमन्धे चर्वितचर्वणे तत्पर^२ प्रेतं मुख येषां तैः । वृषभैः अनटुङ्गः । बभूवै भूयते स्म । इति मावे लिट् । इति यन् तत् । अलसनेत्रयुगैः अलसमालस्ययुक्तं नेत्रयुगं येषां तैः । तैः वृषभैः । तेन रोमन्धेन । व्याजेन छयना । अद्वपरिश्रम इव मागंश्रम इव । चर्चवै सदयते स्म । चर्वं अदने कर्मणि लिट् । नूनं^३ निश्चयम् । अपह नृविः ॥६४॥ विच्छिन्नैति । भारावतारसमये भारस्यावतारस्यावगोहणस्य समये काले । मयानाम् उष्ट्याणाम् । कटु निष्ठुरम् । रसितं ध्वनिः । चन्दःस्थैः गह्वरस्थितैः । किन्नरगणैः किन्नराणां देवभेदानां गणैर्निकरैः । विच्छिन्नकर्णसुखकुम्भजकाकलीकं विच्छिन्नयोः स्थापितयोः । (विच्छिन्ना अवहटा) कर्णयाः श्रोत्रयोः सुखकृतानन्दकरी निजानां स्वेधा काकली यस्मिन् कर्मणि तत्० । अध्रायि श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लुङ् । अपूर्वं नवीनम् । यथा हि कुतूहलकम् आश्चर्यकम् । तथा हि रम्य मनोहरं वस्तु न—कुतूहलकरं न भवति, अपूर्वं वस्तु यथा कुतूहलकरं तथा रम्य वस्तु कुतूहलकरं न भवतीत्यर्थः । अत्र तु यो (कि—) नराणां निजकाकलीध्वनौ रम्योऽपि अपूर्णेन पूर्वस्मिन् मत्तत्वात् (?) (सोऽपूर्वो न; पूर्वस्मिन्नपि समये श्रुतत्वात्) । मयानां ध्वनिरपूर्वं प्रागभूतत्वात् । अत एव मधुरमणि स्वकीयं तं हित्वा स एव श्रुत इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥६५॥ क्षुद्रेति । क्षुद्रेतरक्षितिरूहा क्षुदाणाम् (क्षुद्रेभ्यः) इतरे महान्दस्तेषां क्षितिरूहां वृक्षाणाम् । प्रवालजाले प्रवालानां पञ्चशानां जाले समूहे । भृशायतशिरोधिभिः भृशमत्यन्तमायतः (ता) शिरोधि कश्चरो (ग) येषां तैः । करभैः उरुद्वैः । अगम्यमाने भक्ष्यमाणे सति । क्षीरापदेशं क्षीरमित्यपदेशं व्यपदेशयुक्तम् । प्रमदाश्रु आन्दराणां । अगलत् अव्यवत् । गल बिम्बोचने लङ् । नूनं महता महापुरुषाणाम् । परार्थघटने परेषामन्येषामर्थस्य प्रयोगस्तस्य घटने संपादने । प्रमोदः संतोषः । युक्तः योग्यः । अर्थान्तरन्यासः

और विचरने लगे । क्या खल (खली) जनोंसे प्रेम करनेवालोंके साथ किया गया उपकार कहीं उन्हें शान्त करनेवाला हो सकता है ? ॥६३॥ घास-पानीसे तृप्त होकर वे बेल वृक्षोंकी छायामें बैठकर एवं आलस भरे नेत्रोंको बाद करके रौध-पागुर करने लगे । यह देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे रौधके बहाने मार्गके परिश्रमका चर्वण कर रहे हो ॥६४॥ बोझ उतारते समय ऊँटोंने जो कर्ण कटु शब्द किया, उसे गुफाओमें बैठे हुए गन्धर्वोंके गणने अपने सज्जीतकी, कानोंको सुख देनेवाली मधुर ध्वनिको बन्द करके सुना । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु वैसा कीतूहल उत्पन्न नहीं करती जैसा अपूर्वं वस्तु करती है । ऊँटोंका सज्जीत गन्धर्वोंको बिलकुल नया था, अतः उसे उन्होंने अपना सज्जीत बन्द करके सुना ॥६५॥ ऊँटोंने अपनी गर्दनको खूब लम्बा करके जब बड़े-बड़े पेड़ोंकी नई-नई पत्तियोंको खाना शुरू किया, तब उनसे दूध झरने लगा, दूध क्या झरने लगा, उसके बहानेसे निश्चय ही उनके हर्षाश्रु बहने लगे । परो-

१. आ इ देशमगमत् । २. अ प्रमदाश्रमन् । ३. = संतुष्टिः । ४. = संरुच्यं । ५. आ 'इति' नास्ति । ६. = निश्चयेन । ७. श मयूनाम् । ८. श मधुरमधुर । ९. = क्षीरापदेशं यथा स्थापत्वा ।

चन्द्राकारस्थलममलिनोत्तुङ्गखण्डोरपिण्ड-

अव्यवहारजिमजमविरतोद्भान्तकल्लोलमालः ।

सर्पन्मत्तद्विषममिसरन्नकचको अयेत्तं

स्कन्धावारं यदि कथमपि स्यादपारः पयोधिः ॥६७॥

इति तत्र गिरौ निविष्टसैम्यं चरवक्राद्वगम्य पद्मनाभम् ।

स्वबलेन समं समेत्य कोपात्पृथिवीपालनूपोऽन्तिके बभूव ॥६८॥

तयोर्द्वयोरपि नृपयोः प्रतापिनोर्विलोकितुं बलमिव जातकौतुका ।

समायौ सपदि शशाङ्कभूषणा विभावरी विकसिततारकेक्षणा ॥६९॥

॥६६॥ चन्द्रेति । अमलिनोत्तुङ्गखण्डोरपिण्डः अमलिनं (नः) निर्मलम् (ल) उत्तुङ्गानामुन्नतानां
खण्डोराणां केनानां पिण्डं (षः) यस्य सः । अविरतोद्भान्तकल्लोलमालः अविरतमनवरतमुद्भान्ता
ऊर्ध्वं गता कल्लोलानां तरङ्गाणां माला यस्य सः । अभिसरप्रक्रवक्रः अभिसरत् लुठत् नकाणां जलचरवि-
शेषाणां चक्रं यस्य सः । पयोधिः समुद्रः । चन्द्राकारस्थूलं चन्द्रवदाकारं शुभ्राकारं स्थूलं पटमण्डपो यस्य तम् ।
'दृष्यं स्थूलं पटकुटो' इति वैजयन्ती । चन्द्रवदाजिद्वजं चक्रवन् भ्राजमानो वाजिनामश्वाना द्वजः समूहो यस्य
तम् । सर्पन्मत्तद्विषं सर्पन्तस्संचरन्तो मत्तद्विषा मदगत्रा यस्मिन् तम् । त स्कन्धावारं पट्टम् । यदि कथमपि
केन प्रकारेणापि । अयेत् विजयेत् । जि जी अभिमवे । लिङ् । तदि अपार म्यात् । यवामंक्ष्यम् ॥६७॥
इतीति । इति एवम् । निविष्टसैम्यं निविष्टसेनम् । पद्मनाभं पद्मनाभमुपम् । चरवक्रात् चराणां भृत्यानां
वक्राद् मुक्तात् । अवगम्य गत्वा । पृथिवीपालनूपः पृथिवीपालभूपः । स्वबलेन स्वमेनया । समं साकम् ।
कोपात् क्रोधात् । समेत्य आगत्य । अन्तिके पद्मनाभस्य सेना समीपे । बभूव भवति स्म ॥६८॥ तयोरिति ।
प्रतापिनोः प्रतापयुक्तयोः । तयोः द्वयोः अपि पद्मनाभपृथिवीपालभूपयोः । बलं चतुरङ्गसैम्यम् । विलोकितुं
लोकनाय इव । जातकौतुका जातादचर्वा । शशाङ्कभूषणा शशाङ्कचन्द्र एव भूषणमाभरणं यस्याः सा ।
विकसिततारकेक्षणा विकसिता उदिता तारका नक्षत्राणि ता एव ईक्षणे नयने यस्याः सा । विभावरी रात्रि ।

पकार करते समय बड़ोंको प्रमोद मनाना ही उचित है ॥६६॥ इस पड़ाव और समुद्रमें अद्भुत
साम्य है । पड़ावमें चन्द्रमाके आकारके गोल और शुभ्र तम्बू तने हुए हैं; समुद्रमें निर्मल तथा
उन्नत फेनराशि होती है । पड़ावमें चञ्चल धोड़े हैं; समुद्रमें लगातार उठने और घूमनेवाले
बड़ी-बड़ी लहरें होती हैं । पड़ावमें मदमाते हाथी हैं; समुद्रमें इधर-उधर घूमनेवाले बड़े-बड़े
मगर-घड़ियालें झुण्ड होते हैं । इतनी समानता होनेपर भी यदि समुद्र किसी प्रकारसे पड़ाव-
को जीत ले तो उसे अपार माना जा सकता है ॥६७॥ इस तरह उस मणिकूट पर्वतपर पद्म-
नाभ अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ ठहरा हुआ है, यह समाचार अपने गुप्तचरसे जानकर
राजा पृथिवीपाल बड़े क्रोधसे सेनाके साथ उसके निकट आ पहुँचा ॥६८॥ उन दोनों प्रतापी
नरेशोंके बलको देखनेके लिए मानो कौतूहल वश रात्रि—जो चन्द्रमारूपी मण्डनसे मण्डित है
और जिसके चमचमाते हुए तारारूपी नेत्र खुले हैं—आ गई, अर्थात् रात्रि हा गई ॥६९॥

१. = इनस्ततो गच्छत् । २. = मकराणां । ३. आ मर्तवजाः । ४. = निरिभम् । ५. = केनापि
प्रकारेण । ६. आ 'ली' इति नास्ति । ७. श लेङ् । ८. आ प्रमुष्टसेनम् । ९. = गुप्तचराणाम् । १०. श
'पृथिवीपालनूपः' इति नास्ति । ११. = सेनायाः ।

तस्यां रक्षां भुतपरबलः संविधाय स्वसैन्ये
 किञ्चित्कृत्वा सह निजभटैर्भावि सङ्ग्रामचर्चाम् ।
 भित्त्वा शय्यां शयनभवने भासुरां पद्मनाभ-
 स्तस्यौ धीरः समद्वजितालिङ्गनाद्यैर्विनोदैः ॥७०॥
 भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे नियत्या
 गतिमुदयचिह्नं नीयमाने मृगाङ्गे ।
 मुकुलिततनुतारालोचना लोकयन्ती
 विरहमिव तदीयं सा विलित्ये त्रियामा ॥७१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

सपदि शीघ्रम् । समाययी आजगाम । लिट् । रूपकम् ॥६९॥ तस्यामिति । धीरः वैर्ययुक्तः । पद्मनाभः पद्मनामनृतः । तस्यां रात्री । भुतमाकणितं परबलं शत्रुसैन्यं येन सः । स्वसैन्ये रक्षा रक्षणम् । संविधाय कृत्वा । भाविसङ्ग्रामचर्चां भविष्यतः सङ्ग्रामस्य चर्चां विचारम् । निजभटैः स्वयोधुभिः । सह साकम् । किञ्चित् अल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । शयनभवने शयनस्य भवने गृहे । भासुरां भासनशीलाम् । शय्याम् आसिकाः । भित्त्वा प्राप्य । समद्वजितालिङ्गनाद्यैः समदाना संतोषसहिताना वनिष्ठानां नारीणामालिङ्गनाद्यैः परिरम्भणाद्यैः । विनोदैः विस्वासीः । तस्यो आसा चक्रे । लिट् ॥७०॥ भुवनेति । भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे भुवनं जगत् तदेव भवनं गृहं तस्य दीपीभूतं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन् । मृगाङ्गे चन्द्रे । उदयचिह्नं उदयस्योत्पत्तिचिह्नं प्रतिकूलम् । गतिम् अस्तमयम् । नियत्या दैववशीन नीयमाने गम्यमाने । मुकुलिततनुतारालोचना मुकुलिता पिहृता तनुः स्वरूपं यासा ता मुकुलिततनुः तारास्तारकाः, ता एव लोचने नयने यस्याः सा । सा त्रियमा निशाङ्गना । तदीयं चन्द्रसंनिधनम् । विरहं त्रियोषम् । लोकयन्ती वीक्षमाणेव । विलित्ये विलीना, विलयं यतेत्यर्थः । लोङ् इत्येव । लिट् । उपप्रेक्षा ॥७१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
 विद्वन्मनोजलभाक्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

उसी रात्रिमें धीर-वीर राजा पद्मनाभने शत्रु-सेनाके आनेके समाचार सुनकर और उसकी शक्ति-का पूरा पता लगाकर अपनी सेनामें रक्षाका प्रबन्ध किया, एवं कुछ समय तक अपने सेनिकोंके साथ भावि युद्धके बारेमें विचार-विमर्श किया । इसके पश्चात् शयनागारमें रत्नोंसे जगमगाती हुई सेजपर जाकर, अपनी सगर्व (पद्मनाभकी वीरतापर गर्व करनेवाली) रानियोंसे आलिङ्गन आदि विनोद करके लेट गया ॥७०॥ संसार रूपी घरमें जिसका बिम्ब दीपक स्वरूप है उस चन्द्रमाको नियति (अदृष्ट) जब उदयसे विपरीत (अस्त) अवस्थामें ले जाने लगी, तब रात्रिने अपनी कायाका समेट लिया और तारारूपी नेत्रोंको मूंद लिया, और फिर चन्द्रमा (पति) के विरहको देखकर ही मानो वह विलीन हो गई ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्ग चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें
 चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१. आ इ तस्ये । २. = पत्यङ्कम् । ३. आ 'आसिका.' इति नास्ति । ४. आ संताप । ५. एष टीकाभयः पाठः, प्रतिषु तु 'लोचयन्ती' इत्येव समबलोचयते । ६. श लिङ् । ७. आ सर्गः समाप्तः ।

[१५. पञ्चदशः सर्गः]

द्वयेषामप्यथ प्रातः स्थावरैतरभूभूताम् ।
 उदस्थान्कटकक्षोभी संनाहपटहध्वनिः ॥१॥
 तस्मिन्नम्बुद^१गम्भीरे दिगन्तरविसर्पिणि ।
 प्रकम्पं भूरपि प्रापदास्तां रिपुपताकिनी ॥२॥
 मदो मदीदृताकारैर्दिवकुञ्जरकुलैरपि ।
 तस्यजे व्रस्तचेतोभिररिकीटेषु का कथा ॥३॥
 भटानां भाविसङ्ग्रामभवदुत्साहशालिनाम् ।
 मनांस्थानशिरे हर्षैर्वर्षेषु पुलकोद्गमैः ॥४॥

द्वयेति । अथ ^२रात्रिविगमानन्तरम् । प्रातः विभाते । टपयाम् [आप] द्वावयवो येषां तेषाम् । स्थावरैतरभूभूता स्थावराश्चेतरे च अङ्गमाश्च ते च ते भूभूतश्च स्थावरैतरभूभूतः तेषां स्थावरैतरभूभूताम्—पवतानामितरभूभूता राज्ञामपि । कटकक्षोभी कटकानि टटानि, पक्षे कटकं सेना^३ क्षोभी संवलनशील । संनाहपटहध्वनिः संनाहस्य सग्रामसूचकस्य पटहस्य भेर्या ध्वनि शब्दः । उदस्थान् व्याप्नाति स्म । लुङ् । श्लेषः^४ ॥१॥ तस्मिन्निति । अम्बुदगम्भीरे अम्बुदवद् गम्भीर^५ यस्य तस्मिन् । [तस्मिन्] पटहध्वनो^६ । दिगन्तरविसर्पिणि दिगन्तराणि दिग्भरानि^७ विमर्शिणि व्यापिनि सति भूरपि भूमिरपि । प्रकम्पं चचलम् । प्रापत् प्राप्नोति स्म । आप्नु व्याप्नो लुङ् । 'सनि नास्ति—' इत्यादिना अङ्—प्रत्ययः । रिपुपताकिनी रिपूणां शत्रूणां पताकिनी सेना । आस्ता तिष्ठतु । अतिशय^८ ॥२॥ मद इति । मदीदृताकारैः मदीदृताकाराकारो येषां तैः । व्रस्तचेतोमि व्रस्तं भ्रंतं चेता मानसं येषां तैः । दिवकुञ्जरकुलैरपि दिक्षु दिशामु विश्रमाना कुञ्जराणां^९ कुलैरिवहरिषि । मद. गर्व । तस्यजे त्यज्यते स्म । त्यज हानो कर्मणि लिट् । रिपुकीटेषु रिषश्च एव^{१०} कीटास्तेषु । का कथा का वार्ता ॥३॥ भटानामिति । भाविसङ्ग्रामभवदुत्साहशालिना भाविना भविष्यता सग्रामेण रणेन भवता जायमानेनोत्साहरसेन शालिना संपन्नानाम् । भटानां योद्धृणाम् । हर्षैः संतोषैः । मनांमि मानसानि । पुलकोद्गमैः पुलकानां रोमाञ्चानामुद्गमैश्चपादैः । वर्षेषु शरीराणि । आन-

इसके पश्चात् प्रभात होते ही युद्धको भेरी बज उठी । उसकी ध्वनिने स्थावर भूभूत—मणिकूट पर्वत और अङ्गम भूभूत—पद्मानाभ, इन दोनोंके कटक (मध्यभाग और छावनी) में क्षोभ उत्पन्न कर दिया ॥१॥ मेघगर्जनके समान गम्भीर उस ध्वनिके दिग्दिगन्तव्यापी होनेपर पृथ्वी भी काप उठी फिर शत्रुसेनाके कम्पनके बारेमें तो कहना ही क्या है ? ॥२॥ भेरीकी आवाज सुनकर मदीदृता दिग्गजोंके कुलका दिल दहल उठा और उसने मद छोड़ दिया—उसका मदजल सूख गया तथा घमण्ड चूर हो गया फिर क्षुद्र शत्रुकीटोंकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥ होनेवाले युद्धके उत्साहसे युक्त सैनिकोंके मन हर्षसे और शरीर रोमाञ्चसे व्याप्त हो

१ 'अम्बुधि' । २ 'शब्दरात्रि' । ३. = क्षोभयतोत्येवं शीलः । ४. श 'श्लेषः' इति नास्ति । ५. = गम्भीर्य । ६. श 'पटहध्वनो' इति नास्ति । ७. = विसर्पितोत्येव शीलस्तस्मिन् । ८. = चाञ्चल्यम् । ९. आ लङ् । १०. = अर्थापत्तिश्च ११. = दिग्गजानां । १२. आ 'कीटाः क्रमयः' इति समुपलभ्यते, परमि-तोऽग्रे 'तेषु' इति पद नोपलभ्यते ।

हृष्यदङ्गतया सद्यः स्फुटत्पूर्वरणवर्णैः ।
 वीरैर्वीररसाविष्टैः संन्दधुमुपचक्रमे ॥१५॥
 कश्चित्तनुच्छ्रवं योन्यं समरे समरेखकम् ।
 देहे हृष्यत्यपर्याप्तं नामुञ्चन्नामुच्यतुनः ॥१६॥
 तव संनहनं नाथ लघुभूतमिवाधुना ।
 इत्युच्ये स्वकरस्पर्शात्पुष्टाङ्गः कोऽपि कान्तया ॥१७॥
 शृङ्गारद्विगुणीभूतैरमाति पुलकैस्तनौ ।
 संनाहेऽन्यस्य चतुरा क्षणमन्तर्दधे प्रिया ॥१८॥

शिरै^१ व्याप्तुवन्ति स्म । आप्लु व्याप्तौ लिट् । 'नक् च—' इत्यादिना नगायम. ॥४॥ हृष्यदिति । हृष्य-
 दङ्गतया हृष्यत् संतुष्यदङ्गं यस्य तस्य भावः तया । सद्यः तत्क्षणम् । स्फुटत्पूर्वरणवर्णैः स्फुटद् भिन्नत् पूर्वेण
 रणेन संजातं वर्णं येषां तैः । वीररसाविष्टैः वीररसेनाविष्टैः^२ प्राविष्टैः । वीरैः^३ वीरपुरुषैः । संन्दधु सनहनाय^४ ।
 उपचक्रमे प्रारम्भ्यते स्म । क्रमु पादविशेषे कर्मणि लिट् ॥५॥ कश्चिदिति । कश्चित् एकः । ना पुरुषः ।
 हृष्यति ह्रपं गते । देहे शरीरे । अपमर्तितम्^५ अगृहीतम् । समरेखकं समा समाना रेखा यस्य तत्, चतुरस्र-
 मिति भावः । समरे सप्रामे । योगयम् उचितम् इति । तनुच्छ्रवं कवचम् । अमुञ्चत् अत्यजत् । पुनः
 पश्चात् । ना अन्यः पुरुषः । आमुच्यत् धरति स्म । मुच्यन्^६ मोक्षणे लुङ् । कश्चिद्वीरः कवचं त्यक्तवान्
 कश्चिद् भीमधरतिस्मेत्यर्थः । पर्यापोषितः ॥६॥ तवेति^७ । स्वकरस्पर्शात् स्वस्याः कान्तायाः करस्य हस्तस्य
 स्पर्शात् । पुष्टाङ्गः^८ तुष्टाङ्गः । कोऽपि कश्चित् । कान्तया वनितया साकम् (?) । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ।
 ऊच्ये तच्छ्रयं स्म । ब्रूय व्यक्ताया वाचि कर्मणि लिट् । 'अस्ति ब्रुवो भूवचो' इति वचादेशः । नाथ भो नाथ ।
 तव ते । मंहननं कवचम् । अधुना इदानीम् । लघुभूतमिव अल्पीभूतमिव^९ । राजतीति शेषः । उपमा^{१०} ॥७॥
 शृङ्गारैः । अन्यस्य परस्य । शृङ्गाराद्विगुणीभूतैः शृङ्गारेण शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतैः^{११} द्विगुणजातैः । पुलकैः
 रोमाञ्चैः । तनौ शरीरे । संनाहे^{१२} संनहने । अमाति अप्रमाणं (ते) सति । चतुरा प्रोडा । प्रिया कान्ता ।

गये ॥४॥ युद्धकी खुशीमें योद्धा अपने शरीरमें फूले नहीं समा रहे थे । उनके पिछले युद्धोंके
 घाव फूट कर बह रहे थे, किन्तु वे वीर, वीररसके आवेशमें थे, अतएव युद्धकी तैयारी करनेमें
 लग गये ॥५॥ एक पुरुषने सङ्ग्रामके हर्षसे शरीर फूल जानेपर छोटे पड़नेवाले कवचको—जो
 उसीको रेखाओंके मापसे बनाया गया था, और युद्धमें जिसका पहनना उचित था—छोड़
 दिया । फिर उसे दूसरे पुरुषने पहन लिया ॥६॥ 'नाथ ! आपका शरीर इस समय (इस बड़े
 कवचकी दृष्टिसे) कुछ छोटा-सा प्रतीत हो रहा है, ' यह कहते-कहते प्रियाने ज्यों ही अपने
 हाथसे उसके शरीरका स्पर्श किया त्यों ही वह (नवयुवक-पति) खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया ॥७॥
 अन्य नवयुवकके शरीरमें शृङ्गारसे रोमाञ्च दूने हो गये और कवच छोटा पड़ गया । यह
 देखकर उसकी चतुर पत्नी कुछ क्षणोंको उसकी आँखोंसे ओसल हो गई—अन्यत्र जाकर छिप

१. आ इ नामुच्यन्ता । २. = व्याप्तानि । ३. आ श तत्क्षणं । ४. = युक्तैः । ५. आ धीरैः ।
 ६. श संनाहनाय । ७. = लघुतां गतम् । ८. आ मुच्यत् । ९. आ वीरैः । १०. श तवेति । ११. = पोनाङ्गः ।
 १२. आ लघुभूतम् । १३. = अतिशयोक्तिः । १४. = द्विगुणतां गतैः । १५. = कवचे ।

रिपुरोषारुणीभूतच्छविच्छुरितकण्टकैः ।
 रेजे संध्याघना कारैर्भीषितारिषट्भटैः ॥६॥
 भूरिभैरवधीरायाः कष्टैः प्रतिगजभूतैः ।
 भूरिभैरवधीराया समदानैः स्वपाणिना ॥१०॥
 पुण्यैः कवचित्तस्यास्य किं कृत्यमपरं भया ।
 इतीष नृपतेरङ्गे संनाहोऽनिष्टयाचिरात् ॥११॥
 जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्याघ्रेण ममासुन^१ ।
 किमित्यासीद् युवेषस्य संनाहे नातिगौरवम् ॥१२॥

सगम् अस्त्रकालपर्यन्तम् । अन्तर्दधे व्यवहृता । दुषाब् धारणे च^१ लिट् ॥८॥ रिप्तिरिति । रिपुरोषारुणी-
 भूतच्छविच्छुरितकण्टकैः^२ रिपुषु शत्रुषु जातेन रोषेण कोपेनारुणीभूतया लोहितया लक्ष्म्या काम्या च्छुरित-
 कण्टकैः कवचो^३ येषां तैः । संध्याघनाकारैः संध्यायाः संध्याकालस्य घनस्य मेघस्याकार इवाकारो येषां तैः ।
 भीषितारिषटैः भीषिता^४ विभीषिता^५ अरोणा शत्रूणा घटः (घटा) समूहो यैस्तैः । भटैः मोक्षुभिः । रेजे ।
 लिट् । उपमा ॥९॥ भूरिति । भूरिभैरवधीरायाः भूर्या बहुलाया भैरव्या भयकराया धीरायाः^६ स्थरायाः^७ ।
 प्रतिगजभूतैः प्रतिगजानां प्रतिकूलकरिणा श्वेतैर्ध्वनेः सकाशात् । कष्टैः कुपितैः । इरायाः^८ मुरायाः । समदानैः
 समं समानं दानं मदजलं येषां तैः । इभैः करिभिः । [स्वपाणिना स्वकरणे । भूः पृथिवी] । अर्बु^९ ताडयते
 स्म । हन हिंसामत्योः वर्मणि लुङ् । यमकम्^{१०} ॥१०॥ पुण्यैरिति । पुण्यैः शुभैः^{११} कर्मभिः । कवचित्तस्य
 आच्छादितस्य । अस्य राज्ञः । मया^{१२} । अपरम् अन्यत् । कृत्यं कार्यम् । किं वर्तते ? । इतीष^{१३} एवमिव ।
 नृपतेः पद्मनाभस्य । अङ्गे दहे । संनाहः कवचादिसंनाहः । अनिष्टया^{१४} अनिष्टावस्थया । अविशत् विशति
 स्म । विश प्रवेशने लङ् ॥११॥ जपेति । जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्याघ्रेण^{१५} जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्गेनालिङ्गनेन
 व्याघ्रेण व्यवहृतेन । अमुना^{१६} अनेन सह । मम मे । किं प्रयोजनम् ? इति । युवेषस्य सुवर्णनाभस्य ।
 संनाहे^{१७} संनाहकरणे । अतिगौरवम् अतिमहत्त्वम् । नाभौत् नाभूत् । अस भुवि लङ्^{१८} । आक्षेपः (?) ॥१२॥

गयी ॥८॥ शत्रुओंके प्रति रोष होनेसे सैनिकों के नेत्र लाल हो गये और उनकी लाल कान्तिसे उनके कवच भी लाल हो गये । अतएव वे सन्ध्याकालीन मेघोंके समान हो गये । उन्हें देखकर शत्रुमण्डल भयभीत हो गया । उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी ॥९॥ शत्रुओंके हाथियोंकी बहुत भयावनी और गम्भीर चिंघाड़ सुनकर (गन्धकी दृष्टिसे) मछके समान मदजल बहानेवाले, पद्मनाभके हाथियोंने अपनी सूंडसे पृथिवीका ताड़न शुरू कर दिया ॥१०॥ 'राजा पद्मनाभ पहलेसे ही पुण्यका कवच पहने हुए है—मुझे जो काम करना चाहिए, उसे पुण्य पहलेसे ही कर रहा है, अब इससे अधिक इसका और क्या काम है, जो मुझे करना चाहिए', मानो यही सोचकर निष्ठान रहनेपर भी कवचने पद्मनाभके शरीरमें प्रवेश किया—पद्मनाभने कवच पहना ॥११॥ 'जयलक्ष्मीके आलिङ्गनमें व्यवधान डालनेवाले इस कवचसे मुझे क्या काम है', मानो यह सोचकर युवराज सुवर्णनाभको कवच पहननेके विषयमें विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं हुआ

१. अ संध्यायना^१ । २. इ गजभूतैः । ३. आ इ ममासुना । ४. अ गौरवः । ५. आ 'च' नास्ति ।
 ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु च मूलासु 'कण्टकैः' इत्येव सन्तुल्यते । ७. श च्छुरितं कण्टकं कवचं । ८. श भीषितो विभीषितो । ९. आ 'विभीषिता' इति नास्ति । १०. = गभीरायाः । ११. आ शुद्धायाः । १२. 'इरा भूवाभमुरा य्मु स्वात्' इत्यमरः । १३. = ताडिता । १४. आ 'यमकम्' इति नास्ति ।
 १५. आ सुभक्त । १६. = संनाहेन । १७. = तस्याङ्गेनाश्रित । १८. = अनास्थया । १९. = जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्ग आलिङ्गनेन व्याघ्रेण व्यवधानेन । 'व्याघ्रास्तु मैथुनव्यवधानयोः' अनेका ३५५३३ । २०. = संनाहेन । २१. = कवचे । २२. आ लुङ् ।

तेजो मूर्तमिवात्मीयं सुदुर्भेदमरातिभिः ।

बभौ भीमरथो बिभ्रत्कवचं विकचाननः ॥१३॥

अभूद्भैरवपुत्रेण समरोत्कर्षशालिनः ।

द्वितीय इव संनाहो घनकण्टकितच्छ्रवौ ॥१४॥

दीनानाथकृतोत्सर्गः स जयश्रीसमुत्सुकान् ।

प्रसादैः पूजयामास सामन्तान् रणदीक्षितान् ॥१५॥

भीमं भासुरवासोभिः सुभीमं मणिकङ्कणैः ।

मकुटेन महासेनं सेनं भौक्तिकमालया ॥१६॥

तेज इति । आत्मीयं स्वकीयम् । 'दोष्च्छः' इति छ-प्रत्ययः । मूर्तं साकारमिव । तेजः^१ प्रतापः^२ (पम्) । अरातिभिः शत्रुभिः । सुदुर्भेदं सुदुःखेन महता कष्टेन भेदं भेदम् । कवचं तनुवम् । बिभ्रत् धरत् । विकचाननः विकचं विकसितमाननं मुखं यस्य सः । भीमरथः भीमरथभूपतिः । बभौ रराज । लिट् । उपमा^३ ॥१३॥ अभूदिति । समरोत्कर्षशालिनः समरस्य संग्रामस्योत्कर्षेण शालिनः^४ संपन्नस्य । भैरवः भीमरथस्यापत्यं भैरववस्तस्य । 'अत इव' इति इज्-प्रत्ययः । भीमरथपुत्रस्य^५ महोद्योग्यस्य । घनकण्टकितच्छ्रवौ घना सान्द्रा कण्टकित^६ रोमाञ्चयुक्ता छविः कान्तिर्यस्य तस्मिन् । अङ्गे शरीरे । संनाहः संनहनम् । द्वितीय इव अपर इव । अभूत् । उपमा^७ ॥१४॥ दीनेति । दीनानाथकृतोत्सर्गः दीनेभ्यो हरिरेभ्योऽनाथेभ्यश्च^८ कृतो विहित उत्सर्गस्त्यागो येन सः । सः पथनामः । जयश्रीसमुत्सुकान् जयश्रियां जयलक्ष्म्यां समुत्सुकान् आसक्तान् । रणदीक्षितान् रणदीक्षायुक्तान् । सामन्तान् भूपतीन् । प्रसादैः वस्त्रादिसत्कारैः^९ । पूजयामास सत्करोति स्म ॥१५॥ भीममिति । भासुरवासोभिः भासुरैर्भासमानशीलैर्बासोभिर्वस्त्रैः । भीमं भीमराजम् । मणिकङ्कणैः मणिभिर्निर्मितैः कङ्कणैः करभूषणैः । सुभीमं सुभीमराजम् । मकुटेन^{१०} किरीटेन । महासेनं महासेनराजम् । भौक्तिकमालया भौक्तिकैर्मुक्ताफलैर्निर्मिता मालया मात्येन ।

॥१२॥ अपने प्रतापकी मूर्ति सरीखे प्रतीत होनेवाले, शत्रुओंके द्वारा दुर्भेद्य कवचको धारण करके भीमरथका चेहरा खिल उठा और उस समय वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ रहा था ॥१३॥ युद्धकालके उत्कर्षसे विभूषित भैमरथी—(राजा भीमरथके पुत्र) के सचन रोमाञ्चसे युक्त शरीरमें कवच ऐसा जाना पड़ता था मानो दूसरा हो । रोमाञ्च पहले कवचकी भाँति सुशोभित हो रहे थे और लौह कवच उसके ऊपर पहने हुए दूसरे कवचकी भाँति प्रतीत हो रहा था ॥१४॥ पथनामने दीन और अनार्योंको दान दिया तथा विजयलक्ष्मीको पानेके लिए उत्सुक, सङ्ग्रामकी दीक्षा लेनेवाले सामन्तोंको उपहार देकर सम्मानित किया—॥१५॥ भीमको चमचमाते वस्त्र, सुभीमको मणिकङ्कण, महासेनको मुकुट, सेनको मोतियोंकी माला, चित्राङ्गको चूडामणि, परतपको लम्बी माला, कण्ठको कण्ठी, सुकुण्डलको कुण्डल, भीमरथको अमूल्य मणि और महोरथको मनोहर हार—इस तरह अपने सुन्दर आभूषण उपहारमें देकर चतुर पथनामने

१. = आत्मीयं मूर्त तेज इव । २. आ वा तेजः प्रतापः । मूर्तं साकारमिव । आत्मीयं स्वकीयम् । ३. उपमेक्षा । ४. = शोभितः । ५. आ भीमरथस्य पुत्रस्य । ६. वा वना संग्रामकण्टकितः । ७. = उपमेक्षा । ८. आ 'च' नास्ति । ९. श' दिप्रसादसत्कारैः । १०. 'मुकुटेन' इति पाठः सर्वासु प्रतिष्ठ ।

चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रालम्बेन परंतपम् ।
 रत्नकण्ठिकया कण्ठं कुण्डलाम्यां सुकुण्डलम् ॥१७॥
 अनर्घमणिना भीमरथं हारेण हारिणा ।
 महीरथं स्वाभरणैश्चतुराः सञ्चकार सः ॥१८॥ (कुलधम् १)
 अन्योऽपि यस्य यो योग्यः सन्नाहस्तुरगो रथः ।
 वारणो वा विशेषश्चस्तत्सादृकतं नृपः ॥१९॥
 सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।
 चक्रे चक्रेषुश्चास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥२०॥
 सज्जीकृतं महामात्रे रोपितास्त्रं पुरोधसा ।
 वनकेलिमयारुह्य निरगादभिमुखः सः ॥२१॥
 रथिना युवराजेन सोऽनुसन्ने नराधिपः ।
 ऐरावतसमारूढो रविणेषु सुराधिपः ॥२२॥

सेनं सेनराजम्^१ ॥१६॥ चूडति । चूडारत्नेन चूडामणिना । चित्राङ्गं चित्राङ्गराजम् । प्रालम्बेन मृवर्णमय-
 यतोपवीतेन । परंतपं परतपराजम् । रत्नकण्ठिकया रत्नकण्ठाभरणेन । कण्ठं कण्ठाग्रम् । कुण्डलाम्या
 कर्णवेष्टनाम्याम् । सुकुण्डलं सुकुण्डलराजम्^२ ॥१७॥ अनर्थेति । अनर्घमणिना अनर्घणामृत्येन मणिना रत्नेन
 युक्तेन । हारिणा मन प्रीतिकारिणा, हारेण । भीमरथं भीमरथराजम् । स्वाभरणं^३ अनर्घाभरणं । महीरथं
 महीरथराजम् । चतुर ग्रीवः । सः पद्मनाभः । सचकार सत्करोति स्म । दीपकम् ॥१८॥ अन्य इति ।
 अन्योऽपि परोऽपि । यः । सन्नाहं तनुवाचि । तुरगः अश्वः । रथः स्वन्दनः । वारणः गजः । यस्य राज्ञः ।
 योग्यः उचितः । तम् । विशेषज्ञः सकलज्ञः । नृपः पद्मनाभः । तस्मात् तेषामधीनम् । अकृत अविधात्^४
 (व्यधात्) । लुङ् ॥१९॥ सेनेति । सेना एतेन स्वाभिना सह वर्तते इति सेना । यती गच्छन्ती^५ । बद्ध-
 राशिः बद्धा रचिता राशिः पङ्क्तिः^६ । अजिरामृत्युका आजौ संग्रामे समुत्सुका आसक्ता । चक्रेषु चक्रास्त्रसारा
 चक्रेण चक्रायुधेन इषुणा बाणेन खड्गेन अस्त्रेण^७ मन्त्रायुधेन च साग उत्कुशः । [सा] मना कम् । अगति-
 साध्वसम् अरातीना शत्रूणा साध्वसं भयम् । चक्रे चकार । लिट् । यमकम् ॥२०॥ सज्जीति^८ । अथ अनन्त-
 रम् । सः पद्मनाभः । महामात्रं हस्तिशिपिकैः । सज्जीकृतं मनोदोक्तम् । पुरोधसा पुरोहितेन । रोपितं स्त्रं
 रोपितं वृत्तिं (रोपितानि पूरितानि अस्त्राणि यस्मिन् तम्) । वनकेलि वनकेलिवामराजम् । आरुह्य अभि-
 शत्रु शत्रोरभिमुखम् । निरगात् निर्गमाम् । इषु गतो लुङ् । जातिः ॥२१॥ रथिनेति । सः नराधिपः पद्म-
 नाभः । ऐरावतसमारूढः ऐरावतं देवगजं समारूढः^९ । सुराधिपः सुराणा देवानामधिप इन्द्रः । रविणेषु सूर्येणेषु ।

सब राजाओका सत्कार किया ॥१६-१८॥ कवच, घोडा, हाथी तथा रथ आदि और
 भी जो पदार्थ जिसके योग्य था, उसे विशेषताके पारखी राजा पद्मनाभने, उसीके अधीन कर
 दिया ॥१९॥ चक्र, बाण, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित, युद्धके लिए उत्सुक, स्वामी
 सहित, और पक्षितबद्ध होकर आगेकी ओर जाती हुई, पद्मनाभकी उस सेनाने शत्रुओंको भय
 उत्पन्न कर दिया ॥२०॥ इसके बाद जिसे महावतीने सजाया और जिसके ऊपर पुरोहितने
 अस्त्र रख दिये, उस वनकेलि नामक हाथीपर सवार होकर राजा पद्मनाभ शत्रुकी ओर चल
 दिया ॥२१॥ युवराज सुवर्णनाभने रथपर सवार होकर राजा पद्मनाभका अनुगमन किया—
 आगे राजा चला जा रहा था और उसके पीछे युवराज । जैसे ऐरावतपर चढ़े हुए इन्द्रका

१. क ख ग घ 'कुलकम्' नोपलभ्यते । २. स स बाहस्तुरगौ । ३. = सचकार । ४. = सचकार ।

५. = स्पर्कीयैराभरणैः । ६. आ अवीरात् । ७. = गच्छन्ती । ८. = यया सा । ९. = अस्त्रायुधेन ।

१०. आ स सज्जेति । ११. स आरूढः ।

नगोत्तुङ्गं समारुह्य नागेन्द्रं रणविग्रहम् ।
 तमम्बगाङ्गीमरयः प्रताप इव पूषणम् ॥२३॥
 परिज्वलन्महास्त्रीघं रथं सारथिसज्जितम् ।
 मनोरथमिवास्थाय निर्जगाम महोरथः ॥२४॥
 परितः परिवर्तस्तम्बेषुऽप्येव्य नराधिपाः ।
 चतुरङ्गबलोपेताश्चतुरम्बुधिविश्रुताः ॥२५॥
 प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका^१ ।
 सासीद्वबद्धाविसंख्येव व्यक्तेयता न बाहिनी ॥२६॥
 विसृष्टान् शिवा तस्य वामतः शिवशंसिनी ।
 तामेव विशमाश्रित्य ररास मृदु रासमः ॥२७॥

रथिना रथास्त्रेण । युवराजेन सुवर्णनाभेन । अनुसले^२ अनुगम्यतेस्म । उपमा ॥२२॥ नगेति^३ । भीमरथः
 भीमरथराजः । नगोत्तुङ्गं तप इव पर्वत इवोत्तुङ्गमुन्नतम् । रणविग्रहं रणविग्रहनामधेयम् । नागेन्द्र^४ गजेन्द्रम् ।
 समारुह्य । पूषणं सूर्यम् । प्रताप इव तेज इव । तं युवराजम् । अम्बगाङ्गां अनुगच्छतिस्म । उपमा ॥२३॥
 परीति । परिज्वलन्महास्त्रीघं परिज्वलन् प्रज्वलन् महास्त्राणां महामन्त्रायुधानामोघो यस्मिन् तम् । सारथि-
 सज्जितं सारथिना सज्जितं संनद्धम् । मनोरथमिव^५ मनःसंतोषमिव । रथं स्यन्दनम् । आस्थाव आरुह्य ।
 महोरथः महोरथराजः^६ । निर्जगाम निरगात् ॥२४॥ परित इति । चतुरम्बुधिविश्रुताः चतुरम्बुधान् चतुः-
 समुद्रपर्यन्तं विभृताः प्रसिद्धाः । चतुरङ्गबलोपेता चतुरङ्गेण चतुरवयवेन बलेन सेनया उपेता युक्ताः । अग्रे
 [अपि] परेऽपि । नराधिपाः भूमिपाः । एव्य गत्वा । तं पद्यानामम् । परितः समन्तात् । परिवर्तुः परिवर्तन्ति
 स्म । वृक्षं वरणे लुट् ॥२५॥ प्रयागेनि । प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका प्रयाणस्य निर्माणस्य तूर्यस्य
 बाधविशेषस्य निर्घोषेण रथेण संमिलन्तो राक्षीमवन्तः सर्वे निखिन्नाः सैनिका भटा यस्यां सा । सा बाहिनी
 सेना । बह्वादिदेशेन बह्वादिवरे मंथ्या सेव । आदिशब्देन यूथगण इत्यादि । [व्यक्तेयता] व्यक्ता स्पष्टा
 इत्यत्र एतत्प्रमाणता यस्याः सा । न भवति । उपमा ॥२६॥ विवृष्टानेति^७ । तस्य पद्यानामस्य । वामतः
 वामभागतः । शिवशंसिनी शिवस्य क्षुभस्य शंसिनी सूचिनी^८ । शिवा शृगाली^९ । विसृष्टान्^{१०} निनाव । स्वप्न
 शब्दे लुट् । तामेव वामरूपामेव । विशं विशाम् । आश्रित्य आगत्य । रासमः स्नानः । मृदु मृदुलं यथा तथा ।

सूर्य (जो रथपर सवार रहता है) अनुगमन करता है ॥२२॥ पहाड़के समान उन्नत रणविग्रह
 नामक गजराजपर चढ़कर भीमरथने युवराजका अनुगमन किया । जैसे प्रताप सूर्यका अनुगमन
 करता है ॥२३॥ चमचमाते हुए बड़े-बड़े अस्त्रोंके समूहसे युक्त, सारथीके द्वारा सजाये गये और
 मनोरथके समान प्रतीत होनेवाले रथके ऊपर बैठकर राजा महोरथ, भीमरथके पीछे-पीछे चलने
 लगा ॥२४॥ चारों समुद्रों तक प्रसिद्ध और भी राजे-महाराजे चतुरङ्गणी सेनाओंको अपने
 साथ लिवाकर आ गये और पद्यानामके आगे-पीछे और दाएँ-बाएँ भागोंमें—इस तरह उसे
 चारों ओरसे घेरकर चलने लगे ॥२५॥ प्रयाणके समय रणभेरीका शब्द सुनते ही सभी सैनिक
 सेनामें आकर सम्मिलित हो गये । उस समय वह सेना बहु आदि संख्याके समान स्पष्ट प्रमाणसे
 युक्त नहीं थी—अगणित थी ॥२६॥ जाते समय पद्यानामकी बाई और मङ्गलकी सूचना देने-
 वाली शृगाली शब्द करने लगी और उसी दिशामें अर्थात् बाई ओर ही एक गदहा कोमल

१ क ख ग घ प्रयाणे तूर्यं । २. म^१ सैनिकाः । ३. = अनुसृतः । ४. क्ष नग इति । ५. क्ष मनेन्द्र ।
 ६. = मनोऽभिलाषमिव । ७. क्ष महोरथनामधेयः । ८. आ क्ष विवृष्टान इति । ९. आ सुक्षत्य । १०. क्ष
 सूचनी । ११. आ क्ष शृगालः । १२. क्ष विसृष्टाने ।

भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य परीयाय प्रदक्षिणम् ।
 क्षीरिणं वृक्षमारुह्य ववाशे वल्लु घायस्तः ॥२८॥
 सहसैव समुद्रिद्य सुभ्रवे करिणां कटैः ।
 भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥२९॥
 इष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परितोषितसैनिकैः ।
 शकुनैरेभिरन्यैश्च स व्यक्तविजयोऽभवत् ॥३०॥
 इत्युत्थितं समाकर्ण्य^१ पद्मनाभं सराजकः^२ ।
 संनह्य पृथिवीपालोऽप्यमर्षादभिनिर्गयो ॥३१॥
 दक्षिणं गणयामास नाशिवं स शिवारवम्^३ ।
 कुतं न पौनःपुनिकं न मार्गमहिखण्डितम् ३२॥

ररास जिनाद । रस वृक्ष शब्दे लिट् ॥२७॥ भारद्वाज इति । भारद्वाजः खञ्जरीटपक्षी । कुतोऽपि कस्मा-
 दपि । एष्य आगत्य । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्तम्^४ । परीयाय^५ जगाम । इण गतो लिट् । क्षीरेण युक्तम् ।
 कृणं भूषणम् । आरुह्य आस्थाय । वायसः बलिमुक्तः । वल्लु मधुरम् । ववाशे दधान । वाशि शब्दे लिट् ॥२८॥
 सहतेति । करिणा गजानाम् । कटैः कपोलप्रदेशैः । महसैव वेगेनैव । समुद्रिद्य संविदार्य^६ । सुभ्रवे दुहुवे ।
 दुःखु गतो भावे लिट् । रोमाञ्चकवचैः रोमाञ्चो रोमद्वर्पणं स एव कवचो येषां तैः । भटैः योद्धुभिः ।
 कोऽपि कश्चिदपि । महोत्साहः महासंभ्रमः । भेजे शिथिल्ये । भिज् सेवायां कर्मणि लिट् ॥२९॥ इष्टैरिति ।
 इष्टार्थपिशुनैः इष्टस्याभोष्ट्यार्थस्य प्रयोजनस्य पिशुनैः सूचकैः । परितोषितसैनिकैः परितोषिताः सतोषिताः
 सैनिका यैस्तैः^७ । इष्टैः अभिप्रेतैः । एभिः एतैः । अन्यैश्च अपरैश्च । शकुनैः एष्यरम्^८ चकनिमित्तैः । व्यक्त-
 विजयः व्यक्तो व्यक्तीभूतो विजयो^९ यस्य सः । अभवत् अभूत् । भू सत्ताया लट् । अनुमिति ॥३०॥
 इतीति । इति एवम् । उरिषतं निर्गतम् । [तं] पद्मनाभं पद्मनाभभूषणम् । आकर्ण्य^{१०} श्रूयत् । सराजकः
 राजकेन राजा समूहेन सह वर्तत इति तबोक्त-राजसमूहयुक्तः । पृथिवीपालोऽपि पृथिवीपालभूषोऽपि ।
 संनह्य^{११} सज्जोक्त्यैः अमर्षात् कोपात् । अभिनिर्गयो^{१२} अभिनिर्जगाम । या पापणे लिट् । जातिः ॥३१॥
 दक्षिणमिति । सः पृथिवीपालः^{१३} । दक्षिणं दक्षिणभागं गतम् । अशिवम्^{१४} अमङ्गलम् । शिवारवं शिवायाः
 श्रृगालस्य (श्रुगाल्याः) रवं दधनिम् । न गणयामास न गणयति स्म । गण संकल्पने लिट् । पौनःपुनिकं

शब्दोंमें बोलने लगा ॥२७॥ भारद्वाज-खञ्जरीट पक्षी कहीसे भी आकर पद्मनाभकी परिक्रमा
 करके चला गया और कौआ दूध बहानेवाले किसी बट आदि वृक्षपर बैठकर मुन्दर ढंगसे बोलने
 लगा ॥२८॥ हाथियोंके गण्डस्थल सहसा फूट पड़े और उनसे मदजल क्षरने लगा । सैनिकोंको
 रोमाञ्च हो आया और उन्हें अद्भुत् महान् उत्साहका अनुभव होने लगा ॥२९॥ इष्ट अर्थकी
 सूचका देनेवाले और इसीलिए सैनिकोंको सन्तुष्ट करनेवाले इन इष्ट शकुनोंमें तथा इन सरीसृ-
 खों-और भी शकुनोसे पद्मनाभकी विजय स्पष्ट हो गई ॥३०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभको
 बुझके लिए निकला हुआ सुनकर पृथिवीपाल भी अपने पक्षके राजवर्गके साथ युद्धकी तैयारी
 करके बड़े क्रोधसे निकल पड़ा ॥३१॥ पृथिवीपालके प्रयाण करते समय दाईं ओर श्रृगालीका
 अमङ्गलकारी शब्द होने लगा; बार-बार छीकें आने लगीं; साँप रास्ता काट गया; कंटोले पेड़ों-

१. क त्व ग घ व्यक्तव्यजयो^१, म वक्तव्यजयो^२ । २. अ^३ जयोऽभवत् । ३. अ क त्व ग घ म
 समाकर्ण्य । ४. आ इ सराजकम् । ५. क त्व ग घ म शिवास्तम् । ६. = कुतपवनपि । ७. अ प्रदक्षिण-
 प्रवेशेन । ८. = परिक्रम्य जगाम । ९. आ संविदार्य १०. = अङ्गुनीऽपूर्वाभा । ११. आ येषां तैः । १२.
 आ एतत्सू । १३. = विशिष्टो जयः । १४. अ समाकर्ण्य । १५. = मङ्गलोभूय । १६. आ 'अभि' नास्ति ।
 १७. अ पृथ्वीपालः । १८. आ अशुभम् ।

न कण्टकद्रुमस्थस्य काकस्य पवर्षं रवम्^१ ।
 न वाजिपुच्छज्वलनं न आर्तद्वितस्वरम्^२ ॥३२॥
 न प्रातिकूल्यमत्यन्तं मनःपवनगोचरम् ।
 नासृक्प्रवर्षमाकाशे^३ क्रोधान्तरितचेतनः ॥३४॥
 क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमाणवतुल्ययोः ।
 तयोर्बभूव संघट्टः सैन्ययोरुभयोरपि ॥३५॥
 अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरान्स्तुरगसंभवः ।
 पांसुनिवारयामास छपयेव क्षणं भटान् ॥३६॥
 माघद्विन्तिमदोत्सेकच्छन्नं पांसी रणाजिरे ।
 बल्यस्यन्योन्यमुद्दिश्य रराज भटसंहतिः ॥३७॥

पुनः पुनः भूयो भूयः प्रवर्तमानम् । क्षुते^१ न । अहिलिङ्गितम् अहिना सप्रेण खण्डितं निवारितम् । मार्गं पश्यामम् । न गणयामासति प्रत्येकमभिसंबन्धः । दोषकम्^२ ॥३२॥ नेति । कण्टकद्रुमस्थस्य कण्टके कण्टक-
 युक्ते द्रुमे वृक्षे स्थितस्य । काकस्य^३ वायसस्य । पवर्षं निष्ठुरम् । रवं ध्वनिम् । न गणयामास । वाजिपुच्छ-
 ज्वलनं बाहिनामश्वानां पुच्छानां बालघोनां ज्वलनं^४ संतापम् । न । आर्तद्वितस्वरम् आर्तं दुःखेन
 द्वितस्य रोदनस्य स्वरं ध्वनिम् । न च गणयामास । अयमपि दोषकः^५ ॥३३॥ निवेति^६ । क्रोधान्त-
 रितचेतनः क्रोधेन कोपेनान्तरितं व्यवहितं चेतनं (अन्तरिता व्यवहिता चेतना) बुद्धिर्यस्य सः ।
 मनःपवनगोचरं मनोवायोरविषयम् । अत्यन्तं भृशम् । प्रातिकूल्यं प्रतिकूलत्वम् । न गणयामास । नि ।
 आकाशे गगने । असृक्प्रवर्षम् असृजो रक्तस्य प्रवर्षं वृष्टिम् । न गणयामास । त्रिभिः कुलकम्^७ ॥
 ॥३४॥ अर्धेति । क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमाणवतुल्ययोः । क्षयस्य प्रलयकालस्यानिलेन वायुना चलतोः^८
 संबलतोः पूर्वपश्चिमयोः पूर्वापरयोरणवयोः समुद्रयोस्तुल्ययोः समानयोः । तयोर्बभूवोऽपि द्वयोरपि । सैन्ययोः
 सेनयोः । संघट्टः^९ संघर्षः । बभूव भवतिस्म । लिट् । असिवायः^{१०} ॥३५॥ अन्योन्येति । अन्योन्यालोकनोद्भूत-
 त्वरान् अन्योन्यस्य वस्परस्यालोकनेन दर्शनेन उद्भूतं^{११} उत्पन्नः त्वरः शीघ्रं येषां तान् । भटान् योद्धन् ।
 तुरगसंभवं तुरगैः अश्वैः संभवः संजातः । पासुः रजः । छपयेव कावयेनेव । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् ।
 निवारयामास निवारयति स्म । वृक्षं वरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ माघद्विन्तिमदोत्सेकच्छन्नं पांसी
 माघात्ता मद्युक्तानां द्वाविनां गजानां मयस्य मयबलस्योत्सेकेन क्षयो लोभः पांसू रजो^{१२} यस्य तस्मिन् । रणाजिरे

पर कीर्त्तिका पवर्ष स्वर सुनाई देने लगा; घोड़ोंकी पूंछोंमें आग लग गयी; दुस्त्रियोंके रोनेका दुःखभरा स्वर होने लगा; मनमें प्रतिकूल विचार आने लगे; प्रतिकूल वायु बहने लगी और आकाशमें लहू बरसने लगा, पर चेतनापर क्रोधका असर आ जानेसे उसने अपशकुनीपर कोई ध्यान ही नहीं दिया ॥३२-३४॥ प्रलयकालीन वायुसे क्षुब्ध हुए पूर्व और पश्चिम समुद्रों सरीखे दोनों सेनाओंके दलोंका आपसमें खूब जोरका संघर्ष शुरू हो गया ॥३५॥ एक-दूसरेको देखकर सैनिक आपसमें प्रहार करनेके लिए उतावले हो उठे, किन्तु घोड़ोंकी टापोके प्रहारसे उत्पन्न हुई धूलिने मानो दयाके कारण उन्हें कुछ क्षणों तक रोक लिया ॥३६॥ मदमाते हाथियोंके मद-जलके छिड़कावसे धूलि शान्त हो जानेपर रणाङ्गणमें एक-दूसरेको लक्ष्य करके आगे बढ़नेवाला

१. अ स्वरम् । २. क ल ग घ म 'द्वितं स्वरम् । ३. अ 'पमकरोत् । ४. अ आ इ 'कसत्' ।
 ५. = शव । ६. = तुल्ययोगिता । ७. श 'काकस्य' इति पद नास्ति । ८. = दहनम् । ९. = दोषकम् ।
 १०. आ स्वस्तिकाभ्यगत. पाठो नास्ति । ११. मूलप्रतिपु 'त्रिभिः कुलकम्' इति नास्ति । १२. = सुखयोः ।
 १३. = संघर्षः । १४. = उपमा । १५. = उद्भूता समुत्पन्ना त्वरा बोधता । १६. श 'त्सेकसत्' ।
 १७. श सप्तो लोभः पांसुर्धूलिः ।

स्वामिप्रसादमासीद्यो मुखराग प्रतीच्छताम् ।
 तेषामासीत्स एवाश्चरजालं प्रतीच्छताम् ॥४२॥
 निजेषुरचितस्कारमण्डपोत्सारितातपाः ।
 तत्र नाशसिधुर्योधाः प्रहरन्तः परिश्रमम् ॥४३॥
 स्वामिसंमानयोग्यं यद्यत्स्वसंभावनोचितम् ।
 यच्चाम्नायसमं तत्ते स्मारंस्मारं दुदौकिरे ॥४४॥
 शस्त्रप्रहारैर्गुह्यमिः समुदा येन यो जितः ।
 तेनामर्षात्पुनः सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥४५॥
 कस्याप्यश्वगतस्येभकुम्भं निर्भिन्दतोऽसिना ।
 ततः पतन्त्यभास्पृष्वृष्टिचन्मौक्तिकावलिः ॥४६॥

बारभन्त उपक्रमते^१ स्म । रभि^२ राभस्ये ॥४१॥ स्वामीति । स्वामिप्रसादं स्वामिनः प्रभोः प्रसादमादरम् । प्रतीच्छतां वाञ्छताम् । यो मुखरागः मुखे बन्दने रागो हर्षः संतोषः, पक्षे मुखे रागो रुचिरेणाङ्गता^३ । आसीत् अभवत् । लङ् । अश्चरजालम् अरेः शत्रोः शराणां बाणानां जालं समूहम् । प्रतीक्षताम् अङ्गीकुर्वताम् । तेषां भटानाम् । स एव मुखराग एव । अभूत् । लङ् । यमकम् ॥४२॥ निजेष्विति । तत्र संघामे । निजेषुरचित-स्कारमण्डपोत्सारितातपाः निजानां स्वैयामिषुभिर्बाणै रचितेन निमितेन स्कारेण बहुता मण्डपेनोत्सारितो निवारित आतपो येषां ते । प्रहरन्तः युद्धं कुर्वन्ताः । योधाः भटाः । परिश्रमम् आयासम् । न आशसिधुः न जानन्ति स्म । आ अवबोधने लङ् ॥४३॥ स्वामीति । स्वामिसंमानयोग्यं स्वामिनः प्रभोः सम्मानस्य सत्कारस्य योग्यम् । स्वसंभावनोचितं स्वेषा संभावनस्य सामर्थ्यस्योचितं योग्यम् । यद् यत् । (तत् तत्) सर्वम् । ते भटाः स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा । 'भूषाशोष्ये लभुम्' इति लभुम्-प्रत्ययः दुदौकिरे ययुः । दौकुञ्ज गतौ लिट् ॥४४॥ शङ्केति । गुह्यमिः सहिद्धिः । शस्त्रप्रहारैः शस्त्राणामायुधानां प्रहारैर्घातैः । समुदा संतोषयुक्तैः । येन भटेन । यः भटः । जितः पराजितः । तेन पराजितभटेन । अमर्षात् क्रोधात् । पुनः पश्चात् सः विजयी भटः । अस्त्रसमुदायेन अस्त्राणामायुधानां समुदायेन निकरेण । योजितः संवन्धितः ॥४५॥ कस्येति । असिना खड्गेन । इभकुम्भम् इभस्य गजस्य कुम्भं कुम्भस्पलम् । निर्भिन्दतः^४ विदलतः । अवगतस्य^५ अवगं वाजिनं गतस्य यातस्य । कस्यापि कस्यचिद्भटस्य । ततः इभकुम्भात् । पतन्ती भ्यवन्ती । मौक्तिकावलिः मौक्तिकानां मुक्ताफलानामावलिः संहतिः । पृष्वृष्टिबत् पुष्पाणां क्रुसुमाना वृष्टिवत् वर्षामिव ।

युद्ध क्षेत्रमें उतरनेसे पहले अपने स्वामीके प्रसादको ग्रहण करते समय योद्धाओंके चेहरोंपर जो लालिमा और अनुराग था, युद्धक्षेत्रमें उतरनेपर शत्रुओंके बाणोंको सहते समय भी उनके चेहरोंपर वही लालिमा और अनुराग छाया हुआ था ॥४२॥ योद्धाओंने अपने बाणोंसे (आकाशमें) बहुत बड़ा मण्डप बनाकर धूपको दूर कर दिया था, इसलिए उन्हें प्रहार करनेपर भी आयास नहीं जान पड़ता था ॥४३॥ जो अपने स्वामीके सम्मानके, अपनी शक्तिके और अपनी परम्पराके योग्य था, उसे बारम्बार स्मरण करते हुए सैनिक आगे चले जा रहे थे ॥४४॥ एक योद्धाने शस्त्रोंके असह्य प्रहारोंसे जिस विरोधीको जीत लिया था और खुशी मनाई थी, उसने पुनः क्रुद्ध होकर उसे (जिसने जीत लिया था) अस्त्रोंके समूहसे पूर दिया ॥४५॥ अपने खड्गसे हाथीके गण्डस्थल-का विदारण करनेवाले किसी अश्वारोहीके ऊपर उस विदोर्ण गण्डस्थलसे गिरनेवाली गजमुक्ताओं-

१. म 'मसूत् तं' । २. क ख ग घ म सोऽस्तसम् । ३. आ इ परन्त्यभां । ४. = उपक्रमते । ५. आ रभ । ६. = प्रसन्नताम् । ७. श 'रक्तता । ८. = वेष्टितः । ९. आ संवाधितः । १०. = विदार-यतः । ११. = अवगारुडस्य ।

योधाः शस्त्रक्षताः पेतुर्भूरितापा रणाशयाः ।

भूतैर्बुभुक्षितैर्युद्धभूरिता पारणाशया ॥४७॥

भग्ने चापे गुणे छिन्ने रिक्तीभूते च बाणघौ ।

कस्याप्यासीद्वृष्टिषा दीर्घे दण्डादण्डि कचाकचि ॥४८॥

धीरधीरारिरुधिरैरुधाराधरैरैरम् ।

धरा धराधराधारा रुधेऽधोऽधराधरा ॥४९॥

ये तत्र जजिरेऽस्त्राणां प्रगुञ्जन्निनदा नदाः ।

तेष्वासन्मूलनिर्लूनाः करिणां मकराः कराः ॥५०॥

अभात् राजते स्म । लङ् । उपमा^१ (उत्प्रेक्षा) ॥४६॥ योधा इति । रणाशयाः रणे संग्रामे आशयो योद्धमभिप्रायो येषां ते । शस्त्रक्षताः शस्त्रेण खड्गेन क्षता हताः । भूरितापाः भूरि^३ बहुलः तापो येषां ते । योधाः भटाः । पेतुः पतन्ति स्म । पल्लु गतो लिट् । बुभुक्षितैः भोक्तुं बाञ्छितैः^४ । भूतैः राक्षसैः । पारणाशया पारणाया भोजने आशया बाञ्छया । युद्धभूः युद्धस्य रणस्य भूमिः । इता प्राप्ता । यमकम् ॥४७॥ 'भग्ने' इति । चापे कोदण्डे । भग्ने बधिते । गुणे ज्यायाम् । छिन्ने नृष्टिते । बाणघौ इषुघौ । रिक्तीभूते शून्ये जाते च । कस्यापि भटस्य । द्विषा शत्रुणा । दीर्घे चिरम् । दण्डादण्डि दण्डाश्च दण्डाश्च परस्परस्य प्रहरणं (यस्मिन्) युद्धे तद्दण्डादण्डि । 'मिथो ग्रहणे प्रहरणे च सारूपं युद्धाद्यधीभावः' इति समासः । कचाकचि कचाश्च कचाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे तत् कचाकचि । आसीत् अभवत् । लङ् ॥४८॥ धीरैति । उरुधाराधरैः उर्वीं महतीं धारा प्रवाहं धरन्तीत्युरुधाराधरास्तैः । धीरधीरारिरुधिरैः धीराणां धीरा धीरधीरा । ते च तेऽरण्यश्च धीरधीरायः तेषां रुधिरैः रक्तैः । धराधराधारा धराधराणां पर्वतानामाधाराऽधिकरणम्^५ । अधोऽयः [अधः] अधोभागे^६ । 'साधोऽप्ये—' इत्यादिना द्विः (?) । अधराधरा भूध निम्नरूपा । धरा भूमिः । अरम् अत्यन्तम् । रुधे रुच्यते स्म । रुधन् आवरणे कर्मणि लिट् । द्व्यक्षरविश्रम् ॥४९॥ 'य' इति । तत्र रणभूमौ । अस्त्राणां रक्तानाम् । प्रगुञ्जन्निनदाः प्रगुञ्जन्नव्यक्तो निनदो ध्वनिर्येषां ते । ये कैचित् । नदाः नद्यः । जजिरे जायन्ते स्म । जनेड् प्रादुर्भावे लिट् । तेषां नदानाम् (तेषू नदेषु) । मूलनिर्लूनाः मूलात्^७ प्रथमात् निर्लूनाः खण्डिताः । करिणां गजानाम् । कराः शृङ्गादण्डाः । मकराः जलचरविशेषाः । आसन् अभूवन् । अस भुवि लङ् । यमकम्

की झड़ी पुष्पवृष्टि सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥४६॥ रणकी इच्छासे कुछ योद्धा ज्योंही आगे बढ़े त्योंही वे शत्रुओंके शस्त्रोंसे घायल होकर अत्यधिक सन्तापका अनुभव करते हुए युद्ध भूमिमें गिर गये, और फिर पारणा करनेकी इच्छासे भूखे भूतोंने उसे घेर लिया ॥४७॥ एक धनुर्धारी योद्धा दूसरे धनुर्धारी योद्धासे लड़ रहा था, किन्तु जब उसका धनुष टूट गया, प्रत्यञ्चा कट गयी और तर्कस (तूणीर, जिसमें बाण रखे जाते हैं) खाली हो गया, तब उसने लाठी लेकर प्रतिपक्षीसे युद्ध किया, और जब लाठी भी टूट गयी तब वह उसके बालोंको पकड़कर लड़ा ॥४८॥ पर्वतोंका आश्रय पाकर रहनेवाली पृथिवी, नीचेकी ओर जिधर खूब ढालू थी, अत्यन्त धीर योद्धाओंके बढ़े-बढ़े, रुधिरके मेधोंके द्वारा लबालब भर दी गयी ॥४९॥ उस युद्धभूमिमें अव्यक्त शब्द करनेवाली रुधिरकी बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगी । उनमें जइसे कटकर गिरी हुई

१. आ आभात् राजति । २. आ 'उपमा' इति नास्ति । ३. श भूरिः । ४. आ बाञ्छितैः । ५. श भग्ने इति । ६. आ लुङ् । ७. आ 'धारा' निलय । = धराधराः पर्वता एवाधाराऽवच्छिन्नो यस्याः सा । ८. आ अधोभागेऽधोभागे । ९. श ये । १०. = मूलभायतः ।

कश्चिदालोहनिर्मग्नैः प्रत्यङ्गं पुरितः शरैः ।
 बभाधभ्यरि निष्कम्पः सप्ररोह इव द्रुमः ॥५१॥
 केन तत्र सुरालोकं गतेन प्रेतवतिना ।
 के न तत्र सुरा लोकं त्यक्त्वा स्वं कौतुकागताः ॥५२॥
 जज्ञे मांसोपदंशासृगासबोम्भस्तचेतसाम् ।
 डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धोर्नाट्यसूरिमिः ॥५३॥
 निरन्तरनिपातीषु जालप्रच्छन्नमूर्तिना ।
 भयादिषु कुतोऽप्यासोऽनुनापि पलायितम् ॥५४॥
 योधानामायुधच्छिन्नैर्विरेजे रणरङ्गभूः ।
 शिरोभिः शतपत्रौघैरिव व्योमसरश्च्युतैः ॥५५॥

॥५०॥ कश्चिदिति । प्रत्यङ्गम् अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्, प्रत्यवयवमिति यावत् । आलोहनिर्मग्नैः आलोहं लोहशलाकापयन्तं निर्मग्नैः प्रविष्टैः । शरैः बाणैः । पुरितः व्याप्तः । कश्चित् एको भटः । सप्ररोहः प्ररोहैः सहितः । द्रुम इव वृक्ष इव । अभ्यरि अरेः शत्रोरभिमुखम्^१ । निष्कम्पः निश्चलः । बभौ भातिस्म । उत्प्रेक्षा ॥५१॥ केनेति । स्वं स्वकीयम् । लोकं जगत् । त्यक्त्वा विमुच्य । कौतुकागताः कौतुकेन कुतूहलेन आगता आयाताः । के सुराः के देवाः । तत्र रणे । आलोकं दर्शनपदम् । गतेन यातेन । प्रेतवतिना प्रेते प्रेतभूमौ वतिना वर्तनशीलेन । केन मस्तकेन । 'कं बारिणि च मूर्धनि च' । न तत्रसुः न बिभ्यति स्म । 'न सै उद्वेकने लिट्' । यमकम् ॥५२॥ जज्ञे इति । मांसोपदंशासृगासबोम्भस्तचेतसा मासमेवोपदंशो यस्य तन्मांसोपदंशं (वत्) च तत् असुर्यक्तं च (तदेव) आसवो मद्यं तेनोन्मत्तमुन्मादयुक्तं चेतो यासा तासाम् । नटन्तीनां नृत्यन्तीनाम् । डाकिनीनां पिशाचभेदानाम् । मध्ये । कबन्धैः शवैः । 'कबन्धोऽङ्घ्री क्रियायुक्तमपभूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । नाट्यसूरिमिः नाट्यस्य नाटकस्य सूरिभिराचार्यैः । जज्ञे जायते स्म । जनैश्च प्रादुर्भावे लिट् । उत्प्रेक्षा (रूपकम्) ॥५३॥ निरन्तरैति । निरन्तरनिपातीषु जालप्रच्छन्नमूर्तिना निरन्तरं निरवकाशं निपातिना निपततामिषूणां बाणानां जालेन समूहेन प्रच्छन्ना व्यवहिता मूर्तियस्य तेन । भानुनापि सूर्येणापि । कुतोऽपि कस्मादपि । भयात् भीतेः । पलायितमिव विद्रुतमिव । उत्प्रेक्षा ॥५४॥ योधानामिति । आयुधच्छिन्नैः आयुधैः शस्त्रैश्छिन्नैः छेदितैः । योधानां भटानाम् । शिरोभिः मस्तकैः । रणरङ्गभूः रणस्य संग्रामस्य रङ्गस्य भूमिमिः । व्योमसरश्च्युतैः

हाथियोंकी सूँडें मगर सरीखी प्रतीत हो रही थीं ॥५०॥ किसी वीर योद्धाके अङ्ग-अङ्गमें बाण प्रविष्ट हो गये थे—बाणोंके नुकीले अगले भाग-जो लोहेके थे—अन्दर घँसे हुए थे और शेष भाग बाहर निकले हुए थे, फिर भी वह शत्रुके सामने निष्कम्प होकर खड़ा हुआ था । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो अङ्कुरित वृक्ष खड़ा हो ॥५१॥ रण देखनेके कौतूहलसे अपना लोक छोड़कर वहाँ (रण भूमिमें) आये हुए वे कौनसे देव थे, जो घड़से अलग हुए, मृत योद्धाके सिरको देखकर न डर गये हैं ? ॥५२॥ मांसरूपी जायकेदार लावचस्तु और रघिर रूपी मद्यका सेवन करनेसे डाकिनियोंको उन्माद हो गया, उनके चित्त भ्रान्त हो गये और इसी-लिए वे नाचने लगी । उन्हींके साथ घड़ भी नाच रहे थे, जो उन्हें नृत्यकी शिक्षा देनेवाले नाट्याचार्य सरीखे जान पड़ते थे ॥५३॥ निरन्तर गिरनेवाले बाणोंके जालसे सूर्य तिरोहित हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया । अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वह डरके कारण कहीं भाग गया हो ॥५४॥ आयुधोंसे कटकर गिरे हुए योद्धाओंके सिरोंसे रणभूमिरूपी रङ्गमञ्च

१. अ आ इ सप्ररोह* । २. आ 'अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्' इति गोपकम्बते । ३. श^०मूलः । ४. आ तस्ये । ५. श जज्ञे । ६. = नृत्यस्य ।

येनैकोऽपि जितः श्लाघ्यः स्वामिनामा न ना नृता ।

बभूव तस्य न कृता स्वामिना माननानृता ॥५६॥

न पपात रणे तावद्धीरशिक्षणेऽपि मूर्धनि ।

तत्कालोद्गीर्णखड्गेन रिपुर्वावन्न पातितः ॥५७॥

पाणिभिर्गलितास्त्रौघाद्वरणैश्छिन्नपाणयः ।

छिन्नाङ्घ्रयो दुर्वचनैः प्रजहः शौर्यशालिनः ॥५८॥

दन्तिनो दन्तिभिर्मिन्नाः पत्तयः पत्तिसादिताः ।

पेतु रथा रथिच्छिन्नास्तुरगास्तुरगिन्नताः ॥५९॥

अथैव गयनमेव सरः सरोवरं (रः) तस्मान्ज्युतेः पतितः^१। शतपत्रोघैरिव शतपत्राणां कमलानामोघैः समूह-
रिव । विरेजे रराज । राज्ञः^२ दोषो । लिट् । उत्प्रेषा ॥५५॥ येनेति । येन भटेन । श्लाघ्यः संस्तुत्यः^३ ।
स्वामिनामा स्वामीति नाम यस्य सः, महानित्यर्थः । कोऽपि (एकोऽपि) ना पुमान् । न जितः न पराजितः ।
तस्य भटस्य नृता पुरुषत्वम् । न बभूव न भवति स्म । स्वामिना प्रभुणा [तस्य] मानना पूजना । अनृता
असत्या । [न] कृता (न) निहिता । येन भटेन प्रतिभटो नजितस्तस्य पुरुषत्वं व्यर्थमेव, जितस्येत्सार्थकं भवति,
इत्यर्थः । यमकम् ॥५६॥ नेति । धीरः^४ धैर्यवान् । मूर्धनि मस्तके । छिन्नेऽपि । तत्कालोद्गीर्णखड्गेन तत्काले
शिरश्छेदनकाले उद्गीर्णोद्घुतेन खड्गेनायुधेन । रिपुः शत्रुः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न पातितः न धातितः ।
तावत् तावत् पर्यन्तम् । रणे संग्रामे । न पपात न अभवति स्म । पल्लु गती लिट् । वीरपुरुषः परभटाननिहत्य
स्वयं न पततीत्यर्थः ॥५७॥ पाणिभिरिति । गलितास्त्रौघाः गलिता रिक्ता अस्त्राणामायुधानामोघाः समूहा येषां
ते । शौर्यशालिनः शौर्येण शूरत्वेन शालिनः संपन्नाः । पाणिभिः हस्तैः । छिन्नपाणयः छिन्ना छिन्दिताः पाणयो
येषां ते । चरणैः पादैः । छिन्नाङ्घ्रयः छिन्ना भिन्ना अङ्घ्रयः पादा येषां ते । दुर्वचनैः दुष्टवचनैः । प्रजहः
युयुधिरे । हृज्^५ हरणे लिट् ॥५८॥ दन्तिन इति । दन्तिभिः करिभिः । भिन्नाः छिन्नाः । दन्तिनः करिणः ।
पत्तिसादिताः पत्तिभिः पदातिभिः सादिताः विदारिताः । पदातयः ५ प^६ (पा) दवारिभटाः रथिच्छिन्नाः
रथिभी रथारोहैश्छिन्ना भिन्नाः । रथाः स्पन्दनाः तुरगिन्नताः तुरगिभिः अवसारोहैः क्षता हताः । तुरगाः

ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके ऊपर आकाशरूपी सरोवरसे टूटकर कमलोंकी राशि
गिर पड़े हो ॥५५॥ जिस थोढ़ाने युद्धभूमिमें किसी एक भी श्लाघ्य 'स्वामी' कहे जानेवाले
महान् प्रतिपक्षीको नहीं जाता, उसकी मर्दानगी (पुंस्त्व) झूठी पड़ गयी । फलतः उसके स्वामीने
भी उसका सम्मान नहीं किया ॥५६॥ रणमें सिर कट जानेपर भी एक वीर तब तक भूमिपर
नहीं गिरा, जब तक कि उसने तत्काल ही म्यानसे निकाली हुई तलवारसे शत्रुको गिरा नहीं
दिया ॥५७॥ शूरवीर लोग अस्त्रोंके समाप्त होनेपर हाथोंसे प्रहार करने लगे, हाथोंके कट
जानेपर पैरोंसे प्रहार करने लगे और फिर पैरोंके भी कट जानेपर दुर्वचनों अर्थात् गालियोंका
प्रहार करने लगे ॥५८॥ द्वन्द्व युद्धमें हाथियोंके द्वारा घायल किये गये हाथी, घुड़सवारोंके
द्वारा घायल किये गये घोड़े, रथारोहियोंके द्वारा तोड़े गये रथ और पयादोंके द्वारा मारे गये

१. आ इ क ख ग घ म 'हीरश्छिन्ने' । २. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नास्ति । ३. आ राज् ।
४. आ स्तुत्यः । ५. 'कोऽपि' इति टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु सर्वास्त्वपि 'एकोऽपि'—'येनैकोऽपि'
इति समुपलभ्यते । ६. 'वीरः' इति टीकायां मूलप्रतिषु तु 'वीरः' इत्येव पाठः समुपलब्धः । ७. = च्यवते ।
८. आ भग्नाः । ९. क्ष प्रबगुहः । १०. आ ह । ११. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नोपलभ्यते ।

क्वचित्पतितपस्यश्च कचिद्भग्नमहाराधम् ।
 कचिद्भिन्नेममासीत्तद् दुःसंचारं रणाजिरम् ॥६०॥
 भङ्गं गृह्यत्यथात्मीये सैन्येऽरिशरजर्जरे ।
 पृथिवीपालसेनानीरुत्तस्थौ चन्द्रशेखरः ॥६१॥
 भद्राः^१ किं प्रपलायध्वं मार्गोऽयमुचितो न वः ।
 वैवायुपस्थिते कुच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः^२ ॥६२॥
 संभ्रमं मा वृथा कृद्वं कृदे रणधुरां^३ मयि ।
 अदृष्टपूर्वं भवतां ननु पृष्ठं मरातिभिः ॥६३॥

अश्वाः । पेतुः पतन्ति स्म । पल्लु गतो लिट् । दीपकम् ५१ ॥५९॥ क्वचिदिति^४ । क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे । पतितपस्यश्च पतिता निपतिता पतय पदातयः अश्वाः तुरगा यस्मिन् तत् । क्वचित् प्रदेशे । भिन्नेभं भिन्नाः लङ्घिता इभा गजा यस्मिन् तत् । रणाजिरं रणस्य संग्रामस्याजिरमङ्गणम् । दुःसंचारं संचरितुमशक्यम् । आसीत् अभूत् । अस भुवि लङ् ॥६०॥ भङ्गमिति । अथ वीरभटपुद्गान्तरम् । अरिशरजर्जरे^५ अरीणां शत्रूणां शरैर्वाणैर्जर्जरे^६ ग्लाने । आत्मीये स्वकीये । सैन्ये सेनायाम् । भङ्गं पराजयम् । गृह्णति सति याते सति । पृथिवीपालसेनानीः पृथिवीपालस्य सेनानीः सेनापतिः । चन्द्रशेखरः चन्द्रशेखरनामधेयः । उत्तस्थौ आगतः ॥६१॥ भद्रा इति । भद्राः यो मङ्गलपुरुषाः । [किं] किनिमित्तम् ? प्रपलायध्वं धावत । अयं गतो । लोट् । 'रो लोऽयी'^७ इति प्ररे^८ शब्दस्य र लः । अयम् एषः । मार्गः । वः युष्माकम् । 'पदाह्वाक्यस्य'— इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य पठोबहुवचनस्य वसादेशः । उचितो न योग्यो न भवति । देवात् विधिबशात् । शूराणां वीरपुरुषाणाम् । कुच्छ्रे कण्ठे । उपस्थिते^९ सति समीपं गते सति^{१०} । विक्रमः पराक्रमः । क्रमः परिपाटी । अर्थान्ग्यासः ॥६२॥ संभ्रममिति । मयि । रणधुरां रणस्य संग्रामस्य धुरां भारम् । कृदे बहति^{११} सति । वृथा मुषा । संभ्रमं^{१२} संचलनम् । मा कृद्वं मा कुरुध्वम् । दुकृन् करणे लुट् । भवतां युष्माकम् । पृष्ठं पृष्ठ-भागः । मरातिभिः शत्रुभिः । अदृष्टपूर्वं ननु दृष्टपूर्वं न भवति ललु । प्राक् पलायिता न भवत इत्यर्थः ॥६३॥

पयादे रणक्षेत्रमे गिरने लगे ॥५९॥ रणाङ्गणमे कहीं पयादे पड़े हुए थे, कहीं घोड़े तड़प रहे थे, कहीं घायल हाथी छटपटा रहे थे और कहीं टूटे हुए बड़े-बड़े रथोंका अम्बार लगा हुआ था । अतएव वहाँ संचार करना कठिन हो गया ॥६०॥ शत्रुओंके बाणोंसे जर्जर होकर अपनी सेना ज्योंही हिम्मत हारकर पराजय मानने और भागनेके लिए तैयार हुई, त्योंही पृथिवीपालका सेनापति चन्द्रशेखर उठकर सामने आ गया ॥६१॥ और यों कहने लगा—'हे भद्र पुरुषों ! क्यों भाग रहे हो ? यह भागनेका मार्ग तुम्हारे लिए उचित नहीं है । भाग्यवश सङ्कट उपस्थित हो जानेपर पराक्रम दिखलाना शूरवीरोंकी परिपाटी है ॥६२॥ सङ्ग्रामका भार मैं संभालता हूँ । आप लोग व्यर्थ हो मत घबराओ । निश्चय ही आप लोगोंकी पीठकी शत्रुओंने आज तक नहीं देखा—आप लोग पहले कभी भी पीठ दिखलाकर सङ्ग्राम भूमिसे नहीं भागे ॥६३॥

१. अ क ल ग घ म मदा । २. क ल ग घ म विक्रमक्रमः । ३. आ इ रणधुरं । ४. अ दृष्टम् । ५. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्यापूर्णां समबलोक्यते । ६. आ 'जर्जरे' । ७. आ 'जर्जरे' । ८. आ अय पय । ९. क लोट् । १०. क 'रो लोऽयी' इति नास्ति । ११. आ पर स' । १२. = समायाते । १३. आ 'समीपं गते सति' इति नास्ति । १४. आ 'बहति' इति नास्ति । १५. श संभ्रमः ।

प्राणैरस्थास्तुभिः स्थास्तु यशस्वेदधिगम्यते ।
 क्रियते स्वामिकार्यं च ना पुण्येद् मरणं रणे ॥६४॥
 इति संधीरयन्नात्मसैन्यं रणपराङ्मुखम् ।
 हुडौके चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुणः ॥६५॥
 शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगगनोदरः ।
 चकार क्षणमात्रेण स शत्रुकुलमाकुलम् ॥६६॥
 तं रथस्थं रथारूढः स्वभानुरिव भास्करम् ।
 भीमः कटाक्षयामास पद्मनाभचमूपतिः ॥६७॥
 तयोर्बभूव तुमुलं रणधूर्धरयो रणम्^१ ।
 व्योमव्यापीषुसंपातैर्दूरमुत्सारितामरम् ॥६८॥

प्राणैरिति । चेत् यदि । अस्थास्तुभिः (वि-) शाराभिः । प्राणे. अमुभिः । स्थास्तु स्थिररूपम् । यशः कीर्तिः ।
 अधिगम्यते लभ्यते । गम्यु गतो कर्मणि लट् । स्वामिकार्यं च स्वामिनः प्रभो. कार्यं सेवनें [च] क्रियते विधी-
 यते । कर्मणि लट् । रणे संधामे । ना भटपुरुषः मरणं प्राणत्यागम् । पुण्येत् प्रवर्धयेत् । पुष पुष्टौ कर्मणि लिङ् ।
 भटो रणे मरणं सोभावहं मन्यत इत्यर्थः । अर्थात्तरन्यासः ॥६४॥ इतीति । रणपराङ्मुखं रणस्थं संग्रामस्थं^२
 पराङ्मुखं विमुखम् । आत्मसैन्यम् आत्मनो निजस्य सैन्यं सेनाम् । इति उक्तप्रकारेण । संधीरयन् धैर्ययुक्तं
 कुर्वन् । चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुणः चण्डेनोग्रेण दोर्दण्डेन भुजदण्डेन कृष्टेनाकृष्टेन कोदण्डेन चापेन दारुणो
 मर्यकरः । हुडौके रुक्मे । डोकुल गतो लिट् । जातिः ॥६५॥ शरैति । शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगगनोदरः
 शाराणां बाणानां पञ्जररेण संछन्नं गगनस्याकाशस्योपरं मध्यप्रदेशो यस्य^३ सः । चन्द्रशेखरःक्षणमात्रेण अल्पकाल-
 मात्रेण । शत्रुकुलं रिपुकुलम् । आकुलं चिन्ताक्रान्तम् । चकार विदधौ । लिट् । जातिः ॥६६॥ तमिति ।
 रथारूढः रथं स्थान्दनमारूढः । भीमः भीमनामधेयः । पद्मनाभचमूपतिः पद्मनाभस्य राज्ञ चमूपतिः सेनापतिः ।
 रथस्थं रथे स्थितम् । तं चन्द्रशेखरम् । भास्करं सूर्यम् । स्वभानुरिव राहग्रह इव । कटाक्षयामास अपाङ्गेन
 मौखां^४ चकार । उपमा ॥६७॥ तयोरिति । रणधूर्धरयो. रणस्थ संग्रामस्थ धुरं भारं धरयोर्धरतोः । तयोः
 भीमचन्द्रशेखरयोः । व्योमव्यापीषुसंपातैः व्योम गगनं व्यापिना सकिरतामिषूणां बाणानां संपातैर्विभोवनैः ।
 दूरं विप्रकृष्टम् । उत्सारितामरम् उत्सारिता निवारिता अमरा देवा यस्मिन् (यस्मात्) तत् । तुमुलं परस्पर-

याद अस्थिर प्राणोसे स्थिर यश मिल जाता है और साथमें अपने स्वामोका काम भी हो जाता है, तो सङ्ग्राममें मर जाना बुरा नहीं—कोई घाटेका सोदा नहीं है । एक योग्य सैनिक ऐसे मरणका अवश्य ही समर्थन करेगा ॥६४॥ अपनी, रण विमुख सेनाको इस तरह ढाडस बंधाता हुआ सेनापति चन्द्रशेखर आगे बढ़ा, और उसने अपने प्रचण्ड भुजोंसे धनुष खीचना शुरू कर दिया । इस समय वह बड़ा ही भयङ्कर दिखलाई पड़ रहा था ॥६५॥ सेनापति चन्द्रशेखरने आकाशके मध्यभागको बाणोंके पञ्जरमें बन्द कर दिया—आकाशके मध्यमें चन्द्रशेखरके बाण-ही-बाण दृष्टिगोचर हो रहे थे । बाणोंसे खाली आकाश किसी ओर भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था । उसने क्षणभरमें शत्रुओंके समुदायको व्याकुल कर दिया ॥६६॥ रथपर बैठे हुए सेनापति चन्द्र-शेखरको पद्मनाभके सेनापति भीमने—जो रथके ऊपर आरूढ था—वक्रदृष्टिसे देखा । जैसे राहु सूर्यका देखता है ॥६७॥ युद्धकलामे कुशल भीम और चन्द्रशेखर सेनापतिमें घोर सङ्ग्राम

१. 'पुण्येत्' इति टोकांनुशातो पाठः, प्रतिषु तु 'नाकृत्यं मरणं रणे' इति दृश्यते । २. क ख ग 'संछिन्न' । ३. म 'त्रिभिः कुलकम्' । ४. अ 'धूर्धरयो रणम्' । ५. = रणात् संग्रामात् । ६. = येन । ७. = विदधे । ८. श ईशा ।

परस्परस्त्रसंधट्टप्रोच्छलद्गतभुविद्धसम् ।
 तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनम् ॥६९॥
 प्रध्वनद्धनुरारावरोषितक्षीबकुञ्जरम् ।
 प्रह्वारविगलद्रक्तधारारचितदुर्दिनम् ॥७०॥
 रन्ध्रं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो भीमस्य भासुरम् ।
 किरीटं पातयामास सचिह्नं शशिशेखरः ॥७१॥
 भीमेनापि हतः शक्त्या क्रोधादरिरुरःस्थले ।
 निपपात वमन्नखं सह स्वामिजयाशया ॥७२॥
 पुरः पतितमालोक्य तं प्रतापमिध प्रभोः ।
 केतुः केतुरिवोत्तस्थौ त्रासयन्निखिलं जनम् ॥७३॥

संघट्टनरूपम् । रण (रणः) संग्रामः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६८॥ परस्परं इति । परस्परस्त्रसंधट्टप्रोच्छल-
 द्धुतभुविद्धसंघट्ट परस्परस्यान्योन्यस्य अस्त्राणां संघट्टनेन^१ स्पन्देन प्रोच्छलन्ती उदगच्छन्ती हुतभुजो अग्नेः शिखा-
 ज्वाला यस्मिन् तत् । तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनं तीक्ष्णरोपाणां बाणानां परिसंघेन विकिरणेन
 खण्डितानि छिन्नानि अन्योन्यस्य केतानि^२ ध्वजानि यस्मिन् (तत्) ॥६९॥ प्रध्वनदिति । प्रध्वनद्धनुरा-
 रावरोषितक्षीबकुञ्जरं प्रध्वनतां ध्वनिं कुर्वतां घनुषा चापानामारावेण शब्देन रोषिता कोपिताः क्षीबा मत्ताः
 कुञ्जरा गजा यस्मिन् तत् । प्रह्वारविगलद्रक्तधारान्तरितदुर्दिनं^३ प्रह्वारेण प्रहरणेन विगलन्त्या प्रखलन्त्या
 रक्तस्यासुभो धारया प्रवाहेणान्तरितं व्यवहितं दुर्दिनं मेघच्छन्नदिनं यस्मिन्^४ तत् । त्रिभिः कुलकम् (विशेषकम्)
 ॥७०॥ रन्ध्रमिति । ततः पश्चात् । शशिशेखरः चन्द्रशेखरः । रन्ध्रं समयम् । प्राप्य लब्ध्वा । अर्धचन्द्रेण^५
 अर्धचन्द्राकारेण बाणेन । भीमस्य पथनाभलेनापतेः । भासुरं देदीप्यमानम् । किरीटं मकुटम् । सचिह्नं ध्वज-
 सहितम्^६ । 'ध्वजः पताका केतुश्च चिह्नं यद्वैजयन्त्यपि' । पातयामास अपतिनाय । पल्लुं गतो जिज्ञन्तास्लिट्
 ॥७१॥ भीमेनेति । भीमेनापि पथनाभस्य सेनापतिनापि । क्रोधात् कोपात् । उरःस्थले वक्षःस्थले । शक्त्या
 शक्त्यायुधेन । हतः हिसितः । अरिः शत्रुः । स्वामिजयाशया स्वामिनोविभोर्जयस्य विजयस्याशया बाष्पक्या ।
 सह साकम् । अल रक्तम् । वमन् उद्गिरन् । निपपात पतति स्म । लिट् । सहोक्तिः^७ ॥७२॥ पुर इति ।
 प्रभोः स्वामिनः । प्रतापमिध सामर्थ्यमिध । पुरः अग्रे । पतितं तं चन्द्रशेखरम् । आलोक्य बोध्य । केतुरिव
 धूमकेतुवत् । केतुः केतुराजः । निखिलं सकलम् । जनं लोकम् । त्रासयन् तर्जयन् । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म ।

छिड़ गया । दोनोंके आकाशव्यापी बाणोंके गिरनेसे देव लोग बहसि बहुत दूर हट गये ॥६८॥
 परस्परके अस्त्रोंके टकरानेसे अग्निकी ज्वाला निकल पड़ी । तीखे बाणोंके प्रहारसे दोनोंने
 एक दूसरेके झण्डे काट डाले ॥६९॥ दोनोंके घनुषोंके शब्द सुनकर मरौमत्त हाथी क्रुद्ध
 हो उठे, और अस्त्रोंके प्रहारसे रक्षिरकी धारा बहने लगी, उसने वर्षाकालीन दिनकी—
 जिसमे खूब मेघ घुमड रहे हों—मात कर दिया ॥७०॥ चन्द्रशेखरने अवसर पाकर अर्धचन्द्रा-
 कार बाणसे भीमका चिह्न सहित देदीप्यमान मुकुट गिरा दिया ॥७१॥ भीमने भी क्रुद्ध होकर
 चन्द्रशेखरके सीनेपर शक्ति नामक आयुधका प्रहार किया, जिससे उसके मुखसे खून आने लगा,
 और फिर वह अपने स्वामीकी विजयकी आशाके साथ नीचे गिर गया ॥७२॥ राजा
 पृथिवीपालके प्रतापके समान प्रतीत होनेवाले चन्द्रशेखरको सामने गिरा हुआ देखकर केतु

१. म वमन्नखं । २. = संघर्षणेन । ३. = ध्वजाः । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'रचित-
 दुर्दिनम् इत्येव दृश्यते । ५. = येन । ६. श 'चन्द्रिणा । ७ आ ध्वजसहितं यथा । ८. श उपमा ।
 ९. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'निखिलं' इति समुपलभ्यते ।

स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुरहर्षमहाविषः ।
 ताक्ष्येणाशीविष इव निर्विषीकृत्य तजितः ॥७३॥
 रथस्थेन समुत्तस्थे भग्ने केतौ सुकेतुना ।
 पुरः प्रदर्शितात्मीयमरुच्चलकेतुना ॥७४॥
 तं महास्त्रैर्महासेनश्चकार शतशर्करम् ।
 दुर्धरैः प्रलयाम्मोदो वज्रैरिव महोघरम् ॥७५॥
 वीक्ष्य ताक्ष्यमिध च्छिन्नपक्षं तं पतितं रणे ।
 विरोचन इवासह्यधामाधावद्विरोचनः ॥७६॥
 तं गजस्थं गजाकूटः सेनः सेनां समन्वितः ।
 संमुखैर्विमुखं बाणैर्विदधे पुरुविक्रमः ॥७७॥

निर्द । उपमा ॥७३॥ स इति । स्फुरहर्षमहाविषः स्फुरन् प्रज्वलन् दपं इव (एव) महत् पुष्पलं विषं गरलं यस्य सः । सः केतुराजः । क्रुद्धेन कोपितेन । भीमेन पद्मनाभस्य मेनान्या । रूपकम् । ताक्ष्येण गरुडेन । आशीविष इव सर्पवत् । निर्विषीकृत्य सामर्थ्यरहितं कृत्वा । वज्रितः त्यक्तः । उपमा ॥७४॥ रथेति । केतौ केतुराजे । भग्ने भङ्गं याते सति । पुरः अग्रे । प्रदर्शितात्मीयमरुच्चलकेतुना प्रदर्शिताः प्रकाशिता आत्मीयाः स्वकीया मरुता वायुना वञ्चलाः कम्पमानाः केतवः पताका यस्य तेन । रथस्थेन रथे आस्थितेन । सुकेतुना मुकेतुराजेन । समुत्तस्थे समुत्थोयते स्म ॥७५॥ तमिति । प्रलयाम्मोदः प्रलयस्य प्रलयकालस्याम्मोदो मेघः । दुर्धरैः दुर्वारैः । वज्रैः अयनिभिः । महोघरमिव पर्वतमिव । महासेनः महासेनराजः । महास्त्रैः महापात्रैः । तं सुकेतुम् । शतशर्करं शतखण्डं शतपूर्णं वा । चकार करोति स्म । उपमा ॥७६॥ वीक्ष्येति । छिन्नपक्षं छिन्नो भिन्नः पक्षः पतत्रं यस्य तम् । ताक्ष्यमिव गरुडमिव । रणे संग्रामे । पतितं च्युतम् । तं सुकेतुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । विरोचन इव सूर्य इव । असह्यधामा असह्यं सोढुमशक्य धाम तेजो यस्य स । विरोचनः विरोचनराजः । अधावत् वेगेनागच्छत् । सु गतो लङ् । उपमा ॥७७॥ तमिति । गजाकूटः गजं करिणमाकूटः । पुरुविक्रमः पुरुर्महान् विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । सेनः पद्मनाभपक्षसेनराजः । सेनासमन्वितः सेनया समन्वितं सहितम् । गजस्थं गजाकूटम् । तं विरोचनराजम् । संमुखैः अभिमुखैः । बाणैः शरैः । विमुख

ग्रह सरोखा केतु नामक राजा सभी प्रतिपक्षी लोगोको भयभीत करता हुआ लड़नेके लिए खड़ा हो गया ॥७३॥ जहरीले नागको भाँति केतुका घमण्ड रूपी तीव्र विष बढ़ता जा रहा था, पर भीमने गरुड़की तरह क्रुद्ध होकर विष उतार दिया और उसे निर्जिव-सा कर दिया ॥७४॥ केतुके पराजित हो जानेपर सुकेतु सामने आया, वह रथपर सवार था और उसके द्वारा प्रदर्शित झण्डा हवासे लहरा रहा था ॥७५॥ उसे महासेनने अपने बड़े-बड़े अस्त्रोंसे सो टूक कर डाला । जिस तरह प्रलयकालीन मेघ दुर्वार वज्रोंको बरसाकर पहाडको सो टूक कर देता है—चूर-चूर कर देता है ॥७६॥ कटे पंखोंवाले गरुडकी भाँति उस मुकेतुको रणमें गिरा हुआ देखकर सूर्यकी तरह असह्य तेजको धारण करनेवाला विरोचन बड़े वेगसे सामने आया ॥७७॥ वह हाथीपर सवार था, अतः अत्यन्त पराक्रमी सेन राजाने भी—जिसके साथ सेना भी थी—हाथीपर चढ़कर उसे

१. म दुर्धरप्रलयाम्मोद । २. इ सेनः सेना । ३. अ गुरुविक्रमः । ४. वा 'सक्रुद्धेन' इत्यादि पक्षस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ५. = कुपितेन । ६. = पराजिते । ७. = रथाकूटेन । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'समन्वितः' इत्येव दृश्यते ।

धनुर्महारथेनाथ दुधुवे धैर्यशालिना ।
 स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा ॥५६॥
 नग्नश्रावितनामासौ बद्धभ्रुकुटिभीषणः ।
 वषर्ष शरधाराभिरमि शत्रुपताकिनीम् ॥५७॥
 कासौ भीमरथो यस्य बलेन किल जेष्यति ।
 पद्मनाभो नटत्क्रूरकबन्धामरिवाहिनीम् ॥५८॥
 गर्वगद्गदमित्युक्त्वा चिह्नोद्देशेन संमुखम् ।
 घावन्प्रत्यवतस्थेऽरिः शरैर्भीमरथेन सः ॥५९॥
 चिरमन्तवेहौ तौ शरैरप्राप्तजण्डितैः ।
 युयुचाते महावीरौ विस्मितामरवीक्षितौ ॥६०॥

पराङ्मुखम् । विदधे चक्रे । लिट् ॥७८॥ धनुरिति । अथ विरोचनवैमुख्यानन्तरम् । स्वपक्षव्यसनालोक-
 समुद्दीपितचेतसा स्वस्य आत्मनः पक्षस्य व्यसनस्य आलोकेन^१ वीक्षणोद्दीपितं कोपितं चेतश्चित्तं यस्य तेन ।
 धैर्यशालिना धैर्येण धीरत्वेन शालिना संपन्नेन । महारथेन महारथराजेन । धनुः चाप^२ । दुधुवे दूयते स्म^३ ।
 धृक् कम्पने कर्मणि लिट् ॥७९॥ नग्नेति । नग्नश्रावितनामा नग्नेः स्तुतिपाठकैः श्रावितमाकर्णितं (श्रुति-
 विषयता नीतं) नाम यस्य सः । बद्धभ्रुकुटिभीषणः बद्धया रचितया भ्रुकुट्या भ्रूमङ्गेन भीषणो भयङ्करः ।
 असौ महारथः । शत्रुपताकिनी रपुसेनाम् । अभि अभिमुखम् । शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः
 प्रवाहैः । वषर्षं वर्षति स्म । वृष (पू) सेचने लिट् ॥८०॥ क्वेति । यस्य राज्ञः । बलेन सहायेन । पद्म-
 नाभभूषणः । नटत्क्रूरकबन्धा नटन् नृत्यन् क्रूरो निष्ठुरः कबन्धः शबो यस्यां ताम् । अरिवाहिनीम् अरिः
 शत्रोर्वाहिनी सेनाम् । जेष्यति परिभविष्यति किल । असौ एषः । भीमरथः भीमरथनामा । क्व कुत्र वर्तते ?
 ॥८१॥ गर्बेति । गर्वगद्गदं गर्वेणाहङ्कारेण गद्गदोऽव्यक्तवचनं यस्मिन्कर्मणि तत्^४ । इति एवम् । उक्त्वा
 निगद्य । चिह्नोद्देशेन चिह्नेन लक्षणं उद्देशेन वचनेन । संमुखम् अभिमुखम् । घावन् वेगेनागच्छन् । स ।
 अरिः शत्रुः । भीमरथेन भीमरथराजेन । शरैः बाणैः । प्रत्यवतस्थे निरुध्यते स्म । प्ला^५ गतिनिवृत्तौ कर्मणि

संमुख बाणोंसे विमुख कर दिया ॥७८॥ विरोचनके पराङ्मुख होते ही महारथने—जो धैर्यसे
 विभूषित था और जिसे अपने पक्षपर आये हुए सङ्कटको देखकर क्रोध उत्पन्न हो गया था—
 धनुष उठा लिया, और उसे हिलाना शुरू कर दिया ॥७९॥ लोगोंने उसका नाम स्तुति पाठकों-
 से सुना । भ्रुकुटि टेढ़ी कर लेनेसे वह बड़ा भयङ्कर दिख रहा था । उसने शत्रु सेनापर बाण
 बरसाना प्रारम्भ किया ॥८०॥ 'पद्मनाभ, जिसके बलसे शत्रुओंकी सेनाको—जिसमें धड़ नाच
 रहे हैं—जीतेगा वह भीमरथ कहाँ है ?' ॥८१॥ गर्वसे गद्गद होकर यों कहते ही महारथ
 भीमरथके चिह्नको लक्ष्यकर उसकी ओर दौड़ा, पर भीमरथने अपने बाणोंसे उसे बीच ही
 में रोक दिया ॥८२॥ वे दोनों ही बड़े वीर थे, और ये धनुर्विद्यामें प्रवीण । दोनों एक दूसरेके
 ऊपर बाण बरसा रहे थे, किन्तु बीचमें ही काट दिये जानेसे, वे किसीको भी नहीं लग
 पाते थे । अतः दोनों बहुत देर तक लड़ते रहे, पर घायल नहीं हुए । देव लोग भी उन्हें

१. आ 'विमुक्षान'^१ । २. श व्यसनस्यास्वर्धनपत्तेरालोकेन । ३. = चापः । ४. स दुधुवे दूयते स्म ।
 ५. प्लव् । ६. श स्या ।

ककुप्यन्तविभ्रान्ततद्वाणभयविह्वलम् ।
 नूनं व्योम तदा ह्यासीन्मुक्तमूर्तिपरिग्रहम् ॥८४॥
 वीराभिर्लाघात्सर्पन्ती समीपमुभयोर्मुहुः ।
 गतागतपरिक्लेशं न जयधोरजीगणत् ॥८५॥
 मन्त्रेणैव ततः शत्रोः शङ्कुना मूर्ध्नि ताडितः ।
 मूच्छां भीमरथो भीमभुजंगम इवागमत् ॥८६॥
 क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षेत्रार्धं माध्यादरिः ।
 उत्तस्थौ दशनैस्तावत्स दशम्वशनच्छेदम् ॥८७॥

लिट् ॥८२॥ चिरमिति । अप्राप्तखण्डिते अप्राप्तेरनालम्नं । खण्डितेदिछन्नेः । शरैः बाणैः । चिरं बहुकाल-
 पर्यन्तम् । अस्तदेदौ अस्तौ अबाधितौ देहौ ययोस्तौ । महावीरो महाविक्रान्ती । विस्मितामरबीक्षितौ
 विस्मितादश्चययुक्तेरमरेद्वैर्वीक्षितौ दृष्टौ । तौ महारथभोमरथौ । युयुधाते युयुते स्म । युधि संग्रहारे लिट्
 ॥८३॥ ककुबिति । ककुप्यन्तविभ्रान्ततद्वाणभयविह्वलं वकुभा दशदिशा पर्यन्तेऽवसाने विभ्रान्तैः पतितैस्तयो-
 महारथभोमरथयोर्बाणैः शरैर्जातेन भयेन विह्वलं मूर्च्छितम् । व्योम गगनम् । तदाद्या [तदा हि] ततः
 प्रमृति । मुक्तबेहपरिग्रहं मुक्तस्थक्तो देहस्य शरीरस्य परिग्रहो^१ यस्य^२ तत् । आसीत् अभूत् । लङ् । नूनं
 निश्चयोऽयम् । अनुमितिः^३ ॥८४॥ वीरेति । वीराभिलाषात् वीरस्य शूरस्याभिलाषाद् बाणक्षयाः सकाशात् ।
 उभयोः महारथभोमरथयोः । समीपम् अन्तिकम् । मुहु^४ पश्चात् । सर्पन्ती गच्छन्ती । जयधोः जयलक्ष्मीः ।
 गतागतपरिक्लेशं गतागताभ्यां गमनागमनाभ्यां जातं परिक्लेशं श्रमम् । नाजीगणत्^५ संख्यां न करोति स्म ।
 गण संख्याने लुङ् ॥८५॥ मन्त्रेणेति । ततः पश्चात् । मन्त्रेणैव मन्त्रप्रयोगेणैव । शत्रो रिनो^६ । शङ्कुना
 शङ्कुनामायुधेन । मूर्ध्नि मस्तके । ताडितः^७ प्रहारितः । भोमरथः भोमरथराजः । भोमभुजङ्गम इव भीमो
 मयङ्कुरः स चासी भुजङ्गमवच सर्वश्व तथोक्तं स इव । मूच्छां^८ विह्वलं । अगमत् अगच्छत् । लुङ् । उपमा
 ॥८६॥ क्षणमिति । अरिः महारथः । क्षात्रधर्माश्रयात् क्षात्रस्य^९ क्षत्रसंबन्धस्य धर्मस्य स्वभावस्याश्रयादाश्र-
 यणात् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । क्षणं स्वकल्पकालपर्यन्तम् । प्रतीक्षते^{१०} विलोकते । [तावत्] तावदेव ।
 दशनैः दन्तैः । दशनैश्छेदम् ओष्ठम् । दशनं पीडयन् । सः भोमरथः । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म । लिट् ।

आश्चर्यसे देख रहे थे ॥८३॥ इसके पश्चात् दोनोका युद्ध और भी उग्र हो गया । दोनोके
 बाण दिशाओंके अन्त तक पहुँचने लगे, जिससे उस समय आकाश भी भयभीत हो गया ।
 मानो इसीलिए उसने मूर्तिका परिग्रह छोड़ दिया—आमूर्तिक हो गया ॥८४॥ दोनोकी
 बराबरीकी जोड़ी थी, अतः कभी एक की विजय होती थी तो कभी दूसरेकी । दोनोमें जो
 भी वीर निकलेगा, उसे पानेकी अभिलाषासे विजयलक्ष्मी बार-बार दोनोके पास आ-जा
 रही थी उसने जाने-आनेके बहुत भारी क्लेशकी कोई पर्वाह नहीं की । वीरवरके वरणकी
 कामना जो थी ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रसे कीलित सर्प, चाहे कितना ही भयङ्कर क्यों न हो,
 मूर्च्छित हो जाता है । इसी प्रकार महारथके बाणकी नोक सिरमे धँस जानेसे भोमरथ—जो
 जहरीले काले नागकी भाँति भयङ्कर था—मूर्च्छित हो गया ॥८६॥ भोमरथके बेहोश हो जाने-
 पर महारथने क्षत्रिय धर्मका पालन करनेके लिए प्रहार बन्द कर दिया, और थोड़ी देर तक

१. अ वीरोऽभि २. आ इ क्षात्रधर्मा ३. आ भवानि परिग्रहो; श भवः परिग्रहो ४. = येन ।

५. = उत्प्रेक्षा । ६. = पुनः पुनः । ७. = न गणयामास । ८. = ताडनं प्रापितः । ९. = विह्वलताम् ।

१०. = क्षत्रसंबन्धिनः । ११. प्रतिपालयति ।

क्रोधस्तद्वेगः पूर्वमनाकसुप्त इव स्थितः ।
 गाढारातिप्रहारेण स प्रबुद्धः^१ क्षणावभूत् ॥८८॥
 स रोषाद्विगुणोत्साहो दन्तिना प्रेर्य दन्तिनम् ।
 प्रतीच्छन्मुरसूनीघं^२ जीवप्राहं तमग्रहीत् ॥८९॥
 ततः पितुर्ग्रहामर्षा^३ त्समुत्तेजितसारथिः ।
 रथी सूर्यरथोऽघावद्दीरघ्वनि धुनन्धनुः^४ ॥९०॥
 समापतन्तमालोक्ष्य पितुः श्रान्तस्य संमुखम् ।
 महीरथस्तमाह्लास्त दत्त्वा स्वरथमन्तरा ॥९१॥
 प्रहृत्य च चिरं चक्रव्याकरुचामीकरच्छ्रवी ।
 निचखान तदीयोरः स्थलस्थाले^५ शिलीमुखम् ॥९२॥

समाहितः ॥८७॥ ॥ क्रोध इति । तदङ्गे तस्य भीमरथस्याङ्गे शरीरे । पूर्वं प्राक् । मनाक् ईषत् । सुप्त इव ।
 स्थितः आसित । यः क्रोधः कोपः^१ ॥ गाढारातिप्रहारेण गाडेन दूढेनारातिः शनोः प्रहारेण ताडनेन ।
 सः क्रोधः । क्षणात् शोघ्रात् । प्रबुद्धः^२ जागरितः । अभूत् । लुङ् ॥८८॥ स इति । रोषाद्विगुणोत्साहः
 रोषेण कोपेन द्विगुणो^३ द्विगुणयुक्त उत्साहो वीररसो यस्य सः । सः भीमरथः । दन्तिना गजेन । दन्तिनं
 गजम् । प्रेर्य प्रेरयित्वा । मुरसूनीघं मुरदेवैः कृतं सूनीघं पुष्पवृष्टिम् । प्रतीक्षन् अङ्गीकुर्वन् । तं महारथम् ।
 जीवप्राहं^४ गृहीतपुरुषम् । अपहीत्^५ । ग्रहं^६ उपादाने लुङ् । कृत्वा ग्रहोऽकृतजोवात् इति णम्-प्रत्ययः ॥८९॥
 तत इति । ततः पश्चात् । पितुः जनकस्य । ग्रहामर्षात् ग्रहाद् ग्रहणाज्जाताद् अमर्षात् कोपात् । समुत्तेजित-
 सारथिः^७ समुत्तेजितः प्रेरितः सारथिः सूतो येन स । रथी^८ रथयुक्तः । सूर्यरथः^९ सूर्यस्य रथनामा
 महारथयुक् । धीरघ्वनि धीरो गम्भीरो घ्वनिर्यथा तथा । धनुः चापम् । धुनन् कम्पयन् । अघावत्
 शोघ्रमगच्छत् । जातिः ॥९०॥ समेति^{१०} । श्रान्तस्य आयासं गतस्य । पितुः जनकस्य । संमुखम् अभि-
 मुखम् । समापतन्तम् आगच्छन्तम् । तं सूर्यरथम् । ॥ समालोक्ष्य [आलोक्ष्य^{११}] लोक्ष्य । महीरथः
 महीरथराजः । स्वरथं निजस्यन्दनम् । अन्तरा भीमरथसूर्यरथयोर्मध्ये । दत्त्वा नीत्वा^{१२} ॥ आह्लास्त
 आह्लासति स्म । ह्वेङ् (झ) स्पष्टायां लङ्^{१३} ॥९१॥ प्रहृत्येति चिरं बहुवेलापर्यन्तम् । प्रहृत्य युद्धं कृत्वा ।

उसकी प्रतीक्षा करता रहा । इतनेमें हो वह होठ चबाता हुआ उठ बैठा ॥८७॥ उसके शरीरमें
 जो क्रोध पहले सोया हुआ-सा पड़ा था, वह शत्रुके तीव्र प्रहारसे शोघ्र ही जाग उठा ॥८८॥
 क्रोधके कारण भीमरथका उत्साह दूना हो गया । फिर उसने अपने हाथोंसे महारथके हाथोंको
 पीछे हटवा दिया । यह देखकर देवोंने पुष्पवृष्टि की । बस, फिर क्या था, उसने पुष्पवृष्टि स्वीकार
 करते हुए महारथको जीतेजी ही पकड़ लिया ॥८९॥ इसके बाद पिताके पकड़े जानेपर सूर्य
 रथने—जो रथपर सवार था—अपने सारथीको रथ हाँकनेकी आज्ञा दी, और धनुषकी ध्वनि
 करता हुआ, बड़े वेगसे आगे बढ़ा ॥९०॥ अपने पिताको पस्त देखकर सूर्यरथ उसकी सहायता-
 के लिए चला जा रहा था, पर उसके रास्तेमें रथ खड़ा करके महीरथने उसे अपने साथ युद्ध
 करनेके लिए ललकारा ॥९१॥ बहुत देर तक प्रहार करके महीरथने सूर्यरथके चमचमाते हुए

१. इ संप्रबुद्धः । २. म मुरसेनीघं । ३. आ इ पितुर्ग्रहामर्षात् । ४. म घ्नन्धनुः । ५. क ख ग घ म
 समायातं समा^१ । ६. अ स्थलस्थाने । ७. आ प्रती स्वस्तिकान्तर्गता व्याख्या नास्ति । ८. = शोघ्रम् । ९. =
 उद्बुद्धः । १०. = द्विगुणितः । ११. = जीवितमेव । १२. जप्राह । १३. श गृहि । १४. श 'समुत्तेजित-
 सारथिः' इति नास्ति । १५. = रथाङ्ग इत्यर्थः । १६. = सूर्यरथनामा । १७. क समिति । १८. =
 विलोप्य । १९. आ स्वस्तिकान्तर्गता व्याख्या नोपलभ्यते । २०. श 'ह्वेङ् स्पष्टायां' इति नास्ति केवलं
 'लुङ्' इत्यस्ति ननु लङ् ।

सप्रहारं तमादाय सारथिर्वचले बले ।
 सुरमुक्तानि^१ पुष्पाणि पेतुर्माहीरये रथे ॥९३॥
 ततः कलकलारावबधिरोकृतदिङ्मुखम् ।
 हृदौके धर्मपालेन पृथिवीपालस्तनुना ॥९४॥
 वपुः कोपारुणं बिभ्रद्भृतदिव्यशरासनः ।
 सवर्षश्शरधाराभिर्घनः सांध्य इवाबभौ ॥९५॥
 संभूयामिमुखीभूतं बलिनस्तस्य राजकम् ।
 शरवर्षैर्घनस्येव संस्रुकोच गवां कुलम् ॥९६॥

वञ्चञ्चामीकरच्छवी वञ्चतो देदीप्यमानस्य चारोर्मनोहरस्य चामीकरस्येव सुवर्णस्येव छविः कान्तियस्य तस्मिन् । तदीयोरःस्थलस्थाले तदीयस्य^२ सूर्यरथसंबन्धस्य उरसो वक्षस स्थलमेव प्रदेश एव स्थालं भाजनं तस्मिन् । शिलीमुखं बाणम् । निवृत्तान् विक्षेप । खन्ञ् अवधारणे^३ लिट् । रूपकम् ॥९२॥ सेति । सारथिः क्षत्ता । सप्रहारं क्षतेन युक्तम् । तं सूर्यरथम् । आदाय उद्धृत्य । बले सेनायाम् । बावले (बवले) पुनरागमम् । बलि संवरणे लिट् । सुरमुक्तानि मुरैर्देवैर्मुक्तानि वषितानि^४ पुष्पाणि कुमुदानि । माहीरये^५ महीरथसंबन्धे । रथे स्थन्दने । पेतुः पतन्ति स्म । पन्तु गतौ लिट् ॥९३॥ तत इति । ततः पश्चात् । पृथिवीपालस्तनुना पृथिवीपालस्य स्तनुना कुमारेण । धर्मपालेन धर्मपालनामयुतेन । कलकलारावबधिरोकृतदिङ्मुखं कलकलेन कलकलरूपेण आरावेण शब्देन बधिरोकृतमेडोकृतं दिशा मुखं यस्मिन् कर्मणि तत् । हृदौके रूपे । हृदौ गतौ कर्मणि लिट् । जातिः ॥९४॥ वपुरिति । कोपारुणं कोपेन रोषेणारुणं लोहितवर्णयुतम् । वपुः शरीरम् । बिभ्रत् धरन् । वृत्तदिव्यशरासनः घृतं दिव्यं दिव्यरूपं शरासनं घनयुतम् । सः धर्मपालः । शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः पङ्क्तिभिः, जलधाराभिश्च । 'शरं वनं घनं तोयं नीरं जीवनमम्बिषम्' इति वपन्तुं शेषयन् । सान्ध्यः सन्ध्याया भवः । घन इव मेघ इव । आबभौ भातिस्म । भा दीप्तौ लिट् । उपमा^६ ॥९५॥ संभूयेति । घनस्य मेघस्य । शराणां जलानाम् । वर्षैः । गवां घेनूनाम् । कुलं यूपमिव । बलिनः पराक्रम-युतस्य । तस्य धर्मपालस्य । शरवर्षैः शराणां बाणानां वर्षैः । संभूय मिलित्वा । अभिमुखीभूतं संमुखमायातम् ।

स्वर्णके समान कान्ति धारण करनेवाले वक्षस्थलरूपी थालमें एक बाण ठोक दिया ॥९२॥ धायल हुए सूर्यरथको लेकर सारथी उसकी सेनामे चला गया, और इधर महीरथके रथपर देवीने पुष्प वृष्टि की ॥९३॥ इसके उपरान्त 'कल-कल' शब्दसे सारी दिशाओंको बहरा बनाता हुआ, पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल सामने आया ॥९४॥ जिस प्रकार इन्द्रधनुषको धारण करनेवाला संध्याकालीन लाल मेघ जल बरसाकर सुशोभित होता है । उसी प्रकार क्रोधके कारण लाल शरीर वाला, सुन्दर धनुषको धारण करनेवाला और बाणोंकी बरसा करने-वाला धर्मपाल सुशोभित हो रहा था ॥९५॥ राजाओंका सङ्घटित वर्ग बलवान् धर्मपालका मुकाबला करनेके लिए सामने आया, किन्तु उसकी बाण वर्षाके सामने टिक न सका, चुपकेसे भाग गया । जैसे मेघसे जल गिरनेपर गाओंका झुण्ड सिकुड़कर इधर-उधर भाग जाता

१. अ. सरमुक्तानि । २. = तत्संबन्धिनः । ३. आ अवधारणे । ४. = वृष्टानि । श 'वषितानि' इति पदं नास्ति । ५. = महीरथसंबन्धिनः । ६. 'शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनमम्बिषम्' इति घनञ्जयः । ७. = विकिरन्, पक्षे सिञ्चन् । ८. = उत्प्रेक्षा ।

कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा सामन्तकुलमाकुलम् ।
 सुवर्णनाभोऽभिमुखो बभूव रिपुघस्मरः ॥९७॥
 तं बाह्वितर्यं वीक्ष्य धर्मपालो ज्वलन्क्रुधा ।
 विव्याधेति वचोबाणरधिक्षेपविषोसितैः ॥९८॥
 अपसर्प प्रयाहीतः किं पुरो घृष्ट तिष्ठसि ।
 भवद्विधे न मद्बाहुः प्रहर्तुमयमिच्छति ॥९९॥
 नूनमिच्छति नो जेतुं भवतैव भवतिपता ।
 त्वन्मतेनाम्यथा कस्मात्करोत्यस्मविप्रहम् ॥१००॥
 कस्त्वं भीमरथः को वा कियन्मात्रः स ते पिता ।
 संभूय मेऽग्रतः सर्वे यदि शक्नुयः तिष्ठथ ॥१०१॥

राजकं राजा समूहः । संभुकोच एवमिति स्म । कुच संकोचने लिट् । वक्षोपमा ॥९६॥ कृत्स्नमिति । आयासितं संघातप्रयासम् । 'सञ्ज्ञातं तारकादिभ्य इतः' इति इत-प्रत्ययः । आकुलं व्याकुलत्वयुतम् । कृत्स्नं सकलम् । सामन्तकुलं सामन्तानां राजां कुलं निवहम् । दृष्ट्वा विलोक्य । रिपुघस्मरः रिपूणां घस्मरो विनाशकः । 'अक्षको घस्मरोऽघरः' इति । तस्य । सुवर्णनाभो युवराजः । अभिमुखो बभूव संमुखो भवति स्म । प्रागनभिमुख इदानीमभिमुखो बभूवेति तथोक्तः ॥९७॥ तमिति । क्रुधा कोपेन । ज्वलन् प्रज्वलन् । धर्मपालः पृथिवीपाल-पुत्रः । बाह्वितर्यं बाह्वितं आरुढो रथो येन तम् । सुवर्णनामम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । अधिक्षेपविषोसितैः अधिक्षेप एव सिरस्कार एव विषं तेन उक्षितैः संसिक्तैः । वचोबाणवंचांस्त्येव बाणास्तैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । विव्याध विध्यते स्म । व्यधोद् भयचलनयोः (व्यध ताडने) लिट् ॥९८॥ अपेति । घृष्टं भो घृष्ट ! अपसर्प अपसर । इत एतस्मात्प्रवेशान् । प्रयाहि गच्छ । या प्रापणे लट् । पुरः अग्रे । किं किं निमित्तम् । तिष्ठसि बतसे । अयम् एव । मद्बाहुः मम बाहुर्भुजः । भवद्विधे भवतस्तव विधे सद्विधे । प्रहर्तुं प्रहरणाय । नेच्छति न वाञ्छति । इप् इच्छाया लट् । 'यस्यमिषोस्तिष्ठः' इति च्छादेशः ॥९९॥ नूनमिति । भवतैव त्वयैव । भवतिपता भवतस्तव पिता जनकः । नः अस्मान् । जेतुं जयनाय । इच्छति वाञ्छति । नूनं निश्चयम् । अन्यथा नो चेत् । अममविग्रहम् असमेन समान (ता) रहितेन, बलिनेत्यर्थः । विग्रहं संग्रामम् । त्वन्मतेन त्वानुमतेन । कस्मात् कारणात् । करोति विदधाति । लट् । अनुमितिः ॥१००॥ क इति । त्वं भवान् । कः कियान् । भीमरथ को वा कियान् । सः । ते तव । पिता जनकः । कियन्मात्रः कियत्प्रमाणः । यदि शक्नुयः समर्था भवन्ति चेत् । सर्वे यूयम् । संभूय मिलित्वा । मे मम । अग्रतः अग्रे । तिष्ठथ^१ आश्वम्^३ ।

है ॥९६॥ समस्त सामन्तोका समूह थक कर चूर हो गया और घबरा गया, यह देखकर शत्रुओंका सहार करनेवाला सुवर्णनाभ सामने आया ॥९७॥ अपने रथको आगे बढ़वाने-वाले सुवर्णनाभको देखकर धर्मपाल क्रोधसे जल उठा, और आक्षेपके विषसे सिञ्चित वचन-बाणोंसे उसे वीधनेको उद्यत हो गया—॥९८॥ अरे ढोठ ! जा, यहाँसे भाग, सामने क्यों खड़ा हुआ है ? मेरा बाहु तुझ सरीखे (क्षुद्र) व्यक्तिपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥९९॥ जान पड़ता है तेरा बाप पद्मनाभ तेरे बूतेपर ही हमें जीतना चाहता है । अन्यथा वह तेरी सलाहसे अपनेसे बड़ोंके साथ युद्ध क्यों करता ? ॥१००॥ मेरे सामने तू कौन होता है ? भीमरथ कौन होता है ? और वह तेरा बाप भी मेरे आगे क्या है ? यदि तुम

१. = आन्तमित्यर्थः । २. आ इतच् । ३. = प्रापितः । ४. आ सिक्तः । ५. आ व्यधिच् । ६. 'घृष्ट-स्तु बियातो घृष्णघृष्णजौ' अभिधानः । ७. = लोट् । ८. = निश्चितम् । ९. स अनुत्येनेत्यर्थः । १०. = त्वानुमत्या । ११. आ भवतश्चेति । १२. आ श तिष्ठत । १३. स 'आश्वम्' इति नास्ति ।

नीचोचितां समाकर्ण्य तदीयामिति भारतीम् ।
 जगाद युवराष्ट्रित्यं धनुष्यामासृ शन्मुहुः ॥१०२॥
 किमेभिरधमालापैर्मातुश्चापलसूचनैः ।
 अस्ति कोऽप्यभिमानश्चेद्दौकस्वालं विलम्बनैः ॥१०३॥
 गवितुं युज्यतेऽस्माकं न भवद्भाषितं वचः ।
 तुल्ययन्ति महान्तो हि नात्मानमधमैः समम् ॥१०४॥
 स्वैरेव दुर्नयैः पापाः पच्यन्ते येन दुर्जनाः ।
 विभाषमाणान्सुजनस्तेन तानवमन्यते ॥१०५॥
 इत्यालापैर्युवैशस्य मानवानपमानितः ।
 अलक्ष्यमोक्षसंधानान् स रोषादमुचच्छ्वरान् ॥१०६॥

आक्षेपः ॥१०१॥ नीचेति । नीचोचिता नीचस्य निकृष्टस्योचिता विहिताम् । तदीयां^१ धर्मपालसंबन्धाम् ।
 इति एवम् । भारतीं वचनम् । समाकर्ण्य श्रुत्वा । धनुष्यां धनुषश्चापस्य उया मोर्वीम् । आसृशन् अक्षारं
 कुर्वन् । युवराट् सुवर्णनाभः । मुहुः पक्वत् । जगाद अजवोत् । गद व्यक्ताया वाचि लिट् ॥१०२॥ किमिति ।
 मातुः जनन्याः । चापलसूचनं चापलस्य बद्धचलस्य सूचनं दर्शयमानैः^२ । एभिः एतैः । अधमानापैः अधमै-
 निष्कृष्टराक्षसैर्वचनैः । किं किं प्रयोजनम् । कोऽपि करिबदपि । अभिमानं गर्वः । अस्ति चेत् वतंते चेत् ।
 दौकस्व आगच्छ । लोट् । विलम्बनैः कालक्षेपैः । अलं पर्याप्तम् ॥१०३॥ गदितुमिति । भवद्भाषितं
 भवता स्वया भाषितमुक्तम् । वचः वचनम् । अस्माकम् । गदितुं वक्तुम् । न युज्यते न प्रयुज्यते । महान्तः
 महापुरुषाः । अधमैः नीचैः । समं सङ्गं । आत्मानं स्वम् । न तुल्ययन्ति^३ नोपमयन्ति । तुलाङ्ग इति सुध्यातुः ।
 अर्थात्तरन्यासः ॥१०४॥ स्वैरिति । येन कारणेन । पापा^४ धूर्ताः । दुर्जनाः खलाः । स्वैः स्वकीयैः । दुर्नयैः
 दुर्नीतिभिरैव । पच्यन्ते दहन्ते । दुपचीष् पाके कर्मणि लट् । तेन कारणेन । विभाषमाणान् विरुद्ध जल्पतः ।
 तान् दुर्जनान् । सुजनः सत्पुरुषः । अवमन्यते^५ उदासीनं करोति । १०५॥ इतीति । युवैशस्य सुवर्णनाभस्य ।
 इति एवं प्रकारैः । आलापैः वचनैः । अपमानितः^६ भङ्गितः । मानवान् अभिमानवान् । स धर्मपालः ।
 अलक्ष्यमोक्षसंधानान् अलक्ष्ये लक्षयितुमयोग्यं मोक्षो मोक्षनं संधानं स्वीकरणं च येषां तान्^७ । श्वरान् बाणान् ।

सब मिलकर के भी मेरे आगे टिक सकते हो तो ठहरो (अभी मजा चखाते हैं) ॥१०१॥ नीच
 पुरुषके योग्य उसके इन वचनोंको सुनकर युवराज सुवर्णनाभ अपने धनुषकी डोरीका बार-बार
 स्पर्श करता हुआ यों बोला—॥१०२॥ मा की चपलताको मूचित करनेवाले इन नीच मनुष्योंके
 योग्य वचनोंसे क्या लाभ ? यदि शक्तिका अभिमान है तो आओ, अब विलम्ब न करो ॥१०३॥
 आपने जो वचन कहे हैं, वे हमारे कहने योग्य नहीं हैं । क्योंकि महान् पुरुष अपनेको नीचों-
 जैसा नहीं बनाना चाहते ॥१०४॥ चूँकि पापी दुर्जन लाभ अपनी ही दुर्नीतिसे जला करते हैं,
 इसलिए यद्वा तद्वा बोलनेवाले उन लोगोंकी सज्जन लाभ उपेक्षा कर दिया करते हैं ॥१०५॥
 युवराज सुवर्णनाभके इन वचनोंसे अपमानित होकर अहंकारी धर्मपालने रोषपूर्वक दनादन
 बाण मारना शुरू कर दिया । वह इतनी शीघ्रतासे बाण बरसा रहा था, कि दर्शकोंको उनके

१ आ इ क ख ग घ ङ भागुण् । २ अ सह । ३ इ वमन्यते । ४ = धर्मपालसंबन्धिनीम् ।
 ५ आ भागुण् । ६ = चपलतायाः । ७ वा दर्शमानैः । ८ स लेट् । ९ वा 'सह' इति नास्ति । १० = न
 समीकुर्वन्ति । ११ = पापिनः । १२ = अवजानाति समुपेक्षते वा । १३ = अवशतः । १४ वा त एषां
 शान् ।

अर्धमार्गगतामेव तदीयामिषुसंहतिम् ।
 सोऽप्यच्छिन्नदक्षिच्छिन्ने रोपे रोपितकामुक्कः ॥१०७॥
 शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तैः प्रासपरिक्षये ।
 कुन्तक्षयेऽसिभिर्वीरो तावकम्पौ प्रजहृतः ॥१०८॥
 द्वावप्यतुलसामर्थ्यौ द्वावप्यस्त्रकृतभ्रमी ।
 न जानीमो जयः क्वेति समशेत बलद्वयम् ॥१०९॥
 चिरयुद्धपरिभ्रान्तः प्रहृत्य स ततोऽसिना ।
 दध्रे सुवर्णनाभेन पृथिवीपालनन्दनः^१ ॥११०॥
 बन्दिमिः स्तूयमानस्तं बन्दीकृत्य^२ सुदुर्जयम् ।
 हर्षास्त्रावि^३लनेत्रस्य निनाय पितुरन्तिकम् ॥१११॥

रोपात् कोपात् । अमुचत् अमुञ्चत् । मुञ्चुञ् मोक्षणे लुङ् ॥१०६॥ अर्थेति । रोपितकामुक्कः रोपितमारोपितं कामुक्कं^१ चापं येन सः । सोऽपि सुवर्णनाभोऽपि । अर्धमार्गगताम् अर्धमार्गमायातमेव । तदीया धर्मपालसंबन्धिनीम् । इषुसंहतिम् इषूणां बाणानां संहति सन्दोहम् । अविच्छिन्नैः निरन्तरैः । रोपे बाणैः । अच्छिन्नत् अखण्डयत् । छिद्नुं विदारणे लङ् ॥१०७॥ शिलीमुखेति । अकम्पौ बलनरहितौ । तौ युवराजधर्मपालौ । वीरो वीरौ । शिलीमुखक्षये शिलीमुखानां बाणानां क्षये नाशे सति । प्रासैः यष्टपायुधैः । प्रासपरिक्षये सति प्रासानां परिक्षये सति । कुन्तैः कोणैः । कुन्तक्षये सति कुन्तानां क्षये नाशे सति । असिमिः खड्गैः । प्रजहृतुः युयुधाते । हृज् हरणे लिट् ॥१०८॥ द्वाविति । द्वावपि युवराजधर्मपालद्वयम् । अतुलसामर्थ्यौ अतुलमुपमारहितं सामर्थ्यं ययोस्तौ । द्वावपि उभावपि । अस्त्रकृतभ्रमी अस्त्रेषु आयुधेषु कृतो बहिरः श्रमोऽभ्यासो ययोः^४ तौ । जय विजयः । क्वेति कस्मिन्निति । न जानीम न बुद्धयामहे । ना अबोधने लट् । बलद्वयं सैन्यद्वयम् । समशेत अशङ्कतं । शीङ् स्वप्ने लङ् । सशयः ॥१०९॥ चिरेति । ततः पश्चात् । चिरयुद्धपरिभ्रान्तः चिरं बहुसमयपर्यन्तं युद्धे संग्रामे^५ परिभ्रान्त आयस्तः । सः पृथिवीपालनन्दनः धर्मपालः । असिना खड्गेन । प्रहृत्य प्रहरणं कृत्वा । सुवर्णनाभेन युवराजेन । दध्रे बिभ्रे^६ । धृज् धरणे कर्मणि लट् ॥११०॥ बन्दिमिरिति । बन्दिमिः स्तुतिपाठकैः । स्तूयमानः प्रशस्यमानः । सुदुर्जयं जेतुमशक्यम् । तं धर्मपालम् । बन्दीकृत्य^७ बन्धनं^८ विधाय । हर्षास्त्राविलनेत्रस्य हर्षादानन्दाज्जातास्त्रेण बाणोदकेन^९ आबिले^{१०} आद्रिते नेत्रे नयने यस्य तस्य । पितुः पत्न्यामगम्य । अन्तिकं समीपम् । निनाय नयति स्म । नोङ् (णीज्) प्रापणे लिट् । जातिः ॥१११॥

छोड़ने और रखनेका कुछ पता ही नहीं पड़ रहा था ॥१०६॥ सुवर्णनाभने भी धनुष चढ़ा लिया और लगातार बाणोंकी बरसा करके धर्मपालके बाणोंकी परम्पराको बीचमें ही काट डाला ॥१०७॥ बाणोंके समाप्त होनेपर प्रासोंसे, और प्रासोंके समाप्त होनेपर भालोंसे, और भालोंके भी समाप्त हो जानेपर तलबारोंसे, वे दोनों वीर निर्भय होकर एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥१०८॥ 'दोनों' अनुपम सामर्थ्यों युक्त हैं, और दोनोंने ही अस्त्रविद्यामे परिश्रम किया है । अतः न जाने दोनोंमें कौन जीतेगा, ? इस प्रकार दोनों ही सेनाएँ सन्देहमें पड़ गयीं ॥१०९॥ बहुत देर तक युद्ध करनेसे पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल थक गया, तब उसने तलवारका वार किया, पर उससे बचकर सुवर्णनाभने धर्मपालको पकड़ लिया ॥११०॥ अजेय धर्मपालको बन्दी बनाकर सुवर्णनाभ, जिसको स्तुति स्तुति पाठककर रहे थे, अपने पिताके पास ले गये । पुत्रकी

१. म सावकम्पौ । २. अ^१पालस्य नन्दनः । ३. आ इ बन्धीकृत्य । ४. अ हर्षास्त्रावि^३ । ५. = चापः । ६. = बाण्योः । ७. आ आशङ्कत, अ अशङ्कतं । ८. = युद्धेन संग्रामेण । ९. अ सुवर्णराजेन । १०. = बभ्रे । ११. अ बन्धीकृत्य । १२. = बन्दिनं । १३. आ हर्षोदकेन । १४. अ 'आबिले' इति नास्ति ।

परंतपस्तडिद्वक्त्रं चित्राङ्गः सिंहविक्रमम् ।
 विजिग्ये वरुणं कण्ठश्चन्द्रकीर्तिं सुकुण्डलः^१ ॥११२॥
 अन्येऽपि रिपुपक्षस्था राजानो ये डुडौकिरे ।
 ते पद्मनाभसामन्तैः कृता भग्नमनोरथाः ॥११३॥
 अत्रान्तरे क्रुधाधावत्स्वयमेव महाबलः ।
 पृथिवीपालभूपालः करालीकृतलोचनः ॥११४॥
 तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय मन्त्रिणः ।
 पद्मनाभमिति स्थित्वा कर्णमूले व्यजिज्ञपन् ॥११५॥
 देव कोऽप्ययमत्यन्तममानुषबलः खलः ।
 भूयते^२ पृथिवीपालः समस्तकपटालयः ॥११६॥

परमिति । परतपः^३ राजा । तडिद्वक्त्रं^४ तडिद्वक्त्रराजम् । चित्राङ्गः चित्राङ्गनामा राजा । सिंहविक्रमनामानम् । कण्ठः कण्ठसंज्ञः । चन्द्रकीर्तिं चन्द्रकीर्तिनामानम् । सुकुण्डल सुकुण्डलारूपः । विजिग्ये जयति स्म । वि षि अभिमनवे लिट् । 'जे लिट् सनि' इति कवगादिश । यथासंख्यालङ्कारः ॥११२॥ अन्य इति । रिपुपक्षस्थाः रिपोः शत्रोः पक्षस्थाः सहाये तिष्ठन्तः । अन्येऽपि शेषा अपि ये केचित् । राजानः भूपाः । डुडौकिरे^५ युयुकिरे । लिट् । ते सर्वे । पद्मनाभसामन्तैः पद्मनाभपक्षस्थभूर्धैः । भग्नमनोरथा भग्नोऽवमदितो मनोरथो जयामिलावो येषां ते । कृता, विहिताः ॥११३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अत्रावसरे । महाबल, मद्बलं शौर्यं यस्य सः । करालीकृतलोचनः करालीकृते भयकर विहितं^६ लोचने नयने यस्य सः । पृथिवीपालभूपालः पृथिवीपालभूपः । स्वयमेव असहाय एव । क्रुधा कोपेन । अधावत्^७ शीघ्रमगच्छत् । जातिः ॥११४॥ तमिति । मन्त्रिणः सचिवाः । असाधारणैः असामान्यैः । चिह्नैः पताकादिचिह्नैः । तं पृथिवीपालम् । प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय^८ । कर्णमूले तस्य श्रोत्रसमीपे । स्थित्वा आसित्वा । पद्मनाभं^९ पद्मनाभभूपतिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपन् विज्ञापयन्ति स्म^{१०} ॥११५॥ देवेति । देव भो स्वामिन् । अन्यन्तम् अधिकम् । अमानुषबलः अमानुष^{११} देवसंबन्धं बलं सामर्थ्यं यस्य सः । खलः धूर्तः । कोपा कोपवान् । अवम् एषः । समस्तकपटालयः समस्ताना सर्वेषां कपटानां व्याजानामालयो निलय इति । पृथिवीपालः पृथिवीपालनृपः ।

विजयसे उस समय उसकी आँखोंसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । ॥१११॥ परतपने तडिद्वक्त्रको, चित्राङ्गदने सिंहविक्रमको, कण्ठने वरुणको और सुकुण्डल राजाने राजा-चन्द्रकीर्तिको जीत लिया ॥११२॥ शत्रुपक्षके और भी जो राजे लड़नेके लिए सामने आये, पद्मनाभके सामन्तोंने उनकी आशाओपर पानी फेर दिया—उन्हे पराजित कर दिया और उनके मनोरथको भग्न कर दिया ॥११३॥ इस अवसरपर महाबली पृथिवीपाल स्वयं लड़नेके लिए दौड़ता हुआ आया । उसकी आँखें क्रोधके कारण बड़ी भयंकर दिख रही थी ॥११४॥ असाधारण चिह्नोंसे उसे पहचानकर—मन्त्रियोंने पद्मनाभके निकट जाकर उसके कानमें यों निवेदन किया—॥११५॥ हे राजन् ! यह पृथिवीपाल बड़ा क्रोधी है, अत्यधिक देवबलसे सम्पन्न है, धूर्त है और सभी प्रकारके

१. अ कन्तुपक्ष^१ । २. क ख ग घ सकुण्डलः । ३. क ख ग घ म स्तूपते । ४. = परंतपनामा ।

५. टीकाकृता पूर्वं 'तडिद्वक्त्रं' उतः 'परंतप' पदं व्याख्यातम् । ६. = संयुगे समयाया । ७. = भयंकरे विहिते । ८. = स्वरितसमायातः । ९. आ विज्ञाय इति नास्ति । १०. आ 'पद्मनाभं' इति नास्ति । ११. वा तस्य व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म । १२. = दिव्यं ।

तदस्मिन्नप्रमत्तेन प्रहर्तुं स्वयमुत्थिते ।
 योद्धव्यं स्वामिना नायमवज्ञाविषयो रिपुः ॥११७॥
 इति मन्त्रिगिरं कृत्वा हृदये दयितामिव ।
 बभूव संमुखं शत्रोः सज्जीकृतशरासनं ॥११८॥
 पादरक्षसमूहेन परिवारितकुञ्जरो ।
 तावभीयतुरन्योन्यमनन्यसमविक्रमो ॥११९॥
 उभावुभयमायोद्धुं निषिध्य बलमुद्यतम् ।
 द्वादिंशकाकिनावेव प्रारम्भात् महाहवम् ॥१२०॥
 शिलीमुखशतैश्चुम्भास्तयोस्तिर्यग्विवसर्पिभिः ।
 अहस्यन्त दिगाभोगाः पतदुल्कोत्करा इव ॥१२१॥

भूयते आकम्प्यते । श्रु अवगणे कर्मणि लिट् । जातिः ॥११६॥ तदिति । तदस्मिन् तदेतस्मिन् पृषिवीपाले । प्रहर्तुं प्रहरणाय । स्वयं स्वस्मिन् । उपस्थिते आयाते सति । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । स्वामिना स्वया । योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यम् । अयम् एवः । रिपुः शत्रुः । अवज्ञाविषयः अवज्ञायाम् उदासीनस्य विषयो गोचरः । न भवति ॥११७॥ इतीति । इति एवम् । मन्त्रिगिरं मन्त्रिणां सचिवानां गिरं वाणीम् । दयितामिव वनितामिव । हृदये चित्ते । कृत्वा विधाय । सज्जीकृतशरासनः सज्जीकृतं सनद्धीकृतं शरासनं चापं येन सः । शत्रोः रिपोः । संमुखः अभिमुखः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥११८॥ पादिति । पादरक्षसमूहेन पादानां गजपादानां रक्षाणां रक्षकाणां भटानां समूहेन निकरेण । परिवारितकुञ्जरो परिवारितो परिवृतो गजो ययोस्ती । अनन्यसमविक्रमः अनन्यसमं 'अन्यसमानं रहितो असाधारणेति विक्रमः पराक्रमो' ययोस्ती । तौ पक्ष्माभपृषिवीपालौ । अन्धान्धं परस्परम् । अभीयतुः अभिजगमतुः ॥११९॥ उभाविति । उभौ द्वौ भूपालौ । आयोद्धुम् आसमन्ताद् योधनाय । उद्यतम् उद्युक्तम् । उभयं द्वयम् । बलं सेनाम् । निषिध्य निवार्य । द्वापत् गवात् । एकाकिनावेव असहायावेव । 'एकादशिकाश्चासहायै' इति आकिन्-प्रत्ययः । महाहवं महायुद्धम् । प्रारम्भात् उपचक्रमात् । रभि राभस्ये लिट् । प्रथमपुरुषद्विवचनम् ॥१२०॥ शिलीमुखेति । त्रियन्विवसर्पिभिः तिर्यगरूपेण गच्छद्भिः । तयोः भूपयोः । शिलीमुखशतैः शिलीमुखानां बाणानां शतैरनेकैः । छम्भाः व्याप्ताः । दिगाभोगाः दिशां कक्षुमामाभोगाः समूहाः । पतदुल्कोत्करा इव पतन् उल्कानामुत्करः समूहो येषां त इव ।

कपटोंका घर है—पूरा चार सौ बीस है, ऐसा सुना जाता है—॥११६॥ यह स्वयं आपके ऊपर प्रहार करनेके लिए—आपसे लड़नेके लिए उपस्थित हुआ है । अतः इसके साथ आपको बड़ी सावधानीसे युद्ध करना चाहिए ? यह शत्रु उपेक्षा करने योग्य नहीं है ॥११७॥ इस प्रकारकी मन्त्रियोंकी वाणीको, जो प्रियाके समान प्यारी थी, हृदयमे रखकर, एवं धनुषको सजाकर पश्मानाभ शत्रुके सामने जा पहुँचा ॥११८॥ असाधारण पराक्रमको धारण करनेवाले वे दोनों आमने-सामने आ गये । दोनों हाथियोंपर सवार थे, और दोनोंके हाथियोंके पैरोंके पास बहुतसे रक्षक खड़े हुए थे ॥११९॥ यो दोनोंकी सेनाएं युद्ध करनेके लिए तैयार थीं, पर उन्हें रोककर दोनों राजोंने—जिन्हें अपने पराक्रमपर गर्व था—अकेले ही घोर संग्राम शुरू कर दिया ॥१२०॥ दोनोंके तिरछी गतिसे फैलनेवाले सैकड़ों बाणोंने सारी दिशाओंके मध्यभागको भर दिया । उस समय वह ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा था मानो गिरती हुई उल्काओंके समूहसे घिर

१. अ पादरक्षा । २. = औदासीन्यस्य । ३. टोकायां पक्षमिदं पूर्वं व्याख्यातं तदनन्तरं तदस्मिन्-प्रतिपादि (११७) । ४. = अन्येन समोऽन्यसमो नान्यसमोऽनन्यसमोऽसाधारण इत्यर्थः । ५. श पराक्रमः शक्तिः । ६. श एकाकिनामेवासहायानामेव । ७. = येषु ।

तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचनम् ।

भुवि भूमिभुजां सैम्यं तस्यौ दिवि दिवौकसाम् ॥१२२॥

चलनैर्बलनैः स्थानैर्वलनैर्मर्मवञ्चनैः ।

तयोरभुजनुयुद्धं दृष्ट्वा दण्डचण्डयोः ॥१२३॥

याम्याममुञ्जतारातिरनिष्टितशरः शरान् ।

रोपैरर्धागतानेव पद्मनाभो लुलाव तान् ॥१२४॥

शिलोमुखैरजग्र्योऽयं धनुर्वदविशारदः ।

इति मत्वाक्षिपत्प्रासास्य प्रयासविवर्जितः ॥१२५॥

खण्डयामास तानध्वचन्द्रैश्चन्द्रोज्ज्वलाननः ।

गुरुः सुवर्णनाभस्य सुवर्णाचलनिश्चलः ॥१२६॥

अद्वयन्त अवैक्यन्त^१ । दृष्टुं प्रेक्षणे कर्मणि लङ्^२ । उपमा^३ [उत्प्रेक्षा] ॥१२१॥ तदिति । तच्छस्त्रकौशलालोक-
विनिश्चलविलोचनं तयोः पद्मनाभपृथिवीपालयोः शास्त्राणां बाणानां कौशलस्य^४ प्रौढत्वस्य आलोके बोधने
निश्चले निष्पन्दे विलोचने नयने यस्य तत् । भूमिभुजां भूपानाम् । सैम्यं सेना । भुवि भूमौ । तस्यौ तिष्ठति
स्म । लिट् । दिवौकसा देवानाम् । सैम्यम् । दिवि गगने । तस्यौ । दोषकम् ॥१२२॥ चलनैरिति । दृष्टदो-
र्दण्डचण्डयोः दुष्टाभ्यां गविताभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां चण्डयोर्बलिष्ठयोः । तयो भूपयोः । चलनैः
स्थानान्तरंगमनैः । चलनैः पर्यटनैः । स्थानैः स्थितिक्रियाभिः । चलनैः [वलनैः] लङ्घनक्रियाभिः ।
मर्मवञ्चनैः मर्मणो मर्मस्थानस्य वञ्चनेः प्रतारणेः । धनुयुद्धं चापयुद्धम् । अभूत् अभवत् । लुङ् ।
जातिः ॥१२३॥ यानिति । अनिष्टितशराः अनिष्टिता अक्षया शरा बाणा यस्य सः । अरातिः शत्रुः ।
यात् यान् कास्मान् । शरान् बाणान् । अमुञ्चत अमुञ्चन् । लङ् । अधंगतानेव^५ अधगतपर्यन्तम्
आगतानेव । तान् शरान् । पद्मनाभः पद्मनाभभूपतिः । रोपैः बाणैः । लुलाव छिनत्ति स्म ॥१२४॥
शिलोमुखैरिति । धनुर्वेदविशारदः धनुर्वेदे धनुर्विद्याया विशारदां निपुणः । अयं पद्मनाभः । शिलोमुखैः सारैः ।
अग्र्यः जेतुमशक्यः । 'श्रम्यजग्र्यौ शक्तौ' इति साधुः । इति एवं मत्वा प्रयासविवर्जितः प्रयासेन श्रमेण
विवर्जितो रहितः । स पृथिवीपालः । प्रासान् कुन्तान् । अक्षिपत् प्रेरितवान् । क्षिप प्रेरणे लङ् ॥१२५॥
खण्डयामासेति । चन्द्रोज्ज्वलाननः चन्द्रवदुज्ज्वलं भासमानमाननं मुखं यस्य सः । सुवर्णाचलनिश्चलः सुवर्ग-
चल इव महामेरुवद् निश्चलो निष्कम्पः । सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । गुरुः पिता पद्मनाभः । तान् कुन्तान् ।
अर्धचन्द्रैः अर्धचन्द्राकारबाणैः । खण्डयामास खण्डयति स्म । खड्गं मग्ये णिजन्ताल्लिट् । उपमा ॥१२६॥

गया हो ॥१२१॥ उनके शस्त्रकौशलको देखकर पृथ्वीपर राजाओंका सैन्य और आकाशमे
देवोंका वृन्द अपलक दृष्टि होकर खड़ा था ॥१२२॥ सगर्व भुजबलसे युक्त और क्रुद्ध दोनों
राजाओंका धनुयुद्ध हुआ, जो, स्थान बदलने, मुड़ने, एक स्थानपर खड़े रहने, लड़ने और
मर्म स्थल की सुरक्षाके लिए एक-दूसरेको छकानेकी दृष्टिसे दर्शनीय था ॥१२३॥ पृथिवीपालके
बाण जहाँ तक पहुँचना चाहिए वहाँ तक नहीं पहुँच रहे थे; क्योंकि वह जिन बाणोंको छोड़ता
था वे आधे मार्ग तक ज्यों ही पहुँचते थे त्यों ही पद्मनाभ उन्हें अपने बाणोंसे काट डालता था
॥१२४॥ 'यह पद्मनाभ धनुविद्यामे प्रवीण है, अतः बाणोंसे जीतने योग्य नहीं है ।' यह सोचकर
पृथिवीपालने उसके ऊपर भाले फेंकना शुरू कर दिया । इसमें वह उस प्रयाससे मुक्त हो गया,
जो प्रत्यञ्चा स्त्रीबनेमें करना पड़ रहा था ॥१२५॥ सुवर्णनाभके पिता पद्मनाभने, जो सुमेरु

१. आ आवैक्यन्त । २. आ दृशिर् । ३. आ लिट् । ४. आ 'उपमा' इति नोपलम्भते । ५. = निपु-
ण्यस्य । ६. श ग्रामान्तरम् । ७. = अर्धमार्गपर्यन्तम् । ८. = चिक्षेप ।

स चक्राणि विचिक्षेप क्षेपेण रहितो दया ।
 तानि सोवर्णमालश्च चूर्णयामास मुद्गरैः ॥१२७॥
 शक्तिं शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपे विससर्ज सः ।
 गदाभिघातैस्तां वन्द्यां व्यघ्राग्रत्नपुराधिपः ॥१२८॥
 परशुं बाह्यामास कृत्यासन्नं स दन्तिनम् ।
 वनकेलिबरेणासौ वज्रमुष्टया कणीकृतः ॥१२९॥
 ततो मुमुक्षतः शङ्कुं तस्य सोमप्रभाप्रियः ।
 चञ्चलचक्रेण चिच्छेद कदलीकन्दघच्छिद्रः ॥१३०॥
 विद्रुते विद्विषां सैन्ये विलोक्य पतनं प्रभोः ।
 रणं संशोचयामास वनकेलिशिरः स्पृशन् ॥१३१॥

स इति । क्षेपेण कालविलम्बेन । रहितः । विरहितः^३ । स पृथिवीपालः । दया कोपेन । चक्राणि चक्रायुधानि । विचिक्षेप क्षिपति स्म । सोवर्णमाल सुवर्णमालाया अपत्यं पद्मनाभश्च । मुद्गरैः अयोदण्डैः । चूर्णयामास विषयामास (?) । लिट् ॥१२७॥ शक्तिमिति । शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपः शक्तीनां प्रभुशक्त्यादीनां त्रयेणाक्रान्तं व्याप्तं विष्टपं जगद् यन्मै स^४ । सः पृथिवीपालः । शक्तिं शक्त्यायुधम् । विससर्ज विक्षेप । सुज विसर्गे लिट् । रत्नपुराधिपः रत्नपुरस्याधिपः । पद्मनाभः । गदाभिघातैः दण्डाघातैः । ता शक्तिम् । वन्द्या निष्कलाम् । व्यघात् अकरोत् । डुघात् धारणे च लुङ् ॥१२८॥ परशुमिति । स पृथिवीपालः । दन्तिनं गजम् । आसन्नं समीपम् । कृत्वा विधाय । परशुं बाह्यामास आनयामास^५ । बहि प्रापणे निजन्तालिट् । असौ परशुः । वनकेलिबरेण वनकेलिगजस्य बरेण प्रभुणा पद्मनाभेन । वज्रमुष्ट्या^६ वज्रमुष्टयायुगेन । कणीकृतः चूर्णीकृतः ॥१२९॥ तत इति । ततः पश्चात् । शङ्कुं शल्यायुधम् । मुमुक्षतः मोक्षुमिच्छोः । तस्य पृथिवीपालस्य । शिरः मस्तकम् । सोमप्रभाप्रियः सोमप्रभाया देव्याः प्रियो दयितः, पद्मनाभः । चञ्चलचक्रेण चञ्चलता प्रज्वलता चक्रेण चक्रायुगेन । कदलीकन्दवत् कदल्या रम्भायाः कन्दवद् मूलवत् । चिच्छेद छिनत्ति स्म । छिद्रञ् विदारणे लिट् ॥१३०॥ विद्रुत इति । प्रभो स्वामिन । पतनं मरणम् । विलोक्य वीक्ष्य । विद्विषां शत्रूणाम् । सैन्ये सेनायाम् । विद्रुते पलायिते सति । वनकेलिशिरः वनकेलिगजस्य शिरोमस्तकम् । स्पृशन् आस्फालयन् ।

पर्वतके समान निष्कम्प था और जिसका चेहरा पूर्णचन्द्रके समान निर्मल था, अर्धचन्द्राकार बाणोंसे पृथिवीपालके भालोको काट डाला—॥१२६॥ फिर पृथिवीपालने क्रुद्ध होकर शीघ्र ही चक्र फेकना शुरू कर दिया, जिन्हें सुवर्णमालाके पुत्र पद्मनाभने मुद्गरोंसे चूर-चूर कर डाला ॥१२७॥ फिर पृथिवीपालने—जिसकी प्रभु, मन्त्र और उत्साह इन तीन शक्तियोंकी चर्चा सारे संसारमें होती थी—शक्ति नामक आयुध चलाना शुरू कर दिया, किन्तु उसे भी रत्नपुरके स्वामी पद्मनाभने गदाके प्रहारसे निष्फल कर दिया ॥१२८॥ पृथिवीपालने अपने हाथीको पासमें ले जा करके पद्मनाभके ऊपर परशुका प्रहार किया, जिसे वनकेलि नामक हाथीके स्वामी—पद्मनाभने वज्रमुष्टि नामक अस्त्रसे चूर-चूरकर डाला ॥१२९॥ इसके उपरान्त पृथिवीपाल शङ्कु नामक अस्त्र छोड़ना ही चाहता था, पर सोमप्रभाके पति पद्मनाभने सिरको अपने चमकदार चक्रसे केलेकी जड़की तरह काट डाला ॥१३०॥ अपने स्वामी पृथिवीपालका पतन देखकर शत्रुओंकी सेना भाग गयी । फिर पद्मनाभने वनकेलिका सिर पपधपाते हुए युद्धभूमिका संशोधन-निरीक्षण

१. क ख ग घ म तलसुराधिपः । २. अ क ख ग घ म केलिबरेणासौ, इ नवकेलिबरेणासौ ।

३. वा 'विरहितः' इति नापलभ्यते । ४. = पुमान् । ५. = घेन । ६. आ रत्नसुराधिपः रत्नसुरस्याधिपः ।

७. आ आनयति स्म । ८. आ 'वज्रमुष्टया' इति पदं नास्ति । ९. आ छिद्रि ।

युद्धमूर्ध्नि शवीभूतान्बन्धुतुष्टित्य बान्धवाः ।

संस्कारं प्रापयामासुरिन्धनीकृतसायकाः ॥१३२॥

अथ केनचिदानीय सेवकेन कृतं पुरः ।

पश्यन्निति शिरः शत्रोनिर्वेदमगमन्नुपः ॥१३३॥

चिक्षुष्टमोदशं कर्म करोति कथमीरितः ।

लक्ष्म्या कुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया ॥१३४॥

विपत्संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने ।

मृत्युरायुपि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे ॥१३५॥

पचनामः । रणं संप्रामम् । [सं] शोधयामास शोधयति स्म^१ । युधि शौचे लिट् ॥१३१॥ युद्धेति । युद्धमूर्ध्नि युद्धस्य मूर्ध्नि अर्धे । शवीभूतान्^२ विगतप्राणान् । बन्धून् बान्धवान् । इन्धनीकृतसायकाः इन्धनीकृताः काष्ठोक्ताः सायका येषां^३ ते । बान्धवाः । उच्छिन्न्य^४ राक्षोक्त्य^५ । संस्कारं^६ दहनम् । प्रापयामासु यापयति स्म । आप्त् व्याप्तो लिट् ॥१३२॥ अथेति । अथ दहनानन्तरम् । केनचित् एकेन । सेवकेन भूत्येन । आनीय आदाय । पुर अर्धे । कृतं विहितम् । रिपोः पृथिवीपालस्य । शिर मस्तकम् । पश्यन् वीक्षमाणः । नृप. पचनामः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगमत् गच्छति । गम्लु गतो लुङ् ॥१३३॥ चिन्निति । क्षणरक्तविरक्तया क्षणमल्पकालं रक्त. प्रीतो विरक्तो विगतप्रीतिर्यस्या सत्या । कुलटया पुंस्त्वत्या । लक्ष्म्या संपदा । ईरितः प्रेरित । लोकः जनः । ईदृशम् एतादृशम् । कष्टं कृच्छ्रम् । कर्म व्यापारम् । कथं केन प्रकारेण । करोति विदधाति । लट् । धिक्^७ ॥१३४॥ विपदिति । संपदि संपत्तौ । विपत् विपत्ति । जागर्ति प्राप्नोति, सपद् विपदवसाना-इत्यर्थः । यौवने सति तारुण्ये सति । जरा वार्धक्यम् । जागर्ति प्राप्नोति । आयुषि सति । मृत्युः मरणम् । जागर्ति । प्रियमङ्गमे प्रियाणा मित्राणा मङ्गमे सति । विगमः

किया ॥१३१॥ युद्धभूमिके अगले भागमें मारे गये बन्धुघोको खोजकर उनके बन्धु-बान्धवोंने बाणोंकी चिता तैयार करके उनका अग्नि संस्कार किया ॥१३२॥ इसके बाद किसी सेवकने पृथिवीपालका कटा हुआ सिर लाकर राजा पचनामके आगे रख दिया, जिसे देखते-देखते उसे इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो गया-॥१३३॥ लक्ष्मी पूरी वेदया है जो क्षणभर ही राग दिखलाकर विरक्त हो जाती है । इसी लक्ष्मी रूपी कुलटासे प्रेरित होकर लोग कैसे ऐसे छोटे-छोटे कर्म कर डालते हैं ? ओह धिक्कार है ! ऐसी बातोंके बारेमें सोचने ही खेद होने लगता है ॥१३४॥ सम्पत्ति होनेपर विपत्ति उस (सम्पत्ति) का स्थान पानेके लिए जागरूक रहती है, यौवन आने-पर बुढ़ापा उसे नष्ट करनेकी ताकमे रहता है, आयु या जीवन प्राप्त होनेपर मृत्यु उसे घातनेके लिए सावधान रहती है और इष्ट समागम होनेपर उसका वियोग जागरण करता है । सम्पत्तिके बादमें विपत्ति, यौवनके बादमें बुढ़ापा, जीवनके बादमें मरण और प्रियके समागमके

१. आ शोधयामास शोधयति स्म । युधि घानोलिट् । २. आ... यातान् । ३. = यैः । ४. आ उच्छिन्न्य ।
= बन्धूननविध्य । ५. आ हूतोक्त्य । ६. = दाहसंस्कारम् । ७. = क्षणं स्वल्पकालं रक्ता पदचद्विरक्ता सत्या
८. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिबु तु 'लक्ष्मीकुलटया' इति समुपलभ्यते । ९. आ श दिक् ।

नावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मान्मृत्युदूषितम् ।
 यौवनं नाजराग्रस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता ॥१३६॥
 रक्षायै प्रजया दत्तं वण्डांशं वेतनोपमम् ।
 गृह्णन्भुतकथम्भूदो राजाहमिति मन्यते ॥१३७॥
 क्रोधादिभिरयं जीवः कषायैः कलुषीकृतः ।
 तत्किञ्चित्कुरुते कर्म यत्स्वस्यापि भयावहम् ॥१३८॥
 भ्रातृन्हन्ति पितृन्हन्ति हन्ति बन्धून् निरागसः ।
 हन्यात्मानमपि क्रोधादिकक्रोधमविचारकम् ॥१३९॥
 हन्ता यथाहमस्यात्र परत्रैव तथैव मे ।
 संसारे हि विद्यते नन्ते बलवीर्यविभूतयः ॥१४०॥

वियोगः । जागति । यथासंख्यम् ॥१३५॥ नेति । अवियोगः वियोगरहितः । सुहृत्सङ्गः सुहृदां मित्राणां सङ्गः संयोगः । न नास्ति । अमृत्युदूषितं मृत्युना मरणेनादूषितं दूषणरहितम् । जन्म^१ जातिः । न नास्ति । अजराग्रस्तं जरया वार्षक्येनाग्रस्तं रहितम् । यौवनं तारुण्यम् । न नास्ति । आपदकटाक्षिता आपदा विपत्त्या अकटाक्षिता अविलोकिता । ओ नन्तु । न नास्ति ॥१३६॥ रक्षायै इति । रक्षायै पालनाय । प्रजया जनेन । दत्तम् अपितम् । वेतनोपमं भृत्यदेयवमम् । वण्डांशं वष्टुम् अंशं भागम् । भुतकवत् कर्मकरवत् । गृह्णन् स्वीकुर्वन् । भूदः अजः । अहं राजा इति प्रभुः इति । मन्यते बुध्यते । बुधि मतिं ज्ञाने लट् । आक्षेपः (?) ॥१३७॥ क्रोधेति । क्रोधादिभिः क्रोधप्रभुत्वैः । कषायैः^२ चतुष्कषायैः । कलुषीकृतः कल्मषीकृतः^३ । अयम् एषः । जीवः प्राणी । यत् । किञ्चित् ईषत् । कर्म कार्यम् । स्वस्य [अपि] आत्मनोऽपि । भयावहं^४ भयं कुर्वत् । तत् कार्यं । कुरुते विद्यते । लट् ॥१३८॥ भ्रातृमिति । क्रोधात् कोपात् । निरागसः निरपराधान् । भ्रातृन् सहोदरान् । हन्ति हिनस्ति । हन्ति हिमागन्यालट् । पितृन् जनकान् । हन्ति हिनस्ति । बन्धून् बन्धुजनान् । हन्ति । आत्मानमपि स्वमपि^५ । हन्ति । अविचारकं विचारशून्यम् । क्रोधं क्रोधपरिणामम् । धिक् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया । आक्षेपः (?) ॥१३९॥ हन्तेति । अत्र इह लोके । अहं यथा येन प्रकारेण । अस्य एतस्य । हन्ता हिसकः । 'कृन्कामुकन्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तथैव तेन प्रकारेणैव । परत्र परलोके । एषः अयम् । मे मम । हन्ता भविष्यति । संसारे^६ जन्मनि । बलवीर्यविभूतयः बलम् औपाधिकशक्तिः तत्त्व,

बादमें उसका वियोग निश्चित है ॥१३५॥ वियोग रहित इष्ट संयोग, मरण रहित जन्म, बुढ़ापा रहित यौवन और विपत्ति रहित सम्पत्ति नहीं हो सकती । संयोगके पीछे वियोग, जन्मके पीछे मृत्यु, यौवनके पीछे बुढ़ापा और सम्पत्तिके पीछे विपत्ति निश्चित है ॥१३६॥ रक्षणके लिए प्रजाके द्वारा वेतनके समान उपजका जो छठा भाग (टैक्स) दिया जाता है, उसे नौकर की भांति ग्रहण करनेवाला भूखं पुरुष अपनेको राजा मानता है ॥१३७॥ क्रोध आदि चार कषायोसे कलुष किया गया यह जीव कुछ ऐसे कर्म कर डालता है, जो स्वयं उसे भी भयावह होते हैं ॥१३८॥ क्रोधके आवेशमें आकर यह पुरुष अपने निरपराध भाई, पिता और बन्धुओंको भी मार डालता है । और तो और स्वयं अपनेको भी मार डालता है—आत्मघात कर बैठता है । धिक्कार है ऐसे क्रोधको, जो विचारोंका दिवालिया होता है ॥१३९॥ जैसे यहाँ मैं इसका जीवन नष्ट कर रहा हूँ—इसे जानसे मार रहा हूँ, उसी प्रकारसे परलोकमें यह भी मेरे जीवनको नष्ट करेगा—जानसे मार डालेगा । इस जन्ममें मैं इसका हन्ता हूँ तो

१. आ जयावहम् । २. क ष ग घ म बन्धूनि निरागसः । ३. क ष ग घ म 'मविचारकः । ४. = उत्पत्तिः । ५. = क्रोधमानमायालोभैः । ६. हा 'कल्मषीकृतः' इति नास्ति । ७. = भयकारि । ८. = कर्म । ९. हा स्वयमपि । १०. = संसृती ।

आज्ञां सुवर्णनाभस्य कुर्वीतष्ठ पितुः पदे ।
 शान्तयित्वेति शोकार्ते पृथिवीपालनन्दनम् ॥१४६॥
 'पादानतानवशाय सामन्तान्सह सुनुना ।
 स श्रीधरमुनेरन्ते शिष्ये भ्रमणभ्रियम् ॥१४७॥
 ज्ञानार्जुपजातायां सहैव व्रतरोपणीः ।
 दीक्षासमय एवास्य शिक्षासमयतां ययौ ॥१४८॥
 द्वादशाङ्गभूतोच्चारो द्वादशादित्यभासुरः ।
 प्रत्यहं बृंहयामास स द्वादशविधं^१ तपः ॥१४९॥
 विधिभिर्विधिचाकारैः सिद्धनिष्क्रीडितादिभिः ।
 कर्मणा सह तस्यासीत्तनुस्तनुरतन्निद्रणः ॥१५०॥

वाहनैः सहितम् । राज्यं स्वामित्वम् । युवराजाय सुवर्णनाभाय । तृतीयं दत्त्वा ॥१४५॥ आज्ञामित ।
 सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । आज्ञाम् अनुज्ञाम् । कुर्वन् सन् । पितुः जनकस्य पृथिवीपालस्य । पदे स्थाने ।
 तिष्ठ प्रवर्तस्व । इति एवम् । शोकार्ते शोकेन दुःखेनार्ते पीडितम् । पृथिवीपालनन्दनं पृथिवीपालस्य नन्दनं
 तनयम् । शान्तयित्वा^२ सतर्पयित्वा ॥१४६॥ पादेति । सुनुना तनयेन सुवर्णनाभेन । सह साकम् । पादानताम्
 पादयोश्चरणयोः पानतान् । सामन्तान् राज्ञः । अनुज्ञायै संमतं कारयित्वा । सः पद्मनाभः । श्रीधरमुनेः श्रीधरा-
 चार्यस्य । अन्ते समीपे । भ्रमणभ्रियं तपोलक्ष्यम् । शिष्ये शिष्येणे । शिष्यं^३ । सेवायां लिट् । विभिर्विशेष-
 कर्म ॥१४७॥ ज्ञानार्थाविति^४ । व्रतरोपणीः व्रतानां पञ्चमहाव्रतानां रोपणीः स्वीकारैः । सहैव साकमेव ।
 ज्ञानदौ बुद्धपदौ । उपजाताया सत्या संजाताया सत्याम् । अस्य पद्मनाभमुनेः । दीक्षासमय एव दीक्षाकार-
 एव । शिक्षासमयतां शिक्षाकालत्वम् । ययौ जगाम । या प्रापणे । सहोक्तिः ॥१४८॥ द्वादशेति । द्वादशाङ्ग-
 भूतोच्चारः द्वादशाङ्गस्य द्वादशावयवस्य श्रुतस्वाधार आश्रयभूतः । द्वादशादित्यभासुरः द्वादशादित्यवद् द्वादश-
 सूर्यवद् भामुरो देदीप्यमानः । सद्वादशविधं^५ द्वादशविधैर्द्वादशभेदैः सहितम् । तपः । प्रत्यहं प्रतिदिनम् ।
 बृंहयामास वर्धयामास^६ । बृद्^७ वृद्धौ लिट्^८ ॥१४९॥ विधिभिरिति । सिद्धि (निष्) क्रीडितादिभिः सिद्धि-
 (निष्) क्रीडितविधानमादियेषां तैः । विधिचाकारैः विविधा अनेके आकारा भेदा येषां तैः । विधिभिः
 तपोभिः । अतन्निद्रणः आलस्यवर्जितस्य । तस्य पद्मनाभमुनेः । तनुः शरीरम् । कर्मणा दुरितेन । सह साकम् ।

पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको पुर और बाहन सहित राज्य देकर—। 'युवराज सुवर्णनाभकी आज्ञाका पालन करते हुए तुम अपने पिताके पदपर बैठे रहो' इन शब्दोंमें पृथिवीपालके शोका-कुल पुत्र धर्मपालको शान्त करके—। और सुवर्णनाभके साथ अपने चरणोंमें झुके हुए समस्त सामन्तोंको घर जानेकी अनुमति देकर श्रीधर मुनिके निकट जिनदीक्षा ले ली ॥१४५॥१४६॥-१४७॥ पञ्च महाव्रत ग्रहण करनेके साथ ही ज्ञान ऋद्धि उत्पन्न हो जानेसे पद्मनाभकी दीक्षाका समय ही शिक्षाका समय हुआ ॥१४८॥ द्वादशांग श्रुतको जाननेवाले और बारह सूर्यों के समान तेजकी धारण करनेवाले पद्मनाभने प्रतिदिन बारह प्रकारके तपकी बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया ॥१४९॥ सिद्ध निष्क्रीडित आदि व्रतोंकी अनेक प्रकारकी विधियोंसे पद्मनाभका—जिसे प्रमाद

१. स शान्तयित्वा । २. क ख ग घ म पदानं । ३. अ शिष्यं । ४. = पालयन् सन् । ५. आ शान्तयित्वा । ६. = आज्ञाय । ७. आ श श्रीङ् । ८. आ श कुलकम् । ९. श 'ज्ञानार्जुप' इत्यादिपद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । १०. = सः पद्मनाभः । द्वादशविधं द्वादश विधाः प्रकारा यस्य तत्, द्वादशप्रकारक-मित्यर्थः । ११. श 'वर्धयामास' इति नास्ति । १२. श बृद् । १३. आ 'लिट्' इति नास्ति ।

त्रयोदशविधं तस्य चारित्रं चरतश्चिरम् ।
 तीर्थहृत्कारणानीति समपद्यन्त षोडश ॥१५१॥
 सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शङ्कादिपरिवर्जिता ।
 सधर्मिणि गुरौ वृद्धे धृते च विनयोऽधिकः ॥१५२॥
 व्रतेष्वहिसाप्रभृतिष्वतिचारविपर्ययः ।
 तदङ्गेषु च शीलेषु क्रोधसंत्यजनादिषु ॥१५३॥
 ज्ञानोपयोगः सततमुपधानादिपूर्वकः ।
 संवेगो घोरसंसारदुःखमीरुत्वलक्षणः ॥१५४॥
 त्यागश्चाभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः ।
 तपश्चागृहसामर्थ्यं शरीरकलेशलक्षणम् ॥१५५॥

तनुः कृशा । आसीन् अमवन् । लट् । सङ्गतिः ॥१५०॥ त्रयोदशेति । त्रयोदशविध त्रिमिरधिका दश त्रयोदश, 'द्वादशत्रय—' इति त्रय-आदेशः, त्रयोदश विधा भेदा यस्य तत् । चारित्र्यम् आचारम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । चरतः आचरत । तस्य पदानामनुने । षोडश पङ्क्तिरधिका दश षोडश । 'एकादश—' इत्यादिना षोडश इति साधु । तीर्थकृत तीर्थकरनामकर्मणः । काराणि हेतवः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । समपद्यन्त समभवन् । पदि^१ गतो लङ् ॥१५१॥ सम्यगिति । शङ्कादिपरिवर्जिता शङ्कादिभिः शङ्कादिदर्शन-दोषैः परिवर्जिता रहिता । सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः सम्यग्दर्शनस्य संशुद्धिः । दर्शनविशुद्धिरिति भावना । सधर्मिणि समानो धर्मो यस्य तस्मिन् । 'सः समानस्य धर्मादिषु च' इति समानस्य न-इत्यादेशः । 'धर्मादत्र द्वि पदान्' इति अन्तर् । गुरो विद्यागुरो गिषागुरो च । वृद्धे ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे^२ । धृते च परमागमे च । अधिक बहुलः । विनयः विनयगुणः । विनयसंपन्नतेति भावना । जातिः ॥१५२॥ व्रतेष्विति । अहिंसाप्रभृतिषु अहिंसा अशांतिषुः प्रभृति मुख्यै^३ येषां तेषु । व्रतेषु पञ्चमहाव्रतेषु । क्रोधसंत्यजनादिषु क्रोधस्य कोपस्य संत्यजनं विषर्जनं तदादि येषां (तेषु), उत्तमश्लाघादिषु—इति भावः । तदङ्गेषु तेषां व्रतानामङ्गेषु कारणेषु च । शीलेषु शीलव्रतेषु । अतिचारविपर्ययः अतिचारस्य वधाद्यतिक्रमस्य विपर्ययोऽभावः । शीलव्रतेष्वनतिचारभावना ॥१५३॥ ज्ञानेति । सततम् अनवरतम् । उपदा (धा) नादिपूर्वकः, उपदा (धा) नादिः नियमपुरःसरं विद्यास्वी-कारादिः, स एव पूर्वो यस्य स । ज्ञानोपयोगः ज्ञानस्यागमज्ञानस्योपयोगोभ्यासः, अभोधनज्ञानोपयोगभावना । घोरसंसारदुःखमीरुत्वलक्षणं घोरात्संसारज्जाते दुःखे (जाताद् दुःखाद्) मीरुत्वं भयत्वं तदेव लक्षणं यस्य सः संवेगः, संवेगभावना ॥१५४॥ त्याग इति । अभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः अभयस्य दानमादिपेया तेषां प्रविभे-

नहीं था—शरीर, कर्मोंके साथ—ही—साथ क्षीण होने लगा ॥१५०॥ चिरकाल तक तेरह प्रकारके चारित्रिकी पालन करनेवाले पदानामने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओको—जो तोषं कर पद दिला नेमे कारण है—माना शुरू कर दिया ॥१५१॥ (१) शका आदि पञ्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि, दर्शनविशुद्धि कहलाती है (२) सधर्मा, गुरु, वृद्ध और परमा-गमके विषयमें अधिक विनय करना विनयसम्पन्नता कहलाती है ॥१५२॥ (३) अहिंसा आदि व्रतों और क्रोध आदिके परित्याग रूप शीलमें—जो व्रतोंके अंग है—अतिचार नहीं लगने देना शीलव्रतानतिचार है ॥१५३॥ (४) निरन्तर नियम पूर्वक ज्ञानाभ्यास करना अभोधनज्ञानोपयोग है । (५) संसारके घोर दुःखोंसे डरना संवेग है ॥१५४॥ (६) अभयदान आदि अनेक

१. क ख ग घ 'व्रजितः । २. आ हेतु । ३. आ पद । ४. आ 'धर्मादनिच केवलान्' इत्यन्तः ।

५. धा 'ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे' इति नोपलभ्यते । ६. श मुख्यो । ७. = शास्त्राभ्यासाद्योपधासादिको यो विधिः पूर्वमारभ्यते स 'उपधानम्'—इत्युच्यते ।

समाधिस्तपसो विघ्ने कुतश्चित्समुपस्थिते ।

गुणिनां दुःखसंपाते वैयावृत्यसमुद्यमः ॥१५६॥

भक्तियोगोऽहंदाचार्येष्वनुरागैकलक्षणः ।

बहुभूतेषु चाशेषशास्त्रार्थग्रन्थभेदेषु ॥१५७॥

श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते ।

वर्णनामवश्यकार्याणां क्रियाणामपरिच्युतिः ॥१५८॥

देन विशेषेण^३ समन्वितः । त्यागश्च, शक्तितत्प्रागभावना । अगूढसामर्थ्यम्^४ अगूढमव्यवहितं सामर्थ्यं यस्य^५ तत् । शरीरक्लेशलक्षणं शरीरस्य कायस्य क्लेशनिग्रह एव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । तपश्च, शक्तिस्तपोभावना ॥१५५॥ समाधिरिति । तपसः बाह्याभ्यन्तरभेदस्य । नुतश्चित् । चारित्र (?) विघ्ने^६ अन्तराये । समुपस्थिते सति संजाते सति । समाधिः^७, साधुसमाधिभावना । गुणिना सद्गुणयुक्तसाधूनाम् । दुःखसंपाते दुःखस्य संपाते संबन्धे सति । वैयावृत्यसमुद्यमं वैयावृत्यस्य करचरणानिर्वाहनादेरुद्यम उद्योगः, वैयावृत्यकरणभावना ॥१५६॥ अर्काति । अहंदाचार्येषु अहंति अहंत्वरमेष्टिन, आचार्येषु च आचार्यपरमेष्ठिषु च । अशेषशास्त्रार्थ-ग्रन्थभेदेषु^८ (ग्रन्थभेदेषु) अशेषस्य समस्तस्य शास्त्रस्य आगमस्य अर्थस्य ग्रन्थभेदेषु ग्रन्थभेदयुक्तेषु (ग्रन्थ-भेदेषु मर्मस्थलोद्घाटनेषु) । बहुभूतेषु^९ च उपाध्यायपरमेष्ठिषु च । आनुरागलक्षणः अनुराग एव प्रीतिरेव एकं मुख्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य स^{१०} । भक्तियोगः, अहंदाचार्यबहुश्रुतभक्तिभावना ॥१५७॥ श्रुत इति । द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते द्वादशाङ्गादिभिः^{११} द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वादिभिर्बहुभेदेरनेकादशैः समन्विते संयुक्ते । श्रुते च परमागमे च ।^{१२} भक्तियोगः, प्रवचनभक्तिभादना । अवश्यकार्याणाम् अवश्यं नियमेन कार्याणां^{१३} करणीयानाम् । वर्णना पटंस्थानाम् । क्रियाणां प्रतिक्रियादिक्रियाणाम् । अपरिच्युतिः अपरित्यागः । पडावश्यक-

प्रकारका विधिपूर्वकं यथा शक्ति दान करना शक्तितत्प्राग-
यथाशक्ति कायक्लेश सहना शक्तितत्प्राग है ॥१५५॥ (८) साधुके तपमें कहींसे विघ्न उपस्थित होनेपर उसे दूर करना साधुसमाधि है । (९) गुणी पुरुषोके ऊपर दुःख आ पड़नेपर उसे दूर करनेके लिए उनकी सेवा-शुश्रूषाका उद्यम करना—वैयावृत्य है ॥१५६॥ (१०-१३) अहंती, आचार्यो, समस्त परमागमके अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थोंकी ग्रन्थार्थां स्मरण-वाले बहुश्रुत विद्वानो अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठियों और बारह अंग आदि नाना भेदोंवाले श्रुत—प्रवचनके विषयमें अनुराग रखना अहंभूवित, आचार्यभूवित, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचन भूवित है । (१४) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना, उनका परित्याग नहीं करना

१. क न्व ग च 'समुद्यत । २. आ ह 'ग्रन्थभेदेषु, म ग्रन्थवेदेषु । ३. = प्रविभागेन । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अगूढसामर्थ्यशरीरक्लेशलक्षणम्' इति समस्तमेकपदमुपलभ्यते । ५. = यस्मिन् । ६. आ चारित्र्ययोनये । ७. = तत्प्रशमनम् । ८. श करचरणयोः संवाहं । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु क्वचिद् 'ग्रन्थभेदेषु' क्वचिद् 'ग्रन्थवेदेषु' क्वचिच्च 'ग्रन्थभेदेषु' पाठः समुपलभ्यते । १०. आ बहुभूतेषु । ११. श तस्य द्वाद । १२. श तस्य भक्ति । १३. श 'अवश्यं नियमेन कार्याणां' इति नोपलभ्यते ।

मार्गमावनाज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ।
 तथा दर्शनवात्सल्यं सधर्मस्नेहलक्षणम् ॥१५९॥
 इति शिवसुखसिद्धये भाषयन्बोद्धरीता
 रहितसकलसङ्गो भावना^२ शुद्धभावः ।
 परहितकरचर्याबद्धबुद्धिर्वबन्ध
 व्रतनियमसमृद्धस्तीर्थकृत्नामकम् ॥१६०॥
 संन्यस्य सङ्गमक्षितं निरवद्यवृत्तिः
 आराध्य दृक्चरणबोधतपांस्यपांसु^३ ।
 त्यक्त्वा तपोभरतनुं स्वतनुं स धीरो
 भजे सुरालयमनुत्तरवैजयन्तम् ॥१६१॥

परिहाणिभावना ॥१५८॥ मार्गेति । ज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ज्ञानतपसी प्रभृती^१ मुख्ये येषां तैः कारणैः हेतुभिः । मार्गमावना जिनधर्मप्राकट्यकरणं मार्गमावना । तथा तेन प्रकारेण । सङ्ग(ध)र्मस्नेहलक्षणं सधर्मिणि चतुःसङ्गे स्नेह एव प्रीतिरेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । दर्शनवात्सल्यं दर्शने वात्सल्यम् । प्रवचन-वात्सल्यमावना ॥१५९॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । एताः इमाः । षोडश षोडशसंख्याका^४ । भावनाः । शिवसुखसिद्धये शिवसुखस्य मोक्षसुखस्य सिद्धये साधनाय । भावयन् ध्यायन् । रहितसकलसङ्गः रहितभ्यक्कः सकलो निःखिः सङ्गः परिग्रहो येन सः । शुद्धभावः शुद्धो निर्मलो भावविषयं यस्य सः । परहितकरचर्या-बद्धबुद्धिः परेषामन्येषां हितकरे^५ मोक्षकरणे चर्यं प्रवर्तने आबद्धा विहिता बुद्धिर्यस्य सः । बराकान्^६ इत्येवं भावनापर इत्यर्थः (?) । व्रतनियमसमृद्धः व्रतैरहिंसादिव्रतैरनियमैरनक्षानादिप्रते समृद्धः संपूर्णः सन् । तीर्थ-कुन्नायकम् तीर्थकर, वनामकम्^७ । बन्ध दध्नाति स्म ॥१६०॥ संन्यस्येति । निरवद्यवृत्तिः निरवद्या निर्दोषा वृत्तिर्यस्य सः । अपासुः न विद्यते पासुः पापं यस्य सः । धीरः धैर्ययुक्तः । सः पद्मनाभमुनिः । अक्षितं सकलम् । सङ्गं परिग्रहम् । संन्यस्य त्यक्त्वा । दृक्चरण^८ बोधतपामि दृग् दर्शनं सा च, चरणं चरित्रं तत्त्व, बोधो ज्ञानं स च, तपश्च तपोक्तानि । आराध्य आराधना कृत्वा । तपोभरतनु तपोभरेणातिशयेन तनुं कृशाम् । स्वतनुं स्वस्थ तनुं शरीरम् । त्यक्त्वा विमुच्य । अनुत्तरमनुत्तरनामानं वैजयन्तं वैजयन्तविमानम् ।

आवश्यकपरिहाणि है ॥१५७॥१५८॥ (१५) ज्ञान और तप आदि कारणोंसे सम्मार्गकी प्रभावना करना मार्गप्रभावना है । (१५) तथा सधर्मसे स्नेह करना, उसे देखते ही निःस्वाधं प्रेम—वात्सल्य प्रकट करना प्रवचन वात्सल्य है । ॥१५९॥ इन सोलह भावनाओंकी मोक्षसुखकी सिद्धिके लिए भाते हुए समस्त परिग्रहके त्यागी, शुद्ध परिणामी, परोपकार करनेवाली चर्यामें बुद्धि लगानेवाले और व्रत तथा नियमोंसे समृद्ध पद्मनाभने तीर्थंकर प्रकृतिका—जो नाम कर्मके भेदोंमें परिगणित है—बन्ध कर लिया ॥१६०॥ मुनि पद्मनाभकी वृत्ति निर्दोष थी । वे स्वयं निष्पाप थे और वे धीर । उन्होंने समस्त परिग्रहका परित्याग करके, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपकी आराधना की । फिर अन्तमे तपस्याके प्रकर्षसे कृश हुए अपने शरीरको छोड़कर वे अनुत्तर वैजयन्त नामक स्वर्गमें चले गये ।—सोलह स्वर्ग, नव प्रवेयक और नव अनुदिशोंके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं; वैजयन्त उन्हींमेंसे एक है, जिसे पद्मनाभने प्राप्त

१. अ क ल ग घ ङ स दधर्म^१ । २. इ भावना । ३. स प्रभृति । ४. ष षोडशसंख्या । ५. स हित-करणे । ६. आ बद्धबुधबराकान् । ७. स 'तीर्थंकरत्वनामकम्' इति नास्ति । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'दृक्करणं' इत्येव दृश्यते ।

कुलम्बस्त्रीकुसुमसदृशामोदमामोदितां
रत्नज्योत्स्नारुचिरमचिराद्देहमासाद्य सद्यः ।
दिव्यैः पुण्योदयपरिणतैस्तत्र भूत्वाहमिन्द्रो
रेमे भोगैश्चयस्मधिकत्रिशदन्धिप्रमायुः ॥१६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

सुरालयं स्वर्गम् । मेजे मज्जति स्म ॥१६१॥ कुल्लजिति । कुल्लम्बस्त्रीकुसुमसदृशामोदं फूलस्त्रीनां विकस-
न्तीनां मल्लीनां मल्लिकानां कुसुमानां पुष्पाणां सद्गुणः समान आमोदः परिमसो यस्मै तम् । आमोदितायाम्
आमोदिताः परिमल्लिता आशा यस्य (येन) तम् । रत्नज्योत्स्नारुचिरं रत्नानां ज्योत्स्नया आह्लादनाकार-
किरणेन रुचिरं मनोहरम् । देहं शरीरम् । अचिरं क्षीघ्रम् । आसाद्य मल्लया । तत्र वैजयन्ते । अय-
समधिकत्रिशदन्धिप्रमायुः त्रयेण समधिकानां त्रिशतोऽन्धीनां सागराणां प्रमा प्रमाणमामुर्जितं यस्मै सः ।
अहमिन्द्रः अहमिन्द्राक्षः । सद्यः तदैव । भूत्वा समुत्पद्य । पुण्योदयपरिणतैः पुण्यानां प्रसरतकर्मणामुदयेन
परिणतैर्जातैः । दिव्यैः विवि भवैः । भोगैः सुखैः । रेमे रमते स्म । रमि^२ श्रीढायां लिट् ॥१६२॥

इति श्री वीरनन्दिकृतबुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विहङ्गमनोबल्लभाख्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

किया ॥१६१॥ वहाँपर पद्मनाभने शीघ्र ही (अन्तर्भूतमें ही) दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया,
जो विकसित मल्लीलताके फूलके समान सुगन्धित था और इसीलिए सारी दिशाओंको सुगन्धित
करनेवाला था, तथा रत्नोंकी प्रभासे अत्यन्त ही सुन्दर था । वहाँपर पद्मनाभ अहमिन्द्र हुआ;
उसको आयु तेतीस सागरप्रमाण थी । वह पुण्य कर्मके ऊपरसे प्राप्त हुए दिव्य भोगोंको भोगकर
आनन्द करने लगा ॥१६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उद्बयाङ्गे चन्द्रप्रमचरित महाकाव्यमें
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

[१६. षोडशः सर्गः]

लक्ष्मीवानिह भरते सरोजखण्डरुद्धरेण विधुदीधितिप्रकाशैः ।
 स्वैश्चिह्नैर्नैरिव परितो विराजमानो देशानामधिपतिरस्ति पूर्वदेशः ॥१॥
 भारेण स्तनकलशद्वयस्य यस्मिन्नुत्थानं सुदुरसहा विदग्धगोप्य ।
 गीतेन स्फुटकलमाप्रमञ्जरीणां लुण्ठाकं हरिणगणं विमोहयन्ति ॥२॥
 चीत्कारारव्यधिरीकृताखिलाशयेत्राह्वामिव विदग्धदिभिरिक्षुयन्त्रैः
 व्याकृष्टाः सरसरसामृतं पिबन्तः पान्थौघा न पथि परिश्रमं विदन्ति ॥३॥

श्रीमत्समुद्रविजयक्षितिपानपुत्रं नानानिनादितमहोदधुरपाञ्चजन्यम् ।

यल्लब्धजं दशयन् पतिमं (पतिमं) जिनेशं नेमोदवरं प्रतिभवे (जे) हरिवंशजातम् ॥

लक्ष्मीवानिति । अथ अनुत्तरगमनान्तरम् । इह जम्बूद्वीपे । भरते भरतक्षेत्रे । विधुदीधितिप्रकाशैः विधोश्चन्द्रस्य दीधितिर्वि प्रकाश कान्तियेषां तैः । उद्गृह्यते उन्नतं । सरोजखण्डे सरोजना कमलानां खण्डैः कदम्बैः । स्वैः स्वसंबन्धिभिः । चिह्नैरिव छत्रादिभिरिव । परित समन्तात् । विराजमानः भासमानः । लक्ष्मीवान् शोभावान् । देशाना जनपदानाम् । अधिपतिः प्रभुः । पूर्वदेश पूर्व इति देशः अस्ति वर्तते । लट् । उत्प्रेक्षा ॥१॥ भारेणैति । यस्मिन् देशे । स्तनकलशद्वयस्य^१ स्तनावेव कलशौ तयोर्द्वयं तस्य । भारेण । मुहुः^३ पश्चात् । उत्थानम् उत्थानाय । असहा असमर्थाः । विदग्धगोप्य विदग्धा, प्रोढाः गोप्यो गोपस्त्रियः । स्फुटकलमाप्रमञ्जरीणां स्फुटकलमानां स्फुटानां परिणानां शालि^२सम्यानामपे विद्यमानानां मञ्जरीणां स्तवकानाम् । लुण्ठाकम् अपहरन्तम् । हरिणगणं हरिणानां गण समूहम्^४ । गीतेन यानेन । विमोहयन्ति परवशं कुर्वन्ति । मुह वैचित्र्यं लट् । अतिशयः ॥२॥ चीत्कारेति । यत्र^५ पूर्वदेशे । चीत्कारारव्यधिरीकृताखिलाः चीत्कारेण चीत्काररूपेणारवेण बधिरीकृता अखिला निखिला आशा दिशो येषां तैः । आह्वाम् आह्वानम् । विदग्धदिभिरिव कुर्वद्भिः । क्षुयन्त्रैः । व्याकृष्टा आकारिताः । सरसरसामृतं सरसो माधुर्ययुक्तो रस इक्षुरसः स एवामृतं तत् । पिबन्तः पानं कुर्वन्तः । पान्थौघाः पान्थानां पथिकानामोघाः समूहाः । 'निर्ग्य णः पन्थश्च' इति व-प्रत्ययः पन्थादेशश्च । पथि मार्गे । परिश्रमं श्रमम् । विदन्ति न जानन्ति^६ । विद जाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके उपरान्त—इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमे एक पूर्वदेश है, जो शोभा और लक्ष्मीसे सम्पन्न है और सभी देशोंका राजा है । उन्नत मृणालवाले एवं चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफ़ेद कमलोंसे वह ऐसा जान पड़ता है माना सभी ओरसे अपने राजचिह्नों—छत्र आदिसे सुशोभित हो ॥१॥ जिस देशमें कृपोबलोंकी कुशल महिलाएँ स्तनकलशोंके भारके कारण बार-बार उठनेमें असमर्थ हैं । अतः वे अपने क्षेत्रोंमें विकसित धानकी बालियोंको उजाड़नेके लिए आनेवाले हरिणोंके झुण्डको गानमे मोह लेती हैं । फलतः वह मूर्छित-सा होकर खड़ा रह जाता है—उजाड़ नहीं करता ॥२॥ जिस देशमे 'ची...चो ...' शब्दस मारी दिशाओंकी बधिर करने-वाले क्षुयन्त्र—काल्ह अपने शब्दसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो रसपान करनेके लिए पथिकोंके समूहकी बुला रहे हो । उनके शब्दसे आकृष्ट हुए राहगीर मधुर इक्षुरसरूपी अमृतका पान करके मार्गमें थकानका अनुभव नहीं करते—रस पीते ही उनकी थकान पच जाती है ॥३॥

१. श 'लट्' इति नास्ति । २. आ श 'द्वयेन' । ३. = पुनः पुनः । ४. आ शाखसम्या^४ । ५. आ 'लुण्ठाकम्' इति नास्ति, श प्रती 'लुण्ठन्तम्' इत्यस्ति । ६. श 'समूह' इति नापलभ्यते । ७. आ 'यत्र' इति नास्ति । ८. = वीः । ९. श 'न जानन्ति' इति नास्ति ।

संतापप्रसरमुषः समाश्रितानां तुङ्गत्वे सति फलसंपदा नमस्तः ।
 सञ्छायाः सरसतया सदैव यत्र सादृश्यं दधति महीरहा महद्भिः ॥४॥
 नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः संपन्नं सुरकुहवत्समस्तसस्यैः ।
 न स्पष्टं यमलमवग्रहा ग्रहोत्था निर्दोषं नरमिव तुर्जनापवादा ॥५॥
 संगीतध्वनिमुखरैर्विराजमाना प्रासादैः शशधरबिम्बबुम्बनोत्कैः ।
 तत्रास्ति त्रिदशपुरीष राजधानी विख्याता त्रिजगति चन्द्रपूर्यभिख्या ॥६॥
 विस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रैरुत्तमभामिव विवधन्निराश्रयस्य ।
 कारुण्यात्पवनपथस्य भाति यस्यां प्राकारो ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ॥७॥

संतापेति । यत्र देशे । समाश्रितानाम् आश्रितजनानाम् । संतापप्रसरमुषः संतापस्य प्रसरं प्रचारं^१
 मुष्णन्तीति तथोक्ताः । तुङ्गत्वे औन्नत्ये सति । फलसंपदा कथानां संपदा समृद्ध्या । नमस्तः विनताः ।
 सञ्छायाः अनातपेन युक्ताः, (पत्ते) कात्या युक्ताः । 'छाया स्यादातपाभावे सत्कान्त्युत्कोचकान्तिषु ।
 प्रतिबिम्बैर्जकान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥' सरसतया जलयुक्तया, (पत्ते) पतिराजयुक्तया । सदैव
 सर्वदैव । महद्भिः मनुष्यैः । सादृश्यं समानत्वम् । दधति धरन्ति । लट् । श्लेषोपमा ॥४॥ मीरन्ध्रैरिति ।
 नीरन्ध्रैः निरन्तरैः । विपुलफलैः विपुलानि सान्द्राणि फलानि येषां तैः । अकृष्टपच्यैः^२ अकृष्टं पच्यं येषां तैः ।
 समस्तस्यैः समस्तैः सर्वैः सस्यैः । सुरकुहवत् देवकुणामोतमभोगभूमिवत् । संपन्नं समृद्धम् । यं पूर्वदेशम् ।
 ग्रहोत्थाः ग्रहैराविश्यादिनवग्रहैरुत्था उत्पन्ना । अवग्रहा दुर्मिक्षाणि । निर्दोषं पापरहितम् । जनं लोकम् ।
 दुर्जनापवादाः दुर्जनैर्विहिता अपवादा निन्दाः । इव । स्पष्टं स्पशनाय । नालं न समर्था भवन्ति । 'शक्तार्थ-
 वषट्—' इत्यादिना अलं शब्दयोगे चतुर्थी । उपमा ॥५॥ संगीतेति । तत्र देशे । संगीतध्वनिमुखरैः संगीतस्य
 ध्वनिना रवेण मुखरैर्वावालेः । शशधरबिम्बबुम्बनोत्कैः शशधरस्य चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य बुम्बने स्पर्शने
 उत्कैरुत्तमैः । प्रासादैः इम्यैः । विराजमाना भासमाना । त्रिदशपुरीष त्रिविशानां देवानां पुरीष पुरमिव ।
 [त्रि] जगति लोके [लोकत्रये] । विख्याता प्रसिद्धा । चन्द्रपूर्यभिख्या चन्द्रपुरी इत्यभिख्या नामधेयं यस्याः
 सा । राजधानी पुरी । अस्ति वर्तते । उपमा ॥६॥ विस्तीर्णोति । यस्या चन्द्रपूर्यम् । ध्वजरमणीयगोपुराग्रः
 ध्वजैः पताकाम्नी रमणीयं मनोहरं गोपुराणां (पुर-) द्वाराणामग्रभूषणभागः यस्य सः । प्राकारः सालः ।

जहाँपर वृक्ष महान् पुरुषोके समान दृष्टिगोचर होते हैं । महान् पुरुष अपने आश्रयमें आनेवालोंके
 मानसिक सन्तापके वेतकों दूर कर देते हैं, धन-सम्पत्तिकी दृष्टिसे उन्नत होकर भी विनम्र
 होते हैं, सुन्दर कान्तिमें युक्त होते हैं और होते हैं सदा सरस । इसी प्रकार उस देशके वृक्ष
 अपने आश्रयमें आनेवालोंके सन्तापको शान्त कर देते हैं, खूब उन्नत होकर भी फलोंके लगनेपर
 झुक जाते हैं, घनी छायावाले हैं और हैं हमेशा हरे-भरे ॥४॥ वह देश सघन, अधिकसे अधिक
 फल देनेवाले और बिना जोते ही पैदा होनेवाले सभी प्रकारके अनाजोंसे देवकुह—उत्तम भोग-
 भूमिकी भाँति समृद्ध है । सूर्य आदि ग्रहोंके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह—सूखा आदि
 उसे छू भी नहीं सकते, जैसे दुर्जनोके द्वारा लगाये गये अपवाद निर्दोष मनुष्यको नहीं छू
 सकते ॥५॥ उस देशकी राजधानीका नाम चन्द्रपुरी है । वह पुरी सूर्यपुरीकी भाँति दोनों
 लोकोंमें विख्यात है । वह ऐसे महलोंसे मुशोभित है, जिनमें संगीतकी ध्वनि गूँजती रहती है,
 और जो अत्यधिक उन्नत होनेसे ऐसे प्रनीत होते हैं मानो चन्द्रबिम्बकी चूमनेके लिए उत्सुक
 हों ॥६॥ उस राजधानीके चारों ओर प्राकार-बहारदीवारी बना हुआ है । उसमें चारों

१. म गृहोत्था । २. आ तत्र । ३. न प्रचुरं । ४. = कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्यानि न
 कृष्टपच्यान्कृष्टपच्यानि ।

काचाद्रिप्रतिमबिलोलबोचिनाम्भःखातेनापरिमितकुक्षिणा निजेन ।

या शोभां वहति समन्ततः परीता तद्गङ्गाम्यभिलषता पयोधिनेष ॥८॥

यत्रोर्वोर्हृद्विनचयः परं वियोगी सर्पादिः समजनि केवलं विलापी ।

वैरस्यं परमतिपीडितेक्षुदण्डे संग्रामे परमभयद् गदाभिघातः ॥९॥

पातालोदरमिव सेधितं सङ्घर्षैर्नागानां हृदयमिधोरु सज्जनानाम् ।

शाक्यानां मतमिव यत्र भूमिकाभिर्बद्धीभिः स्थितमवभाति राजवेष्टम् ॥१०॥

विस्तीर्णतः शिखरावलोककार्यः विस्तीर्णानां विशालानामुन्नतानां प्रागुक्तं शिखराणामाकृत्य एव श्रेण्य एव (कराप्राणि तै) करार्धैर्हस्तादि । निराश्रयस्य निर्गताधारस्य । पवनपथस्य गगनस्य । काष्ठपात् दद्यात् । उत्तम्यां हस्ताधारम् । विदधन्ति कुर्वन्ति । भाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेसा ॥७॥ काचेति । काचाद्रिप्रतिमबिलोलबोचिना काचादेरञ्जनपर्वतस्य प्रतिमाः समाना विलोकादचञ्चला बोचयस्तरङ्गा यस्मिन् तेन । अपरिमितकुक्षिणा अपरिमितोऽप्रमितः कुक्षिरुदर यस्य तेन । निजेन स्वकीयेन । अम्भःखातेन अम्भसी जलस्य खातेन खातिकाया । तद्वत्तानि तस्य पुरस्य रत्नानि मणीन् । अभिलषता वाञ्छता । पयोधिनेष समुद्रेणैव । समन्ततः परितः । परीता परिवृता । या पुरी । शोभा मनोहररसम् । वहति धरति । वहि^१ प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ यत्रेति । यत्र चन्द्रपुर्याम् । परं केवलम् । उर्वोर्हृद्विनचयः उर्वोर्हृदगां भूधारां निचयः समूहः । वियोगी बोना पक्षिणां योगी संबन्धी । जनो^३ वियोगी न । केवलं परम् । सर्पादि भुजङ्गादिः । विलापी विलमानोतीति विलापी । विलापी^४ न विप्रलापकारी न । समजनि समजायत^५ । जनैर्^६ प्रादुर्भावे लुट् । वैरस्यं बिरसत्वम् । परं केवलम् । अतिपीडितेक्षुदण्डे अतिपीडिते यन्त्रेणातिमर्दिते दक्षणां रसालाना दण्डे यष्टौ समजनि^७ । परं केवलम् । संग्रामे रणे । गदाभिघातः गदया दण्डेनाभिघातः । गदामिघातः^८ गदैर्घादिभिरभिघातो बाधा । न अभवत् । परिरक्षा ॥९॥ पातालेति । यत्र पुर्याम् । पातालोदरमिव पातालस्याधोभागस्योदरमिव मध्यप्रदेश इव^९ । नागानां नागदेवतानाम्, (पक्षे) गजानाम् । सङ्घर्षः अनेकैः ।

दिशाओंमें चार बड़े-बड़े दरवाजे—फाटक बने हुए हैं, जिनके ऊपर लहंगते हुए झण्डोसे अपूर्व सुषमा छायी रहती है । वह प्राकार अपने विशाल और उन्नत-शिखररूपी हाथोंसे आकाशका स्पर्श करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह करुणावश, निराश्रय आकाशको हस्तावलम्बन देकर थामे हुए हो ॥७॥ राजधानीके चारों ओर परिखा बनी हुई है । उसमें अगाध जल भरा हुआ है । उसमें जो चंचल लहरें उत्पन्न होती हैं वे अजर्नागिर सरीखी प्रतीत होती हैं । उस परिखासे वह राजधानी ऐसी जान पड़ती है मानो उसके रत्नोंको पानेकी अभिलाषासे समुद्रने उसे सभी ओरसे घेर लिया हो । परिखासे राजधानीको अपूर्व शोभा है ॥८॥ वहाँपर केवल वृषाँका समूह ही वियोगी अर्थात् पक्षियोंके सम्पर्कसे युक्त है, किन्तु और कोई भी वियोगी—विरही नहीं है । वहाँपर केवल सर्प आदि जन्तु ही विलापी हैं—विलोके निवासी हैं, और कोई भी विलापी—विलाप करनेवाले नहीं है । वहाँ बिरसता या नीरसता केवल अच्छी तरह कोलूमे पेरे गये गन्धों पायी जाती है, और किसी भी मनुष्यमें नीरसता नहीं पायी जाती । तथा वहाँपर केवल संग्राममें ही गदाका प्रहार होता है, और किसीके भी ऊपर रोगका आक्रमण नहीं होता ॥९॥ वहाँका राजमहल देखते ही बनता है । जिस प्रकार पातालका मध्यभाग हजारों नागकुमार जातिके देवोंसे युक्त है, उसी प्रकार वह (राजमहल) हजारों

१. आ हस्तधारम् । २. आ वह । ३ = तत्रत्य कवचन मानवः । ४. = तत्र-यः कविचदपि ।

५. ज्ञ जायते स्म । ६. आ जनो । ७ = परं तत्रत्यं कस्मिन्निचदपि पुंसि वैरस्यं न समजनि । ८. = 'परं तत्र' इत्युपरिष्ठाद् योग्यम् । ९. श मध्यमिव ।

प्रख्यातः प्रशमरतः प्रतापराशिस्तत्रासीद्वनिपतिर्महाविसेनः ।

यः क्रान्ताखिलभुवनैर्गुणैरुदारैरिच्छाको कुलममलैरलङ्कारः ॥११॥

कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातयान्याम्यककुर्वजगति महीभूतः स्वकीर्त्या ।

कल्याणप्रकृतितया न कैषणं यः स्थैर्येणाप्यनुविदधे सुराचलेन्द्रम् ॥१२॥

लावण्यं भृशमदधादभूदगाधो रत्नानामपि परमालयो बहूनाम् ।

अन्वेतुं तदपि शशाक यं महच्छुं नाम्मोक्षिः प्रलयपराकृतव्यवस्थः ॥१३॥

सेवितम् आश्रितम् । सज्जनानां सत्पुण्याणाम् । हृदयमिव चित्तमिव । उच महत् । शाक्याना बौद्धानाम् । मतमिव समय इव । बहूभिः बहुलाभिः । भूमिकाभि माध्यमिक—सौवान्तिक-वैभाषिक—योगाचारादिमत-भेदैः, (पक्षे) तलैः । स्थितम् । राजवेश्म राजसदनम् । [अव—] भाति विराजते । लट् । उमा^२ ॥१०॥ प्रख्यात इति । तत्र पुर्याम् । यः । क्रान्ताखिलभुवनैः क्रान्तं व्याप्तमखिल सकलं भुवनं लोको यैस्ते । उदारः महद्भिः । अमलैः निर्मलैः । गुणैः माधुर्यादिभिः । इक्ष्वाकोः इक्षुन् आकायत्^३ इति इक्ष्वाकुः, तस्य पुत्रवैवस्य^४ । कुलं वंशम् । अलङ्कार भूभूष । (स.) । प्रशमरतः प्रशमे नयगुणे रतः प्रीतः । प्रतापराशिः प्रतापाना तेजसां राशिः पुञ्जः । महाविसेन । महासेन इति^५ । अवनिपतिः भूमिपतिः । आसीत् अभवत् । लट् । अतिशयः ॥११॥ कुन्देति । कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातया कुन्देन्दोर्माध्यचन्द्रयोर्द्युतीनां निकर इव निचय इक्ष्वा-दातया शुभ्रया । स्वकीर्त्या स्वाम्यारमनः कीर्त्या यशसा । अग्यान् शेषान् । महीभूतः भूपान्^६, पक्षे पर्वतादिव । जगति लोके । यत्कुर्वन् तिरस्कृन्न् । य. भूप. । न केवलं न परम् । कल्याणप्रकृतितया कल्याणस्य भद्रस्य, पक्षे सुवर्णस्य प्रकृतितया^७ स्वभावात्तया । स्थैर्येणापि धैर्येणापि, पक्षे स्थिरत्वेनापि । सुराचलेन्द्रं महामेघम् । अनुविदधे अनुकरोति स्म । दुषाञ् धारणे च लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ लावण्यमिति । भृशम् अत्यन्तम् । लावण्यं शरीरकाशितम्, लवणत्वमिति ध्वनिः । अदधात् धरति स्म । अगाधः अतलस्रांसः । बहूनां बहुला-नाम् । रत्नानामपि मणीनामपि । परमालयः प्रकृष्टनिलयः । अभूत् अभवत् । तदपि तथापि । प्रलयपराकृत-व्यवस्थः प्रलयेन प्रलयकालेन पराकृता निराकृता व्यवस्था मर्यादा यस्य स. । अम्भोक्षिः समुद्रः । महच्छुं महनी पृथ्वा इच्छा चित्तं यस्य तम् । यं भूषम् । अन्वेतुं सदृशो भवितुम् । न शशाक समयो न बभूव ।

हाथियोंसे युक्त है । जिस तरह सज्जनोंका हृदय विशाल होता है, उसी प्रकार वह भी विशाल है । जैसे बौद्धोंके मतमें अनेक भेद-प्रभेद है वैसे ही उसमें अनेक खण्ड हैं ॥१०॥ वहाँ महासेन नामक राजा राज्य करता था । वह शान्तिप्रेमी और प्रतापका पुंज था । वह सारे भूमण्डलमें विख्यात था । उसने समस्त संसारमें फैले हुए अपने महान् निर्मल गुणोंसे इक्ष्वाकु वंशको सुशोभित किया था ॥११॥ उसने कुन्दपुष्प और चन्द्रकिरणोंकी राशिके समान शुभ्र, अपनी कीर्तिसे इस भूतलपर अन्य सभी राजाओं (पर्वतों) को मात कर दिया था, तथा न केवल भद्र (स्वर्ण) प्रकृतिके कारण, वरन् स्थिरताके कारण भी सुमेरुपर्वतको अपने समान बना लिया था ॥१२॥ महासेनके शरीरपर मोती सरीखी आभा अत्यधिक मात्रामें थी । वह गम्भीर था, बहुतसे रत्नोंका आश्रय स्थान था और अत्यन्त उदारचेता था । यों समुद्र भी लावण्य—खारेपनसे युक्त होता है, खूब गहरा होता है और होता है अगणित रत्नोंका आकर, किन्तु फिर भी वह प्रलयकालमें अपनी मर्यादाको छोड़ देता है, जब कि महासेन बड़ेसे बड़े संकटके अवसरपर भी अपनी मर्यादाको नहीं बदलता रहा, अतः समुद्र उसकी बराबरी नहीं कर

१. अ. महोशं । २. आ अस्य नवमश्लोकस्य व्याख्यापूर्ववत् वर्तते । ३. आ आनायत । ४. श. मरुदेवस्य । ५. आ महाविसेनः महाविसेन इति । ६. आ भूपान् । ७. आ प्रकृतितया ।

शौर्यं नातिशयि समुज्जितं नयेन न क्षान्त्या रहितमुद्यारया प्रभुत्वम् ।
 यस्यान्वीक्षितयविनाकुता न विद्या विच्छिन्नानवरतदानभोगहीनम् ॥१४॥
 तस्योर्ध्वबलयविशेषकस्य राज्ञः पर्याप्ताननुगुणवर्णनैयतैश्च ।
 संसारार्णवमथनस्य भव्यमानोर्यद् भेजे सकलजगद्गुरोर्गुणत्वम् ॥१५॥
 तस्य शीरिव कमलालयादुपेता पातालादिव परिनिर्गताक्षान्त्या ।
 पुष्पेयो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥१६॥
 सच्छाया विपुलतरोर्महा संतेव मेघानामिध पदवी सतारतारा ।
 चापश्रीरिव वरवंशलब्धजन्मा या रेजे सुकविकथेय चारुवर्णा ॥१७॥

निषेधोपमा ॥१३॥ शौर्यमिति । यस्य भूपत्यः । अतिशयि अतिशयोपेतम् । शौर्यं सामर्थ्यम् । नयेन नयगुणेन । न समुज्जितं विरहितं न भवति । तस्य प्रभुत्वं स्वामित्वम् । उदारया महत्या । क्षान्त्या क्षमया । रहित समुज्जितं न । विद्या शास्त्रपरिज्ञानम् । विनयविनाकुता विनयेन विनयगुणेन विनाकुता अभावविहिता । नासीत् नाभवत् । विच्छिन्नं द्रव्यम् । अनवरतदानभोगहीनम् अनवरत सततं दानभोगाभ्या तयागानुभवाभ्या हीनं रहितम् । न स्यात्, सर्वं सार्थकमेव भवतीत्यर्थः ॥१४॥ तस्येति । यत् यस्मात् कारणत् । संसारार्णवस्य संसारसमुद्रस्य मध्यमस्य प्रमर्दनस्य । भव्यमानोः भव्यानां विनयजनानां^३ भानाः सुयस्य, सम्मार्गप्रकाशकस्येत्यर्थः । सकलजगद्गुरोः स्वामिनः । गुरुत्व पितृत्वम्^४ । भेजे भजतिस्म । लिट् । उर्ध्वबलयविशेषकस्य उर्ध्वी भूमेर्बलस्य मण्डलस्य विशेषकस्य तिलकस्य । तस्य महासेनस्य । राज्ञः भूस्य । गुणवर्णना गुणानां वर्णना कीर्तना । इत्येव एतावत्प्रमाणेनैव । पर्याप्ता संपूर्णा । ननु निश्चयम् ॥१५॥ तस्येति । कमलालयात् कमलमेवाल्य तस्मात् । उपेता आगता । श्रीरिव लक्ष्मीरिव । पातालात् अधोऽभुवनात् । परिनिर्गता आगता । अहिकन्येव नागकन्येव । पुष्पेयोः कामस्य । रतिरिव रतिदेवीव । तस्य महासेनभूपत्यः । सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी सर्वस्याखिलस्यान्तःपुरस्य निशान्तरस्य परमेश्वरी स्वामिनी । लक्ष्मणा इति लक्ष्मणादेवी इति । जाया प्राणवल्गुभा । बभूव भवति स्म । भू सत्ताया लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१६॥ सच्छायेति । विपुलतरोः विपुलस्य महतस्तरोर्बृक्षस्य । महासंतेव^५ वल्लरीव^६ । सच्छाया कान्तिमुक्ता, (पक्षे) अनातपसहिता । मेघानां जलधराणाम् । पदवीव वीथीव, गगनमिवेत्यर्थः । सुतारतारा मुनारा महत्पस्तारा मौक्तिकाः, पक्षे तारा नक्षत्राणि यस्या सा । चापश्रीरिव चापस्य धनुषः श्रीरिव शाश्वतः । वरवंशलब्धजन्मा वरे श्रेष्ठे वसो, सका ॥१७॥ उसका सर्वोत्कृष्ट पराक्रम नीतिसे रहित नहीं था, प्रभुता उत्तम क्षमासे रहित नहीं थी, विद्या विनयसे रहित नहीं थी और धन कभी भी दान और भोगसे हीन नहीं था ॥१४॥ राजा महामेन सारे भूमण्डलका तिलक था । निश्चय ही उसका गुणोंका वर्णन इतना ही पर्याप्त है कि वह संसारसमुद्रके मथन करनेवाले, भव्यजीवीको सम्मार्ग प्रदर्शन करनेके लिए सूर्यकी समता करनेवाले और सार संसारके गुरु बनेवाले भगवान् चन्द्रप्रभका गुरु-पिता था ॥१५॥ उसकी लक्ष्मणा नामकी पट्टरानी थी, जो सभी रानियोंमे प्रमुख थी, और जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो कमलरूपी आलयको छोड़कर आयी हुई लक्ष्मी ही, पातालसे निकलकर आयी हुई नागकन्या हो या कामदेवके पाससे आयी हुई रति (कामदेवकी पत्नी) हो ॥१६॥ जिस प्रकार विशाल वृक्षकी बहुत बड़ी शाखा अच्छी छायासे युक्त होती है उसी प्रकार पट्टरानी लक्ष्मणा अच्छी छाया-कान्तिसे युक्त थी; जिस तरह आकाश चमकती हुई ताराओंसे युक्त होता है उसी तरह वह चमकमाते निर्मल मोतियोंमे भूषित थी; जैसे धनुषकी सुषमा श्रेष्ठ

१. अ क ख ग घ म 'महातरो लं' । २. = पराक्रमः । ३. आ विनयजनानां, श विनीयजनानां । ४. श बौत्त्वम् । ५. = निश्चयेन । ६. = महाशाखेव । ७. श 'वल्लरीव' इति नोपलभ्यते ।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपचारे ।
 कार्कश्यं कुचयुगले न चापि यस्या भङ्गोऽभूदलकवये न चापि शीले ॥१८॥
 सौभाग्यं कचिद्वितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्थाद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम् ।
 यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्यायेण प्रमथति तादृशी न सृष्टिः ॥१९॥
 सर्वेषामपि तमसां छिदः पुरस्तात् तीर्थस्य क्षतरजसोऽष्टमस्य कर्ता ।
 यद्गर्भं गुणनिधिरात्मनाधिगच्छे कस्तस्या गुणगणनां विधातुमीशः ॥२०॥

गोत्रे, पक्षे वर्णौ लब्धं प्राप्तं जन्म जननं यस्याः^१ सा । सुकविः कथेव सुकविः महाकवीश्वरस्य कथेव वाणीय ।
 चाक्षवर्णा चाक्षमनोहरो वर्णः कान्तिः, पक्षे वर्णोऽक्षरं यस्याः सा । या देवी । रेजे प्राति स्म । लिट् । श्लेषो-
 पमा ॥१७॥ लोलत्वमिति । यस्याः लक्ष्मणायाः । नयनयुगे नयनयोर्वेनयोर्धुने युगले । लोलत्वं चञ्चलत्वम् ।
 चित्तवृत्तौ चित्तस्य मनसो वृत्तौ वर्तने । न नाभूत् । मन्दत्वम् आलस्यम् । गतिषु गमनेषु । सज्जनोपकारे
 सज्जनानां सत्पुरुषाणामुपचारे सत्कारे । न । कार्कश्यं कठिनत्वम् । कुचयुगले स्तनयुगले । चापि वचने । न ।
 भङ्गः कौटिल्यम् । अलकवये अलकानां पूर्णकुन्तलानां वये समूहे । शीले सदाचारः । न चाप्यभूत् नाभवत् ।
 परिसंख्या ॥१८॥ सौभाग्यमिति । क्वचित् कस्यांश्चित् स्त्रियाम् । सौभाग्यम् आदेयमूर्तित्वम् । इतरत्र
 अभ्यस्याम् । रूपमात्रं सौन्दर्यमात्रम् । क्वापि^२ कस्यामपि स्त्रियाम् । विनयगुणः विनयरूपो गुणः । अपरत्र
 अपरस्या बलितायाम् । शीलं सदाचारः । स्यात् भवेत् । यस्यां लक्ष्मणायाम् । तत्सर्वं तत्सकलम् । समुदितमेव
 युगपदेव । आसीत् अभवत् । तादृशी तद्रूपा । सृष्टिः स्त्रीसृष्टिः । प्रायेण बहुलेन^३ । न प्रभवति ॥१९॥
 सर्वेषामिति । पुरस्तात् अग्रे । सर्वेषामपि सकलजनानामपि । तमसाम् अज्ञानानाम् । छिदः नाशयतः ।
 क्षतरजसः क्षतं विनष्टं रजः पापं यस्य^४ तस्य । अष्टमस्य अष्टानां पूरणस्य । 'नो मद्' इति मद्—प्रत्ययः ।
 तीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता प्रभुः । गुणनिधिः गुणानामनन्तज्ञानादीनां निधिनिधानम् । यद्गर्भं यस्या
 लक्ष्मणाया गर्भमुदरम् । आत्मना स्वयमेव । अधिगच्छे प्रेरितवान् । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इति आधारे
 कर्म । तस्याः लक्ष्मणायाः । गुणगणानां गुणानां पातित्वादीनां गुणानां गणनां संख्याम् । विधातुं कर्तुम् । कः

बांससे उत्पन्न होती है वैसे बहु श्रेष्ठ वंशमे उत्पन्न हुई थी और जिस प्रकारसे अच्छे कविकी
 कथा सुन्दर वर्णोंसे युक्त होती है उसी प्रकारसे वह भी सुन्दर वर्ण-रंगसे युक्त थी । वह सभी
 दृष्टिसे सुन्दर थी । उसकी निराली शोभा थी ॥१७॥ उसके नेत्र युगलमें चंचलता थी, न कि
 मनोवृत्तिमें; उसकी चाल सालस-धीमी थी, किन्तु उसे सत्पुरुषोंके उपकार करनेमें आलस नहीं
 था; उसके स्तनयुगलमें कठोरता थी न कि बचनोंमें और उसके केशपाशमें घुँघरालापन था
 किन्तु उसका शील कभी स्वप्नमें भी भंग नहीं होता था ॥१८॥ किसी स्त्रीमें केवल सौभाग्य,
 किसीमें केवल रूप, किसीमें केवल विनय गुण, तो किसीमें केवल शील ही पाया जाता है,
 किन्तु पट्टरानी लक्ष्मणामें क्या सौभाग्य, क्या रूप, क्या विनय और क्या शील—ये सभी गुण
 एक ही साथ प्रकट हो गये थे । ऐसी स्त्रियोंकी सृष्टि प्रायः नहीं होती, होती भी है तो बहुत
 ही कम ॥१९॥ आगे जाकर सभी प्रकारके अज्ञानको मिटानेवाले, और पापोंको नष्ट करनेवाले
 अष्टम तीर्थके प्रवर्तक अत्यधिक गुणवान् भगवान् चन्द्रप्रभ जिसके गर्भमें अवतरित होंगे उसके

१. आ इ क ल ग घ ङ पकारे । २. आ इ दृष्टिः । ३. म तमसां स्थितिः । ४. क ल
 ग घ ङ परस्तात् । ५. = यथा । ६. = सुमगता । ७. वा 'अपि' नास्ति । ८. = बहुलम् ।
 ९. = येन ।

तां क्षोणीमिव चतुरर्णवावसानामायातां तनुमनुकृत्य मानवीयाम् ।
 प्राप्योर्ध्वपतिरखिलेन्द्रियार्थसारात्मात्मानं स कलयति स्म सावर्भौमम् ॥२१॥
 व्यासकस्तद्वचरपल्लवे स राज्यधीचिन्तामपि शिथिलीचकार भूपः ।
 प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः ॥२२॥
 निर्मग्नं विषयसुखाम्बुधावगाधे तं मन्दोद्यममवधार्य राजकार्ये ।
 स्वातन्त्र्यं ययुरखिलानि मण्डलानि मन्दत्वं भवति न कस्य वामिभूत्यै ॥२३॥
 व्युत्थानं सखिवमुक्ताश्चक्षुः राज्ञां राजेन्द्रो निजमभिनिन्द्य च प्रमादम् ।
 निर्जतुं स दश विशोऽन्यदा प्रतस्थे सामन्तैः परिकलितः^१ सहस्रसंख्यैः ॥२४॥

को वा । ईश. समर्थ. । अतिशय ॥२०॥ तामिति । स. उर्वीपतिः महासेनभूपतिः । मानवीया मनुष्यसंबन्धि-
 नीम् । तनुं शरीरम् । अनुकृत्य धृत्वेत्यर्थः । आयातां विशालाम् [आयातां] (समागतम्) । चतुरर्णवा-
 वसानां चत्वारोऽर्णवाः समुद्राः चतुरर्णवास्त एवावसाना अवधयो यस्यां ताम् । क्षोणीमिव भूमिमिव^३ ।
 अखिलेन्द्रियार्थसाराम् अखिलानां निखिलानामिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणामवधानां विषयाणां सारा सारभूताम् ।
 ता लक्ष्मणाम् । प्राप्य लब्ध्वा । आत्मानं स्वम् । सावर्भौमं चक्रवर्तिनम् । कलयतिस्म मग्न्यन्ते स्म । कल
 संख्याते लट् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥ व्यासक इति । तद्वचरपल्लवे तस्या लक्ष्मणाया अथ एव ओष्ठ एव पल्लवः
 किसलयं तस्मिन् । व्यासकः आसक । भूप महासेनभूतः । राज्यधीचिन्तामपि राज्यस्य श्रियः
 संपदश्चिन्तामाध्यानमपि । शिथिलीचकार प्रायश्शिथिला इदानीं शिथिला (शिथिला ता) चकार ।
 लिट् । तथा हि । स्थिरमतयोऽपि स्थिरया स्थिररूपया मत्या बुद्ध्या युक्ता अपि । मदनफलैरिव^४
 इन्द्रियाणैरिव, पञ्चेन्द्रियविषयैः । प्रायेण तावत् बाहुन्येन । विप्रमोहं भ्रान्तिम् । नीयन्ते प्राप्नु-
 वन्ति । णीष् प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२२॥ निर्मग्नमिति । अगाधे अतलस्थसं । विषयसुखाम्बुधौ
 विषयाणां पञ्चेन्द्रियाणां^५ मुखमेवाम्बुधिः समुद्रः तस्मिन् । निर्मग्नं प्रविष्टम् । राजकार्यं राज्ञा भूपाना कार्यं दुष्ट-
 निग्रहादिकार्यं कृत्यैः । मन्दोद्यमम् अल्पोद्योगम् । तं महासेनम् । अवधार्य निश्चित्य । अखिलानि सर्वाणि ।
 मण्डलानि^६ भूवलयाणि । स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वम् । ययुः यान्ति स्म । सकलदेशाविषाः स्वाधोना बभूवुः कथ्यर्थः ।
 मन्दत्वम् अलसत्वम् । कस्य वा पुष्पस्य । अमिभूत्यै तिरस्करणाय । न भवति किन्तु^७ भवत्येव । अर्थान्तरन्यासः
 ॥२३॥ व्युत्थानमिति । राजेन्द्रः राजश्रेष्ठः । सः महासेनः । सखिवमुक्तात् मन्त्रिवदमात्^८ । राज्ञा सामन्तभूषा-
 नाम् । व्युत्थानं विरोधाचरणम्^९ । निषम्य श्रुत्वा । निजं स्वकीयम् । प्रमादं^{१०} मतिविभ्रमम् । अभिनिन्द्य च

गुणोंकी गणना भला कौन कर सकता है ? ॥२०॥ पट्टरानी लक्ष्मणा ऐसी जान पड़ती थी
 मानो वह मानव देह धारण करके उपस्थित हुई, चारों समुद्रोंसे वेष्टित विशाल भूमि हो । वह
 सभी इन्द्रियोंके विषयोंका सार थी । उसे पाकर महासेनने अपनेको सावर्भौम-चक्रवर्ती माना
 ॥२१॥ लक्ष्मणके अथरपल्लवमें आसक्त होकर राजा महासेनने राज्यलक्ष्मीको चिन्ताको भी
 कम कर दिया । सच तो यह है कि जिनकी बुद्धि स्थिर है वे भी धतूरेके फल सरोखे पञ्चेन्द्रियों-
 के विषयोंसे मोहित कर दिये जाते हैं ॥२२॥ महासेन विषयसुखके अगाध समुद्रमें मग्न रहने
 लगा और उसने राजकीय कार्योंमें झोल डाल दी । यह जानकर सारी छोटी-बड़ी रियासतें—
 जो अधीन रही—स्वतन्त्र हो गयीं ! आलस किसके अपमानके लिए नहीं होता ? ॥२३॥
 अपने मन्त्रियोंके मुखसे, अनेक अधीन राजाओंके सिर उठानेके समाचार सुनकर राजाधिराज

१. आ इ कलयते । २. क ल ग च म परिकरितः । ३. क्ष 'भूमिमिव' इति नास्ति । ४. = धतूर-
 फलैरिव । ५. = पञ्चेन्द्रियसंबन्धिनः । ६. = सामन्तानां राज्यभूभागः । ७. = सर्वेषामपि । ८. क्ष
 वचनात् । ९. आ 'विरोधाचरणम्' इति पदं तोषमप्यते । १०. = अनवधानताम् ।

प्राक्प्राची^१ विशमुपचरत् धृतचन्वा कृत्वाथ स्वशरारज्यमङ्गराजम् ।
 कारुण्यात्प्रणतिपरे रराज राज्यं तस्मै ली विद्धदुपायनीकृतेभे ॥२४॥
 प्रोद्दामद्विरवदप्रभेदेनिर्यथोपासुक्लुतरथचक्रकवाले ।
 तेनाजौ प्रविद्धिरे कलिङ्गभर्तुः कामिन्यो बलमविहीयमानहस्ताः ॥२५॥
 पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं स्वप्रीधानिहितकुठारमेकवीरः^२ ।
 पञ्चालाधिपतिमसौ व्ययुङ्क्त रत्नैर्न प्राणैः प्रणतकृपालवो महान्तः ॥२७॥

निन्दयित्वा । सहस्रसंख्येः अनेकैः । सामन्तैः^३ राजभिः । परिकलितः युक्त सः । दशदिशः दशकुम्भः ।
 निर्जैतुं विजयनिमित्तम् । अन्यथा अन्यस्मिन् काले । प्रतस्थे निर्जंगाम । ष्टा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥२४॥ प्रागिति ।
 धृतचन्वा धृतं कम्पितं चन्व^४ येन सः । सः महासेनः । प्राक् प्रथमम् । प्राची पूर्वम् । दिशं कुकुम्भम् । उपसृत्य
 गत्वा । अङ्गराजम् अङ्गदेशराजम् । स्वशरारज्यं स्वस्य शरस्य बाणस्य शरज्यं लक्षम् । कृत्वा विधाय ।
 प्रणतिपरे प्रणतो प्रणमने परे तत्परे । उपायनीकृते उपायनोक्ता उपमाया (ह्वाः) विहिता गवा येन तस्मिन् ।
 तस्मै तस्याङ्गराजस्य सूनौ पुत्रे । राज्यं प्रभुत्वम् । विवधत् कुर्वन् सन् । रराज भाति स्म । लिट् ॥२५॥
 प्रोद्दामेति । तेन राजा । प्रोद्दामद्विरवदप्रभेदेनिर्यथोपासुक्लुतरथचक्रकवाले प्रोद्दाम्ना द्विरवाना गजानां रवाना
 दन्तानां प्रभेदेन विचारणेन निर्यथा निर्गच्छता योधाना भटानामसृजा रक्तेन प्लुताभ्याद्वितानि रथानां स्यन्दनानां
 चक्राणि रथाङ्गानि^५ चक्रवाले मण्डले यस्य तस्मिन् । आजौ संग्रामे । कलिङ्गभर्तुः कलिङ्गस्य कलिङ्गदेशस्य
 भर्तुः राजा । कामिन्यः वनिताः । बलमविहीयमानहस्ताः बलमैः कङ्करीविहीयमाना विमुच्यामना हस्ता पाणयो
 यासा ताः । प्रविद्धिरे प्रचक्रिरे । दुधाम धारणे च कर्मणि लिट् ॥२६॥ पादाब्जेति । एकवीरः एकशूरः ।
 असौ महासेनः । पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं पादाब्जयोः पादारब्जद्वयोद्वये द्वये शिलीमुखायमानं^६ शिली-
 मुख इव भ्रमर इवावर्यमाणम् । स्वप्रीधानिहितकुठारं स्वस्यात्मनो ग्रंथायां कण्ठे निहितः स्थापितः कुठारः परशु-
 येन तम् । पाञ्चालाधिपतिं पाञ्चालस्य पाञ्चालदेशस्याधिपतिं पतिम् । रत्नैः मणिभिः । व्ययुङ्क्त रहितम-
 करोत् । युज्ज् धौगे लङ् । प्राणैः असुभिः । न न व्ययुङ्क्त । पादाब्जविनतः पात् तेनोपायनीकृतं रत्नमेव
 गृहीतवान् प्राणापहारं न कृतवानित्यर्थः । तथा हि । महान्तः सत्पुरुषाः । प्रणतकृपालवः प्रणतानां विनतानां-

महासेनने अपने प्रमादकी निन्दा की, और फिर वह हजारों सामन्तोसे युक्त होकर दस
 दिशाओंको जीतनेके लिए निकल पड़ा ॥२४॥ इसके पश्चात् वह सबसे पहले पूर्व दिशामे
 गया । उसके हाथमे धनुष था । उसने प्रथमतः अंगदेश (जहाँ आज जिला हजारीबाग है) के
 राजाको अपने बाणका लक्ष्य बनाया । यह देखकर उस (अंगदेशके राजा) का राजकुमार,
 महासेनके चरणोंमें झुक गया और उसे उसने उपहारमें हाथी प्रदान किये । महासेनको दया
 आ गयी । फलतः उसने अंगदेशका राज्य वहाँके राजकुमारको दे दिया । इसीमें उसकी शोभा
 थी ॥२५॥ मदमाते दुर्दम हाथियोंके दाँतोंके प्रहारसे घायल हुए सैनिकोंके रक्तसे संग्रामभूमि
 तर हो गयी और उसमें रथोंके पहिये सन गये । ऐसे घोर संग्राममें महामेनने कलिंग (उड़ीसा)
 नरेशकी रानियोंके हाथोंको बूझियोंसे मुक्त कर दिया—नरेशको मारकर उन्हें विधवा बना
 दिया ॥२६॥ पांचाल देशका राजा अपने गलेमें कुठार लटकाकर—दीनतापूर्वक महासेनके
 निकट गया, और उसके चरणकमलोंमें भौंरेकी भाँति लीन हो गया—उसकी शरण ले ली ।
 महासेनने उसे शरणागत मानकर जीवित छोड़ दिया, तथा उसके द्वारा उपहारमें दिये गये

१. अ क ख ग घ म प्राक्पूर्वा । २. आ इ^३ वीरः । ३. श 'सामन्तैः' इति नास्ति । ४. आ धनुः ।

५. = तेषां चक्रवाले मण्डलं यस्मिन् । ६. आ मध्ये । ७. = भ्रमरावर्यमाणं ।

संछन्नाखिलककुभो घनानिबौद्धाजिर्धु^१ आयुषजनिताचिरांशुरोमान् ।
 चेदीशं द्रुममिव निघ्नतः समूलं तस्यासीम्मरुदनुकारकारि वीर्यम् ॥२८॥
 संप्राप्तस्तदभुवि पूर्ववारिराशेरुद्वेलः क्षितितलपालिनो बलौघः ।
 प्रोत्खात^२ द्विषदवनीरुहप्रतानो जहोऽसावपरपयोधिसंगमाभः ॥२९॥
 कल्लोलोच्चलितविदीर्णशुक्तिमुक्तां ते मुक्तावलिमनुवेलमिन्दुगौरीम् ।
 गच्छन्तीमिव रिपुकीर्तिमब्धिपारं गृह्णन्तः क्षितिपतिसैनिका विरेजुः ॥३०॥

मुपरि कृपालवो दयायुक्ताः हि । 'कृपाहृदयादालुः' इति आलु-प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासः ॥२७॥ संछन्नेति । घनानिब मेघानिब । संछन्नाखिलककुभः संछन्ना आच्छादिता अखिलाः सकलाः ककुभो दिशो वैस्तान् । आयुष-जनितांशुरोमान् आयुषेन खड्गेन जनितेन जातेन अंशुना किरणेन गोभा येथा तान् । औद्गान् औद्गदेशभूपान् । निर्युष कम्पयित्वा । चेदीशं चेदिदेशाधिपतिम् । द्रुममिव वृधमिव । समूलं मूलसहितम् । निघ्नतः विनाशयतः । तस्य महासेनस्य । वीर्यं सामर्थ्यम् । मरुदनुकारकारि मरुतो वायोरनुकार^३ समानं करोतीत्येवं शीलम् । आसीत् अभूत् । लङ् । उपमा ॥२८॥ संप्राप्त इति । पूर्ववारिराशिः (शेः) पूर्वसमुद्रः (पूर्वसमुद्रस्य) । तटभुवि तीरभूमौ । संप्राप्तः संगतः । उद्वेलः वेला मर्यादामुद्गतः । प्रोत्खातद्विषदवनीरुहप्रतान प्रोत्खातं द्विषद एव अरातय एव अवनोरुहा वृक्षाः तेषां प्रतानं समूहो येन स । असौ अयम् । क्षितितलपालिनः क्षितितलं भूतलं पालिनो रक्षकस्य महासेनस्य । बलौघः बलानां सैन्यानामोघः समूहः । अपरपयोधिसङ्ग्रामः अपरस्य पश्चिमस्य पयोधेः समुद्रस्य सङ्ग्रामस्य संसर्गस्याभः^४ सद्गः । पश्चिमसमुद्रः पूर्वसमुद्रस्पृष्ट इव सेनानिवहो जात इत्यभिप्रायः । जहो जायते स्म । लिट् । उपमा ॥२९॥ कल्लोलेभिः । अनुवेलं वेलायास्तटस्य समीपे । 'सर्नापे' इत्यमुना अवयवीभावः । गच्छन्ती यास्तीम् । इन्दुगौरीम् इन्दुरिब चन्द्र इव गौरी शुभ्राम् । कल्लोलोच्चलितः^५ विदीर्णशुक्तिमुक्तां कल्लोलानां महातरङ्गाणामुच्चलितेनोर्ध्वचलनेन विदीर्णीभिर्मिन्माभिः शुक्तिमिमूक्तां पतिताम् । मुक्तावलि मुक्तानां मौक्तिकानामावलि पङ्क्तिम् । रिपुकीर्तिमिव रिपूणां शत्रूणां कीर्तिमिव । अब्धिपारं समुद्रतीरं^६ । गृह्णन्तः । क्षितिपतिसैनिकाः क्षितिपतेर्महासेनस्य सैनिकाः सेनाचराः । रेजुः भास्ति-

रत्नोंको स्वीकार कर लिया । मरुद् पुरुष, विनम्र व्यक्तियोंपर दया रखते हैं ॥२७॥ उद्देशके राजे मेघोंके समान थे । जिस प्रकार मेघ सभी दिशाओंको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार-से उद्देशके राजे सारी दिशाओंको आच्छादित कर रहे थे—सभी दिशाओंमें छाये हुए थे । मेघोंको बिजली सुशोभित करती है, तो उन राजोंको आयुषरूपा बिजली सुशोभित कर रही थी । उन सभीको कम्पित करके महासेनने—जिसका पराक्रम वायु सरोखा था—चेदिदेशके नरेशको वृक्षको तरह मूलसे उखाड़ दिया ॥२८॥ समस्त भूतलके पालन करनेवाले राजा महासेनकी चारों सेनाओका समूह—जो सीमातीत था, तथा जिसने शत्रुरूपी वृक्षोंके मण्डलको उखाड़ डाला था—पूर्व समुद्रके तटपर पहुँच कर ऐसा जान पड़ा मानो दूसरा (पश्चिम) समुद्र पूर्व समुद्रसे जा मिला हो ॥२९॥ उताल तरंगोंसे उछलकर फूटी हुई सीपोंसे जो मोती निकल पड़े थे, उनको पवित—जो चन्द्रमाके समान सफेद थी—पूर्व समुद्रके तटपर बिखरी पड़ी थी, उसे महासेनके जो सैनिक ग्रहण कर रहे थे, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बहसि दूमरे

१. आ इ 'निबोद्धानिर्धूयाः; म' निबोद्धानिर्धूयाः । २. अ प्राणात् । ३. = अनुकरणं । ४. = आमेवाभा यस्य स, तत्सदृश इत्यर्थः । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु निखिलास्वपि च्छलित इत्येव दृश्यते । ६. = समुद्रतीरं ।

ते पोत्वा प्रहरणधारिणामरीणामायुर्मिः सह शुचिनालिकैरनीरम् ।

वेलान्तर्षणविधरेषु तस्य योधाः कङ्कोलानिलविहृतश्रमा बबलुः ॥३१॥

स स्तम्भं जयककुद् निपूदितारिवेलाद्ग्रेः शिरसि निष्ठानयांबूषम् ।

आन्ताखिलककुम्भः स्वकीयकीर्तेर्विश्रान्त्यास्पदमिव नाकमाकल्लोः ॥३२॥

भूमर्तुर्विशममिदंक्षिणां यियासोः सैन्योत्थैरथ पथि सैकतै रजोभिः ।

कुर्वद्भिः सितमुडुवर्मं तस्य काष्ण्यं शत्रूणामिव समघार्थताननेषु ॥३३॥

तत्रासौ समुपगतः समुद्यतासिराम्भीणां^१ रणविनिपातितप्रियाणाम् ।

संपूर्णं तुलिनकलङ्कगण्डमिसि व्यालम्बालकमकृताननेन्दुबिम्बम् ॥३४॥

स्म । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३०॥ त इति । तस्म भूपस्य । ते योधाः ते भटाः । प्रहरणधारिणां सङ्गधारिणाम् । अरीणां शत्रूणाम् । आयुर्मिः आयुष्यै । सह । शुचि निर्मलम् । नालिकैरनीरं नालिकैरस्य नीरमुदकम् । पोत्वा पानं कृत्वा । वेलान्तर्षणविधरेषु वेलायास्तटस्यान्तर्षणानां समीपवनानां विधरेषु मध्येषु । 'प्राग्नेऽन्तः—' इत्यादिना वनशब्दस्य णत्वम् । कक्कोलानिलविहृतश्रमाः कक्कोलात् कक्कोलं नामगन्धवृक्षवनाद्यामतेनामिलेन वायुना विहृतो निराकृत श्रम आयासो येषां ते । भूत्वा । बबलुः (बबलुः) बलन्ति स्म । बलुः बलने क्तिट् । सहङ्कि ॥३१॥ स इति । निपूदितारिः निपूदिता हिसिता अरयो रिपवो येन सः । सः महासेन । प्रभाषा-विलककुम्भः प्रभाषाः प्रचलिता अखिला सकला ककुमो दिशो यया तस्याः । नाकं स्वर्गम् । आकल्लोः आरुद्धमिच्छो । स्वकीयकीर्तेः स्वसंबन्धिन्याः कीर्तयंशसः । विश्रान्त्यास्पदमिव विश्रान्त्या विश्रमस्यास्पदमिव प्रदेशवत्^२ । जयककुद् जयस्य ककुद् चिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलङ्के च वृक्षाङ्गे ककुद्देऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तम्भ निश्चलस्तम्भम् । वेलाद्ग्रेः वेलापर्वतस्य । शिरसि अग्रे । निष्ठानया बभूव स्थापयति स्म । अनूज् अवधारणे^३ णिजन्ताल्लिट् उत्प्रेक्षा ॥३२॥ भूमर्तुरिति । अथ जयस्तम्भस्थापनान्तरम् । पथि मार्गे । दक्षिणाम् अवाचीम् । दिशम् अग्नि दिशं प्रति । 'वीप्स्य—' इत्यादिना अग्नि-भोगे द्वितीया । यियासोः यातुमिच्छोः । भूमर्तुं भूमिपतेः । सैन्योत्थैः सैन्येन सेनया उत्थैः समुद्भूतैः । उडुवर्मं गगनम् । सितं बबलम् । कुर्वद्भिः विदधद्भिः^४ । सैकतैः शुभ्रमिलितैः (शुभ्रसितकृतयुतैः) । रजोभिः रेणुभिः । तस्य गगनस्य । काष्ण्यं कुल्लत्वंम् । यया तथा क्रियाविशेषणम् । शत्रूणां रिपूणाम् । आननेषु मुखेषु । समघार्थत इव समबलिप्यत इव । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ तत्रेति । तत्र दिशि । समुपगतः आगतः । समुद्यतासिः समुद्यत उत्साहोऽसिः सङ्गो येन सः । असौ

तटपर जानेवाली, शत्रुओंकी कीर्तिको पकड़ रहे हों ॥३०॥ महासेनके सैनिकोंने युद्धमें सशस्त्र शत्रुओंकी आयुको नरियलके शूद्र और शुभ्र जलके साथ पीकर पूर्व समुद्रतटके निकटवर्ती बनोके बीचमें सैर करना शुरू कर दिया । वहाँ कक्कोल वृक्षोंके स्पर्शसे सुख देनेवाली वायुका सेवन करनेसे उनकी थकान दूर हो गयी ॥३१॥ शत्रुओंपर विजय पानेवाले राजा महासेनने पूर्व समुद्र-तटके निकटवर्ती पर्वतके शिखरपर विजयका चिह्न स्वरूप एक स्तम्भ स्थापित कर दिया, जो ऐसा जान पड़ता था मानो सभी दिशाओंमें परिभ्रमण करके स्वर्ग जानेके लिए उत्सुक हुई, उसको कीर्तिका विश्राम करनेका स्थान हो ॥३२॥ इसके पश्चात् महासेनके मनमें दक्षिण दिशाकी ओर जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई अतः ज्यों ही वह आगे बढ़ा त्यों ही मार्गमें धूलि उड़ने लगी, जिसमें बालूके सफेद कण मिले हुए थे । उसने आकाशकी सफेद कर दिया । इस अवसर-पर आकाशकी कालिमा विलकुल ही अदृश्य हो गयी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी कालिमा महासेनके शत्रुओंके मुखपर पीत दी गयी है ॥३३॥ दक्षिणमें पहुँचते ही

१. म कङ्कोलां । २. अ आ इ रन्ध्रीणा । ३. वा कक्कोलं । ४. = प्रवेशमिव । ५. आ वा अवधारणे । ६. वा 'विदधद्भिः' इति पदं नास्ति ।

यत्काचेष्विष भृशमन्यपार्थिवेषु न स्यात्किं व्यपगतधामसु प्रपेदे ।

कणाटिष्यजनि परिस्फुटं तदीयं तद्गानोरिव तपनोपलेषु तेजः ॥३५॥

सामन्तोर्पचितचमूपयुक्ततोषा रिक्तत्वं ययुरचिरेण याः सरस्यः ।

तादृशत्र द्रमिलवधूवियोगत्राभ्रुक्षोतोभिः स पुनरपूरयत्प्रवृद्धः ॥३६॥

घर्षद्भिर्मलयगिरौ महागजानां प्रवेयैरहपत चन्दनेषु येऽङ्गाः ।

नस्योर्ध्वतलतिकायमानकीर्तस्तेऽपाचाप्रविजयसाक्षिणो बभूवुः ॥३७॥

महासेनः । रणविनिपातितप्रियाणां रणे संधामे विनिपातिता निहिंसिताः प्रिया प्राणकान्ता मासां तासाम् ।
जान्त्रोणां तेलुगु^१ देशस्त्रीणाम् । सपूर्णं परिपूर्णम् । आननेन्दुबिम्बम् आननं मुखं तदेवेन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलम् ।
तुलितकलङ्कगणधितिभ्यालम्बालकं तुलितः सट्टीकृतः^२ कलङ्को र्गन्ते तुलितकलङ्का गणधितौ गण्डप्रदेशे
भ्यालम्बाः लम्बमाना अलकाचूर्णकुन्तला यस्य तत् । अकृत अकरोति । इकृञ् करणे लुङ् । तस्य दुःखेन
मुक्तकेशं कृतवानित्यर्थः । रूपकम् ॥३४॥ यदिनि । यत् तेजः । काचेष्विष काचमणिष्विव । व्यपगतधामसु
व्यपगतमपनीतं धाम कान्तिः प्रपापो मेषा तेषु । अन्यपार्थिवेषु शत्रुभूषालेषु^३ । भृशम् अत्यन्तम् । स्यात्किं^४ ।
यादुर्मतिम् । न प्रपेदे न जगाम । पदि यतो लिट् । तदीयं तेषा संबन्धि । तत् तेजः कान्तिः प्रतापः । तपनोप-
लेषु सूर्यकान्तसिलासु । गानोरिव मूर्यस्य तेज इव । कणाटिषु कणाटिभूषेषु । परिस्फुटं व्यक्तम् । अजनि अभूत् ।
लुङ् । उपमा ॥३५॥ सामन्त इति । सामन्तोर्पचितचमूपयुक्ततोषा सामन्तैः राजभिरुपचितया चम्बा सेनया
उपनुक्तं तोयं जलं यासां ताः । या सरस्य सरोवराः । अचिरेण जीघ्रम् । रिक्तत्वं जलशून्यत्वम् । ययुः
यान्ति स्म । तत्र देशे । प्रवृद्धे, अधिकः । द्रविड^५ वधूवियोगत्राभ्रुक्षोतोभिः द्रविडस्य^६ द्रविड^७ देशस्य वधूना वनि-
तामां वियोगजाना दुःखजनितानामधूना नयनोदकानां क्षोतोभिः प्रवाहैः । पुन पश्चात् । अपूरयत् पूरयति
स्म^८ । पूर आप्यायने णिङ्गन्तल्लङ् । परिवृत्तिः ॥३६॥ घर्षद्भिरिति । मलयगिरौ मलयपर्वते । चन्दनेषु
गन्धसारेषु । महागजानां महाकरिणाम् । घर्षद्भिः मर्दयद्भिः । वेवेयै कण्टवध (१) त्रामि । ये अङ्गाः
यानि चित्तानि । अकृषत अकुरुत । लुङ् । उर्ध्वतलतिकायमानकीर्तं । उर्ध्वतलस्य भूतलस्य तिलकायमाना
कीर्तियस्य तस्य । तस्य भूपस्य । काः (ते) । अपाचाप्रविजयसाक्षिणः अपाच्या दक्षिणदिशः प्रविजयस्य

महासेनने लंगी तलवार लेकर संध्राममें आन्ध्रदेशको स्त्रियोके—जिनके पति युद्धमें मार दिये
गये थे—बिल्वरे हुए केवोसि युक्त मुखको पूर्णमासीके सकलंक चन्द्रमण्डलके समान बना दिया
॥३४॥ काच सरोखे निस्तेज अन्य राजाजोमे महासेनका जो तेज व्यक्त नहीं हुआ था, बहु
कणाटिक देशके तेजस्वी राजाओंमें खूब हो व्यक्त हुआ, जैसे सूर्यका तेज सूर्यकान्त मणियोंमें
व्यक्त होता है ॥३५॥ इसके पश्चात् महासेन द्रविड देशमे पहुँचा । वहाँपर उसके सामन्तोंको
भारी सेनाओंने जिन जलाशयोंके जलका उपयोग किया वे खाली हो गये, पर महासेनने युद्ध-
भूमिमें मुकाबला करनेके लिए आये हुए वोगोंको अमरलोकका यात्री बनाकर उनको स्त्रियोके
नेत्रोंसे उमड़े हुए अश्रुप्रवाहको प्रवाहित करके उन (रिक्त जलाशयों) को फिरसे भर दिया ॥३६॥
मलय पर्वतपर महासेनके बड़े-बड़े हाथियोने अपनी घोवा रगड़कर उसमे बैवी हुई जमीरोंके
संघर्षणसे चन्दनके वृक्षोंमें जो चित्त बना दिये थे वे उस (महासेन) के—जिसकी कीर्ति

१. ज. मलयगिरिम् । २. आ कलिङ्गम् । ३. आ सट्टीकृतः । ४. ज. 'शत्रुभूषालेषु' इति नास्ति ।
५. = क्षात्रव्यक्ति । ६. क्ष द्रविड । ७. क्ष द्रविलस्य । ८. क्ष द्रविड । ९. स अपूरयत् पूरयति स्म ।

पण्यस्त्रीमिव समुपास्तपत्रपूरीस्तेर्मुक्त्वा मलयजभूषितामपाचीम् ।
 संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा तद्योधेर्दुर्लभकटाक्षि पश्चिमाशा ॥३८॥
 भूपाले विजितसमस्तदक्षिणाशे यत्राभूत्प्रतिहतशक्तिरन्धकोऽपि ।
 कस्तत्र त्वमिति मरुचलः प्रचक्रे तच्चित्तेरिव वरुणापसारसंज्ञा ॥३९॥
 लाटीनां कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहतजर्जरे पुरैव ।
 लाटीये हृदयतटे पतंस्तदीयः शस्त्रौघः परमजनिष्ठ कीर्तिभागी ॥४०॥

अयस्य साक्षिणः साक्षाद्युताः (?) । बभूवुः भवन्ति स्म लिट् ॥३७॥ पण्यस्त्रीमिति । समुपास्तपत्रपूरैः
 समुपास्तः स्वीकृतः पत्राणां बाहुनानां पूगे निबद्धो यैस्तेः, पक्षैः पत्रसंहतियुतैः । 'पत्रं बाहुनपण्यैः' इत्यमरः ।
 'पूगः क्रमुकहृदयोः' इत्यमरः । तद्योधैः तस्य महासेनस्य योधैर्मण्डैः । पण्यस्त्रीमिव वेष्या (वेष) स्त्रीमिव ।
 मलयजभूषितां मलयजेन श्रीगन्धेन भूषितामलंकृताम् । अपाची^४ दक्षिणाशाम् । भुक्त्वा अनुभूय । संसर्पत्परि-
 मलकुङ्कुमाभिरामा संसर्पता विसर्पता परिमलेन मुरभिणा युक्तेन कुङ्कुमेन कायपीरजेनाभिरामा मनोहरा ।
 पश्चिमशाखा प्रतीची । दूतं शीघ्रम् । अकटाक्षि^५ कटाक्षमकार्षात् । कटाक्ष इत्यस्य सुव्धातो ह्रुङ् । श्लेषोपमा^६
 ॥३८॥ भूपाल इति । यत्र यस्मिन् । भूपाले महासेने । विजितसमस्तदक्षिणाशे विजिता जिता समस्ता दक्षिणा
 आशा येन तस्मिन् सति । अन्धकोऽपि यमोऽपि । प्रतिहतशक्तिः प्रतिहृता नष्टा शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः ।
 अभूत् अभवत् । लुङ् । तत्र महासेनमहाराजे । त्वं भवान् । कः कियान् । इति एवम् । मरुचलः मरुता
 वायुना चलश्चलनयुक्तः । तच्चिह्नं तस्य राजचिह्नं पताकाभिः^७ । वरुणापसारसंज्ञा वरुणस्य पश्चिम-
 दिक्पालस्यापसारस्यापसारणस्य संज्ञा सूचना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् । उपप्रेषा ॥३९॥ लाटीनां-
 मिति । पुरैव प्रागेव । लाटीनां लाटवेद्यवितानानाम् । कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहत (ति) बभूवे
 कठिनस्य कर्कशस्य बृहदो महतः पयोधरस्याग्रस्याग्रमगम्य^८ संघट्टेन मर्दनेन प्रतिहृतेन जर्जरे शिथिले ।
 लाटीये^९ ल (ला) ददेशराजानां संबन्धे^{१०} । हृदयतटे हृदयप्रदेशे । पतन् निपतन् । तदीयः तस्य राज्ञः
 सवन्धः^{११} । शस्त्रौघः शस्त्राणामायुधानामोघः । कीर्तिभागी कीर्तिभाक् । परम् उत्कृष्टम् । अजनिष्ठ जायते

पृथ्वीपर तिलककी भाँति सुशोभित है—दक्षिण दिशाकी विजयके साक्षी ये ॥३७॥ महासेनके
 सैनिक विलासियोंके समान थे । जिस प्रकार विलासी पुरुष चन्दन आदिसे भूषित एक वेश्याको
 भोगकर और आवभगतमें उससे ताम्बूल तथा सुपाड़ी स्वीकार करके सुगन्धित कुंकुम आदिसे
 सुन्दर प्रतीत होनेवाली अन्य वेश्याकी ओर कटाक्ष विक्षेप करते हैं, उसी प्रकार चन्दन-वृक्षसे
 विभूषित दक्षिण दिशाका निरीक्षण करके और वहाँके बाहुनोंके समुदाय या पान सुपाड़ीको
 स्वीकार करके महासेनके सैनिकोंने पश्चिम दिशाकी ओर दृष्टि डाली, जो सुगन्ध फैलानेवाली
 कुंकुमसे मनोज्ञ थी ॥३८॥ 'जिस राजा महासेनके द्वारा सारी दक्षिण दिशा जीत लेनेपर
 यमराजकी शक्ति भी शिथिल हो गयी, उसके सामने तुम्हारी क्या हस्ती है' मानो यह कहकर
 हवामे हिलते हुए महासेनके झण्डे, चमर और छत्र आदि राजचिह्नोंने वरुणको भाग जानेके
 लिए इशारा कर दिया ॥३९॥ लाट (गुजरात) नरेशका हृदय वहाँकी नायिकाओंके कठोर
 और बड़े-बड़े स्तनोंकी नौकके संघर्षणसे आहत होकर पहलेसे ही जर्जर था, अतः उस (हृदय)
 पर गिरकर महासेनके शस्त्रोंका समूह केवल यशका भागी हुआ, उसे परिश्रम तनिक-सा भी

१. अ भिरामां । २. अ वरुणोपसारसंज्ञः । ३. = समुपास्तं पत्रं ताम्बूलं पूगः क्रमुकश्च यैस्तेः ।
 ४. आ अपाचीं । ५. = दृष्टा । ६. आ 'श्लेषोपमा' इति नास्ति । ७. अ पताकादिभिः । ८. आ
 लाजिनां । ९. आ लाजिनं । १०. = संघट्टस्य संघर्षणस्य प्रतिहृतिः प्रतिपाद्यः, तथा । ११. आ लाजीये ।
 १२. = संघर्षणि । १३. = संबन्धी ।

तत्तेजो विहितविपक्षकसदाहं लेशेनाप्यजनि न बाहवाविहीनम् ।
 गम्भीरे स्थितिमति सत्त्वमात्रं सिन्धुनाथेऽपि उज्जितुमलं यतो बभूव ॥४१॥
 दर्पण्मात्रमदिति इति पारसोक्तान्धेत्या विनतरिपुविनीय कृत्या ।
 तैर्ज्ञां बहुविधरत्नगर्भद्वयज्येनादित गुरुदक्षिणांमबासो ॥४२॥
 भूभर्तुः कुसुमशरानुकारिकान्तेः संपर्कं समुपगता करेण सद्यः ।
 सा बलगतुरगसुरोत्परेषु रूपानोमाञ्चानमुच्चदिवोच्चकैः प्रतीचो ॥४३॥
 संप्राप्तैस्तदमपराङ्मुचेर्बलेभैः संरम्भादभिपततो निहत्य मुक्ताम् ।
 बेलास्तोषिभूततरुषुदलम्बयत्स स्वक्यातिस्मृतिरणक्षमाञ्जलेभान् ॥४४॥

स्म । लुङ् ॥४०॥ तदिति । यतः यस्मात्कारणात् । गम्भीरे गम्भीरे । स्थितिमति^१ मर्यादावति । सत्त्वमात्रं
 सात्वत्याभिते, (पक्षे) प्राण्याभिते । सिन्धुनाथेऽपि समुद्रे सिन्धुदेशराजेऽपि । उज्जितुं प्रज्वलितुम् । अलं
 बभूव समर्थं यवति स्म । विहितविपक्षकसदाहं विहितं इव विपक्ष एव^२ शत्रुपक्ष^३ एव वनं तस्य दाहो
 येन सत् । तत्तेजः तस्य राज्ञः तेजः प्रतापः । लेशेनापि अल्पेनापि । बाहवाविहीनं बाहवया बाहवाननाद्
 विहीनं रहितम् । नाजनि नाजायत । लुङ् । बाहवानलादधिकं भवति स्मेत्यर्थः ॥४१॥ दर्पित । विनतरिपुः
 विनतरिपुको बन्धु सः । असौ महासेन । दर्पण्मात्रं दर्पणं गर्भेणान्यात् । पारसीकान् पारसीकदेशाधिपान् ।
 बलस्या बलतस्मैव बलतो तया, स्पष्टेण (?) इत्यर्थः । दृष्ट्या वर्तनेन । हठेन बलाकारेण । अदिति
 शीघ्रम् । विनीय^४ शिवा कृत्या । भुवस्वरूपेण प्रवृत्तानेधितान् बलमान् तृणवितोषान् गृहीत्वा प्रह्लोकरणादिव
 विजमान् चकारेति तात्पर्यम् । तैः पारसीकैः । दत्ता विनीयानि । तस्मान्न तस्य भूवा गुरुदक्षिणांमिव देयविद्
 एतस्य सत् स्तोमिव (?) बहुविधरत्नगर्भद्वयज्येन बहुविधानि नानाप्रकाराणि रत्नान्येव गर्भेऽन्तर्गते यस्य
 स बाहो दण्डवत् प्रसन्न इति व्याजेन । अदित अगृहीत् । इदानीं दाने लुङ् । उपमा ॥४२॥ भूभर्तुरिति ।
 कुसुमशरानुकारिकान्तेः कुसुमशरं ममथम् अनुकारिणो सद्गुणकारिणो^५ कान्तिः लावण्यं यस्य तस्य । भूभर्तुः
 महासेनस्य । करेण सिद्धायेन^६, (पक्षे) हस्तेन । सद्य तदानोमेव । संपर्कं सङ्गम् । समुपगता समुपगता ।
 सा प्रतीचो परिषमाशाङ्गना । तत्त्वकैः उच्चैः । बलगतुरगसुरोत्परेषु रूपान् बलगता चकता तुरगाणां वाजिना
 लुरैः शकैरस्या रणेनो धूम्रं त एव रूपं स्वकम् येया तान् । रौमाञ्चान् रौमहर्षेणानि । अमुचदिव अमोचच-
 दिव । मुक्ताम् मोक्षणे लुङ् । उपप्रेक्षा ॥४३॥ संप्राप्तैरिति । अपराङ्मुचं । पश्चिमसमुद्रस्य । तट तीरम् ।

नही करना पड़ा ॥४०॥ शत्रुरूपी जगलको जलानेवाला, महासेनका प्रताप बाहवाग्निसे तनिक
 भी कम नहीं था; क्योंकि जिस तरह बाहवाग्नि गहरं, सोमाका पालन करनेवाले और जल-
 जन्तुओंसे व्याप्त समुद्रमे जला करती है, उसी तरह महासेनका प्रताप गम्भीर, कुलकी मर्यादा
 पालनेवाले और सामर्थ्यशाली, सिन्धुनरेश रूपी बहुत बड़े समुद्रमे भी जलनेके लिए समर्थ सिद्ध
 हुआ ॥४१॥ शत्रुओका सिर नीचा करनेवाले राजा महासेनने दर्पण पारसीक नरेशोको बल-
 पूर्वक बेतकी भाँति विनम्र रहनेको शिक्षा देकर उनके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ समर्पित
 सेनाके उपहारको लेनेके बहाने मानो गुरुदक्षिणा स्वीकार की ॥४२॥ कामदेव सरीसृपी कान्तिकी
 धारण करनेवाले राजा महासेनक हाथ (टैक्स) के सम्पर्कको पाकर पश्चिम दिशाने शीघ्र ही,
 चलते हुए बाँझोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलिके रूपमें माना प्रचुर मात्रामे रोमोंचोंको धारण
 किया ॥४३॥ महासेनने पश्चिम समुद्रके तटपर पहुँचे हुए अपने हाथियोंके— जो सेनामे शामिल

१. सा बाहवाविहीनम् । २. आ स्वाक्यातिः । ३. आ स्थानवति । ४. सा 'विपक्ष एव' इति नास्ति ।

५. सा 'वस' इति नास्ति । ६. = 'विदुलो बलसः मोतो वानीरो वञ्जुलो रयः' इति हेयः । ७. = शिखरिणा ।

८. सा लुङ् इति नास्ति । ९. = अनुकरोति । १०. = तत्सामर्थ्यकारिणी । ११. सा 'सिद्धायेन' इति नास्ति ।

तत्राशामभिचलिते कुबेरगुप्तां सञ्चान्त^१ तुरगकुटोत्थितैः परासैः^२ ।
 व्योमासीद्वलभरपीड्यमानमूर्ध्नामुच्छ्वासैरिव फणिनां रसातलोत्तैः ॥४४॥
 प्रातस्थोत्तरदिशमेति तीव्रभावं तिम्रांशोरपि न विना क्रमेण तेजः ।
 व्याक्षेपक्षमनपेक्ष्य सद्य एव स त्वासीद्वरिजनदुःसहप्रतापः ॥४५॥
 तस्यर्षीवल्लयभुजः समस्तविक्रैः सामन्तैः समुपगतैः प्रवृद्धितेभ्यः^३ ।
 सैम्बेभ्यः परिवदतावकाशदेशं स्वानन्त्यं प्रकटितमुत्तरापथेन ॥४६॥

संप्राप्तैः समागतैः । बलैर्भैः सेनागजैः सह । संरम्भात् क्रोधात् । अभिपतत. गच्छतः । निहत्य हत्वा । मुक्तान्
 त्यक्तान्, पूर्वं हत्वा पश्चात्मुक्तान् इत्यर्थः । स्वस्थातिस्मृतिकरणप्रमानं स्वस्यात्मनः कृपातेः कीर्तैः स्मृतिकरणे
 स्मरणविधाने लभान् समर्थान् । जलेभ्यो नीरयवान् । स. राजा । बेलान्तोच्छिन्नतरुषु वेनायास्तदस्यान्ते
 समीपे विद्यमानेषुच्छित्तेष्वन्तेषु वृक्षेषु । अलम्बयत् बन्धयति स्म । अनुब्रू अवसंसने गिजन्ताल्लड् ॥४४॥
 लज्जे । तत्र राजा । कुबेरगुप्तां कुबेरैर्गुप्तं राजराजेन गुप्ता रक्षिताम् । आशां दिशम् । उत्तरदिशमित्यर्थः ।
 अभिचलिते प्रयाते । बलभरपीड्यमानमूर्ध्नां बलस्य सेनाया मरेण भारेण पीड्यमानो मूर्ध्ना
 मस्तको येषां तेषाम् । फणिनां नायानाम् । रसातलोत्तैः रसातले पातालैः उत्तैः संजातैः । उच्छ्वासैरिव
 ऊर्ध्वश्वासरिव । तुरगकुटोत्थैः तुरागणां तुरङ्गानां सूरैः, खुरपुटैरुत्थैरुपलैः । परासैः, रजोभिः । व्योम गगनम् ।
 सध्वान्तं तमोयुक्तम् । आसीत् अभूत् । अतिशयः ॥४५॥ प्रातस्थेति । उत्तरदिशम् उत्तराशाम् । प्रातस्थ
 गतस्य । तिम्रांशोरपि सूर्यस्यापि । तेजः प्रतापः । क्रमेण विना क्रमं विना । तीव्रभावं तीक्ष्णत्वम् । न न
 भवति [न एति] (न गच्छति) । सः तु राजा । अरिजनदुःसहप्रतापः अरिजनानां दुःसहः प्रतापो यस्य सः ।
 दुःसहः सोदुःमशयः प्रतापो यस्य सः (अरिजनदुःसहप्रतापः अरिजनानां दुःसहः प्रतापो यस्य सः) ।
 व्याक्षेपेण तिरस्करणम् (व्याक्षेपो विलम्बस्तस्य क्षणं स्वल्पमपि समयम्) । अनपेक्ष्य (अपेक्षां न विधाय,
 तत्प्रतीक्षां न विधायेत्यर्थः) । सद्य एव तदानीमेव आसीत् । सङ् ॥४६॥ नस्येति । उर्षीवल्लयभुजः उर्ष्यां
 भुवो वलयं मण्डलं भुजो^४ भुजव्रतः । तस्य महासेनस्य । समस्तविक्रैः समस्तासु दिशसु विद्यमानैः । समुपगतैः
 समागतैः । सामन्तैः राजभिः । प्रवृद्धितेभ्यः प्रवृद्धितेभ्यः । सैन्धेभ्यः सैनिकेभ्यः । अवकाशदेशम् अवकाशेन
 अवगाहनेन युक्तं देशं प्रदेशम् । परिवदता परिवच्छता । उत्तरापथेन उत्तरदिशासी पन्थाश्चोत्तरापथस्तैर्नोत्तर-

ये—ऊपर रोपसे झपटनेवाले समुद्री हाथियोंको मारकर छोड़ दिया, फिर समुद्रके तटवर्ती वृक्षों-
 के ऊपर उन्हें अपनी कीर्तिके स्मारकके रूपमें बैववा दिया ॥४४॥ इसके पश्चात् महासेनने
 उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया । उस समय सारा आकाश, उसकी सेनाके घोड़ोंकी टापोसे
 उड़ी हुई धूलिसे ढँक गया । अतः वह ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके बोझसे पातालके जिन
 नागोंके सिर अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे, उनकी श्वास बाधसे व्याप्त हो गया हो ॥४५॥ उत्तर
 दिशाको प्राप्त (उत्तराशय) हुए सूर्यका भी तेज क्रमके बिना तीव्र नहीं होता, पर उत्तर
 दिशामें पहुँचते ही, महासेनका प्रताप अविलम्ब ही उसके शत्रुओंको असह्य हो उठा ॥४६॥
 भूमण्डलका पालन करनेवाले राजा महासेनकी सेनाएँ सभी दिशाओंसे आये हुए सामन्तोंसे
 खूब हो बढ़ गयी थीं, उन्हें भरपूर अवकाश देकर उत्तरापथ (उत्तर प्रदेश) ने तो जैसे

१. क ल ग घ म संछन् । २. क ल ग घ म रजोभिः । ३. अ एव तस्यासीद्व । ४. अ प्रवृद्धि-
 तेभ्यः । ५. आ श गुप्तां रक्षिताम् । उत्तरदिशमित्यर्थः । दिशम् आशां । ६. आ मस्तकं । ७. श पाञ्च-
 (ता) कलोके । ८. = अरिजनदुःसहप्रताप आसीदित्यर्थः । ९. = भुनक्ति भुज्, तस्य, पालयत इत्यर्थः ।

तत्रेन्द्रपलशकलोज्ज्वलैः समन्तात्सर्पद्भिर्नभसि करेणुशीकरोधैः ।
 कौबेर्या इव निजनायकामिभूति शङ्किन्याः प्रविगलद्भूमिश्चकाशे ॥४८॥
 हत्वापि द्रविणमसावभोगबुद्धं टकानां वधकरणोद्यतासिरासीत् ।
 नाशसोत्सवपट्टतेर्विधानमात्रादेवामृत्स्वयमसुभिर्विमुक्तदेहान् ॥४९॥
 काश्मीरप्रभवेषु भूमिभृत्सु वज्रीभूयासो पृथुकटकान्वितेषु भूपः ।
 कीरीणामभिनवयौवनोद्धतानां लावण्यधियमतनिष्ठं शोचनीयाम् ॥५०॥
 कापोताङ्गद्विविधसुरः समन्ताद्यः पांसुर्नभसि ससर्प^३ तच्चमृत्युः ।
 संज्ञासौन्दर्यपरिकम्पमानपले संजज्ञे स्वशमशके स एव धूमः ॥५१॥

वेधेन । स्वानन्त्यं निजनिरवधित्वम् । प्रकटितं प्रकटीकृतम् ॥४७॥ तत्रेति । तत्र नभसि गगने । समन्तात् परितः । सर्पद्भिः, निर्गच्छद्भिः । इन्द्रपलशकलोज्ज्वलैः, इन्द्रपलानां चन्द्रकान्तगिलानां शकलाः, खण्डानोव उज्ज्वलैः । करेणुशीकरोधैः करेणूनां करिणीनां शीकराणां जलकणानामोषैः, समूहैः । निजनायकामिभूति-शङ्किन्या, निजनायकस्य स्वनायकस्य, कुबेरस्याभिभूतो तिरस्कारे शङ्किन्या सन्देशिन्याः । कौबेर्या कुबेरदिगङ्ग-नायाः । प्रविगलद्भूमिः [इव] प्रविगलद्भिः प्रलब्धिरभूमिर्नयनादकैरिव । चकाशो बभामे । काशि दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ हत्वेति । असौ राजा । अभोगवृद्धम् अभोगेनानुभवेन वृद्धं प्रबृद्धम् । टककानां टकदेशस्य (टककानां टकदेशस्य) राज्ञाम् । द्रविणं द्रव्यम् । हत्वापि स्वीकृत्यापि । वधकरणोद्यतासिः वधस्य हिंसायां, करणे विधाने उद्यत उद्धृतोऽसिः खड्गो येन स । आसीत् अभूत् । लङ् । तदपहृतैः तस्य द्रव्यस्यापहृतेरपहरणस्य । विधानमात्रात् करणमात्रादेव । अयम् टकान् (टककान्) अमुभिः प्राणैः । समं सह । [स्वयं स्वतः] विमुक्तदेहान्^१ विमुक्तो देहो यैस्तान् । नाशसोन् न जानाति स्म ॥४९॥ काश्मीरेति । असौ भूपः महामेनः । काश्मीरप्रभवेषु काश्मीरे काश्मीरदेशे प्रभवेषु जातेषु । पृथुकटकान्वितेषु पृथुभिर्मज्जद्भिः कटकैर्बलैः, (पले) सानुभिः^२ अन्वितेषु युतेषु । भूमिभृत्सु राजन्, पवतस्त्विति ध्वन्यने । वज्रीभूय^३ वज्रा-युधयुतो भूत्वा । अभिनवयौवनोद्धतानाम् अभिनवेन नूतनेन यौवनेनोद्धतानां गवितानाम्^४ । कीरीणां कीरदेश-स्त्रीणाम् । लावण्यधियं लावण्यम् देहकान्ते, धियं शोभाम् । शोचनीया^५ दुःखितुं योग्याम् । अतनिष्ठ करोति स्म । तनु^६ विस्तारे लुङ्^७ । श्लेषः ॥५०॥ कापोनेति । कापोताङ्गद्विविधसुरः कापोनं^८ पारावतमवन्धम्

अपनो अनन्तता ही प्रकट कर दी ॥४७॥ हाथी और हथिनियोंकी मूँडमें निकले हुए, चन्द्र-कान्तमणिके टुकड़ों सरोखे शुभ्र जलकण सभी ओरसे आकाशमें उड़ रहे थे, जिन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो अपने स्वामी (कुबेर) के तिरस्कारको आशंका करनेवालो उस (कुबेर) की दिशा (उत्तर दिशा) रूपी नायिकाके आँसू टपक रहे हों ॥४८॥ टक नामसे विख्यात देशके निवासियोंके उपभोग न करनेसे बड़े हुए धनको छानकर भी महासेनने उन्हें मारनेके लिए तलवार उठा ली । उस समय उसे यह खयाल नहीं रहा कि उनका धन छानने मात्रसे ही उनके प्राण निकल गये हैं ॥४९॥ काश्मीरी राजाओं (पर्वतों) पर—जो बड़ो-बड़ो छावनियों (चोटियों) से युक्त थे—वज्र बनकर राजा महामेनने नव यौवनसे उद्धत कीरदेशकी अंगनाओंके सौन्दर्यको (उन्हें विधवा बनाकर) शाकका विषय बना दिया ॥५०॥ महासेनकी सेनाको कबूतरके रोमोंके समान मटमैली जो घुल सभी ओरसे उड़कर आकाशमें

१. अ. बृद्धटकानां वधरक्षणोद्य^१ । २. अ. क. स्व. घ. म. मज्जनिष्ठ । ३. अ. समर्प । ४. = खण्डानि तद्वत् । ५. = कुबेरस्याभिभूति तिरस्कृति शङ्कत इति शङ्किनी, तस्याः । ६. श. विमुक्तदेहान् विमुक्तो विमुक्तो देहो यैस्तान् । ७. = मध्यमार्गः । ८. = वज्ररूपतामेव । ९. श. 'गवितानाम्' इति नास्ति । १०. = शोकाह् । ११. आ. तनु । १२. श. 'लुङ्' इति नास्ति । १३. = पारावतसंक्षिप्तम् ।

कस्तूरोर्मृगसुरभौ हिमाचलेन्द्रे प्रच्योतत्पयसि निवेशितात्मसैम्यः ।

स्वं धीणा^१ कलितकरैः स किनरोधैः^२ शुभावेन्दुरक्षि यशः प्रणीयमानम् ॥५२॥

इत्याशाः समदधूरिब क्षितीशः संक्षेपात्करकलिताः^३ स संविधाय ।

संतुष्टाखिलजनवर्धितोत्सवायां प्रत्यागादतुलपराक्रमः स्वपुर्याम् ॥५३॥

भूपानां वसनयुगादिसत्कृतानां संधातं सपदि यथायथं विसर्ज्य^४ ।

संपदयन्मुखकमलं स लक्ष्मणायाः साम्राज्यं समनुबभूव दीर्घकालम् ॥५४॥

अङ्गरुहमिव पक्ष इव विधूमर ईषच्छुभः । तच्चमूल्चं तस्य मूपस्य चम्बा सेनया उत्थ उद्गतः । यः पांतुः परागः । नभसि गगने । समन्तात् सर्वतः । सर्पं व्याप्नोति स्म । सर्पं गतो लिट् । संत्रासोद्यपरिकम्पमानपक्षे संत्रासेन भयेन परिकम्पमानो^५ धुनानः पक्षः सहायो गह्वा (पक्षे, गहत्) यस्य^६ तस्मिन् । लशमशके लशराज एव मशको मलिका तस्मिन् । सः एव पांतुरेव । धूमः । संजने जातः । लिट् ॥५१॥ कस्तूरीति । कस्तूरीमृगसुरभो कस्तूरीमूषैः सुरभिः परिमलो यस्मिन् तस्मिन् । प्रच्योतत्पयसि प्रच्योतत् प्रखवत् पयो जलं यस्मिन्^७ तस्मिन् हिमाचलेन्द्रे हिमवत्पर्वते । निवेशितात्मसैम्यः निवेशितं निवासितात्मनः स्वस्य सैम्यं सेना येन स । स. राजा । धीणाकलितकरैः धीणया कलितो युक्तः करो हस्तो येषां तैः । किनरोधैः किनराणामोधैः समूहैः । प्रणीयमानं स्तूयमानम् । इन्दुरक्षि इन्दोश्चन्द्रस्य रक्षिरिव रक्षिः कान्तियस्य तत् । स्वं स्वकीयम् । यशः कीर्तिम् । शुभावा श्रुणोति स्म । ध्रु अवणे लिट् । उपमा ॥५२॥ इतीति । इति एवम् । अतुलपराक्रमः अतुलः सादृश्यरहितः पराक्रमः शक्तियस्य सः । सः महासेनः । क्षितीशः भूपतिः । समदधूरिब मदेन संतोषेण सहिता दधूरिब नारीरिब । आशाः दिशः । संक्षेपात्^८ संक्षेपेणात् करिकलिताः करेण सिद्धायेन कलिता गृहीताः । संविधाय कृत्वा । अखिलजनवर्धितोत्सवायाम् अखिलं. सकलैर्जनैर्वर्धितोऽभिनन्दित उत्सवो यस्यां तस्याम् । स्वपुर्यां स्वस्य पुर्यां नगयाम् । संतुष्टया संतोषेण । प्रत्यागात् पुनरागमत् । इण् गतो लुट् । 'गैत्योः' इति गादेशः । श्लेषोपमा ॥५३॥ भूपानामिति । स महासेनः । सपदि क्षीघ्रम् । वसनयुगादिसत्कृतानां वसनस्य वस्त्रस्य युगादिभिर्द्विपदिकादिभिरित्यर्थः, सत्कृतानां ममानितानाम् । तस्य (?) । भूपाना राजाम् । संधातं समूहम् । यथायथं^९ यथा भवति० । स्वदेशं विसर्ज्य^{१०} प्रेष्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । मुखकमलं मुखमेव नलिनम् । पदयन् विलोकमानः । दीर्घकालं बहुकालपर्यन्तम् । साम्राज्यं राज्यम्^{११} । समनुबभूव अनुभवतिस्म । रूप-

जा रही थी, वही 'लश' राजारूपो मच्छरींकी—जिनके पक्ष (पंख) के लोम भयके कारण कांप रहे थे—भगदड़ मचानेके लिए धूम-धुआं थी ॥५१॥ हिमालय पर्वतपर कस्तूरी मृगोंकी सुगन्धि फैल रही थी और झरनोंका जल बह रहा था । वहाँ अपनी सेनाको ठहराकर राजा महासेनने अपने शुभ्र मशका गान सुना, जो दिव्य धीणाको अपने हाथोंमें लेकर गन्धर्व आदि देवोंके द्वारा गाया जा रहा था ॥५२॥ इस प्रकार संक्षेपमें सभी दिशाओंको, सन्तुष्ट पत्नीकी भाँति अपने अधोन करके अतुल पराक्रमी राजा महासेन अपनी राजधानीमें—जहाँ सभी नागरिक सन्तुष्ट होकर खूब उत्सव मना रहे थे—लौट आया ॥५३॥ इसके पश्चात् वस्त्रोंकी जोड़ी आदि उपहार देकर सभी सहयोगी राजाओंके वर्गका शीघ्र ही यथायोग्य सम्मान किया और फिर उन्हें बिदा करके महासेनने लक्ष्मणा (पट्टरानी) का मुख-कमल देखते (भोग भोगते)

१. क ल श घ म स्वर्कोणा । २. क ल श घ म किनराधै । ३. अ करमलिताः, म करमलिता । ४. अ विसर्ज्य । ५. = वेमानः । ६. श यस्मिन् । ७. = यस्मात् । ८. = संक्षेपतः । ९. = यथायोग्यम् । १०. आ विसृज्य । ११. आ 'राज्यम्' इति नोपलभ्यते ।

प्रागेव प्रमुदितधीजिनावताराद्रत्नानाममुचद्विद्विषा प्रयुक्तः ।
 कोटयर्थं प्रतिदिबसं त्रिकोटियुक्तं षण्मासानथ धनदस्तदीयोगेहे ॥१५॥
 अष्टौ च त्रिदशपतेनिवेशवाक्यात्तस्यान्तःपुरमुपगम्य दिक् मार्गः ।
 व्यानम्राः स्वमभिनिवेश लक्ष्मणायाः कर्तव्यं व्यधिषत गर्भशोधनादि ॥१६॥
 सौषोत्सङ्गे तुङ्गपत्यङ्कुमुता कल्याणाङ्गी यामिनी पञ्चिमाधे ।
 चिह्नोभूताजैनजम्मानुमाने स्वप्नानेताम्साथ देवी दर्श ॥१७॥
 शैलेन्द्राभं शुभ्रमेन्द्रं गजेन्द्रं दर्पोत्सेकोद्रेकमाणं गवेन्द्रम् ।
 नागेन्द्रौघं द्रावयन्तं मृगेन्द्रं लक्ष्मीं हस्तन्यस्तलीलारविन्दाम् ॥१८॥

कम् ॥१५॥ प्रागिति । अथ दिग्विजयानन्तरम् । प्रमुदितधीः प्रमुदिता मंहुषा धीविषत यस्य सः । अत्रिद्विषा देवेन्द्रेण । प्रयुक्तः प्रेरितः । धनदः कुबेरः । जिनावतारात् जिनस्य चन्द्रनामस्यावताराद् गर्भावतरणात् । प्रागेव पूर्वमेव । रत्नाना मणीनाम् । त्रिकोटियुक्तं त्रिसुभि कोटिर्भूयुक्तं युतम् । कोटयर्थं कोटया अर्थं दनम् । तदीयोगेहे तदीये तत्संबन्धे गेहे सदने । षण्मासान् षण्मासपर्यन्तम् । प्रतिदिबसं^१ दिनं प्रति । अमुषत् वर्षम् । लुद् ॥१५॥ अष्टाविति । त्रिदशपतेः देवेन्द्रस्य । निवेशवाक्यात् निदेशस्यागाया वाक्याद् वचनात् । अष्टौ च अष्टसंख्याप्रमिताः । दिक्कुमार्गः । तस्य राज्ञः । अन्तःपुरम् अवरोधम् । उपगम्य प्राप्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । व्यानम्राः विनमनशीलाः सत्यः । स्वम्^२ आत्मनः अभिनिवेश विज्ञाप्य । गर्भशोधनादि गर्भस्य शोधनादि । कर्तव्यं कार्यम् । व्यधिषत कुर्वन्ति स्म । हुआङ् धारणे च ॥१५६॥ सौषेति । अथ गर्भशोधनानन्तरम् । सौषोत्सङ्गे सौषस्य प्रासादस्योत्सङ्गे^३ (मध्ये) । तुङ्गपत्यङ्कुमुता तुङ्गे उन्नते पत्यङ्के मरुचके सुमा शयिता । कल्याणाङ्गी कल्याणं मनोहरमङ्गं यस्याः मा । 'असहनम्—' इत्यादिना डी-प्रत्ययः । सा देवी लक्ष्मणा देवी । यामिनीपदिबसार्थं यामिनी रात्रेः पञ्चिमाधेऽवसाने । जैनजम्मानुमाने जैनस्य^४ जिनसंबन्धस्य जन्मनो जननस्यानुमानेऽनुमितौ । चिह्नोभूतान्^५ लक्ष्मी-भूतान् । एतान् इमान् । स्वप्नान् । दर्पं बोधा चक्रे । दृष्टं^६ प्रेक्षणं लिट् ॥१५७॥ शैलेन्द्राभं शैलेन्द्रस्य गिरीन्द्रस्य आभं^७ सदृशम् । ऐन्द्रम्^८ इन्द्रसंबन्धम् । गजेन्द्रं हस्तीन्द्रम् । शैलेन्द्राभम्—इत्योन्नत्येन मेरुसदृशो न वर्णनं । शुभ्रमिति विशेषणस्य दत्तत्वात्, मेरीः (च) सुवर्णवर्णत्वात् । दर्पोद्रेकात् दर्पस्य गर्वस्योद्रेकादुत्कर्षात् । रेकमाणं ध्वनन्तरम् । गवेन्द्रं वृषभम् । नागेन्द्रौघं नागेन्द्राणां गजेन्द्राणामोघ समूहम् । द्रावयन्तं बाधयन्तम् । मृगेन्द्रं कण्ठीरवम् । हस्तन्यस्तलीलारविन्दा हस्ते पाणौ म्यस्त लीलायै विलासार्थमरविन्दं

हुए चिरकाल तक साम्राज्यके सुखका अनुभव किया ॥१५॥ दिग्विजयके बाद महासेनके घर चन्द्रप्रभके गर्भावतारके पहले लगातार छह मास तक (तीनों सन्ध्याओमें) प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा, कुबेरने, इन्द्रकी प्रेरणासे प्रसन्नतापूर्वक की ॥१५॥ इन्द्रकी आज्ञासे आठों दिक्कुमारियोने महासेनके अन्तःपुरमें जाकर एव नम्रतापूर्वक अपने आनेका अभिप्राय बतलाकर लक्ष्मणाके गर्भ-शोधन आदि कर्तव्यको पूर्ण किया ॥१६॥ इसके उपरान्त लक्ष्मणाने—जो राज-महलके मध्यमें ऊँची सेजपर सोयो हुई थी और जिसका शरीर समस्त लोकके लिए कल्याणकारी था (तीर्थंकरका जन्म देनेसे)—रात्रिके पिछले भागमें इन (सोलह) स्वप्नोंको देखा, जो जिन भगवान् (चन्द्रप्रभ) के जन्मका अनुमान लगानेमें सहायक थे ॥१७॥ सुमेरुके समान उन्नत, इन्द्रके शुभ्र गजराज—ऐरावतको; दर्पके प्रकर्षसे डकारते हुए श्रेष्ठ बेलको; गजराजोंके झुण्डको भगाते हुए सिंहको और उस लक्ष्मीको, जिसके हाथमें लीला कमल स्थित था, (देखा) ॥१८॥

१. = तत्संबन्धिनि । २. = प्रतिदिनम् । ३. = आत्मानम् । ४. = मध्ये । ५. = जिनसंबन्धिनि ।

६. = लक्ष्मभूतान् । ७. आ दृशिर् । ८. = आभेवाभा यस्य तं । ९. = इन्द्रसंबन्धिनिम् ।

मातायुग्मं प्रान्तविभ्रान्तभुजं साम्प्रज्योत्सर्गं पार्ष्णं शीतमनुम् ।
 भातुं भासा भासिताशान्तरालं मीनहृदं श्रीकृष्णोन्मरकम् ॥५८॥
 कुम्भाबम्भोजावृतावन्तुपूर्वीं शुभ्राम्भोजोद्भासितोयं सटाकम् ।
 बीबीबकौत्तुवितताकाशमन्त्रि सिद्धयुद्धं विहरं रौलतुङ्गम् ॥५९॥
 दिव्यं दिव्यैः सेव्यमानं विमानं नागावांसं नागकन्याभिरामम् ।
 सर्पसेजोमण्डलं रत्नराशिं धूमत्यागावुज्ज्वलं धूमकेतुं ॥६०॥ (कुलकम्)
 स्वप्नानेतानभूरिकल्याणहेतुन्मत्वा प्रतः प्रीतिविस्तारिताक्षी ।
 सा भूमतुः सूचयामास देवी चक्रे तेनापीति सा तत्कलका ॥६२॥

कमलं यस्याः ताम् । लक्ष्मीं श्रीदेवीम् ॥५८॥ माहेति । प्रान्तविभ्रान्तभुजं प्रान्ते समीपे विभ्रान्तावचलिता^१
 भुज्जा मधुकरा वस्य सत् । मातायुग्मं मालयोदन्तीयुग्मं युगलम् । साम्प्रज्योत्सर्गं सान्द्रा घना ज्योत्स्ना
 चन्द्रिका यस्य तम् । पार्ष्णं पीर्णमास्यां भवम्^२ । शीतमानुं चन्द्रम् । भासा कान्था । भासिताशान्तरालं
 भासितं प्रकाशितमाशानां विशामन्तरालमप्यन्तरं यस्य^३ तम् । भातुं सूर्यम् । श्रीहृत् विहरत् । अम्भोन्मरकम्
 अम्भोयं परस्परं रत्नं प्रीतियुक्तम् । मीनहृदं मीनयोर्मत्स्योर्द्वन्द्वं युगलम् ॥५९॥ कुम्भाविति । अम्भोजा-
 वृत्तौ अम्भोजैः कमलैरावृत्तौ परिवृत्तौ । धूमपूषीं धूमना सलिलेन पूर्णो^४ उन्मिती^५ । कुम्भो मङ्गलकलशौ ।
 शुभ्राम्भोजोद्भासितोयं शुभ्रैः श्वेतैरम्भोजैः सरसिर्जलद्भासि विवसत् तोयं जलं यस्मिन् तम् । सटाकं सरो-
 वरम् । बीबीबकैः बीबीनां तरङ्गाणां बकैः समूहैः । शुम्बिताकाशं शुम्बितं स्पृष्टमाकाशं गगनं यस्य^६ तम् ।
 अम्बि समुद्रम् । सिद्धयुद्धं सिंहैः कष्टीरवैर्भूतं धृतम्^७ । रौलतुङ्गं रौलवत् पर्वतवत् तुङ्गमुन्नतम् । विहरं
 सिंहासनम् ॥६०॥ दिव्यमिति । दिव्यं दिवि स्वर्गे भवम् । दिव्यैः देवैः । सेव्यमानं ध्ययमाणम् । विमानं
 व्योमयानम् । नागकन्याभिरामं नागकन्याभिराविवनितान्नाभिरासं मनोहरम् । नागावांसं नागानां नागकुमारा-
 णामावांसं बधनम् । सर्पसेजोमण्डलं सर्पन्^८ खनन् तैजसां कान्तीनां मण्डलं यस्य तम् । रत्नराशिं रत्नानां
 मणीनां राशिं निकरम् । धूमत्यागात् धूमस्य त्यागादभावात् । उज्ज्वलं प्रज्वलम् । धूमकेतुम् अग्निम् । ददर्श
 इति प्रत्येकमयिबन्धः । पञ्चभिः कुलकम् । दीपकम् ॥६१॥ स्वप्नानिति । भूरिकल्याणहेतुन् भूरिणो बहुल-
 स्य कल्याणस्य हेतुन् कारणाणि । एतान् इमान् । स्वप्नान् । प्रातः विभाते । एसा प्राप्य । प्रीतिविस्फारि-
 ताक्षी प्रीत्या संतोषेण विस्फारिते उच्चाटिते अक्षिणी नयने यस्याः सा । सा देवी लक्ष्मणा देवी । भूमतुः
 महासेनराजस्य । सूचयामास विज्ञापयामास । सूच पैङ्गये जिह्वा । तेनापि । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । सा

दो माताओंकी, जिनके आसपास भीरे गुंजार कर रहे थे; सचन ज्योत्स्नासे युक्त पूर्णमासीके
 चन्द्रमाको; अपने प्रकाशसे सारी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए सूर्यको और एक दूसरेसे अनु-
 राग करनेवाले किलोहल करते हुए मीन युगलको (देखा) ॥५९॥ कमलोंसे ढंके हुए और जलसे
 भरे हुए दो मंगलकलशोंकी, जलमें लहलहाते हुए सफेद कमलोंसे अलङ्कृत सरोवरको, आकाश-
 को झूनेवाली उताल तरंगोंसे युक्त समुद्रको और सिंहोंपर आभित सिंहसनको, जो पहाड़के
 समाव उन्नत था, (देखा) ॥६०॥ देवोंसे सेवित दिव्य विमानको, नागकन्याओंसे सुन्दर नागभवन-
 को, फेकाते हुए तेजोमण्डलसे युक्त रत्नराशिको और धूमरहित होनेसे उज्ज्वल अग्निको (देखा)
 ॥६१॥ अत्यधिक कल्याणके कारण-स्वरूप इन स्वप्नोंके बारेमें लक्ष्मणाने—जिसके नेत्र प्रीतिसे
 विकसित हो रहे थे—प्रभात होते ही अपने पति राजा महासेनको सूचना दी, और फिर महासेनने

१. अ क ल स द म सटाकम् । २. अ क ल स द म देवैः । ३. अ प्रीता । ४. स चन्द्रचलिताः ।
 ५. स पार्ष्णं पीर्णवम् । ६. = येन । ७. स 'उन्मिती' इति नास्ति । ८. = येन । ९. सा 'धृतम्' इति
 नास्ति । १०. = उज्ज्वलम् ।

व्रते नागस्ते चिकोर्कैरुमुष्यं कंठवाभास्ते खलुमुखा गम्भीरम् ।
 सिहः सिंहोदारदुर्लङ्घणीयं लक्ष्मीदेवेन्द्रामिवैकयोग्यम् ॥६३॥
 दामद्वन्धास्तुभ्यं स्नेहान्तकीर्त्तिर्मयी बन्धुभ्रातृहेतुः प्रथमम् ।
 मोहध्वान्तध्वंसकास्तिष्ठन्महासा पाठीनाभ्यां सर्वशोकैर्विमुक्तः ॥६४॥
 कुम्भालोकात्तुल्यः पूर्णदेहस्तुष्णावह्निर्विस्मयस्तरोवीक्षणम् ।
 पाथोनाभस्केवलज्ञानभागी लब्ध्वा सिद्धेर्षाम सिद्धासनम् ॥६५॥
 स्वर्गादिता देवि देवालयेन नागावासाद्यर्धमतीर्थस्य कर्ता ।
 कीडाशीलो रत्नपुञ्जात्पुण्यार्थं वक्ष्यत्युभं बह्विना कर्मकक्षम् ॥६६॥

देवी । तत्फलज्ञा तेषां स्वप्नानां फलज्ञाना । यत्के क्रियते स्म । कर्मणि लिट् ॥६२॥ ब्रूत इति । नागः गजः ।
 तं पुनः पुनम् । तिलोर्कैरुमुष्यं त्रयाणां लोकाणामेकमसह्यम् मुख्यं श्रेष्ठम् । कल्याणाङ्गं कल्याणं मनोहरमङ्गं
 शरीरं यस्य तम् । व्रते वसित । उवाः वृषभः । गम्भीरं गम्भीरम् । सिंहः कण्ठोरबः । सिंहोदारदुर्लङ्घणीयं
 सिंह इवोदारं महितं दुर्लङ्घ्यं लङ्घ्यनुमत्तं शीर्यं पराक्रमो यस्य तम् । लक्ष्मीः श्रीदेवी । देवेन्द्रामिवैकयोग्यं
 देवेन्द्रैर्वहितम्यामिवैकस्यैकं मुख्यं योग्यम् ॥६३॥ दामेति । सुभू । सुशोभने भूषणो भव्यास्तस्याः संबोधनं भो
 मनोहरभूमहिते । दामद्वन्धात् शम्भोर्मालयोर्द्वन्धाद् युग्मात् । भावी भविष्यन् । सः पुनः । अनन्तकीर्तिः अनन्तवशाः ।
 चन्द्रात् सोमात् । प्रजानां जनानाम् । तृप्तिहेतुः । तिम्रभासा सूर्येण । मोहध्वान्तध्वंसकः मोह एव ध्वान्तं तस्य
 ध्वंसकः । पाठीनाभ्यां भोनाभ्याम् । सर्वशोकैः सर्वदुःखैः । विमुक्तः रहितः ॥६४॥ कुम्भेति । कुम्भालोकात्
 कुम्भयोः कलशयोरोलोकाद् दर्शनात् । लक्षणैः हलकुलिशादिषु लक्षणैः । पूर्णदेहः संपूर्णशरीरः । तरोवीक्षणम्
 सरसः सरोवरस्य वीक्षणम् दर्शनेन । तुष्णावह्निर्विस्मयं तुष्णं वाष्पं बह्निरग्निस्तं छिनसीति तथोक्तः ।
 पाथोनाभात् जलधिदर्शनात् । केवलज्ञानभागी पञ्चमज्ञानभाजनः (नम्) । सिंहोत्तरेन हरिपीठदर्शनेन ।
 सिद्धेः मोक्षस्य । दाम द्वान्नाम् । लब्ध्वा लभ्यते । दुर्लभम् शरीरं लब्ध्वा ॥६५॥ स्वर्गादिति । देवि भो
 देवि । देवालयेन देवविमानवर्धनेन । स्वर्गात् त्रिदिवात् । एता एष्यति । नागावसात् नागमवनवर्धनात् ।
 धर्मतीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता स्वामी । रत्नपुञ्जात् रत्नराशिदर्शनात् । गुणानां सम्पत्कृत्वादिगुणानाम् ।
 क्रोडाशीलः लोलापर्वतः । बह्विना भग्निदर्शनेन । उभं क्रूरम् । कर्मकर्म कर्मकाननम् । वक्ष्यति वक्ष्यमिष्यति ।

भो लक्ष्मणाको उनके फलका ज्ञान कराया—॥६२॥ हे कल्याणमुखी ! ऐरावत हाथी तेरे पुत्रको
 तीनों लोकोंमें मुख्य बतला रहा है, बैल उसे गम्भीर, सिंह महान् और दुर्लङ्घ्य पराक्रमका
 धारी और लक्ष्मी इन्द्राँके द्वारा अभिवेक करने योग्य सूचित कर रही है ॥६३॥ हे सुन्दर भ्रुकुटि
 वाली देवी ! दो मालाओंके देखनेसे वह अनन्तकीर्तिको धारण करनेवाला होगा, बन्धुभा देखने-
 से प्रजाकी तृप्तिका हेतु, सूर्य देखनेसे मोहरूपी अन्धकारको मिटानेवाला और मछलियोंकी
 जोड़ीकी देखनेसे सभी प्रकारके शोकसे मुक्त होगा ॥६४॥ कलश देखनेसे उसके दिव्य देहमें
 शुभ लक्षण होंगे, सरोवर देखनेसे तुष्णारूपी अग्निको शान्त करनेवाला होगा, समुद्र देखनेसे
 केवलज्ञानी होगा और स्वर्ण-सिंहासनके देखनेसे मुक्तको पानेवाला होगा ॥६५॥ देवि ! देवी-
 का विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतरित होगा, नागमवन देखनेसे धर्मतीर्थका प्रवर्तक होगा,
 रत्नोंकी राशि देखनेसे समस्त गुणोंका क्रोडा-पर्वत होगा और अग्नि देखनेसे उभ कर्मोंके

१. क ल ग य म तिम्रभासः । २. क ल ग य म लक्ष्मणः । ३. क ल ग य म सिद्धेर्षामसिंहः ।

४. 'कल्याणाङ्ग' इति टीकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु लिखितास्वपि 'कल्याणास्ते' इति समुपलभ्यते । कल्याणं
 मनोहरमात्रं मुख्यं यस्यास्तत्संभूदौ हे कल्याणस्यै शुभवर्धने । ५. = महत् । ६. आ 'गंदेहः । ७. एव टीकाश्रयः
 पाठः प्रतिपु तु 'माठीनाभात्' इत्येव समुपलभ्यते । सानुप्रासः टीकापाठः साधोयानित्यत्र न काचं संबीतिः ।
 ८. न दुर्लभम् ।

फलं स्वप्नोक्तिष्वः सकलमिति मिश्रित्य दयिता-
 दधाना रोमाञ्चं प्रकटनपरं कञ्चुकमिव ।
 प्रमोदं सा भेजे कमपि स्वप्नोक्तमिव
 मुदे केषां न स्वात्मलक्षितसंप्राप्तिरयथा ॥६७॥
 अथाहमिन्द्रः स ततोऽवतीर्य स्वायुःक्षयेऽनुत्तरवैजयन्तात् ।
 कुक्षौ प्रशस्तेऽहनि लक्ष्मणाया विवेश श्रुत्वापि वारिचिन्दुः ॥६८॥
 तस्मिन्माग्नवतारं कृतवति भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये
 सर्वाटोपेन गत्वा क्षितिपतिमवने सासुरेन्द्राः सुरेन्द्राः ।
 कृत्वा कल्याणमुषो हतपटुपटहा वेणुबीणाभिरामं
 नृत्यन्तः स्वं निवासं कृतजिनजननीपादपूजाः प्रजग्मुः ॥६९॥

लुट् ॥६६॥ फलमिति । स्वप्नावस्थाः स्वप्नाभावस्थाः समूहस्य । सकलं समस्तम् । फलम् । दयितात्
 प्राणनायकात् । इति उक्तप्रकारेण । निविचय निर्णय । प्रकटं व्यक्तम् । अपरम् अन्यत् । कञ्चुकमिव
 कूर्पासमिव । रोमाञ्चं लोमहर्षणम् । दधाना धरन्ती । सा लक्ष्मणा देवी वचनानां बाधाम् । अविषयम्
 अगोचरम् । कमपि कञ्चित् । प्रमोदं संतोषम् । भेजे प्रकटे स्म । भजे सेवार्थं लिट् । अथवा तथा हि ।
 अभिलक्षितसंप्राप्तिः अभिलक्षितस्य समीहितस्य संप्राप्तिरुचिः । केषां जनानाम् । मुदे सतोषाय । न स्यात्
 न भवेत् । अस भुवि सिद् । अवन्तिरन्यासः ॥६७॥ अयेति । अथ स्वप्नदर्शनान्तरम् । सः अहमिन्द्रः
 पद्मनाभचराहमिन्द्रः । स्वायुःक्षये स्वस्यायुषः जीवितस्य क्षये^१ परिलोके सति । अनुत्तरवैजयन्तात् । अवतीर्य
 आगत्य । प्रशस्ते शुभे । अहनि दिने । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । कुक्षौ गर्भे । श्रुत्वा श्रुक्तिपुटे^२ । वारिचिन्दुरिव
 स्वातिजलबिन्दुवत् । विवेश प्रविष्टः । विश प्रवेशने लिट् । उपमा ॥६८॥ तस्मिञ्छिति । भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये
 भुवनेषु त्रिलोकेषु^३ क्षीभं संप्रभं संपादि समुद्रादि पुण्यं शुभकर्म यस्य तस्मिन् । तस्मिन् अहमिन्द्रे । गर्भावतारं
 गर्भावतरणम् । कृतवति सति विहितवति सति^४ । सासुरेन्द्राः असुरेन्द्राः सहिताः । सुरेन्द्राः देवेन्द्राः । सर्वाटोपेन
 संप्रभेण । क्षितिपतिमवने क्षितिपतेर्महासेनस्य मवने सवने । गताः याताः । कल्याणं गर्भावतरणकल्याणम् । कृत्वा
 विधाय । उच्यैः अधिकम् । हतपटुपटहाः हता ताडिताः पटवः स्पष्टाः पटहा दुन्दुभयो यैस्ते । वेणुबीणाभिरामं
 वेणुबीणाम्याभिरामं मनोहरं यथा भवति तथा । नृत्यन्तः नटन्तः । कृतजिनजननीपादपूजाः कृता विहिता

जंगलको जलानेवाला होगा ॥६६॥ इस तरह अपने पतिसे सभी स्वप्नोंके फलको निश्चित करके
 लक्ष्मणाके शरीरपर रोमांच प्रकट हो गये, जिन्हें देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने
 दूसरा बलाऊज पहन लिया हो । उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । इष्टकी प्राप्ति भला
 किसके हृदयके लिए नहीं होती ? ॥६७॥ इसके पश्चात् आयुके समाप्त होते ही उस अहमिन्द्रने
 वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे अवतरित होकर शूभ दिनमें लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश किया,
 जैसे जल-बिन्दु सीपमें प्रवेश करता है ॥६८॥ अहमिन्द्रका पुण्य सारे संसारमें प्रसन्नताकी
 लहर उत्पन्न करनेवाला था । अतः उसने लक्ष्मणाके गर्भमें ज्यों ही अवतरण किया त्यों ही
 देवेन्द्र—जिनके साथ असुरेन्द्र भी थे—बड़ी धूमधामके साथ राजा महासेनके घर पहुँचे, और
 गाजे-बाजेके साथ उन्होंने गर्भ-कल्याणका उत्सव मनाया, एवं बाँसुरी और बीणाकी तानकी

१. आ मज । २. आ अलिलक्षितसंप्राप्तिः अलिलस्य क्षितस्य समीहितस्य संप्राप्तिः । ३. = परि-
 क्षये । ४. आ श्रुक्तिम् । ५. आ उपमानन्तरं 'तस्य तत् तस्मिन् तस्य' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते ।
 ६. = त्रिलोकेषु । ७. = त्रिलोके लोकेष्वे वा । ८. = संपादयति समुद्रादयोत्सवे^१ भूतम् । ९. वा
 'विहितवति-सति' इति नोपलभ्यते ।

भीह्रीधृत्वादिभिः स्वान्धुषुचि वरगुणान्कान्तिलज्जादिकपा-
 न्धेवीभिस्तन्धवीभिः कलसमनुचमप्रीतिभिः सेव्यमाना ।
 पश्यन्ती रत्नवृष्टि स्वयम्बुध्वज्यतीं प्रत्यहं स्वर्गिमुक्तां
 मासाभ्यर्च्यप्रभावाद्यव नलिनमुक्ती सा सुखेनैव निम्बे ॥१७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतलघुदवाङ्मे चण्डप्रमथचरिते महाकाव्ये षोडशः सर्गः ॥१६॥

जिनस्य जिनैसस्य अनन्वा मातुः पराधोरचरमयोः पूजा वैस्ते । स्वं स्वकीयम् । निवासं स्वर्णवासम् । प्रजम्पुः प्रययुः ।
 गम्पु गतौ लिट् ॥६९॥ भीति । कान्तिलज्जादिकृपां कान्तिलज्जे आदीं येषां तानि तथोक्तानि कान्तिलज्जा-
 दीन्येव रूपाणि स्वरूपाणि येषां ते^१ । स्वान् स्वकीयान् । वरगुणान् प्रकृष्टगुणान् । वपुषि शरीरे । तन्धवीभिः
 कुर्वतीभिः^२ । अनुचमप्रीतिभिः अनुचमा सादृश्यरहिता प्रीतिः प्रेम यासां ताभिः । भीह्रीधृत्वादिभिः
 भीह्रीधृतय आद्ययो^३ यासां ताभिः । देवीभिः देवस्त्रीभिः । सततम् अनवरतम् । सेव्यमाना आराध्यमाना ।
 उदयवतीं संपत्तिमुक्ताम् । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । स्वर्गिमुक्ता स्वर्गनिर्देवमुक्तां वृष्टाम् । रत्नवृष्टि रत्नानां
 मणीनां वृष्टि वर्षणम् । स्वयं, पश्यन्ती वीक्षमाणा । नलिनमुक्ती नलिनमिव कमलमिव मुखं बदनं यस्याः
 सा । सा^४ लक्ष्मणा देवी । गर्भप्रभावात् गर्भस्य जिनबालकस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् । 'कुक्षिभूणामका गर्भा'
 इत्यमरः । नव नवसंख्याकान् । मासान् सुखेनैव । निम्बे^५ नयति स्म । णोश् प्रापणे लिट् ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतलघुदवाङ्मे चण्डप्रमथचरिते महाकाव्ये तद्वाक्यान्ते च
 चिह्नमनोबल्लुमाक्ये षोडशः सर्गः ॥१६॥

सुन्दरताके साथ नृत्य किया, फिर लक्ष्मणाके चरणोंकी अर्चना करके वे अपने निवास-स्थानको
 चले गये ॥६९॥ कान्ति और लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणोंको—जो उनकी प्रशस्त आकृतिपर छाये
 हुए थे—विकासित करनेवाली तथा अनुचम प्रीति करनेवाली श्री, ह्री और धृति आदि देवियों
 लक्ष्मणाकी निरन्तर सेवा करने लगीं । उस अश्रुदयशालिनी कमलमुखी लक्ष्मणाने देवोंके द्वारा
 प्रतिदिन की जानेवाली रत्न-वृष्टिको—जो गर्भके प्रभावेके से नौ मास तक हुई थी—देखते हुए
 सुख-पूर्वक समय बिताया ॥७०॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित दवाङ्मे चण्डप्रमथचरित महाकाव्यमें
 सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

१. = आदी । २. = तां । ३. 'कुर्वतीभिः' इति नास्ति । = कुर्वतं भिः—कुर्वन्ती भः ।
 ४. = यावौ । ५. 'सा' इति नास्ति । ६. 'निम्बे' इति नास्ति । ७. 'लिट्' इति नास्ति ।

[१७. सप्तदशः सर्गः]

अथ सा प्रसूतिसमयेन जिनेमिबं दिह्युर्निरिता ।
 पौषमलिनदशमीक्षयजां तिथिमाप्य सुन्दरंमञ्जीजनस्तुतम् ॥१॥
 ककुमः प्रसेधुरजनिष्ट निखिलममलं नमस्तैलम् ।
 तस्य जननसमये पवनः सुरमिवकी सुरभयम्बिजङ्गनाः ॥२॥
 वियतः पतङ्गिरतिहृष्टहृदयसुरकुन्दबधिरैः ।
 दिव्यकुसुमनिकुरैरुचत्कृतिमण्डलं भ्रमरबद्धमण्डलैः ॥३॥
 मणिघण्टिकाः सदसि रेणुरकरहति कल्पवासिनाम् ।
 ज्योतिरमरसदने सहसा प्रजगज्जुकाजितरथं गजारयः ॥४॥

काशीपुराधिपमहोपतिविश्वसेनप्रीतात्मजो मरकतवृत्तिमासुराङ्गः ।

ध्यानात् पुनर्न च बचाल महोपसर्गं श्रीपादवर्नाभाजिनो जगदेकनाथः ॥१॥

अथेति । अथ गर्भावतारणानन्तरम् । जिने जिनेश्वरम् । दिह्युर्नृणैश्च द्रष्टुमिच्छन्नेव । प्रसूतिसमयेन प्रसूतेः प्रसवस्य समयेन कालेन । ईरिता प्रेरिता । सा लक्ष्मणा देवी । पौषमलिनदशमीक्षयजां पौषस्य पौषमासस्य मलिनस्य कृष्णपक्षस्य दशम्या दशमीतिथेः क्षयजां क्षयेन जातामेकादशीमित्यर्थः । तिथिं दिनम् । आप्य सम्प्राप्ता । सुन्दरं मनोहरम् । सुतं तनयम् । अजीजनत् जनयति स्म । जनैश्च प्रादुर्भावे लब्धः । उद्गतावृत्तम् ॥१॥ ककुम इति । तस्य जिनबालकस्य । जननसमये जन्मनः समये काले । ककुमः दिशः । प्रसेधुः निर्मला बभूवुः । निखिलं सकलम् । नमस्तलं गगनतलम् । अमलं विमलम् । अजनिष्ट जायते स्म । लुङ् । दिगङ्गनाः दिश एव अङ्गना बनिताः । सुरभयन् परिमलयन् । सुरभिः परिमलयुतः । पवनः वायुः । बधौ वाति स्म । वा गतिगन्धनयोः । लिट् । अतिक्षयः ॥२॥ विषय इति । अतिहृष्टहृदय-सुरकुन्दबधिरैः अतिहृष्टेनात्यन्तं संतुष्टेन हृदयेन बिभेन युतेन सुराणां देवानां वृन्देन समूहेन बधिरैरेषैः । वियतः अकाशात् । पतङ्गिः वर्षाङ्गिः । भ्रमरबद्धमण्डलैः भ्रमरैर्मधुकैरैवं रचितं मण्डलं बलयं येषां तैः । दिव्यकुसुमनिकुरैः दिव्यानां स्वर्गजातानां कुसुमानां निकरैर्वृन्दैः । जितिमण्डलं भूमण्डलम् । बरुचत् माति स्म । रचि दीप्ती । 'दुङ्गयो लुङ्' इति लङ् । अतिक्षयः ॥३॥ मणीति । कल्पवासिनां कल्पवासिदेवानाम् । सदसि सभायाम् । मणिघण्टिकाः मणिभिर्निर्मिता घण्टिकाः । अकरहति कराहति बिना बधा तया । रेणुः ध्वनन्ति स्म । रण शब्दे लिट् । ज्योतिरमरसदने ज्योतिष्कदेवानां सदने निवासे । गजारयः गजानां करिणामरयः राजवः, सिंह इत्यर्थः । ऊजितरथम् ऊज्यैःस्वरं यथा तया । सहसा क्षीघ्रम् । प्रगजुः ध्वनन्ति स्म । गर्जं जिर्जं शब्दे

गर्भावतारके पश्चात् प्रसूतिका समय मानो अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके दर्शनोंके लिए लालायित था, अतः उस (प्रसूति समय) की प्रेरणासे महारानी लक्ष्मणाने पौषकृष्ण एकादशी-के दिन सुन्दर पुत्रको जन्म दिया ॥१॥ पुत्रके जन्मके शुभ अवसरपर सभी दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, सारा नभस्तल निर्मल हो गया और दिशारूपी अङ्गनाओंको सुवासित करता हुआ सुगन्धित पवन बहने लगा ॥२॥ देवोंका वृन्द हृदयसे प्रसन्न होकर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगा । वे पुष्प अत्यन्त सुगन्धित थे, अतः ज्यों ही वे आकाशसे गिरने लगे त्यों ही उनपर भीरोके झुण्ड मड़राने लगे, उनके संयोगसे भूमण्डलकी जो शोभा उत्पन्न हुई, वह देखते ही बनती थी ॥३॥ कल्पवासी देवोंकी सभामें मणिरचित घण्टियाँ बिना हाथ लगाये ही बजने लगीं और ज्योतिषी देवोंके आवास स्थानोंमें एकाएक खूब जोर-जोरसे सिंह गर्जन करने

१. आ इ जननसमये । २. अ जजितरथं । ३. अ 'ककुम' इति मास्ति । ४. = वेधु । ५. आ तिप्, अ तिप् । ६. आ जिर्जं ।

प्रणनाद भावनगृहेषु जलवपुःशृङ्खलसंहतिः ।
 व्यन्तरसुरभवनेष्वहताः पटहाः प्रतिध्वनिमुद्यः प्रवध्वनुः ॥४॥
 इति हेतुभिः प्रचलितैश्च समसमयमात्मविष्टरैः ।
 ज्ञातजिनपतिभवा परितो गगनं प्रपूर्य विबुधाः प्रतस्थिरैः ॥५॥
 प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणमिकुरम्बरजिताः ।
 मण्डनमिव जगृहुः ककुभोऽप्यथवा न कस्य जिनजग्म वृद्धये ॥६॥
 अधुना व्यनक्ति जिन एष भुवनमिदमत्र किं मया
 कृत्यमिति सुरचिमानचयैस्त्रपयेव सानुरभवत्तिरोहितः ॥७॥

लिट् ॥४॥ प्रणनेति । भावनगृहेषु भवनामरसंबन्धेषु गृहेषु भवनेषु । शङ्खसंहतिः शङ्खानां संहतिः समूहः ।
 जलवपुः जलवपुः मेघवत् पटु व्यक्तं यथा तथा । प्रणनाद दध्वात् । णद शब्दे लिट् । व्यन्तरसुरभवनेषु
 व्यन्तरसुराणां भवनेषु गृहेषु । अहताः अताडिताः । प्रतिध्वनिमुद्यः प्रतिध्वनिं मुख्यन्तीति तथोक्ताः । पटहाः
 दुन्दुभयः । प्रवध्वनुः वध्वनुः । ध्वन शब्दे लिट् ॥५॥ इतीति । इति हेतुभिः इत्येवं हेतुभिः । समसमयं समः
 समानः समयः कालो यस्मिन् कर्मणि कर्तुं । प्रचलितैः कम्पितैः । आत्मविष्टरैः [च] आत्मनां स्वेष्टां विष्टरे-
 रासनैश्च । ज्ञातजिनपतिभवाः ज्ञातो विदितो जिनपतेर्भवो जन्म यंस्ते । विबुधाः देवाः । परितः सर्वतः ।
 गगनम् आकाशम् । प्रपूर्य व्याप्य । प्रतस्थिरैः निजग्मुः । छा गतिं निवृत्तौ । अनुमितिः ॥६॥ प्रचलदिति ।
 प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणमिकुरम्बरजिताः प्रचलतां सुरासुराणां सुरासुरदेवानां किरीटानां निकुरम्बेण
 निकरेण रञ्जिता उपरञ्जिताः । ककुभोऽपि दिशोऽपि । मण्डनम् अलंकरणम् । जगृहुर्वै स्वीचकुरिष ।
 अथवा तथाहि । जिनजग्मं जिनस्वाहर्तुं जन्म जननम् । कस्य पुरुषस्य । वृद्धये समृद्धये । [न] न भवति ।
 अर्थान्तरन्यासः ॥७॥ अधुनेति । अधुना इदानीम् । अत्र जिनजग्मनि । इदम् एतत् । भुवनं जगत् । जिन एष
 जिनैस्वर एव । व्यनक्ति व्यनक्ति करोति, प्रकाशयतीत्यर्थः । मया किं कृत्यं करणीयम् । इति, त्रपयेव लज्जयेव ।
 सुरचिमानचयैः सुराणां देवानां विमानानां व्योमयानानां चयैः समूहैः । मानुः सूर्यः । तिरोहितः व्यवहितः ।

लगे—सिंहनाद होने लगा ॥४॥ भवनवासी देवोंके घरोंमें मेघोंकी भाँति गम्भीर शंख समूहकी
 ध्वनि सुनाई पड़ने लगी और व्यन्तर देवोंकी निवास भूमिमें बिना बजाये ही दुन्दुभि बाजे
 बजने लगे तथा सभी ओर उनकी प्रतिध्वनि गूँजने लगी ॥५॥ इन कारणोंसे एवं एक ही साथ
 अपने-अपने आसनके कम्पित होनेसे सभी देवोंकी जिन भगवान्‌के जन्मका पता चल गया ।
 फलतः उन्होंने अपने-अपने स्थानसे चन्द्रपुरीकी, जहाँ जिन भगवान्‌का जन्म हुआ था, प्रस्थान
 कर दिया । जाते समय उन्होंने आकाशकी सभी ओरसे व्याप्त कर दिया ॥६॥ क्या सुर और
 क्या असुर सभी बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे थे । उनके मुकुटोंकी किरणोंके समूहसे सारी दिशाएँ
 रंग विरंगी हो गयीं, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने आभूषण पहन लिये हों । भला
 जिन भगवान्‌का जन्म किसकी बुद्धिके लिए नहीं होगा ? ॥७॥ 'इस समय जिनभगवान्‌ ही सारे
 संसारकी प्रकाशित कर रहे हैं, अब यहाँ मेरा क्या काम' ? यह सोचकर मानो लज्जाके कारण

१. आ इ भवनेषु पटहा । २. अ ध्वनिमुद्यः । ३. अ व्याप्य । ४. आ इ भवनं ।
 ५. आ प्रणतीति । ६. = ध्वनि चक्रः । ७. आ इराव । ८. = लिट् । ९. स 'समृद्धये' इति नोपलभ्यते ।
 १०. = उपप्रेक्षा ।

सुरपट्टिरानृपतिगेहमद्वयदमराज्यासता ।

अन्तरमकलयता शुभुषोरिव अमरज्जुवत्ताम्रि-वेकता ॥१८॥

स चतुर्विधोऽपि सुसप्त विविधमजिरत्नमासुरः ।

प्राप भूतसकलभूमितलो अक्षराग्निस्तुरगणः स्वसास्यः ॥१९॥

अथ मायया अनितमाश्रयनुकृतिरूपमर्भकम् ।

मातुरुरसि विविधेषु शची जिनमुज्जहार शुद्धमक्षितमाक्षिता ॥२०॥

तमुदीचय भासुरमशीतरुचिभिः शचीसमाहृतम् ।

पद्मचनमिव विकासमगाद्युगपत्सहस्रमपि चक्षुषां हरेः ॥२१॥

अथ च भूतम् । सङ् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ सुरपट्टिरिति । अमराख्यात् स्वर्गाभासात् । आनृपतिगेहं महासेन-
भूपतिगृहपर्यन्तम् । तठा विस्तृता । सुरपट्टिः सुराणां देवानां पङ्क्तौ राज्ञिः । शुभुषोः द्वाभामूयोः । अन्तरं
मध्यम् । अकलयता निश्चयमकुर्वता । वेकता ब्रह्मणा । अमरज्जुः मानस्य प्रमाणस्य रज्जुः सूत्रम् । उदत्तारि
इव विरचयामास इव । तू प्लवनतरणयोर्लङ् । अद्वयत् । रुचि अग्निप्रोत्थां लुङ् । 'सु-ज्जयी सङ्' इति उङ् ।
उत्प्रेक्षा ॥९॥ स इति । विविधमजिरत्नमासुरः विविधैर्नामप्रकारैर्मणिनिश्चितै रत्नैर्भासुरः प्रकाशमानः ।
'अञ्जभास'-इत्यादिना पुरः । भूतसकलभूमितलः भूतं भूतं सकलं सर्वं भूमितलं येन सः । सवास्यः वासवेन
देवेन्द्रेण, पक्षे वासवेन विष्णुना सहितः । चतुर्विधोऽपि चतस्रो विधाः प्रकारो मस्य सः । सः सुरगणः सुराणां
देवानां गणो निकरः । अक्षराग्निस्तुरगः इव । नृपस्य नृपस्य राज्ञः सप्त सदनम् । प्राप ययौ । आप्त् व्याप्तौ
लिट् । श्लोचोपमा ॥१०॥ अथेति । अथ देवगमनानन्तरम् । गुह्यमक्षितमाक्षिता गुह्या महत्या भवत्या गुणानु-
रागेण भाक्षिता परिणता । शची इन्द्राणी । मायया । जनितां जातम् । आश्रयतनुकृतिरूपम् आश्रितं स्वीकृतं तस्य
जिनबालकस्यानुकृतं [रूपं] समानं मस्य तम् । अर्भकं मायाशिशुम् । मातुः जिनाम्बिकायाः उरसि
बलसि । विविधेषु संस्थाप्य । जिनं जिनबालकम् । उज्जहार स्वीकरोति स्म । हृज् हरणे लिट् ॥११॥
तमिति । शचीसमाहृतं सख्या शचीमहादेव्या समाहृतमानीतम् । अशीतरुचिभिः सुयम्बि^१ भासुरं देवीप्य-
मानम् । तं जिनबालकम् । शचीस्य बिलोक्य हरिः देवैः (हरेः देवेन्द्रस्य) । चक्षुषां नयनानाम् । सहस्रमपि
दशसप्तप्रमितमपि । पद्मचनमिव पद्मानां कमलानां वनमिव पद्ममिव । युगपत् सकृत् । विकासं विकसनम् ।

सूर्यं, देवोंके विमान समूहको ओटमें छिप गया ॥८॥ स्वर्गसे राजा महासेनके घर तक लगातार
फैली हुई देवोंकी पंक्ति ऐसी मालूम पड़ रही थी मानो ब्रह्मादेवने—जिसे स्वर्गसे पृथ्वी तकका
फासला अज्ञात था—माप करनेके लिए रस्सी डाल दी हो ॥९॥ अनेक प्रकारके मणियों और
रत्नोंसे देदीप्यमान चारों प्रकारके देवोंका वृन्द—जिसके साथ इन्द्र भी थे—राजमहलमें जा
पहुँचा । उसने वहाँको सारी भूमिको व्याप्त कर दिया, अतः वह रत्नाकरकी जलराशिके
समान दृष्टि गोचर हो रहा था ॥१०॥ इसके उपरान्त अत्यधिक भवित् भावसे युक्त इन्द्राणीने
प्रसूति गुहमें प्रवेश किया । वह वहाँपर मायासे उत्पन्न किये हुए एक बच्चेको—जो आकार
प्रकारमें जिनभगवान्के समान था—माँ की गोदमें रखकर जिनभगवान्को उठा लाई ॥११॥
इन्द्राणीके द्वारा लाये गये सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले उस तेजस्वी बालकको देखकर इन्द्रके

१. क. का म. स्वयम् । २. म. 'सासता + वे. का. 'पट्टिगेह' । ३. व्या. स. तिप् । ४. क. 'पुटितं व्याप्तं वा ।
५. वा. सुयम्बजिम्, वा. सुयम्बजिम् ।

सुरहृदि जयजयेति भुवनमभिसर्पति ध्वनी ।

हस्तधृतवपुषमात्मगर्जं तमरोपबन्धनमकल्पनायकः ॥१३॥

इतरे च तं परममक्तिमरुतकिरीटकोटयः ।

भेजुरमरपतयोऽस्तगता बिभृतातपन्नकलशाम्बुचामराः ॥१४॥

सुरयोषितो विविधधूपबलिकुसुमदण्डपाणयः ।

मङ्गलमुक्तरमुक्ताम्बुदहाः करिणीगताः समुपतस्थिरेऽग्रतः ॥१५॥

चलितेऽभिमेह सुरनाथनिबहपरिवारिते जने ।

नेतुरथ विबुधहस्तहताः परितः प्रयाणपरिशिमेरिकाः ॥१६॥

जयात् जयात् । इम् वती लुह^१ उपमा ॥१२॥ सुरेति । सुरहृदि बृंहिते बृंहिते प्रवर्धिते । जय जयेति ध्वनी शब्दे^२ । भुवनं जयत् । अभिसर्पति व्याप्नुवति । प्रथमकल्पनायकः प्रथमस्य कल्पस्य सौधमकल्पस्य । नायकः प्रभुः । हस्तधृतवपुः^३ हस्तेन वाजिना धृतं धृतं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं जिनशिशुम् । आरमणम् आरमणः स्वस्य गजमैरावृतम् । शरीरपयत् अवाहयत् । रह बीजजन्मनि विजन्तास्लङ् 'रह. प.' इति पकारादेशः ॥१३॥ इतरे इति । परममक्तिमरुतकिरीटकोटयः परमाया महत्या अवस्था शरेण शारेण नताः किरीटानां कोटयः समूहा येषां ते । अस्तगताः अस्तं समीपं गताः । इतरे च शोधारथ । अमरपतयः अवराणां देवानां पतय इन्द्राः । विभृतातपन्नकलशाम्बुचामराः बिभृतानि भूतानि आतपचारमङ्गलारदर्शनचामराणि दैवतैः । तं जिनबालम् । भेजुः शेषस्तेषाम् । बजि^४ शैबायां किद् ॥१४॥ सुरेति । विविधधूपबलिकुसुमदण्डपाणयः विविधैर्नामप्रकारैर्बुधैः कालांगवधुपेन बलिना पूज्येण कुसुमेन पुष्पेण च दण्डा युक्ताः पाणयो हस्ता यात्रा ताः । मङ्गलमुक्तरमुक्ताम्बुदहाः मङ्गलेन मङ्गलगतानेन सुखरं वाचालं बुधमेव बदनमेवाभ्युदहं कमल यात्रां ताः । करिणीगताः करिणीः करेण^५ गता वाक्काः । सुरयोषितः सुराणां योषितो वनिताः । अग्रतः पुरस्तात् । समुपतस्थिरे समुपययुः । छा गतिनिवृत्तौ किद् । रूपकम् ॥१५॥ चलित इति । सुरनाथनिबहपरिवारिते सुरनाथानां देवेन्द्राणां निबहेन निकायेन परिवारिते परिवृते । जिबे जिबेणे । अभिमेह श्रेयोऽभिमुखम् । 'लक्षणैर्नामप्रत्याभिमुख्ये' इति अण्वयीभावः । चलिते याते छति । जय जनन्तरम् । विबुधहस्तहताः विबुधानां देवानां हस्तैः पणिभिः हताः ताडिताः । प्रयाणपरिशिमेरिकाः प्रयाणं यात्रा^६ परिश्रित्यः सूचिका मेरिका दुन्वुचयः । परितः

एक हजार नेत्र, कमलौके बनकी भाँति विकसित हो उठे ॥१२॥ जिन बालकको देखते ही सभी देवोंके मुखसे जय जयकारकी ध्वनि निकालने लगी और वह खूब ही बड़ो एवं सारे ससारमें फैलने लगी । इसी ध्वनिके बीचमें सौधम स्वर्गके इन्द्रने जिन-बालकको अपने हाथोंमें लेकर अपने हाथीपर चढ़ा लिया ॥१३॥ और अन्य इन्द्र भी जो समीपमें ही खड़े हुए थे, और प्रगाढ़ भक्तिके भारसे जिनके मुकुटोंके शिखर झुके हुए थे, तथा जिनके हाथोंमें छत्र, कलश, दर्पण और चामर थे, जिन बालकको सेवा कर रहे थे ॥१४॥ देवियां हथिनियोंपर सवार होकर हुई आगे-आगे चल रही थीं ॥१५॥ भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अभी शिशु अवस्थामें थे—सभी ओरसे देवेन्द्रोंसे घिरे हुए थे—उनके चारों ओर देवेन्द्र खड़े हुए थे । ज्योंही उन्होंने सुमेरुकी ओर प्रस्थान किया त्यों ही जिधर देखो उधर देशोंके हाथोंमें स्थित प्रस्थान सूचक मेरियां

१. न 'तेरिकाः' । २. आ लङ् । ३. वा 'शब्दे' इति नास्ति । ४. वा 'हस्तधृत वपुषः' इति नोप-
सम्पत्ते । ५. = विभृतानि भूतानि । ६. आ मङ् । ७. वा 'करेणूः' इति नास्ति । ८. = परिश्रित्यभीति ।

सुरपेटकैः पट्ट नटभिरतिशतलितगीतवादितैः ।

नृत्यमयमिव तदा सकलं सविगन्तरं सममङ्गलमस्तलम् ॥१७॥

भुवनतिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः ।

लङ्घितमपि बुबुधे विबुधैर्न सुराद्रिचर्म तदुपात्तचिस्मयैः ॥१८॥

अथ ते परीत्य सुरशीलमुररुचिरचैत्यमन्दिरम् ।

पाण्डुकदम्बादि सुरप्रमुखा हरिविहरे सुखमतिष्ठपञ्जिनम् ॥१९॥

सुरपङ्क्तिमाशु विरचय्य कृतविततिमापयोम्बुधैः ।

चक्रमलतरदुग्धघटैरभिषेचनं विदशलोकनायकाः ॥२०॥

समन्तात् । नेदु प्वनति स्म । णद अत्यन्ते शब्दे लिट् ॥१९॥ सुरेति । अतिललितगीतवादिनः अतिललित-
मतिमनोहरं गीतस्य (गीतं गानं) वादितं वादनं (च) येषां तैः । पट्ट नटभिरः पट्ट स्फुटं नटभिरनुत्पाद्भिः ।
सुरपेटकैः सुराणां पेटकैर्निकरैः । तदा गमनसमये । सविगन्तरं दिगन्तरेण दिग्विबारेण सहितम् । नमस्तलं
आकाशप्रदेशम् (अ) । नृत्यमयमिव नृत्यस्वरूपमिव । सममवत् समभूत् । लङ् । उपमा ॥१७॥ भुबुधेति ।
भुवनतिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः भुवनस्यातिशायिनि उत्कृष्टे जिनस्य जिनेशस्य रूपे विनिहितानि
निसिप्लानि लोचनानि मनानि तान्येवोत्पलानि कुलयाणि येषां तैः । तदुपात्तचिस्मयैः तस्मिन् जिने उपात्तः
कृतो विममयोऽद्भुतं येषां तैः । सुराद्रिचर्मं महामेरुमार्गः । लङ्घितमपि निकङ्घ्रितमपि । विबुधैः सुरैः । न
बुबुधे न जज्ञे । बुधि मनि ज्ञाने लिट् । रूपकम् ॥१८॥ अथेति । अथ महामेरुमार्गमगमनानन्तरम् । उरुचिर-
चैत्यमन्दिरम् उरुणि महान्ति हरिचाराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि चैत्यालया यस्मिन् तम् । सुरशीलं मेरु-
पर्वतम् । सुरप्रमुखाः सुरा कल्पवासिनः प्रमुखा आदयो येषां तैः । ते सुरपावयो देवाः । परीत्य प्रवक्षिणीकृत्य ।
पाण्डुकदम्बादि पाण्डुकशिलायां । हरिविहरे सिंहासने । जिनं जिनेशम् । सुखं संतोषं यथा तथा । 'सुखमा'...
इति वैजयन्ती । अतिष्ठपन् अयस्ति स्म लङ् ॥१९॥ सुरेति । विदशलोकनायकाः विदशानां देवानां लोकस्य
स्वर्गस्य नायका इन्द्राः । आ पयोम्बुधे क्षीरसमुद्रपर्यन्तम् । कृतविततिं कृता विहिता विततिविस्तृतिर्यथा
ताम् । मुरपङ्क्तिं सुराणां देवानां पङ्क्तिं श्रेणिम् । आशु क्षीघ्रम् । विरचय्य निर्माय । अमलतरदुग्धघटैः
अष्टयज्ञोदरध्यामैरकमोजनमुखव्यासैः काञ्चनरजतगारुमतादिरत्नमितैर्निर्मलैर्दुग्धेन क्षीरेण पूर्णघटैः ।

बज्रने लगी ॥१६॥ ममो देव लोग अत्यन्त सुन्दर ढंगसे गाना गा रहे थे, बाजे बजा रहे थे
और कलापूर्ण नृत्य कर रहे थे, जिसने सारी दिशाएँ और पूरा आकाश उस समय नृत्यमय
दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥१७॥ जिनेन्द्र भगवान्का रूप लोकातिशायी था । सभी देवोंके नेत्र उसे
देखनेमें लगे हुए थे और वे उसके बारेमें आश्चर्यका अनुभव कर रहे थे । फलतः सुमेरु पर्वतका
मार्ग, जिसे वे लांघ चुके थे, उन्हें ज्ञात हो नहीं हुआ कि कब निकल गया ॥१८॥ इसके
पश्चात् उन सभी देवोंने—जिनमें इन्द्र प्रमुख थे—बड़े-बड़े सुन्दर जिनमन्दिरोंसे विभूषित
सुमेरु पर्वतको परिक्रमा की, फिर उन्होंने पाण्डुक शिलापर रखे गये सिंहासनपर जिनभगवान्को
सुख पूर्वक बैठा दिया ॥१९॥ फिर इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतसे लेकर क्षीरसागर तक देवोंकी खूब
लम्बी पंक्ति खड़ी करके (उनसे मगाये गये) अत्यन्त निर्मल दूधसे भरे हुए कलशोंसे जिन-

१. आ सुरपेटकैः पट्टभिरतिगीतललितवादितैः । २. क ल ग घ ङ म तिष्ठपञ्जिनम् । ३. = उपदेशः ।

४. = आश्चर्यं यैः । ५. आ 'महा' इति नास्ति । ६. आ वैजयन्त्याम् । ७. = स्थापयामासुः ।

८. श श्रेणीम् ।

अभिषिष्य तं क्लृप्तनृत्यमधुररवगीतवादिनैः^१ ।
 वज्रमयनिशितसूचिकया विविधयुग्मं भवणयोः सुरेश्वराः ॥२१॥
 मणिकुण्डलाङ्गकरीटकटकरणविभूषणैः ।
 दिव्यकुसुमवसनैश्च सुरास्तमभूषयन्निभुवनैकभूषणम् ॥२२॥
 प्रविधाप्य ते समयमेकममरपतयः कृतोत्सवाः ।
 चन्द्रसमरचिरयं भगवानिति चन्द्रपूर्वममुमाह्वयन्मभुम् ॥२३॥
 अथ भक्तिः प्रथमकल्पपतिरितरवासवान्वितः ।
 स्तोत्रमिति विरचितोऽञ्जलि^२ तं सहजजिबोघसहितं प्रवक्रमे ॥२४॥

अभिषेचनम् अभिषेचनम् । वज्रः विद्युः । क्लृप्त् । जातिः ॥२०॥ अमीति । सुरेश्वराः देवेन्द्राः । क्लृप्त-
 नृत्यमधुररवगीतवादिनैः क्लृप्तैः मनोहरेण नृत्येन मधुररवयुतेन मधुरध्वनियुक्तेन गीतेन वादितैर्नादितैः ।
 तं जिनम् । अभिषिष्य अभिषेचनं कृत्वा । वज्रमयनिशितसूचिकया वज्रमय्या निशितया क्रूराप्रया । सूचिकया
 सूच्या । भवणयोः कर्णयोः । युग्मं द्वन्द्वम् । विविधः छिद्रं वक्रः । विध विधाने क्लृप्त् ॥२१॥ मणीति । सुराः
 देवाः । मणिकुण्डलाङ्गकरीटकटकरणविभूषणैः कुण्डले कर्णवेष्टने च, अङ्गदे केयूरे च, करीटं मकुटं च,
 कटके कङ्कणे च, रक्षणा मेखला च तथोक्ताः, ता^३वादिः येषां तानि तथोक्तानि, तानि च तानि भूषणानि
 च तथोक्तानि, मणिमी रत्नैर्मणितानि कुण्डलाङ्गदकरीटकरणविभूषणानि तैः । दिव्यकुसुमवसनैश्च दिव्यैः
 स्वर्गजैः कुसुममयैः पुष्पलिखितैर्वस्त्रैर्दुर्लभवस्त्रैः । त्रिभुवनैकभूषणं त्रिभुवनस्य त्रिजगत एकं मुख्यं भूषण-
 मलंकारम् । तं जिवेशम् । अनुभूषयन् अलंकुरुष्वन्ति स्म । भूष अलंकारे^४ लङ् ॥२२॥ प्रविधायेति । कृतोत्सवाः^५
 विहितसंक्रमयुक्ताः । ते अमरपतयः देवेन्द्राः । भगवान् स्वामी । अयम् एव । चन्द्रसमर्थाः चन्द्रस्य सीमस्य
 सम्य समाना र्थाः कान्तियस्य सा, विबुधिमद्युतियुत इत्यर्थः । इति उत्सवाः । एकं मुख्यम् । समयं संकेतं,
 संक्राम इति भावः । प्रविधाप्य कृत्वा । अयम् एवम् । प्रभुं जिनेशम् । चन्द्रपूर्वं चन्द्राभ्युदयपूर्वयुतम्^६ । प्रभुं
 चन्द्रप्रभम् इत्यर्थः । आह्वयन् आकारयन्ति स्म । ह्वेज् स्पर्शार्थां वाचि लङ् ॥२३॥ अथेति । अथ नाम-
 करणमन्तरम् । इतरवासवान्वितः इतरैः शेषैर्वासवैरिन्द्रैरन्वितः सहितः । प्रथमकल्पपतिः प्रथमकल्पस्य
 सौवर्णकल्पस्य पतिः प्रभुः, सौवर्ण इत्यर्थः । सहजजिबोघसहितं सहजैर्निर्गम्यैः जिबोघैर्मन्त्रिभूतावविरूपैः
 बहिवः उम् । तं जिनम् । भक्तिः स्वसामर्थ्यात् । स्तोत्रं स्तवनाय । विरचितोऽञ्जलि विरचितोऽञ्जलि-

भगवान्का अभिषेक किया ॥२०॥ सुन्दर नृत्य, मधुर गान और बाजोंकी आवाजके साथ उनका
 अभिषेक करके इन्द्रोंने वज्रकी पैनी सुईसे उनके दोनों कानोंका छेदन किया ॥२१॥ तीनों
 कोकोंके एकमात्र भूषण स्वरूप भगवान् चन्द्रप्रभको देवोंने मणिमय कुण्डल, बाजूबन्द, मुकुट,
 कड़े, करघनी आदि आभूषणोंसे और दिव्य पुष्पों एवं वस्त्रोंसे बिभूषित किया ॥२२॥ इस
 प्रकार उत्सव करके इन्द्रोंने, ये भगवान् चन्द्रमाके समान कान्तिये युक्त हैं, इस आशयको प्रकट
 करनेवाला सकेत करके उन्हें 'चन्द्रप्रभ' नामसे पुकारा—उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा ॥२३॥
 इसके उपरान्त अन्य इन्द्रोंके साथ सीधमें स्वर्गके इन्द्रने हाथ जोड़कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार,
 जन्मसे ही तीन जानोंके धारी भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति इस प्रकारसे प्रारम्भ की—॥२४॥

१. आ इ^१वादिनैः । २. अ क ल ग व^२ताञ्जलिः । ३. = आदी । ४. वा अलंकरणे । ५. =
 कृतो विहित उत्सव उद्यानो वैस्ते । ६. आ 'व्ययुक्तम् । ७. आ भक्तिः । = (भक्तिः-युक्तानुरागतः) ।

सकलाबोधमकलहमनुपममचिन्त्यवैभवम् ।
 जन्मरहितमजरामरणं जितमत्सरं जिनमभिह्वयेऽहम् ॥२५॥
 स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश तदपि हितकारुण्ये स्तुते ।
 शक्यमिदमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्ष्णिजः ॥२६॥
 हरिबिह्वरस्थितमशेषजननयनहारि ते बभूवुः ।
 कान्तिरुचिरमुदयाद्रिशिरोमतमिन्दुमण्डलमिधाद्यभासते ॥२७॥
 जिन यः समाधयति मार्गमखिलजनवत्सलस्य ते ।
 तस्य न भवभयमस्ति पुनः किमु नौभितो^३ अलनिधौ निमज्जति ॥२८॥
 तव नाथ यश्चरणयुग्ममखिललितभक्तिं सेवते ।
 तस्य किमु बलु करोति यमो नहि बाधते तुहिनमग्निसेचिनम् ॥२९॥

यस्मिन् कर्मणि तत्० । इति वदयमाणप्रकरणे । प्रथमे प्रारम्भे^१ । क्रमु पादविशेषे लिट् ॥२४॥ सकलेति । सकलाबोधं सकलेन सर्वेणाबोधयेन युक्तम् । अकलङ्कं निर्मलम् (कलङ्करहितम्) । अनुपमम् उपमातीतम् । अचिन्त्यवैभवम् अचिन्त्यं ध्यातुमशक्यं वैभव^२ यस्य तम् । जन्मरहितं जननरहितम् । जरामरणरहितम् । जितमत्सरं जितमात्सर्यम् । जिनं जिनेशम् । अहम् चन्द्रप्रभम् । अभिप्रेत्ये^३ अभिनीमि । जातिः ॥२५॥ स्तुतीति । ईश स्वामिन् । मम मे । स्तुतिशक्तिः स्तुतौ श्रोत्रकरणे शक्तिः श्यामर्ण्यम् । नास्ति । तदपि तथापि । हितकारुण्ये हितस्यानन्तसुखस्य इच्छया [कांक्षया] बाण्ड्या । स्तुते स्तोमि । प्लुम् स्तुतौ लट् । कार्ष्णिजः कार्ययुताः । इदं कार्यं शक्यमिदं कार्यमशक्यम् । इति एवम् । प्रविचारबाह्यमतयो हि प्रविचारात् परीक्षणाद् बाह्या मतिर्येषां ते । अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ हतीति । हरिबिह्वरस्थितं हरिबिह्वर^४ सिंहासनं स्थितम् । अशेषजननयनहारि अशेषाणां सकलानां जनानां वयमानां हारि मनोहरम् । कान्तिरुचिरं कान्त्या लाब्येन रुचिरं मुग्धरम् । ते भवतः । बभूवुः शरीरम् । उदयाद्रिशिरोमतम् उदयादेरुदयपर्यन्तस्य शिरो अर्ध-भागं गतं यातम् । इन्दुमण्डलमिव इन्दोवचन्द्रस्य मण्डलमिव बिम्बमिव । अवभासते विभाति^५ । भासु^६ दीप्तौ लट् । उपमा ॥२७॥ जिनेति । जिन भो जिनेश । अखिलजनवत्सलस्य अखिलानां जनानां वत्सलस्य प्रीतस्य । ते भवतः । मार्गं रत्नत्रयधर्मम् । यः पुरुषः । समाधयति^७ अजले^८ । भिम्बं खेदमां लट् । तस्य पुरुषस्य । भवभयं भवात् संसारज्जातं भयम् । नास्ति । नौ भितः नावं वानपात्रं भित आरूढः । पुनः पश्चात् । अलनिधौ समुद्रे । निमज्जति [किम्] ? । इमस्य^९ शुद्धौ लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२८॥ सवेति^{१०} ।

मैं समस्त जानोंसे युक्त, निष्कलंक, अनुपम, अचिन्त्य वैभवमय, जन्म, जरा और मरणसे रहित और मात्सर्यपर विजय पानेवाले अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति करता हूँ ॥२५॥ हे भगवन् ! मुझमें आपकी स्तुति करनेकी शक्ति नहीं है, तो भी मैं अपने हितकी कामनासे आपकी स्तुति कर रहा हूँ । सब तो यह है कि अपने कामकी सिद्ध करनेकी चाह रखनेवाले लोगोंकी बुद्धि 'यह शक्य है या अशक्य' इसविचारसे निश्चय हो दूर रहती है ॥२६॥ भगवन् ! सिंहासनपर विराजमान, सारे संसारके नेत्रोंको हुरण करनेवाला, तुम्हारा कान्तिमय सुन्दर शरीर उदयाचलके शिखरपर स्थित चन्द्रमण्डलकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥२७॥ हे जिन ! सबके प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाले आपके रत्नत्रय मार्गका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता । क्या जहाजपर बैठनेवाला समुद्रमें डूबता है ? ॥२८॥ हे नाथ !

१. आ कार्ष्णिजः । २. आ इ समाधयते । ३. न नौभितो । ४. अ लितानिभक्ति । ५. = प्रारम्भे । ६. आ 'मशक्यो वैभवो' । ७. = अभिप्रेत्ये । ८. वा 'हरिबिह्वरे' इति नास्ति । ९. वा विभाति । १०. वा भासुव, वा भासुः । ११. वा अजले । १२. वा अजति । १३. वा इमस्य । १४. वा अस्य वकीरस्य व्याख्या नास्ति ।

तत्र दर्शनं जगदधीश विदधद्वज्ररामरं जगत् ।

कस्य न कथय रसायनचक्षुःपुष्पामन्यमपहाय रोचते ॥३०॥

सुखमाभिताय जिननाथ वितरति यद्विच्छया विना ।

शक्तिरियमनघ ते सहजा किमु विस्मया भ्रमहरं न चन्दनम् ॥३१॥

स कृती कृतार्थमपि तस्य जगति कलयामि जीवितम् ।

यस्य हृदयसरसि स्फुरति प्रतिवासरं जिन तवाक्षिपद्भजम् ॥३२॥

सुरपूज्य यः सततमेव वहति हृदयेन नाम ते ।

मन्त्रकुशलमिव शाकिनिकाः प्रमथन्ति न च्छलयितुं तमापदः ॥३३॥

भो नाथ हे स्वामिन् । तव ते । चरण-युग्मं चरणयोर्युग्मं तथोक्तम् । अविचलितभक्ति अविचलिता निश्चला भक्तिर्गुणानुरागो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा । सेवते । सेवञ् सेवने । तस्य पुरुषस्य । यमः कालः । खलु^१ निश्चयम् । किं करोति । दुष्टञ् करणे । तुहिनं हिमम् । अग्निसेविनम् अनिल (शनल-) सेविनम् आश्रययुक्तं पुरुषम् । न बाधते^२ हि न बाध्यते हि ॥२९॥ तवैति । जगदधीश जगता लोकानामधीश स्वामिन् । जगत् लोकम् । अजरामरं जरामरणरहितम् । विदधत्^३ । तव भवतः । दर्शनं मतम् । दिव्यः बुधानाम् । अभव्यम् अभव्यजीवम् । अपहाय विमुच्य । कस्य जीवस्य । रसायनवत्^४ अमृतवत् । न रोचते^५ न प्रीणयति । एषि अमिष्टीत्याञ्च लट् । उपमा ॥३०॥ सुखमिति । जिननाथ भो जिनेश । अनघ पापहरिन । ते भवत । याभिनाथ सेविताय । इच्छया विना अभिलाषेण विना । सुखम् आनन्दम् । वितरति ददाति । त^६ प्लवन-तरणयोर्लट् । इति । यत् यस्मात् । इमम् एषा । सहजा स्वाभाविका । शक्तिः सामर्थ्यम् । चन्दनं श्रीगन्धः । विस्मया स्वभावेन । भ्रमहरं परिभ्रमवारणम् । न किमु न किम् ? किन्तु ध्रमहरमेव । अर्थान्तरन्यास ॥३१॥ स इति । जिन भो जिनेश । हृदयसरसि हृदयमेव सरस्तस्मिन् । तव भवत । अक्षिपद्भजम् अक्षिपदेव वाद्येन पञ्चजनम् । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । स्फुरति शोभते । स्फुर स्फुरणे लट् । गः पुरुषः । जगति लोके । कृती पुण्यवान् । तस्य पुरुषस्य । जीवितमपि जीवनमपि । कृतार्थं संपूर्णप्रयोजनम् । कलयामि मम्ये । कल संख्याने लट् ॥३२॥ सुरेति । सुरपूज्य सुरैर्देवैः पूज्य आराधनीय, भो देवागन्ध । यः पुरुष । ते सवतः । नाम नामधेयम् । सततमेव अनवरतमेव । हृदयेन चित्तेन । वहति धरति । वहि^७ प्रापणे लट् । तं पुरुषम् । शाकिनिकाः दुष्टप्रहाः । मन्त्रकुशलमिव मन्त्रेष्वाकर्षणादिमन्त्रेषु कुशलमिव निपुणमिव । आपदः

जो भी स्थिर भक्तियसे आपके चरणोंकी सेवा करता है, यमराज (मृत्यु) उसका क्या कर सकता है ? आग तापनेवालेको जाड़ा नहीं सता पाता ॥२९॥ हे जगन्नाथ ! साजे समारकों अजर और अमर कर देनेवाला आपका दर्शन रसायनके समान है । वह अभव्यको छोड़कर, यताइये और किस विद्वान्को नहीं रुचता ? ॥३०॥ भगवन् ! आप रागादि कषायोंके विजेता हैं, सबके स्वामी हैं और हैं निष्पाप । आपका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे आप सुख देते हैं, वह मले ही उसे (सुखको) पानेके लिए अपनी इच्छाको व्यक्त न करे । यह आपकी स्वाभाविक शक्ति है । क्या चन्दन स्वभावसे ही धकानको दूर करनेवाला नहीं होता ? ॥३१॥ हे जिन ! वह पुण्यात्मा है और मैं उसके जीवनको इस जगत्में कृतकृत्य समझता हूँ, जिसके हृदय रूपी सरोवरमें प्रतिदिन आपके चरण-कमल सुशोभित हुआ करते हैं ॥३२॥ भगवन् ! आपको देव लोग भी पूज्य मानते हैं । जो मनुष्य आपके नामका सदा हृदयसे स्मरण करता है, उसे आपदाएँ छल नहीं सकतीं—पीड़ा नहीं दे सकतीं । जैसे कुशल मान्त्रिकको शाकिनी-शाकिनी नहीं छल

१. = निश्चयेन । २. = न पीडयति । ३. = कुर्वत् । ४. = जराभ्याधिजिहीषमिव । ५. = न स्वयते । ६. = आश्रयं प्राप्ताय । ७. वा तु । ८. आ वह ।

मतिमातनोति हस्तेऽघमुपनयति सर्वसंपदः ।

किं तदधिप विदधाति न यद्भवद्विधपद्महृदसेवनं नृणाम् ॥३४॥

सकलोऽप्यपेक्ष्य किमपीश परहितरतः प्रजायते ।

न कश्चिद्विद्यमुपलब्धचरी तत्र निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता ॥३५॥

हरयोऽभिषेकमुपगम्य विधदति शची प्रसाधिका ।

वारि वहति निबद्धो घुस्रसामपरस्य कस्य महिमा जिनेदशः ॥३६॥

पशवोऽपि संनिधिमवाप्य तत्र जिन भवन्ति भाक्तिकाः ।

मानुषमनुरपि यस्तु मति त्वयि नातनोतु स पशुः पशोरपि ॥३७॥

मयरोराशोकमरणानि भयभव विचित्रवेदनाः ।

तावदभव भजते भवभृत्वयि यावदस्य हृदयं न लीयते ॥३८॥

विपत्तयः । छलयितुं पीडितुम् । न प्रभवन्ति समर्था न भवन्ति । लट् । उपमा ॥३३॥ मतिमिति । अधिप भो स्वामिन् । भवद्विधपद्महृदसेवनं भवतस्तवाद्ग्री पादावेव पङ्कजं कमलं तस्य सेवनम् । 'नृणां मनुष्याणाम् । मतिं बुद्धिम् । आतनोति करोति । अयं पापम् । हस्ते निराकरोति । सर्वसंपदः सर्वसंपत्तिः । उपनयति संपादयति । यत् कार्यम् । न विदधाति न करोति । तत् कार्यम् । किमस्ति ? नास्तित्यर्थः ॥३४॥ सकल इति । ईश भो स्वामिन् । सकलोऽपि सर्वोऽपि जनः । किमपि । प्रयोजनम् । अपेक्ष्य उद्दिश्य । परहितरतः परेपाम्भेषा हितं उपकारे रतः प्रीतः । प्रजायते संभवति । लट् । तत्र भवतः । इयम् एषा । निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता निर्व्यपेक्षा अपेक्षारहिता भुवनस्य लोकस्योपकारिता उपकारित्वम् । क्वचित् कुत्रापि । नोपलब्धचरी प्रागुपलब्धा न भवति ॥३५॥ हरय इति । जिन भो जिनेश । हरय इन्द्रा । उपगम्य आगत्य । अभिषेकम् अभिषेकम् । विधदति कुर्वन्ति । शची शची देवी । प्रसाधिका^१ अलंकारिता । घुस्रदां देवानाम् । निबद्धः समूहः । वारि क्षीरोदकम् । वहति धरति । अपरस्य अन्यस्य । कस्य । ईदृशः^२ एतादृशः । महिमा अस्ति, किन्तु नास्तित्यर्थः । अतिशयः ॥३६॥ पशव इति । जिन भो जिनेश । पशवोऽपि तिर्यञ्चोऽपि । तत्र भवतः । संनिधि समीपम् । अवाप्य लब्ध्वा । भाक्तिकाः भक्तियुक्ता । भवन्ति । लट् । यस्तु पुरुषः । मानुष-तनुरपि मानुष्या मनुष्यसंबन्धिना तन्वा क्षीरेण युतोऽपि । त्वयि भवति । मति भक्तिबुद्धिम् । नातनोति न करोति । लट् । स. पुरुषः । पशोरपि तिर्यचोऽपि । पशुः^३ पशुजातिः । आक्षेपः ॥३७॥ भयेति । भयं संसाररहित । अस्य संसारिणः । हृदयं मानसम् । [यावत्] यावत् पर्यन्तम् । त्वयि भवति । न लीयते

सकती ॥३३॥ हे स्वामिन् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा-शुश्रूषा मानवोंकी बुद्धिको विकसित करती है, पापोंको दूर करती है, सारी सम्पदाओंकी समीपमें ला देती है । फिर और क्या है जिसे वह नहीं करती ? ॥३४॥ हे ईश ! सभी लोग किसी-न-किसी स्वार्थसे दूसरोंके हितमें प्रवृत्त होते हैं, पर आपकी यह लोकोपकारकी प्रवृत्ति सर्वथा निःस्वार्थ है । वस्तुतः ऐसी प्रवृत्ति इस लोकमें अभी तक कहीं भी नहीं पाई गयी ॥३५॥ हे जिन ! आपके सिवा और किसकी ऐसी महिमा है जिसका अभिषेक स्वयं इन्द्र (स्वर्गसे) आकर करें, इन्द्राणी शृंगार करे और देवोंका वृन्द जल भरकर लावे ? ॥३६॥ हे जिन ! समीपमें आकर पशु भी आपके भक्त हो जाते हैं । पर जो मानव-देहको पाकर भी अपनी बुद्धिको आपकी ओर नहीं लगाता—आपका भक्त नहीं बनता वह पशुसे भी बढ़कर पशु है—पशुसे भी गया बीता है ॥३७॥ हे भगवन् ! आप भव परम्परासे मुक्त हैं । जिस संसारी जीवका हृदय जब तक आपमें लीन नहीं रहता,

१. क. ल. ग. घ. म. भवभय । २. एष टीकाशयः पाठः, प्रतिष्ठितुं 'नृणाम्' इत्यस्ति । ३. क्ष आदिव्य ।
४. = प्रसाधिका अलंकारिणी । ५. क्ष ईदृक् । ६. = सामीप्यम् । ७. = पशुतोऽपि निष्कृष्ट इत्यर्थः ।

नम इत्यपि स्वयि जिनेन्द्र विनिगदितमक्षरद्वयम् ।

पापमक्षिप्तमपहन्ति नृणामपरस्तु वाग्मिभव एव वाग्मिनाम् ॥३९॥

इति संप्रधार्य भुवनेश भवति विनूतिः प्रबन्धतः ।

सिद्धनुतिकृतफलेन मया न वितन्यते जिन ततो नमोऽस्तु ते ॥४०॥

तमिति प्रणुत्य गुरुभक्तिभरनततनुः पुरंदरः ।

सोत्सवमनयत चन्द्रपुरीं परिचारितः सुरगणेन नृत्यता ॥४१॥

प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदितहृदया महोत्सवम् ।

भेजुरमरनिवहाः स्वभुवं विनिवेद्य तं जनकयोर्जिनार्भकम् ॥४२॥

न संबध्यते । लोड्^३ ह्लेषणे कर्मणि लट्^४ । [तावत्] तावत्पर्यन्तम् । भवभूत् संसारी । भयरोग-
शोकमरणानि भीतिरोगदुःखमरणानि । भवभवविचित्रवेदनाः भवे भवे जन्मजन्मांतरे दुःखानि, भवे
संसारे मया उत्पन्ना विचित्रा बहुविधा वेदनाः तीव्रपीडाः, इति च । भजते श्रयते । भजि^५ सेवायां लट् ॥३९॥
नम इति । जिनेन्द्र जिननाथ । स्वयि भवति । गदितं प्रोक्तम् । 'नमः' इति । अक्षरद्वयमपि
वर्णद्वयमपि । नृणां जनानाम् । अखिलं सकलम् । पापं दुरितम् । अपहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योः
लट् । अपरस्तु इतरस्तु । वाग्मिनां वाक्चतुराणाम् । वाग्मिभव एव वाचो वचनस्य विभव एव रचनेव^६
॥३९॥ इतीति । भुवनेश लोकेश । इति 'नमः' इत्यक्षरद्वयमपि पापमपहरति, इति संप्रधार्य निश्चितम् ।
भवति स्वयि । विनूतिः स्तोत्रम् । सिद्धनुतिकृतफलेन सिद्धया निष्पन्नया नृत्या स्तुत्या कृतं विहितं फलं
प्रयोजनं यस्य तेन । मया । प्रबन्धतः विस्तरतः । न वितन्यते न क्रियते । कर्मणि लट् । जिन भो जिनेन्द्र
ततः तस्मात् । ते तुभ्यम् । नमः नमनम् । अस्तु भूयात् । लोड्^३ ॥४०॥ तमिति । गुरुभक्तिभरनततनुः
गुर्व्यां महत्या भवत्या गुणानुरागस्य मरेण मारेण नत्वा विनता तनुयंस्य सः । पुरंदरः देवेन्द्रः । 'पुरंदरमणंदर'
इत्यादिना साधुः । तं चन्द्रप्रमजिनम् । इति एवम् । प्रणुत्य स्तुत्या । नृत्यता^७ नर्तयता । सुरगणेन मुराणा
देवानां गणेन निकायेन । परिवारित परीतः । चन्द्रपुरीं चन्द्रपुरम् । सोत्सवं संप्रमसहितं यथा तथा । अनयत
प्रापयति स्म । जीञ् प्रापणे लट् ॥४१॥ प्रविधायेति । तत्र चन्द्रपुर्याम् । मुदितहृदया मुदितं संतुष्टं हृदयं
चित्तं येषां ते । अमरनिवहाः अमराणां निवहा निकायाः । पुनरेव पश्चाद् एव । महोत्सवं महासंभ्रमम् ।
प्रविधाय कृत्वा । जनकयोः मातृपितॄ^८ तं जिनार्भकं जिनबालकम् । विनिवेद्य विशाप्य । स्वभुवं स्वेषा

तभी तक वह भय, रोग, शोक, मरण और भवभवकी विविध वेदनाओंको प्राप्त करता है ॥३८॥
हे जिनेन्द्र ! आपके विषयमें श्रद्धासे कहे गये 'नमः' ये दो अक्षर भी, कहनेवाले—नमस्कार
करनेवाले मनुष्योंके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं । और तो वक्ताओंकी वाणीका केवल वैभव
ही है ॥३९॥ 'नमस्कार करने मात्रसे समस्त पाप विलीन हो जाते हैं', यह सोचकर मैं पूर्ण-
स्तुतिकृत फलके निमित्तसे विस्तारपूर्वक आपकी स्तुति नहीं कर रहा हूँ । अतः हे जिन,
आपको मेरा नमस्कार हो ॥४०॥ इस प्रकार स्तुति करके इन्द्रने अत्यधिक भक्तिसे बिभोर
होकर चन्द्रप्रभके सामने अपने शरीरको नवा दिया—साष्टांग नमस्कार किया और फिर वह
नृत्य करते हुए देववृन्दके साथ चन्द्रप्रभको उत्सवपूर्वक चन्द्रपुरी लवा ले गया । चन्द्रपुरी जाते
समय इन्द्र बीचमें था और सभी नृत्य करनेवाले देव उसके चारों ओर ॥४१॥ चन्द्रपुरीमें,
प्रसन्न मन वाले सभी देवोंने फिरसे उत्सव मनाया और फिर वे जिन बालकको उनके माता-

१. क. ल ग घ म प्रबन्धता । २. म जनकयोः । ३. आ लिट्, वा लोड् । ४. आ लिट् । ५. वा भज ।
६. = वागाढम्वर एव । ७. वा लेट् । ८. = नटता । ९. = अपि । १०. = जननीजनकयोः ।

‘स्वकाराङ्गुलीर्निजमुखेन विबुधपतियोजितामृताः’ ।
 प्रीतिविकसितमुखः स सिंहश्चकार मातृकुचयोरतिस्पृहाम् ॥४३॥
 विबुधजितस्फटिककान्तिरखिलजनलोचनोत्सवम् ।
 वृद्धिमभजत जिनाधिपतिः प्रतिपञ्चशाङ्क इव सोऽनुवासरम् ॥४४॥
 तमयोरमस्तुरकुमारसमितिरभिगम्य सुखम् ।
 पौरजनहृदयहृष्टिकरैः करकन्दुकप्रभृतिभिर्विनोदनेः ॥४५॥
 प्रकृतिस्फुटं ग्रहगणस्य गमनमिव चापलं शिशोः ।
 क्रौञ्चनमकृत पृथग्जनवत्प्रतिबुद्धं बुद्धिरपि यज्जिनेश्वरः ॥४६॥

स्वकीयानां भुवम् आवासम् । भेजुः आश्रयिषि स्म । लिट् ॥४२॥ स्वकरेति । विबुधपतयः^१ (?) विबुधानां देवानां पतय इन्द्राः । जितामृताः बित्तममृतं सुधा यासां ताः । स्वकाराङ्गुलीः स्वस्यात्मनः करस्य हस्तस्याङ्गुलीः करशाखाः । निजमुखेन स्ववदनेन । लिहन् आस्वादयन् । प्रीतिविकसितमुखः प्रीत्या संतोषेण विकसितं मुखं वदनं यस्य सः । मातृकुचयोः मातृजनन्याः कुचयोः स्तनयोः । अतिस्पृहाम् अधिकवाञ्छाम् । न चकार न करोति स्म । लिट् । समासोक्तिः (?) ॥४३॥ बिद्बुद्धिः । जितस्फटिककान्तिः जिता विमिता स्फटिकस्य कान्तिः शोभा यस्य सः । खिलजनलोचनोत्सवम् खिलानां सकलानां जनानां लोकानां नयनानामुत्सवं संतोषम् । विदधत् कुर्वन् । सः जिनाधिपतिः जिनेश्वरः । अनुवासरम् अनुदिनम् । प्रतिपञ्चशाङ्क इव प्रतिपद्दिनस्य शशाङ्क इव चन्द्र इव । वृद्धिं प्रवृद्धिम् । अभजत आश्रयति स्म । लङ् । उरमा ॥४४॥ उमिति । सुरकुमारसमितिः सुरकुमाराणां देवकुमाराणां समितिः समूहः । सुन्दरं मनोहरम् । तं त्रिनम् । अभिगम्य अभ्युपेत्य । पौरजनहृदयहृष्टिकरैः पौराणां जनानां लोकानां हृदयस्य मानसस्य हृष्टिकरैः संतोषकरैः । करकन्दुकप्रभृतिभिः करकन्दुकैः^२ प्रभृतिर्वेषा तैः । विनोदः विलासः । अरीरमत् रमयति स्म । रमि क्रौडाय पिजन्तालङ् । जातिः ॥४५॥ प्रकृतीति । शिशोः बालकस्य । चापलं चञ्चलत्वम् । ग्रहगणस्य ग्रहाणामष्टाशीतिग्रहाणां गणस्य निबृहत्स्य । गमनमिव गतिरिव । प्रकृतिस्फुटं प्रकृत्या स्फुटं^३ व्यक्तम् जिनेश्वरः जिननाथः । प्रतिबुद्धबुद्धिरपि प्रतिबुद्धा ज्ञाता बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं^४ यस्य सः, विदित-सम्यग्ज्ञानयुक्तोऽपि । पृथग्जनवत् अज्ञानिजनवत् । यत् कारणात् । क्रौञ्चं विनोदम् । अकृत करोति स्म ।

पिताको सोपकर अपने-अपने निवास स्थानमें चले गये ॥४२॥ जिन-बालक चन्द्रप्रभ अपने हाथ-को अंगुलियोंको मुखसे चूसा करते थे, जिनमें इन्द्रोंने अमृतका लेप कर दिया था । अतएव उन्हें अपनी माँके दूधकी विशेष चाह नहीं रहती थी, और उनका मुख प्रीतिसे कमलकी भाँति विकसित रहता था ॥४३॥ चन्द्रप्रभको कान्ति स्फटिक मणिको कान्तिको मात करनेवाली थी । वे लोगोंके नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे । वे प्रतिपत्के चन्द्रमाको भाँति प्रतिदिन क्रमसे वृद्धिगत हो रहे थे । शुक्ल पक्षका चन्द्रमा जिस तरह प्रतिदिन वृद्धिगत होता है उसी तरह चन्द्रप्रभ भी वृद्धिगत हो रहे थे ॥४४॥ जिन-बालक अत्यन्त सुन्दर थे । देव कुमार उनके पास आकर उन्हें गेद आदिसे नाना प्रकारके मनोरञ्जक खेल खिलाते थे, जिन्हें देखकर पुरवासी लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते थे ॥४५॥ ग्रहचक्रका गमन जिस प्रकार स्वभावतः स्पष्ट है इसी प्रकार जिनबालक चन्द्रप्रभका चपल स्वभाव भी स्वभावतः स्पष्ट है; क्यों कि वे विशिष्ट बुद्धि-

१. अ. 'कराङ्गुली' । २. अ. 'पतयो जितामृताम्' । ३. 'रपि स्पृहाम्' । ४. अ. 'बुद्धि' । ५. अ. 'रपि तनुजिनेश्वरः' । ६. एष टीकाभयः पाठः, प्रतिपु तु सर्वत्रापि 'विबुधपतियोजितामृताः' इत्येव वर्तते । ७. = यासु । ८. = येन । ९. आ. 'कन्दुका' । १०. आ. 'ब्रह्मस्या स्फुटं' इति नास्ति । ११. श. ज्ञाता बुद्धिर्यस्य ज्ञानं ।

विचरन्स कुट्टिममहीषु परिजनकराकुलिभितः ।
 मन्दनिहितचरणो रुक्मे सरसीषु हंस इव भासुरद्युतिः ॥४७॥
 शृशुभे करात्करतलानि सकलसुहृदां स संवरन् ।
 दीधितिरुचिरवपुर्वणिजामधिवृद्धमूल्य इव वारिधेर्मणिः ॥४८॥
 मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरसनादिभूषणम् ।
 तस्य सुरपतिगिरा धनवः प्रजिघाय सर्वमपि शैशवोचितम् ॥४९॥
 स कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभिः ।
 कर्मभिरतिशयितान्यजनैरन्यत्किञ्चनमपि कालमूर्जितः ॥५०॥

लुब्ध् । उपमा ॥४६॥ विचरन्ति । परिजनकराङ्गुलिभितः परिजनानां सेवकजनानां करानां हस्तानाम-
 ङ्गुलिं श्रितोऽवलम्बितः । मन्दनिहितचरणः मन्दं मृदु निहितो निसिप्तो चरणो यस्य सः । भासुरद्युतिः
 भासुरा देवोप्यमाना द्युतिः कान्तियस्य सः । कुट्टिममहीषु कुट्टिमे रत्नकुट्टिर्मेनिष्पन्नासु महीषु भूमिषु । विचरन्
 संवरन् । सः जिनबालः । सरसीषु सरोवरेषु । हंस इव मराल इव । रुक्मे भाति स्म । रुक्मि दीप्तौ लिट् ।
 उरमा ॥४७॥ शृशुभ इति । सकलसुहृदा सकलानां सर्वेषां सुहृदा मित्राणाम् । करात् हस्तात् । करतलानि
 हस्ततलानि । संवरन् गच्छन् । दीधितिरुचिरवपुः दीधित्या काम्या रुचिरा चान्न वपुः शरीरं यस्य सः । सः
 जिनबालकः । वणिजां विनाम् । अविबुद्धमूल्यं अविबुद्धमज्ञातं मूल्यं विक्रये यस्य सः । वारिधेः समुद्रस्य ।
 मणिरिव रत्नमिव । शृशुभे क्षीमते स्म । शुभि दीप्तौ लिट् । उरमा ॥४८॥ मणीनि । मणिमुद्रिकाकट-
 कहारवसनरसनादिभूषणं मणिमुद्रिका रत्नाङ्गुलीयकं कटकं हस्तभूषणं हारो मोक्षकमाला वसनं क्षीमं
 रसना कटिभूषणमेतानि आदीनि प्रभूतीनि यस्य तद् भूषणमलंकरणम् । शैशवोचितं शैशवस्य वात्यस्योचितं
 योग्यम् । सर्वमपि सकलमपि । तस्य जिनबालकस्य । धनदः कुबेरः सुरपतिगिरा सुराणां देवानां पतिरिन्द्रः
 तस्य गिरा वचनेन । प्रजिघाय प्रेययति स्म । लिट् ॥४९॥ स इति । ऊजितः । प्रमिट् । सः जिनबालकः
 अतिशयितान्यजनैः अतिशयिताः । अतिशयोक्ताः अन्ये इतरे जना लोका येनैः । कुमारयोग्यजलकेलिगज-
 तुरगरोहणादिभिः कुमारस्य योग्याभ्युचितानि जलकेलिहर्जलक्रोडा च गजानां करिणां तुरगाणामश्वानामारो-
 हणं [रोहणम् आरोहणं] च तयोक्तानि तान्यादीनि येषां नैः । कर्मभिः कृत्यैः । किञ्चनमपि किं प्रमाणमस्य

से युक्त होकर भी जन-साधारणकी तरह क्रोड़ा किया करते थे ॥४६॥ जिनबालक चन्द्रप्रभके
 चेहरेपर अपूर्व दीप्ति थी । जब वे अपने परिवार या सेवकके हाथको अंगुलीके सहारे फर्शपर
 धीरे-धीरे पैर जमाकर घूमते थे तब सरोवरमें धीरे-धीरे तैरनेवाले हंसकी भांति सुशोभित होते
 थे ॥४७॥ जिनबालकके शरीरपर कान्तिकी अपूर्व सुषमा थी । वे महासेनके मित्रोंके हाथोंमें
 बारी-बारीसे संचार करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे जगमगता हुआ समुद्रका रत्न—
 जिसका मूल्य नहीं आँका गया हो—जोहरियोंके हाथोंमें बारी-बारीसे पहुँचकर शोभित होता
 है ॥४८॥ इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुबेर जिनबालकके लिए उनके वात्यकालमें पहनने योग्य
 मणिजटित अँगुठियाँ, कड़े, हार, करधनी एवं वस्त्र आदि सभी आभूषण भेजा करता था
 ॥४९॥ जिनबालक बहुत बलवान् थे । उन्होंने अपने बचपनके कुछ कालको जड़क्रोड़ा एवं
 हाथी-घोड़ोंकी सवारी आदिमें बिताया । उनको जल-क्रोड़ा तथा हाथी-घोड़ोंकी सवारी आदि

१. अ आ इ लोः श्रितः । २. स वासरद्युतिः । ३. इ 'मणि' इति नोपलभ्यते । ४. = शनैः शनैः ।
 ५. = येन । ६. = अर्थः । ७. श एतच्छ्लोकटीका तु मूले नोपलभ्यते तथापि विरच्य लिख्यते ।
 ८. = आदौ यस्मिन् । ९. श ऊजितः । १०. = 'बलवान्' इति स्यात् । ११. = अतिक्रान्ताः ।

हरिपीठमास्थितवतोऽथ निखिलनिजपार्थिवान्वितः ।
 तस्य विरचितविवाहविधेरकरोत्पिता नृपतिपटुबन्धनम् ॥५१॥
 प्रशाशास पूज्यवचनस्य स पितुरुपरोक्षतो महीम् ।
 मुक्तिमुखाधिनिरहितैकमतेर्नहि तस्य कार्षि विषयामिलाषिता ॥५२॥
 वसुधामवस्थतुलधाम्नि चतुर्दधिवारिमेलकलाम् ।
 तत्र भृशमभिननन्दं जनो जनवृद्धिहेतुखदयो हि तादृशाम् ॥५३॥
 न बभूव कस्यचिदकालमरणमखिलेषु जन्तुषु ।
 आतुषिदपि न जनाकुलतां व्यदधादवृष्टिरतिवृष्टिरेव वा ॥५४॥

कियान्, तम् । कालं समयम् । अनयत् प्रापयत् णोञ् प्राप्णे लङ् । जातिः ॥५०॥ हरीति । अथ कुमार-
 वस्थानन्तरम् । निखिलपार्थिवान्वितः निखिलैः सकलैः पार्थिवै राजभिरन्वितो युक्तः । पिता जनकः ।
 हरिपीठे^१ सिंहासने आस्थितवतः आसितस्य । 'श्रीहृत्पादोऽधोराधारः' इति आधारे द्वितीया । विरचित-
 विवाहविधेः विरचितो विहितो विवाहस्य पाणिग्रहणस्य विधियस्य । तस्य जिनेशस्य । नृपतिपटुबन्धनं
 नृपतीनां पटुबन्धनम् । अकरोत् करोति स्म । लङ् ॥५१॥ प्रशाशासेति । पूज्यवचनस्य पूज्यमाराध्यं वचनं
 यस्य तस्य । पितुः जनकस्य । उपरोक्षतः प्रार्थनातः । सः चन्द्रनाथः । महो भूमिम् । प्रशाशास पालयति स्म ।
 शानु अनुशिष्टी लिट् । मुक्तिमुखविनिहितैकमतेर्मोक्षस्य सुखे विनिहिता स्थापिता एका मुख्या मतिबुद्धि-
 यंस्य^२ तस्य । तस्य महामेतराजस्य । कार्षि कीदृशपि । विषयामिलाषिता विषयलोलुपत्वम् । नहि नास्त्येव^३
 ॥५२॥ वसुधेति । अतुलधाम्नि अतुलं निरुपमं धाम तेजो यस्य तस्मिन्^४ । तत्र चन्द्रप्रभे^५ । चतुर्दधिवारि-
 मेलकला चतुर्गामुदधीनां समुद्राणां वारि जलं मेलकला कारुण्योदाम यस्यास्ताम् । वसुधा भूमिम् । अवति रक्षति
 सति । जनः प्रजा । भृशम् अत्यन्तम् । अभिननन्द तुल्योप । दुनदु समुदौ लिट् । तादृशाम्^६ एतादृशा जिना-
 दोनाम् । उदयः अभ्युदय । जनवृद्धिहेतुः जनानां लोकानां वृद्धेरवयवस्य हेतुः कारणं हि । अर्थात्तरन्यासः
 ॥५३॥ नेति । अखिलेषु सकलेषु । जन्तुषु प्राणिषु । अकालमरणम् अपमृत्यु, कदलीघात इत्यर्थः । कस्यचि-
 दपि कस्यापि प्राणिनः । न बभूव न प्रवर्तितः स्म । अवृष्टिः अवर्षणम् । अतिवृष्टिरेव वा अतिवर्षणमेव वा ।
 जन्तुषिदपि सकृदपि । जनाकुलतां जनानां प्रजानामाकुलतां^७ पीडनत्वम् । न व्यदधात् नाकरोत् । लङ् । अति-
 कार्भोमें जो विशेषता धो, वह अन्य लोगोंमें नहीं थी ॥५०॥ बाल्यकाल समाप्त होनेपर राजा
 महासेनने चन्द्रप्रभका विवाह-संस्कार किया, जिसमें उनके पक्षके सभी राजे सम्मिलित हुए थे ।
 इसके पश्चात् उन्होंने सिंहासनपर बैठकर उनके पिताने उनका पटुबन्धन किया ॥५१॥ पिताके
 वचनको वे (आगमकी भाँति) पूज्य समझते थे, अतः उनके अनुरोधसे उन्होंने (चन्द्रप्रभने)
 पृथिवीका शासन किया । किन्तु उनका मन मुक्ति सुखकी ओर लगा हुआ था । फलतः उन्हें
 किसी भी इन्द्रिय-विषयके सुखकी अभिलाषा नहीं थी ॥५२॥ राजा चन्द्रप्रभका तेज अनुपम
 था । चारों समुद्रोंकी सोमासे घिरी हुई पृथिवीका जब उन्होंने शासन किया, तब प्रजाके लोगों-
 को बहुत ही अधिक आनन्द हुआ, और वे खूब ही समृद्ध हुए; क्योंकि सच तो यह है कि ऐसे
 महान् पुरुषोंका उदय लोगोके अभ्युदयको बढ़ानेका कारण होता है ॥५३॥ चन्द्रप्रभके शासन-
 कालमें किसी प्राणीका अकाल मरण नहीं हुआ और न अवृष्टि-सूखा या अतिवृष्टिने भी कभी

१. अ निखिलजनं । २. म "विवाहविधि" । ३. अ "मति ननन्द" । ४. = यापयामास । ५. =
 हरिपीठं सिंहासनम् । ६. वा "तस्य" इति नास्ति । ७. = आग्रहतः । ८. = येन । ९. वा क्वापि कुत्रापि ।
 विषयामिलाषिताविषयेषु पञ्चवेन्द्रियगोचरेषु अभिलाषिता प्रीतिस्त्वं न अवति हि । समासोक्तिः ॥५२॥ १०. वा
 अवतिजस्विचन्द्रप्रभनृपे । ११. वा "चन्द्रप्रभे" इति नास्ति । १२. = हि यतः । तादृशाम् । १३. = व्याकुलताम् ।

न समीरणः श्रवणभेदिपरवदारुणो बबौ ।
 नास्पदमलमत रोगगणः समपादि नातिहिमसृणमेव वा ॥५५॥
 न विबाधनं जनपदस्य समजनि कदाचिद्दीतिभिः ।
 क्रूरमृगसमुदयोऽप्यमबल पुरैव हिंसनविषक्तमानसः ॥५६॥
 समुपायनैः समुपगम्य सदसि परचक्रपायिषाः ।
 द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः शिरसा प्रणेमुरवनीतलस्पृशा ॥५७॥
 रजनीमहश्च स विभज्य विबुधतुलबद्भिरष्टा ।
 कर्मभिरनयत सर्वजगन्नयमार्गदर्शनपरो यथोचितैः ॥५८॥
 समुपेत्य शक्रवचनेन नरपतिसहस्रमध्यगम् ।
 भेजुरमरवनिता विधिधैः प्रतिवासरं ललितगीतनर्तनैः ॥५९॥

अयः ॥५४॥ नेति । श्रवणभेदिपरवदारुणः श्रवणो कर्णो भेदिना विदारिणा परेषणं कठिनेन रवेण ध्वनिना दारुणो भयंकरः । अमिलः वायुः । न बबौ न वाति स्म । रोगगणः रोगाणां व्याधीना गणः समूहः । आस्पदं स्थितिम् । नालमत न प्राप्नोति स्म । हुतमिष्टं प्राप्तो लब्धः । अतिहिमम् अतिशीतम् । उष्णमेव वा । न समपादि न समुत्पद्यते स्म । पदि गतौ लुब्धः ॥५५॥ नेति । जनपदस्य देशस्य । ईतिभिः । अतिबुद्धपायिभिः । कदाचित् एकदापि । विबाधनं पीडा । न समजनि न जन्यते स्म । कर्मणि लुब्धः । पुरैव प्रागेव । हिंसनविषक्त-मानसः हिंसने हिंसार्थं विषक्तं मानसं यस्य स । क्रूरमृगसमुदयोऽपि क्रूराणां मृगाणां समुदयः समूहोऽपि । नामवत् नाभूत् । लुब्धः ॥५६॥ तमिति । परचक्रपायिषाः परचक्रस्य परराष्ट्रस्य पायिषा भूमिपाः । उपायनैः उपप्राप्तैः सह । समुपगम्य समागत्य । द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः द्वाःस्थद्वारपालकौ । कथितानि निजनामानि कुलानि येषां ते । तं चन्द्रप्रभम् । अवनीतलस्पृशा अवनीतलं भूतलं स्पृशतोऽवनीतलस्पृक् तेन । शिरसा मस्तकेन । प्रणमः नमस्ति स्म । नमः प्रहृत्वे शब्दे लिट् ॥५७॥ रजनीमिति । विबुधमनुबुद्धिः विबुधैरमरैर्नुता स्तुता बुद्धिरस्य सः । नयमार्गदर्शनपरः नयस्य नीतेर्मार्गस्य शास्त्रस्य दर्शने प्रकाशने परः उत्तरः । सः जिनैः । रजनीं रात्रिम् । महश्च दिनं च । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । विभज्य मार्गं कृत्वा । सर्वजगत् सर्वलोकम् । यथोचितैः यथायोग्यैः । कर्मभिः कृत्यैः । अनयत यापयति स्म । षोड् प्रापणे लङ् ॥५८॥ तमिति । अमरवनिताः अमराणां मुराणां वनिता रमण्यः । शक्रवचनेन

प्रजाके किसी मनुष्यको आकुलता उत्पन्न की ॥५४॥ कानोंको फोड़ देनेवाली कठोर आवाजसे दारुण प्रतीत होनेवाली आंधी नहीं चली, रोगोने स्थान नहीं पाया (क्योंकि कोई रोगी ही नहीं था) और न कभी अधिक सदी या गर्मी हो पड़ी ॥५५॥ छह ईतियोंसे जनपदको कभी कोई पीड़ा नहीं हुई तथा क्रूर पशुओंके झुण्डने भी अपने मनसे हिंसाको पुरातन आसक्ति दूर कर दो ॥५६॥ अन्य राष्ट्रीके राजे-महाराजे अनेक प्रकारके उपहार लेकर, चन्द्रप्रभको सभामें द्वार-पालोंके द्वारा अपने नाम और कुलका परिचय भिजवाकर एवं प्रवेशको अनुमति लेकर पहुँचते रहे और भूतलपर सिर नवाकर उन्हें प्रणाम करते रहे ॥५७॥ क्या देव और क्या विद्वान् सभी चन्द्रप्रभकी बुद्धिको प्रशंसा करते थे । वे जगत्को नीति मार्ग दिखलानेमें तत्पर रहते थे । उन्होंने रात और दिनके समयको आठ भागोंमें विभक्त कर दिया था, तथा यथायोग्य कार्योंमें संलग्न रहकर वे उस (समय) का सदुपयोग किया करते थे ॥५८॥ इन्द्रकी आज्ञासे देवाङ्गनाएँ

१. न पुरे च । २. अ तलस्पृशाः । ३. = कठोरेण । ४. मूले 'समीरणः' पदं वर्तते न तु 'अमिलः' इति ।

कमलप्रभामभ्रुतिविष्यनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः ।

भोगसुखमिति यथामितं चिरमन्वभूत्स जगदेकनायकः ॥६०॥

अपरेषु रजमिति बाहुरधिकजरया निपीडितः ।

तस्य सदसि समुपेत्य शनैः श्रितयष्टिरित्यकृत कोऽपि पूरकृतिम् ॥६१॥

सुरवृन्दबन्ध करुणाद्र शरणगतलोकवत्सल ।

आलरञ्जिलजगतां कृपणं भयभीतमस्तभय रक्ष रक्ष माम् ॥६२॥

कथितो निमित्तपुरुषेण रजनिस्त्रये समेत्य माम् ।

मृत्युरविहतगतिप्रसरस्तव पश्यतोऽयं जगदोश नेष्यति ॥६३॥

शक्रस्य वैभवं च चनेन आज्ञया । "सुरपतिरसहस्रमध्यगं सुराणामिन्द्राणां सहस्रस्य मध्यगं मध्यं गतम् । तं चन्द्रप्रभम् । विविधैः नानाविधैः । ललितगीतनर्तनैः ललितैर्मनोहुरैर्गोतर्तनैर्नृत्यैश्च । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । भेदः सिधेविरे । लिट् ॥५९॥ कमलेति । कमलप्रभाप्रभ्रुतिनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः कमलप्रभा^१ कमल [प्रभा] विधी, सा प्रभ्रुतिमुखा यासां तासां कमलप्रभाप्रभ्रुतीनां दिव्यानां मनोहराणां निजस्य स्वस्य युवतीनां वनितानां वृन्देन निबद्धेन वेष्टितः परिवृतः । जगदेकनायकः जगतां भुवतानामेको मुख्यो नायकः स्वामी । सः चन्द्रप्रभः^२ । यथामितम् अभिमतमनतिक्रम्य, बाञ्छामनतिक्रम्येत्यर्थः । भोगसुखं भोगानां विषयाणां सुखम् । इति एवम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । अन्वभूत् अन्वभवत् । लुट् । अतिशयः ॥६०॥ अपरेषुरिति । अपरेषुः^३ अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एष्टुस—प्रत्ययः । उन्ममितबाहुः उन्ममितो उद्धृतो^४ बाहु भुजो यस्य सः । अधिकजरया अधिकया प्रबुद्धया जरया वार्धक्येन । निपीडितः बाधितः । श्रितयष्टिः आभिताधारयष्टिः । तस्य चन्द्रप्रभस्य । सदसि सभायाम् । शनैः मन्दम् । समुपेत्य आगत्य । कोऽपि पुरुषः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । फूकृतिं फूत्कारम् । अकृत अकरोत् । लुट् । जातिः ॥६१॥ सुरेति । सुरवृन्दबन्ध सुराणाममराणां वृन्देन निकायेन बन्ध वन्दनीय, भो सुरनिकायपूज्य । करुणाद्र करुणया कृपया आद्रं मुहुः । शरणगतलोकवत्सल शरणगतस्य शरणगतस्य लोकस्य जनस्य वत्सल पालक । अलिलजगतां तिलिललोकानाम् । त्रातः रक्षक । अस्तभय अस्तं निरस्तं भयं दस्तं^५ तस्य संबोधनम्^६ । कृपणं दीनम् । भयभीतं भयैः सप्तमवैर्भीतं विभीषितम्^७ । माम् । रक्ष रक्ष पालय पालय । रक्ष पालने लोट्^८ । बोध्यायां द्विः । जातिः ॥६२॥ कथित इति । जगदोश भो जगतां लोकानाम् ईश स्वामिन् । अविहतगतिप्रसरः अविहतो बाधाविहितो गत्या ममनस्य हजारौ राज्ञो-महाराज्ञोर्बोचमे वेठे हुए चन्द्रप्रभके पास आकर नाना प्रकारके सुन्दर गीतों और नृत्योंसे प्रतिदिन उनकी सेवा किया करती थीं ॥५९॥ चन्द्रप्रभ सारे जगत्के एकमात्र नायक थे । कमलप्रभा आदि अपनी सुन्दर यौवनवती नायिकाओंके वर्गके बीचमें रहकर उन्होंने इस प्रकार चिरकाल तक यथेच्छ भोग भोगे ॥६०॥ एक दिनकी बात है । एक पुरुष, जो अत्यधिक बुद्ध था, तथा वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त पीडित था, लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे चन्द्रप्रभकी सामें पहुँचा, और बहापर वह अपने दोनों बाहुओंको ऊपर उठाकर दुःखभरे शब्दोंमें यों चिल्लाने लगा—॥६१॥ भगवन् ! आप देववृन्दके द्वारा वन्दनीय हैं, आपका हृदय दयासे आद्र है, आप शरणगतवत्सल हैं, आप जगत्के समस्त प्राणियोंके रक्षक हैं और हैं समस्त भवोंसे मुक्त, और मैं दीन और भयभीत हूँ, अतः मेरी रक्षा कीजिए, मुझे बचाइए ॥६२॥ हे जगदोश एक निमित्त जानी पुरुषने समीपमें आकर मुझसे कहा है कि आज रात्रिके समय मृत्यु—

१. सा आज्ञावचनेन । २. मूले नरपति" पदं वर्तते, अतो नरपतीनां नरेन्द्राणां सहस्रस्य मध्यं गच्छ-
तीति मध्यगः, तम्—इति तद्व्याख्या भवेत् । ३. सा स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो गोपलम्प्यते । ४. सा 'अपरेषुः' इति
पाठि । ५. सा अपरस्मिन् । ६. सा उद्धृती । ७. = येन । ८. एष टोकाग्रः पाठः, प्रविष्टु तु 'पूकृतिम्'
इति समबलोक्यते । ९. = येन । १०. = तत्संबुद्धौ हे अस्तभय । ११. सा निभीषितम् । १२. क केट् ।

क्षमसे ततो यदि न पातुमस्वि जिन वृथास्तकास्तकः ।
 वाचमिति समभिषाय पुरः सहसा तिरोहितवपुर्बभूव सः ॥६४॥
 बद्ध देव कोऽयमिति सभ्यजनवचनमाहतेरितः ।
 दृष्टनिखिलभुवनोऽवधिना भगवान् हसन्निति जगाद् कारणम् ॥६५॥
 मम कर्तुमेव विषयेषु विरतिममराधिपाह्वया ।
 धर्मरुचिरिति सुरस्त्रिदिशास्समुपाययौ विवृतवृद्धविग्रहः ॥६६॥
 विनिवेद्य सभ्यनिवहस्य कृतपरमविस्मयस्य तत् ।
 भोगविरतहृदयः स भवस्थितिमित्यन्तितयदचिन्त्यचेष्टितः ॥६७॥

प्रचरो विसरो यस्य सः । मृत्युः यमः । अद्य इदानीम् । रजनिः समये रात्रिकाले । समेत्य आगत्य । पश्यतः
 बीजमाणस्य । तत्र भवतः । पश्यन्तं त्वामनादुत्प्रेति यावत् । मा नेष्यति^१ प्रापयिष्यति^२ । गीञ् प्रापणे
 लुट् । निमित्तपुरुषेण आदेशपुरुषेण । कथितः प्रोक्तोऽहम् । आक्षेपः (?) ॥६३॥ क्षमसे इति । जिन भो
 जिनेस । ततः तस्माद् यमात् । यदि पातुं मा रक्षितुम् । न क्षमसे न समर्थोऽसि । वृथा^३ मूढा । अन्तकान्तकः
 अन्तकस्य यमस्यान्तको यमः । अस्ति भवति । अस भुवि सट् । सः सुरः देवः । इति एवम् । वाचं वचनम् ।
 समभिषाय सम्मग्नत्वा । सहसा शीघ्रम् । तिरोहितवपुः तिरोहितं व्यवहितं वपुः शरीर यस्य सः । बभूव
 भवति स्म । आक्षेपः (?) ॥६४॥ वदेति^४ । भो देव । अयं क किमभिषात । बद्ध बृहत् । इति एवम् । सभ्य-
 जनवचनमाहतेरितः सभ्यजनस्य सभ्यलोकस्य वचनमाहतेन भाषणवायुना ईरितः प्रेरितः । अवधिना अवधि-
 ज्ञानेन । दृष्टनिखिलभुवनः दृष्टं ज्ञातं निखिलं सकलं भुवनं जगद् येन सः । भगवान् स्वामी चन्द्रप्रभः ।
 हसन् प्रहसन् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । कारणं हेतुम् । जगाद् ऊचे । लिट् ॥६५॥ ममेति । विवृतवृद्ध-
 विग्रहः विवृतो निमित्तो वृद्धस्य रूपविरस्य विग्रहो देहो यस्य सः । धर्मरुचिरिति धर्मरुचिनामधेयः । एषः
 अयम् । मृतः देवः । अमराधिपाजया अमराधिपस्य देवेन्द्रस्याज्ञवानुज्ञया । मम मे । त्रिपयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु ।
 विरति विरागम् । कर्तुं विधातुम् । त्रिदिवात् स्वर्गात् । समुपाययो समागच्छन् । या प्रापणे लिट् । ६६ ।
 विनिवेद्येति । कृतपरमविस्मयस्य कृतो विहितः परम उत्कृष्टो विस्मयो यस्य तस्य । मभ्यनिवहस्य सभ्यजना^५
 सामानिकानां निवहस्य निकरस्य । तत् तदागमनम् । विनिवेद्य आपयित्वा । भोगविरतहृदयः भोगेषु विषयेषु^६
 विरतं विरक्तं हृदयं चित्तं यस्य सः । अचिन्त्यचेष्टितं अचिन्त्यं चेष्टितं व्यापृतं ग्रस्य सः । सः चन्द्रप्रभः ।

जिसे कोई टाल नहीं सकता—आप (चन्द्रप्रभ) के देखते उठा ले जायगा ॥६३॥ हे जिन ! यदि
 आप उससे मुझे नहीं बचा सकते तो आप व्यर्थ ही अन्तकके अन्तक अर्थात् अन्तकारि या
 मृत्युञ्जय कहे जाते हैं । ये वचन कहकर वह देव शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया—दृष्टिसे ओझल
 हो गया ॥६४॥ जिनदेव ! यह कौन था ? बताइए, इस तरह सभासदोंके वचनका रुख देखकर
 और उससे प्रेरणा पाकर भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अवधिज्ञानसे सारे संसारको जानते थे—हँसते
 हुए, उसके आनेके कारणका यों निरूपण करने लगे—॥६५॥ यह देव था । इसका नाम धर्म-
 रुचि था । यह विक्रियाके बलसे बुद्धदेका रूप धारण करके, इन्द्रकी आज्ञा पाकर मुझे पंचेन्द्रियों-
 के विषयसे विरक्त करनेके लिए स्वर्गसे यहाँ आया था ॥६६॥ सभी सभासदोंसे भगवान्
 चन्द्रप्रभने जब उसके बारेमें यों निवेदन किया, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । इसके पश्चात्
 चन्द्रप्रभका—जिनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य थीं—हृदय भोगोंसे विरक्त हो गया । फलतः वे जगत्-

१. आ ह सुरः । २. आ इ ताम्, स तम् । ३. अ रजनी^० । ४. आ स नेष्यते । ५. = जन्मान्तर-
 मिच्छि शेषः । ६. = तद् वृथा । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ८. = येन । ९. = येन ।
 १०. अ सभ्यनिवहस्य सभ्यानां । ११. = भोगेभ्यो विषयेभ्यः ।

घनयौवनप्रभृति सर्वमनुगतमिदं शरीरिण्याम् ।
 न क्षणमपि भवति स्थितिमभिजपपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये ॥६८॥
 विषयेषु शत्रुसहरोषु विविधपरितापहेतुषु ।
 सक्तिमचिरतमतिः कुस्ते हतबुद्धिरिव न तु बोधभासुरः ॥६९॥
 विविधास्तु योनिषु वपुषि विविधरचनानि धारयन् ।
 इन्द्रियसुखलघुलब्धमतिर्नटवः प्रयाति तनुमान् विडम्बनाम् ॥७०॥
 वपुर्नामघटप्रविजहन् विविधमिह यैर्विडम्बितः ।
 कर्मभिरहमधुना तपसा क्षपयामि तानि निखिलानि मूलतः ॥७१॥

भवस्थिति भवस्य संसारस्य स्थितिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥६७॥ भवेति । शरीरिणां संसारिण्याम् । अनुगतम् अनुयातम् । घनयौवनप्रभृति घनं द्रव्यं यौवनं प्रभृति मुख्यं यद्वत् तत् । इदम् एतत् । सर्वं समस्तम् । निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये निजस्य स्वस्य पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतस्य विहितस्य पुण्यस्य शुभकर्मणः संक्षये नाशे । क्षणमपि अल्पकालपर्यन्तमपि । 'काकाभ्जनोष्वासी' इति द्वितीया । स्थिति-
 मत् स्थितियुक्तम् । न भवति । लट् ॥६८॥ विषयेष्विति । विविधपरितापहेतुषु विविधानां नानाप्रकाराणां परितापानां हेतुषु कारणेषु । शत्रुसहरोषेण शत्रूणां सन्धेयु समानेषु । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अचिरतमतिः अचिरता वैराग्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य स । हतबुद्धिरिव (३)व सम्पत्ज्ञानशून्य इ (९) व । सक्तिम् आसक्तिम् । कुस्ते करोति । लट् । (न तु) बोधभासुरः बोधेन ज्ञानेन भासुरो भासमानः । न तु भवति । उपमा ॥६९॥ विविधास्थितिः । विविधास्तु नानाप्रकाराणां योनिषु जन्मसु । विविधरचनानि नानारचनानि संनिवेशसहि-
 तानि । वपुषि शरीराणि । नटवत् नर्तकवत् । धारयन् । इन्द्रियसुखलघुलब्धमतिः इन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यो जातस्य सुखस्य लभे स्तोके लुब्धा सक्तमतिर्बुद्धिर्यस्य सः । तनुमान् संसारिजीवः । विडम्बनां तिरस्कारं हास्यं वा प्रयाति । लट् ॥७०॥ वपुरिति । इह संसारे । विविधं नानाविधम् । वपुः शरीरम् । आदत्' स्वीकुर्वन् । प्रतिजहत् च त्यजन् । अहम् । यैः कर्मभिः शुभाशुभरूपैः । विडम्बितः तिरस्कृतः । अधुना इदानीम् । निखिलानि सकलानि । तानि कर्माणि । मूलतः निःशेषतः । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपेण । क्षपयामि

को स्थितिके बारे मे यों सोचने लगे—॥६७॥ संसारी जीवोंको जो ये घन और यौवन आदि सारी वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे उनके अपने पूर्वजन्मके पुण्यके नष्ट होते ही नष्ट हो जाती हैं, फिर वे एक क्षण भी नहीं रह सकतीं ॥६८॥ इन्द्रियोंके विषय शत्रु सरीखे हैं और वे शत्रुओंके समान नाना प्रकारके सन्तापके कारण हैं । इनमें बुद्धिहीन संसारी ही—जिसकी बुद्धिमें कभी विषयसे विरक्तिका विचार भी नहीं उत्पन्न होता—आसक्त होता है, न कि सम्पत्ज्ञानी ॥६९॥ नाना योनियोंमें तरह-तरहके शरीर धारण करके और जरासे इन्द्रियसुखके लोभमें फँसकर यह संसारी जीव नटकी भाँति विडम्बनाको प्राप्त करता है । परिहास या तिरस्कारका पात्र बनता है ॥७०॥ नाना प्रकारके शरीरको धारण करते और छोड़ते हुए मुझे जिन शुभ और अशुभ कर्मोंने तिरस्कृत किया है, उन सबको मैं अब तपस्याके द्वारा मूलसे नष्ट कर डालूँगा ॥७१॥ भगवान्

१. अ विलिङ्गितः, म विवञ्चितः । २. म क्षपयामि । ३. = तावप्यम् । ४. = यस्मिन् । ५. = स्थिरमिदं कर्मः । ६. आ समानेषु सद्देशेषु । ७. = न कुस्ते । ८. = उत्पत्तिस्थानेन । ९. = केने । १०. एष टोकाधयः पाठः, प्रत्यय तु 'आदत्' वर्तते ।

इति चिन्तनाकुलमुपेत्य सर्वसि जगदन्तिकामराः ।
 चिन्तितमखिलहितं भवता जिन साधु साध्विति तमभ्यनन्दयन् ॥७२॥
 विमलामिधानशिखिकास्यममरपतिरेत्य सामरः ।
 प्रापयदर्थे सकलतुल्यं तमुक्तस्त्वेन कृतदुन्दुभिध्वनिः ॥७३॥
 प्रवित्तीयं राज्यमवदातचरितवरचन्द्रसूनुवे ।
 चण्डयुगमिदित्सिद्धनुतिः स तपोऽप्रहीदृशयैर्महीभुजाम् ॥७४॥
 मणिमाजने समधिरोप्य विबुधपतिरात्मभक्तितः ।
 क्षीरजलनिधिजले निदधे दृढपञ्चमुष्टिभिरपाकृतान्कचान् ॥७५॥

नाशयामि । क्षप हिंसाया लट् ॥७१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । चिन्तनाकुलं चिन्तनया वैराग्ययुतचित्त-
 व्यापारेणाकुलं युक्तम् । जगदन्तिकामराः जगदन्तिका लोकांतिका अमरा देवाः । सर्वसि सभायाम् । उपेत्य
 आगत्य । त्रिन भो जिननाथ । भवता त्वया । अखिलहितम् अखिलेभ्यो हितमुपकारम्^१ (२) । चिन्तितं
 विचारितम् । साधु साधु सम्यक् सम्यक् । 'भीप्सायाम्' इति द्वि । इति एवम् । तं जिनेशम् । अभ्यनन्दन्
 स्तुनन्ति स्म । हुनदु समूढो लट् ॥७२॥ विमलेति । अय लोकांतिकप्रतिबोधनानन्तरम् । सामरः देवैः
 संहितः । अमरपतिः देवेन्द्रः । एव आगत्य । विमलामिधानशिखिकास्यं 'विमला' इत्यभिधानं यस्यास्तस्यां
 शिखिकायां तिष्ठतीति तथोक्तम् । तं चन्द्रप्रभम् । कृतदुन्दुभिध्वनि कृतो विहृतो दुन्दुमोना देवपटहानां ध्वनि-
 यस्मिन् कर्मणि तत् । उक्तस्त्वेन महासंतोषेण । सकलतुल्यं सकलतुल्यकारणोद्यानम् । प्रापयत् नयति स्म ।
 लट् ॥७३॥ प्रवित्तीयेति । अवदातचरितवरचन्द्रसूनुवे अवदातेन निर्मलेन चरितेन चारित्र्येण युताय वरचन्द्र-
 सूनुवे वरचन्द्राख्यसूनुवे पुत्राय । राज्यं प्रभुत्वम् । प्रवित्तीयं दत्त्वा । षष्ठ्युक् पठेन उपवासोद्येन युक्तः ।
 अभिहितसिद्धनुतिः अभिहितोष्चरिता सिद्धस्य नुतिः स्तोत्रं यस्य सः । चन्द्रप्रभः । महीभुजा भूपतीनां
 दशशतैः सहस्रेण सह । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । अग्रहीतुं गृह्णाति स्म । ग्रहि उपादाने लट् ॥७४॥ मणीति ।
 विबुधपतिः विबुधानां पतिरिन्द्रः । दृढपञ्चमुष्टिभिः दृढाभिः पञ्चभिर्मुष्टिभिः । अपाकृतान् उत्पाटितान्^२ ।
 कचान् केशान् । आत्मभक्तिः आत्मनः स्वस्य भक्तितो गुणानुरागात्^३ । मणिमाजने रत्नमवधाने । समधि-
 रोप्य निक्षिप्य । क्षीरजलनिधिजले क्षीरजलनिधौ पञ्चमाब्धेजले सलिले । निदधे स्थापयति स्म । लिट्

चन्द्रप्रभ इस प्रकारसे चिन्तन करनेमें व्यग्र थे, इतनेमें ही लौकान्तिक देवोंने सभामें उनके निकट
 जाकर और यह कहकर कि 'हे जिन ! आपने सभोके हितके लिए जो विचार किया है वह मुन्दर
 है, अति सुन्दर है (साधु, साधु), उनका अभिनन्दन किया ॥७२॥ इसके उपरान्त देवोंके साथ
 इन्द्र आ पहुँचा । उसने चन्द्रप्रभ भगवान्को 'विमला' नामकी शिखिका (पालकी) में बिठाकर
 दुन्दुभि बाजोंकी ध्वनिके साथ बड़े उत्सवसे 'सकलतु' नामक वनमें पहुँचा दिया ॥७३॥ वहाँपर
 अपने निर्मलचरित वरचन्द्र नामक पुत्रको राज्य देकर, दो उपवासोंका नियम लेकर और सिद्ध-
 परमेष्ठीको नमन करके उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ तप करना स्वीकार किया ॥७४॥
 इस अवसरपर भगवान् चन्द्रप्रभने पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे जिन केशोंका लुञ्चन किया, उन्हें
 इन्द्रने अन्तरङ्गमवित्तसे मणिमय भाजनमें रखकर क्षीर समुद्रमें प्रवाहित कर दिया ॥७५॥
 फिर इन्द्र आदि सभी देवोंने वहाँपर दीक्षा कल्याणकका महान् उत्सव मनाया, जिसकी सुन्दरता-

१. न प्राप्तवध । २. आ इ निधने । ३. = कस्याणम् । ४. = महोबाधेन । उद्यावः उत्सवः ।
 ५. आ लुङ् । ६. = येन । ७. आ उत्पूजितान् । ८. क्ष गुणानुरागेण ।

प्रविधाय तत्र पटुबाधनिनदरमणीयमुत्सवम् ।

क्षोभितसकलमहोवल्यं प्रययुः पुनः सुरगणां यथायथम् ॥७६॥

अथ सोमदत्तनृवरस्य^१ नलिनपुरपालिनो गृहे ।

पञ्च वसुनिपतनप्रभृतीन्त्यक्तान्कृतानि स गृहीतपारणः ॥७७॥

प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि चतुरमतिकर्जितैर्गुणैः ।

नाशमनयत कषायरिपुम्बिहस्तपस्विजनधोम्बधामसु ॥७८॥

न परीषदास्तमसहन्त धृतिकवचिनं प्रबाधितुम् ।

क्षुत्तुडवनिशयनप्रमुखा युधि संवृताङ्गमिव शत्रुपत्रिणः ॥७९॥

॥७५॥ प्रविधान्ति । तत्र परिनिष्क्रमणकल्याणे । पटुबाधनिनदरमणीयं पटुतां मञ्जोराणां बाधानां निनदेन रवेण रमणीयं मनोहरम् । क्षोभितसकलमहोवल्यं क्षोभितं व्याप्तं सकलं महोवल्यं भूमण्डलं येन तम् । उत्सवं संभ्रमम् । प्रविधाय कृत्वा । सुरगणाः सुराणां देवानां गणा निबह्राः । यथा तथा [यथायथं^१] । स्वर्गम् । प्रययुः प्रजग्मुः । अतिशयः ॥७६॥ अथेति । अथ देवमनानन्तरम् । नलिनपुरपालिनः नलिनाख्य-पुरक्षकस्य । सोमदत्तनृवरस्य (सोमदत्तनृवरस्य) सोमदत्तस्य सोमदत्ताख्यस्य नृप (नृ) वरस्य नरपस्य । गृहे सद्ये । गृहीतपारणः^२ स्वीकृतपारणायुतः । सः चन्द्रप्रभमुनिः । वसुनिपतनप्रभृतीनि वसूनां रत्नानां निपतनं प्रभृतिवेषां तानि । पञ्च पञ्चसंख्यानि । अद्भुतानि आश्चर्याणि । अकृत करोति स्म । लङ् ॥७७॥ प्रशमादिभिरिति । चतुरमतिः मनःपर्ययज्ञानो । सः चन्द्रप्रभमुनिः । तपस्विजनयोर्म्यधामसुतपस्विजनानां मुनिजनानां योग्येषु उचितेषु धामसु स्थानेषु । बिहस्तं संचरन् । ऊर्जितैः समर्थैः^३ । प्रशमादिभिः प्रशम उत्तमक्षमा^४ आदिर्वेदा तैः । गुणैः । चतुरोऽपि प्रौढोऽपि । कषायरिपून् कषायघ्नान् । नाशं विनाशम् । अनयत प्रापयति स्म । गोब् प्रापणे लङ् ॥७८॥ नेति । क्षुत्तुडवनिशयनप्रमुखाः क्षूत् बुभुक्षा तुद पिपासा अवनिशयनं क्षूचं तुद च अवनिशयनं च तानि प्रमुखाणि मुखानि येषां ते । परीषदाः^५ । धृतिकवचिनं धृतिरेव धैर्यमेव कवचिनं कवचयुतम् । तं चन्द्रप्रभम् । शत्रुपत्रिणः शत्रुणां प्रयोक्त्रिताः पत्रिणो बाणाः । 'पक्षिणौ क्षारपक्षिणौ' इत्यमरः । युधि संग्रामे । संवृताङ्गमिव संवृतं कवचितमङ्गं शरीरं यस्य तमिव । प्रबाधितुं

में सुन्दर बाजोंकी ध्वनिने चार चांद लगा दिये, और जिसने सारे भूमण्डलको प्रभावित कर दिया । इसके बाद वे देव लोग अपने-अपने स्थानमें चले गये ॥७६॥ उपवास समाप्त होने-पर भगवान्ने नलिनपुरके पालन करनेवाले राजा सोमदत्तके घर पारणा की, जिससे उसके यहाँ रत्नवृष्टि आदि पाँच आश्चर्य प्रकट हुए ॥७७॥ यों भगवान् चन्द्रप्रभ स्वभावतः चतुर थे फिर भी उन्हें चतुर्थ ज्ञान-मनःपर्यय और प्राप्त हो गया । उन्होंने क्षमा, मार्दव, आज्ञेव और शौच इन समृद्ध गुणोंसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन अभ्यन्तर शत्रुओंको नष्ट कर दिया । वे साधुओंके योग्य स्थानोंमें बिहार किया करते थे ॥७८॥ उन्होंने धैर्यरूपी कवच धारण कर लिया था, इसलिए मूल, व्यास और भूमिशयन आदि परीषदें उन्हें बाधा नहीं पहुँचा सकीं । जैसे युद्धमें जो कवच पहने रहता है, उसे शत्रुओंके बाण बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥७९॥ आगमोक्त

१. या इ 'निनाद' । २. अ 'नृवरस्य' । ३. = यथायोग्यम् । ४. = स्वीकृतपारण । ५. वा लुङ् । ६. वा 'समर्थः' इति नास्ति । ७. वा 'क्षमा' इति नास्ति । ८. = वेदनाविशेषाः । ९. = कवचं यस्य तम्, अतिधीरमिति यावत् ।

अपरापरैः स समुपेत्य समयगततत्त्वगोचरम् ।
 संशयमलमपहस्तयितुं प्रतिवासरं मुनिजनैरसेष्यत ॥८०॥
 प्रकृतीर्नर्थस्तनुतरत्वमतनुतपसा स कर्मणाम् ।
 तत्र पुनरपि अगाम वने स्वमपादि यत्र निजमेव वीक्षणम् ॥८१॥
 मुनिभिः स्थितः सह समेत्य तलभुवि स नागशाखिनः ।
 ध्यानमतुलमवलम्ब्य सितं इतपातिकर्मरिपुराप केवलम् ॥८२॥
 तस्मिन्काले सह परिजनैर्यक्षराजेन गत्वा शक्रादेशात्समवसरणं निर्ममे तस्य भर्तुः ।
 जैनाद्याद्यात्समवसरणाद्योजनार्थाध्याम्ना सार्धान्वष्टौ यदनुगदितं योजनाभ्यागमनैः ॥८३॥

पीडितुम् । नासह्यन्त समर्था न भवन्ति स्म । उपमा ॥७९॥ अपरेति । स. मुनिः । समयगततत्त्वगोचरं समयं परमागमं गतानि तत्त्वानि ओषादिद्रव्याणि तान्येव गोचरो यस्य तत् । संशयमलं संशयमेव मलम् । अपहस्तयितुं निराकर्तुम् । अपरापरैः अन्यैः । मुनिजनैः योगिजनैः । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । असेष्यत आराध्यते स्म । सेव्यं सेवके कर्मणि लङ् ॥८०॥ प्रकृतीरिति^१ । यत्र सकलत्वस्थि । वने उद्याने । निजमेव स्वकीयमेव । वीक्षणं^२ परिनिष्क्रमणम् । समपादि जायते स्म । यदि गतो लुङ् । कर्मणा^३ पापानाम् । प्रकृतीः स्वभावान् । अतनुत्वपसा अतनुना महता तपसा तपश्चरत् । अतनुतरत्वम् अतिक्रान्त्वम् । नयन् प्रापयन् । सः चन्द्रप्रभ-मुनिः । पुनरपि पश्चादपि । तत्र वने^४ । जगाम ययौ । लिट् ॥८१॥ मुनिभिरिति । मुनिभिः यतिभिः । सह साकम् । समेत्य गत्वा । नागशाखिनः नागवृक्षस्य । तलभुवि तलधितौ । स्थितः आसितः । सः मुनिः । अनुलम्ब्य असद्वृणम्, सादृश्यरहितमिति भावः । सितं शुक्लाख्यम् । ध्यानम्^५ एकाग्रचित्तम् । अवलम्ब्य आश्रित्य । इत-पातिकर्मरिपुं हृषी ओषाद् विरहेषितो घातिकर्मणिषेव रिपुर्धनं स । केवलं नवकेवलम्बिचम् । आप ययौ । आप्ल-व्याप्तौ लिट् । रूपकम् ॥८२॥ तस्मिन्निति । आद्यात् प्रथमात् । जैनात् जिनसंबन्धिनः । समवसरणात् समवसृतैः स्यात्वात् । योजनार्थाध्याम्ना योजनार्थार्थेनार्थेन । आभ्यां ह्रीयमानक्रमेण । सार्धानि अर्धेन द्वेन युतानि । अष्टौ अष्टसंख्यानि । योजनानीति । आगमनैः परमागमवेदिभिः । अनुगदितम् अनुकम् । यत् समवसरणं वृषभ-जिनेश्वरसमवसरणम् । द्वादशयोजनप्रमितम् । ततः परमजितादित्यधिकराणांमार्थयोजनेन हीनमित्यर्थः । शक्रादेशात् देवेन्द्राज्या । तस्मिन् काले केवलज्ञानोत्पत्तिकाले । परिजनं सह परिवारदेवैः साकम् । यक्षराजेन

तत्त्वोंमें उत्पन्न हुए संशयको सर्वथा दूर करनेके लिए और-और मुनि लोग उनके पास प्रतिदिन आने लगे और उनकी आराधना करने लगे ॥८०॥ घोर तपश्चरणके द्वारा कर्मोंको प्रकृतियोंको क्षीण करते हुए वे पुनः उभी वनमें जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने जिनदोहा लो थो ॥८१॥ उस 'सकलर्तु' नामक वनमें मुनियोंके साथ पहुँचकर वे नागवृक्षके नीचे आसन लगाकर बैठ गये, और फिर अनुपम शुक्ल ध्यानका अवलम्बन लेकर उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सातिया कर्मोंको नष्ट करके केवल ज्ञान प्राप्त किया ॥८२॥ जिस समय केवलज्ञान हुआ, उसी समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अपने परिजनके साथ भगवान् चन्द्रप्रभके पास जाकर उनके समवसरणकी रचना की । आगमके जाननेवाले विद्वानोंने भगवान् चन्द्रप्रभके समवसरणका प्रमाण साढ़े आठ योजन बतलाया है । प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देवके समवसरणका प्रमाण बारह योजन था । उनके बाद अजित आदि तीर्थङ्करोंके समवसरणोंका प्रमाण आधा-आधा

१. = संशय एव मलो दीपस्थम् । २. त सेव्यः । ३. आ स प्रकृतिरिति । ४. = जिनदोहा ।
 ५. = ज्ञानावरणादीनाम् । ६. स स्वस्विकान्तर्गतः पादो पोषलभ्यते । ७. = साधुभिः । ८. = एकम-
 चिन्तानिरोधनम् ।

धूलीसालो बलयसदृशस्तस्य बभ्राम पाश्वे
 मानस्तम्भाध्वतसुषु महाविष्णु तस्यान्तरस्थाः ।
 चत्वार्यूर्ध्वं विकचकमलाम्भांसि तेभ्यः सरांसि
 तेभ्यश्चोर्ध्वं विविधकुसुमा क्वातिका वारिपूर्णा^१ ॥८३॥
 नानापुष्पा समनि ततः पुष्पवाटी विशाला
 प्राकारोऽस्या विरचितचतुर्गोपुरोऽभ्यन्तराले ।
 द्वाराद्द्वारात्परमुभयतो द्वे शुभे नाट्यशाले
 चत्वार्यासन्नमरनिचितान्यूर्ध्वमाभ्यां वनानि ॥८४॥
 चत्वारोऽर्चाश्चिरवपुषो यागवृक्षा वनेषु
 तिष्ठन्तिस्त्रो मणिमय^२ तटैर्मणिदृतास्तेषु वाप्यः ।
 तत्रैवासम्बहुविधसभामण्डपाः क्रीडशैला
 चारायम्त्रैरलिङ्गितलतामण्डपैर्भ्राजमानाः ॥८५॥

कुबेरः । गत्वा प्राप्य । तस्य भर्तुः चन्द्रप्रभस्वामिनः । निर्ममे निर्मोयते स्म । माह् माने कर्मणि लिट् ॥८३॥
 धूलीति । तस्य समवसरणस्य । पाश्वे बाह्ये । बलयसदृशः बलयस्य कङ्कणस्य सदृशः समानः, परिधिरूप
 इत्यर्थः । धूलीसालः धूलीमी रत्नमयरेणुमिरुपलक्षितः सालः प्राकारः । बभ्राम परिवन्ने । भ्रम् चलने लिट् ।
 तस्य धूलीसालस्य । अन्तरस्थाः अन्तर्भागे स्थिताः । चतसृषु चतुःसंख्याकासु । महावीर्येषु [महाविष्णु^३]
 महारथवासु । मानस्तम्भाः । विरेजुः । तेभ्यः मानस्तम्भेभ्यः । ऊर्ध्वं परम् । विकचकमलाम्भांसि विकचै-
 विकलितैः कमलैः सरसिजैर्युक्तमम्भो जलं येषां तानि । चत्वारि । सरांसि सरोवराः । मानस्तम्भस्य तस्य
 चतुर्दिक्षु चत्वारि सरांसि । तेभ्यः सरोवरेभ्यः । ऊर्ध्वं पुरः । विविधकुसुमा विविधैर्नानाविधैः कुसुमैः पुष्पैः
 सहिता । वारिपूर्णा वारिणा जलेन पूर्णा उम्भिता । क्वातिका परिक्रा । समन्नि ॥८४॥ मानेति । ततः
 उर्ध्वम् । विशाला विस्तीर्णा । नानापुष्पा नाना पुष्पाणि^४ विविधानि पुष्पाणि यस्यां सा । पुष्पवाटी पुष्पित-
 वस्तीमूमिः । समन्नि जायते स्म । अस्याः पुष्पवाटपाः । अभ्यन्तराले अन्तर्भागे । विरचितचतुर्गोपुरः
 विरचितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य सः । प्राकारः प्रथमप्राकारः द्वाराद् द्वारात् परं तत् ऊर्ध्वम् ।
 उभयतः उभयपाश्वे । शुभे शोभायुते । द्वे द्विसंख्ये । नाट्यशाले नर्तनशाले । आभ्यां नाट्यशालाभ्याम् ।
 ऊर्ध्वं पुरः । अमरनिचितानि अमरैः सुरैर्निचितानि निमित्तानि । चत्वारि चतुःसंख्यानि । वनानि उपवनानि
 वासन् अवचन् । अस युवि लङ् ॥८५॥ चत्वार इति । वनेषु चतुर्वनेषु । अर्चाश्चिरवपुषः अर्चाभिः प्रतिबिम्बै-

योजन कम था । इसीलिए आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका समवसरण ऋषभदेवके समवसरणसे साढ़े
 तीन योजन कम था ॥८३॥ समवसरणके चारों ओर बलयाकार—गोल, धूलीसाल—पाँच रंगके
 रत्नोंकी धूलीसे बना हुआ प्राकार (चहारदीवारी) था, उसके अन्दर चारों दिशाओंमें चार
 मानस्तम्भ थे, उनके आगे जलसे लबालब भरी हुई और नाना प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित
 परिक्रा थी ॥८४॥ उसके आगे अनेक प्रकारके फूलोंसे अलङ्कृत विशाल फुलवाड़ी थी, उसका
 चार दरवाजोंसे युक्त प्राकार था, उसके प्रत्येक दरवाजेके अन्दर दोनों भागोंमें दो-दो सुन्दर
 नृत्यशालाएँ थीं, उनके आगे चार वन थे, जो देवोंसे व्याप्त थे ॥८५॥ उन वनोंमें जिनबिम्बोंसे

१. क ख ग घ म वारिकर्णा । २. म 'मयतरे' । ३. क ख ग म 'रिमवृत्तल' । ४. = चतुर्दिक्षु ।
 ५. श नाना पुष्पाणि इति नास्ति । ६. = यस्मिन् । ७. श 'द्वारात्' इति नास्ति । ८. एष टीकाश्रयः
 पाठः, प्रतिषु तु 'चत्वारोऽर्चाश्च' इत्येव समलोक्यते । अर्चाः-प्रतिमाः ।

तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयचतुस्तोरणा वेदिकाभू-
 चस्या भागे समजनि परे केतुपङ्क्तिर्विचित्रा ।
 तस्याश्चोर्ध्वं मणिमयचतुर्गोपुरो हेमसालो
 रम्यं कल्पद्रुमवनमतोऽभूत्परस्मिन्विभागे ॥८७॥
 तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गोपुरा वज्रवेदी
 तस्या रेजुर्दश दश पराण्युल्लसत्तोरणानि ।
 तेषां स्तूपा नव नव बभूवमध्यदेशेषु सार्चाः
 तत्रैवास्तमुनिजनसभामण्डपास्तुङ्गशृङ्गाः ॥८८॥

शिवराणि मनोहराणि वपुंध्यवयवा येषां ते । चत्वारः चतुःसंख्याः । यागवृक्षाः यामिं पूजाभिर्युक्ता वृक्षा, चैत्यवृक्षा इत्यर्थः । तेषु वनेषु । मणिमयतटे रत्ननिमित्ततटयुतैः । मण्डिताः भूषिताः । शिखः शिखः त्रिशिखया । बाष्पः सरासि । तत्रैव वनेष्वेव । धारायन्त्रैः जलप्रवाहयन्त्रैः । अलिवृतलतामण्डपं अलिभिर्भ्रमरैर्वृत्तैर्यष्टि-
 र्लतामण्डपैर्लतागृहैः । भ्राजमानाः विराजमानाः । बहु [विध] सभामण्डपाः बहुविधास्थानमण्डपयता ।
 क्रीडाशैलाः क्रीडापर्वताः । आसन् अवबन् । लङ् ॥८६॥ तेभ्य इति । तेभ्यः वनेभ्योऽपि । ऊर्ध्वं परः । मणिमयचतुस्तोरणा मणिमयानि रत्नमयानि चत्वारि तोरणानि बन्दनमाला यस्या सा । वेदिकाभू. वेदिका-
 भूमिः । यस्याः वेदिकाभूमेः । अपरे अग्रे । भागे प्रदेशे । विचित्रा करिहरिवृक्षभाविचित्रयुक्त्यान्नाविधा ।
 केतुपङ्क्तिः केतूना ध्वजाना पङ्क्तिः राज्ञिः । समजनि समजायत । लङ् । तस्याः ध्वजपटुत्वेनैव । ऊर्ध्वं पुर ।
 मणिमयचतुर्गोपुरः मणिमयानि रत्ननिमित्तानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य स । हेममालः हेम्ना कनकेन
 निमित्तः सालः प्राकारः । अतः हेमसालान् । अणस्मिन् उत्तस्मिन् । विभागे प्रदेशे । रम्यं मनोहरम् ।
 कल्पद्रुमवनं कल्पद्रुमाणा कल्पवृक्षाणां वनगृहानम् । अभूत् अवबत् । लङ् ॥८७॥ तस्मादिति । तस्मात् कल्प-
 द्रुमवनात् । पुनरपि पश्चादपि । चतुर्गोपुरा चतुर्भिर्गोपुरैः सहिता । वज्रवेदी वज्रमयवेदिका । जज्ञे जायते
 स्म । लिट् । तस्याः वज्रवेदिकायाः । पराणि पुरो बर्तमानानि । दशदश दशदशप्रमितानि । उल्लसत्तोरणानि
 उल्लसन्ति विराजमानानि तोरणानि बन्दनमालाः । रेजुः भान्ति स्म । राज्ञो दोष्तो लिट् । तेषां तोरणानाम् ।
 मध्यदेशेषु अन्तरालदेशेषु । सार्चाः जिनविम्बसहिता । नव नव स्तूपा । घसुः मणित स्म । आ दोष्तो लिट् ।
 तत्रैव संगीतभूम्याम् । तुङ्गशृङ्गाः तुङ्गान्युत्तानि शृङ्गानि शिखराणि येषां ते । मुनिजनसभामण्डपा

विराजित चार चैत्यवृक्ष ये, मणिनिमित्त तटोसे युक्त तीन-तीन वापिकाएँ थी, अनेक प्रकारके सभामण्डप थे और ये क्रीडापर्वत, जो जलकी धारा बहानेवाले यन्त्रो तथा भीरोमे ध्याप्त लतामण्डपोंसे विभूषित थे ॥८६॥ उन वनोंके आगे मणिरचित चार तोरणोंसे विभूषित वेदी थी, उसके श्रेष्ठ मैदानमें विचित्र ध्वजाएँ एक पङ्क्तिमें लगी हुई थी, उस वेदीके आगे मणिमय चार दरवाजोंसे मण्डित स्वर्ण-रचित प्राकार था, इससे आगे एक ओर कल्पवृक्षोका सुन्दर वन था ॥८७॥ उस वनके आगे फिर एक चार गोपुरोंसे युक्त वज्रनिमित्त वेदी थी, उसके ऊपर दश-दश जगमगाते हुए तोरण थे, उनके बीच-बीचमें नौ-नौ स्तूप थे, तथा वहीपर उन्नत

१. अ आ इ तस्या भा, स मध्यस्याभागे । २. क ख ग घ म हेमवेदी । ३. आ इ दशदिशि । ४. एष टाकाश्रयः पाठः, प्रतिपु तु 'सर्वे' इति दृश्यते । ५. स पूजादिभिः । ६. आ त्रिसंख्या । ७. = यस्मिन् । ८. आ परो ।

प्राकारोऽच्छस्फटिकघटितोऽभूत्पुरस्ताच्च तेभ्यः
कोष्ठास्तस्य स्फुरितरुचयो द्वादशान्ते बभूवुः ।
तेभ्यः स्थानं परमनुपमं गन्धकुटुषाख्यमासी-
ज्जले तत्र स्फुरदुदुग्मणिभ्राजितं सिंहपीठम् ॥८६॥

तस्योपरि स्फुरितभासुररत्नरश्मेः
स प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः ।
निर्बोरवीर्यसुखबोधनिधिजिनेन्द्र-
स्तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखोऽबभूव ॥९०॥

तत्राद्या^१ मुनिभिः समं गणधराः कल्पस्थितयः संयता^२
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूस्तथास्ततो भावनाः ।

मुनिजनानां सभामण्डपा आस्थानमण्डपाः । आसन् अभवन् । लङ् ॥८८॥ प्राकार इति । तेभ्यः स्तूपेभ्यः । पुरस्तात् अग्रे । अच्छस्फटिकघटित अच्छेन निर्मलेन स्फटिकेन घटितः कुट । प्राकारः सालः । अभूत् अभवत् । लृट् । तस्य स्फटिकप्राकारस्य । अन्ते । स्फुरितरुचयः स्फुरिता दीप्ता रुचिः कान्तियेया ते । द्वादश द्वाभ्या-
मधिका दश । 'द्वाद्वा—' इत्यादिना द्वा—आदेशः । कोष्ठा बभूवुः कोष्ठा भवन्ति स्म । लिट् । तेभ्यः कोष्ठेभ्यः । परं परः^३ । तत् । अनुपमम् उपमातीतम् । गन्धकुटुषाख्य गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्य तत्^४ । स्थानं प्रदेशः । आसीत् अभवत् । लङ् । तत्र गन्धकुटुषाम् । स्फुरदुदुग्मणिभ्राजितं स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिः रश्मि-
मणिभिर्भ्राजितं विभासितम् । सिंहपीठं सिंहरुपलसितं^५ पीठं सिंहपीठम् । जले अजायत । लिट् । अतिशयः ॥८९॥ तस्येति । स्फुरितभासुररत्नरश्मेः स्फुरितः प्रज्ज्वो मासुराणां देदीप्यमाना रत्नानां रश्मिः कान्ति-
र्यस्य तस्य । तस्य सिंहपीठस्य । उपरि अग्रे । प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः प्रातिहार्यरष्टमहाप्रातिहार्यैः
परिभूषिता अलंकृता दिव्या परमोदारिकाख्या मूर्तिस्तनुयस्य सः । निर्बोरवीर्यसुखबोधनिधिः निर्बोराणां
निवारयितुमशक्यानां, वीर्यमनन्तवीर्यं तच्च, सुखमनन्तसुखं तच्च, [बोधः] बोधनं (अमन्तं) ज्ञानं तच्च, तथोक्ताः
तेषां निधिः । स जिनेन्द्रः जिनेश्वरः । तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखः तत्त्वानां जीवादितत्त्वानामुपदेशस्य प्रतिबोध-
नस्य कथने निगदनेऽभिमुखः । बभूव^६ भवति स्म । लिट् । जातिः ॥९०॥ तत्रेति । तत्र कोष्ठेषु । मुनिभिः
योगिभिः^७ । समं साकम् । गणधराः गणाधिपाः । आद्याः प्रथमाः । कल्पस्थितयः^८ कल्पवनिताः । संयताः नरैः^९

शिखरोसे युक्त मुनियोके सभामण्डपे थे ॥८८॥ उन स्तूपोंके आगे स्वच्छ स्फटिक मणिनिर्मित प्राकार था, उसके अन्दर चमकती हुई कान्तिसे युक्त बारह कोठे थे, उनके आगे अनुपम गन्ध-
कुटी नामका एक उत्कृष्ट स्थान था; उसमें जगमगाते हुए बड़े-बड़े मणियोसे विभूषित सिंहासन था ॥८९॥ चारों ओर फेलनेवाली, देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित, उस सिंहासनके ऊपर वे जिनेन्द्र भगवान् चन्द्रप्रभ विराजमान हुए, जिनको दिव्य मूर्ति आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित थी, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यकी निधि थे और तत्त्वोपदेश देनेके लिए सभीके लिए अभिमुख थे ॥९०॥ बारह कोठोंमें, क्रमशः मुनिराजोंके साथ गणधर, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी

१. क ख ग घ ङ दत्ताद्या । २. म सज्जित । ३. = पुरः । ४. हा 'गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्य तत्' इति नास्ति, 'गन्धकुटुषाभिधानम्' इत्यस्ति । ५. हा 'लङ्' इति नास्ति । ६. हा सिंहरूप-
कल्पितम् । ७. एष टीकाधयः पाठः, मूलप्रतिपुत्रु 'निर्बोव' इत्यस्ति । ८. अयमपि टीकाधयः पाठः, मूलप्रतिपु-
त्रु 'उक्तस्वे' इति दृश्यते । ९. आ यतिभिः । १०. आ स्वयम्ब । ११. हा 'नरस्थितयः' इति नास्ति ।

वन्ध्या ज्योतिषकल्पजाश्च विबुधाः स्वस्योदयाकाङ्क्षिण-
स्तस्थुर्द्वादशसु प्रदक्षिणममी कोष्ठेषु मर्त्या मृगाः ॥६१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

स्त्रियः आयिकाः । ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसङ्घाः ज्योतिषा ज्योतिष्काणां व्यन्तराणां वन्ध्याः भावना-
नाममराणां देवानां वधूनां वनितानां सङ्घाः समूहाः । ततः परम् । भावनाः भवनवासिकदेवाः । वन्ध्याः
व्यन्तरदेवाः ज्योतिषकल्पजाः ज्योतिषा ज्योतिष्कदेवाः कल्पजाः कल्पवासिकादयः । विबुधाः देवाः । मर्त्याः
मनुष्याः । मृगाः सिंहादयो मृगाः । स्वस्य आत्मनः । उदय [या] काक्षिणः उदयमभ्युदयं [यमा] काक्षन्तीत्ये-
वंशीलाः । अमी एते । द्वादशसु द्वादशप्रमितेषु । कोष्ठेषु । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणं यथा तथा । तस्थुः तिष्ठन्ति
स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । यथासंख्यालंकारः ॥६१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृताबुद्ध्याङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्यानम्
च विद्वन्मनोवल्लभालये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु ये सभी
अपने-अपने अभ्युदयकी कामना करनेवाले जीव, भगवान् चन्द्रप्रमके चारों ओर ऐसे ढंगसे बैठे
हुए थे जैसे परिक्रमा देते हैं ॥६१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिविरचित उद्घाङ्ग चन्द्रप्रम चरित महाकाव्यमें
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

[१८. अष्टादशः सर्गः]

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः ।
जगाद् गणिनः प्रस्तादिति तत्त्वं जितेश्वरः ॥१॥
जीवाजीवास्त्रया बन्धसंहरावध निर्जरा ।
मोक्षश्चेति जितेन्द्राणां सप्त तत्त्वानि शासने ॥२॥
बन्ध एव प्रविष्टत्वाद्भुक्तिः पुण्यपापयोः ।
तयोः पृथक्त्वपक्षे च पदार्था नव कीर्तिताः ॥३॥
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम् ।
स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥४॥

विज्ञाय पीठचलनाज्जितबन्ध जिष्णुरागत्य मातृसदनं च शशोसमेतः ।

आरोपयन् जितेश्वरं करिमस्तकाग्रं मेघं निनाय सुरवर्त्मपथा समोदः ॥

सर्वेति । अथ उपदेशाभिमुक्तान्तरम् । जगद्गुरुः जगता गुरुः । जितेश्वरः जितेन्द्रः । गणिनः । प्रस्तात्^१ प्रार्थनायाः । सर्वभाषास्वभावेन सर्वाः समस्ता भाषा एव स्वभावो यस्य तेन । तदुक्तम्—‘गंभीरं मधुरं मनोहतरं दीप्यमपेतं हितं^२, कण्ठोद्गादिबध्नीमित्तरहितं नो वातरोधोद्गातम् । स्पष्टं तत्तदभीष्ट-वस्तुकथनं निःशेषभाषात्मकं, दूरास्तत्त्वसमं समं निरूप्यं जैनं वचः पातु नः ॥’ इति । ध्वनिना दिव्य-ध्वनिना । दात् (?) । तत्त्वं जीवादितत्त्वम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगाद् इतीति स्म । लिट् । जातिः ॥ १ ॥ जीवेति । अथ अन्तरम् । जितेन्द्राणां जितेश्वराणाम् । शासने स्याद्वादिशासने । जीवाजीवास्त्रयाः जीवो जीवतत्त्वम्, अजीवतत्त्वम् आस्रतत्त्वं च । बन्धसंहरा बन्धवद् बन्धतत्त्वं च संहरवद् संहरतत्त्वं च । निर्जरा निर्जरातत्त्वं च । मोक्षश्चेति मोक्षतत्त्वमिति । तत्त्वानि सप्तविधानि । भवन्ति ॥ २ ॥ बन्ध इति । पुण्यपापयोः पुण्यपदार्थपापपदार्थयोः । बन्ध एव बन्धतत्त्व एव । प्रविष्टत्वात् अन्तर्भूतत्वात् । भुक्तिः पुण्य-पचारणं तास्तोत्यर्थः । तयोः पुण्यपापद्वयोः । पृथक्त्वपक्षे च भिन्नत्वपक्षाज्जीकारे । नव नवसंख्याः । पदार्थाः नवपदार्था इति । कीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ३ ॥ चेतनेति । चेतनालक्षणः चेतयति ज्ञाने(न) जानाति दशमेन पश्यतीति चेतना, सैव लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य सः । स्वकर्मणा स्वस्य कर्मणा शुभाशुभकृपाणाम् । कर्ता विधाता । भोक्ता कर्मफलानां भोक्ता अनुभवता । शरीरमानेन शरीरकृतबेहप्रमाणेन । स्थितः आसितः । स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः स्थितिर्द्रव्यं (ध्रुव्यं) सा च उत्पत्तिर्जननं सा च व्ययो विनाशः स च, शशोकाः,

इसके पश्चात् जगद्गुरु जितेश्वर भगवान् चन्द्रप्रसक्तो स्वभावतः सभी भाषाओंमें परिणत होनेवाली दिव्यध्वनि, गणधरके प्रसक्त अनुसार खिरी, जिसमें जीवादि तत्त्वोंका इस प्रकार-से निरूपण किया गया था—॥१॥ जिन शासनमें जीव, अजीव, आस्र, बन्ध, संहर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं ॥२॥ बन्धमें गमित होनेके कारण पुण्य और पापको अलगसे नहीं कहा गया है । यदि पुण्य और पापको अलग कहा जाय तो नौ पदार्थ ही जाते हैं—जीवादि सात और पुण्य-पाप दो । आगममें नौ पदार्थोंकी भी चर्चा की गई है ॥३॥ जीवका लक्षण चेतना है । वह शुभ एवं अशुभ कर्मोंका कर्ता है, अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, देह-परिणामो है—जिस देहको वह प्राप्त करता है, उसीके बराबर होकर उसमें

भव्यामव्ययमेदेन द्विप्रकारोऽप्यसौ पुनः ।
 नरकादिगतेर्भेदाच्चतुर्धा भेदमश्नुते ॥५॥
 सप्तधा पृथिवीभेदाभारकोऽपि प्रभिद्यते ।
 अधोलोकस्थिताः सप्त पृथिव्यः परिकीर्तिताः ॥६॥
 आद्या रत्नप्रभा नाम^१ द्वितीया शर्कराप्रभा ।
 सिकतादिप्रभान्या च^२ परा पङ्कप्रभा मता ॥७॥
 धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा तस्यास्तमःप्रभा ।
 महातमःप्रभा चेति तासां नामान्यनुक्रमाम्^३ ॥८॥
 प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषु कीर्तिताः ।
 उत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाः ॥९॥
 द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु पृथिवीषु यथाक्रमम् ।
 द्वितीयादिषु विज्ञेयो यावत्पञ्चधनुःशतो^४ ॥१०॥

त एवास्या स्वकपं यस्य स ॥ ४ ॥ भवेति । असौ अयम् । जीवः । पुन पञ्चात् । भव्यामव्ययमेदेन
 भव्यामव्ययो — रत्नमयाविवनयोग्यो भव्यः, इतरोऽभव्यः तयोर्भेदेन । द्विप्रकारोऽपि द्वौ प्रकारौ यस्य सः ।
 नरकादिगतः नरकप्रभृतिगतः । भेदात् भेदरूपात् । चतुर्धा । भेदं भेदरूपम् । अन्तुने व्याप्नोति । अशौङ्^५
 व्याप्तौ लट् ॥ ५ ॥ सप्तधेति । नारकोऽपि नरकगतजीवोऽपि । पृथिवीभेदात् पृथिवीनां रत्नप्रभादिमत्प-
 भूमीनां भेदात् । सप्तधा सप्तभिः प्रकारैः । प्रभिद्यते भदं कियते । अधोलोकस्थिताः अधोलोकेऽधोमुखे
 स्थिताः अस्थिताः । पृथिव्य भूमयः । सप्तति सप्तसंख्या इति । परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ६ ॥ आद्येति ।
 आद्या प्रथमा । रत्नप्रभा रत्नप्रभाख्या । नाम निश्चयेन । द्वितीया द्वयोः पूरणा । शर्कराप्रभा । अस्या परा
 तृतीया इत्यर्थः । सिकतादिप्रभा च सिकतादीनां भव्या । मा, मा चामौ प्रभा च तयोश्च बालुकाप्रभेभ्यः ।
 परा चतुर्थी । पङ्कप्रभा पङ्कप्रभेति । मता अङ्गीकृता ॥ ७ ॥ धूमेति । ततः पञ्चात् । धूमप्रभा पञ्चमो
 धूमप्रभा । ज्ञेया ज्ञातव्या । तस्याः पञ्चम्याः सकाशात् । परा अन्या, षष्ठी इत्यर्थः । तमःप्रभा । महातमः—
 प्रभा चेति सप्तमी महातमःप्रभा इति । अनुक्रमान् परिपाट्याः । तासां सप्तमीनाम् (?) । नामानि नाम-
 धेयानि । भवन्ति ॥ ८ ॥ प्रथमेति । प्रथमायाम् आद्यायाम् । पृथिव्या भूम्याम् । ये नारकाः नरकगतिपर्याय-
 जीवाः । कीर्तिताः प्रोक्ताः । तेषु नारकजीवेषु । उत्सेधः वेहोन्नति । सप्त । चापानि धनूँपि । त्रयः । हस्ताः
 अरत्नयः । षडङ्गुलाः षट् च ता अङ्गुलमन्त्र । 'संख्याभ्ययावङ्गुलेः' इति उ-प्रत्ययः ॥ ९ ॥ द्विगुणेति ।
 द्वितीयादिषु द्वितीया आदिपदासां तासु । अन्यासु पृथिवीषु भूमिषु । यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य । तस्य द्विगुण-
 द्विगुणः द्वौ गुणौ यस्य सः । विज्ञेय वेदितव्यः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । पञ्चधनुःशतो पञ्चानां धनुःशतानां

स्थित हो जाता है और उत्पाद, व्यय, व द्रौव्यात्मक है ॥४॥ यह भव्य और अभव्यके भेदसे
 दो प्रकारका है फिर भी नरक आदि चार गतियोंके भेदकी अपेक्षासे चार प्रकारका है ॥५॥
 नरक गतिके जीव सात भूमियोंके भेदकी दृष्टिसे सात प्रकारके होते हैं । अधोलोकमें सात
 पृथिवियां बतलायी गयी हैं ॥६॥ (१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) बालुकाप्रभा, (४)
 पङ्क प्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा—ये उन पृथिवियोंके क्रमशः
 सात नाम हैं ॥७-८॥ पहली पृथिवीमें जो नारकी बतलाये गये हैं, उनके शरीरकी ऊँचाई सात
 धनुष तोन हाथ छह अंगुल है ॥९॥ द्वितीय आदि अन्य पृथिवियोंमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई
 क्रमशः दूनी-दूनी जाननी चाहिए । इसी हिसाबसे सातवी पृथिवीके नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई

१. अ नरकोऽपि । २. अ नाम्नी । ३. आ इ क ख ग घ ङदिप्रभा चान्या । ४. क ख ग घ म
 न्यनुक्रमम् । ५. क ख ग घ म णनुःशतोम् । ६. श आशाब् । ७. श तस्य द्विगुणः-द्वौ गुणौ यस्य सः ।

एकत्रयस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् ।
 द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्सासु स्युः सागरोपमाः ॥११॥
 दशवर्षसहस्राणि जघन्यं प्रथमक्षितौ ।
 द्वितीयादौ जघन्यं तत्प्रथमादौ यदुत्तमम् ॥१२॥
 त्रिंशत्सरकलक्षाणि प्रथमायां ततः परम् ।
 पञ्चविंशतिरुद्दिष्टास्ततः पञ्चदश क्रमात् ॥१३॥
 दश त्रीणि ततो हीनं पञ्चभिर्लक्षमीरितम्^१ ।
 ततः पञ्चैव नरकाश्चरमायां प्रकीर्तिताः ॥१४॥
 बह्वारम्भादिस्संभूतैः पापैः परवशीकृताः ।
 तत्र जीवाः प्रपद्यन्ते दुःख भूत्वोपपादिकाः ॥१५॥

समाहारः ॥१०॥ एक इति । तामु सप्तभूमिषु । आयुः आयुष्यम् । क्रमात् पारंपादयाः । एकः सागरोपमः ।
 त्रयः त्रिसागरोपमाः । ततः पञ्चात् । सप्तसप्तसागरोपमः । दश दशसागरोपमाः । सप्तदश सप्तदश-
 सागरोपमाः । द्वाविंशतिः द्वाविंशतिसागरोपमाः । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिकं त्रिंशत् सागरोपमाः । स्युः
 ॥११॥ दशेति । प्रथमक्षितौ प्रथमायामाद्यायां क्षितौ भूमौ । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दश दशप्रमितानि ।
 वर्षसहस्राणि वर्गाणां सप्तसराणां सहस्राणि । भवेत् । प्रथमादौ रत्नप्रभादौ । यत् । उत्तमम् उत्कृष्टायुष्यम् ।
 स्यात् । तत् । द्वितीयादौ गर्कराप्रभादौ । जघन्यं हीनयुष्यम् । भवेत् । प्रथमक्षितौ उत्तमायुष्यमेकसागरः,
 स एव द्वितीयक्षितौ जघन्यायुष्यम् । द्वितीयक्षितौ त्रिसागरोपमम्, तदेव तृतीयक्षितौ जघन्यायुष्यं भवेत्,
 एवं सर्वत्र योज्यम् ॥१२॥ त्रिंशदिनि । प्रथमाया प्रथमभूमौ । नरकलक्षाणि नरकाणां लक्षाणि दश
 (शत) सहस्राणि । त्रिंशत् । ततः तस्याः । परं पुरः । पञ्चविंशतिः पञ्चविंशतिनरकलक्षाणि । उद्दिष्टाः
 प्रोक्ताः । [ततः] पञ्चदश पञ्चदशलक्षाणि । क्रमात् क्रमतः ॥१३॥ दशेति । ततः परम् । दश
 दशलक्षाणि । ततः परम् । त्रीणि त्रिलक्षाणि । पञ्चभिः पञ्चबिलैः रहितम् । लक्षम् एकलक्षम् । ईरितं
 निगदितम् । ततः परम् । चरमायां सप्तम्यां क्षितौ । नरकाः नरकबिलानि । पञ्चैव । प्रकीर्तिताः निगदिताः
 ॥१४॥ बह्विभिः^२ । तत्र नरकेषु । बह्वारम्भादिस्संभूतैः बह्वारम्भादिभिर्बह्वारम्भपरिग्रहहिंसादिभिः^३ संभूतैः
 संजातैः । पापैः अशुभकर्मभिः । परवशीकृताः परवशं गताः । जीवाः प्राणिनः । औपपादिकाः उपपादेषु

पाँच सो घनुष है ॥१०॥ उन सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी आयु क्रमशः एक, तीन, सात,
 दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर प्रमाण है ॥११॥ प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी जघन्य
 आयु दस हजार वर्ष है, दूसरी पृथिवीमें जघन्य आयु बढी है जो प्रथम पृथिवीमें उत्कृष्ट आयु
 है । इसी क्रमसे सातवीं पृथिवी तकके नारकियोंकी जघन्य आयु समझ लेनी चाहिए—पूर्व
 पृथिवीके नारकियोंको जो उत्कृष्ट आयु है वही उससे अगली पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु
 जाननी चाहिए ॥१२॥ पहली पृथिवीमें तीस लाख नरक (नारकियोंके बिल), दूसरीमें पञ्चीस
 लाख और तीसरीमें पन्द्रह लाख हैं ॥१३॥ चौथीमें दस लाख, पाँचवींमें तीन लाख, छठीमें
 पाँच कम एक लाख और अन्तिम अर्थात् सातवींमें केवल पाँच ही हैं ॥१४॥ बहुत आरम्भ और
 परिग्रह आदिके निमित्तसे किये गये पापोंसे विवश होकर जीव उपपाद जन्म धारण करके उन

इति नारकभेदेन कृता जीवस्य वर्णना ।
 तिर्यग्गतिकृतो भेदः सांप्रतं वर्णयिष्यते ॥१६॥
 त्रसस्थावरभेदेन तिर्यग्जीवो द्विधा स्मृतः ।
 तत्र द्वीन्द्रियमारभ्य त्रसः पञ्चेन्द्रियावधि ॥१७॥
 स्थावराः कायभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।
 पृथिवीकायिकाः केचित्केचिद्वायुकायिकाः स्मृताः ॥१८॥
 तेजःकायभृतः केचिदपरे वायुकायिकाः ।
 स्युर्ध्वनस्पतिकायाश्च सर्वेऽप्येकेन्द्रियाः स्मृताः ॥१९॥
 सहस्रं मानमुत्कर्षां योजनानां प्रकीर्तितम् ।
 पञ्चेन्द्रियशरीरस्य तदेवैकेन्द्रियेऽधिकम् ॥२०॥
 द्वीन्द्रिये द्वादशैव स्युर्योजनानि यथागमम् ।
 त्रिकोशं त्रीन्द्रिये प्रोक्तं योजनं चतुरिन्द्रिये ॥२१॥

जाताः^१ । भूत्वा जनिन्वा । दुःखं क्षेत्रजनितानि^२ । प्रपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति । लट् ॥१५॥ इतीति । इति
 उक्तप्रकारेण । नारकभेदेन नारकाणां नरकजनितामां जीवानां प्रभेदेन प्रकारेण । जीवस्य जीवतत्त्वस्य ।
 वर्णना कीर्तना । कृता विहिता । साम्प्रतम्^३ इदानीम् । तिर्यग्गतिकृतः तिर्यग्गत्या कृतो विहितः । भेदः
 प्रकारः । वर्णयिष्यते । वर्णं वर्णनक्रियायां^४ लट् ॥१६॥ त्रसति^५ । तिर्यग्जीवः तिर्यग्गतित्वजोव त्रसस्थावर-
 भेदेन त्रसजीवस्थावरजीवयोर्भेदेन विकल्पेन । द्विधा । स्मृतः ज्ञातः । तत्र त्रसस्थावरयोर्मध्ये । द्वीन्द्रियं द्वीन्द्रिय-
 जीवम् । आरभ्य प्रारभ्य । पञ्चेन्द्रियावधिः पञ्चेन्द्रिय एवावधिरवसानो यस्य स^६ । त्रसः त्रसजीव इति
 ज्ञातव्यः ॥१७॥ स्थावरा इति । स्थावराः स्थावरजीवाः कायभेदेन कायानां देहानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा
 पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः । केचित् । पृथिवीकायिकाः पृथिवीकायिकजीवाः^७ । केचित् एके ।
 अणुकायिकाः अणुकायिकजीवाः । स्मृताः ज्ञाताः ॥१८॥ तेज इति । केचित् एके । तेजस्कायभृतः तेजोऽग्निः स
 एव कायः तं विभ्रतोति तेजस्कायिकजीवाः । अपरे केचित् । वायुकायिकाः वातकायिकजीवाः । केचित् ।
 वनस्पतिकायिकाः वनस्पतिकायिकजीवाः । स्युः मधेयुः । सर्वेऽपि एते सर्वेऽपि । एकेन्द्रिया इति एकमिन्द्रियं
 येषां ते । स्मृताः ज्ञाताः ॥१९॥ सहस्रमिति । पञ्चेन्द्रियशरीरस्य पञ्चेन्द्रियस्य पञ्चेन्द्रियजीवस्य शरीरस्य-
 देहस्य । उत्कर्षात् उत्कृष्टात् । योजनानाम् । सहस्रं दशसहस्रम् । मानम् उत्सवप्रमाणम् । प्रकीर्तितं प्रोक्तम् ।
 तदेव योजनानां सहस्रमेव । एकेन्द्रिये जीवे । अधिकम् उत्कृष्टमिति प्रकीर्तितम् ॥२०॥ द्वीन्द्रिय इति । द्वीन्द्रिये

नरकोंमें दुःख उठाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार नारकियोंके भेदकी दृष्टिसे जीवोका वर्णन किया ।
 अब तिर्यग्गतिकी अपेक्षासे जीवोंके भेदोंका वर्णन किया जायगा ॥१६॥ त्रस और स्थावरके
 भेदसे तिर्यञ्च जीव दो प्रकारके होते हैं । उनमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय
 जीव त्रस कहलाते हैं ॥१७॥ काय भेदकी दृष्टिसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं—
 कोई जीव पृथिवीकायिक होते हैं, कोई जलकायिक होते हैं ॥१८॥ कोई तेजस्कायिक होते हैं,
 कोई वायुकायिक होते हैं और कोई वनस्पतिकायिक होते हैं । ये सभी जीव एकेन्द्रिय होते हैं ॥१९॥
 पञ्चेन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक हजार योजन है और एकेन्द्रिय
 जीवकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है ॥२०॥ द्वीन्द्रिय जीवके

१. श 'जाता.' इति नास्ति । २. श क्षेत्रजनितानि । ३. आ वर्णक्रियायां । ४. श त्रसति । ५. श जातः । ६. श 'कायिका जीवाः । ७. = योजनसहस्रतोऽपि किञ्चिदधिकम् ।

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
 वर्धनोयं क्रमादेतेष्वेकैकं द्वीन्द्रियादिषु ॥२२॥
 संवत्सरसहस्राणि द्वाविंशतिरुदाहृतम् ।
 पृथिवीकायिकेष्वायुस्त्वरूपेण जिनागमे ॥२३॥
 तान्यपकायिषु सप्त स्युस्त्रीणि मारुतकायिषु ।
 वनस्पतौ दशोक्तानि तेजःकायिष्वहस्त्रयम् ॥२४॥
 वर्षाणि द्वादशैवायुर्द्वीन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् ।
 दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रोन्द्रियेषु शरीरिषु ॥२५॥
 षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतुरिन्द्रियदेहिषु ।
 पञ्चेन्द्रियेषु पूर्वाणां कोट्यंका परिकीर्तिता ॥२६॥

द्वीन्द्रियजीवे । यथागमम् आगममनतिक्रम्य । योजनानि । द्वादशैव द्वाभ्यामधिकानि दश द्वादश तान्येव । स्युः भवेयुः । अस भुवि लिङ् । श्रोत्रिये त्रीन्द्रियजीवे । त्रिकोशं त्रयाणां कोशानां समाहारः त्रिकोशम् । चतुरिन्द्रिये चतुरिन्द्रियजीवे । योजनम् एकयोजनम् । प्रोक्तं निर्गदितम् ॥२२॥ स्पर्शनमिति । स्पर्शनं स्पर्शनमिति । रसनं रसनमिति । घ्राणं घ्राणमिति । चक्षुः चक्षुरिति । श्रोत्रं श्रोत्रमिति । इन्द्रियं भवेत् । द्वीन्द्रियादिषु द्वीन्द्रियादिजीवेषु । एतेषु उत्सेधोक्तेषु । क्रमात् क्रमेण । एकैकम् । बोध्याया द्विः । वर्धनोयम्^१ ऐधितम्यम् ॥२२॥ संवत्सरेति । जिनागमे जिनशासने । पृथिवीकायिकेषु पृथिवीकायिकजीवेषु । उत्कर्षेण^२ उत्कृष्टेन । आयुः आयुष्यम् । द्वाविंशतिः द्वाभ्यामधिका विंशतिस्तथोक्ता । संवत्सरसहस्राणि संवत्सराणां सहस्राणि दशगतानि । उदाहृतं निर्गदितम् ॥२३॥ तानीति । अप्कायिषु अप्कायिकेषु । सप्त सप्तवर्षसहस्राणि । मारुतकायिषु वायुकायिकेषु । त्रीणि त्रीणि वर्षसहस्राणि । वनस्पतौ वनस्पतिकायिके । दश दशवर्षसहस्राणि । तेजःकायिषु तेजस्कायिकेषु । अहस्त्रयं त्रीणि रात्रिन्द्रियानि । उत्कृष्टा स्थितिरिति शेषः ॥२४॥ वर्षेति । द्वीन्द्रियाणां द्वीन्द्रियजीवानाम् । द्वादशैव । वर्षाणि संवत्सराः । आयुः आयुष्यम् । प्रकीर्तितं प्रभाषितम् । त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रिययुक्तेषु । शरीरिषु प्राणिषु । एकोनपञ्चाशत् एकरहिता पञ्चाशत् । दिनानि दिवसाः । प्रोक्तानि ॥२५॥ षण्मासेति । चतुरिन्द्रियदेहिषु चतुरिन्द्रियेषु देहिषु जीवेषु । षण्मासप्रमितं षण्मासप्रमितम् । आयुः । प्रोक्तं निर्गदितम् ।

शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बारह योजन है, इससे अधिक नहीं, जैसा कि आगममें प्रतिपादित है । त्रीन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण तीन कोश है और चतुरिन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक योजन है ॥२२॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनमें-से क्रमसे एक-एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें बढ़ानी चाहिए । एकैन्द्रिय जीवोंमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, द्वीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन और रसना, त्रीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना और घ्राण, चतुरिन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ॥२२॥ पृथिवीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु जिनागममें बाईस हजार वर्षकी बतलायी गयी है ॥२३॥ जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षकी; वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्षकी, वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्षकी और तेजस्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु केवल तीन दिनकी है ॥२४॥ द्वीन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी और त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक कम पचास दिनकी है ॥२५॥ चतुरिन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह

१. स तान्यपकायिषु । २. आ लेङ् । ३. आ वर्धमानोयम् । ४. = प्रकर्षेण । ५. आ स अस्य पञ्चस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ६. स त्रीन्द्रियजीवेषु ।

तिर्यग्गतिप्रभेदस्य^१ क्रमोऽयं संप्रदर्शितः ।
 कीर्त्यन्ते सांप्रतं केचिद्भेदा नरगतेरपि ॥२७॥
 भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा द्विविधाः स्मृताः ।
 देवकुर्वादिभेदेन स्युस्त्रिशद्भोगभूमयः ॥२८॥
 मध्योत्तमजघन्येन ताश्च त्रेधा व्यवस्थिताः ।
 षट्सहस्राणि चापानामुत्तमासु नृणां प्रमा ॥२९॥
 मध्यमासु च चत्वारि द्वे जघन्यासु कीर्तिते^३ ।
 त्रीणि पत्न्योपमान्यायुर्द्धैकं तास्वनुक्रमात् ॥३०॥
 मद्याङ्गादिभिर्दामिन्नं दशकल्पद्रुमोद्भवम्^४ ।
 पात्रदानप्रभावेण^५ भुञ्जते तत्र ते फलम् ॥३१॥

पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियजीवेषु । पूर्वाणां 'पूर्वं'—प्रतीतानाम् । वर्षाणाम् । एका कोटिरिति^१ । परिकीर्तिता प्रमाणिता ॥२९॥ तिर्यग्गतीति । तिर्यग्गतिप्रभेदस्य तिरश्चां तिर्यग्जीवानां गतेः प्रभेदस्य विकल्पस्य । अयम् एषः । क्रमः परिपाटी । संप्रदर्शितः प्रकीर्तितः । सांप्रतम् इदानीम् । नरगतेरपि नराणां मनुष्याणां गतेरपि भवस्यापि । केचित्^२ कियन्तः । भावाः विकल्पाः । कीर्त्यन्ते प्रदृश्यन्ते । कु शब्दे कर्मणि लट् ॥२७॥ भोगेति । मानुषाः मनुष्याः । भोगकर्मभुवः भोगभूयश्च भोगभूमिश्च कर्मभूयश्च कर्मभूमिश्च तयोः । भेदात् विकल्पात् । द्विविधाः द्विप्रकारकाः । स्मृताः । देवकुर्वादिभेदेन देवकुरुप्रभृतिभेदेन । भोगभूमयः । त्रिंशत् स्युः ॥२८॥ मध्येति । मध्योत्तमजघन्येन मध्येन मध्यमेनोत्तमेनोत्कृष्टेन जघन्येन जघमेन । भेदेन । ताश्च भोग-भूमयः । त्रेधा त्रिधा—त्रिभिः प्रकारैः । 'प्रकारे धा' (?) ['एधाच'] इति धा-प्रत्ययः । व्यवस्थिताः निश्चिताः । उत्तमासु उत्तमभोगभूमिषु । नृणां मनुष्याणाम् । प्रमा-प्रमाणम् । चापानां धनुषाम् । षट्सहस्राणि कीर्तितानि ॥२९॥ मध्येति । मध्यमासु च मध्यमभोगभूमिषु । चत्वारि चतुःसहस्राणि । जघन्यासु जघन्यभोगभूमिषु । द्वे द्विसहस्रे । कीर्तिते प्रकाशिते । तासु भोगभूमिषु । अनुक्रमात् आनुपूर्व्यात्^६ । आयुः आयुष्यम् । त्रीणि पत्न्योपमानि त्रिपत्न्योपमानि । द्वे द्वे द्विपत्न्योपमे च । एकम् एकपत्न्योपमम् । कीर्तितम् ॥३०॥ मध्येति । ते भोगभूमिमानवा । तत्र भोगभूमिषु । पात्रदानप्रभावेण पात्राणां दानानां प्रभावेण माहात्म्येन । मद्याङ्गादिभिर्दामद्याङ्गादीनां मिदा भेदेन । मिश्रदशकल्पद्रुमोद्भवं मिश्रैविकल्पितैर्दामिभिः कल्पद्रुमैरुद्भवमुत्पन्नम् । फलं

मासकी है और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटो की ॥२६॥ यह तिर्यग्गतिके भेदोंका क्रम दिखलाया है, अब मनुष्य गतिके भी कुछ भेदोंकी चर्चा की जा रही है ॥२७॥ भोग-भूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं । देवकुरु और उत्तरकुरु आदि भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीस हैं ॥२८॥ उत्तम, मध्यम और जघन्य इन भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीन प्रकारकी हैं । उत्तम भोगभूमिमें मनुष्योंकी ऊँचाई छह हजार धनुष है ॥२९॥ मध्यम भोगभूमिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है और जघन्य भोगभूमियोंमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है ॥३०॥ पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव

१. स तिर्यगादिप्र^१ २. स क्रमात् त्रेधा । ३. अ आ इ कीर्त्यते । ४. क ल ग घ 'कल्प-तत्कद्रुवम् । ५. अ आ इ प्रभावेन । ६. आ कोटीति । ७. धा 'केचित्' इति नास्ति । ८. आ धा अस्य दलोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९. धा उत्तमोग^१ । १०. स आनुपूर्व्याः ।

आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः कर्मभूमिजाः ।
 भरतादिभिदा पञ्चदश स्तुः कर्मभूमयः ॥३२॥
 शतानि पञ्च चापानां कर्मभूमिनिवासिनाम् ।
 पञ्चविंशतियुक्तानि मानमुत्कृष्टवृत्तितः ॥३३॥
 पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।
 वृद्धिहासौ विदेहे न भरतैरावतेष्विव ॥३४॥
 भरतैरावते वृद्धिहासिनी कालभेदतः
 उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदाबुद्धादौ ॥३५॥
 सागरोपमकोटीनां दश कोटयोऽवसर्पिणी ।
 प्रमाणं तावदेवाहुस्तुत्सर्पिण्याश्च तद्विद्वः ॥३६॥
 सुषमोपपदा प्रोक्ता सुषमा सुषमा ततः ।
 दुःषमा सुषमाद्याभ्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥३७॥

निष्पन्नम् । भुञ्जते अनुभवति । भुज पालनाभ्यवहारयोः सद् ॥३१॥ आर्येति । आर्यम्लेच्छप्रभेदेन आर्याणां म्लेच्छानां प्रभेदेन विकल्पेन । कर्मभूमिजाः कर्मभूमिजनिताः । मनुष्याः । द्विविधाः द्वे विधे प्रकारौ येषां ते । भरतादिभिदा भरतादीनां भिदा भेदेन । आदिशब्देनैरावतविदेहयोर्ग्रहणम् । कर्मभूमयः कर्मभूवः । पञ्चदश पञ्चभिरधिका दश । स्तुः भवेयुः । लिङ् ॥३२॥ शतानीति । कर्मभूमिनिवासिना कर्मभूमिपु निवासिना निवसताम् । उत्कृष्टवृत्तितः^३ उत्कृष्टवर्तनात् । मानं प्रमाणम् । पञ्चविंशतियुक्तानि पञ्चभिरधिकया विंशत्या युक्तानि सद्वृत्तानि । चापानां धनुषाम् । पञ्चशतानि श्रेष्ठानि ॥३३॥ पूर्वति । तेषां कर्मभूमिजमनुष्याणाम् । आयु जीवनम् । पूर्वकोटिप्रमाणं पूर्वकोटिरेव प्रमाणं प्रमितियस्य तत् । प्रकीर्तितं निगदितम् । भरतैरावतेष्विव भरतेषु ऐरावतेषु क्षेत्रेषु इव । विदेहे विदेहक्षेत्रे । वृद्धिहासौ वृद्धिहासौ । न न भवतः ॥३४॥ भरतेति । कालभेदतः कालस्य भेदतो विभागतः^४ । भरतैरावते भरतैरावतक्षेत्रे । वृद्धिहासिनी वृद्धिहासिनी । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ उत्सर्पिणी चावसर्पिणी च तथोक्ते । कालभेदो कालविभागो । उदाहृतो प्रकीर्तितो^५ ॥३५॥ सागरैति । सागरोपमकोटीनां सागरोपमाना कोटीनाम् । दशकोटयः दशकोटिकोटय इत्यभिप्रायः । अवसर्पिणी भवतीति । तद्विद्वः कालभेदज्ञाः । उत्सर्पिण्याश्च । तावदेव दशकोटिकोटय एव । प्रमाणम् । आहुः ब्रुवन्ति । 'ब्रुवन्तिप्यञ्जतः—' इति शेषसादेशः तद्योगे ब्रुव आह—इत्यादेशः ॥३६॥ सुषमेति । सुषमोपपदा सुषमोपपदं यस्याः सा सुषमा इति । प्रोक्ता निगदिता । सुषमासुषमा—इत्यर्थः । ततः पुनः । अन्या इतरा । सुषमा

वहाँपर मछांग आदि दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंको भोगते हैं ॥३१॥ आर्य और म्लेच्छके भेदसे, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य दो-दो प्रकारके होते हैं । भरत आदिके भेदसे कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं ॥३२॥ कर्मभूमियोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाईका उत्कृष्ट प्रमाण पाँच सौ पञ्चोस धनुष है ॥३३॥ कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्व कोटि कहा गया है । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी तरह विदेह क्षेत्रमें वृद्धि और हास नहीं होते ॥३४॥ कालभेदके कारण भरत और ऐरावतमें वृद्धि और हास होते हैं । उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो कालके भेद कहे गये हैं ॥३५॥ अवसर्पिणी दस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है, और उत्सर्पिणीका प्रमाण भी उतना ही है, जितना अवसर्पिणीका है—दस कोड़ाकोड़ी सागर ॥३६॥ सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और दुःषमा-दुःषमा—ये छह भेद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंके कहे गये हैं । हाँ, इनके क्रममें अन्तर पड़

पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया षष्ठी चात्यन्तदुःषमा ।
 प्रत्येकमिति पङ्कमेवास्तयोरुक्ता द्वयोरपि ॥३८॥
 सागरोपमकोटोनां चतस्रः कोटयः स्मृताः ।
 पूर्वा तिस्रो द्वितीया च द्वे तृतीया प्रकीर्तिता ॥३९॥
 द्वाचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः परिवर्जिता ।
 एका कोटी च कोटीनां चतुर्थी परिकीर्तिता ॥४०॥
 पञ्चमी च सहस्राणि वर्षाणामेकविंशतिः ।
 षष्ठी तावत्प्रमाणैव जिनैः कालकलाः स्मृताः ॥४१॥
 म्लेच्छाः खण्डप्रभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।
 म्लेच्छखण्डा यतः पञ्च कथ्यन्ते कर्मभूमिषु ॥४२॥

सुपमेत्यर्थः । सुपमासा सुपमैवाद्ये प्रथमे यस्या सा दुःषमा सुपमादुःपमेत्यर्थः । सुपमान्ता च सुपमैवान्तेऽव-
 साने यस्याः सा दुःषमासुपमेत्यर्थः ॥३७॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चमाना पूरणा । दुःषमा दुःपमेति । ज्ञेया
 ज्ञातव्या । षष्ठी पण्णा पूरणा षष्ठी । 'षट् कति कतिपयात् षट्' इति षट्—प्रत्ययः । अत्यन्तदुःषमा अति-
 दुःषमेत्यर्थः । द्वयोः द्विसंख्ययोः । तयोः उत्सपिष्यव्यसपिष्यो । प्रत्येकमपि पृथगपि । पङ्कमेवाः पङ्क्तिवत्कलाः ।
 लक्षताः उदाहृताः ॥३८॥ सागरेति । पूर्वा सुपमसुपमा । सागरोपमकोटीना चतस्रः कोटयः—चतस्रः सागरो-
 पमकोटीकोटयः—इत्यर्थः । स्मृता । आगमनैरित्येत्येषः । द्वितीया सुपमा । तिस्र तिस्र सागरोपमकोटी-
 कोटयः । तृतीया च सुपमदुःषमा च । द्वे द्वे सागरोपमकोटीकोटयो । प्रकीर्तिता प्रतिपादिता ॥३९॥ द्वेति ।
 चतुर्थी चतुर्णां पूरणा चतुर्थी दुःषमासुपमा । द्वाचत्वारिंशता द्वाभ्यामधिकया चत्वारिंशता । वर्षसहस्रैः वर्षाणां
 सहस्राणि तै । परिवर्जिता रक्षिता । कोटीना सागरोपमाना कोटीना कोटिसंख्यानाम् । एका कोटिः एक-
 सागरोपमकोटिकोटिरित्यर्थः । परिकीर्तिता प्रोक्ता ॥४०॥ पञ्चमीति । पञ्चमी पञ्चमी च दुःषमा । वर्षाणां
 संवत्सराणाम् । एकविंशतिः एकाधिका विंशतिः । सहस्राणि दशशतानि । षष्ठी अतिदुःषमा । तावत्प्रमाणैव
 तावत्प्रमाणं प्रमाणं यस्याः सा, एकविंशतिसहस्रवर्षाणोर्यर्थः । जिनैः जिनैस्वरैः । कालकलाः कालभेदः ।
 स्मृता ज्ञाताः ॥४१॥ म्लेच्छा इति कर्मभूमिषु कर्मयुक्तभूमिषु । यतः यस्मात् । म्लेच्छखण्डाः । पञ्च
 पञ्चसंख्याः । कथ्यन्ते प्रोच्यन्ते । कथं वाक्यप्रबन्धे लट् । खण्डप्रभेदेन खण्डानां विभागानां प्रभेदेन विकल्पेन

जाता है । ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह अवसर्पिणीका है, उत्सर्पिणीका इससे विपरीत है—
 दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुपमा, सुपमा-दुःषमा, सुपमा और सुपमा-सुपमा ॥३७-३८॥
 सुपमा-सुपमा, जो सबसे पहली है, चार कोड़ाकोड़ी सागरकी है, दूसरी सुपमा तीन कोड़ा-
 कोड़ी सागरकी है, तीसरी सुपमा-दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है, चौथी दुःषमा-सुपमा
 बयालीस हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी है, पाँचवीं दुःषमा इक्कीस हजार वर्षकी है और छठी
 दुःषमा-दुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षकी है । इस तरह जिन भगवान्ने कालकी कलाओंका
 वर्णन किया है ॥३९-४१॥ चूँकि भरत आदि कर्मभूमियोमें पाँच म्लेच्छ खण्ड होते हैं,

१ म परिकीर्तिता । २. म म्लेच्छखण्ड । ३. क लक्ष ग च म्लेच्छाः खण्डा । ४. सा दुःषमा दुःपमेति ।
 ५. सा "दुःषमा अतिदुःषमा" = दुःषमादुःषमा—इति यावत् । ६. सा "द्वयोः" इति नोपलभ्यते ।
 ७. आ श अस्य इलोकस्य व्याख्या नास्ति । ८. सा "कोटीत्यर्थः" । ९. सा "दुःषमा । १०. = कालकलाः
 कालभेदाः । ११. = स्मृताः ज्ञाताः ।

आर्याः षट्कर्मभेदेन षोढा भेदमुपायताः ।
 ते गुणस्थानभेदेन स्युश्चतुर्दशधा पुनः ॥४३॥
 मिथ्यासासादनदृष्टौ^१ मिश्राविरतिदर्शनौ ।
 प्रदेशविरतस्तस्मात्प्रमत्तविरतस्ततः ॥४४॥
 स्यादप्रमत्तविरतस्ततोऽपूर्वक्रियः स्मृतः ।
 अनिवृत्तिक्रियस्तस्मात्ततः^२ सूक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥४५॥
 शान्तक्षीणकषायौ^३ च सयोगः केवली स्मृतः ।
 अयोगकेवली चेति गुणस्थानान्यनुक्रमम्^४ ॥४६॥
 इति मानुषभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
 सांप्रतं देवभेदेन कुर्वे क्वचित्प्रपञ्चनम् ॥४७॥
 चतुर्णिकायभेदेन स्मृता देवाश्चतुर्विधाः ।
 असुराद्विकुमाराद्या दशधा तेषु भावनाः ॥४८॥

श्लेच्छाः श्लेच्छमानवाः । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः ॥४२॥ आर्या इति । षट्कर्म-
 भेदेन षण्णा कर्मणां कृत्यानां भेदेन विकल्पेन । आर्याः आर्यस्वर्णजातमनुष्याः । षोढा षडभिः प्रकारैः । भेदं
 विकल्पम् । उपायताः । पुनः पञ्चात् । गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानानां प्रभेदेन विभागन ।
 चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारैः । स्युः भवेयुः । लिङ् ॥४३॥ मिथ्येति । मिथ्यासासादनदृष्टौ मिथ्यादृष्टिसासादन-
 सम्यग्दृष्टौ । मिश्राविरतदर्शनौ मिश्रपरिणाम्यमंयतसम्यग्दृष्टौ । तस्मात् । प्रदेशविरतः देशसंयतः । ततः
 तस्मात् । प्रमत्तविरतः प्रमत्तसंयतः ॥४४॥ स्यादिति । ततः परम् । अप्रमत्तविरतः अप्रमत्तसंयतः ।
 स्यान् भवेत् । अपूर्वक्रियः अपूर्वगुणस्यापकः । स्मृतः ज्ञातः । ततः तस्मात् परम् । अनिवृत्तिक्रिय
 अनिवृत्तिकरणः । ततः परम् । सूक्ष्मः सूक्ष्मसाम्परायः । प्रकीर्तितः प्रोक्तः ॥४५॥ शाम्णेति । शान्त-
 क्षीणकषायौ च उपशान्तकषायक्षीणकषायौ च । सयोगः योगसहितः । केवली सयोगकेवली भगवान्^५ ।
 अयोगकेवली चेति अयोगिभगवान् चेति । अनुक्रमम् अनुक्रमेण । गुणस्थानानि चतुर्दशगुणस्थानभेदाः ।
 स्युः ॥४६॥ हर्षति । इति एवम् । मानुषभेदेन मानुषाणां भेदेन विकल्पेन । जीवनिरूपणा जीवस्य जीव-
 तत्त्वस्य निरूपणा । कृता विहिता । सांप्रतम् इदानीम् । देवभेदेन देवानां भेदेन विकल्पेन । क्वचित्
 ईषत् । प्रपञ्चनं विवरणम्^६ । कुर्वे करोमि । लट् ॥४७॥ चतुर्णिकायेति । चतुर्णिकायभेदेन चतुर्णां निकायानां
 समूहानां भेदेन विकल्पेन । देवाः मुराः । चतुर्विधाः चतुःप्रकाराः । स्मृता ज्ञाताः । तेषु देवेषु । असुरा-
 दिकुमाराद्याः असुरकुमारनागकुमारमुस्याः । भावनाः भवनजाताः । दशधा दशभिः प्रकारैः । प्रोक्ताः ॥४८॥

अतः उनके खण्डोंकी दृष्टिसे श्लेच्छ मनुष्य भी पाँच प्रकारके कहे गये हैं ॥४२॥ अति
 आदि छह कर्मोंकी दृष्टिसे आर्य मनुष्य छह प्रकारके होते हैं, और मिथ्यात्व आदि चौदह गुण-
 स्थानोंके भेदकी दृष्टिसे चौदह प्रकारके ॥४३॥ मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र, अविरत
 सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय,
 उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—ये क्रमसे चौदह गुणस्थान
 होते हैं ॥४४-४६॥ इस प्रकार मनुष्योंके भेदकी दृष्टिसे जीवोंका निरूपण किया, अब
 देवोंके भेदकी दृष्टिसे कुछ विस्तार पूर्वक जीवोंका निरूपण करते हैं ॥४७॥ निकायोंके भेदकी
 दृष्टिसे देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । इनमेंसे

१. म "विषी मिश्राः" । २. म "क्रियास्तम्भात्" । ३. म शान्तक्षीण" । ४. आ इ "नुक्रममात्" । ५. आ
 "केवलभगवान्" । ६. आ विवरणम् । ७. = कथिताः ।

किन्नरादिप्रभेदेन व्यन्तरादृष्ट्या स्मृताः ।
 सूर्यचन्द्रादिभेदेन^१ ज्योतिष्काः पञ्चधा स्मृताः ॥४९॥
 वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः कल्पातीताश्च कल्पजाः ।
 सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पजाः परिकीर्तिताः^२ ॥५०॥
 नवग्रहेष्वेकविंशत्याः कल्पातीताः प्रवर्णिताः ।
 सर्वाथसिद्धिपर्यन्ताः समृद्धाद्यध्विचक्षुषः ॥५१॥
 तन्नासुरकुमाराणां प्रमाणं पञ्चविंशतिः ।
 धनूंषि दश चापानि शेषाणां भवनक्षिताम् ॥५२॥
 दशसप्तधनुर्माना व्यन्तरा^३ ज्योतिषामराः ।
 सौधर्मेशानयोर्मानं सप्त हस्ता विवौकसाम् ॥५३॥
 सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः षट् प्रकीर्तिताः ।
 ब्रह्मकापिष्ठयोः पञ्च तन्मभ्यगतयोरपि ॥५४॥

किन्नरेति । व्यन्तरादृष्ट व्यन्तरामराश्च । किन्नरादिप्रभेदेन किन्नरादीनां प्रभेदेन विभागेन । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः । ज्योतिष्काः ज्योतिष्कदेवाः । सूर्यचन्द्रादिभेदेन सूर्यचन्द्रमःप्रमुखानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः ॥४९॥ वैमानिका इति । वैमानिकाः कल्पाामराः । कल्पातीताश्च कल्पातीतदेवाश्च । कल्पजाः सौधर्मादिकल्पजनिताः । द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् । प्रोक्ताः निगदिताः । सौधर्मादिषु सौधर्मप्रभृतिषु । कल्पेषु स्वर्गेषु । कल्पजा इति । परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५०॥ नवेति । नवग्रहेष्वेकविंशत्याः नवग्रहेष्वेकविंशतिषु विमानेषु^४ स्थाः स्थिताः । सर्वाथसिद्धिपर्यन्ताः सर्वाथसिद्धिरेव पर्यन्तोऽवसानं येषां ते । समृद्धाद्यध्विचक्षुषः समृद्धं संपूर्णमवधिरेवावधिज्ञानमेव चक्षुर्धेया ते^५ । कल्पातीताः कल्पातीतामराः । प्रकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५१॥ तत्रेति । तत्र चतुर्णिकाये । भवनक्षिता भवनवासिनाम् । असुरकुमाराणाम् । पञ्चविंशतिः पञ्चविंशदधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । धनूंषि चापानि । प्रमाणं प्रमितिः । शेषाणाम् अशेषिष्ठानाम् । दश कर्मुकाणि परिकीर्तितानि ॥५२॥ दशेति । व्यन्तराः व्यन्तरदेवाः । ज्योतिषामराः ज्योतिष्कदेवाः । दशसप्तधनुर्मानाः दश च सप्त च तथोक्तानि दशसप्तधनूंष्येव मानं प्रमाणं येषां ते स्मृ । सौधर्मेशानयोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । विवौकसा देवानाम् । मानं प्रमाणम् । सप्त हस्ताः स्मृः ॥५३॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सनत्कुमारकल्पमाहेन्द्रकल्पयोः । षट् षट् हस्ताः । प्रकीर्तिताः भाषिताः । ब्रह्मकापि-

भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार आदि ॥४८॥ किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर आठ प्रकारके होते हैं, तथा ज्योतिष्क देव सूर्य और चन्द्र आदिके भेदसे पञ्च प्रकारके ॥४९॥ वैमानिक देव दो प्रकारके कहे गये हैं—कल्पवासी और कल्पातीत । सौधर्म आदि कल्पोंमें रहनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं ॥५०॥ नवग्रहेष्वेक आदिमें स्थित देव कल्पातीत कहलाते हैं, जिनमें प्रथम ग्रहेष्वेकसे सर्वाथसिद्धि तकके देव गिने जाते हैं । इन सबका अवधिज्ञान उत्तरोत्तर प्रबल होता है । यही ज्ञान उनका नेत्र है ॥५१॥ भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं । उनमें असुर कुमारोंके शरीरकी ऊँचाई पञ्चोस धनुष है और शेष नौके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष ॥५२॥ व्यन्तरों और ज्योतिष्क देवोंके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई सात हाथ (अरति) है ॥५३॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई छह हाथ (अरति) है । ब्रह्म,

१. अ आ इ क ख ग घ सूर्याचन्द्रा^१ । २. अ क ख ग घ परिवर्णिताः । ३. अ आ इ^२ व्यन्तरज्योति^३ ।
 ४. = तिष्ठन्तीति नवग्रहेष्वेकविंशत्याः । ५. अ आ इ^४ येषां तेषाम् ।

चत्वारः शुक्रमारभ्य हस्ताः प्रागानतात् स्मृताः ।
 आनते प्राणते चापि त्रयः सार्धाः प्रवर्णिताः ॥१५॥
 आरणाच्युतयोर्हस्ताभ्याः समनुवर्णिताः ।
 अधोऽग्रैवेयकेष्वुक्तौ त्रिषु द्वावर्धसंयुतौ ॥१६॥
 द्वावरत्नी^१ समाभ्यातौ मध्यग्रं वेयकत्रये ।
 अधेन सहितौ रत्निरुध्वग्रं वेयकत्रये ॥१७॥
 प्र वेयकविमानेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ।
 सागरोपममुत्कर्षादायुर्भवनवासिनाम् ॥१८॥
 अधिकं व्यन्तराणां तु पत्न्योपममुदाहृतम् ।
 दशवर्षसहस्राणि जघन्यमुभयेष्वपि ॥१९॥

छयोः ब्रह्मकापिष्ठकल्पयोः । तन्मध्यगतयोरपि तयोर्ब्रह्मकापिष्ठकल्पयोर्भग्यगतौ ब्रह्मोत्तरलान्तबकल्पी तयोरपि ।
 पञ्च हस्ता इत्यर्थः ॥१५॥ चत्वार इति । शुक्रं शुक्रकल्पम् । आरम्भ उपक्रम्य । आनतात् आनतकल्पात् ।
 प्राक् पूर्वम् । चतुःकल्पेषु । चत्वारः । हस्ताः अरत्नयः । स्मृताः आताः । आनते आनतकल्पे । प्राणते
 प्राणतकल्पे चापि । सार्धाः अर्धेन सहिताः । त्रयः^२ त्रिहस्ताः । प्रवर्णिताः प्रकीर्तिताः ॥१५॥ आरणेति^३ ।
 आरणाच्युतयोः आरणाच्युतकल्पयोः । त्रयो हस्ताः । समनुवर्णिताः परिकीर्तिताः । त्रिषु त्रिसंख्येषु । अधोऽग्र-
 वेयकेषु हेष्टमादि-(?) ग्रंथेयकेषु । अर्धसहितौ दलेन सहितौ । द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ ॥१६॥ द्वाविति ।
 मध्यग्रंवेयकत्रये मध्यग्रंवेयकत्रये मध्यग्रंवेयकाणां त्रये त्रितये । द्वौ च (अ-) रत्नौ हस्तौ । समाभ्यातौ कथितौ ।
 ऊर्ध्वग्रंवेयकत्रये ऊर्ध्वग्रंवेयकाणामुपरिग्रंवेयकाणां त्रये । अर्धेन दलेन । सहितः युतः । रत्निरुध्वं हस्तः ।
 प्रोक्तः ॥१७॥ ग्रैवेयकेति । ग्रंथेयकविमानेभ्यः ग्रंथेयकेभ्यो विमानेभ्यः । परे अये । प्रवर्तमानाः । सुराः देवाः ।
 हस्तप्रमाः हस्त एव प्रमा प्रमाणं येषां ते । भवनवासिनां भवनवासिदेवानाम् । आयुः आयुष्यम् । उत्कर्षात्^४
 उत्कृष्टात् । सागरोपमं सागरोपमप्रमाणम् ॥१८॥ अधिकमिति^५ । व्यन्तराणां तु व्यन्तरदेवानां तु । अधिकम्^६
 उत्कृष्टमायुः । पत्न्योपमं पत्न्योपमप्रमाणम्^७ । (उत्कृष्टमायुः) । उदाहृतं प्रोक्तम् । उभयेष्वपि व्यन्तरभवन-

ब्रह्मोत्तर, लान्तब और कापिष्ठ स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊँचाई पाँच हाथ (अरत्नि) है ॥१५॥
 शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन आनतसे पहलेके चार स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई
 चार हाथ है । आनत और प्राणत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ (अरत्नि) है
 ॥१५॥ आरण और अच्युत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है । तीनों अधो-
 ग्रंवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई ढाई अरत्नि कही गई है ॥१६॥ तीनों मध्यम
 ग्रंवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई दो अरत्नि माने गई हैं और तीनों ऊर्ध्व ग्रंवेयकोंमें देवोंके
 शरीरकी ऊँचाई डेढ़ अरत्नि कही गई है ॥१७॥ ग्रैवेयकोसे ऊपरके सभी देवोंके शरीरकी
 ऊँचाई एक अरत्नि है । भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है ॥१८॥ व्यन्तर
 देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पत्न्योपम कही गयी है । भवनवासी और व्यन्तर इन

१. स प्रागानताः । २. अ आ इ^३ नुब्रविताः । ३. स द्वारवर्त्तः । ४. = त्रयो हस्ताः । ५. आ
 सार्धाः अर्धेन सहितौ द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ । ६. स आरणेत्यादि । ७. आ अस्थ दलोकस्य व्याख्या नास्ति ।
 ८. स रत्निरुध्वं इति नास्ति । ९. प्रकर्षतः । १०. आ स 'अधिकमिति' इति नास्ति । ११. = साधिकम् ।
 १२. स पत्न्योपमं कल्पप्रमाणम् ।

ज्योतिष्काणां^१ तु देवानामधिकं पल्यमीरितम् ।
 पल्यस्यैवाष्टमो भागो जघन्येन प्रकीर्तितः ॥६०॥
 जिनैः साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः स्मृतम् ।
 द्वौ सागरोपमाबायुः सौधमैशानकल्पयोः ॥६१॥
 सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त कीर्तिताः ।
 ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे दशैव परिवर्णिताः ॥६२॥
 स्मृता लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च चतुर्दश ।
 ततः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशोदिताः ॥६३॥
 अष्टादश शतारे च सदञ्जारे च संमताः ।
 आनते प्राणते चापि विशतिः समुदीरिताः ॥६४॥
 आरणाच्युतकल्पे च द्वाविंशतिरनुस्मृताः ।
 एकैकेन ततो वृद्धिर्याश्विंशशतत्रयाधिकाः ॥६५॥

वासिष् । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दशवर्षसहस्राणि दशाना वर्षाणां महत्याणि । अनुवर्णितानि ॥६९॥ ज्योति-
 ष्काणामिति । ज्योतिष्काणां च देवानां ज्योतिष्कदेवानाम् । अधिकम्^२ उत्कृष्टायुष्यम् । पल्यं पल्यप्रमाणमिति ।
 ईरितं प्रोक्तम् । जघन्येन जघन्यरूपेण । पल्यस्यैव पल्यप्रमाणस्य । अष्टमः अष्टानां पुरणः । भागः अश्वः । प्रकीर्तितः
 प्रोक्तः ॥६०॥ जिनैरिति । साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः साक्षात्कृतानि प्रत्यक्षोक्तान्यशेषाणि समस्तानि
 त्रिजगत्सु भुक्तेषु विद्यमानानि वस्तूनि यैस्तैः । जिनैश्चरैः । सौधमैशानकल्पोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । आयुः
 आयुष्यम् । द्वौ सागरोपमौ सागरोपमप्रमाणाविति । स्मृतं ज्ञातम् ॥६१॥ सनत्कुमारैः । सनत्कुमारमाहेन्द्र-
 कल्पोः । तृतीयकल्पचतुर्थकल्पयोः । सप्त सप्तसागरोपमा । कीर्तिता निरूपिता । ब्रह्मब्रह्मोत्तरे पञ्चम (मे)
 षष्ठे च । कल्पे स्वर्गे । दशैव दशसः सागरोपमा एव । परिवर्णिता ॥६२॥ स्मृता इति । लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च
 सप्तमकल्पाष्टमकल्पयोश्च । चतुर्दश चतुर्दशसागरोपमा इति । स्मृता ज्ञाता । ततः पञ्चान् । शुक्रमहाशुक्र-
 कल्पयोः । षोडश षोडशसागरोपमा इति । समुदीरिता^३ [उदिताः] निगदिता ॥६३॥ अष्टेति ।
 शतारे च एकादशे कल्पे च । महसारे च द्वादशकल्पे च अष्टादश अष्टभिर्गणिका दश तथोक्ताः—अष्टादश
 सागरोपमाः । ‘द्वाष्टात्रयोऽनर्गीतौ—’ इति द्वा-(अष्टा-) आदेशः । समताः अमृतागताः । आनते आनतकल्पे ।
 प्राणते चापि प्राणतकल्पे चापि । विशतिः विशतिसागरोपमा इति । समुदीरिता निरूपिताः ॥६४॥ आरणेति ।
 आरणाच्युतकल्पे च आरणे आरणकल्पे अच्युतकल्पे च । अच्युतकल्पे च । द्वाविंशति द्वाविंशतिसागरोपमा इति ।
 अनुस्मृता । मुनिरूपिताः । ततः परम् । यावत् यावन् पर्यन्तम् । त्रयाधिका त्रयेणाधिका, त्रिभिर्गणिका इत्यर्थः ।

दोनौकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥६९॥ ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे
 कुछ अधिक कहो गयी है और उनकी जघन्य आयु पल्यका आठवाँ भाग कहा गया है ॥६०॥
 तीन लांकोंकी सारा वस्तुओका साक्षात्कार करनेवाले भगवान् जिनैन्द्रने सौधर्म और ऐशान
 स्वर्गमें देवोंकी आयु दो सागरोपम बतलाई है ॥६१॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंकी
 आयु सात सागरोपम कहो गयी है तथा ब्रह्म और ब्रह्मान्तर स्वर्गमें केवल दस सागरोपम
 ॥६२॥ लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें चौदह सागरोपम तथा शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह
 सागरोपम आयु कहो गई है ॥६३॥ शतार और सहस्रारमें अष्टादश सागरोपम तथा आनत और
 प्राणतमें बीस सागरोपम आयु है ॥६४॥ आरण और अच्युतमें बाईस सागरोपम आयु है । इस
 तरह सोलह स्वर्गों के देवोंकी आयुका प्रमाण बतलाया गया है । इन स्वर्गों के ऊपर नी ग्रेवैयकों,

१. अ ज्योतिषाणां । २. अधिकम् । ३. आ समुदीरिताः ।

इति गत्यादिभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
 कुर्वे संप्रत्यजीवस्य किञ्चिद् अनिरूपणम् ॥६६॥
 धर्माधर्माव्याकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
 अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥६७॥
 एतान्येव सजीवानि षड् द्रव्याणि प्रचक्षते ।
 कालहीनानि पञ्चास्तिकायान्तान्येव कीर्तितः ॥६८॥
 जलवन्मस्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम् ।
 जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः ॥६९॥
 लोकाकाशमभिव्याप्य संस्थितो मूर्तिवर्जितः ।
 नित्यावस्थितिसंयुक्तः सर्वज्ञानगोचरः ॥७०॥

त्रिशत् त्रिशत्सागरोपमा इति । एकैकेन एकैकसागरोपमेण । वृद्धिः प्रवृद्धिः । कीर्तितः ॥६५॥ इतीति । इति एवम् । गत्यादिभेदेन गत्यादीनां भेदेन विकल्पेन जीवनिरूपणा जीवतत्त्वप्ररूपणा^१ । कृता विहिता । संप्रति इदानीम् । अजीवस्य अजीवतत्त्वस्य । रूपनिरूपणं रूपस्य स्वरूपस्य निरूपणमनुवर्णनम् । किञ्चित् स्तोकम् । कुर्वे कुर्वे विवधाभीति वा ॥६६॥ धर्मेति । अथ अनन्तरम् । अजीवः अजीवतत्त्वमिति । धर्माधर्मौ धर्मद्रव्याधर्मद्रव्ये । आकाशम् आकाशद्रव्यम् । कालः कालद्रव्यम् । पुद्गल इति पुद्गलद्रव्यमिति ।^२ जिनागमविशारदैः जिनागमे विशारदैः प्रोदैः । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । ज्ञेयः वेदितव्यः ॥६७॥ एतानीति । सजीवानि जीवतत्त्वसहितानि । एतान्येव धर्माधर्मादीन्येव । षड् द्रव्याणीति । प्रचक्षते कुर्वते । चक्षि व्यकृत्या वाचि । कालहीनानि कालेन कालद्रव्येण हीनानि रहितान्येव । षड् द्रव्याण्येव । पञ्चास्तिकायाः पञ्चास्तिकाया इति । कीर्तितः निरूपितः ॥६८॥ जलवदिति । तत्र षड्द्रव्येषु । मस्ययानस्य मस्यस्य मोनस्य यामस्य गमनस्य । जलवत् सलिलवत् । यः । जीवादीनां जीवादिप्रभृतीनाम् । द्रव्याणाम् । स धर्मः धर्मपदार्थ इति । परिवर्णितः निरूपितः ॥६९॥ लोकेति । लोकाकाशं लोके वर्तमानमाकाशं तथोक्तम् । अभिव्याप्य व्यापयित्वा । संस्थितः आस्थितः^३ । मूर्तिवर्जितः मूर्तिवर्जितो रहितः । नित्यावस्थितिसंयुक्तः नित्यया अवस्थित्या संयुक्तः सहितः ।

नौ अनुदिशों और पाँच पञ्चोत्तरोमें क्रमशः एक-एक सागरको आयु बढ़ती जाती है, जो सर्वार्थसिद्धिमें तेतोस सागरोपम तरु होती है—पहले प्रवेयकमें तेईस सागरकी आयु है, इससे ऊपरके प्रवेयकोंमें एक-एक सागरकी आयु बढ़नी जाती है । फलतः अन्तिम प्रवेयकमें इकतीस सागरकी आयु है । नौ अनुदिशोंमें बत्तीस सागरकी आयु है और पाँच पञ्चोत्तरोमें तेतोस सागरकी ॥६५॥ इस प्रकार गति आदिके भेदकी दृष्टिसे जीवका निरूपण किया । अब कुछ अजीवके स्वरूपका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ जैन आगमके विशारदोंके द्वारा जानने योग्य अजीव द्रव्य पाँच प्रकारके हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल भी ॥६७॥ इन पाँच द्रव्योंमें जीव द्रव्यको मिला दिया जाय तो छह द्रव्य हो जाते हैं, और इनमेंसे काल द्रव्य निकाल दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते हैं ॥६८॥ जिस प्रकार मछलियोंके चलनेमें जल सहायक होता है, उसी प्रकार जो जीवों और पुद्गलोंको चलनेमें सहायक हो—उनके गमनमें कारण हो, उभे धर्म द्रव्य कहते हैं (इसीको आधुनिक विज्ञान ईश्वर कहता है) ॥६९॥ धर्म द्रव्य सारे लोकाकाशमें व्याप्त है, अमूर्तिक है और है नित्य । अमूर्तिक होनेसे यह इन्द्रिय गोचर नहीं

१. अ. 'मभिव्याप्य' । २. वा 'तत्त्वरूपणा' । ३. वा जीवागमे । ४. वा जीवागमे । ५. वा आस्थितः ।

द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।
 लोकाभिः व्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥७१॥
 नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।
 चराचराणि भूतानि यत्रासंवाधमासते ॥७२॥
 धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रकीर्तिताः ।
 प्रदेशाः सकलज्ञानैर्व्योमानस्तप्रदेशकम् ॥७३॥
 वर्तनालक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम् ।
 परिणामोपकारेण पदार्थानां प्रवर्तते ॥७४॥
 क्रियां दिनकरादीनामुदयास्तमयात्मिकाम् ।
 प्रविहायपरः कालो नास्तीत्येके प्रवृत्तते ॥७५॥

सर्वज्ञानगोचर. सर्वज्ञस्य सर्ववेदिनो ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य गोचरो विषय इति प्रोक्तः ॥७०॥ द्रव्याणामिति ।
 अधर्मः अधर्मद्रव्यम् । पुद्गलादीनां पुद्गलप्रभृतीनाम् । द्रव्याणां द्रव्यरूपणाम् । स्थितिकारणं स्थितेः कारणम् ।
 धर्मवत् धर्मद्रव्यवत् । अधर्मोऽपि अधर्मद्रव्यमपि । लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मं लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मो यस्य स
 इति । निगदितः ॥७१॥ नित्यमिति । यत्र चराचराणि स्थावरजङ्गमानि । भूतानि भूतद्रव्याणि । असंवाधम् ।
 आसते तिष्ठन्ति । नित्यं स्थिररूपम् । व्यापकं व्यापकरूपम् । अवगाहैकलक्षणम् अवगाह एव एकं मुख्यं लक्षणं
 यस्य तत् । आकाशम् आकाशद्रव्यमिति । प्रकीर्तितम् ॥७२॥ धर्मेति । सकलज्ञानं केवलज्ञानयुतं । धर्माधर्मैक-
 जीवानां धर्मद्रव्यस्याधर्मद्रव्यस्यैकजीवस्य च । असंख्येया संख्यातुमयोग्याः^१ । प्रदेशाः । प्रकीर्तिताः निरूपिताः ।
 व्योम आकाशम् । अनन्तप्रदेशकम् अनन्ता निरवसानाः प्रदेशा यस्य तत् । प्रोक्तम् ॥७३॥ वर्तनेति
 वर्तनालक्षणः वर्तनेव परिणाम एव लक्षणमसाधारणस्वरूपं^२ यस्य सः । कालः कालद्रव्यम् । स्वयं परिणामिनां
 स्वयमेव परिणामिना परिणामसंहितानाम् । पदार्थानां द्रव्याणाम् । परिणामोपकारेण परिणामस्य परिणमनस्यो-
 पकारेणोपयाहकेण^३ । प्रवर्तते तिष्ठति । वृत्तु^४ वर्तने लट् ॥७४॥ क्रियामिति । दिनकरादीनां सूर्यप्रभृतीनाम् ।
 उदयास्तमयात्मिकाम् । उदयास्तमयावेवास्या स्वरूपं यस्याः ताम् । क्रियां कृत्याम् (?) । प्रविहाय परित्यज्य ।
 अपरः अन्यः । कालः कालद्रव्यम् । नास्तीति न विद्यत इति । केचित् । प्रवृत्तते वृत्तन्ति । वक्ति व्यक्तयामा

है, सर्वज्ञके ज्ञानका गोचर (विषय) है ॥७०॥ पुद्गल आदि द्रव्योकी स्थितिमें जो द्रव्य कारण
 है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । यह अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्यको तरह सारे लोकाकाशमें व्याप्त
 है, अमूर्तिक है और है नित्य ॥७१॥ आकाश नित्य और व्यापक है । जीव आदि समस्त द्रव्योंके
 अवगाहन देना, उसका लक्षण है । उसमें जङ्गम-व्रत और स्थावर सभी जीव बिना किसी
 बाधाके रहा करते हैं ॥७२॥ सर्वज्ञ भगवानने धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्येय प्रदेश
 बतलाये हैं । आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं ॥७३॥ वर्तना जिसका लक्षण है वह निश्चय
 काल है । वह स्वयं परिणमनशील पदार्थोंके परिणमनमें कारण है । परिणमन कराना उसका
 उपकार है, जिसके निमित्तसे दूसरोंके परिणमन करानेमें प्रवृत्त होता है ॥७४॥ सूर्य आदिकी
 उदय एवं अस्त आदि क्रियाओंको छोड़कर और कोई काल द्रव्य नहीं है, यह कुछ लोग कहते

१. क ल ग घ म लोकेऽभि । २. म प्रदर्शकम् । ३. = संख्यातुमशक्याः । ४. ल "रणकम्" ।
 ५. = उपग्रहेण । ६. आ वृत्तम् । ७. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिष्ठा तु सर्वास्वपि "मयादिकाम्" इत्येव
 समुपलभ्यते ।

तत्र युक्तं क्रियायां हि लोके काल इति ध्वनिः ।

प्रवृत्तो गीणवृत्त्यै वाहोक् इव गोध्वनिः ॥७६॥

न च मुख्याद्वृत्ते गीणकल्पना नरसिंहवत् ।

तस्माद् द्रव्यस्वभावोऽप्यो मुख्यः कालोऽस्ति कश्चन ॥७७॥

रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान् पुद्गलः स्मृतः ।

अणुस्कन्धप्रभेदेन त्रिस्वभावतया स्थितः ॥७८॥

पृथिव्याविस्वरूपेण स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः ।

छायातपादिरूपेण बहुधा स विविच्यते ॥७९॥

वाचि लट् ॥७५॥ तदिति । तत् उदयादि^१ । युक्तं युक्तियुक्तम् । न न भवति । लोके भुवने । क्रियायां कृत्यायाम् (?) । काल इति कालद्रव्यमिति । ध्वनिः शब्दः । वाहके मारवाहके । गोध्वनिः गौः इति शब्द इव । गीणवृत्त्यै गीणवर्तनेनैव^२ । प्रवृत्तः स्थितः ॥७६॥ नेति^३ । न च मुख्याद् ऋते मुख्यं पदार्थं विना । नरसिंहवत् नरसिंह इव । गीणकल्पना गीणस्य कल्पना भवितुमर्हति । यथा असाधारणं पराक्रमगुणं दृष्ट्वा नरः सिंहत्वेनोपचर्यते—नरो नरसिंहत्वेन व्यवह्रियते । परं पराक्रमवन्तं वास्तविकं सिंहं विना नरसिंह इति गीण-प्रयोगोऽसंभव एव । तस्मात् तस्मात् कारणात् । द्रव्यस्वभावः द्रव्यस्वभावोपेतः । कश्चन कश्चित् । अन्यः क्रियामान्नत्वेन स्वीकृतव्यवहारकालाद् भिन्नः । मुख्यः कालः निश्चयकालः । अस्ति वर्तते । 'कस्यते ज्ञायते निश्चयीयते सङ्ख्यायते समयादिभिः पर्यादेर्मुख्यः कालो निर्णीयते यः स कालः ।' ॥७७॥ रूपेति । रूपगन्धरस-स्पर्शशब्दवान् रूपेण गन्धेन रसेन स्पर्शेन शब्देन च युक्तः । पुद्गलः पुद्गलद्रव्यमिति । स्मृतं ज्ञातः । अणु-स्कन्धप्रभेदेन अणूनां सूक्ष्माणां स्कन्धानां स्थूलानां प्रभेदेन विकल्पेन । त्रिस्वभावतया त्रिरूपतया । स्थितः प्रवृत्तः ॥७८॥ पृथिव्यादीति । स' पुद्गलः । स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः स्थूलादीनां बादरादीनां दृष्टमादीनां भेदतो विकल्पात् । पृथिव्यादिस्वरूपेण पृथिव्यादीनाम्, बादिशब्देन अप्सरेजीवाद्यादीनां स्वरूपेण स्वभावेन । छायातपादि-

हे ॥७५॥ उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि उदय आदि क्रियाओंके होनेपर लोकमें जो 'काल' व्यवहार होता है, वह गीण रूपसे ही (लक्षणासे ही) प्रवृत्त हुआ है । जैसे वाहीकमें लक्षणासे 'बैल' का व्यवहार होता है । वाहीक—हल चलानेवाला मनुष्य, मनुष्य है और बैल, बैल है, दोनोंमें अत्यन्त भेद है, पर बैलमें जो जड़ता और मन्दता होती है, वही हल चलाने-वालेमें भी यदि हो तो उसे भी लोग गीण रूप (लक्षणा या उपचार) से बैल कह दिया करते हैं । इसी तरह निश्चयकाल एक पृथक् पदार्थ है और सूर्यके उदय आदिकी क्रियाएँ पृथक्, फिर भी इन क्रियाओंमें जो 'काल' व्यवहार होता है वह गीण है ॥७६॥ और मुख्यके बिना गीण व्यवहारकी कल्पना ही नहीं हो सकती । सिंहके बिना मनुष्यमें नरसिंहका व्यवहार नहीं हो सकता । सिंह पराक्रमी होता है । यदि कोई मनुष्य भी पराक्रमी हो तो उसमें भी 'सिंह' का व्यवहार होने लगता है । अतएव काल नामक कोई मुख्य पदार्थ अवश्य है, जो उदय आदिमें होनेवाले व्यवहार कालसे भिन्न है; क्योंकि उसमें द्रव्यका लक्षण घटित होता है ॥७७॥ जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं, और वह अणु एवं स्कन्धके भेदसे दो प्रकारका है । उसमें पूरण और गलनका स्वभाव पाया जाता है, इसीलिए तो वह पुद्गल कह-लाता है, और इसीलिए उसमें अणु और स्कन्ध भेद घटित हो जाते हैं ॥७८॥ स्थूल और सूक्ष्म आदि भेदोंकी दृष्टिसे वह पुद्गल पृथिवी आदिके रूपमें या छाया एवं आतप आदिके रूप-

१. अ कस्य न । २. अ'स्यव्याः । ३. = कथनम् । ४. = लक्षणद्वय । ५. आ क्ष अस्य दलोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते ।

शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापानाद्विपर्ययैः ।
 प्राणिनामुपकाराय स सर्वेषां प्रवर्तते ॥८०॥
 विभक्तमित्यजीवस्य रूपमागमवर्णितम् ।
 संप्रत्यासन्नतत्त्वस्य किञ्चिद् रूपं निरूप्यते ॥८१॥
 कर्मणामागमद्वारमास्रवं संप्रचक्षते ।
 स कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥८२॥
 शुभः पुण्यस्य पापस्य विपरीतः प्रकीर्तितः ।
 सकषायोऽकषायश्च तस्य द्वौ स्वामिनौ स्मृतौ ॥८३॥
 तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिहृद्यनादयः ।
 ज्ञानावृत्तिदृग्वाङ्मनोरास्रवत्त्वेन वर्णिताः ॥८४॥

रूपेण ज्ञायातपादीनाम्, आदिकण्डेन उलोतादीनां रूपेण स्वभावेन । बहुधा बहुभिः प्रकारैः । विभिद्यते विकल्प्यते । मिदं विदारणे कर्मणि लट् ॥७९॥ शरीरेति । सः पुद्गलः । शरीरेन्द्रियरूपेण शरीराणां देहानामिन्द्रियाणां च रूपेण स्वरूपेण । प्राणापानाद्विपर्ययै प्राणापानादिभिरुच्छ्वासनिश्वासादिभिः पर्ययै, परिणामैः । सर्वेषां समत्तानाम् । प्राणिना जीवानाम् । उपकाराय उपकृतये । प्रवर्तते आसते । वृत्तुद् वर्तने लट् ॥८०॥ विभक्तमिति । आगमवर्णनम् आगमेन जिज्ञासनेन वर्णितं प्रोक्तम् । अजीवस्य अजीवद्रव्यस्य । रूपं स्वरूपम् । इति उक्तप्रकारेण । विभक्तं विभागनं प्रणीतम् । संप्रति इदानीम् । आसन्नतत्त्वस्य आसन्नवपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । किञ्चित् ईदृशं । निरूप्यते प्रकीर्त्यते । रूपं रूपाक्रियाया कर्मणि लट् ॥८१॥ कर्मणि । कर्मणा ज्ञानावस्थादीनाम् । आगमनद्वारम् आगमनस्य द्वारम् । आस्रवम् । संप्रचक्षते प्रतिपादयन्ति । सः आस्रवः । कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनासि तेषां कर्म कायवाङ्मनस्कर्म, कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, तस्य भावः तेन । व्यवस्थितः । 'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इति वचनात् ॥८२॥ शुभ इति । शुभः प्रशस्ताशुभः । पुण्यस्य शुभकर्मसिद्धस्य । विपरीतः अनुभासवः । पापस्य अशुभकर्मसिद्धस्य । इति प्रकीर्तितः प्रकृषितः । सः साम्प्रदाय (मि) क जीवः । तस्य आस्रवस्य । कषायः क्रोधादि सहितः [सकषायः^३] । अकषायः क्रोधादिरहितः इति । [तस्य^४] । द्वौ द्विसंख्यौ । स्वामिनौ कर्तारौ । स्मृतौ ज्ञातौ ॥८३॥ तत्रेति । तत्र आस्रवे । आसादनमात्सर्यगुरुनिहृद्यनादय आसादनं ज्ञानवत्तु त्रिनयामावः तच्च, मात्सर्यं तेषु मत्सरत्वं तच्च, गुरुनिहृद्यो गुरुषु नष्टागुरुषु निहृद्योऽपलापः । स च तथोक्ता आसादनमात्सर्यगुरुनिहृद्यना आदयो^५ येषां ते । ज्ञानावृत्तिदृग्वाङ्मनोः ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः । आस्रवत्त्वेन आगमत्त्वेन । वर्णिताः निरूपिताः ॥८४॥

में नाना प्रकारसे विभक्त हो जाता है ॥७९॥ शरीर, इन्द्रिय और इवासोच्छ्वास आदिके रूपमें वह पुद्गल सभी प्राणियोंके उपकारमे लगा हुआ है ॥८०॥ इस प्रकारसे अजीव तत्त्वके भेदों और उनके स्वरूपका आगमानुसार वर्णन किया, अब थोड़ा-सा आस्रव तत्त्वका निरूपण किया जा रहा है ॥८१॥ कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं, वह मन, वचन और कायकी चंचलता (योग) से होता है ॥८२॥ शुभ यो पुण्यास्रवका और अशुभ योग पापास्रवका कारण है । उस आस्रवके स्वामी दो हैं—(१) सकषाय जीव और (२) अकषाय जीव । सकषाय जीवोंके साम्प्रदायिक आस्रव होता है और अकषाय जीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है ॥८३॥ आसादन, मात्सर्य और गुरुका नाम छिपाना आदि, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण

१. म विरक्तं । २. आश अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ३. = क्रोधादिकषायसहितः । ४. = जालवस्य । ५. = आदौ ।

परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः ।
 असातवेदनीयस्य कर्मणः समनुस्मृताः ॥८५॥
 सरागसंयमो दानं शौचं क्षान्त्यनुकम्पने ।
 इत्येवमादयो ज्ञेयाः सातवेषस्य कर्मणः ॥८६॥
 केवलश्रुतधर्माणां देवस्य च गणस्य च ।
 अवर्णवदनं दृष्टिमोहनीयस्य कीर्तितम् ॥८७॥
 यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।
 चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥८८॥
 नारकस्यायुषो ज्ञेयो बह्वारम्भपरिग्रहः
 माया बहुविधाकारा तैर्यग्योनस्य कीर्तिताः ॥८९॥
 मानुषस्यावगन्तव्यः स्वहृत्पारम्भपरिग्रहः ।
 सरागसंयमत्वादि दैवस्य परिवर्णितम् ॥९०॥

परिदेवेनेति । परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः परिदेवन विप्रलापः तच्छब्दः, संतापः पदवातापः स च, शोको दुःखं स च, आक्रन्द आक्रोशः स च, वधः प्राण्यपरोपणं स च, तथोक्ताः परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधाः ते आदयो येषां ते । असातवेदनीयस्य असातवेदनीयारूपस्य कर्मणः । आसूत्रा इति । समनुस्मृताः सम्यग्ज्ञाताः ॥८५॥ सरागेति । सरागसंयमः सगगो रागसहितः संयमश्चारित्र्यम् । दानं लोभमावः । शौचं क्रोधाद्यभावः । क्षान्त्यनुकम्पने क्षान्तिः क्षमा सा च अनुकम्पनं प्राणिदया तत्तत्तत्तथोक्ते । इत्येवमादयः एवं प्रभृतयः । सातवेषस्य सातवेदनीयारूपस्य कर्मणः । आसूत्रा । ज्ञेयाः ॥८६॥ केवलीति । केवलश्रुतधर्माणां केवली अहंस्पर्मेष्टी श्रुतं त-प्रणीतागमो धर्मो रत्नत्रयस्वरूपः तेषाम् । देवस्य श्रुतिप्रमाणमरसमूहस्य । गणस्य श्रुतः सङ्घस्य । अवर्णवाद-नम् अवर्णस्य निन्दया वादनं वचनम् । केवलिनः कबलाहारस्वम् । श्रुतस्य हिंसाप्रतिपादनम् । धर्मस्य दयावि-लोपनम् । देवस्य ॥८७॥ य इति । कषायोदयात् कषायस्य क्रोधादिस्वभावस्योदयाद् विपाकात् । यः । तीव्रः क्रूरः । परिणामः परिणतिः । प्रजायते समुत्पद्यते । जनैर् प्रादुर्भवे । सः परिणामः । चारित्रमोहनीयस्य चारित्र-मोहस्य । कर्मणः कर्मपरोतं पुद्गलस्य । अनुवर्णितः आसूत्रत्वेन वर्णितः ॥८८॥ नारकस्थेति । बह्वारम्भपरिग्रहः बहुना बहुत्वेनारम्भेण पापव्यापारेण मुक्तः परिग्रहः । नारकस्य नरकसंज्ञस्य । आयुषः आयुष्यस्य । ज्ञेयः आसूत्र इति ज्ञातव्यः । बहुविधाकारा बहुविधेनाकारेण युक्ताः । मायाः मायाकषायाः । तैर्यग्योनस्य तिर्यज-ग्न्येन । कीर्तिताः आसूत्रत्वेन निरूपिताः ॥८९॥ मानुषस्येति । अ[स्व]ल्परम्भपरिग्रहः अ[स्व]ल्पेन स्तोके-नारम्भेण मुक्तः परिग्रहः क्षेत्रादिपरिग्रहः । मानुषस्य मनुष्यायुष्यस्य । अवगन्तव्यः आसूत्र इत्यवगन्तव्यो ज्ञातव्यः । सरागसंयमत्वादि सरागसंयमत्वादि चारित्रत्वादि । दैवस्य देवायुष्यस्य । परिवर्णितं प्रवृत्तम्

है ॥८४॥ परिदेवन, सन्ताप, शोक, आक्रन्दन और वध आदि असातावेदनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८५॥ सराग संयम, दान, शौच-लोभका परित्याग, क्षान्ति-क्षमा और अनुकम्पा आदि सातावेदनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८६॥ केवली, श्रुत, धर्म, देव और सङ्घका अवर्णवाद करना (झूठे दोष लगाना) दर्शन मोहनीय कर्मके आसूत्रके कारण है ॥८७॥ कषाय-के उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आसूत्रका कारण है ॥८८॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके आसूत्रके कारण है । नाना प्रकारकी माया तिर्य-ग्योनिके आसूत्रका कारण है ॥८९॥ थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आसूत्रका

१. एष टीकाध्वयः पाठः, प्रतिपु तु 'अवर्णवदनं' इत्येव दृश्यते । २. = मधुमांसेष्वेकेनाद्याविषयम् । गणस्य च श्रुतिप्रमाणसङ्घस्य च बह्वारम्भपरिग्रहाद्विनिर्दिष्टम् । दृष्टिमोहनीयस्य दर्शनमोहनीयस्य । कीर्तितं प्रति-पादितम् । असातवहेतुत्वेन—इति शेषः । ३. = कर्मपरिणतः । ४. = नरकसंज्ञविधः ।

विस्मयान्नमत्पन्तयोगवक्रत्वमित्यपि ।
 नास्मोऽशुभस्य विज्ञेयं विपरीतं शुभस्य च ॥६१॥
 विज्ञेयास्तीर्थकुक्षस्मो हृक्षुष्टपाद्याश्च षोडश ।
 स्वप्रशंसान्यनिन्दादि नीचैर्गोत्रस्य वर्णितम् ॥६२॥
 स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्यैर्गोत्रस्य गम्यताम् ।
 दानादिविघ्नकरणमन्तरायस्य कीर्तितम् ॥६३॥
 हत्यास्त्रवपदार्थस्य तत्त्वं समुपवर्णितम् ।
 अधुना बन्धतत्त्वस्य स्वरूपं व्याकरिष्यते ॥६४॥
 असम्भ्यदर्शनं योगा विरतेश्च^३ विपर्ययः ।
 प्रमादाश्च कषायाश्च पञ्च बन्धस्य हेतवः ॥६५॥

॥६०॥ विस्मयादनमिति । विस्मयादनम् अभयाप्रवर्तनम् । अत्यन्तयोगवक्रत्वम् अत्यन्तं योगाना मनोबाधकाय-
 व्यापाराणां वक्रत्वं कीटित्वम् । इत्यपि एवमपि । अनुभूतस्य अप्रशस्तस्य । नास्मः नामवर्धनः । विज्ञेयम् आस-
 वणमिति विज्ञेयम् । विपरीतम् । अविस्मयादनं योगसरलत्व च । शुभस्य प्रशस्तनामकर्मणः । आसूत्र इति ज्ञेयः
 ॥६१॥ विज्ञेया इति । दृक्शुद्धपाद्याश्च दर्शनशुद्धपादयः । षोडश षोडशभाक्ताः । तीर्थकुक्षस्मोः तीर्थकुक्षाम-
 कर्मणः । विज्ञेया आसूत्रा इति विज्ञेया मातव्याः । स्वप्रशंसान्यनिन्दादि स्वस्य आत्मनः ॥६२॥ (स्वनिन्देति ।
 स्वनिन्दान्यप्रशंसादिः स्वस्यात्मनो निन्दा दोषकीर्तनमन्यस्य प्रशंसा गुणकीर्तनं च तत्प्रभृति । उच्यैर्गोत्रस्य
 उच्यैर्गोत्राभिषेय कर्मणः । गम्यताम् आसूत्रहेतुत्वेन ज्ञायताम् ।) दानादिविघ्नकरणं दानादीनाम् आविषेन
 लाभोपाधिप्रवृत्तिं विघ्नकरणं विघ्नस्य प्रत्युहस्य करणं विधानम् । अन्तरायस्य अन्तरायकर्मणः । कीर्तितं प्रकृतितम्
 ॥६३॥ इतीति । इति एवम् । आसूत्रवपदार्थस्य आसूत्रस्य वपदार्थस्य । तत्त्वं स्वरूपम् । समुपवर्णितं कीर्तितम् । अधुना
 इदानीम् । बन्धतत्त्वस्य बन्धवपदार्थस्य । स्वरूपं लक्षणम् । व्याकरिष्यते व्याख्यास्यते । हुक्कृत् कारणे लृट् ॥६४॥
 असम्भ्यगिति । असम्भ्यदर्शनं पञ्चविधमिध्यास्त्रम् । योगा कायवाङ्मनोयोगाः । विरतेश्च चारित्रस्य । विप-
 र्ययः नाश । प्रमादाश्च राजकषादिपञ्चदशप्रमादाः । कषायाश्च क्रोधादिविषयकषायाश्च । पञ्च पञ्चविधाः ।

कारण है । सारागसंयम आदि देवायुके आसूत्रके कारण है ॥६०॥ विस्मवाद और योगोंकी
 अत्यधिक वक्रता अशुभनाम कर्मके आसूत्रके कारण है तथा अविस्मवाद एवं योगोंकी अत्यधिक
 सरलता शुभनाम कर्मके आसूत्रके कारण है ॥६१॥ दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थ-
 कुक्ष नाम कर्मके आसूत्रमें कारण हैं । अपनी प्रशंसा, और, ओरोकी निन्दा आदि नीचगोत्रके
 आसूत्रके कारण हैं ॥६२॥ अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करना उच्यैर्गोत्रके आसूत्रके
 कारण हैं । दान आदिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मके आसूत्रमें कारण है ॥६३॥ इस प्रकारसे
 आसूत्रके स्वरूपका निरूपण किया, अब बन्धनामक तत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया आ रहा
 है—॥६४॥ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाया और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं ॥६५॥

१. अ आ इ क ल ग ज बोधिताः । २. म^३ वर्णितम् । ३. अ योगो विरतेश्च, स योगाविरतेश्च ।
 ४. = प्रशंसा इत्याद्या, अन्यस्य परस्य निन्दादि दोषकषणादिकम् । नीचैर्गोत्रस्य नीचगोत्रस्य । वर्णितम्
 आसूत्रहेतुत्वेन कीर्तितम् ।

सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।
 पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥१६॥
 विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनुभागप्रदेशयोः ।
 जिनागमनदी स्नातैर्विज्ञेयः स चतुर्विधः ॥१७॥
 ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती र्धेयं मोहनीयायुषी तथा ।
 नामगोत्रान्तरायाश्चेत्यष्टौ प्रकृतयः स्मृताः ॥१८॥
 भेदाः पञ्च नव द्वौ च विशतिश्चाष्टसंयुताः ।
 चतुर्विधत्वारिंशद् द्वौ पञ्च तासामनुक्रमम् ॥१९॥
 ज्ञानावृत्तिद्वयावृत्योर्बेदनीयान्तराययोः ।
 सागरोपमकोटीनां कोटयस्त्रिंशत्परा स्थितिः ॥२०॥

बन्धस्य । हेतवः कारणानि । स्युः भवेयुः ॥१५॥ सकषायेति । जीवस्य संसारिजीवस्य । सकषायतया क्रोधादि-
 कषाययुक्ततया । कर्मयोग्यैः कर्मणां योग्यैश्चितैः । पुद्गलैः पुद्गलपरमाणुभिः । सह साकम् । निरन्तरं सततम् ।
 संबन्धः संयोगः । बन्ध इति बन्धपदार्थ इति । अभिधीयते निगद्यते । बुधाब् ३ धारणे च कर्मणि लट् ॥१६॥
 विभेदादिति । जिनागमनदीस्नातैः जिनागम एव जिनागमनमेव नदी तरङ्गिणी तस्यां स्नातैः स्नानं कृतैः
 (निष्णातैः) मुनीश्वरैः । प्रकृतिस्थित्योः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धयोः । अनुभागप्रदेशयोः अनुभागबन्धप्रदेश
 (बन्ध) योश्च । विभेदात् विकल्पात् । सः बन्धः । चतुर्विधः चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य सः । इति विज्ञेयः
 वेदितव्यः ॥१७॥ ज्ञानेति । ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती ज्ञानदृष्ट्योर्ज्ञानदर्शनयोरावृत्ती आवरणे । र्धेयं वेदनीयम् । मोहनी-
 यायुषी मोहनीयायुष्यकर्मणी । तथा तेन प्रकारेण । नामगोत्रान्तरायाश्च नामकर्म-गोत्रकर्म-अन्तरायकर्मणि च ।
 इति एवम् । अष्टौ अष्टसंस्थाः । प्रकृतयः प्रकृतय इति । स्मृताः ज्ञाताः ॥१८॥ भेदा इति । पञ्च, नव, द्वौ
 च, अष्टसंयुता अष्टभिः संयुता सहिता विशतिश्च, चतुर्विधत्वारिंशद् ॥ (?) चत्वारिंश्च (द्वि) चत्वारिंश्च द्वौ
 च चतुर्विधत्वारिंशद् ॥ (?) पञ्च । तासां प्रकृतीनाम् । अनुक्रमम् । भेदाः विकल्पाः । स्युः । ज्ञानावरणी-
 यस्य पञ्च भेदाः । दर्शनावरणीयस्य नव भेदाः । वेदनीयस्य द्वौ भेदौ । मोहनीयस्य अष्टाविंशतिर्भेदाः । आयु-
 ष्यस्य चतुर्भेदाः । नामकर्मणः द्वाचत्वारिंशद्भेदाः । गोत्रस्य द्वौ भेदौ । अन्तरायस्य पञ्च भेदा इत्यर्थः ॥१९॥
 ज्ञानेति । ज्ञानावृत्तिद्वयावृत्योः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीययोः । वेदनीयान्तराययोः वेदनीयकर्मन्तरायकर्मणोः ।
 परा प्रकृष्टा । स्थितिः स्थितिबन्धः । सागरोपमकोटीनां सागरोपमाणां कोटयः तासाम् । त्रिंशत् त्रिंशत्संस्थाः

सकषाय होनेके कारण जीवका कर्मयोग्य पुद्गलोंसे जो सम्बन्ध होता है, उसे बन्ध कहते हैं
 ॥१६॥ प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके भेदसे जैन आगमके निष्णात
 विद्वानोंने बन्ध चार प्रकारका बतलाया है, जो सभीके लिए जानने योग्य है ॥१७॥ ज्ञानावरण,
 दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकृतिबन्धके भेद
 हैं ॥१८॥ इन ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके क्रमसे (१) पाँच, (२) नौ, (३) दो, (४) अष्टा-
 ईस, (५) चार, (६) बयालीस, (७) दो और (८) पाँच भेद हैं—ज्ञानावरणके पाँच, दर्शना-
 वरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अष्टाईस, आयुके चार, नामके बयालीस, गोत्रके दो और
 अन्तरायके पाँच ॥१९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी

१. अ नदीस्नातैः । २. वा 'भवेयुः' इति नास्ति । ३. वा बुधाब् । ४. वा 'प्रकृतयः' इति नास्ति ।
 ५. एष टीकाशयः पाठः, प्रतिबु तु 'चत्वारिंशद् द्वौ' इत्येवावलोक्यते ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः ।

आयुषश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंमिताः ॥१०१॥

मुहूर्ता वेदनीयस्य द्वादशैवापरा स्थितिः ।

स्यान्नामगोत्रयोरष्टौ शेषाश्चान्तमुहूर्तकाः ॥१०२॥

कर्मणां यो विपाकस्तु भवक्षेत्राद्यपेक्षया ।

सोऽनुभागः समाप्नातो जिनैः केवललोचनैः ॥१०३॥

योगभेदादन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः ।

सर्वेष्व्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्मृतः ॥१०४॥

एवमेष चतुर्भेदभिन्नो बन्धो निरूपितः ।

संवरस्याधुना रूपं किंचिदुच्योतयिष्यते ॥ १०५ ॥

कोटयः प्रयुतप्रमाः^१ । स्युः ॥१००॥ सप्ततिरिति । मोहनीयस्य मोहनीयकर्मणः । सप्ततिः सप्ततिकोटि-कोटि-
सागरोपमाः । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणो^२ । विंशतिः विंशतिकोटि-कोटिमासरोपमाः । आयुषस्तु^३ आयुष्य-
कर्मणः । सागरोपमप्रमिता^४ सागरोपमं । प्रमिता संमिता । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् । 'द्वादशत्रय-'
इत्यादिना त्रयस्-आदेव । ॥१०१॥ मुहूर्ता इति । वेदनीयस्य वेदनीयकर्मणः । द्वादशैव द्वाध्यामधिका दश
द्वादशैव । मुहूर्ता मुहूर्तप्रमाणा । अपरा जघन्या । स्थितिः स्थितिवन्धः । नामगोत्रयो नामगोत्रकर्मणो । अष्टौ
मुहूर्ताः । गोत्राः प्रकृतयस्तु । अन्तमुहूर्तकाः^५ अन्तमुहूर्तसंहिताः ॥१०२॥ कर्मणामिति । भवक्षेत्राद्यपेक्षया भवस्य
नरकादीना भवस्य क्षेत्रादीना नरकादिक्षेत्रादीनामपेक्षया विवक्षाया, आदिष्वन्तेन कालभावद्रव्याणि प्राह्याणि ।
य । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् । विपाकः परिणतिः । सः कलादानपरिणाम । केवललोचनैः केवलमेव
केवलज्ञानमेव लोचनं येषां तैः । जिनैः जिनैस्वरैरर्हद्भिः । अनुभागः^६ अनुभागबन्धः । समाप्नातः निरूपितः
॥१०३॥ योगेति । योगभेदात् कायवाङ्मनोयोगना भेदात् विकल्पात्^७ कर्मणः ज्ञानावरणादेः । सर्वेषु सकलेषु ।
आत्मप्रदेशेषु आत्मनो जीवस्य प्रदेशेषु । ये । अनन्ता अनन्तपरिमाणः । प्रदेशाः स्थिताः आसिताः ।
सः प्रदेश इति प्रदेशबन्ध इति । स्मृतः ज्ञातः ॥१०४॥ एवमिति । एवं प्रकारेण । चतुर्भेदभिन्नं चतुर्भिर्भेदभिन्नो
युक्तः । एषः अयम् । बन्धः बन्धवदार्थः । निरूपितः प्रकीर्तितः । अधुना इदानीम् । संवरस्य संवरवदार्थस्य । रूपं

उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है ॥१००॥ मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर
कोड़ाकोडी सागर प्रमाण है, नाम और गोत्र इन दो कर्मोंकी बीस-बीस कोड़ा-कोडी सागर
प्रमाण है और आयुर्कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागर प्रमाण है ॥१०१॥ वेदनीय कर्मको
जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है; नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है
और शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त है ॥१०२॥ भव और क्षेत्र आदि (द्रव्य, क्षेत्र,
काल, भव और भाव) को अपेक्षासे कर्मों के विपाकको अनुभाव बन्ध जानना चाहिए ।
केवलज्ञानी भगवान् जितेन्द्रदेवने ऐसा निरूपण किया है ॥१०३॥ योगोंकी विशेषताके
अनुसार आत्माके सभी प्रदेशोमे प्रति समय जो कर्मोंके अनन्तप्रदेश आकर स्थित होते
हैं, इसीको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१०४॥ इस प्रकार चार भेदोंमें विभक्त बन्धका

१. श 'कोटयः' इति नास्ति । २. श युतप्रमाः । ३. आ आयुषस्य, यूलप्रतिपु च आयुषश्च । ४.
मूलप्रतिपु तु संमिता । ५. श मुहूर्ता, मुहूर्तप्रती तु मुहूर्तकम् । ६. एव टीकाख्य पाठः, प्रतिपु तु
'अनुभावः' सम्पलभ्यते । ७. श 'आसिता' इति नोपलभ्यते ।

आत्मवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
 कर्म संश्रियते येनेत्येषं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥१०६॥
 चारित्र्यगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।
 दशलक्षणधर्माश्च समितिभ्यश्च जायते ॥१०७॥
 इति संवरतत्त्वस्य रूपं संक्षिप्य कीर्तितम् ।
 इदानीं क्रियते किञ्चिन्निरञ्जराया निरूपणम् ॥१०८॥
 यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
 निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥१०९॥
 या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
 तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥११०॥

स्वरूपम् । किञ्चित् स्वीकम् । उद्यातयिष्यते प्रकाशयिष्यते । उद्युत दीप्तौ निजस्ताल्लट् ॥१०५॥ आत्मवस्येति ।
 आत्मवस्य कर्मणामात्मवस्य । यः । निरोधः निवारणम् । संवर इति संवरपदार्थः इति । निगद्यते । गद व्यक्त्यां
 बाबि कर्मणि लट् । अनेन एतेन । कर्म ज्ञानावरणादि । संश्रियते निरुध्यते । इति एवं प्रकारेण । व्युत्पत्तिसंश्रयात्
 व्युत्पत्तेनिरुक्तेः संश्रयात् आश्रयात् ॥१०६॥ चारित्र्येति । असौ संवरः । चारित्र्यगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयात् चारित्र्यं
 त्रयोदशविधं तच्च, गुणित्यतः संसारकारणादात्मनो बोधनं गुहिः सा च, अनुप्रेक्षा शरीरादीनां स्वभावानुचितान-
 ननुप्रेक्षा सा च, परीषहजयात् परीषहाणां क्षुत्पिपासादीनां जयो विजयः स च, तथोक्ताः, तेषां समाहारः
 चारित्र्यगुण्यनुप्रेक्षापरीषहजयं तस्मात् । दशलक्षणधर्माश्च दशलक्षणान्वसाधारणस्वरूपाणि यस्य तस्मात्
 धर्मात् इष्टस्थाने धरणरूपात् । समितिभ्यश्च प्राणिपीडापरिहारपरिणतिः समितिः, पञ्च समितयः ताम्यश्च ।
 जायते समुत्पद्यते । लट् ॥१०७॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । संवरतत्त्वस्य संवरपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् ।
 संक्षिप्य समस्य । कीर्तितं प्रोक्तम् । इदानीम् अनुना । निर्जरायाः निर्जरापदार्थस्य । निरूपणम् अनुवर्णनम् ।
 किञ्चित् ईयत् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥१०८॥ यथेति । तावत् । यथाकालकृता यथाकालं काल-
 मनतिक्रम्य कृता विहिता । अपरा भव्या । उपक्रमकृता उपक्रमेण कृता विहिता । कर्मक्षपणलक्षणा कर्मणां
 ज्ञानावरणादीनां क्षपणं विनाशः तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा । निर्जरा निर्जरापदार्थः । द्विविधा द्विप्रकारा-
 दौ विधौ प्रकारौ यस्याः सा । ज्ञेया वेदितव्या ॥१०९॥ येति । श्वभ्रादौ नरकादिनत्याम् । कर्मभुक्तिः कर्मणां
 भुक्तिरनुभवना जायते । या निर्जरा । सा यथाकालजा कालमनतिक्रम्य जनिता इति । स्मृता ज्ञाता । या तु ।

निरूपण किया, अब थोड़ा संवरके स्वरूपपर प्रकाश डाला जा रहा है ॥१०५॥ आसूवके
 निरोधको संवर कहते हैं । आनेवाले कर्मोंका जिसके द्वारा संवरण हो—निरोध हो, उसे संवर
 कहते हैं—‘कर्म संश्रियते येन स संवरः’ यह संवरकी व्युत्पत्ति है । इसी व्युत्पत्तिके आधारपर
 उक्त अर्थ किया गया है ॥१०६॥ यह संवर, चारित्र्य, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, दशलक्षण-
 धर्म और समितिजोसे होता है ॥१०७॥ इस प्रकार संक्षेपमें संवरतत्त्वका स्वरूप कहा, अब
 थोड़ा निर्जराका निरूपण किया जा रहा है ॥१०८॥ पहले बंधे हुए कर्मोंका अंशतः क्षपण
 होना—झड़ना निर्जराका लक्षण है, और वह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—सविपाक निर्जरा
 और अविपाक निर्जरा । स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका, फल देकर झड़ना सविपाक
 निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम अनुपक्रम निर्जरा या यथाकाल निर्जरा है । तपके द्वारा कर्मों-
 का उनके उदयके समयके पहले ही झड़ना देना अविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम उपक्रम
 निर्जरा है ॥१०९॥ नरक आदि गतिजोमें कर्मोंका फल भोगना—अपने समयके अनुसार फल

स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जराकरणं तपः ।
 बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ॥१११॥
 उपवासावमोदयै वृत्तिसंख्या रसोज्जनम् ।
 विविक्तवासता^१ कायक्लेशश्चेति बहिर्भवम् ॥११२॥
 स्वाध्यायो व्यावृत्तिर्ध्यानं व्युत्सर्गो विनयस्तथा ।
 प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयमान्तरं षड्विधं तपः ॥११३॥
 स्वाध्यायानशानादीनां व्यक्तत्वादप्रपञ्चनम् ।
 क्रियते दुर्विबोधत्वाद्ध्यानस्यैव प्रपञ्चनम् ॥११४॥
 आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चापि चतुर्विधम् ।
 ध्यानमाख्यातमर्हद्भिः शुभाशुभगतिप्रदम् ॥११५॥

उपक्रमनिर्जरा उपक्रमेण जाता निर्जरा^३ । स्मृता ॥११०॥ स्थितमिति । निर्जराकारणं निर्जरायाः कर्मविनाशस्य कारणं हेतुः । तपः^४ तपश्चरणम् । द्वादशभिः । भेदैः विकल्पैः । स्थितम् आसितम् । बाह्यं बहिर्जातम् । आभ्यन्तरं चेति अन्तरङ्गजनितं चेति । मूलभेदद्वयान्वितं मूलभेदयोर्द्वयेनाविवृतं सहितम् ॥१११॥ उपवासेति । उपवासावमोदयै उपवासोऽनशनं स च, अवमोदयम् अवमं रिक्तमुदरं जठरं यस्य सोऽवमोदरः तस्य भावोऽवमोदयं तच्च तथोक्ते । वृत्तिसंख्या । रसोज्जनं रसानां क्षीरपूतादीनामुज्जनं त्यजनम् । विविक्तवासता विविक्ते एकान्ते वासता स्थितित्वम् । कायक्लेशश्चेति कायक्लेश इति । बहिर्भवं बा^५ । तप इति स्मृतम् ॥११२॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायः श्रुताध्ययनम् । व्यावृत्तिः^६ वैवावृत्यम् । ध्यानम् एकाग्रचित्तानिरोधलक्षणम् । व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः । विनयः ज्ञानादिविनयः । तथा तेन प्रकारेण । प्रायश्चित्तमिति । आन्तरम् अन्तरङ्गभवम् तपः तपश्चरणम् । षड्विधं षट्प्रकारम् । ज्ञेयं वेदितव्यम् ॥११३॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायानशानादीनां स्वाध्यायानशने आदौ येषां तेषाम् । व्यक्तत्वात् विशदत्वात् । अप्रपञ्चनम् अविवेचनम् । ध्यानस्यैव दुर्विबोधत्वात् शानुमशक्यत्वात् । प्रपञ्चनं विवरणम् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥११४॥ आर्तमिति । शुभाशुभगतिप्रदं शुभगत्यशुभगती प्रददातीति शुभाशुभगतिप्रदम् । ध्यानम् । आर्तम् अर्ते भवमातम् । रौद्रं रोदयतीति रौद्रः तस्य भावो रौद्रम् । धर्मं^७ च धर्मादिनपेतम् । शुक्लं चेति शुक्लमिति । चतुर्विधं चत्वारो^८ । विधा विकल्पा

देकर बद्ध कर्मोंका अंशतः सङ्ग जाना यथाकालजा—सविपाक निर्जरा है, और जो तपश्चरणसे कर्मोंकी निर्जरा होती है वह उपक्रम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहलाती है ॥११०॥ निर्जराका कारण तप है, जो बारह प्रकारका है । तपके मूल भेद दो हैं, बाह्य और आभ्यन्तर ॥१११॥ बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अवमोदय, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ॥११२॥ स्वाध्याय, वैवावृत्ति, ध्यान, व्युत्सर्ग, विनय और प्रायश्चित्त ये छह आभ्यन्तर तप जानने चाहिए ॥११३॥ स्वाध्याय और अनशन आदि किसे कहते हैं; यह स्पष्ट है, अतः इनका विस्तार छोड़ते हैं । दुर्बोध होनेके कारण केवल ध्यानका ही विस्तार किया जा रहा है ॥११४॥ भगवाद् अरिहंतेने उस ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल । इनमें आर्त और रौद्र

१. म रसोज्जनम् । २. अ विविक्ता वासता, आ इ विविक्तावासता, म विविक्तवासता । ३. = तपसा तपश्चरणेन । निर्जरा जायते । सा च । ४. क्ष 'तपः' इति नोपलभ्यते । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'व्यावृत्तिः' वर्तते । ६. म रोचयतीति । ७. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'धर्मं च' इति सम्पुल्लभ्यते । ८. = चत्वारो ।

अनिष्टसंगमे तस्य वियोगपरिचिन्तनम् ।
 विप्रयोगे मनोऽस्य समागमविचिन्तनम् ॥११६॥
 रोगादिजनितायाश्च वेदनाया मुहुः स्मृतिः ।
 निदानं चेति चत्वारो भेदाः पूर्वस्य कीर्तिताः ॥११७॥
 रौद्रं हिंसानुतस्तेयविषयप्रतिपालनैः
 चतुर्मिर्जायमानत्वात्कारणैः स्याच्चतुर्विधम् ॥११८॥
 आज्ञा विपाकविचयावपायविचयस्तथा ।
 संस्थानविचयश्चेति धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥११९॥
 पृथक्त्वादिवितर्कान्तं शुक्लमाद्यमुदीरितम् ।
 एकत्वादिवितर्कान्तं द्वितीयमनुगच्छते ॥१२०॥

यस्य तत् । अर्हद्भिः सर्वज्ञैः । आख्यातं प्रोक्तम् ॥११५॥ अनिष्टेति । अनिष्टसङ्गमे अनिष्टस्य सङ्गमे संयोगे सति । तस्य अनिष्टवस्तुनः । वियोगपरिचिन्तनं वियोगे विगमे परिचिन्तनं स्मरणम् । ॥११६॥ मनोऽस्य इष्टवस्तुनः । विप्रयोगे विरुद्धे सति । समागमनचिन्तनं समागमने संप्रापणे चिन्तनं स्मरणम् ॥११६॥ रागेति । रागादिजनितायाश्च रागादिभ्यो रागद्वेषादिभिर्जनितायाश्च । वेदनायाः पीडायाः । मुहुः स्मृतिः विगमचिन्तनम् । निदानं चेति संपदाद्यपेक्षणं चेति । पूर्वस्य आर्तध्यानस्य । चत्वारः । भेदाः विकल्पाः । कीर्तिताः निरूपिताः ॥११७॥ रौद्रमिति । रौद्रं रौद्रध्यानम् । हिंसानुतस्तेयविषयप्रतिपालनैः हिंसा प्रमत्तयोगात् प्राप्यपरिपूरणं सा च, अनुत्तम् असदभिधानं तच्च, स्तेयम् अदत्तादानं तच्च, विषयाः पञ्चैन्द्रियगोचराः, तेषां प्रतिपालनं तच्च, तथोक्तानि तैः । चतुभिः चतुःसंख्यैः । कारणैः हेतुभिः । जायमानत्वात् उत्पद्यमानत्वात् । चतुर्विधं चतुर्वि-
 कल्पम् । स्यात् । सिद्धं ॥११८॥ आज्ञेति । आज्ञाविपाकविचयी आज्ञाविचयश्च विपाकविचयश्च तथोक्तौ । अपायाविचयः । तथा तेन प्रकारेण । संस्थानविचयश्चेति । धर्मध्यानं धर्म्यं च तदध्यानं च तथोक्तम् । चतुर्विधं चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य तत् ॥११९॥ पृथक्त्वेति । आद्यं प्रथमम् । शुक्लं शुक्लध्यानम् । पृथक्त्वादिवितर्कान्तं पृथक्त्वम् आद्यो यस्य तत् पृथक्त्वादि, वितर्कान्ते यस्य तत् वितर्कान्तं, पृथक्त्वादि च तत् वितर्कान्तं च तथोक्तम् । पृथक्त्ववितर्कसंज्ञमित्यर्थः । यद्यपि पृथक्त्ववितर्कं विचार इति नाम शुक्लध्यानस्य तथापि पृथक्त्ववितर्कमित्युच्ये, 'नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते' इति वचनात् । इत्युदीरितं प्रोक्तम् । एकत्वादिवितर्कान्तम् एकत्वमादौ यस्य तत्, वितर्कान्ते यस्य तत्, एकत्वादिवितर्कान्तं च तथोक्तम् । एकत्ववितर्कविचार-
 अशुभगतिके कारण है और धर्म और शुक्ल शुभ गति के ॥११५॥ अनिष्ट समागम होनेपर बार-बार यह सोचना कि यह कैसे दूर हो अनिष्ट संयोग नामक आर्तध्यान है । इष्ट वियोग होनेपर बार-बार यह सोचना कि उसका समागम कैसे हो इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान है ॥११६॥ रोगादिजनित वेदनाके होनेपर बार-बार उसीका स्मरण करना वेदना नामक आर्तध्यान है । आगामी भोगोंकी बार-बार चिन्ता करना निदान नामक आर्तध्यान है । इस तरह ये चार पहले आर्तध्यान के भेद हैं ॥११७॥ हिंसा, झूठ, चोरी और विषयोंके संरक्षणकी चिन्ता करना रौद्रध्यान है । हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौरानन्दी और विषयानन्दी ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं । चार कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह चार प्रकारका होता है ॥११८॥ धर्मध्यान चार प्रकारका है—आज्ञाविचय, विपाकविचय, अपायाविचय और संस्थान विचय ॥११९॥ शुक्लध्यान भी चार प्रकारका है—पहला पृथक्त्ववितर्क, दूसरा

१. एष टीकाग्रह पाठः प्रतिपु तु निखिलास्वपि 'समागमविचिन्तनम्' इति समुलभ्यते । २. अ स्वस्तितात्पर्यतः पाठो नोपलभ्यते । ३. अयमपि टीकाग्रहः पाठः, प्रतिपु तु 'रोगादि' दुष्यते । ४. आ केह । ५. एष टीकाग्रहः पाठः, प्रतिपु तु 'धर्म' इत्यस्ति । ६. = चतस्रो । ७. आ विकल्पाः । ८. अ इत्युचितं ।

अन्यत् सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तमुच्यते ।
 चतुर्थं प्रतिपात्यन्तं समुच्छिन्नक्रियादिकम् ॥१२१॥
 कथितेति समासेन निर्जरा सनिबन्धना ।
 सांप्रतं मोक्षतत्त्वस्य रूपं व्यावर्णयिष्यते ॥१२२॥
 कृत्स्नकर्मस्थो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।
 ज्ञानदर्शनचारित्रप्रयोपायः प्रकीर्तितः ॥१२३॥
 तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं तत्त्वरोचकम् ।
 पापारम्भपरित्यागश्चारित्रमिति कथ्यते ॥१२४॥
 संसारव्याधिबिध्वंसे^१ भाव्यमानमिदं ध्रुवम् ।
 हेतुरेकाङ्गविकलो^२ न हेतुरिव भेषजम् ॥१२५॥

मित्रार्थः । द्वितीयं द्वितीयशुक्लध्यानमिति । निगद्यते^३ प्रकीर्त्यते । कर्मणि लट् ॥१२०॥ अन्वदिति । अन्यत् तृतीयम् । सूक्ष्मक्रियापूर्वप्रतिपात्यन्तं^४ सूक्ष्मक्रिया पूर्वा प्रथमा यस्य तत् प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्तं सूक्ष्मक्रियापूर्वं च तत् प्रतिपात्यन्तं च तथोक्तं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीत्यर्थः । उच्यते निगद्यते । त्रुञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । चतुर्थं तुरीयम् । समुच्छिन्नक्रियादिकं समुच्छिन्नक्रिया आदौ यस्य तत् तथोक्तम् । प्रतिपात्यन्तं प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्तम् । निरूपितम् ॥१२१॥ कथितेति । सनिबन्धना^५ सकारणा । निर्जरा^६ निर्जरापदार्थः । समासेन संक्षेपेण । इति एवम् । कथिता प्रोक्ता । सांप्रतम् इदानीम् । मोक्षतत्त्वस्य मोक्षपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । व्यावर्णयिष्यते परिकीर्त्यते । वर्ण वर्णक्रियायां लुट् ॥१२२॥ कृत्स्नेति । परिणामिनः परिणामयुक्तस्य । भव्यस्य आसन्नभव्यस्य । कृत्स्नकर्मस्थः कृत्स्नानां सकलानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां लघो विनाशः । ज्ञानदर्शनचारित्रप्रयोपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रयमेवोपायो यस्य सः । मोक्ष इति । प्रकीर्तितः निरूपितः ॥१२३॥ तत्त्वैति । तत्त्वप्रकाशकं तत्त्वानां जीवादिपदार्थानां प्रकाशकं प्रतिभासकम् । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । तत्त्वरोचकं तत्त्वेषु रोचकं रुचिकरम् । दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । पापारम्भपरित्यागः पापस्य पापकृपस्वारम्भस्य व्यापारस्य परित्यागः त्यजनम् । चारित्रमिति सम्यक्चारित्रमिति । कथ्यते निगद्यते । कथं वाक्यप्रबन्धे^७ कर्मणि लट् ॥१२४॥ संसारेति । भाव्यमानं निष्ठापमानम् । इदम् एतत् । त्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम् । संसारव्याधिबिध्वंसे^१ संसार एव व्याधिस्तत्त्व बिध्वंसे विनाशकरणे । हेतुः कारणम् । एकाङ्गविकलम् (लः)

एकत्ववितर्कं, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति (व्युपरत क्रियानिर्वर्ति) ॥१२०॥॥१२१॥ इस प्रकार संक्षेपमें निर्जराका और उसके कारणोंका भी निरूपण किया, अब मोक्षतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जायगा ॥१२२॥ समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, जो परिणामी नित्य (न सांख्यिकी तरह सर्वथा नित्य और न बौद्धिकी तरह सर्वथा क्षणिक) भव्य जीवके ही सम्भव है । मोक्षका उपाय रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है ॥१२३॥ जीवादि सात तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला सम्यग्ज्ञान होता है, जीव आदि तत्त्वोंमें अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला सम्यग्दर्शन होता है और पापमय आरम्भका परित्याग करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥१२४॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी भावना की जाय तो ये संसाररूपी व्याधिके विध्वंसक

१. क ख ग घ संवर्णयिष्यते । २. अ इ क ख ग घ 'व्याधिबिध्वंसेति । ३. अ आ इ हेतुरेकाङ्गं क ख ग घ हेतुरेकाङ्गविकलं । ४. मूले 'अनुगद्यते' इत्यस्ति न तु 'निगद्यते' इति । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, मूले तु 'सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तं' इति वर्तते । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रविषु तु 'सनिबन्धना' इति सम्पुलक्यते । ७. आ 'निर्जरा' इति पदं नास्ति । ८. वा व्यक्तप्रबन्धे । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रविषु तु 'बिध्वंसे' इत्येवास्ति ।

केवलं न यथा ज्ञातं^१ रुचितं समनुष्ठितम् ।
 औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२६॥
 यथा सम्यक्परिज्ञातं^२ रुचितं समनुष्ठितम् ।
 औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२७॥
 कर्मणां प्रतिपक्षस्यामुक्तज्ञानादि कारणम् ।
 ज्ञानादीनां विबुद्ध्या हि रागादिस्यदर्शनात्^३ ॥१२८॥
 रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रक्षयो हेत्वभावतः ।
 तस्माद्रत्नत्रयं हेतुर्विरोधात्कर्मणां क्षये ॥१२९॥

एकेन नद्याणां मध्ये एकेनाङ्गेनावयवेन विकलं (लो) विरहितम् (तः) । हेतुः संसारविध्वंसहेतुः । न स्यात् ।
 भेषजमिव औषधमिव । एकमूलकाद्यवयवहीनं भेषजं व्याधिबिध्वंसे हेतुर्यथा न स्यात् तथेत्यर्थः ॥१२५॥
 केवलमिति । केवलं रुचितम् ; केवलं ज्ञातम् ; केवलं समनुष्ठितमित्यर्थः । औषधं भेषजम् । व्याधिं रोगम् ।
 यथा । न बिध्वंसयेत् न विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च दर्शनादिनद्याणां मध्ये एकैकविकलम् । संसृतिं संसारम् ।
 न ध्वंसयेदिति शेषः ॥१२६॥ अथेति । सम्यक्परिज्ञातं सम्यग्बुद्धितम् । रुचितं विशस्तम् । समनुष्ठितं सम्यक्-
 सेवितम् । औषधं भेषजम् । यथा । व्याधिं रोगम् । ध्वंसयेत् विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च । रत्नत्रयमित्यर्थः^४
 चेत् । संसृतिं संसारम् । ध्वंसयेत् । ध्वंसू अवसंसने ॥१२७॥ कर्मणामिति । ज्ञानादि सम्यग्ज्ञानादिनद्यम् ।
 कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । प्रतिपक्षत्वात् प्रतिकूलत्वात् । मुक्तैः मोक्षस्य । कारणं हेतुः । भवेत् । कथम्
 इति चेत् । ज्ञानादीनां सम्यग्ज्ञानादीनाम् । विबुद्ध्या आधिक्येन हि । रागादिस्यदर्शनात् रागादीनां रागद्वेषा-
 दीनां क्षयस्य नाशस्य बीक्षणत्वात् ॥१२८॥ रागादेश्चि । रागादेः रागद्वेषादेश्च । क्षयात् नाशात् । कर्म [प्र]
 क्षयः कर्मणां [प्र] क्षयो नाशः । कथमिति चेत् । हेत्वभावतः हेतोः रागादेः कारणस्याभावतोऽसङ्गत्वात् ।
 तस्मात् कारणात् । रत्नत्रयम् । विरोधात् प्रतिपक्षात् । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । क्षये विनाशे । हेतुः

हो जाते हैं । यदि इन तीनोंमें-से किसी एककी भी कमी रह जाय तो ये संसार रूपी व्याधिके विध्वंसमें कारण नहीं हो सकते । जैसे एक दवासे रहित नुस्खा बीमारीको नष्ट करनेमें कारण नहीं हो सकता ॥१२५॥ जिस प्रकार औषधिकी केवल जानकारी, केवल श्रद्धा या केवल उसके अनुकूल आचरण करना व्याधिको दूर नहीं कर सकती, उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वोंका केवल ज्ञान, केवल श्रद्धा या केवल अनुष्ठान—चारित्र संसाररूपी व्याधिको नष्ट नहीं कर सकता ॥१२६॥ जैसे दवाका ठीक ज्ञान हो, उसके प्रति विश्वास हो और उसके अनुकूल आचरण (परहेज आदि) हो तो वह व्याधिको नष्ट कर देती है, वैसे ही जीव आदि सात तत्त्वोंका ठीक ज्ञान हो, उनके प्रति श्रद्धा हो और हो उनके अनुकूल आचरण तो वे संसाररूपी व्याधिको नष्ट कर देते हैं ॥१२७॥ सम्यग्ज्ञान आदि, ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे मुक्तिके कारण हैं; क्योंकि सम्यग्ज्ञान आदिके बढ़नेसे राग आदि कषायोंका क्षय देखा जाता है ॥१२८॥ और राग-द्वेष आदि कषायोंके क्षय हो जानेसे समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जाता है । कर्मोंके बन्धके कारण राग आदि हैं, इसलिए राग आदिके दूर होनेपर कर्मोंका क्षय हो जाना स्वाभाविक है । अतः रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे उन (कर्मों) के क्षयमें

१. म यथाज्ञानं । २. म परिज्ञानं । ३. म क्षयदर्शनम् । ४. भा दर्शनादिनद्याणां मध्ये एकैक-
 विकलम् ।

क्षीणकर्मा ततो जीवः स्वदेहाकृतिमुद्रहन् ।
 ऊर्ध्वं स्वभावतो याति बह्विज्वालाकलापवत् ॥१३०॥
 लोकाग्रं प्राप्य तत्रासौ स्थिरतामवलम्बते ।
 गतिहेतोर्भावे न धर्मस्य परतो गतिः ॥१३१॥
 इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाध सकलां सभाम् ।
 भव्यपुण्यसमाकुष्ठो व्यहरद्भगवान्भुवि ॥१३२॥
 निस्वेदत्वादभिस्तस्य सहजैर्दशमिर्गुणैः ।
 बभासे भुवनोद्भासि सपुर्भास्करभासुरम् ॥१३३॥
 व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुमिश्रता ।
 अजायत जनप्रीत्य योजनानां शतद्वये ॥१३४॥

कारणम् । भवेत् ॥१२९॥ इति । ततः रत्नवयात् । क्षीणकर्मा क्षीणानि कर्माणि यस्य सः । जीवः आत्मा । स्वदेहाकृति स्वस्यात्मनो देहस्य शरीररूपाकृतिमाकारम् । उद्रहन् धरन् । स्वभावतः स्वरूपतः । बह्विज्वाला-कलापवत् बह्वैरग्नेर्ज्वालानामचिषां कलापवत् समूहवत् । ऊर्ध्वम् अग्रम् । याति । लट् ॥१३०॥ लोकेति । असौ जीवः । लोकाग्रं जगदग्रम् । प्राप्य गत्वा । तत्र लोकाग्रे । स्थिरता स्थिरत्वम् । अवलम्बते प्रवर्तते । गतिहेतोः गतैर्गमनस्य हेतोः कारणस्य । धर्मस्य धर्मास्तिकायस्य । अभावे विरहे सति । परः [परतः] लोकाग्रात् परतः । गतिः गमनं नास्ति ॥१३१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । तत्त्वोपदेशेन तत्त्वानां सुपदेशेन निरूपणेन । सकला निखिलाम् । सर्वा समवसरणास्थानम् । प्रह्लाध संतोष्य । भव्यपुण्यसमा-कुष्ठः भव्यानां रत्नवयाविर्भनयोद्यानां पुण्यैः शुभकर्मभिराकुष्ठ आहूतः । भगवान् स्वामी । भुवि भूमौ । व्यहरत् विहरति स्म ॥१३२॥ निस्वेदेति । तस्य चन्द्रप्रभञ्जितस्य । भास्करभासुरं भास्कर इव सूर्य इव भासुरं देदीप्यमानम् । भुवनोद्भासि भुवने लाके उद्भासि प्रकाशमानम् । सपुः शरीरम् । निस्वेदत्वादभिः निस्वेदत्वमिति येषां तैः । सहजैः सहजातैः । दशभिः दशसंख्यैः । गुणैः । बभासे बभौ । भा दीप्यो लिट् ॥१३३॥ व्यहरदिति । असौ चन्द्रप्रभः । यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देशे । व्यहरत् विहरति स्म । तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् देशे । योजनानाम् । शतद्वये शतयोर्द्वयं तस्मिन् । सुमिश्रता सुमिश्रत्वम् । जनप्रीत्य जनानां

कारण है ॥१२९॥ कर्मोका क्षय करनेवाला जीव अपने शरीरकी आकृतिको धारण करता हुआ, उस स्थानसे, जहाँ कर्मोका क्षय किया है, अग्नि की ज्वालाकी भाँति स्वभावसे ही ऊपर (लोकके अग्रभागमें) चला जाता है ॥१३०॥ लोकके अग्रभागमें जाकर वह मुक्त जीव वहीं पर स्थिर हो जाता है । धर्मद्रव्यके, जो गतिमें कारण हैं, अभाव होनेसे मुक्तजीव लोकान्तरसे ऊपर नहीं जा सकता ॥१३१॥ इस प्रकार जीव आदि सात तत्त्वोंके उपदेशसे सारी सभामें प्रसन्न करके भगवान् चन्द्रप्रभने भव्य जीवोंके पुण्यसे आकुष्ठ होकर भूमण्डलमें विहार किया ॥१३२॥ उनका सूर्य सरीखा दीदीप्यमान शरीर—परमोदारिक दिव्य देह सारे संसारको प्रकाशित कर रहा था, तथा पसीना न आना आदि जन्मसे उत्पन्न हुए दस अतिशयोक्ति सुशोभित था ॥१३३॥ भगवान् चन्द्रप्रभने जहाँ-जहाँ विहार किया वहाँ-वहाँ लोगोंकी प्रीतिके

गगने गमनं तस्य सर्वेषामपि दृष्टये ।
 बभूव प्राणिनां प्राणिविरोधेन विवर्जितम् ॥१३५॥
 तस्य भुक्स्तुपसर्गाभ्यां मनागपि न पस्पृशे ।
 शीतेतरकरस्येव छायाविरहितं वपुः ॥१३६॥
 चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः ।
 चतुरा न नता तस्य काभ्युत्थाय स्वयं प्रजा ॥१३७॥
 पद्मस्पन्दविनिर्मुक्ते बभूवस्तस्य लोचने ।
 नीलोत्पले इवात्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ॥१३८॥
 सर्वविद्येशिनः स्तस्य यथास्थानमूर्धजम् ।
 असाधारणतां तस्य वपुर्बहुमिषामवत् ॥१३९॥

श्रीरवे श्रीतिमित्तम् । अजायत जायते स्म । लङ् ॥१३४॥ गगन इति । तस्य चन्द्रप्रभस्य । प्राणिविरोधन-
 विवर्जितं प्राणिनां विरोधनेन बधेन विवर्जितं रहितम् । गगने आकाशे । गमनं गमनम् । सर्वेषामपि निखि-
 लानामपि । प्राणिनां जीवानाम् । संतोषाय । बभूव भवति स्म । लिट् ॥१३५॥ तस्येति । शीतेतरकरस्येव
 सूर्यस्येव । छायाविरहितं छायाया प्रतिबिम्बेन विरहितं बिहीनम् । तस्य चन्द्रप्रभस्य । वपुः शरीरम् । भुक्स्तुप-
 सर्गाभ्यां भुक्तेरुपसर्गाच्च । मनागपि स्तोकमपि । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पृशने कर्मणि लिट् ॥१३६॥
 चतुरेति । चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः चत्वारि आननानि यस्य तस्य भावश्चतुराननता चतुर्मुखता सा च
 रूपं यस्य सः चतुराननतारूपः स बासो महातिशयश्च चतुराननतारूपमहातिशयः तेन शालते घोभते इति
 तयोक्तः, तस्य । तस्य भगवतः । चतुरा प्रोढा । [का] प्रजा जनः । स्वयम् । अभ्युत्थाय गौरवं कृत्वा । नता
 विनता । न भवति । अपि तु सर्वा प्रजा विनतैव । ॥१३७॥ पद्मेति । पद्ममण्डविनिर्मुक्ते पद्ममणोर्ययनच्छदयोः
 स्पन्देन निमीलनादिना विनिर्मुक्ते विरहिते । तस्य त्रिनेशिनः । लोचने नयने । अत्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ।
 अत्यन्तं निर्वाते वातरहिते स्थाने सरोवरप्रवेशे संस्थिते स्थिते । नीलोत्पले इव नीले च ते उपले च ते इव । बभूव
 भातः स्म । भा दीप्तौ लिट् ॥१३८॥ सर्वेति । सर्वविद्येशिनः सर्वासां विद्यानामोशिनः स्वामिनः । तस्य भगवतः ।
 असाधारणतां साधारण (ता) रहितत्वम् । स्वस्य आत्मनः । वपुः शरीरम् वक्तुमिष्टं निगदितुमिष्टं । यथास्थानमूर्धजं
 यथा तिष्ठन्तीति यथास्था नत्ताः करकहामूर्धजाः शिरोरहा यस्य तत् । भगवत् अभूत् । लङ् ॥१३९॥ स इति ।

लिए दो सौ योजन तक सुमिश्र हो जाता था ॥१३४॥ सभी प्राणियोंकी प्रसन्नताके निमित्तसे
 उनका गमन आकाशमें होता था, तथा उनके गमनसे किसी भी प्राणीकी विराधना नहीं होती
 थी ॥१३५॥ उनका शरीर सूर्यमण्डलकी भाँति परछाईसे रहित था, तथा कबलाह्वार और
 उपसर्गसे अछूता था ॥१३६॥ उनमें एक ऐसा अतिशय था, जिससे उनका मुख चारों ओर
 दिखलाई पड़ता था—उनमें चतुर्मुख होनेकी अतिशय था, उससे उनका रूप देखते ही बनता
 था । प्रजामें ऐसा कौन सा मनुष्य था जो उन्हें स्वयं उठकर नमन नहीं करता था ? ॥१३७॥
 उनके नेत्रोंके पलक झपटे नहीं थे—सदा निनिमेष रहते थे, अतः वे (नेत्र) जहाँ वायुका
 संचार बिलकुल भी नहीं है, उस स्थानमें स्थित सरोवरके नीलकमलोंकी भाँति सुशोभित होते
 थे ॥१३८॥ वे समस्त विद्याओंके स्वामी थे । मानो उनकी असाधारणताको बतलानेके लिए

१. अ प्राणिविरो । २. अ वा इ "नक्त्यु" । ३. म "विद्येशिनु" । ४. एष टीकापाठः प्रतिषु तु
 'प्राणिविरोधेन विवर्जितम्' इति दृश्यते । ५. स 'लिट्' इति नास्ति ।

स घातिक्षयजैरेभिरपरैर्दशभिर्गुणैः ।
 रराज रजसा मुको मुक्तिसंगमनोत्सुकः ॥१४०॥
 सर्वभाषात्मिका तस्य सर्वसत्त्वाद्यबोधिनी ।
 मागधी या बभौ भाषा मैत्री चत्खिलगोचरा ॥१४१॥
 जज्ञे बिहारतस्तस्य सर्वतुल्यफलशालिनी ।
 कृतरत्नविनिर्माणा भूदपणतलोपमा ॥१४२॥
 पादौ विरेजतस्तस्य हेमाब्जरुचिपिञ्जरी ।
 जितेन रागमत्नेन भयादिव समाश्रितौ ॥१४३॥
 इत्येवमादिभिश्चान्यैः स चतुर्दशभिर्जिनः ।
 विद्युतेऽतिशयैर्देवनिकायपरिकल्पितैः ॥१४४॥

रजसा कर्मणा । मुक्तः स्वयतः । मुक्तिसंगमनोत्सुकः मुक्तेर्मोक्षस्य संगमने संयोजने उत्सुकः तत्परः । सः भगवान् ।
 [अ] परैः उत्कृष्टैः । घातिक्षयजैः घातिनां^३ घातिकर्मणां सयजैः सयजै^५ नाशेन जनितैः । एभिः एतैः ।
 दशभिः दशसंख्यैः । गुणैः । रराज बभौ । राजञ्ज् दीप्तौ लिट् ॥१४०॥ सर्वैति । सर्वभाषात्मिका सर्वा सकला
 भाषा एव स्वरूपं यस्याः सा । सर्वसत्त्वाद्यबोधिनी सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनामबोधिनी उपदेक्षिनी । मागधीया
 भगवद्देशसंबन्धा । तस्य भगवतः । भाषा दिव्यध्वनिः । चत्खिलगोचरा अक्षिः^४ एव गोचरो विषयो
 यस्याः सा । मैत्री च मित्रता च ॥१४१॥ जज्ञे इति । तस्य भगवतः । बिहारतः श्रीबिहारात् ।
 सर्वतुल्यफलशालिनी सर्वेषाम् श्रुतानां फलैः शालिनी संपूर्णा । कृतरत्नविनिर्माणा कृतं विहितं रत्नविनिर्माणं
 यस्याः सा । दपणतलोपमा दपणस्य बादसंस्थ तलस्य प्रदेशस्योपमा^६ समाना । भूः भूमिः । जज्ञे जायते स्म ।
 जनैद् प्रादुर्भावे लिट् ॥१४२॥ पादौचिति । हेमाब्जरुचिपिञ्जरी हेमाब्जानां हेमारविन्दानां रुच्या कान्त्या
 पिञ्जरी उपरञ्जितौ । तस्य भगवतः । पादौ चरणौ । जितेन निराकृतेन । रागमत्नेन राग एव मत्तः तेन ।
 भयात् भीतैः । समाश्रिताविव सेविताविव । रेजुतुः बभूवुः । लिट् ॥१४३॥ इतीति । इत्येवमादिभिः इत्येवं
 प्रमुखैः । देवनिकायपरिकल्पितैः देवानाममराणां निकायेन समूहेन परिकल्पितैर्निर्मितैः । चतुर्दशभिः चतुर्निरधि-
 कैर्दशभिः अतिशयैः । अन्यैश्च शेषैश्च । सः जिनः चन्द्रप्रभजिनेशः^७ । विद्युतेऽतिशये । ध्रुति दोषो लिट्

उनका शरीर नखों और केजोंकी वृद्धिसे रहित था ॥१३९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय
 और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने से—केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेसे प्रकट
 हुए उक्त दस गुणोंसे सुशोभित थे, और वे कर्मरजसे मुक्त होकर मुक्तिके समागमके लिए
 उत्सुक थे ॥१४०॥ उनकी भाषा अर्धमागधी थी । उसमें यह विशेषता थी कि वह समस्त
 भाषाओंमें परिणत हो जाती थी और इसीलिए वह समस्त प्राणियोंकी समझमें आ जाती थी ।
 समस्त प्राणियोंमें परस्पर मित्रता हो गई थी ॥१४१॥ उनके बिहार करते समय सभी श्रुतियों-
 के फल-फूल एक ही साथ उत्पन्न हो गये, तथा रत्नजड़ित पृथिवी, दपणतलकी भाँति दृष्टिगोचर
 होने लगी ॥१४२॥ स्वर्णकमलोंकी कान्तिसे प्रभावित होकर उनके दोनों चरण ऐसे सुशोभित
 हो रहे थे मानो उन (चन्द्रप्रभ) के द्वारा पराजित किया गया राग रूपी मल्ल भयके मारे
 उनके चरणोंकी शरणमें आगया हो । (बिहारके समय देव लोग उनके चरणोंके नीचे
 कमल रख देते थे) ॥१४३॥ देव वर्गके द्वारा किये गये इन (श्लोकोंमें वर्णित) तथा

१. स कृतरत्न । २. = सहातिशयभिन्नीः । ३. वा घातीनां । ४. वा सयेन । ५. वा मागध^० ।
 ६. वा वज्रिजालि । ७. = यस्याः सा, उत्समाना-इत्यर्थः । ८. वा जिनेश्वरः ।

प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः शुशुभे शुभचेष्टितः ।
 छत्रत्रयादिभिः सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः ॥१४५॥
 नवतिरुच्यधिका तस्य समायां गणिनोऽभवन् ।
 द्वे तीक्ष्णतरबुद्धीनां सहस्रे पूर्वधारिणाम् ॥१४६॥
 शिक्षाकाणामुभे लक्षे चतुर्भिरधिकैः शतैः ।
 अवधिज्ञानिनामष्टौ सहस्राणि महाधियाम् ॥१४७॥
 दश केवलनेत्राणां सहस्राण्यमलात्मनाम् ।
 चतुर्विंश सहस्राणि विक्रियद्विसुपेयुषाम् ॥१४८॥
 मनः पर्ययिणामष्टसहस्राणि सतेजसाम् ।
 सह षड्भिः शतैः सप्त सहस्राणि च वादिनाम् ॥१४९॥
 वरुणाद्यायिकाणां च विशुद्धतरचेतसाम् ।
 अशीतिश्च सहस्राणि लक्षमेकं क्षतैस्तसाम् ॥१५०॥

॥१४४॥ प्रातिहार्यैरिति । सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः सर्वेषां जगतां भुवनानामैश्वर्यं शंसिभिः सूचकैः^१ । सुरचेष्टितैः सुरैरमरैश्चेष्टिते निमिते । छत्रत्रयादिभिः छत्राणामातपवारणानां त्रयं तदेवादियेषां तैः । अष्टाभिः अष्टसंख्यैः । प्रातिहार्यैश्च प्रातिहार्याख्यातिशयैश्च । सः भगवान् । शुशुभे भाति स्म । शुभि दीप्तौ लिट् ॥१४५॥ नवतिरिति । तस्य चन्द्रप्रभजितेन्द्रस्य । समायां समवसरणे । अधिका त्रिभिरधिका । नवतिः नव वारान् दश । गणिनः गणधराः । अभवत् [अभवन्] अभूवन् । लङ् । तीक्ष्णतरबुद्धीना तीक्ष्णतरा पटुतरा बुद्धिर्धोयैषां तेषाम् । पूर्वधारिणा पूर्वधारिणाम् । द्वे सहस्रे । अभवताम् ॥१४६॥ शिक्षाकाणामिति । शिक्षाकाणां शिक्षाचार्य-मुनीनाम् । चतुर्भिः । अधिकैः । युते शते [शतैर्युते] उभे लक्षे नियुते । अभवन् । महाधिया महती धोयैषां तेषाम् । अवधिज्ञानिनां तृतीयज्ञानयुवानाम् । अष्टसहस्राणि^२ अष्ट च तानि सहस्राणि च । अभवन् ॥१४७॥ दशेति । अमलात्मनाम् अमलो निर्मल आत्मा येषां तेषाम् केवलनेत्राणां केवलं पञ्चप्रज्ञानं तदेव नेत्रं येषां तेषाम् । दश दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । विक्रियद्वि^३ विक्रियाम् ऋद्धिम् । उपेयुषां प्राप्तानाम् । चतुर्विंश चतुर्भिरधिका दश, चतुर्विंशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् ॥१४८॥ मन इति । सतेजसा प्रभावस-हितानाम् । मनःपर्ययिणां चतुर्विंशतिनाम् । अष्टौ अष्टप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । वादिना महावादिनाम् । षड्भिः षट्प्रमितैः । शतैः । सह साकम् । सप्तसहस्राणि । अभूवन् ॥१४९॥ वरुणेति । क्षतैस्तसा क्षतं नष्टमेनः पापं यासां तासाम् । विशुद्धतरचेतसां विशुद्धतरं प्रकृष्टनिर्मलं चेतो यासां तासाम् । वरुणाद्यायिकाणां वरुणादिका आद्या मुख्या यासां तासामायिकाणां च । एकं लक्षम्, अशीतिः सहस्राणि च । अभूवन् ॥१५०॥

इन्हीं सरीखे और भी, जिनकी कुल संख्या चौदह है, अतिशयोक्ति से वे सुशोभित हो रहे थे ॥१४४॥ उनकी चेष्टाएँ शुभ थीं । वे सारे जगतके ऐश्वर्यको सूचित करनेवाले छत्रत्रय—तीन छत्र आदि आठ प्रतिहार्योंसे सुशोभित थे ॥१४५॥ उनकी सभा (समवसरण) में तेरानवे गणधर थे और दो हजार तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी ॥१४६॥ दो लाख चारसौ उपाध्याय तथा आठ हजार तीव्रबुद्धिवाले अवधिज्ञानी थे ॥१४७॥ दस हजार निर्मल आत्मावाले केवली और चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धि-धारी साधु थे ॥१४८॥ आठ हजार तेजस्वी मनःपर्ययज्ञानी थे और सात हजार छह सौ वादी (शास्त्रार्थी) मुनि थे ॥१४९॥ एक लाख असी हजार वरुणा आदि आयिकाएँ थीं, जिनके समस्त पाप विलीन हो चुके थे, और जिनके हृदय अत्यन्त विशुद्ध हो

१. आ सूचकः । २. एष टीकाधयः पाठः, प्रतिपु तु 'अष्टौ सहस्राणि' इति सम्पुल्लभ्यते ।

आवकाणां च लक्षाणि त्रीणि सम्यक्त्वशालिनाम् ।

लक्षाणि पञ्च पूतानां आविकाणां^१ व्रतादिभिः ॥१५१॥

इत्थं विद्वत् भगवान्सकलां धरित्री-

मध्यासितो गणधरैर्मुनिवृन्दबन्धैः ।

धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः^२

संमेदशीलशिखरं स समाससाद ॥१५२॥

तत्रासौ परिमुक्तमासविहृतिः पक्षे सिते सप्तमी-

तिथ्यां भाद्रपदे स्थितः प्रतिमया सार्धं मुनीनां गणैः ।

निर्बाधं दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तयुषः^३ प्रक्षये^४

शुक्लध्याननिरस्तकृत्स्नकलुषः सिद्धेः पदं शिथिल्ये ॥१५३॥

आवकाणामिति । सम्यक्त्वशालिनां सम्यक्त्वसंपन्नानाम् । आवकाणाम् उपासकानाम् । त्रीणि त्रिप्रमितानि । लक्षाणि । अभवन् । व्रतादिभिः व्रतादीः । पूतानां पवित्राणाम् । आविकाणाम् उपासकवनितानाम् । पञ्चलक्षाणि । अभवन् ॥१५१॥ इत्थमिति । मुनिवृन्दबन्धैः । मुनीनां वृन्देन निकायेन वन्द्यैराधनीयैः । गणधरैः गणनायकैः । अध्यासितः प्राथितः (?) । धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः । धर्मस्योपदेश एव जलं तेन वर्धितानि प्रतिपालितानि भव्य एव विनयेजन एव सस्यानि यस्य सः । सः चन्द्रप्रभजिनेन्द्रः । भगवान् स्वामी । सकलां समस्ताम् । धरित्रीं भूमिम् । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विद्वत् श्रीविहार विधाय । संमेदशीलशिखरं संमेदशीलस्य संमेदपर्वतस्य । शिखरम् अग्रम् । समाससाद समाप । वदन् विगणनगत्ववयादनेषु लिट् ॥१५२॥ तत्रेति । तत्र संमेदशिखरे । परिमुक्तमासविहृतिः मासं मासपर्यन्तं विहृतिमासविहृतिः । 'कालाध्वनोर्वर्षाति' इति द्वितीया, परिमुक्ता मासविहृतिर्मे स । भाद्रपदे भाद्रपदमसे । सिते शुक्ले । पक्षे । सप्तमीतिथ्या सप्तम्यां तिथौ । मुनिना यतीनाम् । गणैः समूहैः । सार्धं साधम् । निर्बाधं परबाधारहितं यथा तथा । प्रतिमया प्रतिमायोगेन । स्थितः आसितः । दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तयुषः दशानां पूर्वाणां लक्षाणां परिमया प्रमाणेन युक्तयुषः । प्रक्षये परिक्षये सति । शुक्लध्याननिरस्तविश्वकलुषः शुक्लध्यानेन निरस्तानि निराकृतानि विश्वानि अलिलानि कलुषाणि पापानि यस्य सः । असौ । भगवान् । सिद्धेः मोक्षस्य । पदं स्वामम् ।

गये थे ॥१५०॥ तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पांच लाख व्रत आदिसे पवित्र श्राविकाएँ थीं ॥१५१॥ इस प्रकार भगवान् चन्द्रप्रभ ने—जिनके साथ समस्त मुनियोंके द्वारा बन्धनीय गणधर थे—सारी पृथिवीमें विहार किया और धर्मोपदेश रूपी जलसे भव्य जीव रूपी अनाजको विकसित किया । इसके पश्चात् वे सम्मेदाचल (शिखर जी) के शिखरपर जाकर बिराजमान हुए ॥१५२॥ वहाँ उन्होंने एक मास पर्यन्त विहारका परित्याग करके मुनि-सङ्घके साथ प्रतिमा-योग धारण किया । फिर भाद्रपद शुक्ला सप्तमी (भादों सुदी सातें) को शुक्लध्यानके द्वारा समस्त पापोंको नष्टकर सारी बाधाओंसे रहित, दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही

१. म आवकाणा । २. म 'सस्यसंमेद' । ३. म 'परिमाणस्यायुषः । ४. आ इ 'युषः सप्तम'— । ५. = येन । ६. वा यस्य । ७. वा परिबाधा' । ८. वा 'परिमाणयुक्ता' । ९. वा परक्षये । १०. = येन ।

संश्लिष्टामथ तस्य भूधरपतेश्चैत्यालयोद्भासिनः
 पूते मूर्धनि सार्धकामुकशतोत्सेषां तदीयां तनुम् ।
 संस्कृत्यागुरुचन्दनप्रभृतिभिः प्राप्नोतुपुण्योदयः
 कल्याणं प्रविधाय पञ्चममगुः स्वं स्वं पदं स्वर्गिणः ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्येऽष्ट दशः सर्गः ॥१८॥

विश्रिये आश्रयते स्म ॥१५३॥ संश्लिष्टामिति । अब निर्वाणममनान्तरम् । चैत्यालयोद्भासिनः चैत्यालयै-
 रुद्भासिनो देदीप्यमानस्य । तस्य भूधरपतेः तस्य प्रोक्तस्य भूधराणां पर्वतानां पतेः (पत्युः) प्रभोः समेदपर्व-
 तस्य पूते पवित्रे । मूर्धनि शिखरे । संश्लिष्टा संश्रिताम् । सार्धकामुकशतोत्सेषां सार्धम् अर्धसहितं—पञ्चाशत्-
 सहितं कामुकाणां शतमुखेषो यस्याः ताम् । तदीयां तस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । अगुरुचन्दनप्रभृतिभिः
 अगुरु, कालागुरु, स च चन्दनं च ते प्रभृती येषां तैः । संस्कृत्य दहनं विधाय प्राप्नोतुपुण्योदयः प्राप्नो लब्ध
 उक्ता मृता पुण्यानां शुभकर्मणामुदयो वेस्ते । स्वर्गिणः देवाः । पञ्चमं परिनिर्वाणस्यम् । कल्याणं मङ्गल-
 कार्यम् । प्रविधाय । स्वं स्वं स्वकीय स्वकीयम् । पदं स्थानम् । अगुः ययुः । लुङ् ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतानुदयाङ्गे चन्द्रप्रमचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोबल्लभाख्ये
 अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

समाप्तद्वयं ग्रन्थः ॥

मुक्ति प्राप्त की ॥१५३॥ इसके पश्चात् चैत्यालयोसे विभूषित उस सम्मेदाचलके पवित्र शिखर
 पर स्थित भगवान् चन्द्रप्रभके डेढ़ सौ धनुष ऊँचे शरीरका पुण्यात्मा देवोंने अगुरुचन्दन आदिसे
 अन्तिम संस्कार किया, फिर वे उनके मोक्षकल्याणके उत्सवको मनाकर अपने-अपने स्थानको
 चले गये ॥१५४॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिकृत उदयाङ्ग चन्द्रप्रम चरित
 महाकाव्यमें अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

॥ समाप्त ॥

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः ।
 सद्गुणोद्देशिगणाग्रगण्यो गुणारकः श्रीगुणनन्दिनामा ॥१॥
 गुणग्रामाभ्युधः सुकृतवस्तुः^१ मित्रमहसा-^२
 मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव ।
 स तच्छिष्यो ज्येष्ठः^३ शिशिरकरसौम्यः समभव-
 त्प्रचिख्यातो नाम्ना विबुध^४ गुणनन्दीति भुवने ॥२॥
 मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः^५
 सकलगुणसमुद्भूतस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।
 अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
 स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
 भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमतेर्भास्वत्समानत्वियः
 शिष्यस्तस्य गुणारकस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।
 स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तिः सतां
 संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥४॥
 शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा ।
 श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं रचितं रचनोज्ज्वलम्^६ ॥५॥

श्री गुणनन्दी नामके आचार्यं थे । वे भव्यजीव रूपो कमलोको विकसित करनेके लिए सूर्यं थे; समस्त मुनियोंके नायक थे गणधरके समान सम्मानित थे; सज्जनोंके अग्रसर थे; देशगण-
 के मुनियोंमें प्रमुख थे और थे गुणोंकी खान ॥१॥ एक राजाकी भाँति उनके लिए कोई भी काम कठिन नहीं था । उनके प्रथम शिष्य विबुध गुणनन्दी थे, जो समस्त गुणोंके समुद्र थे; पुण्यके निवास स्थान थे; सूर्यं सरीखे तेजस्वी थे; प्रकृत्या चन्द्रमाकी भाँति सौम्य थे और अपने नामसे सारे ससारमें प्रसिद्ध थे ॥२॥ उन (विबुध गुणनन्दी) के शिष्य अभयनन्दी थे, जो समस्त मुनियोंके द्वारा पूज्य थे; जिन्होंने समस्त मिथ्यावादोका निरसन किया था; जो समस्त गुणोंमें समृद्ध थे; जिन्होंने जैन धर्मकी वृद्धिकी थी; जिन्होंने अपनी गम्भीरताकी महिमासे समुद्रको भातकर दिया था और जो भव्य जीवोंके एक मात्र बन्धु थे ॥३॥ उनको बुद्धि भव्य-
 जीव रूपो कमलोके विकासके लिए सदा तत्पर रहा करती थी; वे सूर्यके समान तेजस्वी थे; बड़े गुणी थे और थे अत्यन्त बुद्धिमान् । उनके शिष्य श्री वीरनन्दी थे; जिन्होंने समस्त वाङ्मय को अपने अधीनकर लिया था; जिनकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी; जिनके वचन कुतर्को-
 का निवारण करनेवाले थे और इसीलिए जो सत्पुरुषोंकी सभामें विजयी होते थे ॥४॥ उन्होंने सहृदय वीरनन्दीने यह चन्द्रप्रमचरित लिखा है । यह क्या शब्द और क्या अर्थ दोनों ही दृष्टियों-
 से सुन्दर, और रचनामें मोतियों जैसा उज्ज्वल है ॥५॥

१. अ देशगणी हि गण्यो । २. अ ग्रामाभ्युधः । ३. अ सुकृतवस्तुः । ४. क ख ग घ भव्यमहसा
 ५. अ क ख ग घ स तस्याद्यः शिष्यः शिशिर । ६. क ख ग घ विविधगुण । ७. क ख ग घ भव्याप्रवादः
 ८. अ नोद्यतमते । ९. अ वाङ्मयातकीर्तिः । १०. अ क ख ग घ मौक्तिकोज्ज्वलम् ।

‘यः श्रीवर्मनृपो बभूव बिबुधः सौधर्मकल्पे तत-
 स्तस्माद्याजितसेनचक्रभृद्भूयश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।
 यश्चाजायत पद्मानाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो
 यः स्यात्तीर्थकरः स सत्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

जो क्रमशः (१) राजा श्री वर्मा, (२) प्रथम स्वर्गमें देव, (३) अजितसेन
 चक्रवर्ती, (४) अच्युतेन्द्र, (५) राजा पद्मानाभ, (६) वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र और
 फिर (७) चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर हुए, वे भगवान्, चन्द्रप्रभ हम सबको रक्षा करें ॥६॥

इति ॥



परिशिष्ट

१. पञ्जिका

स्वस्ति श्री सरस्वत्यै श्री भुतमुनिमुनये नमः ।

प्रणम्य वीरं नृसुतासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसंमतम् ।

करिष्यते संशयभाममञ्जिका मयापचन्द्रमहाकव्यपञ्जिका ॥१॥

अथ श्री वीरनन्द्याचार्याः शिष्याणां हितानुबिन्तनप्रवणमनसः श्रीचन्द्रप्रभस्वामिचरितं महाकाव्यं प्रारब्धुकामास्तदाद्यौ विशिष्टेष्टदेवताभिषंशनार्थमाद्याविदममिदमन्ते—श्रियं क्रियादिस्थादि । अवयवार्थप्रतिपत्तिविका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति व्याख्यापद्धतिरतोऽवयवार्थो निरूप्यते । तत्र, अवयवाः—स सचराचरे जगति प्रसिद्धो जिनः । श्रियम् आस्त्यन्तिको लक्ष्मोम् । क्रियात् विधेयात् । जयति कर्मातीति निति जिनः । उपलक्षणत्वात् सर्वज्ञः । कर्मातीत्ययं हि सकलजत्वं सुगसिद्धमेव । किमभियानोऽसावगजः । अग्रे प्रथमं सकलजिनानां जातोऽग्रजः । कान्तापेक्षया बाग्रजः । अग्रजग्रहणावनादिपुरुषस्य ब्रह्मणः प्रीतिरित्येके, तन्निरासार्थं जिन इति विशेषणत्वम् । अस्य च विशेषणत्वम्; यतस्तस्य ब्रह्मणोऽनाविदिष्टत्वात् सुविशुद्धत्व-प्ररूपणमेव; पुनरवतीर्थं कर्मजयाभावात् । यद्यवतीर्थं कर्माणि जयति तदा सुविशुद्धपरमात्मत्वाभावः इत्यलमतिप्रसङ्गेन । यत्तदोन्मत्त्यसंबन्धाद् यस्य भगवतः श्रीमदादिजिनस्य । सभा समवतृप्तिः । बभौ शुशुभे । बभ, सुरागमे देवागमने । यदा ज्ञानमुत्पन्नं तदैव देवा बायाता इति भावः । किलक्षणा, नटस्तु० नटस्तद्वच ते सुरेन्द्राश्च नटस्तुरेन्द्राः तेषां नेत्राणि नटस्तुरेन्द्रनेत्राणि तेषां प्रतिविम्बानि नटस्तुरेन्द्रनेत्र-प्रतिविम्बानि तैर्लाञ्छिता नटस्तुरेन्द्र० नृत्यहेबेन्द्रनयनप्र (ति) कृतिचिह्निता । पुनः किं लक्षणा, रत्नमयी रत्ननिर्वृता । प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट् । किलक्षणेव कृतोपहारेव कृत उपहारः । पूत्राविशेषो यस्यां सा । विहितरचना । कैर्महोःपलैः अरविन्दैरिवेति । अथवा महाकाव्यानां सकलसभासु विद्वद्भिरादरणीय-त्वात् ॥ तदभिमतव्याख्यानेऽग्रजो रामचन्द्रस्तथापि भ्रातृचतुष्टयापेक्षयाग्रजत्वात् । जिनः समस्तान् शत्रून् जयतीति जिनः । तस्यापि प्राणितवरप्रदातृत्वाद् ॥ इन्द्रादिभिः सभायां पूज्यत्वम् । यो यच्छत्रून् निहन्ति स तैः पूज्यो भवतीति । अथवा बौद्धमतापेक्षया जिनो बुद्धः शेषं तथैव । ननु चाचार्यैरभिमतदेवतानमस्कारः प्रथमं कथं न विहितः, इत्यत्रोच्यते । 'आशोर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति बचनवादीशोर्वचनेऽ-पीष्टाभिषंशेनमेव, तत्र भगवतो गुणातिशयस्य वर्णनात्, तस्य च मङ्गलहेतुत्वात् । किं तन्मङ्गलम्, 'मं मल-मित्युक्तमुपचारसमाध्यायत् । तद्विहालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥१॥' अथवा 'मङ्गलशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः । तत्कालीत्युच्यते सङ्घर्मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥२॥' तन्मङ्गलं द्विविधं मुख्यमोपचारिकं चेति । 'यथार्हद्विगुणस्तोत्रं तन्मुख्यं मङ्गलं मतम् । अमुख्यं तद्विगुणोपम्यात्पूज्यकुम्भादि लौकिकम् ॥' इति । सभाख्यानजिनत्वाद्विगुणप्रकाशनत्वमेव मङ्गलमिदम् । आशीशच विनयविबोधविध्याणां निबिन्नतः काव्याविष्णुस्तुतिजननाय स्वस्य च तथैव परिसमाप्त्यादिकलप्रकाशनायेति । तदुक्तम्—'विघ्नाः प्रणश्यन्ति अयं न जातु न क्षुद्रदेवाः परिलङ्घयन्ति । अर्चान् यथैष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥' ॥१॥ अथाष्टमजिनानुस्मरणयाह—स पातु इत्यादि । स जिनः । पातु रक्षतु । कात्, वः युष्मान् । स कः, शशिलाञ्छनः शशी चन्द्रो लाञ्छनं यस्य सः । यत्तदोन्मत्त्यसंबन्धात् । विद्वद्युते चकासे । कैः, अमरैः न त्रियन्त इत्यमरा देवास्तेः । किं लक्षणं, विनिमग्नमूर्तिभिः निमिमाना मञ्जन्तो मूर्तिर्देवां ते विनिमग्नमूर्त-

१. 'विरचि' । २. व प्रतीति । ३. व 'न्यादिमयट् । ४. व 'कु' नोपलभ्यते । ५. व स्वस्तिकान्त-
शब्दः पाठो नास्ति । ६. व वाचा । ७. व 'हंस' ।

यस्तैर्मज्जत्कार्यैः । न, प्रमाविताने प्रमाया वितानं प्रमावितानं तस्मिन् प्रमाभेण्डले । किं लक्षणं, स्फटिकोऽ-
स्फटिकोपलस्य प्रमेव प्रमा यस्य तत् तस्मिन् स्फटिकपाषाणसदृशकान्तो । पुनः कथं भूतैरिव, दुग्धं दुग्धपयोभेः
क्षीरसमुद्रस्य मध्यं गच्छन्तीति दुग्धपयोविमरुद्वास्तैः क्षीरसमुद्रमध्यस्थितैरिव । प्रामाण्डलक्षीरसमुद्रयोपमानो-
पमेयभावः ॥२॥ अथ शान्तिजिनमभिष्टोति^१ । अनन्तविज्ञानमित्यादि । य. विष्णुः । अनन्तचतुष्टयं चत्वारोऽ-
वयवा यस्य तच्चतुष्टयम् अनन्तं च तच्चतुष्टयं च तत् । 'अवयवे तयद् ।' विभक्तिं दधाति । के-
तेऽवयवाः अनन्तं च तद्विज्ञानं चानन्तविज्ञानं तत् । तथा अनन्तं च तद्वीर्यं चानन्तवीर्यं तस्य भावोऽनन्त-
वीर्यता ताम् । तथा अनन्तं च तत् सौख्यत्वं चानन्तसौख्यत्वं तत् । तथानन्तं च तद्दर्शनं चानन्तदर्शनं
तद् इति । अथानन्तं विज्ञानं यत्र तदनन्तविज्ञानं, तदनन्तचतुष्टयस्य विशेषणत्वाद् बहुव्रीहिरपि
सर्वत्र । विज्ञानं केवलज्ञानम् । वीर्यं बलम् । सौख्यं सम्यक्त्वम् । दर्शनं दृष्टिरिति । स प्रसिद्धः ।
शान्तिः भगवान् षोडशतीर्थकरः । न. अस्माकम् । भवस्य दुःखाभा शान्तिरुपगमस्तस्यै संसारदुःखोपशमाय ।
अस्तु भवदुः । समुच्चयोऽयम् ॥ ३ ॥ अथात्यतीर्थकरं नमस्करोति । अहं श्रोवीरनन्दो । वीरं नमामि
नमस्करोमि । किलक्षणं स्मरणीयं परोक्षीभूतम् । कस्याः जराजरत्याः । अथवा जरैव जरती वृद्धस्त्री तया-
स्मरणीयं न स्मरणाहोऽस्मरणीयस्तम् । जरा कथयति मन्वेनमोक्षं न स्मरामि मोक्षलक्ष्म्याः^२ स्वयंवरीभूतोऽयं
यत इति । अस्वयंवराः स्वयंवरा क्रियतेऽनयेति स्वयंवरीभूतस्तम् । कस्या अनन्तवर्धः^३ । अनन्तवरा चासौ
श्रीशिवानन्दवरश्चीतस्या मोक्षलक्ष्म्या । पुनः किलक्षणं, निरामयं निर्गतं आमयाभ्रामयो निर्धायिस्तम् । वीरं
विशेषेण इत गतं भयं यस्मात् स तं वीरभयम् । भव छिनत्तीति भवच्छिद्यं तं संसारच्छेदकम् । नमुराभुरस्तुतं
नरश्च सुराश्चासुराश्च नमुरासुरास्तं स्तुतस्तं मनुजदेवदेवस्तुतमिति । ननु च चत्वार एव तीर्थकरा । कथम्-
भिष्टुता, न सर्वेऽपीति चेद् उच्यतेऽनन्तवर्धभिराथ—बृहत्कथाप्रवरस्याप्य काव्यस्य विस्मरमयात् । अथवा
उत्सर्पिणिसमयादितोऽर्थप्रवर्तनाद् आदिजिनस्याभिष्टव्यं, प्रारब्धकाव्यकथायाऽप्यन्त्याद् अष्टमस्य, निर्विघ्नतः
शास्त्रपरिसमाप्तेः कारणत्वात् शान्तेः, वर्तमानतीर्थस्वाभित्वाद् अभ्यस्मेति । तद्वापि (तथापि) शेषाणां
नमनाकरणेऽपरीक्षकत्वमिति चेत्, इत्यत्रोच्यते सर्वेऽपि नृता भगवताचार्येण—वीरं विशिष्टाम् ईं समवसरणादि-
लक्षणां लक्ष्मीम् ईरते इति वीरस्वीतीर्थकरसमुदायस्तं नमामि । यतः सर्वेषामपि श्रो पञ्चकल्याणाभिधा प्राति-
हार्यादिलक्षणा समानैव भूयते भूयते, इति । शेष व्याख्यातं तथैव^४ । तथा परममयाभिप्रायेण व्याख्यानकरणे
ईश्वरं महादेवं नमामि तस्यापि जराजरत्या अस्मरणीयत्वात्, अनन्तवर्धश्च स्वयवस्तवान्, निरामयत्वात्,
वीरभयत्वात्, भवच्छिद्यत्वात्, वीरत्वात् महाभटत्वात्, नमुराभुरस्तुतत्वाच्च । तथानन्तवर्धः अनन्तवरा
निवचला या श्रीलक्ष्मी पाणिगृहीतो तस्या स्वयमात्मना वरीभूतं वरमेव लक्ष्मोपगतम्; शेषं तथैव । तथा
भवच्छिद्यं भयं छिनत्तीति^५ संसारतिक्रान्तं ब्रह्माणम् । शेषविशेषाणि पूर्ववेदिति ॥ ४ ॥ अथ जिनागमिष्टुय
जिनागममनुस्मरति—हितमित्यादि । अहं जिनागमं जिनप्रवचनम् । शरणं त्राणम् । गतोस्मि प्राप्तो भवामि ।
कस्मात् ? शरण्यभूतत्वात् । कुतः शराणाहम्, प्रवितीर्णा दत्ता मुक्तिर्येन स तम् दत्तमुक्तिवत्वात् । अतएव
भयजननामैकबान्धवत्वं तस्य । न चेदमसिद्धं भव्यप्राणिबान्धवत्वम्, परमागमस्य दितत्वात् । कुतश्च हितम्,
विसंवादविजितस्मिति^६ त्वात् । विसंवादोऽप्रतिपत्तिस्तेन विजिता स्थितिर्त्येव स तम् । अतएवापरैरकान्त-
वादिभिरनेघमजयेयमिति हेतुमद्व्याख्यानामिदम् । हेतुरयं जातिर्वा ॥ ५ ॥ अथ परमगुणा प्रतिपादितमागममनु-
स्मृत्यापरगुमारतोमनुस्मरति—गुणान्वितेत्यादि । परं केवलम् । हारयष्टिहरितत्वं दुर्लभं तु प्राप्य न, किन्तु
समन्तभद्रादिमया भाग्यो च । समन्तभद्रादिभ्यो जाता समन्तः । किलक्षणा हारलता भारती चेति तुल्यत्व-
मुच्यते । गुणैस्तनुभिर्दंवरकैरन्विता, पक्षे गुणैरौदार्यादिभिः । तदुक्तम्—'औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्ति-
प्रसन्नता । समाधिः दलेष ओजोऽय माधुर्यं सुकुमारता ॥' इति भारतीगुणाः । पुनः किलक्षणा, निमं^७ वृत्तानि
वर्तुलानि च तानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि च नूतमौक्तिकानि, निमलानि मलरहितानि वृत्तमौक्तिकानि

१. व 'प्रमा' इति नास्ति । २. व 'स्तीति । ३. व 'ते' नास्ति । ४. व 'लक्ष्म्या । ५. व तथैव
स्थाख्यातम् । ६. व 'स्थिति' ।

वस्था सा निर्मलवृत्तनीतिकता, यत्ने निर्मलानि निरवधानि च तानि वृत्तानि यथानि च निर्मलवृत्तानि तानि
 कीदृशकानीय वस्था सा तथा । विद्यामन्त्राणि यथा—‘अनर्थकं श्रुतिकटुं व्याहृतार्थमलक्षणम् । स्वसंकेतप्रवृत्त्या-
 र्थमसिद्धमसंमतम् ॥’ इति । पुनः किलतथा । मरुतमैः पृथ्वप्रधानैर्विद्विद्भिरप । कण्ठविभूषणीकृता अकण्ठ-
 विभूषणं कण्ठविभूषणं क्रियते स्म या सा कण्ठविभूषणीकृता । उभयवाचि साम्यम् । तुल्ययोग्य (गि) तैव-
 लंकृतिः । अथवेत्यं व्याख्यानकरणे व्यतिरेकश्च । उभयत्र गुणसाम्येऽपि समन्तद्रव्यामिच्छामन्त्राणां भारती
 दुर्लभैव अन्वय न प्राप्यते च, पुनः हारलता दुर्लभा न; सर्वत्रापि दृश्यमानत्वात् । भारतीदुर्लभत्वं च समन्त-
 मन्त्रादिदुर्लभत्वात् । तदुक्तम्—‘विद्वन्मन्त्रतया सदस्वतितरामुद्बुद्धबाह्यम्बराः शृङ्गारादिरतीः प्रमोदजनकं
 व्याख्याननातन्वते । ये ते च प्रति सप्त सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो येभ्यस्तत्परमारमतस्वविषयं ज्ञानं तु तै
 दुर्लभाः ॥’ अन्यच्च ‘सुप्रापाः स्तनयित्वाः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये प्रयाशं प्रसुताश्चलद्रुकृतयो गर्जन्यमन्दं
 मुखा । ये प्रागन्धसिक्तान् फलद्विमुदकैर्ग्रीहीत्रयन्तो नवान् सस्त्रेणापि पृणन्त्यन् जनयितुं ते सद्यः दुर्लभाः ॥’
 ॥ ६ ॥ अथो प्रागन्धस्तगुणदोषयोः सुजनदुर्जनयोर्लक्षणमाह—गुणानगुल्लभित्यादि । सुजनः शिष्टः । गुणान्
 लोच्योदायस्त्वैयंदाक्षिण्यप्रियहितपूर्वकप्रथमाभिधाषणादीन् । अगुल्लन् अस्वीकुर्वन् । निर्वृतिं लोच्यम् । न
 प्रयाति न गच्छति । दुर्जनः दुष्टः । दोषान् तद्विपरीतान् । अवदन् अकथयन् । निर्वृतिं न प्रयाति । च—अव्यया-
 नामनैकाधर्म्याद् यस्मात् । चिरंतनाभ्यां चिरंतमः पुरातनश्चासावभ्यासो भूषप्रवृत्तिश्च चिरंतं स एव
 निरन्तरं चिरंतनाभ्यासनि ॥ तेन ईरिता मेरिता मतिर्बुद्धिः । गुणेषु यथाः प्रकाशनेषु । दोषेषु अवयवः सूत्रकेषु ।
 नामते उदाहते । हेतुरयमलंकारः ॥ ७ ॥ अथ तयोरेपि सत्कारमाह—गुणानित्यादि । यथैव प्रशंसया
 दत्तायथा । गुणान् लोचन्यादिकान् । उपदिशन् प्रकथयन् । सुजनः शिष्टः । गुरुत्वबुद्ध्या गुरुत्वमत्या । काव्येषु
 सदर्थं प्रकथयत्वात् सुजनं गुरुत्वं वर्तते इति गुरुत्वबुद्धिः । नमस्ते नमस्किमते । तथैव तैवैव प्रकारेण ।
 प्रणिन्दया प्रगर्हणया । दोषान् दिशतः प्रतिपादयतः । खलस्यापि दुर्जनस्यापि । गुरुत्वबुद्ध्या मया अयमञ्जलिः
 कृतो विहितः । ‘तो यथावञ्जलिः पुमान्’ । यतो हि दुर्जनः काव्येषु दोषान् गृहीत्वा प्रकाशयति तेन कवि-
 निर्दोषमेव काव्यं बध्नातीति दुर्जनीऽपि सम्मतिजनकत्वाद् गुरुत्वेति भावः । तदुक्तम्—‘दोषान् कादञ्च नः
 प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छदर्थं सादं तैः सहसा भूषे (त्रिवे) यदि गुरुः पश्चात् करोत्येव किम् । तस्मान् मे
 न गुरुर्गुरुस्तरान् कृत्वा लघुद्वयं स्फुटं ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं लोभं खलः सद्गुरुः । तुल्ययोगितेय-
 मुपमा वा ॥ ८ ॥ अथात्मनो गर्भपरिहारमाह—सुदुष्करमित्यादि । गणस्याधिपः—ऋष्यजिगाभाबकभाषिका
 इति मणः; अथवा ऋष्यन्यति-अनयार-मुनयस्तेषां बाधिपः, गणचरोऽपि । अपि विशेषे । किं पुनरन्यः । यद्
 अर्हचरितम् । सुदुष्करं दुःखेन कर्तुं शक्यं दुष्करं, सु अतिशयेन दुष्करं सुदुष्करम् । मनुते जानोते । वाग्येवी
 सरस्वती अपि । आत्मनः स्वस्य यद् भारं मनुते । अल्पधीः अत्या घोरस्तेत्यल्पधीर्मन्दमतिः । अहं तद्विचित्रुः,
 विद्यालुमिच्छुः । सतां महद्बुद्धीनाम् । हास्यतां हास्यत्वम् । न यास्यामि (इति) न, अपि तु यास्यामि ।
 ज्ञानी नकारो प्रकृतं गमयतः । यथा प्रकृतोऽर्थः । ‘मन्त्रः कथितः प्राचीं गमिष्याम्युपहास्यताम् ॥’ इति ।
 अथवा नु अहो ध्रुवं हासयतां न यास्यामीति काहुः, पाठांतरम् । ज्ञानेन ॥ ९ ॥ अत्रस्यानुष्ठानेऽपि अस्या
 करणीबुद्धमाह—समाधीत्यादि । तथापि सत्करणे हास्यप्राप्ताधिपि । सुदुःप्रवेष्टेऽपि सुदुःखेन प्रवेष्टो यत्र स
 सुदुःप्रवेष्टः सत्तमपि । गुरुसेतुं गुरुश्च एव सेतवस्तैर्वाहितस्तस्मिन् आचार्यपरम्पराक्षिप्यति । तस्मिन्
 प्रविष्टे । पुराणं पुराणमेव सागरस्तस्मिन् पुराणसमुद्रे । यथात्मं आत्मनः क्षत्तिमनतिक्रम्य यथात्मशक्तिः ।
 प्रवतोऽस्मि यत्नवान् मन्त्रानि । यथाधिं भूषस्य सजातीयकुलस्याधिपतिः स्वामी यथाधिपतिः तेन प्रवर्तितो
 वाहितस्तस्मिन् । पवि मार्गे । पोतकः कलमः । ‘पोतः पाकोऽर्मको डिम्बः’ इति । इव यथा, उपमेये । यथा
 सुदुःप्रवेष्टेऽपि पुरातनसमुद्रे महासमुद्रे गुरुसेतुं गुरुश्च गुरुसेतुस्तेन वाहिते प्रचालिते पवि मार्गे
 यथाधिपतिना प्रवर्तिते सति पोतकोऽपि यथात्मशक्तिः प्रवतो भवति तथा श्रीवीरजाधप्रकृतिरेऽपि पुराणसमुद्रे
 श्रीजिनसेनाविसेतुना प्रवतोऽस्मीति भावः ॥ १० ॥ अथ कथावतारः—अथास्तीत्यादि । अथ अनन्तरम् ।

१. व 'चिता' । २. व दुर्लभाः सद्यः । ३. व 'हुः' । ४. अ व यस्मात् । ५. अ 'रयः' ।

श्रुज्जेन (ण) शिलरौपेलि[खि]न उद्भूटः अमराणा देशानामालयो येन सः, शिलरोद्घृष्टनाकः । द्विपू०
 द्वयोः पूरणो द्विपूरणः सबासो द्वीपश्च द्विपूरणद्वीपस्तत्र गतो द्वितीयद्वीपस्थितः । द्वयोर्मि आकाशे । कलमाद्य०
 कलमानां कलमशालीनामग्राणि कल० तानीव पीताः पिङ्गलाः (पिङ्गला पीताः) तैः कलमशालिकडारैः ।
 गश्तिभिः घृणिभिः । अमेवा मेघरहिताम् । तद्विच्छिद्यं तद्विद श्रोतद्विच्छेस्ता विद्युच्छोभाम् । सूजन्
 उत्सावयन् । पूर्वमन्दरः पूर्वस्या मन्दर — पूर्वमेरु । अस्ति विद्यते । आत्यलंकारः ॥ ११ ॥ अब नभभिः
 पक्षैर्वेशमुपवर्णयति — विभूष्येत्यादि । देशः विषय । समस्ति विद्यते । कथंभूतो देशः ? प्रथितः प्रतीतः । कया
 मङ्गला० मङ्गलावतीति संज्ञया । कथंभूतया अर्थयुक्तया अर्थनाभिधेयेन युक्ता अर्थसहिता तथा । पुनः कथं-
 भूतः नाकि० नाकिना देशाना निवासः स्वर्गस्तेन सन्निभः सद्गुणः । कया, श्रिया लक्ष्म्या । कस्य आत्मनः स्वस्य ।
 पुनरपि कथंभूतः । स्थितः वर्तमान । क्व, भुवि । किंकृत्वा विभूष्यालंकृत्य । कं तत्पू० तस्य पूर्वविदेहस्तत्पूर्व-
 विदेहस्तम् । जाति ॥ १२ ॥ भूमयः धरिभ्यः । हरन्ति मृणन्ति । कानि, चेतांसि मनासि । कस्य जनस्य
 लोकस्य । कथंभूता, चिताः संभूताः । कै समानसस्याङ्कुरसवयैः सस्याना घाग्यानामङ्कुराः अमिनवप्ररोहाः
 समानाश्च ते सस्याङ्कुराश्च० समान० तेषा संवया संघातास्तैः । कथंभूतैर्निरन्तरैः सारैः । पुनः कथंभूतैः
 शुकाङ्ग० शुकानामङ्गानि शुकाङ्गानि तानीव कोमलानि मृद्विनि तैः । पुनः कथंभूता इव हरिश्मनित्रा०
 हरिश्मनीनामवमगर्जना घ्रातो निबहस्तेन विनिमिताः रचिता इव । उपमेयम् ॥ १३ ॥ निशाकरांशु इत्यादि ।
 य. देशः । विभाति शोभते । कै सरोवरं तटाकैः । किलक्षणं. निशा० निशाकरस्याशब्दो निशाकराशवस्तथा
 प्रकरो निशाकराणुप्रकरः स इवाच्छ वारि येयु ते, तै चन्द्रकरनिकरनिर्मलजलैः । पुन किलक्षणैः विनिद्र०
 विनिद्राणि च तानि नीलोत्पलानि च विनिद्र० तेषा रश्मयस्तै रञ्जितास्तै । कैरि वण्टैरिव प्रदेशैरिव ।
 कथंभूतैः च्युतैः पतितैः । कस्य, विहायसः आकाशस्य, कया, निरालम्बतया निगंत आलम्बो यस्य स
 निरालम्बस्तस्य भावो निराकम्बता तथा आलम्बरहिततया । उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥ निषामु इत्यादि । जलराशेः
 समुद्रस्य योचितो नद्यो जलराशियोपितः । बहन्ति यान्ति । कथंभूताः, कूल० कूलं रोधमु (उ) द्रुजन्ति
 उदर्यन्तीति कूलमुद्रजाः । अलु (क्) क्वचित् । पुनः किलक्षणा परितूरितमन्दरं यात्रा ताः परितूरितामराः
 संभूतमध्या । कै. पयःप्रवाहैः पयसा प्रवाहाः पयःप्रवाहास्त जलपूरैः । कथंभूतैः शीताशु० शीताशुमणोना
 चन्द्रकान्ताना स्थलानि तैस्त्वचूतैः सृतैः । कामु निशामु रात्रिपू । केऽपि निदाषकाण्येवपि उत्पणोपगमेवपि ।
 क्व, यस्मिन् देशे । अतिशयः ॥ १५ ॥ सदायमित्यादि । विरदा आपदा । जानु कदाचित् । न बिलोक्यते न
 निरोध्यते । कोऽसौ, लोकः जनः । कथेव विहिता० विहिता कृता अम्यमूया गुणैवपि दोषारोपो यसा सा
 तथा । कथमिति । इतीति किम् । अयं जनः सदा सर्वदा । कृताधिकारः कुनोऽधिकारो येन स । कया, धन०
 धनानि च धान्यानि च धन० तेषा संपत् तथा । किलक्षणया, अस्मन् मम प्रतिपक्षभूता अस्मत्प्रतिपक्षभूता तथा
 मत्सपत्न्या । क्व, यस्मिन् देशे । उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥ विकासवद्भित्त्यादि । यो व्यनक्ति प्रकटयति । किं तत्
 समस्त० समस्तश्चासौ देशश्च समस्तदेशस्तस्याधिपतिस्तस्य भावस्तत् । कस्य, आत्मन स्वस्य । कै स्थल-
 नीरजाकरैः नीरजानामाकरा नीरजाकरा. स्थलानां नीरजाकराः स्थलनीर०, तैः । किलक्षणैः, त्रिकाशो
 विद्यते येयु तेषु तै विकासवन्तस्तैः । पुनर० शरदभ्राणोव पाण्डुराः शरदभ्रपाण्डुरास्तैः । कैरिव, सितानि च
 साम्यान्पत्राणि च सितात० तैः [इव] । किलक्षणैः प्रसारितैः विस्तारितैः । क्व, लोके । उपमा ॥ १७ ॥
 समुज्ज्वलाभिरित्यादि । वसुमतो वसुधरा । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्याः सा । अत्रायत संज्ञाता ।
 कथंभूता कुत्तास्पदा कृत आस्पदो यथा (कृतं विहितमासादमाधयो यस्याः) सा विहितावकाशा । कामिः
 क्षमिभिः आकरैः । किलक्षणानि, जनविहेतुभिः जननामुद्भवैः संपत्तयस्ताः हेतवो यास्ताभिः । पुनः
 कथंभूताभिः समुज्ज्वलाभिः विशदाभिः । पुनरपि क० कनकं सुवर्णमादियेवा धातूना ते कनकाद्यस्तेषां
 योग्य उत्पत्तिस्थानानि यास्ताभिः । पुनरपि क० विकासनीभिः विकासो विद्यते यामु ता विकासिग्यस्ताभिः ।
 कथं समन्ततः सामस्येन ॥ १८ ॥ शिखावलीत्यादि । यस्मिन् निगमाः प्राप्ताः । विभान्ति । कैः नूतन०

नूतनाणि नवीनानि च तानि धान्यानि च तेषां राशयस्तैः नवीनधान्यपुञ्जैः । कथंभूतैः बहिःस्थितैः बाह्ये पुञ्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः शिखाबलिं शिखानामाहत्यः पङ्क्तयः शिखां तानिः लोढो घनाघनानां नेषानामध्वा यैस्ते तैः शिखरपङ्क्तिस्पादकासी । कैरिब कुलमेदिनीधरैः कुलपर्वतैरिव । किमिशिष्टैस्तैः उपयातैः समागतैः । कस्मात् कुतूहलात् कौतुकात् । उपमा ॥ १९ ॥ गतैरित्यादि । यः मङ्गला-
वतीविषयः । भाति चकास्ति । कैः ग्रामपुरैः ग्रामाश्च पुराणि च ग्रामपुराणि तैः । किलक्षणं, निरन्तरोद्यानं निरन्तराणि सान्द्राणि च तानि उद्यानानि च निरन्तरोद्यानानि तेषां वितान मण्डनं (ल) तेन राजितानि शोभितानि तैः, अथवा उद्यानानां वितानमुद्यानवितानं तस्य राजिः उद्यानवितानरात्रिः, निरान्तरा वासी उद्यानराजिश्च निरन्तरोद्यानः सा संज्ञाता येयुः तानि तैः । उत्प्रेक्ष्यते कैरिब गतैरिव । वा समाससिक्तं निकटत्वम् । कया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । कासाम् इतरेतराभियाम् इतरेतरेषां श्रिय इतरेतराभियस्तासां परस्परलक्ष्मणाम् । कथंभूतानाम्, अनन्वयभूतानां न अन्यत्र भवन्तीत्यनन्वयमुपस्था-
साम् । एताः श्रियोऽस्मास्त्वैव नान्यात्रेति परस्परदिदृक्षाभिप्रायः ॥ २० ॥ देशमुखवर्ण्यदानीं नगरमु-
पयति—वणिक्पथेत्यादि । अथ जानन्तयैः । तस्मिन् देशे । पुरं नगरम् । समस्ति विद्यते । किमभिधं रत्नसंचयं नाम । किलक्षणं वणिक्पथं रत्नानां संचयः संवातो रत्नसंचयः वणिक्पथेषु विपणिपथेषु स्तूपितं पुञ्जितो रत्नसंचयो यत्र तत् । तथा यत्पुरं विभाति । कैः आलानितमत्तवारणैः मत्तारिब ते वारणाश्च मत्तवारणाः क्षोबगजा, आलानिता उत्तन्मिताश्च ते मत्तवारणाश्च आलानिः तैः । च पुनः । हर्म्यैः धनिनिवासैः । किलक्षणं ममतवां सहमत्तवारणैर्वर्तन्ते इति समत्तवारणानि तैः प्रवीक्ष्यते इति । यमकम् ॥ २१ ॥ गभीरमादेरित्यादि । यत्परिक्षा यस्य क्षातिका । विराजते विभासते । किलक्षणा, प्रवीक्ष्यते पुष्पुलतरा । पुनः किलक्षणा, संकुलान्तरा संभूतमध्वा । कैः पयोधरैः जलदैः । किलक्षणैः, गम्भीरस्रग्दैः । पुनः किलक्षणैः, प्रतिमानिपातिभिः प्रतिच्छायावतैरितैः । पुनः किं मन्दसमीरं मन्दस्वासी समीरणश्च तेन ईरितास्तैः अल्पवायुप्रेरितैः । कैरिब जलेभ्यूरिब वारिवारणसंज्ञातैर्या । उपमा ॥ २२ ॥ परीतशृङ्गै-
रित्यादि । परिधिः प्राकारः । विभाति । कैः नक्षत्रगणैः तारकानिकरैः । किलक्षणैः, परीतशृङ्गैः परीतानि वेष्टितानि शृङ्गाणि यैस्ते परीतः, तैः । पुनः किलक्षणैः, स्फुरन्ति अंगूना जालकानि येषां ते, तैः, स्फुरन्-
शुजालकैः भास्वत्करनिबहैः । कैरिब, प्रदीपप्रकरैरिव प्रदीपानां प्रकरं समूहं । प्रदीपितं प्रकाशितैरिव । किलक्षणैः, स्थिरप्रमैः निःकम्प्रदीपसिर्भिमण्यादिजैर्वा । कथं, सत्यतः । इतस्ततः । च, यस्मिन् पुरे । उपमा ॥ २३ ॥ मलीमसमित्यादि । यत्र जनैर्बन्धनमण्डलं विलोक्यते । किलक्षणं, घनाध्वमध्यगं घनानामध्वा घनाध्वा तस्य मध्यं गच्छतीति घनाध्वमध्यगंस्तम् (तत्) । पुनः किलक्षणं मलीमसं मलिनम् । केन, भृङ्ग-
निभेन भ्रमरसदृशेन । लक्षणा चिल्लेन । उत्प्रेक्ष्यते किमिव अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहः शृङ्गाणां कोटयो येषां तानि, तैः । गृहैः सदनैः निषृष्टदेहच्छब्दोच निषृष्टा उद्धृष्टा देहस्यच्छब्दस्यैव तत् ॥ २४ ॥ भदाभमित्यादि । यत्र घनैः मेघैः । गजभ्रमः हस्तिभ्रान्तिः । विवर्त्यते क्रियते । येषां सरीरिणा प्राणिनाम् । कथंभूतानां गोपुरस्य शृङ्गैर्वर्तन्ते इति गोपुरशृङ्गवर्तिनस्तेषाम् । कथंभूतैर्घनैः, मदाभं मदसदृशम् । अभ्रः जलम् । विसृज्जिः श्व (ल) बद्धिः । उल्लसन्तो वासी तडिल्लता च उल्लसत्तडिल्लता सा अलकरणं येषां तैः, तैः बिकसत्क्षण-
प्रभाभरणैः । पुनः किं, अधोगतैः अधःस्थितैः ॥ २५ ॥ सुगन्धनिश्वासेत्यादि । यत्र पुरे । मधुव्रतव्रजः मधुकरसमूहः । जनैर्विलोक्यते, क इव, राहुः संहिकेय इव । किं लक्षणो राहुः, समापतन् समागच्छन् । कया इन्धुशङ्कया चन्द्रारैक्या । क्व, कामिनीमुखे नारीवदने । किलक्षणं, आपाण्डुलि आ ईषत् पाण्डुरे । केन, मनो-
भुषा कामेन । पुनः कथंभूते सुगं । शोभनो गन्धो यत्र स सुगन्धिः, निःश्वासस्य मरुत् निःश्वासमरुत्, सुगन्धि-
श्वासो निःश्वासमरुच्च सुगं तेन मनोहरं तस्मिन् सुगन्धोष्णश्वासवायुमन्दरो (रे) अत्र मुखचन्द्रयोः कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे विशेष इति भावः ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि । यत्र नवा नवोडा । वधूः कामिनी । जीवितेश्वरं प्राणनाथम् । गाढं यथा भवति तथा नालिङ्गति नालिष्य (ध्य)

ति । कया जनाभिषङ्कया जनेभ्योऽभिषङ्कया तथा—किमेते जनाः सन्तोत्यारेकया । कथंभूता नवा वधूः, तरेले चञ्चले, विलोचने विशिष्टनयने । निपातयन्ती इतस्ततः प्रक्षिपन्ती । कामु निवासभित्तिषु निवासस्य भित्तयो निवासभित्तयस्तासु गृहकुड्येषु । किलक्षणानामु सजीवो सह जीवविश्वैवर्तन्त इति सजीवविश्वस्तासु । जीव-
चित्राणि पुस्तिकाविशेषाः । भ्रान्तिमान् ॥ २७ ॥ शशाङ्कान्तेत्यादि । तथा यत्र पयस्ताण्डवं तनोति । कि-
लक्षणं, विकासि प्रोक्तुलवर्हम् । क्व, अकाण्डे अनवसरे । केषां, शिलाण्डना मयूराणाम् । किलक्षणम्
पयोदशङ्कानां पयोदानां शङ्का विद्यते येषां ते पयोदशङ्कान्तेत्यादि जलधराः रेकिनाम् । किलक्षणं तत्पथः ।
पतत् शरत् । कस्मात् सोधचयात् । सोधानां चयस्तस्मात् राजसदननिकरात् । किलक्षणम् शशाङ्कान्ता-
शशाङ्कान्ताश्च तेऽयमानश्च शशाङ्कः तमया (?) निवृत्ता ऊर्ध्वभूमिका वेदिका यस्य स तस्मात् । क्व,
विधूदगमे चन्द्रोदये । अयमपि भ्रान्तिमान् ॥ २८ ॥ निशयमेत्यादि । तथा यत्र, विधु चन्द्रः । कलङ्कुलेखया
लाञ्छनरेखया । विभज्यते विभज्यते । किलक्षणो विधुः, अभिन्नदेशः न भिन्नो देशो यस्य सोऽन्त्यदेशः । कस्मात्,
आनानाम्भुजात् आननमेवाभ्युजं तस्मात् मुलकमलात् । किलक्षणात्, अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यत्र
तत्तस्मात् निमलकपोलविम्बात् । नय, वधूजनस्य । किलक्षणस्य, सोधशिः । सोधानां राजसदनानां शिरांसि
शिलाराण्यचिरोहृतीति ॥ स तस्या । क्व, निशयने रात्रिप्रारम्भे ॥ २९ ॥ समुल्लसद्भिर्ऋत्यादि । तथा यत्परं विभाति ।
कैः, ध्वजाशुर्कैः । ध्वजानामंशुकानि ध्वजाशुः तं केतवसैनं । किलक्षणेः, समुल्लसद्भिः । समुल्लासमुद्धर्षपरि-
स्पन्दं कुर्वद्भिः । पुनः किलक्षणेः, शरदः शरदोऽभ्राणि शरभ्राणि तानीव पाण्डुराः शरदः तैः । निरालम्ब-
विशेषणत्वात् पुल्लिङ्गः । पुनरपि किलक्षणम्, विनिवारिः विशेषण निवारित आतप ओष्णं यैस्तानि तैः ।
बहुबोह्यालम्बनत्वात् नपुंसके । कैरिव, निर्मोकलवैरिव निर्मोकस्य लवा निर्मोकलवास्तैः । कञ्चुकलेशैः (इव) ।
कि लक्षणं निर्मोकलवैः, निर्मलैः मलरहितैः । कस्य उष्णगोः—उष्णा गावो यस्य स तस्य आदित्यस्य । कि-
लक्षणस्य सतः । गृहाद्यः गृह्णात्यर्थं पुरुषेणोपाजितमिति गृहम्, तस्य तेषां वा अग्रभागास्तैरल्लिखितस्य सोधो-
परिप्रदेशे घृष्टस्य इति ॥ ३० ॥ विशालशालोपवनेत्यादि । यस्मिन् जिनालयाः चैत्यगृहाणि विभ्रान्ति । कि-
लक्षणाः, विशालः शालश्च उपवनं च शालोपवने विशाले च ते शालोपवने च विशाः । ताम्बामुपशोभिनः
॥ विस्तीर्णश्राकारवाटिकाराजमाना । पुनः किं, शिरः शिरोभिः समुत्तमिता मेधाना पटिकयैस्ते शिलर-
स्वगति जलधरघटाः । पुनरपि किं ॥ सिहं सनाथा मूर्तिर्येषां ते लेप्यमृगैश्चापिष्ठितनवः । के इव,
धरणीधरा इव पर्वता यथा । कि लक्षणाः पर्वता, विशाला विस्तीर्णश्च ते शाला वृक्षविशेषाश्च विशाः
तेषामुपवनं तेनोपशोभिनः । शेषं सः ॥ इत्येवमा ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् मदेन मद्येन योगः
केवलं परं द्विरपेयु गजेषु विलोभ्यते, अन्यत्र अवलेपेन योगो न । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्वम् केवलं धातुपु-
म्भादिषु । निपातनक्रिया साधुत्वं, पक्षे मारणक्रिया । शब्देषु शब्दादिषु । करयोः पीडनानि करपीडनानि,
पक्षे भागधेयस्य दुःखानि । कुक्षेषु स्तनेषु । भवन्ति, न जनेषु—इति सर्वत्र संबध्यते । परिसंख्याकारः ॥ ३२ ॥
द्विजिह्वितेत्यादि । यत्र द्विजिह्वता द्विरसना, पक्षे पिशुनता । परं केवलम् । फणाभूता फणिनाम् । कुलेषु
यूयेषु, न जनेष्विति सर्वत्र संबन्धः । चिन्तापरता चिन्तकायता (चिन्तकायता), पक्षे सचिन्तता । योगिषु
ध्यानिषु । दरिद्रता क्षोणत्वं, पक्षे निर्वनत्वम् । नितम्बिनीनां कामिनीनाम् । उदरेषु कटीषु । अशरत्संभवः
अशरत्संभवाच्चत्वं, पक्षे होनजातित्वम् । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु । वृत्तद्वयेऽपि परिसंख्या ॥ ३३ ॥ विभ्रान्ती-
त्यादि । यस्मिन् गृहाणि सदनानि विभ्रान्ति । किलक्षणानि, सर्वतः सामस्येन । विविधोः उज्ज्वलाश्च
ते उपलाश्च उज्ज्वलः । विविधाश्च ते उज्ज्वलोः विविधोऽज्ज्वलः तैः प्रणद्धाः खविता भित्तयो येषां तानि ।
किलक्षणानोव, लोचनोव तिरोभूतानीव । केषु, शीमता कान्तिमत्तां दधत् नु निजेषु स्वेपु धामसु महःसु ।
कया, पतङ्गसंतापभिया पतङ्गस्य भानोः संतापः परितापस्तस्माद् भीः तथा । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स न
प्रदेशोऽस्तीत्यादि । यत्र स प्रदेशः प्रकृष्टो देशो न, यो जनाकुलः जनसंभूतो न । असौ जनोऽपि न, यो

१. ज पयोदत् । २. = निशयगम इत्यादि । ३. ज 'लक्षण' इति नास्ति । ४. च स्वतिकात्तर्गतः
पाठो नास्ति । ५. = 'स्थापित' । ६. ज सद्य आदिषु । ७. ज निशम्बि इति नोपलभ्यते ।

धनेश्वर इम्यो न । तद् धनं द्रव्यं न, यद् योगसमन्वितं भोगसहितं न । स भोगोऽपि न, यः संततोऽनवरतो न । एकावलीयमलंकृतः ॥ ३५ ॥ विलुप्तस्यादि । यत्र सितेतराणि सितानि चैतराणि च यद्वा सितेभ्य इतराणि नीलानि । अम्बुरुक्षाणि कंजानि । लुठन्ति प्रकम्पन्ते । कुतः, तापात् अन्तःश्लेधादिव । किलक्षणानि योषितां कामिनीनाम्, विलोचनोत्पलं विशिष्टनयनकुवोशयैः, विलुप्तशोभाणि जितकान्तीनि । नव, दोषिकाजले वापीतोये । किलक्षणे, मञ्जुलम् मयता वायुना चलन्त्यो बीचयः मल्लोला यत्र तत् तस्मिन् । पुनः किलक्षणे, शीतले । अन्योऽपि यः कश्चित् केनापि जितो भवति सोऽपि वायुना शीतले जले लुठति । उपमेयमलंकृतः (हेतुप्रेक्षा) ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महाजनैः गरिष्ठलोकैः । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रतिभाति चकास्ति । किलक्षणैरतैः, महागुणैः महान्तो गुणा । शोभन्योदायस्थैर्यप्रभृतयो येषु ते महागुणास्तेरपि । अगुणैः गुणरहितैः, पक्षे यतो महागुणैरतएवामुणैः, 'सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ।' तेभ्यः, तमोगुणरहितैः, अथवा अस्य कृष्णस्य गुणा इव गुणा येषां तेऽगुणाः तैः । मदीज्जितैः त्यक्तमदैः अपि प्रबुधं परिणतप्रकृष्टमदैः, पक्षे यतो मदीज्जितैरत एव परिणतहर्षैः, मानिनां सदा संततत्वाद्धर्षाभाव एव । प्रकामम् अतिगयेन । निर्भयैः भयरहितैरपि । परे सत्रवश्च ते लोकाश्च परलोकान्तेभ्यो भीरुभिर्भूलोकैः, पक्षे परलोकः प्रेक्ष्यभावः । विरोधालंकारः ॥ ३७ ॥ स यत्रेत्यादि । यत्र स एव परं दोषो यत्कामिनः कामुकाः, स्वकान्तानुनयस्य स्वकामिनीचाटुकारस्य, रसं रहस्यं न जानतं नावबुध्यन्ति । नव सति कूजति कूजति सति । कस्मिन्, पतङ्गकुले पक्षियूथे । किलक्षणे, वेदिकानां सोषोपरिर्मृत्तिकाणां शिरः-शिखासु रोते हति वेदिकाशिरःशिखाशायि तस्मिन् । पुनः किलक्षणे मानभञ्जने मानं भनत्नेति मानभञ्जनं तस्मिन् । कामिभ्यः श्लु सुरतावसरे कूजन्ति स्वचातुर्थात् । तत्र पतत्रिणा कूजनश्रवणात् तासां मानभङ्गः, मानभङ्गे च नोरसत्वमिति भावः ॥ ३८ ॥ अथ पञ्चदशभिः पक्षै राजोपबध्यते । अथामवदित्यादि । अथ नरेश्वर भूपतिः । अभवत् । किलक्षणः, भूरिगुणैः प्रचुरगुणैः । अलंकृतः भूयितः । पुनः किं, तस्य पुरस्य रत्नसंचयस्य । शाशिता रक्षकः । तथा यः, उवाह दधौ । का, कनकप्रभाभिषा कनकप्रभ इत्यभिषा कनकप्रभाभिषा ताम् । कया, हृदया लोकप्रसिद्धया । कथं तथापि, तथापीति किं, यः, वेनचिदुपमानेन तुलितद्युतिर्न तुलिता समीकुना द्युतियस्य स तुलिः ॥ ३९ ॥ यशोभिरित्यादि । महोजसः महदोजो बलं यस्य तस्य । यस्य राज्ञः । विधूपितं सतापितमरातोना कुलं यस्तानि । तैरासि महासि । न ममः न संमानं स्म । वव, भूतले पृथिव्याम् । किलक्षणः, पूरितमन्तरं मध्यं यस्य तत् तस्मिन् । कं, यशोभिः, किलक्षणैः एणाङ्ककलां एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला एणाङ्ककला । ताभिरिव समुज्ज्वलानि एणाङ्ककं तरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः । किलक्षणैरिव, पुरः प्रयातै पुरोगैरिव ॥ ४० ॥ प्रयासमुच्चैरित्यादि । ततो जयश्री । पुनश्चिरं स्थिरा बभूव । किं कृत्वा, उच्चैः कटकं पट्टजं यस्य बाहुम् । अविगम्य सप्राप्य । किलक्षणा, भीतेव त्रस्तेव । कुतो भीता यतो जयश्रीः प्रयासमवाप गतवती । कुत संचारवशात् संचारस्य पर्वतस्य वनस्तस्मात् । वेधु, भूभृता राज्ञा पर्वतानां च । गणेषु समुहेषु । किंक्षणेपु, उच्चैः कटकेषु उच्चैः कटकाः शिबिरा (शिबिराणि) येषां ते तेषु, अथवा उच्चैर्वनयेषु उच्चैर्नितम्बेषु च । अन्यस्यापि उच्चैः कटकेषु उच्चैर्नितम्बेषु भूभृता पर्वतानां गणेषु भ्रमतः प्रयासो भवति ततः कुत्रचिदवस्था-नमिति लेवः (?) ॥ ४१ ॥ यः पुद्गलोत्तमोऽपि कृष्णोऽपि, पक्षे पुरुषप्रधानः । वृषोच्छेदः । वृषोच्छेदविषयायि चेष्टितं यस्य स वृषोच्छेदविषयायिचेष्टितः—दैत्यध्वंसकारिवृत्तिः, पक्षे पुष्पधातिचेष्टितः, नाभूत् ; अथवा वृषोच्छेदविषयायिनी वासो चेष्टा च वृषोः सा संजाता यस्य स तथाविधः, नाभूत् नाजनिष्ट । किलक्षणः, अचिन्त्यः । महात्मनो भावो माहात्म्यमचिन्त्योऽनवधार्यो माहात्म्यस्य प्रभुत्वस्य गुणो यस्य सः । जनानामाश्रयो जनाश्रयः । स्वयं विक्रमोऽतिशक्तिता स्वविक्रमरतेनाक्रान्तं ध्यातं समस्तं विष्टपं येन स स्वविक्रमः । श्रिया सनाथः लक्ष्म्या सहितः ॥ ४२ ॥ कल्पवृक्षेभ्योऽप्याचिष्यं यस्य सूष्यते । कल्पोपपदमहोरहः कल्पवृक्षैः । निताम्यम् अतिशयेन । विमनस्कवृत्तिता विमनस्का वासो वृत्तिश्च विमः तस्या भावो विमनस्कवृत्तिता । बधे

दधे । कथा, शुभेव शोकेनेव । किलक्षणः सद्भिः, निजितैः पराभूतैः । केन, निसर्गब्रह्मासौ त्वागुणद्वयं निसर्गं तेन निसर्गब्रह्मागुणेन । किलक्षणेन, गरीयसा गरिष्ठेन । कस्य, यस्य । किल०, परार्थास्य यस्य स तस्य अन्यनिमित्तसंपत्तेः ॥ ४३ ॥ कुरङ्गलाञ्छनः चन्द्रः । य जेतुं न शक्नाक शक्नोतिस्मिन् । किल०, उज्ज्वलं निर्मलम् । कथा, प्रबोध० प्रबोधो रजनीमुखं, पक्षे प्रकृष्टयोः (प) तस्य तेषां वा संसर्गिता तया । उभयत्र साम्येऽपि चन्द्रस्य प्रबोधसंगित्वमस्य चोज्ज्वलत्वं ॥ चन्द्रस्य कुरङ्गलाञ्छनत्वमस्य च सद्रङ्गुलिनाञ्छनत्वमिति भावः ॥ इति व्यतिरेकाः लंकारः । किलक्षणोऽपि सः, कलामि. समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि । पुनः किं जनात्मनिन्दतीति जनाभिन्त्यपि । पुनरपि किं अभिभूतं विष्टं यथा सा ता तिरस्कृतलोकाम् । श्रियं दधानोऽपि विभ्राणोऽपि ॥ ४४ ॥ अथ समुच्चयः । यः जगद्विशेषकः विश्वकः । विशेषयामास अलंकारः । किं तत्, कुलम् । केन, विशुद्धवृत्तिना चरित्रेण अनुष्ठानविशेषेण । तथा शरदध्वाणोश्च विश्वमो येषां तानि, तैः । यशोमि. आशाः । गुणैः वपुः । श्रवणेन शास्त्राकर्णनेन । जेषुषीं बुद्धिम् ॥ ४५ ॥ विरोधो यथा, तत्परिहाराश्च । वष्णां गय वङ्गणः, साधितो वंशं नोत शयूणा वङ्गणो येन स । तदुक्तम्—‘काम’ क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मद्गः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वयं श्रितोऽयाना भवत्ययम् ॥’ यः भूरिदानोऽपि कटोद्भेदः, पक्षे बितरणं भूरिदानं यस्य स भूरिदान । मदेन मद्येनावलेपेन च । च पुनः । अतोना सर्पाणामिनस्तस्य संसर्गेण समन्वि-
तोऽपि अन्नगरसंयोगसहितोऽपि, पक्षे उन्कृष्टसंयोगसहितोऽपि । द्विजिह्व० द्विजिह्वाना सर्पाणां दुर्जनाना च संस्तवितया संबन्धितया । दूषितः कलुषितः । न बभूवेति ॥ ४६ ॥ सर्वं च तद् विष्टं च सर्वं० तत्र प्रतीता प्रथिता कीर्तितस्य स राजा कनकशम्भः । वसुधरा वसुधारीम् । गामयि धेनुमयि । करिणो हस्तिनी चकार । विरोधोऽर्थं, तत्परिहाराश्च—गा गोशब्दवाच्या पृथ्वी वसुधारी वसु धरानामपि पृथ्वी, तेजोमिदानवती चकारेति भावः, करिणी भागधेववती चकारेति । किं कृत्वा, अभिभूय तिरस्कृत्य । कान्, समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलेशान् । किलक्षणान्, समुद्रतान् उल्लटान् । कैः, धामभि. तेजोभि । किलक्षणैः, अतिदुःसहैः अतिशयेन दुःखेन सहैव शक्यैः । पुनः किं निजैः स्वकीयैः । विरोधाः लंकारः ॥ ४७ ॥ यस्य विभो स्वामिनः । तेजसा महता । श्रीः लभो । वधूराश्च । व्यतिरेको वा । चपला चञ्चलापि निन्दला । व्यधीयत अक्रियत । अतिशयोक्त्यम् । केनेव, कञ्चुकिना सौविदत्तेनेव । उपमेयम् । किलक्षणेन, नितास्तम् अतिशयेन वृद्धेन लोकान्तामसेन, पक्षे परिणतवयसा । कठोरा कर्कशा परोपधातिनी वृत्तिवर्तनं यस्य तन्, तेन, पक्षे दाक्षिण्य-
वर्जितेन । सनीतिना सह नीतिमिर्वर्तत इति सनीतिः, तेन, उभयवर्त्ता, श्लेषोऽयम् । संकरोऽयमलंकारः ॥ ४८ ॥ सः राजा । ईश्वरः श्वः, ऐश्वर्ययुक्तश्च । सन् अपि भवन् अपि । अवमदृष्टिदूषितो न बभूव । शम्भोः किल विषमदृष्ट्या दूषणं वर्ततेऽस्य बासमा देवतामा सानुगामिनो दृष्टि धृष्टानं तथा किल महद्भूषणम् (?) । ‘दृष्टि ज्ञानेऽपि दशने’ इत्यमरः । व्यतिरेकोऽयम् । किलक्षणं, धराश्रयं घरायां पृथिव्या आश्रयोऽ-
वष्टम्भः । संततम् अनवरतम् । भूते. सपदो मम्मनश्च संगमो यस्य सः । गणाङ्गुलं कान्तो मनोरमः, शलाङ्गुलं कान्तश्च; शलाङ्गु. कस्य शिरसोऽन्ते ललाटे वस्थेति वा । पुन उद्गृहो नागनायकेन गजेन यः सः, धृतो धारितो नागनायकः सर्पराजो येन स च । अथो भवन्तो न्यग्भवन्तो गोपतयः पृथ्वीनाया यस्य सः, पक्षे अथोभवन् वाहनीभूतो गोपतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोऽपि तेन सकारश्च स्यात् ॥ ४९ ॥ यदीयेत्यादि । अधुनाऽपि साप्रतमपि । पयोनिधि. समुद्रः । पूरकारमिव दोनाक्रन्दनमिव । करोति विदधाति । किलक्षणः, उदस्तकलोलभूजः सन् उदस्ता ऊर्ध्वैरुक्ताः कल्लोला बोधय एव भुजा बाह्वो येन सः । पुनः कथंभूतः, लुप्तयशोमहाधनः । लुप्तं पराभूतं यथा एव महाधनं यस्य स । केन, यदीये० गाम्भीर्यमेव गुणो गाम्भीर्यगुणः, यदीयेदवातो गाम्भीर्यगुणश्च यदीये० तेन यद्गम्भीरत्वगुणेन । किलक्षणेन, निर्मलप्रसिद्धिना निर्मला उज्ज्वला प्रसिद्धिः श्वातिर्यस्य स तेन । उल्लेखेयम् ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । यस्य राज्ञः । पीर्यं बलम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तत् । न अजायत ताम्भूत् । किलक्षणस्य यस्य, नि. शेषितशत्रुसंतते निःशेषिता निर्मूलिता शत्रूणां रिपूणां संश्रित्येन सः, तस्यापि । किलक्षणस्य सतः, बिबित्ततः चिकीर्षतः । कानि,

१. च स्वस्तिकान्तगतं. पाठो नोपलभ्यते । २. ज “रेको” । ३. च “भूको” ।

कार्याणि विधेयानि । किं कृत्वा, विमूढ्य विचार्य । कथा, धिया बुद्ध्या । किलक्षणया, विद्युदया निर्मलया । कस्मात्, नरेन्द्र० नरेन्द्राणां विद्याः आन्वीजिकी त्रयी वार्ता इण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः तासामधिगमः परिज्ञानं तस्मात् । पौल्वेण अष्टापदतुल्यत्वेऽपि धिया विमूढ्यकारित्वाद् व्यतिरेकोऽयम् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदाने-
नेत्यादि । येन राजा । प्रज्ञा प्रसाधिता अलंकृता । किलक्षणा, कृतायतिः कृता विहिता आयतिर्वित्तारो यथा सा कृता० । पुनः किं०, गुणानुरा० गुणानामोदायार्थोनामनुरागः प्रीतिः तेनोपमता प्रणता । किलक्षणेन च येन, रति० रतिरनुरागस्तस्याः प्रदानं तत्र प्रवीणेन । पुनरपि किलक्षणेन, कुर्वता । कान् उज्ज्वलां, विचित्र० विचित्रा नानाविधाश्च ते वर्णश्च द्विजादयस्तेषां क्रमवृत्तिः संकीर्णताभावस्ताम्, उज्ज्वलां निरतिचारां कुर्वता विदधता । केव बभूविव अङ्गनेव । यथा भर्तृगुणानुरागप्रवणा कृतोत्तरकालफला बहुः रतिप्रदानचतुरेण विविष्टकामितप्रकृतिवर्तनमुज्ज्वलं विदधा रमणेन प्रसाध्यते । इत्युपमा ॥ ५२ ॥ अतीतसंस्मृतिरित्यादि । यस्मिन् राजनि । गुणैः समुदायिता चयत्वम् । अकारि विदधे । किलक्षणः, अलिलः । पुनरपि किलक्षणैः, अतीतसंस्मृतेः अतीता अतिक्रान्ता सख्या येस्ते, तैः । पु०, परिलब्धा कीर्तिर्येस्ते, तैः । पु०, शरी निशाना-
वशचन्द्रस्तस्य मरीचय इव निर्मलास्तेः । किलक्षणैरिव, दीपवम् दीपवेना, हस्तुभिः रोदुमिच्छद्भिरिव । सेना सखु समुदायाभावे जेतुं न शक्यते । सकललोकवर्तिनो ये गुणास्तेऽस्मिन् समुदिता इति भावः ॥ ५३ ॥ अथ चतुर्भिर्भूतं कान्तोपवर्ण्यते पराक्रमेत्यादि । 'अथ' इत्यानन्तर्यायं । 'सुवर्णमाला' इति नाम्नी । आमिनी मानिनी । बभूव अजनि । किलक्षणा, निशा० निशान्तस्य सकलान्तःपुरस्य । नायिका पटुमहिषो । कस्य नृपस्य । किलक्षणस्य, पराक्रम० पराक्रमेण शक्त्या आक्रान्ता व्याप्ता महीभुजो राजानो येन स तस्य । पुनः किलक्षणस्य, जगल्ल० जगतो ललामा तिलका चासौ लक्ष्मीश्च जग० तया निलयोऽकृतमास्थदोऽकृतमुरो वक्षो यस्य स तस्य ॥ ५४ ॥ यरीयेत्यादि । यरीयं यत्संश्लिष्टं । शीलं सद्बृत्तम् । जानुचित् कदाचित् । मलीमसं मलिनम् । नाभूत् । किलक्षणम्, अविनिमित्तं निन्दारहितम् । कथंभूतमिष, नितान्तिनिषीतमिष नितान्तमे-
कान्तेन निषीतं प्रशालितं नितान्ति० । 'तीव्रैकान्तनितान्तानि' इत्यमरः । केन, कान्तिमयेन कान्त्या निर्वृत्तेन । वारिणा जलेन । किलक्षणेन, विसारिणा विस्तीर्णेन । पुनरपि०, एणाङ्गस्य चन्द्रस्य मरीचयः स्विच इव हारि मनोहरं तेन । उपमा । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः' इति सूचितम् ॥ ५५ ॥ बह्विष्यादि । यत्तनो यच्छरीरे । न ऊनमनूनं, 'हीनम्यूनावूनगह्वी' इत्यमरः, अनूनं च तल्लावप्यं च कान्तिमयस्त्वं तेन मयः । पयोनिधिः समुद्रः । विकास उत्ल्लास । किलक्षणः, सहासकेनः हास एव फेनो विण्ढोरः, सह हासकेन वतन इति सहासकेनः । किं कुर्वन्, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य । शङ्काम् आरेकाम् । बहन् चारयन् । क्व, वक्त्रपङ्कजे वक्त्रमेव पङ्कजं कुवलयं तत्र । किलक्षणे, स्मरापाण्डुकपो० स्मरेण कामेन आपाण्डु ईषत्पाण्डु कपोलयोगल्लयोर्मण्डलं यत्र सत् तस्मिन् । भ्रान्तिमान् । लावण्यपयोनिधोर्मुखचन्द्रयोश्चोपमानोपमेय-
भावो वा । योक्ते हि सुष्ठु परिणते मुखं चन्द्रवदभाति तदवच तनुरतीव कान्तिं दधातीति भावः ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । सा मृगक्षणा हरिणलोचना । तस्य नृपस्य । मन्दिरे गृहे । लक्ष्मीः श्रीः । बभूव । किलक्षणस्य नृपस्य, पुष्योक्तस्य पुष्यप्रधानस्य, कुण्डस्य च । किलक्षणस्य तस्य, भुवः पुष्य्याः समुद्रतुः उद्धरणशीलस्य जगद्धारकस्य च । पु०, बलेन पराक्रमेण बलमद्रेण च । अधिष्ठितात्मनः समाश्रितस्य । पुन०, सत्यानु० सत्ये सत्येऽनुरक्तमेकमद्वितीयं चेतो यस्य, सत्यायां सत्यमामायां च । श्लेषः ॥ ५७ ॥ अथ पश्रोत्पत्तिमाह परस्पर-
रित्यादि । सः प्रसिद्धः । स्तनवधः पुत्रः । किलक्षणः, भ्राम्नां निधिः तेषोनिधानम् । कयोः तयोः । किलक्षणयो , पर० परस्परम् अन्योऽयं स्नेहेन प्रणयेन निबद्धं नियन्त्रितं चेतो मनो याम्यां ती पर० तयोः । येन पद्मनाभता संज्ञया अभिधया न दग्धे नरकद्विधा अर्थेन च । पद्मनाभः किल नरकस्य दैत्यविशेषस्य द्विद्, अवमपि नरकस्य दुर्गतेरित्यन्वर्थता । तुल्ययोगितेयम् ॥ ५८ ॥ अथ चतुर्भिः पक्षैः पद्मनाभकुमार उपवर्ण्यते—कलासनाश्वस्ये-
त्यादि । यस्य पद्मनाभस्य । बाह्येऽपि शोषावेऽपि । विवेकरिकता सप्तसद्विवेचनसूचयत्वम् । न बभूव । किलक्षण-
स्य, निःशोषश्च ते जनाश्च तेष्वनुकम्पायुकस्य । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । किलक्षणस्य, हिमद्युतेः चन्द्रस्येव, कला० कलाभिः सनापस्य सहितस्य । कला. वास्त्रधारणाद्याः पौड्यो भागश्च । हिमेतरा उष्णा

अंशयो यस्य स तस्येव तीर्क्षते तेनो यस्य स तस्य असह्यमहस । चन्द्रमूर्त्योरिव शान्ततोषस्यापि आशुकार्यकरणे
 सन्निवेशकृत्वमिति भावः । प्रतिवस्तुतया । अथवा चन्द्रः सूर्यान्वितो क्लेशकारी सूर्यश्च चन्द्रवर्तिनाम्, अस्य
 कोमलधाम्नेऽपि स्वचिदनुयायिनि विवेकरिकताभावाद् व्यतिरेकश्च ॥ ५९ ॥ समाचरन्नित्यादि । सः कृतज्ञः
 कृतं जानातोति । पलिताङ्कुरैः शुक्लकेरीविना । वृद्धः स्वविरः । बभूव । किलक्षणः, सम० समस्ताश्च ता
 विशाखचान्दोक्षिक्यादयस्तासामधिगम परिज्ञानम्. 'आन्धोलिक्यामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयोस्थितौ । अयनिर्धौ
 तु. मातर्त्तया दण्डनीत्या नयानयो ॥' इति, तेन प्रवृद्धा धोर्यस्य सः । पुनः किलक्षणः, समाचरन् अनुभवन् । काः,
 क्रियाः । किलक्षणाः, शिशुमासः शैशवं तत्र दुरुपायः । ता पुनः कथंभूता, नयमार्गेण नीतिपथेन शालिनीः
 शोभमानाः । विभावनेयमलकुटिति ॥ ६० ॥ गलेदि (श्रि) त्यादि । यस्य अङ्कुशः सुणिः, गुहः जनकादिः,
 जन्मवत् । किलक्षणस्य, गरीयसा गरिष्ठेन, ओजसा बलेन, युतस्य सहितस्य । पुनः किलक्षणस्य, गलन्मदस्य
 गलन्मदो यस्य स तस्य—सर्वन्मदस्य, मदः स्मृत्वा गत इत्यर्थः । अत्र एषोन्नतवर्गेनोच्चवर्गेन शाली शोभमानः
 तस्य । पुनरपि० गृहीतः सम्पत्तिनयो येन स तस्य आदुतप्रश्रयस्य । पुनर०, सोन्नते सह उन्नत्या ओढत्येन
 (उच्छ्रित्या) वर्तत इति सोन्नतिस्तस्य । कस्येव, गजाधिपस्येव । यथा लवन्मदस्य, उन्नतपृष्ठशोभिनः, सुशि-
 शितविनयस्य, उच्चैस्तरस्य च गजेन्द्रस्याङ्कुशो गरिष्ठ स्यादिति । उपमा ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि ।
 व्यवसनेः व्यवस्यन्ति परेह्लोकांमति ध्यसन्नानि दृतादीनि, तैः । किलक्षणेः, प्रमाधिभिः प्रमातिभिः । यस्य मनो
 न जह्ले न मुष्टम् । किलक्षणस्य, मरुत्विनः पण्डितस्य । पुनरपि०, जिता पूराभूता आन्तरा अन्तराश्रिता
 द्विषो येन सः, तस्य । पुनरपि०, विग्रहं शरीरम् दधतः । धारयतोऽपि । किलक्षणं विग्रहं, विभूषितं परिहृतम् ।
 कमा, योवनस्य रूपसंपत्तं तया । किलक्षणया, विकारवत्या विकारमहितया ॥ ६२ ॥ स बहुलित्यादि । स
 विशामधीश्वरः पृथ्वीपतिः । बहूनि अपत्यानि यस्य सोऽपि । जिण्युना जयशिलेन । तेनैव मुतेन पुत्रेण ।
 राज्ञः ब्रह्मणे । अत्राश्रितमुपगम्यते—अनेकाश्च (अनेके च) ते शकुन्ताः पक्षिणश्च तैः संकीर्णः । जला-
 धारो राजहंसेन विना न विराजते । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणलोहितैः सिताः ।' ॥ ६३ ॥ अभ्येत्यादि ।
 अथ अनन्तरम् । जानु कदाचित् । सः । मेदिन्याः पृथ्व्याः पतिः स्वामी । परिहृष्टा हर्षं प्राप्ता मतिर्वस्य स
 परिहृष्टमतिः सन् । निजा चामो लक्ष्मीश्च तया परिभूयिन् परिहृतम् । तुरं नगरम् । विलोकयन् अवलोकयन् ।
 गुरुव्यासो सौधो राजसदनं च, तस्य मस्तके । अश्वतस्थे स्थितः । जातिः ॥ ६४ ॥ तया तस्मिन्नवसरे । तेन
 कनकप्रभेण । गदा गणः गोपूषः । दक्षे ललोके । कथंभूतः, समुन्नरन् विनिःसरन् । किं कृत्वा, ययः पानीयं
 परिपाय पोत्वा । किलक्षणेन तेन, यद्ध्या स्वच्छया, दुर्गं दृष्टि, विनिपातयता इतस्ततः प्रसारयता । बव,
 आस० अतिशयेनासन्नमासन्नतमं तच्च तदेकपल्लमलसराश्च, तस्मिन् । जातिः ॥ ६५ ॥ किल इति
 पुराणोक्तौ । असौ विचक्षणः विदग्धः । तत्र पल्लवे । एकं जरद्गवं जरद्वामी गोश्च जरद्वीः, तं म्रियमाणं
 प्राणास्त्यजन्तम् । अवैक्ष्य अवलोक्य । तत्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम । कथं-
 भूतं जरद्गवं, धनवङ्कः । धनश्चासौ पङ्कजं तत्र निमग्नो बुद्धिः, तम् । पुन०, असम क्षाणमात्रम् ॥ ६६ ॥
 क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवं भजन्तीति भवभाजस्तेषां भवभाजा प्राणिनाम् । जीवित प्राणाः । क्षणमं० क्षणेन
 तत्कालं भङ्गुरा त्रिनश्वरा वृत्तिवर्तनं यस्य तत् क्षणभङ्गुरवृत्तिः । इत्यत्र विस्मयः अद्भुतं न । इह जीविते ।
 अवस्मद्भिः पण्डितैरपि प्रमुह्यते । तदेतदीदृशमद्भुतं विस्मयः ॥ ६७ ॥ क्षणदृष्टेत्यादि । जनः लोकः ।
 क्षण० दृष्टाश्च तिरोहिताश्च दृष्टतिरोहिताः, क्षणे० दृष्टतिरोहिताः क्षणदृष्टतिरोहिताः, तैः—क्षणदृष्टनष्टैः ।
 विषयैः भोयैः । स्वप्ने दृष्ट प्रतायते वञ्च्यते । तथापि अयं अद्भुद्भिर्मानन्दमतिः । तेषु रति रागम्, एति ।
 अनात्मवैरिणो जडत्वम् । धिक् ॥ ६८ ॥ प्रहृतमित्यादि । एषः जनः । जन्तु जन्तुं प्रतिजोषितं मरणेन प्रहृतं
 बाधितं पश्यति । योषन ताश्च । जरसा बाध्यन्ते, प्रहृतं पश्यति । तदपि मन्दमतिरसो स्वहिते न पश्यति
 जायति । अहो आश्चर्यम् ॥ ६९ ॥ यदतीतेत्यादि । यत् सुखम् । अतीतम् अतिक्रान्तम् । तत् अतीतमेव ।

आगामिनि सुखे विनिश्चयः कः । तत्क्षणसौख्यमोहितः तत्कालसुखेन वञ्चितः पुरुषः । वत इति खेदे । यथा
 अमं समुपैति । अन्तर्दृष्टिं परित्यज्य भूतमविध्यरमुखस्यास्त्विदत्त्वमवलोकयामि वर्तमानसुखस्य स्थिरत्वमव-
 बुद्धयतीति खेदः ॥ ७० ॥ परिणामेत्यादि । यः पुमान् । सद्यः सुखस्य लिप्तया लालसत्वेन । परिणामहिते
 आगामिसुखकारिणि । पथि मार्गे । न समीहते प्रयतते । स शिवात् कल्याणात् । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते ।
 विरुद्धसेवया अवध्यमभनेन उबरीरोगी यथा ॥ ७१ ॥ दहन इत्यादि । त्रयाणां समवलम्बेऽपि कामस्याधिक्यम् ॥
 दहनः अभिन् । तृणकाष्ठसंघैरपि तप्येत् । उदधिः नदीसरोरपि तप्येत् । काममुखैः पुमान् न तप्येत् खलु ।
 अहो कापीयं कर्मणो बलवत्ता बलिष्ठत्वम् ॥ ७२ ॥ वपुरित्यादि । वपुरिपि शरीरमपि । आयुषः क्षये । आन्तरम्
 अन्तःस्थितं प्राणिनम् । अतिमात्रम् अतितराम् । त्यजति खलु । अहो । बहिरङ्गैः बाह्यस्थितैः र्जनमित्रशान्धै-
 विरहे वियोगेऽन विस्मयः कः, न कोऽपि ॥ ७३ ॥ सुखेत्यादि । इष्टसमागमे इष्टसंयोगे । यथा येन प्रकारेण ।
 मुखम् । तथैव तस्य इष्टस्य विरहे वियोगे च । अमुखं दुःखम् । अतएव सुधियः पण्डिताः । सङ्गसु० सङ्गस्य
 मुखं सङ्गसुखं तत्र एकनिःस्पृहाः अद्रितीयेह्यारहितः सन्तः । निर्वृत्तौ मुक्तौ । सजन्ति सावधाना भवन्ति
 ॥ ७४ ॥ हितमित्यादि । कदाचन हितमेव मोक्षस्तत्कारणतत्त्वं च हितं तदेव । न वेति । अन्यः पुमान् । खलु
 शास्त्रोक्तौ । तत्र हिते । संशयं सन्देहम् । भजते । परः अन्यः । विपरीतकविः विपरीता अतद्गुणे तद्गुणाभा-
 ववि धृष्टा यस्य सः । एवंविधैस्त्रिभिरजानतमोभिः अजानान्धकारैः । जगत् भुवनम् । आहृतं वाधितम् ।
 तदन्यतद्विरुद्धतदभावेन न प्रवर्तत इति ॥ ७५ ॥ परिणामेत्यादि । जिनवाक्यम् अर्हद्वचः । विज्ञाय त्यक्त्वा ।
 शरीरिणा प्राणिनाम् । परि० परिणामस्योदककालस्य सुखम् । न विद्यते । सकृदा त्रितकार्योपधं पथ्यमिव ।
 यथा पथ्यं विज्ञायोपधं परिणामहितं न । अनात्मज्ञतया जहत्या । तत् जिनवाक्यम् । न रोचते ॥ ७६ ॥
 यदाविधि विधिमननिकम्प्य । श्रुतं शास्त्रम् । अधिगम्य परिज्ञाय । उत्तमादव ते साधवद्व तेषां सगमं संपर्कम् ।
 प्रतिपद्य आश्रित्य । इमां प्रतिष्ठायां । भवकलुषा संसारस्यासारत्वम् । अवगन् जानन् । अहमिदं अहं यथा ।
 अपरः अन्यः । कः पुमान् प्रमाद्यति, न कोऽपि ॥ ७७ ॥ सुखमित्यादि । मन्दमतिः जडः । आयतितुल्यम्
 उदरमित्युक्तम् । अथ नम् ऐन्द्रियकम् । मुखं भजते बुद्धिमान् न । अवधान्तरमुपवस्यते— खलु अहो । कः
 अमन्दधीः । मधुना दिग्धं प्रलिप्तं मुखं यस्या सा ताम् । असिचारां खड्गधारां । लिलिखति लेटुमिच्छति,
 न कोऽपि ॥ ७८ ॥ असुखैकेत्यादि । यः प्रविरक्ता निर्विण्णा मतिर्यस्य सः । असुखमेवैकं फलं यस्य स तम् ।
 पल्लवं किमलयम् । टसिति झटिति । प्रमज्ज आमर्शः । न प्रवर्तते । स पुद्गलः । श्रेयसि सुव्यर्थम् । वञ्चितः
 विप्रलब्धः । हो विस्मये । निर्विण्णेन झटिति उसमो विधेय इति । भावः ॥ ७९ ॥ इतीत्यादि ।
 स चारुचेताः चारुमना । इति उक्तप्रकारेण । विषयेभ्यो विरक्तः सन् । छत्रया गूढया । मुक्तिद्वया निर्वृति-
 मंवारिकया । स्वयमात्मना । कर्णजालं श्रवणसमीपम् । एव्य आगच्छ । व्याहृत इव आहूत इव । मृनिमार्गे
 रत्नत्रये । जेतसा मनसा । म्यविशत तस्यो । उचितमेतत् । हि यस्मात् । मनिभाजा मनिमताम् । काल-
 लम्बिः । वन्द्या निरपिक्ता । न भवति ॥ ८० ॥ प्रपृच्छयेत्यादि । म राजा कनकप्रभः । अपरेद्युः अन्येद्युः ।
 आत्मनः स्वस्य । उद्यन्ती अतिवर्धमाना श्रौर्यस्य स तम्—उद्यच्छियम् । तं प्रसिद्धम् । सुतं पुत्रम् । प्रपृच्छथ
 आपृच्छथ । च पुनः । विगलन्ति पत्रनवभ्रूणि रोदनविन्दवो याभ्यां ते तदखिणो तस्य नेत्रे । प्रमज्ज सविशुद्धे
 विज्ञाय । अविनिन्दितं निन्द्यारहितम् । श्रोधरं श्रोधराभिधानम् । मुनीन्द्रं यतीशम् । सममिवन्ध प्रणम्य ।
 भूरिभिः प्रचुरैः । नृपतिभिः समम् । तपः तपस्वरणम् । समविशिष्टिये आश्रितः ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि ।
 तदा तस्मिन्प्रवसरे । पद्यानाभः सूमोशः नररतिपदं राज्यम् । आस्थितोऽपि समाश्रितोऽपि । गुरुविरहभवेन
 पितृवियोगजनितेन । असुखेन दुःखेन । भृशम् अत्यर्थम् । तताम चकलाम् । हि यस्मात् । बाणवैवियुक्ता
 वियोगिनी । लक्ष्मीः । मुदे हृषयि । नहि भवति ॥ ८२ ॥ विपुलेत्यादि । अक्षौ सुधीः । विपुलं विशाल-
 प्रतिभाभिः । वृद्धमात्यैः प्रौढसचिवैः । कृतप्रतिबोधनः कृतं प्रतिबोधनं यस्य सः, सन् । कियद्भिः परिमैतैः ।
 दिनैः दिवसैः । पितृविरहजं जनकवियोगजनितम् । शोकं, हित्वा । नयनविषलदवाष्वापूराः नयनाभ्यां विगलन्तो

वाष्पापूरा यस्याः सा ताम् । स्वामिन्ने० स्वामिनः कनकप्रमस्य स्नेहस्तेनाकुलीकृतं चेतो यस्या सा ताम् ।
उभयोर्मु उभयप्रकाराम् । प्रकृति प्रजाय् । समभाव [य] त् संस्कृतशान् ॥ ८३ ॥ एतस्वेत्यादि । अनुजः
वक्रः । अयमष्टमीमुगाङ्कः अष्टमीचन्द्रः । एतस्य महोपेतः । विकटं च तल्ललाटपट्टकं च तेन । ध्यासितः
जितः । इतीव संग्रहानतिभिः संजाता आनतिषेणु ते तैः । भूपालैः राजभिः । नृपासनस्ये सिंहासनस्थिते ।
तत्र राजनि । कुटिलता वक्रत्वम् । न ज्ञेजे । यत्रायमष्टमीमुगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितस्तत्र के बभूवमिति
वक्रत्वं विहाय पदयोः पतिता इति भावः ॥ ८४ ॥ तेजोनिघावित्यादि । स पद्मनाभः भूमिपतिः । तेजोनिघो
महोष्मनि । उदयधाम्नि उदयस्त्रदे । सुवर्णनाभ० सुवर्णनाभाभिधाने । तनये पुत्रे । युवराजशब्दं युवा चासौ
राजा च युव० तेन शब्दपते आहूयते युवराजशब्दः, तम्—युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य । सोमप्रभा० सोम-
प्रभाया दशनाः सोम० तैजसं च तत् किणं च तेनाङ्कितदिचिह्नित ओष्ठो यस्य सः, सन् । भोगान् विषयान् ।
सदा अनुभवन् निर्विशन् । अवास्थित तस्यो ॥ ८५ ॥

इति चन्द्रप्रमच्चरितमहाकाव्यपञ्चिकायां प्रथम सर्ग ३ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

श्रुतादिः स मुनिर्जीवाच्छ्रद्धादिगुणमान्निवाक् ॥ १ ॥

आस्थानं सदः । प्रतोऽक्षरः द्वारपालः । वनपालः मालाकारः । उपजिज्ञवत् विज्ञापयामास ॥ १ ॥
मनोहरे शब्देन मनोहृदनामनि, अयेन हृदयहरिणि ॥ २ ॥ पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ॥ ३ ॥ दारुणं भोषणम् ।
समाहारेण संकरेण ॥ ४ ॥ मोक्षस्य मुक्तेः संवानवेकाग्रता तत्र चित्तं यस्य स, पक्षे मोक्षो वेधस्य । गुणस्थानानि
मार्गणाः गत्यादयस्ताभ्यां शोभमानेन, पक्षे गुणो मोक्षो मार्गणः शरः ॥ ५ ॥ पन्निष्ठिनं परिकल्पितम् ॥ ६ ॥
सुवर्णं शोभनाक्षरैः कनकैश्च । मुक्ताः सिद्धाः मुक्ताफलानि च । कर्णपूरायन्ते कर्णयोः श्रोत्रयोः पूरायन्ते
कुण्डलायन्ते च ॥ ७ ॥ गणनीयतां गणनाविषयतां गणेन अनुवृन्देन नीयतां प्राप्यतां च ॥ ८ ॥ पांसुसंपर्कात्
रजःसंसर्गात् । वामचूर्णेषु सुगन्धिद्रव्येषु ॥ ९ ॥ भास्वान् सूर्यः, पक्षे दीप्तिमान् । सेव्यपादः सेव्यरश्मिः, पक्षे
सेव्यचरणः । कुमुदं कुवलयं, पक्षे भूमुदम् ॥ १० ॥ विवक्षाभि वस्तुमिच्छाभि ॥ ११ ॥ अनपेक्ष्य अनादृत्य ।
कोरकान् उद्भेदान् ॥ १२ ॥ विस्तोढं सहितम् ॥ १३ ॥ मधुगण्डूपान् मधुकुरलकान् । अनादृत्य अनपेक्ष्य ॥ १४ ॥
तिलकं तिलकवृक्षः । व्यक्तसत् विकारमगमत् ॥ १५ ॥ जातिविबोधाः समुत्पन्नपरिज्ञाताः । अलयः भ्रमरः
॥ १६ ॥ शुर्कः कीरैः ॥ १७ ॥ कुड्मलः कजिका ॥ १८ ॥ शिलण्डिता मयूराणां ताण्डवस्य नृत्यस्य
[आटोपं] ताण्डवाटोपं नृत्यविस्तारम् ॥ १९ ॥ पलायमानस्य देशत्यागं विदधतः । बाणावलिः शरपङ्क्तिः
॥ २० ॥ शुचिसंगात् ज्येष्ठमन्वात्, शुचिः निर्मलो वा ज्येष्ठः, सकलजगत्पूज्यत्वात् ॥ २१ ॥ रोमाञ्चक-
ञ्चुकाधानात् रोमःपर्ववारबाणधारणात् ॥ २२ ॥ सहजं आसुत्पन्नम् ॥ २३ ॥ मृनिवृत्तात्सप्तसिनीं यतिवार्ता-
कथयित्रीम् । उड्डल उत्कल्लोलः ॥ २४ ॥ पारितोषिकैः संतोषजनितैः । कृतायं कृतवत्यम् ॥ २५ ॥ घोषयन्
उच्चरन् । उदस्थात् उत्तिष्ठति स्म ॥ २६ ॥ लक्ष्यम् अभिन्यासम् ॥ २७ ॥ व्यानशो व्याप्नोति स्म । संकेतिनीः
संकलयुक्ताः ॥ २८ ॥ पञ्च च षट् च (पञ्च वा षड्वा) पञ्चषपा तान् । पत्नीन् पदातीन् । अक्षुम्भत
बुधोभ ॥ २९ ॥ चवाल जगाम ॥ ३० ॥ लावण्येन लवणत्वेन संक्रान्तानि प्रतिशिम्बितानि दिवङ्मूर्णां
द्रष्टुमिच्छूनां नयनानि यत्र सः ॥ ३१ ॥ पिप्रिये तुष्टः ॥ ३२ ॥ विपरिश्रमः विगतल्लेदः ॥ ३३ ॥
समादिश्य उपदिश्य आवासय संरक्षयः ॥ ३४ ॥ चामरादिवरिच्छदां चामरादिवरिकरोपेताम् ॥ ३५ ॥

१. ज शब्दते । २. व 'चरित' इति नास्ति ज 'चरित' इत्यस्ति । ३. व प्रथमसर्गः । ४. ज 'क्षय' ।

शरत्प्रसन्ने वर्षान्तिनिर्मले ॥ ३६ ॥ त्रिः परीत्य त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य । न्यविशत उपविष्टवान् ॥ ३७ ॥ मुकुली-
कुर्वन् कोशोविदधत् । शीतगुल्मं बन्धत् ॥ ३८ ॥ शोभा कान्तिः ॥ ३९ ॥ शान्ते उरते । अमाद बभाण
॥ ४० ॥ निरालोके निःप्रकाशे । आलोक इव उद्योत इव ॥ ४१ ॥ स्फुरितं प्रतिभासितम् ॥ ४२ ॥ गुरु-
प्रत्यमर्षजितं गुरुविश्वासरिकम् ॥ ४३ ॥ प्राहुः बहन्ति । नास्ति कागमं चार्वाकसिद्धन्तम् । मानगोचरः
प्रमाणविषयः ॥ ४४ ॥ तस्यात्यये जीवामावे, अजीवः कथं वक्तुं युज्यते; जीवाजीवयोः सापेक्षत्वात् ॥ ४५ ॥
च पुनः तदत्यये बन्धमोक्षप्रभृतयो जीवधर्माः कथं स्युः ॥ ४६ ॥ उपप्लुतं बाधितम् । स्रुतम् अप्रसारितं
वा कल्पितम् (कल्पितं वा) । जीवो नास्ति, अजीवोऽपि नास्ति ततस्तत्त्वमुपप्लुतमेवेति तत्त्वोपप्लव्वादिनः
॥ ४७ ॥ विसंवदन्ते मिथ्या जल्पन्ति ॥ ४८ ॥ केचित् सांख्याः । केचित् भीमासका एव । अन्ये नैयायिकाः ।
अन्ये बौद्धाः ॥ ४९ ॥ गहने दुःप्रवेशे, गहने बने ॥ ५० ॥ उच्छ्वासां महदभिप्रायाम् । विरराम तूष्णीं चकार
॥ ५१ ॥ ईश्वरबुद्धयः प्रत्यक्षप्रतिभाः ॥ ५२ ॥ अप्लुष्टपरदूषणं परोपकल्पितदूषणसंपर्करहितं यथा स्यात्
॥ ५३ ॥ 'जीवो नास्ति' इति चार्वाकैकव्यस्यस्ते । प्रसिद्धो धर्मी पक्षः । तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य
पञ्चत्वकरणे स्वविद्वद्भावा कः कुयात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति अनुपपन्नेः—
इति भवतानुपलम्भविषयोक्रियमाणो जीवः पक्षः प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसंवेदनलक्षणेनैव निराकृत इति
॥ ५४ ॥ कथमुपलम्भविषयो जीवः, इति चेत्, उच्यते—प्रतिज्जनु इत्यादि । प्रतिज्जनु पक्षः, जीवः प्रतिभा-
सते इति साध्यो धर्मः, स्वसंवेदनगोचरत्वात् (इति हेतुः) । न चेदं स्वसंवेदनगोचरत्वम् असिद्धं, सुखदुःखादि-
पर्यायैराक्रान्तत्वात् ॥ ५५ ॥ प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य, अतः प्रमाणमेव भीमास्यते । ननु चेदं स्वसंवेदन-
लक्षण प्रमाणम् असिद्धम्, इति चेत्, उच्यते—न चास्त्वयादि । ज्ञानं—स्वसंवेदनम्, अस्त्वविदितं भवति
वेद्यत्वात् । यदेष तदस्त्वविदितं यथा कलशादिः । न च—न वाच्यम् । यथा प्रदोषः स्व प्रकाशयन्नेवार्थं
प्रकाशयति तथा ज्ञानं स्वं विदन्नेवार्थं वेत्तीति ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञानं स्वं वेत्ति तदा ज्ञेयमेव, न ज्ञानम्, इति
चेत्, न, अस्त्ववेदिनो विषयान्तरसंभाराभावात् । अथवा—ज्ञानमर्थव्यवसायात्मकं स्वव्यवसायात्मकत्वात् । यत्र
स्वव्यवसायात्मकं न तदर्थं व्यदस्यति । यथा घटः । न चेदमसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य सकलजनानाम-
न्योन्यज्ञानानां परस्परपरिज्ञानापेक्षया ज्ञेयत्वात् । अथवा सामान्यमेव व्याख्यायाम् । अस्त्ववेदिनः स्वरिज्ञान-
रहितस्य विषयान्तरे चेतनाचेतनान्तरे संभारो न स्यात् । अपरापरबोधस्य अन्योन्यपरिज्ञानस्य वेदनीयस्य
ज्ञानजन्यस्य घटनात् ॥ ५७ ॥ तर्हि अनवस्था स्यात्, इति चेत्, अनवस्थाप्यनेष्टा । नभस्पलविसिपिणो अन-
वस्थासता च स्यात् भवेत् । तेषु अपरापरबोधेषु यदेवाविदितं तदेव पूर्वस्य स्वस्य वेदकं न स्यात् ॥ ५८ ॥
ततश्चार्वाकः प्राहुः—विषयविज्ञानं परोक्षमेव, तत्परोक्षत्वे विषयस्यापि परोक्षत्वमेव ॥ ५९ ॥ इति चेत्,
परोक्षमपीष्टमेव । परोक्षादपि ज्ञानादधिगतित्थं परिज्ञानमिष्यते । यथा अर्थः परेण विदितस्तथा स्वविदितोऽ-
पि भवेत् । अतः स्याद्देवमतापेक्षया जीवः स्वकीये काये स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् सिद्धः, परकीये ज्ञानमाना-
दिलक्षणात् परोक्षादिति भावः । तदुक्तम्—'स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स
सिद्धास्त्यनुमानतः ॥ ६० ॥' तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणीयपत्त्या स्ववेदने स्वयं वेदने नाग्नि प्रत्यक्षे
प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति । नास्तित्वादिना चार्वाकितत्त्वोपप्लव्वाणां प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्षबाधा कथं न
भवेत् । अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेदिति भावः ॥ ६१ ॥ पुनः स्याद्वादी
चार्वाकमनुसंधत्ते । गम्यादिमरणान्ते प्रकृतपर्यायापेक्षे जीवे सिद्धेऽपि तस्य जीवस्य प्रागूर्ध्वं—अन्ततः प्राहुः
मरणाच्चोर्ध्वं कथं सिद्धिर्यदिति मन्यसे ॥ ६२ ॥ तदेवमुत्तरमाहुः—तत्रापि जीवे सदकारणवत्त्वेनादादिता,
अनन्तता च सिद्धा । वाग्धनिपूषिषोपयसा यथा । बादिप्रतिबाधपेक्षया । व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः ।
अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात्, येषां सद्कारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वं यथा वाग्धनिपूषिषोपयसा ।
सदकारणवादासी, तस्मादनाद्यनन्त इति ॥ ६३ ॥ ननु चाकारणवत्त्वमसिद्धं तस्य, इति न वाच्यम् । अहेतुत्वम्
आकारणवत्त्वम् । तस्यासिद्धं न । कस्यापि हेतोः कारणस्य । अयोमतः अवघटनात् । ननु च भूताणि हेतवः इति

चेत्, न सहप्रत्येकपक्षयोः क्रमेण युगपदा भूतानां हेतुत्वं च ॥६४॥ एतदेव विव्रियते—प्रत्येकपक्षे एककाद्भूता-
ज्जीवोत्पत्तौ जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते । सहपक्षे युगपदेतेभ्यो जीवोत्पत्तौ तेभ्योऽसंविद्धोऽचेतनैश्चचेतन-
कथं स्यात् ॥६५॥ कुतः, हि यस्मात् घटपटादियुं कार्येषु सजातीयमुपादानं दृष्टम्; कस्मात्, मृदादीनां हेतूनां
कारणानां घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिकार्यानुवर्तनात् ॥६६॥ स्यान्मते विजातीयादपि कारणाद्विजातीयकार्यो-
त्पत्तिवर्शनाच्छृङ्गादेः शरादिवत् इति । तत्रापि शृङ्गादेः शरादिना व्यभिचारोऽपि न युज्यते । कस्मात्, पुद्ग-
लत्वेन पुद्गलत्वजात्या सजातीयत्वसंभवात् ॥६७॥ अथवा यदि विजातिभ्योऽपि भूतैर्म्यचेतनो जायत एव तदा
प्रयसोऽपि पृथ्वी भवेत् । एवं च तत्त्वचतुष्टयं न—तत्त्वसंकरः स्यात् ॥६८॥ ननु भूतानां चैतन्योत्पत्तौ सहका-
रित्वमेव, इति चेत्, न, उपादानाभावात् भूमादिभ्यतिरेकतः भूमादि विना अन्यदुपादानं च भवन्मते नास्ति
येनोपादानेन सता भूतानां सहतिः समुदायः सहकारिणो कल्प्येन ॥६९॥ कार्ये कोऽप्युपादानधर्मो नावलोक्यते,
भिन्नलक्षणत्वात् । शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् विविधाकृत्यवलोकमात् ॥७०॥ घटादिकारणेषु
मुवादिषु । एतत् भिन्नलक्षणत्वम् । नेक्ष्यते च । ततः तस्मात् । अनुमानबाधापि पक्षं जीयते । यथा प्रत्यक्षेण
पक्षबाधा तथानुमानेनावीति रहस्यम् ॥७१॥ तस्य जीवस्य । अभावसाधनेऽनुपलम्भादिहेतुरसिद्धः स्वसंबन्ध-
वस्य तद्भावासाधकत्वात् ॥७२॥ विभिन्नप्रतिभासित्वात् विदचितोः प्रतिभासभेदात् ॥७३॥ अत्राहापरः—
भवतु नामैवमात्मा प्रत्यक्षादसिद्धः, स च सर्वथा नित्य एव, इत्येवं ब्रह्मन् प्रत्यक्षेण बाधित एव ॥७४॥
कथं प्रत्यक्षबाधिता, ते, यत आत्मा प्रतिप्राणि सततं सुखदुःखादियर्थैर्विवर्तमानः स्ववेदनात् प्रकाशते ॥७५॥
ते च सुख-दुःखादियर्था जीवात् संबन्धा विभेदिनः, इति चेत्, न भेदे सति 'तस्यामो' इति संबन्धानु-
पपत्तेः ॥७६॥ अस्ति समवायलक्षणः सम्बन्धः इति न वाच्यम्, नित्यस्य समवायो न युज्यतेऽनुपकारित्वात् ।
यतः सर्वापि सम्बन्धसमवस्थितरूपकाराश्रयैव स्यात् ॥७७॥ अस्ति नित्यस्योपाकारित्वम्, इति चेत्,
तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा । अभिन्नश्चेत् समो भिन्नश्चेत् संबन्धासिद्धिः । उपकारान्तरमपेक्ष्य संबन्ध-
करणेऽनवस्थितिः स्यात् ॥७८॥ ततो जीवः सुखदुःखादियर्थैः स्यात् कथं विदभिन्नः परिणामिभवात् । तथा
च कथं कूटस्थनित्यता ॥७९॥ एतेन कूटस्थतानिराकरणेन । तस्य आत्मनः । जडताम् अज्ञत्वम् । बुधाणाः
वैयर्थ्यादिक्रियाः । विनिवारिताः प्रतिभिन्नाः । चिद्रूपसुखदुःखादियर्थैः विवर्तते । ऐक्यसंभवात् परिणा-
मिस्त्वेनैक्यघटमात् ॥८०॥ तर्हि आत्मा अकर्ता, इति चेत्, तस्य आत्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादि-
दोषात् । हि—यस्मात्, कुशलाकुशलक्रिया-मनोशामनोऽनोऽनोऽनो अकुर्वन् आत्मा कथं बध्यते, न कथमपि
॥८१॥ एतदेवोच्यते—कापिलः 'आत्मा भोक्ता' इति भुक्तिःक्रियाया स्वयं कर्तृत्वं यदनु तदेवापहनुवानः
किं न जिह्सेति ॥८२॥ ननु आत्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः ।
चेतनमे (ण) च बध्यत इत्यर्थः । तस्माद् आत्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसो मता ॥८३॥ चित्तसतति-
मात्रम् आत्मा, इत्येके । तत्र चित्तमंततिमात्रत्वमपि [अ] युक्तं प्रकल्पितं—स्थापितम् । यतः संतानिव्यतिरेकेण
काचित् सततिनं । पूर्वं सतानो चेत् ततः संततिर्वक्तुं युज्यते ॥८४॥ सतानिनः सकाशात् संततिभिन्ना
अभिन्ना वा । यद्यभिन्ना तर्हि तस्मात् । भिन्ना चेत्, संतानिनो भिन्ना संततिनित्यानिरत्या वा । अत्रोच्यते
व्यतिरेकेऽपि सतानिनः सकाशात् सतानिव्यतिरेकेऽपि यदि तस्य नित्यत्वमिष्यते तदा अणिकैकान्तवादिना
प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । 'सवं अणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा ॥८५॥ संतानिवस्य अणिकत्वेऽपि यद्
दूषणं सतानिपक्षे निक्षिप्यते तत् सतानेऽपि । ततः संतानस्यापि अणिकत्वे तस्य अणिकत्ववादि (नः)
संबन्धे कृतनाशादिकं प्रसज्यते ॥८६॥ तस्य व्यापकत्वेन कृतनाशादेरभावः, इति चेत्, न, तस्य व्यापकता
घटना नोपदोक्तं, स्वसंविदिरूपस्य तस्य देहाद् बहिरवेदनात् ॥८७॥ तस्माज्जीवः प्रमाणतोऽनादिनिधनो
देहप्रमाणकः स्थितः, कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धः ॥८८॥ येऽप्यजोवाद्यो भावाः तेषां सिद्धाः, तदपेक्ष-
त्वात् । सत् तत्त्वम् उपप्लुतं न ॥८९॥ अपरे मीमांसकपक्षपातिनो मीमांसका जीवाजोवा [दि] षड्वर्ग-
प्रतिपक्ष अज्ञीकृत्य मोक्षं विप्रतिपद्यन्ते विवदन्ति (न्ते) ॥९०॥ तेषामपि मीमांसकानामनुमानबाधा

पुष्टतः परिधावति । यतो मोक्षः कर्मजयो निगद्यते, सत्त्वानुमानतः सिद्धः ॥ ११ ॥ तथा हि^१ क्वचिदपि पुंषि पक्षः । कृत्स्नावृत्तिष्योऽस्तीति साध्यो धर्मः । तत्कार्यसकलजन्तवस्याप्यायानुपपत्तेः । आवृत्तिष्यः कारणं सर्वजन्तव च कार्यम् ॥ १२ ॥ ननु च सर्वज्ञः कश्चित् नास्ति, साधकभावात्, इति चेत्, कस्यचित् सर्वज्ञत्वमसिद्धं न, बाधकार्ययात्—बाधकभावात् । सर्वत्र वस्तुव्यवस्थितिविधिकाभावादेव ॥ १३ ॥ तथाहि—तस्य बाधकं तावत् प्रत्यक्षं नोपपद्यते, अशजन्तात् । तस्यात्यन्तेऽतीन्द्रिये विधिर्न निवेष्टनं न ॥ १४ ॥ अनुमानमपि तद्भाषा विधातुं क्षमं न; यतोऽखिलं पुरुषत्वादि तत्त्विकं व्यभिचारि दृश्यते ॥ १५ ॥ कथं तत्त्विकं व्यभिचारि, इति चेत्, यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगीर्वाणोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगीर्वाणोऽपि ॥ १६ ॥ यथा देशान्तरे कालान्तरे चाखिलो रासभः शृङ्गो न तथा देशान्तरे कालान्तरे कश्चित् पुमान् सर्वज्ञोऽपि नास्ति [॥ १७ ॥] इत्याद्युपमानं हि युक्तं न, इष्टविधातात् । कथमिष्टविधातः, इति चेत्, तथाहि—स्वचरादीनां स्वगमनादिकं न स्यात् । यथात्रत्येदानोन्तनपुरुषाः स्वगामिनो न, तथा देशान्तरे कालान्तरे च नैवेतोष्टविधातः ॥ १८ ॥ तस्माद् यस्य सा सकलजन्ता असौ नरविशेषः । तथैव खरविशेषश्चेत् त्रिषाणिता च स्यात् ॥ १९ ॥ तद्धि अर्थापत्तिः सर्वज्ञाभावसाधिका, इति चेत्, न, अर्थापत्तिरपि सर्वज्ञाभावसाधिनी नास्ति, तेन विना सर्वज्ञाभावप्रतिबन्धः कोऽर्थ सम्भवो यस्तं सर्वज्ञाभावं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥ आगमेनापि कर्तृकेनाकर्तृकेन वा सर्वज्ञो न बाध्यते, वन्तृहोतस्य तस्याप्यग [म] स्यात्तन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥ अकर्तृक एवागम, कर्तुरस्मरणान्, इति चेत्, कर्तुरभावः कर्तुरस्मरणविषयो न मिद्व्यति, अजातकर्तृकेर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात्—घटनात् ॥ १०२ ॥ पौरुषेयेष्वसंभवी कश्चिद्विशेषो पौरुषेये नास्ति । यथा अनोन्द्रियार्थसंवादोऽवीरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते ॥ १०३ ॥ ततो विवादापन्नं शास्त्रं सकर्तृकं दृष्टं, दृष्टकर्तृकमुत्पत्तात् । यद् दृष्टकर्तृकमुप तन् सकर्तृकं, यथा अकलङ्कादिशास्त्रम् [॥ १०४ ॥] तस्मादकर्तृकं शास्त्रं सर्वज्ञबाधकं नास्ति, कृतकं च । तत् कृतकं द्विधा भिन्नं सर्वज्ञकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृकं चेति [॥ १०५ ॥] तावद् असर्वज्ञप्रणोतमतोऽपि प्रमाणं न । पु—पुन । सर्वज्ञप्रणोतं तस्य प्रत्युत साधकमेव ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतस्य प्रमाणपञ्चकामात्रं त्रयशादिनिराकृति ॥ १०७ ॥ अजादिवृद्धिबन्त—इन्द्रियज्ञानं यथा ॥ १०८ ॥ रत्नत्रय-निबन्धनः—रत्नत्रयं निबन्धनं कारणं यदयं सः ॥ १०९ ॥ चूम्बकैः—चूम्बकपाषाणैरिव । आचकर्थं निष्कापयति स्म ॥ ११० ॥ प्रपद्य अङ्गोक्तस्य निश्चित्येत्यर्थः ॥ १११ ॥ आरेभे प्रारब्धाः । परा उत्कृष्टा ॥ ११२ ॥ नृतीये पुरुषार्थनामनि । लताभवनं वल्लीमण्डपः ॥ ११३ ॥ सोतोदा नाम नदी तस्मा उत्तरदिक्कटम् ॥ ११४ ॥ बृहद्गुं दीर्घोर्ध्वदण्डपक्षात्पवारणशोभाम् ॥ ११५ ॥ अर्थवतीम् अर्थयुक्ताम् ॥ ११६ ॥ अकुष्टपच्यै लङ्गालप्रयासपच्यैर्गन्धैः पूर्णं । निरोतो ईतिरहिते । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मुषकाः घालभा. शूकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैरा इत्यतः स्मृताः ।' निरवग्रहे अवृष्टिरहिते ॥ ११७ ॥ कुक्कुटसंपात्यैः कुक्कुटसंपाते वसन्तीति कुक्कुटसंपात्यास्तैः ॥ ११८ ॥ परलोकक्रियोद्यताः प्रेत्यभावक्रियोद्यमिनः ॥ ११९ ॥ अश्वन्याः पथिकाः ॥ १२० ॥ जिनीपतीव [जेतुमिच्छतोव] ॥ १२१ ॥ कृष्णानि मलिनानि । चरितानि आचरणानि ॥ १२२ ॥ निगमाः ग्रामाः ॥ १२३ ॥ मञ्जस्वीं बृहद्विलासिनोसमूहस्तनविगल्ताम्भोरैः । जलधिद्योषितः नद्यः ॥ १२४ ॥ त्रिविष्टपं त्रिदशालय इव ॥ १२५ ॥ रत्नोपलमरीचिभिः रत्नपाषाणकरैः । ज्योतिर्गणविभा नक्षत्रनिकरदीप्तिः ॥ १२६ ॥ मिमीते जानीते । शालसं प्राकारान्तरिसस्युर्मृगाङ्गोदयम् ॥ १२७ ॥ अकाण्डेऽपि अकालेऽपि ॥ १२८ ॥ वासराधिपतिः सूर्यः । सुज्जप्रातोःशिक्षरम् उच्चपुरद्वारेश्वरः ॥ १२९ ॥ तारतारां मनोहरोद्गुप्तमूर्हं ॥ १३० ॥ उत्तमिन्तोद्गुमिः स्थणिततारकैः ॥ १३१ ॥ मानेन प्रमाणेनावलेपेन वा । महाभोगाः परिपूर्णतासहिताः, गरिष्ठभोगाश्च । मत्तवां प्रथीवराजमानाः प्रमिन्नगज-लोभिनश्च । बहुमृमिद्युताः बहुलणसहिताः प्रचुरमृमि [—भाज] एव ॥ १३२ ॥ घनकिञ्चलकः प्रचुरकेसरः । हिरण्यखचिता सुवर्णनिमिता ॥ १३३ ॥ पातालोपवनारका पातालवनम्रास्तिम् ॥ १३४ ॥ काशसंकाशा काशो नाम तुणजातिः ॥ १३५ ॥ मुषस्त्रीणां बालाङ्गनामान् [॥ १३६ ॥] मञ्जल्युं बृहत्सुचरित्रा-

संयतकषपतदुज्ज्वलमल्लिका । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ लीङ्गत्वं कर्कशत्वम् । मानसे चेतसि ॥ १३८ ॥
कचेषु केवेषु । विरसत्वं रसाभावः ॥ १३९ ॥ विरोधः वरं, पक्षिरोषश्च ॥ १४० ॥ [प्राकार०] प्राकार-
लासिकापूलाशैः ॥ १४१ ॥ मानेन प्रस्थादिना, प्रमाणेन वा । प्रमिषते प्रमाणविषयो कुर्वते ॥ १४२ ॥
वापी दीपिका । वनम् उद्यानम् । आयतनं चैत्यम् । सौधः राजसदनम् । तटागः कासारः । गुण्या बृहस्पतिना
॥ १४३ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

धृतादि स मुनिर्जोषाङ्गद्व्यादिगुणभासिका ॥

तत्र श्रीपुरे । आनन्दविपयोक्तृत्वकीयसमस्तवन्मुपद्रुजः । न्यायगमस्तिष्ठसमूहनिराकृतदुर्नीतितमिरः ।
मुकुलीकृतशत्रुवृक्षमलवन्द्योः । भानुनिभः सूर्योपमः ॥ १ ॥ विलङ्घ्यमानमूर्तिः । अतिक्रम्यमाणतनुः । प्रभूणुः
समर्थः ॥ २ ॥ अनुरागकरः । आनन्दविधायकः । तन्मात्र० प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थः ॥ ३ ॥ संपूर्णः समप्रस्थासौ
धारदनिशाकरश्च तेनेव काम्तं मनोहरं च तत् कोटिवल्लोवितानं च मण्डलं च संपूर्णं तेन परिवेष्टितं
विष्टुपान्तं येन सः । व्यसनापनोदात् आपदपसारणात् ॥ ४ ॥ व्यस्यति पातयन्तीति व्यसनानि, प्रशान्तानि
सकलव्यसनानि यस्मात् स तस्मिन् । बुद्धिमाहात्म्यम् ॥ ५ ॥ अद्रिपतिना मेरुणा । हरिणा इन्द्रेण । वशिष्ठा
जितेन्द्रियता । तुलितं प्रमितम् ॥ ६ ॥ पदातिवृषभाः भृगुप्रधानाः, पदातयश्च वृषभा बलीबद्विचिंति वा ।
आक्रम्य तिरस्कृत्य ॥ ७ ॥ यत्र कुक्षिं यस्मिन्कुस्मिन्चिच्छत्पुङ्खे । जातनिर्भररुषा उत्पन्नगाढकोपेन ॥ ८ ॥
बरबोरलक्ष्म्याः प्रधानशूरश्रियः ॥ ९ ॥ अजलोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वम् । वसुमत्या तिलको वृक्षविशेषोऽपि,
अथोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विराधोऽयं, तत्परिहारः—अपि निश्चयेन
यतोऽत्रश्च. पण्डितोऽतएव दीनभावं न भजे । यतश्च वसुमत्याः वसुधायास्तिलको लक्षामभूतोऽत एवाशोकः
शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽतएव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव ॥ १० ॥ अयसचयनिमित्तं
द्रव्यसंचयकारणम् । इतर. कामः । अपेक्षा परस्परश्रयम् । विजहुः तत्पुत्रः ॥ ११ ॥ अम्ययितः प्रायितः ।
आलयभूतम् आस्पदम् ॥ १२ ॥ मनाक् ईषत् धामाधिकः संजोऽधिकः । तेन सूर्येण चन्द्रेण च ॥ १३ ॥
सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया । अव्यतिरिक्त्या अभिन्नया
॥ १४ ॥ लावण्यं सौन्दर्यसंपदमलोदके । शरद्विशं शरन्निर्मलचन्द्रकरसितः । समुदितः चयं गतः ॥ १५ ॥
उच्छिन्नत्व परिज्ञाय । वज्रे^१ वृत्तवती ॥ १६ ॥ परीतवता वैष्टितवता ॥ १७ ॥ दोषायाः रात्रेः, दोषाणां
दोर्जन्यादीनां च । तमसा अन्धकारेण पापेन च प्राधातिको प्रभातसमयोद्भवा । अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य ।
ओ^२पक्षिपते. चन्द्रस्य । परिभूय तिरस्कृत्य ॥ १८ ॥ प्रणयकोप० स्नेहकषायविहिंसावकाशानि ॥ १९ ॥
अखिलाबसरं निखिलकृत्यम् । उदध्रुणी नयने यस्याः सा खवद्रोदकनेत्रा ॥ २० ॥ विभक्तु विभागेनोभयत्र
विधातुम् । त्वरमाणवृत्तिः ‘कथय कथय’^३ इति शीघ्रवर्तनः । शोकसमुद्भवस्य शोकात्पत्तेः ॥ २१ ॥
दुर्बारीयाः दुर्निवारपराक्रमाः । प्रसूतः विस्तृतः । सोढुमशक्यतेजसि ॥ २२ ॥ अप्रभूणोः असमर्थात् । प्रणयस्य
स्नेहस्य ॥ २३ ॥ त्वदधीनवृत्ती त्वदायस्तजीवने । त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि तव स्नेहपरचेतसि । शाठ्यं शठत्वम्
॥ २४ ॥ छन्दो (न्दा) नुवदिषु छन्दःकारिणु (?) । निशा० अन्धः पुरस्त्रोलोकेषु । अशक्नुवत्सु असमर्थेषु
॥ २५ ॥ आपरि० असतोषकारणेषु ॥ २६ ॥ ह्योवद्यान् लज्जावशात् । परेक्षितज्ञा परवेष्टामवनुद्वयन्ती

१. व वज्रेव । २. व ओपे । ३. वज्र ‘कथय २’ । ४. वं परवक्ष्यते ।

॥ २७ ॥ निमसिः विधिः ॥ २८ ॥ अनुवाचः प्रभावः । अन्धरुत् आरुह । आङ्गप० धनिकुमारान्
 विमान् ॥ २९ ॥ विषण्णै० स्नानमूलकमला । कुक्षिः अन्य वा ॥ ३० ॥ मङ्गिवाः मया सवृषाः । पुष्पम्
 आतर्प्य पुष्पम् ॥ ३१ ॥ स्थानधर्मिणि गर्भाधानवति । कार० निष्कारणकम् । व्यप० संज्ञामिलायी ॥ ३२ ॥
 चन्द्रोपसतां मृगाङ्कुरहिताम् ॥ ३३ ॥ उज्जितां रहिताम् ॥ ३४ ॥ न्यवसत् पतिवती ॥ ३५ ॥ निशम्य
 आकर्ण्य ॥ ३६ ॥ शुचः शोकस्य ॥ ३७ ॥ कर्म बित्तं कर्तव्यं देवमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अलस० मन्दगामिनि ।
 एकान्ततः सर्वथा इति भावमस्थाः न जानीहि ॥ ३९ ॥ नामाबुद्ध्यादिलिखितहिताः ॥ ४० ॥ प्रतिविधानुं
 प्रतिकर्तुम् । कर्मैः मनोहरैः । करदीकृताश्च अकरदाः करदीकृता भाषा येन सः ॥ ४१ ॥ अम्पयां सीत्
 निर्जंगाम ॥ ४२ ॥ नटनमयूरे । कोमलकूजत्कीकिले ॥ ४३ ॥ तारापथात् अम्बरात् ॥ ४४ ॥ रोमहर्ष-
 कश्चित्तशरीरः । नमाम अन्तर्सीत् ॥ ४५ ॥ निजस्मितेन ईषडास्येन ॥ ४६ ॥ संकुचस्कमलप्रतिमो । रश्मिवि०
 दीप्तिमण्डलेन ॥ ४७ ॥ रजसः पापस्व ॥ ४८ ॥ उन्मूलयति मूलत उत्तन्नति । उद्यौरयते उत्पादयति ।
 अतिशयेनापमस्पीयः [तस्य] ॥ ४९ ॥ प्रसौध प्रसारं कुह । परिजानतः अवबुध्यतः । बिरिति वैराग्यम्
 ॥ ५० ॥ चेतोगतं चेतसि स्थिताम् । अवबुद्धमानः परिजानन् । सूनुवाञ्छा पुत्रामिलाषः ॥ ५१ ॥ सा
 सूनुवाञ्छा । अरिक्कु-शेमयनावैकोऽसहायो वीरः । विबं० अन्तरायकारणम् ॥ ५२ ॥ अग्रमहिषो पट्टदेवो ।
 पट्टभेदेन वृत्तने । अभिनन्दिताः समन्ताद्भुद्धि नीताः सर्वबन्धवो येन सः ॥ ५३ ॥ भ्रष्टकायकान्तिम् ।
 ईदृग् गर्भपीडिततनुः ॥ ५४ ॥ प्रतिपद्य प्रतीक्ष्य । उद्धृतपुण्यान् ॥ ५५ ॥ अनपत्यम् अपुत्रम् । तस्य
 निदानस्य ॥ ५६ ॥ पृष्वाम्नि विपुलमहसि । अशेषितो निरस्तः कर्मबन्धो येन सः ॥ ५७ ॥ आनन्द्य
 आल्लाघ । इष्ट० अभिलषितप्ररूपणेन । घाम स्थानम् ॥ ५८ ॥ पुरा पूर्वमुपचितैः पुष्टिं नीतैः पुण्यनिबद्धं
 नियमितम् । आकलय्य विचार्य । निवबन्ध चकार । नियतं निश्चितम् । अङ्गं प्रधानं कारणम् ॥ ५९ ॥
 प्रक्षोभिता संभ्रमिता अखिला समस्ता । सुरासुरनागलोका येन सत् । समाससाद आजगाम ॥ ६० ॥
 सनोहितनितिल पुत्रोत्सवभिलाषकारणम् । जिनद्विभस्मानस्थाध । स्नानं चक्रे ॥ ६१ ॥ प्रह्लादनम् आनन्दम्
 ॥ ६२ ॥ आपण्डुम् ईवच्छुभ्रम् ॥ ६३ ॥ प्रमृगशण्डिम प्रमृता (त) पाण्डिता यत्र । पट्टवर्यः भ्रमर ।
 अनुचकार अनुसरतिस्म ॥ ६४ ॥ सर्व० कुचद्वययोः (स्य) या विषाण्डुरता शुभ्रत्वं तस्य गुणः, सर्वम्
 प्रसरंश्चानी विषा० गुणश्च तेन ॥ ६५ ॥ अन्तः समीपम् ॥ ६६ ॥ नीलोत्पलानि कुवलयानि । प्रथमं
 विजितानि, इदानीं पुण्डरीकैः विजिताम्नोत्रैः, स्रद्धं अम्यपूये ॥ ६७ ॥ शिरीष० शिरीषपुत्रकोमलगान्नायः
 ॥ ६८ ॥ भावितोर्थकरम् आगामितोर्थनाथम् ॥ ६९ ॥ अमीपुनति सूर्ये ॥ ७० ॥ मुखरं वाचालम् ।
 नरनाथगृहम् ॥ ७१ ॥ निरित्य निर्गत्य । जन्मवतां प्राणिनाम् । प्रघोषः प्रणादः ॥ ७२ ॥ निवेदयद्गुणः
 सूचकश्च । अमीगणत् गणयामास ॥ ७३ ॥ रश्मिने वेगेन । अन्तः मध्यम् । हृदयं मनः ॥ ७४ ॥ शुभे
 दिवसे सुवर्णनिर्वृतैः पुष्पैः सर्वजं पूजयित्वा वंशवृद्धैः यह मङ्गलनिमित्तं 'श्रीवर्मा' इति नाम चक्रे ॥ ७५ ॥
 परान् शत्रून् । अमिताम् अययोदाम् । ननन्द अवर्द्ध ॥ ७६ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां मृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीवापञ्चद्व्यादिगुणमासिवाक् ॥

पद्याकारवत् कमलबनवत् । दशोपपमा ॥ १ ॥ कलाभिः चतुषष्टिभिः, पोडश [भागैः] दश ॥ २ ॥ उपास्य
 संसेव्य । विद्याः चतुर्दश, उपविद्याः तदन्याः । प्रचण्ड इन्दुमि(रि)ति पाठान्तरम् ॥ ३ ॥ वयसा वेगेन । आक-

१. ब विविध ज विविध० । २. ब अमुमी ज असुमा ।

रोषः क्विजः ॥४॥ अवाप्तुं प्राप्नुम् । सदाभियुक्तः अभियुज्यन्ते इत्यभियुक्ताः तैः सेवापरैः । उप-
 जीवमधिपयोक्तुः ॥५॥ इषेष्ट इच्छति स्म ॥६॥ वदान्यता दानशोभताम् । तद्वद्भिः वदान्यतायुक्तः । परतः
 अन्यतः ॥७॥ धूरतरः अतिशयेन धूरः । महीयः गरीयः । द्विपारेः सिंहस्य ॥८॥ स्वपङ्क्ति ईर्ष्याविशेषात् ॥९॥
 प्रपूरयन् पोषयन् ॥१०॥ खलुस्वभावाः दुर्जनाः ॥११॥ अभिमत्रं तिरस्करणचतुस्रम् ॥१२॥ आयतनम्
 आप्यदम् । उत्सेकं गर्वम् ॥१३॥ पण्णा वयः पट्वयः स चाक्षी रिपुवध पट्वं निरस्यः पट्वर्गरिपुर्वेन सः ।
 'कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मयः । अन्तरङ्गोरिवहृवर्गः श्लोकोशानां भवत्ययम्' ॥१४॥ निदेशात्
 अनुग्रहात् (आशातः) । उपयेमे परिणोतवान् ॥१५॥ नियोज्य निवेश्य । धूर्तं धीरेयम् ॥१६॥ बाण्ड्यैव
 कृतं संनिधानं यैः ॥१७॥ अम्बरतः आकाशात् । विषयेषु भोग्येषु । १८॥ अशाश्वतं विनश्यदम् । पुत्र-
 कलत्रैर्मोहितः ॥१९॥ सगापगा. प्रसिद्धा ॥२०॥ क्षणक्षयिणि क्षणिके । स्थिराभिमानं निश्चलमतिम् ॥२१॥
 समागमाः संयोगाः पुनर्मित्रकलादयः । ऋच्छति गच्छति ॥२२॥ कृते निमित्तम् ॥२३॥ अव्यपायाम् अवि-
 नश्यदाम् । वृणुते स्वीकुर्वन्ति । अवः पानीयानि ॥२४॥ अनुग्रमाणस्य परमाणुमितस्य । गिरोऽन्नापमं मेघ-
 प्रमितम् ॥२५॥ तालया कृतं तालीयं, काकस्य तालीयं का० (काकागमनमिव तालवनमिव काकतालं, काक-
 तालमिव काकतालीयम्—काकतालसमागमसन्निभमिति यावत्) । केशं कर्मणा विनाशात् ॥२६॥ फल्गु-
 भावम् असारताम् । अवगतरागः ॥२७॥ मन्दोर्ध्वश्चासी प्रेम्ण स्नेहस्य रसश्च । युवराजानम् (युवराजम्)
 ॥२८॥ बात्या वातमण्डली । उरेष्य आगत्य । बिहन्तुं त्यक्तुम् ॥२९॥ निजघ्नं स्वस्य उद्यमताम् । अव-
 सानं प्रान्तम् ॥३०॥ वयोऽनु० वयसा सह । प्रस्नं गद्गदा भवितुम् ॥३१॥ बुद्ध्यावरोहितम् । परिपन्थिना
 प्रतिकूलेन ॥३२॥ पुरैव पूर्वमेव । अपेतम् उज्झितम् । अवतिष्ठे स्थितोऽहम् ॥३३॥ अपास्तव्यसन परि-
 त्यक्तधुनिः । अपहृष्टितः शितो निराकृतोऽरिर्वर्णामुदयो येन सः ॥३४॥ अङ्गुष्ठिते उदय प्राप्ते । चारा
 गृहपुण्याः क्षुध्यस्य सः । 'गन्धेन गावः पश्यन्ति स्रावणा वेदक्षुधा । चान्तिं पश्यन्ति राजानदक्षुर्भूमितरे
 जनाः' ॥३५॥ मोट्टीविजः उद्वेगविषयं मा कृषाः । आत्मनोमन् आत्महितम् । निबन्धनं कारणम् ॥३६॥
 निबन्धनस्य अनुद्भूतस्य । गरीयः गरिष्ठम् । ध्येयम् उपद्रवः—आपत् ॥३७॥ विप्रिन्सु. कर्तुमिच्छुः ।
 एनं परिवारम् । कुनजताया कुनकृत्यतायाः (?) । उद्वेजयते उद्वेगविवर्धयते कुरुते ॥३८॥ दोषा दीर्घादयः ।
 लोकद्वयम् हहपरलोकम् ॥३९॥ वृद्धानुपत्या मन्त्रिवचनेन । वि० निरालम्ब्य । विनोयसान्. अनुनोयमान ।
 गुह्या वृद्धेन ॥४०॥ निगूळतः बाधयतः । बन्धिनः स्तुतिपाठका ॥४१॥ गन्धुतमनाः । कला० निपत्ति-
 निश्चेयानि । निजम्येहितानि वाञ्छितकार्याणि ॥४२॥ आशा. वाञ्छितानि दिशश्च । भूभूत राजान्. पर्व-
 ताश्च । करणा भागधेयानां, किरणानां च । निबिम्बः. प्रतिकूलतारहिण ॥४३॥ विश्राणयामास ददौ ।
 प्रतीयेव जग्राह ॥४४॥ श्रीप्रभो नाम मुनिस्तस्य पादभूले । समापदत् प्राप ॥४५॥ विनिययौ निर्जगाम
 ॥४६॥ मौलम् अङ्गुराङ्कृतम् आटविकं भिन्नशब्दादिजनितम् । सामन्त्र्यं क्षत्रियसैन्यम् ॥४७॥
 खरकेशधूसरम् । परं केवलम् । दिशाम् आशानाम् ॥४८॥ अग्रतिकूट. अनुकूट । वशाधूननं प्रकम्पनम् ।
 अन्तर्दधे तिरोहितः ॥४९॥ प्रयाणं विषयमयम् । मातङ्ग (ङ्गाः) हन्तिनः । प्रतान धूलिप्रसरः ।
 ॥५०॥ मूर्च्छन् व्याप्नुवन् । विचरेषु रत्नेषु ॥५१॥ प्रत्युद्ये प्रमिग्रीत ॥५२॥ निगम्य श्रुत्वा ।
 प्रस्थानं विजयप्रयाणम् । महाव्याकुलं व्यथितानाम् । इति वदन्माण्यकारणे ॥५३॥ अनपेक्ष्य
 अवगणय ॥५४॥ भयदिह्नं साध्यसहितलाङ्गाः । शरण्यं शरणाङ्गम् । अवोद्य परित्यज्य ॥५५॥
 शीर्षेण शूरत्वेन शीर्षेणैव । अपेक्ष्य आगत्य । पतङ्गानां पतिना वृत्तिम् ॥५६॥ पत्रं वाहनम् । अतोपाणि
 समस्तानि रत्नानि । उपायनोक्त्य प्राभूतीकृत्य । हिमवतुंशुभाः यथा प्रालयोपश्रुताः शातिताङ्गाः पत्रादिरहिता
 भवन्ति ॥५७॥ गृहीतं स्वीकृतद्वयविशेषान् कृत्वा । स्युद्धस्त अस्यापयत् ॥५८॥ उपेयुः समागतान् ।
 अन्धप्रहोत् पितृपदेऽनुजगाह । तनुजान् पुत्रान् ॥५९॥ गतां क्रोध (गर्वं) रहितैः । दत्तममयं येष्यस्ते
 दत्ताभयास्तैः । कटकं सैवम् । यथा समुद्रं जेतुमिच्छया ॥६०॥ गण्डस्थलामोदः. कटोद्ग्रेहपरिमहः ।

विश्लेषितम् आद्रितम् । उपायनेभैः प्राभृतगजैः ॥ ६१ ॥ शर्वैः बालैः । पार्वतीयाः पर्वतवासिनः ॥ ६२ ॥ उपदीकृत्य उपायनीकृत्य ॥ ६३ ॥ अङ्गारिणीः अङ्गारयुक्ताः शत्रूणां शिताभिः शितिभिः । प्रभूमिता धूसरा । मां च वकांश्च अभिलाषमकरोत् । 'यस्यां दिशि सूर्यं सा शान्ता, अन्ये जङ्घितप्रभूमिते' इति ॥ ६४ ॥ विकिरन् प्रसारयन् । करं भागधेयम् ॥ ६५ ॥ प्रतिकूलिता द्विष्टा आज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥ समानां मानस-
हिताम् । अम्भोनि० समुद्रजलपरिधाना ॥ ६७ ॥ भूतघानीं वसुध्वराम् । घानीं दधानाम् । आससाव प्राप ॥ ६८ ॥ प्रत्यागतं समर्थम् । श्लेषः ॥ ६९ ॥ गोपुरस्य पुरद्वारस्य ॥ ७० ॥ ह्माहृताः विटपिनः । विरोधीन् कम्परजिषोवान् ॥ ७१ ॥ कलं मनोहरम् । निषेदुषी निवसन्ती । हंसावलिः हंसपङ्क्तिः ॥ ७२ ॥ विनिर्यत् निःसरत् । पाठीनकुल मत्स्ययूथम् ॥ ७३ ॥ गवाक्षः वातायनम् । संभूय एकीभूय । हलध० अधोवस्त्रबन्धन-
दवरकम् ॥ ७४ ॥ पञ्चबाणः कामः ॥ ७५ ॥ शशिसमं चन्द्रसमदीप्त्या । विलासीः शृङ्गारभेदैः । निरुतशत्रुः खण्डितारिः ॥ ७६ ॥ निषेदं वीरग्यम् ॥ ७७ ॥ प्रवज्य दीक्षित्वा । परमोदयः महद्विकः ॥ ७८ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीवाच्छ्रुतादिगुणमाम्बिवाक् ॥

घातकीलण्डभम् ॥ १ ॥ भरतप्रमुखशित्वरः । भरतेश्वरादयः । कविबोधसां कविचक्रिणाम् ॥ २ ॥ तक्षणी कमनीयकामिना । स्थल० स्थलकमलिनीः । हृदयंगमा रुच्याः ॥ ३ ॥ यदीयनिगमान्तगताः यद्ग्रामप्राप्तस्थिताः ॥ ४ ॥ अस्पृश्यमध्वाः ॥ ५ ॥ शकुन्ताः पक्षिणः ॥ ६ ॥ समयोचितं (सं) यथाभिलिखितं (अभिलपितम्) । सकलर्तुषु पङ्क्तुषु ॥ ७ ॥ सुपयोधराः स्वच्छजनधराः, पक्षे शोभनस्तनधारिण्यः ॥ ८ ॥ नवं बयं ताण्डवम् । अपमृत्युहृतः दुर्मृत्युवाधितः ॥ ९ ॥ निरवग्रहेः निरवग्रहैः, अवग्रहिरहितैरित्यर्थः । मुरकुसः भोगभूमिः ॥ १० ॥ तहराजयः वृषपङ्क्तयः ॥ ११ ॥ तत्र विषये तस्मिन् देशे । प्रचुरः पुष्पैरुपलक्षिता जना पुष्पजना, प्रचुराश्च ते पुष्पजनाश्च प्रचुरपुष्पजनाः तैः—बहुलपुष्पय (व) ङिः, पक्षे प्रचुरधोदैः ॥ १२ ॥ अतनुधारं मुसलप्रपातम् ॥ १३ ॥ निर्वृतये विध्यापनाय ॥ १४ ॥ विविधासु नानाप्रकारासु ॥ १५ ॥ जिगमिषुं गन्तुमिच्छाम् ॥ १६ ॥ विच्छुरितः कर्दुरितः ॥ १७ ॥ परिधेः प्राकारस्य ॥ १८ ॥ मानसे सरोभेदे । शिशिलिगया शिशितुमिच्छया ॥ १९ ॥ प्रतीलांशिलरं पुरद्वारशृङ्गम् । संबलितः कर्दुरितः ॥ २० ॥ भिदा भेदः ॥ २१ ॥ त्रिदशा० स्वर्गतिरस्कारिणि ॥ २२ ॥ शक्तीनां प्रभावादीनामुपचयेन सम्पन्नानुगत सहितः । जगति जयो जगज्जयो नयविक्रमाभ्यार्मजितो जगज्जयो येन सः ॥ २३ ॥ बिसतन्तुः मृगालसूत्रम् । उडुपतिना चन्द्रेण ॥ २४ ॥ अवजेतुम् अवगणयितुम् । पृथु प्रचुरम् ॥ २५ ॥ गुहतां महत्त्वम् ॥ २६ ॥ भूव० जगदतिक्रान्तेन ॥ २७ ॥ येन राज्ञा । दहनेन अस्मीकरणेन । कमनीयतया मनोहरतया ॥ २८ ॥ गुणातीति गुरुः । ईष्टे इतीश्वरः । नरकं दुर्गतिं, दैत्यभेदं च । घनं ददातीति घनदः, कुबेरश्च । कमलाया आलयः, श्रद्धा च । शिशिराः शीतला गावो वाष्प्यो यस्य सः, चन्द्रश्च । बुध्यते इति बुधो धीमान्, रोहिण्यश्च । सुष्ठु गतं ज्ञानं यस्य सः, बुद्धश्च । सकलदैवैर्मयो निर्वृतः सकलदेवमयः ॥ २९ ॥ विषवृधे वृद्धि गता ॥ ३० ॥ वाष्पजलैः अत्युत्तमैः ॥ ३१ ॥ निगविक्रमेणाहितः स्वीकृतो रणकरसो येन सः । प्रघने संग्रामे ॥ ३२ ॥ तिग्मकृतसूयंतेजसि ॥ ३३ ॥ सह० स्वाभाविकसरलतया, पक्षे भद्रजातितया । वंश अन्वयः पृष्ठं च । दिक्षु करो यस्य स दिक्करो तस्य, दिक्कुञ्जरस्य च । मदः अवशेषः ॥ ३४ ॥ परिवा० अगंलाकारे । मुनिं निम्नं दोषशिरःसमूहम् [॥ ३५ ॥] योगं सहायम् ॥ ३६ ॥ समितेः समूहस्य । अञ्जन्यत्

१. व यतां अ गता । २. व ज यातां । ३. व तादिः ।

स्तथापिता ॥ ३७ ॥ अवयवैः करवरणादिन्यासैः । अभाति अघाति ॥ ३८ ॥ इतवति गतवति । सचन्द्रत्वम् ॥ ३९ ॥ तनुम् पुत्रः ॥ ४० ॥ उपचिकाय उपचयं नीतवान् ॥ ४१ ॥ अवयवे बुद्धिः । विफलः निःप्रयोजनम् ॥ ४२ ॥ बार्तं फल्गु ॥ ४३ ॥ अलं भूषणावकारः ॥ ४४ ॥ लघयन्तं लघुकुर्वन्तम् ॥ ४५ ॥ पिदधाति शिरोवधाति-आच्छादयति । गवाशेरलोपः । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।' इत्यमरः ॥ ४६ ॥ हतं गतम् । सकलतेजस्विनाम् ॥ ४७ ॥ परम् अन्यत् । अलकरणं भूषणम् ॥ ४८ ॥ न्यबोविशत् स्थापयामास ॥ ४९ ॥ अघरि० न्यक्कृतदेवताधीनस्थानम् ॥ ५० ॥ नयनाभिरामं नेत्रयोः सुन्दरम् । दूषोविषयं दूष्टिषोचरम् ॥ ५१ ॥ उपायनेनोपशान्तेना (णा) नुगता अन्वायाता ये मण्डलिनस्तेषाम् । आस्त तत्त्वौ ॥ ५२ ॥ परिमोह्य विमोहं प्राप्य । जहार हतवान् ॥ ५३ ॥ सुतद्वयं पुत्ररहितम् ॥ ५४ ॥ इन्द्रजालं हरिचन्द्रपुरम् (मायाम्) ॥ ५५ ॥ असुसद्गं प्राणसमान ॥ ५६ ॥ मुक्तं कृष्णया आर्तरवो यत्र कर्मणि तद् यथा भवति ॥ ५७ ॥ अनलम् असमर्थं ॥ ५८ ॥ अभिहितम् उक्तम् ॥ ५९ ॥ अनिबन्धनं निष्कारणम् । अकुशलम् अकल्याणम् । उपेक्षते अवगणयति ॥ ६० ॥ सहजविनयता ॥ ६१ ॥ क्षतं बाधितम् ॥ ६२ ॥ तिमिरान्ताः अन्धकारवेष्टिता ॥ ६३ ॥ अनुम्वताम् अकल्याणताम् ॥ ६४ ॥ व्यपहृस्तित मुष्टम् ॥ ६५ ॥ तुहितं चन्द्रसुभगम् ॥ ६६ ॥ विपदार्थं मोनस्त्रम् ॥ ६७ ॥ दधितं त्रिययुज ॥ ६८ ॥ दुर्व्यसनम् आपत् ॥ ६९ ॥ धुनोपयसः नदीजलस्य ॥ ७० ॥ आधि मानसव्ययाम् । अन्तरयितुं प्रच्छादितुम् ॥ ७१ ॥ व्यलोकयत् लुलोके ॥ ७२ ॥ उद्गोचम् ऊर्ध्वमुखम् ॥ ७३ ॥ जनेव वेगेन । जने अजनिष्ट ॥ ७४ ॥ कुशत्वं क्षीणताम् ॥ ७५ ॥ उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम् ॥ ७६ ॥ उपहिताम् अग्रतः समानोताम् । स मुनिः ॥ ७७ ॥ अनू० पूर्वं कदाचिदपि न भूतो यः ॥ ७८ ॥ त्वेवरत्नात् गगनगामिस्थान् ॥ ७९ ॥ सप्रभया सविनयाम् ॥ ८० ॥ अम्युपेतं समागतं । मदनपुद्गलार्थं ममोपकाराभिलाषुक । अभूमि अगोचरः ॥ ८१ ॥ कल्या० श्रेयस्करी ॥ ८२ ॥ समुच्छ्वाति उद्गतम् ॥ ८३ ॥ श्रुति० श्रोत्रमुखजनकम् ॥ ८४ ॥ त्रियविप्रयुक्तम् दृष्टवियोगिनम् ॥ ८५ ॥ शतक्रतो इन्द्रस्य ॥ ८६ ॥ साधारणो समवृत्त्या वर्तमानो ॥ विगण्य विचार्य ॥ ८७ ॥ अर्हति न योग्यो भवति, अदृष्टोपजनितासु ॥ ८८ ॥ अकुशलम् अकल्याणम् । संयोग्यते संयोगं गमिष्यति ॥ ८९ ॥ निश्चितार्था नि सिद्धिषाम् ॥ ९० ॥ उपतेजम् । निवस्तमना (नसा) निश्चित-चेतसा ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रमथरितमहाकाव्यपञ्जिकायां पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

पष्ठः सर्गः

आसमोमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जायाच्छ्रद्धादिगुणभासिबाक् ॥

निपपात पतति स्म । उच्छलद्ग्राहसम्हे ॥ १ ॥ अपविद्धेयु अपवृत्तये ॥ २ ॥ पाणिं गुल्फयोर-
भोवर्तमानः ॥ ३ ॥ कर्बुरयन् चित्रयन् ॥ ४ ॥ पादा रक्षयश्चक्रणा वा ॥ ५ ॥ मृगराज सिंह ॥ ६ ॥
प्रियकाः चमूदवः ॥ ७ ॥ शबराः भिल्लाः । पृष्टरोकः व्याघ्रः । हिंसिताः भारिताः । सामजा हृस्तिनः ॥ ८ ॥
प्रचुरप्रान्तं अमर्यादावसानवल्ली, अथवा प्रचुराणि प्रान्तानि पुण्याणि यामु तादृच ता लतादृच । क्रमं पदम् ॥ ९ ॥ अयोधः निवारितशीताः । शयुः अजगरः । प्लवगाः वानरा ॥ १० ॥ विनिबाध्य निरीक्ष्य ।
प्रतस्थे प्रचलितः ॥ ११ ॥ वंशः अन्ववाय पृष्ठं च^३ । सत्त्वं पराक्रमः । सत्त्वाद्यं प्राणिनः ॥ १२ ॥ सहिग्नः
अनुचराः पादचारिणः, गण्डकादृच । वनपर्यन्तस्य बुभुक्षा जातुमिच्छा तया ॥ १३ ॥ वर्षाकालोद्भवजल-
वध्यामः ॥ १४ ॥ प्रतिशब्दितसकलभूधरविवरः । त्वरया वेगेन । अविषह्यः सोढुमशक्यैः ॥ १५ ॥

१. अ^० 'देली' । २. अ^० नयम् । ३. ज^० 'छर' ।

आक्रान्तुं व्याप्तुम् । अनन्यसेव्याम् ॥ १६ ॥ अनवाप्य प्राप्य (?) । शक्तः समर्थः ॥ १७ ॥ वरणीये मूषरे ॥ १८ ॥ विप्रलब्धः बञ्चितः । असं अविचारितम् ॥ १९ ॥ निशम्य आकर्ण्य । मर्मच्छेदिनीम् ॥ २० ॥ भवद्विषे स्वस्तद्विषे ॥ २१ ॥ अलं पूर्वताम् । संमितं स्तोकम् ॥ २२ ॥ तरसा बेगेन ॥ २३ ॥ निभूताभिः मिलिताभिः । तद्वत् वृक्षसमूहमध्यमे, वा वृक्षजालान्तरेण (वृक्षजालान्तरेण वा) । बनदेवताभिः अरण्यादेवताभिः वा जलदेवताभिः ॥ २४ ॥ कारणैः गानविशेषैः । क्रमेण जातो जयो यत्र तत् ॥ २५ ॥ समु० आम्बोह्यम् ॥ २६ ॥ अभिदधे अगौ ॥ २७ ॥ कृत० कपटसंग्रामेण ॥ २८ ॥ कृतिनः पुण्यम् (व) तः ॥ २९ ॥ परनिष्ठं पराधीनम् ॥ ३० ॥ उद्यमेन शोभमानस्य ॥ ३१ ॥ निवेदयामि निरूपयामि । वृत्तं चरित्रम् ॥ ३२ ॥ उपेत्य आगत्य ॥ ३३ ॥ निपातितः मारितः । प्रचुरयोनी ॥ ३४ ॥ लेखात् लवात् ॥ ३५ ॥ मिष्टाक्षरमनोहराम् ॥ ३६ ॥ उत्तीर्णम् उत्सङ्कितम् ॥ ३७ ॥ पला० नश्यन्तम् ॥ ३८ ॥ उपसृत्य उपगम्य ॥ ३९ ॥ निर्वि० विरक्तचेता । उदन्तं वृत्तान्तम् ॥ ४० ॥ धनधान्याभ्यामाढया धनिनद्वयते जनाद्वयः । साहचर्याः (साहचर्याः) हरिता ॥ ४१ ॥ उच्चराजगृहशिखरं ॥ ४२ ॥ यस्यातीवो विषह्यश्चासी करो भागधेयश्च ॥ ४३ ॥ पूरितेच्छा । यथा दिननाथविभा पूरितदिवा । वितीर्णं कामस्य सुखं यथा सा । यथा रतिः कामाय सुखं वितरति ॥ ४४ ॥ ललाम (मं) तिलकम् ॥ ४५ ॥ अचिरायुषे आसन्नमृत्यवे ॥ ४६ ॥ निहत्य विजित्य ॥ ४७ ॥ प्रतस्थे प्रययो ॥ ४८ ॥ परीतं वेष्टितम् ॥ ४९ ॥ असंस्तुतत्वात् अनिवेदितत्वात् । हस्तिसंकीर्णमार्गम् ॥ ५० ॥ नृपाज्ञाम् । अति० उल्लङ्घय । परिगच्छसि ॥ ५१ ॥ प्रवृद्धमत्सरः ॥ ५२ ॥ मत्तङ्गजाः हस्तिनः ॥ ५३ ॥ गह्वरा गह्वरः । मणिं प्रत्ययः ॥ ५४ ॥ अहि० सूर्यात् ॥ ५५ ॥ शत्रुबन्धवाग्निम् । विहितजीमन्मीकम् ॥ ५६ ॥ राजगृहम् । भावान् विकारान् ॥ ५७ ॥ सुबुधे ज्ञाता ॥ ५८ ॥ विहितसत्कार ॥ ५९ ॥ निजगाढ बभाण । परेङ्गि० अन्यचेष्टितज्ञा ॥ ६० ॥ अनास्था निर्ममत्वम् ॥ ६१ ॥ क्षीणकपोला समाहूते समानोते ॥ ६२ ॥ आन्तरङ्गः मध्यस्थित ॥ ६३ ॥ उदश्यते उद्भूतस्यते ॥ ६४ ॥ विषम् अमृतपयसिण कालकूटम् ॥ ६५ ॥ तस्या क्षरीरम् ॥ ६६ ॥ प्लुप्यति ३ मर्दयति ॥ ६७ ॥ असा० अनन्यरूपम् । अन्यथा तदभावे ॥ ६८ ॥ प्रवि० कर्तव्यम् । हरिणस्यायते चक्षुषी ह्य चक्षुषी यस्याः सा । कामस्य ॥ ६९ ॥ उद्यत्पुलक उद्यद्गोमात्र ॥ ७० ॥ आदरपरस्वरूपः ॥ ७१ ॥ रूपातमहाः । अवतस्थे स्थितः ॥ ७२ ॥ उत्तमिभ्रत स्वगितः ॥ ७३ ॥ निर्मलकञ्चुकः । आकाशसर्पस्य ॥ ७४ ॥ रजत० रीप्य-निर्मलतया । निर्मले किल प्रतिबिम्बं भवति ॥ ७५ ॥ खेचरराज्ञः (खेचरराज्ञा), पक्षे पर्वतान् । विष० विगतसहायान्, पक्षे पक्षरहितान् ॥ ७६ ॥ क्षुल्लक वर्णिनम् ॥ ७७ ॥ प्रति० सपर्याभिः । अग्र० प्रतिअग्रह ॥ ७८ ॥ तेन क्षुल्लकेन ॥ ७९ ॥ कामम् अतिशयेन ॥ ८० ॥ प्रियम् इष्टं कर्तुम् । सुधर्माचार्यात् ॥ ८१ ॥ जनान्ते देशे ॥ ८२ ॥ अविभ्रमसहिता ॥ ८३ ॥ धन्यः श्रेष्ठः ॥ ८४ ॥ विषसाद विषादं कृतवान् । साध्यसंभयम् ॥ ८५ ॥ मदीयचिन्तया । निःप्रमादमना ॥ ८६ ॥ देश० क्षुल्लकम् । कृत्यं करणीयम् । प्रकृष्टप्रमन्त्रः ॥ ८७ ॥ हरोष रुचिस्त्व ॥ ८८ ॥ प्रजिघास प्राहिणोत् । अभि० अभिप्रायम् ॥ ८९ ॥ सार्वसंज्ञ ॥ ९० ॥ प्रवितीर्णा दत्ता ॥ ९१ ॥ गुर्वी गरिष्ठा ॥ ९२ ॥ अभिजातिः निदिबतजातिः (कुलम्) ॥ ९३ ॥ मोढा न परिणीता ॥ ९४ ॥ अम्यघात् अवबत् । कोविदः पण्डितः ॥ ९५ ॥ अम्येतु अभिगच्छतु ॥ ९६ ॥ अजित-सेनाय वराय कुमाराय ॥ ९७ ॥ दुष्टविद्याधरम् ॥ ९८ ॥ रोपितं स्थापितं दिव्याना देवोपनीताना शस्त्राणां जालं समूहो यत्र ॥ ९९ ॥ सुरो हिरण्यः सारथिर्यस्य । सेनसन्मुखम् ॥ १०० ॥ खराशुवत् सूर्यवत् । बिकलीकृताः । संभूय एकीभूय ॥ १०१ ॥ अतात् त्रातीति क्षत्रं, न क्षत्रमेतेष्वस्तोति बुद्ध्या । एकस्योपरि बहुनामागमने क्षात्रवृत्तिर्नास्तोति । पुषर्कः बाणैः ॥ १०२ ॥ असाध्यम् अवश्यम् । तमोबाणम् ॥ १०३ ॥ सुरेण दत्तं सुर० सुरवत्तं च तद्विजितं च ॥ १०४ ॥ विघ्नविना० बाणविशेषेण ॥ १०५ ॥ हतहेतिः ' क्षतपुणः । उद्यम्य उद्गम्य ॥ १०६ ॥ न हतोद्धते । उद्धोय नगं विजयादौ गते ॥ १०७ ॥ सहासयः ।

१. ज वा कान्तरेण अलं । २. ज मणि णू स्यः । ३. व पुष्ये । ४. व 'हतहेतिः' इति नास्ति । ५. व कृतं ।

गुह्या पुरोषसा, वा गरिष्ठेन (गरिष्ठेन वा) ॥ १०८ ॥ उषित्वा वसित्वा । वसुरानुजा गृहीत्वा ॥ १०९ ॥
अथवा मार्गः । अति० स्तोकेः ॥ ११० ॥ उद्धृतरिपुं संहृतशत्रुम् । विक्रमकदम्बाकारम् ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपत्रिकायां षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरान्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रद्धादिगुणमासिवाक् ॥

पाकशासनं दम्भः । उदपादि उत्पन्नम् ॥ १ ॥ जटिलीकृतं कर्बुरीकृतम् । व्यभाव्यत परिज्ञातम्
॥ २ ॥ प्रकाशिताकाशरम्भः । दुःखा जिह्वा यस्य ॥ ३ ॥ घर्मवारण छत्रम् ॥ ४ ॥ उपयो० साधनाङ्गेन ।
विधेयता नियोज्यताम् ॥ ५ ॥ अनस्य० प्रचुराभोगम् ॥ ६ ॥ अद्रिकुलिशादीना भेदिन विप्रदमम् । बज्रकपाटा-
दीनां भेदः खलु दण्डादेवेति श्रुतिः । प्रायकर्मसु बाहुल्यकार्येषु । ऊर्जितं गरिष्ठम् । शुभं सत्कर्म ॥ ७ ॥ चक्रिमय-
प्राप्तकम्पस्य । यस्य वासवेन्द्रस्य ॥ ८ ॥ भास्करादीनां स्वामिविद्योभवदन्धकारार्जनसनकरणे । पटीयसो
पटिष्ठा ॥ ९ ॥ प्राबृङ्गलघ्वरस्यामलनिकटस्थान्धकारविनाशकरणसमर्थः ॥ १० ॥ छात्रात् व्याजात् ।
शैलराट् मेघः ॥ ११ ॥ अप्रतिहतगमनम् । प्रचुरबलयुक्तम् । सिसध (') । मन्त्रावेगम् । पर्यु० मेघाम्
॥ १२ ॥ अरिभिः सोढुमशक्वपराक्रमभयार्णं (न) क । गूरुत्वभूमिः ॥ १३ ॥ दर्वं सुप्रमाणं ठकादि-
विद्यायुक्तमनुष्यैः शुभेतरपहेतुहृष्टहेः प्रापिता या आपत् तस्या अपहस्तनं रोधकरणे समर्थः । दह्वान् पुष्यपुञ्ज
इव ॥ १४ ॥ कल्पः सद्गुणः । चण प्रवीणः ॥ १५ ॥ गृहकार्यचतुरः । समुद्ययो अजायत ॥ १६ ॥ प्राप्तिभन्
सिद्धयन्ति स्म । सत्कर्ममन्दिरस्य ॥ १७ ॥ उपतस्थिरे उदपादिपत ॥ १८ ॥ व्यसिश्चणत् अदात् ॥ १९ ॥
पिङ्गलो नाभ निधिः ॥ २० ॥ हिंसितं मनोऽभिलषितम् ॥ २१ ॥ रन्ध्रभेदता भेदादयः, नडभेदतः मुरजादयः,
निबिडभेदतः तन्त्रादयः । व्यतीर्यत सकलं वाद्यजातं दत्तम् ॥ २२ ॥ बम्पज्ञात वसनजातिम् ॥ २३ ॥
तप्तीय कनकम् ॥ २४ ॥ शात्रवध्नं शत्रुमंधातनाशकम् ॥ २५ ॥ सोपधानं सोपबर्हम् । नेत्रू० नैसर्गनिधि-
वत्सम् ॥ २६ ॥ चित्ररत्न० किमोररत्नज्योतिभिः ॥ २७ ॥ [न] उदमिक, न जगर्व । तादृशी नवनिधि-
वतुर्दशरत्नलक्षणम् ॥ २८ ॥ व्यधत् अकरोत् ॥ २९ ॥ निरवर्तयत् निवर्तयामास ॥ ३० ॥ उच्छमत्
उदगतम् ॥ ३१ ॥ केवलं परम्, पुरजनस्वीणा मण्डलं प्रगत्रतासहितप्रस्फुरत्कनौनिकं विगदवन्ततया सुन्दर
नाभवत् किन्तु ककुभामपि चक्रवालं सप्रमादसविकासोद्भुक्तं सिर्मलाकाशतया चोद्गूर^१ समभवत् ॥ ३२ ॥
भूमिर्देः मध्यलोकोद्भवः । दिविर्देः ऊर्ध्वलोकोद्भवश्च ॥ ३३ ॥ उदितकेतु उदगतचक्रम्, उ अहो खण्डित-
ध्वजं च ॥ ३४ ॥ धोः सुरलोकः ॥ ३५ ॥ कोकिलध्वनिमञ्जुनादाः ॥ ३७ ॥ वारिणि नियुक्तैर्वारिकैः ।
वारिदैः मेघकुमारैः ॥ ३७ ॥ तेषां बन्धूनां मनोरथवधं साभिप्रायमार्गमतिगच्छन्तीति तन्मनोरथपथासिगा-
सा बासो श्रीश्च तया ॥ ३८ ॥ सहजदीधिति स्वभावकान्ति^३ ॥ ३९ ॥ चन्द्रिका कौमुदीस्पृष्ट० ॥ ४० ॥
सिंहासनस्थितम् । रभसेन वेगेन ॥ ४१ ॥ तत्त्वविषयम् ॥ ४२ ॥ त्वयि सति जगत् संगणविपर्ययाकुलं
यतस्तिष्ठते (ति) ॥ ४३ ॥ निशम्य आकर्ण्य । अघस्वन्दरहितं यथा भवति तथा ॥ ४४ ॥ सम्प्रयोग-
विपर्ययो मिथ्यादर्शनं तत्र स्थितः । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचनात् ॥ ४५ ॥
लोहकास्तमणिः चुम्बकविशेषः ॥ ४६ ॥ खट्वाटश्रीफलवत् ॥ ४७ ॥ संविनोति आदत्ते ॥ ४८ ॥ कर्म-
बन्धनप्रतिकूलभूतया ॥ ४९ ॥ पापकार्यविरमजलक्षणम् ॥ ५० ॥ संगतं मिलितं, परस्परसापेक्षमित्यर्थः
॥ ५१ ॥ उपाजितलक्षकम् ॥ ५२ ॥ अनुष्यैः अज्ञानिभिः सांख्यादिभिः । अनुष्ठितैः उपयुक्तैः ॥ ५३ ॥ स्वरयते

उत्तालवति ॥ ५४ ॥ प्रह्राय त्यक्त्वा ॥ ५५ ॥ उत्कटपुरद्वारम् ॥ ५६ ॥ पुरः प्र० अग्रेसरगमने ॥ ५७ ॥
छत्रव्याजेन ॥ ५८ ॥ विकृत्य निर्वृत्य ॥ ५९ ॥ पुरःसरम् अग्रेसरम् ॥ ६० ॥ करमयात् भागवैयभीतेः
॥ ६१ ॥ पतदधुनयमाः ॥ ६२ ॥ उपतसिधरे प्रतिजगृहः ॥ ६३ ॥ उपचितान् पुष्टान् ॥ ६४ ॥ संनिष्कृष्टं
निकटस्थम् ॥ ६५ ॥ एतय समागत्य ॥ मायधः साध्याद् बन्धो ॥ ६६ ॥ पर्युपास्त सेवयामास ॥ ६७ ॥
पूर्वदक्षिणपश्चिमस्थितान् ॥ ६८ ॥ प्रभावोत्साहमन्त्रलक्षणाभिः ॥ पराभूतसूर्यबीसेः ॥ ६९ ॥ स्ववक्तृलक्षानु-
पराक्रमः ॥ ७० ॥ द्वात्रिंशत्सहस्रमुनिमस्तकेषु ॥ ७१ ॥ विद्युच्चमत्कृतिपणवतिसहस्रमहिलामुल्लभ्रमरः
॥ ७२ ॥ 'मन्दगामी तु मन्धरः', चतुष्टयेनाधिकान्यशीतिलक्षणि मानं येषां ते चतुष्ट०, ते च ते करिणश्च
चतुष्टया०, मन्धराश्च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च मन्धर०, तेषां दानं तस्य कर्षमास्तीः ॥ ७३ ॥
अष्टादशकोटिजात्यह्यैः ॥ ७४ ॥ आविताः सम्भूताः ॥ ७५ ॥ सस्यसम्पदं धान्यद्विम् ॥ ७६ ॥ ईप्सितम् अमि-
लपितम् ॥ ७७ ॥ अधिगम्य प्राप्य ॥ शायामभूमी तु रोदसी ॥ ७८ ॥ बह्वस्तलानिभिः ॥ ७९ ॥ अक्षण्डम्
अनूनम् ॥ कोदण्डं कामुकम् ॥ साभिलाप्यवकीयबन्धुलोकाम् ॥ ८० ॥ बिपणिबिहिताधिकशोभायाम् ॥ ८१ ॥
गुणवान् तन्तुमान्, गुणयुक्तश्च ॥ अनिष्टः ॥ ८२ ॥ उदग्र० शिथिलितबन्धनम् ॥ अन्तरीयं परिधानम् ॥ ८३ ॥
चित्तं मण्डनम् ॥ चित्रं चमत्कृतिम् ॥ ८४ ॥ परभायं शोभाम् ॥ अनधुनान्ना अप्राप्नुवती ॥ ८५ ॥ 'गवोऽ-
लको द्रुमामयः' ॥ 'अतिरिक्त. समधिके' ॥ ८६ ॥ संहतः मिलितः ॥ उत्तिष्ठ० ऊर्ध्वं कुर्वती ॥ ८७ ॥ अञ्जित-
नयना ॥ सहास्यावलोकितः ॥ ईश्वरस्मरणहेतुताम् ॥ ८८ ॥ बन्धनरहिततया ॥ रसना कटिमेषला ॥ ८९ ॥
चित्तभ्रंशम् ॥ संस्का० चित्तभ्रमः ॥ ९० ॥ विद्युत्कान्ताः ॥ विनि० स्थापित० ॥ ९१ ॥ क्षणचतुष्कं चतुर्थ-
भूमिः वा क्षणेन चतुष्कं मङ्गलस्त्रीमिविरचितं स्वस्तिकम् ॥ ९२ ॥ चक्रिणा विसृजिताः ॥ ९३ ॥ निर्विशत्
अनुभवम् ॥ ९४ ॥

इति चन्द्रप्रमचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

आसनीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽक्रोन्मुनिः ।

म भ्रुतादिमुनिर्जयाच्छ्रद्धादिगुणभासिवाक् ॥

पदकमलनम्रस्य । लोकसमूहस्य । रक्षके चक्रिणि । पृथ्वी रक्षति सति । भ्रमराणाम् । विहिततन्म-
करन्दास्वादानाम् । पट्कम् । हर्षयन् । वसन्तोऽजनिः ॥ १ ॥ अयुसहितैः । मनोहरैः । यैः नेत्रैः । कान्ता-
स्थकास्तैः । वियोगिनः । वृक्षेषु । भ्रमराणाम् । नूतननूतमोद्भिदलीनाम् । संहति वृन्दम् । अवलोकितुम् ।
न समर्था बभूवुः ॥ २ ॥ अगो सूक्ष्मे । हे कामनिष्ठादिनि । चम्पकमकरन्दे । पतति सति । प्रविदिलब्ध-
मतिः । पथिकः । देवानाम् । नितम्बिनीमिव । मनोहरचक्रिणिम् । कामिनीम् । सस्मार । विधुरं तु प्रवि-
क्ष्ये ॥ ३ ॥ अलम् अतिशयेन । पापस्यामलं मधुव्रतं दधती । नागकेसरवृक्षस्य कलिका कोरकः । भर्तु-
क्षयनोयम् अप्राप्तानां कामिनीनां कामपीडां चकार ॥ ४ ॥ नाना मधुपुष्परसं भक्षयन्ती कमलसंज्ञकं पुष्पं
भक्षयन्ती भ्रमरावलः । स्त्रीजनचित्तं मये विभेद । च पुनः । इतस्ततः कूजन्तः पिकाः । कामिनीजन-
चित्तमभिनत् । अर्धवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ॥ ५ ॥ आश्रयुक्तं आदकोशमवलोक्य पञ्चबाणबाणैरत्यर्थं
विद्धा का नितम्बिनी भर्ता सह प्रेमकरं मेयुनं न चकार, अपि तु सर्वपि ॥ ६ ॥ वनभूमीनां शीतलो वायुः ।
अलं स्त्रीजनं भर्तुस्थाननिमित्तमलमुत्कण्ठयन् । प्रविकसन्ती कमला आस्ये यस्य तत् प्रतिकसत्कमलवदनं कं
किशलयं नृत्परहितं चक्रे, न कमपि ॥ ७ ॥ अये पथिक, स्तब्धकेन गुच्छेन नम्रः सीरेयकस्तब्ध भवतः केन
कारणेन तापकारी न । अतस्त्वं नो प्रावसः प्रीयितो भव । कोकिलध्वनिः पान्थं प्रति, इत्यदः, वचनं नाम्निधित

१. च प्रतिषेधे । २. च कि ।

न जगाद, अपि तु जगाद ॥ ८ ॥ भर्तुमिः सह यो मानोऽभवत् तमशक्तुवन् स्त्रीसमूहः कामसहायेन सहकार-
मकरणवर्धुरेण वायुना प्रत्यबाध्यतापीडितः ॥ ९ ॥ पुण्यबिगलत्पुष्परसानुरागिणो मधुव्रता मिष्टा या बाणो-
विस्तारयामासुः, विसद्वामिराभिर्गोभिः प्रवासिनः संपूर्णं हृदयस्थं वस्तु प्रयोजनं हालाहलं संबभूव ॥ १० ॥
तामि दिनानि समाश्रित्यानवरततपोमिष्टानामपि यतीना वसन्तस्य पुण्येवलोकि तेषु मानसं मनः प्रस्फुरत्कामम-
जायत ॥ ११ ॥ मन्दकम्पितवकुलवनेन वायुना स्पृष्टशरीराणा कामिनीना मर्यादारहितन मनोहरेण पञ्च-
मनादेनोदपादि ॥ १२ ॥ अथ पञ्चभिः कुलकम् । भर्ता सह काचित् कामिनी दृष्टा । तन्मानापसारणार्थं
भर्ता काचिद् दूती प्रेषिता वदति हे वयस्ये त्वं समागच्छ । तदा सा प्राह—हे सखि, अहं, नागमिष्यामि ।
त्वमाग्रहं मा भजस्व । यद् यस्मात् स दयितो मायाः कपटान् करोति । तस्य वस्तुमनुचितस्त्वेऽपि प्राणसद-
शायास्तव भवत्याः पुरतः कथं गोप्यते अन्तर्द्धीयते । तेन तनु कृशमिदमङ्गकं शरीरम् । पुष्टिं स्पृष्टत्वं न
तनुते ॥ १३ ॥ यत् तस्य मयि ममतापि नास्ति तेन ममेदं मानसं सतापि तापयुक्तम् । हे सखि, तत् तस्मात् ।
अनेन तन्नमनेन मम दुःखप्रतीकारो मास्तु ॥ १४ ॥ मानकारणमाह—यः प्रियोऽपराधकारणेन दुर्जनैः तेन
प्रणयिना साष्टं मुखलेषः कणोऽपि कः । तद् वयं वरं श्रेष्ठं महिमानं कुर्वन्त, मुक्तमेव मानं विदधेमहि ॥ १५ ॥
हे सखि, अहं दुःखितापि प्रियं दयितं गन्तुं प्राप्तुं न यते न प्रयत्नवती भवामि । किमर्थं, धाम्नि गृहवासाप्यम् ।
किलक्षणं प्रिय, मियं नियतं निश्चितम् दृष्टाभिलाषो यस्य सः । स्व, अप्रि० अनिष्टकरणे । किलक्षणाप-
हम्, इत्याह अस्य मम वपुः शरीरस्य, किलक्षणस्य विधुरस्य विद्युत्स्य तापहारि संतापनाशकं चन्दनजलं
न, वा विधुष्वग्नेऽपि नास्तीति ॥ १६ ॥ इति या अन्यथा वसन्तं विहाय आस्त तस्यो । किलक्षणा, वचनानि
वदन्ती वाक्यानि भाषमाणा । का, दूतिका प्रति । क इव महान् दन्ती इव । पुल्लिङ्गोदाहरणं मानिन्या
मदनिरूपणार्थम्, दन्तिन्या मदाभावात् । माघवो वसन्तस्ता वशोऽकृतं ध्येयत । कस्य प्रियस्य । किलक्षणस्य,
मधुरस्य मधु मिष्टं रीतीति मधुरस्तस्य मिष्टभाषिणः । पुनः किलक्षणस्य, धृता अवलम्बिता कामस्य धुरा
येन स तस्य । अथवा महान् दन्ती इव वसन्तः शनैः समागत्य प्रियस्य वशे तामकुन ॥ १७ ॥ अथ काचिन्
मानिनो वसन्तोऽपि मानं विहाय प्रियं गन्तुमुद्यतमना दूती गत्वा प्राह—गच्छन्मम पुण्यस्तादृशीकं (?)
तथाविधः पटुः कार्यकरणेन वयस्या सखी अकारि । यस्या मूर्तिर्मुखम् । ग्रहस्तेदवन्मय मूर्तिरिबोत्सव-
करी । कस्य, सज्जनस्य प्रियस्य । त्वा दृष्ट्वैव सज्जनः साष्टो भविष्यतीति भावः । किलक्षणस्य, सविका-
सिनी प्रसरमाणा कला चातुर्ध्रुवस्य तस्य । पुनः किलक्षणस्य, सकलस्य समग्रस्य अद्य यावन् मा प्रति न
द्रुष्टिं हृत्यर्थः । वा त्वं सकलस्य सविकासिकलस्य सज्जनस्य स्वसवन्धिन ॥ १८ ॥ हे आलि सखि, तत्
तस्माद्, दयितं वल्लभं, प्रगम्य गत्वा, त्वम् उचिताभिरभिलषिताभिर्वाग्भिर्निगदः वदे । अत्रार्थान्तर-
मुपयस्यते—यत् कार्यं, प्रियमनुकूलमेकवचो^३ येषां ते प्रियैकवचसस्तुपामिष्टभाषिणा, जायते उररुद्यते, तद्
अपरस्याप्रियैकवचसः, किलक्षणस्य, असाम अप्रेमपरं वाक्यं तेन परस्य [अ] मिष्टस्य^३ न जायते । अतस्त्वया
मिष्टमेव वाच्यमिति ॥ १९ ॥ हे सखि, अनेन कार्येण विधीयमानेन, अहं तव सदा किकरो दासो भवामि ।
त्वं मन्मनो मम चित्तं, प्रियतमस्य वल्लभस्यानयनेन, ह्लादय मोदय । किलक्षणं मन्मनः, सुप्तं कामं व्यबाधं
कामयते इति सुरतकामि । पुनः किलक्षणं, सह दाहेन वतंते इति सदाहं दाहयुक्तम् । हे मृगोनयने, अत्र त्वं न
क्षमा, (इति) न, अपितु क्षमैव । वा मन्मनः प्रियतमानयनेन ह्लादय । अहं तव सदा किकरो न भवामि,
अपि तु भवामि । अत्र त्वं क्षमा न, अपितु क्षमा अस्ति ॥ २० ॥ हे मानिनि, मधुविनानि मम मानसं तापयन्ति ।
किलक्षणं, तान्तं किलष्टम् । कथं, नितान्तम् अतिशयेन । तत् त्वं दयितं मम दयमानं दया कुर्वाणं विधेहि ।
किलक्षणं दयितं महोदयो मानो यस्य स तं गरिष्ठ उ (छो) दयमानयुक्तम् । कै साममिः । 'साम प्रेवपरं
वाक्यं नैदानं वैतस्य 'आपणम्' इति वचनात् ॥ २१ ॥ इति काचिद् दूतिका विनयेन जगौ । किलक्षणा,
उत्पल्योस्तुला [सहे] सादृश्यासहे नेत्रे यस्याः सा । पुनः किलक्षणा, रन्तुं क्रीडितुमुत्सुकमनाः उत्कण्ठ-
हृदया । केव, नेत्रा भर्ता सह । किलक्षणेन विनयेन, येन भावि भविष्यत्काले, दुःखं बल्लभो न उद्भवति

१. व पटानुक्रोतु । २. व वचनो । ३. अ मिष्टस्य ।

संभायते ॥ २२ ॥ कुलकम् ॥ विरहिणीसंतापको वसन्तः पुनरुपबध्यते । अत्र वसन्ते का कामिनी न विन-
नाश, अपितु सर्वापि । किलक्षणा, ज्ञाता विद्या । कैः सामर्कैः बाणैः । कस्य, हृदं हृदयम्; काम एव शबरो
मार्गलुष्टाकस्तस्य । पुनः किलक्षणा, संस्मरन्तो स्मरणं कुर्वन्ती । कस्य, वरस्य मर्तुः । किलक्षणस्य, प्रोवि-
तस्य प्रवासिनः पुनः किलक्षणस्य, उपमारहितस्य । पुनः किलक्ष०, मधुमासस्यैवो हितो यस्यै—अहं मधु-
मासे आगमिष्यामीति प्रतिज्ञावतः ॥ २३ ॥ पुनः किलक्षणीयं वसन्तः । यत्र बकुलानि, अबलाहसितानां
कामिनीहास्यानां साम्यं सादृश्यं प्रापुः । कामिनोर्वसन्ते दुःखवतीर्दृष्ट्वा हसन्तोवेत्यर्थः ॥ किलक्षणां,
नोररिक्तजलवाहाः शरदक्षणास्नेरिक् सितानां श्वेतानाम् । किलक्षणाणि बकुलानि, प्रीणितानि तोषितानि
सर्पनरसुराणां कुलानि यैस्तानि । पुनः किल० निरामलितशयेन प्रोलसन्ति विकासयन्ति ॥ २४ ॥ कामिनी
भ्रमरिणी, अरं नारमत, अपि तु अरमत । बव, काञ्चनारपुष्पे । किलक्षणे, द्युतिमतो भावो द्युतिमत्ता तया
ह्रेषिता लज्जाविषयोक्ता अमला विवृद् येन तस्मिन् । पुनः किलक्षणा, मत्ता धूमं (ण) यन्ती । पुनः कि-
लक्षणा, ध्वनि नार्दं कुर्वन्ती । कथम्, अतारम् अटारमन्दं मन्दम् । पुनः किलक्षणा, सरसा रसवती ॥ २५ ॥
अथ पञ्चभिः कुलकम् । काचिद् दूतो दयितया प्रेषिता रुष्टमपि प्राणनार्थं प्रति प्राह । हे नयकोविद, शशा-
ङ्कस्य चन्द्रस्य कराः 'ता' भवरागयिनी विदहन्ति तापयन्ति । अ पुनः । मन्मथश्च तो हन्ति । किलक्षणा ता,
पीडितां बाधिताम् । केन, निर्जं च तन्मनश्च निजमनः तच्च तत् कमलं च निजमनः कमलं तेन । किलक्षणेन,
त्वद्वियोगाद्भूयं शोकमल यत्र तत् तेन । शशाङ्कस्तु कमलं दहन्ति । मन्मथोऽपि विद्योगयुक्तः मन इति कीविदेन
भवता विचार्यमिति भावः ॥ २६ ॥ पुनर्दूतो प्राह । त्वं यदि तां वत्सलां पांसि त्रासि । अयं भवतो गुणः ।
कथंभूता ताम् । शीतेन दम्बा चासी निलीनो च शीत० तया समो देहो यस्याः सा ताम् । पुनः किलक्षणा,
च्युता गता विलासमय्योरीहा अभिलाषो यस्याः सा ताम् । वा अथवा । हे जितमनोभव, एवंविधमपि तां
जितकामस्त्वं यदि न एषि तदा तोयं जलं देहि । मृताय किल जलाञ्जलिर्दयते इति भावः ॥ २७ ॥ पुनर्दूतो
प्राह । हे सखे यो रतिपतेः कामस्य द्युवर्षाणः । रजनीपु रात्रिपु सुभ्रवो बामलोचनाया हृदये प्रविश्य स्थैर्य-
वान् स्थिरतरोऽर्जुन । यथैकवार भवान् मानयिष्यति तदा पुनर्निराशिनो भविष्यतीत्याह । अनन प्रसिद्धेन
तव संगमनेन संपर्कोऽप्युतो निष्कापितः स इषु सङ्गं पुन संयोगं न व्रजति । अथवा अनेन हृदयेन सङ्गं न
व्रजति ॥ २८ ॥ तत् तस्मात् कारणात् हे मुभग सारमयस्य लोहमयत्वं संप्रदाय त्यक्त्वा गच्छ त्वं दयितं
रमय । हे मन्मथ० मन्मथस्य कामस्य व्यसनं लुनातीति मन्मथव्यसनलावि तद् रहस्यं यस्य स तस्य संबोधने
कामव्यसनानभिभूतहृदयं, हृदुवदना विरहस्य वियोगस्य क्षमा समर्पा न ॥ २९ ॥ इति दूतिकोक्तं विकामम्
अतिशयेन सुधुवान् कोऽपि कामुकः । कोपयुक्तो मनसि तत्क्षणात् तत्कालं कामम् अभिलाषम् उपययो । केन
परमेण दीर्घमानकलुपोपरमेण, मानमेव (एव) कलुषं पापं तस्योपशमेन ॥ ३० ॥ कुलकम् ॥ अथ वसन्तवै-
भबमुच्यते । कणिकारं काञ्चनारकुमुमं ताप्तं रिक्तमजनि । किलक्षणम्, अथवा प्रीतिप्रभृता तस्या अनिद-
मन्तं (अनितोऽन्तो—) येन तत् । कस्मात्, चास्यन्वगुणतः मनोजपरिमलगुणात् । अत्र कारणमाह । सर्जने
उत्पादने । अप्रतिमोहा (हो) असदृशविचारोऽपि विविधस्तस्य कणिकास्य युक्तघटना प्रति मोहो मूढोऽर्जुन ।
रूपं दत्तं परिमलं (लो) न दत्तमिति (दत्त इति) विधाता विस्मृतः ॥ ३१ ॥ वृक्षपङ्क्तिरकामिन्या
ओष्ठेन । मनोहरतोत्कृष्टपारधार्क्येन (ण) क्रिष्टकेन पलाशपुष्पेण । असौ समयो मधुः । शुशुभे चकासे ।
असौ क्षण्णे सविलासं मनोहरम् अयो लोह बिन्दुना जलेन इव ॥ ३२ ॥ शय० । संयमनाशकरेषु भ्रमरिणी-
समूहेषु गायनेषु जातवत्सु मरुत् शोभनलताना नर्तकोऽभूत् । कथंभूताना, पातुलस्य भावः पातुलता पुष्परेणु-
भिः कृता पातुलता स्थूलता याता ताः तासाम् ॥ ३३ ॥ भवत् संज्ञातम् अशोकैर्यो बलं यस्य स तेन
कन्तुना कामेन सकलो विरहो मृत्युना यमेन कदलेन श्रासेन, अथवा अकबलेन युगपद् एकवारमित्यर्थः, ग्रस्यते
स्म । किलक्षणी विरहो, प्रमदायाः संस्मरन् । किलक्षणायाः, अकम्प्रो निश्चलो मदो यस्याः सा तस्याः
॥ ३४ ॥ यो विरहिणीसमूहायः प्राग् वसन्तात् पूर्वमतीव समुदा हर्षेण मनसा तद्विषयान् स माधवेऽपि तु सह-

स्वासी मनोमयवच तेन हूनः कदचितः सुखितया सुखित्वेन ऊनो रिक्तोऽभवत् ॥ ३५ ॥ अथ काचिद् दूतिका
रुदन्ती गतमर्त्तका प्रति प्राह । हे आलि कामशोकं कामाज्जातो यः शोकः स एव जलघितस्मादुदि-
ताम्बुत्पन्नाणि सततं रुदितानि संहर । यतोऽमुक्तम् अत्यक्तं वैर्यं धीरत्वमापदामसनक्षमं निराकरणसमर्थमुक्तं
भाषितम् । कथंभूतं वैर्यम्, आपदामसनं खेपणं तत्र क्षमं समर्थम् ॥ ३६ ॥ तत्र प्रेयसा यो वसन्तोऽवधिरकारि
स भर्ता तमतितवितुमलं नेत्यर्थः । किलक्षणो वसन्तः, यत्र निजगुणं स्वगुणं सन्त इव शास्त्रिनो वृक्षा अप-
कामैर्मिलद्विभज्जनाना लोकाना मनोरमस्य लाभो येम्यस्तानि । कुसुमैर्भान्ति ॥ ३७ ॥ तं समयं मधु-
मतिवतितुमतिक्रमियुम् उत्सुकः । स तव भर्ता अल समर्थो न । केन चेतसा । किलक्षणेन विप्रयोगेन कृशा
चासौ दाराश्च तदर्थं हितेन । पुनः किलक्षणेन, कठिन्ता स्तब्धता (तया) रहितेन । किलक्षणं समयं विकासं
प्रकाशमयन्तं गच्छन्तम् ॥ ३८ ॥ युष्मत् ॥ हे आलि तदिदं वपुनियमेन रक्ष । यमेनातद्ध्वेन लघ्वी हानि-
'र्यस्य तल्लघुहानि' ^१ धीघ्ननस्वरं मा विधेहि । त्वं तेन सहात्पदिवसे रस्यसे । यत् स भर्ता त्वद्वोयविरहं न
सहते ॥ ३९ ॥ आत्मा काचनेति हितं यथा भवति तथा जगदे । किलक्षणा काचन, मन्दा दीप्तियस्या सा
मन्ददीप्तिः । अगुणावहं (हो) मानं (नो) यस्या सा अगुणावहमाना । पुनः किलक्षणा, जोषिते शिष्य-
लतां वहमाना । पुनरपि किलक्षणा, दूरदिशि पतियस्या सा । अपोहितं त्यक्तं माल्यं यया सा अपोहितमान्या
॥ कुलकम् ॥ ४० ॥ कदचित् कामो कामानलाभिततो मानिनी चाटुमिर्मानयन्नाह । हे सुभ्रु तव 'भ्रुकुटीना
दाक्षणा कर्कशा विरचिता कुटीना साम्यमावहति, पक्षे दाक्षणा काष्ठेन । प्रियनमे मयि दास्यं धारयति सति
तवास्यं कोपनं कोपयुक्तं किमिति' ^२ जातवत् ॥ ४१ ॥ तथा हे सुभ्रु तव रतिं व्यवधेयं विना मे का धृति-
स्तोषः । अहं तव विनामे प्रह्वीभावे नोद्यताञ्जलिर्न । भवतो अमाने सति नममाने वृष्ये मानं किं तनोति
॥ ४२ ॥ तथा हे सुभ्रु नभोवदाकाशवदनन्ते कान्तिजले मग्नं कमलसदृशम् । जायं उत्पद्यमानानेकविभ्रम-
रोहं ते वदनं पातुं लेहं सादरमवलोकितुमित्यर्थः । अहं भ्रमर इवोत्सुकोऽस्मि ॥ ४३ ॥ हे सुतु त्वं अनेन मद-
नेनानिर्वाह्यमानं ममनो भीमद् वर्तते । हे गीवरतरस्तनि स्थलपयोधरे । ऋगः क्रोधस्य तनोभविस्तन्मिमा
तं कृशब्धम् । ग्यत्र मानं मुञ्च ॥ ४४ ॥ इत्थं दयितेन भर्ता उदिता भाषिता काचिन् तेन साह्रम् उदयि
उदयोपेतं प्रेम स्नेहमकृत । अत्राश्रितरमुपन्यस्यते । बुधं पण्डितं रचितानि रसभारेण चित्तानि संभूतानि
वर्चांसि कं न प्रीणयन्ति, अपिबु सर्वमपि ॥ ४५ ॥ कुलकम् ॥ इत्थं विलसति वसन्ते । भानुहिमयन्तमन्त्र-
माप । कथंभूतं, कन्दरामु दरोपु अनुकृताहि मर्पमदृशं ध्वान्तं तमोनिकायमवतं रक्षन्तम् । यो हिमवान् शशीत्र
शुद्धा नदा यस्या ता तस्यां वसन् धनवो यस्या सा तस्यां दिशि भाति राजते ॥ ४६ ॥ तत्र वसन्ते लीन पट्टबाना
कुलं यस्यां सा लीनः । तिलैरिब काली श्यामला तिलकालो तिलपर्जन्यद्विकाममगमत् तेन गतहृषेण मनसा
मानिनी उदारं कामतापमगमत् गतवती ॥ ४७ ॥ तत्र वसन्तेऽल्यो भ्रमरा अलिम्या साकं सततं रागकारि
कमलिम्या मधु पुष्परसं निवेद्य यानि ध्वनितानि चक्रुः तानि सति (निराग्य) अध्वनि के यदं केऽपीत्यर्थः
॥ ४८ ॥ तत्र जनेन परिवारेण शीतला इति ज्ञात्वा सजलतालवन्तेन पातित्वा आनो जलानि जातविरहो
निष्पन्नविद्योऽस्तनुतापो बहुलक्लेशयुक्तः क' पुमान् क्वाषिताम्भुः उत्पन्नजलसमानानि नातनुत, अपि
तु उत्पन्नतापो विद्योऽस्तनुतापो परिचारेण व्यजनेन क्षिप्ता आप उत्पन्नजलसदृशा अकरोदित्यर्थः
॥ ४९ ॥ असमस्तानि असदृशानियुक्तं पद्मलण्डं कमलवनम् अविक्रामं विकासरहितं वीक्ष्य अवलोक्य जात-
रुडिब उत्पन्नरोष इव तिगम् । सूर्यः । अहानि दिनानि अहिमानि उष्णानि विहितवान् अकरोत् । उचितमेतत् ।
मास्वतं हृदयं मानि नहि, (इति) न, मान्येव ॥ ५० ॥ अल्यो भ्रमरा भ्रमरिण्या साह्रं रागोत्पादकं कम-
लिम्याः पुष्परसं सततं निवेद्य यानि शब्दितानि चक्रुस्तानि श्रुत्वा के पक्षिका अध्वनि पथि ययुः, अपि तु
न केऽपि । मधुकरोऽलिनीवाचालितदिशि । व्याजृम्भिते विस्फूर्जते । कामसहजवल्ग्वी । विस्फूर्जं सहसा
॥ ५१ ॥ परभूतं कांकिलशब्दितग्याजेन । प्रादुर्भवन्ती तिलकश्रेणिविषयोभा यत्र सा ताम् । सीमन्ति-

१. अ ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. व ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।

कामिनीव । कर्बुमा लीमन्तिनी, प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रैर्विषेवयोमा यस्यां वा ॥ ५२ ॥ संक्षय-
यामि मानयामि ॥ ५३ ॥ ह्रीतो लज्जितः । व्यवस्येत् उद्यमेत । स्मरनिवासवन्ती नितम्बवत् तं वृक्षं
स्पृशतीति ॥ ५४ ॥ आनतमात्रि (आनतमात्रि) अवनताङ्ग ॥ ५५ ॥ मुकुलमालं कोश (व) कवचम्
॥ ५६ ॥ त्वच्छिष्यभावेन यमनस्पृहालु न जनिष्यते ॥ ५७ ॥ नवप्रमालसंभिमे । स्मेरम् ईषडास्त्रोपेतम्
॥ ५८ ॥ प्रतिहृत्यमानः अभिभूयमानः । नः अस्मान् न तिरस्करिष्यति ॥ ५९ ॥ सज्जीकृतपदयुगा ॥ ६० ॥
रहसि एकान्ते । 'वनक्रीडायमनडिण्डिमम् । आदिष्टवान् ॥ ६१ ॥ सजलजलधरशङ्कुमनसः ।' व्योम
आकाशम् । व्याप्नोति स्म ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्चिकायामष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

आसमीमांसादिशाम्प्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।

स श्रुतादिमुनिर्जीयान् प्रवादिगुणमासिवाक् ॥

मघना वसन्तेन मघेन च । विभ्रमः पक्षिभ्रमणं भ्रूविषेवश्च ॥ १ ॥ ललितं निबिडतमक (चू)
पङ्कुन्तलाः, पक्षे साग्रतमालोपेताः । द्विजाः दन्ताः पक्षिणश्च । तिलकं पुण्डरी (ण्ड) कं वृक्षभेदश्च ॥ २ ॥
काश्चौ कटिमेखला ॥ ३ ॥ अलसगतिप आलस्यमनेषु । गुरुः गरिष्ठः, उपाध्यायश्च ॥ ४ ॥ उभयतः ।
इतस्ततः । व्यतिकरिणः मिश्रितस्य ॥ ५ ॥ मृधे मानिनि ॥ ६ ॥ पयोधरान्तराले स्तनमध्ये ॥ ७ ॥ बिफला
कृया (क्रिया) यस्य तद् विफलक्रियम् ॥ ८ ॥ किसलयभासि पल्लवप्रभम् ॥ ९ ॥ क्षीघ्रं गन्तुमिच्छुना^१ ।
अधनयोर्महाभरेण विघ्नो जातो यत्र तज्जघनं ॥ १० ॥ अथ पञ्चभिः संबन्धः । सकृत् एकवारम् । अबुं
अशान्तिश्चैन । सती निवर्तनम् ॥ ११ ॥ विरमति निवर्तते । नेतुमिच्छुना निनीषुणा ॥ १२ ॥ जरीरलतायाः ।
सवकारणम् । आधि मानस (सी) व्यवहाम् ॥ १३ ॥ क्रियादौ कार्यारम्भे चेतः स्थिरं यथा तथाङ्गीकृत-
निर्वहणे स्थिरं न भवति ॥ १४ ॥ निराकृतमानकूटा ॥ १५ ॥ अंसयोः पृष्ठं तेन प्रगमिती च पाणे च ताभ्यां
भूतं त्रियाकुषाभं येन सः ॥ १६ ॥ कुलं कृतकामत्वरम् । अपदेशान् व्याजात् ॥ १७ ॥ मनसि शयः
कामः । पुरः प्रयाताश्च ते सतिपतयश्च पुरः ० तैः सेवितः कृत्रिमाद्रियेन (यंत्र) सत् ॥ १८ ॥ अनङ्गी-
कृतनयनद्वयसंवादाः ॥ १९ ॥ जरठं पुराणपत्रसमूहे ॥ २० ॥ प्रतीपपत्न्याः सपत्न्याः ॥ २१ ॥ बिटपिनि
वृक्षे । तुङ्गम् उर्ध्वैस्तरम् । भुजयुगमूलं कक्षां । द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ॥ २२ ॥ उत्तमाङ्गे शिरसि ॥ २३ ॥
सुदति शोभनदन्ते । परभागं वर्णम् ॥ २४ ॥ कमनीयं सुन्दरम् । भावकृतः परिणामजनितः । विभागः
सदसद्विभजनम् ॥ २५ ॥ अवचितं वृण्टितम् ॥ २६ ॥ ममज्ज ततार । सज्जीकृतः विद्यमानिकृतः ॥ २७ ॥
आहिता आरोपिताः आस्थापिताः ॥ २८ ॥ नृपतोयाः अवसारितजलाः ॥ २९ ॥ अकलुषं स्वच्छम् । अन्तरा
मध्ये । अनुबन्धन् अनुपतन् ॥ ३० ॥ शिन्नीमुखा भ्रमराः ॥ ३१ ॥ अपहृतवसनाः अपसारितान्तरीयाः
॥ ३२ ॥ नाभिदध्ने नाभिप्रमाणे । तरण्डकं प्लवः^२ ॥ ३३ ॥ विमुग्धा अवभिज्ञा । संबभूवे संजितम्
॥ ३४ ॥ अनघनुवाना अशानुवतो ॥ ३५ ॥ अति (नि) सपत्न् संसुखमभितपन् । मधु पुष्परसम् ॥ ३६ ॥
अनभिमुखी पराभुम् (इ मु) क्षाम् । समनुमन् प्रसादयन् । चाटुकारान् प्रियवचनानि ॥ ३७ ॥ शफरी
पत्नी ॥ ३८ ॥ अंसविलम्बि (म्बी) स्कन्धाधारीकृतः ॥ ३९ ॥ शाठ्यात् जाड्यात् । अविविततत्त्वः
अपरिज्ञातरहस्यः ॥ ४० ॥ सपत्न्याः प्रतिपत्न्याः^३ । अवधीत् तर्जयति स्म । परिमङ्गुरैः सञ्चुक्रुटिबर्कैः ॥ ४१ ॥

१. च ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. च पुण्डरी । ३. च. °च्छता । ४. च लयः ।

५. च 'प्रतिपत्न्या' इति नोपलभ्यते ।

अनुमन्तो म्लानि गता । दरम् ईषत् ॥ ४२ ॥ विदधति धारयन्ति । विविधवृत्ति क्रयविक्रयशेषं गृहीत्वा
वितरणमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ जलात्मकानां द्रव्यरूपाणां, पक्षे जडतायुक्तानाम् ॥ ४४ ॥ शिलीमुखेन भ्रमरेणा-
नुकुर्वती अनुविदधती ॥ ४५ ॥ विगाढैः विलोडितैः ॥ ४६ ॥ चिरं नि० चिरं स्थित्वा ॥ ४७ ॥ बिचकृषुः
आकर्षन्ति स्म । भुजङ्गवृत्ति विटत्वम् ॥ ४८ ॥ अतिरिच्यमानं समधिकम् ॥ ४९ ॥ प्रतिमुवते सप्तत्याः
॥ ५० ॥ कवयः केशबन्धनतः ॥ ५१ ॥ कृष्णपद्मं, नीलोत्पलैः ॥ ५२ ॥ ममूः सभान्तिस्म ॥ ५३ ॥
कुतकृतकः जनितकपटः ॥ ५४ ॥ चलशकरीतरला मत्सी (?) ॥ ५५ ॥ वनजवनं कमलवनम् ॥ ५६ ॥
स्तनपरि० स्तनस्पर्शनसामिलाया ॥ ५७ ॥ अनुपुलिनम् अनुतटम् । खवणपदेन निश्च्योतनव्याजेन ॥ ५८ ॥
प्रस्यं सानुम् । अम्भोधराच्चा गगनमार्गः । त्यक्तजलक्रीडाविशेषः ॥ ५९ ॥

इति चन्द्रप्रमथकाव्यपञ्जिकायां नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽङ्करोन्मुनिः ।

स ध्रुतादिमुनिर्जीवाच्छ्रद्धा'दिगुणमासिवाक् ॥

उदयाः तेजोऽभिवृद्धयः । निरत्ययाः निरपाया । अविशिन्धिष्ये अविजग्मे ॥ १ ॥ नयनप्राप्ताः
कटाक्षाः ॥ २ ॥ बल्लभ भर्ता ॥ ३ ॥ कृच्छ्रगत कष्टगतः, आपद्गतश्च ॥ ४ ॥ अन्तरधीयत अतिरो-
धीयत ॥ ५ ॥ विधिरेव दैवमेव ननु सहायादि । अभ्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ६ ॥ मलिनैः दयामलैः सपापैश्च
॥ ७ ॥ दीप्तरेव अवदातशब्दै । मोडं कुलाय । प्रविलापं परिदेवनध्वनिम् ॥ ८ ॥ विध्वंसभयात् विप्ल-
वत्रासात् ॥ ९ ॥ अम्बरे गगने ॥ १० ॥ सदसत्प्रसंगजाः शुभाशुभसंसर्गजनिता ॥ ११ ॥ परिवृत्तिम्
आल्लिकक्रियाः । सकाशादन्यथावृत्ति वेष्टनोद्घेष्टनवत् ॥ १२ ॥ कुतजज्ञां कुतोपकाराविस्मरणत्वम् । इमाय
गतः ॥ १३ ॥ अपरज्यते विरक्तो भवति ॥ १४ ॥ विदरेषु मध्येषु । शान्तलवा । अन्धकारलेशा ॥ १५ ॥
आर्तनिःस्वनैः सकृद्विनिमिः । बहलं प्रचुरम् । मयो कञ्जलम् ॥ १६ ॥ विसतन्तुः मृग(गाल) सूत्रम्
॥ १७ ॥ अलकाः चूणकुन्तला । अलभि'दृश पूर्वस्याः ॥ १८ ॥ तैतिरोहितं प्रच्छादितम् ॥ १९ ॥
आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना ॥ २० ॥ घनबीधिरयम् आकाशबाहनम् । परदारग्रहणोत्पन्नात् ॥ २१ ॥ भ्रश्य-
दन्धकारप्रावरणम् । सुरतस्थां ग्राम्यधर्मवतीम् ॥ २२ ॥ घटना निगति । स्फुटीकृतं व्यक्तोक्तम् । चन्द्रस्य
किल कुबलयैः प्रयोजनाभावाद् नि कारणबन्धुत्वम् ॥ २३ ॥ न्यलीयते उपविष्टम् ॥ २४ ॥ अपनीतम्
अपाकृतम् ॥ २५ ॥ कौटिलिखलम् । अद्यतनो ॥ २६ ॥ प्रसर्पति विस्तृते ॥ २७ ॥ अन्यजातिना
बाण्डालेन । परिमृष्टा स्पृष्टा । घनव० आकाशमार्गे ॥ २८ ॥ नगा पर्वता । चन्द्रस्यात्राल्पकालोदयत्वं
शान्तप्रतापत्वं च ॥ २९ ॥ उद्यमारुणं कुङ्कुमरक्तम् । आपीड खेडम् ॥ ३० ॥ सुखि सुखयुक्तम् ।
मिथुनं युगलम् ॥ ३१ ॥ उद्धरतिस्म निष्काशयामास ॥ ३२ ॥ काण्डपटः यवनिका-प्रच्छादनवस्त्रम् । 'कुट्टि-
योऽस्त्री निबद्धा भू' ॥ ३३ ॥ मूर्च्छाकपटेन 'मूर्च्छां पित्ततम-प्राया' इति वचनात् ॥ ३४ ॥ मामुरीमवत्
देदीप्यमानम् । अनव्यायः (?) । 'बाल्जना क्वालिते तैले घृते वा कुत्रचिद् यथा । शीततोयच्छटापातः प्रति-
प्रक्षालनं भवेत् ॥ ३५ ॥ रजसा परागेण-कुसुमरेणुना । निर्यत्पुलका रोमाञ्चवती ॥ ३६ ॥ त्वरमाणचेतसाम्
उत्तालहृदयानाम् ॥ ३७ ॥ स्मरस्य सामर्थ्यसंपत्तेः । 'चन्द्रासबाभ्यां रमणीजनैः' इति भाषितात् ॥ ३८ ॥
अतः शक्तिः सामर्थ्यम् । हरिणाङ्गाभिगमे चन्द्रायमने ॥ ३९ ॥ विमावय्याः रात्रेः प्रकाशने सद्योपयोगः कुम्-

विष्वा निरपेक्षोपकारः ॥४०॥ परिणामिनि ^१कालवृद्धिगते । विविकं विजयम् ॥४१॥ पुलकैः रोमाञ्चैः ।
पोमतां स्पृकलम् ॥४२॥ प्रतिकूलं क्षणं प्रतीकं (पं) कालविदम्बनम् । शासनम् आशा ॥४३॥ अरविन्दामुक्कु-
लितनेत्राणाम् । त्रया राज्ञी किल कमलं च मुकुलितम् । छन्ममिहाननैः ऊर्ध्वार्कितमुलैः ॥४४॥ निपरीतयथा
कामस्य प्रतिकूलाचरणेन ॥४५॥ अमिमोत अनुमानेन ब्रुवत् ॥४६॥ चम्बने वक्त्रसंयोगकरणे । सहसा
क्षोभम् । आसंजयति स्म व्यापारयति स्म परिरम्भमकरोतिवर्षः ॥४७॥ करताडनं करशब्देन करजातस्ताडनं
प्रहतिः । परिरम्भः कराभ्यामालिङ्गनम् । दक्षच्छब्दः अक्षरः ॥४८॥ अनवकाशः अवकाशं मध्यवसतिम-
प्राप्नुवद्भिः ॥४९॥ परिरम्भेण गाढालिङ्गनेन । अजीयमत् विलम्बयति स्म ॥५०॥ समीयुषे दीर्घकालगतव-
॥५१॥ परिरम्भे आलिङ्गितम् ॥५२॥ सचिवत्वं सहायत्वम् ॥५३॥ असंभवन् अवकाशमलभमानः ॥५४॥
परिरम्भुम् आश्लिष्टु दृढबन्धहस्ताभ्यां संपुटीकरणं यथा भवति ॥५५॥ परिशान्त्य कषायरहितं प्रियवाक्यै-
विधाय । व्यदिष्यपत् विध्यापयतिस्म ॥५६॥ परितस्थे ^३ उपरिस्थितम् ॥५७॥ वामं प्रतिकूलम् ॥५८॥
अतिमात्रसंस्तवात् ^४ गाढालिङ्गनात् पुनः पुनः परित्यज्याद्वा । भणितैः रतिकूजितैः ॥५९॥ सुरतेषु मैयुनेषु
॥६०॥ रतीसवे मैयुनामन्दे ॥६१॥ प्रसूय्य एकहेलया शब्दयित्वा । अणं कालित्कालम् । विभ्रान्तिं
विरामम् । सूताः बन्दिनः ॥६२॥ विक्षीर्णं विस्तृतम् ॥६३॥ केशकलापमध्ये ^५ रेखा सीमन्तः ॥६४॥
ब्रह्माण्डप्रसृतं सकलजगद्व्याप्तम् ॥६५॥ रथाङ्गयुग्मं चक्रवाकयुगलम् । वक्षोजद्वयं सतनयुग्मम् ॥६६॥
धर्माशोः सूर्यस्य । प्रणुन्नम् अपसारितम् । वृत्तिं पुनरागमनाय वर्तनम् । अनुशीलता ^६ भवच्छत्रुभिः सादृश्यम्
॥६७॥ प्रत्युषः बहमुलम् । परिष्कृताङ्गाः भूषितशरीराः ॥६८॥ पाथेयं शम्बलम् । गरिष्ठविमोगमार्गम-
नाय ॥६९॥ अनपायिना अनवरेण ॥७०॥ नियतं निश्चितम् । अमङ्गलं मरणम् ॥७१॥ निजविस्तीः
स्वसन्धैः । निशान्तं प्रातः । तान्त्रञ्चः समरः कुक्कुटः ॥७२॥ कल्पयामि सहजं न विभावयामि ॥७३॥
विवृत्य पराङ्मुखोभूय । अनुनयविधयां विधाय ॥७४॥ सतीनां हयानाम् । रुषिर् सुन्दरम् । प्रतीक्षां
'कालविलम्बम् ॥७५॥ रोचिष्मात् सूर्यः ॥७६॥ प्रबोधं निद्राक्षयम् ॥७७॥ तपने सूर्ये ॥७८॥
अभ्युज्जिह्वासीः शिखरं त्यक्त्वानन्तरं ^७ गन्तुमिच्छीः ॥७९॥

इति चन्द्रप्रभकाम्यपञ्जिकायां दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

आसमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स ध्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रद्धादिगुणमासिवाक् ॥
सच्छ्रद्धादिगुणैर्युक्तस्तपसां निधिस्तु मे ।
प्रकाशयामास मुनिः सर्वशास्त्राणि स श्रिये ॥

विशां प्रजानाम् । अविश्रये अविश्रयस्थी । कलि (ल्पि) त० आरोपितविहासयम् ॥१॥ सर्वे
च तेऽवसरदाश्च कार्यविशेषास्तत्साधनार्थं व्यवस्थितं विहासमारुहं वा स्नानविलेपनाद्यनन्तरं तत्रोपविष्टं वा ।
प्रधानदोषारिक्तं प्रधाना ^१ विशिष्टाश्च ते द्वारनिमुक्ताश्च तैः सूचितो निवेदित आगम आगमनं येषां ते तथा ।
आश्लिष्टचुम्बितशिल्लरेण मोलिना किरीटेन ॥२॥ प्रतीहारः द्वारपालः । यथायथं स्वोचितस्थाने । समाजिरे
प्राङ्गणे ॥३॥ अनल्पसर्वं प्रचुरोत्साहबलम् । गुरुवंशं गरिष्ठान्वयशोभमानं, पक्षे पृष्ठास्त्रि० । प्रलम्बहस्तम्
आजानुकरं, (पक्षे) लम्बगुण्डादण्डम् । कुतूहलात् कौतुकात् । अचूचवत् प्रेरयामास । धीरनरान् सुचद-

१. च 'काल' इति नास्ति । २. च 'वत' । ३. च 'परितस्थे' इति नास्ति । ४. च 'संसृपात्' । ५. च
मध्यं । ६. च 'शीलता' । ७. च इति बिल्लान्द्वयतः पाठो गोपकम्यते । ८. च श्रिये । ९. च प्रधान ।

मुखात् ॥ ४ ॥ समुपेत्यै प्राप्य । धीरधीः निष्कम्बमनाः । जघान ताडयामास । घनपीचरे विलहसूके ।
 जवेन वेणेन । आरया लोहसूचीविद्योषेण ॥ ५ ॥ निवृत्य परिकृत्य । प्रधावति ढोक्ते । निपत्य प्राप्य ।
 स्फूलकोष्ठेन घातम् ॥ ६ ॥ विभीषमानः स्वेदं प्राप्यमाणः । शासनदो जातः (शासनाद् अजातः) । कृष्-
 क्रियैः किहितसम्योचितप्रधानैः । प्रधावितुं प्रकलमितुम् । उद्यतः सोद्यमः ॥ ७ ॥ गृहागतं करान्तःप्रतिष्ठितम् ।
 समस्तकालयतिष्ठम् उच्छाल्य पातयामास । व्ययुध्यत विद्युत्सर्वावयवोऽभूत् ॥ ८ ॥ बिलोनं बिलम् प्रासम् ।
 निर्वेदं वैराग्यम् ॥ ९ ॥ 'भगवतः संसाररन्ध्रस्थितानाम् । अशास्वती विमश्वरोम् ॥ १० ॥ गदेन व्याधिना ।
 अधानिना मेधोत्पातेन । कटाक्ष्यते वक्रं निरोदयते ॥ ११ ॥ ग्राहयत ध्रुवम् । प्रमोहः मोहनोद्योदयाद्भ्रान्तिः' ३
 ॥ १२ ॥ परदिने । 'परुषतरार्यपमोऽन्दे पूर्वं पूर्वतरे यति' ४ । कर्तव्यं करणोद्यम् । आसन्नं निकटम् ॥ १३ ॥
 कर्ममतात् अनिष्टात् । बिलोन्मयमानः वञ्चयमानः । आमिषं भोज्यविशेषः । अकर्तव्यं सद्भिर्निषिद्धम् ॥ १४ ॥
 नयनाम्नं (न्तः) कटाक्षः । सहसितुं युगपत्स्थातुम् । वज्रहविर्भुजः वज्राग्नेः । जये विजृम्भणे ५ ॥ १५ ॥
 बिलेक्ष्यते विन्ध्यते । कालमरीचिमात्मिनः यमसूयंस्य ॥ १६ ॥ विहास्यन्ति त्यजन्ति । बद्धा गाढोक्ता
 चर्मद्विषु द्वयसंपत्तिषु वृद्धिर्येते । चूतावनिजम् आसवृतम् । जिहास्य त्यक्तुमिच्छन् ॥ १७ ॥ प्रपित्सु
 पतनाकाशि । निचयाः पुनादयः । नष्टु [नष्ट] गन्तुम् । असमर्थम् ॥ १८ ॥ कषायाः क्रोधादयः सारेण्यमा-
 वि दृढकाष्ठानि तैर्बद्धा रचिता पटतिरश्चतुर्गतिपङ्क्तिर्न सः । उत्तुङ्गतर उच्चैःशिल्पः ॥ १९ ॥ दुरात्मकात्
 दुष्टस्वभावात् । भवात् संसारात् । अनर्थाः निष्प्रयोजनाः । उत्स्वातमूल । सः भव । अहेतुकाः कारणरहितः
 ॥ २० ॥ सरागतां विषयैकतानत्वम् । तद्विपरीतेषु वैराग्येषु भावना निरन्तरं चिन्तनं यस्य सः । वारिदे मेघे ।
 अलं समर्थः । अम्बरं गगनम् ॥ २१ ॥ चराचरे जङ्गमस्वाचरे । अमोर्जि भुक्तम् । पराङ्मुखः पराधीनः ।
 मोक्षसाधनात् रत्नत्रयात् ॥ २२ ॥ दुरन्ताः दुरवसानाः । योगी वृद्धिम् । लेश कण । उपरुद्धि प्ररोहम् ।
 संसारवल्कीम् ॥ २३ ॥ मलिनस्य मलीमसस्य । हितं रत्नत्रये । विज्ञाप्रति सावधाना भवन्ति ॥ २४ ॥
 आगन्तुकदुःखं नारकादि पर्यायाः । ससारहीन्यम् । यत् यदा । विषयुक्तस्य मिश्रितस्य ॥ २५ ॥ विबन्धकान्
 प्रतिरोधकान् ६ । वरीतुमिच्छो विधातुमनसः । विबन्धुं प्रतिरोधुं (दं) । परः प्रतिकूल ॥ २६ ॥ वणं
 माशम् । स्वकर्मणां ज्ञानावरणादीना प्रकृतौ. स्वभावान् । सिद्धिभागिनः मुक्तिसाधनोद्यतस्य ॥ २७ ॥
 कदाचिन् पीडाविधायिनीः । प्रशान्तिं भोगोपरतिम् । क्लेशं दुःखम् । परम् अन्यत् ॥ २८ ॥ विवेकिन
 चिदचिद्विभागं कृत्वा आत्मध्यायिनः । जन्मनः ससाराद् [वि-] पतयो नारकादियर्ष्यान्तोऽभ्यो भोक्तुका ।
 निरापदा सिद्धानाम् । अनोकं चक्रम् । ईशते प्रोत्सहन्ते ॥ २९ ॥ निवर्तितात्मा व्यावृत्तचेता । चतुर विवेकी ।
 हितं मुक्तिस्तत्कारणं च ॥ ३० ॥ गुणप्रभसङ्गम् । सवृन्दं ससङ्गम् । मिथ्याजानान्धकारभानुम् । उद्यान-
 चरात् वनपालात् ॥ ३१ ॥ निशम्य आकर्ण्य । तन्मुपः समाधीनस्य । अभ्युदस्थात् उत्तस्थो । कृतो पुण्य-
 बान् । कृतकृत्य ॥ ३२ ॥ निरित्य निर्गत्य । तद्धाम मुनिस्थानम् । समं सादृष्टम् । समन्वितं. तन्मयभावं
 गतं ॥ ३३ ॥ गतस्य प्राप्तस्य । तस्य मुने । अवलोकयामास । कः परमात्मा समुत् परमानन्दैकस्वभाव-
 स्तत्र चेतो यस्य स तस्य । विविकं विजनम् । अवन्तम् अतिशयेन । स्त्रीपणूक्त्वोवादिभित्तिर्यर्थः । अजन्तुकं
 जन्तुभिः क्षुद्रजीवै रहितम् । आश्रमं स्थानम् । प्रिया तपोजनितवोभया ॥ ३४ ॥ गृहीतयोग स्वीकृतध्यानम् ।
 आतपे सूर्यप्रतापप्रकाशे स्थितम् उद्भूतम् । दिवाकरस्य सूर्यस्याशबो मयूखास्तेषां प्रकारः समूहस्तेनैकलक्ष्यताम-
 तिषायमन्यताम् । उन्मूलितः समुत्पाटितो मोहविद्धि येन स तम् ॥ ३५ ॥ प्रभावनया जिनमार्गप्रकाशने ।
 समुद्यतम् उद्यमयुक्तम् । ऐक्षत व्यलोकत ॥ ३६ ॥ उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वभावाः । प्रवादिन एव
 काद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेषां चयं समूहम् । पराश्रमं पराजयम् । उद्योतितलोकं प्रकाशितभुवनम् । लोभयन्ते
 लोबाद्यदोऽर्था यस्मिन् स लोकस्त—जोवादिवदार्थान् प्रकाशयन्तवित्यर्थः ॥ ३७ ॥ अतीरामागतवर्तमानानां
 विकलानां भण्डस्थितम् । अनन्योचरं प्रत्यक्षविषयम् । परोक्षवस्तु सूक्ष्मातरितद्वार्यान् सर्वज्ञानविषयान्

१. क. ०पेत्य । २. क. शाशदी । ३. क. ' ' इति चित्त्वान्तगतः पाठो नोपलभ्यते । ४. क. यदि ।

५. क. 'जेधु । ६. क. चित्र' । ७. क. इदं पञ्चमपदं क्षोपलभ्यते । ८. क. इयमपि पर्यायपदं नास्ति ।

परोक्षेण मतिश्रुतद्वयेनोपदिशन्तं प्रकाशयन्तम् । स्वस्य परमात्मनो मार्गो रत्नत्रयं तस्य माहात्म्यमतिशयस्तस्य-
निवेदने कथने उच्यतेऽथमपरम् । व्यनोक्तं बिलोकमानाद्यः । ज्ञप्यम् अपरम् । तपोधनं तपस्विनम् ॥ ३८ ॥
अनेका बहुप्रकाराश्चेष्टास्तत्परणक्रिया येषु ते तैः । पर्युपासितं सेवितम् । तपस्विनां तपोधनां वृन्दैः संहसिभिः ।
अविनिन्द्यसिद्धिभिः निरवद्यानुष्ठानैः । प्रणिपत्य नमस्कृत्य । इति वक्ष्यमाण प्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारम्भे ॥ ३९ ॥
मनस्विभिः विदग्धैः । भवान्स्कृत्य संसारनाशकरो^१ । आत्मवेदिभिः अध्यात्मनिरतैः । आत्तशुभाः
प्राप्तपुण्यास्तिषयाः । कृतार्थता कृतकृत्यत्वम् । कृता० विहितजीवादिबिलोकेन भवति । विचारणा चर्चा ॥ ४० ॥
महामोहो गाढमिथ्यात्वं स एव तमःपटोज्ज्वलकारप्रावरणं तेनावृतं वेष्टितम् । कुदृष्ट्य पटनायतनानि तेषां
सेवयोपासने विकसद्गाढभ्रान्तिम् । बाह्यनरीक्षयः वचनकिरणाः ॥ ४१ ॥ निराश्रयानाम् आश्रयरहितानाम् ।
आलम्बनम् अवष्टम्भः । स्थिराश्रयः दृढतरः । यियासतां गन्तुमिच्छताम् ॥ ४२ ॥ स्वभावजैः सहजोत्पन्नैः ।
विकसत् । कुन्दपुष्पवच्चुम्भैः । अमेयता प्रमाणरहितताम् ॥ ४३ ॥ दिवसा० सूर्यवत्प्रकाशमान । मार्गस्य
सम्यग्दर्शनार्थः शुद्धिनिर्मलत्वं, पक्षे मार्गस्य पथः शुद्धिः । इष्टस्थानहेतुरहितम्^२ (?) अलम्भि प्राप्ता । वृत्तायितं
वृत्तमिवाचरिम् ॥ ४४ ॥ विभिन्दतः अपाकुर्वतः । हार्दं हृदिभवम् । तमः पाषाणकारम् । भास्वतः सूर्यस्य ।
वक्त्रं मुखं किल पूर्वं बहुभिर्दृष्टमघादिना सत्कृतं च । यतोऽयं भगवान् पूर्वं कैरपि न दृष्टस्ततोऽपूर्वभास्वान्
॥ ४५ ॥ अपायमुक्ताम् अविनश्वराम् । परवो मुक्तिमार्गं रत्नत्रयम् । परे मिथ्यादृष्टः । प्रापयितुं लम्भयितुम् ।
त्वदाश्रय भवदाश्रयणम् ॥ ४६ ॥ मोक्षलक्ष्मीप्रतिरोधविद्यायिनाम् ॥ ४७ ॥ सशरीरविनयराशिसमारकिणाम् ।
अक्षोणि नेत्राणि ॥ ४८ ॥ मिथ परस्परम् । उदंशुः प्रस्फुरत्किरणाः । द्यौः किल धारितकचन्द्रा, अहं
द्विचन्द्रा । आह्लादकरत्नचन्द्रोपमानम् ॥ ४९ ॥ विलोकितोऽसीषाणा सम्माना मुखेन्दुयैः सः । उपादे
उद्गिरति स्म ॥ ५० ॥ पायिवता नृपता । कादम्बर्योर्दिवा (?) यथा मवकारणमित्युक्तिरुच्यते । सा
पायिवता । अन्यथा मार्गवानुरुक्ता ॥ ५१ ॥ गतस्पृहाणा त्यक्ताभाषाणां ॥ ५२ ॥ तुलाव्यतीतः असमानः ।
सार्वभौमो सर्वस्या भूमेराधिपत्य यस्यां ईषा ॥ ५३ ॥ परलोकसाधने प्रेत्यभावसंस्करणं ॥ ५४ ॥ प्रथमं
विनयनतमूर्द्धा । यियासतः गन्तुमिच्छतः ॥ ५५ ॥ इति समाकलय्य विचार्य ॥ ५६ ॥ वरं बाञ्छितं वदातीति
वरदः । आत्मना स्वीकृता या दोक्षा तया अस्मान् संस्फुरः । अनुग्रहः अनुभावः ॥ ५७ ॥ निवेदिता० प्रकृषित-
चित्तस्थवस्तुनः ॥ ५८ ॥ सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् ॥ ५९ ॥ धर्माय धनं यस्य स तस्य, पक्षे धर्मो दशधा धनं
यस्य । अनिन्द्यं निन्दारहितं वृत्तं वर्तनं यस्य, पक्षे वृत्तं चारित्र्यम् । परार्थं परनिमित्तं संपदं यस्य, पक्षे पर
उत्कृष्टोऽर्थः प्रयोजनं मोक्षोद्यमो यस्य ॥ ६० ॥ साधुषु यतिषु रतो विनोतः । अतः कारणात् । अनुशाधि
प्रतिपालय ॥ ६१ ॥ उद्योतिताया जल्पितायाम् । अचलान्तराशयः निश्चलान्तःकरणः, पक्षे अङ्गोक्तम्
॥ ६२ ॥ शिरःसमम्बन्धं शिरसाधार्यम् । अनुशासनं शिक्षाविशेषः । जन्मव्यसनानि संसारदुःखानि ॥ ६३ ॥
दुराधयः दुष्टा मानसव्यथा । श्रीजिनचन्द्रप्रतिपालितम् ॥ ६४ ॥ भवमृत्युसंततिः । उत्पादमरणसंतानम् (नः)
॥ ६५ ॥ विनिश्चितः परिज्ञातः एकान्तेन सर्वथा तदीयस्तस्य राज्ञो निश्चयो हृष्टप्रतिज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥
अग्रहीतुं जहाह ॥ ६७ ॥ अधोरमानसः शान्तमनाः । स्थिरा निश्चला एकेनाद्वितीयेन पर्यङ्केनासनविशेषेण
कृता विहिता स्थितिरवस्थानं येन सः । निश्चयोः प्राणहरीः ॥ ६८ ॥ विभीषणं भयानकम् ॥ ६९ ॥ तपे
ऊष्माणमे । अभिसूर्यप्रतिमं सूर्यबिम्बसन्मुखम् ॥ ७० ॥ भावनासु अनुप्रेक्षासु । ध्रुवं निश्चलम् । शुष्णमदः
निरहंकारः ॥ ७१ ॥ विविधं बहुप्रकारम् । परिणता एकीभावेन जाता उज्ज्वला निर्मला निरतिचारा धर्म
(मं) सत्त्वमादौ लेश्या यस्य सः ॥ ७२ ॥ द्वाविंशतिसागरप्रमाणायुः ॥ ७३ ॥ विगलितायुः सम्यगनुभूत-
बद्धायुः । जनमोज्ञ सर्वजनतामुन्दर । बोध्यम् (?) ॥ ७४ ॥ तूष्णीमभूत् मौनवान् जातः । बद्धा (द्वा)
अञ्जलियैः सः । यतिवृषं मुनिप्रधानम् ॥ ७५ ॥ उत्प्रत्ययं तेषां जन्मान्तराणां प्रत्ययं विश्वासजनक ज्ञानम् ।
संशयानां संशयं प्राप्तवती ॥ ७६ ॥ निशम्य आकर्णयित्वा । संदेहपङ्क्तं संशयकर्मम् । अपहृष्टितुं निराकर्तुम् ।
मद्यान्धमतिः मदप्रच्छादितविवेकः ॥ ७७ ॥ उत्प्रत्ययात् स चासी प्रत्ययस्य तस्मात् । अन्यत् परोक्षम् ।

यन्मतिमतां संवादकं प्रतीतिजनकं तत्प्रमाणम् ॥ ७८ ॥ प्रह्लादिना आनन्दजनकेन ॥ ७९ ॥ आकस्मिकोद्गता
अकारणोत्पन्ना आसौ बृहती गरिष्ठा परवक्रशङ्का च तस्याल्पप्रत्यस्तश्च ते जनाश्च तैश्चकः किमिदमिति च निस्तेन
पूर्यमाणो वर्द्धमानः ॥ ८० ॥ बभूवो वागमो ॥ ८१ ॥ शरत्करटमितिः उद्भिन्नकपोलः । ऐरावतपराक्रमः ।
आरटन्तम् आक्रमन्तम् ॥ ८२ ॥ प्रकटः तदृष्टिपथप्रातः । संहारकालः प्रलयः ॥ ८३ ॥ करटिनः गजस्य
॥ ८४ ॥ बाहुबलद्वितीयः भुजबलेन दृढः, अथवा मूलबलम् ॥ ८५ ॥ परिकरं तनुवाचनितम्भपरिधामा-
विकम् । आजुहुवे आह्वानयति स्म हुडोके वा ॥ ८६ ॥ आवतः अभिगच्छतः । हस्तिनीमूत्रवासितम् ॥ ८७ ॥
तलेन चदराधोभागेन । निर्गतवान् ॥ ८८ ॥ परिधिः प्राकारः । सौषतलं राजसदनवेदिका ॥ ८९ ॥ निः-
स्पन्दं निश्चलम् । विघृतसृणिः गृहीताङ्कुशः ॥ ९० ॥ अनुपमबलवीर्यं असदृशपराक्रमप्रभावैः । लीलया
हेलया ॥ ९१ ॥ केलि क्रीडाम् । निवासं चक्रे । अवितथं सत्यम् । महेन उतसेवेन । उद्गीर्यमानं (णं)
प्रघुष्यमाणम् ॥ ९२ ॥

इति चन्द्रप्रभकान्यपञ्जिकायामेकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

जीयाच्छ्रुतमुनिनामा मुनिपः सच्छास्त्ररत्ननिकरस्य ।
शिव्यापुरोधुबुद्ध्या प्रकाशको योऽत्र सन्दृष्टिः ॥

शासनात् अनुरोधात् । निजभर्तुः पृथ्वीपालराज (जस्य) । इलाधिपतिं तं पद्मनाभम् । कुशाग्रधीः
जाग्रदप्रतिभः । बभौहरः संदेशधारी दूतः ॥ १ ॥ कठिनान् कठोरान्, पक्षे स्तब्धान् । महीभूतः पर्वतान्
राजश्च । मित्रबान्धवैः बन्धूकपुण्यविशेषैः । सार्द्धम् । रिपवः शत्रून् । महापदाश्रिताः पर्वतादिगुहास्थिताः
कृताः, पक्षे रिपवः शत्रवो मित्रबान्धवैः सार्द्धं महती गरिष्ठाभापदमाश्रिताः कृताः ॥ २ ॥ प्रभुशक्तिः इन्द्रस्यैव
माहात्म्यसंपत् । शक्त्यस्तिः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः ॥ ३ ॥ द्वितयेन द्विधावृत्त्या । मानदः म (मा) नं
पूज्यत्वं ददाति यच्छति द्यति खण्डयतीति वा मानदः । तद्विपरीतवृत्तिषु अप्रणतेषु ॥ ४ ॥ संक्रामितं
नियोजितवचनावलः । इति वक्ष्यमाणम् । अद्यतस्नेहम् । दूता बभौहरा मुखं येषां ते दूतमुखाः । 'गन्धेन गावः
पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदबक्षुषा । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ इति वचनात् ॥ ५ ॥' ते
सौजन्यादयो गुणाः । 'क्व सरसि वनलण्ड पङ्कजानां क्व सूर्यः क्वच कुम्बवनानां कोमुदीर्घवृन्दः । अति-
परिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां नहि विचलति मैत्रो दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥' इति न्यायः ॥ ६ ॥ विनयैक-
वृत्तिता विशिष्टो नयो विनयः प्रश्रयविशेषः, तत्र एकवृत्तिता एकतानत्वम् । सुमनोभिः प्रसूनैरिव ॥ ७ ॥
लज्जया द्रवता द्रव्यरूपतां गच्छता ॥ ८ ॥ निजनेतुः स्वहस्तिपकस्य ॥ ९ ॥ पुरातनं पूर्वजैरनुष्ठितम् । क्रमं
परिपाटीम् ॥ १० ॥ करिणा हस्तिना ॥ ११ ॥ स्वयमेव । भवानेव । आत्मवान् वशीकृतेन्द्रियः ॥ १२ ॥
जात्यन्धः स्वभावान्धः । विषा अन्तःकरणेन ॥ १३ ॥ मदादयः—'कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा
मदः । षडमो रिपवः प्रोक्ताः शरीरस्था हि देहिनाम् ॥' । शास्ति अनुकूलतया विदधाति ॥ १४ ॥
परिभूतिभयात् परामवसाच्छासात् । अपास्य परित्वय्य । अपसरन्ति अपगच्छन्ति ॥ १५ ॥ शठता
मदान्धता । अवबोहिता अवगणिता । दुःसहः अवधीर्यितुमशक्यः ॥ १६ ॥ वृत्तः अवरुद्धः । सत्वरैः
सवेगैः । चरैः गूढपुर्वैः ॥ १७ ॥ आत्मसात्कृतः स्वीकृतः । मत्तं सकाशान् । अपेक्षारहितेन निर्भयेन
॥ १८ ॥ अजजनः नीतेतरनभिजः ॥ १९ ॥ अर्पय प्रयच्छ । मतङ्गजं सामग्रम् ॥ २० ॥ प्रसादितः प्रसन्नतां
नीतः ॥ २१ ॥ जिगीषुतां जेतुमिच्छताम् । प्रणश्यसि विनश्यसि ॥ २२ ॥ अतिलङ्घनम् अतिक्रमः ।

वाक्येन वचनप्रतीत्या । पयोऽपि जलमपि । गोरसः क्षीरम् ॥ २३ ॥ अकैतवताम् [अकैतवाम्] अविद्यताम् ।
 प्रिया इष्टा प्रिया भार्या यस्य सः ॥ २४ ॥ आक्षिपन् आक्षेपविषयां कुर्वन् । कटाक्षितः अक्षया भाषितः ।
 उदाहरत् बभाषे ॥ २५ ॥ विनयप्रशमौ एकं भूषणं यस्य—वचसः तत्, पक्षे विगतं नयप्रशमैरुभूषणं यस्य
 तत् । परमवचासौ न्यायवच तस्य समर्थने पुष्टिदाने उद्यतमुक्तं, पक्षे परं केवलमन्यायस्य अनौतेः समर्थनोद्य-
 तम् । उपक्रमेत प्रारभेत ॥ २६ ॥ परा उत्कटा चासौ मेधा च उद्यमश्च योग्यता च तथा सहितैः, पक्षे परं
 केवलम् एषांति काष्ठानि तेषां निक्षेपणे उद्यमयोग्यता (तथा) सहितैः । स्तवभूतिः स्तुतिसंपत्, पक्षे तव
 भवतः प्रभोर्मन्दिरं भूतिर्मम ॥ २७ ॥ विशिष्टनयेषु एका रतिर्यस्य सः, पक्षे विनष्टा नयैकरतिर्यस्य (सः) ।
 महान् गुणो यस्य, पक्षे महान्गुणो यस्य सः । उचितम् इति काकुबचनं, पक्षे योग्यमेव ॥ २८ ॥ अक्षया
 तितिक्षा ॥ २९ ॥ निजं स्वभुजपराक्रमसाधितमारभोयम् । अक्रमः अयोग्यता ॥ ३० ॥ क्रमसंप्रकाशनैः अनु-
 क्रमोद्योतनैः ॥ ३१ ॥ कृतपुण्यं प्राक्पुण्यपुष्टम् । अपास्यते हठाद् गृह्यते ॥ ३२ ॥ 'अथवा' इलोक्तिप्राधान्यात्
 इति चेत् भयदशिवचः किमभिघटते वदसि अभिघटते भवानिति वा पाठः ॥ ३३ ॥ अभियोक्तुं योद्धुं सन्मुखी-
 कर्तुम् ॥ ३४ ॥ अधिकक्रमता अत्युल्लङ्घनता । लिलङ्घिषोः लङ्घितुमिच्छोः ॥ ३५ ॥ प्रविधितुः कर्तु-
 मिच्छुः । अतिक्रमम् उल्लङ्घनम् ॥ ३६ ॥ विबोधनां विनिवृत्ताम् ॥ ३७ ॥ अभियुज्य अभिकण्डूय । अभि-
 युक्तः कटाक्षितः । संप्रभुषितः प्रेरितः ॥ ३८ ॥ क्षयवान् प्रक्षीणबलः । व्यसनी विरोधापदगतः । दैववि-
 वजितः शत्रुजये भाग्यरहितः ॥ ३९ ॥ क्षुद्रजने स्वभाषती दुर्जने ॥ ४० ॥ साक्ष्याः संख्या गृहीतुं शक्याः
 पु [पू] श्याः सामन्ता मरा यस्य स तम् ॥ ४१ ॥ न्यगदीत् अगाद ॥ ४२ ॥ अविधेयविधि अप्राञ्जल-
 दैवः ॥ ४३ ॥ निमित्तं शकुनादि ॥ ४४ ॥ निजविक्रमः स्वगृहमान्यपराक्रमः ॥ ४५ ॥ उदेतुं सम्मुखं
 गन्तुम् । शरभस्य अष्टापदस्य ॥ ४६ ॥ अधमेन स्वतो न्युनेन ॥ ४७ ॥ परिवारितः वेष्टितः ।
 हतबुद्धिः मतिभ्रष्टः ॥ ४८ ॥ स्तव्यवतः कठिनस्य । यथा—'स्तव्यमुत्सन्नति किं न दूरतः पादपं तटस्थं
 नदीरयः । वेनसः प्रणमनाद् विवर्तते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥' ॥ ४९ ॥ बहुसत्त्वयुतौ प्रचुर-
 प्राणयुक्तौ । स्थिराशयो स्थिरस्य तोयस्य भाजनभूतौ ॥ ५० ॥ प्रियवाचपरेषु इष्टवाक्यवादिषु । कुमटेषु
 अष्टुरणेषु (?) ॥ ५१ ॥ प्रवने संग्रामे ॥ ५२ ॥ अमोषितं हृद्यम् ॥ ५३ ॥ मुक्तमस्त्ररः त्यक्ताभिमानः
 ॥ ५४ ॥ असौ पचनामः । अनुवादिनः जल्पितजल्पिनः ॥ ५५ ॥ उदतिष्ठत् उत्तस्थौ । प्रविसृजिता अखिल-
 सम्या येन सः ॥ ५६ ॥ समं युगपत् ॥ ५७ ॥ अवभासयते प्रकाशयते ॥ ५८ ॥ कौशलैः चातुर्यप्रयोगैः
 ॥ ५९ ॥ अभिजाप्रति सावधाना भवन्ति ॥ ६० ॥ यदमुडान् मदेन हिताहितापरिजानिनः ॥ ६१ ॥ पुरस्कृतः
 संस्कृतः ॥ ६२ ॥ आहितश्रुतिभिः दत्तश्रवणैः । शठेन पिशुनेन ॥ ६३ ॥ पश्यं कठोरम् । उपपन्नज् अनुगच्छत्
 ॥ ६४ ॥ उदयन् उदगच्छन्, उत्पद्यमान एवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ प्रकृष्यते परिवर्द्धते । आसर्बन्दिः सर्वज्ञपर्यन्तम्
 ॥ ६६ ॥ पुरुभूतिर्नाम मन्त्रो । पुरुभूतिः गरिष्ठसंपत् ॥ ६७ ॥ ऋद्धेः संपत्तेः ॥ ६८ ॥ लिप्तधोः शक्तिमतिः ।
 परिजिह्वेति लज्जति (ते) ॥ ६९ ॥ अलक्षवेदिनः अमर्मज्ञस्य ॥ ७० ॥ अनुशिष्यः अनुजल्प्यः ॥ ७१ ॥
 जिगीषुणा जेतुमिच्छुना ॥ ७२ ॥ शबरेण अिल्लेन । हरिः सिंहः ॥ ७३ ॥ नीतिवतिना नयमार्गस्थितानाम्
 ॥ ७४ ॥ विघटेत विनश्येत ॥ ७५ ॥ उत्तमूलं प्रज्वलितमङ्गारम् । कृच्छ्रं कष्टम् ॥ ७६ ॥ प्रथमः मुख्यः
 ॥ ७७ ॥ प्रत्युत विपरीतम् ॥ ७८ ॥ साम शान्तिनामा नयः । 'सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ।'
 ॥ ७९ ॥ प्रभूदोषघातं गरिष्ठदोषघणम् । पयोमुखः मेधाः ॥ ८० ॥ उपप्रदानतः संप्रदानात् । भेदतः भेदव्यात्
 ॥ ८१ ॥ सामुप्यं सेष्यम् ॥ ८२ ॥ पशुः जनडवान् ॥ ८३ ॥ अनिरूपितकृत्यया असंदिशितकार्यया ॥ ८४ ॥
 क्षरः कठोरः । अविभाध्या असंभावनीया प्रकृतिः स्वभावो यस्य ॥ ८५ ॥ क्रमते संचरते । श्रावणि शीले ॥ ८६ ॥
 उद्यन्ति अल्पन्ति । नासादवरकरहितः ॥ ८७ ॥ सपनीयवत् स्वर्णवत् ॥ ८८ ॥ विप्रकृष्यते दूरतयोराधते (?)
 ॥ ८९ ॥ पादसंगमं, गमस्तिंसंगमम् । अतिगमं चन्द्रस्य ॥ ९० ॥ कृपणस्य कदर्यस्य—परमुखावलोकितः
 ॥ ९१ ॥ असारतां रिक्तताम् । निनदन् संग्रगर्जन् ॥ ९२ ॥ परिभूतिजीवितः अपमानश्राणश्राकः ॥ ९३ ॥

मृगराजवेविता जनिमानरूपिणी ॥ ९४ ॥ अथगात् अवजानातिस्म । अयुनोति नीतिरहितम् ॥ ९५ ॥ क्षीणबलः सर्वगतकटकः, इति बलव्यपेक्षा । सुहृद्व्यसनं विरुद्धं प्रत्येति कालव्यपेक्षा ॥ ९६ ॥ अभिवाप्तुम् अभियोद्धुम् । प्रभवेत् अववान् स्यात् ॥ ९७ ॥ अवभूतिर्नाम मन्त्री ॥ ९८ ॥ प्रतिशब्दः भाषितमाषि (क) णम् ॥ ९९ ॥ असमुज्जितान्वायां वंशानुकृपा । बृहस्पतिः सुरगुरुः ॥ १०० ॥ गहने दुष्प्रवेश्ये ॥ १०१ ॥ रभसा करणं वेगेन विधानम् । कर्मणां कार्यव्यापारणाम् ॥ १०२ ॥ विभेदकं भेदजनकम् ॥ १०३ ॥ युक्तराणमतं दण्डोऽस्तु । समयः शास्त्रशाक्यम् । षण्णा गुणानां भावः वाङ्मन्यम् । 'सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रवाः पञ्चगुणाः ।' ॥ १०४ ॥ रिपोः शत्रोः सर्वस्व रहस्यम् ॥ १०५ ॥ कृतकप्रयितैः कपटरचितैः । समवाये भवाः सामवायिकाः-सम्या ॥ १०६ ॥ भोमरयस्म नाम्नो मित्रस्य । रंहसा वेगेन ॥ १०७ ॥ व्यसने द्वन्द्वे ॥ १०८ ॥ वनात्स्ये क्षरदि ॥ १०९ ॥ समरं सग्रामम् । प्रहोयता प्रेष्यताम् । द्वयाश्रितैः उभयनयाश्रितैः ॥ ११० ॥ अनलसमितिः सोद्यमबुद्धिः ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्जिकायां द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपान् के के न ययुः शास्त्रवारिधेः ।

यतः पारं स वः पायाद् विपटिचम्य उज्जनादयः ॥

निरयमत् निर्जयाम् । जियोषया जेतुमिच्छया । प्रशमितमपसारितं प्रकृतोनामष्टादशप्रजानां व्यसनं परेणोपप्रवजननं येन । जिन् (गी) पुणा किल स्वदेव्य त्यक्त्वा परदेवे तत्सन्धो वा योद्धु गन्तव्यमिति ॥ १ ॥ आतपवारणं छत्रम् ॥ २ ॥ जलदबीधि० नभो विशालं विपुलम् । उत्पन्नचन्द्रारैकैः ॥ ३ ॥ प्रमुनया विस्तृतया । क्षरिजरागमणिः पथरागमणि ॥ ४ ॥ परस्परमन्योऽन्यं व्यतिकरेणानुप्रवेशेनोल्लसितोद्गतामलरोचिषो निर्मल-दीप्तयो यस्य सः ॥ ५ ॥ परिमनति तिरस्कुरुते । मण्डलिकान् राज्ञो मण्डलाकारोपेताश्च । अङ्गदे बलये ॥ ६ ॥ शिखिगलाकुतिना मयूरकण्ठनीलाकारेण । रगनाश्रमना कटिमेलनानीलरत्नानाम् ॥ ७ ॥ गुरुणा मन्त्रिणा मते पर्वालोचनेऽभिरतममलं निर्व्यसन मानसं स्वागतं यस्य० गुरुर्बृहस्पतेरिति० इव ॥ ८ ॥ सुरङ्गमै शीघ्रगामिषोटकैः ॥ ९ ॥ सरगिमिरस्ववार्यैर्यत्नेन प्रयासेन निरुद्धो महावेगो येया ते तैः । हरिमिः घोटकैः ॥ १० ॥ निजोजसा स्वरंहमा । अनिलः वायु ॥ ११ ॥ निरवधिप्रमृते, अमर्यादं विस्तृतैः । बलैः कटकैः । बृंहिते वृद्धि गते ॥ १२ ॥ प्रवितन्वते विस्तारयन्ति । विकसद्रत्नकम्बलैः ॥ १३ ॥ डिण्डिमः जयघ्वनिवादित्रम् । घ्वनितं घ्वनितम् । विवर्जिता व्यापरिता ॥ १४ ॥ हे गजाः ! वः मुष्मान् (कं) बलदन्तिना शिबिर-गजानाम् । मधुलिङ्गणा. भ्रमरकुलानि ॥ १५ ॥ जगृहिरे परिमुञ्चरे । घातनामनेकार्थः ॥ १६ ॥ प्रज्वलिभिः वेगिमि । विषमोक्ते स्वपुटीकृते । रणकडयया रथव्रजेन ॥ १७ ॥ अपरस्य मण्डलिनः । शीबरीः वस्त्रखण्डे । अन्तरितं गूढम् ॥ १८ ॥ विषम्युमिर्वातुम् (वतुम्) इच्छामिः । मधुव्रतानां कुलं भ्रमरसमूह-स्तेनाकुलं (ल.) व्यग्रं (प्रः) कपोलं (लः) येषां ते, तैः ॥ १९ ॥ बलमरेण शिबिरप्रभारेण । मण्ड-लानि चक्राणि ॥ २० ॥ मटगणाः शम्भुनिकरा ॥ २१ ॥ परिहितं परिधानीकृतमायसकञ्चुकं लोहसन्ना-हस्तेन मेचकं इयामलम् । पदातिक्रमवर्क पत्तिसमूहः । तिमिरशत्रु सूर्यः । तामसं ध्वान्तम् ॥ २२ ॥ वंशो वेणुः, अन्यथश्च । मुष्टिगता हस्ततलस्थिता, मोनस्थिता च । गुण. मोर्वी, कुलबधूगुणाः-‘अभ्युत्थान-मुपायते गृहपतो संभाषणे नम्रता, सत्यावाहितदृष्टिरासनविषो स्मेरा सपत्नीष्वपि । [सुप्ते तत्र शयोत-तप्रथमतो अङ्गाच्च शय्यामिति प्राण्यै. पुत्रि निवेदितः कुलबधूषिद्धान्तघर्मागमः ॥]’ ॥ २३ ॥ अवरोधपुरग्रयः अन्तःपुरसुचरिणाः । अ (आ) चिररोचिषो विद्युल्लतोद्भवा ॥ २४ ॥ पटभेदनं पतनम् । निरतैः निवृत्तं सावधानैः ॥ २५ ॥ परिचिते अवलोकिते । रमणीयं सुन्दरम् । अपोहित उज्जति ॥ २६ ॥ अवरोचिका

विलासिनो । गलदम्बरं प्रस्जलद्वयम् ॥ २७ ॥ मयः करमः ॥ २८ ॥ वृषैः बलीबर्देः ॥ २९ ॥ बल्लव०
गोपालकामिन्या ॥ ३० ॥ वैवर्षिकीः भारवाहिभिः ॥ ३१ ॥ पोतः प्रवहणम् ॥ ३२ ॥ सरमसैः सवेगैः ।
प्रतिपालयताम् अन्येषयताम् ॥ ३३ ॥ तुङ्गतरङ्गाः, उच्चैरखाः । आह्वयना आकारयि (य)ता । प्रतिनिःस्वनीः
प्रतिशब्दैः ॥ ३४ ॥ एषितया समुद्रया ॥ ३५ ॥ शिरोधरा कन्धरा । व्यधित अकृतं (त) ॥ ३७ ॥ मधु-
पायिनां भ्रमराणाम् । बहुमतीव्यतिं राजानम् ॥ ३८ ॥ शारदयाप्रया शरत्कालगमनेन ॥ ३९ ॥ हृदयहृत्तो (?)
वयांसि पञ्जिणो यासु ताः, पक्षे वयः प्रथमयौवनम् । अम्बरं वननं, वस्त्रं च । पयोधराः मेघाः स्तनाश्च ॥ ४० ॥
गोष्ठमहत्तरैः गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि ॥ ४१ ॥ असहाम् असमर्थांम् । शुकानां कीराणाम्
॥ ४२ ॥ बृहन्तः (त्यः) स्थूलाश्च ते (ताः) अलाबुकास्तुम्बकाश्च बृहदलाबुकास्तेषां (तासां)
गौरवेण भारेण बान्धना मनिम्नाम् (निम्नाम्) । वृत्तिं बाधिम ॥ ४३ ॥ समोहिताम् अभिलषिताम् ।
सज्जनगोचरा । सज्जनाः किल फलसंपदं प्राप्य नम्रा भवन्ति ॥ ४४ ॥ अवजानतीम् आवरमकुर्वाणाम् ।
कैतवं छप ॥ ४५ ॥ शशिकराङ्कुरवत् निर्गमवत् (?) निर्मला गावो भूमयो गोमण्डलानि वा येषु
ते तान्, पक्षे गावो बाधो मेघा ब्रह्मानां ते । सीमा बहिर्भूमिविशेषः, मर्यादा गाम्भीर्यं च ॥ ४६ ॥
कोकं चक्रशकम् ॥ ४७ ॥ मणिकन्दनि मन्था (न्ध) न शब्दः । मुजङ्गद्विषा मयूराणाम् ॥ ४८ ॥
कुरङ्गकुलं मृगयूथम् ॥ ४९ ॥ 'रात्रहंशस्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः ।' ॥ ५० ॥ गौः दृष्टिः
॥ ५१ ॥ अवहितधृति सावधानं यथा भवति तथा ॥ ५२ ॥ कृषवाहिनीं 'कुषः स्यात्करिकम्बला' बाहिनीं
नदीम् ॥ ५३ ॥ घनाघनाः मेघाः ॥ ५४ ॥ समवगाढवता सज्जताम् । कटतटात् कपोलमूलात् ॥ ५५ ॥
पतता पक्षिणाम् ॥ ५६ ॥ सततायनो वायुस्तस्य वर्त्म गगनम् । प्रतिमया प्रतिच्छायाया ॥ ५७ ॥ अम्बुचराणा
मेघानामध्वनि मार्गे विहायसि ॥ ५८ ॥ अंशुमदंशुषु प्रच्छादितसूर्यकरासु । नभःसदा खेचराणाम् ॥ ५९ ॥
उपरिजितवारिभिः संस्कृतजलैः ॥ ६० ॥ बारणानां गजानाम् ॥ ६१ ॥ अम्बुवाहबीभीम् अन्तरिक्षम् ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रग्रसकाव्यपञ्जिकायां त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपस्यास्य किं वर्ण्यन्ते वचोऽशवः ।

बहुशोऽस्तानि भग्यानामज्ञानतिमिराणि यैः ॥

मणिकूटं नाम पर्वतम् । उच्चैर्दृषदं स्थूलोपलम् । तद्विस्वतां विद्युत्सहितानाम् ॥ १ ॥ कटैः [कटकैः]
नितम्बैः । अद्वितीयाम् अनन्यसंभावितोम् । चूडामणि शिरोरत्नम् ॥ २ ॥ किङ्किणीनां शुद्धचण्डिकानाम् ॥ ३ ॥
तपान्तः मेघकालः तस्य लम्बोः शोभा ॥ ४ ॥ गगनेचराणां नभःसदा ॥ ५ ॥ सविः सूर्यस्य ॥ ६ ॥
प्रभावत तपसा दीप्यमानस्य । प्रभावतः माहात्म्यात् । नरः पुमान् । गतः प्राप्तः । रोगतः व्याधेः ॥ ७ ॥
नितम्बः कटकः । खचराः बिद्याधराः ॥ ८ ॥ इन्दुमणि० चन्द्रकान्तमणिप्रणालात् । ख [सि] नवोद्भिदाः
॥ ९ ॥ अनाशं० निःशङ्कमतयः । कान्तैः प्रभुभिः । कान्ताः कामिन्यः ॥ १० ॥ घना निबिडा अवयाने
नीयमाने । भतायमाने मेघकल्पे । कमनीयमात्रं सुन्दरत्वम् । देहविधा कायकान्तिः । सुराणां देवानाम् ।
विभासुराणां वेदीप्यमानानाम् । अचिरादुद्देश्या विद्युत्तुल्या ॥ ११ ॥ पतङ्गोपलः सूर्यकान्तपायाणः । अपार-
यन्धः अशक्नुबन्धः । द्विषन्ति निदन्ति । तुरङ्गवक्त्राः किन्नर्यः ॥ १२ ॥ श्रावतले पापाणोपरि । जलोक्ततः
शोतो विहतः । तपेऽपि शीष्मेऽपि । पतङ्गः सूर्यः ॥ १३ ॥ श्रमापौढः श्रमापनयनम् । प्रत्युपकर्तुं कामैः प्रत्युप-
करणाभिलाषिभिः ॥ १४ ॥ कान्तैः मनोहरैः । विविधाः बहुविधाः । प्रकृदैः प्ररोहतां गतैः । शास्त्रिभिः वृद्धैः ।
विरोहितैः प्रच्छादित इतो रवि येन सः ॥ १५ ॥ मधु पुष्परसः । समुन्नयन्तः उत्पादयन्तः । भृङ्गाः भ्रमराः
॥ १६ ॥ धनव्यान० मेघनवाहसदृशम् । यत्सानुपतं यच्छिखरस्थितम् । वितृष्णं विमनस्कम् ॥ १७ ॥ व्येयहिमे

चिन्तयतीति । अयमपि यत् जलवन्त्रयुक्तेषु । सिद्धाः देवविशेषाः ॥ १८ ॥ निस्तमसो विरस्तान्धकारी । समुत्कः
सहृद्यः । समुत्कः उत्कण्ठः (सुतरामुत्कण्ठितः) । चमून्मा सेनापतिना । अगतो लोकस्य एकोऽद्वितीयः पाली
रक्षकः । जगदे बभाषे । कपाली ईश्वरः ॥ १९ ॥ निषेव्यविवरः संसेव्यकन्दरः । वरः श्रेष्ठः । निर्भरः जल-
प्रवाहः । सहस्रान्तिमिर्गजैश्चमरैः सुरभिभिश्च यः । अमरैः देवैश्च हित उपरद्धो माघवीनां लतानां मण्डपो यत्र
सः । विकासीनि विक्स्वराणि कमलानि पङ्कजानि यत्र । अमलोपलानां निर्मलपाषाणानां बिचित्राभिभिभि-
मसुरैः । नयः पर्वतः । ईक्षितः अवलोकितः ॥ २० ॥ पाण्डुरः विशदः । सैकतां सिकतामयीं । रजसा परागेण ।
एकतां मिश्रताम् । सरसां सजलाम् । अलंकृतदिशां विभूषितककुभाम् । सरसां सरोवरणाम् ॥ २१ ॥ सानु-
भाजः प्रसवस्थितस्य । संप्रसर्पन् अभिगच्छन् ॥ २२ ॥ महोरुहाः वृक्षाः । विरहिताः उज्जिताः । सुरजनैः
देवलोकेः । विकलाः रहिताः । अम्बुहहैः कमलैः ॥ २३ ॥ कन्दरागोचरैः दरोषु स्थितैः । सुगन्ध- (निव-)
निर्मलवस्त्रैः । अवसितसुरैः सेवितकामैः । मारुतः वायुः ॥ २४ ॥ निकुरम्बं कदम्बकम् । स्थलपुण्डरीकखण्डैः
स्थलकमलवनैः । विकासशालिभिः प्रकाशशोभमानैः । द्यौ गगनम् । उचितानि योग्यानि रुचितानि वा
कान्तिमन्तीनि अनेकानि प्रचुराणि सलाञ्छनेन्दुबिम्बानि यस्याम् ॥ २५ ॥ रतिषु मैथुनेषु ॥ २६ ॥
गत्स्तरव्यपगमात् उपायान्तरमाभावात् । पिदधत् आच्छादयत् । अघोवस्त्रापहारिणाम् । अधिगृहं गृहासु मध्ये
॥ २७ ॥ बिम्बिताः पुष्पगुच्छैः पुष्पस्तवकीनिचिताः संभूता व्रततयो वल्लभ्यो यासु, विद्युल्लतानुसरणसमर्थ-
कान्तिषु । काञ्चनम् सुवर्णतटोषु । धिषणा भ्रान्तिमतिम् । नीलदलपुष्पहारविषयां नीलोत्पलविस्तारगोचराम्
॥ २८ ॥ मेचक [असित] रत्नानि श्यामरत्नानि । परितः इतस्ततः । मेचकतिविषयः श्यामलितकान्तयः ।
धारद्वयाः धारमेधा ॥ २९ ॥ मानोन्मादस्य व्यपनयेऽपसारणे चतुरा प्रोढाः । घटितसुव्रतस्य योजिताङ्गनाः
॥ ३० ॥ गजितनितम्बभूतलम् । तारम् उच्चैः । अन्ते समीपे । प्रियाणा भर्तृणाम् । आदूतैः आदरयुक्तैः ।
हेममही सुवर्णभूमिः । नभोगैः गगनचारिभिः । अहीनभोगैः अधिकसुखिभिः ॥ ३१ ॥ यातुः [यातः]
गच्छमानस्य । प्रविष्टं बिम्बितम् । रत्नभूमौ । वन्यः वने प्रबो वन्यः । पोतः अर्भकः । लोत्सेन अतिगुह्यथा
॥ ३२ ॥ मुनिधनः मुनिभिर्मयिभिर्भिन्नो निबिडः । अथाना पापाना मोदने स्फोटने सहः समर्थः । हस्तिचमरैः
सहितः । अमरोचिततट देवयोग्यनितम्बः-मेरुसंनिभः । अम्बरसदा द्युसदाम् । अञ्जिता पुष्टिं गता विभ्रा
दीतिर्यस्य ॥ ३३ ॥ नीलोपलाः श्यामद्वयः । सान्द्रोक्तं घनीकृतम् । क्रोडाः रमणप्रच्छादितपात्राः । तासां
युवतीनां श्वासो मुखवायुः तस्य संनेन सुरभिः सुगन्ध (निव) । विवृणोति विस्फटयति ॥ ३४ ॥
कुसुमितवानीरालीः पुष्पितवानीराणां वेतसांविषोपाणामालीस्तलीः । 'शोतवानीरवञ्जुला' इत्यमरः ।
आलीनालीः उपविष्टभ्रमराः । वायुवेगचलितप्रान्ताः । तान्ताः दूताः । धर्मैः आतपैः । अविश्रुतमूल-
पातीः अनवरततटोद्धर्षकः । प्रसृतः विस्तृतः । नद्या नीरोधो जलसमूहः ॥ ३५ ॥ घातो (ति) नां चतुर्णां
कर्मणां निर्मथनेन नाशकरणेन लब्धं प्राप्तं केवलं ज्ञानातिशयो यैस्ते । परिनिविद्यासव मोक्तुमिच्छवः । समबलत्वं
समानत्वम् ॥ ३६ ॥ शिखरे स्थितानां मणिशिलानाम् । शालिना वृक्षाणां शालानामन्तरालमध्यैः । प्रसृताः
व्यापृता रविकरा येषु । उल्लसन् प्रकाशमानो यो रोचिषा दीप्तोनामोषः समूहः । तडितः विद्युतः । अनुकृतिम्
अनुकरणं करोति तडितः । शङ्कित आरेकितोऽभोदकालो जलदसमयो यैस्ते । मदयितुम् उत्कोचयितुम् (?) ।
अलं समर्थः । नीलकण्ठान् मयूरान् ॥ ३७ ॥ तटकृता तटस्थाः । अतिमहतीषु प्रोचामासु । कुसुमस्तवकः पुष्प-
गुच्छः ॥ ३८ ॥ निकरैः समूहैः । रक्षां दीप्तोनाम् । तिमिरसंचातस्य नाशकरैः । अमिर्तैः प्रचुरैः । विद्यत्
गगनम् । अपारम् अमर्यादम् । इतैः प्रातैः । विह्रितैः मूच्छितैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरतां [मणीनां] रुचयो
दीप्तयो यत्र । इह पर्वतः । रजनिषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य यथा ॥ ३९ ॥ निष्क्रान्तैः निःसृतैः । शिखर-
चद्यात् कूटसमूहात् । निरन्तरालैः सान्द्रैः । आलीढा आलिङ्गिताः । सरसिजरागाः पदपरागमयस्तेषां
किरणसमूहैः । श्रोमतां दीप्यमानत्वं लक्ष्मीमत्त्वं वा । इषति धारयन्ति । नीरक्तैः निविशतमहर्णः । वसनेः
वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गाः भूषितावयवाः ॥ ४० ॥ एकवर्णम् एकादृशम् (?) । अप्रतिवार्यवीर्यः अनिवार्य-
पराक्रमः । उदीर्णं उद्गमनविणोदी ॥ ४१ ॥ राज्ञीः दीपोः । उचितप्रमेण उत्पन्नलोकेन । पुतनायाः सेनायाः
विनिवेशस्य अवस्थितेः स्थानम् ॥ ४२ ॥ उपाहितभूतिशोभाः स्वीकृतप्रचुराकाशयोः । प्रियाणां कमनीय-

कामिनीनाम् । शिशिरैतररदिमः सूर्यः ॥ ४३ ॥ द्वीधीयसीः दोषंतराः । अवरिलं सान्द्रम् । पटमयापणानां
हृद्गानां रात्रिभिः श्रेणिभिस्ताताः (श्रेणिभिः बोधितान्ताः) । परस्परव्यतिकरोपेताः । वीथीः आपणपङ्क्तिः
॥ ४४ ॥ अमुम्यत् वृक्षोम ॥ ४५ ॥ राजाधिराजवसतेः पणनाभमहोद्यानिवासस्य । मन्दुरायाः वाजिशालायाः ।
पण्याङ्गनापरिवदः बैद्यसभायाः । विपणिः पण्यदोषिका । पयोऽकलम्य विचार्य ॥ ४६ ॥ पक्वितान्
पूर्वमनुभूतान् । अनुपालयन्तः उपासयन्तः । वास्तव्यवत् स्वनिवासे यथा ॥ ४७ ॥ उरुपरिश्रमेण स्निग्धे स्नेहं
प्राप्ते जङ्घे यस्य । पर्युहितुं वितर्कितुम् । स्ववर्गे भवः स्ववर्ग्यः तस्य व्याहारे^१ उक्तेनादे शब्दे दत्तकर्णः
॥ ४८ ॥ तत्कालोनपाकेन विस्तृतम् । इट्टुरिकादिपरिमलम् । अत्रायत ज्ञानम् ॥ ४९ ॥ शिथिलं मन्दं मण्डं
यथा भवति । अच्छाच्छम् अत्यन्तनिर्मलम् । श्रमवये अपनोदे चतुरः ॥ ५० ॥ उत्तोरः अपसारितः पल्लव-
नस्य भूरिभारो येषां ते । भुवि वेत्लनाय लोठ (लुण्ठ) नाय । 'आवर्तस्त्वभ्रसां भ्रमः' शिबिराम्बु-
राशिः कटकजलजः । ॥ ५१ ॥ संपूर्णता प्रतिनादमुत्पादयता ॥ ५२ ॥ सतिनिकरे षोटकसमूहे ।
सललाशयानाम् अगाधजलानां हृदानाम् । कलोलनिकरैः ॥ ५३ ॥ सवेमिरे संयमिताः परिवद्धाः । शिमो-
लपासु प्रसारितदूर्वासु । वाजिशालासु । कर्तव्यं महता कष्टेन ॥ ५४ ॥ दोषावगाहकलितैः प्रस्थितैः ।
नीलदेहेः श्यामतनुभिः । उत्सारितः दूरीकृतः । अद्रिकूटैः पर्वतशिखरैः ॥ ५५ ॥ पुष्कराणि करिहस्ताप्राणि ।
उदभीमिलत् प्रकाशयत् ॥ ५६ ॥ अनुकृताभ्याचलानां तुङ्गशृङ्गाणि यैः । रुचिरावयवैः मनोहरगर्भैः ॥ ५७ ॥
भूभृत्सरिसु पर्वतनदीषु । गण्डस्थलेभ्यः कपोलमूलेभ्यः प्रविगलन् प्रच्योतमानश्चासौ मदपूरश्च तेन
पूर्णम् । उर्जितोर्ध्वं उत्तीर्णुं (उत्तर्णुं) मिच्छोः ॥ ५८ ॥ जितकाशिना शुभ्रा गजाः । सलोलं लीलायुक्तम् ।
मदेन मण्डं मण्डं यथा भवति । करेणुपाश्चात्यभागः हस्तिनीपृष्ठतलम्^२ ॥ ५९ ॥ बन्धेभानां वनगजानां गण-
कषणं कपोलोद्धरणं तस्मात् स्वीकृतदानपरिमले । नियमनाय नियन्त्रणाय । निधन्ता हृष्टपक्षेन । अपदेऽपि
अस्थानेऽपि ॥ ६० ॥ श्यामलमेघसदृशैः । प्रविशालवंशैः विस्तीर्णपृष्ठभागैः । मागैः गजैः ॥ ६१ ॥
वचये ग्रासप्रोत्यै । प्रत्युत पुनरेवाहिता उत्पादिता वनस्मृतिः स्मरणं येन तत् । सावज्ञम् अनावरसहितम्
॥ ६२ ॥ महोक्षाः अनङ्गाहः । अमच्छेदकानाम् । कूलानि रोधासि । खलः पिण्याको दुर्जगद्वच ॥ ६३ ॥
शितिशृङ्गा वृक्षाणाम् । बभूवे तस्ये । अलसमोलितनेत्रयुगलैः ॥ ६४ ॥ विच्छिन्नं प्रच्छादितकर्णमुखकारि-
स्वका [क] लीकम् । 'काकलो तु कले सूदमे' इत्ययः । मयानाम् उष्ट्राणाम् ॥ ६५ ॥ क्षुब्धेतरातिशृङ्गां
महद्वृक्षाणाम् । करमै उष्ट्रैः । प्रबालजाले विद्रुमसमूहे । भृशायतशिरोशिभिः उद्धतकन्धरैः । अस्यमाने
प्रस्थमाने । शीरापदेशः शीरव्याजेन प्रमदाधुजलम् । महता किल स्वसंपदि परार्थायां प्रमोदः स्यात्
॥ ६६ ॥ चन्द्राकारं स्कन्धावारं सैन्यम् । अमलानि मलरहितानि डिण्डीराणांमविकफानां पिण्डानि यत्र
सः । पयोधिः । चञ्चलतो वाचमाना वाजिप्रजाः समूहा यत्र तज्जयो । अवरितमनवरतमुद्भ्रान्ता कलोलमाला
यत्र । सर्पन्तश्चङ्कममाणाम् मत्तद्विषा यत्र तत् तज्जयो । अभिसरन्नकवकः अभिगच्छद्ग्राहसमूहः । अपारः
पारवर्जितः ॥ ६७ ॥ निविष्टसैन्यम् आस्थापितशिबिरम् । अन्तिके निकटे ॥ ६८ ॥ बलं सैन्यम् । विभावरी
रात्रिः । प्रकुलन (न) क्षत्रेक्षणम् । तारकाक्षः कनोनिता इत्युक्तिलेखः ॥ ६९ ॥ तस्या विभावरीयां ।
श्रुतपरबलं (लः) आकण्ठितायातशत्रुसैन्यः । भाविसंग्रामवर्चसम् आगामिसमरगोष्ठम् । विशिष्टम् ई श्रौं^३
(श्रियम्) ईरते इति वीरः ॥ ७० ॥ भुवनमवनं अगदुहं तत्र प्रदीयोभूतं प्रकाशकरं बिम्बं यस्य सः ।
नियत्या घात्रा उदपविहृष्टामस्तामिषाम् । मुकुलितं मीलितकृशतारानयना । आलोचन्ती विरहमिव
शोचयन्ती ॥ ७१ ॥

इति चन्द्रप्रकाशपञ्जिकायां चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

श्रीमत्पार्श्विकचक्रवर्धितपदं सिद्धान्तसत्त्वोचये-
मध्योन्मज्जनलब्धदृष्टिपणसद्वृत्तरत्नत्रयम् ।
स्थाद्वादास्तसमस्तशिष्यहृदयध्वान्तं स्वसंवेदन-
ज्ञानज्ञाननिजं श्रुतादिकमुनिं वन्दे जनोद्बोधकम् ॥

अथ आनन्तर्ये भूभूता पर्वतानां राज्ञा च । कटका. नितम्बाः सेन्यानि च । संनाहार्यं पटहाना इवनि. ॥ १ ॥
तस्मिन् ध्वनौ पताकिनो सेना ॥ २ ॥ मदोद्धताकारे. प्रोम्पत्तावयवे । 'चक्षुषो द्वे कपोलौ च पाणिपात्राभि-
मेहनाः । अष्टौ स्थानानि नागाना मदस्य स्मृतिहेतवः ॥ ३ ॥' आनशिरै पूरितानि । पुलकोद्गमैः रोमाञ्चैः
॥ ४ ॥ उपचक्रमे प्रारब्धम् । समरे संग्रामे । समरेष्वर्कं चतुरश्रम् । हृष्यति पुलकिते । तनुच्छदं कङ्कटकम् ।
अपयसिम् अनोप्यस्तम् । ना पुमान् कश्चित् । नामुञ्चत् शरीरे न त्यक्तवान् । पुनरमुञ्चत् त्यक्तवान् । पुनः
वारं वारम् ॥ ६ ॥ लघुभूतं स्तोकोभूतम् । स्वकरस्पर्शात् स्वस्तसंस्पर्शात् ॥ ७ ॥ वीररसे विद्यमानेऽपि
कान्तां दृष्ट्वा शृङ्गाररसेन द्विगुणोभूतं । अन्तर्दधे अन्तर्हिता ॥ ८ ॥ रिपुरोषेणास्त्रोभूता या छविः तया
छुरितं कर्तुरितकवचैः ॥ ९ ॥ बहुभयानकगभीराया । भूः भूमि । इमे. गजैः । अवशि ताडिता । इरायाः
सुरायाः । 'इरा भूवाकसुराण्यु स्यात्' इत्यमरः । सद्दशमदैः । अत्र मद्यसदृशे दाने भूमौ पतितं स्वमेव प्रतिबिम्बं
दृष्ट्वा पूर्वदृष्टस्य प्रतिगम्य श्रुतेरवधारणाद् भूरेवाविवि ॥ १० ॥ अनिष्टया चलतया ॥ ११ ॥ व्यवायेन
व्यवधानभूतेन । अयलक्ष्म्याः परिवृज्जमहं विदधे । व्यवायैमयं करोतीति वा हेतो ॥ १२ ॥ भोमरयो नाम
नृपतिः ॥ १३ ॥ भोमरयस्यापत्यं भोमरयि. ॥ १४ ॥ कुतोत्सर्गं विहितसंप्रदानः ॥ १५ ॥ स. चतुर ।
सञ्चकार संमानयामास । कुलकम् ॥ १८ ॥ विशेषज्ञः । कार्यविपश्चित् । तस्मात् तदोद्यमेव ॥ १९ ॥ सेना
बाहिनी । सह इनेन प्रभुणा वर्तते इति सेना । यतो प्रयत्ने मच्छमाना । बद्धराजिः कृतभेणिः । आजिसमुत्सुका
संयामोत्कण्ठा । चक्राणि च ह्यवश्च खङ्गाश्च अस्त्राणि च तं सागं स्थिरा । सा सेना अरातिषाध्वम भियं
चको विदधे ॥ २० ॥ महामात्रैः प्रधानैः । सज्जोक्त सावधानोक्तम् । पुरोधसा रोपितास्त्रं मन्त्रपूततया
धृतास्त्रम् । अभिशङ्गु शत्रुसन्मुखम् ॥ २१ ॥ रथिना रथास्त्रेण । अनुससे अनुजग्मे ॥ २२ ॥ रणविग्रहं
(रणविग्रह-) नामानम् । पूर्णं सूर्यम् ॥ २३ ॥ दीप्यमानार्घ्यशस्त्रमूलम् ॥ २४ ॥ हृस्वस्यस्त्रशङ्कादतिलक्षण-
बलसहिताः ॥ २५ ॥ व्यक्तेयश्रमाणा ॥ २६ ॥ स्वनं कृतवती ॥ २७ ॥ परीयाय प्रदक्षिणं कृतवान् ।
'लोभा कास भर्जनकुल. सञ्जरोटक' । एतेषा दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥' प्रदक्षिणं दक्षिणा
विद्यमाना (श्रि) तय काको मृदु वाक्ने [ववाक्षे] शब्दितवान् ॥ २८ ॥ सुधुवे श्रुतम् [सुधुवे श्रुतम्]
॥ २९ ॥ इष्टैः मनोऽभिलषितैः । इष्टार्थो जयस्तस्य सूचकैः ॥ ३० ॥ सराजकनृपतिः [सराजक] क्षत्रिय-
गणसहितः । अमपत्तिं रोषात् ॥ ३१ ॥ अक्षिबम् अकल्याणकरम् ॥ ३२ ॥ आर्तं रुदितस्य स्वरं शब्दम्
॥ ३३ ॥ सम्मुखवाराम् । हस्तिवर्षणम् ॥ ३४ ॥ संघट्ट. तुमुलम् ॥ ३५ ॥ त्वरान् शोचनेवान् ॥ ३६ ॥
मदोत्सेकेन मद्यसिञ्चनेन । बलान्ती गस्त्रश्रमं कुर्वती ॥ ३७ ॥ 'हेया ह्येषा च निस्वनः' इत्यमरः । कूज-
स्पट्ठे ॥ ३८ ॥ अरिः कश्चिच्छत्रुः । किंविशिष्टः । रैरोराः रायं ब्रूयं राति ददातीति रैरो घनदस्त्रदुरो
हृदयं यस्यासौ रैरोराः—घनवत् त्यागकरणे विपुलमनाः । रैरैरैरो रायं रातीति रैरो घनदाता स चासौ
रैरश्च घनदश्च रैरैरै. घनव्ययकर्ता घनदः तमोरयति परिभवतीति रैरैरैरो । स्वदातुत्वेन घनदातुर्घनद-
स्यापि जेता, परिभवकर्तृत्वार्थः । पुनरपि किंविशिष्टोऽरिः । रोहः शब्दयन् स्वमाहात्म्यं (तस्य-) सूचक
इत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टः । उरुरुः ऊरु च ऊरु च स्थूलस्फुली ऊरु जड्वे यस्य स उरुरुः दृढजानु-
रित्यर्थः । स च (चा) रेः शत्रोः सन्मुखम् । अरीरैः अराश्चक्राङ्गानि विद्यन्ते येषां ताभ्यरीणि चक्राणि
तेषामीरैः क्षेपैः चक्रक्षेपैरित्यर्थः । कथम् । अरम् अतिशयेन । आर दुर्बोके । किंविशिष्टस्यारैः । रोरैः

स्वमाहात्म्यं शब्दयतः । 'ह शब्दे' धातो रु—प्रत्ययः । उणादिकः । पुनः किंविशिष्टस्थारेः ।
 उरुक्षरोः स्थूलस्थूलोरोः स्वसद्वृशङ्गस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । उरोः गरिष्ठस्य जनप्रसिद्धस्येत्यर्थः ।
 एकाक्षरः ॥ ३९ ॥ कथा स्वर्धा । बाह्यास्त आकारयति स्म ॥ ४० ॥ अस्थास्त्रिभिः अक्षरैः । केतुं मोक्षेना-
 दातुम् ॥ ४१ ॥ अरिशरजालं शत्रुबाणसमूहम् ॥ ४२ ॥ निजाश्च ते ह्यधो बाणाश्च ० । नात्रासिधुः न
 ज्ञातवन्तः ॥ ४३ ॥ स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ४४ ॥ समुद्रा सहर्षेण । येन शत्रुणा । यः शत्रुजितः । तेन
 जितेनापि । सः शत्रुः । अस्त्रसमुदायेन शस्त्रसमूहेन योजितः ॥ ४५ ॥ ततः इमकुम्भकुम्भात् ॥ ४६ ॥ भूरि-
 तापाः प्रचुरसंतापकराः । रणाशयाः समराभिप्रायाः । भूतैः देवभेदैः । युद्धभूः संप्रामभूमिः । इता प्राप्ता ।
 पारणाशया भोजनाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ बाणघो मस्त्रे ॥ ४८ ॥ धीरधीरारिरुधिरैः धीराश्च धीराश्च धीर-
 धीराः निष्कम्पाः ते च तेऽरयश्च अन्योन्यशत्रवस्तेषां रुधिराणि तैः । उरुधाराधरैः उरवश्च ते धाराधरा
 मेवाश्च, अथवा गरिष्ठधारया पतमाने । अरम् अतिशयेन । धराधरा पर्वतास्ते आधारीऽवध्मो यस्याः सा ।
 अथ प्रदेष्टेऽधरा धरा निम्ना निम्ना धरा भूमिस्तै रुधे पुरिता आपृता इत्यर्थः । द्रव्यरचित्रम् ॥ ४९ ॥
 जजिरे जाताः । प्रगुञ्जघ्ननादा प्रगुञ्जच्छब्दाः । नदाः द्रवाः । आसन् जाताः । मूलं मूलतश्छिन्नाः । मकराः
 जलजीवाः । कराः क्षुण्डादण्डानि (अण्डा) ॥ ५० ॥ अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम् ॥ ५१ ॥ केन पतता मस्तेकेन ।
 तत्रयुः प्रस्ताः । आलोकं दृष्टिगोचरताम् । गतेन प्राप्तेन । मृतकसंबन्धिना । के प्रसिद्धाः । तत्र आजौ ।
 सुरा देवाः । स्वम् आत्मीयम् । लोक देवलाकम् । त्यक्त्वा । कोनुकं द्रष्टुमागताः ॥ ५२ ॥ कबन्धेः अन्-
 मूर्द्धकलेवरैः ॥ ५३ ॥ निरन्तरनिपातिना साग्नवर्षिणामिपूर्णां बाणानां जालैः समूहैः ॥ ५४ ॥ रणरङ्गभू-
 समरोत्साहभूमिः ॥ ५५ ॥ स्वामिनामा प्रभुशब्दवाच्यः । ना पुमान् । येनैकोऽपि न जितः । तस्य नृता पुरुषत्वं
 न बभूव । स्वामिना प्रभुणा च । अनृता असत्या । मानना मान्यत्वम् । न कृता ॥ ५६ ॥ धोरः निष्कम्पः
 ॥ ५७ ॥ प्रजह्नुः युयुधुः ॥ ५८ ॥ प्रति- पति- सादिताः पदातिभिर्मरिताः ॥ ५९ ॥ रणाङ्गणम् ॥ ६० ॥
 मङ्गं पलायनम् । उत्तस्थौ दुर्गोके ॥ ६१ ॥ कुच्छे कृ [क] ष्टे ॥ ६२ ॥ संप्रभं भङ्गम् । न पूर्वं दृष्टं
 कैश्चित्पुद्गलपूर्वम् ॥ ६३ ॥ रणे युद्धे ॥ ६४ ॥ कोदण्डेन धनुषा दारुणो भीष्मः ॥ ६५ ॥ शत्रुकुलं युष्म-
 ॥ ६६ ॥ कटाक्षयामास अभिमर्से (से) ॥ ६७ ॥ 'सुमुलं रणसंकुले' । इत्यमरः ॥ ६८ ॥ हुतभुक्षिखम्
 अग्निज्वालम् । रोषा इषवः ॥ ६९ ॥ आरात्र शब्दविशेषः । 'मत्ते शोण्डोःकटसीबाः' । इत्यमरः । मेघच्छ-
 न्नाहः ॥ ७० ॥ रन्ध्रम् अवसरम् । शशिशेखरः पृथ्वीपालसेनानीः ॥ ७१ ॥ शक्या आयुषविशेषेण ॥ ७२ ॥
 प्रभो पृथ्वीपालस्य । पुर अग्रे । केतुनामाः केतुप्रह्वविशेषः ॥ ७३ ॥ स्फुरदहंकारबृहद्विषः ॥ ७४ ॥ केतो
 भग्ने पलायिते । सुकेतुनाम्न (म्ना) ॥ ७५ ॥ शतशः । बहुलशब्दम् ॥ ७६ ॥ छिन्नपत्रं भग्नबाहुम् ।
 विरोचन इव सूर्यो यथा ॥ ७७ ॥ विमुखं वृत्तपृष्ठम् ॥ ७८ ॥ दुषुवे प्रकम्पितम् । समुद्गो दपितमनसा ॥ ७९ ॥
 अभिशत्रुपताकिनीं शत्रुसैन्यसन्मुखम् ॥ ८० ॥ अरिबाहिनीं शत्रुसेनाम् ॥ ८१ ॥ प्रत्यवतस्थे स्थगितः ॥ ८२ ॥
 विस्मितामराः आश्चर्यं गतदेवाः (?) ॥ ८३ ॥ नूनं निश्चितम् । अमूर्तमेव ॥ ८४ ॥ नाजोगणत् न ज्ञातवतो
 ॥ ८५ ॥ शङ्कुजा [ना] आयुधविशेषः (विशेषेण) ॥ ८६ ॥ प्रतोषते अवलम्बते । दशनच्छदम् उष्टम्
 (ओष्ठम्) ॥ ८७ ॥ गाढः दृढः ॥ ८८ ॥ प्रतीच्छन् लभमानः ॥ ८९ ॥ समुत्तेजितं त्वरितम् ॥ ९० ॥
 समापतन्तं समागच्छन्तम् ॥ ९१ ॥ प्रहृत्य चिरकालं युद्धम् ॥ ९२ ॥ बबले व्यापुडितः । माहोरथे महोरथ-
 संबन्धिनि ॥ ९३ ॥ कोलाहलः कलकलः ॥ ९४ ॥ धृतं गृहीतं दिव्यं मन्त्रात्मकं शरासनं धनुर्मेन ॥ ९५ ॥
 संभूय एकीभूय । राजकं सन्निभयणः ॥ ९६ ॥ 'असकौ चस्मरोऽधरः' । इत्यभिधानात् ॥ ९७ ॥ बाह्वितर्यं
 व्यापारितस्थन्दनम् ॥ ९८ ॥ प्रहृतुं धातं कर्तुम् ॥ ९९ ॥ नः अस्मान् । असद्वृशसंप्रामम् ॥ १०० ॥ शत्रुषु
 शक्ता मयश्च ॥ १०१ ॥ धनुर्ध्या मोर्वाम् । आस्पृशन् टङ्कारयन् ॥ १०२ ॥ आपलसूचनैः दुषचरित्रप्रकाशनैः

१. व 'निम्ना' इति नोपलभ्यते । २. व 'वृता' । ३. व द्रवाः । ४. अ 'न्धिनाः' । ५. व 'देव-
 लोकम्' इति नास्ति । ६. न दृष्टनागता । ७. अ 'तस्थे' । ८. व 'युष्म' इति नास्ति । ९. व 'तुर्नामा' ।
 १०. अ सुकेतुना नाम्ना । ११. व शतत् ।

॥ १०३ ॥ अघमैः न्यग्भिः ॥ १०४ ॥ दुर्नयैः दुरभिप्रायैः ॥ १०५ ॥ न लब्धयो मोक्षो मुञ्चनं संधानं च येषां ते, तान् ॥ १०६ ॥ अविच्छिन्नैः निरन्तरैः ॥ १०७ ॥ प्रजह्नुः प्रहारं चक्रतुः ॥ १०८ ॥ समशेत संदिवेह ॥ १०९ ॥ दग्धे जीवन् गृहीतः ॥ ११० ॥ अन्तिकम् उपकण्ठम् ॥ १११ ॥ विजिग्ये जितवान् ॥ ११२ ॥ भग्नमनोरथाः गतमनोऽभिप्रायाः ॥ ११३ ॥ करालीकृतै विषमोक्तै लोचनै सेन सः ॥ ११४ ॥ असाधारणैः लोकोत्तरैः ॥ ११५ ॥ न मनुष्यस्यैव बलं यस्य सः—अश्वमसामर्थ्यः ॥ ११६ ॥ अवज्ञा शिविलम्बम् ॥ ११७ ॥ दयितां बल्लभाम् ॥ ११८ ॥ असाधारणपराक्रमौ ॥ ११९ ॥ महाहवम् अधिकसंग्रामम् ॥ १२० ॥ दिगा-भोगाः दिग्मण्डलानि ॥ १२१ ॥ निष्कम्पनयनम् ॥ १२२ ॥ दृष्टं दण्डितयोर्दोहं (-दोर्दपं-) प्रगल्भयोश्च ॥ १२३ ॥ लुलाव चिच्छेद ॥ १२४ ॥ प्रयातेन खेदेन विवर्जितो रहितः ॥ १२५ ॥ गुरुः जनकः ॥ १२६ ॥ सुवर्णमालाया अपत्यम् ॥ १२७ ॥ बन्ध्या निरर्थं (-यि-) काम् ॥ १२८ ॥ कणोक्त. चूर्णी बिहिदः ॥ १२९ ॥ चिच्छेद द्विधा व्यधात् ॥ १३० ॥ स्पृशन् आस्फालयन् ॥ १३१ ॥ शि (शः) बोभूतान् प्रेत्यमावं गतान् ॥ १३२ ॥ निर्ववं वैराग्यम् ॥ १३३ ॥ कुलटया दुश्चरित्रया ॥ १३४ ॥ जागति कटाक्षते ॥ १३५ ॥ अवज्ञाय अनादरीकृत्य ॥ शिष्ये आश्रितः ॥ अमणश्रियं मुनिभावम् ॥ १४७ ॥ एकादश श्लोकाः सुगमाः ॥ शिक्षासमयतां ज्ञानग्रहणयोग्यताम् ॥ १४८ ॥ बृंह्यामास प्रवृद्धं चकार ॥ १४९ ॥ तनुः कृशः ॥ अतन्द्रिणा आलस्योच्छिस्तस्य ॥ १५० ॥ इति वक्ष्यमाणानि ॥ १५१ ॥ शङ्कादिरहिता ॥ अधिकः संपन्नता ॥ १५२ ॥ अतिचारविपर्ययः शीलव्रतेष्वतिचारः ॥ १५३ ॥ उपचानादिपूर्वकः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः ॥ १५४ ॥ अगूढ-सामर्थ्यं वीर्यमनतिक्रम्य ॥ १५५ ॥ समुद्रमः करणम् ॥ १५६ ॥ भेदेषु रहस्यज्ञेषु ॥ १५७ ॥ अवश्य-कार्याणाम् आवश्यकक्रियाणाम् ॥ १५८ ॥ दर्शनवात्सल्यं प्रबचनवत्सलत्वम् ॥ १५९ ॥ व्रतनिग्रमैः पूर्णः ॥ १६० ॥ दुष्करणबोधतपासि आराधनाचतुष्टयम् ॥ अपावुः विरजः (जाः) ॥ १६१ ॥ त्रयस्त्रिंशत्शत-गरामुः ॥ १६२ ॥

इति चन्द्रप्रमथाव्यपञ्जिकायां पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

पोडशः सर्गः

यो बुध्वा सर्वशास्त्राभ्युधिमनुगतरस्वान्तसंश्रितिगाढ-

ध्वान्तःखंसं विधाय प्रमिसिनयसुधापूरपुतैः स्ववाक्यैः ।

चक्रेऽत्यन्तं प्रबुद्धान् सुरजनसहितान् शिष्यद्वर्गान् श्रुतादि-

भूपात् सोऽयं मुनिर्नो दग्धवगमचरित्रादिहेतुर्धर्तरीशः ॥ १ ॥

सरोजखण्डैः कमलवनैः । परितः इतस्ततः ॥ १ ॥ असहा असमर्थाः । विदग्धाः चतुरा गोप्यः क्षेत्र-रक्षिकाः ॥ २ ॥ आरवः शब्दविशेषः । सरसरसामूर्तं स्वादुरसपोयूषम् ॥ ३ ॥ सच्छायाः सतो प्रशस्ता छाया येषां ते, पक्षे सत्सु छाया कान्तियेभ्यस्ते ॥ ४ ॥ नीरग्ध्रैः निरन्तरैः । सुरकुशः उत्कृष्टभोगभूमिः । अवग्रहः अन्तरायाः ॥ ५ ॥ मुखरैः बाचालैः । त्रिदशपुरी अमरावती ॥ ६ ॥ कराग्रैः हस्ताग्रैः । पवनपथस्य गगनस्य । गोमुरं पुरदारम् ॥ ७ ॥ काबाद्रि० नीलपर्वतसदृशः ॥ ८ ॥ विद्योगी बोना पक्षिणा योगः संगतियस्य, नाभ्यः कश्चिद् विभोगवान् । बिलमानोतीति, विशालपरिदेवनशब्दयुक्तो न । विगतो रसो विरसस्तस्य भावो वैरस्यम् । कलियुक्तता न च । गदया शस्त्रभेदेनाभिधातः, गदेन व्याधिना न ॥ ९ ॥ नागानां गजानां सर्पाणां च । उरु गरिष्ठं विपुलं च । शाक्यमाना सीगताणाम् ॥ १० ॥ महादिसेनः महासेनः ॥ ११ ॥ कल्याणं शुभं तत्स्वभावेन स्वर्णं च । मेरुम् ॥ १२ ॥ प्रलयपराकृतं (त) व्यबस्यः । अश्वमोक्षेर्व्यवस्था स्थितिः प्रलयेन पराकृता, अस्थ न ॥ १३ ॥ राजविद्या आत्मवीक्षिक्यादिः ॥ १४ ॥ विशेषकस्य तिलकस्य । इत्या [-तिव] अनेनेव प्रकारेणैव । गुरुत्वं पितृत्वम् ॥ १५ ॥ पुण्येयोः^१ कामस्य । परमेस्वरौ माय्या ॥ १६ ॥ वंशोऽन्वयः, वेणुश्च ॥ १७ ॥

१. ज *रथकम् । २. व *जति । ३. व पुण्येयोः ।

बर्षोऽक्षरादिः, स्तुतिपद्य ॥ १८ ॥ मन्दत्वं गमने मन्दता, मूर्खत्वं च ॥ १९ ॥ पारे । आत्मना स्वयम् ॥ २० ॥
 सार्वभौमं चक्रिणम् ॥ २१ ॥ मदनफलैः घृत्तरीजैः ॥ २२ ॥ मन्दोद्यमं सिधिलसाहसम् । स्वातन्त्र्यं स्वाधी-
 नत्वम् । अभिमूर्त्ये तिरस्काराय ॥ २३ ॥ व्युत्थामं प्रतिरोधवृत्तिम् । निशम्य आकर्ष्य । प्रतस्थे प्रस्थानं चक्रे
 ॥ २४ ॥ धृतं निजितधन्या । स्वधारव्यं स्वेन वेधम् । विधधत् ददत् । उपायं प्राभूतोऽकुतमजे ॥ २५ ॥
 प्रोद्गमं प्रोत्कटाश्च ते द्विरदा इतिनपद्य तेषां रदानां दन्तान् (-नां) प्रमेदात् प्रहाराद् निर्याता, भ्रमाश्च ते
 योपाश्च तेषामसृताप्लुतं रथचक्रस्य चक्रबालं मण्डलं यत्र । बलयम् अङ्गुदादि ॥ २६ ॥ शिलोमुं भ्रमराय-
 मानम् (णम्) । व्ययुहक व्ययविषयमकृत ॥ २७ ॥ उद्गान् उद्गटान् । अधिराशुषोमान् विद्युस्सदृशान् ।
 मरुदनुकारकारि पवनप्रचण्डम् ॥ २८ ॥ क्षितितलपालिनः भूमिपतेः । बलोपः सेनाप्रवाहः । प्रोत्सातं समूल-
 मुत्पाटितं द्विषदवनोरुहाणा शत्रुराजां (-राजानां) प्रतिरोधिवृक्षाणां^१ च प्रतानं संततिर्येन सः । जज्ञे
 आतः । संगमामः संगमसदृश ॥ २९ ॥ विदीर्णां प्रस्फुटिता । ते प्रसिद्धाः । अनुवेलं बेलं कल्लोलम् अनु
 ॥ ३० ॥ प्रहरणम् आयुधम् । शुचि निर्मलम् । अन्तर्वर्णं वनमध्ये । कषकोलं^२ चन्दनफलम् । वल्लुः
 जगज्जुः ॥ ३१ ॥ जयककुदं जयचिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्तिनयाम् ।'
 इत्यभिधानात् । निखानयांबभूव निखान । नाकं स्वर्गम् । आरुक्षोः षट्पुमिच्छोः ॥ ३२ ॥
 यियासोः गन्तुमिच्छोः । सैकते । सिकतामयीः । उडुवर्त्मं गगनम् ॥ ३३ ॥ अन्ध्रोणाम् अन्धप्रदेश-
 स्त्रोणाम् । गण्डमितिः कपोलतलम् ॥ ३४ ॥ व्यपगतधामसु प्रतापप्रकाशरहितेषु । मनोपलेषु
 सूर्यकान्तेषु ॥ ३५ ॥ उपयुक्ततोयाः पीतपोयूषाः । स्रोतोभिः प्रवाहैः । प्रवृद्धैः प्रवृरैः ॥ ३६ ॥ सैवैः कण्ठ-
 भूषाभिः । अकृपत आकृष्टाः ॥ ३७ ॥ पण्यस्त्रीमिव गणिकां यथा । अगर्भो दक्षिणा दिशम् । संसर्पता प्रसर-
 ता । अकटाक्षि भोक्तुम्प्रेक्षिता ॥ ३८ ॥ प्रतिहतशक्तिः निःशामर्थ्यः । अपसारसंज्ञा साररहितनामा ॥ ३९ ॥
 पयोधराग्रं स्तनाग्रम् । लाटीये लाटदेशोद्भववरसंबन्धिनि ॥ ४० ॥ विपक्षाणां कथं पर्ज, वनं च । उवलितुं
 संतपितुम् ॥ ४१ ॥ पारसीकान् पारसीकदेशोद्भवान् । वैतस्या वैतसवन्नप्रया । वृत्त्या वर्तनेन । विनीय
 विनवान् विधाय । आदित गृहीतवान् ॥ ४२ ॥ अनुकारि (णी) सदृश । करेण भागधेयेन हस्तेन च
 ॥ ४३ ॥ संरम्भात् क्रोधोद्रेकात् । अभिपततः संमुखमागच्छमानान् । जलगजान् । निहत्य । मुक्तान् मुक्ता-
 फलानि (?) । उदलम्भवत् प्रलम्बधामास ॥ ४४ ॥ कुबेरगुप्तम् उदोचोम् ॥ ४५ ॥ तिम्राशोः सूर्यस्यापि ।
 व्यालेपसर्पं कलहकालम् ॥ ४६ ॥ अनन्तस्य भाव आनन्दस्य । स्वस्थानन्दस्य । 'अनन्त उत्तरापधः' इति
 लोकोक्तिः ॥ ४७ ॥ शीकरीधैः हस्तिनोज्ज्वलणसमूहैः ॥ ४८ ॥ हृत्वापि गृहीत्वापि । अमोगवृद्धं भोगं
 विना चिरतरमंचितम् । टषकानाम् उत्तरदेशोद्भवानां भिल्लानाम् ॥ ४९ ॥ भूमिर्मुसु राजसु भूधरेषु च ।
 वज्रोभूय निनिशिको भूत्वा, वयं पविद्व अजनिष्ट चकोरेत्पथः ॥ ५० ॥ लक्षाः लक्षदेशोद्भवा एव । मशकाः
 देशभेदाः । मशबेषु किल धूमो ध्वंसकः ॥ ५१ ॥ गुग्ग्राव शृणोति स्म ॥ ५२ ॥ हस्तमर्दिताः बलिमर्दिताश्च
 ॥ ५३ ॥ वसनं वस्त्रं [तद-] युगादि^३ । यथावथ यथायोग्यम् ॥ ५४ ॥ प्रागेव वण्मासानिति संबन्धः ।
 अहिद्रिषा इन्द्रेण ॥ ५५ ॥ कर्तव्यं कार्यविशेषम् । व्यधिषत चक्रः ॥ ५६ ॥ कल्याणाङ्गो भद्राङ्गो ॥ ५७ ॥
 शैलेन्द्राभं विजयाद्वन्तुयम् । रेकमाणं शब्दवन्तम् (नदन्तम्) ॥ ५८ ॥ शीतमान् बन्धम् ॥ ५९ ॥ सिहव्यूढं
 सिंहोद्भूतम् ॥ ६० ॥ धूमकेतुं बह्निम् ॥ ६१ ॥ कल्याणं मङ्गलम् । सफलज्ञा स्वप्नकालावगमनशीला
 ॥ ६२ ॥ उदार उत्कट (टी) दुर्लङ्घ्यो लङ्घ्युमसवयः ॥ ६३ ॥ हे पुत्र सुलोचने ॥ ६४ ॥ पाथोनाद्यात्
 समुद्रात् ॥ ६५ ॥ वक्ष्यति अस्मोकिरिष्यति ॥ ६६ ॥ दयितात् वल्लभात् ॥ ६७ ॥ अनुत्तरवैजयन्तनाम-
 बिमानात् ॥ ६८ ॥ शोषः श्याकुलत्वम् । आटोपेन संभ्रमेण ॥ ६९ ॥ तन्वतोभिः विस्तारयन्तोभिः ॥ ७० ॥

इति चन्द्रप्रमकाव्यपञ्चिकायां पौष्ठः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

सदादिनयमासुरैरघहैरैशेषप्रियैचोमिरिह सप्तमङ्गविषयिनेयात्मनाम् ।

प्रगाथायति हृत्समः करुणया रविर्वा परं श्रुतादिमुनिरन्वहं मुनिवरः स नः स्तान्मुने ।।

इन्द्रमिच्छन्ता दिदृक्षुः । प्रसूतिसमयेन पीथे मासे कृष्णदशम्या अवगमे एकादशी तिथिमाप्य ।
अजीजनत् जनयाचकार ॥ १ ॥ प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः । सुरभयन् सुगन्धोर्बुन् ॥ २ ॥ वृन्दं समूहः ।
दिविर्भवैर्दिव्यैः । बद्धमण्डलैः कृतवेष्टनैः ॥ ३ ॥ रेणुः शब्दं चक्रुः । अकरहति कराताहिता यथा भवन्ति ।
गजारयः सिंहाः ॥ ४ ॥ जलदवत् मेघवत् पटु सुन्दरं यथा भवति तथा । प्रतिभ्वति कुर्वाणाः ॥ ५ ॥
समसमयम् एकवारं युगपत् । प्रतस्थिरे प्रस्थानं विदधिरै ॥ ६ ॥ किरणाना निकुरम्बं कदम्बकं तेन रञ्जिता
रागवत्यः ॥ ७ ॥ व्यनक्ति प्रकाशयति । तिरोहितः व्यबहितः ॥ ८ ॥ अमरालयात् स्वर्गात् । नृपगृहं यावत्
॥ ९ ॥ सवासवः इन्द्रसहितः ॥ १० ॥ जनितः यथाजातरूपसदृशम् । अर्भकं बालम् । उज्जहार उद्धृतवती
॥ ११ ॥ मासुरं द्यौप्यमानम् । अशीतरुचि सूर्यम् ॥ १२ ॥ सुरैश्चतुनिकायैर्देवैर्वृष्टिरे वृष्टिं नीते । तं बालम्
॥ १३ ॥ अन्तगताः समीपस्थाः । अब्दः दर्पणः ॥ १४ ॥ मुखरं बाबालम् । समुपतस्थिरे जमिरे ॥ १५ ॥
नेदुः शम्भिताः । मेरिकाः पटहाः ॥ १६ ॥ पेटकं वृन्दैः । दिगन्तरसहितम् ॥ १७ ॥ विनिहितानि आरोपि-
तानि । सुराद्रिवत्सं मेरुमार्गं ॥ १८ ॥ उरुणि गरिष्ठानि । रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि यत्र सः
॥ १९ ॥ कृतविततं (ति) विहितमालाम् । अमलनरम् अतिनिर्मलं दुग्धं क्षीरार्णवः तस्य जलकुटैः ॥ २० ॥
ललितानि सुखव्याप्यानि वृत्तानि । निक्षिता तीक्ष्णा ॥ २१ ॥ शैलोक्ष्णालकारम् ॥ २२ ॥ आह्वयन् आह्वाननं नाम
चक्रुः ॥ २३ ॥ प्रथमरूपपतिः सौधमैन्द्रः । इतरैः ईशानादिभिर्बानवैरन्वितः सहितः ॥ २४ ॥ अकलङ्कं
कलङ्करहितम् ॥ २५ ॥ कार्ष्णिः कार्याकाक्षिणः ॥ २६ ॥ हरिविष्टरस्थितः सिंहासनस्यम् ॥ २७ ॥ नौस्थितं
(तः) प्रवहणमाश्रितः ॥ २८ ॥ अविचलितभक्ति स्थिरमनस्कतया दृढभक्तिः ॥ २९ ॥ अभयम् । अपह्नाय
त्यक्त्वा ॥ ३० ॥ विससा स्वभावेन ॥ ३१ ॥ कुतो गुणवान् ॥ ३२ ॥ आपदः ऐहिका आमुत्रिकादिव
॥ ३३ ॥ भवदङ्घ्रिपङ्कजहस्तेन पदरुमलोपासनम् ॥ ३४ ॥ उपलब्धचरो पूर्व नोपलब्धः । निर्यपेक्षा
निःकारणा ॥ ३५ ॥ अभिगम्य प्राप्य । प्रसाधिका अलंकरणम् ॥ ३६ ॥ भाक्तिकाः भक्तिकरणशीला
॥ ३७ ॥ अस्य असुभूतः । हृदयं मनः । न लोयते न लीनं स्यात् ॥ ३८ ॥ बाग्मिना वचनवाटवयुक्तानाम्
॥ ३९ ॥ सिद्धं नृतिकुतं फलं यस्य स तेन ॥ ४० ॥ प्रणृत्य (स) स्तुत्यम् ॥ ४१ ॥ विनिवेद्य पुनरुत्सवादि-
ना निगद्य ॥ ४२ ॥ योजितामृतं (ता) न्यस्तपीयूष (पाम्) ॥ ४३ ॥ अनुवासरम् अनुदिनम् ॥ ४४ ॥
अरोरमत् रमयाचकार ॥ ४५ ॥ प्रतिबुद्धबुद्धि विचारचतुरमति ॥ ४६ ॥ मन्दनिहितचरण मन्दारोपितपदः
॥ ४७ ॥ अविबुद्धमूल्यः अज्ञातमूल्यः स्वभावः ॥ ४८ ॥ प्रजिषाय आददौ (ददौ) ॥ ४९ ॥ अनयत्
अप्रापयत् ॥ ५० ॥ नृपतिपट्टबन्धनं राज्याभिषेकम् ॥ ५१ ॥ अनुरोधतः अनुग्रहात् ॥ ५२ ॥ अभिनन्द
अहर्षं वषट्ठे वा ॥ ५३ ॥ जनाकुलता व्यपताम् ॥ ५४ ॥ समोरणः वायु । कर्णकटुककठोरशब्दभोष्मः
॥ ५५ ॥ ईतिभिः सप्तभिः । अतिवृष्टिरनावृष्टिमूषकाः शलभा शुका । स्त्रवक्रं परचक्रं च सतता ईतयः
स्मृताः । ॥ ५६ ॥ उपायनेः प्राप्तैः ॥ ५७ ॥ विमज्ज विभार्गं कृत्वा ॥ ५८ ॥ प्रतिवासरम् अनुदिनम्
॥ ५९ ॥ यथाभिमतं यथेष्टम् ॥ ६० ॥ कोऽपि बृद्धः ॥ ६१ ॥ कृपणं कदर्यम् ॥ ६२ ॥ जगदीश त्रिलोकोपते
॥ ६३ ॥ तिरोहितवपुः विलीनकायः ॥ ६४ ॥ सम्पन्नमावहता वचनेन ॥ ६५ ॥ विकारेण कृतो दृढविग्रहः
शरीरं येन ॥ ६६ ॥ इति वक्ष्यमाणम् ॥ ६७ ॥ अनुगतं विनदवरम् ॥ ६८ ॥ अविगतमतिः सततमतिः
॥ ६९ ॥ विविधरचनानि विविधाकाराणि ॥ ७० ॥ तानि कर्मणि ॥ ७१ ॥ जगदन्तिकामराः सो (लो)
कान्तिका दवाः ॥ ७२ ॥ अमरपतिः इन्द्रः ॥ ७३ ॥ प्रवितीर्य दत्त्वा । अवदातचरितः निमलाचरणः
अभिहितसिद्धनुतिः 'नमः सिद्धेभ्यः' इत्युच्चरितसिद्धस्तवः ॥ ७४ ॥ अपाकुतान् उत्पाटितान् ॥ ७५ ॥ उत्सवं

महविशेषातिशयम् । क्षोभितं पुण्यातिशयेन प्रचालितम् ॥ ७६ ॥ पञ्चादश्वर्षप्रभृतौनि । रत्नपुष्पगन्धोदक-
वृष्टयः सुरभिर्मनुषवनो देबदुन्दुभिष्वेति ॥ ७७ ॥ चतुरा ईर्यासमित्यादिभिः सहिता गतिर्यस्य ॥ ७८ ॥
असहन्त अशक्नुत । घृत्या संतोषेण भमितम् । पन्निणः रोपाः ॥ ७९ ॥ अपहस्तमितुं निराकर्तुम् ॥ ८० ॥
तनुतरत्वं स्वफलदानासमर्पणम् । अतनु प्रचुरम् ॥ ८१ ॥ नागवृक्षतले । अनुलम् असदृशम् ॥ ८२ ॥ तस्मिन्
केवलोत्पत्तिसमये । समवसरणं सभाविशेषः ॥ ८३ ॥ घूलोश्वालः पञ्चवर्णमणिचूर्णप्राकारः । बलयः अङ्गदः ।
अन्तरस्थाः मध्यस्थाः । विकचकमलानि व्याकोशाम्बुजानि ॥ ८४ ॥ विशाला विस्तीर्णा । विरचितान्या-
गमोक्तशोभयालंकृतानि चतुर्गोपुराणि यस्य । उभयतः इतस्तत उभयपार्श्वे ॥ ८५ ॥ अर्चाः प्रतिमाः ।
यागवृक्षाः चैत्यवृक्षाः । मणिमयतटैः मणिनिर्मितभित्तिभिः । लतामण्डपैः बल्लोर्गृहैः भ्राजमानाः शोभमानाः
॥ ८६ ॥ केतुपङ्क्तिः द्वयजमाला । विचित्रा मालामृगेन्द्रादिमानाविधा । हेमशालः स्वर्णप्राकारः ॥ ८७ ॥
पराणि परार्घ्यानि (णि) । सभामण्डपाः सभागृहाणि ॥ ८८ ॥ अच्छस्कटिकः शुद्धस्कटिकः । अन्ते मध्ये ।
अनुपमम् अनन्यसदृशम् ॥ ८९ ॥ स्फुरिता दीप्यमानाः । भासुररत्नाना रश्मयः किरणा यत्र । बोधः
अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनं च सहचरितत्वात् ॥ ९० ॥ उदयं पुण्यप्रादुर्भावमाकाशन्ते इति उदयाकाक्षिण ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

सम्यग्ज्ञानसुधाप्रवाहनिचयैर्वेहेह शिष्यव्रजो-
धौताज्ञानरजश्च य शुभमतिर्वाग्मी कृतः सद्गुणैः ।
स्यात्तिष्ठ्यादिनयप्ररूपणपरैः स श्रीधृतादिर्मुनिः
संभूयान् प्रशमाय सयतपतिर्बोधप्रकर्षाय नः ॥

सर्वभाषास्वभावेन बोध्यजीवानुभाषानुकारिलक्षणं ध्वनिना अनश्वरात्मकभाषातिशयेन ॥ १ ॥ शासने
मते ॥ २ ॥ पृथक्त्वपक्षे भिन्नोच्चारणे ॥ ३ ॥ अवस्थानजनननाशलक्षणलक्षणः ॥ ४ ॥ भवितुं योग्यो
मध्यस्तद्विलक्षणोऽभयः, शुद्धचशुद्धिभेदात् । यथा—‘शुद्धचशुद्धी पुनः शक्ते ते पाषयापाकयशक्तिवत् । साध-
नादी तयोर्व्यक्तौ स्वभावोऽनुक्तगोचरः ॥’ ५ ॥ प्रथमाया भूमौ उत्प्रेषः ७ धनु० ३ ह० ६ अं० । अन्ये
इन्द्रके तत्तश्च द्वितीयाया अन्ये द्विगुणः—१५ धनु० २ ह० १२ अं० । तृतीयेऽन्ये ३१ धनु० १ ह० । चतुर्थेऽ
न्ये ६२ धनु० २ ह० । पञ्चमेऽन्ये १२५ धनु० । षष्ठेऽन्ये २५० धनु० । सप्तमे ५०० धनु० ॥ ९, १० ॥
प्रथमेऽन्ये सागरैकमायुः (एक सागरोपममायुः) । सा० १, सा० ३, सा० ७, सा० १०, सा० १७, सा०
२२, सा० ३३ । प्रथमे पटले १०००० जवन्यमायुः । प्रथमे पटले १०००० जवन्यमायुः । प्रथमे नरके
यदुक्तं सागरैकम् (एक सागरोपमम्) आयुः, तद्वितीये जवन्यम् । शेषं सुगमम् ॥ ११, १२ ॥ २२ (?)
प्रथमाया विलानि ३०००००० द्वितीयाया २५००००० तृतीयाया १५००००० । (अवशिष्टासु क्रमशः)
१०००००० । ३०००००० । ९९९९५ । ५ ॥ १३, १४ ॥ देवकुरुः उत्तमभोगभूमिः ॥ २९ ॥ शेषं सुगमम् ।
कर्मभूयुःप्रधानामुत्प्रेषः—धनु० ५२५ । इति उक्तप्रकारेण । गत्यादिभेदेन यथा—‘गङ्गा इदिये य काये जोए
वेए कसाय नाणे य । संजमदंछणलेस्सा भविआ संमत्त सण्णि आहारे’ ॥ इति परमागमे विस्तारः ॥ ६८ (?) ॥
शेष स्पष्टम् । पञ्चधा अजोषभेदाः । एकीकृता जीवेन सह षड् द्रव्याणि । कालरहितानि द्रव्याणि पञ्चाति-
कायाः ॥ ७० (?) ॥ बर्तना ॥ इति द्रव्याणां नवजोर्णतालक्षणम् । परमार्थकालः । समयावत्य-दिव्यवहा-
कालः ॥ ७७ ॥ सकषायः । दशमगुणस्थानं यावत् ॥ उपशान्ताद्ययोगगुणस्थानं यावन्निःकषायः ॥ ८५ ॥

आसावनं बिराचनम् । मात्सर्यम् । अहंकृतिः । निह्वयनम् । गुरुणां प्रच्छादनम् ॥ ८६ ॥ परिदेवनम् । व्यथाजननम् ॥ ८७ ॥ सरागसंयमोऽणुवतलक्षणो देशसंयमः ॥ ८८ ॥ (?) । अवरणवादः । यदुच्छ्रया कथनम् ॥ ९ (?) ॥ विसंवादनं स्वेच्छया जल्पनम् । जिनेन स्वामिना प्रणीते संशयः ॥ ९३ (?) ॥ मिथ्यादर्शनम् । आह व स्वामी—‘मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद (कषाय) योगा बन्धहेतवः ।’ इति । स च बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रवेशलक्षणः ॥ ९८ ॥ (?) अस्त्री संवरः ॥ ‘स मुत्तिसमितिषमन्नुप्रेता १२ परीयह २२ जय चारित्रैः’ । १३ इलो० ९ (?) पूर्वस्य आर्तस्य । १९ (?) समिबन्धना कारणसहिता । २४ अपरतः । अलोकेऽगमनं मतिहेतोर्यस्य आभावात् ॥ ३२ (?) ॥ प्रह्लाद्य सानन्दा विषाय ॥ ३३ ॥ (?) इत्यम् उक्तप्रकारेण । चर्मवेष्टना कुर्वन् । विद्वत्स्य । समाससाद प्राप्तवान् ॥ ४३ (?) ॥ भाद्रपदे मासे सिते पक्षे सप्तम्या तिथौ शुक्लव्यानेन निजितानि सकलानि ज्ञेयानि कर्माणि येन । सिद्धेः पद मुक्तिस्त्वानम् । सविमृष्टा विलीनाम् । पुनर्मायया । उत्पाद्य परममक्तया अगुरुचन्दनादिभिः सङ्कृतेत्यर्थः ।

इति चन्द्रप्रबन्धकान्यर्पाञ्जकायामष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

देशीयगणेऽग्रगण्यः प्रधानः । गुणनन्दीत्यर्थः ॥ २ ॥

॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥

२. श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अ				अथ स विक्रमवाप्रयभूषणो—	१३	१	३०८
अकृष्टपद्मसस्यादधे	२	११७	६२	अथ सा प्रभूतिसमयेन जि—	१७	१	४०५
अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो ज—	१	४२	१५	अथ सोमदत्तनृवरस्य नलि—	१७	७७	४२३
अचेतनस्य बन्धादिः	२	८३	५३	अथामभद्ररिगुणैरलंकृतो—	१	३९	१४
अजीवश्च कथं जीवापेक्ष—	२	४५	४१	अथास्ति शृङ्गोलसितामरा—	१	११	५
अत एव च दण्डवजितः	१२	६६	२९५	अथाहमिन्द्रः स ततोऽवती—	१६	६८	४०३
अतिदूरतरोऽपि तेन सो—	६	११०	१६८	अथेवमरश्चन्दनसेचनाद्यैः	५	७२	१३४
अतिरोद्भक्तिरात्मलमिन्द्र—	६	७	१४१	अथैकदास्थानगतं प्रतीहार—	२	१	३०
अतोतसंकथे, परिख्यकी—	१	५३	१९	अद्य दयितेन पातिते—	१०	५७	२४४
अतुलप्रतापपरिभूततमो	५	३३	१२४	अथमेन समेन वाषिकाम—	१२	४७	२९१
अतुलप्रतापलोलिखितराप्रगत—	५	२०	१२१	अथरवलगतं निधाय रागं	९	४३	२२५
अत्यन्तदुर्घटमिदं नहि	३	३९	८२	अधिकं व्यन्तराणां तु प—	१८	५९	४३९
अत्रान्तरे कृधाधावत्स्व—	१५	११४	३७२	अधिकमेधितया मुदितैर्जनैः	१३	३६	३१७
अत्रान्तरे पृथुतप श्रिय—	३	४४	८३	अधिकारपदै स्थितैस्तथा	१२	७१	२९६
अथ कथमप्यपास्य दयिता—	१०	७८	२५०	अधिगम्य निपातित—	६	३४	१४९
अथ कश्चिदुपेय शासनाग्नि—	१२	१	२७९	अधिगम्य यथाविधि श्रुतं	१	७७	२६
अथ केनचिदानीय सेवकेन	१५	१३३	३७६	अधिरुह्य स तत्र विस्मिता—	६	१००	१६६
अथ कोशलेति भुवनत्रित—	५	१२	११९	अधिसूनु लालनविधावहि—	५	५९	१३१
अथ जातु स मेदिनीपतिनि—	१	६४	२३	अधुना ध्वनक्ति जिन एव	१७	८	४०६
अथ तत्र शक्त्युपचयानुग—	५	२३	१२२	अमन्तविज्ञानमनन्तबोधिता—	१	३	२
अथ तामपरो महेन्द्रनामा	६	४६	१५२	अनर्घमणिना भीमरथं	१५	१८	३५२
अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्त.	६	१	१४०	अनल्पसत्त्वं गुह्यंसाशालिनं	११	४	२५३
अथ ते परोत्य सुरशैलमु—	१७	१९	४०९	अनवस्थापिता च स्यान्नम—	२	५८	४५
अथ वातकीत्युप देन युता—	५	१	११६	अनिमित्तकुलसंकुले विश—	९	५५	२२८
अथ पुण्यदिने मूहर्तमात्रा—	६	१०८	१६८	अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगी	५	८७	१३८
अथ प्रजानां नयनाभिरामा—	४	१	९५	अनिरुपितकृत्यानया	१२	८४	३००
अथ प्रवृद्धे दिवसे बिधाप—	११	१	२५२	अनिष्टसंगमे तस्य वियोग—	१८	११६	४५१
अथ भक्तिः प्रथमकल्पप—	१७	२४	४१०	अनुगच्छति यः शठं प्रियैः	१२	९२	३०२
अथ श्रुतिस्मृत्या कराभ्या	६	२६	१४७	अनुपदाय बिंसं प्रणयापितं	१३	४७	३२०
अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्	१२	५७	२९३	अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभू—	११	९१	२७७
अथ मायया जनितामात्र—	१७	११	४०७	अनुरागपरापि विभ्रतो	१०	५०	२४२
अथ मायिनाम्यभवावैरवशा—	५	५६	१३०	अनेकचेष्टेरिति पयुपासितं	११	३९	२६३
अथ स प्रणयेन याजते	१२	३३	२८७	अन्तरेऽत्र नखचन्द्रचन्द्रिका—	७	४०	१८०
अथ स प्रियधर्मनामधेयं	६	७७	१६०	अम्यरसूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रति—	१८	१२१	४५२
				अम्यथा नृपतिवृन्दबेष्टितः	७	५७	१८५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक पृष्ठ
अन्येऽपि युवेषांभीः	४	२८ १०१	अलिनीनिकुम्भचुम्बितामैः	१४	२५ ३३३
अन्येऽपि रिपुपक्षस्था रा-	१५	११३ ३७२	अवगम्य निपातितस्त्वया	६	३४ ५१
अन्योन्यदर्शनसमुच्चरि-	१४	५२ ३४१	अवगाच्छुतनीति माभवा-	१२	१५ ३०३
अन्योन्यसंहतकराङ्गुलि-	७	८७ १९३	अवधार्य सुवर्णनाभजा-	१२	१८ ३०४
अन्योग्यालोकनोद्भूतत्व-	१५	३६ ३५५	अवभाति निजं स पौरुषं	१२	४५ २९०
अन्योऽपि यस्य यो योग्यः	१५	१९ ३५२	अवभास्य जगद्गुहं करै-	१०	१० २३३
अपरं च निवेदयाम्यहं ते	६	३२ १४८	अविकम्पितधीरसस्तुतत्वात्	६	५० १५३
अपरानपि यच्छति द्विपा-	१२	२१ २८४	अविदितागतवारणमीभव-	१३	३० ३१६
अपरापरैः स समुपेत्य	१७	८० ४२४	अष्टादश वतारे च सह-	१८	६४ ४४०
अपरेक्षुरपृच्छदादृतात्मा	६	७१ १५८	अष्टौ च त्रिदशपतेतिदेशवा-	१६	५६ ४००
अपरेक्षुरक्षोपसैन्ययुक्तः	६	८८ १६३	असतीजनं जिगमिषु बहुल-	५	१६ १२०
अपरेक्षुप्रमितबाहुरक्षिक-	१७	६१ ४१९	असम्यग्दर्शनं योग विरते-	१८	९५ ४४६
अपरेक्षुरेतमवनीतिलकं	५	४९ १२८	असर्वशक्तं तावन्न	२	१०६ ५९
अपसर्प प्रयाहोतः किं	१५	९९ ३६९	असुखं कफलं प्रमज्ज्य यो-	१	७९ २७
अपहन्ति नरो निसर्गजा-	१०	२५ २३७	अस्वलद्वगति बृहद्रथान्वित	७	१२ १७३
अपहृतवसना बहुस्तरङ्गाः	९	३२ २२३	अस्पृष्टपाम् अपि खेवर-	५	७९ १३६
अपायमुक्ता पदयो परे न	११	४६ २६५	अस्मरन्पतति चम्पकरेणो	८	३ १९६
अपि च सुवदने नरो न	९	१२ २१७	अहितस्य हितोपदेशनै-	१२	५३ २९२
अपि तद्वैदित्तमपुण्यवतः	५	६७ १३३	अहो नराणां भवगर्तवति-	११	१० २५४
अपि तस्य पूर्वभरते भरत-	५	२ ११६	आ		
अपि मेरुसमे समुद्रगते	१२	६० २९४	आकस्मिकोद्गतबृहत्तरच-	११	८० २७४
अप्यनारततपोनियसीना	८	११ १९८	आज्ञा सुवर्णनाभस्य	१५	१४६ ३७९
अभवाभा भवत्प्रसादतो-	१२	६८ २९६	आज्ञा विपाकविचयावपाय-	१८	११९ ४५१
अभिषाय गिः ससौष्ठवामि-	१२	६७ २९६	आज्ञा रत्नप्रभा नाम द्वि-	१८	७ ४३०
अभिमानधनो हि विजिज्ञां	१२	७८ २९८	आनीलनोरदननिभैः प्रवि-	१४	६१ ३४४
अभिधातुमतः प्रयुज्यते	१२	९७ ३०३	आरणाच्छ्रुतकल्पे च द्वा-	१८	६५ ४४०
अभिगुज्य निहन्ति यो रि-	१२	३८ २८८	आरणाच्छ्रुतयोर्हस्तास्त्रयः	१८	५६ ४३९
अभिवाञ्छति पादसङ्गम-	१२	९० ३०२	आर्तं रोद च घर्मे च शुक्लं	१८	११५ ४५०
अभिषिष्य त ललितनृत्य-	१७	२१ ४१०	आर्द्राद्वलनवयावकमण्डनेन	७	८६ १९२
अभूद्भैरवैरङ्गैः रामरो-	१५	१४ ३५१	आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधा.	१८	३२ ४३५
अम्बुना घनकिजल्क-	२	१३३ ६६	आर्याः पट्टकमभेदेन योद्धा	१८	४३ ४३७
अयमनभिमुक्तो सुकेशि	९	३७ २२४	आश्रयस्य निरोधो यः	१८	१०६ ४४९
अयमपि मधुरस्वरोऽभिष-	९	३६ २२४	इ		
अयमुदकहृतो व्यधिष्यते	९	५४ २२८	इतरे च तं परमभक्तिभर-	१७	१४ ४०८
अयं मुनिधनोऽधनोदनसहः	१४	३३ ३३५	इतरेतरबाहुपोडिताङ्गौ	६	२४ १४६
अर्घ्यादिकां सम्यग्वाच्य पू-	५	७७ १३५	इतरेषु जनेषु का कथा न	१०	१ २३१
अर्थे धर्माय सेवन्ते	२	११९ ६२	इति कृतविधिप्रकारचेष्टा-	९	१८ २१९
अर्धमागंगतामेव तदी-	१५	१०७ ३७१	इति सितोषः सह शिक्षया	४	४४ १०५
अहंस्थतस्त्वं प्रविधातुमेनं	५	८८ १३८	इति गत्यापिभेदेन कृता	१८	६६ ४४१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
इति गिरमभिधाय निविच-	५	९०	१३८	इत्यवेत्य भवदुःखमोरवः	७	४९	१८३
इति च व्यचिन्तयदलाभि	५	४६	१२८	इत्यागमं करटिनो मुनि-	११	८४	२७५
इति चाभिदधे हिरण्यना-	६	२७	१४७	इत्यादि नोपमानं च	२	९८	५७
इति चित्तममुष्य धीरयि-	६	९९	१६६	इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने	२	५०	४२
इति चिन्तनाकुलमुपेत्य	१७	७२	४२२	इत्यालापर्युवेशस्य मान-	१५	१०६	३७०
इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य	१८	१३२	४५४	इत्याशाः समदवधूरिव क्षि-	१६	५३	३९९
इति तत्र गिरौ निविष्टसैन्यं	१४	६८	३४६	इत्यासन्नपदार्थस्य तत्त्वं	१८	९४	४४६
इति तद्वचनेविरुद्धचित्तो-	६	९५	१६५	इत्युक्त्वा वाचमुच्चाषां	२	५१	४३
इति तर्कयन्त्रिकलमङ्गमुवा	५	५७	१३०	इत्युत्थितं समाकर्ण्य	१५	३१	३५४
इति तस्य निशम्य गर्वग-	६	२०	१४५	इत्येषमादिमिद्वचान्यैः स-	१८	१४४	४५६
इति तस्य निशम्य भारती	१२	४२	२९०	इदं करोम्यद्य परादिनेष्विदं	११	१३	२५५
इति ते विनिवेदितं मया	१२	१९	२८३	इदमात्मवधाय मद्विरुद्धं	६	१९	१४५
इति दूतमसौ विमुष्य रा-	६	९७	१६५	इदमिवमिति दर्शयन्नरोषं	९	३९	२२४
इति देशयति नभश्चराणा-	६	८७	१६२	इदमिन्द्रजालमुत बातुग-	५	५५	१३०
इति नारकभेदेन कृता	१८	१६	४३२	इयमपि शफरो समुत्पत्तयो	९	३८	२२४
इति प्रजानामधिपः स्वचि-	४	२७	१००	इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये	९	३५	२२३
इति प्रसाध्याखिलभूतधा-	४	६८	११२	इष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परि-	१५	३०	३५४
इति ब्रुवन्त तमुदारचेष्टितं	११	६६	२७०	इह गगनचरैः कंदरागोचरैः	१४	२४	३३२
इति भाषिण एव भारती	१२	२५	२८५	इह तावददानुमिच्छता	१२	३०	२८७
इति मन्त्रिगिरं कृत्वा	१५	११८	३७३				
इति मानुषभेदेन कृता	१८	४७	४३७	उत्तीर्णभारलषवः परितो-	१४	६३	३४४
इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं	९	२७	२२१	उदककणचिर्नितम्बिनीनां	९	५२	२२८
इति वाचमदृष्टमुदगराभा स-	६	८५	१६२	उत्पादि तयो शशिप्रभा-	६	४५	१५१
इति वादिनि तत्र राजपु-	६	२३	१४६	उदयाद्रिशिरःश्रितः शसो	१०	२०	२३५
इति विषयविरक्तसंछप्रया	१	८०	२७	उदितेन पयोधिरिन्दुना	१०	२६	२३७
इति वृद्धिमिते रतोत्सवे	१०	६१	२४५	उदीरितायामिति वाचि सू-	११	६२	२६९
इति शिवसुखसिद्धयै भावय-	१५	१६०	३८२	उपकारोऽपि भिन्नत्वात्-	२	७८	५१
इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाण	५	८४	१३७	उपवासावमोदयं वृत्तिसंस्था	१८	११२	४५०
इति श्रुत्वा स तद्वाणी	२	२४	३६	उपसृत्य पुमांसमेकमा राज्ञ-	६	३९	१५०
इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रै-	९	१५	२१८	उभावुभयमायोऽङ्गं नि-	१५	१२०	३७३
इति हेतुभिः प्रचलितं दध	१७	६	४०६				
इति संबरतत्त्वस्य रूपं	१८	१०८	४४९	ऋतुजनितरचिर्बधूसमूहैर-	९	२६	२२१
इति संधीरयन्नात्मसैन्यं	१५	६५	३६२				
इति संप्रधार्य भुवनेश भव-	१७	४०	४१४	एकस्त्रयस्ततः सप्त दश स-	१८	११	४३१
इत्थं विधाय विविधं स-	११	७२	२७२	एतच्च प्रविकसदम्बुजाभि-	१०	६५	२४६
इत्थं विहृत्य भगवान्सकला	१८	१५२	४५८	एतस्यानृजुः प्रयमष्टमीमृगा-	१	८४	२९
इत्थं नारीः क्षणरचिरवः	७	९१	१९४	एतान्येव सजीवानि षड्-	१८	६८	४४१
इत्थमात्मनि संसिद्धे	२	७४	५०	एतेन जडतां तस्य	२	८०	५२
इत्थं मधौ मधुकरीमुखरी-	८	५१	२०९	एतेष्वसत्त्वपरितोषनिब-	३	२६	७८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
एत्य लौकितविचित्रभूषणो-				कलोलोच्चलितविदोर्गणु-	१६	३०	३९२
एवमेव चतुर्भेदभिन्नो ब-	१८	१०५	४४८	कश्चित्तनुच्छदं योग्यं	१५	६	३४९
एषा तवाग्रमहिषो पुटभेद-	३	५३	८६	कश्चिदालोहनिर्मलं प्रत्यङ्गं	१५	५१	३५९
एषा पुरं त्वदनुभावविबुद्ध-	३	२९	७९	कवायनाम्ना विजयेन वै-	११	४७	२६५
क				कवायसारन्ध्रनबद्धपद्मति-	११	१९	२५७
ककुप्यन्तविश्रान्तत-	१५	८४	३६६	कस्तुरीमृगसुरभी हिमाच-	१६	५२	३९९
ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट नि-	१७	२	४०५	कस्त्वं भीमरथः को वा	१५	१०१	३६९
ककुभा विवरेषु तारका-	१०	१५	२३४	कस्याश्चिदन्यजनसंकुल-	७	८५	१९२
ककुभो मलिनात्मनाखिलं	१०	९	२३३	कस्याप्यश्वगतस्यैमकुम्भं	१५	४६	३५७
कठिनकुर्वन्निर्घूणतोऽप्यप-	९	४४	२२६	का क्षता हृदयभूषणरस्य	८	१३	२०२
कठोरधारं विनिवेद्य कण्ठे	४	५५	१०८	काचादिप्रतिमविलोलवो	१६	८	३८६
कलिपयानि न यावदप्यु प-	१३	२१	३१३	काचिदित्यमुदिता दयितेन	८	४५	२०८
कथं च जीवधर्मा स्युः-	२	४६	४१	काचिदुत्पलतुलासहनेन	८	२२	२०१
कथितोत्त समासेन निर्जरा	१८	१२२	४५२	काचिद्विहाय गृहभित्तगतं	७	८४	१९२
कथितो निमित्तपुरुषेण	१७	६३	४१९	काञ्चनाकरकुमुदे द्युतिमत्ता-	८	२५	२०२
कदम्बैः सहसा नाथ	२	२२	३५	काठिन्यं तन हृदये स्मन-	१०	७३	२४८
कन्तुना भनवशोकबलेन	८	३४	२०५	कादम्बररोमद ह्वाशय-	७	९०	१९४
कंदरास्वनुकृताहिमवर्तं	८	४६	२०८	का घृतिस्तव रतेन विना मे	८	४२	२०७
कमलप्रभाप्रभृतिदिग्दधि-	१७	६०	४१९	कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिका-	७	२०	१७५
कमलानना मधुकरीनयना	५	३	११६	कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते	८	४३	२०७
कम्रताव्रतपनीयनिमित्तं	७	२४	१७६	कर्त्तव्यविश्रान्तोऽञ्जलचन्द्र-	१४	१५	३३०
कर्णैर्विधरशेषबन्धवच-	६	२५	१४६	कापोताङ्गकृष्टविधुनरः सम-	१६	५१	३९८
करताडनमास्यबुम्बनं	१०	४८	२४४	कामशोकजलधेदितानि	८	३६	२०५
करताडनमोष्ठलण्डनं	१०	५८	२४४	कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमा-	१०	७२	२४८
करिणं प्रदिशामि निश्चितं	१२	११०	३०७	काश्मीरप्रभवितु भूमिभू-	१६	५०	३९८
करिणीपतिरन्यदेव वा	१२	३२	२८७	किकरी तव भवामि सदा-	८	२०	२०१
करिणो मदमूढचेतसः	१२	१२	२८२	किं किं किमेतदुपयाहि	११	८१	२७४
कर्णकारमधवाजनितातं	८	३१	२०४	किंचिदपुः शिथिलताम-	३	६३	८९
कर्तुरस्मरणादिभ्यः	२	१०२	५८	किञ्चन कारणमभूदपरं	३	२८	७८
कर्मणा यो विपाकन्तु	१८	१०३	४४८	किनरादिप्रभेदेन व्यन्तरा-	१८	४९	४३८
कर्मणामागमशारमाम्बं सं-	१८	८२	४४४	किपभूदमोष्पवि न वत्तल-	५	६८	१३३
कर्मणा प्रतिपक्षत्वान्मुक्ते-	१८	१२८	४५३	किमिदं परमाद्भुतं मया य-	६	३७	१४९
कर्मणि परवशीकृतात्मनो-	७	४७	१८२	किमु कीर्त्ति बलोद्धतस्त्व-	६	१६	१४४
कलञ्जोत्तमयोऽखिलासु	६	७४	१५९	किमु तस्य न सन्ति वार-	१२	३४	२८८
कलं नदन्ती पारिजातटेपु	४	७२	११३	किमेभिरथमालापिमनु-	१५	१०३	३७०
कलमगोपकवदारवाहितभू-	१३	४९	३२१	कुचभरादसहा शुक्रवारणे	१३	४२	३१९
कलासनाथस्य हिमवृत्तेरि-	१	५९	२१	कुन्देन्दुद्युतिविकरावदात-	१६	१२	३८७
कलासमगोपय जनाभिन-	१	४४	१६	कुम्भालोकास्लक्षणे पूषं दे-	१६	६५	४०२
कलोलहस्तैः स्फुरदंशुजा-	४	६५	१११	कुम्भावाग्भोजावृतावम्बुपु-	१६	६०	४०१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
कुर्याः सदा संवृतचित्रव-	४	४२	१०४	कवासौ भीमरथो यस्य	१५	८१	३६५
कुर्वन्ति यामनुकृताचलतु-	१४	५७	३४२	क्ष			
कुलं चरित्रेण विपुद्भवति-	१	४५	१६	क्षणक्षमिण्यायुषि मूढबुद्धिः	४	२१	९९
कुलजोऽकुलजोऽधवास्तु	६	९६	१६५	क्षणदानिलायसुखीभव-	१०	३५	२३९
कुबलयनयनाभिरस्यमाता-	९	५८	२२९	क्षणदृष्टिरोहितैर्जनो-	१	६८	२४
कुसुमकिसलयं विचेतुकामा	९	२२	२२०	क्षणमङ्कुरवृत्ति जीवितं	१	६७	२३
कुसुमाक्षया घटपिप्प्लो व-	५	४८	१२८	क्षणमहणितलोचना रमण्यः	९	५३	२२८
कूटस्थनित्यता केचित्	२	४९	४२	क्षणमुपास्य परां प्रियमगतं	१३	४५	३२०
कृतकटुस्वरमायतकंधरं	१३	२८	३१५	क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षान्-	१५	८७	३६६
कृतकप्रघनेन रूपमन्यत्	६	२८	१४७	क्षणादशोकसंयुक्तं पुनाग-	२	३२	३७
कृतचरणममस्त्रियास्तदा-	७	९३	१९५	क्षणिकत्वेऽपि संतानि-	२	८६	५४
कृतदयितविवञ्चना मृहर्त्तं	९	४५	२२६	क्षणमिति मधुराभिभूयति-	८	६१	२१३
कृतदोसरवेविहंगमैर्निज-	१०	८	२३२	क्षमते निजमेव रक्षितुं	१२	१५	२८२
कृतपरस्परकैलिभिरुच्छल-	१३	५६	३२३	क्षमते विनयातिलङ्घनं	१२	२३	२८५
कृतपरस्परवाजिघट्टना	१३	३७	३१८	क्षमते ततो यदि न पातुम-	१७	६४	४२०
कृतमनमिजवेगमूढयुग्मं	९	१७	२१९	क्षयवान्निजिगोष्यते परं-	१२	३९	२८९
कृतसमुद्रतटवंधपरिघटा	१३	२३	३१४	क्षयः निलचलत्पूर्वपश्चिमा-	१५	३५	३५५
कृत्वा कगावय स संकुचद-	३	४७	८४	क्षीणकर्मा ततो जीवः	१८	१३०	४५४
कृत्वा क्षण जनकुन्तल-	१४	५९	३४३	क्षुब्धतरलितिरहा करभै-	१४	६६	३४५
कृत्वापरंयुरखिलावसरं	३	२०	७६	क्षुभितामिति तस्य भावि-	१२	५५	२९३
कृत्वा विषादमिति दुःस्थि-	३	३५	८१	ख			
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भ-	१८	१२३	४५२	खचराधिप योगिनोऽपि	६	८०	१६०
कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा साम-	१५	९७	३६९	खण्डयामास तानर्धचन्द्र-	१५	१२६	३७४
कृपणस्य परानुवर्तनः	१२	९१	३०२	खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने	२	४२	३९
केचिदित्थं यतः प्राहूः	२	४४	४०	खरयोतमाश्तरजोरहिते	५	७	११७
केन तत्रमुरालोक गतेन	१५	५२	३५९	खिन्नं ते वपुःनपायिना-	१०	७०	२४८
केवलं तदभिषेकवारिभि-	७	३१	१७८	खुरनिपातविदारितभूमिभिः	१३	१७	३१२
केवल न मणिबन्धभासुरं	७	३८	१७९	ग			
केवलं न यथा जातं रुचितं	१८	१२६	४५३	गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं	९	५	२१५
केवालभूतधर्माणां देवस्य	१८	८७	४४५	गगनात्यतितस्य तस्य धा-	६	२	१४०
कोऽपि क्षरत्करटभित्त-	११	८२	२७५	गगने गगनं तस्य सर्वेषां	१८	१३५	४५५
कोऽपीत्थं प्रणयराधा विवृत्य	१०	७४	२४९	गच्छंस्लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षु-	२	३१	३७
क्रमतेऽरिषु मस्तराक्रमो-	१२	६२	२९५	गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं	८	६९	२०३
क्रिया दिनकरादीनामुद-	१८	७५	४४२	गच्छती क्षितितलोपितै-	१०	६९	२४७
क्रियावसाने विरसैर्मुखप्रि-	११	१६	२५६	गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचोर्ध्वै-	४	६२	११०
क्रोधावभिरयं जीवः	१५	८८	३६७	गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफर्म-	४	६१	११०
क्वचित्पतितपत्स्यदधं क्वचि-	१५	१३८	३७७	गतस्य तस्योपबने वनेचरो-	११	३४	२६१
क्वचिद्गोघनहंकारैरिधु-	१५	६०	३६१	गतावलेपैः प्रविष्टाङ्गुरैव	४	६०	११०
	२	१२३	६३	गतैः सभासत्तमिभैस्तेतर-	१	२०	८

श्लोकोऽथ	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकोऽथ	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
गत्वा निसर्गपरिमन्धराया	८	५७	२११	घ			
गत्वा सुदूरमपि यत्न्य	३	४८	८४	घटादिकारणेष्वेतन्मृदा-	२	७१	४९
गदितुं युज्यतेऽस्माकं न	१५	१०४	३७०	घनघटासदृशेषु कृतासना	१३	२४	३१४
गदैन मुक्तोऽशनिना कटा-	११	११	२५५	घनसैरूपरञ्जितवारिभिः	१३	६०	३२४
गन्तुं पतङ्गोपलबल्लितसा-	१४	१२	३२९	घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल	१	६६	२३
गम्भीरनादैः प्रतिमानिपाति-	१	२२	३	घनपादपसंकटाभ्यन्तराले	६	११	१४३
गरीयसा यस्य परार्थसंपदो-	१	४३	१५	घनबीथिरथं क्षपापतावधि-	१०	२१	२३६
गर्भस्थितस्य जननान्तर-	३	६८	९०	घर्माशौचदयमहोघ्नद्रुमैर्न	१०	६७	२४७
गर्वगद्गदमित्युक्त्वा	१५	८२	३६५	घर्मोदबिन्दुभिः कपाहित-	१४	४३	३३८
गलितान्धुभिः रतं निःस्वने	१०	१६	२३४	घर्षद्भिर्मलयागिरी महागजा-	१६	३७	३९४
गवाक्षानिक्षिप्तमुल्लारविन्दाः	४	७४	११४	घातिनिर्मघनलब्धकेवला-	१४	३६	३३६
गल्म्यदस्योन्नतवर्षाशालि-	१	६१	२२	च			
गहनान्तमथापहाय राट्टं	६	३८	१५०	चक्रवर्तिविमबोवितोत्सवं	७	३०	१७७
गायत्र्यन्त्यदमितो रभ-	३	७४	९२	चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः	७	५६	१८४
गायनेष्वलिषधूनिरेषु	८	३३	२०४	चतुराननतारुमहातिशय-	१८	१३७	४५५
गिरिः स्थय खेचराधिवासः	६	७३	१५९	चतुर्णिकायभेदेन स्मृता-	१८	४८	४३७
गुणप्राप्तमभोधेः सुकृतवस-	प्र. प्र.	२	४६०	चत्वारः शुकमारम्य हस्ताः	१८	५५	४३९
गुणनिमित्तैः सुरभिः भः कु-	५	४२	१२७	चत्वारोऽर्षा रुचिरवपुषो-	१७	८६	४२५
गुणवत्सल मा गमस्त्वम-	६	८६	१६२	चन्द्रकान्तस्त्वतेर्यत्र	२	१२७	६४
गुणवानपि स त्वमोदुषो-	१२	१०	२८१	चन्द्रकारस्त्वलममलिनो-	१४	६७	३४६
गुणवाग्ममुपैति सेव्यता	१०	१४	२३४	चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा	३	१७	७५
गुणसंपदा सकलमेव जग-	५	४५	१२७	चन्द्रोद्गिता रविग्लकुम्भे	३	३३	८०
गुणानगुल्लमुज्जो न निर्वृति	१	७	४	चराचरे नास्ति जगन्मयो-	११	२२	२५८
गुणान्यर्थवोपदिशन्प्रशंसया	१	८	४	चलनैर्वलनैः स्थानैर्वसगनै-	१५	१२३	३७४
गुणान्विता निर्मलवृत्तमौ-	१	६	३	चलितविद्वज्जीयत बाजि-	१३	११	३११
गुणिनं मनोरथशताधिगतं	५	६२	१३२	चलितगेलचयेन गरीयसा	१३	२०	३१३
गुरुमग्रहकुञ्जितविग्रहै-	१३	३१	३१६	चलितेऽभिमेरु सुरनाथनि-	१७	१६	४०८
गुरुमतामिरतामलमानसं	१३	८	३१०	चारित्र्यगुण्यनुपेक्षापरीपह-	१८	१०७	४४९
गुरुशिवरो नरकबिन्दनदः	५	२९	१२३	चित्तगततिमात्रत्वम-	२	८४	५३
गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं	६	१२	१४३	चित्तपटुलिखितव्ययामो-	७	१६	१७४
गुरुविरहभवेन पथनाभो-	१	८२	२८	चित्रनयपटुचो नपट्टिका-	७	२३	१७६
गुरुगुल्मस्यगुपात्य	४	३	९४	चित्रमेतदतिदूरवर्तिना	७	६२	१८६
गुहोदरे ऋषिहिमे हिमगुं	१४	१८	३३०	चित्ररत्नकिरणं प्रवर्तयन्	७	२७	१७७
गृहिणी शशिसूर्यनामधेया-	६	३३	१४८	चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो-	७	५९	१८५
गृहीतयोगं तपसा कृषीक-	११	३५	२६२	चिरमश्रुतदेहो तो शरं-	१५	८३	३६५
ग्रहागतं तं मदमृदमानसो-	११	८	२५४	चिरयसि परमेव नित्यपन्ती	९	९	२१६
ग्रामैः कुक्कुटसंपात्यैः च-	२	११८	६२	चिरमुद्यपरिध्यान्तः प्र-	१५	११०	३७१
ग्रैवेयकविमानेभ्यः परे	१८	५८	४३९	चोरकारारवबधिरोकृतालि-	१६	३	३८४
				चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रा-	१५	१७	३५२

श्लोकांश	सर्ग	श्लो०	पृ०	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
वेतनालक्षणो जीवः कर्ता	१८	४	४२९	जीवाजीवासवा बन्धसंब-	१८	२	४२९
प्युत्वा ततो विगलितायु-	११	७४	२७२	जीवे सिद्धेऽपि गर्भादि-	२	६२	४६
छ				जीवो नास्तीति पक्षोऽयं	२	५४	४३
छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं	७	५८	१८५	जम्भाभक्षस्ततसमिहिता	३	६६	९०
छन्दानुवर्तिषु पदातिषु	३	२५	७७	ज्ञ			
छायासु यस्मिन्नितरुहां तृण-	१४	६४	३४५	ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती वेद्यं	१८	९८	४४७
ज				ज्ञानमर्षपरिवोधलक्षणं	७	५०	१८३
जगत्यमुष्मिन्दिवसाधिपो-	११	४४	२६४	ज्ञानमागमनिरोधि कर्मणो-	७	५२	१८३
जगन्महामोहतमःपटावृतं	११	४१	२६३	ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये	७	५३	१८४
जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं	१४	५८	१४३	ज्ञानद्वैतुपजाताया सहैव	१५	१४८	३७९
जज्ञे मासोपदंशासृगास-	१५	५३	३५९	ज्ञानावृत्तिदृगावृत्योर्वेद-	१८	१००	४४७
जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वतु-	१८	१४२	४५६	ज्ञानोपयोगः सततमुप-	१५	१५४	३८०
जनतानुरागपरिवृद्धिकरः	५	४१	१२६	ज्योतिरुज्ज्वलमनत्त्वमण्डल	७	६	१७१
जनभयपरिविद्रुतेऽपि पत्न्यौ	९	३४	२२३	ज्योतिरकाणा तु देवाना-	१८	६०	४४०
जनमनःशयने क्षयितं मनो-	१३	५२	३२२	त			
जनरवात्प्रसृतो निपतन्त्यथ-	१३	२७	३१५	तं योवराज्ये परिणीतमार्गं	४	१६	९८
जनाददोषाद्वयसा लघीया-	४	४	९५	तं रथस्थं रथासृष्टः स्वर्गम-	१५	६७	३६२
जनेन पोरैण वृतः पुराद-	११	३३	२६१	तं बाहिरुत्तरं बौद्ध्य धर्म-	१५	९८	३६९
जन्मान्तराणि भगवन्म-	११	७६	२७३	तं गजस्थं गजासृष्टः	१५	७८	३६४
जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं	३	३८	८१	तच्छस्त्रकौशलालोकवि-	१५	१२२	३७४
जन्मावलीमिति यथावदशौ	११	७५	२७३	तटगतामलनीलघिलातलो-	१३	५७	३२३
जयन्त्वा निस्तमसो समु-	१४	१९	३३१	तटगतासितरत्नविनि सृते-	१४	२९	३३४
जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवा-	१५	१२	३५०	तटपादपसरुद्धैर्निष्कम्प-	२	१३६	६७
जयबाज्ययवर्मनामधेयो-	६	४३	१५१	तटरुक्मकुटजावनीरुहाणा-	१४	३८	३३७
जयशब्दं वयःशब्दं	२	१८	३४	ततः कलकलारावबधिरौ-	१५	९४	३६८
जयशालिनः सहजभद्रतया	५	३४	१२५	ततः पितृग्रंहामर्षासमु-	१५	९०	३६७
जराजरत्ना स्मरणीयमीश्वरं	१	४	२	ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने	११	३	२५२
जलदनादगभोरवधिष्वनि-	१३	४८	३२१	ततः स तेनानुमतो महोप-	११	६७	२७०
जलदबीबिबित्तालमुरः प्रभोः	१३	३	३०८	ततः स पुत्रापितराज्यभा-	४	४५	१०५
जलदोषिका जनविगाह्यज-	५	६	११७	ततो मुमुक्षतः शङ्कु तम्य	१५	१३०	३७५
जलनिर्झरसङ्गशीतवाते	६	१८	१४५	ततो मौक्त्योऽपि संविद्रो-	२	१०९	६०
जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्	९	३०	२२२	ततोऽजगन्मुषिच्छाधि	२	४३	४०
जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र	१८	६९	४४१	तत्क्षणात्तुभितसिंहविहरः	७	६५	१८७
जातोऽहमथेन्दुसमानकी-	५	८१	१३६	तत्क्षणाभिलषितामरापि स-	७	१५	१७४
जिन यः समाश्रयति मार्ग-	१७	२८	४११	तत्तेजो विहितविषलकक्ष-	१६	४१	३९६
जिनैः साक्षात्कृताशेषवि-	१८	६१	४४०	तत्प्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं	१८	१२४	४५२
जीवमन्ये प्रपद्यापि	२	४८	४२	तत्प्रगम्य वयितं कृतिताभि-	८	१९	२००
जीवाजीवादि यस्पृष्टम्	२	५३	४३	तत्प्रत्ययास्त्वयमिदं न चि-	११	७८	२७४
जीवाजीवादिवद्वर्गं	२	९०	५५	तत्र त्वदीयचरणान्मुजता-	८	५६	२११

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तत्र शासति महौ जनताया-	८	१	१९६	तमुदीक्ष्य भासुरमशौतरुचि-	१७	१२	४०७
तत्राद्या मुनिभिः समं गण-	१७	९१	४२७	तमुपायनैः समुपगम्य सद-	१७	५७	४१८
तत्राभिनन्दितनिजाखिल-	३	१	७०	तमुपेत्य शक्रवचनेन नरप-	१७	५९	४१८
तत्राशामभिलिले कुबेरगु-	१६	४५	३९७	तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थित	११	२	२५२
तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिह्न-	१८	८४	४४४	तं महास्त्रैर्महासेनस्वकार	१५	७६	३६४
तत्रासुरकुमाराणा प्रमाणं	१८	५२	४३८	तमोर्हयोरपि नृपयो प्रता-	१४	६९	३४६
तत्रासौ पारमुक्तमासविहृति.	१८	१५३	४५८	तयोर्वभूव नृमूलं रणधु-	१५	६८	३६२
तत्रासौ समुपगत समुद्य-	१६	३४	३९३	तरसोभयवेतनैर्वशीक्रि-	१२	१०६	३०६
तत्रेन्दूपलशकलोऽञ्जलं	१६	४८	३९८	तरुजाजय सकुमुमाः कुमु-	५	११	११९
तत्सद्भादिव संजात-	२	१३	३३	तरुवटपशिखावसकहस्ता	९	१९	२१९
तथापि तस्मिन्गुरुसेनुवाहिते	१	१०	५	तव कापि शशिप्रभाभिधा-	६	९१	१६४
तथापि स्वचिदप्यस्ति	२	९२	५५	तव कार्यविदोऽभिजल्पितुं	१२	६९	२९६
तदखिलमपि वारि निक्षिप-	६	२९	२२२	तव कीर्तिभिरेव सर्वदिशि-	१२	७	२८०
तदाखलं वृष्टभेदनमुद्भूतं.	१३	२५	३१४	तव तात न युक्तमाकुलत्वं	६	९८	१६५
तदपि वचन प्रयत्नसाध्ये	६	३१	१४८	तव दर्दनं जगदधीश विद-	१७	३०	४१२
तदयं स्वविनाशमोक्षमाणः	६	४८	१५२	तव नाय यत्वरणयुग्ममवि-	१७	२९	४११
तदलं परिभाषितैरमोभि-	६	२२	१४६	तव मानधनाविलसकारं	६	८१	१६१
तदवैत्य वचः प्रभोरिदं	१२	२०	२८४	तव गंहन नाभ लघु-	१५	७	३४९
तदस्मिन्नप्रमतेन प्रहृतुं	१५	११७	३७३	तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गो-	१७	८८	४२६
तदाजयं समुपेत्य धोर-	११	५	२१३	तस्मात्करामि तकिचिद्रूत-	१५	१०४	३७८
तदिदं शरदध्रगुध्रकोते-	६	९२	१६४	तस्मात्स्ववेदेन मिद्रे	२	६१	४५
तदीयसद्भादिविलोऽपि भो-	४	८	९६	तस्मादक्क शास्त्र	२	१०५	५९
तद्धर्मध्वणाज्जातविबोधा-	२	१६	३४	तस्मादनादिनिधन. स्थितो-	२	८८	५४
तद्भारतीमिति निशम्य	११	७७	२७३	तस्मादशेषवित्कश्चिद-	२	१०८	६०
तदूपयोक्तविलोभितलोच-	७	८३	१९१	तस्मादुपप्लुत मन्त्रं तत्त्वं	२	४७	४१
तस्य स तनाति यः कुलं	१२	१०८	३०६	तस्माद्भुवान्तरभवादनुभा-	३	५६	८७
तनुकुसयोऽप्यतनुषारमपो-	५	१३	११९	तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्ष-	२	५९	४५
तत्र युक्तं क्रियाया हि	१८	७६	४४३	तस्माद्र दृष्टकरिणो यदि	११	८५	२७६
तपस्वरन्धोरमघोरमानस	११	६८	२७१	तस्मात्तरविशेपोऽमौ	२	९९	५७
तपेऽभिमुख्यं प्रतिभाव्यवस्थि-	११	७०	२७१	तस्मिन्काले सह परिजनैर्य-	१७	८३	४२४
तपो वपुर्भि. कठिनं. मुहु-	११	५९	२६८	तस्मिन्गर्भावनार कृतवति	१६	६९	४०३
तमकारणबान्धव ततोऽमौ	६	५६	१५४	तस्मिन्नघोताशिपि साधु-	५	८०	१३६
तमन्यवसमःनतेजस	१२	१०९	३०६	तस्मिन्नम्बुदगम्भीरे दिग-	१५	२	३४८
तमरोरमसुरकुमारममिति-	१७	४५	८१५	तस्मिन्मृगाङ्गु. इव सर्वपनो-	३	५७	८७
तमसाख्यमेव कुर्वता नि-	१०	११	२३३	तस्मिन्विषयाय महतीम्	३	६१	८८
तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्य-	१५	११५	३७२	तस्य भुक्त्युपसर्गाभ्या	१८	१३६	४५५
तमस.ध्यमवेत्य मानुषास्त्रै-	६	१०३	१६७	तस्य मन्थरचतुष्टयाधिका-	७	७३	१८९
तमिति प्रणव्य युद्धभक्तितम-	१७	४१	४१४	तस्य मासुविबिलोमूतमि-	७	७४	१८९
तमुदीक्ष्य क्षरानुबद्धुरीक्ष्यं	६	१०१	१६६	तस्य बाजिवृक्षै रजश्चयै-	७	६१	१८६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तस्य वारिनिधिवारिमेलला	७	७६	१८९	तेजोनिषावुदयधाम्नि सुव-	१	८५	२९
तस्य श्रीरिष कमलालयादु-	१६	१६	३८८	तेजो मूर्तिमिवारम्यं सु-	१५	१३	३५१
तस्यां रक्षां श्रुतपरबलः	१४	७०	३४७	तेन स स्ववशभावमाहृत-	७	४६	१८२
तस्यां वणिषपयकृताधिक-	७	८१	१९१	तेनोज्जितां निजकुलकवि-	३	३४	८०
तस्यापरविदेहेऽस्ति	२	११४	६१	ते पीत्वा प्रहरणवारिणाम्-	१६	३१	३९३
तस्यायतः करिवधूजित-	११	८७	२७६	तेभ्योऽधिगम्य तव सतति-	३	४१	८२
तस्योपरि स्फुरितभासुर-	१७	९०	४२७	तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयवतु-	१७	८७	४२६
तस्योर्ध्ववलयमुजः समस्त-	१६	४७	३९७	तेषामप्यनुमावाधा परि-	२	९१	५५
तस्योर्ध्ववयविशेषकस्य	१६	१५	३८८	तेषु माधवणकानसौतिल-	७	१९	१७५
तां षाणाङ्ककिरणा विदहन्ति	८	२६	२०२	तोयावगाहचलितैरलिनी-	१४	५५	३४२
ता क्षोणीमिव चतुरणविव-	१६	२१	३९०	त्यज मम विरहोऽवनेव प-	९	१४	२१८
तानिन्दुसुन्दरमुज्ज्वल-	३	३०	७९	त्यागदव शौर्यं च तथैव सत्यं	४	९	९६
तां तादृशी ममवशोक्य	३	२१	७६	त्यागदवाभयदानादि प्रविभे-	१५	१५५	३८०
ताम्यपकायिषु मम स्युःश्री-	१८	२४	४३३	त्र			
तापशुःकुरवक स्तवकन	८	८	१९८	त्रयोदशत्रिभु तस्य चारित्र्यं	१५	१५१	३८०
तापयन्ति मम मानिनि ता-	८	२१	२०१	त्रस्यवावरभेदेन तिर्यग्ग्री-	१८	१७	४३२
तापहारि बपुषो विधुरस्य	८	१६	२००	त्रासितारिफदभूजजनुति-	७	३	१७०
तावदूवासां चयितु प्रयत्ना-	४	३२	१०२	त्रिगन्नरकलजाणि प्रथमा-	१८	१३	४३१
तामिरप्रवावाय धावमानं	६	१०४	१६७	त्रिःपरीत्य प्रणम्य त्रि-	२	३७	३८
तामिरभमदुर्न द्विसितु श-	१०	२९	२३८	त्रिकालगोचरान्ततप्या-	२	६	३१
तिग्मना महतिस्तत्र पर-	२	२३	३५	त्रिकालमध्यस्थभनतप्यो-	११	३८	२६२
तिग्मनाप्रमदस्य क्रमो-	१८	२७	४३४	त्रिदशाधिकासजिति यत्र स-	५	२२	१२१
तिलकामिति यदत्र पूर्वमा-	९	२३	२२०	त्रिदशो यदि वा दितेस्तनू-	६	१७	१४४
तिलकस्तिलकं पृथ्वास्व	२	१५	३३	त्रुटिताप्यतिमात्रसंस्तत्रा-	१०	५९	२४५
तीक्ष्णवक्त्रं केवल यत्र	२	१३८	६७	त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रकोणं	४	१२	९७
तीरजैस्तकस्तानेः पयसि-	२	१३४	६६	त्वत्पादपदधारणे त्वद-	३	२४	७७
तीरध्वनाः कुमुदितवानी-	१४	३५	३३६	त्वमतः प्रथमो विवेकिना	१२	७७	२९८
तीर्थभूतमृचमितिभावित-	७	४२	१८१	त्वमेव भोगामिषलोभ्यलो-	११	२८	२६०
तुङ्गत्वमाद्विपतिना हरिणे-	३	६	७१	त्वयैवं ब्रुवता सूक्तं नृप	२	५२	४३
तुरगरोहकायसमुत्पतत-	१३	३४	३१७	त्वादृशो पट्टकारि वयस्या	८	१८	२००
तुरगवारकठोरकरद्वयो-	१३	९	३१०	द्व			
तुरगिस्तनिरुद्धमहारवे-	१३	१०	३१०	दक्षिण गणयामास ना-	१५	३२	३५४
तुरङ्गिणा पदातीना रथिना	१५	४०	३५६	दत्तश्रुति किन्नरकामिनीना	१४	५	३२७
तुलाव्यतीतो विनयः वष	११	५३	२६७	ददृशे च गतेन तेन तस्मि-	६	४९	१५२
तुषारारस्मि भजते निशाया	४	६	९५	ददृशे च मुनिस्तेन स्थितो-	२	३६	३८
तुष्टया ददत्स्वमुत्तजम्	३	७३	९२	दध्यामिन्दोः परिवेषमात्र-	५	७३	१३४
तुष्टिनापट्टरतोराजसकता	१४	२१	३३२	दन्तिनो दन्तिमिन्नाः	१५	५९	३६०
तेजःकायभूतः केचिदपरे	१८	१९	४३२	दयापरः साधुरतः परत्रयो-	११	६१	२६९
तेजस्विनः पूरयतोऽस्मिन्-	४	४३	१०५	दयावतो धर्मधनस्य धीम-	११	६०	२६८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
वसितामतिषोबरस्तनीं	१०	५५	२४४	द्वादशाङ्गश्रुताधारो द्वाद-	१५	१४९	३७९
वर्षाभाज्जटिति हृटेन पा-	१६	४२	३९६	द्वाराधरवसितामलारुणमणि-	१०	७९	२५१
वश केवलनेत्राणां सहस्रा-	१८	१४८	४५७	द्वावप्यतुलसामर्ष्यो द्वाव-	१५	१०९	३७१
वश श्रीणि ततो हीनं प-	१८	१४	४३१	द्वावरत्नी समाम्नातो मध्य-	१८	५७	४३९
दशवर्षसहस्राणि जघन्मं प्र-	१८	१२	४३१	द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु	१८	१०	४३०
दशसप्तधनुर्भाना व्यन्तरा-	१८	५३	४३८	द्विजिह्वता यत्र परं कणा-	१	३३	१२
दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि	१	७२	२५	द्विरदानिव मद्रिधान्सा	१२	६१	२९४
दहनेन येन रिपुबंधततैः	५	२८	१२३	द्वीन्द्रिये द्वावशौव सूर्यो-	१८	२१	४३२
दानाम्भोभिर्भूरिभवारिणाना	१३	६१	३२४	द्वीपसिन्धुविषाकरोद्भवै-	७	६७	१८७
दानेन संयमिजनस्य जि-	३	६०	८८	द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते	२	११३	६१
दामद्वन्दात्सुभ्रु सोऽनन्त-	१६	६४	४०२	द्वीपेयु दुर्गव्यव मण्डलेयु	४	६६	१११
दारासुतानप्यनपेक्ष्य केचि-	४	५४	१०८	ध			
दारुणं यस्तपस्तेऽः	२	४	३१	धनयौवनप्रभृति सर्वमनु-	१७	६८	४२१
दारुणा विरचना भ्रुकुटीना	८	४१	२०७	धनहानिरुपप्रदानतो-	१२	८१	२९९
दिङ्नागान्प्रतिदन्तिषाङ्कमनसः	८	६२	२१३	धनुर्धरं खङ्गिभिरश्ववारैर्ग-	४	५	९५
दिननाथविभवे पूरिताशा	६	४४	१५१	धनुर्महारबेनाय दुधुवे	१५	७९	३६५
दिनमद्य मे गतमनुत्सवता	५	६४	१३२	धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता	६	७६	१५९
दिनैरुपैरेव प्रथितगुणारो-	५	९१	१३९	धरणीध्वज इत्यमोघनामा	६	९०	१६३
दिवसाधिपबलभागमे	१०	३	२३१	धराश्रयः संततभूतिर्मंगमः	१	४९	१८
दिव्यं दिव्यैः सेव्यमानं वि-	१६	६१	४०१	धर्माधर्मैकजीवानामसंख्ये-	१८	७७	४४१
दिव्यान्दिव्याकारकान्तास-	७	९४	१९५	धर्माधर्मयोरविदवत्स-	३	१९	७५
दिशि तस्यामवस्थाप्य	२	२७	३६	धर्माधर्मोर्धेन नयस्व वृद्धि	४	३९	१०४
दीनानाथकृतोत्सर्गः स-	१५	१५	३५१	धर्मोऽर्थसंचयनिमित्त-	३	११	७३
दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव	३	३७	८१	धवलारुणकुण्डदृष्टिपातैः	६	४	१४१
दुरन्तभोगामिमुखा निवर्त-	११	२३	२५८	धिवक्त्रमोदृष्यं कर्म करोति	१५	१३४	३७६
दुरात्मकादेव भवाद्भयकरा-	११	२०	२५७	धीरधीरारिरुधिरैरुद्वारा-	१५	४९	३५८
दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलमप्रबो-	३	२२	७६	धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा	१८	८	४३०
द्वृत्तिकोक्मिति कोऽपि नि-	८	३०	२०४	धूमोद्गमैरागुरवैः सुरस्त्रो-	१४	४	३२७
दृष्टोर्मदालिपु लतासु शरीर-	८	६०	२१२	धूलिसालो वलयसदृश-	१७	८४	४२५
दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमञ्ज-	४	७७	११५	ध्रुवमस्य रूपविभवेन जित-	५	४३	१२७
देव कोऽप्ययमत्यन्तममा-	१५	११६	३७२	ध्वनन्निजम्बावनि तारमन्ते	१४	३१	३३४
देव देवोचितस्थाने सुगन्ध-	२	२	३०	न			
देवमानवशुभेतरग्रहप्रापि-	७	१४	१७३	न कष्टकद्रुमस्यस्य काक-	१५	३३	३५५
दोषानुबन्धरहिता तमसा	३	१८	७५	न काकतालीयमिदं कथं	४	२६	१००
दोःस्वित्त्वमिति मंचिन्त्य	१५	१४५	३७८	न काचिवीहा कृतकृत्यमा-	५	८२	१३६
द्व्याणा पुद्गलादीनामधर्मः	१८	७१	४४२	न केवलं सर्वगुणाश्रयेण	४	११	९६
द्राघोयसीरविरलं रचिता	१४	४४	३३८	नगनुक्लमतङ्गजोप्रनके	३	५३	१५३
द्रवेषामप्यथ प्रातः स्वावरे	१५	१	३४८	नगापगातोयतरङ्गलोल-	४	२०	९८
द्वाधत्वारिणता वर्षसहस्रैः	१८	४०	४३६				

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
नगोत्तुङ्गं समाह्वय नागेन्द्रं	१५	२३	३५३	नयेन नृणा विमर्षेन नाकि-	११	५२	२६६
नमश्चातितामासी बद्ध-	१५	८०	३६५	नरनाथ युष्मा यदा स दृष्टो	१	६१	३५६
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति	२	१०३	५८	नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं	५	८५	१३७
न च मुख्यादृतं गोकर्क-	१८	७७	४४३	नरेन्द्रविद्याधिगमादिशुद्धया	१	५१	१८
न च व्यापकता तस्य	२	८७	५४	नरो विबध्यते सरागतां ग-	११	२१	२५८
न च सज्जि सुसहस्त्वयापि	९	१३	२१७	नवद्वैवेयकादिस्थाः कल्पा-	१८	५१	४३८
न चात्मभूतयोरेक्यं	२	७३	५०	नवतिस्थयिका तस्य सभा	१८	१४६	४५७
न चानुमानं तद्वाचा	२	९५	५६	नवसंगमजन्मना ह्लिया	१०	४४	२४१
न चान्यदस्त्युपादानं	२	६९	४८	न विबाधनं जनपदस्य सम-	१७	५६	४१८
न चाप्यकर्वृता तस्य	२	८१	५२	नबोदयं प्रस्फुरितप्रतापं प्र-	४	६९	११२
न चाथपित्तरप्यस्ति	२	१००	५८	न समोरणः श्रवणभेषिप-	१७	५५	४१८
न चासिद्धमहेतुत्वं हेतोः	२	६४	४६	न सहते करपातमयं नृपो-	१३	१८	१३३
न चास्वविदितं ज्ञानं वे-	२	५६	४४	नहि कार्यविपक्षितः पुरो-	१२	७०	२९६
न चोपादानधर्मोऽपि	२	७०	४९	मायाः पदातिवृषभा-	३	७	७१
न जहाति पुमान्कृतजता-	१०	१३	२३४	नानापूषा समजनि ततः	१७	८५	४२५
न तथाप्यनुवर्तनामहं	१२	१०१	३०४	नाप्यागमेन सवज्जः	२	१०१	४८
न तस्य तावानमुसनिभस्य	५	७८	१३५	नामयप्रतुलदेवपोषाः	७	६४	१८६
न तस्य बाधकं तावत्प्र-	२	९४	५६	नारकस्यायुषो नैवो बह्ना-	१८	८९	४५५
न तादृशो स्वं विभवे न	११	५४	२६७	नाविधोगः सुहृत्सङ्गो न	१५	१३६	३७७
न त्वाहं विरहमयाङ्गुणामि	१०	७१	२४८	नास्ति तस्य मयि यन्मम-	८	१४	१९९
न नवं व्यो व्यसनवर्गहतं	५	९	११८	निःशेषमन्त्रधरधोरगभीर-	३	७१	९१
न निमित्तमिहोपदेशको-	१२	४४	२९०	निःस्पन्दं गजमिति संवि-	११	९०	२७७
न पपात रणे तावद्धीर-	१५	५७	३६०	निकरं दृष्ट्वा तिमिरहानि-	१४	३९	३३७
न परं बन्धनं प्रेम्णो न	१५	१४३	३७८	निखिलान्मितानलदयमो-	६	१०२	१६६
न परोषहास्तमसद्वन्त धृति-	१७	७९	४२३	निखिले त्रिचिद्विचिचि	१२	९९	३०४
न प्रातिफल्यमत्यन्तं मनः-	१५	३४	३५५	निगुल्लतो बाधकराग्रजाना	४	४१	१०४
न बभूव कस्यचिदकालमरण-	१७	५४	४१७	निजधामविबुद्धिकारिणी	१०	४०	२४०
न भवाक्किमवैति यद्बलात्	१२	४१	२८९	निजभर्तुदुष्यसन्नुःखचितं	५	६९	१३३
न भूरिदानोऽपि मदेन सं-	१	४६	१७	निजभुजयुगलदस्य जाया-	९	५७	२२९
नम हत्यपि त्वयि जिनेन्द्र	१७	३९	४१४	निजमधुरविलासशोभितानां	९	४२	२२५
न महोरुहाः परिहृताः कुमु-	१४	२३	३३२	निजरूपविभ्रममनोरमया-	५	३६	१२५
नयनाभिरामकलङ्कितं	५	५१	१२९	निजविक्रमाहितरणेकरसो-	५	३२	१२४
नयप्रमाणांशुमिरुज्ज्वला-	११	३७	२६२	निजशौर्यवह्निहृतशत्रुगणे	५	३०	१२४
नयमार्गममुञ्चतः स्वयं	१२	७५	२९८	निजेपुरिचितस्फारमण्डवो-	१५	४३	३५७
नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो-	५	४४	१२७	निजैः समस्तानिमिभूय धा-	१	४७	१७
नयविक्रमयोनयो बली	१२	७३	२९७	नितम्बबाण्यः सवराङ्गना-	१४	८	३२८
नयविक्रमशक्तिशोभितो	१२	४	२७९	नितरां परिकीपितो मनो-	६	६८	१५७
नयशास्त्रनिर्दिशितेन यः	१२	७६	२९८	नितान्तदुष्टेन कठोरवृत्ति-	१	४८	१७
न यावदद्यापि पवित्रपांशू	५	७६	१३५	नित्यं व्यापकमाकाशमव-	१८	७२	४४२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
मित्यसनिहितदेहदेवतादत्त-	७	१८	१७४	नृपतेमुकुलीकुर्वन्स करा-	२	३८	३९
मित्यस्यानुपकारिस्वात्मस-	२	७७	५१	नृपपराक्रमशीजविवस्नुभि-	१३	१९	३१२
निपतति कुक्षमण्डले रमण्याः	९	५०	२२७	नृपवधूजनयानवितातकी-	१३	३२	३१६
निपातयन्ती तरले बिजो-	१	२७	१०	नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनी	७	२८	१७७
निपातितानां रणमूर्ध्वरोणा-	४	५९	१०९	प			
निमज्जती मे परिमूढबद्धेरे-	५	८३	१३७	पञ्चस्पन्दविनिर्मुक्ते बभ-	१८	१३८	४५५
निमित्तभावेन मदम्य भूय-	११	५१	२६६	पञ्चवमी च सहस्राणि वर्षा-	१८	४१	४३६
निरन्तरनिपातोपुजालय-	१५	५४	३५९	पञ्चवमी दुष्मा ज्ञेया पथो	१८	३८	४३६
निरन्तरैवं शूकाङ्गकोमलं.	१	१३	६	पञ्चवमानपि कृत्वाप्रे पत्तो-	२	२९	३७
निरवग्रहैर्नवनै परित	५	१०	११८	पटहजेन पटुज्वनिना मुद्-	१३	३५	३१७
निरवधि प्रसूर्तवंधुधातले	१३	१२	३११	पठितव्यमिहान्वया स्थितं	१२	८३	३००
निरस्तपद्मवर्गिपुः कृतज्ञो-	४	१४	९७	पण्यस्त्रीमिव समुपातवत्रपु-	१६	३८	३९५
निरालोके जगत्स्मिन्न-	२	४१	३९	पतिरङ्गनया व्यपेधि मत्प-	१०	४५	२४१
निराश्रयाणां पततामधोग-	११	४२	२५४	पत्रं धनं धान्यमशेषपरान्नायु-	४	५७	१०९
निर्मलं विषतसुखाम्बुधात्र-	१६	२३	३९०	पथि युवं. करिभूकृतिवि-	१३	२९	३१५
निर्वतितात्मा विषयेभ्य इत्य-	११	३०	२६०	पथिपु हस्तिपकाहतडिण्डि-	१३	१४	३१२
निवसन्कृतसत्कृति स त-	६	५९	१५५	पदवीमतोत्य तमसां तपता	५	६३	१३२
निवारयन्तोऽपि दरीमुख-	१४	६	३२७	पदानिसायां विमवाश्च बान्ध-	११	५६	२६७
निवृत्त्य यावत्किल पृष्ठवति-	११	६	२५३	पयसि समवतीर्य नाभिदधन	९	३३	२२३
निवेदितान्तःकरणस्य भूषु-	११	५८	२६८	परकृत्यविषो समुद्यत.	१०	४	२३१
निशम्य तस्यागमन स पा-	११	३२	२६१	परंतपस्तडिडवर्गं चित्राङ्ग-	१५	११२	३७२
निशम्य तस्यातुलपुण्यश-	४	५३	१०८	परया प्रभुशक्तिसंपदा	१२	३	२७९
निशाकाशप्रकराच्छवारि-	१	१४	६	परबुद्धिनिबद्धमस्सरे विफ-	१२	८५	३००
निशागमे सोषशिरोधिराहि-	१	२९	११	परशु बाह्यमास कृत्वा स-	१५	१२९	३७५
निशामु शोताशुमणिस्थल-	१	१५	६	परस्परस्नेहनिबद्धचेतसो.	१	५८	२१
निषेव्य विवरो वरो विविध-	१४	२०	३३१	परस्परान्तरसंघट्टप्रोच्छल-	१५	६९	३६३
निष्कान्ते शिखरचयानि -	१४	४०	३३७	पराक्रमाक्रान्तमहोभुजो-	१	५४	२०
निष्कामति प्रविशति प्रक-	१	८३	२७५	परिचिते बहुशोऽप्यवनोद्वरे	१३	२६	३१५
निःस्वेदत्वादिमित्यस्य सह-	१८	१३३	४५४	परिज्वलन्महास्त्रोर्धं रवं	१५	२४	३५३
निहृतप्रमुखे ततोऽरिसंन्ये	६	१०७	१६८	परिणामसुखं शरीरिणा	१	७६	२६
निहृत्य नूनं क्षमखङ्गधारया	११	२६	२५९	परिणामहिते समीहते पथि	१	७१	२४
निजोचिता समाकर्ण्य	१५	१०२	३७०	परिणामिनि यामिनोमुखे	१०	४१	२४०
नोरन्ध्रविपुलफलैरकृष्टपक्ष्यैः	१६	५	३८५	परिणेष्यति ता य एव च-	६	८४	१६२
नीलाननं प्रसृतपाण्डिम-	३	६४	८९	परितः परिचूर्णयन्नुपता-	६	३	१४०
नीलोत्पलानि निजया	३	६७	९०	परितः परिवव्रस्तमन्येऽप्ये-	१५	२५	३५३
नीलोत्पलोल्लसितलोलमरो-	१४	३४	३३५	परितापविनाशनाय शय्या	६	६६	१५७
नूनमिच्छति नो जेतुं	१५	१००	३६९	परिदेवनसतापशोकाकन्द-	१८	८५	४४५
नृत्यच्छिन्नङ्गिनि मुद्-	३	४३	८३	परिप्रवत्यरिनिर्जयनिर्गन्तो-	१३	६	३०९
नृपतिरेक एव कुलं	१३	१५	३१२	परिमितैर्गमनैः कुषवाहिनी	१३	५३	३२२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
परिरम्भ दृढं स मत्प्रभुर्म-	१२	५	२८०	पुष्यतुङ्गनिरन्तरैस्तरुणां	६	५	१४१
परिरम्भमो वधूवपुःपरि-	१०	५३	२४३	पुष्य दक्षिणतोऽस्ति तत्र	६	७५	१५९
परिरभिभि जीवितैश्चरे	१०	५४	२४३	पेदुरेत्य मटगायकादयो-	७	३६	१७९
परिवर्धयति स्वकौशलं	१२	५९	२९४	पौरः समागत्य गृहीतरत्न-	४	५२	१०७
परिश्रूयमना विविन्तय-	६	६२	१५६	प्रकृतिस्फुटं ग्रहणस्य	१७	४६	४५५
परिक्षुतानोन्दुमणिप्रतानात्	१४	९	३२८	प्रकृतीर्नयस्तनुतरत्नमतनु-	१७	८१	४२४
परिहितायसकञ्चुकमेवकं	१३	३२	३१४	प्रभुम्य क्षणमथ मङ्गलकहे-	१०	६२	२४५
परीतशृङ्ग स्फुरदंगुशालक-	१	२३	९	प्रख्यातः प्रशमरतः प्रताप-	१६	११	३८७
पर्यं मम शृण्वतस्तथा	१२	६४	२९५	प्रमत्तमरविन्दकोक्कोनायाः	९	२१	२२०
परोलादपि चेज्जाना-	२	६०	४५	प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिर-	१७	७	४०६
पर्यन्तवर्ध कनकोज्ज्वलासु	१४	३	३२६	प्रविधाय च दूतमृदुतास्यं	६	८९	१६३
पर्यन्तजाततृजालनिरुध्य-	८	५९	२१२	प्रणदितकलकाञ्चिचनूरोत्थं	९	३	२१५
पराशोऽपि संनिधिमवाप्य	१७	३७	४१३	प्रणनाद भावनगृहेषु जल-	१७	५	४०६
पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजा-	११	८९	२७७	प्रणमन्ति मदन्वयोऽूर्वं	१२	११	२८१
पश्य प्रिये परभूतध्वनित-	८	५२	२१०	प्रणिगृह्य नयान्वितं वच-	१२	८२	२९९
पाणिभिर्गलितास्त्रौघाश्चरण-	१५	५८	३६०	प्रतिजन्तु यतो जीवः	२	५५	४४
पातालोदरमिव सेवितं सह-	१६	१०	३८६	प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः	६	१५	१४४
पादरक्षसमूहेन परिवारित-	१५	११९	३७३	प्रतिपत्तिभिरर्घपूषिकाभिः	६	७८	१६०
पादानाननुज्ञाय सामन्ताम्	१५	१४७	३७९	प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं	५	५४	१३०
पादाब्जद्वितयशिलीमुखाय-	१६	२७	३९१	प्रत्ययपाकविततं मुरभी-	१४	४९	३४०
पादो विरेजतुस्तस्य हेमा-	१८	१४३	४५६	प्रत्यहं द्विगुणपोषणावनी-	७	७१	१८८
पिङ्गावादित्र विरहानलप्र-	१०	६६	२४६	प्रत्यूषोद्बर्हामिबिन्तुभिः	१०	६८	२४७
िन्नुनिदेशादथ सुन्दराङ्गी	४	१५	९७	प्रत्येकपक्षे जीवाना भूत-	२	६५	४७
पीताम्भस ध्रुमलवानिव-	१४	५४	३४१	प्रथमं द्विपि साम बृद्धिमान-	१२	७९	२९९
पुंसा पुरोवक्षितपुण्यनिबद्ध-	३	५९	८८	प्रथमाया पृथिव्यां ये ना-	१८	९	४३०
पुण्यं कश्चित्तस्यास्य	१५	११	३५०	प्रायतोऽथ चण्डरुचिरित्य-	५	५३	१२९
पुरपतितमालोक्य तं	१५	७३	३६३	प्रथितोऽयमरिजयाभिषा-	६	४१	१५०
पुरनाथपुरःसरः कुमारः	६	५७	१५५	प्रध्वनद्गुरारारोरोपित-	१५	७०	११९
पुरुषस्तपनीमवदगुरुं परै-	१२	८८	३०१	प्रपित्सु संपवकलोपमान्वि-	११	१८	२५७
पुरुषेण जिगीषुणा सदा	१२	७२	२९७	प्रपूरयन्धन्यधनैरशेषं	४	१०	९६
पुरैव संसारपरम्पराया-	४	३३	१०२	प्रपृच्छथ सुतमात्मनस्तमप-	१	८१	२७
पुलिनभूमिषु यत्र तटदृम-	१३	५९	३२४	प्रमञ्जनः स्नेहरसुन्दरीणां	१४	१४	३२९
पुष्पमन्त्रमहनाम धुनाना	८	५	१९७	प्रभावतो लब्धमहर्द्धिकस्य	१४	७	३२८
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषा-	१८	३४	४३५	प्रभावनाया जिनवत्समो-	११	३६	२६२
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः	७	१	१७०	प्रमृशेयन्नतं प्रमाजितुं	१२	८०	२९९
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा	७	७२	१८८	प्रवाणकालप्रभवैश्वरैस्त-	४	५०	१०७
पुष्कवाधिवितकर्मितं शुक्ल-	१८	१२०	४५१	प्रवाणपूर्वनिधोपसमिल-	१५	२६	३५३
पुष्कवोपतिपुनपृच्छयासा-	६	४०	१५०	प्रशासमुच्चैःकटकेषु भूभू-	१	४१	१५
पुष्पिण्यादिस्वरूपेण स्थूल-	१८	७९	४४३	प्रलयाहिमदीधितेरिवोत्कर्षा	६	५५	१५४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
प्रलापिनीषे करुणाद्र्भावं	५	७४	१३५	प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽव तिथौ	३	६९	९१
प्रबिकासिनि यन्मलीयत	१०	२४	२३६	प्राप्य चक्रचरराज्यसंपत्ता-	७	३९	१८०
प्रविचिन्त्यभुदेतुमिच्छता	१२	४६	२९१	प्राप्याभ्युतं सपदि कल्प-	११	७३	२७२
प्रविचेष्टितमेशमेव चेदु-	१२	१०३	३०५	प्रावेशिकानकनिनादबिभो-	७	८२	१९१
प्रवितोर्यं राज्यमवदात-	१७	७४	४२२	प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं	७	२५	१७६
प्रविधाय तत्र पटुबाधनि-	१७	७६	४२३	प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपल-	२	१२६	६४
प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदि-	१७	४२	४१४	प्रासिदधिति शशिप्रभान्वि-	७	१७	१७४
प्रविधाय ते समयमेकम-	१७	२३	४१०	प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो-	१०	५६	२४४
प्रविश्य भवनान्तरं क्षणच-	७	९२	१९४	प्रियवाइपरेषु विद्वत्सीत्कु-	१२	५१	२९२
प्रविशितसर्वपादसेवागत-	६	७९	१६०	प्रियसङ्गसम्युक्ताङ्गनानय-	१०	२	२३१
प्रविहाय जिगीषुषामिमां	१२	२२	२८४	प्रोणिताहिनरदेवकुलानि	८	२४	२०२
प्रविधाय मामशरणं सहसा	५	५८	१३१	प्रोद्गमद्विदरदप्रभेदनिर्य-	१६	२६	३९१
प्रवृत्तसंभावणयोमिषस्तयो-	११	४९	२६५	प्रोद्गमूव नवमेधमेचक्रा-	७	१०	१७२
प्रगमादिभिः स चतुरोऽपि	१७	७८	४२३	फ			
प्रशवाप्तं पूज्यवचनस्य स	१७	५२	४१७	कलं स्वप्नावत्या सकलमि-	१६	६७	४०३
प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेना-	२	१४२	६८	कलितसस्यसमूहनिरन्तरा-	१३	५१	३२२
प्रसीद नस्तद्वरदात्मदोक्षया	११	५७	२६८	कुलमल्लोक्तुसुसदृशामोद-	१५	१६२	३८३
प्रसूतया बभनुर्वरकुण्डलप्र-	१३	४	३०९	क			
प्रसूतालकतुल्यलाञ्छनयु-	१०	१८	२३५	बकुला अपि दृष्ट्वा तमणु-	२	१४	३३
प्रस्तुतस्यानुमानस्य	२	१०७	५९	बद्धाञ्जलीन्वष्टितमानशृ-	४	५८	१०९
प्रस्वेदकेलवविज्जुरिताङ्ग-	१४	५१	३४०	बद्धा दृढं परिकर विनिवा-	११	८६	२७६
प्रहतं मरणेन जीवितं जर-	१	६९	२४	बध्यते कथय कर्मभिः कथं	७	४३	१८१
प्रहृत्य च चिरं चञ्चलचार-	१५	९२	३६७	बन्दिभिः स्तूयमानरतं ब-	१५	१११	३७१
प्रह्लादनं विदधती शशिनः	३	६२	८९	बन्दिभ्यो ललितपदक्रमा-	१०	७७	२५०
प्रह्लादिनेति वचसा वदता	११	७९	२७४	बन्ध एव प्रविष्ट्वादनृक्तिः	१८	३	४२९
प्राकारः परितो यत्र	२	१३१	६५	बभूवोपधय. समन्ततः शि-	१०	३९	२४०
प्राकारपरिखावर्गै. परितः	२	१४१	६८	बभूव भव्याम्बुजपावम्धु.	प्र० प्र०	१	४६०
प्राकारशिखरासन्नैस्तार-	२	१३०	६५	बलगतितयैव निष्फल	१२	३६	२८८
प्राकारोऽच्छस्फटिकपटि-	१७	८९	४२७	बलवानपि जायते रिपुः	१२	७४	२९७
प्राक्प्राचीं दिशमुपसृत्य धृत-	१६	२५	३९१	बलवानहमित्यहंक्रिया	१२	३५	२८८
प्रागतीव मनसा समुदा य-	८	३५	२०५	बलवान्विचित्रेव देहिना	१०	६	२३२
प्रागपाग्वरुणदिग्ध्यवस्थित-	७	६८	१८७	बहुनागमनेककर्त्तृस्त्वयं	६	१३	१४३
प्रागेव प्रमुदितबीजिनावत-	१६	५५	४००	बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गि-	११	६४	२७०
प्राणैरस्थास्तुमिः स्थास्तु	१५	६४	३६२	बहुभिः परिवारितोऽलिलं	१२	४८	२९१
प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः	१८	१४५	४५७	बहुधाः प्रणिपत्य बोधिता	१०	५२	२४३
प्राप वारवनिताप्रवर्तितैः	७	३५	१७९	बहुसत्त्वयुतो स्थिराशया	१२	५०	२९२
प्रासदिचरादुत्तरपरिश्रमलिप्त-	१४	४८	३३९	बह्वादिस्मादिसंभूतैः पापैः	१८	१५	४३१
प्रासमानवभवोऽपि कुञ्जलः	७	४८	१८२	बिभेति पापाश्र सतामसंम-	११	१४	२५६
प्रासस्योत्तरदिशमेति तीव्र-	१६	४६	३९७	बिभ्रती काशसंकाशपक्ष-	२	१३५	६६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
बिभ्रती मधुकरं कलिकालं	८	४	१९७	भुवनतिशायिजिनरूपवि-	१७	१८	४०९
बिभ्रती बृंहदुष्टपिच्छ-	२	११५	६१	भूपाना वसमयुगादिसत्कु-	१६	५४	३९९
बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितत्र-	१४	२८	३३३	भूगले बिजितसमस्तदक्षि-	१६	३९	३९५
बिसतन्मुनिर्मलतमैर्जना-	५	२४	१२२	भूभयुः कुसुमशरानुकारि	१६	४३	३९६
बृहदलाबुकगौरववामनां	१३	४३	३१९	भूमनुदिशमभिदक्षिणा यि-	१६	३३	३९३
ध्रुवे नागस्ते त्रिलोकेकमु-	१६	६३	४०२	मूरिभैरवधीराया रुष्टः	१५	१०	३५०
म				भेजे नितान्तमजलोऽपि-	३	१०	७२
भक्तियोगोऽर्हदाचार्येष्व-	१५	१५७	३८१	भेदाः पञ्च नव द्वौ च	१८	९९	४४७
भन्ने चापे गुणे छिन्ने रि-	१५	४८	३५८	भोगकर्मभुक्तो भेदान्मानुषा-	१८	२८	४३४
भङ्गः कचपु नारीणा	२	१३९	६७	भोगान्धिमिधमर्धनं धिमिधग्	१५	१४१	३७८
भङ्गं गृह्यत्यथात्मोये सैन्ये	१५	६१	३६१	भागः स वाञ्छाकृतमर्नि-	४	१७	९८
भजते गदवन्न विक्रियामु-	१२	६५	२९५	भ्रमन्ति भुवनाभोग	२	८	३२
भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्व-	६	२१	१४५	भ्रातृहन्ति पितृहन्ति	१५	१३९	३७७
भटाना भाविसंशामभव-	१५	४	३४८	म			
भद्राः किं प्रपलायध्वं मा-	१५	६२	३६१	मकरसूक्तदूरसमुच्चल-	१३	५८	३२३
भयरोगशोकमरणाणि भव-	१७	३८	४१३	मज्जत्पूरं प्रियमिल्लगल-	२	१३७	६७
भयात्पलायमानस्य कामस्य	२	२०	३५	मज्जत्सोमन्तिनी सार्यकुच-	२	१२४	६४
भरक्षमक्षमाहमूलध्वज-	४	७१	११३	मणिकुण्डलाङ्गदिकरीटक-	१७	२२	४१०
भरतैरावते वृद्धिज्ञासितो	१८	३५	४३५	मणिवष्टिकाः सदसि रेणु-	१७	४	४०५
भवति प्रियमिष्टसाधक	१२	४०	२८९	मणिदीपकप्रकटनिर्वृतये	५	१४	११९
भवतोह विनापि हेतुना	१०	२३	२३६	मणिप्रभाभिर्मणिकूटमद्रि	१४	१	३२६
भवतो ननु पुण्यमत्र हेतु-	६	९४	१६४	मणिभाजने समधिरूप्य	१७	७५	४२२
भवानपास्तव्यसतो निजेन	४	३४	१०२	मणिमुद्रिकाकटकहारवत्स-	१७	४९	४१६
भव्याभयप्रभेदेन द्विप्रका-	१८	५	४३०	मतिवातनेति हस्तेऽधमुप-	१७	३४	४१३
भव्याभोजविबोधनोद्यत-	म. प्र.	४	४६०	मत्त्वानुपल्लवशिलानिह	१४	२७	३३३
भानुर्भवेद्यदि मनागिह	३	१३	७३	मदगन्धपु सप्तपर्णकेपु	६	९	१४२
भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य	१५	२८	३५४	मदनरसमिवातिरिच्यमानं	९	४९	२२७
भारेण स्वतकलशद्वयस्य	१६	२	३८४	मदभाजि परापमानता	१२	८७	३०१
भास्करादिशगोचरोभव-	७	९	१७२	मदमूढमतिहिताहितं	१२	१३	२८२
भास्वानपि च यः सव्य-	२	१०	३२	मदान्धकान्तानयनान्त-	११	१५	२५६
भीमं भासुरवासोभिः सु-	१५	१६	३५१	मदाभ्रमम्भो विसृजद्भ्रूल्ल-	१	२५	९
भीमेनापि हृतः शक्त्या	१५	७२	३६३	मदेन योगो द्विरदेषु केवलं	१	३२	१२
भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं	२	८२	५३	मदो मदोद्धताकारैर्विकु-	१५	३	३४८
भुत्रगान्धर्वेन बह्निमन्दः	६	१०५	१६७	मद्याङ्गादिभिदा भिन्नदश-	१८	३१	४३४
भुवः शोभा भवद्योगाद्या-	२	३९	३९	भवुराभरन्तारिणीं स वाणीं	६	३६	१४९
भुवः समुद्रतुंरधिष्ठितात्म-	१	३७	२०	भवुविमिहितविभ्रमाभिरामां	९	१	२१४
भुवनभवनदीपीभूतभिव्भे	१४	७१	३४७	मध्यमासु च चत्वारि द्वे	१८	३०	४३४
भुवनव्यापिनीं मध्यपुण्ड-	२	३	३०	मध्ये जलं प्रकटचञ्चलपुण्ड-	१४	५३	३४१
भुवभातिगेन यथासा कथितं	५	२७	१२३	मध्योत्तमजघन्येन ताश्च त्रे-	१८	२९	४३४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
भम्बासवापानमनोज्ञगानाः	१४	१६	३३०	मृगः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः	४	२२	९९
मनःपर्ययिणामष्टसह—	१८	१४९	४५७	मृहूर्ता वेवनीयस्य द्वावर्षा—	१८	१०२	४४८
मनस्विमिनीय भवान्मवा—	११	४०	२६३	मूर्च्छन्दरीणां विवरेषु तस्य	४	५१	१०७
मनुष्यजन्मैदमवाप्य दुर्लभं	११	२४	२५९	मृगदृष्टिरिभ्रमप्रहीणा	६	८३	१९१
मनो वषट् द्वावधसु प्रतिक्षणं	११	७१	२७१	मृगराजविदारितेमकुम्भ—	६	९	१४१
मनोहरैः संहृतकण्ठवाटैः	४	७०	११३	मृत एव विलीन एव वा	१२	९३	३०२
मन्त्रेणैव ततः शनोः श—	१५	८६	३६६	मोक्षसंधानचित्तेन गुण—	२	५	३१
मन्ददीप्तिरसुखावहमाना	८	४०	२०६	म्लेच्छाः क्षणप्रभेदेन पञ्चषष्ठा	१८	४२	४३६
मन्दघृतबकुलोपवनेन	८	१२	१९९	य			
मम्मनः सुतनु भीमदनेन	८	४४	२०७	यः श्रौषमन्पुो बभूव विवृ—	प्र.प्र.	४	४६१
मम कः प्रतापमवजेतुमलं	५	२५	१२२	यः कषायोदयासीतः परि—	१८	८८	४४५
मम कर्तुमेव विषयेषु विर—	१७	६६	४२०	यः प्रविश्य हृदये रजनीषु	८	२८	२०३
मयेदमस्याहमिति द्रष्टेण	४	२५	१००	यतः स्ववेदनादात्मा	२	७५	५०
मयि पश्यति माभिभूयता	१०	५	२३२	यत्काचेष्विव भूयाम्यपा—	१६	३५	३९४
मलसङ्गर्जितमितं पुपुतायु—	५	४७	१२८	यत्पादयामुसंपर्कादलकृत—	२	९	३२
मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्म—	१	२४	९	यत्प्रासादशिरोलम्पवध—	२	१२८	६५
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्य—	१२	६	२८०	यत्र श्वचिदगुणगणो गतवा—	३	८	७२
महागुणैरप्यगुणैर्मदोज्ज्वलैः	१	३७	१३	यत्र प्रशान्तसकलव्यसने	३	५	७१
महाचिन्मसंपर्कं तत्रास्ति	२	१२५	६४	यत्र भान्ति कुसुमैरम—	८	३७	२०५
महिमा निसर्गविनयेन यथा	५	२६	१२२	यनोर्बोहृदिचयः परं	१६	९	३८६
महोभूतस्तस्य सतां प्रणाय—	११	५०	२६६	यस्तल्लकीकृतसलयं रुचये	१४	६२	३४४
महोषधीगन्धगतप्रभावाग्नि—	१४	१०	३२८	यथाकालकृता काचिदुप—	१८	१०९	४४४
मायर्हं सति भजस्व स मा—	८	१३	१९९	यथा पलाशास्तनैव शोभ—	२	१७	३४
माद्यहन्तिमदीसेकच्छन्न—	१५	३७	३५५	यथा भवत्यप्सुदिते जनोऽ—	४	३५	१०२
माधुर्यमिच्छुरतिशायि परि—	८	५५	२११	यथाभिलषितं वस्तु	२	१२१	६३
मानुषस्तावगन्तव्यः स्व—	१८	९०	४४५	यथा सम्यक्परिज्ञातं रुचि—	१८	१२७	४५३
मानोभ्रता महाभोगा—	२	१३२	६६	यथा हि पुरुषः खेऽपि	२	९६	५६
मानोभ्यादव्यपनयचतुरा—	१४	३०	३३४	यदतीतमसीतमैव तत्सुख—	१	७०	२४
मार्गप्रभावाभाशानतप.प्रभु—	१५	१५९	३८२	यदधु त्रय कोपधूपिते	१०	३२	२३८
मालायुग्मं प्रान्तविभ्रान्त—	१६	५९	४०१	यदभूत्सुगामुखवृत्तमितेरु—	५	३७	१२५
मिथ्यासासादनदृशो मिथ्या—	१८	४४	४३७	यदसह्यसोकोपनकालबल—	५	७०	१३४
मुकुटरत्नचयेन परस्पर—	१३	५	३०९	यदि मायवलेन वारणो—	१२	२९	२८६
मुखमसदृशविभ्रमेवित्वा	९	४०	२२५	यदि वा कुतश्चिदपि कार—	५	६१	१३१
मुखमिमरविन्दसुन्दरं न.	९	४०	२२६	यदीदमागन्तुकुःखकारणं	११	२५	२५९
मुनिजननुतवादः प्रास्त—	प्र.प्र.	३	४६०	यदीयगाम्भीर्यगुणेन निर्म—	१	५०	१८
मुनिना वक्तुमारमे तस्मै	२	११२	६१	यदीयमेणाङ्कवरीविहारिणा	१	५५	२०
मुनिभिः स्थितः सह समेत्य	१७	८२	४२४	यदुक्तं सूरिणा तेन	२	१११	६०
मुनेस्तस्य प्रभाषेण या	२	११	३३	यद्भावि भूतमथवा मुनिना—	३	५०	८५
मुषिता वदनश्रिया मम	६	६५	१५७	यद्राज निजमासुरप्रभा—	७	८	१७२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
यमवनीशयमावसरे मयं	१३	१६	३१२	रजनीपतिना प्रतजितं कर-	१०	३४	२३९
यशसः सुलस्य विमवस्य	५	६५	१३२	रजनीपतिविम्बदर्शनादिप्रय-	१०	३७	२४०
यशोभिरेणाङ्गकलासमुज्ज्व-	१	४०	१४	रजनीमहद्वयं स विमज्य वि-	१७	५८	४१८
यस्तवावधिरकारि वसन्तः	८	३७	६९	रजनीषु यत्र गुहहर्म्यं वि-	५	१७	१२०
यस्मात्कैलससावुवास विद-	११	९२	२७८	रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता	१	५२	१९
यस्मिन्निरन्तरारामविश्राम-	२	१२०	६३	रतिरूपसंपदमिभूतिकर-	५	३८	१२६
यस्य देवस्य गन्तव्यं स-	२	२६	३६	रयस्वैन समुत्तस्ये भग्ने	१५	७५	३६४
यस्य प्रतापदहनेन विल-	३	२	७०	रयिना युवराजेन सोऽनु-	१५	२२	३३२
यस्य स्फुरद्भिरनुरागाक-	३	३	७०	रन्ध्रनद्विनिविद्यादिभेदतो-	७	२२	१७५
याः प्रसूतविलम्बानुरागा-	८	१०	१९८	रन्ध्र प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो-	१५	७१	३६३
या कर्मजुक्तिः स्वभ्रादौ सा	१८	११०	४४९	रक्षिणेन निजेन तेजसा	१२	२	२७९
या तेन मुक्ता रक्षिणेव साभू-	४	६४	१११	रस्मिजालजटिलीकुतालि-	७	२	१७०
यास्त्येषा नृवर बिभावरी बि-	१०	६३	२४६	रहितः सहजेन तेषसा	१२	९४	३०३
या दुःस्वसाध्या चपला दु-	४	२३	९९	रागादेवच कयाकर्मप्रसयो-	१८	१२९	४५३
यानि द्विपेन्द्रनिवहो निज-	१४	५६	३४२	राजलीलां परित्यज्य	२	३५	३८
यान्तीभिरात्मनिलयाय	१४	४५	३३९	राजाधिराजवसतेहंय-	१४	४६	३३९
यान्यदास्त वचनानि वदन्तो	८	१७	२००	रासभो न यथा शृङ्गी	२	९७	५७
यान्यान्मुञ्चतारातिरनि-	१५	१२४	३७४	रिपुरोषारुणीभूतच्छवि-	१५	९	३५०
या मद्रिषाः पुनरसंचित-	३	३१	७९	रिपुसुन्दरीविततवाप्यजलैः	५	३१	१२४
यावत्पुनः स बलतैऽमिमु-	११	८८	२७६	रक्षिररल्लकराजितविग्रहैः	१३	४१	३१९
यावन्न तोषोपगमप्रवोणौ	४	३०	१०१	रूपगन्धरसस्पर्शाशब्दान्	१८	७८	४४३
या स्त्र्यान्वदा सितिपति-	३	३२	८०	रैरोरा रैरैरैरोरो रोरो रोह-	१५	३९	३५६
युक्तोऽन्यदा सितिपति-	३	४२	८३	रोगादिजनितायावच वेदना-	१८	११७	४५१
युज्यते व्यभिचारोऽपि	२	६७	४८	रोमाञ्चचचित्ततनू रमसेन	३	४५	८३
युद्धमार्गविधौ योद्धुमार-	१५	४१	३५६	रोद्रं हिसान्तस्तेयविषय-	१८	११८	४५१
युद्धमूर्च्छि शवीभूताम्बधू-	१५	१३२	३७६				
युवराज्यमतमस्तु किं तु नः	१२	१०४	३०५	ल			
ये तत्र जज्ञिरेऽस्त्राणां	१५	४०	३५८	लक्ष्मोबानिह भरते सरोज-	१६	१	३८४
येनैकोऽपि जितः इलाष्यः	१५	५६	३६०	लघु जिगमिपुणेति काचि-	९	१०	२१७
येऽन्यजीवायसो भावा-	२	८९	५५	लक्षसौरभगुणैर्मधुजत-	७	३३	१७८
योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः	१८	१०४	४४८	ललितधनतमालका मनोः	९	२	२१४
योषाः शस्त्रघटाः पेतु-	१५	४७	३५८	ललिततिलकमण्डनानि मृग्ये	९	६	२१६
योषात्ममायुषच्छिन्नैर्विरेजे	१५	५५	३५९	ललितभ्रू लोचनयुगं वद-	५	६६	१३३
योऽपराधरचमासु ल्लेश-	८	१५	१९९	लाटीनां कठिनबृहत्पयोध-	१६	४०	३९५
योऽभवतिप्रयतमैः सह मानः	८	९	१९८	लावण्यं भूशामदबादभूदगा-	१६	१३	३८७
				लावण्यसंपदमलाम्भसि	३	१५	७४
				लीनवट्पदकुला तिलकाली	८	४७	२०८
रक्ष सद्रुपिदं नियमेन	८	३९	२०६	लोकाकाशमभिव्याप्य सं-	१८	७०	४४१
रक्षायै प्रजया दत्तं वष्टायां	१५	१३७	३७७	लोकायं प्राप्य तत्रासौ	१८	१३१	४५४
रजनी तमसान्ध्याशानिना	१०	२८	२३७	लोकात्वं नवनयुगे न चित्त-	१६	१८	३८९

प्रश्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
व				विकसिताम्बुह्राणि सरोव-	१३	३९	३१८
वक्ष्यथो भुजयुगं वर-	३	९	७२	विकासवर्द्धः धरदभ्रपाण्डु-	१	१७	७
वचनं वक्ष्यलूययते	१२	३१	२८७	विगलतिविवागगुण्टानामुद्ध-	१०	२२	२३६
वचनमूर्तं सुखरसजिह्वं	५	६०	१३१	विषकृपुदलकान्विलासिनी-	९	४८	२२७
वचोभिरिति तत्त्वार्थ-	२	११०	६०	विपरन्त कुट्टिममहोय परि-	१७	४७	४१६
वज्रपामुजलघर्मवारण	७	४	१७१	विचित्रदुःखा भवमृत्पुस्त-	११	६५	२७०
वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं	१	२१	८	विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकी-	१४	२	३२६
वक्ष्ये देव कोऽयमिति सम्प-	१७	६५	४२०	विच्छिन्नकर्णसुखकृतिज-	१४	६५	३४५
वदन्तमेवं समुवाच भूपतिः	११	५५	२६७	विजातिभ्योऽपि भूतभ्यो-	२	६८	४८
वदान्यतां तस्य विलोभय	४	७	९५	विज्ञेयास्तीर्थकुन्नाम्नो-	१८	९२	४४६
वनकोलिरिति द्विपाधिवः	१२	१७	२८३	वितताखिलवितितलाः पु-	५	४	११७
वनजवनयताः करेण ली-	९	५६	२२९	विदधजिततस्फटिककान्ति-	१७	४४	४१५
वन्द्ये भगवद्वक्षणाहितदान-	१४	६०	३४३	विदधतिमिरं तितोहितं क-	१०	१९	२३५
वपु कोपारुणं बिभ्रद् वृत-	१५	९५	३६८	विदधाति मति मुनाबिमी-	६	९३	१६४
वपुर्प्यतिमात्रमास्तुरं	१	७३	२५	विदधातु भुजगसङ्गभाजो-	६	६७	१५७
वपुर्गादधरप्रविजहृष्य विवि-	१७	७१	४२१	विद्युत्तदचञ्चला यत्र स्वभा-	२	१२२	६३
वपुर्धनं यौवनमायुरन्यद-	११	१२	२५५	विदुने विद्विषा सैव्ये वि-	१५	१३१	३७५
वपुषा जयतामरेन्दलक्ष्मी-	६	५८	१५५	विधाय मोलं बलमारममुल-	४	४७	१०६
वपुषि कनकभासि चम्प-	९	२४	२२०	विधित्तुरेन तदिदामवदयं	४	३८	१०३
वयमप्यगमाम कोशलं तयमार्गे	१२	५८	२९४	विधिना द्रव्यरूपताम्बुधे-	१२	८	२८१
वयोभिरुपेण विवर्धमानो-	४	३१	१०१	विधिना परिणय राजपुत्रो	६	१०९	१६८
वक्षणाद्यायिकाणा च	१८	१५०	४५७	विधिभिविविधाकारैः सिंह-	१५	१५०	३७९
वर्तमानक्षणः कालः स स्व-	१८	७४	४४२	विभुतपङ्कक्तो मधुराशयिना-	१३	३८	३१८
वर्षाणि द्वाः शैवायुर्द्विभि-	१८	२५	४३३	विध्यातेऽप्यनिलवशेन	१४	२६	३३३
वसन्तमनपेक्ष्यैव तस्या-	२	१२	३३	विनयः शर्मकभूषणं परम-	१२	२६	२८५
वसुधामवत्युलघामिन् वतु-	१७	५३	४१७	विनयैकरतिमंहागुणः	१२	२८	२८६
वसुधा पयोनिधयवोवसना	५	३५	१२५	विनिपातयता यदृच्छया	१	६५	२३
वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो-	७	४४	१८१	विनिवृत्तिनाह्निकक्रियं	१०	१२	२३३
वस्तुपदोक्तस्य विविधरूपं	४	६३	११०	विनिवृत्तिमिदं प्रयोजनं	१२	१०७	३०६
वस्त्रं गलद्विगतनोत्रितया	७	८९	१९३	विनिवेद्य सम्पन्नित्वहस्य क-	१७	६७	४२०
वहन्स्मरगाण्डुकपोलमण्ड-	१	५६	२०	विनीयमानो नृपयासनेन	११	७	२५४
वाञ्छच्छिद्गाश्रयविशेषमि-	३	१२	७३	विपरसंपदि जागर्त जरा	१५	१३५	३७६
वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभा-	४	३६	१०३	विपुलं विपुलामिधा दधानं	६	४२	१५१
वाप्येव यावन्न वपुः कुटीर-	४	२९	१०१	विपुलमतिभिर्वृद्धाभात्यैः क-	१	८३	२८
वापीवनायतनतोयतडाग-	२	१४३	६९	विपुलाख्यमरिचयामिधाने	६	८२	१६१
वायुना विदधे किचित्	२	३३	३८	विप्रयोगकृशदारहितेन	८	३८	२०६
वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः	७	३७	१७९	विप्रभावधिरौहदम्बरे विधु-	१०	३०	२३८
वासराधिपतिस्तुङ्गप्रश्लो-	२	१२९	६५	विप्रक्तमित्यजीववस्थ रूप-	१८	८१	४४४
विकसत्कुमुदाकरं सरः	१०	२७	२३७	विप्राग्नि यस्मिन्बहुवो-	१	३४	१३

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
विमिन्दतो हार्दयनेकजन्म-	११	४५	२६४	दीतरागवरणी समर्प्य स-	७	२९	१७७
विमोषणोत्काशतपात-	११	६९	२७१	दीरामिलापात्सपेन्ती	१५	८५	३६६
विमूर्धितं यौवनरूपसंपदा	१	६२	२२	वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं	७	२१	१७५
विमूष्य तत्पूर्वविवेहमात्मनः	१	१२	५	वृक्षपङ्क्तिमुत्तरेष्वरेण	८	३२	२०४
विभूतोऽसि ययाम्बुजाक्ष-	६	२९	१४७	वृत्तिमन्त्रिकुलशिवादिभेदन-	७	७	१७१
विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनु-	१८	९७	४४७	वृद्धानुमत्या सकलं स्वका-	४	४०	१०४
विमलाकृतीरपरिदृष्टलाः	५	५	११७	वेद्यागणाः परिचितानुप-	१४	४७	३३९
विमलामिधानशिबिका-	१७	७३	१३८	वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः	१८	५०	४३८
वियतः पतद्भिरतिहृष्टहृदय-	१७	३	४०५	व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं	२	८५	५३
विरचयसि समादरेण हारं	९	७	२१६	व्यहरद्यत्र यत्रासी तत्र	१८	१३४	४५४
विरहवसितोष्णनीरसाधर-	१०	५१	२४३	व्यानशोऽत्र तदादेशात्पु-	२	२८	३६
विरहे सनुतामतीव ये	१०	४२	२४१	व्यासक्तस्तदधरपल्लवे स रा-	१६	२२	३९०
विरोधः पञ्जरेष्वेव न	२	१४०	६८	व्युत्थानं सचिवमुखाभिष-	१६	२४	३९०
विलुप्तशोभा नि विलोचनो-	१	३६	१३	व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र	१४	३२	३३५
विलोक्य तं शारदमेघ-	११	९	२५४	व्रजति मम जलक्रिया स-	९	४६	२२६
विवादविषयापन्नं ततः	२	१०४	५९	व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वला-	४	२	९४
विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थिते-	१३	५४	३२२	व्रज योग्यगृहासनादिकं	१२	५६	२९३
विविधासु धम्यजनहर्म्य-	५	१५	१२०	व्रतेश्वरिहासप्रभृतिष्वति-	१५	१५३	३८०
विविधासु योनिषु वपुषि	१७	७०	४२१	श			
विबृणोति मनोगतामियं	१२	९	२८१	शक्ति शक्तित्रयाक्रान्त-	१५	१२८	३७५
विवेकिनो जन्मविपत्तिमी-	११	२९	२६०	शक्तिमिस्तसुभिरम्बितो-	७	६९	१८८
विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे	५	८९	१३८	शक्नोतीतिमुमथरोकृतप्रता-	१०	७६	२४९
विशदामसमुज्झितान्वया	१२	१००	३०४	शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया	१२	१६	२८३
विशालशालोपवनोपशोभि-	१	३१	११	शतानि पञ्च चापानां कर्म-	१८	३३	४३५
विश्रान्त्यर्थं समनुसरति प्र-	९	५९	२३०	शक्रदुर्विषहृशक्तिमोषण-	७	१३	१७३
विषयान्तरसंचारो न च	२	५७	४४	शनैर्बिहास्यन्ति गतधियं	११	१७	२५७
विषये क्षल संनियोजितः	१२	८६	३०१	शबराहतपुण्डरीकयूथं-	६	८	१४२
विषये गुणवद्विर्वाजते	१०	७	२३२	शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं	ग्र.प्र.	५	४६०
विषयेषु शत्रुसदृशेषु	१७	६९	४२१	शयितस्य हरेः प्रबोचनामि-	१२	३७	२२८
विषयवह्निशिलाभिषेपुमालां	६	५४	१५४	शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगग-	१५	६६	३६२
विस्बादनमत्यन्तयोग-	१८	९१	४४६	शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापाना-	१८	८०	४४४
विसरन्निषतनुनिर्मलो-	१०	१७	२३५	शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभू-	१	२८	१०
विस्स्नान शिवा तस्य वा-	१५	२७	३५३	शशिकरादुत्तुर्निर्मलगुणबहिः	१३	४६	३२०
विस्तीर्णोन्नतशिलारावली-	१६	७	३८५	शशलाञ्छनेऽस्तमित-	५	३९	१२६
विहर्तुमत्रावधरे समागतं	११	३१	२६१	शस्त्रप्रहारैर्गुंरभिः समुदा	१५	४५	३५७
विहाय ये निर्वृतिमन्यपायां	४	२४	१००	शास्त्रक्षीणकषायो व स-	१८	४६	४३७
वीक्ष्य भागमुकुलं सहकारं	८	६	१९७	शास्त्रे व्ययजयेत्युच्चैर्भक्ष्य-	२	४०	३९
वीक्ष्य जातघडिबासमहानि	८	५०	२०९	शिक्षकाणामुभे कक्षे चतु-	१८	१४७	४५७
वीक्ष्य तार्क्ष्यमिष चिच्छ-	१५	७७	३६४	शिलारमणिशिलानां शा-	१४	३७	३३६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
शिक्षराणि यत्र परिचेः प-	५	१८	१२०	श्रेयस्तनोति परिवर्षयते	३	४९	८५
शिक्षावलीलोडयनाघनाश्व-	१	१९	७	वसितैरहिर्मनितान्तदीर्घः	६	६४	१५६
शिखिगलाकुतिना रक्षणा-	१३	७	३०९	ष			
शिरःसमन्वयमयोश ल-	११	६३	२६९	वट्खण्डमण्डितमखण्डमिति	७	८०	१९०
शिरसा न निजेन तेऽस्ति	६	५१	१५३	वडमी रिपवः शरीरजा-	१२	१४	२८२
शिलातले यस्य धनायमाने	१४	११	३२९	वण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतु-	१८	२६	४३३
शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तः	१५	१०८	३७१	स			
शिलीमुखशतैरखण्डास्तयो-	१५	१२१	३७३	संवत्सरसहस्राणि द्वानि-	१८	२३	४३३
शिकोमुखैरज्योऽयं धनु-	१५	१२५	३७४	सखिलामय तस्य भूधरपते-	१८	१५४	४५९
शिवहेतुपदाहूता क्षमा	१२	८९	३०१	संसर्पतटगतकंकटा समी-	१३	६२	३२५
शिशिरांशुकराभिमर्शना-	१०	३६	२३९	संसारव्याधिविष्वसे भाग्य-	१८	१२५	४५२
शितदग्धनलिनीसमदेहां	८	२७	२०३	संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण	४	६७	११२
शीतला इति विद्याय जनेन	८	४९	२०९	संहतिं नवनवाङ्कुरलोना	८	२	१९६
शीतलो यनभुवामनिलोऽलं	८	७	१९७	स कदाचनाप युवराजयुत	५	५२	१२९
शीलक्षमाधिनयरूपगुणी-	३	१६	७४	सकलं प्रविगाहता चरैः	१२	१०५	३०५
शुचिसङ्गादिकासो मे	२	२१	३५	सकललोकमनोरममुल्लसत्	१३	२	३०८
शुद्धकुन्ददलरोचिषा गवा-	७	७५	१८९	सकलावबोधमकलकुमनु-	१७	२५	४११
शुभः पुण्यस्य पापस्य	१८	८३	४४४	सकलोऽप्यपेक्ष्य किमगोश	१७	३५	४१३
शुभं नभोऽभवदभौषुम-	३	७०	९१	सकृपायतया जन्तोः कर्म-	१८	९६	४४७
शुशुभे कदाकरतलानि स-	१७	४८	४१६	स कुमारयोग्यजलकैलग-	१७	५०	४१६
शुशुवानिति स बन्धमोल-	७	५४	१८४	स कृतो कृतार्थमपि तस्य	१७	३२	४१२
शृङ्गारद्विगुणीमूर्तरमाति	१५	८	३४९	सकृदनुधतया कृतोऽपराधे	९	११	२१७
शैलानिलः शिथिलकम्भि-	१४	५०	३४०	स क्रुद्धेन सुमीमेन स्फुर-	१५	७४	३६४
शैलेन्द्राभं शुभ्रमैन्द्रं गजेन्द्रं	१६	५८	४००	स खातिकायाः पयसो वि-	४	७३	११३
शौर्यं नातिशयि समुज्जितं	१६	१४	३८८	सख्या मुखादिति निशम्य	३	३६	८१
श्रवणतटविलम्बि संविधत्ते	९	८	२१६	स घातिश्रयजरेभिरपरै-	१८	१४०	४५६
श्रावकाणां च लक्षणि श्रीणि	१८	१५१	४५८	संकुलं नरनभदचरामरै-	७	७९	१९०
श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे	१	१	१	संक्षेपतो गिरमिमामभि-	३	५८	८७
श्रीकान्तया सरसिजाकर-	३	१४	७४	संगतं त्रयमिदं प्रजायते	७	५१	१८३
श्रीकान्ताय समर्थं राज्य-	४	७८	११५	संगीतध्वनिमुल्लरैविराजमाना	१६	६	३८५
श्रीवर्मराजोऽपि पितृवियो-	४	४६	१०६	स चक्राणि विचिक्षेप क्षे-	१५	१२७	३७५
श्रीह्रीधृत्पादिभिः स्वान्वपुषि	१६	७०	४०४	स चतुर्विधोऽपि नृपसघ	१७	१०	४०७
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयः-	६	७०	१५८	सचिवैरधुना भवद्विधैः	१२	२७	२८६
श्रुतशुद्धवीरधरितेन्द्रपदं	५	५०	१२९	सच्छाया विपुलतरोर्महाल-	१६	१७	३८८
श्रुतान्वितस्यान्यशरीरभा-	५	८६	१३७	सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं	२	६६	४७
श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभे-	१५	१५८	३८१	सज्जीकृतं महामात्रै रोपि-	१५	२१	३५२
श्रुत्वा घनध्वाननिर्गम नट-	१४	१७	३३०	संछन्नालिलककुभो घना-	१६	२८	३९२
श्रुत्वा सं सकलत्रमुद्गतारि-	६	१११	१६९	सतद्विदारमरणाः प्रवितन्वते	१३	१३	३११
श्रुत्वाति सद्गवनेमममुदाच	३	५१	८५	स ततः प्रभृति प्रसीततेजा-	६	७२	१५८

इकोका	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	इकोका	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सततप्रसूतैरपोडधीताः	६	१०	१४२	समाधिस्तपसो विध्वे कुत-	१५	१५६	३८१
स तवो हतहृतिरुपकोपाव-	६	१०६	१६७	समापतन्मालोक्य पितुः	१५	९१	३६७
स तदीयवचःप्रबुद्धमन्यु-	६	५२	१५३	समुच्चलत्तस्य तुरंगमोत्थं	४	४८	१०६
स तयोर्गुणाभरणभूवितयो	५	४०	१२६	समुच्चलभिः कनकादि-	१	१८	७
सति निजकरजाराणांशुभिन्ने	९	२०	२१९	समुद्गतैर्भावतले पतित्वा	१४	१३	३२९
सति मानसेऽप्यकलुषाम्भ-	५	१९	१२१	समुद्धतान्पापरिपूहनिध्व-	११	२७	२५९
सत्कृत्य स स्वकीयैस्तं	२	२५	३६	समुपाजितपूर्वपुण्यलेखाद-	६	३५	१४९
सदकारणवस्त्वेन सिद्धा	२	६३	४६	समुल्लसद्भिः शरदभ्रपाण्डु-	१	३०	११
सदायमस्मत्प्रतिपन्नभूतया	१	१६	७	संपश्यता कुसुमवासितदि-	१४	४२	३३८
समत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	५४	४३८	संपूर्णशारदनिशाकरकाण्ठ-	३	४	७१
समत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	६२	४४०	संप्राप्तस्तदभूवि पूर्ववारिरा-	१६	२९	३९२
स न प्रवेशोऽस्ति न यो-	१	३५	१३	संप्राप्तैस्तदमपराभ्युद्येर्बले-	१६	४४	३९६
स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं	६	४७	१५२	संभावयामि तदहं तमनङ्ग-	८	५३	२१०
संततोत्सवनिविष्टचेतसा	७	३४	१७८	संभावितकनयना रुचिरा-	७	८८	१९३
संतापप्रवरमुपः समाश्रिता-	१६	४	३८५	संभूयामि मूलीभूतं बलिन-	१५	९६	३६८
संतापमूलमुद्दं विरहं	३	२३	७७	संभ्रम मा वृथा हृद्वं	१५	६३	३६१
सन्त्येव केवलदुःखोऽवधि-	३	४०	८२	सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शाङ्का-	१५	१५२	३८०
संदर्शनादेव तदा महर्षेस्त-	५	७५	१३५	स यत्र दोषः परमेव वेदि-	१	३८	१४
संनह्य सैम्यैः सह शौर्यशौ-	४	५६	१०८	सरभसैर्नराधविनिर्गमं	१३	३३	३१७
संनिधेय्य सततं कमलि-	८	४८	२०८	सरलनवमृणालनालबाहृद्व	९	३१	२२२
संन्यस्य संगमखिलं नि-	१५	१६१	३८२	सरसिजरजसारणे सपत्न्याः	९	४१	२२५
सपदि प्रविधोमता तदत्र	६	६९	१५८	सरागसयनो दानं शोचं	१८	८६	४४५
स पातु यस्य स्फटिकोप-	१	२	१	स रोषादिद्विगुणोत्साहो-	१५	८९	३६७
सपीरः समुद्दुर्गः सकल-	२	३०	३७	सर्पकुचद्वयविपाण्डुरता-	३	६५	८९
सप्ततिमोहनीयस्य विंशति-	१८	१०१	४४८	सर्वज्ञं कनकमयैः समर्थं	३	७५	९३
सप्तधा पृथिवीभेदाग्रा-	१८	६	४३०	सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्य-	२	९३	५६
सप्तोना रुचिरवशातपङ्कता-	१९	७५	२४९	सर्वभाषात्मिका तस्य सर्व-	१८	१४१	४५६
सप्रमादहृदयः कषाययुग्यो-	७	४५	१८१	सर्वभाषास्वभावेन ध्वनि-	१८	१	४२९
सप्रसादसविकासतारकं	७	३२	१७८	सर्वविद्येशिमस्तस्य यथा-	१८	१३९	४५५
स प्रहाय जमसक्तमानसः	७	५५	१८४	सर्वेषामपि तमसा छिदः	१६	२०	३८९
सप्रहारं तमादाय सारणि-	१५	९३	३६८	स संपदामावतर्नं जयश्री-	४	१३	९७
स बहूपस्थोऽपि विशाम-	१	६३	२२	समुतं समुपेत्य तत्सभा-	१२	५४	२९३
समधिकनवयौवनोदयश्री-	४	७५	११४	स स्तम्भं जयककुदं नियू-	१६	३२	३९३
समधिगम्य समस्तसमीहि-	१३	४४	३२०	सह बल्लभया पतिं प्रजा-	६	६०	१५५
समभूत्सुखिक्रवाकयो-	१०	३१	२३८	सह शशिसमकाल्या शील-	४	७६	११४
समवगाढवतां वनदन्तिनां	१३	५५	३२२	सहसापहृतावराशुकः	१०	४७	२४२
समस्तमेवैशिमेष पुंसाम-	४	१९	९८	सहसैव समुद्भूय सुसुवे	१५	२९	३५४
समागमो लिख्यसमस्य रा-	४	३७	१०३	सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योज-	१८	२०	४३२
समाचरन्त्यः शिशुभाषदुर्ल-	१	६०	२१	सायरोपमकोटीनां चतस्रः	१८	३९	४३६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ	श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सागरोपमकोटीनां दश—	१८	३६	४३५	सेना सेना यती बद्धराजि—	१५	२०	३५२
सागरधर्मविरता प्रतिपद्य	३	५५	८७	सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवात—	४	४९	१०७
सा च प्रणश्यति न तावद—	३	५२	८६	सैन्यनाटपनिधिरत्नमोचना—	७	७७	१९०
साधयन्निविधरत्नमण्डितां	७	७०	१८८	सोऽधिगम्य वसुधाविशेष—	७	७८	१९०
सान्ध्या विलोक्य नवयौवन—	३	५४	८६	सोपधानशयनासनावि	७	२६	१७६
सामन्तोपचितचमूपयुक्त—	१६	३६	३९४	सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य	३	४६	८४
सा ह्योवशादश गिरा किम—	३	२७	७८	सौधोत्सङ्गे तुङ्गपश्यन्मुक्ता	१६	५७	४००
सिंहविष्टरनिविष्टमच्युतं	७	४१	१८०	सौभाग्यं स्वविदितरत्र ह—	१६	१९	३८९
सिकतास्थलौज्ज्वलद्दहज—	५	८	११८	स्तुतिं विधायेति मूर्धेर्मनो—	११	४८	२६५
सितकुसुमधयैश्च्युतैः कदर्याः	९	५१	२२७	स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश	१७	२६	४११
सिद्धारत्नमवगम्य संमुखी—	७	६३	१८६	स्थावराः कायभेदेन पञ्च—	१८	१८	४३२
सिन्दुरशुतिरिष पूर्वदिक्षु—	१०	६४	२४६	स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जरा—	१८	१११	४५०
सिन्धुतोयतरणाविषु क्रिया—	७	५	१७१	स्थितोऽथ हर्म्ये स नृपः क—	४	१८	९८
मुखदुःखादिपर्याया जीवा—	२	७६	५१	स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः	१८	२२	४३३
मुखमायतिदुःखमक्षजं	१	७८	२६	स्फुटमिह कमनोयमग्यथा	९	२५	२२१
मुखमाधिताय जिननाथ	१७	३१	४१२	स्फुरदोष्टतट. कराखलको—	६	१४	१४४
मुखमिष्टसमागमे यथा	१	७४	२५	स्मरपरवशबुद्धिरसंपृष्टप्रग—	९	१६	२१८
मुपतिगामिनि भावितमान—	१३	५०	३२१	स्मृता लातवकापाठक—	१८	६३	४४०
मुपनिषु कुसुमांशुः	२	११६	६२	स्यन्दमानमनदिर्जरवचलचच—	७	११	१७२
मुगन्धिनि. द्वासमरुमनोह—	१	२६	१०	स्वादप्रमत्तविरतस्ततोऽपु—	१८	४५	४३७
मुतशोकाद्दुःखपरिविद्धमनाः	५	७१	१३४	स्यादभिन्नस्ततो जीव.	२	७९	५२
मुदुर्करं यन्मनुते गणाधि—	१	९	४	स्वकरा ह्यलीनिजमुखेन वि—	१७	४३	४१५
मुमगाकृतिस्तीकृतं कल—	१०	६०	२४५	स्वनिन्दान्यप्रशंसादिहर्ष—	१८	९३	४४६
मुरपद्मिकाशु विरच्य कृ	१७	२०	४०९	स्वनानेताम्भूरिकल्याणहेतुन्	१६	६२	४०१
मुरपद्मिकरानुपातमेहमरु—	१७	९	४०७	स्वभावजैः क्षान्तिदयाद—	११	४३	२६४
मुरपूज्य यः सततमेव बहु—	१७	३३	४१२	स्वयमेतदुदाहृतं मया	१२	५२	२९२
मुरपेठकै. पटु नटद्विरति	१७	१७	४०९	स्वयमेव किल प्रहेष्यसि	१२	१८	२८३
मुरवृंहिते जयजयेति भुव—	१७	१३	४०८	स्वममेव न वेति कि प्रभुः	१२	९६	३०३
मुरयुवतिजनस्य सानुभाजो—	१४	२२	३३२	स्वयमेव भवद्विराहित—	१२	६३	२९५
मुरयोषितो विविधधूप—	१७	१५	४०८	स्वयमेक्षि यतो नदीरया—	१२	४१	२९१
मुरवृन्दवन्द्य कश्चात्र श—	१७	६२	४१९	स्वगतिता देवि देवालयेन	१६	६६	४०२
मुरमुन्दरीसमशरीरलताः	५	२१	१२१	स्वस्माद्दहिर्भवतः प्रकटं	३	७२	९२
मुललितगमनो न राजहंसः	९	४	२१५	स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं	७	६०	१८५
मुखर्णरभिनिर्वृत्ता दत्त—	२	७	३१	स्वहितं स्वधियैव बुध्यते	१२	४३	२९०
मुखिचार्य करोति बुद्धिमान्	१२	१०२	३०५	स्वाध्यायानशानादीनां	१८	११४	४५०
मुषमोषपदा प्रोक्ता मुषमा	१८	३७	४३५	स्वाध्यायो व्यावृत्तिध्यानं	१८	११३	४५०
मुद्दहर्षरश्मिहारमपिनं	१०	३८	२४०	स्वामिप्रसादमासौधो मुख—	१५	४२	३५७
सेनापति समादिश्य सेना—	२	३४	३८	स्वामिसंमानयोर्म्यं यद्य—	१५	४४	३५७
सेनापतेरिति वचो ललित—	१४	४१	३३७	स्वैरेव दुर्नयः पापाः पच्य—	१५	१०५	३७०

श्लोकावली	सर्ग	श्लोक	श्लोकावली	सर्ग	श्लोक	श्लोक
हठकारिणि यावदङ्गनाः	१०	४३ २४१	हितमेव न वेति कश्चन	१	७५	२५
हतदुःखमसरा निरन्तरस्त-	१०	४६ २४१	हिमवत्सरोरुहोपमाङ्गना	६	६३	१५६
हन्ता यथाहमस्यात्र पर-	१५	१४० ३७७	हिमरश्मिकरापसारिते ति-	१०	३३	२३९
हरयोऽभिषेकमुपगम्य वि-	१७	३६ ४१३	हृत्वापि द्रविणमहावभोग-	१६	४९	३९८
हरिषीठमा स्थितवतोऽथ	१७	५१ ४१७	हृदयहृदयसो विमलाम्बराः	१३	४०	३१८
हरिषिष्टरस्थितमक्षेपजन-	१७	२७ ४११	हृदयाभिमतं वरं वृषोऽथे-	६	३०	१४८
हस्तेन सुन्दरि मुहुविनि-	८	५८ २१२	हृदये हरिणीदृशा प्रिय-	१०	४९	२४२
हा कथं वञ्चितः पापः पा-	१५	१४२ ३७८	हृषिततनुवहादिचरेण भीरु-	६	२८	२२२
हासानिव विमुञ्चन्तः	२	१९ ३४	हृष्यवद्गतया सद्यः स्फुट-	१५	५	३४९
हितं विसंवादविवर्जितस्थ-	१	५ ३	हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धो-	२	७२	५०
हितमितवचनानि मन्त्रि-	१२	१११ ३०७	हेषासकहमे गर्जदगजे प्रध्व-	१५	३८	३५६
हितमिच्छसि वेदकैतवां	१२	२४ २८५	होतो विहाय मम कोचन-	८	५४	२१०



३. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

अवतरण

पृष्ठ

१. अङ्गुलं बत्वरजिरे [अमर० २।२।१३] २५३
२. अङ्गारिणी हसन्त्या च^१ भास्करत्यक्तदिक्ष्यपि । [अनेकार्थसं० ४।७६] १११
३. अत इज् [शाकटा० २।४।२१] ३५१
४. अघरो दन्तवसनेऽनुध्वं हीनेऽधरोऽन्यवत् । [विश्व० रत्निकम् ९६] १२
५. अज्वानं यत्नौ [शाकटा० ३।३।५७] ६३
६. अनुपसर्गे जः^२ [शाकटा० १।४।६६] ७२
७. अपत्यघोत्रसमूहसुरकुजेषु सन्तानः । [नानार्थको०] ६६
८. अमास्यायच पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः । [कात्याः] ३०८
९. अयुक्तिः प्रणीतः कामक्रोधलोभमदमानहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषट्त्वर्गो [नीतिवा० ४।१] ९७
१०. अलिबाणी शिलीमुखी [अमर० ३।३।१८] २२९
११. अवयवात्तयद् [शाकटा० ३।३।७२] ४८, १८३, ३१५
१२. असहनञ्—[शाकटा० १।३।२७] ७७, ९८, १६२, १९२, २१४, २४८, ४००
१३. अस्तिब्रूवोर्भूवचो [शाकटा० ४।२।९१] ५१, ७८, १३६, १६५, १८१, २६८, ३४९
१४. अस्त्यस्मिन्वेति मनुः [शाकटा० ३।३।११६] ७, ८१, ९२

आ

१५. आ घत्—[शाकटा० २।२।१०७] २६५
१६. आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म बर्ष्म च । [अमर० ३।३।१०९] २०
१७. आभोगः परिपूर्णता [अमर० २।६।१३७] ३२
१८. आमोदः सोऽतिनिर्हारी [अमर० १।५।१०] ६२
१९. आयतिदीर्घताया स्यात्प्रमृतामामिकालयाः [वैजयन्तो स्त्री० ३] १९
२०. आराद् दूरसमीपयो [अमर० ३।३।२४३] १५०
२१. आलोकौ वर्णनोद्योतो [अमर० ३।३।३] ३९

इ

२२. इन्द्रासोमाविषु देवतानाम् [शाकटा० २।२।३३] ३१

ई

२३. ईशे [शाकटा० ३।२।१५३] १७७

उ

२४. उत्तरः काल आगत्यः [अमर० २।८।२९] २६
२५. उपसर्गः स्मृतो रोगे^३ विघ्नोपप्लवधोरपि । [विश्व० गचतु० ५४] १२

१. मुद्रितेऽनेकार्थसंग्रहे तु 'च'—स्थाने 'स्यात्' इति वर्तते । २. 'लोदिदपवदानुपसर्गजः' इति शाकटा० १।४।६६ । ३. 'रोगनेदोप' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे समुपलभ्यते ।

अ

२६. ऋक् पूः पथ्यपोऽत् [शाकटा० २।१।३९] ८, २६४

ए

२७. एकयोक्त्या दावाभूमी रोदस्थी रोदसी तथा । १९०
 २८. एकादश—[शाकटा० २।२।१०१] ३८०
 २९. एकादाकिंदासहाये [शाकटा० ३।४।१२१] ३७३
 ३०. एचोऽभ्याः [शाकटा० ४।१।१८०] २०१

क

३१. कश्चिद्—[शाकटा० ४।३।७] १०३, २४३
 ३२. कं वारिणि च मूर्धनि [अमर० ३।३।२५०] ३५९
 ३३. कटकं वलये सानी राजधानीनितम्बयोः [विश्व० कश्चिक् ६३] १५
 ३४. कथमित्यमुः [शाकटा० ३।४।२६] ४०
 ३५. कवन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम् । [अमर० २।८।११८] ३५९
 ३६. कर्म्येककर्तृकात्—[शाकटा० ४।१।१६] ३३, ६३, १०३, १६०, १८५
 ३७. करेणुरिम्वा स्त्री नेत्रे [अमर० ३।३।५२] २७६
 ३८. कर्मकर्तृभ्याम्—[शाकटा० ३।४।५५] २, १२२, १२९, १४०, २६२
 ३९. कला स्यान्मूलरैवदौ शिल्पादावशमानके । षोडशाशे च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कलाः ॥
 [विश्व० लट्टिकम् ४३] १६

४०. कषायो रसभेदे स्यादग्न्यरागे विलेपने ।

नियसि च कषायोऽथ सुरभो लोहितेऽप्यवत् ॥

कटुतिक्तपायास्तु सुगन्धस्याभिघायकाः ।

२११

४१. काण्डोऽस्त्री दण्डबाणावर्गवर्गविसरवारिणु । [अमर० ३।३।४३] १०, ६५

४२. कामक्रोधलोभमदमानहर्षाः जितोशानामन्तरङ्गोऽरिपङ्क्तयः । [नीतिवा० ४।१] २८२

४३. कारिका—[शाकटा० १।१।२७] ३६

४४. कालविशेषोत्सवयोः सणः [अमर० ३।३।४७] ३४

४५. कालशबल—[शाकटा० १।३।६४] २०८

४६. कालाध्वनोऽर्थाती [शाकटा० १।३।१२६] १०६, १३४, १४०, १९९, २२८, ४२१, ४५८

४७. किमिदमः कोशु [शाकटा० २।२।१०८] २५५, २६८, ३०५

४८. कुक्षिभ्रूणार्मका गर्माः [अमर० ३।३।१३५] ४०४

४९. कुपः स्यात्कारिकम्बलः [अनेकार्यध्वनि० १४] ३११, ३२२

५०. कूलाहुवि खञ्जहः [शाकटा० ४।३।१५१] ६

५१. कुञ्ज ग्रहोऽकृतजोवात् [शाकटा० ४।४।१७२] ३६७

५२. कुतकामुकस्य—[शाकटा० १।३।१६६] २०, ४५, १४९, १६२, १९६, २८८, ३७७

५३. कृपाहृदयावालुः [शाकटा० ३।३।१३८] ३९२

५४. कोः कदचि [शाकटा० २।२।११८] २६०

५५. क्ताः [शाकटा० २।१।१११] ३०३

५६. कस जप् [शाकटा० १।३।१४५] ८७

क्ष

५७. क्षत्रियाद् ब्राह्मणोऽपि सूतः पारदबन्दिनोः । [विद्व० तद्वि० ११]

२४५

५८. क्षय्यज्यौ शक्तौ [शाकटा० ४।२।१०७]

३७४

ख

५९. खण्वात्पादिनोर्वयः [अमर० ३।३।२३१]

३४

६०. खित्यक [शाकटा० २।२।७८]

६, ९

ग

६१. गङ्वादिभ्यः [शाकटा० २।१।११४]

१४५

६२. गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं^१

४२९

कण्ठोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोषोद्घतम् ।

स्वष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं नि शेषमापात्मकं

दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः ॥ ['समवसरणस्तो० २९]

६३. गमः खलङ्काः [शाकटा० ४।३।१५९]

९

६४. गह्वरदुःखविपिनकलिलेषु गहनम् । [नानार्थको०]

४२

६५. गुणः

३१९

६६. गुणाङ्गाद्विष्टेयसु [शाकटा० ३।४।७५]

८, १५, ९५, १५६

६७. गृहदेहत्विट्प्रभावा घामानि [अमर० ३।३।१२४]

१३, १७

६८. गैर्योः [शाकटा० ४।३।१२४]

२३, ३५, ७९, ८१, ८७, २३४, ३०३, ३९९

६९. गोरथवालात् त्रकङ्गयोलम् [शाकटा० २।४।१४१]

३१३

७०. गोस्तःपुरुषात् [शाकटा० २।१।३६८]

२३

७१. ग्रहे ग्राहो वशः [अमर० ३।२।८]

२५४

७२. ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल् [शाकटा० २।४।१४३]

८१, ११२, १२२, १२९, १९६

७३. ग्रावाणो शैलपावाणो [अमर० ३।३।१०६]

३०१

७४. ग्लास्थस्स्तुः [शाकटा० ४।३।२२५]

३५६

घ

७५. घत्विदं किमः [शाकटा० ३।३।६८]

२५५, २६८, ३०५

७६. घनाघनो घनो मेघः । [घ० नाम० १८]

७

७७. घुमास्वागापाहावसः [शाकटा० ४।२।८६]

७९

७८. घुमोमा— [शाकटा० ४।१।६०]

१०३

च

७९. चमूरप्रियकावपि [अमर० २।५।९]

१४२

८०. चम्पकस्वर्णसुगन्धवसन्तपशुमनोऽपि सुरभिः । [नानार्थको०]

१९८

८१. चुम्बको बहुगुरुधूर्तायस्कान्तकामुके ।

६०

८२. चोर्वा [शाकटा० ४।१।७३]

१२७

८३. चौ चास्वानव्ययस्येः [शाकटा० २।३।४८]

२, १२२, १२९, १४०, १६२

१. 'दोषरपेतं हितं' इति मुद्रिते स्थाने वर्तते । २. आचारखारेऽपि (४।९५) वक्ष्यति संमुपलभ्यते ।

छ

८४. छन्दो वशेऽप्यभिप्राये हार्दिकाचित्तवृत्तयोः^१ । [विश्व० दद्रि० ११] ७७
 ८५. छाया स्यादातपामावे सत्काम्युत्कोषकान्तिषु ।
 प्रतिबिम्बेऽर्ककान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥ [विश्वलो० यान्त २१-२२] ३८५

ज

८६. जडोऽज्ञः [अमर० ३।१।३८] ४२
 ८७. जराया डसिन्द्रयस्याचि [शाकटा० १।२।३७] २४
 ८८. जलजबलन्याय्यस्थिरांशवरधनेषु सारः [नानार्थको०] २०३
 ८९. जैलद् सनि [शाकटा० ४।१।७२] ६३, १८५, १८८, २६६, ३०८, ३७२
 ९०. जातेऽच्छस्सामान्यवति [शाकटा० २।१।२०२] ४७

झ

९१. जेः [शाकटा० ४।२।३९] १९९, २२०, २२३

ट

९२. टिटृष्णेऽनजगोरादिभ्यः । [शाकटा० १।३।१४] २३७, २७१

ण

९३. णिज्वहुलं कृवादिषु [शाकटा० ४।१।२८] ६२, १२०
 ९४. णेरिक्तः—[शाकटा० ४।२।१०१] १०३, २४३

त

९५. तत्पुष्टे कृति बहुलम् [शाकटा० २।२।१४] १४३, ३२७
 ९६. तदस्य प्रमाणाम्नात् [शाकटा० ३।३।६०] २२२
 ९७. तपस्त्रमायामेधासो विन् [शाकटा० ३।३।१५०] ६७
 ९८. तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् [अमर० २।६।१२३] १६
 ९९. तातोऽनुकम्प्ये जनके [विश्वलो० १९।१२२] १६५
 १००. तुमो मनस्कामे [शाकटा० २।२।६९] ७५, २२०
 १०१. तेमयावेकत्वे [शाकटा० १।२।१९३] ३३
 १०२. तेन वित्ते शुञ्चुबणी [शाकटा० ३।३।९३] १७४
 १०३. तौ युताश्चञ्जलिः पुमान् [अमर० २।६।८५] ४
 १०४. त्वदाद्यः—[शाकटा० ४।३।१०८] २३, ९९, २६५, २६७, २६८
 १०५. त्यागगमदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम् । [नानार्थको०] १७
 १०६. त्वामौ द्वितीयायाः [शाकटा० १।२।१९४] २४८

द

१०७. दशसञ्जशपि [शाकटा० ४।१।२२४] २५
 १०८. दन्तविप्राण्डजा द्विजाः [अमर० ३।३।३०] २१४
 १०९. दयायास्क—[शाकटा० १।४।८३] १६

१. 'हृदाश्चाचित्तवृत्तयोः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे दृश्यते ।

११०. दरी तु कन्दरो वा स्त्री [अमर० २।३।६]	३३२
१११. दिवाविभानिशा—[शाकटा० ४।३।१३२]	२६२
११२. दीप्पूरजम्—[शाकटा० ४।३।१५]	२१९, २२३
११३. दुद्धो लुङ् : [शाकटा० १।४।१९]	३१४, ४०५, ४०७
११४. दुहिं याचि हवि प्रच्छि (?) [शाकटा० १।३।१६९]	२३७
११५. दैवो नदविशेषेऽथो सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् । [अमर० ३।३।१०१]	३३२
११६. दोषच्छः [शाकटा० ३।१।२६]	२०, ७१, ७७, ३५१
११७. द्वाष्टानयोऽनशीतो—[शाकटा० २।२।१०२]	३८०, ४२७, ४४०, ४४८
११८. द्विगोः [शाकटा० १।३।३६]	७२
११९. द्विजिह्वो सर्पसूक्तौ [अमर० ३।३।१३३]	१२
१२०. द्विजिह्वा लुग्व्वा [शाकटा० ३।३।७३]	१८३
१२१. द्वित्रेस्तोयद्वेष्ट ऋग् [शाकटा० ३।३।८६]	६१, २११
१२२. द्विर्धातुः—[शाकटा० ४।१।४३]	१०३, २४३
१२३. द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत. [न्याय स० पृ० ६०]	४
१२४. द्वौ विशो वैश्यमनुजौ [अमर० ३।३।२१४]	२२

ध

१२५. धर्मादिन् द्विपदात् [शाकटा० २।१।१९९]	३८०
१२६. ध्वज पताका कंतुश्च विह्वलं तद्वैजयन्त्यपि [धन० नाममा० ८४]	३६३

न

१२७. नवचाऽन्वुदाद्यनेकहल. [शाकटा० ४।१।१०६]	३७, १३७, ३४९
१२८. न नञः [शाकटा० २।१।१२५]	७२
१२९. न नम् [शाकटा० १।२।१५]	७४
१३०. न पर्याङ्चे रमः [शाकटा० १।४।६८]	४३, २१७
१३१. नमो वरिवस्तपसः क्यच् [शाकटा० ४।१।४०]	४
१३२. नम्कम्यजस्कम्पस्मिहिसदीपो र. [शाकटा० ४।३।२६३]	१३, १८७, २८४, ३२६
१३३. नदमस्जसोर्नम् [शाकटा० २।४।१९६]	२८५
१३४. नानानेकोभयार्थयोः [अमर० ३।३।२४८]	१९७
१३५. नाभेर्नाभिन् [शाकटा० २।१।१९५]	२१, २७४
१३६. नामैकदेशो नाभिन् प्रवर्तते	४५१
१३७. नित्यं णः पञ्चद्व [शाकटा० ३।२।८८]	१९८, ३८४
१३८. [निद्रातन्द्रा—] अद्वा—[शाकटा० ४।३।२३०]	२४४
१३९. निर्वृत्तिस्तु मनस्तोपे मोक्षे समेयवाढयोः । [वैजयन्ती स्त्रोलिङ्गा० ११]	४
१४०. नुदुगि—[शाकटा० १।३।७]	८१, २२०
१४१. 'नेत्रं मृदुगुणे वस्त्रे तमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नद्या च नेत्रो नेतरि भेषवत् ॥	

[विश्वप्र० रटि० ४३] १७६

१४२. नो मट् [शाकटा० ३।३।८५]	३८९
१४३. न्यगोष्पतोऽनशी—[शाकटा० २।१।१२३]	३२०

१. 'क्षे'ऽस्तम्' इति तु वैजयन्त्याम् । २. 'नेत्रं मन्थिगुणे वस्त्रे तमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नाद्या च नेत्रो नेतरि वाच्यवत् ॥' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

प

१४४. पञ्चमी भयादिभिः [शाकटा० २।१।४१]	१३
१४५. पतङ्गी पतिसूयौ च [अमर० ३।३।२०]	१३
१४६. पत्तनं पुटभेदनम् [अमर० २।२।१]	८६
१४७. पत्रं बाहनपत्रयोः [अमर० ३।३।१७९]	१०९, ३९५
१४८. पत्रिणी घारपत्रिणी [अमर० ३।३।१०६]	४२३
१४९. पदः [शाकटा० ४।३।१६]	१२४
१५०. पदाद्वाक्यस्य—[शाकटा० १।२।१९१]	१, २, २९६, ३१२, ३६१
१५१. पद्म्—[शाकटा० १।२।१४३]	१२०
१५२. परभागो गुणोत्कर्षः [अमिषा० ६।११]	२२०
१५३. परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवलः । [बिष्व० रद्वि० ६]	१९२
१५४. परिस्तोमः कुषो द्वयोः [अमर० २।८।४२]	३११
१५५. परुपरारि—[शाकटा० ३।४।२३]	२५५
१५६. पल्लवः किसलये विज्ञे विटपे विस्तरे जवे ।	
शृङ्गारेऽन्यकरागेऽपि [विष्वः]	१९७
१५७ [पाद्माष्मा—] वेद दृशः शः [शाकटा० ४।३।९६]	२४, १००, २३४
१५८. पाद्माष्मास्था—[शाकटा० ४।२।५८]	८५, २८४
१५९. पादा रम्यङ्घ्रिनुयशा—[अमर० ३।३।८९]	३२
१६०. पारे मध्येऽन्तषष्ठ्या—[शाकटा० २।१।९]	३४१
१६१. पाशादेश्च यः [शाकटा० २।४।४२]	१०१
१६२. पुरंदरमगंदर—[शाकटा० ४।३।१५५]	४१४
१६३. पुरुषे का वा [शाकटा० २।२।१२१]	१४५
१६४. पुगः क्रमकवन्दयोः [अमर० ३।३।२०]	३९५
१६५. पूर्वापर—[शाकटा० ३।४।२१]	२७, ७६, १०१, १४८, ४१९
१६६. पूर्वापराशरो—[शाकटा० २।१।२५]	१०७
१६७. पृथिवीसर्वभूमिभ्यामञ् [शाकटा० ३।२।१५२]	२६७
१६८. पुथुकाः शायकः शिशुः [समर० २।५।३८]	७९
१६९. पृथ्वादेर्वैमन् [शाकटा० ३।३।८]	१२३
१७०. पृथक्बाणविशिखाः [अमर० २।८।८६]	१६७
१७१. पोटायुवतिः [शाकटा० २।१।७३]	२५८
१७२. प्रकारे ^१ वा (?) [शाकटा० ३।४।२५]	४३४
१७३. प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्वमात्यादिमातृषु ॥ [वैजय० स्त्रीलिङ्गा० १२]	२८
१७४. प्रणयः प्रेम्णि विलम्बे वाक्छापसरयोरपि । [विष्वः]	२५०
१७५. प्रतिबन्धगजालीकवृष्टिबन्धेष्ववग्रहः ।	६२
१७६. प्रधूमिता श्लेखितायां सूर्यगन्तव्यदिशपि । [अनेकार्थसं० ४।११९]	१११
१७७. प्रमाणीसंख्याद्भः [शाकटा० २।१।१८९]	३७
१७८. प्रसवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम् । [नानार्थको०]	२२९

१७९. प्रहरणात् सप्तमी च [शाकटा० २।१।११३]	१६६
१८०. प्राप्तेऽन्तः—[शाकटा० २।२।१६१]	३९३
१८१. प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् । [अमर० ३।३।९२]	३९३
१८२. प्रायो भूम्यन्तगमने [अमर० ३।३।१५४]	१७१
१८३. प्रियस्त्रिभर—[शाकटा० २।३।५२]	१५, १५६, ३१३, ३३८
१८४. प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् [शाकटा० १।४।२५]	२६३, २६९, २८६
१८५. प्रोपोत्सं पादपूरणे [शाकटा० २।३।६]	२६९
१८६. प्वयङ् [शाकटा० ४।१।२२]	६५

फ

१८७. फलं जातिः [शाकटा० २।१।९९]	१७५
----------------------------------	-----

ब

१८८. बन्वहेत्वभावनिर्जराभ्या कुत्स्नकर्मविप्रमोहो मोक्षः । [त० सू० १०।२]	५५
१८९. बलिहस्ताशव. कराः [अमर० ३।३।१३३]	१२
१९०. बशो भष्—[शाकटा० १।२।७६]	२८८
१९१. बहुलं दलुक् पृषपमुले [शाकटा० २।४।१६९]	३४
१९२. बहुलपार्थ—[शाकटा० २।२।४६]	३७
१९३. बाहुलेयस्तारकजित् [अमर० १।१।४०]	१७३
१९४. भुवस्तिप्पञ्जरी—[शाकटा० १।४।१०४]	४१, ३०४, ४३५

भ

१९५. भंजभास—[शाकटा० ४।३।२५९]	३२६, ४०७
१९६. भलको घस्मरोऽधरः [अमर० ३।१।२०]	३६९
१९७. भागो रूपाधके प्रोको भागधेयैकदेशयोः । [विश्व० गट्टि० ६]	१९२
१९८. भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः [शाकटा० १।३।१०२]	४२, २२७
१९९. भूजेस्त्नुक् [शाकटा० ४।३।२२४]	२२, ७०, १६१
२००. भूतपूर्वे प्वरट् [शाकटा० ३।४।१]	१४९
२०१. भूतिर्भस्मनि संपदि [अमर० ३।३।६९]	१८
२०२. भूमद्भूमिधरे नृपे [अमर० ३।६।६१]	१५
२०३. भृशामीक्ष्याविच्छेदे प्राग् द्विः [शाकटा० २।३।२]	३५७
२०४. भेषजादि—[शाकटा० ३।४।१२७]	२
२०५. भोगः सुखे घने बाहेः शरीरफणयोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥ [विश्व० गट्टि० १०]	६६
२०६. भोगोत्तरपदात्मन्या ख. [शाकटा० ३।२।२१७]	१०३
२०७. भ्यः क्रुकुकन्तुकाः [शाकटा० ४।३।२६५]	२६०

म

२०८. मणितं रतिकूजितम् ^१ [अभिधानवि० ६।४४]	२४५
२०९. मण्डलो रात्रिजागरः	३०२

१. 'भाग' इति तु मुद्रिते विषयप्रकाशे वर्तते । २. 'योर्मतः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ३. मुद्रितेऽभिधानवित्तामणौ तु 'रतिकूजितम्' इति वर्तते । अमरकोषे तु 'मणितं रतिकूजितम्' इति न विलोच्यते ।

२१०. मत्तवारणमिच्छन्ति दानविल्लनकटद्विपे । महाप्रासादवीथीना वरुण्डे चाप्युपाश्रये ॥	
[विश्व० णवञ्च० १०७]	८, ६६
२११. यत्सरोऽप्यशुभद्वेपे तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु । [अमर० ३।३।१७३]	९७
२१२. मदकलः स्थान्मत्तेभे मदेनाव्यक्तवाचि च । [विश्वलो० लान्त० १६६]	२१४
२१३. मद्यो रेतसि कस्तूरी गवै हर्षेभदानयोः ।	१२
मद्येऽपि मद आख्यातो मूढि कृतकवस्तुनि ॥ [विश्व० दद्वि० २]	
२१४. मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि [अमर० ३।३।१०३]	१९७
२१५. मर्यादा धारणा स्थितिः [अमर० २।८।२६]	३
२१६. मलादिमसदन [शाकटा० ३।३।१४५]	९, १०६, १२६, २३२, २३३
२१७. मलीमसं तु मलिनम् [अमर० ३।१५५]	९
२१८. मानं प्रमाणे प्रस्तादौ मानयितोत्पन्नौ ग्रहे । [विश्वलो० नान्त० १७]	६६
२१९. मान्तोयान्त— [शाकटा० १।२।९६]	७, ८१, ९२
२२०. मिथो ग्रहणे प्रहरणे च सूर्यं गृह्येभ्योभावः [शाकटा० २।१, ६]	३५८
२२१. मोनपाठोन एव च	११३
२२२. मुग्ध सुन्दरमुढयोः [विश्व प्र० धद्वि० १०]	२१६
२२३. मूर्तिः काठिन्यकाययोः [अमर० ३।३।६६]	१२
२२४. मोर्ष्यायदा (धा) न पारदेन्द्रियमूत्रवत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादियु गुणः ^२ [नानार्थको०]	३
य	
२२५. यतद्व [शाकटा० ३।३।७०]	८६, १३५
२२६. यथावा. [शाकटा० २।१।१९]	६३
२२७. यदभावो भावलक्षणम् [शाकटा० १।३।१८०]	४५
२२८. यमकक्षेत्राचरेषु वनयोर्द्वेयोनं भित्तिः । [वाग्भटा० १।२०]	१९८
२२९. यन्मासिपोदिशःस्रः [शाकटा० ४।२।५७]	४०, २०३, ३६६
२३०. युष्मदस्मदोऽजलज्जो— [शाकटा० ३।१।५७]	७७, १६२, २२६, २६७
र	
२३१. राजन् सखेः [शाकटा० २।१।१६९]	२४०
२३२. राष्ट्र जनपदो निर्गो जनान्तो विपदः स्मृतः । [घ० नाममा० ४।८।९७]	१५१
२३३. रुद्रकुक्षौ स्त्रियौ [अमर० १।७।२६]	२०९
२३४. रुहः पः [शाकटा० ४।१।१९६]	४०८
२३५. रूपादौ तन्मृगं ज्यायामग्रवाने नये गुणः । [घ० अनेकार्थमा० ३७]	१३
२३६. रो लोऽयौ [शाकटा० ४।२।२५३]	३६१

ल

२३७. लक्षणनाभि— [शाकटा० २।१।१०]	२७६, ४०८
२३८. लिटः वचसुकानौ [शाकटा० १।४।८०]	८७, १०९, २६१
२३९. लुक्त्रोर्ण [शाकटा० ३।१।७०]	२७१
२४०. लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं पातनम् ।	१२
२४१. लोलदन्तस्तृणयोः [अमर० ३।३।२०६]	१९७

१. 'मदो' इति तु मुद्रिते विशदप्रकाशे । २. 'मोर्ष्याग्रजानपारदेन्द्रियमूत्रवत्त्वादिसन्ध्यादिहरितादियु' इति नानार्थरत्नकोषे—इति मुनिमुद्रतका० टी० पृ० १८१ ।

व

२४२. वंशो वेणो कुले वगै पृष्ठस्यावयवेऽपि च । [विश्व० शब्दि० १०]	२२
२४३. वयसि दन्तस्य वतृ [शाकटा० २।१।२०८]	२२०
२४४. वरिवस्या तु शुभ्रया सेवा भक्तिरुपाधना । [अमर० २।७।३५]	१७०
२४५. वर्णदुहादिभ्यः— [शाकटा० ३।६।९]	१२३
२४६. वत्सर्पिणि फलकारणे [शाकटा० ४।४।१२३]	३०७
२४७. वक्ष्यपथ्य— [शाकटा० ३।२।१९५]	१०३, ११२, १५५, २७७
२४८. वसती रात्रिवेद्यमनोः [अमर० ३।३.६७]	१९७
२४९. वहाधाल्लिहः [शाकटा० ४।३।१५२]	९
२५०. वात्या वातस्तु मूत्रवति ^१	१०१
२५१. वा नाकस्य— [शाकटा० १।३।१६८]	४, १८४, २८६, २९१, ३०७
२५२. वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम् । [अमर० २.८।९३]	१७६
२५३. वामे (मो) वक्रो मनोहरे [घ० अनेकार्थना० ६]	२४५
२५४. विकलको विह्वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टयोः । [अमर० ३।१।४४]	९२
२५५. विटपः पल्लवे पिङ्गे ^३ विस्तारे स्तम्बशाखयोः । [विश्वः पत्रि १३]	१४२
२५६. विप्रलापे वा [शाकटा० १।४।५३]	४२
२५७. विस्तारावसरकृतुवृत्तमेवतुच्छमन्दसमाजेषु वितानम् । [नानार्थको०]	८
२५८. वीप्स्यलक्षणेत्यं भवनेष्वभिना [शाकटा० १ ३।१०१]	३९३
२५९. वीप्सायाम् [शाकटा० २।३।८]	९१, ९५, १९६, २०२, २१८, २२४, २२९, २६०, २६६, २९४, ४२२
२६०. वेणो वगै कुले वंशः पृष्ठस्यावयवेऽपि च	२५३
२६१. वोर्ध्वं दध्नद्वयसद् [शाकटा० ३।३।६२]	२२३
२६२. व्यतिकरः स्याद् व्यसनव्यतिपङ्क्तयो [विश्व रच० २२६]	२१५
२६३. व्याघ्रादिभिर्गोर्गैस्तदनुक्तो [शाकटा० २।१।६४]	७२
२६४. व्यासो स्यात् [शाकटा० ४।४।१२३]	२८३

श

२६५. शकार्थवचनम.स्वस्ति— [शाकटा० १।३।१८२]	२०२, ३८१
२६६. शपनाथशिख— [शाकटा० १।४।४२]	७२
२६७. शरणं गृहरक्षितो [अमर० ३।३।५३]	३
२६८. शरं वनं कुशं तोर तोयं जीवनमम्बिधम् । [घ० नाममा० १५]	३६८
२६९. शशिवृक्षोत्पलकपिकृपणदिग्मजेषु कुमुदः । [नानार्थको०]	३२
२७०. शालो ^१ हाले नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जपादपे । विश्व० लट्ठि० १४]	११
साणः ^२ पादममात्रे स्यात् प्राकारे जिशुकुमे ॥ [विश्व० लट्ठि० १५]	
२७१. शाघ्यैघिजहि [शाकटा० ४।२।३३]	२६९
२७२. शिरोधिः कन्धरेत्यपि [अमर० २।६।८८]	११३

१. मुद्रितेऽमरकोषे तु 'परिचर्याप्युपासना' इति पाठो दृश्यते ॥ २. 'वात्यावातस्तु मण्डली' इति वैजयन्तयाम् । ३. 'शृङ्गे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ४. व्यतिकरः समाख्यातः इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ५. 'शालो हालनृपे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ६. शालः वादपमात्रं स्यात् इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

२७३. शोड्स्वासोऽवेराधारः [शाकटा० १।३।१२२]	२८, १२९, २७१, ३८९, ४१७
२७४. शोलं स्वभावे सद्बुत्ते [अमर० ३।३।०१]	२०
२७५. शेषोऽप्राणो [शाकटा० २।१।१००]	२२०
२७६. श्रवणं श्रुतिकर्णयोः [विषयः णविकम् ५०]	१६
२७७. श्रितादिभिः [शाकटा० २।१।३३]	३३
२७८. श्रेष्ठवासकसौरभेयधर्मराशिभेदयुक्त्यै वृषः । [नानार्थको०]	१५
२७९. श्लुत्वा [शाकटा० २.२।१३७]	२१
२८०. श्वयत्यश्वचयतोऽङ्गयथगुणम् [शाकटा० ४।३।७]	८१, २२६
२८१. श्वया—[शाकटा० ४।१।११५]	५१, १६५

ष

२८२. षट् कति कतिपयात् षट् [शाकटा० ३।२।७९]	४३६
२८३. षष्ठो चानादरे [शाकटा० १।३।१८३]	२५४

स

२८४. संख्याडतेश्चाशतिष्टेः कः [शाकटा० ३।२।१२६]	५९
२८५. संख्याव्यादङ्गुलिः [शाकटा० २।१।१८५]	४३०
२८६. सङ्घे सभाया समिति [अमर० ३।३।७०]	१२५
२८७. संज्ञात तारकादिभ्य इतः [शाकटा० ३।३।११४]	२२७, २६९
२८८. संपर्युपात्कृतः—[शाकटा० ४।२।२११]	३०९
२८९. संप्रभेऽसकृत् [शाकटा० २।३।१]	२७४
२९०. संप्रिवावात् [शाकटा० १।४।३६]	२९, १५२, १५८
२९१. सवेगमयादरेषु संप्रभः [नानार्थको०]	२३३
२९२. संस्तवः स्यात्परिचयः [अमर० ३।२।२३]	२४५
२९३. सता हि प्रह्लता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् [अत्रचू० ५।६२]	३००
२९४. सदकारणवन्नित्यम् [वैशेषिकसू० ४।१।१]	४६
२९५. स दैवस्यापराधो न मग्निणा यत्मुपाटितवपिकार्यं न घटते । [नीतिवा० १०।५७]	२९
२९६. सदैतर्ह्यधुनेदानो तवानो सद्यः [शाकटा० ३।४।१९]	६४, २१८
२९७. सन्धिर्ना विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः [अमर० २।८।१८]	१७
२९८. सन्निहा—[शाकटा० ४।३।२२७]	४, ८, १०३
२९९. सप्तम्याः [शाकटा० १।२।१५९]	२२९
३००. समीपे [शाकटा० २।१।१४]	३३८, ३९२
३०१. सतिवास्तित्वद्वयुक्त्यादेः [शाकटा० ४।३।११]	८१, ८९, १६२, १७१, १७३, १९४, २०८, २२६, २५०, ३४८
३०२. सत्तर्षो वेगे [शाकटा० ४।२।५९]	५५, २१२, २५३, २७६
३०३. सस्लङ्—[शाकटा० १।४।७९]	४, १६, ६१, ६७
३०४. सः समानस्य धर्मादियु च [शाकटा० २।२।१०९]	३८०
३०५. सहसा क्षटिति द्रुतम् [ष० नाममा० १७२]	२४२
३०६. सामीप्येऽधोऽधुपरि [शाकटा० २।३।७]	३५८
३०७. सायं चिरं प्राह्मे प्रगेऽव्ययात् [शाकटा० ३।१।७४]	४, २३७

३०८. साधो वनिक्कमूहः स्यादपि संघातमात्रके [विश्व० षट्ठि० ९]	६४
३०९. सीमसीमे स्विधामुमे [अमर० २।२।२०]	६२
३१०. सुखसलिलमोक्षमङ्गलकोलकवाङ्मुकाभयामरुक्मद्विजाकोटुसङ्करेषु शिवम् [नानार्थको०]	२४
३११. सुखदुःखतत्क्रियायां लङ्	३१८
३१२. सुखमा	४०९
३१३. सुखा—[शाकटा० २।१।२]	३७
३१४. सुन्दरविद्याः त्रिकरालेषु विकटः । [नानार्थको०]	२९
३१५. सृष्टुतिसुभोगंवादिद् गुणे [शाकटा० २।१।२०४]	१०, ६२
३१६. स्तं मत्त्वर्थे [शाकटा० १।१।६६]	३२६
३१७. स्तुतिरूपयसोऽधरविलेपनाहजातिमुक्तादिषु वर्ण । [नानार्थको०]	१९
३१८. स्थैयप्रकाशने [शाकटा० १।४।३७]	१८१
३१९. स्पृहंवा [शाकटा० १।३।१३९]	७५, ७१, २४४
३२०. स्मृत्यर्थ—[शाकटा० १।३।१११]	२०२ २०५
३२१. स्म च लट् [शाकटा० ४।३।२१५]	९५
३२२. स्वस्तरवदे व्याघ्रगुह्यवर्धंभुञ्जन्तराः ।	३७
सिंहशार्ङ्गलनागाद्याः पुंसि धेष्टार्थगोचराः ॥ [अमर० ३।१।५९]	
३२३. स्याम्मण्डलं द्वावगरात्रके न देशे च बिम्बे च कदम्बके च ।	१७
कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसृष्टकेऽपि भुजङ्गभेदे शूनि मण्डल. स्यात् ॥ [विश्व.लत्रि० ८१]	
३२४. स्वर्गेषुपशुनाम्बजविड्मेघधूनिभूजले ।	११, १९८
लज्जदृष्ट्या स्त्रिया पुंसि गोः ॥ [अमर० ३।३।२५]	

ह

३२५. हन्मुनि—[शाकटा० ४।३।१८]	१९९
३२६. हा दुःखहेता उ (वु) द्विष्टो हा (हो) विस्मयविषादयोः । [विश्व० हा० ७१]	२७
३२७. हा धिक् समया—[शाकटा० १।३।१००]	२४, २३८, ३७७
३२८. हिघ्नोऽङ्गे कु पूर्वात् [शाकटा० ४।१।७१]	१६३
३२९. ह्योऽलोरोधन्—[शाकटा० ४।१।२०१]	२८४

४. पञ्चिकान्तर्गत ग्रन्थान्तर्गत के अवतरण

अ

अवतरण	पृष्ठ
१. अतिरिक्तः समधिके [अमर० २।१।७५]	४८५
२. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च ससैता इतयः स्मृताः ॥ [उ० द्विसं० टी० पृ० ३४]	४७७, ५०४
३. अमर्यकं श्रुतिकटु व्याहृतायमलक्षणम् । स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसंमतम् ॥ [बाग्भटा० २।६]	४६५
४. अनन्त उत्तरापथः	५०३
५. अपिषानतिरोषानपिषानाच्छादनानि च । [अमर० १।३।१३]	४८२
६. अम्युत्थानमुपागते गृहपतौ संभाषणे ^१ नम्रता तत्पादापितद्वृष्टिरासनविषो स्मेरा सपत्नीष्वपि ^२ । [सुमे तत्र शयित तत्प्रयमतो जह्याच्च शय्यामिति] प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः ^४ ॥ [उ० सामर० टी० १।१९]	४९६
७. अवयवात्तयद [शाकटा० ३।३।७२]	४६४

आ

८. आम्बोसिषयामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयोस्थितौ । अयनिषौ तु वातायि बण्डनीत्यां नयानयो ॥ [काम० नी० १।७]	४७२
९. आबर्तस्त्वस्मसा भ्रमः [अमर० १।१०।६]	४९९
१०. आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् । [काव्याद० १।१४]	४६३

इ

११. इरा भुवाक्पुराण्यु स्यात् [अमर० ३।३।१७६]	५००
--	-----

औ

१२. औदार्यं समता कान्तिरर्थगमक्तिः प्रसन्नता । समाधिः श्लेषः ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥ [बाग्भटा० ३।२]	४६४
---	-----

क

१३. काकली तु कले सूक्ष्मे [अमर० १।७।२]	४९९
१४. कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोमस्तथा मदः ^५ । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः शितीक्षाना भवत्ययम् [का० नी० १।५७]	४८०

१. 'समधिके' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे । २. तद्भाषणे । ३. तस्योपचर्या स्वयम् । ४. 'सिद्धान्तधर्मा' इमे । वस्तुतस्तत्वेय इलोको राजशेखरस्येति सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४२४) तौ ज्ञायते । (२, ३, ४ पाठान्तराणि मुद्रितायां साधारणधर्माभूतटिप्पण्याम्) । ५. 'आवर्तोऽस्मसा' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे पाठभेदो दृश्यते । ६. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति तु मुद्रिते कामन्दकनीतिसारे ।

१५. कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मदः ।
वह्मो रिपवः प्रोक्तः शरीरस्था हि रेहिताम् ॥ ४९४
१६. कुट्टिमोऽस्त्रो निबद्धा भूः ४९०
१७. कुपः स्यात्करिकम्बलः [अनेकार्यवृत्तिः १४] ४९७
१८. कृपा दयानुकम्पा स्यात् [अमरः १।७।१८] ४७१
१९. क्व सरसि वनक्षण्डं पङ्कजानां क्व सूर्यः
क्व च कुगूढवनानां कोमुदीबन्धुरिन्दुः ।
अतिपरिचयश्चैवा प्रायशः सज्जनता
न विचलति हि मैत्रो दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥ ४९४
- ग
२०. ग६ इंदियु काये जोगे वेदे कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेत्सा मविया संमत सण्णि जाहारे ॥ ५०५
- [पंचसंगं गा० ४६ पृ० ५७५]
२१. गन्धेन^२ गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदवज्रपा ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्यामितरे जनाः ॥ ४८०, ४९४
- च
२२. चक्षुषो द्वे कपोलो च पाणिपान्नाभिमेहनाः ।
अष्टौ स्थानानि नागानां मदस्य स्तुतिहेतवः ॥ ५००
२३. चन्द्रासवाभ्या^३ रमणोजनेभ्यः [उ० द्वि० सं० टी० पृ० १८] ४९०
- त
२४. तुमुलं रणसंकुले [अमरः २।८।१०६] ५०१
२५. शीघ्रैकान्तनितान्तानि [अमरः १।१।६७] ४७१
२६. शी मुतावञ्चलि. पुमान् [अमरः २।६।८५] ४६५
- द
२७. दृष्टिः ज्ञानेऽकिण दर्शने [अमरः ३।३।३८] ४७०
२८. दोषान् काश्चन न.^४ प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्धं तैः सहसा भूषे (भ्रियेद्) यदि गुरु पश्चात्करोत्येव किम् ।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघून्वच स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः [आत्मानु० १४१] ४६५
२९. द्यावाभूमौ^५ तु रोदसी ४८५
- प
३०. परस्परार्थेयभोज्ये पूर्वे पूर्वतरे यति । [अमरः ३।४।२०] ४९२

१. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति मु मुद्रिते कामन्दकनोतिसारे ॥ २. गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्म्यामितरे जनाः ॥ उ० पंचतन्त्रं ३।६५ पृ० २१५ । ३. आस्ता परेषां नरकोटिकानां तत्र स्थितानामपि ह्यो मुनोनाम् । बन्ध्यासवाभ्यां रमणीजनेभ्यः श्रोत्रोपनं केशानन्दनस्य ॥ इति सम्पूर्णः इलाक । ४. 'नः' इत्यस्य स्थाने 'तान्' इति तु पाठो मुद्रिते, आत्मनुशासने दृश्यते । ५. 'द्यावाभूमौस्तु रोदसी' इत्यभिधानविभक्त्यामणौ । ६।१६२ ।

३१. पोतः पाकोऽर्भको हिमः [अमर० २।५।३८] ४६५
 ३२. प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट् ४६३
 ३३. प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम् । [अमर० ३।३।९२] ५०३

भ

३४. भसको घस्मरोऽपरः [अमर० ३।१।२०] ५०१

म

३५. म^१मलमित्युक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
 तद्विगालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः [सत्प्रक० पृ० ३४] ४६३
 ३६. मङ्गलशब्दोऽयमहिष्टः पुण्यायस्याभिधायकः ।
 तत्प्राप्तीत्युच्यते सङ्घिर्मलं पण्डितैर्जनैः^३ ॥ [सत्प्रक० पृ० ३३] ४६३
 ३७. मत्ते शीणहोत्कटलोभा । [अमर० ३।१।२३] ५०१
 ३८. मन्दः कवियथाः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । [रघु० १।३] ४६५
 ३९. मन्दगामी तु मन्दरः [अमर० २।८।७२] ४८५
 ४०. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकवाययोगा बन्धहेतवः । [त० सू० ८।१] ४८४, ५०६
 ४१. मूच्छा पित्ततमः प्राया [माघव० मूच्छादि० १९] ४९०

य

४२. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरुधामु भवन्ति दोषाः । ४७१
 ४३. यथार्हद्विगुणस्तोत्रं तन्मुख्य मङ्गलं मतम् ।
 अमूर्ख्यं तद्विगुणोपम्यार्णवकुम्भादि लौकिकम् । ४६३
 ४४. यस्या दिशि सूर्यः सा शान्त्ये उग्रहिनप्रधूमिते । ४८१
 ४५. यावोऽलोको द्रुमामयः [अमर० २।६।१२५] ४८५

र

४६. राजर्हमास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः शिताः । [अमर० २।५।२४] ४७२, ४९७

ल

४७. लोमा कांसभरजनकुलः खड्गरोटकः ।
 एतेषां दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥ ५००

व

४८. वल्लिना वशालिते तैले धृते वा कुत्रविधया ।
 शीतवीर्यच्छटापानः प्रतिप्रक्षालनं भवेत् ॥ ४९०
 ४९. विद्वन्मन्यतया सदस्यतिसरामुहृण्वाग्ध्वजरा,
 शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमाश्रन्ते ।
 ये ते च प्रतिसप्त सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
 येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभः ॥ [पञ्चनन्दि० १।१११] ४६५

१. 'पापं मलमिति प्रोक्तम्' इति सत्प्रक० पृ० ३४ । २. 'तद्वि गालयतीत्युक्तं' इति सत्प्रक० ३४ ।
 ३. 'मङ्गलं मङ्गलाधिभिः' इति सत्प्रक० पृ० ३३ ।

५०. विष्णाः प्रणययन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः^१ परिलङ्घयन्ति ।
अर्चन् विषेष्टाश्च सदा लभन्ते त्रिणोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥ [उ० सत्प्र० पृ० ४१] ४६३

श

५१. क्षीतबानीरवञ्जुलाः [अमर० २।४।३०] ४९८
५२. सुखपशुद्धौ पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साधनाद्यो तयोर्व्यक्तो स्वभावोऽतर्कमोक्षरः ॥ [आसनी० का० १००] ५०५

स

५३. स गुप्तिसमितिषमन्निप्रेक्षापरोषहजयचारित्र्यैः । [त० सू० १।२] ५०६
५४. सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयं प्रोक्ता महागुणाः । ४६९
५५. सन्धिप्रब्रह्मदानासनद्वैचाश्रयाः षड्गुणाः । ५९६
५६. सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । ४७६
५७. सुप्रसाः स्तनमित्तवः पारदि ते साटोपमृत्वाय ये
प्रत्याशां प्रसूनाश्चलप्रकृतयो गर्जन्यमन्दं मुषा ।
ये प्रागव्यक्षितान् फलद्विमुदकैर्ब्रह्मीन् नयन्तो नवान्
सत्त्वोन्माणि^२ 'पूणन्त्यलं जनयितुं ते सद्धना दुर्लभाः'^३ ॥ [अमर० १।८] ४६५
५८. सामदाने भेदशब्दाविश्वुपायवतुष्टयम् । ४९५
५९. साम प्रेमपरं वाश्यं दानं वित्तस्य चार्पणम् । [उ० द्वि० सं० टो० पृ० ५८] ४८६
[भेदो रिपुजनाकृष्टिर्दण्डः श्रीप्राणसंहतिः ॥]
६०. स्तव्यमृत्स्ननति किं न दूरतः पादपं तटग्रहं नदीरयः ।
वेत्तसः प्रणमनाद् विवर्तते चाटरेव कुर्वते हि जावितम् ॥ ४९५
६१. स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने ।
शरीरे परकोयेऽपि स सिद्धपत्यनुमानतः ॥ ४७५

ह

६२. होमस्यूनावृणगह्यौ [अमर० ३।३।१२८] ४७१
६३. द्वेषा ह्येषा च निम्बन^४ [अमर० २।८।४७] ५००

१. 'क्षुद्रदेवाः' इति तु सत्प्रकृपणायाम् । २. 'पूणन्त्यलं' इति तु मुद्रितेऽनगारधर्माभूते । ३. 'दुर्लभा-
स्तद्वभाः' इत्यपि पाठोऽनगारधर्माभूते दृश्यते ।

५. मूल ग्रन्थकी शक्तियाँ

चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः	१।७
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसिन विना जलाशयः	१।६३
स्वहितं मन्धमतिर्न पश्यति	१।६९
बलवत्ता खलु कापि कर्मणः	१।७२
सुखियः सङ्गसुलैकनिःस्पृहाः	१।७४
मधुदिग्धमृक्षाममन्धवीरसिधारां खलु को ललितयति	१।७८
भवति हि मतिभ्राजा काललब्धिनं बन्ध्या	१।८०
...लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता	१।८२
स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते	२।१५
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः	२।२६
संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम्	२।४३
सति धमिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये	२।४६
यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना	२।५०
उपसृपेरि बुद्धीना चरन्तोश्चरबुद्धयः	२।५२
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः	२।७७
नन्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः	३।९
सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्	३।१०
कर्तव्यवस्तुनि पुननियतिः प्रमाणम्	३।२८
अन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः	३।३२
पुत्रं विहाय निःशंसततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम्	३।३३
तत्रौत्सुकं भवति भाग्यवतां हि चेत्तो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम्	३।५९
विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम्	३।७३
मयं भजन्ते न महानुभावाः	४।१३
प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति	४।१७
नारम्भदोधान्गणयत्यनन्तदुःखप्रदानोहवसेन जीवः	४।२०
बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः	४।२७
गुणीरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्	४।३८
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः	४।३९
विनोयमामो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः	४।४०
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रमेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम्	४।४२
पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः	४।४४
सतां हि कोपो नमनावसानः	४।५८
युक्तैव धीनेषु कृपोन्नतानाम्	४।५९

चेतः प्रभूणां नहि मोक्षितज्ञम्	४१६३
दैवेऽनुकूले किम् नानुकूलम्	४१६६
सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम्	४१७७
गुणसंपदेव गुस्तां नयते	४१२६
न सुपुत्रतः परमलंकरणम्	४१४८
गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम्	४१८५
अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।	
इत्यात्मबुद्ध्या विमण्ड्य विद्वान् श्लेदयत्यात्ममनो विषादेः	४१८५
विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रलिखते कातरधीर्न धीरः	४१८८
नहि विद्वानसमोक्षितं विषते	६११९
संमितभाषिणो हि सन्तः	६१२२
न सहायविनाकृता कदाचित्सुखस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः	६१३१
मतयो न खलूचितज्ञतायां मृगयन्ते महता परोपदेशम्	६१७८
जमयत्यसुकता न कस्य बन्धुः	६१११०
दुर्लभं किमथवा शुभोदये	७११७
धर्म एष हि सता क्रमागतो यत्र यान्ति विभवेन विक्रियाम्	७१२८
श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता	७१५४
मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य	८११८
यतिप्रवैकबचसामपरस्य जायते तदसामपरस्य	८११९
सज्जने हि विधिरप्रतिमोहस्तस्य युक्तघटना प्रति मोहः	८१३१
मेघभूषरसदूषममुषर्तं धर्मपापदसनसममुक्तम्	८१३६
कं वक्षसि रसभा रचितानि प्रीणयन्ति न बुधै रचितानि	८१४५
भास्वतां न हृदयं नहि मानि	८१५०
सकृदबुधतया कृतेऽपराधे भवति सतो विनिवृत्तिरेव दण्डः	९१११
नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादावधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः	९११४
न खलु हितं मदमूढधीरवैति	९१३०
न्रवति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम्	९१४४
परकृत्यविधौ समुद्यतं पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते	१०१४
बलवान् विधिरेव देहिना न सहाया न मतिर्न पौरुषम्	१०१६
विषये गुणवृद्धिर्वाजते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः	१०१७
गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः	१०१११
न जहाति पुमान् कृतज्ञतामसुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः	१०११३
गुणवान् समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः	१०११४
भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित्	१०१२३
अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान् गुणवन्तमाश्रितः	१०१२५
महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि	१०१२६
शरणागतलक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारदेष्यति	१०१२९
विनिमा दग्धविधेर्विदम्बनाम्	१०१३१

सुहृदर्थपरैर्महात्मनिर्न पुनः स्वार्थपरैश्चरीमते	१०१३८
निरपेक्षा हि परोपकारिता	१०१४०
नो किञ्चित्फलमतिमन्त्रपीडनेन	१०१७०
कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः	१०१७१
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृक्षो माधुर्यं विषवनमध्यसंप्रसृतः	१०१७३
अहो नराणां भवगर्तवतिमामशास्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम्	११११०
बिभेति पापान्न सतामसंमताम् मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।	
विलोभ्यमानो विषयामिषाशया करोत्यकृतंभ्यशतानि मानवः	११११४
अहेतुकाः वशापि न कार्यसंपदः	१११२०
निरन्तरं मूञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ।	१११२१
अवाञ्मुखासौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति	१११२४
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिसौख्यमशकैः ।	
तदा प्रशंसास्पदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुह्यस्य भक्षणम्	१११२५
हितात्मनोऽपैति स एव पण्डितः	१११३०
हितानुबन्ध्याचरितं महात्मनाम्	१११५४
शुभं ततोत्पाशु निहन्ति चाशुभं करोति किं वा न सतामनुग्रहः	१११५७
किमस्ति वीनोद्धरणात्परं तपः	१११६१
स्विरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि	१११७०
प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमत्तं सकलं प्रमाणम्	१११७८
नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम्	१११९१
महतामतिदूतवतिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः	१२१६
भजते मदवृत्तिमात्मवान् क इवानात्महितप्रवर्तिनीम्	१२११२
मदमूढमतिहिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते	
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा	१२११३
ननु खङ्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनेः	१२१३१
बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये	१२१३५
भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया	१२१४०
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युदये सुकर्मणः ।	
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः	१२१४३
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।	
कुशलाकुशला च जायते विषया दैववशेन देहिनाम्	१२१४४
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।	
परिमृश्य कृतो न हि क्रमः शरभस्येव विपाकवाच्यः	१२१४६
अथमेव समेन बाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम् ।	
मतिमान् विदधातु विग्रहं बलबन्धिः सह कोऽस्य विग्रहः	१२१४७
परिवारितमप्यपैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽन्मुचिः	१२१५१
स्फुटतामुपयाति कस्यचिदसंभेदो नहि जिह्मया विना	१२१५२
प्रतिकूलजने ह्युपेक्षं हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु	१२१५३

अथमासयतेऽखिलं अवद्विबसोऽयं महिमा रवेरसौ	१२१५८
अपघाद्विनिवर्तयेत् को गुरवश्चेन्न भवेत्पुरकुशाः	१२१६१
नहि क्षामघनोऽयस्सारधिनभसः पारमुपैति भास्करः	१२१६२
नहि कार्यविपश्चितः पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः	१२१७०
अवधिक्रमयोर्नयो बली नयहोनस्य वृषा पराक्रमः	१२१७३
बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम्	१२१७४
परिनिर्वीति किमग्निरग्निना	१२१७८
प्रभु दोषघतं प्रमाजितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं बन्धः	१२१८०
अनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।	
अवसः कपटोति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम्	१२१८१
पठितव्यमिहान्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा ।	
नहि पृष्ठमरे नियुज्यते हलसंभावितयोग्यतः पशुः	१२१८३
अविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः	१२१८५
विषये खलु संनिर्घोजितः सदुपायः कञ्चान्न चान्यथा ।	
नहि वक्ष्यरायुषाञ्चिते क्रमते ग्रावेणि लोहमायुधम्	१२१८६
उपयाति सुखेन वक्ष्यतां किमनङ्गवानपनाथनासिकः	१२१८७
पुरुषस्तपनीयबद्गुरुर्न परैर्यावदसौ निगृह्यते ।	
तुलितस्तु स एव तत्क्षणरात्णराशौ निपत्यसंक्षमम्	१२१८८
शिषहेतुस्वाहृता क्षमा अतिनामेव न मेधिनीभुजाम्	१२१८९
कृपणस्य परानुवर्तनैः सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।	
अनुनीय परं निजोषितैर्ललितैर्जीवति किं न मण्डलः	१२१९१
सहते कः खलु मानखण्डनम्	१२१९३
रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलात्न वासते ।	
महतामस एव बल्लभा ननु वृत्तिर्मुक्तराजसेविता	१२१९४
सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।	
रभसास्फूर्णं हि कर्मणा पशुधर्मः स कथं नु मानुषे	१२१९०२
तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृद् यो व्यसनेऽनुवर्तते ।	
स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य वधो न मोरसम्	१२१९०८
'गुरुवचनं ह्युदयैषिणामलङ्घ्यधम्	१२१९११
अवचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते	१३१४२
सहजमेव पुरंध्रिषु कैतवम्	१३१४५
विषयिणो नियतं विषदां परम्	१३१४९
न श्रेयसे खलु भवत्यपवैऽपि कोपः	१३१६०
शान्त्यै भवत्युपकृतं क्व खलुप्रियेषु	१४१६३
रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम्	१४१६५
युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः	१५१६६
देवाहुपस्थिते कृच्छ्रे क्षूराणां विक्रमः क्रमः	१५१६२
लुकवन्ति महान्तो हि नात्मानवधमैः समम्	१५१६०४

धिक् कष्टयोर्दुः कर्म करोति कथमोरितः ।	
कथमीकुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया	१५।१३४
धिपत् संपधि जागति जरा जागित यौवने ।	
भृत्युरासुधि जागति वियोग प्रियसंपने	१५।१३५
वावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युद्वयितम् ।	
यौवनं न जराग्रस्तं श्रीनपिदकटाक्षिता	१५।१३६
रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् ।	
गृह्णन् भूतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते	१५।१३७
क्रोधादिभिरयं जीव कषायै कलुषीकृतः ।	
तत् किञ्चित् कुरुते कर्म यत् स्वस्थापि भयावहम्	१५।१३८
भ्रातृन् हन्ति पितृन् हन्ति बन्धूनपि निरागसः ।	
हन्त्यात्मानपि क्रोधाद्विक् क्रोधमविचारकम्	१५।१३९
हन्ता यथाहमस्यात्र परवैष तथैव मे ।	
ससारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतयः	१५।१४०
भोगान् धिग् धिग् धनं धिग् धिग् धिग् धिग्निद्रियजं सुखम् ।	
धिग् धिक् परोपघातेन यदन्यदपि जायते	१५।१४१
न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात् परम् ।	
न कोपादपरं शत्रुर्न बुद्धं जन्मनः परम्	१५।१४२
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः	१६।२२
मन्दत्वं भवति न कस्य चाभिभूयै	१६।२३
प्रणतकृपालवो महान्तः	१६।२७
मृदे केषा न स्यादमिलपितसंप्राप्तिरपवा	१६।२७
अथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये	१७।७
शक्यमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्मिण	१७।२६
किम् नोश्रितो जलनिधौ निमज्जति	१७।२८
नहि बाधते तुहिनमग्निशेबिनम्	१७।२९
किम् विलसा श्रमहरं न बन्दनम्	१७।३१
जनवृद्धिहेतुद्वयो हि तादृशम्	१७।५३
सक्तिमविरतमतिः कुरुते हतनुद्विदेव न तु बोधभामुरः	१७।६९

६. मूलग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची

व्यक्तिगत-नाम

अकलङ्क (२ १०४) तत्त्वार्थ-
वातिक आदि ग्रन्थोंके
प्रणेता
अग्रज (१.१) प्रथम तीर्थङ्कर
अट्टपभदेव
अजितजय (५ २३) कोशला
नगरीका राजा
अजितसेना (५ ३६) रा०
अजितजयकी पत्नी
अजितसेन (५ ४०) रा० अजि-
तजयका पुत्र
अनन्त (३ ४४) इस नामके
एक चारणमुनि
कण्ठ (१५ १७) रा० पद्मनाभ
का सामन्त
कनकप्रभ (१ ३९) शलसचय-
पुरका राजा
केतु (१५ ७३) रा० पृथिवी-
पालका सामन्त
गुणप्रभ (११.३१) इस नामके
एक मुनि
चण्डहचि (५ ५३) इस नाम-
का एक असुर
चन्द्रकीर्ति (१५ ११२) रा०
पृथिवीपालका सामन्त
चन्द्रशेखर (१५ ६१) रा०
पृथिवीपालका सेनापति
चित्राङ्ग (१५.१७) रा० पद्म
नाभ का सामन्त
जयवर्मा (६ ४३) विपुलपुरका
राजा

जयध्री (६ ४४) रा० जयवर्मा-
की पत्नी
जितशत्रु (११. ६७) सम्राट्
अजितसेनका पुत्र
तपोभूषण (५ ७२) इस नाम-
के एक मुनि
देवाङ्गद (३ ५३) इस नामका
एक वणिक्
धरणीध्वज (६ ७६) आदित्य-
पुरका राजा
धर्मपाल (१५ ९४) रा०
पृथिवीपालका पुत्र
धमरुचि (१७ ६६) इस नाम-
का एक देव
धृति (१६ ७०) इस नामको
एक देवी
पद्मनाभ (१ ५८) रा० कनक-
प्रभका पुत्र
परतप (१५ १७) रा० पद्म-
नाभका सामन्त
पुरुभूति (१२ ६७) रा० पद्म
नाभका प्रधान मन्त्री
पृथिवीपाल (१२ ३) रा०
पद्मनाभ विरोधी राजा
प्रभावती (४ १५) श्रीवर्माकी
पत्नी
प्रभास (७ ६५) इस नामका
एक देव
प्रियधर्म (६ ७७) इस नामके
एक कुल्लक

भीम (१५ १६) रा० पद्मनाभ-
का सामन्त
भीम (१५ ६७) रा० पद्मनाभ-
का सेनापति
भीमरथ (१५ १८) रा० पद्म-
नाभका सामन्त
महासेन (१५ १६) रा० पद्म-
नाभका सामन्त
महासेन (१६ ११) भ० चन्द्र-
प्रभके पिता
महोरथ (१५ १८) रा० पद्म-
नाभका सामन्त
मागध (७ ६६) इस नामका
एक देव
लक्ष्मणा (१६ १६) भ० चन्द्र-
प्रभकी माना
वहणा (१८ १५०) इस नामको
एक आर्यिका
विरोचन (१५ ७७) रा०
पृथिवीपालका सामन्त
वीर (१ ४) चौबीसवें तीर्थङ्कर
महावीर
शशिप्रभा (६ ४५) रा० जय-
वर्माकी पुत्री
शशिलाञ्जन (१ २) अष्टम-
तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ
शशिसेखर (१५ ७१) रा०
पृथिवीपालका सेनापति
(चन्द्रशेखर इसीका अपर
नाम है)

शायी (६.३३). इस नामका एक किसान
शान्ति (१.३) : सोलहवें तीर्थ-
क्षुर शान्तिनाथ
श्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी
श्री (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्-
की पत्नी
श्रीकान्ता (३.१४) . रा० श्री-
पेणकी पत्नी
श्रीधर (१.८१) : इस नामके एक मुनि
श्रीप्रभ (४.४५) : इस नामके एक आचार्य

श्रीवर्मा (३.७५) रा० श्रीवेणका पुत्र
श्रीपेण (३.१) : श्रीपुरका राजा
समन्तमद्र (१.६) : देवागम
आदि श्रन्तोंके प्रणेता
सुकुण्डल (१५.१७) : रा० पद्य-
नामका सामन्त
सुधर्म (६.८१) : इस नामके एक मुनि
सुनन्दा (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्की पुत्री
सुभीम (१५.१६) : रा० पद्य-
नामका सामन्त
सुवर्णनाम (१.८५) : रा० कनक-
प्रभका पुत्र
सुवर्णमाला (१.५४) : रा०
कनकप्रभकी पत्नी

सुकेतु (१५.७५) : रा० पृथिवी-
पालका सामन्त
सूर्य (६.३३) : इस नामका एक किसान
सूर्यरथ (१५.९०) : रा०
पृथिवीपालका सामन्त
सेन (१५.१६) : रा० पद्यनाम-
का सामन्त
सोमप्रभा (१.८५) : रा० पद्य-
नामकी पत्नी
सौवर्णमाल (१५.१२७) : सुवर्ण-
नामका अपर नाम
हिरण्य (६.३५) : इस नामका एक देव
ह्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी

पशु-नाम

अश्व (१५. ६०) : घोड़ा
अष्टापद (१.५१) आठ पैरों-
का हिंसक पशु
करेणु (१४.५९) : हथिनी
कुरङ्ग (१.४४) : भृगु
केसरिन् (५.३२) : सिंह
खर (२.९९) : गधहा
खड्गिन् (६. १३) : गेंडा
गज (१.२५) . हाथी
गजेन्द्र (६.१२) : गजराज
गो (१.४७) : गाय तथा पृथिवी
गो (१.६५) : बैल
चमर (१४.२०) : विशेष प्रकार-
का भृगु

चमरी (४.६२) : विशेष प्रकार-
की भृगी
जरद्वय (१.६६) : बूढ़ा बैल
जकेम (१.२२) : जलगज
दुरग (३.७) : बोड़ा
दिक्करिन् (५.३४) : दिग्गज
नाग (३.७) : हाथी
पुण्डरीक (६.८) : बाघ
पोतक (१.१०) : दस वर्षका
हाथीका बच्चा
प्लवग (६.१०) : बन्दर
मतवारण (२.१३२) : उन्मत्त
हाथी तथा छज्जा

मय (१३.२८) : ऊँट
मार्जारपोत (१४.३२) : बिलाव-
का बच्चा
मृगेन्द्र (४.६२) : सिंह
रासभ (२.९७) : गधहा
वेगसर (१३.२७) : खच्चर
वृषभ (१४.६४) : बैल
व्याघ्रो (२.७१) : बाघिन
शिवा (१५.२७) : शृगाली
ससि (१०.७५) : घोड़ा
सिंह (१.३१)
हरिण (१६.२)

पक्षि-नाम

अन्यपुष्ट (३.४३) : कोकिल
कपोत (१६.५१) : कबूतर
कुक्कुट (२.११८) : मुर्गा
कोक (९.३७) : चक्रवाक
कोकिल (८.८)
गरुडमन् (६.५४) : गरुड़
भूक (३.२) उल्लू

चकोर (३.६४)
चक्रवाक (४.३५)
ताक्ष्यं (१५.७४) . गरुड़
नीलकण्ठ (१४.३७) : मयूर
भारद्वाज (१५.२८)
रयाङ्ग (१०.६६) : चक्रवाक
राजहंस (१.६३)

वायस (१५.२८) : कौवा
शिलण्डिन् (१.२८) : मयूर
शिखिन् (८.५४) . ,
शुक (१.१३) : तोता
सारिका (१२.९९) : मैना
हंस (२.१३५)
हंसी (८.५७)

वृक्ष-नाम

अशोक (२.१३) : इसी नामसे
प्रख्यात वृक्ष
कदम्ब (२.२२) : इसी नामसे
प्रख्यात वृक्ष
कणिकार (८.३१) : कनेर
क्रमुक् (२.११५) : गुपाहीका वृक्ष
काञ्चनार (८.२५) : कचनार
कुटज (२.१९) : कौरवा
कुन्द (२.१८) : इसी नामसे
प्रसिद्ध वृक्ष

कुरबक (८.८) काल कटसरैया
चम्पक (२.१६) : चम्पा
चूत (२.१२) : आमका वृक्ष
तमाल (९.२) : इसी नामसे
विख्यात काले रंगका वृक्ष
तिलक (२.१५) : तालमल्लाना
नवमल्लिका (२.२१) : बसन्ती
नेवारी वृक्ष
नागद्यालिन् (१७.८२) : नाग-
वृक्ष

पलाश (२.१७) : डाक
पुन्नाग (२.३२) : नागकैसर
बकुल (२.१४) : मौलसिरी
बाण (२.१०) : इसी नामसे
प्रसिद्ध वृक्ष
मल्लिका (२.१३७) : छोटी
बेला
सप्तपर्ण (६.९) : सप्तच्छद
सल्लकी (१४.६२) : सलई

आभूषण-नाम

अङ्गद (१३.६) बाजुबन्द
कटक (१७.४९) : कठे
कर्णपूर (२.७)
कुण्डल (१३.४)
चूडारत्न (१५.१७) : चूडामणि
नूपुर (९.३) : पायल

प्रालम्ब (१५.१७) : लम्बा हार
मणिकङ्कण (१५.१६)
मणिमाला (१०.५९)
मणिमुद्रिका (१७.४९)
मुकुट (७.९३)
मौक्तिकमाला (१५.१६)

रत्नकण्टिका (१५.१७)
रशना (७.८९) : करघनी
हार (९.७)
हारयष्टि (१.६)
हारलता (१३.३)
हारलतिका (७.८५)

शस्त्रास्त्र-नाम

अचलास्त्र (६.१०५)
अम्बदास्त्र (६.१०५)
अर्धचन्द्र (१५.७१)
असि (६.१०६)
आग्नेयास्त्र (६.१०५)
इषु (६.५४)
उद्यमास्त्र (६.१०५)
कुन्त (१५.१०८)
कुलिश (६.१०५)

गदा (१५.१२८)
गण्डास्त्र (६.१०५)
चक्र (१५.१२७)
चाप (२.५)
तन्द्रास्त्र (६.१०५)
तपनास्त्र (६.१०४)
तामसास्त्र (६.१०३)
दण्ड (१५.४८)
पवनास्त्र (६.१०५)

प्रास (१५.१०८)
भुजगास्त्र (६.१०५)
मुद्गर (१५.१२७)
वज्रमुष्टि (१५.१२९)
विघ्नविनायकास्त्र (६.१०५)
शक्ति (१५.१२८)
शंकु (१५.८६)
सिद्धधस्त्र (६.१०५)
हेति (६.१०६)

भौगोलिक नाम

- अङ्ग (१६.२५) : भागलपुरसे मुँगेर तक फैले हुए प्रदेश में 'अङ्ग' नामक देश था ।
 अनुत्तर बैजयन्त (१५.१६१) : यह विमान पाँच अनुत्तर विमानोंमें दूसरा है ।
 अपर विदेह (२.११४) पुष्करद्वीपवर्ती पूर्वमन्दरगिरिकी पश्चिम दिशाका एक क्षेत्र ।
 अयोध्या (७.८०) : घातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतकी एक नगरी ।
 अरिऊजय (६.४१) : " " का " देश ।
 अलका (५.२) : " " " " " ।
 आबिल्यपुर (६.७५) : " " के विजयार्थ पर्वतक दक्षिणका एक नगर ।
 आन्ध्र (१६.३४) : सम्प्रति इसका यही नाम है ।
 इषुकार गिरि (५.१) : घातकीखण्ड द्वीपके दक्षिणका एक पर्वत, जिसका आकार बाण सरीखा है ।
 उत्तरापथ (१६.४७) : भारतवर्षका उत्तरी भाग पहले उत्तरापथ कहलाता था ।
 उदयाद्रि (१०.१९) : घातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत ।
 उद्ग (१६.२८) : यह देश किसी समय उड़ीसाके भूभागमें विद्यमान था ।
 कण्टि (१६.३५) : वर्तमान कण्टिक, जिसमें मैसूर तथा कुर्ग आदि जिले सम्मिलित हैं ।
 कलिङ्ग (१६.२६) : यह देश कभी उड़ीसासे आन्ध्र तक फैला हुआ था ।
 काश्मीर (१६.५०) : इस समय भी इसका यही नाम प्रसिद्ध है ।
 कीर (१६.५०) : पंजाबका कीर ग्राम या बैजनाथ ।
 कोशला (५.१२) : घातकीखण्ड द्वीपके अलका नामक देशकी एक नगरी ।
 लश (१६.५१) : इस देशकी स्थिति काश्मीरके दक्षिणमें थी ।
 चन्द्रपुरी (१६.६) : वाराणसीके निकट गंगातटपर स्थित यह पुरी अभी भी जैनोंमें इसी नामसे प्रसिद्ध है ।
 चेदी (१६.२८) : मध्यप्रदेशकी चंदेरीके आस-पासका प्रदेश पहले 'चेदी' देशके नामसे प्रख्यात रहा ।
 जलवाहिनी (१३.५३) : घातकीखण्ड द्वीपकी एक नदी ।
 टक्क (१६.४९) : झेलम और सिन्धु नदियोंके बीचका प्रदेश 'टक्क' या 'वाहीक' देश कहलाता था ।
 द्विपूरणद्वीप (१.११) : दूसरा द्वीप-घातकीखण्ड ।
 द्रमिल (१६.३६) : यह द्रविड देशका ही अपर नाम है, जो कृष्णा और पोलार नदियोंके बीचमें था ।
 परुषा (६.४) : घातकीखण्ड द्वीपकी एक अटवी ।
 पाञ्चाल (१६.२७) . उत्तरप्रदेशका कहेखण्ड 'पाञ्चाल' देशके नामसे प्रख्यात रहा ।
 पारस (१६.४२) : फर्सिया या फारस 'पारस' देशके नामसे प्रसिद्ध था ।
 पूर्वदेश (१६.१) . वाराणसीसे आसाम और बर्मा तकका पूर्वीय भारत 'पूर्व देश' कहा जाता था ।
 पूर्वमन्दर (१.११) : घातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागका पर्वत, जो पाँच मेरुपर्वतोंमें गिना जाता है ।
 पूर्व विदेह (१.१२) : " " पूर्व मन्दरके पूर्व भागका एक क्षेत्र ।
 मङ्गलावती (१.१२) : " " " " विदेह का " देश ।
 मनोहर (२.२) : रत्नसंख्यपुरका एक उद्यान ।
 मणिकूट (१४.१) : घातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत ।
 मलयगिरि (१६.३७) : दक्षिण भारतके द्रावणकीरकी पर्वत श्रेणियाँ ।
 रत्नसंख्यपुर (१.२१) : घातकीखण्डद्वीपके मङ्गलावती देशका एक पुर ।
 लाट (१६.४०) : दक्षिणी गुजरात और खानदेशका सम्मिलित प्रदेश 'लाट' कहलाता था ।

विजयाग्र (६.७३) : हिमवान् और दक्षिण समुद्रके मध्यमें स्थित, घातकील्लण्डके भरतक्षेत्रका एक पर्वत ।
 विपुलपुर (६.४२) : घातकील्लण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक पुर ।
 बेलाद्रि (१६.३२) : वीरनन्दीके निर्देशानुसार यह भारतके पूर्व समुद्रके निकटका एक पर्वत है ।
 शिवंकर (११.३२) : घातकील्लण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक उद्यान ।
 गीतोदा (२.११४) . पुष्करार्धद्वीपके अपर विदेह क्षेत्रकी एक नदी ।
 श्रीपुर (२.१२५) . सुगन्धि देशका एक समृद्ध नगर ।
 सम्मदशैल (१८.१५२) : 'शिलरजी' नामसे प्रख्यात पुनीत तीर्थ पर्वत, जो हजारीबाग जिले में है ।
 सुगन्धि (२.११४) : पुष्करार्धद्वीपस्य पूर्वमन्वरके अपर विदेहका एक देश ।
 सिन्धु (१६.४१) : यह देश सम्प्रति भारतके उत्तरी भागमें 'सिन्ध' नामसे प्रसिद्ध है ।
 हिमाचल (१६.५२) . यह पर्वत भारतके उत्तरमें है, जो हिमाचल या हिमालय नामसे प्रख्यात है ।

पारिभाषिक शब्द

अधर्म (१८.६७) . जीवों और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक एक अचेतन द्रव्य, जो व्यापक है ।
 अनन्तचतुष्टय (१.३) : अनन्त—अन्त रहित, चतुष्टय—चार ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ।
 अनवस्था (२.५८) : वह दोष, जिसमें अनन्त अप्रामाणिक कल्पनाओंका विराम न हो ।
 अर्हत् (१.९) . चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके पूर्ण ज्ञान आदि गुणोंको प्राप्त करनेवाले अरिहन्त ।
 अवसरपिणी (१८.३५) : वह काल, जिसमें बौद्धिक और शारीरिक आदि सभी प्रकारके ह्रास होते चले जायें ।
 अर्त (१८.११५) : इष्टविषयों आदि कारणोंसे जन्य दुःखनि—अशुभ ध्यान ।
 उत्तरपिणी (१८.३५) . वह काल, जिसमें बौद्धिक एवं शारीरिक आदि सभी प्रकारकी वृद्धि होती चली जाये ।
 उपादान (२.६९) वह कारण, जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाये ।
 कषाय (११.४७) . कर्मरजको आत्माके साथ संश्लेष करानेमें जो गौद जैसा कार्य करे ।
 गणधर (१८.१५२) . तीर्थङ्करोंके शिष्य, जो चार ज्ञानोंसे विभूषित विशिष्ट मुनि होते हैं ।
 गणाधिप (१.९) : समवसरणस्य बाह्य गणोंके स्वामी—प्रधान गणधर या गणधर ।
 घाति (१४.३६) : आत्माके अनुजीवी ज्ञान आदि गुणोंके घातक ज्ञानावरण आदि चार कर्म ।
 धर्म (१८.६७) : जीवों और पुद्गलों में सहायक अचेतन द्रव्य, जो सर्वत्र व्याप्त है ।
 धर्म्य (१८.११५) आज्ञाविचय आदि चार भेदोंमें विभक्त एक शुभ ध्यान ।
 नय (३.११) . वस्तुके एक अंशको जाननेवाला ज्ञान ।
 नास्तिक (२.४४) . वह व्यक्ति या दर्शन, जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक और मोक्षको न माने ।
 निदान (३.५४) : भविष्यत्कालीन भोगोंकी लालसा ।
 परिदेवन (१८.८५) . ऐसा रोना, जिसे सुनकर दूसरोंको भी रोना आ जाये ।
 पुद्गल (१८.७८) : वह अचेतन द्रव्य, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण हों ।
 प्रमाण (११.३७) : सच्चा ज्ञान ।
 रौद्र (१८.११५) : एक अशुभ ध्यान, जो हिंस्रानन्दी आदि भेदोंसे चार प्रकारका है ।
 शुक्ल (१८.११५) : सर्वोत्कृष्ट शुभ ध्यान । अन्य ध्यानोंकी भाँति यह भी चार प्रकारका है ।
 समवसरण (१७.८३) : तीर्थङ्करोंकी दिव्य देशनाकी एक विशिष्ट सभा ।

विविध शब्द

अ
अकूशोल्लिखित (५.५८) : गोव-
का लिलीना
अङ्गारिणी (४.६४) : अङ्गार-
युक्त
अकण्टक (१२.४१) : क्षुद्र शत्रु-
असि रहित
अकण्टपच्य (१२.११७) : बिना
हल जोते ही उत्पन्न होने-
वाला अनाज
अलितावसर (३.२०) : आम
सभा
अगम्य (४.४२) : अजेय या
अपेक्ष
अनलम् (५.५८) : असमर्थ
अन्तरीय (७.८३) : अधोवस्त्र
अन्त्यशरीरभाक् (५.८६) :
तद्भवमोअगामी
अमिगति (६.९३) : कुल
अभिशात्र (१५.२१) : शत्रुके
अभिमुख
अर्वा (१७.८८) : जिनप्रतिमा
अवर्षण (१६.५) : वृष्टि न
होना—सूखा
अष्टशोभा (६.५६) : मार्जन आदि
अष्टापदवृत्ति (१.५१) : अष्टापद-
की भाँति स्वयंकी हानि-
कर अविचारित व्यापार
आ
आजिकण्डु (६.२४) : युद्धकी
खुजलाहट

आधि (१.१३) : मानसिक व्याधा
आयसकम्पुक (१३.२२) : लौह
कवच
आशीविष (१५.७४) : जहरीला
नाग
इ
इहुरिका (१३.४९) : पुरी-
पकवान
उ
उपप्लुत (२.४७) : बाधित
क
कच्छवाट (४.७०) : कछवाड़ा
कञ्चुकिन् (१.४८) : अन्तःपुर-
का अधिकारी
कन्दर (१४.६५) : गुफा
कन्दु (१४.४९) : मिठाई
कपाली (१४.१९) : महादेव
कन्न (३.४१) : मनोहर
कलम् (१३.४२) : धान
काकली (१४.६५) : मधुर छवि
काकतालीय (४.२६) : 'अक-
स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त काक-
तालीय न्याय
कापिल (२.८२) : सास्य
कायिन् (१७.२६) : कार्याभि-
लाषी
कुघ (१३.१३) : झूल
कुलपुत्रिका (३.३३) : कुलीन
स्त्री
कुलमेदिनीधर (१.१९) : कुला-
चल

कूटस्थनित्य^२ (२.४९) : सर्वथा-
नित्य
कूर्च (१२.८४) : दाढ़ी-मूँछ
कुत्सन् (२.९२) : समस्त
क्ष
क्षुत् (१५.३२) : छोक
ख
खपुष्प (२.४२) : आकाशका
फूल—अवस्तु
खत्वविल्वविधि (७.४७) : 'अक-
स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त खत्व-
विल्वन्याय
खेचर (६.७३) : विद्याधर
ग
गृहमेधिन् (११.६०) : गृहस्थ
घ
घनवर्म (५.४७) : आकाश
च
चक्ररत्न (७.१) : सम्राट्के चौदह
रत्नोंमें पहला
चर (१२.१७) : गुप्तचर
चारणमुनि (३.४४) : चारण
कृद्धिके चारक आकाश-
चारी मुनि
ज
जलधिमोषित् (२.१२४) : नदी
जलगमिमोषित् (१.१५) : नदी
जात्यन्व (१२.१३) : जन्मान्ध
त
तनुचञ्चद (१५.६) : कवच
तरसा (१२.१०६) : शीघ्र

१. अष्टापद आठ पैरोंका कुत्से आकारका एक हिंसक पशु होता है। वह जिस जानवरका शिकार करता है, उसीके ऊपर बैठा रहता है। फलतः उसमें उत्पन्न हुए कांसे वह स्वयं मारा जाता है। विशेषके लिए द्विसन्धानके 'न विक्रमः शरभनिपातसन्निभः.....' इत्यादि श्लोक (२.२०) की संस्कृत टीका द्रष्टव्य है। २. वेदान्ती (३० सू० शाङ्करभाष्य पृ० २०) आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं। यद्यपि शांङ्क्योंकी भी यही मान्यता है, पर वह वहाँ विवक्षित नहीं है। विशेषके लिए 'सत्त्वसंविद्धिः' (राज विद्या-मन्दिर, बी० २४।१०९, कश्मीरीगंज, वाराणसी-१) अवलोकनीय है।

द
दिवकरी (५.३४) : दिग्गज
दीपोत्सव (२.१३०) : दीपावली
दून (८.३५) : सन्तप्त

ध
धरणीध्र (६.१८) : पर्वत
धर्मी (२.४६) : पदार्थ

न
नाथ (१२.८७) : बैलकी नाकमें
पिरोयो गयी रस्सी
मान्दोषवरपर्व (३.९०) : आष्टा-
ल्लिक पर्व
निकुरम्ब (५.३५) : समूह
निधि (७.१८) : पाण्डुक आदि
नो

निबन्धन (१.७) : निमित्त
नियति (३.२८) : भाग्य
निर्बन्ध (४.७७) : वैराग्य
नृकीट (६.२१) : तुच्छ मनुष्य

प
पञ्चम कल्याण (१८.१५४) :
मोक्ष

पटवास (१४.४) कपड़ोको
सुवासित करनेवाला चूर्ण
पयोविकार (४.५२) दही आदि
परभाग (७.८०) : शोभा
परिच्छद (९.२७) : सामथ्री
परारि (११.१३) : परसो
परत् (११.१३) : कल-अगला
दिन

पत्ययन (१४.५१) : घोड़ोको
जीन
पाण्डुकदुपत् (१७.१९) :
पाण्डुकशिला

पुटभेदन (३.५३) : नगर
पूतकार (१.५०) : दु.खभरा
शब्द—चीत्कार

प्रणायक (११.५०) उत्कृष्ट
नायक
प्रधूमिता (४.६४) : मिलन
प्रधान (२.८३) : सांख्यप्रियत
अङ्गतत्त्व-प्रकृति

व
बन्दिन् (४.६८) : स्तुतिपाठक
बल्लव (१३.३०) : अहीर
बिस (१०.१७) कमलदण्ड
बुभुत्सा (६.१३) जिज्ञासा

भ
भोलुक (११.३०) : भीरु
भोग (७.१७) : भोग्य पदार्थ

म
मण्डलिन (१.४७) : सामन्त
मन्दुरा (१४.४६) : घुड़गाल
मय (१३.२८) ऊँट
महेच्छ (६.१०८) : महाशय
मोमासापसपातिन् (२.९०) :
मोमांसक

मोल (४.४७) : वंशपरम्परागत
मोल (११.२) : मुकुट

य
यतिवृष (११.७५) : श्रेष्ठमुनि
योजन (१७.८३) : बार कोस

र
रथकडपा (१३.७) : रथसमूह
रंहसा (१२.१०७) : शीघ्र
रत्नक (१३.४१) कम्बल

ल
ललन (१२.९१) पृष्ठ हिलाना
लाघव (११.८९) स्फूर्ति-फुर्ती
लाङ्गल (१३.५१) : हल
लिङ्ग (२.९५) : हेतु
लिङ्गिपु (१२.३५) : लाघने-
का अभिलाषी

लोहकान्तमणि (४.४६) चुम्बक

व
वचोहर (१२.१) : दूत
वणिक्पथ (७.८१) : बाजार
वनेवर (११.३४) : मालो
वन्य (१७.९१) : व्यन्तर देव
वश (१३.४०) बांसुरी
वारिक (७.३७) जल भरनेवाले
बहार
विप्लवि (५.५५) : भ्रमयुक्त

विवप्सु (१३.१९) : बोनेके
लिए इच्छुक
विलसा (१७.३१) : स्वभावतः
वैधिक (१३.३१) : काँवरसे
बोस डोनेवाले
व्यपहस्तिता (५.६५) : अपहृत

श
शक्ति (७.६९) : प्रभुशक्ति,
मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति
शतक्रतु (५.८६) : इन्द्र
शयु (६.१०) : अजगर
शाकनिक (१७.३३) : दुष्टग्रह
शाक्य (१६.१०) : बौद्ध
शिल्पिन् (१२.३८) : अग्नि
शिशिक्षिषा (५.१९) : सीखने-
की इच्छा

ष
षड्वर्ग (४.१४) : काम, क्रोध,
हर्ष, लोभ, मान, मद
षाङ्गुष्य (१२.१०४) : सन्धि,
विग्रह, यान, आसन, संश्रय,
द्वैधीभाव

स
संघट्ट (१५.३५) : संघर्ष या
टक्कर
सदम् (५.५७) : सभा
सम्बन्धक (१०.३२) : संसो-संज्ञसो
संभ्रम (५.७७) : शीघ्रता
समुत्क (१४.१९) : उत्कृष्टित
सर्वावर (११.२) : आम सभा
साख्यपुरुष (१२.४१) : अकि-
चित्कार
सिद्धालय (३.५७) : मोक्ष
सिद्धि (४.४५) : मुक्ति
सिंहनिष्कीर्णित (१५.१५०) :

ह
एकव्रत
सुगत (५.२९) : बुद्ध
सुहृत् (३.२३) : कारण
सुणि (११.९०) : अक्षुण्ण
स्मृतिविप्रमोष (७.९०) : स्मृतिभ्रंश

ह
हठक्रिया (१२.४०) : बलात्कार
हस्तिपाल (१४.६२) : महावत

१. मन्त्र-गुरोहित-सेनापति-दुर्गाधिकारि-कर्माधिकारि - कोषागारिक-दैवज्ञा इति सप्तविधं मोलं
बलम् । — व्याख्या ४.४७, पृ० १०६

७. व्याख्यानन्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति
अ		ज		ब	
अधिकबन्धु	१३७ १३	जुति	१५६ १५	बाधना	२९९ ११
अनन्ताजिनप	१७० ८	त		भ	
अन्याय	१०४ ९	तुम्बिगण्डिका	२२३ १६	भक्तनाम	८ ८
अमर	११ १६	तृणगृह	१०१ १५	य	
अहंदीश	१ ७	द		यौवनवन	३१५ १८
आ		दोहल	९१ ८	र	
आध्यानता	२९४ १८	ध		राजेन	१४१ १८
आरादण्ड	२५३ १६	धर्मनाथ	१९६ ७	व	
उ		धूर्तपाप	२३८ १९	वाणिज	६३ १४
उत्कलिका	६५ २१	न		विश्व	११ २१
क		नानार्थकोय	१५ १८	श	
कदलीघात	११८ १७	नियम	७८ २२	शीतल	७० ८
कर्पूरकदली	१४२ १६	नीतिवाक्यामृत	९७ १९	शीघ्रात्	३८ ११
काष्ठज्योति	२४० १९	नेमोश्वर	३८४ ८	शीघ्रेण	११५ १३
कुन्धुनाय	२५२ ८	प		श्रीगन्ध	८४ १८
कुरण्टक	३५ १२	पार्श्वनाथ	४०५ १०	श्रीबिहार	४५८ १६
शरीरविकार	३०० ११	पीडा	४६ ७	स	
		पुष्पदन्त	३० ७	सूत्रकार	५५ १९
		प्रार्थनात्	१०५ १६	स्मराहरं	१ ६

८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ पङ्क्ति
अतिशक्तिता	४६९ ३५	कुरलक	४७४ २३	भृशप्रवृत्ति	४६५ १४
अपरगुरु	४६४ ३३	धुनि	४६४ ४	महादिश	४६४ २४
आतमीमांसा	४७४ १३	जिनसेन	४६५ ३८	रामचन्द्र	४६३ १८
कटोद्भेद	४७० १२	दबरक	४६४ ३५	विद्यामल	४६५ २
कठार	४६६ ५	परगुरु	४६४ ३२	श्रुतमुनि	४६३ १
				सप्त ईति	४७७ २७

९. चं० प्र० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

छन्दोंके अनुसार श्लोक संख्या

१. अतिरुचिरा—	१४.६९	१
२. अनुष्टुप्—	२.१-१४२, १५. १-१५९, १८.१-१५१, प्र० ५	४५३
३. इन्द्रवज्रा—	१४ १५	१
४. उद्गता—	१७.१-८२	८२
५. उपजाति—	४.१-७४, ५ ३३-७५, ७७-८१, ८३, ८६-८९, १४.३-५, ८-१०, १२-१४, १६-१९, ३१, १६.६८, प्र० १	१०३
६. उपेन्द्रवज्रा—	५.७२, ७६, ८२, ८४-८५, १४.१-२, ६-७, ११	१०
७. औपच्छन्दसिक—	१४.२५, ६८	२
८. क्षमा—	१४.२४	१
९. जलधरमान्दा—	१४ ३५	१
१०. जलोद्धतगति—	१४.३३	१
११. द्रुतविलम्बित—	१३.१-६०, १४.२१, २९	६२
१२. नकुटक—	१०.७८	१
१३. पुष्पिताग्रा—	१.८२, ४.७५, ५ ९०, ७.९३, ९ १-५८, १२. १११, १४.२२, ३८	६५
१४. पुष्पो—	१ ८१, ७.९२, १४.२०	३
१५. प्रमिताक्षरा—	५.१-७१, १४.२३, ३९	७३
१६. प्रहर्षिणी—	१.८८, ३.७५, १० ६२-७७, ११.१०, १३.६२, १४.२६, ४०, १६.१-५६	७८
१७. भ्रमरविलसित—	१४ ३०	१
१८. मन्दाक्रान्ता—	७.९१, ९.५९, १४.६७, ७०, १५ १६२, १७.८३-८९	१२
१९. मालिनी—	१.८०, ४.७६, ८ ६१, ११.९१. १४.३७, ७१, १५.१६०, प्र० ३	८
२०. रघोद्धता—	७ १-७९, १४.३६	८०
२१. वंशस्थ—	१.१-६३, ११ १-७१	१३४
२२. वशापत्रपतित—	१४.२८	१
२३. वसन्ततिलका—	१ ८५, २.१४३, ३ १-७४, ४.७७, ७.८०-९०, ८.५१-६०, ११ ७२-८९, १४ २७, ३४, ४१-६६, १५ १६१, १७ ९०, १८.१५२	१८७
२४. वसन्तमालिका—	६ १-११०	११०
२५. शार्ङ्गलविक्रीडित—	४.७८, ६ १११, ८.६२, १०.७९, ११.९२, १७.९१, १८. १५३-१५४, प्र० ४, ६	१०
२६. शालिनी—	७ ९४, १३.६१, १४.३२, १६.५७-६६	१३
२७. शिखरिणी—	५.९१, १६.६७, प्र० २	३
२८. सुन्दरी—	१.६४-७९, १०.१-६१, १२.१-११०	१८७
२९. स्रग्धरा—	१६.६९-७०	२
३०. स्वागता—	८ १-५०	५०
३१. हरिणी—	१.८३, ३.७६	२

१०. संकेत-विवरण

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थ-प्रकाशन
अनगार०	अनगारधर्मसूत्रम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
अनेकार्थध्वनि०	अनेकार्थध्वनिमञ्जरी	चौखम्बा, वाराणसी
अनेकार्थसं०	अनेकार्थसंग्रहः	" "
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणिः	" "
अलङ्कारचि०	अलङ्कारचिन्तामणिः	जैनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
आसमी०	आसमीमासा	जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
उ० पु०	उत्तरपुराणम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
का० नी०	कामन्दकीय नीतिसारः	आनन्दाश्रम, पूना
काव्यप्र०	काव्यप्रकाशः	ज्ञानमण्डल, वाराणसी
काव्याद०	काव्यादर्शः	चौखम्बा, वाराणसी
काव्यानु०	काव्यानुशासनम्	निर्णयसागर, बम्बई
किरात०	किरातार्जुनीयम्	" "
क्षत्रच०	क्षत्रब्रह्मणिः	कृष्णविलास प्रेस, तंजौर
चं० च०	चन्द्रप्रथमचरितम्	प्रस्तुत ग्रन्थ
जिनदत्तच०	जिनदत्तचरितम्	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवास्तविकम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तिलोय०	तिलोयपण्णती	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
त्रिषष्टिस्मृति०	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्	माणिकचन्द्रदिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त्रिषष्टिशलाकापु०	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
द्वि० सं०	द्विसन्धानमहाकाव्यम्	निर्णयसागर, बम्बई
घ० नाम०	घनञ्जयनाममाला	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
घर्मश०	घर्मशर्माभ्युदयम्	निर्णयसागर, बम्बई
नीतिवा०	नीतिवाक्यामृतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
नैषध०	नैषधीयचरितम्	निर्णयसागर, बम्बई

न्यायसं०	न्यायसंग्रहः	निजधर्मस्मिदय यन्त्रालय, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष वीरनि० सं २४३७)
पञ्चसं०	पञ्चसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पद्मनन्दि०	पद्मनन्दपञ्चविंशतिका	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
पार्ष्वनाथच०	पार्ष्वनाथचरितम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पुराणसा०	पुराणसारसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
प्रमेयरत्नमा०	प्रमेयरत्नमाला	चौखम्बा, वाराणसी
बु० च०	बुद्धचरितम्	" "
माध०	माध-शिशुपालवधमहाकाव्यम्	" "
माधवनि०	माधवनिदानम्	पञ्जाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
मुनिसुव्रतका०	मुनिसुव्रतकाव्यम्	जैनसिद्धान्तभवन, आरा
रघु०	रघुवंशमहाकाव्यम्	चौखम्बा, वाराणसी
वारम्भटा०	वारम्भटालङ्कारः	निर्णयसागर, बम्बई
विश्व०	विश्वप्रकाश.	चौखम्बा, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष सन् १९०४)
विश्वलो०	विश्वलोचनम्	निर्णयसागर, बम्बई
वैजयन्ती०	वैजयन्तीकोषः	मद्रास (प्रकाशन वर्ष ई० १८९३)
वैशेषिकसू०	वैशेषिकसूत्रम्	ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा
शाकटा०	शाकटायनव्याकरणम्	जैनेन्द्रमुद्रणालय, कोल्हापुर
सत्प्ररू०	सत्प्ररूपणा (षट्स्रण्डागम.)	जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती
सागार०	सागारधर्ममृतम्	माणिकचन्द्रदि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
सा० द०	साहित्यदर्पणः	निर्णयसागर, बम्बई



व्यासः सर्वत्र भूमी क्षशधरचनसः शम्भुहासापहासी
 कोतिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिषड्भाम् ।
 यस्मिन् सम्मग्नकाया जमरपतिगजो दिग्गजारचन्प्रतारा-
 जाताः सर्वाङ्गमुधाः स जयति सततं क्षीरनन्दी कवीन्द्रः ॥

जैन संस्कृति संरक्षक संघ
जीवराज जैन ग्रन्थमाला
फलटण गल्ली, छोलापुर-२.

महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थ

कार्यालय:-सन्तोषभवन,
फलटण गल्ली, छोलापुर-२.

- १ तिलोयपण्णत्ति भाग १ : मूल्य रु. १६-००
आचार्य यतिभूषमकृत, जैन भूगोल आदि विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ; सं० डॉ० आ० ने०
उपाध्ये तथा डॉ० होरालाल जैन; पृष्ठ ५३२, संस्करण १९४३, द्वितीय संस्करण १९५६।
- १ तिलोयपण्णत्ति भाग २ : मूल्य रु. १६-००
उपर्युक्त ग्रन्थका उत्तरार्ध; विस्तृत अंगरेजी और हिन्दी प्रस्तावना; पृष्ठ ५२९ से १०३२ प्रथम
संस्करण १९५१। १ अ० तिलोयपण्णत्तीका गणित ले० प्रा० लक्ष्मीचन्द्र जैन; यह स्वतन्त्र
पुस्तिका मिलती है। मूल्य रु० ३।
- २ यशस्तिलक अंड इण्डियन कल्चर : मूल्य रु. १६-००
ले० प्रो० कृष्णकान्त हन्विकी; गोहाटी विश्वविद्यालयके उपकुलपति; इस अंग्रेजी ग्रन्थमें आचार्य
सोमदेवके महान् ग्रन्थ यशस्तिलकका (दसवीं सदी) का भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे गहन अध्ययन
प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ५४०; प्रथम संस्करण १९४९।
- ३ पाण्डवपुराण : मूल्य रु. १२-००
भट्टाक शुभचन्द्र विरचित संस्कृत कथाग्रन्थ; प्रस्तावना तथा हिन्दी अनुबाद सहित; सं० पं० जिन-
दास शास्त्री फडकुले; पृष्ठ ५२०; प्रथम संस्करण १९५८।
- ४ प्राकृतशब्दानुशासन : मूल्य रु. १०-००
त्रिक्रमविरचित प्राकृत व्याकरण, सं० डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य; पृष्ठ ४७८; प्रथम संस्करण
१९५७।
- ५ सिद्धान्तसार संग्रह : मूल्य रु. १०-००
नरेन्द्रसेनाचार्यकृत, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ, पाठान्तर और हिन्दी अनुबाद सहित; ले० सं० पं० जिन-
दासशास्त्री फडकुले; पृष्ठ ३००, प्रथम संस्करण १९५७।
- ६ जैनिग्रम इन् साउथ इण्डिया अंड सम जैन एपिग्राफ्स : मूल्य रु. १६-००
ले० डॉ० पी० बी० देसाई; इस अंग्रेजी ग्रन्थमें अल्पत्र, कर्नाटक और तमिलनाडुमें जैनधर्मके
कार्यका विषय और प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ४४६, प्रथम संस्करण १९५७।
- ७ जम्बूद्वीपपण्णत्ति संग्रह : मूल्य रु. १६-००
आचार्य पद्मनदीकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, (दसवीं शताब्दी) सं० डॉ०
आ० ने० उपाध्ये व डॉ० होरालाल जैन, हिन्दी अनुबादक पं० बालचन्द्र शास्त्री; तिलोयपण्णत्ती-
का यवित सीधक विस्तृत हिन्दी निबन्ध (ले० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन) भी इसमें है। पृष्ठ ५००,
प्रथम संस्करण १९५८।
- ८ कुन्दकुन्दप्राभुतसंग्रह : मूल्य रु. ६-००
सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; आचार्य कुन्दकुन्दके समग्र ग्रन्थोंका विषयानुसारो वर्षीकरण, अध्ययन
समयसारके सम्पूर्ण अनुबादके साथ, विस्तृत प्रस्तावना सहित; पृष्ठ ८, प्रथम संस्करण १९६०।
- ९ भट्टारकसंप्रदाय : मूल्य रु. ८-००
सं० प्रो० विद्याधर ओह्रापुरकर; बलात्कारमण तथा काष्ठसंघके भट्टारकोंका इतिहास तथा उसके
साहित्यिक-शिकालेखीय और परम्परागत साधनोंके विस्तृत उद्धार, पृष्ठ ३२९, प्रथम संस्करण
१९५८।

- १० पंचविंशति : मूल्य रु. १०-००
पद्मनन्दो आचार्यकृत संस्कृतके २४ और प्राकृतके दो प्रकरणोंका संग्रह (१२ वीं सदी) सं० डा०
आ० ने० उपाध्ये व डा० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, विस्तृत
प्रस्तावना (अंगरेजी और हिन्दी) पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- ११ आत्मानुशासन : मूल्य रु. ५-००
आचार्य गुणभद्रकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ (नौवीं सदी); इसमें विविध धार्मिक उपदेशपर
सुभाषित हैं । सं० डा० आ० ने० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन व पं० बालचन्द्र शास्त्री; हिन्दी
अनुवाद पृष्ठ २६०, प्रथम संस्करण १९६१ ।
- १२ गणितसारसंग्रह : मूल्य रु. १२-००
महामोक्षराचार्यकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ (नौवीं शताब्दी); सं० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम०
एस्सी; पृष्ठ ८९, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- १३ लोकविभाग : मूल्य रु. १०-००
सर्वनन्दो आचार्यकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी अनुवाद, सं० पं० बालचन्द्र
शास्त्री; पृष्ठ २५६, प्रथम संस्करण १९६२ ।
- १४ पुष्पास्त्रवकचाकोष : मूल्य रु. १०-००
रामचन्द्रकृत संस्कृत ग्रन्थ । इसमें सरल धार्मिक कथाओंका संग्रह है । सं० डा० आ० ने० उपाध्ये
व डा० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ३६८, प्रथम संस्करण १९६४ ।
- १५ जैनज्ञानम् इन् राजस्थान : मूल्य रु. ११-००
ले० प्रो० कैलाशचन्द्र जैन, अजमेर; इस अंगरेजी ग्रन्थमें राजस्थानमें प्राचीन समयसे अबतक जैन
समाजके इतिहासका वर्णन और विवेचन किया गया । पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६३ ।
- १६ विद्वत्तत्त्वप्रकाश : मूल्य रु. १२-००
आचार्य भास्वतेनकृत पुरातन संस्कृत ग्रन्थ । (तेरहवीं शताब्दी), इसमें विभिन्न दर्शनोंके विचारोक्त
जैन दार्शनिक दृष्टिसे परीक्षण किया गया है । सं० डा० विद्याधर जोहरापुरकर, पृष्ठ ३९२,
प्रथम संस्करण १९६४ ।
- १७ तीर्थवन्दनसंग्रह : मूल्य रु. ५-००
जैन तीर्थक्षेत्रोंके विषयमें ४० दिगम्बर जैन सेखकोंकी कृतिओंका संकलन और अध्ययन, सं० डा०
विद्याधर जोहरापुरकर, पृष्ठ २००, प्रथम संस्करण १९६५ ।
- १८ प्रमा-प्रमेय : मूल्य रु. ५-००
भास्वतेन वैविध लिखित प्रमाणग्रन्थ ले० डा० ह्यू० पी० जोहरापुरकर द्वारा हिन्दीमें अनुवादित
पृष्ठ १५८, प्रथम संस्करण १९६६ ।
- १९ एचिकल इण्डिस्ट इन् जैनज्ञानम् : मूल्य रु. १२-००
जैन आचारका विचार रूपसे प्रतिपादन करनेवाला महत्त्वपूर्ण अंगरेजी ग्रन्थ; ले० डा० के० सी०
सोगानो पृष्ठ ३०२, प्र० सं० १९६७ ।
- २० जैन क्लूप् ऑफ लाइफ : मूल्य रु. ६-००
जैन आचारोंका तुलनात्मक अध्ययन
पाठ्यार्थसुबय मूल्य रु. २०-००
अगले प्रकाशन
सुभाषितसंक्षेप, धर्मपरीक्षा, ज्ञानार्णव, धर्मरत्नाकर आदि ।

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल न०

~~२२२२~~ २२१

लेखक

श्री वीर ज्ञान

शीर्षक

चन्द्रप्रभातम्

खण्ड

क्रम सख्या

४८५५